कल्याण

याद रक्खो—विशुद्ध प्रेम कभी रुकता नहीं, घटता नहीं, मिटता नहीं। जो रुकता, घटता और मिटता है, वह विशुद्ध प्रेम नहीं।

याद रक्खो—प्रेममें कलङ्क है—कामना, वासना, इन्द्रियसुखकी इच्छा और प्राणि-पदार्थका मोह। इन्हींसे प्रेम अशुद्ध रहता है और इसीसे इनकी अतृप्तिमें मोहवश रुकता, घटता और मिटता है।

याद रक्खो—प्रेमास्पद भगवान् दूर रहें या समीप, भक्त सदा उनको समीप देखता है और यह अनुभव करता है कि मुझसे उनका कभी वियोग होता ही नहीं।

याद रक्खो—कभी-कभी संयोगमें भी प्रेम-तन्मयताके कारण वियोगका अनुभव होता है, पर उस वियोग-पीड़ामें एकान्त स्मृतिजनक आत्यन्तिक सुखकी अनुभूति होती है। इस अवस्थाका मानस विलाप और रुदन बहुत ही, बहुत ही मीठा होता है।

याद रक्खो—भक्त प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्की रुचिका अनुसरण करनेमें ही परम सुख मिलता है। वह जलता हुआ भी प्रेमास्पदके मुखका स्मित हास्य देखकर प्रसन्न हो जाता है और जलनेमें असीम आनन्दका अनुभव करता है।

याद रक्खो—भगवान् अपने भगवद्भावमें सदा ही सुख-दु:खसे रहित हैं, परंतु प्रेमास्पदरूपमें वे अपने प्रेमी भक्तका दु:ख, उसका उदासीभरा चेहरा, उसका विषाद नहीं देख सकते और ऐसी अवस्थामें स्वयं दुखी हो जाते हैं। उनका यह दु:ख, उस प्रेमी भक्तके लिये, जिसका जीवन ही प्रेमास्पदका सुख है, परम दु:खका कारण बनता है। अतएव वह भक्त सदा-सर्वदा प्रत्येक स्थितिमें दु:खरहित, प्रसन्नमुख, हँसता हुआ तथा सर्वथा विषाद-शून्य रहता है, क्योंकि ऐसा रहकर ही वह अपने प्रेमास्पदको सुखी देखकर सुखी रह सकता है।

याद रक्खो—भगवान् इच्छारहित होते हुए भी प्रेमास्पदरूपमें प्रेमी भक्तके दिव्य मधुरतम प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये सदा लालायित रहते हैं, वे उस प्रेमी भक्तको सुखी बनानेमें—सुखी देखनेमें जगत्को, अपने प्रभुत्वको, अपनी महत्ताको भुला देते हैं और निरन्तर विमुग्ध तथा अतृप्तभावसे उसके वासना-कामनाके विकार तथा विषसे रहित मधुरातिमधुर दिव्य प्रेमरसका पान करते रहते हैं।

याद रक्खो—इस प्रकार प्रेमी और प्रेमास्पद एक दूसरेके प्रेमास्पद तथा प्रेमी बनकर समभावसे एक-दूसरेके साथ विभ्रम व्यवहार करते हैं। अपनेको प्रेमी तथा उसको प्रेमास्पद मानकर एक-दूसरेको सुख पहुँचाकर उसे सुखी देख-देखकर सुखी होते रहते हैं। दोनों ही त्यागकी पराकाष्ठापर पहुँचे रहते हैं। भगवान् अपनी भगवत्ता त्याग देते हैं और भक्त अपने अनन्त मोक्ष-सुखका परित्याग कर देते हैं। प्रेमका मधुरातिमधुर आनन्द त्यागकी पवित्रतम भूमिकामें ही अपार अपूर्णत्व और असीम असीमत्व प्राप्त करता है।

याद रक्खो—विशुद्ध प्रेममें कभी भी न तो दोषदर्शन है न अपने सुखकी वासना है, अतएव उस प्रेमके कभी रुकने, घटने या मिटनेकी भी कल्पना नहीं है।

याद रक्खो—विशुद्ध प्रेम निर्मल, शीतल और मधुरतम अमृत है, जो सारे भोगजनित और भोगरूप विषको दूर करके नित्य-निरन्तर और सदाके लिये परम स्वस्थ और अमर बना देता है—स्थूलशरीरसे नहीं, प्रेमास्पदके प्रेमरूप मधुरातिमधुर अमृतमय जीवनसे।

याद रक्खो—विशुद्ध प्रेम निर्मल और शान्तिमय सूर्य है, जो सारे अज्ञानान्धकारको सर्वथा हरकर जीवनको नित्य अखण्ड प्रकाशमय कर देता है और साथ ही अनुपम शान्ति-सुधासे भी भर देता है। फिर

कभी न तो विषयासक्ति, विषयकामना, विषयविमोहरूप अन्धकारका उदय होता है और न विषाद-निराशारूप किसी अशान्तिका ही। विशुद्ध प्रेम प्रखर प्रकाशमय सूर्य है, जो अन्धकारका सदाके लिये नाश कर देता है परंतु साधारण सूर्यके सदृश अपनी प्रचण्ड किरणोंसे कभी जलाता नहीं।

याद रक्खो—विशुद्ध प्रेम निर्मल निरतिशय सुधा-रस-परिपूर्ण सुधाकर है, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है; इसमें वह पूर्णिमा कभी होती ही नहीं, जिसके बाद उसके घटनेका क्रम आता हो। विशुद्ध प्रेम घटना जानता ही नहीं।

याद रक्खो—इस विशुद्ध प्रेमका किसी भी बाहरी स्थिति-से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो अन्तरात्मामें विकसित और प्रकाशित दिव्यातिदिव्य मधुरतम भाव है, जो कभी-कभी किसीके जीवनमें आंशिकरूपसे प्रकट होता है और विश्वको विमुग्ध कर देता है। नहीं तो, वह सदाके लिये अंदर ही छिपा रहता है।

'शिव'

मुक्ति

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

महाभारत, शान्तिपर्वमें मुक्तिका स्वरूप समझाते हुए भीष्मपितामहने कहा है—'युधिष्ठिर! मोक्षका किसी एक स्थानमें निवास नहीं है, जहाँ जाकर उसे लाया जा सके, न वह किसी दूसरे गाँवमें ही रहता है, जिससे वहाँ जाकर उसे प्राप्त किया जा सके। हृदयमें जो अज्ञानकी गाँठ पड़ गयी है, उसे खोल दिया जाय—बस, इसीका नाम मोक्ष है।' गाँठ पड़ जानेका अभिप्राय यह है कि आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त स्वरूपको भूल गया और देहको ही अपना स्वरूप मान बैठा है। इसलिये वह जन्म, मृत्यु, बन्ध, मोक्ष आदि देहके धर्मोंको ही अपना धर्म मानता है। यही हृदयकी गाँठ है। तात्पर्य इतना ही है कि स्वरूपका ज्ञान ही मुक्ति है और स्वरूपका अज्ञान ही बन्धन है।

मुक्तिके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें विविध शब्दोंका व्यवहार किया है। कहीं परम गति, कहीं परमपदकी प्राप्ति, कहीं शाश्वत शान्ति, तो कहीं मेरे धाम या परम धामकी प्राप्ति—यों विविध शब्दोंके प्रयोग गीतामें मिलते हैं।

मुक्तिका विशेष विस्तृत वर्णन तो गीताके चौदहवें अध्यायमें भगवान्ने किया है। इस अध्यायके प्रथम श्लोकमें ही भगवान् कहते हैं कि 'ज्ञानमें भी जो श्रेष्ठ ज्ञान है, उसे मैं तुमको फिरसे कहता हूँ। उस ज्ञानका अनुशीलन करके मुनियोंने इसी जन्ममें (इत.) परम सिद्धि यानी मुक्तिको प्राप्त किया है।' फिर परम सिद्धिका स्वरूप भलीभाँति समझाते हुए भगवान् कहते हैं—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञानका, जिसे मैं तुमसे कहूँगा, आश्रय लेकर साधक मुनिगण मेरे समान धर्मवाले हो गये हैं—मेरे समान धर्मवाले अर्थात् सब प्रकारसे मेरे सदृश ही, मेरे रूप ही। फिर भगवान्के साथ एकरूप हो जाने-का फल समझाते हुए वे कहते हैं कि 'कल्पके आरम्भमें, जब मैं सृष्टिका सृजन करता हूँ, तब उन्हें जन्म-धारण करनेका दुःख नहीं उठाना पड़ता और कल्पके अन्तमें, जब मैं सृष्टिका प्रलय करता हूँ, तब मद्रूप हुए मुनियों-को प्रलयका दुःख नहीं उठाना पड़ता। संक्षेपमें

अभिप्राय यह कि जैसे मेरा जन्म-मरण नहीं है, वैसे ही वे भी जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाते हैं ।'

अब यहाँ भगवान्‌ने जो कहा कि मुनिगण मेरे रूप हो जाते है, सो ऐसा किस प्रकार हुआ जा सकता है—इसे देखें । भक्त जिसको भगवद्रूप होना कहते हैं, उसीको ज्ञानी जीवका शिवरूप होना या आत्मा-परमात्माकी एकता कहते हैं ।

आत्मा-परमात्माकी एकता किस प्रकार होती है, इसे श्रुतिने स्पष्ट किया है । नचिकेताके प्रति यमराज कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥
(कठ० २ । १ । १५)

'हे गौतमवंशीय नचिकेता ! जैसे स्वच्छ जलमें डाला हुआ स्वच्छ जल एकरूप हो जाता है—तद्रूप हो जाता है, वैसे ही जिस मुनिने आत्माको जान लिया है, वह परमात्मरूप ही हो जाता है ।'

इसी प्रसङ्गको श्रीशङ्कराचार्यने इस प्रकार कहा है—

उपाधिविलयाद् विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥

शरीररूपी उपाधिका नाश हो जानेपर मुनि सम्पूर्णरूपसे विष्णुमे प्रवेश कर जाता है । इसे दृष्टान्तके द्वारा विशेषरूपसे समझाते हुए वे कहते है कि जैसे जलमें जल मिल जाता है, जैसे आकाश आकाशमें विलीन हो जाता है और जैसे तेजमें तेज मिल जाता है, वैसे ही आत्मा परमात्मामें लीन हो जाता है ।

अब यह तद्रूपता कैसे होती है, इसके दृष्टान्तोंको समझना चाहिये । श्रुतिने जलमे जल मिल जानेका दृष्टान्त दिया है और श्रीशङ्कराचार्यने भी यही कहा है । अब उसे देखिये ।

इस सम्बन्धमें विशेष विचार करनेसे पहले परमात्माके स्वरूपको जान लेना आवश्यक है । गीताके तेरहवें अध्यायमे इसे समझाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
(१३ । १६)

कहनेका तात्पर्य यह है कि इस जगत्‌में प्राणी-पदार्थ सब एक दूसरेसे भिन्न-भिन्न रहते हैं । इस कारण उनमें व्याप्त परमात्मा भी मानो पृथक्-पृथक् है—विभक्त-से प्रतीत होते है । अर्थात् जितने प्राणी हैं, परमात्माने अपने उतने ही अंश करके मानो प्रत्येक भूतमे एक-एक अंश रख दिया है—ऐसा भास होता है, परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है—यह बतलाते हुए श्रीभगवान् समझाते हैं कि परमात्माका स्वरूप तो अखण्ड (अविभक्त) ही है और वह सदा अखण्ड ही रहता है, क्योंकि उसमें विभाग हो ही नहीं सकते ।

परमात्माका स्वरूप अविभक्त है, फिर भी वह विभक्त-जैसा क्यों दीखता है—इसे एक दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये । एक बड़ा बरतन लीजिये, उसमें चार-पाँच छोटे-बड़े कटोरे सीधे रख दीजिये । फिर उस बरतनको जलसे भर दीजिये । अब यह तो आप जानते ही हैं कि बरतनमे एक ही जल है, तथापि वह कटोरोंमें अलग-अलग है और व्यवहारमे बोलना हो तो छोटी कटोरीका जल, बड़े कटोरेका जल—यों बोला जाता है । इस दृष्टान्तमे जैसे जलके टुकडे या विभाग नहीं हो जाते, तो भी वह अलग-अलग कटोरोंमें अलग-अलगकी तरह भासता है, पर वह रहता अखण्ड ही है, वैसे ही परमात्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें पृथक्-पृथक्-से भासते हैं, तथापि वे हैं तो एक और अखण्ड ही ।

जल तो सावयव पदार्थ है, इससे उसके विभाग भी किये जा सकते हैं । बरतनमेंसे सब कटोरे जलसे भरे हुए बाहर निकाल लें तो कटोरोंका जल अलग-अलग ही रहेगा । जबतक कटोरे बरतनमें थे, तबतक जल अखण्ड रहता हुआ ही कटोरोंमें भी था, परंतु कटोरोंको बरतनसे

निकाल लेनेपर तो जलके विभाग हो गये। अब बरतन खाली करके एक कमरेका जल उसमें डाल दें, फिर दूसरेका डालें, तब दोनों कमरेों का जल एक हो जायगा। प्रस्तुत दृष्टान्तसे ऐसा सिद्ध होता है।

परंतु आत्मा-परमात्माके सम्बन्धमें ऐसा नहीं हो सकता। परमात्मा तो सदा अखण्ड ही रहता है और शरीरकी उपाधिके कारण आत्मा नामसे कहा जाता है। आत्मा और परमात्मा—शब्द दो हैं· परंतु वे एक ही चेतन सत्ताके उपाधिभेद-से पृथक्-पृथक् नाममात्र हैं। जल जलमें मिल जाता है, ऐसे आत्मा कहीं परमात्मामें नहीं मिलता; क्योंकि जल तो सावयव पदार्थ होनेके कारण भिन्न-भिन्न पात्रों-में और भिन्न-भिन्न देशोंमें रह सकता है। परंतु परमात्मा तो सर्वव्यापक और अखण्ड है, इस कारण उसके विभाग हो ही नहीं सकते, फिर एक साथ मिल जानेकी बात कैसे हो सकती है।

अब तनिक विशेष विचार करें। आकाश एक है और अखण्ड रहता है। उसके भी विभाग नहीं किये जा सकते। घड़ेकी उपाधिके कारण घडेके अंदरका आकाश घटाकाश, घरकी उपाधिके कारण गृहाकाश और ग्रामकी उपाधिवाला ग्रामाकाश कहलाता है तथा उपाधिरहितको महाकाश कहते हैं। अब यहाँ समझने-की बात इतनी ही है कि एक ही आकाशके अलग-अलग नाम होते हैं, इससे आकाश अलग-अलग नहीं हो जाता। वह तो जहाँका तहाँ एक और अखण्ड ही रहता है। उसके टुकड़े नहीं हो सकते, न उपाधिके भेदसे भिन्न-भिन्न नाम हो जानेपर भी उसके स्वरूपमें ही अन्तर होता है। घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाइये, इससे कहीं आकाश दूसरे स्थानपर नहीं चला जाता, केवल घडा ही दूसरी जगह जाता है और इसी कारण आकाशके जानेका भ्रम होता है। जो वस्तु अखण्ड और पूर्ण होती है, वह भला एक स्थानसे दूसरे स्थानपर कैसे जा सकती है। अतएव घडा है, तब भी घटाकाश है तो महाकाशरूप ही, परंतु उपाधिके कारण महाकाश नहीं दीखता। इस बातको समझनेके लिये अन्तःकरण विशुद्ध होना चाहिये। नहीं तो, यह बात समझमें नहीं आती। घडा फूट जानेपर वह घटाकाश कहीं महा-काशमें नहीं मिल जाता, क्योंकि हम यह जान चुके हैं कि आकाशके विभाग नहीं किये जा सकते। अतएव घडा फूट जानेपर केवल 'घटाकाश' रूपी संज्ञाका नाश हो जाता है; क्योंकि आवरण हट जानेसे, घडेका नाश हो जानेसे, फिर घटाकाश किसका नाम रहेगा।

इसी प्रकार एक ही परमात्माके उपाधिके कारण अलग-अलग केवल नाम हो जाते हैं। जैसे घड़ेकी उपाधिके कारण महाकाशका घटाकाश नाम हो जाता है, वैसे ही शरीर-की उपाधिके कारण व्यापक परमात्माका आत्मा या प्रत्यगात्मा नाम हो जाता है। ऐसा परमात्मस्वरूप आत्मा देहके दीर्घकालके सङ्गके कारण जब अपनेको देहरूप मानने लगता है, तब उसका नाम जीव या जीवात्मा हो जाता है। यह जीव शुद्ध स्वरूपमें तो परमात्मा ही है, परंतु अविद्याके कारण उसे 'मैं देहरूप हूँ'—ऐसा भ्रम हो जाता है और इसीसे वह 'जीव' सञ्ज्ञाको प्राप्त होता है। अतएव जीवकी मुक्तिका अर्थ यह नहीं है कि वह पहले परमात्मासे अलग था, और अब परमात्मामें मिल गया, अपितु उसको जो यह भ्रम हो गया है कि 'मैं जीव हूँ, अतएव मरणधर्मवाला हूँ, परमात्मासे पृथक् हूँ,' इस भ्रमरूप उपाधिकी निवृत्ति हो जानेके कारण परमात्मारूपी जीव परमात्मारूप हो जाता है—यह कहा जाता है, वस्तुतः किसी नवीन स्वरूपकी प्राप्ति जीवको नहीं होती।

यह प्रसङ्ग वेदान्तमें यों समझाया गया है—

दशमस्य परिज्ञानान्नवानां च यथा सुखम्।
तथा जीवस्य सत्प्राप्तिरिति वेदान्तडिण्डिमः॥

दृष्टान्त इस प्रकार है—दस जवान किसी समय

दूसरे गाँव जा रहे थे। रास्तेमे एक बडी नदी आयी। सब तैरना जानते थे, अतः नदीमें उतर पड़े और तैरकर पार हो गये। अपनी गिनती की तो सख्या नौ आयी। इससे एक साथी नदीमे डूब गया, यह मानकर सब शोकसे रोने लगे। इतनेमें कोई यात्री उस रास्तेसे निकला, उसने उनको रोते देखकर कारण पूछा। उन्होंने बताया कि 'हम दस थे, अब नौ ही रह गये, एक डूब गया, इससे रो रहे हैं।' वस्तुत कोई डूबा नहीं था, गिननेवाला अपनेको भूलकर नौको ही गिनता था। यात्रीने बात समझ ली और युक्तिके साथ उन्हें समझाकर विश्वास करवा दिया कि वे दसके दस ही थे, कोई भी डूबकर नहीं मरा था।

यहाँ जैसे इन जवानोंको दस होनेपर भी नौ होनेका भ्रम हो गया था, वैसे ही आत्माको भी स्वयं नित्यमुक्त और निर्विकार होनेपर भी जन्म-मरणरूप जीवत्वका भ्रम हो जाता है और वहाँ जैसे भ्रमकी निवृत्ति होते ही दसवें मनुष्यकी प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही आत्माको भी भ्रमकी निवृत्ति होते ही अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। इस बातको एक कविने यों कहा है—

> दृष्टान्तके अनुसार जैसे दशम मानव था मिला।
> जीव भी बस, ईशमें है इसी भाँति सदा मिला॥
> 'जीव हूँ मैं' घोर इस भ्रमका जभी होता विनाश।
> तभी सत्यस्वरूप ईश्वरका तुरत होता प्रकाश॥

अब, भ्रम कैसे होता है, इसको एक दृष्टान्तसे समझें। एक गडरिया था। वह अपनी बकरियोंको चराता हुआ जगलमें कुछ दूर निकल गया। वहाँ तुरंतका जन्मा हुआ एक बाघका बच्चा उसे दिखायी दिया। दयाके वश होकर उसने बच्चेको उठा लिया और एक बकरीको दुहकर उसका दूध बच्चेको पिलाया। फिर तो वह दूधके साथ दूसरी चीजे भी खाने लगा। दिन बीतते गये और बाघका बच्चा बकरोंके साथ बड़ा होने लगा। बकरोंके नित्यके सहवासके कारण वह अपनेको बकरा ही मानने लगा और बकरेकी तरह ही वह स्वभावसे डरपोक और नरम प्रकृतिका हो गया।

समयकी बात है, एक दिन वह बच्चा बकरोंसे कहीं दूर निकल गया। वहाँ एक बाघकी उसपर दृष्टि पडी। बच्चेने भी बाघको देखा और, बकरोंके स्वभावानुसार, उससे डरकर भागने लगा। बाघने कहा—'खड़ा रह, भाग मत; तेरे हितकी बात कहता हूँ, उसे सुन।' बच्चेने कहा—'तू तो बकरेका काल है, इसलिये मैं तेरी बात नहीं सुनना चाहता।' कुछ देरतक बकझक होनेके बाद बच्चेको कुछ विश्वास आने लगा, तब बाघने उसे उसका स्वरूप समझाया। तदनन्तर उसने जलमें अपना तथा बच्चेका प्रतिबिम्ब एक ही साथ दिखलाकर उसे विश्वास दिला दिया कि वह बकरा नहीं है, बाघ ही है।

इस दृष्टान्तसे यही समझना है कि बकरा कोई बाघ नहीं बन गया। बाघके बच्चेने भ्रमसे अपनेको बकरा मान लिया था, इस भ्रमकी निवृत्ति होते ही, उसी क्षणसे वह बाघका बच्चा पुन. बाघ हो गया—यों कहा जाता है। वस्तुतः तो बाघका बच्चा बाघ ही था, उसमें कुछ नयापन नहीं आ गया। बस, इसी प्रकार जीवात्मा भी अनादिकालसे देहके सङ्गमे रहता आया है और देहके सुख-दु खके भोग देखते-देखते वह उसमे आसक्त हो गया। आसक्ति बढते-बढ़ते, वह स्वय देह ही है, ऐसा भ्रम उसे हो जाता है। इसीसे देहके सुख-दु खादि-को वह अपना मान लेता है और फिर तो देहके जन्म-मरणसे अपनेको जन्म-मरणरूप धर्मवाला मानने लगता है। सूक्ष्म देहकी ऊँची-नीची गतिको देखकर अपनेको ऊँची-नीची गति प्राप्त होती है, ऐसा मानकर वह कई बार धर्माचरण करता है और कई बार मुक्तिके लिये भी प्रयत्न करता है। यों देहके साथ जीवात्माके तदाकार हो जानेको शास्त्रमे 'देहाध्यास' कहते हैं। अतएव

मुक्तिके लिये देहाध्यासकी निवृत्ति करके अपने यथार्थ स्वरूपको जान लेना पड़ता है। इसके सिवा अन्य कोई कर्तव्य नहीं है। इस बातको श्रीशङ्कराचार्यजीने यों समझाया है—

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाहं जीवः परात्मेति ज्ञानं चेन्निर्भयो भवेत्॥

रस्सीमें जब मन्द प्रकाशके कारण सर्पकी भ्रान्ति होती है, तब मनुष्य उससे डर जाता है और दूर भागने लगता है; परंतु प्रकाशकी सहायतासे जब उसे, 'जो सर्प दीख रहा था, वह सर्प नहीं था, रस्सी ही थी' ऐसा दृढ ज्ञान हो जाता है, तब डरकी कोई बात नहीं रह जाती। इसी प्रकार आत्मा अपनेको जीव मानकर शरीरके धर्मोंकी अपनेमें कल्पना करता है, तबतक उसको जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदिका भय रहता है। परंतु जब सद्गुरुकृपासे वह निश्चय कर लेता है कि 'मैं जीव नहीं हूँ, परमात्मरूप ही हूँ' तब उसी क्षण उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है और उसे परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। केवल भ्रमकी निवृत्तिमें ही स्वरूपकी प्राप्ति है। अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है। इस बातके समर्थनमें श्रुति कहती है—विमुक्तश्च विमुच्यते। परमात्मस्वरूप और मुक्त आत्माको बन्धनका भ्रम हो गया था, ज्ञानके द्वारा उस भ्रमकी निवृत्ति होते ही परमात्मस्वरूप आत्मा पुन. परमात्मस्वरूप बन जाता है, यों कहा जाता है। यह केवल वाणीका विलास है।

कुछ विद्वान् 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'विशेष मुक्त हुआ विशेष मुक्त होता है।' अर्थात् जीवित दशामें ही कामादिके दृढ बन्धनसे विशेष मुक्त हुआ पुरुष, देहपातके अनन्तर, भावी बन्धनोंसे विशेष मुक्त होता है। परतु आत्माके स्वरूपका विचार करनेपर यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। कामादिका बन्धन तो मन-बुद्धिको होता है, आत्माको उनका बन्धन नहीं होता। फिर देहपातके बाद ही भावी बन्धनसे मुक्त हुआ जाता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं दिखलायी पड़ता। देहपातके बाद ही भावी बन्धनसे मुक्त होनेकी बात होती तो जीवन्मुक्त दशाका जो वर्णन शास्त्रोंमें अनादिकालसे चला आता है, वह नहीं होना चाहिये था। आत्मज्ञानी पुरुष तो 'ज्ञानसमकालमुक्तः' अर्थात् ज्ञान होनेके साथ ही मुक्त होकर वर्तमान शरीरके बन्धनसे और उसीके साथ भावी शरीरके बन्धनसे भी मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति तो एक ही मुक्तिके दो नाममात्र हैं और मुक्त पुरुषका शरीर तो अभी प्रारब्धवश जीवित है या नहीं, यह बतानेके लिये ही है, अन्य कोई भेद नहीं है।

इस छोटेसे निबन्धमें आपने देखा कि मुक्तिका कोई निश्चित स्थान नहीं है, जहाँ जाकर उसे ले आया जा सके। इसी प्रकार मुक्ति कोई पदार्थ नहीं है कि उसे कोई सिद्ध महात्मा अपने अनुयायीको दे दे अथवा कोई सद्गुरु अपने शिष्यको दे सके। मुक्ति तो अनुभवकी वस्तु है।

फिर, मुक्तिकी प्राप्तिके लिये किसी नवीन स्वरूपकी प्राप्ति नहीं करनी है; परंतु 'मैं शरीर हूँ' ऐसा जो भ्रम हो गया है, उसे हटाकर अपने शुद्ध-बुद्ध और नित्यमुक्त स्वरूपको जान लेना है। 'मैं शरीर हूँ' अज्ञानका इतना ही रूप है और 'मैं आत्मा हूँ' ऐसे अनुभवयुक्त ज्ञानसे इस अज्ञानकी निवृत्ति करनी है।

बात करनी जितनी सहज है, अनुभव करनेका काम उतना ही कठिन है। इसके लिये साधनचतुष्टयसम्पन्न होना पड़ेगा। विषयोंमें सुख मिलता है—इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिये भोगवासनामात्रका त्याग करना पड़ेगा। इसके अनन्तर सद्गुरुके निकट साधना करके 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा अनुभव करना होगा। जब इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तभी साधक कृतकृत्य हो जाता है।

बालकोंके लिये कर्तव्य तथा ईश्वर और परलोकको माननेसे लाभ एवं न माननेसे हानि

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वर्तमान समयके दूषित वातावरणके प्रवाहमें बहते हुए बालकोंके हितके लिये, उनको किस प्रकार अपना जीवन बिताना चाहिये—इस विषयमें शास्त्रके आधारपर प्रार्थनाके रूपमे कुछ लिखा जाता है, क्योंकि उपदेश, आदेश देनेकी न तो मुझमे योग्यता है और न मैं उसका अधिकारी ही हूँ।

बालकोंको अपने निम्नलिखित कर्तव्यकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिनके माता-पिता जीवित हैं, वे अधिक आयुवाले होनेपर भी बालकवत् ही हैं।

(१)

माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा बालकोंके लिये परम धर्म है। श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २। २३७)

'इन तीनों—माता-पिता एवं गुरुकी सेवासे ही पुरुषके कर्तव्यकी समाप्ति हो जाती है अर्थात् उसे कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

यहाँ सेवासे अभिप्राय है—उनकी आज्ञाका पालन करना। आज्ञाका पालन ही सबसे बढ़कर सेवा है। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

यद्यपि उनके शरीरकी सेवा भी उन्हींकी सेवा है, तथापि उनकी आज्ञाके अनुसार उनके संतोष, संकेत और मनके अनुकूल उनके साथ व्यवहार करना उनकी परम सेवा है। जबतक माता, पिता और आचार्य जीवित हैं, तबतक पुत्र और शिष्यके लिये अन्य धर्मोंके पालनकी आवश्यकता नहीं है। यदि पालन किया भी जाय तो सेव्यके हितके लिये ही करना परम कर्तव्य है। श्रीमनुजी कहते हैं—

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥
(मनु० २। २२९)

'इन तीनोंकी सेवा ही परम तप कहा जाता है। अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।'

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥
(मनु० २। २३०)

'क्योंकि ये तीनों ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनो आश्रम हैं तथा ये ही तीनों वेद एवं तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥
(मनु० २। २३१)

'पिता तो गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है तथा गुरु आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार ये तीनों सर्वोत्तम अग्नि हैं।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥
(मनु० २। २३२)

'इन तीनोंकी सेवामें कभी प्रमाद न करनेवाला गृहस्थ भूः, भुवः, स्व—इन तीनों लोकोंको जीत लेता है तथा वह अपने तेजसे प्रकाशित हुआ देवताओंकी भाँति स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करता है।'

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
(मनु० २। २३३)

'मातृभक्तिसे मनुष्य इस पृथ्वीलोकके, पितृभक्तिसे मध्यम (अन्तरिक्ष) लोकके एवं गुरुसेवासे ब्रह्मलोकके सुख भोगता है ।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्य अपने स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए प्रथम यही आदेश देते हैं—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।
(तैत्ति० १ । ११ । २)

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाले बनो ।' क्योंकि—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥
(मनु० २ । २२७)

'माता-पिता बालकको जनने और उसका पालन-पोषण करनेमें जो क्लेश सहते हैं, बालक उसके बदलेमें सैकड़ों वर्ष उनकी सेवा करके भी उनके उस ऋणसे नहीं छूट सकता ।'

शास्त्रोंमें माता-पिता और गुरुकी सेवाके अनेक आदर्श उदाहरण मिलते हैं । माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही धर्मव्याध त्रिकालज्ञ हो गये । जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं, वैसे वे अपने माता-पिताको ही परम देवता मानकर उनको पुष्पोंसे, फलोंसे और धनसे प्रसन्न करते थे । वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराकर उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे । इस प्रकार वे आलस्यरहित हो शम-दम आदि साधनोंमें स्थित हुए अपना परम धर्म समझकर मन-वाणी-शरीरद्वारा पुत्र और स्त्रीके साथ तत्परतासे उनकी सेवा किया करते थे । उसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति और दिव्यदृष्टिको पाकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । इनकी कथा महाभारत-वनपर्वके २१४ वें और २१५ वें अध्यायोंमें देखनी चाहिये।

श्रीकौशिक मुनि भी, जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना ही तप करने चले गये थे, इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके तपसे भी माता-पिताकी सेवाको अधिक समझकर पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए ।

मूक चाण्डाल भी माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे ही भगवान्के परम धामको चले गये । इनकी कथा पद्म-पुराणके सृष्टिखण्डमें पढ़नी चाहिये ।

एक तपस्वी वैश्य-मुनिके पुत्र श्रवण भी माता-पिताके बड़े ही भक्त हुए हैं । संसारमें आज भी कोई माता-पिताकी सेवा करता है तो उसे श्रवणकी उपमा दी जाती है । श्रवणकी कथा वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्डके ६३ वें और ६४ वे सर्गोंमें विस्तारसे वर्णित है ।

महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंने तो माताकी शास्त्र और लोकसे विरुद्ध आज्ञाका भी पालन किया । एक स्त्रीके पाँच पति होनेकी बात न तो शास्त्रोंमें मिलती है और न लोकमें ही । माता कुन्तीने अनजानमें यह आज्ञा दे दी थी कि 'आज जो कुछ भिक्षाके रूपमें लाये हो, उसका सभी भाई उपभोग करो ।' पर जब माता कुन्तीको यह ज्ञान हुआ कि ये लोग एक स्त्रीको लाये हैं और मैंने बिना विचारे ही आज्ञा दे दी है, तब उन्होंने सोचा—'मेरे ये वचन सत्य कैसे होंगे ?' किंतु राजा युधिष्ठिरने मातासे कहा—'आपका वचन सत्य करनेके लिये हम सभी भाई इसके साथ विवाह करेंगे ।' तदनन्तर पाण्डवोंने वैसा ही किया ।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामकी तो बात ही क्या है । वे तो राजा दशरथ और माता कैकेयीकी आज्ञाके पालनके लिये चौदह वर्ष बड़ी प्रसन्नताके साथ वनमें रहे ।

इसी प्रकार गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें भी महाभारत, उपनिषद् आदिमें बहुत-से दृष्टान्त पाये जाते हैं । महाभारत, आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें गुरुभक्त आरुणिका आख्यान सब लोगोंके पढ़नेयोग्य एवं आदर्श-रूप है । एक समय आयोदधौम्य मुनिने अपने शिष्य

पजाबनिवासी आरुणिसे कहा—'आरुणे ! तुम खेतमें जाकर मेढ़ बाँधकर जलको रोको।' आरुणि गुरुकी आज्ञा पाकर खेतमें गया, पर प्रयत्न करनेपर भी वह किसी प्रकार जलको रोक नहीं सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं पानीको रोकनेके लिये मेढ़ बनकर लेट गया। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा—'पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है?' शिष्योंने उत्तर दिया—'आपने ही तो उसे खेतकी मेढ़ बाँधकर पानी रोकनेके लिये भेजा है।' शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा—'चलो, जहाँ आरुणि गया है, वहीं हम सब लोग चलें।' तदनन्तर गुरुजी वहाँ खेतके निकट पहुँचकर उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि आचार्यकी बात सुनकर अपने स्थानसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था। मै उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया; इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ। आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! तुम बाँधका उद्दलन करके निकले हो, इसलिये तुम 'उद्दालक' नामसे प्रसिद्ध होगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा करते हुए फिर बोले—'तुमने तन-मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढे ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त करोगे।' इस प्रकार गुरुका आशीर्वाद पाकर आरुणि गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया।

जबालाका पुत्र सत्यकाम भी बडा उच्चकोटिका गुरुभक्त था। उसने एक समय हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा—'सौम्य! तू किस गोत्रका है?' सत्यकाम बोला—'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतएव तू ब्राह्मण है; क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।' फिर आचार्य गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर गौओंके झुंडमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा—'इनकी संख्या जबतक पूरी एक सहस्र न हो जायगी, तबतक मैं नहीं लौटूँगा।' यों कह वह एक अच्छे वनमें चला गया, जहाँ जल और तृणकी बहुतायत थी और बहुत कालपर्यन्त उन गौओंकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजार हो गयीं, तब एक साँडने उससे कहा—'सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये है, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो।' सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया। गुरु-आज्ञाके पालनके प्रतापसे उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड, अग्नि, हंस और मद्गुद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद्, चौथे अध्यायके चौथेसे नवें खण्डतक वर्णित है।

इन्हीं ब्रह्मवेत्ता सत्यकामका एक गुरुभक्त शिष्य था उपकोसल। उसने इनसे यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक इनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोसल बहुत तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश दिये बिना ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोसलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर आये, तब

उन्होंने उससे पूछा—'सौम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताका-सा लग रहा है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है ?' उपकोसलने सकेतसे अग्नियोंका लक्ष्य कराया । उसके बाद जब आचार्यने पूछा—'क्या उपदेश दिया है ?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं । आचार्य बोले—'सौम्य ! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा, जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमलपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होगा ।' उपकोसलने कहा—'उपदेश दीजिये ।' इसपर आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उसे सुनकर वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया । इसकी कथा छान्दोग्य-उपनिषद्, चौथे अध्यायके दसवेंसे पंद्रहवें खण्डतक कही गयी है ।

आचार्य वेदके शिष्य उत्तङ्ककी गुरुभक्तिका प्रसङ्ग महाभारतके आदिपर्वमें आता है । एक बार राजा जनमेजय और पौष्यने आचार्य वेदको पुरोहितके रूपमें वरण किया । आचार्य वेद कभी पुरोहितीके कामसे बाहर जाते तो घरकी देख-रेखके लिये अपने शिष्य उत्तङ्कको नियुक्त कर जाते थे । एक बार आचार्य वेदने बाहरसे लौटकर अपने शिष्य उत्तङ्कके सदाचार-पालनकी बड़ी प्रशसा सुनी । तब उन्होंने कहा—'बेटा ! तुमने धर्मपर दृढ़ रहकर मेरी बड़ी सेवा की है । मैं तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम्हारी सारी कामनाएँ पूर्ण होंगी । अब जाओ ।' उत्तङ्कने प्रार्थना की—'आचार्य ! मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु भेंटमें दूँ ?' आचार्यने पहले तो कुछ भी लेना अस्वीकार किया, पीछे कहा—'अपनी गुरुआनीसे पूछ लो ।' जब उत्तङ्कने गुरुआनीसे पूछा, तब उन्होंने कहा—'तुम राजा पौष्यके पास जाओ और उनकी रानीके कानोंके कुण्डल माँग लाओ । मैं आजसे चौथे दिन उन्हें पहनकर ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ ।' इसपर उत्तङ्क राजा पौष्यकी रानीके पास गया और बड़ी कठिनाई झेलकर उनके कुण्डल ले आया और उसने वे कुण्डल ठीक समयपर गुरुआनीको देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया ।

इस प्रकार माता, पिता और गुरुकी आज्ञाके पालनके विषयमें और भी बहुत-से उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं । हमें उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

(२)

बालकोंको विद्याके साथ-साथ शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिये । विद्याका अर्थ है—अनेक लिपियों और भाषाओंका ज्ञान । इनका भी अधिक-से-अधिक अभ्यास करना चाहिये; किंतु शिक्षाको तो अमृतके समान समझकर विशेषरूपसे ग्रहण करना चाहिये । शिक्षा ग्रहण करनेका अर्थ है—देश, कुल, वर्ण, आश्रम और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सदाचारका पालन । इसीसे परम कर्तव्यरूप धर्मका प्रादुर्भाव होता है । महाभारतमे आया है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

(अनुशासनपर्व १४९ । १३७)

'सभी शास्त्रोंमें आचारको प्रथम माना जाता है । आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं ।'

बाहर और भीतरकी पवित्रताको आचार कहते हैं । न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त शुद्ध और सात्त्विक आहारके द्वारा भोजनकी, मृत्तिका एवं जलके द्वारा शौच-स्नान करनेसे शरीरकी और स्वार्थत्यागपूर्वक सत्य व्यवहारसे आचरणोंकी शुद्धि होती है । यह बाहरकी पवित्रता है । इसी प्रकार ईश्वरभक्ति और निष्कामकर्मके द्वारा दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर भीतरकी पवित्रता सम्पन्न होती है ।

बालकोंको अपनी दिनचर्या किस प्रकार सदाचारमय बनानी चाहिये, यह नीचे बताया जाता है ।

प्रातःकाल चार बजे उठकर शौचसे निवृत्त हो दाँतन-कुल्ला और स्नान करना चाहिये । फिर अपने-अपने अधिकारके अनुसार संध्या-गायत्री, जप-ध्यान,

पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि नित्यकर्म करने चाहिये। उसके बाद माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करके विद्याभ्यास और शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। फिर ११ बजे भोजन करके पुनः विद्याभ्यास तथा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणकी उन्नतिके लिये माता-पिता और गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। सायंकालमें पुनः संध्या-गायत्री, जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करने चाहिये। रात्रिके समय भोजन करके पुनः माता-पिता और गुरुजनोंके संतोषके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करना चाहिये। रात्रिमें १० बजेसे ४ बजेतक छः घंटे शयन करना चाहिये।

(३)

बालकोंको ईश्वर, परलोक, धर्म, शास्त्र और गुरुजनोंपर श्रद्धा-विश्वास करके गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा करनी चाहिये। आजकल लोग जो ईश्वरकी सत्तामें संदेह करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सबसे बड़े प्रमाण तो शास्त्र हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८। ६१)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ अन्तर्यामी परमेश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

इसके सिवा ईश्वरको हिंदू, ईसाई, मुसलमान—सभी आस्तिक मानते हैं एवं उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत भी है। यदि कोई पूछे कि 'ईश्वर कहाँ है, कैसा है, कबसे है और कौन है?' तो इसका उत्तर यह है कि जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे, विद्युत्, समुद्र आदिका उत्पादक और शासक है तथा कर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है, वही ईश्वर है। वह ईश्वर सर्वव्यापक है, सदासे है और चेतनस्वरूप है।

ईश्वरको मानना युक्तिसंगत किस प्रकार है, अब इस विषयपर विचार किया जाता है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है—उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है', परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है, तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार घाटेमें नहीं रहेगा, क्योंकि ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप और अनाचारसे तो बचा रहेगा तथा वह जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा और इस प्रकार उसकी कम-से-कम इस लोकमें तो कीर्ति ही होगी। बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी। इससे उसका जीवन सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्‌में भी वह उत्तम आदर्शके द्वारा सुख-शान्तिका ही प्रसार करेगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसकी सत्ता माननेसे इतना लाभ तो प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत यदि ईश्वर वास्तवमें है तो उसे माननेवाले सब प्रकारसे लाभमें रहेंगे ही, क्योंकि वे ईश्वरके विधानको मानकर उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसकी प्रसन्नता प्राप्त करेंगे और इसके फलस्वरूप उन्हें इस लोकमें सुख-शान्ति मिलेगी एवं मृत्युके बाद वे परम शान्तिको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उसे न मानकर उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उसके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा और मरनेके बाद उनकी कैसी दुर्गति होगी—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके दुर्गुण-

ईश्वरपर निर्दयता और विषमताका दोष आयेगा, जो सर्वथा अनुचित है । इसलिये युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि परलोक अवश्य है ।

फिर भी कोई मान सकता है कि परलोक नहीं है और इधर हम कहते हैं कि परलोक है, ऐसी स्थितिमें यदि उसीकी बात सत्य हो तो उससे भी हमारी कोई हानि नहीं, क्योंकि परलोक न होनेकी स्थितिमे परलोकको न माननेवालेका कोई विशेष लाभ होता हो और माननेवालेको कोई दण्ड होता हो—ऐसी बात तो है नहीं, किंतु यदि हमारे पक्षके अनुसार परलोक है तो हमारी मान्यता हमारे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी, क्योंकि हम परलोक मानकर दण्डके भयसे कोई भी बुरा काम नहीं करेंगे, अपितु इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिये अच्छा काम करेंगे, किंतु जो परलोक नहीं मानता, उसे पापका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा और बिना श्रद्धाके अच्छा काम न करनेके कारण वह सुखसे भी वञ्चित रह जायगा; अत. उसकी सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है । अच्छे काम करनेवाले पुरुषका इस लोकमें प्रत्यक्ष मान होता है और जो बुरा काम करता है, वह प्रत्यक्ष ही घृणाकी दृष्टिसे देखा जाता है; उसका जीवननिर्वाह भी कठिन हो जाता है । इसलिये ईश्वर और परलोकको माननेमें सब प्रकारसे लाभ है और न माननेमें हानि-ही-हानि है । सुतरां ईश्वर और परलोकको अवश्य मानना चाहिये तथा सदा-सर्वदा उनको याद रखते हुए धर्मके अनुसार अपना जीवन बिताना चाहिये । इसीमें यहाँ-वहाँ सर्वत्र कल्याण है ।

प्रार्थना

छुड़ा दो विषयोंका अभिमान ।
करके कृपा कृपामय ! हमको दो यह शुभ वरदान ॥
धन-जन, पद-अधिकार, देहसुख-कीरति, पूजन-मान
उच्च जाति-कुल—सबको समझें बिजली-चमक समान ॥
सबको आदर दें, सबका ही करें सदा सम्मान ।
दुखियोंमे बस, तुम्हें देखकर करें उन्हें सुख-दान ॥
देखें नहीं उच्च महलोंको, नहिं देखें धनवान ।
देखें राह पड़े दुखियोंको, अपने ही सम जान ॥
आश्रयहीन, अनाथ, अपाहिज, रुग्ण, दीन, अज्ञान ।
भूखों, नंगोंके हित कर दें जीवनका बलिदान ॥
तप्त आँसुओंको नित पोंछें निज सुखका कर दान ।
कभी न इसका बदला चाहें, करें न कुछ अहसान ॥
उनकी चीज उन्हींको दे दें, बनें न बेईमान ।
इसे न समझें दान कभी भी, करें न गौरव-मान ॥
सबमें तुम, सब ही तुम, सब कुछके स्वामी भगवान ।
नित्य करें निश्चय-अनुभव यह 'मैं-मेरा' कर दान ॥

जगद्गुरु शंकराचार्यका धर्म-घोष

(जगद्गुरु अनन्तश्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज ज्योतिर्मठ (बदरिकाश्रम) ने १० सितम्बर सन् १९५६ को श्रीअग्रसेन व्यायामशाला, छावनी, कानपुरमें अपने सायंकालीन प्रवचनमें कहा—)

आत्मानं विन्दते यस्तु सर्वभूतगुहाशयम् ।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम् ॥

यदि प्राणी आत्माको जान जाय—यह समझ ले कि सबका आत्मा एक है और परमात्मा प्राणीकी बुद्धिरूप गुफामें बैठे हैं, तो उसे आत्मस्वरूपका बोध हो जायगा और उसे कुछ भी जाननेको नहीं रह जायगा । पुराणोंमें इसी तथ्यका संकेत है । प्राणी जबतक आत्माको न जाने, शास्त्रपर विश्वास रखकर उसके अनुकूल आचरण करे ।

बुद्धिद्वारा मोहरूपी सरिताको पार कर लेनेपर वैराग्य प्राप्त होता है । शास्त्र मनुष्यको अन्धकाररूपी गड्ढेमें गिरनेसे बचाता है, उससे प्राणीको कभी कोई भय नहीं है । भिन्न-भिन्न रुचिवाले प्राणियोंको आत्मबोध करानेका उपाय पुराणों और स्मृतियोंमें विस्तारपूर्वक वर्णित है ।

शास्त्रसे यदि वासुदेवरूपी 'आ'कार हटा दिया जाय तो क्या रह जायगा ?—शस्त्र । शास्त्रको सोच-समझकर वासुदेवसहित पढो, तभी उसके सही स्वरूपका ज्ञान हो सकेगा । वासुदेवरहित शास्त्र शास्त्र नहीं, शस्त्र रह जाता है, जो स्वयं तुम्हारा गला काटता है ।

भागवतमें बताया गया है कि यदि संसारको शास्त्रसे स्वतन्त्र छोड दिया जाय तो प्राणी अर्थलाभका ही प्रयत्न करेगा, मोक्षका नहीं, कारण, संसार अर्थकी ही चेष्टा करता है । अतिशय कामनाका अन्त नहीं होता । इसके लिये लोग कितना वैर बाँधते हैं । यह सब क्यों ? केवल इस मल-मूत्रके भाँड़के क्षणिक सुखके लिये लोग इतने घोर पाप करते हैं । हम मूढ हैं, सत्यको नहीं पहचानते । पशु धोखा नहीं खाता; क्योंकि उसको भगवान् प्रेरणा देता है, परंतु मनुष्यको भगवान्ने थोड़ी स्वतन्त्रता दी है, कल्याणका मार्ग ढूँढनेके लिये उसे बुद्धिरूपी साधन दिया है । बुद्धिका दुरुपयोग करके अगर तुम अँधेरेमें गिरे तो तुम्हारा कब और कैसे उद्धार होगा ?

आजकल कुछ लोग भगवान्की लीला—रासलीला करते हैं । यह क्या है ? वे कहते हैं कि भगवान्ने रास किया था, हम भी करते हैं । भागवतमें कहीं ऐसा आदर्श नहीं है । परीक्षित्ने शङ्का की—रासलीलाका मनुष्य दुरुपयोग करने लगेंगे । शुकदेवजीने उत्तर दिया—जल और वायु समस्त शरीरका स्पर्श करते हैं, परंतु कोई उनका विरोध नहीं करता, कोई उन्हें बदमाश नहीं कहता । परंतु यदि कोई पुरुष पर-स्त्रीके अङ्गोंका स्पर्श करे तो उसकी क्या दशा होगी ? ईश्वर जलवायुके समान अत्यन्त पवित्र और उससे भी सूक्ष्म है । हम मनुष्य हैं । ईश्वर अच्युत, निर्विकार और सर्वसमर्थ है । जीव च्युत और विकारोंका पुतला है । जीवका अर्थ है—पदे-पदे, पग-पगपर च्युत होनेवाला । भगवान् अपने पदसे नहीं गिरते—अवतारकी अवस्थामें भी नहीं सीताके रूपमें सतीको देखकर क्या राम भ्रमित हुए ? उल्टा परिणाम सतीको भुगतना पडा । यह है भगवान्का अच्युत, निर्विकार और सर्वसमर्थ स्वरूप ।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३२)

ईश्वरके वचन प्रमाण हैं और उनके वचनके अनुकूल उनके आचरण भी प्रमाण हैं । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह भगवान्के वचनों और आज्ञाओंका पालन करे, उनके आचरणोंका अनुकरण नहीं ।

भगवान् श्रीकृष्णने कामदेवकी चुनौती स्वीकार करके उसके घमंडको तोड़नेके लिये रासलील की थी । जब कामदेवने अपनी समस्त साज-सज्जासहित पाँच सेनापतियों—

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तथा प्रधान सेनापति वसन्तको लेकर भगवान्पर आक्रमण किया, तब भगवान्ने रासलीला करके उसे पूर्ण परास्त किया।

भागवतमें कहा है कि 'इस रासलीलाको जो पढ़ेगा, वह कामपर विजय प्राप्त करेगा।' परतु यदि तुम रासलीलाके तत्त्वका विचार न करके उसका अनुकरण करोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायगा। उस अच्युत, निर्विकार, सर्वसमर्थ भगवान्की बराबरी करके आज जो लीला—रासलीला की जाती है, वह अधर्मका स्वरूप है, पतनको ले जानेवाला मार्ग है, सनातनधर्मके विपरीत है। इसलिये प्रत्येक माता-भ्राताको इस पापसे बचना चाहिये। साधु-सन्यासियोंको स्त्रीका स्पर्श तो दूर, उससे बाततक करना मना है, फिर उनके साथ रासलीला करनेवाले कैसे साधु, सन्यासी और महात्मा हो सकते हैं—इसे प्रत्येक सनातनधर्मी माता-भ्राताको समझ लेना चाहिये।

भगवान् शङ्कराचार्यने अपने उन नकलची शिष्योंको—गुरुके शराब पीनेपर अनुकरणके नामपर शराब पीनेवाले परतु गरम शीशेको पीनेके समय अपनेको असमर्थ बतानेवाले शिष्योंको जिस प्रकार दुतकारकर निकाल दिया था, उसी प्रकार यह च्युत प्राणी जब भगवान्के आचरणोंका अनुकरण करने जाता है, तब उसका पतन हो जाता है।

माताओंको अपने घरपर ईश्वरका भजन-पूजन करते हुए अपने पतिकी सेवा करनी चाहिये। साधु-सन्यासियों और पर-पुरुषोंके साथ लीला और कीर्तन आदि करनेसे उनका शीलभङ्ग होता है और वे च्युत हो जाती हैं। पतिकी सेवा त्यागकर किसी साधु-सन्यासी या पर-पुरुषके साथ कीर्तन-भजन करनेसे नारीकी मुक्ति नहीं होती और न वह धर्म है वर उसे पाप लगता है। नारीकी मुक्ति घरपर ईश्वर-भजन-कीर्तन करते हुए पति और पुत्रोंकी सेवा करनेसे होती है। हमारा सनातनधर्म यही कहता है, इसे प्रत्येक माताको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

भगवान्की श्रद्धा और भक्तिसे पूजा करनी चाहिये। भगवान्को भोग लगाकर उसका प्रसाद पाना चाहिये। किसी अन्य प्राणीका उच्छिष्ट अन्नादि ग्रहण करना पाप है। साधु-सन्यासियों-महात्माओंको स्त्रियोंसे अपने पैर पुजवाना और उन्हें चरणोदक देना धर्मविपरीत है। इससे धर्मका नाश होता है। माताओंको भूलकर भी किसीको अपना गुरु नहीं बनाना चाहिये। भगवान्के अतिरिक्त किसीका चरणोदक और उच्छिष्ट अन्नादिका प्रसाद ग्रहण नहीं करना चाहिये। स्त्री अपने पतिकी अर्धाङ्गिनी होती है, इसलिये जो पतिका गुरु होता है, वही उसका गुरु होता है। धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है और बुद्धिसे शास्त्र-अनुकूल आचरण करना चाहिये। आचाररहित धर्म 'धर्म' नहीं है। सनातनधर्म हमें आचारयुक्त धर्मकार्य करनेकी ही अनुमति देता है। मर्यादाहीन और आचारहीन कार्य कभी धर्म नहीं हैं, वे अकल्याणके रास्ते हैं और उनपर चलकर हम पतित हो जायँगे। इसलिये प्रत्येक माता-भ्राताको शास्त्र-अनुकूल धर्मका आचरण करना चाहिये, कल्याणके लिये सनातनधर्मका यही सीधा-सादा विधान है।

गृहस्थोंको अतिथिका सत्कार करना चाहिये, परतु उन्हें किसी साधु-सन्यासीको अपने घरपर नहीं ठहराना चाहिये। साधु-संन्यासियों और महात्माओंका निवास तो गृहस्थके घरसे दूर होता है, केवल भिक्षाके समय गृहस्थोंके घर उन्हें जाना चाहिये।

यदि हमारी आँखें, हाथ धोखा दें तो उन्हें फोड़ डालो, हाथ काट डालो। सूरदासको देखो—उन्होंने उन आँखोंको फोड़ डाला, जिन्होंने उन्हें नरकमें गिरानेका प्रयास किया था।

पृथ्वी, आकाश, सूर्य और चन्द्र—सब वे ही हैं। उनमें

क्या बिगडा है ? केवल बिगडी है हमारी नीयत ! सम्राट् शाहजहाँके पूछनेपर एक वृद्धने उसे बताया था कि 'तुम्हारे बाबा अकबरके राजत्वकालमें अर्धरात्रिमे मेरे एकान्त निवास-स्थानपर एक भूली-भटकी बहुमूल्य आभूषणोंसहित अति सुन्दरी सेठानीके आनेपर भी मेरे मनमें उसके प्रति बहनके भाव थे, मानव-कर्तव्यका पूर्ण बोध था। जहाँगीरके समयमें मेरे भाव बदले और उसके कीमती आभूपणोंके न लेनेपर पछतावा होने लगा, परंतु आपके राज्य-मे आभूषणोंके साथ-साथ उस सुन्दरीको भी छोड़ देनेके लिये पश्चात्ताप होने लगा है।' यह है समयके परिवर्तनके साथ मनुष्यकी नीयतके बदलनेका स्वरूप। इसीलिये भगवान्से प्रार्थना करो—'भगवन्! मैं बार-बार मन आपमें लगाता हूँ पर वह लगता नहीं—मै आपके शरणागत हूँ, आप मुझपर कृपा करे और अपने चरणोंमे मुझ पापीको शरण दें। भगवान् भक्तवत्सल, करुणा-वरुणालय हैं और निश्छल तथा निष्कपट भावसे की गयी प्रार्थनापर आर्द्र होकर भक्तको गोदमें उठा लेनेको आकुल होकर दौड पडते है।

सत्यभामाने द्रौपदीसे जब पूछा कि 'तुमने ऐसा कौन-सा मन्त्र या सिद्धि प्राप्त की है, जिसके फलस्वरूप पाँचों पति तुम्हारे वशमे रहते हैं?' द्रौपदीने उत्तर दिया—'किसी मन्त्र या सिद्धिसे नहीं वर अपनी सेवासे मै अपने पतियों-की प्रिय हूँ, उनकी छोटी-से-छोटी प्रत्येक सेवा मैं अपने हाथों करती हूँ और समस्त अतिथियोंके सत्कारकी व्यवस्था भी मै स्वयं करती हूँ, किसी अन्यपर उसे नहीं छोडती।' द्रौपदीने जो बातें सत्यभामासे कहीं थीं, वे भारतीय नारी-के आदर्शके अनुरूप हैं। इसलिये माताओंको रासलीला करनेका मनमें भी विचार नहीं लाना चाहिये वर द्रौपदीके उपदेशोंका पालन करना चाहिये। यही उनका धर्म है।

मेरा कथन आपको भले ही कडुआ लगता हो परतु सत्य यही है। हमारा काम है—जनताको धर्मका सच्चा मार्ग दिखाकर उनका कल्याण करना।

चारों वेद तथा छहो शास्त्रोका चाहे कोई पण्डित भी हो, परतु यदि वह आचारहीन हो तो मृत्युकालमें वेद और शास्त्र उसे वैसे ही छोड देंगे जैसे पक्षी सूखे पेडको। केवल इसलिये कि तुम्हारे पास शक्ति और बल है, धर्ममार्गसे कभी किसीको च्युत मत करो। साधुओंको स्वधर्मकी रक्षा करनी चाहिये।

भगवान्ने कहा है—'मेरी आज्ञा तोडकर चलोगे तो मारे जाओगे। सुख-दु.खमें कभी मत घबराओ, सभी समय मन-वचन-कर्मसे भगवान्का ध्यान करो, वह सदैव तुम्हारी सहायता करता रहता है। 'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

मन-मन्दिरमें सिया-राम

(रचयिता—स्व० लाला श्रीभगवानदीनजी)

कोटिन कुबेरन कौ कनक कनूका-सम,
ताकौं चार्‌यौ वेद एक अलप कहानी है।
कामधेनु कल्पतरु चिंतामनि आदिक की,
ताको दान देखि देखि मति चकरानी है॥
पाँचहू मुकति ताकी दासी ह्वै खवासी करैं,
कालहू कराल की न ता सँग बिसानी है।
"दीन" कवि जाके मन मंदिर में बास करै,
राम सौ सुराजा औ सिया सी महारानी है॥

वर्तमान बुरी स्थिति और उसे दूर करनेके लिये धार्मिक शिक्षा आवश्यक

(श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्यजीके दीक्षान्त भाषणसे)

[आगरा विश्वविद्यालयके उन्तीसवें दीक्षान्त-समारोहमें प्रसिद्ध राजनीतिक नेता, वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महोदयने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, उसका सार नीचे दिया जाता है। भाषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा समयोपयोगी है। हमारी वर्तमान बुरी स्थितिका दिग्दर्शन करानेके साथ ही उसके दूर करनेके सुन्दर उपाय भी उसमें बतलाये गये हैं। हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, शिक्षाका पर्याप्त प्रचार हो रहा है, ने बन रहे हैं, सड़कों-पुलोंका भी निर्माण हो रहा है और देशके सर्वतोमुखी विकासकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ काममें लायी जा रही हैं, परंतु देशका चारित्रिक स्तर सर्वत्र बड़ी तेजीसे गिर रहा है। यह सबसे बड़ी हानि है और वर्तमानमें हमलोग अर्थ और अधिकारके पीछे इतने पागल हो रहे हैं कि हम मानो उच्च चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताको भूल ही गये हैं। इस परिस्थितिमें राजाजीका यह भाषण सामयिक एवं मनन करनेयोग्य है।—सम्पादक]

परमात्माकी विस्मृति

आजके युगमें आरम्भसे अन्ततक एक यही विषय है कि हम परमपिता परमात्माको भूल गये हैं। ये शब्द प्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलके हैं, जो उन्होंने विज्ञान और साम्राज्यवादके विस्तारके फलस्वरूप पाश्चात्त्य जगत्के मानवमात्रकी धातुप्रियता तथा कलहप्रिय प्रवृत्तिसे दुखी होकर कहे थे। साम्राज्य अब विश्वके मानचित्रसे गायब हो गये हैं और विज्ञान भी अपनी चरम सीमाको पार कर चुका है। अत. पश्चिममें एक नवीन ज्ञान-ज्योतिका प्रादुर्भाव हो रहा है। परतु हम पूर्वनिवासी अब भी शासन और विधायकोंके अदर प्रभुको विस्मृत करते जानेकी प्रवृत्ति देखते हैं, जिसकी निन्दा कार्लाइलने अपने समयमें की थी। मैं राष्ट्रिय विकासके लिये आधारभूत इस महत्त्वपूर्ण सत्यकी ओर विचारकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

श्रेष्ठ चरित्रकी अनिवार्य आवश्यकता

चरित्रका अच्छा होना शारीरिक शक्ति एवं बुद्धिकी प्रखरसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशके अंदर शान्ति-स्थापना एवं बाहरी आक्रमणसे उसकी रक्षाके निमित्त नागरिक प्रशासन तथा सैनिक व्यवस्थाके लिये जन-समुदायमेंसे पर्याप्त संख्यामें लोगोंका शारीरिक एव मानसिक दृष्टिसे शक्तिशाली होना आवश्यक है; किंतु देशकी उन्नति तथा चतुर्मुखी विकासके लिये जीवनके दैनिक कार्योंको मिल-जुलकर एक दूसरेके सहयोगसे करनेवाले समस्त नागरिकोंके चरित्रका अच्छा होना नितान्त अनिवार्य है। चरित्र वह भूमि है, जहाँ अन्य सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि वही खराब है तो सभी कुछ खराब होगा। मनुष्यको ईमानदार, वचनका पालन करनेवाला, सबके प्रति दयालु तथा एक दूसरेके प्रति किये गये वायदोंको निभानेवाला और अपने निजी स्वार्थोंसे अधिक दैवी गुणोंका मूल्य करनेवाला होना चाहिये।

बुरी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि

आजके स्कूलों और कालेजोंमें दी जानेवाली उच्च शिक्षा भी चरित्र-निर्माणमें सहायक नहीं है। हमारे देशमें चल रही वर्तमान प्रवृत्तिको देखकर कोई भी उज्ज्वल भविष्यकी निश्चित कल्पना नहीं कर सकता। यह सत्य है कि मैं इन दिनों चिन्तायुक्त हूँ। हम अपने चारों ओर प्रत्येकको थोड़ा-सा ज्ञान और थोड़ी-सी शिक्षा प्राप्तकर येन-केन-प्रकारेण धन-प्राप्तिकी इच्छा करते हुए देखते हैं। गाधीवादी सत्य-अहिंसात्मक एवं आत्मिक विकासके आन्दोलनद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रता, सम्मान एव प्रशासनिक उत्तरदायित्व वहन करनेके बाद हमें

आशा रखनी चाहिये थी कि लोगोंका जीवनके प्रति दृष्टिकोण बदलेगा, किंतु आशाके विपरीत धोखा देने और झूठे बाह्य प्रदर्शनकी प्रवृत्तियोंकी वृद्धि होती दिखायी दे रही है।

छात्रोंमें कर्तव्यपालनकी भावना आवश्यक

छात्रोंमें वर्तमान समयके शिक्षित लोगोंकी अपेक्षा अधिक कर्तव्यपालनकी भावना होनी चाहिये। राष्ट्रकी स्थितिको सुधारनेके लिये छात्रोंको भौतिक प्रलोभनों एव निजी स्वार्थोंके आकर्षणसे दूर रहना चाहिये। यदि इस सिद्धान्तको पूर्ण गम्भीरता एव राष्ट्रके लिये जीवन-मरणके प्रश्नकी भाँति स्वीकार कर लिया गया तो यह हमारी शिक्षानीतिमें तुरत परिवर्तन लानेका आधार बन जायगा।

मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है

यदि हम निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो यह स्पष्ट है कि कुछ त्रुटियोंके रहते हुए भी, ससारमें धर्म ही मनुष्यको सदा विनाश और रोगोंके पथसे बचाता रहा है। यह तथ्य हम ससारमें मानवसमाजके सामाजिक तथा आर्थिक इतिहासको देखकर प्रमाणित कर सकते हैं कि धर्म ही मनुष्यको क्रियाशील सहयोगी जीवन बितानेके लिये प्रोत्साहित करता आया है। सम्पूर्ण मानव-सभ्यताका मूल धर्म ही है। यदि हम स्कूलों और कालिजोंसे धार्मिक शिक्षाको दूर कर दें तो हम सार्वजनिक चरित्रका निर्माण कदापि नहीं कर सकते। हमने अन्ध-विश्वासोंको धर्मकी सज्ञा देकर बालकोंके घरेलू जीवनसे भी धर्मको अलग कर दिया है—यहाँतक कि छात्रोंकी विद्यालयोंमे उपस्थितिने उनके घरोंमे मनायी जानेवाली धार्मिक क्रियाओंको सम्पादित करना भी उनके लिये असम्भव बना दिया है। इस प्रकार हमने वर्तमान शिक्षापद्धतिके कारण अपनेको धर्मके लिये एक खोखली दीवाल बना रक्खा है। यही दशा रही तो हम अनिवार्यरूपसे बुरे-से-बुरे होते चले जायँगे। हम यह स्वीकार तो करते हैं कि हमें युवकोंके जीवनमें पवित्रता तथा बुराईसे दूर रहनेकी भावनाका विकास करना चाहिये; परंतु इसके लिये हम किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। हमें ऐसे साधन उपलब्ध करने होंगे कि जिनकी सहायतासे उन उद्देश्योंकी पूर्ति की जा सके।

छात्रोंके मस्तिष्कसे सर्वशक्तिमान् प्रभुकी भावना दूर करनेका हमारा प्रयास

वास्तविकता यह है कि वर्तमान शिक्षा छात्रोंके अंदर रटने तथा रटी हुई बातोंका परीक्षामें प्रदर्शन करके उपाधि प्राप्त करनेकी आदत डालती है। हमने विकासोन्मुख तरुणों और तरुणियोंके चरित्रको वर्तमान शिक्षाद्वारा खोखला बना डाला है। जब उनके चरित्रके अंदर हमारे द्वारा प्रवेश कराया हुआ यह भयानक रोग अनुशासनहीनताके रूपमें फूट पडता है, तब हम उसकी निन्दा करने लगते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु ही संसारपर शासन कर रहे हैं—इस विचारको क्या हम युवक और युवतियोंके मस्तिष्कसे दूर रखनेका प्रयास नहीं कर रहे हैं ?

छात्रोंमें दैवी गुणोंके विकासके लिये धार्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता

शिक्षाका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छात्रोंमें दैवी गुणों तथा कर्तव्यपरायणताका विकास करना है। धार्मिक शिक्षा इस उद्देश्यकी पूर्तिमे सहायक होगी। नवयुवकोंको बुरी बातों तथा अवाञ्छनीय आचरणकी प्रवृत्तिसे दूर रहना सिखाना चाहिये। यदि हमने स्कूलोंमें धार्मिक शिक्षा प्रदान न की तो इन गुणोंका आविर्भाव हम नागरिकोंमें नही कर सकते। विभिन्न धार्मिक मान्यताओंको समासकर उनके चलानेवालोंको केवल कल्पित व्यक्ति मानना विनाशकारी है। ईसामसीह, भगवान् बुद्ध, मुहम्मद साहब, भगवान् राम, कृष्ण

आदिको यदि हम भौतिक दृष्टिकोणसे केवल कल्पित व्यक्ति ही मान ले तो ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध तथा हिंदू-धर्मोंमें रह ही क्या जायगा ।

राष्ट्रिय चरित्रका ह्रास न हो, इसके लिये हमें प्रत्येक छात्रको स्कूलमें उसके अपने पारिवारिक धर्ममे दीक्षित करना होगा । इस कार्यमें अव्यावहारिकता कहीं नहीं है । विज्ञानको ससारने एक बार विजेताके रूपमें प्रदर्शित किया था, परतु अब वही विज्ञान धर्मका सबसे बडा सहयोगी है । उच्च विज्ञान भौतिकवादके दृष्टिकोणको त्यागकर अब आत्मिक विकास तथा उपनिषदोंकी भाँति देवत्वकी ओर ले जानेवाला बन रहा है, किंतु विज्ञान धार्मिक विश्वास और दैवी गुणोंके विकासमे तभी सहायक हो सकता है, जब मनुष्यको बचपनमें ही उसके अनुकूल शिक्षित किया जाय । मेरी कामना है कि हम भारतीय केवल भौतिक चमक-दमक एव बाह्य प्रसन्नताके चक्करमें ही न पडे रहें; परतु यह सब बिना धर्मके नहीं हो सकता। इसलिये चरित्रवान् भारतीयोंके निर्माणके लिये स्कूलोंमें प्रत्येक लडके और लडकीको धार्मिक शिक्षा देना अनिवार्य होना चाहिये ।

जीवनमें उतारनेके लिये

रक्षा करो पराधिकारकी, करो त्याग अपना अधिकार ।
यथासाध्य पर-आशाओंको पूरा करो सहित सत्कार ॥
ऐसा करके कभी किसीपर करो नहीं कुछ भी अहसान ।
कभी न कुछ भी बदला चाहो, त्याग करो मनसे अभिमान ॥
प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिसे तुम रक्खो कभी न कुछ भी आस ।
आशा करो आत्मसुखकी जो हर-हालतमें रहता पास ॥
जो सुख-सिद्धि हेतु करता है अन्य किसीसे कुछ भी आस ।
आत्मसिद्धि-सुखसे वह वञ्चित रहता, होता सदा निराश ॥
समझो तुम जिन-जिन बातोंको अपने हित-मनसे प्रतिकूल ।
उन्हें न बरतो कभी किसीसे, समझो इसे धर्मका मूल ॥
दोष न देखो कभी किसीके, निन्दा-चुगलीको दो त्याग ।
सद्गुण-सद्भावोंको देखो, सेवा करो सहित अनुराग ॥
अपने सभी सुखोंको समझो दुखियोंसे है लिया उधार ।
वितरित कर उनको दुखियोंमें करो विषम ऋणका उद्धार ॥
पेट भरे उतने ही धनपर अपना हक है, अपना जोर ।
इससे अधिक माननेवाला दण्डनीय है, हकका चोर ॥
यज्ञ-शेष जो खाता है, वह होता सब पापोंसे मुक्त ।
अपने लिये कमाता केवल, खाता पाप, पापसयुक्त ॥
सबको सबका हक देकर जो बचता, वही यज्ञ-अवशेष ।
इससे जो जीवन-यापन करता, उसके अघ होते शेष ॥

बुरा न चाहो कभी किसीका, चाहो भला, करो कल्यान ।
सबके सुखमें ही सुख समझो, सबके हितमें ही हित जान ॥
प्रेम करो, सुख दो सब को ही, सबका करो सत्य सम्मान ।
सबमे समझो निज आत्माको, या सबमें देखो भगवान ॥
प्रभुने जो कुछ दिया, परिस्थिति दी जैसी, उसमे हित मान ।
मङ्गलमय प्रभुका विधान वह, सत्-उपयोग करो शुभ जान ॥
प्रभुकी कृपा अनन्त सदा है, उसपर करो पूर्ण विश्वास ।
उनकी सहज सुहृदतासे ही मिलती शान्ति परम अनयास ॥
हैं अनित्य क्षणभंगुर दुखमय जगके सारे प्राणि-पदार्थ ।
उनमें स्वार्थ न देखो, साधो मनसे सदा शुद्ध परमार्थ ॥
भोगोंकी आसक्ति-कामना तजकर हो जाओ निष्पाप ।
प्रभुकी सुखद शरणमें जाओ, शान्ति मिलेगी अपने-आप ॥
नित्य-निरन्तर प्रभुका पावन नाम जपो, कर मन विश्वास ।
मनमें सदा रखो प्रभुको ही, रहो निरन्तर उनके पास ॥
दुर्लभ सुलभ हुआ प्रभुकी अनुकम्पासे मानव-जीवन ।
इसका लाभ उठा लो पूरा, कर अर्पण मन-वाणी-तन ॥
सबमें सदा विराजित प्रभु हैं, सबमें वे हैं एक-समान ।
सबमें अपने शुभ कर्मोंसे अविरत पूजो श्रीभगवान ॥
आश्रय सभी छोडकर मनसे होओ प्रभुके शरण अनन्य ।
जन्म सफल होगा निश्चय ही, हो जायेगा जीवन धन्य ॥

जनताके कल्याणार्थ श्रीस्वामी रामदेवजी महाराजके विचार

(प्रेषक—श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल)

धार्मिक जनता आज संकट-काल मानकर धार्मिक आयोजनोंमें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सभी प्रकारका सहयोग देती है। उनकी इस श्रद्धा और उदारताका नानावेषधारी लोग पाखण्ड रचकर दुरुपयोग करके जनताके, विशेषत. महिलाओंके धन और धर्मका सार्वजनिक रूपसे विनाश कर रहे हैं, यह अत्यन्त चिन्तनीय है। आज हमारा आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक और सामाजिक पतन तीव्रतासे हो रहा है। धर्म, राष्ट्र और समाजके कल्याणके लिये प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिसे इसपर ध्यान देने और उसे रोकनेके लिये सक्रिय कदम उठानेकी विनम्र प्रार्थना है।

आजकी इन्हीं कुछ गम्भीर धार्मिक समस्याओंपर मेरे प्रश्नोंके उत्तरमें परमहंस, वीतराग श्री १०८ स्वामी रामदेवजी महाराजने लिखित विचार प्रकट किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—सनातनधर्ममें अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनेक प्रकारसे विधान है। प्राय: उन सबकी पद्धतियाँ निर्धारित हैं। श्रौत तथा स्मार्त भेदसे दो प्रकारके यज्ञ विहित हैं। श्रौत यज्ञ आहिताग्नि व्यक्ति ही कर सकता है। वर्तमान समयमे प्राय. स्मार्त यज्ञ ही होते हैं—जैसे रुद्रयज्ञ, विष्णुयज्ञ आदि। इनकी पद्धतियाँ छपी हैं। उनमें उनका पूरा विधान दिया हुआ है। सामान्य विधान यह है—

(क) यज्ञमे उन्हीं ब्राह्मणोंका वरण होना चाहिये, जिन्होंने गुरुमुखद्वारा वेदका अध्ययन किया हो। यजमान तथा आचार्यसहित ऋत्विजोंको सिला वस्त्र पहनकर किसी प्रकारका यज्ञ नहीं करना चाहिये। जबतक यज्ञानुष्ठान पूर्ण न हो जाय, तबतक ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना चाहिये अर्थात् भूमिपर शयन, तैलादिका परित्याग, हविष्यान्न-भोजन (नमक, मिर्च, दाल आदिसे रहित) एक समय करना चाहिये तथा यज्ञस्थलपर ही निवास करना चाहिये। तम्बाकू, बीडी-सिगरेट, भाँग आदि मादक द्रव्योंका सेवन नहीं करना चाहिये।

(ख) शास्त्रविधिसे अनुष्ठित निष्काम यज्ञ सात्त्विक होता है।

(ग) विद्वान् गृहस्थ ब्राह्मणोंको ही यज्ञ करानेका अधिकार है।

(घ) साधु, महात्मा, संन्यासी और दण्डधारी दर्शकरूपसे यज्ञमें भाग ले सकते है। यही शास्त्रानुकूल मर्यादा है।

(ङ) यज्ञमें विद्वान् गृहस्थ ब्राह्मणको ही दान देना चाहिये। भोजन सभी मनुष्योंको कराना चाहिये।

(च) यज्ञ सार्वजनिक नहीं होता। ब्राह्मण भिक्षा माँगकर यज्ञ कर सकता है। वही यज्ञमें यजमान बननेका अधिकारी है। क्षत्रिय प्रजासे कर लेकर, वैश्य व्यापारसे धनार्जन करके यज्ञ करनेका अधिकारी है और यजमान भी बन सकता है।

(छ) शास्त्रविपरीत यज्ञ करनेसे कर्ताका नाश हो जाता है। संसारमें अपयश होता है। इस लोक तथा परलोकमें दु.ख भोगना पड़ता है।

२—अध्यात्मवाद तथा भौतिकवादका समन्वय करनेका किसी भी धर्ममें उपदेश नहीं है। सनातनधर्मके अनुसार ब्रह्मका समन्वय सभी भूत-भौतिक पदार्थोंमें है। दो वादोंका समन्वय नहीं होता। यदि समन्वय हो जाय तो वे वाद ही नहीं रहेंगे। जो लोग दो वादोंका समन्वय करते हैं, उनको दार्शनिक सिद्धान्त तथा वादके तत्त्वका परिज्ञान नहीं।

३—साधु, संन्यासी, महात्मा, दण्डधारी योग्य शिष्य बना सकते हैं। संन्यासीके लिये ब्रह्मचारी या गृहस्थको अपना शिष्य बनानेका शास्त्रमें विधान नहीं है।

स्त्रियोंको तो उन्हें कभी भी चेली नहीं बनाना चाहिये।

४—अपनेको भगवान् कोई मनुष्य नहीं कहला सकता। अपने-आप अपनी जय नहीं बुलवानी चाहिये, अपना चरणोदक स्वयं नहीं देना चाहिये। अपना उच्छिष्ट न किसीको देना चाहिये, न उसका प्रसाद-रूपसे वितरण ही करवाना चाहिये। स्त्री अपने पतिके अतिरिक्त किसी अन्यका चरणोदक या उच्छिष्ट लेनेपर अपने धर्मसे च्युत हो जाती है, क्योंकि यह धर्मविरुद्ध आचरण है। ऐसा करनेवाले सनातनधर्मके रक्षक नहीं हैं।

५—रासलीला या कीर्तन आदिमें रात्रिके समय स्त्रियों-को बुलाना या उसमें जाना धर्मसङ्गत नहीं है। श्रीभगवान्के ही रासलीला करनेका वर्णन है। यदि कोई जीव भगवान्की नकल करता है तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। स्त्रियोंको पर-पुरुषके साथ रास-विहार करना अनुचित तथा शास्त्रविरुद्ध है। साधु-सत, महात्मा न तो रासलीला करते हैं न उसका आयोजन ही करते हैं। यदि कोई महात्मा-नामधारी ऐसा करता है तो उसका वह आचरण शास्त्रविरुद्ध है। उसको उसका फल भोगना पड़ेगा। सनातनधर्ममें इस प्रकारके कार्योंकी अनुमति न किसी नारीको है न नरको ही है।

६—सनातनधर्ममें ब्रह्मकुमारियोंका कोई स्थान नहीं है। महिलाओंको यौगिक क्रियाकी शिक्षा पुरुषोंद्वारा नहीं दी जानी चाहिये। उनके अङ्गोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये तथा उनसे चरण भी नहीं दबवाना चाहिये। उनका बेटा बनकर उनके स्तनोंका दूध भी नहीं पीना चाहिये। साधु-संन्यासियोंके लिये इस प्रकार स्वाँग करना सर्वथा अनुचित है तथा धर्मविरुद्ध है। ऐसा करनेवाला संन्यासी या साधु नहीं कहा जा सकता। इस कृत्यसे वह साधु भी पतनकी ओर जाता है और स्त्री भी पतित हो जाती है।

७—साधु-संन्यासीको किसी प्रकारका सग्रह नहीं करना चाहिये, न व्याज कमानेके लिये लेन-देनका व्यवहार ही करना चाहिये। यदि कोई साधु-सन्यासी ऐसा करता है तो उसका पतन हो जाता है। धनसग्रह तथा विषयोंका भोग करनेवाले साधु-संन्यासी नहीं कहे जा सकते। ससारके किसी भी धर्म-ग्रन्थमे गृहस्थाश्रमको त्यागनेवालेके लिये धनसंग्रहका विधान नहीं है।

८—हिंदूधर्ममें कहीं भी दहेज माँगनेका विधान नही है। जो ऐसा कृत्य करता है, वह अध्यात्मवादी नहीं हो सकता।

कृष्णावतारके विविध हेतु

कंस तैं पिता कौ अंस, द्रोन-सुत-अस्त्र हू तैं,
अंस अभिमन्यू कौ उबार्‍यौ अघहीनो तैं।
पूतनादि पातकी विदूरथ लौं मारि, कौरू-
पांडुन भिराइ भूमि-भार दूर कीन्हौ तैं॥
मातु-गुरु-विप्र-पुत्र मृतक मिलाये आनि,
उद्धव-विजै कौं गूढ़ ग्यान भक्ति दीन्हौ तैं।
रास ब्रजनारिन लौं द्वारका-विहारन लौं,
कान्ह! अवतार कोटि कारन लौं लीन्हौ तैं॥

सद्गुणोंके उत्सवमें

(श्रीमाँ)

[अनुवादक—श्रीश्यामसुन्दर झुनझुनवाला]

एक समयकी बात है, एक शानदार महल था। महलके बीचो-बीच एक देवस्थल था, किंतु आजतक कोई भी उसकी चौखट नहीं लाँघ सका था—यहाँतक कि उसकी सबसे बाहरकी चहारदिवारी भी मर्त्य जीवके लिये दुष्प्रवेश थी। कारण, महल खड़ा था एक बहुत ऊँचे बादलपर और किसी भी कालमें वहाँ जानेका मार्ग पा सकनेवाले व्यक्ति बिरले ही रहे। यह था सत्यका महल।

वहाँ एक दिन एक बड़े उत्सवका आयोजन हुआ—मनुष्योंके लिये नहीं, वरं उनसे भिन्न जनोंके लिये। वे सब थे देव-देवियाँ, छोटे भी और बड़े भी, पृथ्वीपर जिन्हें सद्गुणके नामसे पूजते हैं।

महलका बाहरी भाग एक विशाल सभा-कक्ष था। उसकी दीवालें, उसकी फर्श, उसकी छत स्वतः ही चमचमाती थीं और फिर सहस्रों प्रकाश-शिखाओंसे और भी जगमगा रही थीं।

यह कक्ष था बुद्धिका। फर्शके समीप प्रकाश बहुत मन्द था—सुन्दर गाढ़े नीले रंगका, इन्द्रनील-वर्णका और छतकी ओर जितनी ऊँचाई बढ़ती थी प्रकाश भी उतना ही उज्ज्वलतर होता जाता था। छतमें हजारों हीरोंके कुण्डल झाड़की भाँति लटक रहे थे, जिनसे चारों ओर आँखोंको चौंधियानेवाली प्रकाशकी किरणें फूट रही थीं।

सद्गुण एक-एक करके अलग-अलग आते-जाते, पर आते ही जिसका जहाँ आकर्षण था वहीं उनके दल बनते गये। साधारणतः इस जगत्‌मे और अन्य लोकोंमें वे एक-दूसरेसे इतने बिछुडे जो रहते थे, विदेशियोंके बीच पृथक्-जैसा उनका जीवन था, अन्ततः यहाँ मिलकर वे बहुत प्रसन्न हो रहे थे।

उत्सवकी सभानेत्री हुई सत्यहृदयता। उसके वस्त्र थे निर्मल जलकी भाँति पारदर्शक, हाथमे था अति विशुद्ध घनाकार स्फटिकखण्ड; जो वस्तु वस्तुतः जैसे रूपमें है, उस स्फटिकखण्डके अदरसे वह वैसी ही दिखायी पडती है—बाहरी दृष्टिसे जैसी दीखती है, उससे बहुत ही भिन्नरूपमें। कारण, उसमें वस्तुओंका यथार्थरूप बिना किसी विकृतिके, जैसा-का-तैसा दीख पडता है।

उसके पास ही विश्वस्त सङ्गिनी-जैसी खड़ी थी—विनम्रता। उसका भाव एक साथ ही था—नम्र और गर्वित। दूसरा सङ्गी था साहस—ऊँचा सिर, उज्ज्वल चक्षु, दृढ हास्यपूर्ण अधर, प्रशान्त निश्चिन्त भङ्गिमा।

साहसकी बगलमें हाथमें हाथ मिलाये एक महिला खड़ी थी पूरे घूँघटमें। केवल उसकी तीक्ष्ण धारवाली दोनों आँखें घूँघटके भीतरसे दिप-दिपाती दीख पड़ती थीं। उसका नाम था सावधानता। और सबके बीच वह जो कभी इसके पास, कभी उसके पास आ-जा रही थी और फिर भी सबके सनिकट दीख पडती थी—उसका नाम था उदारता। वह एक ओर शान्त किंतु सतर्क थी, दूसरी ओर कर्मरत, पर संयत। जब वह लोगोंके बीचसे निकलती है, तब उस मार्गमें शुभ्र मृदुल प्रकाशकी रेखा खिंच जाती है। यह जो प्रकाश छन-छनकर छिटक रहा है, यह आ रहा है उसकी श्रेष्ठ सखी और अभिन्न सहचरी, उसकी यमज बहिन न्याय-परताकी ओरसे और आ रहा है इतनी सूक्ष्मतासे कि अधिकाश आँखे इस मूलको देख नहीं पातीं। उदारताको घेरे हुए एक उज्ज्वल सेना है—दया, धैर्य, श्रद्धा, मृदुता आदि अनेकानेक।

सभी वहाँ उपस्थित थे। कम-से-कम ऐसी उनकी धारणा थी। किंतु वह कौन है स्वर्णद्वारके सम्मुख अकस्मात् उपस्थित एक नयी मूर्ति ?

द्वारपालोंने उसे बहुत कठिनाईसे प्रवेश करने दिया

था, उन्होंने उसे पहले कभी देखा नहीं था। उसकी आकृतिमें भी ऐसी कोई विशेषता नहीं थी, जो उनपर प्रभाव डालती। अल्प वयस्, कोमल शरीर, उज्ज्वल वेष-भूषा, वस्त्र अति साधारण, प्रायः दरिद्र-जैसे—डरती-डरती हिचकिचाती वह कुछ डग आगे आ गयी थी, किंतु स्पष्ट लक्षित होता था कि उस प्रोज्ज्वल समूहमें पड़कर वह भौंचक्की हो गयी थी। वह खड़ी रही—कहाँ, किस ओर किसके पास जाये, समझ नहीं पा रही थी।

सावधानताने अपने सङ्गियोंसे कुछ बात की, उसके बाद उन लोगोंके अनुरोधसे वह अपरिचित अतिथिकी ओर आगे बढ़ी। जरा सोचनेका समय पानेके लिये गला साफ करके, दुविधामें पड़े लोग जैसा करते हैं, नवागता-की ओर देखकर बोली—'यहाँ हमलोग जो एकत्रित हैं, सबको एक-दूसरेका नाम ज्ञात है और गुण भी, किंतु आपको देखकर हमें विस्मय हुआ है, आप तो विदेशिनी-सी लगती हैं। आपको कभी देखा हो, ऐसा तो याद नहीं पड़ता। क्या आप कृपापूर्वक बतायेंगी कि आप कौन हैं ?'

नवागता दीर्घ निःश्वास लेती हुई बोली—'हाय ! इस महलमें भी मुझे विदेशी समझा जा रहा है। किंतु इससे मुझे विस्मय नहीं, कारण, मुझे कहीं कदाचित् ही निमन्त्रित किया जाता है। मेरा नाम है 'कृतज्ञता'।

इच्छा-त्याग

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

जैसे भोजनके सुनने, देखने या स्पर्श करनेसे भूख निवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानके सुनने, देखने या बाह्य परिचयसे शान्ति नहीं होती। जैसे भोजन किये बिना भूख नहीं मिटती, उसी प्रकार ज्ञानको आचरणमें लाये बिना कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। सारे प्राणी शान्ति और सुख चाहते हैं, पर शान्ति तथा सुखके लिये प्राणी या पदार्थ-विशेषमें सुख पानेकी कल्पना करके प्राणी या पदार्थकी ही इच्छा करते हैं। इससे मूलतः शान्ति और सुख तो दूर हो जाता है, उनके बदलेमें उस प्राणी या पदार्थसे श्रम, अशान्ति और दुःख मिलते हैं। मनका स्वभाव है—तर्क करना। शान्ति, सुख और आनन्दकी इच्छा करते हुए, उसके लिये प्रयत्न करते हुए हमें अशान्ति और दुःख और क्लेश क्यों प्राप्त होते हैं—यह बात इससे समझी जा सकती है। सारे ब्रह्माण्डमें एक भी प्राणी या पदार्थ ऐसा नहीं, जो श्रमसे न प्राप्त हो। श्रम किया जाय तो प्राप्ति हो। यह श्रम या तो इस जन्मका हो सकता है या पूर्वजन्मका। साथ ही कोई भी प्राणी या पदार्थ ऐसा नहीं है, जो विकारी और विनाशी न हो। इस प्रकार प्राणी या पदार्थकी इच्छा करने, प्राप्त करने, या रक्षा करनेमें श्रम या दुःख होता है और विकारी तथा विनाशी होनेके कारण वह सदा रहता नहीं, अतएव उसके परिणाममें भी दुःख मिलता है। इस प्रकार पदार्थ या प्राणीको प्राप्त करनेमें दुःख, रक्षा करनेमें दुःख तथा उसके नाशमें भी दुःख होता है। यों आरम्भसे अन्त-तक दुःख भोगता हुआ जीव एक योनिसे दूसरी योनिमें भटकता रहता है। अमुक वस्तु नहीं मिली, वह वस्तु मिले तो मुझको ऐसा सुख मिले—इस प्रकारकी कल्पना जीव करता है, उसके लिये श्रम करता है और उसमें लीन हो जाता है। परंतु मूर्ख यह कभी नहीं सोचता कि जिस वस्तुके मिलनेपर वह सुखकी कल्पना करता है, वह वस्तु जिसके पास है वह क्या सुखी है ?

मनका एक विचित्र स्वभाव यह है कि जो पदार्थ उसके पास है, उसमें वह सुख नहीं मानता। परंतु जो वस्तु उसके पास नहीं, उसकी इच्छा करके उसके पानेके लिये नित्य तड़पा करता है। सुन्दर रसोई परोसी हो, उसमें अनेकों वस्तुएँ स्वादिष्ट हों और दालमें नमक अधिक पड़ा हो तो मन उस नमककी अधिकतासे ही दुखी हो जाता है, दूसरी अनेक स्वादिष्ट वस्तुओंसे सुखी नहीं होता।

इसलिये जो वस्तु या प्राणी अपने पास नहीं है, उसकी कामना मन करता है। उसके अतिरिक्त दूसरी सारी वस्तुओंसे होनेवाली शान्ति और आनन्दको वह खा जाता है। सुखको खा जानेवाला मन है और दुःख प्रदान करने-वाला भी मन ही है। मन अप्राप्त वस्तुकी ही इच्छा करता

है और इच्छा करनेके साथ ही अपने सब सुखोंका नाश कर देता है। मनकी इच्छाशक्ति इतनी अधिक तीव्र है कि उसका पूरा होना और उससे सुख प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं। मोटरमें बैठकर हम ७५ मील प्रति घंटेकी गतिसे जा रहे हैं। मन कहता है कि १०० मीलकी गतिसे चलते तो अच्छा होता। १०० मीलकी गतिसे चलनेपर २०० मीलकी गतिसे चलनेकी इच्छा करता है। मनको किसी वस्तुकी इच्छा करनेके लिये एक सेकंडका समय चाहिये, परन्तु उसकी पूर्ति करनेके लिये जीवको बहुत श्रम और दीर्घकाल अपेक्षित होता है।

इस प्रकार मनकी इच्छा पूरी हो जाय, यह कभी होनेका नहीं। मन तृप्त होता ही नहीं। अनेकों प्रकारके भोग भोगनेके बाद भी मन बहुधा एक-न-एक भोगके लिये छटपटाता रहता है। वह कभी स्थिर नहीं होता; सारे ब्रह्माण्डके स्त्री-पुत्र, धन-ऐश्वर्य तथा महान् विभव प्राप्त हो जाय, तो भी मन कभी यह नहीं कहेगा कि बस और नहीं चाहिये और जबतक मनकी कामना अतृप्त रहती है, तबतक वह शान्त होनेका नहीं। जैसे अशान्त वायुमें दीपक ठीक नहीं जलता तथा ठीक प्रकाश नहीं देता, उसी प्रकार अशान्त मनमें न तो सुखका अनुभव होता न आनन्दका—'अशान्तस्य कुतः सुखम्।' जैसे व्यग्रचित्त मनुष्यको अपनी जेबमें रखी पेन्सिल नहीं सूझती और वह सारे घरमें पेन्सिल खोजता है, उसी प्रकार व्यग्रचित्त मनुष्यको यह नहीं सूझता कि सुखरूप परमात्मा पास ही है और वह सारे ब्रह्माण्डमें उसे खोजता है। मन कामनाएँ करता जाय, उनको हम पूरा करते जायँ और उससे शान्ति मिल जाय—यह कभी सम्भव नहीं। बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धियाँ भी उनकी कामनाओंको पूरा नहीं कर सकतीं।

इसलिये मनकी इच्छाओंका दमन करनेमें ही छुटकारा है। योगमें कहा है—'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।' अर्थात् संतोषके द्वारा उत्तम-से-उत्तम सुख प्राप्त होता है। अप्राप्त वस्तुकी इच्छाका नाम असंतोष है। संतोष आलस्यको नहीं कहते, यह निरुद्यम नहीं है। संतोष तो सुख और आनन्दकी प्राप्तिकी कुंजी है। मन मूर्खका स्वभाव यह है कि हजारों सुख देनेवाली चीजोंको भूलकर, उनसे सुख प्राप्त न करके, जो वस्तु अप्राप्त है, तुरत मिल नहीं रही है, उसके लिये आतुर होकर हजारों वस्तुओंसे प्राप्त होनेवाले सुखोंका नाश कर देता है। ऐसा बुद्धिमान् मन है! वस्तुतः उसके-जैसा मूर्ख कौन है? आवश्यक अप्राप्त वस्तुकी इच्छा न करनेके लिये कोई नहीं कहता, उसके लिये भले ही प्रयत्न करो; परन्तु जो सुख प्राप्त है, उसे भोगनेमें मन लगाओ और शरीरको अप्राप्तकी प्राप्तिके उद्यममें भी लगाये रखो। गीताके इच्छा-त्यागकी कुंजी यही है कि मनको तो जो नित्य वस्तु सुप्राप्त है, उसीमें लगाये, और जो अप्राप्त वस्तु है, उसके लिये आतुर न होने दे।

मान लो कि वस्तुओंमें सुख है। पर उनका चिन्तन करनेसे क्या वे वस्तुएँ मिल सकती हैं? हाँ, इस प्रकार यदि एक ही नित्य वस्तुके लिये चित्त आतुर हो और दूसरी कल्पनाएँ न करे तो वह अवश्य मिल जाय, परंतु उसको तो अनेक वस्तुओंके लिये आतुर होनेकी टेव है। नहीं, मन पदार्थको सुखके लिये चाहता है, परन्तु वह मूर्ख यह नहीं जानता कि वह इच्छा न करे तो उसका अपना स्वरूप ही सुखरूप है। इच्छा उत्पन्न होनेके पहले वह शान्त रहता है और शान्ति ही सुख है। वह तो वस्तुके लिये आतुर होकर सुखके बदले दुःख पैदा करता है, फिर भी कहता है कि मैं सुखके लिये प्रयत्न करता हूँ। हजारों सुन्दर वस्तुएँ हों, परन्तु अशान्त मन उनसे कभी सुखी नहीं होता। इसके विपरीत हजारों कठिन प्रसङ्ग आनेपर भी शान्त मन आनन्दमें रहता है। बरतनमें परोसे हुए भोजनकी इच्छा बन्धनकारक नहीं। बन्धनकारक तो मनकी कामना है, जिसका नाम है अप्राप्त वस्तुके लिये आतुरता। सुप्राप्त वस्तुसे आनन्द मानना और अप्राप्त वस्तुकी इच्छा न करना—इसका नाम मुक्ति है। यहाँ नित्य सुप्राप्त वस्तु आत्मा है। आत्मा असङ्ग है, वह नित्य मुक्त है। वह स्वयं सुखरूप है। अतएव आत्माके लिये तो कोई इच्छा करनी ही नहीं है। आत्मा अपने स्वरूपमें रमे और किसी वस्तुकी इच्छा न करे—इसीका नाम है मुक्तावस्था।

अब रहा शरीर, जब हम आत्मस्वरूपमें स्थित शान्त मनवाले बन जाते हैं, तब केवल शरीरका भोग ही शेष रहता है। शरीरका भोग तीन प्रकारका होता है—मन्द, मध्यम और तीव्र। तीव्र भोगकी तो इच्छा न भी करें तो भी वह स्वयं प्राप्त होता है। मध्यमके लिये विशेष श्रम नहीं करना पड़ता और मन्दके लिये श्रम करना पड़ता है। जिज्ञासुको जो सहज ही आकर प्राप्त हो, उससे निर्वाह करे और मनको अप्राप्त वस्तुके लिये कभी आतुर न करे। शरीर तो, हम न भी चाहें तो भी, अपनी प्रकृतिके अनुसार क्रिया किया ही करता है। इसलिये शरीरसे प्रकृतिके अनुसार उद्यम किया करे। उद्यमका कभी त्याग न करे। जो सदा

शरीरसे उद्यम और मनसे परमात्माका चिन्तन करता है, वह मुक्त ही है। शरीरकी क्रियासे बन्धन नहीं होता, अप्राप्त वस्तुके लिये मनकी आतुरता ही बन्धनकारक है। शरीरका भोग तो प्राप्त होकर रहेगा, बिना आतुर हुए भी शरीरका जो प्रारब्ध होगा, वह मिलेगा ही और आतुर होनेपर भी जो प्रारब्धमें न होगा, लाख उपाय करनेपर भी वह नहीं मिलेगा। किये कर्मको भोगना है; जो बोया है, उसे काटना है। बिना बोये फल कैसे मिलेगा? पुण्यकर्म किये बिना सुख कैसे मिलेगा?

निष्काम पुण्यकर्मका फल सत्सङ्ग, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य है। सकाम पुण्यका फल सासारिक सुख है। पहलेका फल मुक्ति है, दूसरेका फल जन्म-मरण है। इच्छाएँ करनेसे जन्म-मरण बना रहेगा और इच्छाओंका त्याग करनेसे जन्म-मरण दूर हो जायगा। इच्छाओंका त्याग किये बिना छुटकारा नहीं है। इच्छाओंका त्याग करनेका प्रयत्न करनेवाले जिज्ञासुको पहले—

(१) बिना हककी इच्छा नहीं करनी चाहिये। परायी वस्तु लेनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। इस साधनसे झूठ, कपट, चोरी, दुराचार, दुर्व्यसन आदि दोष नष्ट हो जायँगे।

(२) किसीकी बुराई करनेकी इच्छा न करे। फिर,

(३) दूसरोंका भला करनेकी इच्छा, पुण्य करनेकी इच्छा, भक्तिकी इच्छा करे, पर वह इसलिये नहीं कि मुझको इस लोक या परलोकमें सुख मिलेगा।

जो कुछ करे, वह कर्त्तव्यबुद्धिसे करे। प्रकृतिका स्वभाव समझकर करे। यह निश्चय कर ले कि दूसरा जन्म नहीं लेना है। जैसे इस जन्ममें सुख-दुःख है, वैसे ही देवशरीर भी सुख-दुःख और क्लेशसे भरा है। शरीर-धारण ही दुःखरूप है। इसलिये जिसको केवल सुखकी इच्छा हो, वह परलोक-सम्बन्धी कोई कर्म न करे और इस लोकमें तो दुःख ही भरा है, कोई भी भोग सुखदाता नहीं है। भोगमात्र शरीर, मन, बुद्धि आदि सबका नाश करनेवाले हैं, दुःख ही देनेवाले हैं—यह जानकर इस जन्ममें भी अपने सुखके लिये कोई इच्छा न करे। सुखके लिये इच्छा या श्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यमात्र दुःखके लिये ही परिश्रम करते हैं। जैसे वायु आवश्यक है अतः उसको ईश्वरने सुप्राप्त कर दिया है, उसी प्रकार यदि सुख जीवको आवश्यक है तो वह वायुसे अपेक्षा भी अधिक सुप्राप्त है। किसी भी वस्तुकी इच्छा सुखके लिये न करे, यही मनुष्यका कर्त्तव्य है। इच्छा करनेसे उसमें श्रम होगा; इच्छा ही न करे तो श्रम कैसे होगा? कर्म करनेमें श्रम है, कर्म ही न करे तो श्रम कैसा? परतु चिरकालके अभ्याससे इच्छा न करना कठिन जान पड़ता है तथा इच्छा करना सहज लगता है। जैसे खड़े-खड़े घूमनेवाले गड़रियेको बैठना कठिन और दुःखरूप जान पड़ता है जैसे बहुत बोलनेके अभ्यासीको बिना बोले नहीं रहा जाता, वैसे ही अभ्यासके कारण मनको इच्छा न करना कठिन जान पड़ता है। अपितु आश्चर्य यह है कि इच्छा न करनेसे सारी न इच्छा की गयी वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं। इच्छा करने, परिश्रम करनेसे जो प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा इच्छा न करनेसे विशेष मिलता है। परतु मन इच्छा किये बिना नहीं रह सकता, मनको कुछ तो चाहिये। इसलिये मनको मुक्तिकी इच्छासे युक्त करना चाहिये और उसके साधनरूपमें मनको परमात्माके जप और चिन्तनका कार्य सौंपना चाहिये। मनको यदि इस प्रकार न लगाया जायगा तो वह इच्छाओंके किले बनाता ही रहेगा। मन बेकार नहीं बैठता। शरीर जो कर्म करता है, उसका लेखा नहीं होता; परंतु मन जो करता है, उसका लेखा होता है। शरीरसे होनेवाले कर्ममें भी जितना चित्त लगा रहता है, उतना ही कर्म जीवका किया हुआ माना जाता है। इस जगत्‌में अपने लिये या दूसरोंके लिये इच्छा करनेयोग्य कुछ भी नहीं है। सिनेमाकी बोलती फिल्मके समान यह जगत् ईश्वरके द्वारा चला ही करता है। जितना ही हम इच्छा करते हैं उतना ही जगत्‌के जालमें फँसते हैं। इच्छाका सम्पूर्ण नाश तो विदेह-मुक्तमें होता है या परमात्मामें होता है। परतु मार्गपर चलते-चलते ही यह अवस्था आती है। अपने सुखके लिये कोई इच्छा न करना, यह जिज्ञासुके लिये आचरणीय है। हम जो कुछ करें, वह या तो देवताके लिये हो या दूसरोंके लिये हो, अर्थात् जगत्‌के लिये हो, यज्ञके लिये हो। देवताके या दूसरोंके लिये लगे रहनेपर भी मन देवताको सँभालता रहे। वह जिस कार्यमें भी आसक्त होगा, उसीसे दुःख उत्पन्न हो जायगा; इसलिये उसे किसी कार्यमें आसक्त न करे। उसको तो परमात्माकी रट और ध्यानका कार्य सौंप दे। इनसे छूटा तो जान लो कि दुःखमें पड़ा। जैसे खूँटेसे छूटी गाय चारों ओर घूमती है और बन्धनमें पड़ जाती है, वैसे ही जप और ध्यानरूपी खूँटेसे छूटा हुआ मन जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है।

शरीरसे कर्म करता रहे। मनसे नाम-स्मरण और ध्यान किया करे। जीव कर्मके फलकी इच्छा करता है तो उसे

थोड़ा मिलता है । न इच्छा करनेपर विशेष प्राप्त होता है ।

एक बड़े धनवान्के यहाँ दो मनुष्य फलकी टोकरी लेकर जाते हैं । एक उसका मोल करता है और पैसे लेता है । दूसरा टोकरी भेंट दे देता है, वह मोल नहीं करता । इस भेंट करनेवालेको धनी पुरुष पहलेकी अपेक्षा अधिक देता है । जीव अपनी अल्पदृष्टिसे कर्मका फल ठहराता है, इसलिये वह जन्म-मरणको प्राप्त होता है । यदि वह कर्मका फल ईश्वरको सौंप दे तो उसे मुक्ति मिल जाय । कर्मका फल तो दोनोंमें है । एकमें इच्छा करनेसे वह अल्प हो जाता है और दूसरेमें इच्छा न करनेसे महान् हो जाता है । इसीसे इच्छा अर्थात् कर्मफलकी इच्छाका त्याग करनेके लिये कहा जाता है ।

हम जब कोई काम करें तो चित्तपर पहरा रक्खें । चित्त उस समय उस कामके सिवा दूसरा कोई विचार न करे, इसके लिये सावधान रहें । इससे इच्छा-त्यागमें सहायता मिलती है । यह अभ्यास व्यावहारिक कार्योंमें भी बहुत लाभदायक होता है । किये जानेवाले कार्यमें चित्त लगा रहे तो भूल नहीं होती और कार्य ठीक होता है और यदि चित्त किये जाते हुए कामको छोड़कर दूसरी ओर लग जाता है तो उस कार्यमें भूल हो जाती है ।

इच्छात्यागका अभ्यास करनेवालोंको पहले परधन और परस्त्री अर्थात् परवस्तु मात्रकी इच्छाका त्याग करना चाहिये । उसको झूठ, कपट, दुराचार या चोरीसे कोई भी पदार्थ प्राप्त करनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये । दूसरोंका अहित करनेकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करना चाहिये । मनमें सदा शान्ति, अखण्ड सुख, परमानन्दकी प्राप्तिकी इच्छा बार-बार करनी चाहिये । अपने दोष निकलें, मन शान्त हो, मन काम, क्रोध और भयको छोड़े—ऐसी इच्छा बार-बार करनी चाहिये । शुभ इच्छाओंका अनुसरण अशुभ इच्छाओंका नाशक होता है । मैं झूठका त्याग करूँ तो अच्छा हो—इस भावना, इस इच्छाकी अपेक्षा मैं सत्य बोलूँ—यह इच्छा सुलभ और विशेष लाभदायक है । इसलिये शुभ इच्छाओंका निरन्तर सेवन करे, इससे सारी इच्छाएँ नष्ट हो जायँगी । अन्तमें मै मुक्त होऊँ, यह इच्छा रह जायगी । ज्यों-ज्यों इच्छाओंका शमन होता जायगा त्यों ही-त्यों इसी जगत्में, इन्हीं संयोगोंमें और इसी जीवनमें सुख और आनन्द प्राप्त होता जायगा । सुख और आनन्दको दबानेवाली इच्छा है । जितनी ही इच्छाएँ कम होंगी, उतना ही अधिक सुख और आनन्द होगा । अपने सुखके लिये वस्तुओंका उपभोग न करे, उन्हें या तो जीवनके लिये या जगत्के लिये करे । वस्तु या प्राणीमें सुख नहीं है—यह दृढ भावना इच्छा-त्यागका मूल है । मनमें अनेकों जन्मोंके संस्कार हैं । इसीसे रोकनेपर भी मनुष्य इच्छा करता है । यदि मनको इच्छा-त्यागके अभ्यासमें दृढ कर लिया जाय तो फिर इच्छा करनेके लिये कहनेपर भी वह इच्छा नहीं करेगा । जैसे जप करते समय मन दूसरे विचार करता है, क्योंकि ऐसा करनेका उसको बराबरका अभ्यास है, उसी प्रकार जब बहुत जप किया जाता है, तब मन बिना कहे भी जप करने लगता है । नींदमें, अनजानमें जप होता रहता है और जप करते समय कोई विचार नहीं आता ।

एक बालकको पहले कविता कण्ठस्थ करनेपर भी मुँह-पर नहीं आती; परन्तु प्रयत्न करते-करते जब मुँहपर आ जाती है, तब फिर भूलती भी नहीं । इसी प्रकार मनको खूब प्रयत्न करके इच्छा-त्यागके अभ्यासमें, परमात्माके नाम-रटन या ध्यानमें लगाये, जिससे ये तीनों बातें सुलभ हो जायँ, जिससे वह संसारमें प्रयत्न करते हुए भी उसमें आसक्त न हो । जैसे शराबी प्रयत्न करनेपर भी शराब नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसको इसका अभ्यास होता है, उसी प्रकार पवित्र पुरुष प्रयत्न करनेपर भी शराब नहीं पीता, क्योंकि उसको ऐसा ही अभ्यास है । इसलिये पुरुषार्थ करता रहे, प्रयत्न किया करे । क्रिया निष्फल नहीं जायगी और इच्छाएँ ज्यों-ज्यों कम होती जायँगी त्यों-त्यों आनन्द प्राप्त होता जायगा । इच्छामात्रका त्याग करनेवालेको सादा भोजन, सादा कपड़ा, सादा जीवन स्वीकार करना चाहिये । जैसे भी हो, थोड़े खर्चमें जीवन व्यतीत करे और पवित्र रहे । आवश्यकता बढानेसे ही असत् प्रयत्नकी इच्छा होती है और दुःख होता है । हम शरीर नहीं हैं, हम तो शुद्ध चेतन, नित्य, मुक्त आत्मा हैं—ऐसा मानना चाहिये और प्राणिमात्रके कल्याणकी इच्छा करनी चाहिये । इच्छा-मात्रका त्याग ही मुक्ति है और इच्छाकी वशता ही बन्धन है । कोई इच्छा न रहे तो जन्म-मरण न हो । मुक्ति या बन्धन अपने हाथमें है और यह प्रयोग ऐसा है कि इसका फल तुरंत यहीं अनुभवमें आता है । इच्छा ही प्रेमको कम करती है, वैर कराती है, पाप, झूठ, कपटका आचरण कराती है । अपने आपमें आनन्द माने । अपने परिश्रमसे

धर्मपूर्वक जो मिला हो, उसीमें आनन्द माने। परन्तु कुछ भी लेनेकी इच्छा कभी न करे। इस नियमका पालन करनेसे उसके हृदयमें अपार आनन्द होगा। इच्छा-त्यागका अभ्यास करो और तुम्हें शोक हो, चिन्ता हो, दुःख हो तो जान लो कि इच्छादेवी अभी हृदयमें विराजमान हैं। ग्लानि, गरीबी, दीनता, शोक—सबकी जननी इच्छा है। परन्तु इच्छा-त्यागका व्रत ले लेनेपर अपने शरीरके प्रति भी वैराग्य होने लगता है।

परस्त्री और परधनकी जिसके हृदयमें तनिक भी इच्छा नहीं है, उसको अपनी स्त्री और अपने धनके प्रति भी वैराग्य हो जाता है। उसकी आसक्ति छूटती जाती है। ईश्वरमें श्रद्धा करो, प्रयत्नके फलमें श्रद्धा करो और जो कुछ करो, वह मुक्तिके लिये, अखण्ड सुखकी प्राप्तिके लिये करो, परमात्माके प्रीत्यर्थ करो, जगत्की सेवाके लिये, घट-घटमें रमनेवाले भगवान्की सेवाके लिये करो। इस प्रकारकी भावनासे इच्छा-त्यागमें लगे रहोगे तो परमात्मा तुम्हारी सहायता करेगा। परमात्मा तुम्हारा भला करेगा, तुम्हें सुखी रखेगा।

अब इच्छा-त्यागके विशेष रूपको समझना है। इच्छा दो प्रकारकी होती है—एक स्वाभाविक, दूसरी सङ्गसे उत्पन्न होनेवाली। शौचादिकी इच्छा तथा शरीरपोषणके लिये भोजन आदिकी इच्छा स्वाभाविक है; यह सीखनी नहीं पड़ती, जन्मते ही बालक खानेकी इच्छा करता है। तापसे जलते हैं, पानीसे भीगते हैं, इन सबसे बचनेकी स्वाभाविक इच्छा सबमें होती है। भूखकी शान्तिके लिये भोजनकी इच्छा स्वाभाविक इच्छा है और अमुक वस्तु खानेको मिले—यह मनकी इच्छा है। इसका त्याग करना चाहिये। स्वाभाविक इच्छाका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं। त्यागका आग्रह करनेपर निःशेष त्याग नहीं हो सकता और आग्रह करनेसे शरीरको दुःख होगा।

मनकी इच्छा ही सङ्गजन्य इच्छा है। देखनेसे, सुननेसे, पढ़नेसे, अनुभवसे, जाननेसे जो इच्छा होती है, वह सङ्गजन्य इच्छा है, मनकी इच्छा है। गीतामें जगह-जगह जो मनोगत कामनाका त्याग करनेके लिये कहा गया है, वह इसी हेतुसे कहा है। बल्कि जहाँ कहा गया है कि तुम्हारा मोह दूर होगा, तब तुमको श्रुत और श्रव्य विषयोंपर वैराग्य होगा। अर्थात् मनको सङ्गकी इच्छा होती है, वही त्यागनेयोग्य है। मन जो-जो देखता है, उस-उसकी वह इच्छा करता है; ऐसे प्रत्येक प्रसङ्गपर मनको मारे।

मनके अविचारसे मोह होता है और मोह ही हानिकारक है। मोह अविचार मूलक ही होता है, वह विचार और सत्सङ्गके बिना दूर नहीं हो सकता। जिस वस्तुका मोह हो, उससे होनेवाली लाभ-हानिका विचार करे। हो सके तो किसी सत्पुरुषके साथ उससे होनेवाले हानि-लाभका विचार करे। विचारसे जो लाभकारक सिद्ध हो, उसे करे; और जो हानिकारक हो, उसे न करे। इस प्रकारके अभ्याससे इच्छाएँ शान्त होती हैं। सादा सात्त्विक आहार, साधु-सङ्गति, सत्-शास्त्रोंका विचार, नित्य थोड़ी देरके लिये भी एकान्तका सेवन, देवपूजा, वृद्धोंकी सेवा, गुणवानोंका सहवास, प्राकृतिक दर्शनीय स्थानोंका सेवन, स्वच्छ हवा, जल, प्रकाश और भोजनका सेवन, शुभ विचार, श्वेत वस्त्र एव ठंडे जलका सेवन, व्यसनका त्याग, दुर्जनके सङ्गका त्याग, स्त्रीसङ्गका त्याग, नाटक सिनेमाका त्याग, असत् साहित्यका त्याग, उपन्यास न पढ़ना—ये सब इच्छा-त्यागमें सहायक हैं।

इच्छा-त्यागका सहज स्वरूप यह है—जिस इच्छाके करनेसे चित्त अशान्त रहे, बेचैन हो, सुखसे नींद न आये और दूसरा कुछ अच्छा न लगे, उस इच्छाका त्याग करे। जिस इच्छाके करनेसे दूसरे सब सुप्राप्त साधन विपरीत लगें, उस इच्छाका त्याग करे। इच्छा-त्यागके लिये दूसरे सहज साधन ये हैं—प्रतिदिन एकान्तमें सबेरे और सायकाल स्थिर आसनपर पद्मासन बाँधकर बैठे। सीधा बैठे, आँखें मूँद ले और उस समय कुछ विचार न करे। यदि कदाचित् मन न माने तो केवल मनमें परमात्माके दर्शनकी भावना करे। उस समय मन यदि दूसरा विचार करे तो उससे कहे कि इस समय नहीं। यह निर्विचार-अवस्था-योग है। इस प्रकार प्रतिदिन घंटे-आध घंटे बैठनेसे इच्छाएँ शान्त होती जाती हैं। मनको उस समय दृढ़ताके साथ कहे कि अभी कोई इच्छा नहीं करनी है। इस अवस्थामें परमात्माके दर्शनकी इच्छा हो तो उस इच्छासे बैठे; और न हो तो, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ—ऐसी भावना करे। अन्य इच्छाएँ उठें तो उनको दबाये। यह अभ्यास बहुत सुन्दर है। इसमें न तो कोई अङ्ग दबाना है और न श्वासको रोकना है। वह जैसे चलता हो, वैसे चलने दे। केवल एक ही क्रिया करे कि स्थिर हो कर, आँखें मूँदकर सीधा तनकर बैठा रहे; मन यदि कोई विचार करे तो उसे बंद कर दे। यह राजयोग है, आसानीसे व्यवहारमें लाने योग्य है और यह मुक्तिका दाता है।

संयम साधे सब दुख जाय

(लेखक—जैनाचार्य श्रीमद्विजयतीर्थेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहित्याचार्य)

सुसगठित परमाणुओंसे जैसे प्रचण्ड शक्तिशाली परमाणु-बम बन जाता है, वैसे ही मानसिक शक्तिके संगठनसे आत्माकी चैतन्यशक्ति असीम बढ जाती है। किंतु मानसिक शक्तियोंको एकत्र करना तबतक कठिन है, जबतक इन्द्रिय-द्वारोंको बद न किया जाय। मनमें आत्मशक्तिका स्रोत नित्य-निरन्तर बह रहा है, जो विषयोन्मुख इन्द्रियद्वारोंसे बाहर निकलता रहता है। मनके सयममें स्थित होनेपर इन्द्रियद्वार बद हो जाते हैं। तब मनुष्यको अनुभव होता है कि मेरे अदर कितना सामर्थ्य है। शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियोंका विकास संयमसे होता है।

बड़े-बड़े चमत्कारपूर्ण कार्य करनेवाले राममूर्ति आदि, जो गाड़ी-मोटरोंको रोक लेते या हाथीको छातीपर चढा लेते थे, संयमके ही बलसे ऐसा कर पाते थे। इसी प्रकार योगीके लिये तो संयम ही सब साधनोंमें मुख्य है। संयमके बिना योग सिद्ध हो ही नहीं सकता। बल्कि उसकी सम्पूर्ण साधना व्यर्थ है, जबतक वह सयमकी साधनामें सफल नहीं होता और सयम सफल होनेपर सब साधनाएँ सरलतासे सफल होती चली जाती हैं। कठोपनिषद्में कहा है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नर.।
सोऽध्वन. पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥
(१।३।९)

आत्मा अनन्त सुख-सामर्थ्य-सौन्दर्य-माधुर्यका भडार है। वह नित्य शाश्वत अव्यय अविनाशी है, व्यापक है। मनुष्य अपने ही भीतर स्थित अपने स्वरूपभूत आत्माको भूलकर, काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-ईर्ष्या-राग-द्वेष आदि हीन वृत्तियोंके अधीन होकर आत्मसुखसे वञ्चित रहता है। सत्सङ्ग आदिसे यदि किसीके अदर जिज्ञासा होती भी है तो साधना-कालमें साधकोंकी यह शिकायत रहती है कि मन वशमें नहीं होता—जब भी उपासना या ध्यानमें बैठते हैं, मन धोखा देकर कहीं-का-कहीं चला जाता है। सभी साधकोंके मनकी यही चञ्चलताकी समस्या है। अर्जुनके सामने भी यही समस्या उपस्थित थी, इसीलिये वे साधकोंके प्रतिनिधिरूपमें भगवान्से पूछते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

इस प्रश्नका उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं—

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! मन बहुत चञ्चल है, इसका निग्रह होना बहुत कठिन है—इसमें कोई सशय नहीं। किंतु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका संयम किया जा सकता है।'

योगदर्शनमें भी—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—अभ्यास और वैराग्यसे मनका निरोध बतलाया गया है। मनका स्वरूप सकल्प-विकल्पात्मक है। वह किसी-न-किसी उधेड़-बुनमें लगा ही रहता है। कभी चुप नहीं रह सकता, अच्छी बातें नहीं तो बुरी बातें सोचेगा। इसलिये प्रयत्न-पूर्वक जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँसे लौटाकर उसे आत्म-चिन्तनमें लगाना चाहिये—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६।२६)

योगदर्शनमें भी कहा गया है 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः' मनका जहाँ-तहाँ भटकना छुड़ाकर एक तत्त्वके चिन्तनमें ही उसे लगाये रखनेका अभ्यास करें। प्रथम अपनी प्रिय वस्तुसे भी अभ्यास आरम्भ हो सकता है। वस्तु चाहे तुच्छ हो या उच्च, मन एक ही स्थानपर लगा रहना चाहिये।

इस विषयमें एक दृष्टान्त है। किसी ग्राममें एक गूजर रहता था। बड़ा भक्त और सहृदय था वह। साधु-सतोंकी बड़ी अच्छी सेवा करता। किसी समय एक महात्मा उस ग्राममें आये। गूजर अनुनय-विनय करके महात्माजीको अपने घर ले आया। उसने भक्तिपूर्वक महात्माके चरण धोये और एक अच्छे आसनपर बैठाकर बड़े प्रेमसे दूध-दही-मक्खन आदि खिलाकर महात्माको खूब तृप्त कर दिया। महात्माजी उसकी भाव-भक्तिपूर्ण सहज सेवासे बहुत प्रसन्न हुए और उसके आत्मकल्याणके लिये उन्होंने भगवान्के ध्यानका तथा विधिसहित जपनेके लिये मन्त्रका उपदेश दिया। तदनन्तर वे चले गये।

गूजर भी, जिसने गाय-भैंसोंकी सेवामें ही सारा जीवन बिताया था, महात्माजीके उपदेशानुसार आसन जमाकर बैठ गया भगवान्के ध्यानमें। परंतु जब-जब वह भगवान्का ध्यान करने बैठता, उसका मन भैंसोंकी ओर बरबस चला जाता। वहाँसे लौटाकर फिर उसे वह भगवान्के ध्यानमें लगाता, किंतु फिर भी वह भैंसोंके ही पास चला जाता। इस प्रकार जितनी बार

गूजर भगवान्‌के ध्यानमें मनको जमानेकी चेष्टा करता, उतनी ही बार उसका मन भैंसोंका ध्यान करने लगता।

इस तरह करते-करते कुछ दिन बीत गये, किंतु गूजर मनको भैंसोंके ध्यानसे निवृत्त नहीं कर सका और हताश हो गया कि मुझसे भगवान्‌का ध्यान नहीं हो सकेगा। अकस्मात् एक दिन फिर वे ही महात्मा उसके घर आये। गूजर बहुत प्रसन्न हुआ और संतके चरणोंमें गिरकर अपने मनकी अधीरताका वर्णन करने लगा। महात्मा बड़े अनुभवी एवं तत्त्वज्ञ थे। उन्होंने गूजरको धैर्य देते हुए कहा कि 'तुम निराश मत होओ। यदि भैंसा ही तुम्हारे ध्यानमें आता है तो उसीको भगवान्‌का रूप समझकर उसीका ध्यान करो, तुम्हें इसीसे इष्टकी प्राप्ति हो जायगी।' महात्माजीके वचनोंको सुनकर गूजरको बड़ा संतोष हुआ और वह उसीके अनुसार भैंसोंमें ही भगवद्भावना करके उनका ध्यान करने लगा। कुछ दिनोंमें उसकी साधना सफल हो गयी।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस किसी प्रकारसे हो, एक वस्तुमें उच्च भावनासे मनको एकाग्र करना चाहिये। कुछ समयके अनन्तर श्रद्धा और विश्वासपूर्वक की हुई यह साधना अवश्य सफल होगी।

मनको वशमें करनेका दूसरा उपाय है—वैराग्य। योग-दर्शनमें वैराग्यका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(१।१५)

चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जिन विषयोंको देखते, सुनते या जानते हैं, उनको अनित्य और परिणाममें दुःखदायी समझकर उनमें तृष्णा न रखते हुए अपने वशमें रखना, यही वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्यकी नित्य नियमसे लगातार बहुत दिनोंतक साधना करनेपर ही लक्ष्यसिद्धि हो सकेगी। अन्यथा नियमरहित और कभी-कभी साधना करनेवालेको सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मनपर अन्नका भी विशेष प्रभाव पड़ता है। शुद्ध वृत्तिसे उपार्जित अन्नके द्वारा मन शुद्ध हो जाता है। ठग-प्रपञ्च, असत्य एवं अन्यायपूर्वक या किसीके अधिकारको छीनकर अवैधानिक रूपसे कमाया हुआ अन्न मनको विक्षिप्त बना देता है, क्योंकि 'जैसा अन्न, वैसा मन' यह सिद्धान्त है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।

आहारकी शुद्धिसे ही मन शुद्ध होकर अभ्यास-वैराग्यके द्वारा संयममें स्थित हो सकेगा। अतएव साधकोंको इन बातोंपर विशेष ध्यान देकर साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये।

साधनाका मूल्य ?

(लेखक—पं० श्रीविष्णुदेवजी)

वाल्मीकि मुनिका वह आश्रम था। ये वे ही आदिकवि थे, जिन्होंने 'राम-राम'का अखण्ड रटन किया था। भारतके कोने-कोनेमें उन मुनिवरकी ख्याति हो गयी थी और उनके गुरुकुलमें पढ़नेवाले विद्यार्थी और पढ़ानेवाले शिक्षकोंकी भीड़ लगी रहती थी। वहाँ रहनेवाले ब्रह्मचारी अग्निकी सेवा करते थे। योगिजन योगकी क्रियाएँ करते थे। तपस्वीजन तप करके सिद्धिकी अपेक्षा रखते थे और मुनिजन नित्य ध्यानके लिये एकान्त-सेवन करते थे। वहाँका तपोवन और आश्रम मुनिके गुरुकुलका ही एक भाग था।

गङ्गाकी निर्मल वारिधारा सतत आश्रमकी पवित्रता वृद्धि कर रही थी। वनके पवित्र वृक्ष, वनस्पति और ओषधि-लताएँ भूमिके सुहाग थे। पक्षियोंका कलरव विद्यार्थियोंके वेदघोषका पूरक था।

इस गुरुकुलमें अनेक अतिथि आते रहते थे। एक सुमङ्गल प्रभातमें मुनि उत्तङ्क आश्रममें पधारे। वे तपस्वी मुनि तो थे ही, विशिष्ट कोटिके विद्वान् भी थे। योगकी साधनामें अग्रगामी थे और मनोनिग्रहमें भी सिद्ध थे। वे अपनेको सभी बातोंमें पूर्ण मानते थे। उनको न किसी अप्राप्त फलकी प्राप्ति करनी थी और न कोई अज्ञान था, जिसकी निवृत्ति करनी हो। वे अपनी मान्यतामें मस्त थे और एक प्रवासीकी तरह निर्द्वन्द्व घूमते थे। वाल्मीकिके आश्रममें जब आप पधारे, तब यहाँ भी आपकी मान्यता तो आपके साथ ही आयी थी।

वाल्मीकि मुनिने उनका स्वागत किया। आश्रमके विद्या-रसिकोंने उनके आगमनपर बधाई मनायी। साधकों और योगिजनोंने भी उनकी सराहना की। सभीने उनका नाम सुन रखा था; आज उनके दर्शनसे गुरुकुलका प्रत्येक

निवासी आनन्द मना रहा था । एक दिन, दो दिन, तीन दिन मुनि उत्तङ्कसे आश्रमवासी मिलते रहे और वे भी आश्रमवासियोंसे मिलनेके लिये कुटी-कुटी घूमते रहे ।

उस गुरुकुलमें दो-तीन दिन तो अतिथिका सत्कार होता था, परंतु किसीको अधिक काल रहना हो, तो उसको अपनी पर्णकुटी बनानी पडती थी । यह गुरुकुलका नियम था । मुनि उत्तङ्क इस नियमको जानते थे, परंतु वे मस्त थे । आश्रमके निवासियोंने उनका प्रेमसे स्वागत किया । वे एक दिन एककी झोपड़ीमे रहे, तो दूसरे दिन दूसरेकी । वे अपनेको 'अनिकेत' मानते थे और फिर निकेतका निर्माण किया भी क्यों जाय, जब कि यों ही मस्तीका आस्वाद मिलता हो ।

मुनि उत्तङ्कके पास विद्या थी और गुरुकुलके विद्यार्थी उनसे लाभ उठाते थे । वे साधक थे और आश्रमके साधक उनकी साधनाका अनुभव सुनते थे । सिद्ध और योगिजनोंके भी वे मार्गदर्शक बने थे और उनके पास जाकर भी वे अपनी मस्तीका आस्वाद वाणीद्वारा प्रकट किया करते थे । वाणीपर उनका अच्छा प्रभुत्व था । इसीलिये विद्यार्थियोंकी मधुकरीमेंसे उन्हें थोड़ा हिस्सा मिल जाता था । साधकोंकी ओरसे भी सेवा मिलती थी और सिद्ध योगियोंसे कुछ कन्द, मूल, फल मिल जाते थे । सोनेके लिये तो कोई भी स्थान उनके लिये अपना था । आश्रममें रहते हुए भी वे आश्रमके नहीं थे और उनपर आश्रमके नियम बन्धनकारी नहीं थे—ऐसा वे मानते थे ।

वाल्मीकिके आश्रमका प्रत्येक निवासी स्वाश्रयी था—चाहे वह सिद्ध हो या साधक, तपस्वी हो या मुनि, गुरु हो या विद्यार्थी । मुनिवर वाल्मीकि स्वयं भी एक छोटी पर्णकुटीमें रहते थे । उनके नित्य नियममें था—दर्भ-समिधा लाना, स्नान-संध्या करके जलका घड़ा लाना और अग्नि होत्र करके मधुकरी लाना । वे विद्यार्थियोंके, गुरुओंके, तपस्वियोंके और सिद्ध योगियोंके—सभीके गुरु थे, इसीलिये वे स्वाश्रयमें अधिक लगे रहते थे ।

उत्तङ्क मुनिके स्वभावकी यह एक विचित्रता थी कि वे सबके कार्य-व्यवहारकी समालोचना करते थे, गुण-दोषकी चिकित्सा करते थे और कभी किसी व्यक्ति-विशेषकी स्तुति-निन्दा भी कर लेते थे । उनके मनमे मुनिवर वाल्मीकिके प्रति बड़ा आदर था और वे उनका सत्सङ्ग करनेके लिये ही आये थे । मुनिवरका उन्होंने सत्सङ्ग किया या नहीं, यह तो वे ही जानें, परंतु उनके सत्सङ्गका लाभ मुनिवरको अवश्य मिला, ऐसा वे मानते थे और विद्यार्थियोंके समक्ष कहते भी थे । सिद्ध मुनियोंके पास वे मुनिवरकी स्तुति-निन्दा भी कर लेते थे ।

मुनिवर वाल्मीकि उनके स्वभावसे परिचित थे, परंतु उनके स्वभावको बदला कैसे जाय ? जो शिष्य हो शरणमें आये और अपना होकर रहे, उसके स्वभावका सुधार तो हो सकता है, परंतु ये तो 'उत्तङ्क' मुनि ठहरे जो अपनेको सभी बातोंमे पूर्ण मानते थे । वे भला, मुनिवरके शिष्य बननेकी भावना क्यों करते ।

उत्तङ्क मुनि उस आश्रममें बहुत कालतक रहे; परतु वे रहे एक अतिथिके रूपमें । आश्रमके नियमोंका वे पालन नहीं करते थे । वहॉ सभीको कर्तव्य-कर्म करने पडते थे । स्वतन्त्रता अवश्य थी, परतु मर्यादाका पालन आवश्यक था । सब लोग समझकर परस्पर सहकारसे आश्रमके कार्य भी कर लेते थे । परंतु उत्तङ्क मुनि स्वय विचक्षण थे । आश्रमके स्वाश्रयी वातावरणसे वे परिचित हो गये थे । गुरुकुलके ब्रह्मचारी और आश्रमके साधक अपना कार्य स्वय कर ले, इससे उनको जीवनकी शिक्षा मिलती है, अतएव इसका वे आदर करते थे । सिद्ध लोग और योगिजन भी स्वय अपना कार्य करें; इसमें भी उन्हें आपत्ति न थी । परंतु स्वयं वाल्मीकि मुनि कार्यमें रत रहें, इस बातसे वे नाराज थे । 'जो आत्माराम और कृत-कृत्य हैं, उनको किसी कार्यका कोई बन्धन नहीं होता—ऐसी उनकी समझ थी । धीरे-धीरे उनके मनमें तर्क,

संशय घुस ही गये और मुनिवर वाल्मीकिके कार्योंमें भी उनको अज्ञानकी गन्ध आने लगी। एक समय बात-ही-बातमें जब वाल्मीकि मुनिने कर्म करनेपर जोर दिया और उत्तङ्कका ध्यान आश्रमके नियमोंकी ओर आकर्षित किया तब तो उनका तर्क और भी दृढ हो गया।

आश्रमसे उनका मन उठ गया। एक दिन वे कुछ जल्दी ही उठ गये और स्नान-संध्या करके गङ्गाके किनारे-किनारे चल दिये। आश्रमकी भूमिपर कई वर्ष पहले आये थे, वर्षों वहाँ रहे और आज चले गये। आश्रमके निवासियोंमें उन्होंने आदर जमाया, परंतु आश्रमसे वे कुछ पा नहीं सके। उनका स्वभाव ही विचित्र था।

गङ्गा नदी नीचेकी ओर बहती थी; मुनिवर ऊपरकी ओर बढ रहे थे। संसारसे वे ऊब उठे थे और एकान्त खोज रहे थे। आश्रमोंके ब्रह्मचारी, व्रती, तपस्वी, सिद्ध, योगी आदि भी उनकी दृष्टिमें अज्ञानी थे। ज्ञानकी भूमिकामें आरूढ कोई महात्मा उनको मिले ही नहीं। अनेक हिमशिखरोंको लाँघकर वे आगे बढ गये। सूर्यने भी अपना प्रवास पूरा करना चाहा। वे एक शिखरपर ठहर गये और एक छोटी गुफाने उनका अपनी ऊष्मासे स्वागत किया। नीरव, निर्मल, निर्जन वह प्रदेश था। मुनिने वहाँ अपना आसन लगाया। प्रातः उठते ही स्नान-संध्या और फलाहार आदि करके वे समाधिमें लीन हो गये।

वे सिद्ध मुनि थे और सहज समाधिमें मग्न रहते थे। इसीको वे तप मानते थे। उनकी वह तपश्चर्या वर्षोंतक अबाध चलती रही। वे जब कभी समाधिसे उठते थे, तब स्नान, संध्या, फलाहार आदि कर लेते थे। शिखरपर थोडा घूम भी लेते थे और फिर समाधिमें निमग्न हो जाते थे। स्वर्गके राजा इन्द्रको उनके तपसे कोई ईर्ष्या पैदा नहीं हुई और न उन्होंने कोई अप्सरा ही भेजी। हाँ, आदि प्रजापति ब्रह्माको इन मुनिपर अवश्य दया आयी और उन्होंने भगवान् विष्णुसे प्रार्थना की। ब्रह्माका मनोभाव समझकर विष्णुभगवान् गरुडपर सवार होकर मुनिके पास जा पहुँचे।

मुनिवर तो समाधिमें लीन थे, भगवान्ने उनके ललाटपर अपना शङ्ख रख दिया। मुनिवरकी समाधि छूटी। आँख खुलते ही चतुर्भुज भगवान्को सामने देखकर मुनिने प्रणाम किया। भगवान्ने उनके मस्तकपर वरद हस्त रक्खा और कहा—

'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, मुनिवर! वर माँगो।' वे बड़े विलक्षण स्वभावके मुनि थे। उन्होंने उत्तर दिया—'भगवन्! आप प्रसन्न हैं, यही बस है। मेरा तप भी तो कम नहीं है' इतने वर्ष तप कर लेनेपर भी उनकी तर्क-तुलनामें कोई कमी आयी नहीं थी। उनकी वैसी ही मनोवृत्ति थी। प्रकृतिके साथ ही उनकी विचक्षणता जम गयी थी। भगवान्ने मन्दस्मित किया। वे तो दयालु हैं और दया करके ही आये थे। उन्होंने कहा—

'मुनिवर! मैं तो वरदान देने आया हूँ। आप चाहें सो माँग लें।' उत्तङ्कने सतर्क होकर उत्तर दिया—'भगवन्! आप तो सर्वज्ञ हैं, इसलिये माँगना क्या है? तप करते-करते मैंने जितना काल व्यतीत किया, उसीके हिसाबसे आप वरदान भी दे दीजिये।' भगवान् मुसकराकर शान्तिसे पूछने लगे—'मुनि! गणनासे जो फल मिलेगा, उसको आप स्वीकार करेंगे न?' तर्कजालमें फँस रहनेके कारण भगवान्के वचनका रहस्य उत्तङ्क समझ नहीं सके। उन्होंने कहा—'गणनासे जो फल मिलेगा, वह मुझे स्वीकार होगा।' भगवान् मुनिवरकी परीक्षा लेते हुए पूछने लगे—

'उत्तङ्क मुनि! आप मेरे प्रश्नोंका उत्तर देंगे न?'

'तैयार हूँ, भगवन्! आप पूछिये।'

'अच्छा, इस शिखरपर आप कितने वर्षोंसे तप करते हैं?'

'कालकी तो मैंने कोई गणना नहीं की, भगवन्!'

'अच्छी बात है। इस हिमालयके शिखरने आपकी

कायाको अगणित कालसे धारण कर रखा है, यह ठीक है न ?

'हाँ भगवन् ! इस शिखरकी गुफामें मैं अगणित कालसे रह रहा हूँ ।'

मुनि भगवान्‌के प्रश्नके रहस्यको नहीं समझ सके। उन्होंने सीधा ही उत्तर दिया। भगवान् उनकी बुद्धिके अन्तरायको—अभिमानको दूर करनेका यत्न करते थे। उन्होंने फिर पूछा—

'तो मुनिवर ! इस हिमालयकी प्रकृतिने, यहाँके निर्मल जलने, मीठे स्वादिष्ट फलोंने, वृक्ष-वनस्पतियोंने आपकी कुछ सेवा की है ?'

'मेरी सेवा, भगवन् ?' और मुनिकी विवेक-दृष्टि खुल गयी। वे देखने लगे। अपने विशाल भूतकालपर दृष्टि फैलाकर !' प्रकृति सदा उनकी सेवा करती थी, जल, फल, कन्द, मूल ही शरीरका आधार था। मुनिवर वाल्मीकिके आश्रमकी स्मृति भी उनको आयी। एक-एक आश्रमवासी उनकी सेवा करता था। वे भूतकालकी स्मृतिमें डूब गये। इसी बीचमें भगवान् एक प्रश्न और कर बैठे—

'सुनिये, मुनिवर ! आपको याद है ? इस धरती-माताने आपके आहार-विहार और व्यवहारके कितने कार्य किये हैं ?'

'हाँ, भगवन्, हाँ !' मुनिकी दृष्टि खुल गयी थी। उनका गर्व गल चुका था। धरतीमाता और प्रकृतिमाताने जितने उपकार किये थे, उनकी तुलनामें उनके व्रत, तप किसी गिनतीमें न थे। मुनिका तर्कजाल छिन्न-विच्छिन्न हो गया। उनका गणना-शास्त्र निरर्थक हो गया। वे चुप हो गये ! भगवान् तो परीक्षा ही ले रहे थे। वे धीर-गम्भीर होकर बोले—'सुनिये, मुनिवर ! मैं वरदान देने आया हूँ और आपकी इच्छाके अनुकूल गणना करके ही वरदान दूँगा। इस धरतीमाताको आपने अनन्त-कालतक काया उठानेका कष्ट दिया है; अतः अब अनन्तकालतक इस धरतीको आप अपने मस्तकपर उठा-कर रखिये। इस प्रकृतिमाताके उपकार भी आपपर अनन्त हैं। आपके शरीरके रक्तका एक-एक बूँद इसके कणों-से बना है। अब आप अपने रक्तकी एक-एक बूँद उसको दे दें; ऐसा करके ही आप उसके ऋणसे उऋण हो सकेंगे।'

भगवान्‌का यह वरदान था, जो उत्तङ्क मुनिने माँगा था। भगवान्‌का गणनाशास्त्र इतना विशाल होगा, किसी संसारी मनुष्यको इसका ध्यान थोड़े ही हो सकता है ? उत्तङ्क मुनि दिङ्मूढ़ बन गये थे। जब विष्णुभगवान् उनके सामने आये थे, तब उन्होंने अपने मनसे थोड़ी-सी यह कल्पना कर ली थी कि 'मैं साधारण व्रती, तपस्वी या भक्त-जैसा भोला और अज्ञानी नहीं हूँ, इस बातको भगवान् भी जान लें और उनपर भी मेरी विशेषता प्रकट हो जाय'—बस, इसी मनगढ़ंत कल्पनापर उन्होंने भगवान्‌के आगे अपना गणनाशास्त्र रखा था। भगवान् तो भक्तके वश हैं। भक्तने जो माँगा, वही देनेको वे तैयार रहते हैं।

उत्तङ्क मुनिकी सामान्य ऋद्धि-सिद्धियोंमें आसक्ति न थी, इसीलिये उन्होंने भगवान्‌को गणनाके अनुसार वरदान देनेकी प्रार्थना की। मुनिके अनन्त कालकी साधनाका मूल्य भगवान् दे रहे थे। 'जिस पृथ्वीने आपकी कायाके भारको अनन्तकालतक उठाया, उस पृथ्वीको अब अपने सिरपर अनन्त कालतक उठा लें।'

कैसा वरदान था ? उत्तङ्क मुनिकी आँखें खुल गयी थीं। उनकी मस्ती चूर-चूर हो रही थी। गर्व, तर्कजाल, गणना-शास्त्र—सब लुप्त हो चुके थे। क्या कोई भी पृथ्वीके भारको अपने सिरपर उठायेगा और वह भी वरदानके रूपमें ?

मुनिने मस्तक ऊपर उठाया और उनको भगवान्‌की अपार करुणाके दर्शन हुए। फिर उन्होंने अपनी ओर देखा और अपने असंख्य अपराधोंको वे देखने लगे। उनकी वाणी रुक गयी। आँखोंसे प्रायश्चित्तके रूपमें आँसुओंकी धारा बहने लगी। भगवान्‌के चरणोंपर मुनिने

अपना मस्तक टेक दिया। उन्होंने भगवान्‌की शरण ग्रहण की। उनके हृदयकी भावना शुद्ध हो गयी थी।

भगवान् तो अपार करुणाके सागर हैं। भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे पधारते हैं। वे पापियोंके पाप, घमडियोंके घमड और गर्वीजनोंके गर्वको हर लेते हैं। उत्तङ्क मुनिपर भगवान्‌की कृपा बरस रही थी। अब वरदान लेने-देनेका कोई सवाल ही न था। गर्वका चूर-चूर हो जाना—यही 'साधनाका मूल्य' था और उत्तङ्क मुनिको वह मिल गया था। अब वे सच्चे स्वरूपसे पूर्ण-सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, भगवान्‌के भक्त बन गये थे।

भारतका परम हित

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस समय सभी ओर उन्नतिकी पुकार मची हुई है, परतु 'यथार्थ उन्नति' क्या है और किसमे है, इसका विचार बहुत कम किया जाता है। धन, विलास, भौतिक सुख या पदमें उन्नति नहीं है। वास्तविक उन्नति उसीमे है, जिसमें मनुष्योंका जीवनस्तर नैतिकता तथा सदाचारकी दृष्टिसे ऊँचा हो, उनमे 'सर्वभूतहित'की सच्ची भावना जाग्रत् हो, इन्द्रियोंपर और मनपर स्वामित्व हो, जीवनमे सयम और सेवाका स्वभाव हो और जिससे इस लोक तथा परलोकमें सब प्रकारसे हित होता हो और साथ ही मानव अपने परम हित परमात्माकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो। यही यथार्थ उन्नति है। इस उन्नतिका परम साधन है—'धर्म और ईश्वरपर निष्ठा एव विश्वास'।

जबतक भारतमें धर्म और ईश्वरपर निष्ठा-विश्वास रहा, मनुष्य ईश्वरके आश्रित और धर्मपरायण रहे, तबतक भारतकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। ज्यो-ज्यों इसमे कमी आयी, त्यों-ही-त्यों भारत अवनतिके गर्तमें गिरता गया। आजके भारतकी तो वस्तुत बहुत शोचनीय स्थिति है। धर्म और ईश्वरके तत्त्वको न समझनेके कारण बहुत लोग तो धर्म और ईश्वरको मानते ही नहीं, कुछ लोग धर्म और ईश्वरको स्वीकार तो करते हैं पर हृदयसे नहीं मानते। इसलिये उनकी स्वीकृति भी कथनमात्र की होती है, और इसी कारण उनको विशेष लाभ नहीं होता। माननेवालोंमे कुछ लोग ऐसे है, जिनमे आत्मबल नहीं है। जिनमे यत्किंचित् आत्मबल है, उनकी सख्या थोडी है और उनकी चलती भी नहीं। शिक्षामे धर्मका विशिष्ट स्थान न रहनेसे शिक्षित पुरुष—जो समाजके सभी क्षेत्रोंमें स्वाभाविक अग्रणी होते है—धर्म और ईश्वरको महत्त्व नहीं दे पाते। इन्हीं सब कारणोंसे यथार्थ उन्नतिकी दृष्टिसे भारतका दिनोंदिन ह्रास और विनाश ही हो रहा है।

धर्म और ईश्वरमें निष्ठा न होनेके कारण ही 'यथार्थ कर्तव्य' की ओर ध्यान कम हो गया और अनर्थकारी अर्थकी प्रधानता बढ़ गयी। सरकारी अधिकारियोंमें घूस-रिश्वत-का प्रसार हो गया। अन्याय तथा असत्-मार्गसे आनेवाले धनसे सबकी ग्लानि निकल गयी। चारों ओर चोर-बाजारी, ठगी और भ्रष्टाचारका विस्तार हो गया। कर्तव्यपालनके स्थानमें आरामतलबी और धोखाधडी आ गयी। इसीसे मजदूर-मालिकोंका पवित्र सम्बन्ध भी दूषित हो गया। स्कूल-कालेजोंमें गुरु-शिष्यका पवित्र आदर्श नष्ट हो गया। यों सर्वत्र उच्छृङ्खलता, स्वेच्छा-चारिता और धर्महीनता आ गयी। असदाचार और अनैतिकताकी यह बाढ न रुकी तो पता नहीं हमलोगों-की क्या दशा होगी।

इसी आर्थिक और लौकिक महत्ताके प्रभावसे हमारी सरकारको भी भाँति-भाँतिके नये-नये टैक्स लगानेको

बाध्य होना पड रहा है । जब व्ययका बहुत बडा आयोजन सामने होगा, तब उसकी पूर्तिके लिये टैक्स लगाने और बढाने पडेगे ही, परतु जिन टैक्सोंसे गरीब तथा मध्यवित्त जनताका जीवन कष्टमय हो जाता हो, जिनसे ज्ञान-प्रसारमें बाधा आती हो, ऐसे टैक्स न लगाये जायँ तो बहुत उत्तम है । जैसे उदाहरणके लिये गेहूँ, चावल, चीनी, नमक, कपडा आदि आवश्यक खाने-पहननेकी चीजोंपर टैक्स लगानेसे गरीब तथा मध्यवित्त लोगोंका जीवन-निर्वाह बहुत कठिन हो रहा है। हमारे पास ऐसे बहुत-से लोग आते है और अपनी कठिन परिस्थिति बतलाते है । इसी प्रकार कागज, कापी, पुस्तकादिपर टैक्स लगनेसे गरीब विद्यार्थियोंका व्यय-भार बढ गया है । पारसल, रजिस्ट्री, मनीआर्डर आदिकी दर बढ जानेसे जनताकी कठिनाई बढ गयी है । अतएव हम अपनी सरकारसे विनयपूर्वक अनुरोध करते हैं कि वह गम्भीरतासे इस विषयपर विचार करे और उचित व्यवस्था करे, जिससे जनताका जीवन बढती हुई कठिनाइयोंसे छुटकारा पा सके ।

एक और आवश्यक विषय है । इधर समाज-सुधारकी दृष्टिसे धर्मस्थानोंकी सम्पत्ति आदिके तथा साधुओंके सम्बन्धमें जो नये कानून बने हैं या बनने जा रहे हैं, उनसे यही पता लगता है कि ये सारे कानून हिंदुओंके लिये ही बनते है । भारतमें शास्त्रोंको माननेवाले और उनपर श्रद्धा करनेवाले ऐसे लोग बहुत हैं, जिनका किसी राजनीतिक दलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पर जो बिना किसी राग-द्वेषके अपने सरल-सहज विश्वासके अनुसार ऐसा मानते हैं कि इन कानूनोंसे परम्परागत हिंदू-धर्मपर आघात पहुँचा है या पहुँच रहा है । अतएव जैसे ईसाई-धर्म और इस्लाम-धर्म, उनके गिरजाघर-मस्जिद, उनके पादरी-पीर, फकीर-काजी, उनके सामाजिक आचार आदिके सम्बन्धमें सरकार कोई भी कानून न बनाकर उनकी धार्मिक मान्यताओंको सुरक्षित रखती है—जो उचित ही है, वैसे ही हिंदू-धर्मकी मान्यताको भी सुरक्षित रखना सरकारका कर्तव्य है । इसलिये भारतकी हिंदू-जनता सरकारसे विनयपूर्वक प्रार्थना करती है कि सरकार ऐसा कोई कानून न बनाये, जिससे सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, बौद्ध, जैन, सिख आदि हिंदुओंके धर्मपर, उनके मठ-मन्दिर, गुरुद्वारे या पूजास्थलोंपर तथा उनके साधु-सन्यासियों और भिक्षुओंपर आघात पहुँचता हो ।

साथ ही यह भी विनय है कि इधर कुछ समयसे भारतमें ईसाईलोग भोले-भाले गरीब भाई-बहिनोंको फुसलाकर और लोभ दिखाकर उनका धर्म-परिवर्तन कर रहे हैं, उनपर शीघ्र कठोर रोक लगायी जाय । गो-वध सर्वथा बद करनेके लिये सभी प्रदेशोंमे कानून बनें और जहाँ ऐसे कानून बन चुके हैं, वहाँ सावधानीसे उनपर अमल किया जाय । स्वास्थ्यनाशक तथा गोवधमें सहायक वनस्पति-घीका प्रचार भी कानूनद्वारा शीघ्र रोका जाय ।

हाथकी बनी चीजों और हाथसे बुने कपडेके प्रचारमें सहायता की जाय और विशेष सुविधा दी जाय, जिससे गरीब जनता परिश्रम करके अपना जीवन-निर्वाह कर सके । धान, चीनी, तेल, कपडे आदिकी मिलोंका विस्तार होनेसे इन गरीबोंके रोजगारमे बडी बाधा आ गयी है । इस ओर सरकार ध्यान दे रही है और कई प्रकारकी सुविधाएँ सरकारने दी भी है । इसके लिये सरकारको धन्यवाद है ।

शीघ्र ही लोकसभा तथा धारासभाओंके लिये चुनाव होने जा रहा है । इस विषयमे बहुत-से लोग पूछते हैं कि किनको मत (वोट) दिया जाय । इसके उत्तरमें हमारा नम्र निवेदन है कि जो विशाल हृदयके स्वार्थ-त्यागी व्यक्ति हों, देशका यथार्थ हित चाहते हों, देशके हितके लिये अपने व्यक्तिगत हितका बलिदान करनेको तैयार हों, देशके हितमें ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि मानते हों, गरीबों तथा दुखियोंसे सच्ची सहानुभूति रखते हों,

मान-बड़ाई पूजा-प्रतिष्ठा तथा धन-सम्पत्तिके किङ्कर न हों, अभक्ष्य-भक्षी न हों, सदाचारी हो, मादक वस्तुओंके शौकीन न हों, सच्चरित्र हों, दयालु हों, गोवधको कानूनके द्वारा बंद करानेके समर्थक हो, धर्मविरुद्ध कानूनोंके विरोधी हों और ईश्वर, धर्म तथा लोक-परलोकको माननेवाले हों—ऐसे ही सज्जनोंको तथा माता-बहिनोंके पक्षमे वोट देना चाहिये, वे चाहे किसी भी दलके हों।

भक्त मुत्तुस्वामी दीक्षितर्

(लेखक—विद्वान्, श्रीयुत के० नारायणन्)

कर्णाटक-पद्धतिके सगीतकी बृहत्त्रयीमे एक है श्रीमुत्तुस्वामी दीक्षितर्। इन्होंने सस्कृतमें कई अद्भुत कीर्तनोंकी रचना की है। इनकी रचनाएँ अत्यन्त सारगर्भित हैं और साहित्य तथा सगीतकी विशेषताओंसे भरी है।

ये एट्टयपुरम् सस्थानम् (रियासत) के राजाके यहाँ कुछ दिन उनके आस्थान-विद्वान्, प्रमुख अतिथि और घनिष्ठ मित्रके रूपमें ठहरे थे। ये, ज्यौतिष-शास्त्र, मन्त्र-तन्त्र आदिके भी अच्छे ज्ञाता थे। महाराज और इनके बीच बडी प्रीति थी। महाराज सदा इनको अपने पास रखते थे और सभी बातोंमे इनकी सलाह लेते थे

एक दिन राजाका हाथी हस्तिशालासे छूट गया और दौडकर श्मशानमे जाकर खडा हो गया। मुख्य हाथीका श्मशानमें जाकर खडा होना बड़ा अपशकुन माना जाता है। महाराज इस घटनासे बडे चिन्तित हुए। उन्होंने दीक्षितर्से पूछा—'स्वामिन्! इस घटनाका क्या अर्थ हो सकता है?' दीक्षितर् कुछ देर गम्भीर चिन्तामें मग्न रहे, फिर बोले—'महाराज! मुख्य हाथीका श्मशानमें जाकर खडा होना बडा अपशकुन है। निश्चय ही कोई अनिष्ट घटना होनेवाली है। महाराज! मैं कैसे कहूँ? इससे तो स्पष्ट है कि श्रीमान् या श्रीमान्के समस्थानीय किसीकी मृत्यु होनेवाली है। होनहारको कोई टाल नहीं सकता फिर भी यथासाध्य सावधानी बरतना अच्छा है। श्रीमान् सात-आठ दिनतक शिकार खेलने न जायँ। महलके अदर आरामसे रहें।'

महाराजको दीक्षितर्की बातपर बडा विश्वास था। वे निश्चितरूपसे जान गये कि कोई विपत्ति आनेवाली है, परतु किसपर? उन्होने दीक्षितर्के वचनोंको पुन याद किया—'श्रीमान् या श्रीमान्के समस्थानीय किसीकी · · · ' तो मुझपर या मेरे परिवारके किसीपर विपत्ति आनेवाली है। अत उन्होने परिवारके लोगोंकी सुरक्षाका समुचित प्रबन्ध किया। स्वयं भी पूर्ण सावधान रहने लगे।

कुछ समय बाद दीपावलीका दिन आया। मुत्तुस्वामी दीक्षितर्ने उषाकालमें विधिवत् तैल-स्नान किया और वे भगवतीके भजनमें लग गये। कुछ देर बाद उनके शिष्यगण भी आये और उनके कीर्तन गाने लगे। दीक्षितर्का एक प्रसिद्ध कीर्तन है—'मीनाक्षि मे मुदं देहि,' जिसका राग है गमकक्रिया अथवा पूर्वी कल्याणी। शिष्यगण यह कीर्तन गाते जाते थे और दीक्षितर् मग्न होकर सुन रहे थे। इस कीर्तनके अनुपल्लवि (अन्तरा) के बोल हैं—'गानमात्रमेये! माये! मरकतछाये! शिवजाये! मीनलोचनि! पाशमोचनि! मानिनि! कदम्बवनवासिनि!'

इस अनुपल्लविके गाये जानेके समय दीक्षितर्की भक्ति-परवशता बढती गयी और जब 'मीनलोचनी पाशमोचनी'की ध्वनि आयी, तब दीक्षितर् गद्गद होकर बोले—'हा! यह कैसा विचित्र अनुभव है। जान पडता है कि मेरे लौकिक बन्धन छूट रहे है। क्या देवीकी मुझपर कृपा हो गयी है?' अगले ही क्षण उनकी जीवात्मा देवीजीके स्वरूपमें विलीन हो गयी।

शिष्यगण घबराये, रोने-बिलखने लगे। थोड़ी देरमें महाराजा भी वहाँ आ पहुँचे। वे कुछ देरतक चित्रवत् खड़े रहे, फिर बोले—'ओह! मैं कैसा मूर्ख था। उन्होंने कहा था कि मेरी या मेरे समकक्ष किसी व्यक्तिकी मृत्यु होगी। मैं उस समय समझ न पाया कि स्वयं उन्हींके ऊपर आपत्ति आनेवाली है, न मैंने उनकी सुरक्षाके लिये ही कोई प्रबन्ध किया। परंतु मैं कर ही क्या सकता था। वे भगवतीके परम भक्त थे. भगवतीने उनको अपने पास-बुला लिया। धन्य हैं मुत्तुस्वामि दीक्षितर्!'

दीक्षितर्को मातृलोककी प्राप्ति हुए आज १२२ वर्ष हो गये हैं। फिर भी कर्णाटकी संगीतके पुजारी प्रति दीपावलीको दीक्षितर्का निधन-दिन मनाते हैं। उनकी स्मृति भक्तजनोंके हृदयोंमें अमर बनी रहेगी।

भवभूतिका राम-चरित्र-चित्रण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आज यद्यपि भवभूतिकी रचनाओंमें कुल तीन रूपक मात्र ही[1] उपलब्ध हैं, तथापि अपने अलौकिक काव्यगुणोंके कारण वे बेजोड़ हैं। उन्हें कालिदासकी ही कोटिका समझा जाता है, वरं उत्तर-रामचरितकी रचनामें तो वे कालिदाससे भी बाजी मार ले गये हैं—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।' उनके करुणरसकी लोकोत्तर व्यञ्जनासे प्रभावित होकर गोवर्धनाचार्यने ठीक ही लिखा है कि भवभूतिके सम्बन्धसे भारती (सरस्वती) भी उसी प्रकार सुहावनी लगती है, जैसे भवभूति (शिवजी) के साहचर्यसे भगवती पार्वती यह भी हुआ है उनकी करुणा (करुणरस) के कारण ही, अन्यथा कहीं पत्थर भी रोता है?[2]

> भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
> एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥[3]

भासके 'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक' नाटकोंकी भाँति भवभूतिने भी रामचरित्रको अपने महावीरचरित तथा उत्तर-रामचरित—इन दो नाटकोंमें विभक्तकर ही पूरा किया है। उत्तर-रामचरितपर तो बहुत लिखा है विद्वानोंने। उनका महावीरचरित अवश्य कुछ उपेक्षित-सा रहा है। इसपर अभीतक प्रायः कुछ नहीं लिखा गया है। प्रस्तुत निबन्धका विषय यही नाटक-ग्रन्थ है।

वस्तुतः चरित्रकी दृष्टिसे सारा रामचरित्र 'महावीरचरितम्' में ही वर्णित है (उत्तररामचरितका कथानक तो 'सीता-वनवास' तक ही सीमित है।)। यह नाटक सात अङ्कोंमें समाप्त होता है। जहाँतक ज्ञात है इसपर आत्माराम तथा वीरराघव—इन दो व्यक्तियोंकी ही

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतिपर विश्वरूपाचार्यकी बालक्रीडा नामकी व्याख्या है। इस व्याख्यापर भी कई टीकाएँ हैं, जिनमें सर्वाधिक प्राचीन है यतीश्वर वेदान्तकी लिखी 'विभावना'-व्याख्या। इनमें उन्होंने भवभूतिको ही सुरेश्वराचार्य तथा विश्वरूप माना है। प्रारम्भमें ही उन्होंने लिखा है—'यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्गस्थितः सुखी। भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूप प्रणम्य तम्॥' Indian Historical quarterly, Vol VII (1931) No 2 के ३०५ से ३०८ पृष्ठोंपर तथा Journal of the Royal Asiatic Society 1923 के ६४०, से ६६३ पृष्ठोंपर इसके उक्त पद्योंकी विस्तृत समालोचना है। यदि यह बात सत्य है, तब तो फिर भवभूतिकी कई दूसरी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं ही।

२. यह कथन उत्तररामचरित (१। २८)के 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' इन पद्यको लक्ष्यकर कहा गया है।

३. भवभूतिका प्रभाव राजशेखरपर बहुत था। वे कहते हैं कि बहुत पूर्व जो वाल्मीकि था वही दूसरे जन्ममें भर्तृमेण्ठ तथा तीसरे जन्ममें भवभूति हुआ और अब वही पुनः मैं राजशेखर हुआ हूँ—

> बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
> ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
> स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
> स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
> (बालरामा० १। १६)

टीकाएँ उपलब्ध हैं। उनमें भी इस समय तो (निर्णय-सागर प्रेससे प्रकाशित) वीरराघवकृत भावप्रद्योतिनी ही बाजारोंमे प्राप्त है। अस्तु!

महावीरचरितके आरम्भसे ही यह पता लगता है कि भवभूतिको राम बहुत प्रिय हैं। दोष तो भगवान् श्रीरामपर कहीं इन्होंने प्रकट ही नहीं होने दिया। साथ ही इसका कथानक भी अत्याश्चर्यप्रद तथा अन्य रामायणोंसे सर्वथा भिन्न है। इसका अध्ययन करते समय कोई भी व्यक्ति तनिक भी नीरसता अथवा पुनरावृत्तिका भान नहीं कर सकता। इसमें पग-पगपर रसका विशेष आभास मिलता है तथा इसे पढकर प्राणी तनिक भी अघाता नहीं।

महावीरचरितका आरम्भ होता है विश्वामित्रके यज्ञ-प्रसङ्गसे। महर्षि विश्वामित्र श्रीराम-लक्ष्मणको लेकर सिद्धाश्रम (आजका बक्सर) पहुँच गये हैं। यज्ञमें निमन्त्रित होनेपर महाराज जनकके दीक्षित होनेके कारण उनके छोटे भाई (कुशध्वज) श्रीसीता तथा उर्मिलाको लेकर सिद्धाश्रम पहुँचते है।[५] भगवान् रामको देखकर भगवती सीता, कुशध्वज, सूत—सभी मुग्ध हो जाते है। भगवान्का भी मन श्रीसीताकी ओर आकृष्ट हो जाता है[६]। कुशध्वज सीता-रामके विवाहके लिये चिन्तित होते हैं। यहीं रावणका सदेश लेकर उसका पुरोहित 'सर्वमाय' नामका राक्षस सीताको रावणके लिये माँगने आता है।[७] यहीं ताडका उत्पात मचाने आती है और सीताके सामने ही विश्वामित्रकी आज्ञासे श्रीराम उसका वध करते हैं। जब भगवान् 'स्त्री खल्वियम्' कहकर उसपर प्रहार करनेसे सकोच करते है, तब सीता तथा उर्मिला प्रसन्न होती है। रावणका पुरोहित मुँह ताकता रह जाता है। वह एक सुकुमार राजकुमारद्वारा राक्षसीके वधपर चकित होकर कहता है—'अरे ताडके! यह कैसी विपरीत बात है कि तुम्हारा भक्ष्य मनुष्यबालक तुम्हे मार डालता है?' यह तो वैसी ही बात हुई जैसे पानीमें लौकी डूब जाय और शिला तैर जाय—'अम्बुनि मज्जन्त्यलावूनि ग्रावाणः प्लवन्ते।' विश्वामित्रजी प्रसन्न होकर कहते हैं—चलो समस्त राक्षसोंके सहाररूप वेदाध्ययनका यह ॐकार हुआ—मङ्गलाचरण प्रारम्भ हुआ।

परशुराम-रामका सवाद भी यहाँ बडा निराला है। इसमे वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, दशरथ तथा जनक भी भाग लेते हैं। परशुरामका क्रोध स्वय-प्रेरित नहीं, माल्यवान् तथा शूर्पणखा—इन राक्षस-राक्षसियोंके द्वारा उत्तेजित हैं

४ इसका महावीरचरित नाम पड़नेके कारणपर टीकाकारोंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। स्वय ग्रन्थकारने भी महापुरुषके नायक होने तथा वीररसकी प्रधानता होनेसे इसका यह नामकरण सार्थक माना है तथापि पञ्चम अङ्कमें वाली तथा श्रीरामके लिये 'महावीर'का बार बार प्रयोग हुआ है। यों तो भगवान् राम रघुवीरके विषयमे सदासे ही यह प्रसिद्धि चली आयी है कि वे दानवीर, त्यागवीर, दयावीर, विद्यावीर तथा पराक्रमवीर भी थे—

दानवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः।
पराक्रममहावीरो त्यागवीरस्तथैव च ॥
पञ्च वीराः समाख्याता राम एव तु पञ्चधा।
रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः ॥

५ कुशध्वजो नाम स एष राजा
सीतोर्मिलाभ्या सहितोऽभ्युपैति। (१ । ९)

६ (क) उत्पत्तिर्देवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्तिरस्या स्नेह करोति मे ॥

(ख) रामाय पुण्यमहसे सदृशाय सीता
दत्त्वैव दाशरथिचन्द्रमसेऽभविष्यत्।
आरोपणेन पणमप्रतिकार्यमार्य-
स्त्रैयम्बकस्य धनुषो यदि नाकरिष्यत् ॥
(१ । २७)

७ मातामहेन प्रतिषिध्यमानः स्वयग्रहान्माल्यवता दशास्यः।
अयोनिजा राजसुता वरीतु मा प्राहिणोन्मैथिलराजधानीम् ॥
(१ । २८)

(२ । १४)।[8] शतानन्द तो क्रोधमें भरकर उन्हें शाप देनेके लिये हाथमें जल ले लेते हैं और उन्हें अनड्वन्, पुरुषाधम, निरपराधराजन्यकुलकदन, महापातकिन्, अशिष्ट, विकृतवेष, बीभत्सकर्मन्, अपूर्वपाखण्ड, काण्डीर तथा काण्डपृष्ठ आदि शब्दोंमें गालियाँ देते हैं (३ । १९)। विश्वामित्र भी उन्हें शाप तथा बाणोंसे दग्ध करना चाहते हैं।[10] हाँ, यहाँ श्रीलक्ष्मणका अवश्य पता नहीं।

वनवासके समय भी मन्थरामें सरस्वतीके बदले शूर्पणखा ही आविष्ट (व्याप्त) होती है।[11] श्रीरामका वनवास भरत, शत्रुघ्न, जनक तथा युधाजित्के सामने उनके अयोध्यामें उपस्थित रहते ही होता है। जब कैकेयीकी ओरसे लक्ष्मण—

'अस्त्वेकेन वरेण वत्स भरतो भोक्ताधिराजस्य ते
यात्वन्येन विहाय कालहरणं रामो वनं दण्डकान्।'

(४ । ४१)

—आदि वरोंकी बात कहते हैं, तब जनक कहते हैं—'अहो, देखो तो सही—इक्ष्वाकु-वंश-तिलक महाराज दशरथकी पत्नी तथा उत्तम राजवंशमें प्रसूत होकर भी यह आर्या कैसे राक्षसकर्म करनेपर तुल गयी—

इक्ष्वाकुवंशतिलकस्य नृपस्य पत्नी
तस्मिन् विशुद्धमतिराजकुले प्रसूता।
अत्याहितं किमपि राक्षसकर्म कुर्या-
दार्या सती कथमहो महदद्भुतं नः॥

(४ । ४९)

'महावीरचरित' में सीता-हरण सम्पाती तथा जटायुके बातचीत करते तथा देखते ही होता है। शबरीसे भेंट तो और विलक्षण ढंगसे होती है। विभीषण रावणसे रुष्ट होकर बहुत पहले ही सुग्रीवके पास चले आते हैं तथा वे दोनों मिलकर एक पत्र[12] लिखकर शबरीके हाथ श्रीरामके पास भेजते हैं। शबरीको बीचमें ही कबन्ध पकड़ लेता है, वह रक्षाके लिये चिल्लाती है[13] और श्रीरामाज्ञासे लक्ष्मणजी अकेले ही उक्त राक्षसका वध कर डालते हैं।

भगवान् विभीषणका पत्र देखते ही उन्हें लङ्काका राज्य दे डालने तथा उन्हें लङ्केश्वर बना देनेका संकल्प करते हैं।[14] कबन्धको जब श्रीलक्ष्मण जला डालते हैं, तब वह दिव्य पुरुष होकर उन्हें कहता है—'आपलोग सावधान हो जाइये, रावणकी प्रार्थनासे वाली आप-लोगोंका वध[15] करनेकी घातमें लगा है। (इस तरह

८. (क) परशुराम रामके अलौकिक सौन्दर्यपर मुग्ध होकर कहते हैं—

अप्राकृतस्य चरितातिशयस्य भावै-
रत्यद्भुतैर्मम हृतस्य तथाप्यनास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
सामर्थ्यसारसमुदायमयः पदार्थः॥

(२ । ३९)

(ख) जामदग्न्यमुत्तेजयितुं मिथिलाप्रस्थापनाय महेन्द्रद्वीपमेव गच्छावः।

९. काण्डपृष्ठ तथा काण्डीर आयुधजीवी ब्राह्मणको कहा गया है।

१०. आनस्त्वां प्रति कोपनस्य तरल. शापोदकं दक्षिण प्राक्संस्कारवशेन चायमितरः पाणिर्ममान्विष्यति।

(३ । ४३)

११. आविष्टासि मन्थराशरीरे शूर्पणखा।

(४ । १४)

१२. स च यदैव दैवात् खरदूषणत्रिशिरसो विनिहतास्तदैव बन्धुभ्यः कस्यापि हेतोरवगृह्य सुग्रीवसख्यादृष्यमूके वर्तते। तस्यायमात्मसमर्पको लेखः —'स्वस्ति रामदेव प्रणम्य विभीषणो विज्ञापयति—

विशिष्टभागधेयाना त्रयी नः परमा गति.।
धर्मः प्रकृष्यमाणो वा गोता धर्मस्य वा भवान्॥

(५ । ३०)

१३. परित्रायतामनेन दुरात्मना राक्षसकबन्धेनाकृष्यमाणा-मरण्ये स्त्रियम्—

अहं हि श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी।
मतङ्गाश्रमवास्तव्या रामान्वेषिण्युपागता॥

(५ । २७)

१४. वत्स ! ब्रूहि किं सडिण्यतामेववादिन. प्रियसुहृदो लङ्केश्वरस्य महाराजविभीषणस्य ? (५)

१५. प्रार्थ्य माल्यवता वाली युष्मद्घाते नियुज्यते।
तेनापि रावणे मैत्रीमनुरुध्याभ्युपेयते॥

(४ । ३४)

वालि-वधमें भी वालीका ही दोष प्रदर्शित किया गया है ।) मार्गमें ही रामचन्द्र दुदुभिके शुष्क कलेवरको पैरके अँगूठेसे मीलों दूर फेंक देते हैं । वालीकी प्रार्थना-पर वे सप्ततालोंका भी ध्वंस करते हैं । अन्तमें मतङ्गके शापसे[16] वाली हरिण हो जाता है और हरिणवेशमें ही श्रीराम उसे मार डालते[17] हैं ।

आगेका चरित्र बहुत संक्षिप्त है । भगवान् अगस्त्यके सहयोगसे दिव्य दृष्टिद्वारा रावणके समस्त रहस्योंको जानकर भगवान् उसका वध कर डालते हैं और इन्द्रादि देवगण उनका अभिषेक करते हैं । ५ से ७ तकके अङ्कोंमें बहुत बड़ा पाठभेद भी उपलब्ध होता है, जिसमें और भी अधिक चरित्रवैचित्र्य है । इस तरह भवभूतिके इस नाटकको पढ़नेके बाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासकी 'रामकथा कै मिति जग नाहीं'—इस चौपाईका भाव कि श्रीरामकथाका संसारमें कहीं अन्त नहीं है सवथा सामने आ जाता है ।

महामना भरतकी कनक-परीक्षा

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

मानव और कनक दोनों जड हैं । मानव जडता (अज्ञान) से चैतन्यताकी कक्षामें किस परीक्षासे प्रवेश करता है ?

'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥'

भरतजीने यह ग्रन्थि कैसे छुडायी ?

कनक और मानव दोनोंके जीवनमें साम्य है । कनक मनुष्यकी विपत्तिका साथी है । मनुष्य-शव जब अग्निपरीक्षाके लिये चितापर रखा जाता है, तब कनक मुखमें बैठकर प्रमाण देता है वही जीवित-अवस्थामें मनुष्यका शृङ्गार करता है ।

कनक अपनी दृढता और कोमलतासे शिक्षा देता है कि मानवको भी ऐसा ही बनना चाहिये । विपत्तिमें प्रतिक्षण साथ देता है, प्रत्येक अङ्गकी शोभा बढाता है । तुलसीकी चार चौपाइयोंसे उपर्युक्त बातें सिद्ध होती हैं ।

प्रथम चौपाई है अयोध्याकाण्डकी । महारानी कौसल्या चित्रकूटके 'महिला-सम्मेलन' में सुनयनाजीसे कहती हैं—

कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ । पुरुष परिखिअहिं समयँ सुभाएँ ॥

भरतजी मामाके घरसे अयोध्या लौटे और उनका आगमन सुनते ही कौसल्याजी दौडीं—'भरत ! तुम्हें बिना प्रयास राज्य मिल गया, मेरा पतिवियोग हुआ । मेरे राम वनको निर्वासित हो गये, तुम वाहनों और सुविधाओंके स्वामी हो गये हो । मुझे मेरे पुत्रके पास पहुँचा दो ।' भरतजीने उत्तर दिया—'माता ! पितृश्राद्धकी क्रिया कर लूँ, तब तुम्हें वाहनोंसहित साथ लेकर रामके समीप चलूँगा ।' बस, कौसल्याके 'थन पय स्रवहिं नयन जल छाए ।' उस घटनाको समक्ष रखकर कौसल्याजी कहती हैं—'कनककी और मनुष्यकी परीक्षा कसौटीपर कसनेसे होती है । भरतकी परीक्षा मैंने कर ली है । वे कनक-परीक्षामें उत्तीर्ण हैं ।'

दूसरी चौपाई भी है इसी अयोध्याकाण्डकी । भरत त्रिवेणीमें खडे रुदन कर रहे हैं—'मैं ही सब अनर्थोंका

---

१६. देहस्यान्ते कुरङ्गरूप लब्ध्वा वीरधर्मविरुद्ध कुत्सित मरण प्राप्स्यसि' (६ । ५)

१७. भगवान्को धीरोदात्त तथा सर्वथा निर्दोष नायक सिद्ध करनेके लिये वालिवधके बाद भगवान्से भवभूति यहाँतक कहलाते हैं—

अप्राकृताभिजनवीर्ययशश्चरित्रान पुण्यश्रिय. कुलमहीधरभूरिसारान् ।
एवविधानपि निपात्य कटुर्विपाक सर्वकष. कषति हा विषम कृतान्त ॥

(५ । ५६ परिशिष्ट

हेतु हूँ। क्या यह जलन कभी नहीं बुझेगी ?' तब आकाशवाणी होती है—

कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहें॥

'भरत! यह जलन कनककी-अग्निपरीक्षाके कारण है। प्रियतम रामसे मिलनेके लिये कनक-दाहकी तरह तुम कसौटीपर कसे जा रहे हो, तुमपर बान (चमक) चढ़ रही है।' भरतको संतोष हुआ और उन्होंने स्नान किया।

तीसरी चौपाई भी अयोध्याकाण्डकी है। विदेह जनक कह रहे है रानी सुनयनासे भरतको प्रमाणपत्र देते हुए—

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि चारू॥

बस, स्वर्ण यहाँ मानवसे हल्का सिद्ध होता है। मानव साधनासे सुगन्धित हो जाता है, स्वर्णमें सुगन्ध नहीं आती। भरतने जड मानवताको साधनासे इतना प्रज्वलित किया कि उसमें सुगन्ध आ गयी। मानवता जब इस कोटितक विकसित हो जाती है, तब वह सुगन्धित हो जाती है।

भरतजी त्याग और तपसे सुगन्धित होकर समाजमे सुशोभित हुए। सोनेमें सुगन्ध नहीं आ पाती। मनुष्य सुगन्धित हो जाता है।

चौथी चौपाई भी अयोध्याकाण्डकी ही है। भरतजी पादुका पाकर अयोध्या लौट रहे हैं।

'भेंटत भुज भरि भाइ भरत सों।'

तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरजु त्यागा॥
मुनिगन गुर धुर धीर जनक से। ग्यान अनल मन कसे कनक से॥
तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥

वशिष्ठ, जाबालि, वामदेव, कौशिक, विदेह आदि जिनका मन ज्ञान-अनलसे कनक-सा शुद्ध हो गया था, वे भी भरत-रामकी मिलनिको देखकर समाविष्ट हो गये। यह थी उत्तम कोटि मानव-साधनाकी।

मनुष्य जन्म लेता है जड बनकर, असमर्थ बनकर। अपने तप और त्यागसे वह अपनी शक्तिका उत्खनन करता है, कनक-परीक्षा देता है कसौटीपर। मनुष्य सिद्ध होता है, प्रियतम-पद-प्रेमसे उसपर बान चढ़ती है फिर क्रमागत सुगन्ध आती है और वह उस संत-समाजमें सुशोभित होता है, जो ज्ञान-अनलसे कसे होते है। वे फिर उसके जीवनको प्रमाणित करते हैं कि—

'निरवधि गुन निरुपम पुरुष' यह है।

सुनहु तात भल भरत सरीखा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीखा॥

मनुष्य-जीवनकी सफलता ऐसी कनक-परीक्षाओंमे निहित है। यदि परीक्षित सिद्ध होना है तो ये परीक्षाएँ होंगी—ली जायँगी और उनमें सफलता ही मानव-जीवनकी सफलता होगी। अन्यथा मानवजीवन व्यर्थ सिद्ध होगा।

भरतका आदर्श

राखी भगति-भलाई भली भाँति भरत।
स्वारथ-परमारथ-पथी जय जय जग करत॥ १॥
जो व्रत मुनिवरनि कठिन मानस आचरत।
सो व्रत लिए चातक-ज्यों, सुनत पाप हरत॥ २॥
सिंहासन सुभग राम-चरन-पीठ धरत।
चालत सब राजकाज आयसु अनुसरत॥ ३॥
आपु अवध, विपिन बंधु, सोच-जरनि जरत।
तुलसी सम-विषम, सुगम-अगम लखि न परत॥ ४॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला। इसके पहलेका भेजा आपका कोई पत्र मेरे पास रुका हुआ नहीं है। उत्तर आपको पीछेसे मिल गया होगा। नहीं मिला हो तो फिर पूछ सकते हैं। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) महात्मा कबीरका दोहा आपने आधा ही लिखा, इस कारण पूरा भाव तो समझमें नहीं आया, पर कबीर साहब निराकारके ही उपासक थे, अतः उनकी भाषामें पीछे-पीछे फिरनेका भाव सर्वव्यापी भगवान्का सर्वत्र अनुभव होना ही समझना चाहिये।

(२) हृदय और इन्द्रियोंमे शान्ति और प्रकाशका होना सात्त्विक भाव है (गीता १४। ११)। यह अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रतीक तो है ही, पर जो कुछ भी विभूतियुक्त तेज या प्रकाश है, वह सब भगवान्का ही है। (१०। ४१)। इसलिये भगवान्का मानना भी ठीक ही है।

(३) 'मानस पुन्य होइ नहिं पापा'—गोसाईंजीके इस कथनका यह भाव मानना ठीक जँचता है कि कलियुगमें जो मनुष्य किसी पुण्यकर्मका अनुष्ठान करनेकी बात मनमें सोच लेता है, किंतु उसे पूरा नहीं कर पाता तो उसे पाप नहीं लगता। उदाहरणके लिये सत्ययुगमे राजा हरिश्चन्द्रने स्वप्नमें विश्वामित्रजीको सर्वस्व दान कर दिया था, उसे पूरा करनेके लिये उन्हें कष्ट सहन करना पड़ा। किंतु यह विधान कलियुगके लिये नहीं है। दूसरा अर्थ इसका यह भी मान सकते हैं कि कलियुगमें मानसिक पुण्य और पाप दोनों ही नहीं लगते।

(४) भगवान्के श्रीविग्रहका किसी भी आकृतिमें भान हो, यह सब प्रकारसे अच्छा ही है, पर उस अनुभवसे प्राप्त होनेवाले आनन्दका उपभोग नहीं करना चाहिये, उसे तो उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष देखनेके लिये व्यग्र होना चाहिये ताकि साधनमें रुकावट न हो।

(५) 'सत-वाणी' में सत अब्दुल हुसेनने जिस प्रकारकी बात कही है और उड़ियाबाबाने जिस ज्योतिके प्रकट होनेकी बात कही है, उन दोनोंको एक माननेमे कोई हानि नहीं है। वास्तवमें किस सतने कौन-सी बात किस अभिप्रायसे कही है, यह दूसरा कैसे बता सकता है।

(६) दूसरे प्रश्नमें आपने जिस प्रकाशकी बात लिखी है, वह यदि उत्तरोत्तर न बढ़े तो उसकी लालसा बढ़नी चाहिये, उसके न होनेका दुःख होना चाहिये, व्याकुलता होनेपर ही उसका पुनः अनुभव होना और बढ़ना सम्भव है।

(७) भगवान्के साथ साधक अपनी रुचिके अनुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। उन्हें पिताजी कहकर पुकारनेमें कोई बुराई नहीं है, यदि पिताजीकी पुकारके साथ वह प्रभु ही लक्ष्यमें आता हो और उनका प्रेम उमड़ता हो। परतु यदि उससे भौतिक पिताकी ओर भी लक्ष्य चला जाता हो तो भगवान्के जिस नाममे रुचि हो, वही ठीक है। कीर्तन तो नामका करना ठीक है ही। जिससे मन स्थिर हो और भगवान्की स्मृति हो, वही नाम ठीक है। वह तो माता, पिता, भाई, बन्धु सब कुछ है।

(८) विनियोगका अर्थ है कि जो मन्त्र आगे बोला जायगा, उसका अमुक कार्यमें प्रयोग किया जाता है। अतः उसके अर्थकी आवश्यकता नहीं। उस मन्त्रके ऋषि, छन्द और देवता—ये तीनों विनियोगके साथ बताये जाते हैं।

(२)

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपने पूछा—'आजकल नाम-जपका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देखा जाता, इसका क्या कारण है ?' सो इसका उत्तर इस प्रकार है—

(१) नाम-जपका जो अमित प्रभाव है, उसपर जापकोंका पूरा विश्वास नहीं है।

(२) उस नामके अमित प्रभावयुक्त नामीकी आवश्यकताका पूरा अनुभव नहीं है, उसकी विशेष चाह नहीं है।

(३) नाम-जपके महत्त्वका न तो आपको पूरा अनुभव है और न विश्वास ही। अतः जिस प्रकारके भावसे नाम-जप करना चाहिये, उस प्रकार नहीं किया जाता। इसलिये उसका प्रभाव तत्काल प्रकट नहीं होता, कालान्तरमें अवश्य होगा, क्योंकि नाम-जप व्यर्थ नहीं जाता, वह अमोघ है।

(४) नाम-जप करनेवाले जितना मूल्य सासारिक सुख-भोगके साधनोंका समझते और मानते हैं, उतना नाम-जपका नहीं मानते। इस कारण उनका नाम-जपमे प्रेम नहीं होता। बिना प्रेमके प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट नहीं होता।

अब आपके अन्यान्य विचारोंका उत्तर लिखा जाता है।

भगवान् परम दयालु, पतितपावन और दीनबन्धु हैं। अतः उनके विरदकी ओर देखकर पापी-से-पापी, नीच-से-नीच और सब दुर्गुणोंके भंडार किसी भी मनुष्यको अपने कल्याणके सम्बन्धमें निराश नहीं होना चाहिये। जो मनुष्य जैसा और जिस परिस्थितिमें है, वह उसी परिस्थितिका अर्थात् प्राप्त बल, विवेक और भावशक्तिका ठीक-ठीक उपयोग करके बहुत शीघ्र परमात्माकी कृपासे उनको प्राप्त कर सकता है—इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। पर उसके मनमें भगवान्‌को पानेकी उत्कट चाह होनी चाहिये, भगवान्‌के न मिलनेका, उनका प्रेम प्राप्त न होनेका और अवगुणोंका नाश न होनेका दुःख होना चाहिये।

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपमें देखकर उनके बने रहनेके दुःखसे दुखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो उठता है, फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते, दुःखहारी भगवान्‌की कृपासे उनका अवश्य ही शीघ्र नाश हो जाता है।

साधकका मन चञ्चल हो और उसके विचार कुत्सित हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है तथा उसके मनमें राग-द्वेषादि अवगुण भरे हुए हों, यह भी सम्भव है; क्योंकि इनको मिटानेके लिये ही तो वह साधन करता है। यदि स्वभावसे ही उसमें अवगुण नहीं होते तो भगवान् मिल ही गये होते। पर भगवान् जिस प्रकार भक्तवत्सल हैं, उसी प्रकार पतितपावन और दीनबन्धु भी तो हैं। अतः अवगुणोंको देखकर साधकको निराश नहीं होना चाहिये, बल्कि कृपानिधान भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करके और यह मानकर कि मैं उनका हूँ, संसारमें एकमात्र प्रभुको छोड़कर वास्तवमें मेरा कोई नहीं है, संसारके समस्त व्यक्तियोंसे और वस्तुओंसे सर्वथा निराश होकर एकमात्र प्रभुपर निर्भर हो जाना चाहिये। जबतक उनका प्रेम प्राप्त न हो और उनकी प्राप्ति न हो तबतक चैनसे न रहे, उनके लिये छटपटाता रहे। जिसको अपनी कमजोरीका अनुभव हो जाता है, वह अवश्य ही सहज स्वभावसे बलवान्‌का आश्रय लेनेके लिये बाध्य हो जाता है—यह प्रकृतिका नियम है।

अतः साधकको चाहिये कि यदि वह अपने विवेक, विचार और संयम आदिके प्रयोगसे अपने अवगुणोंको नहीं मिटा सके तो अपनेको निर्बल मानकर सर्वशक्तिमान् प्रभुकी शरण ले ले।

आपने लिखा कि 'ऊँचे-से-ऊँचे पुरुषमें भी मानसिक दुर्बलताएँ होती हैं,' इसपर मेरा लिखना है कि जो साधक अपने दोषोंको मिटाना चाहता हो, उसे दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये। दूसरोंके दोषोंको देखनेसे अपने दोष पुष्ट होते हैं, नये दोष उत्पन्न होते हैं; दोषोंके बने रहनेका दुःख नहीं होता, उनको दूर करना असम्भव प्रतीत होने लगता है; दूर करनेके प्रयत्नमें शिथिलता और निराशा उत्पन्न होती है, गुणोंका अभिमान बढ़ता है। उपर्युक्त सभी बातें साधकके लिये बहुत ही अहितकर हैं। इसके सिवा दूसरेके दोषोंका किसीको पता भी नहीं चलता, क्योंकि दोषोंका सम्बन्ध मनसे है और हम केवल ऊपरकी क्रियासे ही उसे मापते हैं।

हम जिसका दोष देखते हैं, उसमें हमारा घृणा और द्वेषका भाव होता है, जो साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। साधकको चाहिये कि वह किसीका बुरा न चाहे; यह तो उसके जीवनका सर्वप्रथम व्रत होना चाहिये। क्योंकि जो किसीका भी बुरा चाहता है, उसका भला नहीं हो सकता—यह नियम है।

बुरा चाहनेवालेके मनमें बुरे संकल्प अवश्य होते हैं और उनके होते हुए कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

परम पिता श्रीराम आपके इष्ट हैं, यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। आपको उनका आदर्श सामने रखते हुए भरतजीकी भाँति सब कुछ उनका मानकर सबसे अपनी ममता उठा लेनी चाहिये और एकमात्र प्रभुको ही अपना सर्वस्व मानना चाहिये। अपनेको सब प्रकारसे अनधिकारी, अवगुणका भंडार मानकर, दुखी हृदयसे भरतजीकी भाँति एकमात्र प्रभुके स्वभावकी ओर देखकर उनका प्रेम और दर्शन पानेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये।

जब आप प्रत्येक कामको भगवान्‌का समझकर करने लगेंगे, किसी भी कामको अपना काम नहीं समझेंगे तब भगवान्‌की इच्छा और कृपाका अनुभव आपको अपने-आप होने लगेगा। सुख-भोगका लालच और दुःखका भय न रहनेपर सब प्रकारके अवगुण अपने-आप नष्ट हो जायँगे।

भगवान्‌की कृपा जो उसे चाहता है, उसीपर होती है, उनका तो स्वभाव ही कृपा करना है, वे जाति-पाँति और गुण-अवगुणोंकी ओर नहीं देखते। वे देखते हैं एकमात्र साधकके भावको, उसकी चाहको। यदि साधक उनकी कृपाका अभिलाषी है, उसे दूसरे किसीका या अपने बलका भरोसा नहीं रहा है, वह सब ओरसे निराश होकर भगवान्-

पर निर्भर हो गया है, तो भगवान् उसको तत्काल अपना लेंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

मैंने आपके पत्रसे जो कुछ समझमें आया, उसके अनुसार आपको परामर्श देनेकी चेष्टा की है। यदि आप इसमें कुछ लाभ उठा सकेंगे तो मैं आपकी कृपा मानूँगा।

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र यथासमय मिल गया था।

आपके पत्रका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) कुछ महीनोंसे यदि आपका मन भगवान्‌की भक्तिकी ओर झुका है तो बहुत अच्छी बात है। नेत्र मूँदनेपर भगवान्‌के शेषशायी आदि विभिन्न रूपोंके दर्शन होते हैं—यह भी अच्छी भावना, विचार और विश्वासका ही परिचय है।

(२) आपने लिखा—'मैं नामजप तो करता नहीं, दिन भर उनकी यादमें रहनेके कारण काममें बाधा पड़ती है'—सो इसका कारण तो कामको उनका न समझना ही है। यदि साधक जो कुछ करे, उसे भगवान्‌का कार्य समझकर करे तो कार्यमें बाधा आनेका प्रसङ्ग ही नहीं आयेगा, क्योंकि जिनकी याद आती है, काम भी उन्हींका किया जाता है। दोनोंकी एकता हो जानेपर मनमें दुविधा नहीं रहेगी।

तिरस्कारका दुःख तो उसको होगा, जो उस कार्यके बदलेमें मान-बड़ाई चाहता होगा। भगवान्‌का कार्य समझकर उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करनेवालोंका अपमान होनेपर भी उन्हें तो प्रसन्नता ही मिलेगी।

(३) भोजन करनेकी सुध न रहे तो इसमें हानि ही क्या है?

(४) यदि स्वास्थ्य ठीक है तो शरीर निष्प्राण-जैसा लगनेका क्या अभिप्राय है? क्या श्वास बंद हो जाते हैं या शरीरकी सुध नहीं रहती? यदि सुध न रहे तो वह निष्प्राण-जैसा प्रतीत किसको हो? यदि प्रतीत होता है तो प्राण भी रहते ही हैं, फिर निष्प्राण कैसे?

(५) कार्यमें मन तो इसलिये नहीं लगता होगा कि उसे आप भगवान्‌का नहीं समझते होंगे। प्रेमास्पदका नाम और प्रेमास्पदका ही कार्य समझ लेनेके बाद तो जितना उनकी रूपमाधुरीमें मन लगता है, उतना ही नाम और कार्यमें भी लगना चाहिये, क्योंकि नाम और कार्य भी तो उन्हींके हैं, जिनका रूप है, फिर भेद क्या?

(६) आपने पूछा कि यह भावुकता बंद कैसे हो तो क्या आप इसे छोड़ना चाहते हैं? क्या भूख-प्यासको रखना आवश्यक है? इन प्रश्नोंपर आप गम्भीरतासे विचार करें।

(७) आपके परिवारमें मतभेद है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि सबका स्वभाव, विश्वास, रुचि और योग्यता आदि समान नहीं होते। इस कारण मान्यतामें भेद होना अनिवार्य है तथा उसके अनुसार साधनमें भेद होना भी आवश्यक है, पर मतभेदको लेकर झगड़ा या मनोमालिन्य नहीं होना चाहिये। यदि होता है तो यह बेसमझी है, इसे अवश्य मिटा देना चाहिये।

मूर्तिपूजा करना और निराकारका स्मरण-ध्यान करना—दोनों ही वेदसम्मत हैं, निषेध किसीका नहीं है। अधिकारिभेदसे दोनों साधन हैं।

जिसका यह विश्वास है कि मूर्ति भगवान्‌का प्रतीक है, इसके द्वारा भगवान्‌की पूजा होती है और इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसके लिये मूर्तिपूजा लाभदायक है। क्योंकि वह परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी है, उसके हाथ, पैर, कान और सिर आदि सर्वत्र हैं (गीता १३।१३—१८)। वेदमें भी कहा गया है कि वह बिना पैरके चलता है, बिना कानके भी सुनता है इत्यादि।

इसी प्रकार जिनका यह विश्वास है कि वह परमेश्वर निराकार और सर्वव्यापी है, उसकी मूर्तिपूजा करना आवश्यक नहीं है, वह तो केवल स्तुति प्रार्थनासे ही प्रसन्न होता है। उनके लिये वैसा ही करना ठीक है। अभिप्राय यह है कि अपनी-अपनी मान्यता, विश्वास और योग्यताके अनुसार साधनमें लगे रहना चाहिये और एक दूसरेके साधनको आदरकी दृष्टिसे देखना चाहिये, किसीको भी किसीकी मान्यताको न तो हेय या निकृष्ट कहना चाहिये और न वैसा मानना ही चाहिये और न उसे अप्रामाणिक ही बताना चाहिये। वेद और शास्त्रोंमें अधिकारिभेदसे सब प्रकारकी साधन-प्रणालीका समर्थन मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

(८) पुराणोंपर विश्वास करना या न करना—यह तो विश्वास करनेवालेकी इच्छापर निर्भर है। पर विश्वास न करनेवालेको भी यह कहनेका कोई अधिकार नहीं है कि पुराण पाखण्ड हैं, इसी प्रकार शनि, रवि आदि ग्रहोंके विषयमें ही समझ लेना चाहिये। हाँ, यह बात दूसरी है कि ढोंगी लोग पुराणोंका आधार बनाकर या ज्यौतिषशास्त्रका आश्रय लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये लोगोंमें अनेक प्रकारका झूठ प्रचार करे

और लोगोंको ठगते रहें। इस प्रकारका ढोंग तो वेदके नामपर, सुधारके नामपर, कांग्रेसके नामपर और गांधीजीके नामपर भी करनेवालोंकी कमी नहीं है।

(९) सभी मत-मतान्तरोंमें गुण-दोष दोनों ही रहते हैं और हैं। साधकके लिये तो यही ठीक मालूम होता है कि जिस मतकी जो बात उसे धर्मानुकूल, प्रिय, रुचिकर, हितकर और निर्दोष प्रतीत हो, उसपर विश्वास करके उसके अनुसार अपना जीवन बनाये, दूसरेको बुरा न समझे, किसीकी भी निन्दा न करे, किसीका दिल न दुखाये, दोष अपने देखे और उनकी वृद्धि न होने दे, गुण दूसरोंके देखे और उनको अपनाये। इसीमें उसका, उसके साथियोंका और सबका ही हित है।

(१०) मुझमें न तो आदेश और उपदेश देनेकी सामर्थ्य है और न मेरा अधिकार ही है। मैं तो अपने मित्रोंको जैसी ठीक और हितकर ज्ञात होती है, सलाह दे दिया करता हूँ। मानना और न मानना उनकी इच्छापर है। मैं किसी भी मतको बुरा बताने या त्याज्य बतानेका अपना अधिकार नहीं मानता।

(११) मुखसे नामजप न होकर भी यदि ईश्वरके ध्यानमें मन लगता है, उसमें आनन्द आता है, शान्ति मिलती है, तो मुक्ति न मिलनेकी कोई बात नहीं है। पर जिस ईश्वरके रूपका आप चिन्तन करते हैं या चिन्तन होता है, उसका कुछ-न-कुछ तो नाम भी आप मानते ही होंगे, फिर यह कैसे कह सकते हैं कि नामका स्मरण नहीं होता ? नाम और रूप तो दोनों स्वभावसे ही साथ रहनेवाले हैं। नामजपका सुलभ उपाय भी नाम और रूपमें भेद न मानना ही आपके लिये उचित प्रतीत होता है।

(१२) शरीर निष्प्राण हो जानेके विषयमें तो ऊपर लिखा ही गया है। आपने पूछा—प्रभुका साक्षात्कार कब होगा ? इसका उत्तर तो यही हो सकता है कि जब आप किसी भी अवस्था और परिस्थितिमें बिना उनके प्रत्यक्ष दर्शनोंके चैनसे नहीं रह सकेंगे, उसी समय दर्शन हो जायँगे। इसके लिये कोई समय निश्चित नहीं होता तथा ईश्वर-साक्षात्कारका उपाय उपवास आदि नहीं है, उनके दर्शन तो एकमात्र 'ऐकान्तिक चाहसे ही होते हैं।

(१३) एकान्तका अच्छा लगना कोई बुरी बात नहीं है। सब ईश्वरके ही हैं, या सबमें ईश्वर है अथवा सब ईश्वरस्वरूप है—इनमेंसे कोई एक भाव दृढ़ होनेपर सबसे हिल-मिलकर भी ध्यानमग्न रह सकते हैं—ऐसा मेरा विश्वास है।

(१४) आपको विवाहसे सुख नहीं मिला, तो क्या हानि है। विवाह आपने किसलिये किया था—कर्तव्यपालनके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये या सुख-भोग प्राप्त करनेके लिये ? इसपर विचार कीजिये।

पत्नीका भोजनके लिये अनुरोध करना कोई बुरी बात नहीं है, ध्यानमें बाधा तो आपकी ही कमजोरीसे पड़ती होगी ? दूसरा कोई भी किसीके ध्यानमें बाधा कैसे डाल सकता है ? आपकी पत्नी आवश्यक सामान यदि आपसे न माँगे तो किससे माँगे ? यदि उसकी माँग उचित हो तो उसे पूरा करना आपका कर्तव्य है। और यदि अनुचित हो तो समझाकर संतोष करा देना चाहिये। यदि वह क्रोध करती है तो भूल करती है, पर आपको तो क्षमा ही करना चाहिये। उसकी भूल-की ओर न देखकर अपनी भूलोंका सुधार करना चाहिये।

आवश्यक समझ लेनेके बाद भूल मिट जाया करती है। यदि कर्तव्य-पालन भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही करना है तो ध्यानमें और उसमें भेद ही क्या है ?

आप गीतापाठ करते हैं और पत्नी आपकी पुस्तक छीनकर व्यर्थ बातें करती है तो ऐसा वह क्यों करती है ? इसका कारण समझना चाहिये और उसकी उचित इच्छाको भगवान्‌के नाते पूरा कर देना चाहिये, स्वयं उससे किसी सुख-भोगकी आशा नहीं करनी चाहिये। व्यर्थ बातोंमें यदि आपका आकर्षण नहीं होगा तो वह क्यों और कैसे करेगी ?

जो कुछ परेच्छा और अनिच्छासे होता है, उसमें ईश्वरकी कृपा तो अवश्य है, साधककी समझमें न आये यह हो सकता है।

घर छोड़नेका संकल्प मनका धोखा है। जो मनुष्य परिस्थितिका दास है, वह परिस्थिति बदलकर कैसे उन्नति कर सकता है।

(१५) परिवारका पालन यदि कोई एक व्यक्ति करता है और उसका भार यदि वह अपनेपर मानता है तो वह भगवान्‌का भक्त या साधक नहीं हो सकता। भगवान्‌के भक्तको तो समझना चाहिये कि समस्त परिवार भगवान्‌का है। वे ही सबका भरण-पोषण करते हैं, मैं भी उन्हींमेंसे एक हूँ। वे जिस कार्यमें जिसको निमित्त बना देते हैं, वही बन जाता है। अतः वह न तो यह अभिमान रखता है कि मैं सबका भरण-पोषण करता हूँ, न यह अभिमान रखता है कि मेरी योग्यतासे आय होती है और

इससे सबका भरण-पोषण चलता है। वह तो ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन करता है, उसके विधानका आदर करता है और जो कुछ मिलता है, उसीको प्रसादके रूपमे ग्रहण करके मस्त रहता है। उसे रोटीका प्रश्न कैसे विक्षिप्त कर सकता है। आप यदि अपनेको मनुष्य मानते हैं तो मनुष्यके कर्तव्यका पालन करें, भक्त मानते हैं तो भक्तके कर्तव्यका पालन करें, साधक मानते हैं तो साधकके कर्तव्यका पालन करें—वह भी ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये, किसी प्रकार-के सुख-भोगकी कामनासे नहीं।

(४)

सादर विनयपूर्वक प्रणाम। आपका पत्र ता० १८। ६ ५६ का लिखा हुआ यथासमय मिल गया था। समय कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें देर हुई इसके लिये क्षमा करें।

आपने परमार्थ पत्रावलीमें कही गयी एक बातपर एक सज्जनसे सुनी हुई टिप्पणी लिखी और उसका समाधान पूछा, उसका उत्तर नीचे लिखा जा रहा है—

मैंने पत्रमें जो कुछ लिखा है, वह व्यक्तिगत परामर्शके रूपमे लिखा है। किसी भी धर्मपर आक्षेप करनेके उद्देश्यसे नहीं। इस बातको नहीं भूलना चाहिये, क्योंकि किसी भी धर्मपर आक्षेप करके उस धर्मकी प्रेरणाके अनुसार साधन करनेवालोंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न कर देना या द्वेष या घृणा उत्पन्न करना किसी भी सद्भाव रखनेवाले मनुष्यके लिये हितकर नहीं है।

उत्तर इस प्रकार है—

'सत्‌शास्त्र कसौटी' के प्रसङ्गमें जो यह बात कही गयी है कि जीवको आवागमनके जालसे छुड़ानेवाले शास्त्र ही सत् शास्त्र हैं, इसमें किसीका भी मतभेद नहीं हो सकता।

जिस शास्त्रमें राग द्वेष, मोह-ममता, मद-अहकार, हिंसा-प्रतिहिंसा, काम-क्रोध आदि दुर्भावोंका निषेध किया गया हो तथा इनको मिटानेवाले वैराग्य, क्षमा, दया, सयम आदि भावों-का समर्थन किया गया हो, जिसमें वस्तुके स्वरूपका वर्णन करके उसका तत्त्व समझाया गया हो, जिसमें सबके लिये कल्याणकारी उपदेश हों, उसके शास्त्र होनेमें भी किसीका कोई विरोध नहीं है, पर राग द्वेषसे रहित होकर—लाभ-हानि, जय-पराजयमें सम होकर कर्तव्यरूपसे अपने-अपने वर्ण-आश्रमके विधानानुसार कर्तव्य-पालनके लिये युद्ध आदि करना कैसे मुक्ति देनेवाला है और वह किस प्रकार मनुष्यको अपने परम लक्ष्यकी प्राप्ति करा सकता है, इस रहस्यको समझानेवाला शास्त्र भी परम आवश्यक सत् शास्त्र है—यह भी समझनेका विषय है।

इस भावको समझानेवाले और भगवान्‌में प्रेम कराकर ससारके मोह-जालसे छुड़ानेवाले शास्त्रोंका महत्त्व किसीकी समझमें न आये, यह दूसरी बात है। पर वास्तवमें वे शास्त्र आसक्तिको बढानेवाले नहीं हैं, राग द्वेषको मिटाकर समता और निर्दोष स्वार्थरहित प्रेम प्रदान करनेवाले हैं।

जो रागी, द्वेषी, क्रोधी, कपटी, मोही एव अज्ञ पुरुषोंद्वारा रचे गये हों, वे शास्त्र अवश्य ही मानने योग्य नहीं हैं। इस कसौटीपर खरे उतरनेवाले श्रीमद्भगवद्गीता, पातञ्जलयोग दर्शन, ब्रह्मसूत्र, ईशावास्यादि उपनिषद् इत्यादि बहुत-से आर्ष-ग्रन्थ हैं। आप पढना चाहें तो गीताप्रेससे मँगवा सकते हैं।

इनके सिवा जो पुराण और इतिहासके ग्रन्थ हैं, उनमें तो धर्मका तत्त्व समझानेके लिये सभी प्रकारके चरित्रोंका वर्णन है। बुरे कर्मोंका बुरा फल और अच्छेका अच्छा फल दिखानेके लिये ही उनका प्रणय हुआ है।

'परधर्मो भयावह.' इसका अर्थ जो मैंने किसी सज्जनको लिखा है, न तो स्वार्थवश लिखा है और न उन्हे डरानेके लिये ही। इस प्रकार किसीकी भी नीयतपर दोषारोपण करना कहाँतक उचित है और कहाँतक साधुता है। इसपर तो आपको इस प्रकारकी बात कहनेवाले सज्जन स्वय विचार करें।

इसके विषयमें आपको जो यह समझाया गया है कि इन शब्दोंद्वारा अर्जुनको डराया गया है, वह ठीक नहीं है। यह वाक्य गीता अध्याय ३। ३५ का अश है, जिसके पूर्वश्लोकमें राग-द्वेषको शत्रु बताया गया है एव इसपर अर्जुनके पूछनेपर काम-क्रोधको पापकर्मका कारण बताकर अध्याय-समाप्तितक कामका नाश करनेके उपाय बताये गये हैं। प्रकरण देखनेसे यह पता लग सकता है। आपको भी तो प्रभुने विवेक शक्ति प्रदान की है। उस स्थलको आप भली प्रकार समझिये।

स्वधर्म और परधर्मका अर्थ किसी सीमामें नहीं बाँधा जा सकता। जिस व्यक्तिका उसके वर्ण, आश्रम, परिस्थिति, स्वभाव, स्वीकृति, सम्प्रदाय और सम्बन्ध आदिकी दृष्टिसे जो कर्तव्य है, वही उसका स्वधर्म है एव उसके विपरीत पर-

धर्म है। परधर्म देखनेमें सुन्दर होनेपर भी हितकर नहीं होता। यह भाव समझानेके लिये ही उसे भयावह कहा गया है। इस प्रसङ्गमें गीता अध्याय ३ का श्लोक ३५ तथा अध्याय १८ के ४५, ४६, ४७, ४८ आदि सभी श्लोक देखनेयोग्य हैं। गीता तो स्वधर्मको ही परमसिद्धिका सुगम उपाय मानती है।

प्रत्येक व्यक्तिका प्रत्येक अवस्थामें, यदि वह उसका सदुपयोग करे तो, कल्याण हो सकता है, उसे सहजमें ही इस वर्तमान कालमें ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह उनको स्वीकार न हो, तो उनकी इच्छा है, तथापि वे अपने धर्मका ठीक-ठीक पालन करें, दूसरोंसे राग-द्वेष न करें, किसीकी निन्दा न करें, तो उनको उसी धर्मसे अपना अभीष्ट मिल सकता है—ऐसा उनको विश्वास रखना चाहिये।

(५)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिल गया था। अवकाश कम मिलनेके कारण उत्तर देनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये किसी भी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

महाभारतमें कहीं भी ऐसा कोई प्रसङ्ग देखनेमें नहीं आया, जिसमें अर्जुन कर्णसे मुकुट माँगकर लाये हों अथवा भीष्मजीको धोखा देनेके लिये कर्ण बनकर गये हों तथा भीष्मजीने पाँचों पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की हो, इत्यादि। अतः यह मानना कि भगवान् श्रीकृष्ण किसीको धोखा-धड़ी करना सिखाते हैं, उचित नहीं। भगवान् जो कुछ सिखाते हैं, वह सब श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट है। इसके विरुद्ध कोई बात माननेयोग्य नहीं हो सकती।

भगवान् श्रीरामने वालीके अत्याचार और अधर्मका नाश करनेके लिये ही उसे मारा था, द्वेषवश नहीं। उन्होंने मारकर भी उसे अपने परमधाममें भेजा, उसका कोई अहित नहीं किया। पशुओंको छिपकर मारना धोखेबाजी नहीं है। अत्याचारी हिंसक जीवोंसे प्रजाकी रक्षा करना तो क्षत्रियोंका धर्म है।

वालीने सुग्रीवके जीते-जी उसकी इच्छाके बिना बलपूर्वक उसकी स्त्रीको अपने अधीन कर लिया था, इसलिये उसका वह अन्याय था। पर विभीषणने मन्दोदरीको और सुग्रीवने ताराको अपने कुलकी प्रथाके अनुसार किसी प्रकारके बलका प्रयोग किये बिना उनकी सम्मतिसे स्वीकार किया था, इसलिये वह अन्याय नहीं था। तब भगवान् उसका विरोध कैसे करते।

कल्याणमें जो प्रारब्धानुसार सुख-दुःख मिलनेकी बात कही गयी है, वह सामान्य प्रचलित नियमकी बात है तथा रामायणमें जो यह कहा गया है—'मेटत कठिन कुअंक भाल के' और 'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी' वह भगवान् और शिवजीके विशेष प्रभावका वर्णन है। इसलिये दोनों ही ठीक है। मनुष्य अपने बलसे भावीको नहीं मिटा सकता—इस कथनसे भगवान्की शक्तिका खण्डन नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रारब्धका काम तो परिस्थितिको उत्पन्न कर देनेतक ही सीमित है, फिर उसका सदुपयोग करके सुख और शान्तिको लाभ करनेमें अथवा दुरुपयोग करके दुःख और अशान्ति मोल लेनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

किसीके द्वारा हठात् अपमानित किया जाना, गालियोंसे तिरस्कृत होना अवश्य ही उस अपमानित अथवा तिरस्कृत व्यक्तिके पूर्वकृत कर्मका ही भोग है। अतः वह यदि अपराध करनेवालेको क्षमा कर दे, उसका बदला लेना न चाहे, तो उसकी यह साधुता है। इसमें उसका कोई अहित नहीं है। नहीं तो अपराधीको न्यायानुसार दण्ड मिलेगा ही।

यदि कोई उस अत्याचारीका हित सोचकर नीतिकी रक्षाके लिये न्यायपूर्वक उसके अत्याचारका विरोध भी करे तो बुराई नहीं है, पर क्षमा-धर्म इससे अधिक महत्त्व रखता है।

भगवान् स्वयं भी प्रकट होकर प्राणियोंके कर्मोंका फल भुगताते हैं, दैवी-प्रकोप, महामारी, अकाल आदिके द्वारा भी पापोंका फल देते हैं तथा दूसरे प्राणियोंद्वारा भी दिलाते हैं। ये सब बातें सबकी समझमें नहीं आतीं। सत्प्रेरणा और असत्प्रेरणा भगवान्की सत्तासे पूर्वकृत सञ्चित कर्मसंस्कारोंके अनुसार होती है। सत्प्रेरणाका आदर करना, उसे प्रभुकी कृपा मानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना और प्रभुकी कृपासे मिले हुए विवेकसे असत्प्रेरणाका बुरा परिणाम समझकर उसका त्याग करना—यह साधकका काम है। विवेकके द्वारा सत्प्रेरणा और असत्प्रेरणाको समझनेकी शक्ति प्रभुने दी है, अतः उनका सदुपयोग करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है।

आपको 'कल्याण' पढ़नेसे लाभ होता है, यह बड़ी अच्छी बात है। प्रभुकी कृपा है, आपका सद्भाव है। 'कल्याण'को तो एकमात्र भगवान्की कृपाका ही आश्रय है।

भगवान्‌के साथ सम्बन्ध-स्थापना

(लेखक—प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

भगवान्‌के साथ कोई-न-कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध अवश्य स्थापित करो। भक्तिमार्गमें यही सबसे आवश्यक वस्तु है। परमात्माके साथ जीवात्माका, भगवान्‌के साथ भक्तका, कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित होना ही चाहिये। यदि यह बात नहीं तो हम साधनाके मार्गपर अग्रसर क्योंकर हो सकते हैं। जितने सम्बन्ध एक व्यक्तिके दूसरे व्यक्तिके साथ हो सकते हैं जो सम्भावनाकी कोटिमें आते हैं, उन सबका समावेश उस जगन्नियन्ताके भीतर है। वह साधकके लिये क्या नहीं है? भगवद्गीताके शब्दोंमें—

> गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
>
> (९।१८)

—यह तो उपलक्षणमात्र है। इस श्लोकपर ध्यान देनेसे उसके कतिपय प्रख्यात रूपोंका परिचय हमें होता है। भगवान् ही लक्ष्य है—जहाँ जीवको गमन करना आवश्यक होता है (गति); वह विश्वका भरण तथा पोषण करता है (भर्ता), वह विश्वका शासन करता है (प्रभुः)। वह प्राणियोंके कृताकृत कर्मोंका द्रष्टा है (साक्षी)। विश्व उसीमें वास करता है (निवास)। वह आर्त पुरुषोंकी आर्ति तथा पीड़ाको सर्वथा दूर कर देता है (शरणम्)। वह ऐसा उपकारी है, जो प्रत्युपकारकी तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता (सुहृत्)। विश्वकी उत्पत्ति उसीसे है (प्रभव) तथा अन्तसमयमें यह विश्व उसीमें लीन होता है (प्रलय.)। जगत्‌की स्थिति तथा अधिष्ठान वही है, उसीमें स्थित होनेसे इस मायिक जगत्‌की सत्ता है (स्थानम्)। प्राणियोंके कालान्तरमें उपभोग करनेयोग्य कर्मोंका भण्डाररूप भी वही है (निधानम्) तथा उत्पत्तिशील वस्तुओंकी उत्पत्तिका अविनाशी कारण भगवान् ही है (अव्यय बीजम्)। इस प्रकार भगवान्‌के नाना प्रकारकी अभिव्यञ्जना इस श्लोकमें की गयी है।

भगवान्‌के प्रति अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धभावोंकी सम्भावना है। भगवान्‌को यदि हम बहुत दूरकी वस्तु समझते हैं जिसका सम्बन्ध जीवोंके साथ साक्षात्‌रूपसे नहीं है, तो सचमुच उसका उपयोग ही हमारे लिये क्या है? भगवान्‌की सत्तामें पूर्ण विश्वास तो आस्तिकताकी दृढ आधार-शिला है, परन्तु इस विश्वास तथा श्रद्धासे ही साधकका काम नहीं सरेगा, उसे चाहिये कोई ठोस अभ्रान्त सम्बन्धकी नियमित स्थापना। जितने वैयक्तिक सम्बन्ध एक मनुष्यके दूसरे मनुष्यके साथ हो सकते हैं, उनमेंसे किसी एक सम्बन्धकी भावना भगवान्‌में भी रुचि-अनुसार साधकको करनी चाहिये। कतिपय सम्बन्धोंकी रूपरेखा यहाँ दी जा रही है।

सबसे प्रथम भावना है—स्वामी-सेवककी, प्रभु-दासकी। भगवान् स्वामी हैं, जगदाधार ईश अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके नायक हैं तथा साधक उनका सेवक तथा दास है—भक्तिकी यही आरम्भिक भावना है, जिसमें भगवत्तत्त्वके ऐश्वर्यपक्षका आश्रय कर जीव साधना-मार्गमें अग्रसर होता है। इस मार्गके सर्वश्रेष्ठ साधक हैं—भक्तप्रवर मारुतनन्दन हनुमान्। श्रीहनुमान्‌जीका हृदय दास्यभावसे ओतप्रोत था। भगवच्चरण-की एकान्त निष्ठा तथा तूष्णींभावसे उपासना श्रीहनुमान्‌जीके साधन-मार्गकी विशिष्टता थी। श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र-का उन्होंने इतना उपकार किया, उनके कार्योंकी सिद्धिके लिये इतनी निष्ठा दिखलायी कि श्रीरामको भी बलात् कहना पड़ा था—

> मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
> नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
>
> (वाल्मीकि, उत्तर ४०। २४

'हे हनुमान्‌जी! आपने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मेरे साथ ही समाप्त हो जाय, उसका बदला चुकानेका अवसर ही मेरे जीवनमें न आये। वह इतना महान् था कि उसका प्रत्युपकार हो ही नहीं सकता था। क्योंकि विपत्ति पड़नेपर ही मनुष्यकी उपकृतसे प्रत्युपकार पानेकी स्थिति होती है।'

दूसरी भावना है पिता-पुत्रकी। भगवान् हमारे पिता हैं और हम उनकी सन्तान हैं। यही बहुल भावना है। इस भावनाका विपर्यय भी कभी-कभी देखा जाता है, जब साधक अपनेको पिता और भगवान्‌को ही पुत्र मानता है जैसे नन्दजी तथा वसुदेवजीकी भावना, परन्तु यह बहुत ही विरल है। इसी भावनासे मिलती-जुलती भावना है—माता-पुत्रकी। भगवान् हमारी माता हैं और हम उनके पुत्र हैं। शाक्तोंकी उपासना इसी कोटिमें आती है। जो साधक शक्तिमान्‌की अपेक्षा

शक्तिकी आराधनापर ही विशेष आग्रह रखते हैं, उनकी यही भावना है। सीता तथा लक्ष्मी, पार्वती तथा दुर्गाकी आराधनामें यही भाव अपनी प्रबल कोटिपर विद्यमान रहता है। भगवान्‌के साथ अधिक परिचय होनेपर ही इस भाव-साधनाका उदय होता है। दास्यभावमें वह ऐश्वर्यमण्डित होनेसे समादरका भाजन विशेषरूपसे रहता है; इस भावनामें भी उसमें ऐश्वर्य रहता है अवश्य, परंतु वह प्रेमसे स्निग्ध रहता है। प्रभुके सामने हम न्यायकी भिक्षा माँगते हैं, परंतु माता-पिताके सामने प्रेमकी, दुलारकी। इस प्रकार यह साधना एक कोटि आगे बढ़ी हुई प्रतीत होती है। पितासे भी हम भय खाते हैं, अपराध करनेपर दण्डके डरसे काँपते रहते हैं; परंतु माताके सामने तो करोड़ों अपराधोंके करनेपर भी हम डरते नहीं। इस भावमें भक्त अपने व्यक्तित्वको भुलाकर अपने-आपको माताकी गोदमें सुला देता है तथा उसके चरणोंमें अपनी आत्माको रखकर पूर्ण निश्चिन्तताका अनुभव करने लगता है। दयामयी माताका प्रेम पुत्रके लिये पिताकी अपेक्षा अधिक होता ही है और इसीलिये तो शास्त्र माताका स्थान पिताकी अपेक्षा दसगुना अधिक मानते हैं—'पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते'। इन दोनों भावनाओंमें भगवान्‌को गुरुकोटिमें रखा गया है।

तीसरी भावना है—सख्यभावकी। भगवान् हमारे सखा हैं और हम भी उनके संगी-साथी हैं। दोनोंमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है। दोनों आपसमें अपने रहस्योंका, छिपी बातोंका प्रकटन खुलकर करते हैं। इस भावमें हम भगवान्‌को समानताकी कोटिपर उतार लाते हैं। इस भावनाका उत्कृष्ट उन्मेष हम सुदामाजीमें पाते हैं। कृष्ण और सुदामाने एक ही वृक्षका आश्रय अपने छात्रावस्थामें लिया था। यह 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' श्रुतिका ही व्यावहारिक निदर्शन है।

चौथी भावना है—पति-पत्नीकी। भगवान् हमारे प्रियतम हैं और भक्त उनकी प्रियतमा है। इसमें भगवान्‌के पूर्ण माधुर्यकी अभिव्यक्ति होती है। इसका समर्थ उदाहरण व्रजाङ्गनाओंकी भक्तिभावनामें दृष्टिगोचर होता है। इसके विपर्ययकी भी सम्भावना है, जिसमें भक्त अपनेको तो प्रेमिक तथा भगवान्‌को प्रियतमा मानता है। इस भावनाका विकास भारतवर्षकी उपासना-पद्धतिमें कभी नहीं हुआ। यह साधना सूफी लोगोंकी उपासनामें पूर्णरूपसे विराजमान है, भारतमें नहीं। कहना न होगा कि पति-पत्नी-भावकी भावनामें पूर्ण एकताका अखण्ड साम्राज्य है, अनेकता पिघलकर एकताके रूपमें पूरे तौरपर मिल गयी है और द्वैतकी कल्पनाके लिये तनिक भी स्थान नहीं है। सख्यभावमें पृथक्ताके लिये स्थान अवश्य था; वह सर्वथा यहाँ किंचित् दूर भग जाती है और अखण्ड अभिन्नताकी भावना भक्तके हृदयको आनन्द-सागरमें डुबा देती है।

पूर्वोक्त भावनाओंके क्रमिक विकासपर ध्यान दीजिये। प्रथमतः आदिम दोनों भावनाओंमें भेदका राज्य रहता है, तृतीयमें समानताका तथा अन्तिममें एकान्त अभेदका। अलंकारशास्त्रकी दृष्टिसे भी इसे विशद किया जा सकता है। उपमा, रूपक तथा अतिशयोक्ति—इन प्रख्यात अलंकारोंका जीवन या सार कहाँ है? उपमा उपमान तथा उपमेयके भेदपर आधारित रहती है; रूपकमें उपमान तथा उपमेयका पूर्ण साम्य रहता है; परंतु अतिशयोक्तिमें जहाँ उपमेयका उपमानके द्वारा पूर्ण निगरण हो जाता है—पूर्ण अभेद हो जाता है। 'चन्द्र इव मुखं सुन्दरम्' (चन्द्रमाके समान मुख सुन्दर है) भेदप्रधान उपमा है, 'मुखं चन्द्रः' रूपक है, परंतु जहाँ मुखका सर्वथा तिरस्कार करके 'चन्द्रोऽयम्', यह चन्द्र ही है, यह भावना जाग्रत् होती है—वहीं अतिशयोक्तिका वैभव विराजता है। संक्षेपमें इन भावनाओंका यह रूप होगा—

दास्यभाव, पुत्रभाव	...	भेद	.	उपमा
सख्यभाव	..	समानता	..	रूपक
माधुर्यभाव	...	अभेद	..	अतिशयोक्ति

विचार करनेसे ये ही भाव प्रधान प्रतीत होते हैं। इनके अवान्तर भेद भी अनेक हैं और हो सकते हैं, परंतु जितने अन्य भावोंकी कल्पना की जा सकती है, उन सबका समावेश इन्हींके भीतर किया जा सकता है। भक्तिमार्गकी यह सोपान-परम्परा क्रमिक तथा सुव्यवस्थित है।

साधकको चाहिये कि इन भावनाओंमेंसे किसी एक भावनाको दृढ़ बनाकर उसीपर स्थिर हो जाय। इसके लिये हृदयको टटोलना पड़ेगा और देखना पड़ेगा कि उसका हृदय किस भावनाके लिये व्याकुल है, किसके लिये तरसता है। जिस मनुष्यके हृदयमें जिस सम्बन्धकी जितनी अधिक लालसा बनी हुई है, उसमें उसी सम्बन्धसे भगवत्प्रेम जागरूक होगा—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। सम्बन्धका चुनाव करना कठिन अवश्य है, क्योंकि इसके ऊपर मनुष्यके वयका भी

बड़ा प्रभाव पड़ा करता है। बालकके हृदयमें माताकी ममता तथा संगी-साथी पानेकी इच्छा प्रबल होती है। युवक प्रियतमाके पानेकी लालसाको हृदयके कोनेमें छिपाये रहता है। वृद्धमें संतानकी अभिलाषा प्रबलतम होती है और वह अपना समस्त अनुराग अपनी संतानके ऊपर उड़ेल देता है। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपर आधारित होनेसे अवश्य उपादेय तथा यथार्थ है, परंतु कुछ ऐसे भी भाव होते हैं, जो स्थायी रूपसे जमे रहते हैं, मनुष्यके हृदयके अन्तरालमें इन्हें ही खोज निकालना चाहिये। विश्वास रखिये—साधक अपने सच्चे भावको भगवान्‌के साथ ज्यों ही स्थापित करेगा, वह साधनामें निस्संदेह अग्रसर होगा। जिस वैयक्तिक सम्बन्धके लिये हमारा हृदय लालायित रहता है और जिसके अभावमें वह वेदना तथा व्यथाका अनुभव करता है, उसी सम्बन्धसे भगवान्‌के साथ प्रेम करना चाहिये। वह प्रेम अवश्य सफल होगा तथा शीघ्र फलद होगा—इसमें हमारे प्रख्यात भक्तोंकी जीवनी पर्याप्तरूपेण निदर्शिका है। इसीलिये साधना-शास्त्रका प्रथम सूत्र है—भगवान्‌के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करो। वह अपना है, उसे अपना बनाकर रखो।

मैं कौन हूँ ?

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

मैं कौन हूँ—यह मैं नहीं जानता। मैं संसारकी प्रायः सभी जाननेयोग्य बातोंसे परिचित हूँ। मैं हाइड्रोजन-बमसे लेकर सूईकी नोकतक पहचानता हूँ, विश्वके धुरन्धर लोगोंसे मेरी बड़ी आत्मीयता है। महात्मा गांधी मुझसे घंटों बातें करते थे। पं० जवाहरलाल नेहरूके पत्रोंके ढेर मेरे मेजपर हैं। उस दिन स्तालिनने मुझसे अपने मनकी बातें कह डालीं, मुसोलिनी मुझसे कई बार मिलने आये थे। हिटलर तो मेरे मित्र ही थे, मैं कई बार प्रधान मन्त्रीके पदको अपना चुका हूँ, ठुकरा चुका हूँ और फिर भी अपना सकता हूँ।

मैंने कपिल तथा कणाद, सुकरात तथा अरस्तू, शॉपनहार तथा ऑस्कर वाइल्ड, रवीन्द्र तथा विनोबाके ग्रन्थ मथ डाले हैं। अपने विद्यार्थियोंको घंटोंतक भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनपर उपदेश देता हूँ, बड़ी-बड़ी सभाओंमें जब मेरा धार्मिक उपदेश होता है, लोगोंके नेत्रोंसे अश्रुकी गङ्गा उमड़ पड़ती है। मेरे चरणोंपर लोटनेवालोंकी संख्या अनगिनत है; जिस रास्ते मैं निकल जाता हूँ, लोग गर्दनें उभार-उभारकर मेरी ओर देखते हैं। मुझे जब यह लगता है कि कितनी आँखें मेरी ओर लगी हुई हैं, उठी हुई हैं, तब मुझे बड़ा गर्व अनुभव होता है, मेरा अहंभाव मेरी छाती फुला देता है।

शासनमें मेरा बड़ा ऊँचा स्थान है, रातने रास्ता छोड़ा नहीं कि मेरे द्वारपर प्रश्रय, सहानुभूति तथा उपकारके भिखारियोंकी टोली तथा गैर-सरकारी चाटुकारोंकी पलटन मुस्तैद खड़ी मिलती है। जब एक साधारण कांस्टेबल भी मुझे देखकर दोनों पैर मिलाकर सलाम 'दागता' है, तब मुझे बड़ा अच्छा लगता है।

कोई कह रहा था कि सबेरे तड़के, जाड़ेमें ठिठुरते-सिसकते जो सरकारी कर्मचारी मेरे स्वागतमें स्टेशनपर आते हैं और मुझे देखकर बनावटी विनम्रतासे सिर झुका लेते हैं, वे बिस्तर छोड़ते समय अपनी पत्नीसे जिस भाषामें मेरे सम्बन्धमें चर्चा करते हैं, वह सुनने योग्य नहीं होती; मुझसे मिलनेवाले जब आशाभरी थाली लेकर आते हैं और मेरे चरणोंपर अपनी आशा उँडेलकर खाली हाथ जाते हैं, उस समय किन मीठे शब्दोंमें मुझे कोसते हुए जाते हैं—इसकी मुझे प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। जब मेरा कोई मित्र ऐसी बातोंका उल्लेख करता है, तब इच्छा होती है कि उसका मुँह नोच लूँ। मैं ऐसी भद्दी बातें सुनना भी नहीं चाहता; मुझे ऐसा लगता है कि जो मेरे पास आते हैं, सभी मेरे मित्र हैं। जो मेरे पाससे जाता है, वह मेरे व्यक्तित्वसे प्रभावित जाता है, चाटुकारिताने मुझे ऐसा अंधा बना दिया है कि मुझे स्वभावतः अपनी आलोचना, निन्दा या बदनामी बुरी लगती है। हमारे सच्चे मित्र कुछ खरी-खरी बातें कह देते हैं, इसलिये मुझे वे भी नहीं अच्छे लगते; मैं अपने पद तथा मर्यादामें, मान तथा आडम्बरमें चूर हूँ। यदि कोई मेरे इस किलेमें दरार पैदा करना चाहता है तो वह मेरा प्रिय नहीं हो सकता।

और इन्हीं भावनाओंकी गठरी लपेटे जब मैं जमीनके कुछ ऊपर-ही-ऊपर पैर रखता हुआ डाकबँगलेके उस कमरेमें, जिसमें घोर अन्धकार था, बिजलीकी बत्ती जलानेके लिये स्विचकी ओर हाथ बढ़ा रहा था, मुझे ऐसा लगा कि

कोई भीमकाय मनुष्य मेरी ओर अपनी डरावनी आँखें फैलाकर पूछ रहा है—

'तुम कौन हो ?'

वर्षोंसे ऐसा प्रश्न किसीने मुझसे नहीं किया था। दस वर्षसे अधिक हुए होंगे कि कुछने कभी पूछा होगा—'आप कौन हैं ?'। पर यह 'तुम कौन हो' तो एक नया, एकदम चकपका देनेवाला अनुभव था। ऐसा कौन है, जो मुझे नहीं जानता हो ? क्या मुझको न जाननेवाले भी इस संसारमें हैं !

अस्तु, प्रश्नकी विचित्रता तथा उस डरावने डील-डौलने मुझे घबरा दिया। मेरा हाथ बत्तीकी स्विचके बजाय पंखेके नगे प्लगपर पड़ गया और फिर तो उँगलियोंने प्लगकी सूराखमें पैठते ही ऐसा झटका खाया कि मेरा सारा शरीर सिहर उठा, झनझना उठा, हाथ-पैर ढीले हो गये और मैं धड़ामसे गिर पड़ा।

मैं गिर पड़ा—पर वह डरावनी सूरत अपना प्रश्न बार-बार दुहरा रही थी—तुम कौन हो ?

स्यात् मेरे गिरनेसे कुछ आवाज हुई होगी। मेरा अर्दली भागता हुआ आया, बत्ती जली, प्रकाश बिखर पड़ा—मैं भी सँभला; पर मेरे कानमें भरे हुए वे शब्द बार-बार गूँज रहे थे—तुम कौन हो ?

(२)

फिर वह सूरत कभी न दिखायी पड़ी। पर उसका प्रश्न जैसे चिरंतन है, स्थायी है और मुझे निरुत्तर कर देनेवाला है। मैं, इतना बड़ा आदमी, अपनेको संसारमें सबसे महान् समझनेवाला व्यक्ति, क्या इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सकता—तुम कौन हो ?

मैं कौन हूँ ? क्या मेरा नाम, मेरा व्यवसाय, मेरा पद, मेरा धन, मेरा यौवन, मेरा रूप—यह सब मेरा परिचय देनेके लिये पर्याप्त नहीं है। पर सब कुछ उत्तर देनेपर भी मैं जब कभी बिस्तरेपर अपनी दिनचर्या लपेटकर सोने जाता हूँ, जब कभी मैं केवल स्वय ही अपने पास रहता हूँ, मेरा मन उसी प्रश्न और उसके उत्तरमें उलझ जाता है—मैं कौन हूँ ? सब कुछ जाननेवाला, ऊँचे-से-ऊँचे चढ जानेवाला यदि नहीं जानता तो केवल यह कि मैं कौन हूँ ? शास्त्र तो कहता है कि बार-बार सोचते रहा करो—'मैं कौन हूँ ?'। पर हम सब कुछ सोच सकते हैं, यही नहीं सोचते और न सोच पाते हैं।

सीधा-सा जवाब दे दूँ कि मैं मनुष्य हूँ—पर ऐसा कोई मनुष्य पैदा ही नहीं हुआ, जो मानव-शरीर धारणकर नष्ट न हुआ हो, जिसका चोला धूलमे न मिल गया हो। मिठाई इसलिये मिठाई है कि वह मीठी होती है। मनुष्य इसलिये मनुष्य है कि वह नष्ट होता है। किसी वस्तुका पूरा परिचय उसके आदि और अन्तको मिलाकर होता है। मैं मनुष्य हूँ, इसलिये मैं धूल हूँ, राख हूँ। इसलिये मेरा जो कुछ भी ठाट-बाट है, वह नष्ट होनेवाला है। यानी सब कुछ मिथ्या है। तब क्या मैं स्वय एक महान् मिथ्या हूँ, झूठ हूँ, असत्य हूँ ? क्या मैं इतनी बड़ी विडम्बना हूँ ?

नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। देखनेमें मैं इतना महान् होकर क्या इतना हेय हूँ ? मैं अपनी इस व्याख्यासे संतुष्ट नहीं हूँ, किसीने मुझे स्मरण दिला दिया कि पक्षीका बच्चा माताकी जिस चोंचसे भोजन पाकर पोसा जाता है, उसी चोंचको अपनी चोंचसे एक दाने अन्नके लिये मारता है—इसलिये कि मायाका पर्दा बीचमें पड़ गया है। क्या मैं भी जो कुछ देख-सुन रहा हूँ, मेरे सम्पर्कमें जो कोई भी हैं। मेरे साथी-सघाती जो भी हैं, सब मायाका पर्दामात्र हैं ? क्या यह प्रेम, यह सम्मान, यह वैभव—सब मिथ्या है ? मिथ्या किसे कहते हैं ? अभावमें भाव नहीं होता, मिथ्याकी भी सत्ता है। मैं हूँ, यह भी सत्य है, मिथ्या हूँ, यह भी सत्य है; मिथ्या भी सत्य है। इसलिये मिथ्या होते हुए भी मैं हूँ, कुछ हूँ अवश्य।

(३)

अथर्ववेद कहता है—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' हम भूमि माताके पुत्र हैं, पर भूमिको हम हिंदू वाराह-भगवान्‌की पत्नी मानते हैं। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इसे सूर्यसे निकला एक शीतलताप्राप्त पिण्ड मानते हैं। दोनों ही दशाओंमें यह सृष्टिकी मौलिक रचना नहीं है—पीछेकी गढत है, हम भी बादकी गढत हैं, प्रारम्भमें तो 'ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्, तस्योपव्याख्यानम्' ही था। इसलिये आज हम अपनेको इतना विशाल क्यों समझ लेते हैं।

पर मेरा यह सोचना भी ठीक है। मैं परब्रह्म हूँ—उसीका अंश हूँ, ससारका सब कुछ मेरा ही रूप है। अतएव मेरा अन्तरात्मा अपनेको सब कुछ समझता है। पर क्या मैं अपनेको उसी रूपमें सबसे महान् समझता हूँ ? बात तो ऐसी लगती है कि हमने सोचना शुरू किया था सर्वव्यापीके रूपमें, पर मायाका पर्दा हमें आगे दूरतक सोचने-देखने-समझने नहीं

देता। हम अपनी ही सीमामें घिर गये, यदि मैं अपनेको ब्रह्म-रूप देखता तो मान-मर्यादामें उलझ न जाता। मैं अपनेको महान् समझनेके साथ ही सबको महान् समझता। अपनेको ही बड़ा तथा अन्येतरको लघु न समझता। पर मैं तो ऐसा हूँ कि अपनेको ईश्वर तथा सबको अपना भक्त बनाना चाहता हूँ।

शिकायत हो सकती है कि मुझसे माँग भी तो बड़ी लबी की जाती है। मैं उसको पूरी नहीं कर सकता। इसलिये लोग मुझसे प्रसन्न नहीं रहते। आजका ससार न जाने क्या-क्या चाहता है। श्रीमेरुतुङ्गाचार्यने आजके युगके मन्त्रीसे यह माँग की है—

अकराद् कुरुते कोषमवधाद् देशरक्षणम्।
देशवृद्धिमयुद्धाच्च स मन्त्री बुद्धिमाञ्श्च सः॥

'बिना कर लगाये राजाका कोष भर दे, बिना वध किये देशकी रक्षा करे, बिना युद्धके राज्यका विस्तार करे, वही मन्त्री बुद्धिमान् है।'

पर क्या आजके वैज्ञानिक युगमें यह सम्भव है? रामको भी रावणका वध करना पड़ा था। तब हम क्या करें कि हमसे लोग अप्रसन्न भी न हों, काम भी हो।

मैं सोचता हूँ कि मैं सब कुछ ठीकसे कर सकता हूँ—यदि मैं इतना ही समझ जाऊँ कि मैं कौन हूँ, मैं उस डरावनी सूरतवाली मृत्युके प्रश्नका उत्तर दे सकूँ कि तू कौन है?

मैं वह हूँ, जो भगवान्‌के विराट्‌रूपमे उनके मुखमें विलीन होनेके लिये बढ रहा हूँ। मैं वह हूँ, जो मरनेके लिये प्रतिक्षण पैर बढा रहा हूँ। मैं वह हूँ, जो प्रकृतिके एक हुकारमें मसल दिया जाऊँगा। मैं वह हूँ, जो विज्ञानके समूचे अस्त्र लेकर भी अपना सहार नहीं रोक सकता। चीनके एक नरेशने अपनेको अमर बनानेके लिये हजारों नवजात शिशुओं-को समुद्रमें फेंक देनेका यज्ञ किया था और यज्ञकी समाप्तितक वह भी समाप्त हो गया। 'कालो न यातो वयमेव याताः।' हमको अपना बिस्तरा लपेटना ही होगा। मैं वास्तवमें कुछ नहीं हूँ—झूठे आडम्बरोंमें फँसा एक कीड़ा हूँ, जिसे कालचक्र पीस देगा। जब स्वय पिस जाना है, तब चार दिनोंके जीवनमे दूसरोंको पीसनेसे क्या लाभ? यह ठाट क्या होगा?

सब ठाट पडा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा?

तो फिर, ऐ मूर्ख मैं! छोड़ अपने अहकारको। नियति सब कुछ करा रही है। तू क्या करता है, कुछ नहीं।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

छोड़ अपना अहकार। जो उचित हो, वह कर ले और उस दिनकी सोच, जिस दिन न तू रहेगा न तेरा सम्मान। व्यर्थकी डींग हॉकना, बकवास करना बद कर; उधर देख, मृत्यु तुझे बुला रही है। जन्म तथा मृत्युके स्वामी भगवान्‌की चिन्ता कर; इस मायामोहमें कुछ नहीं धरा है—फिर सोच ले तू कौन है। फिर सोच लूँ—मैं कौन हूँ?

'मनको उपदेश'

बौरे मन, रहन अटल करि जान्यौ।
धन-दारा-सुत-बंधु-कुटुँब-कुल, निरखि निरखि बौरान्यौ॥
जीवन जन्म अल्प सपनौ सौ, समुझि देखि मन माही।
बादर-छाहँ, धूम-धौराहर, जैसैं थिर न रहाहीं॥
जब लगि डोलत, बोलत, चितवत, धन-दारा हैं तेरे।
निकसत हंस, प्रेत कहि तजिहैं, कोउ न आवै नेरे॥
मूरख, मुग्ध, अजान, मूढ़मति, नाहीं कोऊ तेरौ।
जो कोऊ तेरौ हितकारी, सो कहै काढ़ि सबेरौ॥
घरि एक सजन-कुटुँब मिलि बैठैं, रुदन बिलाप कराहीं।
जैसैं काग काग के मूएँ, काँ-काँ करि उड़ि जाहीं॥
कृमि-पावक तेरौ तन भखिहैं, समुझि देखि मन माहीं।
दीन-दयाल सूर हरि भजि लै, यह औसर फिरि नाहीं॥

मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य

[तीर्थयात्राके समय जूनागढ़में श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण]

(प्रेषक—श्रीसन्मुखराय एस० वसावडा बी० ए०, बी०टी०)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

उपस्थित माताएँ, बहिनें और सम्मान्य सज्जनवृन्द!

सबसे पहले विश्वमय भगवान्‌के चरणोंमें नमस्कार करके मैं आप सबको प्रणाम करता हूँ। हमलोग तीर्थयात्रीके रूपमें आपसे आशीर्वादकी भिक्षा माँगने आये हैं। अतः हमको आपलोगोंसे नीचे बैठना चाहिये था, पर आपलोग नीचे बैठे हैं और हमलोग ऊपर। यह अनुचित है, पर यहाँकी व्यवस्था ऐसी ही है, इसलिये आप मुझे क्षमा करें। मुझे श्रीआचार्य महाराजका छोटा-सा, पर अति सुन्दर प्रवचन सुनकर एक बात याद आ गयी। महात्मा श्रीचरणदासजीने एक जगह लिखा है—एक नगर था। उस नगरमें ऐसी प्रथा थी कि एक वर्ष पूरा हो जानेपर उस नगरके राजाको गद्दीसे उतार दिया जाता था और नये राजाको बैठाया जाता था। पुराने राजाको नावमें बैठाकर नदीपार भीषण वनमें अकेला छोड दिया जाता था। प्रतिवर्ष इस प्रकार होता था। यों कई मनुष्य राजा बने और वर्ष पूरा हो जानेपर जगलमें जाकर दु ख भोगने लगे। एक वर्षतक राज्य-सुख-भोगमें वे इतने आसक्त रहते थे कि उन्हें एक वर्ष बाद क्या स्थिति होगी, इसकी याद ही नहीं रहती थी।

एक बार इसी नियमानुसार एक मनुष्यको राजगद्दी मिली। वह बहुत बुद्धिमान् था। उसने गद्दीपर बैठते ही पूछा—'यह कितने दिनोंके लिये है?' कर्मचारियोंने बताया—'एक वर्षके लिये है।' उसने पूछा—'फिर क्या होगा?' उसको बताया गया कि 'एक वर्ष पूरा होनेके बाद आपसे यह राज्यसत्ता छीन ली जायगी; आपकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि वस्त्र भी उतार लिये जायँगे। केवल एक धोती पहने आपको नदीके उस पार बीहड वनमें अकेले जाना पडेगा। नाववाले आपको वहाँ उतारकर लौट आयेंगे। यही यहाँकी सनातन प्रथा है।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'एक वर्ष तो बहुत है। इतने समयमें तो सब कुछ किया जा सकता है।' उसने राज्यका भार हाथमें लिया और सावधानी तथा ईमानदारीसे न्यायपूर्वक वह प्रजापालन करने लगा, पर एक वर्षकी अवधिको नहीं भूला। उसने अपने व्यक्तिगत सुखोंकी कुछ भी परवा नहीं की। नाच-मुजरे, अभिनन्दन-सम्मान, मौज-शौक, खेल-तमाशे आदि व्यर्थके कार्य सब बद कर दिये और यह आदेश दे दिया कि 'नदीपारका जगल काटकर वहाँ बस्ती बसायी जाय। नगर बने। प्रचुर मात्रामें साधन-सामग्री तथा काम करनेवाले योग्य पुरुष वहाँ भेज दिये जायँ। वर्ष पूरा होनेके पहले-पहले वहाँ सब व्यवस्था ठीक हो जाय।'

इस प्रकार आदेश देकर वह अपना काम सम्हालने लगा। राज्य-सुख भोगनेमे उसने अपना समय नष्ट नहीं किया। किंतु एक वर्ष बाद उसे दु.ख भोगना न पड़े और सब सुख-सुविधा बनी रहे, इसके लिये वह प्रयत्न करता रहा। एक वर्षकी अवधिमे वहाँ जंगलकी जगह एक छोटा-सा सुन्दर देश बस गया। सब सामग्रियाँ वहाँ सुलभ हो गयीं। एक वर्ष पूरा हो जानेके बाद उसको गद्दीपरसे उतार दिया गया। वह तो हँस रहा था। उसको किसी बातकी चिन्ता न थी। वह जब नावमें चढ़कर हँसता हुआ नदीपार जाने लगा, तब नाविकोंने पूछा—और वर्ष तो जो लोग जाते थे, सभी रोते थे, आप कैसे हँस रहे हैं?' उसने कहा—'भाई! वे लोग एक वर्षतक राज्य-सुख भोगते रहे, मौज-मजे करते रहे, विषयानन्दमें निमग्न रहे। उन्होंने भविष्यका विचार नहीं किया। इसीसे वे रोते गये। परतु मैं सावधान था। मैं बराबर

विचार करता रहा कि एक वर्षके बाद तो यह राज्य तथा यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा । इसलिये मैंने सारे व्यर्थ कार्य रोक दिये, सारे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद बद कर दिये और एक वर्षके बादकी स्थिति सँभालनेके लिये प्रयत्न करता रहा । अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि एक वर्षकी राज्यसत्ताका मैंने पूरा लाभ उठा लिया है । इसीलिये मैं हँस रहा हूँ ।'

यह एक दृष्टान्त है । सिद्धान्तमें यह समझना चाहिये कि हमको यह देव-दुर्लभ मानवशरीर एक नियत समयके लिये ही मिला है । नियत समय पूरा होनेपर यह हमसे छीन लिया जायगा और इसके सारे साज-सामान भी यहीं छूट जायँगे । जबतक जीवनका यह नियत काल पूरा न हो जाय, तभीतक मानव-जीवनका पूरा लाभ उठा लेना चाहिये । भगवान्‌का सतत स्मरण करना चाहिये और ससारके प्राणी-पदार्थोंमें मोह न रखकर, यहाँके भोगोंसे विरक्त और उपरत रहकर, पवित्र निष्पाप जीवन बिताते हुए इन्द्रियसयमपूर्वक सबमें भगवद्भाव रखकर सबकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दु.ख न उठाना पड़े । जीवन क्षणभङ्गुर है । पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय ।

एक भ्रमर सायकालके समय एक कमलपर बैठकर उसका रस पी रहा था । इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया । सूर्यास्त होनेपर कमल सकुचित हो जाता है । अत. कमल बद होने लगा, पर रसलोभी मधुप विचार करने लगा—अभी क्या जल्दी है, रातभर आनन्दसे रसपान करते रहें—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥

'रात बीतेगी । सुन्दर प्रभात होगा । सूर्यदेव उदित होंगे । उनकी किरणोंसे कमल पुन. खिल उठेगा, तब मैं बाहर निकल जाऊँगा ।' वह भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाय ! एक जगली हाथीने आकर कमलको डडी-समेत उखाड़कर दाँतोंमें दबाकर पीस डाला । यों उस कमलके साथ भ्रमर भी हाथीका ग्रास बन गया । इस प्रकार, पता नहीं, कालरूपी हाथी कब हमारा ग्रास कर जाय । मृत्यु आनेपर एक श्वास भी अधिक नहीं मिलेगा । मृत्युकाल आनेपर एक क्षणके लिये भी कोई जीवित नहीं रह सकता । उस समय कोई कहे कि 'मैंने वसीयतनामा (will) बनाया है । कागज (Document) तैयार है । केवल हस्ताक्षर करने बाकी हैं । एक श्वास अधिक मिल जाय तो मैं सही कर दूँ ।' पर काल यह सब नहीं सुनता । बाध्य होकर मरना ही पडता है । यह है हमारे जीवनकी स्थिति । अतएव मानव-जीवनकी सफलताके लिये संसार-के पदार्थोंसे ममता उठाकर भगवान्‌में ममता करनी चाहिये । तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार ।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार ॥

हम प्राणी-पदार्थोंमें ममता बढ़ाते हैं, पर यह ममता स्वार्थमूलक है । स्वार्थमें जरा-सा धक्का लगते ही यह ममता टूट जाती है । इसीलिये भगवान् कहते है—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते है—'माता, पिता, भाई, स्त्री, शरीर, धन, सुहृद्, मकान, परिवार—सबकी ममताके धागोंको सब जगहसे बटोर लो । ममताको धागा इसलिये कहा गया है कि उसे टूटते देर नहीं लगती । फिर उन सबकी एक मजबूत डोरी बट लो । उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दो । अर्थात् मेरे चरण ही तुम्हारे रहें, और कुछ भी तुम्हारा न हो । सारी ममता मेरे चरणोंमें ही आकर केन्द्रित हो जाय । ऐसा करनेसे क्या होगा ? देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥

ऐसे सत्पुरुष मेरे हृदयमें वैसे ही बसते हैं, जैसे लोभीके हृदयमें धन । अर्थात् लोभीके धनकी तरह मैं उन्हे अपने हृदयमें रखता हूँ । अतः संसारके प्राणी-पदार्थोंसे ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌में ममता करनी चाहिये ।

भगवान् और भोगमें बड़ा भारी अन्तर है । उनके स्वरूप, साधन और फलके बारेमें मैं आपको सात बातें बताता हूँ—

१—भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है । इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः यह सहज है ।

भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है । प्रारब्ध-कर्मके बिना, चाहे जितनी प्रबल इच्छा की जाय, भोग नहीं मिलते ।

२—भगवान् एक बार प्राप्त हो जानेपर कभी बिछुड़ते नहीं।

भोग बिना बिछुड़े रहते नहीं । उनका वियोग अवश्यम्भावी है, चाहे भोगोंको छोड़कर हम मर जायँ ।

३—भगवान्‌की प्राप्ति जब होती है, पूरी ही होती है; क्योंकि भगवान् नित्यपूर्ण हैं ।

भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी होती है; क्योंकि भोग कभी पूर्ण हैं ही नहीं ।

४—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है ।

भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं ।

५—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें ही शान्ति मिलती है ।

भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ जाती है ।

६—भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है ।

भोगोंमें मन रखते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है ।

७—भगवान्‌को स्मरण करके मरनेवाला निश्चय ही भगवान्‌को प्राप्त होता है ।

भोगोंमें मन रखकर मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है ।

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन ही करे । भगवान्‌का भजन नित्य, अखण्ड और पूर्ण शान्ति देनेवाला है । सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये । यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है । जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमे भगवद्भाव करे । न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं । उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका । आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा । पर प्रभो ! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ ।' इसी प्रकार एक भंगिन-माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार बर्ताव करे । यों ही वकील मवक्किलको, दूकान-दार ग्राहकको, डाक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और इसी प्रकार अपराधी न्याया-धीशको, भगिन उच्चवर्णके लोगोंको, मवक्किल वकीलको, ग्राहक दूकानदारको, रोगी डाक्टरको, मालिक नौकरको, पति पत्नीको, पिता पुत्रको भगवान् समझकर व्यवहार करे, बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे । अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी । भगवान्‌की नित्य-स्मृति

बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकेगा। भगवान्‌ने कहा है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ।'—अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है। अतएव मानव-जीवनका परम कर्तव्य समझकर सभीको भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवामें जीवन बिताना चाहिये।

जूनागढ़ पवित्र तीर्थभूमि है, क्योंकि यहाँ भगवान्‌के परमभक्त श्रीनृसिंह मेहता निवास करते थे। यहाँपर सिद्धोंका निवास-स्थान परम पवित्र गिरनार पर्वत है। ऐसी पवित्र तीर्थभूमिको शतशः प्रणाम और इस भूमिके समस्त निवासियोंको भी प्रणाम। अन्तमें मैं आप सबको प्रणाम करके करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप सब लोग मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि भगवान्‌के पवित्र तथा निष्काम मधुर स्मरणमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। हरिः ॐ तत्सत्।

आर्यसंस्कृति और संस्कृतकी अविच्छेद्यता

(लेखक—स्वामीजी श्रीगोविन्दानन्दजी शास्त्री)

आज संस्कृत भाषाकी अवनतिका अवलोकन हमारे हृदयको दुःखित करता है। आधुनिक भाषाविशेषज्ञोंकी धारणा है कि संस्कृत 'मृत भाषा' है, इसके अध्ययनसे मनुष्य दीन-दुखी और गरीब बन जाता है। इस भाषाकी यह दुःखावस्था देखकर भारतीय धर्मप्राण जनता भी अब अपना दृष्टिकोण बदलने लगी है। विषमताने यहाँतक अपना अधिकार स्थापित कर लिया है कि जो जाति आदिकालसे अध्ययन-अध्यापन करती आयी थी, वह भी आज अपने कर्तव्यको भूल गयी है। जिनकी वंशपरम्परा वैदिक तपोनिष्ठासे परिपूर्ण, संस्कृत भाषामें परिपालित थी और जो स्वयं संस्कृतभाषाके प्रकाण्ड पण्डित हैं, आज अपने पुत्रोंको बड़े उत्साहसे विदेशीय सभ्यता और भाषामें रँग रहे हैं। यह दुःखका विषय तो है ही, साथ-साथ लज्जास्पद भी है। आजकलके सच्चे संस्कृत भाषानुरागीका हृदय भीतर-ही-भीतर किन विचारोंको जन्म देता होगा, कह सकना कठिन है, क्योंकि हम उन विचारोंका प्रकाशन न तो समाचार-पत्रोंद्वारा प्राप्त कर सकते हैं और न किसी औरसे ही सुन सकते हैं। संस्कृत, जो विश्वभरकी सभी भाषाओंकी जननी है, उसके विषयमें लिखते हुए आज हमको लज्जा दबोच लेती है। इस परिस्थितिको देखकर हृदय कभी-कभी दुःखसे अभिभूत होकर बोल उठता है—

> या विश्वाब्धिनिमग्नलोककलुषोद्धारप्रशस्ता स्मृति
> ष्कृत्याकृत्यनिदर्शिका कविकृतिः श्रीरामलकेशयोः ।
> वर्णानां जननादियज्ञविधयो भूता प्रभूता यतः
> सा भाषा भुवनेऽधुना व्रजति हा शून्यं पदं दृश्यताम्॥

> हा हन्त धीधनसमाजमुखाम्बुजस्य
> श्रीरद्य गच्छति विगच्छति धीधनार्के ।
> शोकाश्रुबिन्दुतमसा जगदद्य दृष्टेः
> पन्थानमाश्रयति नैव निमेषमात्रम्॥

भारतकी जातीय सभ्यताके साथ संस्कृतभाषाका नित्य, अविच्छिन्न और प्राणगत सम्बन्ध रहा है और आज भी। स्मरणातीत कालसे भारतीय विद्याविशारदों तथा मनीषियोंने संस्कृतभाषाका अवलम्बन लेकर ही आत्मप्रकाशका विस्तार किया था। इस विशाल महादेशमें समय-समयपर जितने कर्मनिष्ठ, ज्ञानी, भक्त, योगी, साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, इतिहासज्ञ, राष्ट्रनेता, समाजनेता, धर्माचार्य और सङ्गीताचार्य प्रभृतिका उदय हुआ है, उन सबकी विचारधारा और कर्मधारा प्रायः संस्कृतनिष्ठ ही रही। संस्कृतभाषा भारतीय प्राणकी मूर्ति है। जातीयताके विवर्तनके साथ-साथ संस्कृतभाषाने भी नयी-नयी आकृति और प्रकृतिको ग्रहण किया, वह नये-नये अलङ्कारोंसे अलंकृत हुई तथा अभिनव वेष-भूषामें सुसज्जित है। आर्यजातिके दीर्घकालीन जीवनके इतिहासमें कभी-कभी कालके प्रभावसे नाना प्रकारकी प्रतिकूल शक्तियोंके आक्रमणने भारतीय प्राणकी स्वाभाविक स्फूर्तिके विकासमें बाधा डाली है। संस्कृतभाषाकी क्रमिक पुष्टि और स्वच्छन्द प्रवाहको भी ऐसे ही बाधाग्रस्त होना पड़ा, परंतु जिस प्रकार भारतका प्राण कभी भी काल-कवलित नहीं हुआ और न हो ही सकता है, उसी प्रकार संस्कृतभाषा भी कभी अतीतकी भाषा नहीं हुई और न कभी भविष्यमें होगी।

भारतके प्राचीन विद्वानोंने जहाँ मानवके नैतिक-

आध्यात्मिक जीवनकी चरम सार्थकताके सम्पादनके लिये सुगम्भीर एवं उज्ज्वल साध्य-साधनके रहस्यका उद्घाटन किया है तथा संस्कृतभाषामें अनेकों धर्मशास्त्र, मोक्षशास्त्र, योगशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदिकी रचना करके उसे चिरस्थायी और सबल रूप प्रदान किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक अभ्युदयके लिये जड-विज्ञान, राष्ट्र-विज्ञान, यन्त्रादिनिर्माण विद्या, शिल्पविद्या, कलाशास्त्र, भूगर्भविद्या तथा अन्य विविध विद्याओंका निपुणतासहित योग्य अनुशीलन किया है। राष्ट्रिय विप्लवोंमें, साम्प्रदायिक वर्वरतामें अनुशीलनके अभाव तथा अन्यान्य विविध कारणोंमें हमारे अगणित ग्रन्थ या तो लुप्त हो गये या विध्वस्त कर दिये गये। फिर भी आज संस्कृतभाषा विविध ज्ञान-विज्ञानका अटूट भंडार बन चुकी है।

किसी भी प्रकारसे लोककल्याणकारी विषयकी सुनियन्त्रित गवेषणा, आलोचना या उपदेशको संस्कृतभाषामें शास्त्र कहा गया है। संस्कृतके समकक्ष कोई भी ऐसी भाषा आज नहीं है और न संस्कृतभाषाके समान व्यावहारिक और पारमार्थिक विषयोंपर सुसंगतरूपमें कोई भी ग्रन्थ अभीतक अन्य भाषाओंमें लिखे गये हैं।

भारतके गौरवमय युगोंमें संस्कृतज्ञ सुशिक्षित व्यक्तियोंने ही राष्ट्र और समाजकी सुव्यवस्थाके लिये नियमप्रणालीकी रचना की थी तथा निपुणताके साथ समाजको व्यवस्थित किया था। उन्होंने कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदिमें कृतित्व प्रदर्शन किया और नाना प्रकारके प्राकृतिक रहस्योंका उद्घाटन करके लौकिक विज्ञानकी पुष्टि की, जड और पशु जगत्के ऊपर मनुष्यके प्रभुत्वको सिद्ध किया, साथ-साथ प्रत्येक श्रेणीके प्राणीको अपनी-अपनी मर्यादामें सुरक्षित भी रखा था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समाजमें संस्कृत शिक्षा अवश्य कर्तव्यरूपमें थी ही, साथ-साथ अन्तिम वर्ण भी संस्कृत शिक्षासे वञ्चित नहीं थे। जीविका चाहे किसी भी रूपमें क्यों न थी, पर अध्ययन सबके लिये कर्तव्यस्वरूप था। संस्कृतभाषाके बहुप्रचारके कारण इस विशाल महादेशके प्रत्येक प्रान्तकी प्राकृत और ग्राम्यभाषा धर्म और कर्मके आदर्शमें समृद्ध थी। संस्कृतभाषाने ही भारतके श्रेष्ठतम मनीषियोंकी ज्ञान-साधना, भाव-साधना और कर्म-साधनाको सर्वत्र प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें प्रचारित करके भारतवर्षको एक आदर्शमें अनुप्राणित किया, एक भावमें सूत्रित किया और एक ही जातीयताके प्रेम-पाशमें बाँधा, आध्यात्मिक व्यवहारको तो सबके मन और शरीरमें ओतप्रोत किया ही। संस्कृतभाषाने ही भारतके गौरवमय आसनको विश्वभरमें प्रतिष्ठित किया तथा उसे आज भी मलिन नहीं होने दिया।

दुर्भाग्यवश अनेक शताब्दियोंकी राष्ट्रिय पराधीनताके फलस्वरूप संस्कृतभाषाको आज कुछ लोग मृतभाषाके नामसे पुकारते हैं, यद्यपि यह भाव इधर कुछ घटा है। पराधीनताने जिस प्रकार भारतके अखण्ड जातित्वको नष्टकर भारतवासियोंको जातियों और उपजातियोंमें विभक्त कर दिया, उसी प्रकार भारतीय संस्कृतिको भी अतीतमें विलीनकर जीवनधाराको उल्टे मार्गपर ले जानेका प्रयास भी किया है तथा सनातन भारतीय संस्कृतिकी प्रतीक संस्कृतभाषाको भी उसी प्रकार संस्कृतिके शव-देहमें गिनानेकी व्यवस्था की है।

परतन्त्रतामें वैसे तो अनेक दोष हैं, पर सर्वाधिक नाशकारी दोष यह है कि पराधीन देशवासी आत्मश्रद्धाको त्याग देते हैं और अपनी संस्कृतिके प्रति गौरवबुद्धिसे वञ्चित कर दिये जाते हैं। वे अपनी सुसमृद्ध भाषाको मृतभाषा कहकर उपेक्षा वृत्ति धारण करते हैं और विजातीय असमृद्ध भाषाको आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं तथा उसीका अनुसरण करनेकी चेष्टामें दत्तचित्त रहते हैं। दासत्वके निदर्शनको ही वे अलंकाररूपमें ग्रहण करते हैं। भारतने राष्ट्रिय पराधीनतासे देखनेमें तो मुक्ति प्राप्त कर ली है, परंतु जबतक भारतकी संतान अपनी संस्कृतिका गौरवपूर्वक ग्रहण करनेमें अभ्यस्त नहीं हो जायगी, मातृभाषाके प्रति उनमें आन्तरिक अनुराग नहीं बढ़ जायगा, भारतीय संस्कृतिको व्यवहाररूपमें लाना वे लोग नहीं सीखेंगे, तबतक स्वाधीनताकी यथार्थता सिद्ध नहीं हो सकेगी और तबतक भारतका प्राण शृङ्खलाबद्ध भी रहेगा।

भारतकी मातृभाषा संस्कृत विश्वभरकी भाषाओंकी जननी है। संस्कृतज्ञ विद्वन्मण्डली समीचीन भावनाओंको स्वीकार करनेमें असमर्थ हो रही है। संस्कृतके विद्वान् युगकी विदेशीय शिक्षासे प्रभावित, इस लोकको ही सर्वस्व माननेवाले समाजके साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकते। न तो वे संस्कृत भाषाकी सहायतासे वर्तमान जगत्की विचित्र भावधारा, चिन्तनधारा और कर्मधाराका सामान्य परिचय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं और न ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतीय साधना और सभ्यताके विचित्र विकासके सम्बन्धमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेमें ही अभ्यस्त। समीचीन सभ्यताके अनुरूप

भारतीय संस्कृतिको अनुरूप देनेमें भी वे असमर्थ रह रहे हैं।

इन उपर्युक्त कारणोंसे जो विशुद्ध प्राचीन पद्धतिके अनुसार संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्रादिके प्रकाण्ड विद्वान् कहलाते हैं, वे भी धारा आदमके समयके अनुरूप चल रहे हैं। वर्तमान जीवनकी व्यवस्थाके साथ उनके जीवनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि वे निजस्वके प्रतीक होकर समाजमें जीवन यापन करते हैं। आजके जन साधारणकी विचारधारा और कर्मधाराके ऊपर शास्त्रीय ज्ञानके कल्याणकारी प्रभावको अङ्कित करनेके लिये वे न तो कुछ चयन कर रहे हैं और न अर्जन ही। अतएव संस्कृत-शिक्षा की यह अवनति और विद्वानोंकी यह उदासीनता हमारे समाज-के लिये नितान्त अकल्याणकारी प्रतीत हो रही है। भारतीय संस्कृतिके पुनर्जागरणके लिये, भारतकी जातीय स्वाधीनताकी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिये और हिंदू-समाजके पुनर्गठनके लिये संस्कृत शिक्षाकी कालोचित सुव्यवस्था तथा संस्कृत विद्या विशारदोंकी प्रतिष्ठा और प्रभावशालिनी ऋषि-प्रणालीका विस्तार अनिवार्य है। इसके लिये पण्डितमण्डली और पाश्चात्यभाषा विशेषज्ञ संस्कृतसेवकोंको एकसूत्रित करना नितान्त आवश्यक है।

घोराज्ञाननिशाभिभूतमनसो यूयं समे साम्प्रतं
हित्वालस्यतमं प्रवित्त कुशला ससारवृत्तं मनाक्।
या भाषामृतवल्लरीव गदिता देवासुरैर्मञ्जुला
स्कूले सा श्रयतेऽधुनैच्छिकपदं तुच्छं समालोच्यताम्॥

जिस भाषामें प्रकृतिके विचित्र परिणामस्वरूप नये प्रकारके साहित्य, दर्शन, विज्ञानादिकी सृष्टि नहीं होती, जो भाषा विभिन्न कार्योंमें लगे हुए शिक्षाप्राप्त जनसाधारणकी बुद्धि और हृदयकी आवश्यकताके अनुसार समुचित ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ नहीं होती, देश और विश्वके विशाल मानव-समाजकी बहुमुखी विचारधाराके साथ चलकर जो भाषा नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना करके स्वच्छन्द गतिसे प्रवाहित नहीं होती, जो भाषा अनेक विषयोंपर विवेचनात्मक नहीं बन सकती, उसे मृत भाषा कहना कोई विशेष आश्चर्यका विषय नहीं है। संस्कृत भाषाकी सृजन-शक्ति सीमारहित है। मानव-चित्तके सब प्रकारके भावोंको शब्दमयी मूर्ति प्रदान करनेमें इसकी क्षमता असीम है। परंतु विद्याभ्यासियोंके अभावसे, सेवकोंके अभावसे, वर्तमान कालमें इसकी जीवन-शक्तिका परिचय ही दुर्लभ, अप्राप्य तथा विलुप्त-सा हो गया है। जो लोग इसे देवभाषाके रूपमें सम्मानित करते हैं, वे लोग भी पारलौकिक अनुष्ठान आदिके प्रयोजनार्थ ही इसका व्यवहार करके छोड़ देते हैं। दैनिक तथा आत्मिक व्यापारमें इसे प्रयोग करना वे आवश्यक नहीं समझते। जिनका परलोक-में विश्वास नहीं है या जो परलोकके साथ सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहते, वे इस देवभाषाको दूरसे ही प्रणाम कर लेते या इसके प्रति कुत्सित भावनाओंका वमन करते हैं। वे इसकी उन्नतिकी इच्छा भी नहीं करते।

भारतकी जातीय भाषा और संस्कृतिकी संज्ञाहीनताको दूर करनेके लिये देशके सभी प्रान्तों और शिक्षाकेन्द्रोंमें संगठित रूपसे प्रबल चेष्टा की जानी चाहिये। नये-नये ग्रन्थों-की सनातन भारतीय संस्कृतिके आधारपर रचना और प्रचार करनेकी पूर्ण आवश्यकता है। इस कार्यमें उदार धनी-मानी लोगोंकी सहानुभूति और सहायता प्राप्त करनी होगी तथा समाजकोष व राजकोषसे भी संरक्षण और सहायता प्राप्त करनेका पूर्ण प्रयास सफलताकी ओर जानेमें बाधारहित होगा। आजकलकी विपरीत अवस्थामें जो लोग संस्कृतभाषानुरागी हैं तथा जो भारतीय भाषाको पुनः उचित पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं, उनके लिये शीघ्र ही इन विषयोंकी ओर ध्यान देना विशेष आवश्यक है।

जबतक भारत सांस्कृतिक पराधीनतासे मुक्तिको प्राप्त करके आत्मस्थित नहीं होगा, हमारी समझमें तबतक उसका भविष्य भी अन्धकारसे आविष्ट रहेगा। जिस देशका अपना निजस्व प्राण है, निजस्व संस्कृति है और निजस्व गौरवमय अतीत इतिवृत्त है, वह देश यदि अपने-को भूलकर परानुकरणमें प्रवृत्त होता है तो समझना चाहिये कि वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की लोकोक्तिको चरितार्थ करेगा।

केवल विस्तारकी आवश्यकता नहीं, कहनेका अभिप्राय यही है कि अब हमारा देश स्वतन्त्र है, हमें अपनी सभ्यताका निर्माण करना चाहिये, अपनी संस्कृतिका उद्धार करना चाहिये और अपनी सुन्दर और पूर्ण भाषा भी होनी चाहिये।

कालेऽस्मिन् भवतामभीप्सितमिदं जीयाद्धरं संस्कृतं
त्यक्त्वा द्वेषचयं मिथोऽत्र कुशला कार्यं महान्दोलनम्।
काचिद्धाप्यपरा ह्युपायसरणिर्गीर्वाणवाण्युन्नतौ
लोका नाम निशामयन्तु शिवदा भूयाद्धरा भारती॥

परमेश्वरका परिचय

(लेखक—पं० श्रीसीतारामजी झा)

वेद, उपनिषद एवं दर्शनशास्त्रोंमें परमेश्वरके विषयमें कहा गया है—

अणूनामप्यणीयान् यो महीयान् महतामपि ।
निराकारोऽपि साकारो निर्गुणोऽपि गुणान्वितः ॥
चराचरस्य विश्वस्य सृष्टिस्थितिविनाशकृत ।
आदिमध्यान्तहीनोऽसौ विज्ञेयः परमेश्वरः ॥

'जो छोटोंमें सबसे छोटा, बड़ोंमें सबसे बड़ा, निराकार होनेपर भी साकार, निर्गुण होता हुआ भी सगुण, समस्त विश्वका उद्भव पालन प्रलय करनेवाला, आदि, मध्य और अन्तसे रहित है; वही परमेश्वर है ।'

इसी आधारपर आस्तिक दर्शनकारोंने अपने-अपने तर्कके बलसे परमेश्वरके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंका प्रतिपादन किया है । किसीने आकाशको, किसीने वायु आदिको परमेश्वर कहा है; किंतु वेदोंमें आकाशादिकी उत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है—

'महत्तत्त्वसे शब्दतन्मात्रकी, उससे आकाशकी, आकाशसे स्पर्शतन्मात्रकी और उससे वायुकी उत्पत्ति हुई, इत्यादि ।'

इसके सिवा आकाशादिमें अनादित्व आदि सब लक्षण नहीं घटते । इसलिये ज्यौतिष शास्त्रप्रणेता महर्षियोंने उपर्युक्त सब लक्षण कालमें देखकर कालको ही परमेश्वर माना है । भगवान् श्रीकृष्णने भी स्वयं कहा है—

'कालः कलयतामहम् ', 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत प्रवृद्धः' । इत्यादि ।

भगवान् सूर्यने भी अपने सिद्धान्तमें कहा है—

'लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते ॥
प्राणादिः कथितो मूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्तसञ्ज्ञकः ।'

कालके दो भेद हैं—एक तो वह, जो अनादि, अनन्त है तथा महाभूतोंसहित समस्त विश्वको अपनेमें लीन कर लिया करता है । दूसरा कलनात्मक(व्यवहारात्मक) है, वह भी स्थूल और सूक्ष्म-भेदसे दो प्रकारका है । प्राण आदि (प्राण, पल, घड़ी, दिन, मास, वर्ष) स्थूल होनेसे मूर्त (दृश्य रूप) है और त्रुटि आदि (त्रुटिसे विपलतक) सूक्ष्म होनेसे अमूर्त (अदृश्यरूप) कहे गये हैं ।

त्रुटि—तीक्ष्ण सूची (सूई) से कमलपत्रको छेदनेमें जितना काल लगता है, उसको त्रुटि कहा गया है । त्रुटिसे भी छोटे (सूक्ष्म) कालके अनन्त भेद हैं, जो अनिर्वचनीय एवं अज्ञेय (केवल ध्यानगम्य) हैं । उनमें भी जो सबसे छोटा है, वह ईश्वरका निराकार स्वरूप है ।

१३५०० त्रुटिका १ विपल होता है । एक गुरु अक्षर (ॐ) के उच्चारणमें जितना समय लगता है, वह विपल कहलाता है । १० विपलका (१० बार ॐकार उच्चारण-का समय) १ प्राण, ६ प्राण (६० विपल) का १ पल, ६० पलकी १ घड़ी, ६० घड़ीका १ अहोरात्र ३० अहोरात्र-का एक मास, १२ मासका एक वर्ष, ४३२०००० वर्षका १ चतुर्युग, १०००युगका १ कल्प, २ कल्पका ब्रह्माका १ अहोरात्र, उक्त मानसे ३६० अहोरात्रका ब्रह्माका १वर्ष, उस मानसे ब्रह्माकी आयु १०० वर्ष होती है, जो 'महाकल्प' कहलाता है । इतना पता तो आगमसे लगता है, किंतु ऐसे ऐसे ब्रह्मा कितने हुए और कितने होंगे, यह आगम-निगमसे भी अज्ञेय है ।

त्रुटिसे लेकर महाकल्पपर्यन्त जो भगवान् कालके नाना अवयव हैं, वे मनुष्यसे लेकर ब्रह्मादि तकके द्वारा अपने-अपने जीवनभर उपास्य (आराधनीय) हैं । आराधना किस प्रकार की जाय—यह भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने कर्तव्य-पालन विषयक उपदेशमें बताया है—

'कालः कलयतामहम्'—मैं सकल अन्वेषणीय पदार्थोंमें दिन-रात्रिस्वरूप काल हूँ तथा 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'—समस्त चराचरको अपनेमें विलीन करनेवाला महाकाल भी मैं ही हूँ । फिर कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

'इसलिये तुम सब कालमें मेरा स्मरण करो और युद्ध करो ।' अर्थात्—प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि—सभी कालावयवोंको मेरा स्वरूप समझकर स्मरण रखो, कभी भूलो मत और युद्ध (अपना कर्तव्य) करो । कहनेका तात्पर्य यह है कि 'तुम अपने जीवनरूप कालके एक क्षणको भी मत भूलो, बराबर ध्यानमें रखो और जिस समयका जो कर्तव्य है, उसे उसी समयमें किया करो ।' यही स्मरण और आराधनाकी विधि है । इसी बातको भगवान् पुनः स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

'अर्जुन ! जिससे इन समस्त चराचर भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिसने पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नानाविध नैवद्य—अन्न-वस्त्र आदि सब पदार्थ मनुष्योंके लिये बनाये, उसको मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यपालनरूप आराधनासे ही संतुष्ट कर सिद्धिको पाता है ।'

इस प्रकार अपने मुख्य स्वरूपको कहकर भगवान्ने—जगत्-हितार्थ अपने अवताररूप स्वरूपका भी वर्णन किया

है एवं यह भी बताया है कि संसारके चराचर भूतोंमें जितने भी श्रेष्ठ (जनहितकारक) पदार्थ हैं, वे सब भी मेरे ही रूप हैं । इस प्रकार उन्होंने अपनेसे श्रेष्ठका सदा ही आदर करनेका उपदेश किया है । यों भगवान्‌के विविध रूप हैं । उन सबमें भक्ति-श्रद्धा रखते हुए अपने कर्तव्यका पालन ही परमार्थ-साधक है ।

मनुष्योंका कर्तव्य शास्त्रोंमें इस प्रकार प्रतिपादित है—सूर्योदयसे पूर्व उठकर भगवन्नामस्मरण करते हुए शौच-स्नान, सन्ध्या वन्दनसे निवृत्त होकर स्वहित या परहितके लिये, जिस कार्यका जिसके लिये विधान हो, उसे उस कार्यके सम्पादनमें लग जाना चाहिये । जैसे—अध्यापक हो तो अध्यापनमें, विद्यार्थी हो तो अध्ययनमें राजकर्मचारी हो तो अपने-अपने विभागके कार्यसम्पादनमें, कृषक हो तो गोसेवा और खेतीमें, बनिया हो तो अपने वाणिज्य-व्यवसायमें और मजदूर हो तो अपने मालिकके आज्ञानुसार सेवादि-कार्यमें तत्पर हो जाय । मध्याह्नमें भोजन, हरिस्मरण और कुछ विश्रामके पश्चात् पुन. स्वस्वकार्य-सम्पादनमें लग जाय । सन्ध्या-समय पुन. सन्ध्यावन्दन (ईश्वरप्रार्थना) के बाद दिनभर किये हुए कार्योंका सिंहावलोकन और अगले दिनका कार्यक्रम ठीककर भोजन करके भगवन्नामस्मरण करता हुआ विश्राम करे ।

उपर्युक्त पर्यालोचनासे भगवान्‌के दो मुख्य नाम सिद्ध होते हैं—एक ईश्वर और दूसरा परमेश्वर । जो सर्वशक्ति (उत्पत्ति-रक्षा-प्रलयकर्तृत्व)-सम्पन्न अनादि, अनन्त हैं, वे महाकाल परमेश्वर एवं जो केवल पालनशक्तियुक्त जगद्रक्षार्थ लीला करते हैं, वे ईश्वर कहे जाते हैं ।

विश्वकी प्रलयावस्थामें भगवान् कालनिर्गुण, निराकार और अव्यक्त रहते हैं । जब अपनी मायाद्वारा वे विश्वकी सृष्टि करते हैं, तब दिन-रात्रिरूप अवयवोंसे युक्त सगुण और साकाररूपमें व्यक्त होते हैं ।

इस प्रकार कालमें ही परमेश्वरके सब लक्षण देखकर विज्ञजन उनकी ही उपासना करते हैं । यह प्रत्यक्ष भी है कि जो कालको ध्यानमें रखता है, वही सिद्धिको पाकर सुखी होता है ।

स्मृति-चित्र

'अमृतपुत्र'

(लेखक—श्रीमदन)

'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा· ।'

पुस्तकका पृष्ठ खुला है । दृष्टि स्थिर हो गयी है, उपर्युक्त पंक्तिपरसे आगे नहीं बढ पाती ।

सन्ध्याका अन्धकार गाढा हो चला है । दूर टीलेपर व्रजेन्द्रनन्दन गोपालका मन्दिर है । मन्दिरके पार्श्वभागका सान्ध्य गगन ललित लालिमासे आरक्त हो उठा है । दूर वनसे लौटती हुई गौओंके खुरोंसे उड़नेवाली गोधूलिसे सामनेका वायुमण्डल भर गया है और उसमेंसे प्रतीचीकी ओरसे आनेवाली अस्तगामी सूर्यकी किरणें छन-छनकर आती हुई उसे स्वर्ण-आभा प्रदान कर रही हैं ।

मन्दिरके पाससे बहकर आते हुए नालेके किनारेपर जो यह बड़का पुराना वृक्ष है, उसीके सहारे चट्टानपर बैठा मैं अपनी पुस्तककी उपर्युक्त पंक्तिपर अपना ध्यान केन्द्रित किये हूँ । हृदय-पटलपर अङ्कित हो उठा है 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा· ' । कितने उद्‌बोधनात्मक शब्द हैं । 'अमृतस्य पुत्रा '—सहस्राब्दियों पूर्व ऋषियोंने हमें कहा था !

किंतु दूसरे ही क्षण विचार आता है—'क्या आज भी जब कोटि-कोटि मनुष्य रोग, शोक दीनता, दुर्बलताका घृणित नारकीय जीवन, अपमानित जीवन बिताते हुए मृत्युके कराल गालमें चले जा रहे हैं, हम 'अमृतपुत्र' रह गये हैं ? ये अमृतमय शब्द केवल हमारे स्वर्णिम अतीतके ही परिचायक नहीं रह गये हैं क्या ? हमारा वर्तमान चित्र अन्धकारमय, निराशापूर्ण है, फिर इस 'अमृतपुत्र' शब्दकी सार्थकता ही क्या रह गयी है ?'

सहसा ध्यान बँट गया । गायें चट्टानके पाससे निकल रही थीं । इनकी गलेमें बँधी घटियोंने मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया । किंतु स्वयं गायोंकी क्या दशा थी ? हड्डियोंके ढाँचेमात्र रह गयी थीं । केवल दूसरे ही क्षण ध्यान आया—'अरे ! आज तो 'गोपाष्टमी' है ! गोपाष्टमी कहते ही सम्बन्धित अनेक चित्र, जो हृदय-पटलपर अङ्कित थे, एक एक करके स्मृतिमें आने लगे । नेत्र न जाने कबसे बंद हो गये थे ।

× × ×

(२)

चारों ओर अन्धकार घनीभूत हो उठा था—सम्पूर्ण विश्व आच्छादित था उससे । कुछ कण्ठोंका स्वर गूँज उठा—

'असतो मा सद् गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !!'

महाप्रलयकी कालरात्रि समाप्त हो गयी थी। अन्धकार नष्ट हो चला था। हल्का-सा दिव्य प्रकाश फैलने लगा था। उस आलोकमें दिखायी पड़ा विस्तीर्ण समुद्र और उसके तटपर खड़े ऋषि-पुत्र—करबद्ध, निश्चल, निष्काम। अज्ञानान्धकारके आवरणको चीरकर दिव्य ज्ञानालोक फैलता जा रहा था। एक दिव्य गिरा दूर क्षितिजके पारसे सुनायी दी—'ऋषिपुत्रो! ज्ञान एवं प्रकाशका अक्षय भंडार मिला है तुम्हें। आज विश्व अज्ञान-निद्रामें सो रहा है। जाओ, उस अज्ञानको दूरकर जगाओ उसे, उसे ज्ञान और प्रकाश दो, उसका मार्ग-दर्शन करो!'

'किंतु महाभाग! ज्ञान और प्रकाशके दिव्य आशीर्वादके पश्चात् भी कुछ और अपेक्षित है। हमारी आत्मामें निर्बलता है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' ऋषिपुत्रोंके स्वरमें आत्मविश्वास था ही नहीं जैसे। 'अज्ञान और अन्धकारको पराभूतकर ज्ञान एवं प्रकाशके प्रसारके लिये एक सात्त्विक शक्ति चाहिये, एक अमोघ बल चाहिये, अमरत्वकी दृढ अनुभूति चाहिये।' करबद्ध ऋषिपुत्रोंके मस्तक झुक गये थे उस ओर। 'मृत्योर्मा अमृतं गमय!' सब कण्ठोंने एक साथ आवृत्ति की।

दूर, वहाँसे वही दिव्य गिरा गूँज उठी। 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः!' ऋषिपुत्रोंको अब एक अपूर्व मानसिक शान्तिका अनुभव होने लगा था।

जीवितं ज्योतिरभ्येह्यर्वाक् त्वं
हरामि शतं शरद्भ्यः।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशान् शस्तिं
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥

अमृतमय शब्दोंने उनमें नवीन आशा, नवीन बल, नवीन स्फूर्तिका सञ्चार कर दिया था और भर दी थी उनमें अमरत्वकी प्रबल भावना। अमृतमय शब्दोंके साथ ही उनके सम्मुख खड़ी थी 'कामधेनु'। 'और यह है तुम्हारी दीर्घ आयुका प्रबन्ध। इसका अमृत-दुग्ध तुम्हें सामर्थ्य देगा।' धाराप्रवाह शब्दोंके साथ ही बह चली थी दूधकी अमृतधारा! ऋषिपुत्रोंने पान किया उस अमृतका। निकल पड़ा उनके मुखसे हठात्—

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते।
मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः॥

—और बढ़ चले वे अपने अनन्त जीवन पथपर—असत्से सत्की ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमरताकी ओर ले जानेवाले महत्-पथपर। नेत्रोंसे आत्मविश्वास प्रकट हो रहा था, मुखपर दिव्य ब्रह्मतेजकी आभा थी, पैरोंमें तूफानी गति थी और हृदयमें थी असीम दृढता, अडिग आत्मविश्वास, उज्ज्वल आशा। 'अमृतपुत्रोंका' मस्तक झुक गया था कृतज्ञतासे अपने अमृत-दुग्धसे सामर्थ्य, शक्ति, अमरत्व प्रदान करनेवाली उस कामधेनुकी ओर। दिव्यवाणी उन्हें उद्बोध दे रही थी—

'मा मृत्यो उद्गाद् वशम्!'

× × ×

(३)

कार्तिक-शुक्ला प्रतिपदाका प्रभात था, सम्पूर्ण व्रज भूमि आज एक नये जीवनका अनुभव कर रही थी और वृन्दावनका तो कहना ही क्या, जहाँ व्रजराज-नन्दन स्वयं निवास करते हो। शारदीय मन्द समीरके झोकोंसे तरु-किसलय कम्पित हो रहे थे, तरु-शाखाओंपर बैठे हुए पक्षियोंके मधुर कलरवसे सारा वन निनादित हो उठा था।

आज नन्दरायके यहाँ इन्द्रदेवके यज्ञकी तैयारी चल रही थी, किंतु व्रजेन्द्रके रहते हुए यह यज्ञ कैसे हो सकता था। इन्द्रके स्थानमें गोवर्द्धनका पूजन करनेका निश्चय कर लिया गया—वे गोवर्द्धन, जिनके कारण समस्त व्रज स्वर्गानन्दका अनुभव करता था।

सम्पूर्ण व्रज पर्वतराजके चरणोंमें एकत्रित था। स्वस्त्ययनपूर्वक गिरिराजकी विधिवत् पूजा प्रारम्भ हुई। अन्न, व्यञ्जन आदि स्तूपाकार सजाये गये थे। गिरिराज प्रसन्न हुए। प्रकट होकर उन्होंने स्वयं भोग आरोगा। वह प्रसाद सबको वितरित कर दिया गया।

और अब प्रारम्भ हुआ गायोंका सत्कार। गायोंका शृङ्गार अभूतपूर्व था। सबके सींग सोनेसे मढे थे, उज्ज्वल रजत-पत्रोंसे मढे हुए खुर अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहे थे, प्रत्येकके गलेमें मणियुक्त हार लटक रहे थे, सबको किङ्किणियाँ पहनायी गयी थीं। फिर सबकी पूजा की गयी। विविध पक्वान्न भोजनके लिये दिये गये। इसके पश्चात् प्रारम्भ हुए उनके कौतुक। गायों और बछड़ोंमें खेलते हुए व्रजराजकी शोभाका क्या कहना! देवलोकसे देवता यह सब मनमोहक दृश्य देखकर व्रज-धाममें आनेको तरसते थे और ऐसा हो भी क्यों नहीं, जब यहाँ घी, दूध और दहीकी नदियाँ बहती थीं। दूसरे दिन—

घनघोर वर्षा हो रही थी। सावर्तक मेघोंने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी। प्रलय होना चाहता था। देवराजके अपमानका प्रश्न जो था। प्रतीत होता था

बस, व्रज समाप्त होने जा रहा है। व्रजवासियोंका करुण-क्रन्दन वायु-मण्डलमें व्याप्त हो गया। पर देखते-ही देखते श्याम तमालकी-सी अङ्ग-कान्तिका एक बालक आया, मानो खेलने जा रहा हो। इसी तरहसे उसने सहज ही हाथ बढाया और दूसरे ही क्षण विशाल गोवर्द्धन पर्वत भूमिसे विच्छिन्न होकर आकाशमें जा उठा था। बालककी कनिष्ठिकापर पर्वत-राज टिका था छत्रक पुष्पके समान और समस्त व्रजवासी, समस्त गो-समूह उसके नीचे आ गये थे। इधर सावर्तकगण सारी शक्ति लगाकर भी, सात दिनतक प्रचण्ड वर्षा करके भी, व्रजका बाल भी बाँका न कर सके थे।

देवराजका मद नष्ट हो चुका था। अब उसे वास्तविक स्थितिका ज्ञान हुआ। चला प्रायश्चित्त करने। ऋषियोंने उसका मार्ग-दर्शन किया। 'सुरराज, जिनपर गौएँ सदा प्रसन्न रहती हैं, उनपर गोपाल भी प्रसन्न रहते हैं। अपराध क्षमा करानेके लिये तुम व्याकुल हो, तुम्हारे लिये यही मार्ग है कि तुम गो-जातिकी माता सुरभिका आश्रय ग्रहण करो।' सुरभिकी बातसे भला, व्रजेन्द्रनन्दन गोपाल सुरराजको क्यों न क्षमा करते।

व्रजपर अंशुमाली अधिक प्रसन्नतासे अपनी स्वर्ण-आभा छिटका रहे थे। सभी व्रजवासी एकत्रित थे उसी गोवर्द्धनके चरणोंमे। अपनी द्विगुणित आभासे वह चमक उठा था। वृषभानुने कहा—'व्रजवासियो! हमारा परम सौभाग्य है कि हम सब एक बड़ी कठिन परीक्षासे उत्तीर्ण हुए हैं, इसके लिये हम सबको हमारे व्रजेन्द्रनन्दनपर गर्व है।' समस्त व्रज वासियोंका मस्तक श्रद्धासे झुक गया था, किंतु व्रजकी उस महाप्रलयमे कैसे रक्षा हुई, यह अब भी उनके लिये प्रश्न बना हुआ था। व्रजेन्द्र गोपाल सबके मनकी बात समझ गये।

'यह जो कुछ भी हुआ,' उन्होंने स्पष्ट किया, 'सब हमारी गौओंका ही परम प्रताप है। उनके ही अमृत-दुग्धने हम सबमें वह प्रचण्ड सात्त्विक शक्ति भर दी है, जिसके कारण यह सब हो सका। इससे हमें कुछ सीखना है। हमने सगठन-शक्तिका आवाहन करके देवराजतकको एक पाठ पढ़ाया है। अतएव समाजका सघटित बने रहना अनिवार्य है और उस सघटित बलको प्रदान करनेवाले गो-वंशका—जो हमारी अमूल्य निधि है, जीवनदाता है, स्फूर्ति-केन्द्र है—सरक्षण एव सवर्धन हमारा आद्य कर्तव्य है। यह सब वैभव इन्हींकी कृपाका फल है। आइये, हम निश्चय करें—

गावो ममाग्रत' सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठत।
गावो मे हृदये नित्य गवा मध्ये वसाम्यहम्॥

× × ×

(४)

सध्या हो गयी थी। एक साथ विद्युत्-प्रकाशमें हार्वर्ड नगर आलोकित हो उठा। हार्वर्ड विश्वविद्यालय आज विशेष चमक रहा था।

'जिन लोगोंने कुछ नाम कमाया है, जो अत्यन्त बली और वीर हुए हैं, जिनके समाजमें बालमृत्युकी सख्या बहुत घट गयी, जिन्होंने ससारके व्यापार-वणिजपर अधिकार किया है, जो साहित्य-सगीत-कलाका आदर करते हैं तथा जो विज्ञान और मानव बुद्धिकी प्रत्येक दिशामें प्रगतिमान् हैं, वे ऐसे ही लोग हैं, जिन्होंने गायके दूध और दूधके बने पदार्थोंका स्वच्छन्दतासे उपयोग किया है।' डॉ० मैककालमने अपना भाषण समाप्त किया। हार्वर्ड विश्वविद्यालयमें आज उन्हें छात्रोंके सम्मुख भाषण देनेके लिये विशेष रीतिसे निमन्त्रित किया गया था। नगरके कुछ प्रमुख व्यक्ति भी उपस्थित थे।

'देखना होगा, ससारमे इस दिशामें सबसे अधिक प्रयत्न कहाँ हुए हैं।' अर्नेस्ट ट्रूमैनने अपने सहपाठी डेविडसनसे विश्वविद्यालयके वाचनालयकी सीढियाँ चढते हुए कहा। भाषण समाप्त होनेके बाद अर्नेस्ट ट्रूमैन और डेविडसन अपने घर न जाकर वाचनालयमें चले आये थे। आजके भाषण पर बात चल पड़ी थी।

अर्नेस्ट ट्रूमैन और डेविडसन अमेरिकन हैं। हार्वर्ड विश्व-विद्यालयमे दोनो प्राणिशास्त्रके विद्यार्थी हैं। अर्नेस्ट अपने विषयमें पर्याप्त ज्ञान रखता है। साथ ही उसे दर्शनमें भी बहुत रुचि है। उसने इस दृष्टिसे भारत, भारतीय समाज, भारतीय साहित्य एव दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया है और उसके हृदयमे न जाने कबसे भारतके प्रति सहज आत्मीयता उत्पन्न हो गयी है।

'भारतने ही इस दिशामें ससारका मार्ग-दर्शन किया होगा।' अर्नेस्टने स्वय ही प्रश्नका उत्तर दे डाला था। भारतके प्रति अगाध श्रद्धा उसके स्वरसे प्रकट हो रही थी। अबतक दोनों वाचनालयमें कुर्सियोंपर बैठ चुके थे।

'नहीं', डेविडसनने प्रतिवाद किया। 'अमेरिकाका स्थान सभी दृष्टियोंसे, सर्वोपरि है—होना चाहिये—ससार भी इस बातको स्वीकार करता है। और तुम जो भारतकी बात कर रहे थे, सो उसकी दशा तो सबसे अधिक शोचनीय है।' अर्नेस्टको धक्का-सा लगा। वह कुछ कहे, इसके पहले ही डेविडसन वहाँसे जा चुका था। अर्नेस्ट चिन्तामग्न हो गया।

'यह लो प्रमाण!' डेविडसनने आकर एक साप्ताहिक पत्र उसके सम्मुख रख दिया था। 'यह कोलम्बिया विश्वविद्यालयके दर्शनके विद्वान् प्राध्यापक डॉ० ह्यूमेनके सस्मरणात्मक

लेखमालाका प्रारम्भिक अंश है, जो उन्होंने अभी हालमेंही की हुई अपनी भारत-यात्राके विषयमें प्रकाशित की है।

लेखकके 'मानवताका दुर्भाग्य' शीर्षकने अर्नेस्टका ध्यान आकर्षित कर लिया। वह शीघ्र ही उसमें खो गया था—

'संस्कृति और साहित्य, ज्ञान और प्रकाशका आदिस्रोत भारत संसारके लिये अध्ययनकी वस्तु है। भारतसे ही स्फूर्ति ग्रहणकर अनादिकालसे समस्त मानवता कल्याणके महत् मार्गपर अग्रसर होती रही और केवल मानव-जाति ही क्या, प्राणिमात्रके कल्याणके लिये उसने सबका मार्ग-दर्शन किया है।

'किंतु आश्चर्य इस बातका है, जिसका मुझे इस यात्रामें अनुभव हुआ और जिसका विश्लेषण बुद्धि अभी कर नहीं पायी है, कि भारतकी वह जीवनदायिनी गत्यात्मक शक्ति आज कहाँ लुप्त हो गयी। आज भारतकी दशा बड़ी विचित्र हो गयी है। आज वही परम वैभवशाली देश पतनके कगारेपर खड़ा है। जहाँ पहले घी, दूध और दहीकी नदियाँ बहती थीं, वहाँ आज उनके दर्शनतक दुर्लभ हैं, जहाँ धन और धान्यसे भंडार पूर्ण रहते थे, वहाँ आज अन्नके अभावमें अगणित मनुष्य अकाल कालके गालमें चले जाते हैं जहाँ मनुष्यकी आयु सबसे अधिक लंबी होती थी, वहाँ आज शैशवावस्थामें ही असंख्य बालक अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। जिस देशमें जाकर कभी संसारके सब लोग ज्ञान विद्या, प्रकाश प्राप्त करते थे, उसी देशमें आज सबसे अधिक अन्धकार फैला है, वहीं आज अज्ञान और अविद्याका बोलबाला है। और सबसे बढ़कर—

जैसा कि मि० मिलो हेस्टिंग्सने लिखा था—'किसी भी देशकी सभ्यताकी उन्नतिका अनुमान करनेके कई साधन बतलाये जाते हैं ... किंतु गायद्वारा ही संस्कृतिका अनुमान लगाया जा सकता है। हमारी सभ्यता तो गो-प्रधान सभ्यता ही है।' 'यह भारतके विषयमें सबसे अधिक लागू होता है—होना चाहिये। गौ भारतका सांस्कृतिक, आर्थिक केन्द्र है; किंतु अपने इस केन्द्रबिन्दुकी जितनी उपेक्षा—नहीं, अपमान भारतने किया है, उतना कदाचित् ही कहीं होगा। अर्नेस्टको धक्का-सा लगा। मन इस कथनपर विश्वास नहीं करना चाहता था।

'आजके शुष्क तर्क-जालमें फँसे इस भौतिकवादी संसारमें जब चारों ओर मानवतापर संकटके काले बादल छा रहे हैं, त्राणके लिये, कल्याणके लिये केवल भारतकी ओर ही वह आशापूर्ण दृष्टिसे देख रहा था; किंतु भारत—वह भारत, जिसने सदैव आध्यात्मिकताका दिव्य संदेश जगत्को दिया—आज भौतिकवादकी चकाचौंधसे आवृत हो गया है और पतनके कगारेपर खड़ा है अपने मान-बिन्दुओंको भूलकर। यदि उसने अवशिष्ट अपने मौलिक तत्त्वों अपने श्रद्धा-केन्द्रोंको, जो सौभाग्यसे उसके पास शेष हैं, विस्मृत कर दिया तो वह पतनके गहन गह्वरमें गिरे बिना न रहेगा; किंतु उसका यह पतन 'मानवताके लिये दुर्भाग्य'की बात होगी। यदि कहीं कोई उसकी रक्षा कर सकता, अन्यथा ... पत्र बंद हो गया। वह आगे न पढ़ सका। सारा दृश्य उसकी आँखोंके सामने घूमने लगा। 'पतनके गहन गह्वर' की कल्पना करके वह सहम गया। हृदयपर आघात हुआ था। आँखें बंद हो गयी थीं।

(५)

वटवृक्षकी छाया घनी हो चली है। संन्यासीके मुखपर अस्तगामी अंशुमालीकी किरणें पड़ रही हैं। मुखपर अलौकिक तेज शरीरपर एक कौपीन, एक मृगछाला, एक कमण्डलु और बस। और नेत्र तो न जाने कबसे बंद हैं। धीरेसे नमस्कार करके बैठ गया वह। जैसा वर्णन सुना था उनका, उससे कहीं अधिक पाया उन्हें। मनमें एक अपूर्व आनन्दका अनुभव कर रहा था वह। आखिर कितने कष्टोंके बाद, कितने वन-वन भटकनेके बाद सौभाग्यसे उसे उनके दर्शन हो सके थे।

किंतु मस्तिष्कमें अनेक विचारोंका झंझावात-सा चल रहा था। विचारोंके अथाह समुद्रमें गोते खा रहा था वह—कभी डूबता, कभी उतराता। इससे पार होनेकी आशासे ही तो आया था वह वहाँपर। जबतक उनकी समाधि खुलती नहीं, तबतक तो प्रतीक्षा करनी ही होगी।

'तदेतत्सत्यं तदमृतम्' ... ' उनके नेत्र खुल गये थे। साष्टाङ्ग दण्डवत् किया उसने। अब भारतीय पद्धतिसे अच्छी प्रकारसे परिचित हो गया था वह।

'बहुत दूरसे आ रहे हो कदाचित्! और मन बहुत व्यथित हो रहा है?' उसके प्रश्न पूछनेके पूर्व ही उन्होंने पूछ लिया था। स्वर जितना मधुर था, उतना ही आत्मीयतापूर्ण भी।

'महात्मन्! अमेरिकाके एक विश्वविद्यालयका छात्र-जीवन व्यतीत करते हुए मेरी भारतीय जीवन-दर्शनकी ओर मनःप्रवृत्ति उन्मुख हो उठी थी। भारतका महान् अतीत, संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान, इतिहास, सब कुछ समझनेका प्रयत्न किया—उनके प्रति जीवनकी सम्पूर्ण आस्था अर्पित की।'

'वैभवसम्पन्न अमेरिकाके विलासपूर्ण वातावरणमें रहते हुए भारतीय आध्यात्मिक जीवनको आत्मसात् करनेकी तुम्हारी इच्छा निश्चित महान् है, भाई !' महात्माको उसके परिवर्तन-पर आश्चर्य हो रहा था—वेश-भूषा, भाषा-व्यवहार, सभीमें उसपर भारतीयताकी छाप पूर्णरूपसे लग गयी थी।

'भारतीय जीवनको समझनेकी और उसे आत्मसात् कर लेनेकी प्रबल भावना ही मुझे यहाँतक खींच लायी है। इस पवित्र एव महत् जीवनको अपनानेके लिये वेश-भूषा, भाषा, भोजन आदिकी यह सब अनुकूलता निर्माण करना नितान्त आवश्यक था।' उसने स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया।

'किंतु भाई! यहाँका सारा जीवन बड़ा कष्टकर है। बड़ी अनवरत साधना चाहिये इसे प्राप्त करनेके लिये। क्षणिक उत्साहको तजकर मनकी इतनी तैयारी करना आवश्यक है।' महात्मा उसकी जैसे परीक्षा लेना चाहते थे।

''ससारको ज्ञान और प्रकाश देनेवाले महापुरुषोंके वशज 'अमृतपुत्र'—जिस शब्दमात्रमें ही जीवनकी सबसे बड़ी उदात्त कल्पना निहित है—क्या इसीलिये उत्पन्न हुए हैं कि कोटि-कोटि सख्यामें रोग, शोक, दीनता, निर्बलताका घृणित, अपमानित, नारकीय जीवन व्यतीत करते हुए—सम्पूर्ण जीवनभर कष्ट उठाते हुए—एक दिन विवशताके साथ मृत्युके भयकर जबड़ोंमें चले जायँ ? क्या हमारी उच्चाकाङ्क्षाएँ, इच्छाएँ व्यर्थ है ? क्या उसी प्रकारके वैभवके, आनन्दके, ज्ञानके, प्रकाशके, कल्याणके परमोच्च जीवनकी हमारी कल्पना व्यर्थ है ? यदि ऐसा ही है तो फिर इस 'अमृतपुत्र' शब्दकी क्या सार्थकता है ?'' जिज्ञासुने अपने हृदयको उँडेल दिया था।

महात्माके मुखपर वही शान्ति विराजमान थी। 'वत्स !' आत्मीयताके स्वरमें उन्होंने कहा। 'हमारी अवस्था हमारे ही द्वारा बनायी हुई है—इसके लिये हम ही उत्तरदायी हैं। सहस्राब्दियों पूर्व हमें दिये हुए ज्ञानका हमने विस्मरण कर दिया है, सुनी हुई मृत्युञ्जयकी वाणीको हम भूल गये है, दिये हुए अमृत-सदेशको हमने छोड़ दिया है। जीवनके मूलभूत शाश्वत सिद्धान्तोंको भूलकर हमने मिथ्या-विश्वासोंको अपना लिया है। इसलिये सूर्यके समान प्रचण्ड आत्मशक्तिको अज्ञानके तिमिरावरणने ढक लिया है, हमारी प्राणशक्ति मूर्च्छित हो गयी है। कुविचार और असदाचरणसे हमने अपने अमूल्य शक्ति-भडारको खो दिया है। विजिगीषु मनोवृत्तिका स्थान ले लिया है नैराश्य एव पराजयकी भावनाने समष्टिगत भावनाका स्थान ले लिया है व्यक्तिगत भावनाने।' सम्यक् रीतिसे वे समझाते जा रहे थे। ''और सबसे बढ़कर हमने अपने मूलतत्त्वों, मूल मानबिन्दुओंको ही आत्मविस्मृत कर दिया है, उनका स्थान ले लिया है विकृत मनगढ़त कल्पनाओंने। हम 'अमृतपुत्र' बनना चाहते हैं, किंतु 'अमृत' को भूलकर। हमें 'अमृत' के अनुसधानमें लगना होगा। फिर जीवनका वही उदात्त चित्र सम्मुख है। ऋषियोंकी अमर वाणी हमें उद्‌बोधन दे रही है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

समस्याका हल हो गया था। सन्यासीके नेत्र फिरसे बद हो गये थे। जिज्ञासु मोहनको एक दिव्य प्रेरणा मिल गयी थी। आत्मामें एक अपूर्व शान्ति थी। श्रद्धा उमड़ पड़ी। साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। नेत्र बद हो गये।

× × ×

सहसा शङ्खध्वनिने ध्यान भङ्ग कर दिया। नेत्र खुल गये। जो सम्मुख देखा तो दिव्यमूर्ति सन्यासीका पता नहीं। एकदम ध्यान आया—और मै तो पुस्तक पढ रहा था। उस पुस्तकका वह पृष्ठ अभी भी वैसे ही खुला हुआ था—'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।'

रात्रिने चारों ओर अपना आवरण फैलाना प्रारम्भ कर दिया था, इधर दूर नगरमें प्रकाश फैल गया था, उधर 'गोपाल-मन्दिर' भी प्रकाशसे जगमगा उठा था।

व्रजेन्द्रगोपालके मन्दिरमें आरती होने लगी थी। शङ्ख और घड़ियाल, घटे और नगारे—सब एक साथ बज उठे थे। अनेक मधुर कण्ठोंने गाया—

जय श्याम मुरारी, गिरवरधारी
जय गोपाल

ध्यान आया—अरे ! आज तो गोपाष्टमी है। चल पड़ता हूँ मन्दिरकी ओर ! मस्तिष्कमें वही विचार—'अमृतको भूलकर 'अमृतपुत्र' कैसे रह सकते हैं ! अमृतको लाना होगा !'

मन्दिर आ गया है। सामने ही आनन्दकन्द व्रजराजनन्दन गोपालकी मूर्ति और आस-पास हैं वे ही उनकी परम प्रिय गौएँ। समस्याका हल हो गया है। हाथ जुड़ जाते हैं। मस्तक झुक गया है और वाणी न जाने कबसे स्मरणमें लग चुकी है—

यया सर्वमिद व्याप्त जगत् स्थावरजङ्गमम्।
ता धेनु शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम्॥

युगल-छटा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
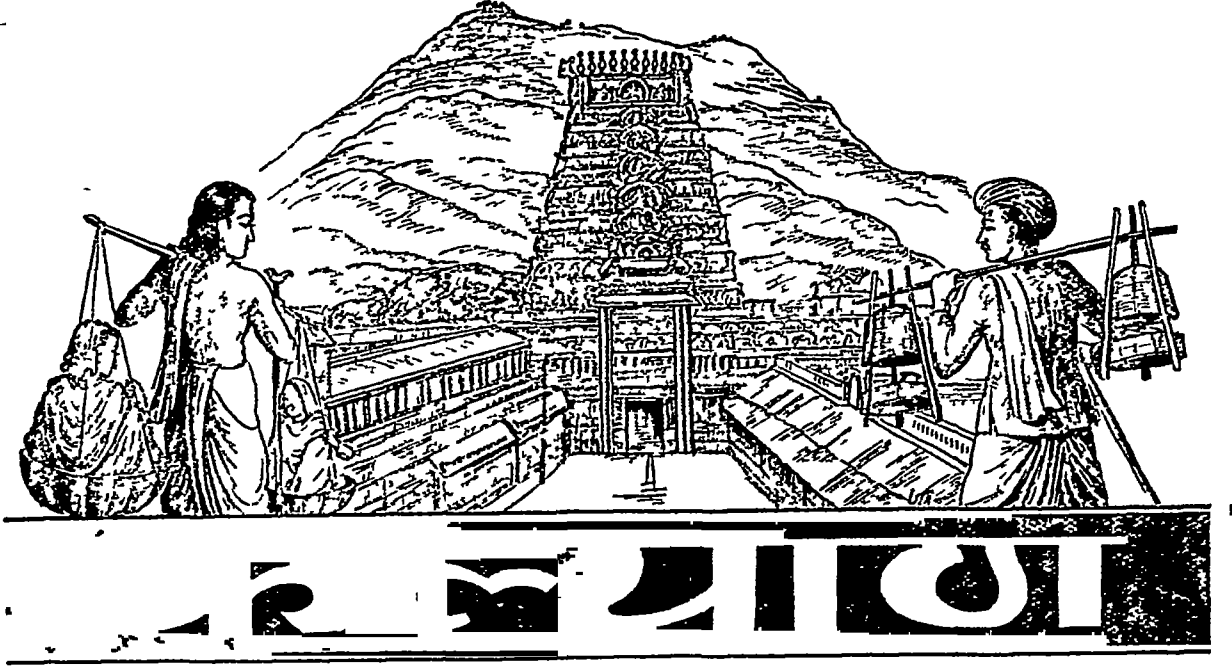
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१३, मार्च १९५७ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ३६४

श्रीराधा-गोपाल-वन्दना

भज मन श्री राधे-गोपाल ।
करुना निधि कोमल चित तिन कौ, दीनन के प्रतिपाल ॥
जिन कौ ध्यान किएँ सुख उपजै, दूर होत दुख-जाल ।
माया रहति चरन की चेरी, डरपत जिन सौं काल ॥
विहरत श्रीवृंदावन माहीं, दोउ गरवैयाँ डाल ।
विलसत रास विलास रँगीले गावत गीत रसाल ॥
हँस-हँसे छीन लेत मन छल कर चंचल नैन विसाल ।
सरसमाधुरी सरनागत कौं छिन मैं करैं निहाल ॥

याद रक्खो—भगवान् अन्तर्यामी हैं, सर्वव्यापक हैं और सर्वतश्चक्षु हैं। उनसे छिपाकर तुम न तो कोई काम कर सकते हो न कुछ सोच ही सकते हो। वे तुम्हारी प्रत्येक क्रियाके ही नहीं, मनके अदर उठनेवाली प्रत्येक सकल्प-तरङ्गके नित्य-साक्षी हैं।

याद रक्खो—जब तुम उनसे छिपाकर कुछ सोच ही नहीं सकते, तब तुम्हारा यह समझना—कि मैंने अमुक कार्य अत्यन्त गुप्तरूपसे किया है, इसे कोई जान ही नहीं सकता, सर्वथा व्यर्थ है।

याद रक्खो—तुम्हारा वस्तुतः भगवान्के अस्तित्वमे ही पूर्ण विश्वास नहीं है, विश्वास होता तो तुम यह भी समझते कि भगवान् तुम्हारी प्रत्येक चेष्टाको जानते-देखते हैं—फिर छिपकर बुराई करनेकी तुम्हारे मनमे कल्पना ही नहीं आती। तुम यदि कोई बुरा काम करते होते हो और उस समय कोई दूसरा आदमी तुम्हें देख लेता है तो तुम उसे तुरत छोड देते हो, चाहे वह आदमी कैसा ही—कोई भी हो, और जहाँ कोई सम्मान्य पुरुष या शासनके अधिकारी हों, वहाँ—उनके सामने तो तुम बुरा कर्म करनेकी बात सोच भी नहीं सकते। भगवान्के समान परम सम्मान्य तथा भगवान्के समान समस्त लोक-लोकपालोंके शासक—सर्वलोकमहेश्वर दूसरा कौन होगा। अत उनकी सनिधिमे तो तुम कभी कोई बुरा काम कर ही नहीं सकते। परतु तुम करते हो, इससे यह प्रमाणित होता है कि तुमको इस बातपर विश्वास ही नहीं है कि वे यहाँपर तुम्हारे कार्योंको देख रहे है। विश्वास करो—सच्चे आस्तिक बनो, फिर तुम सारे पापोंसे सहज ही छूट जाओगे।

याद रक्खो—भगवान्के समान तुम्हारा परम सुहृद्, सच्चा हितैषी, तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इसका सच्चा ज्ञान रखनेवाला और तुम्हारा कल्याण करनेमें पूर्ण समर्थ दूसरा कोई है ही नहीं। परतु इस बातपर तुम्हारा विश्वास नहीं है; इसीसे तुम भगवान्पर पूर्ण निर्भर न करके अपनी अस्थिर तथा अदूरदर्शिनी बुद्धिसे अपने कल्याणकी कल्पना करते हो, स्वार्थी जगत् तथा अनित्य और दुःखमय पदार्थोंसे सुखकी आशा रखते हो एव भौति-भौतिके दुर्विचार, पापनिश्चय और पापकर्मोंके द्वारा अपने जीवनको सफल करना चाहते हो। परिणाममे एकके बाद दूसरी निराशा और एकके बाद दूसरे दु खके प्रवाहमें बहते रहते हो।

याद रक्खो—यदि तुम सहज सुहृद् भगवान्के सौहार्दपर, सर्वज्ञानमय भगवान्के निर्णयपर और सर्वनियन्ता भगवान्की शक्तिपर विश्वास कर लोगे तो समस्त पाप-तापोंसे, सारी अशान्ति-पीडासे छूटकर सुखी हो जाओगे तथा जैसे छोटा शिशु सब प्रकारसे मातापर सर्वथा निर्भर करता है, वैसे ही भगवान्पर निर्भर करने लगोगे।

याद रक्खो—फिर भगवान् स्वय ही तुम्हारे योग-क्षेमका वहन करेंगे। तुम्हारी यथार्थ आवश्यकताकी पूर्ति तथा तुम्हारा कल्याण करनेवाले जो कुछ भी पदार्थ तुम्हें प्राप्त हैं, उनकी रक्षा सर्वशक्तिमान् भगवान् करेंगे और जो तुम्हारे लिये आवश्यक तथा कल्याणकारी है, पर तुम्हारे पास नहीं है, उसको भगवान् ही प्राप्त करा देंगे। तुम तो फिर आनन्द तथा परम सुखमे निमग्न रहकर भगवान्का मङ्गलमय चिन्तन करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की प्रसन्नताके लिये शरीर-मनसे यथायोग्य कर्म करते रहोगे। तब तुम्हारे प्रत्येक कर्मसे भगवान्की पूजा होगी और तुम्हारे प्रत्येक कर्मसे भगवान् प्रसन्न होंगे। इसलिये भगवान्की सत्ता, सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता, सुहृदता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्त ज्ञानमयतापर विश्वास करो और अपनेको सर्वतोभावसे उनके चरणोंमें डालकर मानव-जीवनको सफल कर लो।

'शिव'

जीवन्मुक्ति

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया ।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते ॥

मानव-जीवनका लक्ष्य समझाते हुए महात्मा हम-लोगोंसे कहते हैं कि 'यह मानव-शरीररूपी नौका तुम्हें महान् पुण्यके योगसे, ईश्वरकी दयासे, बडी कठिनतासे मिली है । यह कहीं किसी चट्टानसे टकराकर टूट जाय, उससे पहले ही इस दु ख-समुद्रके पार पहुँच जाना चाहिये । यदि कहीं पार पहुँचनेसे पहले ही यह नाव टूट गयी तो फिर ऐसा सुयोग मिलना बहुत कठिन हो जायगा । अतएव दूसरे सभी कामोंको छोड़कर पहले उस पार पहुँच जानेके लिये प्रयत्न करो ।'

यहाँ दुःखसमुद्रसे तरनेका मनुष्य-शरीरको जो साधन बतलाया है, उसका तात्पर्य यह है कि इस जगत्में जन्म-मरणके समान बडा दु ख और कोई नहीं है । इसीलिये बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरनेकी स्थितिको 'दु.खसमुद्र' नाम दिया गया है । केवल मानव-शरीरके द्वारा ही इससे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, अत. इस लाभको प्राप्त किये बिना ही यदि शरीर छूट जाता है तो उसे मिले हुए अवसरका व्यर्थ चला जाना समझना चाहिये । अतएव आज अपने यहाँ 'जीवन्मुक्ति'के सम्बन्धमे विचार करेगे, जिससे हमें यह निश्चय हो जाय कि इसी शरीरमे मुक्ति प्राप्त हो सकती है तथा उस मार्गपर जानेके लिये प्रेरणा मिले और जगत्के भोग-पदार्थोंकी भूलभुलैयामे हम न भूले रहें ।

अब, जीवन्मुक्तिके सम्बन्धमें विचार करनेसे पहले मुक्तिका स्वरूप जानना चाहिये, क्योंकि इसके पश्चात ही यह बात समझमें आ सकती है कि जीवन्मुक्ति सम्भव है या नहीं । मुक्तिकी एक व्याख्या श्रीविद्यारण्य स्वामीने इस प्रकार की है—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्नबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥

ब्रह्म-तत्त्वके ज्ञानसे ही मुक्ति होती है, अन्य किसी भी रीतिसे मुक्ति सम्भव नहीं । खोलकर समझानेके लिये आगे दृष्टान्त देते हुए कहते है कि स्वप्नके अनर्थको दूर करनेके लिये अपने जागनेके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है । यह दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर है । अविद्याके कारण जैसे बन्धनका भ्रम उत्पन्न होता है, वैसे ही निद्रारूपी अविद्या-दोषके कारण स्वप्नका अनर्थ उत्पन्न होता है । स्वप्नकी निवृत्तिके लिये निद्रारूपी अविद्याका नाश आवश्यक है, इसके बिना अन्य किसी भी उपायसे स्वप्नके अनर्थका नाश नहीं होता । इसी प्रकार बन्धनके भ्रमका निवारण करनेके लिये केवल अविद्याकी निवृत्ति करनी है । अविद्याकी निवृत्ति विद्यासे होती है । अत. विद्या अर्थात् ज्ञानके उदयमात्रसे बन्धनका भ्रम मिट जाता है । इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्ति और मुक्ति—दोनों समकालीन हैं । इसलिये यथार्थ ज्ञानका—तत्त्वज्ञानका उदय होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा साधन नहीं करना पडता ।

यहाँ कुछ लोग विरोध करते हुए कहते हैं कि 'अनेक जन्मोंतक महान् कठिन साधन करनेके पश्चात् मुक्ति मिलती है । मुक्ति उतनी सुलभ वस्तु नहीं है, जितनी आप कहते हैं ।' एक समय एक प्रतिष्ठित वकील मेरे पास आये । वे अच्छे वकील थे, साथ ही अध्यात्ममार्गमें बहुश्रुत भी थे । मुक्तिसम्बन्धी चर्चा चलनेपर उन्होंने कहा—'स्वामीजी ! मुक्ति यदि इतनी सहज होती जितनी आप कहते हैं, तो आज ससार-का कहीं नाम-निशान भी नहीं रहता । देखिये न, गीतामें श्रीभगवान्ने भी कहा है—

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।'
(७ । १९)

—बहुत जन्मोंके अन्तमे ज्ञानी मुझे प्राप्त कर सकता है । फिर—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
(६ । ४५)

—सावधानीके साथ यत्न करनेपर पापरहित हुआ योगी अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है ।' आदि ।

उत्तरमें मैंने कहा—वकील साहब ! आप ही विचार कीजिये । आपने कितनी परीक्षाएँ दी होंगी ? पर कभी आपके मनमें ऐसा विचार भी आया था कि इस वर्ष पास न हुए तो दूसरे वर्ष, दूसरे वर्ष भी पास न हुए तो तीसरे या चौथे वर्ष पास हो जायँगे ?' यद्यपि आप यह जानते ही होंगे कि परीक्षामें बैठनेवाले सौ विद्यार्थियोंमें भाग्यसे ही तीस या पैंतीस उत्तीर्ण होते हैं, परतु निश्चय तो सौ-में-सौ विद्यार्थियोंका यह होता है कि 'मैं तो पास होऊँगा ही ।' ऐसा निश्चय न हो तो परीक्षाके लिये तनतोड परिश्रम ही नहीं हो सकता । परतु जब परीक्षाफल निकलता है, तब अनुत्तीर्ण विद्यार्थी इस प्रकार मनको समझा लेते, जब सौमें तीस-पैंतीस विद्यार्थी ही उत्तीर्ण हुआ करते है, तब यदि मैं अनुत्तीर्ण हो गया तो इसमें कौन-सी बात हुई; अबकी बार खूब मेहनत करके पास हो जाऊँगा । इसी प्रकार अध्यात्ममार्गमें भी सभीको एक ही जन्ममें मुक्ति नहीं मिलती—यह बात सत्य है और उसमें भी बहुत-से कारण होते हैं । कहीं विषयासक्ति बाधक हो जाती है तो कहीं कुतर्क करनेकी आदत अड़चन डाल देती है । कहीं बुद्धिकी मन्दताके कारण बोध होनेमें देर लगती है तो कहीं दुराग्रह बाधा देता है ।

परतु 'अनेक जन्मोंबाद जब मुक्ति होनी होगी, तब हो जायगी ।' साधनके प्रारम्भमें ही ऐसा विचार आ जायगा तो फिर साधन होगा ही नहीं । अतएव निश्चय तो यही होना चाहिये कि इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त करनी है । यों करनेपर भी यदि विलम्ब दिखलायी दे, तब 'इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करूँगा—' ऐसा आश्वासन पानेके लिये इस प्रकारके श्लोकोंका उपयोग करना चाहिये ।

प्रत्येक मनुष्यको जैसे वर्तमान जन्ममें ही मुक्ति नहीं होती, वैसे ही वर्तमान जन्ममें मुक्ति होगी ही नहीं—ऐसा भी कोई नियम नहीं है । चाहे अनेक जन्मोंके बाद मुक्ति हो, परतु वह होगी तो वर्तमान जन्ममें ही न ? तब फिर, यही जन्म मुक्ति प्राप्त करनेके लिये अन्तिम जन्म है—ऐसा निश्चय क्यों नहीं करना चाहिये और मिले हुए सुअवसरको व्यर्थ क्यों खो देना चाहिये ? अतएव मैं इसी जन्ममे मुक्ति प्राप्त करूँगा—ऐसा ही निश्चय रखना इष्ट है । यह बात व्यावहारिक क्षेत्रमें तो मनुष्य समझ सकता है और इसे सत्य भी मानता है, परतु मुक्तिके विषयमें यह उसके गले नहीं उतरती । इसका कारण यह है कि वैसा करनेपर उसे विषयोंका त्याग करना तथा साधनके लिये परिश्रम करना पडता है, और ये दोनों काम वह करना चाहता नहीं, इसीसे ऐसे बहाने बनाता है ।

महाभारत, शान्तिपर्वमें मुक्तिका स्वरूप समझाते हुए भीष्मपितामहने कहा है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

मोक्ष कोई पदार्थ नही है कि अमुक स्थानमें जाकर उसे लाया जाय, वह कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है कि अमुक प्रदेशमें ही होती हो, जहाँसे उसे मँगवाया जा सके । अज्ञानके कारण जो हृदयमें गाँठ पड़ गयी है, उसे काट डालने या खोल देनेका नाम ही है—मोक्ष । अब यहाँ 'हृदयग्रन्थि' शब्दको समझना होगा । हृदयका अर्थ है अन्त.करण और उसके साथ आत्मा-

का एकाकार हो जाना अर्थात् अपने स्वरूपको भूलकर स्वय अन्त करणरूप हो जाना—इसीका नाम है हृदय-ग्रन्थि। इसीको कई वार देहाध्यास भी कहा जाता है।

योगदर्शनमें भी अविद्याकी निवृत्तिपूर्वक ज्ञानकी प्राप्तिको ही मुक्तिका स्वरूप वतलाया गया है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

द्रष्टा—आत्माका जो दृश्य—शरीरके साथ सयोग हो गया है—एकात्मता हो गयी है, देहाध्यास हो गया है, यही जन्म-मरणरूप दु:खका कारण है। फिर कहा है—

'तस्य हेतुरविद्या।'

आत्माको देहाध्यास होनेका कारण अविद्या—अज्ञान—स्वरूपका अज्ञान—मैं कौन हूँ, इसकी विस्मृति है। अत देहाध्यासकी निवृत्तिके लिये अविद्याको निवृत्त करना आवश्यक है। वे कहते हैं—

'तदभावात् (अविद्याया अभावात्) संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।'

अविद्याका नाश होनेपर स्वरूपका ज्ञान होनेसे देहाध्यास निवृत्त हो जायगा। यों देहाध्यासकी निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है।

यहाँतक हमने मुक्तिका स्वरूप समझा और ब्रह्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान ही मुक्तिका स्वरूप है, इस निर्णयपर हम पहुँचे। इसी वातको बहुत संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि 'मैं देह हूँ' यों मानना अविद्याका स्वरूप है और इसीलिये 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा निश्चय करना स्वरूपका ज्ञान है। इस ज्ञानसे भिन्न मुक्तिका दूसरा स्वरूप नहीं है। संक्षेपमें, 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा पक्का निश्चय होना (अपरोक्ष अनुभव होना) ही मुक्ति है।

अब जीवन्मुक्ति सम्भव है कि नहीं—यह देखना है। यह तो समझ लिया गया कि ज्ञान ही मुक्ति है, परतु यह ज्ञान शरीर रहते हो सकता है, या शरीरके नाश होनेपर ही होता है—यह समझना है। शास्त्र तो कहते हैं कि इस मानव-शरीरमें ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है, अन्य किसी भी शरीरमें ऐसी योग्यता नहीं है।

श्रीभागवतकार कहते हैं—

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-*
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

श्लोकके पहले दो चरणोंमें मानवशरीरका गौरव समझानेके बाद कहते हैं कि यह शरीर स्वभावसे ही क्षणभङ्गुर है, इसलिये मृत्युके वश होनेके पहले ही आत्मकल्याण कर लेना चाहिये अर्थात् तत्त्वज्ञान सम्पादन करके मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये। विषय-पदार्थ तो सभी शरीरोंमें समान रूपसे प्राप्त हैं, अत. उनकी प्राप्ति मनुष्यजीवनका लक्ष्य नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ शरीर नाश होनेके पहले ही मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये—ऐसा स्पष्ट कहा है।

श्रुति-भगवती भी कहती है—

यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधी॰
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

यहाँ भी पहले दो चरणोंमें मानवशरीरकी विशिष्टता वतलाकर कहते हैं कि ऐसा देवदुर्लभ मानवशरीर मिलनेपर भी जो मूढ पुरुष अपनी मुक्तिके लिये उद्यम नहीं करता, वह आत्महत्या करता है और इस प्रकार अपनी ही मूर्खतासे अपना अहित करता है—अपने ही विनाशको वुलाता है।

---

* अध्यात्मरामायणमें अविद्याकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद् यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥

'मैं देह हूँ' इस बुद्धिको ही अविद्या कहा जाता है और 'मैं देह नहीं, आत्मा हूँ' इस बुद्धिको विद्या कहते हैं। अविद्या जन्म-मरणकी हेतु है और विद्या उसका निवारण करनेवाली है। अतएव मुमुक्षु पुरुषको सदा विद्याका अभ्यास करना चाहिये।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणको यह उपदेश दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने, शरीरके विद्यमान रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है, यह कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

जिन भाग्यवान् साधकोंका मन सुख-दुःखमें समान रह सकता है, उन्होंने इसी शरीरमें—वर्तमान शरीरके जीवनकालमें ही जन्म-मृत्युको जीत लिया है अर्थात् वे मुक्त हो गये हैं।

यहाँतक हम इस निश्चयपर पहुँचे कि ज्ञानके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति शरीरके जीवित रहते ही हो सकती है और इसलिये शास्त्रोंका आदेश भी इसी प्रकारका है। अब देखना है कि ब्रह्मज्ञान होनेके बाद शरीर जीवित रह सकता है या नहीं।

ज्ञान होनेका आधार चित्तशुद्धि है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान अपने-आप ही प्रकट होता है। इस प्रकार ज्ञानका आधार स्थूलशरीरपर नहीं, अपितु सूक्ष्मशरीर है और स्थूलशरीरके जीवित रहनेका आधार उसका प्रारब्ध-भोग है। प्रारब्धका भोग समाप्त होनेपर, ज्ञान हुआ हो या न हुआ हो, सूक्ष्मशरीर उस स्थूलशरीरका त्याग कर ही देता है, इससे वह नाश हो जाता है। अतः ज्ञान होनेके बाद शरीरका नाश होना ही चाहिये—ऐसी बात नहीं देखनेमें आती। प्रारब्धके भोगोंकी समाप्तितक ज्ञान होनेके बाद भी शरीर जीवित रह सकता है, भोग समाप्त होनेपर उसका नाश होता है। यों शरीरके जीवन या मरणके साथ ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरे प्रकारसे देखें तो मनोमय और विज्ञानमय कोशके शुद्ध होनेपर ज्ञानका उदय होता है। शरीरके जीवित रहने या न रहनेका आधार प्राणमय और अन्नमय कोषका सम्बन्ध चालू रहना है। इस बातकी साक्षी देता हुआ वैद्यकशास्त्र कहता है—

शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते।
कालेन तद्वियोगाद्धि पञ्चत्वं कथ्यते बुधैः॥

इस प्रकार अगले प्रकरणके अनुसार शरीर और प्राणवायु—इन दोनोंका संयोग जबतक बना रहता है, तबतक उसे 'आयु' या जीवन कहते हैं और काल पाकर जब अन्नमय और प्राणमय कोषका वियोग हो जाता है—प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं—तब वह 'मरण' कहलाता है।

फिर ज्ञान होनेसे पहले आनन्दमय कोश बहुत ही संकुचित रहता है और उसका अनुभव केवल सुषुप्ति-अवस्थामें ही होता है। ज्ञान होनेके बाद वह विस्तार पाकर चारों कोशोंको ढक लेता है और अन्तःकरण अन्तर्मुख हो या न हो, सभी अवस्थाओंमें आनन्दका अनुभव होता रहता है। इस प्रकार विक्षेप न रहनेके कारण प्राण सूक्ष्म हो जाते हैं और उनकी गति धीर-गम्भीर बन जाती है। साधारण रीतिसे प्राण बारह अंगुल बाहर जाकर वापस लौटता है। इसके स्थानपर ज्ञानीके शरीरमेंसे, प्राण केवल आठसे छः अंगुल ही दूर जाता है।

प्राण जिस प्रकार शरीरको जीवित रखता है, उसी प्रकार उसे हानि पहुँचानेवाला भी प्राण ही है। जबतक प्राण निरुद्ध रहता है, उतने समयतक शरीरकी हानि नहीं होती। इसलिये उस समय उस हानिकी पूर्तिके लिये अन्न या जलकी आवश्यकता नहीं होती, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। एक मनुष्य यदि छः महीनेकी समाधि लेता है तो उसका उतना समय आयुमानमें नहीं गिना जाता। इसका कारण भी यही है। यों ज्ञानीका प्राण बहुत धीरे चलता रहनेके कारण शरीरको उस समय हानि नहीं पहुँचती। इसलिये ज्ञानीका शरीर अधिक लंबे कालतक भी जीवित रह सकता है। अतएव 'ज्ञान प्राप्त होनेके बाद शरीरका नाश होना ही चाहिये'—यह बात तो सर्वथा असत्य सिद्ध होती है। वर ज्ञानके कारण शरीर अधिक दिनोंतक टिका रह सकता है, ऐसा अनुमान सहज होता है और अनुभव भी यही कहता है।

अब जीवन्मुक्तके विषयमें बार-बार किये जानेवाले प्रश्नपर विचार करते हैं कि 'ज्ञानी विधि-निषेधकी कैदमें नहीं है, अतएव उसके द्वारा निषिद्ध आचरण हो सकते हैं या नहीं ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध आचरण हो ही नहीं सकते। ज्ञानी तो अन्तःकरणको शुद्ध करते समय ही दूषित संस्कारमात्रका नाश कर चुकता है। इसलिये ज्ञानोत्तर-कालमें उसके अन्तःकरणमें एक भी भोगवासना नहीं रह सकती, क्योंकि जो अन्तःकरण वासनाशून्य नहीं हो जाता, उसमें ज्ञानका उदय होता ही नहीं।

'निषिद्ध आचरण करनेपर भी ज्ञानीको कोई हानि नहीं पहुँचती'—इस भावके वाक्य उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें अवश्य ही देखनेमें आते हैं, तथापि उनका यह भाव नहीं है कि ज्ञानी निषिद्ध आचरण करता है। ऐसे वाक्य तो केवल ज्ञानीकी लोकोत्तर स्थिति समझानेके लिये आलंकारिक प्रयोगमात्र हैं। हमलोग कई बार व्यवहारमें भी ऐसे वाक्योंका प्रयोग किया करते हैं। उदाहरणके लिये—'बालूके पेरनेसे कदाचित् तेल निकल भी जाय, पर इस कंजूसके हाथसे तो पैसा निकलेगा ही नहीं।' 'उसके अक्षर तो भाई, मानो मोतीके दाने ही हैं।' ऐसे वाक्य आलंकारिक भाषाके प्रयोग हैं। इसलिये उनका शब्दार्थ न ग्रहण करके भावार्थ ही ग्रहण करना चाहिये।

विहित कर्म निष्कामभावसे हो सकते हैं और बहुत-से ज्ञानी ऐसे कर्म करते देखे भी जाते हैं; परंतु कामना—भोग-लालसा—'इस कर्मसे मुझे सुख मिलेगा'—ऐसी आशाके बिना निषिद्ध कर्म तो कभी बनते ही नहीं। इस बातकी साक्षी देते हुए शास्त्र कहता है—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते कर्म तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

इस जगत्में कामनाशून्य ब्रह्मज्ञानीके द्वारा आसक्तिपूर्वक कर्म होते कहीं देखनेमें नहीं आते। यदि ज्ञानी आसक्तिपूर्वक कर्म करता दिखायी देता है तो समझना चाहिये कि अभी उसके अन्तःकरणमें कहीं भोग-कामना छिपी बैठी है। इसलिये वह 'ब्रह्मज्ञानी' नहीं, परंतु 'भ्रम ज्ञानी' है अर्थात् ज्ञानी होनेका उसे केवल भ्रम हो गया है।

जिस ज्ञानीने अपने आनन्दस्वरूपका निश्चय कर लिया है, वह किसी कालमें भी नश्वर भोग-पदार्थोंसे आनन्द प्राप्त करनेकी आशा क्यों करेगा। इस प्रसङ्गको श्रीअष्टावक्र मुनिने यों समझाया है—

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः॥

इस जगत्के कोई भी भोगपदार्थ आत्मतृप्त ज्ञानीको सुखरूप नहीं प्रतीत होते। इसलिये उनकी प्राप्तिसे उसे किसी प्रकारका आनन्द भी नहीं मिलता। दृष्टान्त देते हुए फिर कहते हैं कि कुन्दुरवृक्षके पत्तोंको खाकर तृप्त हुआ हाथी क्या कभी नीमके कड़वे पत्तोंको खानेकी इच्छा कर सकता है ? इसी प्रकार जिस ज्ञानीने अपने आनन्दस्वरूपको जान लिया है, उसे किसी भी विषयसे हर्ष नहीं होता, क्योंकि वह तो आत्माराम और आत्मतृप्त ही होता है।

ज्ञानीके सम्बन्धमें दूसरा प्रश्न यह किया जाता है कि 'ज्ञानी कर्म करता है या नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि इस सम्बन्धमें ज्ञानीपर शास्त्रका कोई शासन नहीं है। अतएव यह बात उसके स्वभावपर निर्भर करती है। जिस ज्ञानीके द्वारा साधनकालमें कर्म और उपासना अधिक की हुई होती है, उस ज्ञानीका कर्म करनेका स्वभाव हो जाता है। अतएव ऐसा ज्ञानी निष्कामभावसे शुभ कर्म करता ही रहता है और इससे उसको कोई क्षति नहीं पहुँचती तथा जिस ज्ञानीने साधन-कालमें केवल ध्यान, विचार और एकान्त-सेवन ही किया है, वह शुभ कर्मसे भी उदासीन रहता है और गुपचुप अकेला पड़ा रहता है। इस प्रकार ज्ञानीके लिये कर्म करना या न करना उसके स्वभावपर निर्भर करता है, वह स्वयं तो दोनों बातोंमें स्वतन्त्र है।

तीसरा प्रश्न यह होता है कि 'ज्ञानीको प्रारब्ध भोगना पड़ता है या नहीं ? उसका शरीर है, इसलिये प्रारब्ध तो होना ही चाहिये; क्योंकि प्रारब्ध-भोगके

बिना शरीर रह ही नहीं सकता ।' इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहना है कि प्रारब्धके भोग तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंको भोगने ही पडते है, क्योंकि यह कर्मका अटल सिद्धान्त है । 'प्रारब्ध भोगतो नश्येत्' प्रारब्धका भोगके बिना क्षय होता ही नहीं, परतु भोग-भोगमें अन्तर है । ज्ञानी अपने आत्मस्वरूपको सिद्ध कर चुकता है, अतएव वह शरीरका द्रष्टामात्र रहता है । शरीर अपने सुख-दु ख भोगे, इसमें देखनेवालेका भला, क्या लगता है।

फिर ज्ञानीको तो ससारके मिथ्यात्वका निश्चय हो चुका रहता है । अतएव किसी भी सासारिक घटनासे वह विचलित नहीं होता। हमलोग जब नाटक देखते है, तब जहाँ करुण-दृश्य सामने आता है, वहाँ हमारी आँखोंमे आँसू आ जाते हैं । वीर-रसका दृश्य देखनेपर हम कुर्सीपरसे उछल पड़ते हैं। इसी प्रकार जब हास्य-रसका थाल रोसा जाता है, तब हँसने लगते है । यों प्रसङ्गानुसार चेष्टा करते रहनेपर भी हम समझते हैं कि यह तो केवल नाटक है । इसमें हँसना भी मिथ्या है और रोना भी उतना ही मिथ्या है । इसी प्रकार ज्ञानी भी हँसनेके प्रसङ्गमें हँसता और रोनेके प्रसङ्गमें रोता है—यों प्रसङ्गानुसार यथायोग्य व्यवहार करते रहनेपर भी उसका निश्चय यही होता है कि 'यह सब मिथ्या प्रपञ्च है, नाटककी भाँति दृश्यमात्र है ।'

य: समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

'ज्ञानी समस्त लौकिक व्यवहारोंको यथायोग्य करता हुआ भी अन्तरमे सबको मिथ्या समझता हुआ किसी भी स्थितिमे हर्ष या उद्वेगको नहीं प्राप्त होता, अखण्ड शान्तिमें स्थित रहता है । यों जो सदा परिपूर्ण आत्मस्वरूपमें निमग्न रहता है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है ।'

जीवन्मुक्तकी व्याख्या करते हुए आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने कहा है—

जीवन्मुक्तस्य तत्त्वज्ञानेन निवृत्ताविद्योऽपि अनुवृत्तदेहादिप्रत्ययः ।

तत्त्वज्ञानके द्वारा जिसने अविद्याका सर्वथा नाश कर दिया है, ऐसे ज्ञानीका देह विद्यमान रहते हुए उसके द्वारा यथायोग्य व्यवहार हुआ करते हैं । ऐसा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन्मुक्त है ।

मुक्ति, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—ये शब्द तीन होनेपर भी एक ही स्थितिके वाचक हैं । अविद्याकी निवृत्तिका अर्थ है—मुक्ति । अब, ऐसे मुक्त पुरुषका शरीर जीवित है—जहाँ यह बताना होता है, वहाँ 'जीवन्मुक्त' या 'जीवन्मुक्ति' शब्दका प्रयोग होता है और उस जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर जब पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है, तब वह 'विदेह कैवल्यको प्राप्त हो गया'—यों कहा जाता है । ऐसी मुक्तिका नाम 'विदेह-मुक्ति' है । इसके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है । श्रीशङ्कराचार्य भी कहते हैं—

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः ।
यत् किंचित् पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजु श्रुतिः ॥

'जिस मनुष्यने अपने जीवनकालमें ही मुक्ति प्राप्त कर ली है, वही शरीर गिरनेके बाद विदेहमुक्त होता है । जिसने जीवात्मा और परमात्मामें अभेदका निश्चय नहीं किया, उसे तो शरीर गिरनेके बाद फिरसे जन्म-मरणके चक्रमें घूमना पडता है, ऐसी बात यजुर्वेदमें कही गयी है ।'* ऐसे जीवन्मुक्तकी ही विदेहमुक्ति होती है ।

इस प्रसङ्गको श्रुतिका समर्थन भी इस प्रकार मिलता है—'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्त हुआ पुरुष फिर मुक्त होता है । जो पुरुष मुक्ति प्राप्त करके जीवन्मुक्त कहलाता था, वही पुरुष देहका विलय होनेके बाद 'विदेहमुक्त' कहलाता है । विदेहमुक्तिकी प्राप्तिके लिये कोई साधन नहीं करना पडता । शरीरका नाश होनेपर, जीवन्मुक्त पुरुष विदेहमुक्तिको ही प्राप्त करता है ।

* यजुर्वेदकी यह श्रुति इस प्रकार है—

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति ।' जब यह पुरुष ब्रह्ममे जरा भी भेद देखता है, जीवात्मा और परमात्मामें जरा भी भेद देखता है, तब इसे भयकी प्राप्ति होती है अर्थात् इसे जन्म-मरणरूप ससारमे भटकना पड़ता है ।

गायत्री-जपकी महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें पापोंके नाश और आत्मोद्धारके लिये गायत्री-जप और गायत्री-पुरश्चरणके समान अन्य कोई जप और पुरश्चरण नहीं है। गायत्रीका जप तीर्थ, व्रत, तप और दानसे भी बढ़कर है। इसलिये अधिकारप्राप्त द्विजको विशुद्ध और एकान्त स्थानमें निवास करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे अधिक-से-अधिक गायत्री-का जप करना चाहिये। गायत्रीका जप यदि मानसिक किया जाय तो वह विशेष लाभप्रद होता है। श्रीमनु महाराज कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२ । ८५)

'दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (कानाफूँसीके स्वरमें किया जानेवाला) सौगुना श्रेष्ठ है और मानसिक जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

फिर जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक किया जाता है, उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है। उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अतएव हमलोगोंको गायत्रीका जप श्रद्धा-प्रेम और निष्कामभावपूर्वक मानसिक ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा है। गायत्रीमन्त्रमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। इस प्रकार एक ही मन्त्रमें उक्त तीनों बातोंका समावेश बहुत ही कम मिलता है। इस मन्त्रके छन्दका नाम गायत्री है, इसलिये इसे गायत्री-मन्त्र कहते हैं। गायत्रीदेवीको ही परमात्मा समझनेवाले उनके उपासक इस मन्त्रमें गायत्री-देवीकी ही स्तुति, ध्यान और प्रार्थना मानते हैं। इसकी अधिष्ठातृ-देवता भी वे गायत्रीको ही मानते हैं। उनका यह मानना भी ठीक ही है, क्योंकि सृष्टिकर्ता परमात्माकी शिवके उपासक शिवरूपमें, विष्णुके उपासक विष्णुरूपमें, सूर्यके उपासक सूर्यरूपमें और देवीके उपासक देवीरूपमें उपासना करके परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। कारण स्पष्ट है। नाम-रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबका लक्ष्य एकमात्र परमात्मा ही हैं और लक्ष्य ही प्रधान वस्तु है, अतः उन-उन उपासकोंको परमात्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होना युक्तिसंगत ही है। सभी नाम और रूप परमात्माके ही तो हैं।

गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। श्रीनारायणो-पनिषद्में कहा गया है—

'गायत्री छन्दसां मातेति' (मन्त्र ३४)

अर्थात् गायत्री समस्त वेदोंकी माता है।

गायत्रीका माहात्म्य बतलाते हुए शङ्खस्मृति कहती है—

अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी॥
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥
(शङ्खस्मृति १२ । २४-२५)

'गायत्रीकी उपासना करनेवाला द्विज अपने अभीष्ट लोकको पा जाता है। (इतना ही नहीं, इस जीवनमें) वह मनोवाञ्छित भोग भी प्राप्त कर लेता है। गायत्री समस्त वेदोंकी जननी तथा सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाली है। स्वर्गलोकमें तथा पृथ्वीपर गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। गायत्रीदेवी नरकसमुद्रमें गिरनेवालोंको हाथका सहारा देकर बचा लेनेवाली है।'

संवर्तस्मृतिमें भी आया है—

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्॥
(२१८)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कोई नहीं है । अत. प्रणव (ॐकार) सहित तीन व्याहृतियोंसे युक्त गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये ।'

श्रीमनुजी कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(२ । ७८)

'इस ओंकार और व्याहृतिसहित गायत्रीका दोनों कालोंमें जप करनेवाला वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठका पुण्यफल पा लेता है ।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२ । ८२)

'जो पुरुष तीन वर्षतक प्रतिदिन आलस्य छोड़कर गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है ।'

श्रीगायत्रीकी महिमाके सम्बन्धमें महाभारत, शान्ति-पर्वके १९९ वें और २०० वें अध्यायोंमे एक बडा सुन्दर उपाख्यान मिलता है । कौशिक गोत्रमें उत्पन्न पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था । वह गायत्रीका जप किया करता था । लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर उसको सावित्रीदेवीने साक्षात् दर्शन देकर कहा—'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ ।' परतु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था, वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया । वेद-माता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशसा करती वहीं खडी रहीं । जपकी सख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खडा हुआ और देवीके चरणोंमे गिरकर उनसे उसने यह प्रार्थना की—'यदि आप मुझपर प्रसन्न है तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे ।' भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं ।

ब्राह्मणने पुन जप आरम्भ कर दिया । देवताओंके सौ वर्ष और व्यतीत हो गये । पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिया और स्वर्गादि लोक मॉंगनेको कहा । परंतु ब्राह्मणने धर्मको भी वैसा ही उत्तर दिया, वह बोला—'मुझे सनातन लोकोंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके शान्ति प्राप्त करूँगा ।' इतनेमे ही काल (आयुका परिमाण करनेवाले देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाले देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाले देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ खिंचे हुए चले आये । यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बडी प्रशसा की । उसी समय तीर्थयात्राके निमित्तसे निकले हुए राजा इक्ष्वाकु वहाँ आ पहुँचे । राजाने तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा, परतु ब्राह्मणने कहा—'मैंने तो प्रवृत्तिधर्मको त्यागकर निवृत्तिधर्म अङ्गीकार किया है, अत. मुझे धन-की कोई आवश्यकता नहीं है । तुम ही कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो । मै अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया । तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किंतु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे । बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा । ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी

दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्य-फलको ब्राह्मण स्वीकार कर ले। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे। आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमे ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मण और राजा दोनोंके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुञ्ज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा—'अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है।' इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब वह ब्रह्माके मुखमें प्रविष्ट हो गया।

इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्रीजपका महान् फल बतलाया गया है। अत. हमलोगोंको भी गायत्रीकी इस महत्ताको समझकर इस अल्पायास-साध्य गायत्रीजपके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र लाभ उठाना चाहिये।

सत्सङ्ग-सुधा

१. आपका मन जहाँ है, वहीं आप हैं—इस बातको गिरह बाँधकर याद कर लें। यहाँ बैठे हुए यदि आप कलकत्तेकी दूकानका चिन्तन करते हैं तो आप असलमें कलकत्तेमें ही हैं। इसी प्रकार यदि शरीर यहाँ है, पर मन शरीरको छोड़कर दिव्य वृन्दावनधाममें है तो आप वृन्दावनधाममें ही है। प्रारब्ध पूरा होनेपर शरीर गिर जायगा तथा आप सदाके लिये उसी लीलामें सम्मिलित हो जायँगे। सब कुछ आपकी इच्छापर निर्भर है। इस अटूट बातको मानकर साधनामें लगे रहनेसे ही उन्नति हो सकती है।

२. आपके मनकी दशाका तो मुझे ज्ञान है नहीं कि उसमें क्या है। पर मेरा तो यह विश्वास है कि जिस दिन आप यथार्थमें चाहने लगियेगा कि मेरा मन व्रजलीलामें फँस जाय, उसी दिन उसी क्षण अपने-आप आपको मनके रोकनेकी नयी-नयी युक्तियाँ सूझने लगेंगी कि ऐसे रोकें, ऐसे फँसायें, ऐसे करें। नहीं होता है, इसमें भगवान् ही जानें क्या कारण है। मुझे अनुमान होता है कि वह व्याकुलता ही मनमें शायद नहीं है। कभी-कभी सोडावाटरके जोशकी तरह चित्त चाहता है, फिर ठंडा पड़ जाता है।

३. यहाँ घडी दीख रही है; पर यह बिल्कुल सत्य बात है कि इसी घड़ीकी जगह श्रीकृष्ण हैं। अब जबतक आप घडी देखना बंद नहीं करेंगे, तबतक श्रीकृष्ण कैसे दीख सकते हैं, क्योंकि मन तो एक है और वह एक ही काम करेगा—चाहे घडीको देखे या श्रीकृष्णको। श्रीकृष्णको देखनेपर घड़ी नहीं दीखेगी और घड़ीको देखनेपर श्रीकृष्ण नहीं दीखेंगे। वैसे ही मनसे या तो जगत्‌का चिन्तन होगा या श्रीकृष्णका। जहाँ जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन आपका मन करता है, वह पदार्थ उनकी ही मायाकी रचना है, उनकी एक लीला है। जबतक आप इस लीलाको छोडकर उनकी उस दिव्य चिन्मय लीलामें मन नहीं ले जायँगे, तबतक कोई दूसरा क्या करेगा। आप कहें कि हमसे ऐसा होता नहीं—इसका साफ उत्तर है कि आपका मन अभी यह चाहता नहीं कि इस लीलाको छोड़कर उस परम लीलामें जाय।

४. आरम्भमें कठिनाई होती है। पर ऐसी-ऐसी युक्तियाँ हैं कि जिनके करनेसे मन वशमें होगा ही। जबतक मन उसमें लीन नहीं होगा, तबतक केवल पढ़कर वह आनन्द आप ले ही नहीं सकते। आप

करना चाहें तो मैं एक युक्ति बतलाता हूँ, पर वह होगी करनेसे ही। मान लें आप 'हरे राम' जपते हैं। इसको जपते रहें, पर प्रत्येक मन्त्रके उच्चारणके साथ एक बार आप यह ध्यान कीजिये कि श्रीप्रिया-प्रियतम एक वृक्षके नीचे खड़े हैं। सन्ध्याके समय कहीं चले गये। टीलेपर बैठकर देखिये—एक सड़क है, अत्यन्त सुन्दर सड़क है और उसपर वृक्ष-ही-वृक्ष लगे हैं। अब प्रत्येक वृक्षके नीचे आप एक बार श्रीकृष्णको एवं राधारानीको देखिये तथा मालाकी मनिया फेरते चले जाइये। इस प्रकार तीन माला अर्थात् ३०० वृक्षके नीचे ३०० बार श्रीप्रिया-प्रियतमका दिव्य चिन्तन कीजिये, इस दृढ निश्चयके साथ कि यह करना ही है। यह अभ्यास यदि बढ गया और कहीं १६ माला हरे रामके षोडश नामकी हो गयी तो आगे मनको टिकानेमें बडी सुविधा होगी। पहले तीन मालासे आरम्भ करें।

वास्तवमें यदि आप चाहते हैं तो आपको यह करना ही पडेगा। धीरे-धीरे मनकी बदमाशी मिटानी ही पडेगी। आप देखें, मन तो जैसे आज बदमाशी कर रहा है, मरते समय और भी अधिक बदमाशी कर सकता है तथा पता नहीं कब किस सङ्गमें फँसकर मनपर कैसा रंग चढे। अतः उसके पहले ही मनकी बदमाशीको पूरी तरह मिटा दें। उसके लिये यह बडी सुन्दर युक्ति है।

एक युक्ति और भी है। पर पहले आप इसे करें, फिर आगेकी युक्ति कभी पीछे बतायी जा सकती है। वह युक्ति संक्षेपमें यह है कि जैसे मालाका नियम जो चल रहा है, वह चले, पर खूब कड़ाईसे यह नियम बना लेना पडता है कि लगातार तीन-चार घंटे बैठकर ब्रज-सम्बन्धी ५००० चीजोंको याद करूँगा। एक-दो सेकंडके लिये उन पाँच हजार चीजोंको याद कर ही लूँगा, चाहे मन कितनी ही बदमाशी करे। उसके लिये एक किताब अपने पास रख लेनी चाहिये तथा १-२-३ ऐसे नंबर लगाकर, जैसे पाठ किया जाता है वैसे एक-एक चीजको पढते जाना चाहिये और उसका एक-एक सेकंडके लिये ही चित्र बाँधते जाना चाहिये तथा जीभसे नाम चलते रहना चाहिये। होता यह है कि मन भागने लगता है, पर नियमके कारण जहाँ साल, छः महीना प्रतिदिन दृढतासे ऐसा हुआ कि मनको ठीक उस समय प्रतिदिन वहाँ आना पडेगा। पर बिना नागा इन नियमोंको करना पडता है, तब सफलता मिलती है। हाजिरी, मुलाहिजा, शिष्टाचारके फेरमें पडनेपर तो कोई भी नियम नहीं सधता। पहले आप यह तीन मालावाला नियम आजसे या कलसे शुरू करें और इसको खूब कड़ाईसे चलायें।

देखें—विषयोंमें सुख नहीं है, पर तो भी सुखकी भ्रान्ति होती है। इसका रहस्य मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि यह भ्रान्ति क्यों होती है। मान लें खूब जोरसे भूख लगी है, अब खानेके समय बडा आनन्द मिलता है। पर असलमें यह जो आनन्द मिलता है, वह खानेकी वस्तुसे नहीं आता, वह आता है उन भगवान्‌से, जो हृदयमें बैठे हैं। होता यह है कि मनमें इच्छा हुई, उत्कट इच्छा हुई कि कुछ खाऊँ। इसी इच्छाकी पूर्ति जब होती है, तब उतनी देरके लिये मनकी चञ्चलता मिट जाती है और वह स्थिर हो जाता है। स्थिर मनपर आत्माका सुख प्रतिबिम्बित होने लगता है और मनुष्यको आनन्द-का अनुभव होता है। असलमें तो मनके टिकनेसे आत्माके आनन्दकी छाया मनपर पडी है, इसीलिये आनन्दका अनुभव हुआ है।

इसी प्रकार सभी विषयोंकी बात है। इच्छा हुई और जब वह इच्छा पूर्ण होने लगती है, तब उतनी देरके लिये मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होते ही आत्माकी छाया उसपर पडने लग जाती है और मनुष्य मूर्खतासे मान बैठता है कि अमुक विषयसे मुझे सुख मिला है। अवश्य ही इस बातपर आसानीसे विश्वास होना बडा कठिन है, पर सत्य बात तो यही है।

इसीलिये मनको ठीक स्थिर करनेकी आवश्यकता है। यही मन जब भगवान्‌में स्थिर हो जाता है, तब फिर वह सुख कभी मिटता नहीं। वह आनन्द नित्य है और उसे प्राप्त करके जीव निहाल हो जाता है। इसलिये इसको आप अवश्य करें, लीलामे मन लगानेमें कोई परिश्रम नहीं है। पर हमसे नहीं होता, इसका उत्तर मेरे पास नहीं है।

५. अनादिकालसे विषयोंके संस्कार मनमें हैं और विषयोंकी इच्छा होती है। प्रत्येक विषयकी कामनाके साथ ही मन उसकी पूर्तिके लिये व्याकुल होता है। पूर्ति हुई, व्याकुलता मिटी। पर यह मिटेगी थोडी देरके लिये ही, क्योंकि उतनी देरतक आत्माकी छाया मनपर पड़ी थी। जैसे हिलते हुए दर्पणमें मुख नहीं दीखता, स्थिर होनेपर दीखने लग जाता है, वैसे ही चञ्चल मनमे आत्माका सुख प्रतिबिम्बित नहीं होता। जब मन-दर्पण थोडी देरके लिये शान्त होता है, तब उसका हिलना बंद होकर आत्माका प्रतिबिम्ब उसपर पडता है। फिर कुछ क्षणके बाद दर्पण हिलने लगता है। इसी तरह विषयकी पूर्ति, सुख—फिर विषयकी कामना और व्याकुलता—यह चक्कर चलता रहता है। असलमें वह सुख भी छाया है, असली नहीं। असली सुख तो उस वस्तुमें है, जिसकी छाया पडती है। वह परम वस्तु हैं भगवान्।

६. लीला-वस्तुओंके पाठका नियम लेकर साधना करनी पड़ती है। एक वाक्य पढा और फिर उस चीजका एक सेकंड मनमें चित्र बाँधकर देख लिया। फिर दूसरा वाक्य पढा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। तीसरा वाक्य पढा, उस वस्तुका चित्र बाँधकर देख लिया। यह पाठ जिस दिन पाँच हजार वस्तुओंका लगातार पूरा हुआ कि लगातार ६ घंटे लीलाका ध्यान हो जायगा। जैसे—

१. राधाकुण्डका जल चमचमा रहा है।

२. कुण्डपर कमलके फूल हैं।

३. कमलके हरे-हरे चौड़े पत्ते हैं।

४ नीले-लाल-उजले तीन तरहके कमल हैं।

५. कमलके फूलपर काले-काले भौंरे मँडरा रहे हैं।

६. पवनके कारण कमलकी डठी हिल रही है।

७. कमलके मूलके पास एक हंस बैठा है।

८ हंस उजले रगका है।

९. हंस बोल रहा है।

१०. राधाकुण्ड बहुत लंबा-चौडा है।

११. पूर्वकी ओर करीब एक फर्लांग लबा है।

इस प्रकार प्रतिदिन नियमसे करना पडता है। आनन्द आये या न आये। मनकी बदमाशीसे कभी-कभी जी ऊबेगा, पर तुले रहनेपर मन फिर लग जायगा।

और भी युक्तियाँ हैं—जैसे भागवतका पाठ करना हो। अब प्रत्येक श्लोकपर जब एक बार प्रिया-प्रियतमकी छविका चित्र बँध जायगा, तब दूसरा श्लोक पढेंगे। इस प्रकार यदि बारह अध्याय पाठका नियम हो तो तीन घंटे ध्यान हो जायगा। अठारह अध्याय गीता-पाठका नियम हो तो तीन घंटे बीत जायँगे। पर होगा लगनसे करनेपर।

७. लगनकी तत्परताके लिये एक युक्ति है। वह यह है कि नींद खुलते ही हृदयसे श्रीप्रिया-प्रियतमसे निवेदन करें कि अब जीवन तुम्हारे हाथमें है और फिर एक काम करे—एक रूमाल बराबर पास रखे, उसमें गाँठ बाँध दे। गाँठ देते समय यह पद गाते रहे—

नंदलाल सौं मेरो मन मान्यो, कहा करेगो कोय री।
हौं तो चरन कमल लपटानी, होनी होय सो होय री॥
गृह पति मात पिता मोहि त्रासत, हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो जिय ऐसी बनि आई, बिधना रच्यो है सजोग री॥
जो मेरौ यह लोक जायगौ, अरु परलोक नमाय री।
नदनंदन को तऊ न छाँडौं, मिलूँगी निसान बजाय री॥
यह तनु फिर बहुरी नहिं पैये वल्लभ बेष मुरार री।
परमानन्द स्वामी के ऊपर सरवस डारौं वार री॥

यह पढकर गाँठ बाँध लें और जहाँ जायँ, जहाँ बैठें, रूमालको सामने रखे रहें तथा बार-बार मन-ही-

मन निश्चय दृढ़ करते रहें, हमें यही करना है। चाहे सारा ससार जल जाय, नष्ट हो जाय, पर हमें यह एक ही काम करना है। दिनभर वह गाँठ सामने रखें, प्रातःकाल फिर उठकर उसे खोले, खोलकर फिर पद गाते हुए बाँध दें। इससे बड़ी सहायता मिलती है। किसीको पता भी नहीं चलता कि गाँठ किसलिये है। रूमाल है, किसी कामके लिये गाँठ दी हुई होगी अथवा कोई चीज बाँधी हुई होगी—लोग यही समझेंगे। पर वह सामने हाथमें सदा पड़ा रहे। जहाँ गये, हाथमें लेकर बैठे रहे।

> प्रेम गली अति साँकरी ता में द्वै न समाय।
> राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥
>
> × × ×
>
> कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
> जो घर फूँकै आपना तो चलै हमारे साथ॥

ये बिल्कुल सच्ची बातें हैं। महाभारतमें तो यहाँतक कहा है कि यदि जीवोंपर दया करने जाओ और उससे मन फँसने लग जाय तो फिर इस कार्यकी भी उपेक्षा कर दो।

> प्रेम-पथ अति ही बिकट, देखत भागैं लोग।
> कोउक बिरले चलि सकैं, जिन त्याग्यौ सब भोग॥

बिल्कुल ससारकी दृष्टिमें निकम्मा हो जाना पड़ता है, तब रास्ता तय होता है। फिर तो एक-से-एक युक्ति सूझने लगेगी। सोचिये, एक दिन तो सब छूटेगा ही, फिर इससे बड़ी मूर्खता क्या होगी कि हम ऐसे नश्वर पदार्थोंके पीछे अनमोल जीवन व्यर्थ खो दें। पर खोते ही हैं। विषय अनादिकालसे मनमें धँसे हुए हैं और मन एक बार भी भगवान्‌में नहीं फँसा। नहीं तो जिस दिन फँसा कि बस विषय स्वाहा हुए। ललितकिशोरीजी पहले करोड़पति थे, पर जब वैराग्य हुआ और प्रिया-प्रीतमका रंग चढ़ा, तब उन्होंने गाया—

> बन बन फिरना बेहतर इमको, रतन-भवन नहिं भावै है।
> लता तरे पड़ रहनेमें सुख नाहिन सेज सुहावै है॥

नारायणस्वामी तो कहते हैं—

> जाहि लगन लगी घनस्याम की।
> धरत कहूँ पग परत कितैहू, भूलि जाय सुध धाम की॥
> छवि निहारि नहिं रहत सार कछु, निसि-दिन पल-छिन-जाम की।
> जित मुहँ उठै तितै ही धावै, सुरति न छाया घाम की॥
> अस्तुति निंदा करौ भले हीं, मेंड तजी कुल-गाम की।
> नारायन बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की॥

पर इन सबको जीवनमें उतारनेसे ही काम बनता है, बातें करनेसे नहीं।

८. एक अकाट्य नियम है—मनसे एक ही काम होगा। श्रीकृष्णका चिन्तन या विषयका चिन्तन। आपको विश्वास कोई कैसे करा दे, पर यदि शास्त्रपर विश्वास करें तो शास्त्र इस सिद्धान्तसे भरे पड़े हैं कि भगवान् सर्वत्र है। प्रह्लादके लिये वे खभेसे निकल पड़े। उसी प्रकार सच्चे विश्वासी भक्तके लिये आज भी भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें खंभेसे निकल सकते हैं। आपके मकानके प्रत्येक खभेमें श्रीकृष्ण हैं; पर जबतक आप मकानके खंभेमें मन फँसाये रहियेगा, तबतक श्रीकृष्ण क्यों आने लगे। वे तो चाहनेवालेके सामने आते हैं। आप या कोई भी कहता है—कि 'हे भगवन्! मकान नहीं छूटे, धन नहीं छूटे, रुपया-पुत्र बना रहे', तो श्रीकृष्ण कहते हैं—'यह मेरे श्रीकृष्णरूपको नहीं चाहता, पर यह मेरा जो मायिक रूप है—धन, पुत्र, मकान—उसीको चाहता है। तब मैं अपने असली रूपमें क्यों आऊँ।'

साराश यह है कि श्रीकृष्णको कहीं ढूँढ़ने जानेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है मनसे सब कुछ निकालकर उनमें मन फँसा देनेकी। फिर तो जो असली बात है, वह सामने आ जायगी। श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं, दूसरी वस्तु है ही नहीं—यह प्रत्यक्ष करके निहाल हो जायँगे। यही दृष्टि श्रीगोपीजनोंकी थी। जहाँ दृष्टि पड़ती थी, वहीं श्रीकृष्ण उन्हें प्रत्यक्ष हो जाते थे।

९. बिल्कुल ही अंधेर-खाता है। गीताका पाठ करते हैं, पर उसके श्लोकोंपर विश्वास नहीं। होना भी कठिन है; क्योंकि जब चाह ही नहीं, लगन ही नहीं, तब हो कैसे? मनमें जलन हो, तब तो भगवान्‌के सामने रोये। पर मनुष्य तो विषयोंमें सुख देखता है। भगवान्‌के ध्यानकी बात सुननेपर केवल मुँहसे कहता है—'हाँ, अच्छी बात है'; पर भीतरसे वह उसे झूठ ही समझता है। नहीं तो, विषय नहीं छूटनेपर मन चौबीस घटे रोता रहे।

देखिये, आप इस बातका अनुभव करते होंगे कि जब-जब आप भगवान्‌से हटते हैं, तभी-तभी अशान्ति और बढ़ती है। एक वार नहीं, बार-बार यही बात होगी। पर फिर भी जैसे कुत्तेकी पूँछ सीधी होती ही नहीं, वैसे ही मनुष्य विषयके मैलेसे निकलना नहीं चाहता। बडी दयनीय दशा है। अभी तो इन्द्रियाँ काम कर रही हैं और थोडी-बहुत साधना भी हो सकती है—सफलता भी मिल सकती है। मान लें, कुछ भी सफलता न मिले, फिर भी रातको सोने समय मनमें यह अपूर्व शान्ति तो रहेगी ही कि हमने इतनी चेष्टा कर ली। इसीलिये जपमें संख्या रखनेकी बात कही जाती है। आप करके देखें—जिस दिन बीस माला जपते हुए ध्यानकी चेष्टा होगी, उस दिन सोते समय मन आनन्दसे भर जायगा कि आज मैंने श्रीप्रिया-प्रियतमको दो हजार बार याद करनेकी चेष्टा तो की। कम-से-कम पंद्रह सौ बार स्मरण तो हुआ ही होगा। ओह! पंद्रह सौ बार आज भगवान् याद आये।' बस, यह संख्या आनन्दमें डुबा देगी। फिर संख्या बढ़ेगी। जिस दिन कहीं पाँच हजार बार अधिक सफल चेष्टा हो गयी, तब तो और भी आनन्द आयेगा। आप करके जाँच लीजिये। इस संख्याकी पूर्तिसे भी बडा आनन्द आयेगा। अवश्य ही जैसे बताया है, वैसे करनेपर होगा। एक मनिया मालाकी फिरी कि उसके साथ झाँकी बाँधनेकी चेष्टा हुई। इस प्रकार एक माला पूरी होते ही मनमें यह स्फुरणा होगी कि सौ बार चेष्टा हुई। अच्छा बीस बार ठीक नहीं हुई होगी, अस्सी वार तो ठीक हुई होगी। अहा! कितना आनन्द है, कितने सौभाग्यकी बात है—मुझे अस्सी बार श्यामसुन्दर एवं राधारानी याद आ गये, नहीं, नहीं, अस्सी बार हमारे मनमें आ गये। इस प्रकार प्रत्येक माला आपके जीवनको उत्तरोत्तर आनन्दसे भर देगी। पर यह बात होगी लगनसे करनेपर तथा विषयोंको स्वाहा करनेकी दृढ़ धारणा करके चलनेपर।

१०. आज सोच रहा था—मेरा कौन है? कई स्फुरणाएँ हुईं। लोग पूछते थे कि आपका स्वास्थ्य कैसा है? स्वस्थ है? मनमें आया 'स्वस्थ'का क्या अर्थ है? फिर सोचा—व्याकरणके अनुसार तो 'स्व'-'स्थ' अर्थात् जो स्वमें स्थित हो, वह स्वस्थ है। पुन सोचने लगा—मेरा अपना कौन है? मनसे उत्तर मिला—श्रीकृष्ण हैं। और कौन हैं? राधारानी हैं। और कौन है? मनसे पुनः उत्तर मिला—श्रीगोपीजन हैं। और कौन हैं? श्रीनित्य दिव्य वृन्दावनधाम। और भी आगे मनमें कई बातें आयीं, सब कई कारणोंसे बता नहीं सकूँगा। पर इन्हीं बातोंपर आप भी आज विचार कीजिये। इन चारोंके सिवा और कौन-सी वस्तु है, जो आपकी है। जो आपकी है, वह मरनेके बाद भी साथ रहनी चाहिये। पर यहाँ तो धन, पुत्र, स्त्री, पद, गौरव—सभी छूट जायँगे, यहाँतक कि शरीर भी छूट जायगा। ये वस्तुएँ आपकी तो हैं नहीं। किंतु इन चारोंको देखिये—श्रीश्यामसुन्दर कभी नहीं छूटेंगे, राधारानी कभी नहीं छूटेंगी। श्रीगोपीजन कभी नहीं छूटेंगे, वृन्दावन भी कभी नहीं छूटेगा। यह इसीलिये कि ये नित्य हैं, नित्य आपके साथ रहते हैं, इनका कभी विनाश-वियोग होता ही नहीं तथा ये बार-बार आपके मनमें आते हैं, यह इनकी कितनी दया है। पर जब आप इन्हें पराया मानकर छोड देते हैं और परायेको अपना मानकर इनकी जगह याद करने लगते हैं, तब फिर ये छिप

जाते है। ये सोचते हैं—'अच्छी बात है, भाई! तुम मुझे चाहते ही नहीं तो क्या करूँ। तुम याद करते हो, याद करते ही तुम्हारे मनमें आकर उपस्थित हो जाता हूँ, पर मेरे आनेके बाद भी फिर तुम मुझको तो ढँक देते हो और उसकी जगह स्त्री-पुत्र-धनको बैठा देते हो। अब बोलो, मेरा क्या अपराध है?'

११. केवल विश्वास चाहिये। भगवान्पर विश्वास होते ही सब काम बना-बनाया है। सकाम-निष्कामकी बात नहीं है। बात है भगवान्का भजन करनेकी, विश्वासपूर्वक भगवान्को स्मरण करनेकी। फिर चाहे किसी भी कामनासे आप भगवान्को क्यों न भजें, आपको श्रीभगवान् ही मिलेंगे। श्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवके समान प्रेमकी शिक्षा देनेवाला और कौन मिलेगा। उन्होंने एक जगह स्वयं अपने प्रिय-से-प्रिय शिष्य श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते हुए कहा था—'अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन' (यदि मनुष्य किसी दूसरी कामनासे भी श्रीकृष्णका भजन करे तो) 'न माँगिले ओ श्रीकृष्ण तारे देन स्व-चरण' (श्रीकृष्ण न माँगनेपर भी उसे अपने चरणोंको ही दे डालते हैं)। ऐसा क्यों? इसपर कहते हैं—'कृष्ण कहे (श्रीकृष्ण सोचते है) आमाय भजे (यह मेरा भजन तो करता है) (पर) माँगे विषय-सुख (माँगता है विषय-सुख)। (ओह!) अमृत छाडि माँगे विष एइ बड मूर्ख (यह अमृत छोडकर विष माँगता है—देखो तो, यह कितना मूर्ख है।) (किंतु) आमि विज्ञ (मैं तो मूर्ख नहीं हूँ—मैं तो जानता हूँ, सब कुछ जानता हूँ। किस बातमें इसका मङ्गल है, किसमें अमङ्गल है—सब जानता हूँ।) एइ मूर्खे विषय केन दिब (मै भला जान-बूझकर, इसका हितैषी होकर भी इस मूर्खको विषय देकर ही कैसे टाल दूँ। मैं तो) स्वचरण दिया विषय भुलाइब (इसे अपने चरणोंका प्रेम देकर इसका विषय-प्रेम भुला दूँगा—इसके विषय-प्रेमको नष्ट कर दूँगा)।

सफलता होगी,—पर निरन्तर उनको भजनेसे,उनको याद करनेसे। भाव चाहे कुछ भी हो। आप करते नहीं, यही कमी है। वास्तवमे आप चाहते ही नहीं, तब क्या हो।

१२. संत पाकर भी यदि जीवन भगवन्मय नहीं बन रहा है तो दो ही बात हो सकती है। आप जिसे संत मानते हैं, वह संत नहीं है या आप चाहते नहीं। श्रीगौराङ्गप्रभुकी शक्तिवाला संत कोई हो तो आपका काम बन सकता है। पर उसमे भी 'सब धान बाईस पसेरी' नहीं होगा। अधिकारीके अनुसार एवं श्रद्धा-तत्परताके कारण तारतम्य हो ही जायगा। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने उस मल्लाहको भी प्रेम-दान दिया और रूप, सनातन, रघुनाथ—इन तीनों गोस्वामिगणको भी। पर क्या दोनोंको समान प्रेम मिला? मल्लाहमे बीज बोया गया और गोस्वामियोंमें फल लगा दिया गया। एक व्यक्ति, मान लें, सर्वशक्तिमान् है। उसे आप चाहते हैं कि बस, सब कुछ लेकर मुझे आप अपनेको दे दीजिये। दूसरा चाहता है—हमे तो रोटी-कपडा दीजिये। तीसरा चाहता है—'हमे तो बस खूब मान-सम्मान दीजिये।' चौथा चाहता है, 'हमे तो आपकी सेवा चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।' अब वह व्यक्ति है तो बडा प्रेमी और उसके पास जो सबसे बढ़िया-से-बढ़िया चीज है, वही वह सबको देना चाहता है, पर लेनेवाला चाहता नहीं, वह उसकी दी हुई उस चीजको भी फेंक देता है। इसीलिये वह व्यक्ति सोचता है—क्या हर्ज है, तुम जो चाहोगे, वही देंगे। इसमे उसका क्या अपराध है?

१३. प्रेमकी चाह है—यह बड़े सौभाग्यकी बात है। उस इच्छाको छिपाये रखकर जीभसे निरन्तर नाम लीजिये। इसमें कोई परिश्रम नहीं। फिर देखियेगा, यह इच्छा आगकी तरह बढने लगेगी। इसमें कोशिश करनेपर निश्चय सफलता होगी ही। मन लगना कठिन है, ठीक है। न सही। पर जीभसे नामका उच्चारण

तो चाहनेपर अवश्य होगा। आप एक ही काम करें, शेष सब भगवान् करेंगे—वह काम है जीभसे निरन्तर नाम-जप। यह भगवत्-कृपापर अवश्य निर्भर है। पर भगवान्‌की आपपर कृपा है, विश्वास कीजिये। पूर्ण कृपा है और यह नामकी साधना निश्चय ही हो सकती है। यदि कोई कहे कि हमसे तो नहीं होता तो समझ लीजिये कि वह असलमे नाम लेना ही नहीं चाहता। एक बहुत बड़े संतने हमसे एक बार कहा था कि 'भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें, पर यदि कोई सचमुच चाहे कि हमसे निरन्तर नाम-जप हो और इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी।' भगवत्कृपाका अवलम्बन लेकर अपनी पूरी शक्ति लगाइये। शक्ति लगानेपर निश्चय ही नामजप होगा। जो ऊँची-से-ऊँची वस्तु है, जिससे परे कुछ भी नहीं है, वह सब बिना परिश्रम मिल जायगा। आप तो केवल एक व्रत ले लें। चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, बस, जीभ मशीनकी तरह नामका उच्चारण करती रहे। फिर अपने-आप सब हो जायगा। सारी बात भगवान्‌की कृपासे हो जायगी। मनका पाप मिट जायगा। मनकी चञ्चलता मिट जायगी। विषयानुराग नष्ट हो जायगा। संतोंके प्रति निश्चल निःस्वार्थ प्रेमभरा आकर्षण उत्पन्न होगा, भगवान्‌पर संशयहीन विश्वास उत्पन्न होगा। इस प्रकार सब कुछ अपने-आप होकर अत्यन्त दुर्लभ वस्तु, जो भगवत्प्रेम है, वह भी सच्ची इच्छा होनेपर मिल जायगा। केवल एक व्रत—निरन्तर जीभसे नाम। जैसे किसी मशीन-का स्विच दबा देनेपर वह अविराम चलती ही रहती है—बडी-बडी मीलोंमे देखा होगा, वैसे ही जीभको भगवान्‌के नामकी मशीन बना दे। अच्छी बात जो भी मनमें आये, कीजिये, पर जीभसे नाम लेते रहिये। इसके बिना साकार या निराकार—किसी भी प्रकारका ध्यान लगना बड़ा ही कठिन है। होता क्या है कि अधिकांशतः वृत्तियाँ शून्यमें लीन हो जाती हैं और लोग उसे ध्यान मान लेते हैं। मनमें भगवान्‌का जो भाव हो, वही रखें; पर जीभ नाम लेती रहे। एक केवल नामकी शर्त पूरी कर दें।

१४. हमारे जँचनेकी तो एक ही बात है। चाहे जैसे हो, दो काममें एक काम कर ही लेना चाहिये और जल्दी-से-जल्दी कर लेना चाहिये। या तो इस संसारको सर्वथा भूल जायँ तथा मनके सामने निरन्तर श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन और श्रीवृन्दावन ही नाचता रहे। अथवा जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय, वहीं-वहीं यह दृढ़ भाव, कभी भी नहीं टलनेवाला भाव हो जाय कि जो कुछ दीखता है, जो कुछ सुनायी पड़ रहा है, सब कुछ श्रीकृष्ण हैं, सब उन्हींकी लीला है। दोमेंसे एक हुए बिना मनका द्वेष मिटना कठिन है और जहाँतक द्वेष है, वहाँतक शान्ति मिलनी कठिन है। इन दोनोंमें अत्यन्त सहायक होता है—निरन्तर नामका अभ्यास। पर सब बात इसीपर निर्भर है कि हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवान् बन जायँ। यह ठीक-ठीक समझ लें कि जबतक कई और-और लक्ष्य रहेंगे, तबतक रास्ता कट जानेपर भी वह स्थिति सामने आनेमें बहुत विलम्ब लगेगा और जीवनभर अशान्ति कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। एकमात्र लक्ष्य भगवान् हो जायँ तथा फिर जो भी चेष्टा करे, वह यह ध्यानमें रखकर करें कि यह चेष्टा मुझे अपने लक्ष्यसे गिरानेवाली है या उठानेवाली, तब फिर रास्ता बड़ी शीघ्रतासे कटेगा। उदाहरणके लिये आप · गये। वहाँ जाकर दिन-रातमें आपने अनेकों चेष्टाएँ कीं, खाया-पीया, घूमे, सोये, लोगोंसे मिले। अब विचार करके देखें कि आपने जो भी चेष्टाएँ की हैं, उनमें कौन-सी चेष्टा किस उद्देश्यको लेकर की है। उस दिन रास्तेमे आपने किसी सज्जनसे बात की। अब बात करते समय आपका एकमात्र लक्ष्य यदि श्रीकृष्ण होंगे तो आपके मनकी दशा दोमेंसे एक प्रकारकी होगी। या तो

आपको उक्त सज्जनके रूपमें श्रीकृष्णकी अनुभूति होगी और बात करते-करते आप आनन्दमें मुग्ध होते रहियेगा। अथवा मन बिल्कुल उपराम रहनेसे उस समय ऊपरी मन-से तो आप बात करेंगे और भीतरी मन आपका श्रीकृष्णके रूपमें, गुणोंमें, लीलाओंमें लगा रहेगा। ऐसा न होकर यदि और कुछ आपका भाव है तो साफ-साफ यह बात समझ सकते हैं कि आपका लक्ष्य श्रीकृष्ण नहीं हैं। देखें, दिव्य वृन्दावनसे सुन्दर यह स्थान नहीं है। दिव्य वृन्दावनके महलोंसे अधिक सुन्दर यहाँका कोई भी भवन नहीं है। पर जब आपका मन इस भवनके देखनेपर चलता है, तब फिर यह समझ लेना चाहिये कि अभी तो यह वृन्दावन देखना ही नहीं चाहता, क्योंकि यह नियम है कि लक्ष्य श्रीकृष्ण हो जानेपर दिन-रात मस्तिष्क यही सोचता रहेगा कि कैसे वह रास्ता तय हो। उस समय यहाँका भवन आपको सुहायेगा नहीं। हाँ, यदि यह भाव हो कि सब कुछ श्रीकृष्णकी लीला है, तब तो कुछ कहना बनता ही नहीं। पर इसमें भी एक सावधानीकी आवश्यकता है। बढ़िया-बढ़िया चीजोंको लीला मान लेना आसान है, परीक्षा तो तब होती है, जब गरमी पड रही हो पानी मिले नहीं और मन भीतरसे कहे कि यह भी श्रीकृष्णकी ही एक लीला है। खूब ठडाई पीनेको मिले, मोटर घूमनेके लिये हो, हाथ जोडे सेवा करनेवाले खडे हों, उनमें श्रीकृष्णकी लीला मानना सरल है। इसीलिये आपसे प्रेमवश निवेदन किया है कि कहीं भी जायँ, कुछ भी करें, अपना लक्ष्य न भूलें। हम अमुक काम क्यों करते हैं—यह खूब विचारकर उसे करें।

किसीके यहाँ आप जीमने बैठे हैं। अब उस समय भी आपको यह ध्यान रहेगा कि हम खाते क्यों हैं? श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये या भोग भोगनेके लिये? भोग भोगनेके लिये खाना दूसरी तरहका होता है तथा श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये खाना दूसरी तरहका। आप खायेंगे वे ही चीजें तथा जितनी खाते हैं, उतनी ही खायेंगे, पर श्रीकृष्ण लक्ष्य होनेपर आपका मन उस समय श्रीकृष्ण-का ही चिन्तन करता रहेगा या परोसनेवालेमें भी आपको श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण दीखेंगे तथा आपका मन आनन्दसे भरता ही रहेगा।

यदि हमारा लक्ष्य श्रीकृष्ण हैं तो फिर मनमें ससारके चित्र तो बहुत अधिक पहलेसे ही भरे हुए हैं, अब यहाँके भवनको और क्यों भरें। यह नया मैल ही तो भरेगा। उसकी जगह यदि श्रीकृष्णके उन निकुञ्जोंको याद कर सकें, जो एक-से-एक बढ़कर हैं, जिनकी छाया भी संसारके समस्त बगीचोंकी सुन्दरता नहीं छू सकती, उन निकुञ्जोंमें मन फँसायें तो कितना लाभ हो। स्वय शान्ति पायें तथा अपने पास रहनेवाले-को भी शान्ति दें। हाँ, एक बात है। मन है बदमाश। यह रुके नहीं तो एक और उपाय है। जैसे उस महलमें गये थे। वहाँ पता नहीं क्या-क्या देखा। पर जो-जो चीज आपने देखी, उसी-उसीके आधारपर दिव्य वृन्दावनकी कल्पना उसी समय साथ-साथ करते जाते तो जैसे जहरके साथ अमृत भरा जाय, वैसे ही इन सस्कारोंके साथ ही एक ऐसी दिव्य चीज मस्तिष्कमें घुसती चली जाती कि वह बहुत काम देनेवाली हो जाती। आपकी बात नहीं, पर प्राय. ऐसा ही होता है कि इन चीजोंको देखते समय भगवान्‌को तो हम भूल जाते हैं और चीज—माया-माया केवल दीखती है—जिसका परिणाम होता है दु ख।

इस मनसे ही तो लडना है। इसीमें तो बहादुरी है। इससे कहिये—'यार! अनादि कालसे तेरे कारण ही मैं श्रीकृष्णसे बिछुडा हुआ हूँ। पर अब श्रीकृष्णकी कृपासे तुझे मैं श्रीकृष्णके पास ले जाकर निहाल कर दूँगा। स्वय निहाल हो जाऊँगा।' यह न करके मन-का कहा करेंगे तो फिर तो यह अभी भवन देखनेके लिये कहता है, फिर मडी देखनेको कहेगा, दूकान सम्हालने-के लिये कहेगा। इसपर तो शासन करना होगा।

चतुराईसे जैसे यह आपको धोखा देता है, वैसे ही चतुराईसे आप इसे बाँध लीजिये। जब यह बहुत अड़ जाय कि मैं तो अमुक चीज देखूँगा ही और यदि वह पापकी बात न हो तो दिखा दीजिये। पर उसके साथ ही किसी-न-किसी रूपमें श्रीकृष्णको भी जोडे रखिये, जिससे इस जहरका असर न हो।

अत्यन्त प्रेमसे कहता हूँ, कोई बात अनुचित हो तो क्षमा कीजिये। प्रेमवश कह रहा हूँ। इस शरीरको बिल्कुल मनसे उतार देनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मामूली सर्दी-गरमी भी यदि सहन नहीं होगी तो फिर वृन्दावनमें जीवन कैसे बीतेगा। वहाँ तो मच्छर खूब काटेंगे। पानी गरम-गरम पीनेको मिलेगा। पासमें यदि पैसा न न रहा तो खानेका भी ठिकाना नहीं कि रोज मिले ही। फिर यदि पित्त गरम होनेकी परवा बनी रही तो व्रजमें वास कैसे कर सकेंगे। इसका यह अर्थ नहीं कि खायें-पीयें नहीं। अच्छी तरह खाइये, पर मनसे ये चीजें उतर जायँ। लू चल रही है। अब बार-बार सोचिये—'अरे बाप रे! बहुत लू चल रही है' तो अशान्ति बढ़ेगी। यह न करके सोचिये, 'अहा! क्या ही सुन्दर जीवन दो दिनके लिये मिला है, घर रहते तो इस तरहका आनन्द कहाँ मिलता।' फिर मनमें आनन्द होने लगेगा।

भागवतमें कहा है—आकाश, वायु, अग्नि, पानी, पृथ्वी, नक्षत्र, सभी प्राणी, सभी दिशाएँ, सभी पेड़, सभी नदियाँ—ये सब-के-सब, चाहे अचर हों या चर हों—कोई भूत हो—सब श्रीकृष्णके शरीर हैं, यों मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे। अब लू चल रही है, गरमी है, उसमें आग है ही तथा वायु भी है। यदि यह भावना हो जाय कि अग्नि एवं वायुरूपसे मेरे शरीरको श्रीकृष्ण ही छू रहे हैं तो कितना आनन्द हो।

१५. खूब तत्परतासे नित्य वस्तुमें मन डुबाइये। नहीं तो सच मानिये, इतना पश्चात्ताप हो सकता है कि उसकी कोई सीमा नहीं है। बिल्कुल गाँठ बाँधकर रख लें। भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके सिवा यदि मन कुछ भी चिन्तन करता है तो समझ लें कि घाटेका कोई हिसाब ही नहीं है। अभी पता नहीं लगता, अभी चेष्टा नहीं होती, पर इन्द्रियाँ मरनेके समय इतनी व्याकुल हो जाती हैं कि बिना अभ्यास भगवान्में मन स्थिर होना बड़ा ही कठिन होता है। अतः जीवन-का शेष समय पूरा श्रीभगवान्में लगाइये। बड़ी तेजीसे रास्ता काटिये, नहीं तो परिवार-धन-जनमें कहीं मन फँसा रहा और मृत्यु हो गयी तो जीवन बिल्कुल व्यर्थ ही हो गया समझिये। (क्रमशः)

विषयोंमें सुख नहीं

जो सुख-रूपी जल हेतु विषय-मग जाते।
वे मृग-जल-जलधि-तरंग सदृश जल पाते॥
जैसे मृग-तृष्णा-जलसे प्यास न मिटती।
वैसे विषयोंसे सुखकी चाह न मिटती॥
ज्यों बालूके पेरे से तेल न पावै।
ज्यों जल-मन्थनसे घृत-सीकार नहिं आवै॥
कारण, न धूलमें तेल, न जलमें घी है।
वैसे ही विषयोंमें सुख-लेश नहीं है॥
जो सुख चहिये तो हरिको हरदम भजिये।
हरिके पवित्र भावोंसे तन-मन सजिये॥

स्वर्ग-नरक क्या हैं ?

[अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकार्तिकेयजी महाराजके सत्सङ्गसे]

(प्रेषक—श्रीज्ञानानन्दजी)

प्रश्न—स्वर्ग-नरक क्या है ? वहाँ प्राणी अपने कर्मोंका फल किस प्रकार भोगता है ?

उत्तर—वास्तवमें देखा जाय तो तृष्णाकी अधिकता अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि विषयोंके भोगनेकी तथा मान-प्रतिष्ठा इत्यादिकी इच्छा जिसके हृदयमे घुसी हुई है, वह लोकमें चाहे कितना ही भोगैश्वर्यसम्पन्न तथा महान् लब्धप्रतिष्ठ क्यों न हो, वह दुखी ही है अर्थात् उसका नरकमे ही निवास है।

'को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।'

जिसकी भोगेच्छा जितनी बढ़ी होती है, उसका उतने ही बडे नरक (दुःख) मे वास समझना चाहिये। यह तो लोकमें प्रत्यक्ष ही है कि तृष्णा और चिन्ताका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिसके हृदयमें जितनी तृष्णा है, उतनी ही मात्रामें चिन्ता अवश्य होगी और जितनी चिन्ता जिसके हृदयमें है, उतना ही वह लोकमें दुखी भी माना जाता है।

शास्त्र, सत-वाणी और निजी अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है कि यह भोगेच्छा ही सम्पूर्ण पापों (दुराचारो) की जड है। गीतामें जब अर्जुनने भगवान्‌से यह प्रश्न किया कि, 'भगवन्! न चाहनेपर भी बलात्कारसे पापाचरणमें लगा देनेवाला गुप्त शत्रु कौन है ?' तब श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

अर्थात् हे अर्जुन! इस लोक और परलोकके भोगोंको प्राप्त करने तथा भोगनेकी कामना ही, जिसकी उत्पत्तिका कारण रजोगुण है तथा जो वह अग्नि है, जो विषयरूपी घृतको पाकर अति प्रबलरूपसे बढ़ती ही जाती है अर्थात् कभी शान्त नहीं होती,—छोटेसे लेकर बडे-से-बडे महान् पापोंके करानेमे भी प्रधान हेतु मानी गयी है। इसी पिशाचिनीके वशीभूत होकर प्राणी नाना प्रकारके दुराचरण करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अक्षय परमानन्द आत्म (भगवत्)-सुखसे वञ्चित तो हो ही जाता है, साथ ही अनन्त कालके लिये चौरासी लाख योनिरूपी महान् दुःखगर्त (नरक) में गिर जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि इन्द्रियोंके विषय तथा विष (जहर) में निश्चय करके महान् अन्तर है अर्थात् विषसे कई लाखगुना प्रभावशाली विषय है। उस विषको तो जब आदमी खाता है तभी मरता है, परतु विषय तो स्मरणमात्र करनेवालेको एक बार ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ज्ञान, ध्यान, भजन और तपस्याको नष्टकर चौरासी लाख बार मृत्युकी यन्त्रणा देते हैं अर्थात् कूकर-शूकर आदि महान् दुःखदायी योनियोंमें भटकाते हैं।

अहि-विष तौ काटे चढ़ै, यह चितवत चढ़ि जाय।
ग्यान ध्यान को नष्ट करि, चौरासी लै जाय॥
महा हलाहल विषय है, इन सम विष नहिं कोय।
एक बार भच्छन किये, चौरासी घर होय॥

अस्तु, महान् प्रयत्न करके विषय (जगत्)-चिन्तनका परित्याग करना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब हम दृढतापूर्वक आत्म (भगवत्)-चिन्तनका निरन्तर अभ्यास करें।

यह तो प्रत्यक्षवादद्वारा भी सिद्ध है कि यह चित्त जिस-जिसका स्मरण करता है, उसके गुणोंको ग्रहण करता हुआ उसमें आसक्तिको प्राप्त करता है। भगवती श्रीगीताजीमें भी भगवान् यही बतला रहे हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

अर्थात् विषय-चिन्तनसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है तथा

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते। (श्रीमद्भा०)

—मेरा चिन्तन बराबर करते रहनेसे समस्त दुर्गुणोंसे मुक्त होकर यह चित्त मेरे ही गुणोंसे सम्पन्न हो मद्रूपताको प्राप्त होता हुआ मुझमें पूर्ण प्रेमासक्तिको प्राप्त करता है।

अत. यह निर्विवाद सिद्ध है कि तृष्णा ही नरक है। यह इस मृत्युलोकका नरक हुआ। इसके अतिरिक्त एक और भी नरक है, जिसको महर्षियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे देखकर बनाया है तथा जो जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) से आठ लाख मीलकी दूरीपर दक्षिणमे सयमनी (यम) पुरीके समीप विख्यात है, जहाँकि सम्राट् श्रीयमराज हैं।

यह नरकपुरी दुराचारियोंको दुराचारका फल भुगतानेके लिये ईश्वरद्वारा बनायी हुई ससारकी सबसे बडी जेल है। यमराजके असंख्यों भट (सिपाही), जो यमदूतके नामसे विख्यात हैं, दुराचारियोंको उनकी आयुके समाप्त होनेपर उनके उदानवायुरूप* प्राणोंको यम-यन्त्रके द्वारा निकालकर अपने साथमें लाये हुए अङ्गुष्ठमात्र शरीरमें प्रवेश कराकर घोर यातना देते हुए यमपुरी ले जाते हैं। वहाँ ले जाकर इस दुराचारी जीवको यमराजके निर्णयके अनुसार अनेक नरकोंमें प्राणान्त कष्ट देते हैं—जैसे अग्निसे तपाये हुए लाल खम्भोंसे लिपटाना, अत्यन्त संतप्त रेतीपर मीलों दौडाना, करोडों बिच्छुओंसे एक साथ बिंधवाना इत्यादि। जो बहुत बड़े दुराचारी होते हैं, उनको इससे भी अधिक घोर कष्टदायक नरकोंमे सैकडों वर्षोंतक कष्ट पहुँचाया जाता है, परतु विशेषता यह है कि दैवेच्छासे घोर कष्टोंको भोगते हुए भी नरकके प्राणी मृत्युको नहीं प्राप्त होते।

इसी प्रकार दुराचारी (पापी) लोग जहाँ रहकर अपने पाप-(बुरे) कर्मोंके फलको भोगते हैं, ऐसे लोकको ऋषियोंने नरकके नामसे वर्णन किया है। अब स्वर्ग क्या है, इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।

अर्थात् तृष्णा (भोगेच्छा) का नाश ही वास्तवमें स्वर्ग है—

तृष्णानाश स्वर्ग है भाई। तृष्णावृद्धि नरक अधिकाई॥

क्योंकि यह तो प्रत्यक्षवादसे सिद्ध ही है कि भोगेच्छाके नाशसे चिन्ता, दु ख और शोकका अभाव हो जाता है तथा सहज प्रसन्नताकी अनुभूति होने लगती है।

> चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
> जाको कछू न चाहिये, सोई साहनसाह॥

अन्यत्र भी सतोंने ठीक ही कहा है—

> चाह चमारी चूहरी, सौ नीचन की नीच।
> तू तो पूरण ब्रह्म था, (जो) चाह न होती बीच॥

जिस समय प्राणी सब चिन्ताओंसे मुक्त होकर हार्दिक प्रसन्नताको प्राप्त करता है, उस समय उसका स्वर्गमें ही नहीं, अपितु स्वर्गसे भी अनन्तगुने सुखदायी वैकुण्ठमें ही वास समझना चाहिये।

* पाठकोंको यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि जिस प्रकार मालाकी मणियाँ धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदानवायुरूपी धागेमें मन तथा आँख, कान, रसना, नाक, त्वचा इत्यादि इन्द्रियाँ गुँथी रहती हैं। उदानवायुरूप प्राणको बाहर निकालनेपर अन्य प्राणोंके साथ मन-इन्द्रियाँ इत्यादि अपने-आप ही स्थूलशरीरसे बाहर हो जाती हैं। योगीलोग इसी उदानवायुको जीतकर परकायप्रवेशरूप सिद्धिको प्राप्त करते हैं। इन्हीं मन-प्राण-इन्द्रियोंके समुदायको ही शास्त्रोंमें आत्माका सूक्ष्मशरीर कहा है। बाहरसे दिखायी पड़नेवाले आँख, कान इत्यादि अङ्ग नहीं हैं, ये दिखायी पड़नेवाले नेत्रादि इन्द्रियोंके गोलक (डिब्बे) हैं। इन्द्रियाँ सूक्ष्म आकारवाली होती हैं, जो इन नेत्रोंसे नहीं दिखायी पड़तीं। यह सूक्ष्मशरीर ही नरक, स्वर्ग इत्यादि लोकोंमें अपने कर्मानुसार भ्रमण करता रहता है अर्थात् कभी देव, कभी तिर्यक्, कभी मनुष्य इत्यादि स्थूलशरीरोंको न चाहनेपर भी ईश्वरीय नियमानुसार बरबस प्राप्त करता रहता है।

इसके सिवा एक और स्वर्गलोकका वर्णन शास्त्रोंमें आया है, जो मृत्युलोकसे कई करोड़ मीलकी दूरीपर पूर्व दिशामें स्थित है। वहाँके सम्राट् 'इन्द्रदेव' कहलाते हैं। वहाँ जिसने जितने अच्छे सत्कर्म (पुण्य) किये हैं, उनके अनुसार वह उतने वर्षोंतक वहाँ रहकर वहाँके मृत्युलोककी अपेक्षा कई लाख गुने सुखदायी भोगोंको भोगता है। पश्चात्, पुण्य क्षीण हो जानेपर उसे मृत्युलोकमे गिरा दिया जाता है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(गीता ९ । २१)

वहाँके सुखोंका वर्णन ऋषियोंने इस प्रकार किया है कि वहाँके निवासी शब्द, स्पर्श आदि विषयोंको (जो यहाँकी अपेक्षा दिव्य हैं) निरन्तर भोगते रहनेपर भी कभी बुढापा या किसी भी रोगके शिकार नहीं होते। वहाँके सभी लोग अणिमा आदि सिद्धियोंसे सम्पन्न होते हैं।

यह सब होते हुए भी भगवत्-सुख (सर्वदु ख-रहित अक्षय परमानन्द)से, जो उनके सुखसे उतना ही महान् है जितना एक बूँदकी अपेक्षा अनन्त समुद्र महान् होता है और जो सदा-सर्वदा रहनेवाला है—जब कि स्वर्गका सुख क्षणभङ्गुर है, और जिस सुखको प्राप्त करके प्राणी काम-क्रोधादिक सम्पूर्ण मानसिक तथा जन्म-मृत्यु-बुढापा आदि शारीरिक तथा शीत-उष्णादिक सम्पूर्ण दैविक द्वन्द्वोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, स्वर्गनिवासी वञ्चित ही रहते हें तथा पातित्याशङ्काके साथ-साथ ईर्ष्या, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, राग-द्वेष इत्यादि सम्पूर्ण मानसिक द्वन्द्वोंसे उत्तम, मध्यम आदि सभी श्रेणीवाले लोग जलते ही रहते हैं। साथ ही यह भय तो वहाँके निवासियोंको सदैव घेरे रहता है कि अवधि समाप्त होनेपर मैं यहाँसे निश्चय ही गिरा दिया जाऊँगा। इस प्रकार स्वर्ग भी वास्तवमें सुखदायी सिद्ध नहीं होता।

वास्तवमें पूर्ण सुखकी अर्थात् सब द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर अक्षय परमानन्दकी प्राप्ति उसीको होती है, जिसने सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा (श्रीहरि) के युगल चरणारविन्दका पूर्ण आश्रय ग्रहण कर लिया है।

नन्दनन्दन-चरण

भजि मन ! नंद-नंदन-चरन।
परम पंकज अति मनोहर, सकल सुख के करन॥
सनक-संकर ध्यान धारत, निगम-आगम बरन।
सेस, सारद, रिषय, नारद, संत चिंतन सरन॥
पद-पराग-प्रताप दुर्लभ, रमा कौ हित-करन।
परसि गंगा भई पावन, तिहूँ पुर धन-धरन॥
चित्त चिंतन करत जग-अघ हरत, तारन-तरन।
गए तरि लै नाम केते, पतित, हरि-पुर-धरन॥
जासु पद-रज-परस गौतम-नारि-गति-उद्धरन।
जासु महिमा प्रगटि केवट, धोइ पग सिर धरन॥
कृष्न-पद-मकरंद पावन, और नहिं सरबरन।
सूर भजि चरनारविंदनि, मिटै जीवन-मरन॥

साधन-भूमि

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें विवेकी मानव ही अपने जीवनमें अपूर्णतासे दुखी होकर पूर्णताकी प्राप्तिके लिये साधनका प्रश्न उठाते हैं।…… वास्तवमें जिसके द्वारा कुछ भी प्राप्त किया जाता है, वही उस वस्तुके प्राप्त करनेका साधन है। रूप-दर्शनके लिये नेत्र, शब्द-श्रवणके लिये श्रवणेन्द्रिय, गन्ध-ग्रहणके लिये घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शके लिये त्वगिन्द्रिय, किसी स्थूल वस्तुको पकड़ने तथा उठानेके लिये हाथ, कहीं गमन करनेके लिये पैर अथवा मानने तथा प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेके लिये मन, चिन्तनके लिये चित्त, सम्बन्धित वस्तु और व्यक्तिके विषयमें निश्चय और विचार करनेके लिये बुद्धि तथा किसीके साथ आत्मरूप होने या मिलनेके लिये अहंकार साधन हैं।……ज्ञानकी कमीके कारण सुखोपभोगकी तृष्णापूर्तिके लिये प्राप्त जीवनरूपी साधनका उपयोग करते रहना दुःखका मार्ग है और यथार्थ ज्ञान अथवा सद्विवेकके सहारे मिले हुए जीवनरूपी साधनका सेवामें सदुपयोग करना और बदलेमें कुछ न चाहना शान्तिका मार्ग है। दुखी होकर फिर सुखके पीछे दौड़ना अज्ञानीकी गति है, दुखी होकर संसारमें संयोग-भोगका सुख न चाहते हुए शान्ति प्राप्त करना ज्ञानीकी सद्गति है।……इन्द्रिय, वाणी, मन तथा चित्तके साथ जिस किसी भी अशुभ, असुन्दर और अपवित्र वस्तु या भावका संयोग हो गया है, उसका बहिष्कार करना ही उनकी शुद्धिके लिये साधना है।

अनेक साधक ऐसे दीख पड़ते हैं, जो अपूर्ण साधनाको पूर्ण साधना मानकर संतुष्ट होते रहते हैं। कुछ देर एकान्तसेवनके परिणामस्वरूप मनके विश्रामको—अन्तर्मुखी वृत्ति होनेपर शान्ति और स्निग्धभावके रसास्वादको परमानन्द समझनेवाले साधकोंकी दुर्बलताका पता तब चलता है, जब प्रारब्धवश अचानक कहीं लाभमें हानि, प्रिय-संयोगमें वियोग तथा सम्मान और अधिकारमें अपमान और अपयशका अवसर उपस्थित होता है; ऐसे साधक उसी प्रकार चिन्तित, भयातुर और दुःखसे आक्रान्त दीख पड़ते हैं, जिस प्रकार साधनाभ्यास न करनेवाले लोभी-मोही-अभिमानी प्राणी चिन्तित, भयातुर और दुखी होते रहते हैं। वास्तवमें जिसकी साधना जीवनकी किसी अवस्था, वर्ष, मास, दिवस, घंटे-घड़ीमें सीमित है, उसे अभी साधनाका पूर्ण परिज्ञान नहीं है। यह गम्भीरतापूर्वक समझ लेनेकी बात है कि जीवनमें शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, शक्ति, सम्पत्ति—जो कुछ भी प्राप्त है, वही साधन है—उसीसे मनोऽभिलषित साध्यकी प्राप्ति होती है, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक—परमार्थ हो। साधना बाह्य और आभ्यन्तर—दो तरहकी होती है। जो बाह्य साधनोंमें अपने-आपको बाँध लेता है, उसमें साधना करनेका अभिमान तो आ जाता है; पर जो साधना होनी चाहिये, उसका ज्ञान नहीं होता। बाहरी साधनासे ऊपरके दोष ढक जाते हैं, ऊपरसे जीवनका रूप शुभ—सुन्दर प्रतीत होने लगता है; किंतु भीतर दोष छिपे रह जाते हैं, असुन्दरता—मलिनता बनी रहती है।

दान, तप, सेवाकर्म, जप, कीर्तन, पाठ, पूजा आदि बाहरी क्रियाप्रधान साधनाएँ हैं; इन्हींके पीछे दया, करुणा, नम्रता, उदारता, सहिष्णुता, सर्वहितकी भावना तथा निष्काम प्रीति आन्तरिक साधनाएँ हैं; बाहरी साधनाकी सफलता भीतरी साधनाके सहयोगपर निर्भर करती है।……अन्तःकरणकी शुद्धि ही सर्वोत्तम साधना है। अन्तःकरण ही अन्तरङ्ग साधन है, जिसके द्वारा भीतरी—वास्तविक साधना चलती है। साधनाके पीछे सुविधि, सुविधिके पीछे भाव और भावके साथ यथार्थ

विवेक तथा विवेकके भीतर प्रेमकी अत्यन्त आवश्यकता है, प्रेमका योग परमानन्दस्वरूप परमात्मासे ही होना चाहिये—यही वास्तविक पूर्ण साधना है ।

जिसकी क्रिया-शक्तिका इन्द्रियोंके विषय-रसोंके ग्रहणमें व्यय होता रहता है, जिसका भाव-बल ससारकी सुखद वस्तुओंके पीछे लगा रहता है, जिसके विवेकका सासारिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही उपयोग होता रहता है और जिसकी प्रीति—ममता सासारिक सम्बन्धियोंमें ही आबद्ध है, उसकी साधना परमार्थकी सिद्धिमें सफल नहीं हो सकती । ··· साधनाके मध्यमे किसी प्रकारका रसास्वाद ही उन्नति—प्रगतिको रोक देता है । रसास्वादसे विरक्त साधकमें स्वत. ही सद्गुरु-कृपासे सुविधि, सद्भाव, सद्विवेक और प्रेमका सुयोग होता रहता है और यह उसे परमानन्द परमात्मामें समस्थित कर देता है ।

साधककी अन्तिम सफलता त्याग और प्रेमकी पूर्णतापर ही निर्भर करती है । अपने परम लक्ष्यके अतिरिक्त किसी भी सुखद वस्तु, अथवा व्यक्ति और भोगरसका चिन्तन ही साधनामें महान् विघ्न है । उत्तम साधना वही है, जिसके द्वारा भोगकामनाओं और सासारिक रागकी निवृत्ति हो और परमात्मामे ही पूर्ण अनुरक्ति हो । सर्वोत्कृष्ट आराधना वही है, जिससे अपने प्रियतम प्रभुके अनन्त दया-दान और प्रेम तथा अहैतुकी कृपामें चित्त स्थिर रहे—शान्त रहे । सर्वश्रेष्ठ उपासना वह है, जिससे अपने प्रियतम प्रभु—आराध्य-देवके सानिध्यमें उन्हींकी महिमाका मनन करते हुए मन निर्विकार—अचञ्चल हो, उन्हींके नित्य ज्ञानमे बुद्धि समस्थिर हो और हृदय अनुरागसे परिपूर्ण—तृप्त हो ।

जो इन्द्रियोंको वशमें रखकर धन तथा मानकी इच्छाका त्याग करके उदार दानी और परहितकारी होता है, मिले हुए तन-धनादि पदार्थोंको अपना न मानकर उनका सेवामे सदुपयोग करता है तथा अप्राप्त वस्तुका चिन्तन छोड देता है, अपने ऊपर होनेवाले दूसरोंके अधिकारके अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करता है और दूसरोंपर रहनेवाले अपने अधिकारका त्याग कर देता है, राग-द्वेपसे अपने आपको मुक्तकर तृप्त—शान्त रहता है, अपनी प्रसन्नता अपनेसे भिन्न वस्तु या व्यक्तिके आश्रित नहीं रखता, सबसे निराश होकर—भीतर-ही-भीतर सबसे माना हुआ सम्बन्ध तोडकर केवल सर्वव्यापक, अविनाशी परमात्मासे सम्बन्ध जोड लेता है, उसीकी साधना पूर्ण होती है ।

जो बहिर्मुखी, विपयाकार—दृश्याकार मनोवृत्तिको अन्तर्मुखी बनाकर उसे अन्तरात्मा अथवा विश्वात्मा या परमात्मामें लगाता है, अपने चित्तको ससारकी अनेकता-से मोडकर आत्मतत्त्वकी एकताका अनुभव करता है. साधना उसीकी पूर्ण होती है । · दु ख-द्वन्द्वसे मुक्त, नित्यतृप्त आनन्दमय जीवन ही साध्य है और दु ख द्वन्द्वोंसे घिरा हुआ अनित्य जीवन ही इस परम साध्यकी प्राप्तिका साधन है । मिले हुए जीवन-रूपी साधनका भोग नहीं, सदुपयोग ही साधना है । असत्-सङ्गका पूर्ण त्याग, सत्यका पूर्ण ज्ञान और सत्यसे ही पूर्ण प्रेम साधनाकी सिद्धि है ।

शिवाराधन ही परमसिद्धि है

दानि जो चारि पदारथको, त्रिपुरारि, तिहूँ पुरमें सिर टीको ।
भोरो भलो, भले भायको भूखो, भलोई कियो सुमिरें तुलसीको ॥
ता विनु आसको दास भयो, कबहूँ न मिट्यो लघु लालचु जीको ।
साधो कहा करि साधन तें, जो पै राधो नहीं पति पारवतीको ॥

पागलकी झोली

[रामनाम दातव्य औषधालय]

(लेखक—श्रीमत्सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

राम-राम सीताराम ! पागलको एक भक्तने बाजारमें एक मकान दे दिया है। पागलने उस घरके बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिख रक्खा है—

'रामनाम दातव्य चिकित्सालय'

घरके भीतर-बाहर रामनाम लिखे हैं। दस-बारह गमलोंमें तुलसीके पेड़ लगे हैं। पास ही तुलसीका एक बड़ा बगीचा है। पागल बैठा राम-राम कर रहा है।

एक स्त्रीने आकर पूछा—बाबा क्या यही पागलका दवाखाना है ?

पागल—हाँ, राम-राम तुम्हें क्या बीमारी है राम-राम ?

स्त्री—सिरमें बड़ा दर्द हो रहा है।

पागल—केवल राम-राम करो। सबेरे नाकसे जल पीओ। तीन बार नहाओ और कम खाओ। सदा राम-राम रटो। बस, रोग मिट जायगा।

स्त्री—मेरा रोग मिट जायगा बाबा ?

पागल—राम-राम, राम-राम ! निश्चय ही मिट जायगा। बोलो राम-राम, राम-राम।

स्त्री—राम-राम करती-करती प्रणाम करके चली गयी।

(एक वृद्धने आकर प्रणाम किया)

वृद्ध—मुझे बचाओ, बाबा !

पागल—तुम्हें क्या हुआ है राम-राम ?

वृद्ध—मुझे दमेका रोग है।

पागल—राम-राम, तुलसीका बगीचा लगाकर सब समय उसीमें रहनेकी चेष्टा करो। सहज ही हजम हो जाय, ऐसी चीज खाओ और केवल राम-राम करो। प्रातः-सन्ध्या नियमपूर्वक राम-राम जपो।

वृद्ध—मेरा रोग मिट जायगा, बाबा ?

पागल—जगत्में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो राम-नामसे न हो सके। राम-राम, राम राम।

वृद्ध प्रणाम करके राम-राम रटता हुआ जाने लगा।

पागल—राम-राम, सीताराम, सीताराम।

(एक युवकका प्रवेश और प्रणाम)

पागल—राम-राम, सीताराम—तुम्हें क्या रोग है, भैया ?

युवक—मुझे तपेदिक (यक्ष्मा) हो गया है।

पागल—घरके पास कोई नदी है ?

युवक—हाँ, गङ्गाके किनारेपर ही घर है।

पागल—राम-राम, सीताराम। बगीचा भी है, राम-राम ?

युवक—हाँ, है।

पागल—राम-राम, राम-राम। दो-एक बीघे भूमिमें तुलसी लगा दो। उसके बीचमें एक कुटिया बनाकर उसके चारों ओर राम-नाम लिख दो। धूप और वर्षाके समय कुटियामें रहो। शेष समय खुलेमें तुलसीके समीप बैठकर राम-राम करो।

युवक—मैं अच्छा हो जाऊँगा ?

पागल—राम-राम करते हुए अच्छे होते भी देखे हैं और मरते भी देखे हैं। जिसका मरनेका समय आ गया है, उसे कौन बचायेगा ? राम-राम करो। सुबह-शाम-दुपहरको नियमसे जप करो। राम-राम, क्या खाओगे ?

युवक—बतलाइये, क्या खाऊँ ?

पागल—राम-राम, सीताराम। महीन चावल, कच्चा केला, मटरकी दाल, ऊखका गुड, सेंधा नमक और गायका दूध—जितना पच सके उतना खाओ और राम-राम करो। तुम्हारे हृदयमें राम हैं। उनसे पूर्वकृत अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना करो।

युवक—मैंने क्या अपराध किया है ?

पागल—मनमाना भोजन, अनियमित स्त्री-सङ्ग, जहाँ-तहाँ, जब-तब, जिस-किसीके हाथका खाना। मद्य मांस, बटेर, मुर्गी, अंडा, प्याज, लहसुन—इन सब अखाद्य चीजोंके खानेसे मनुष्यको बीमारी होती है। राम-राम तुमने ये सब अत्याचार किये हैं, राम-राम ?

युवक—हाँ, खान-पान और स्त्री-सङ्गमें तो मैंने कभी कोई विचार नहीं किया।

पागल—राम-राम जो हो चुका है, उसके लिये तो कोई चारा नहीं है। केवल राम-राम करो। भीतर राम हैं, जबतक वे उत्तर न दें, तबतक राम-राम करते ही रहो।

युवक—मन बड़ा ही अस्थिर है ।

पागल—राम-राम, उसे होने दो । राम-राम करते-करते मन स्थिर हो जायगा । यक्ष्मा लगनेवाला रोग है, किसीको पास न आने देना । थूक-कफ जमीनमें गाड़ना, राम-राम कम-से-कम २॥ सेर जल रोज पीना । बाहरके गाँवोंमें अच्छा जल और हवा खूब सस्ते हैं । खुली हवामें सदा रहना । राम-राम-राम । तुम भी बोलो—राम-राम-राम ।

युवक राम-राम बोलता हुआ प्रणाम करके चला गया ।

(एक बालकका प्रवेश)

पागल—राम-राम तुमको क्या बीमारी है ?

बालक—नींदमें सोते हुए बिछौनेपर पेशाब हो जाता है । और पढा हुआ कण्ठस्थ नहीं होता ।

पागल—राम-राम । पिताको, माताको और दूसरे गुरुजनोंको प्रातःकाल, दुपहर और सन्ध्याको—तीन बार प्रणाम करना । तुलसीके पत्तोंका रस पीना और सदा राम-राम करना । सुबह-शाम दस-दस हजार राम-नामका जप करना । रात्रिको भोजन मत करना, जल न पीना । कड़े बिछौनेपर सोना । बिछौनेपर बैठकर पाँच हजार राम-नाम जप करना । राम-राम-राम, बोलो राम-राम ।

बालक—गिनती कैसे रक्खूँ ?

पागल—तुलसीकी मालासे जपकी संख्या रखना । राम-राम, राम-राम ।

बालक प्रणाम करके राम-राम करता हुआ चला गया ।

पागल—राम-राम, राम-राम, सीताराम ।

(एक युवतीका प्रवेश)

पागल—राम-राम-राम । बताओ, तुम्हे क्या हुआ है ?

युवती—मेरे स्वामी मुझे स्वीकार नहीं करते ।

पागल—राम-राम, सीताराम । सदा पवित्र भावसे रहना । किसी पुरुषके पास मत जाना, पुरुषको मत देखना । सुबह, दुपहर, शाम—तीन बार पाँच-पाँच हजार राम-नाम जपना और सदा ही राम-राम करना । राम-राम-राम ।

युवती—राम-राम करनेसे क्या स्वामी मुझे स्वीकार कर लेंगे ?

पागल—राम-राम निश्चय ही कर लेंगे । रामके पास जो जिस भावसे जाता है, वह वही पाता है । उठते, बैठते, खाते, सोते—सब समय राम-राम करना ।

युवती राम-राम करती हुई चली गयी ।

पागल—राम-राम, सीताराम, जय जय राम, सीताराम ।

(एक विधवाका प्रवेश)

पागल—राम-राम, सीताराम । तुम्हें क्या हुआ है, माँ ?

विधवा—मैं विधवा हूँ । खाने-पहननेका कोई कष्ट नहीं है, परंतु मुझको कुछ भी अच्छा नहीं लगता । सब सूना-सूना—कोई-कोई पुनर्विवाहकी बात करते हैं ।

पागल—राम-राम, तुम सचमुच शान्ति चाहती हो ?

विधवा—हाँ, बाबा ! मैं सचमुच शान्ति चाहती हूँ ।

पागल—राम-राम, जो सधवा हैं, वे खूब शान्तिमें हैं—क्या तुम ऐसा मानती हो ?

विधवा—नहीं, बाबा । उनको तो बड़ी पीड़ा भोगते देखा जाता है ।

पागल—राम-राम, सीताराम । तब विवाह होनेपर तुम्हें शान्ति मिल जायगी, यह कैसे निश्चय कर लिया ?

विधवा—कुछ भी निश्चय नहीं कर पाती हूँ, बाबा ! आप मुझे रास्ता दिखा दें, मैं वास्तविक शान्ति चाहती हूँ ।

पागल—राम-राम, सीताराम । पुरुषसे दूर रहना । एक समय हविष्यान्न खाना । एक लाख राम-नामका रोज नियमसे जप करना और उठते-बैठते, खाते-सोते राम-राम करना । लिखना-पढना जानती हो ?

विधवा—हाँ, जानती हूँ ।

पागल—तो गीता, रामायण, महाभारत पढना । राम-राम सीताराम । राम-रामका जप करना । लीलाचिन्तन करना । एकादशीको निर्जल व्रत करना । शिवरात्रि, रामनवमी, महाष्टमी, जन्माष्टमी आदि तिथियोंपर भी उपवास रखना । विधवाका जीवन व्यर्थ नहीं है । परम आनन्दका निवास है अपने भीतर । भगवान् हृदयमें हैं । राम-राम करके उन्हें पुकारना । वे भीतरसे उत्तर देंगे । भ्रमर, वंशी, वीणा, बादल—कितने शब्दोंसे तुम्हें पुकारेंगे । इन सब आवाजोंको सुनते-सुनते जितना ही भीतर प्रवेश करोगी, उतना ही प्रकाश दिखायी देगा । फिर और भी पुकारते-पुकारते अग्रसर होकर केवल आनन्दनिर्मित प्रकाशके राज्यमें जा पहुँचोगी । उस प्रकाशसे मन-प्राण भर जायँगे । इसके पश्चात् प्रकाशका आकाश आयेगा । राम-राम करके उस आकाशमें डूब जाओगी । भगवान् दर्शन देंगे । राम-राम ।

विधवा—मैं क्या डूब सकूँगी ?

पागल—राम-राम, खूब डूब सकोगी। जब जीभ है और वह राम-राम उच्चारण कर सकती है, तब चिन्ता क्या है ? केवल राम-राम करो। तुम नहीं रहोगी। तुम्हारे ढाँचेमें भीतर-बाहर भगवान् आकर बस जायँगे। तुम नहीं रहोगी। रहेंगे केवल राम। राम-राम-राम करो। पुरुषसे सर्वथा दूर रहो। अधिक क्या—भगवान् हों, गुरु हों, महापुरुष हों, पुरुष पुरुष ही है।

विधवा—विधवाका जीवन निष्फल नहीं है ?

पागल—राम-राम-राम। जीवनकी सफलता है भगवत्प्राप्तिमें। विधवाका जीवन तो मुक्त-जीवन है। केवल राम-राम करो। सर्वथा प्रकाशके राज्यमें जा पहुँचोगी।

विधवा—राम-राम करती हुई चली गयी।

(एक युवकका प्रवेश)

पागल—तुमको क्या है ?

युवक—संसारमें बड़ा अभाव है। प्रायः ही रोग लगे रहते हैं। सोचता हूँ—अच्छा बनूँगा, संयमसे रहूँगा, पर बन नहीं पाता। परवश होकर अपराध कर बैठता हूँ।

पागल—राम-राम, सीताराम ! केवल राम-राम करो, सब कुछ ठीक हो जायगा। सात्त्विक आहार है—शरीर-मनकी परम औषध। केवल आहार-शुद्धिके द्वारा ही चित्त-शुद्धि होती है। मांस-मद्यका सेवन तो नहीं करते हो ?

युवक—और दिन तो नहीं करता, रविवारको छुट्टीके दिन करता हूँ।

पागल—अरे रविवारके लिये तो खास तौरपर शास्त्र कहते हैं—

> आमिषं मधुपानं च यः करोति रवेर्दिने।
> सप्तजन्म भवेद् रोगी जन्म जन्म दरिद्रता॥
> स्त्रीतैलं मधुमांसानि यस्त्यजेत्तु रवेर्दिने।
> न व्याधिशोकदारिद्र्यं सूर्यलोकं स गच्छति॥

अर्थात् जो मनुष्य रविवारके दिन मद्यमांस—आमिष-पदार्थ और मधुपान करता है, वह सात जन्मोंतक रोगी होता है और जन्म-जन्ममें दरिद्र होता है। जो व्यक्ति स्त्री, तेल एवं मधु-मांसका रविवारको त्याग करता है, वह रोग, शोक और दारिद्र्यसे ग्रस्त नहीं होता और सूर्यलोकको जाता है। रविवार-को नमक और अदरक भी नहीं खाना चाहिये। जो शरीरको स्वस्थ रखना चाहते हैं, उनका कर्त्तव्य होता है शास्त्रके मार्ग-पर चलना। किस तिथिको कौन-सी वस्तु नहीं खानी चाहिये—यह जानते हो, सीताराम ?

युवक—नहीं जानता।

पागल—उसे जानकर खान-पानके सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिये।

युवक—तिथिके साथ खान-पानका क्या सम्बन्ध है ?

पागल—राम-राम ! अमावस्या-पूर्णिमाको वात, अण्डकोष-वृद्धि आदि बीमारियाँ बढ़ती हैं—यह तो जानते हो ?

युवक—यह जानता हूँ।

पागल—राम-राम-राम। मनुष्यका सब कुछ सूर्यपर निर्भर है। सूर्यने प्राणरूपसे प्रत्येक जीवको धारण कर रक्खा है। सभीके बाह्य प्राण हैं सूर्य। अमावस्या-पूर्णिमाको सूर्यकी गतिसे रक्त दूषित हो जाता है। वात आदि रोग बढ जाते हैं। प्रतिपदाको सूर्यकी गति कुम्हड़ेपर पड़ती है, जिससे कुम्हड़ा विकृत हो जाता है—अतः कुम्हडा खानेसे बीमारी होती है। अष्टमीको सूर्यकी गति नारियलको दूषित करती है। उससे मेधा विकृत होती है। इसीसे कहते हैं कि अष्टमीको नारियल खानेवाला मूर्ख होता है। त्रयोदशीको सूर्यकी गति बैंगनपर पड़ती है, इससे शुक्रको दूषित करनेवाले जीवाणु पैदा हो जाते हैं; कहते हैं कि इसीसे पुत्र-हानि होती है। राम-राम-राम, सीताराम।

युवक—ये सब बातें ठीक समझमें नहीं आतीं।

पागल—राम-राम-राम। जो बात करनेसे समझमें आती है, वह तो तुमने की नहीं। जो मिला, सो खाकर केवल शरीरको नष्ट किया है। विचारपति उडरफने द्वादशीके अन्तमें एक बैंगनको काटकर दूरबीनसे उसे देखना शुरू किया। ज्यों ही त्रयोदशी तिथि आयी कि उसीके साथ-साथ बैंगनमें छोटे-छोटे जीवाणु भर गये। फिर चतुर्दशी आते ही देखा गया तो कीड़े नहीं थे। राम-राम, सीताराम। सभी सूर्यका खेल है। राम-राम करना। सूर्यको प्रणाम करना। सदा ही सात्त्विक आहार करना। रविवारको जो मद्य-मांसका सेवन करते हो, उसे बिल्कुल छोड देना और राम-राम करना।

युवक—क्या राम-राम करनेसे मेरी दरिद्रता भी दूर हो जायगी ?

पागल—राम-राम, सीताराम—अरे यह तो भगवान्का तुम-पर अनुग्रह है। वे कहते हैं—

> यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः॥

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन शीघ्र हरण

कर लेता हूँ।' केवल राम-राम करो। वे सारा भार लेकर तुमको बिल्कुल निश्चिन्त कर देंगे। उनकी प्रतिज्ञा है—जो अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करते हैं, उनके पास जो कुछ नहीं है वह मैं ला देता हूँ; और जो है उसकी मैं रक्षा करता हूँ। कोई चिन्ता नहीं है। एक भी नाम व्यर्थ नहीं जायगा। तुम कितने ही बड़े पापी, कितने ही दुर्बल, कितने ही असयमी क्यों न हो, तथापि तुम्हारे लिये आशा है। केवल राम-राम करो। रोग, शोक, अभाव कामादिके अत्याचार सब दूर हो जायँगे।

युवक राम-राम करता हुआ चला गया।

(एक बाबूका प्रवेश)

पागल—राम-राम, सीताराम।

बाबू—क्यों, बाबा! यहाँ किस मतलबसे बैठे हो?

पागल—राम-नाम दातव्य चिकित्सालय है।

बाबू—तुम्हारे राम-नामसे कौन-कौन-से रोग मिटते हैं?

पागल—जगत्‌में ऐसा कोई रोग नहीं है, जो राम-नामसे न मिटता हो। ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका राम नामसे समाधान न होता हो—इस बातको सभी शास्त्रोंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है।

बाबू—अरे पागल बाबा! यह विज्ञानका युग है, अब उन खूँसट ऋषियोंके सड़े शास्त्रोंकी बातोंको कोई नहीं मानेगा।

पागल—राम-राम, सीताराम, जय जय राम। सड़े शास्त्रोंकी बातोंको न माननेका फल ही तो इतने रोग, इतना अभाव, गाँव-गाँवमें अस्पताल हैं। स्थान-स्थानपर यक्ष्माके अस्पताल, जगह-जगह स्त्रियोंके अस्पताल उच्चकण्ठसे विज्ञानकी जय घोषणा कर रहे हैं सीताराम। करोड़ों कण्ठोंसे निकलती हुई 'हाय अन्न, हाय अन्न' की चीत्कार ध्वनिरूप शास्त्रापमानका विजय-डंका सारे देशमें बज रहा है। प्रत्येक घरमें अशान्तिका दावानल धधक रहा है और नर-नारियोंके आकुल क्रन्दनरूपमें विज्ञानकी विजय-ध्वनिने सबके कानोंमें ताले लगा दिये हैं। विज्ञानने केवल भोगका सवाद देकर मनकी ज्वालाको और भी बढ़ा दिया है। राम-राम शान्ति बाहर नहीं है। शान्ति भीतर है और भीतर प्रवेश करनेका मन्त्र है—राम-राम करना।

बाबू—तुम्हारी सड़ी पोथियोंकी और शुष्क वैरागियोंकी बात मैं नहीं सुनना चाहता। इस युगके किसी शिक्षित गण्य-मान्य पुरुषने तुम्हारे राम-नामकी बात राम नामसे रोग आदि मिटनेकी बात कही हो तो वह बतलाओ।

पागल—राम-राम, सीताराम। महात्मा गाधीका नाम सुना है?

बाबू—(प्रणाम करके) जगत्‌में ऐसा कौन है, जिसने उनका नाम नहीं सुना।

पागल—राम-राम, सीताराम। उनकी बात मानते हो?

बाबू—सौ बार, हजार बार मानता हूँ।

पागल—राम-राम! सुनो—

'आज मेरा एकमात्र वैद्य राम हैं। जैसा कि, प्रार्थनामें गाये गये भजनोंमें कहा गया है। राम तमाम शारीरिक, मानसिक और नैतिक बुराइयोंको दूर करनेवाला है। जिसके दिलमें राम-नाम है, उसे और किसी दवाकी जरूरत नहीं है। रामके उपासकको, मिट्टी और पानीके इलाजकी भी जरूरत नहीं है।' (राम-नामकी महिमा, पृष्ठ ९५)

बाबू—ये सब बातें महात्माजीने कही हैं?

पागल—राम-राम। गुपचुप नहीं कही है। लिखकर रख गये हैं। (पुस्तक लेकर) 'ऐसे ही चित्तकी अशान्तिमें जो रामनामका आश्रय लेता है, वह जीत जाता है।' (पृष्ठ ९५) 'नामकी महिमा सिर्फ तुलसीदासजीने गायी है, ऐसा नहीं है। बाइबलमें भी मैं वही पाता हूँ। दसवें रोमनके १३ कलममें कहते हैं 'जो कोई ईश्वरका नाम लेंगे, वे मुक्त हो जायँगे।' (पृष्ठ ६६)'

व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं, उपाय भी अनेक हैं। यदि व्याधिको एक ही देखें और उसको मिटानेवाला वैद्य एक राम ही है, ऐसा समझें तो बहुत-सी झझटोंसे हम बच जायँ।

बाबू—ये सब बातें उनकी किस पुस्तकमें हैं?

पागल—राम-राम। उनके किसी भक्तने उनकी बहुत-सी पुस्तकों और 'हरिजन-सेवक' मेंसे वाणी एकत्र करके 'राम-नामकी महिमा' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है, उसीमें है। और भी सुनोगे?

बाबू—सुनूँगा नहीं? बापूजीकी बात तो जबतक जीऊँगा, सुनता रहूँगा।

पागल—''विषय जीतनेका सुवर्ण नियम 'राम-राम'के सिवा कोई नहीं है। स्वप्नमें व्रतभङ्ग हुआ तो उसका प्रायश्चित्त सामान्यत. अधिक सावधानी और जागृति आते ही राम-राम है।

'विकारी विचारसे बचनेका एक अमोघ उपाय राम-नाम है। कोई भी व्याधि हो, अगर मनुष्य हृदयसे राम-नाम ले

तो व्याधि नष्ट होनी ही चाहिये।' 'राम-नाम यानी ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गॉड।' (राम-नामकी महिमा ४७) 'प्राकृतिक चिकित्सामें मध्यबिन्दु तो राम-नाम ही है न ? राम-नामसे आदमी सुरक्षित बनता है। शर्त यह है कि राम-नाम भीतरसे निकलना चाहिये।' 'सत्य और अहिंसापर अमल करनेके लिये जितनी दवाइयाँ हैं, उनमें सबसे अच्छी दवा राम-नाम है।'

'मेरे रामका जन्तर-मन्तरसे कोई वास्ता नहीं है।'

'सच्चा डाक्टर तो राम ही है।' (पृष्ठ ४८)

'कोई भी व्याधि हो, अगर मनुष्य हृदयसे राम-नाम ले तो व्याधि नष्ट होनी ही चाहिये।' (पृष्ठ ७६)

'और मेरा दावा है कि शारीरिक रोगोंको दूर करनेके लिये राम-नाम सबसे बढ़िया इलाज है।'

'श्रद्धापूर्वक राम-नाम उच्चारण करनेसे एकाग्रचित्त हो सकते हैं।' (पृष्ठ ९९)

'करोड़ोंके हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर सबल साधन नहीं है।'

'राम-नामका चमत्कार सबको प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह हृदयसे निकलना चाहिये।' 'नाम-जपपर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-रूपकी जिसने खोज की, वह अनुभवी था और उसकी खोज अत्यन्त महत्त्वकी है—यह मेरा दृढ विश्वास है। निरक्षरकी भी शुद्धिका द्वार खुला रहना चाहिये। यह नाम-जपसे होता है। (पृष्ठ १२२)

'इससे मनुष्य कुदरती तौरपर यह समझ लेता है कि सारी बीमारियोंका एकमात्र इलाज सच्चे दिलसे भगवान्का नाम जपना है।'

पागल—राम-राम—सुनीं सीताराम, महात्माजीकी बात ?

बाबू—उन्होंने 'दिलसे' के ऊपर खूब जोर दिया है। तोता पक्षीकी तरह मुखसे राम-नाम बोलनेसे कुछ नहीं होगा।

पागल—राम-राम ! मन-प्राणको एक करके एकाग्र चित्तसे नाम जपनेपर उसका फल तत्काल मिलता है, यह बात ध्रुव सत्य है। किंतु जो यह नहीं कर सकते, उनके लिये शास्त्र 'हेलया श्रद्धया' अवहेलनासे हो, श्रद्धासे हो, भक्तिसे हो, अभक्तिसे हो—येन केन प्रकारेण—जिस-किसी प्रकारसे भी हो, राम-नाम सुननेसे, राम-नाम जपनेसे मनुष्य कृतार्थ होता है। किन्हीं एक दूसरे महात्माने कहा है—

'तन-मनसे भजन न बन पड़े तो केवल वचनसे ही भजन करना चाहिये। भजनमें स्वयं ऐसी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे आगे चलकर अपने-आप ही सब कुछ भजनमय हो जाता है।' राम-राम।

बाबू—पागल बाबा ! तुम्हारी बातें मुझे बहुत अच्छी लगीं। एक बात पूछता हूँ। इस राम-नामका जब रोगी या अभावग्रस्त मनुष्य अपने रोगनाश और अभावके निवारणके लिये करे तो ठीक है। पर जिसके रोग, अभाव, अशान्ति नहीं है, वह क्यों व्यर्थ परिश्रम करे ?

पागल—राम-राम, सीताराम। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जिसको शारीरिक या मानसिक रोग न हो या जिसको कभी किसी विषयका अभाव न रहता हो। अतएव सभीको राम-नाम लेना चाहिये। राम-नामका अर्थ है—भगवान्का नाम, गुरु-प्रदत्त नाम। उस नामके जपसे ही वह गन्तव्य स्थानपर पहुँच जायगा।

बाबू—गन्तव्य स्थान कहाँ है ? मनुष्य जन्मता है, कुछ दिन जीता है, फिर मर जाता है। जीवनभर मनुष्य कितनी अशान्ति, कितना संताप भोगता है, ऐसा क्या है जिसकी प्राप्तिसे उसे शान्ति मिल सकती है। क्या संसारमें रहकर भी मनुष्य आनन्दसे रह सकता है ?

पागल—'मैं' को पाकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। मनुष्य जिसको 'मैं' कहता है, वह 'मैं' नहीं है, वह तो 'मैं' का ढाँचा है।

बाबू—'मैं' क्या है, कौन है, वह 'मैं' कहाँ है ?

पागल—'मैं' भगवान्का अंश है। 'मैं' बिन्दु है, 'मैं' ज्योति है, 'मैं' का स्थान हृदय है। शुद्ध अन्नका आहार, सत्सङ्ग, प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल भगवान्की आराधना—जप-ध्यान करनेसे नादात्मक, ज्योतिर्मय प्रणवात्माके दर्शन होते हैं। राम-राम-राम !

बाबू—तब 'ज्योति' ही आत्मा है ?

पागल—राम-राम, सीताराम ! हाँ।

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरा माययाऽऽवृताः॥

(अन्नपूर्णा और रुद्रहृदयोपनिषद्)

'अपने शरीरमें सर्वसाक्षी या पारमार्थिक स्वरूप-ज्योतिको वे ही देख सकते हैं, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं। जो मायाके द्वारा आवृत हैं, वे उसे नहीं देख सकते।

ज्योतिरेव परं ब्रह्म ज्योतिरेव परं सुखम् ।
ज्योतिरेव परा शान्तिर्ज्योतिरेव परं पदम् ॥
(रामगीता)

'ज्योति ही परब्रह्म है, ज्योति ही परम सुख है, ज्योति ही परम शान्ति है, ज्योति ही परमपद है ।'

बाबू—दोष क्या है ?

पागल—राम-राम ! काम, क्रोध, विश्वास भय, निद्रा आदि (मण्डलब्राह्मणोपनिषद्)

बाबू—ये कैसे दूर हों ?

पागल—संकल्पशून्यता, क्षमा, निष्कामभाव, प्रमाद-शून्यता, लघु आहार, तत्त्वसेवा आदि करनेपर ।

बाबू—जो यह न कर सकें ?

पागल—राम-राम करनेपर सब कुछ हो जायगा । मनुष्य जो चाहेगा, राम-रामसे वही पायेगा ! शुद्ध आहार, सत्सङ्ग और राम-राम । बस, इससे बढ़कर संसार-रोगकी और दवा नहीं है ।

बाबू—मैं तो प्रवृत्तिका दास हो रहा हूँ । शुद्ध आहार, सत्सङ्ग करनेकी शक्ति नहीं है । मेरे लिये भी कोई उपाय है ?

पागल—केवल राम-राम करो । उठते-बैठते, जागते-सोते चलाओ राम-नाम । राम-नामकी रटनसे बस, एक बार पागलपन पैदा हो जाय । जहाँ इस संगीतमें लगे कि निश्चिन्त हुए । यह खींचकर ले जायगा और सदाके लिये आनन्द-सागरमें डुबा देगा ! राम-राम, सीताराम, जय जय राम, सीताराम । गाओ राम, बोलो राम, जपो राम । राम-राम-राम !

राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे ।
कलि न बिराग, जोग, जाग, तप, त्याग रे ॥
राम-सुमिरत सब बिधि ही को राज रे ।
राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ॥
रामनाम महामनि, फनि जग-जाल रे ।
मनि लियें फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे ॥
राम-नाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे ॥
राम नाम प्रेम-परमारथको सार रे ।
रामनाम तुलसीको जीवन-अधार रे ॥
राम-राम-राम

उपनिषदोंकी प्रेरणा

[मूललेखक—श्रीकाका कालेलकर महोदय]

(अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर)

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।'
(छान्दोग्य० ७ । २६ । २)

'सनातनी लोग इस वचनका उपयोग बड़े प्रमाणमें करते है । आहार शुद्ध रहनेसे मनुष्यका चरित्र, उसका मन ओर उसके भाव शुद्ध होते हैं, सत्त्वशुद्धि होनेसे स्मृति ध्रुव—निश्चल होती है, इत्यादि ।'

इस वचनपर कुछ गम्भीरतासे विचार करना चाहिये । सामान्य अर्थ तो स्पष्ट ही है । यदि हम मांसादि तमोगुणी अथवा विकारोत्तेजक चीजोंको न खायें, बासी अथवा सड़ी-गली चीजोंको न खायें, तो हमारा शरीर, मन सब पवित्र रहे । आहार-शुद्धिका अर्थ इतना ही करनेमें आता है कि शास्त्रोंमे जिन वस्तुओंको खानेकी मनाही की गयी हो, वे हमें नहीं खानी चाहिये ।

यहूदियोंमें भी ऐसे बहुत-से नियम थे और हैं । ऐसे नियमोंसे अलग ईसामसीहने अपना एक सूत्र लोगोंके सामने उपस्थित किया कि 'मनुष्यके शरीरमें, पेटमें जानेवाली चीजें उसे अपवित्र नहीं बनातीं, किंतु उसके शरीरमेंसे, उसके मुँहमेंसे जो चीजें बाहर निकलती हैं, उससे वह अपवित्र होता है ।' इसका मतलब यह है कि मनुष्य आहारके रूपमें जो चाहे खाये, न खानेके दिन भी खाये, तो भी वह अपवित्र नहीं गिना जायेगा, किंतु यदि किसीके मुँहसे गाली निकलती है, क्रोधके वचन निकलते है, वह किसी-को शाप देता है, तो इससे वह अवश्य भ्रष्ट हो

जायगा। यहूदियोंकी धार्मिक रूढ़ियोंके उत्तरके रूपमें यह वचन ठीक है, परंतु लोग धर्म-वचनों, कायदेके वचनोंका अक्षरशः अर्थ करते हैं और उसके मूल उद्देश्यको नष्ट करते हैं।

ईसामसीहके उपर्युक्त वचनको शास्त्रीय सिद्धान्तके रूपमें हम नहीं लेंगे। सड़ी-गली चीज मनुष्य खा लेता है तो उसका आध्यात्मिक असर भले ही तुरंत न हो, फिर भी शरीर तो भ्रष्ट होता ही है। नर-भक्षकोंको माससे भले ही कुछ हानि न होती हो, तो भी भावनाकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्य-प्राणीको मारकर उसका मास खानेवाला अवश्य पतित तो होता ही है।

जो चीज मनुष्यके अंदर जाती है, उसका असर उसके शरीर और मनपर हुए बिना रहता नहीं।

और मनुष्यके मुखमेंसे अथवा उसके शरीरमेंसे जो चीजें निकलती हैं, वे यदि दुर्गन्धवाली हों, रोगयुक्त हों, तो सारे वायुमण्डलको और समाजको उससे जरूर हानि पहुँचेगी। हम नहीं मानते कि ईसामसीहने कोई सनातन, शास्त्रीय, त्रिकालाबाधित सिद्धान्तके रूपमें ये वचन उच्चारित किये; उन्होंने चिढ़कर इतना ही कहा था कि मनुष्य क्या खाता है, इसकी मीमासा किसलिये करने बैठे हो? वह अपने भाइयोंके साथ किस तरह व्यवहार करता है, यही एकमात्र महत्त्वकी बात है।

किसी एक ऋषिको अपच हुआ था और उनके मुँहमेंसे जो उच्छ्वास निकलता था, वह दुर्गन्धवाला था, और इससे उनके आस-पास बैठनेवाले लोगोंको हानि पहुँचेगी—ऐसा सोचा गया। अतः वे किसीको अपने पास बैठने नहीं देते थे, फिर भी उनका प्रवचन धर्म-तेजसे भरा होनेके कारण हजारों लोग उनका प्रवचन सुननेके लिये आते थे और उनके चरित्रपर अच्छे-से-अच्छा धार्मिक असर होता था।

यदि कोई कवि चरित्र-भ्रष्ट हो तो उसका असर समाजपर अवश्य होगा। उसके अच्छे-से-अच्छे वचनोंका भी समाजपर जरा भी असर नहीं होगा। परंतु यदि उसके चरित्रके विषयमें लोग कुछ भी नहीं जानते होंगे तो उसके वचनोंका सीधा अर्थ समझकर लाभ उठा सकेंगे।

मनुष्यके स्वभावकी कमजोरी एक अलग वस्तु है और दुष्टता एक अलग वस्तु। किसीके विषयमें विचार करते समय हमें यह भेद भूल नहीं जाना चाहिये।

अब हम उपनिषदोंके मूल वचनोंका जरा गम्भीरतासे विचार करेंगे। आहारका अर्थ केवल खाने-पीनेकी वस्तुएँ—इतना सीमित नहीं करना चाहिये। हमारी सारी इन्द्रियाँ जो-जो चीजें लेती हैं, पुष्टिकी दृष्टिसे या सुख प्राप्त करनेकी दृष्टिसे इन्द्रियाँ जो-जो स्वीकार करती हैं, वे सब आहार हैं। हम अपनी आँखोंसे जो कुछ देखते हैं, कानोंसे जो कुछ सुनते हैं, वह भी आहार ही है। खाने-पीनेकी वस्तुओंके विषयमें जैसी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है, वैसी ही इन्द्रियोंके सारे व्यापारोंके विषयमें भी आवश्यक है। सावधानी ही अमृतत्व ला देती है। 'अप्पमादो अमतपदम्।' गफलतमें नहीं रहना, सचेत होकर चलना, भूलें न करनी—यही अमृतत्वका मार्ग है। 'पमादो मच्चुनो पदम्'। प्रमाद, गफलत, असावधानी, बेपरवाही, अन्धापन—यही मृत्युका मार्ग है।

अब हम विचार करेंगे कि आहारशुद्धिकी किसलिये जरूरत है। हम यदि रजोगुण और तमोगुण बढानेवाली चीजोंका सेवन करेंगे तो सत्त्वशुद्धिपर उसका खराब ही असर होगा। शास्त्रोंमें ऐसी चीजोंका वर्णन दिया गया है। इस जमानेकी धारणाके अनुसार यह बात योग्य ही थी। परंतु आज हम यह नहीं मानते। टमाटर-जैसे पदार्थोंको पहले लोग निषिद्ध मानते थे, आज हम ऐसा नहीं मानते। अनुभव और ज्ञानकी वृद्धिके साथ पुराने वचनोंमें हमें परिवर्तन करना पड़ेगा। फिर भी यह सिद्धान्त तो त्रिकालके लिये सही ही है कि आहारका असर चरित्रपर हुए बिना रहता नहीं।

फिर भी आहारशुद्धिकी एक और महत्त्वकी बात है, जिसपर विशेष लक्ष्य देना आवश्यक है। शुद्ध आहार वह है जो कि हमें ईमानदारीसे मिला हो। अगर सात्त्विक पदार्थ हम कहींसे चोरी करके लाये हों तो उसके सेवनसे हमारी सत्त्वशुद्धि खतरेमें पड़े बिना नहीं रहेगी। अन्यायसे गरीबोंको लूटकर अथवा चूसकर हम जो धन अर्जित करें, वह पापमूलक है। उसके सेवनसे चरित्र भ्रष्ट होता है। आहारशुद्धिका यह महत्त्वका अर्थ केवल शुद्ध भोजन ही नहीं, बल्कि प्रामाणिक जीवन (हानेस्ट लिविंग) भी है। कहीं भी किसीके अज्ञानका या उसकी दुर्दशाका हम गैर-वाजिब लाभ उठाये तो हमारी आहारशुद्धि भङ्ग हो गयी, ऐसा जानना चाहिये।

प्रामाणिक आहार भी यदि हम परिवारके सारे सदस्योंको बाँटकर न खायें, हमारे आहारपर जिन-जिन लोगोंका न्यायपूर्वक अधिकार है, उनका हिस्सा दिये बिना ही खायें, उपभोग करें, तो वह भी आहार-शुद्धिके व्यवहारसे च्युत होना गिना जायगा।

आहार और शुद्धि इन दोनों शब्दोंका व्यापक अर्थ करनेसे हमें उपनिषद्के इन वचनोंका सही अर्थ समझमें आ जाता है और सत्त्वशुद्धि क्या है, यह भी भलीभाँति पता चलता है। सत्त्वका अर्थ है—हमारे शरीर, मन, चित्त, अहकार आदिका महत्त्वपूर्ण साररूप भाग। जिन-जिन बातोंसे हमारा चरित्र बना है, वे सब बातें सत्त्वमें आ जाती हैं। सत्त्व अर्थात् चरित्र।

ईशोपनिषद्में कहा है—'मा गृध कस्यस्विद् धनम्।' किसीका धन वहाना नहीं, किसीके धनपर लोभी गिद्धकी दृष्टिसे देखना ही नहीं। समाजके पुरुषार्थसे जो धन-सग्रह होता है, वह समाजका है। जो वस्तुएँ समाजकी ओरसे पारितोषिक रूपमें मिलती हैं, वे अपनी हैं। जो हमे नहीं मिली है, वे यदि हम लें तो उसमें 'अदत्त-आदान' का दोष लगता है और हमारी आहार-शुद्धि भङ्ग हो जाती है।

श्रीशङ्कराचार्यने अपने एक स्तोत्रमें थोड़े शब्दोंमें इन सब बातोंकी स्पष्टता कर दी है। 'यल्लभते निजकर्मोपात्तं वित्त तेन विनोदय चित्तम्।' अपनी स्वयकी मेहनतसे जो कुछ धन अर्जित करो, उसीसे अपने चित्तको सतोष दो। अपनी मेहनतसे जो कुछ भी आहार या आराम मिले, उससे सतोष मानो और अपनी प्रसन्नता कायम रक्खो—यही है आचार्यका उपदेश। आहार-शुद्धिका यह सबसे बडा भाग है। इन्द्रियोंद्वारा जिस किसी विषयका सेवन होता है, उसकी शुद्धि होनेसे मनुष्यका सारा व्यक्तित्व सत्त्वशुद्ध होता है। उसके विचार, उसकी दृष्टि, उसका उद्देश्य—यह सब शुद्ध होनेसे उसमें एक प्रकारकी जागरूकता आती है। 'मैं कौन हूँ? मेरे जीवनका उद्देश्य क्या है? किस आदर्शको लेकर मैं जी रहा हूँ?' ऐसी जागरूकताको स्मृति कहा जाता है। स्मृतिका नाश होनेसे मनुष्यका सर्वनाश होता है। भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञका वर्णन करते समय जिसका वर्णन किया गया है, वही यह स्मृति है। जब मनुष्य वासनाके वशीभूत होकर असंयत होता है, तब वह स्मृति खो बैठता है। पर जिससे असंयमके सारे कारण दूर रहेंगे, वह स्मृतिमान् रहेगा। ऐसा स्मृतिमान् मनुष्य ही आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। स्मृतिलाभसे बुद्धि ऐसी शुद्ध, जाग्रत् और तेज होती है कि मनमें जरा भी सदेह नहीं रहता। इसीको ग्रन्थियोंका टूटना कहा जाता है। मोक्षका यह वर्णन है।

अतः मनुष्यको इसकी साधना करनी चाहिये। यह मुख्यत प्राणायाम आदिकी नहीं, अपितु यम-नियम आदिकी है। यम, शम, दम—यह सब आहार-शुद्धिका ही फल है।

भगवद्गीतामें दैवीसम्पत्का जो वर्णन किया गया है, उसमें अभयके बाद सत्त्वशुद्धिको ही स्थान दिया गया है। यही है मुख्य साधना।

अहिंसा

अर्थ, अधिकारी, प्रयोजन और व्यवस्था

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम० ए०, विद्यावारिधि)

अहिंसा और हिंसा—ये दोनों शब्द बहुत प्राचीन है । हिंस्-धातुका सामान्य अर्थ 'मारना' है । इसे सभी जानते हैं । वेदका एक महान् उपदेश अथवा आदेश है—

'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि ।'

सर्वभूत—प्राणिमात्र—की हिंसा मत करो । किसी प्राणीका हनन करना हिंसा है और न करना अहिंसा है । अहिंसा एक प्रकारकी क्रिया-निवृत्ति है । इसका तात्पर्य उस पापसे दूर रहनेमें है । जिससे प्राणीको दु.ख हो या उसकी प्राणहानि हो, यह हिंसाका स्वरूप है । इसके विपरीत पुण्यरूप प्रक्रियाको दया कहते हैं । 'हिंसा' पाप है और 'दया' पुण्य है । हिंसारूप पापसे निवृत्तिका नाम अहिंसा है । हिंसाका न्यूनाधिक निषेध सभी धर्मोंमें है । ईसाई-धर्ममें भी आज्ञा है—'Thou shalt not kill' अर्थात् किसीको मारना मत । इसी प्रकार प्रत्येक धर्ममें खास-खास अपवाद भी हैं । प्राचीन मानवधर्ममें चार मुख्य अपवाद हैं—यज्ञमें यज्ञपशुका वध, मासाहारियोंके लिये अमुक प्राणीको छोडकर अन्यका वध, धर्मयुद्धमे अनिवार्य हिंसा और धर्मशासनके लिये राज्यके द्वारा दिया जानेवाला प्राणदण्ड । पहले दो अपवादोंमें पशु आदि प्राणियोंका और पिछले दोनोंमें मनुष्योंकी हिंसाका प्रसङ्ग आता है ।

बाइबलमें संत ल्यूककी वार्तामे जब सत जॉनसे सिपाही पूछते हैं कि 'क्राइस्ट आनेवाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें वे तीन आज्ञा करते हैं—किसी मनुष्यपर बलप्रयोग (violence) नहीं करना, किसीपर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हे जो रोजी मिलती हो, उसीमें संतुष्ट रहना । वर्तमानमें जो अहिंसाका प्रयोग non-violence के अर्थमें किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तारके कारण ही किया जाता है । अंग्रेजीके Non-violence का बलप्रयोग न करना—यह अर्थ ही मौलिक है । खास करके राजनीतिमे इस शब्दके आ जानेके कारण, हिंसा और अहिंसा—ये शब्द मनुष्यकी हिंसाके लिये ही लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है । और सामनेवालेको चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारोंका प्रयोग करना अथवा किसीके साथ युद्ध या लडाई करनेके प्रसङ्गमे इसका व्यवहार किया जाता है । वस्तुतः जैसे 'सत्याग्रह' और 'passive resistance'—इन दोनोंका अर्थ एक नहीं है, वैसे ही अहिंसक और non-violentका अर्थ भी एक नहीं है । वस्तुको यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बडी गडबडी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है । उदाहरणके लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थमे मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है । आजकल जैसे भारत राज्यमें हो रहा है—वैसे लाखों-करोडों मछलियोंको मारना, लाखों हजारों गायों और बदरोंका वध करना, असख्य टिड्डियोंकी हत्या करना और लाखों-करोडों कीट-कृमियोंको दवाओंके लिये मार-डालना—ये सभी हिंसा हैं । अहिंसाकी नवीन व्याख्यामें इनकी तो किसीको परवा ही नहीं है । इसका एक मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि ईसाई आदि जातियाँ 'मनुष्यमें ही आत्मा है, अन्य किसी भी प्राणीमें आत्मा नहीं है' ऐसा मानती हैं । पुराने जमानेमे प्रचलित 'हॉवर्ड'की प्राइमरमें एक ऐसा वाक्य था जो सीखना पडता था—वह यह कि 'गायके आत्मा नहीं है ।'

ऐसे प्राणियोंको मारनेका धधा या रोजगार जब राज्य हाथमे ले लेता है, तब वह धार्मिक लोगोंको बहुत खलता है, और 'सेक्यूलर स्टेट'—धर्मनिरपेक्ष राज्य जब

ऐसे हिंसात्मक कार्योंमें प्रवृत्त होता है, तब उसका पाप प्रजाको लगता है या नहीं और उसका फल उसे भोगना पडता है या नहीं—ऐसे अवान्तर प्रश्न भी उठ खड़े होते है। सनातनधर्ममें और जैनधर्ममे भी ऐसी हिंसा बहुत ही निषिद्ध मानी जाती है और इस हिंसाके विरुद्ध कहीं-कहीं खलबली तथा शोरगुल भी बहुत है, परतु हिरण्मय पात्र सामने आ जाता होगा।

'हिंसा' शब्दके अर्थका कुछ विस्तार करनेपर उसमें दूसरे मनुष्यका जी दुखाना भी आ सकता है। हिंसा अनेक प्रकारकी कही गयी है—जैसे मानसिक, वाचिक और शारीरिक हिंसा, ज्ञात और अज्ञात हिंसा। फिर, उसके प्रेरक बलके अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस विभाग भी किये जा सकते हैं। किसीको दु.ख हो, ऐसी भावना करना 'मानसिक हिंसा', किसीको गाली देना या अपशब्द कहना 'वाचिक हिंसा' और किसीको पत्थर आदि मारना—यह 'कायिक हिंसा' है। जान-बूझकर ऐसी हिंसा करना 'ज्ञात हिंसा' और चलने, खाने या बोलने आदिके समय अनजानमें होनेवाली 'अज्ञात हिंसा' है। जैन साधु अहिंसाका जितना आग्रह रखते हैं, उतना दुनियामे दूसरे किसी भी धर्मके साधु शायद ही रखते होंगे। वे खटमल, मच्छर, चींटी, चींटे तथा अन्य किसी भी प्राणीकी हिंसा न हो, इसके लिये बडी सावधानी रखते हैं। मुहँपर पट्टी बाँधते है, दीपक भी जितनी देर आवश्यक हो, उतनी ही देर रखते हैं, भोजन भी गृहस्थके घरसे बना हुआ ही लाकर करते हैं। इसके दो फल तो सामने देखे जाते हैं। जीव-दयाके पुण्यसे जैनी प्राय. पैसे-टकेसे सुखी दिखायी देते हैं, दूसरी ओर, राज्यके अङ्गरूप युद्ध या सग्राम आदिमें उनको ये आदर्श प्रतिकूलतामें रखते नजर आते हैं। जीव-दयाकी दृष्टिसे लोग कबूतरोंके लिये स्थान बनाते हैं, चींटियोंको दाने डालते हैं और मानव-बन्धुओंके सुखके लिये अनेक दान-पुण्य करते है। पिंजरापोलोंमें भी वे पशुओंका पालन-पोषण करते हैं। अल्पसंख्यक होनेपर भी धर्मका पालन करनेसे जाति कितनी सुखी हो सकती है, कितनी आगे बढ सकती है, इसके उदाहरण जैन और पारसी—दोनों प्रत्यक्ष हैं। बौद्ध-धर्ममें भी अहिंसापर जोर तो दिया गया है, परतु वह जैन-धर्मके समान नहीं है।

अब यह देखना है कि अहिंसा और दयाका पालन करनेसे तात्त्विक स्वाभाविकता और सुयोग्यता किस प्रकार बुद्धिगम्य होती है। तत्त्वदृष्टिसे आत्मा सर्वव्यापक है और पृथक्-पृथक् अन्तःकरणके द्वारा वह उस सुख-दु.खको भोगता है अथवा अनुभव करता है, देखता है। इस कारणसे अथवा परिस्थितिवश—आत्माकी एक सामान्य भूमिका-अधिष्ठानके कारण एक जीवको जो सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भाव होते हैं, उनकी ध्वनि या पर्दा दूसरे जीवोंपर भी पड़ता है। इसीलिये कहा गया है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईशा० ६)

ज्यों-ज्यों मनुष्यकी तपस्या और शक्तियाँ बढ़ती हैं, त्यों-ही-त्यों उसका असर और प्रत्याघात भी विश्वमें बढ़ता है। इसीलिये एक मनुष्य अपने जीवनको उन्नत करता है तो उससे समस्त जगत्को लाभ होता है और पाप करता है तो उसका आवरण भी सबपर पड़ता है। अत जो सम्पूर्ण विश्वको एक परम आत्मामें देखता है और समस्त विश्वमें एक अनुस्यूत—पिरोये हुए आत्माको देखता है, उसीकी दृष्टि उचित है और इसीलिये वह किसीकी निन्दा-स्तुति भी नहीं करता, फिर दु ख देना या हिंसा करना तो उससे बन ही कैसे सकता है। आत्मासे खाली कोई भी स्थान नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि, वर्तमान तथा प्राचीन दर्शनोंके सिद्धान्तानुसार, एक अखण्ड चेतनसे परिपूर्ण है। उसीमे ये छोटे-बडे शरीर

दिखायी दे रहे हैं और अन्त.करणके द्वारा वह जीव-मात्रको प्राप्त होता है। इस अन्त.करणके ऊपर अच्छे-बुरे सस्कारोंकी तहें पड़ी हुई है। जैसे-जैसे सदाचारी जीवनसे वे धुलती जाती हैं, वैसे-वैसे ही अन्त करण निर्मल होता जाता है और उसको सृष्टिके जीवोंका दर्शन अधिक स्पष्टरूपमें अभेदरूपसे होता जाता है। इस प्रकार ईशिता, वशिता, परकाय-प्रवेश, परचित्तज्ञान इत्यादि सिद्धियाँ भी आत्माके सर्वव्यापी और सवका अधिष्ठान होनेके कारण ही प्राप्त होती हैं। पाप-पुण्य, कार्य-अकार्य आदिकी व्यवस्था भी सर्वव्यापक आत्माके साक्षात्कारके लिये ही है।

इस अहिंसा और दयाको समाजके एक प्रकारके 'शील' कहा जा सकता हैं। इनका और राज्यका सम्बन्ध भी जरा देख लें। प्रजाके सदाचारके चार पाद कहे जा सकते है— १–सत्य, २–अहिंसा, ३–तपश्चर्या और ४–पवित्रता। इन चारोंकी यथासम्भव रक्षा करना राज्यका परम कर्तव्य है, क्योंकि ये प्रजाकी उन्नति, सुख-शान्ति और समृद्धि तथा शक्तिके मूल हैं। सत्य या प्रामाणिकताका नाश होनेपर प्रजाका पतन होता है। अहिंसाको भुलाकर हिंसाका आश्रय लेनेसे पाप बढ़ते और दु ख आ पड़ते हैं। तपस्याके विना शक्ति और उन्नतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और पवित्रता न रहे तो समाज पतित हो जाय, वह रोगोंसे घिर जाय और परिताप बढ़ जायँ। जैसे तपस्या और पवित्रता विशेष प्रधान सद्गुण है, वैसे ही सत्य और दया भी विशेष प्रसिद्ध सद्गुण है और इसलिये इन दोनोंके सम्वन्धमें राज्यकी जिम्मेवारी बहुत अधिक है। इनकी वृद्धि और ह्रासपर ही प्रजाकी अपनी आन्तरिक और अन्ताराष्ट्रिय भूमिकाका आधार रहता है। अणुवम आदि जैसे वाह्य शक्तिके द्योतक हैं, वैसे ही उपर्युक्त शील आन्तरिक शक्तिके द्योतक है।

इस अहिंसाकी उसके विशाल अर्थमें—अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी इसकी अभिवृद्धि कैसे की जाय, यह इस समयका भी एक महाप्रश्न है। इस समय वमके भयसे वैराग्य हुआ है, पर यह श्मशान-वैराग्यके सदृश है। इस वैराग्यको स्थिर और विशेष व्यापक करनेके लिये अधीर नहीं होना चाहिये। एक संत व्यक्तिका वैराग्य भी सरोवरमें फेंके हुए फलकी तरह अनेक वृत्तोंमें फैलता है और उसको हिलाता है। इस अहिंसा-वृद्धिके लिये तीन प्रकारके उपाय वतलाये गये हैं—(१) दूसरेसे उद्विग्न नहीं होना, दूसरेको उद्विग्न नहीं करना, (२) अतिवादमें नहीं उतरना, किसीका अपमान नहीं करना; (३) शरीर तथा आत्माको अलग समझना और किसीसे भी वैर नहीं करना। पर इसका आधार यह है—

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥
(श्रीमद्भा० ११।१८।३२)

परम आत्मा एक ही है। वह पञ्चभूतोंमें और जीवोंमें व्यापक है। जैसे जलके अनेक पात्रोंमें एक ही चन्द्रमा अनेक रूपोंमें दिखायी देता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें यह एक आत्मा अनेक रूपोंमें दीखता है—भिन्न-भिन्न आदर्शों और प्रतिमाओंको दिखला रहा है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥ ९॥
(कठोपनिषद् २।५।९)

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान् वस्तु) के अनुरूप हो गया, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है।

शुभचिन्तनका प्रभाव

(लेखक—स्वामी पारसनाथजी)

सेठ गगासरनजी काशीमे रहते थे। वे भगवान् शङ्करजीके सच्चे भक्त थे। सोमवती अमावस्याका प्रात.-काल था। मणिकर्णिका घाटपर अनेक नर-नारी, साधु-सन्यासी स्नान कर रहे थे। 'जय गङ्गे' 'जय शङ्कर' और 'जय सूर्यदेव'के नारे लगाये जा रहे थे। भक्त गगासरन-जी भी स्नान कर रहे थे। तबतक अलवरके मन्दिरपरसे कोई गङ्गामें कूदा और डुबकियाँ खाने लगा। किसीकी हिम्मत न पडी जो उस डूबनेवालेको बचानेकी कोशिश करता। क्योंकि कभी-कभी डूबनेवाला अपने बचाने-वालेको इस तरह पकड़ता है कि दोनों डूब मरते है। परतु सेठजीका हृदय करुणासे भर गया। वे तैरना भी जानते थे। चार हाथ मारे और डूबनेवालेको जा थामा। किनारेपर लाकर देखा तो वह सेठजीका ही मुनीम नन्दलाल था। पेटसे पानी निकालनेके बाद जब नन्दलाल-को होशमें देखा, तब भक्तजीने कहा—

'मुनीमजी! आपको किसने गङ्गाजीमें फेंका था?'

'किसीने नहीं।'

'तो क्या किसीका धक्का खाकर आप गिरे थे?'

'नहीं तो।'

'फिर क्या बात थी?'

'मैं स्वयं ही आत्महत्या करना चाहता था।'

'वह क्यों?'

'मैने आपके पॉच हजार रुपये सट्टेमें बरबाद कर दिये है। मैंने सोचा कि आप मुझे गबनके अभियोगमे गिरफ्तार कराकर जेलमें बद करा देंगे। अपनी बदनामी-से बचनेके लिये मैंने मर जाना उत्तम समझा था।'

'एक शर्तपर मै तुम्हारा अपराध क्षमा कर सकता हूँ।'

'वह शर्त क्या है?'

'प्रतिज्ञा करो कि आजसे किसी प्रकारका कोई जुआ नहीं खेलोगे—सट्टा नहीं करोगे।'

'प्रतिज्ञा करता हूँ और जगद्गुरु शङ्कर भगवान्की शपथ खाता हूँ।'

'जाओ, माफ किया। पॉच हजारकी रकम मेरे नाम घरेलू खर्चमे डाल देना।'

'परतु अब आप मुझे अपने यहॉ मुनीम नही रक्खेगे?'

'रक्खूँगा क्यों नहीं? भूल हो जाना स्वाभाविक है। फिर तुम नवयुवक हो। लोभमे आकर भूल कर बैठे। नन्दलाल! मैं तुम्हें अपना छोटा भाई मानता हूँ। चिन्ता मत करो।'

मुनीमने अपने दयालु मालिकके चरणोंमें सिर रख दिया।

× × ×

अगले वर्ष सेठ गगासरनजीको कपडेके व्यापारमें एक लाखकी बचत हुई। मुनीम नन्दलालको फिर लोभके भूतने घेरा। अबकी बार सेठजीके प्राण लेनेकी तरकीब सोची जाने लगी। उसने सोचा—यदि सेठजी बीचसे उठ जायँ तो विधवा सेठानी और बालक शकरलाल मेरे ही भरोसे रह जायँगे। वे दोनों क्या जानें कि 'मिती-काटा और तत्काल धन' किसे कहते है? बुद्धिमानीसे भरे हीले-हवालेसे यह एक लाख मेरी तिजोरीमें जा पहुँचेगा। किसीको कुछ खबर भी न होगी, अन्तमें घाटा दिखला दूँगा। व्यापारमे लाभ ही नहीं होता। घाटा भी तो होता है?

सध्याका समय था। नन्दलाल अपने घरसे एक गिलास दूध शखिया डालकर सेठके पास ले गया और बोला—'दस दिन हुए मेरी गायने बच्चा दिया था। आजसे दूध लेना शुरू किया जायगा। आपकी बहूने

कहा—पहिला गिलास मालिकको पिला आओ। तब हमलोग दूधका उपयोग करेंगे।'

सेठजी बोले—'गिलास मेजपर रखकर घर चले जाओ। मैं भी भोजन करने जा रहा हूँ। सोते समय तुम्हारा लाया हुआ यह दूध मैं अवश्य पी लूँगा।'

मेजपर वह विषाक्त दूध रखकर दुष्ट मुनीम चला गया।

भोजन करके सेठजी आये तो देखा कि गिलास खाली पड़ा है। सारा दूध पडोसीकी पालतू बिल्ली पी गयी। सुबह सुना कि पड़ोसीकी बिल्ली मर गयी। वह क्यों मरी, कैसे मरी—इस बातकी छानबीन नहीं की गयी। पशुके मरने-जीनेकी चिन्ता मनुष्य नहीं करता। दूकानपर सेठको गद्दीपर बैठा देख मुनीमको महान् आश्चर्य हुआ। परतु वह बोला कुछ नहीं।

रातको स्वप्नमे सेठजीको भगवान् शङ्करजीके दर्शन हुए। भगवान् कह रहे थे—'तुमने जिस दुष्ट मुनीमको—पाँच हजारके गबनके मामलेमें क्षमा कर दिया था, उसने दूधमें शखिया मिलाकर तुमको समाप्त करनेका षड्यन्त्र रचा था। मैंने प्रेरणा करके बिल्ली भेजी थी और तुम्हारे प्राण बचाये थे। उसी विषसे पड़ोसीकी बिल्ली मरी थी।'

सेठने उसी समय जाकर सेठानीको अपना सपना सुनाया। सुनकर बेचारी सेठानी सहम गयी। फिर सँभलकर बोली—'जब वह तुम्हारा ऐसा अशुभचिन्तक है, तब उसे निकाल बाहर करो।' कोई दूसरा ईमानदार मुनीम रख लो।'

'मैं अपने शुभचिन्तनके द्वारा उसका अशुभ चिन्तन नष्ट कर डालूँगा।' सेठने दृढ़ताके साथ कहा।

'यह कैसे हो सकता है?' सेठानीने आश्चर्यचकित होकर प्रश्न किया।

'मै अपने मनमे उसके प्रति वैर-भावना नहीं रक्खूँगा—बल्कि प्रेम भावनाको बढ़ाता रहूँगा।'

'इससे क्या होगा?'

'जब हम किसीके प्रति शत्रुताके विचार रखते हैं, तब वह भावना उसमे जाकर उसकी शत्रुताको और भी बढा देती है। दिलको दिलसे राह होती है।'

'मै नहीं समझी।'

'एक दृष्टान्त देता हूँ। तब तुम समझ जाओगी। एक बार बादशाह अकबर प्रधान मन्त्री बीरबलके साथ सैर करने शहरसे बाहर निकले। सामनेसे एक लकडहारा आता दिखायी पडा। बादशाहने पूछा—'यह लकडहारा मेरे प्रति कैसे विचार रखता है?' बीरबलने उत्तर दिया—'जैसे विचार आप उसके प्रति रखेगे, वैसे ही वह भी रखेगा। क्योंकि दिलको दिलसे राह है।' बादशाह एक पेडपर चढ गये और कहने लगे—'साला लकडहारा मेरे जंगलकी लकडियाँ बिना इजाजत चुराकर काट लाता है और अपना खर्च चलाता है। कल इसे फॉसी देंगे।' तबतक वह लकड़हारा पास आ पहुँचा। बीरबलने कहा—'लकड़हारे! तुमने सुना या नहीं कि आज बादशाह अकबर मर गया?' लकडहारेने लकडीका गट्ठा फेक दिया और नाचने लगा। बोला—"बडा अच्छा हुआ। बड़ा बदमाश बादशाह था। मीनाबाजारमे एक राजपूतनीको बुरी नजरसे देखा तो उसने छातीमें कटार घुसेड दिया होता। 'माता' कहकर क्षमा मॉगी, तब प्राण बचे थे। मैं तो प्रसाद बाटूँगा। खूब मरा!" बादशाहने बीरबलका सिद्धान्त मान लिया।

'फिर क्या हुआ?' सेठानीकी उत्सुकता बढ़ी।

'उसी समय एक वृद्धा घास लिये आती दिखलायी पड़ी। बादशाह पेड़पर ही छिपा बैठा रहा, क्योंकि वह शुभ-चिन्तन और अशुभ-चिन्तनका प्रभाव देखना चाहता था। अशुभ-चिन्तनका प्रभाव वह देख चुका था। अबकी बार शुभचिन्तनका प्रभाव देखनेके लिये

बादशाहने कहा—'बीरन ! वह देखो, एक बेचारी वृद्धा आ रही है। कमर झुक गयी है—मुँहमें दाँत भी न होंगे। लाठीके सहारे चल रही है। अपनी गायके लिये थोड़ी घास छील लायी है। दस रुपये माहवारी इसकी पेंशन आजसे बाँध दो—वजीरे आजम !' जब बुढ़िया पास आयी, तब बीरबल कहने लगे—'बूढ़ी माई ! तुमने सुना कि आज आधी रातके समय बादशाह अकबरको काला नाग सूँघ गया। सुबह कब्र भी लग गयी !' बुढ़ियाने घास पटक दिया और रो-रोकर कहने लगी—'गजब हो गया। राम-राम, बड़ा बुरा हुआ। ऐसा दयालु बादशाह अब कहाँ मिलेगा। हिंदू-मुसलमान दोनों उसकी दो आँखें थीं। बीरबल प्रधान मन्त्री, मानसिंह सेनापति और टोडरमल खजाना-मन्त्री। फिर—गोवध कतई बंद। मजाल क्या कि कोई किसी गायकी पूँछका एक बाल भी खींच ले ! भगवान्, तुम मेरे प्राण ले लेते—बादशाहको न मारते !

× × ×

प्रात: गङ्गास्नानके बाद भक्तजी विश्वनाथ-मन्दिरमें गये। पूजन करके हाथ जोड बोले—'अन्तर्यामी भोलानाथ ! मुझे अपने मुनीमके पतनका आन्तरिक दु:ख है, परतु मेरे मनमें उसके प्रति जरा भी द्वेष देखें तो बेशक मुझे दण्ड दें। भगवान् ! आप मेरे मुनीमका चित्त शुद्ध कर दीजिये। यदि उसकी लोभभावना दूर न हुई तो मेरी भक्तिका क्या फल हुआ ? काम-क्रोध-लोभ—ये ही तीन मानवके प्रबलतम शत्रु हैं। मुझे अपने जीवनका भय नहीं है। क्योंकि—

'तुम रहते जिसके मन भीतर,
उसको परवाह नहीं होती,
जंगलमें कितने काँटे हैं,
पैरोंमें कितने छाले है !'

मैं तो 'आत्मसमर्पण' करके निश्चिन्त हो गया हूँ।'

× × ×

साँझको एक सँपेरा मुनीमजीके घरके सामनेसे निकला। मुनीमने उसे बुलाकर कहा—'तुम्हारे पास कोई ऐसा साँप है, जिसके विष-दाँत तोड़े न गये हों ?'

'जी हाँ—इसी पेटीमें मौजूद है। कल ही पकड़ा था।'

'तुम उसे बेच दो। ये लो पाँच रुपये।'

सँपेरेने वह विषधर फणिधर एक मिट्टीकी हाँडीमें बद कर दिया और मुँहपर कपडा बाँध दिया।

जब रातके दस बजे, तब हाँडी लेकर नन्दलाल सेठजीके मकानपर पहुँचा। जिस कमरेमें सेठजी सोते थे, उसकी खिड़कीका एक शीशा टूटा हुआ था। खिड़कीके नीचे ही भक्तजीका पलग रहता था। नन्दलालने उसी खिडकीके द्वारा वह काला साँप अदर फेंक दिया, जो सेठजीकी रजाईके ऊपर जा गिरा। हँसता हुआ नन्दलाल लौट गया।

प्रात: जब सेठजी रजाईसे बाहर निकले, तब सेठानी भी वहीं खडी थी। उसी समय रजाईमेंसे एक काला साँप निकला और पलंगपरसे नीचे उतर गया। सेठानी चीख पड़ी। नौकरको बुलाने लगी।

'नौकरको क्यों पुकारती हो ?' सेठजी बोले।

'इस साँपको मरवाऊँगी। आपको काटा तो नहीं ?' सेठानीने कहा।

'मेरी प्रेमपरीक्षा लेनेके लिये भगवान् भोलानाथने अपने गलेका हार भेजा था। रातभर साथ सोता रहा। कभी मेरा हाथ पड गया, तो कभी पैर भी पड गया; परतु काटता तो रातभरमें सौ बार काट सकता था।' सेठने कहा।

तबतक लाठी लेकर नौकर आ गया। सेठजी बोले—'हीरा, लाठीको रख दो ! एक कटोरा दूध ले आओ। दूध पिलाकर सर्पदेवताको जाने दो—जहाँ वे जाना चाहें। खबरदार ! मारना मत !'

'और वह इसी घरमें रहने लगे ?' सेठानीने व्यङ्ग्य किया ।

'कोई परवा नहीं, रहने दो । भला, साँप कहाँ नहीं रहते ? साँपपर ही पृथ्वी टिकी है !' सेठजीने कहा ।

रातको सेठजीने सपनेमें फिर भोलानाथको बैलपर चढ़े हुए मुसकाते देखा । भगवान्‌ने मुनीमवाली सर्प-क्रिया बयान कर दी । सेठने कहा—'कुछ हो, अपने शुभचिन्तनके द्वारा मुनीमके अशुभचिन्तनको नष्ट करना है । आपका आशीर्वाद है, इस परीक्षामें पास हो ही जाऊँगा । आप भी इसमें मेरी सहायता करें ।'

× × ×

अपने दोनों अशुभचिन्तन विफल देख मुनीम नन्दलालने तीसरी स्कीम सोची । उसने दो नामी चोरोंसे दोस्ती गाँठी । एक दिन आधी रातके समय नन्दलाल उन दोनों चोरोंको लेकर सेठजीके मकानके पीछे जा पहुँचा । सेंध लगवाकर तीनों भीतर घुसे । सेठजीकी तिजौरी जिस कमरेमें रहती थी, उस कमरेको मुनीम जानता था । ज्यों ही मुनीम उस कमरेमे पहुँचा, उसने सामने काशीके कोतवाल भगवान् कालभैरवको त्रिशूल लिये, खजानेके पहरेपर खड़ा देखा । भय खाकर भागना चाहा तो भगवान्‌ने उसे पकड़ लिया । दो तमाचे लगाकर कहा—'कमीने ! जिसने तुझे आत्महत्यासे बचाया, उसके प्रति बदमाशी-पर-बदमाशी करता ही चला जा रहा है ? आज तुझे खतम करूँगा ।'

दोनों चोर भाग गये । मुनीमने भगवान् भूतनाथके चरण पकड लिये और गिडगिड़ाने लगा—'आज मेरा सारा अशुभचिन्तन मर गया । मैं अभी सेठजीसे माफी माँगता हूँ । अपने सुधारके लिये यह एक मौका दीजिये ।'

वही हुआ । मुनीमने जाकर सेठजीको जगाया और उनके चरण पकडकर अपने तीनों अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी । सेठजीने हँसकर मुनीमको छातीसे लगा लिया और कहा—'मेरे शुभचिन्तनकी विजय हुई ।'

और—वास्तवमे नास्तिक मुनीम ईमानदार आस्तिक बन गया था ।

पुण्यात्मा कौन है ?

परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनः । परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते ॥
एव ये लोके परदुःखविदारणाः । आर्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः ॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः । मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः ॥
तस्मात्परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा । वरं निरयपातोऽत्र वरं प्राणवियोजनम् ।
न पुनः क्षणमार्त्तानामार्तिनाशमृते सुखम् ॥

(पद्म० पाताल० ९७ । ३२–३५)

जो चिदानन्द-वृक्षकी भाँति दूसरोंके ताप दूर करके उन्हें आह्लादित करते हैं तथा जो परोपकारके लिये स्वय कष्ट उठाते हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं । संसारमें वे ही संत हैं, जो दूसरोंके दुःखका नाश करते हैं तथा पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर करनेके लिये जिन्होंने अपने प्राणोंको तिनकेके समान निछावर कर दिया है । जो मनुष्य सदा दूसरोंकी भलाईके लिये उद्यत रहते हैं, उन्होंने ही इस पृथ्वीको धारण कर रक्खा है । जहाँ सदा अपने मनको ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरकके ही समान है, अतः साधुपुरुष सदा दूसरोंके सुखसे ही सुखी होते हैं । यहाँ नरकमें गिरना अच्छा, प्राणोंसे वियोग हो जाना भी अच्छा; किंतु पीड़ित जीवोंकी पीड़ा दूर किये बिना एक क्षण भी सुख भोगना अच्छा नहीं है ।

श्रीजानकी-जयन्ती

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

मङ्गलमयी कल्याणमयी पराम्बा जगज्जननी भगवती श्रीसीताका प्राकट्य वैशाख-शुक्ला ९, मङ्गलवारको मध्याह्न-कालमें हुआ था। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर'में लिखा है—

> पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां
> श्रीमाधवे मासि सिते हलाग्रतः।
> भुवोऽर्चयित्वा जनकेन कर्षणे
> सीताऽऽविरासीद् व्रतमत्र कुर्यात्॥ (८०)

वैशाखमासके शुक्लपक्षकी मङ्गलवार तथा पुष्य नक्षत्रसयुक्त नवमी तिथिको जब श्रीजनकजी पृथ्वीकी पूजाकर उसे जोत रहे थे, तब हलके अगले भागसे श्रीसीता प्रादुर्भूत हुई थीं, अतएव उस दिन मुमुक्षु वैष्णवको चाहिये कि व्रत, उत्सव तथा पूजन आदि करे।

वाल्मीकीय रामायणके 'क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे वेद्यामग्नि-शिखोपमा' (उत्तरका० १७।३७) इस श्लोककी टीकामें श्रीनागोजी भट्टने भी महासुन्दरी-तन्त्रके वचनसे इसे ही श्रीजानकी-जयन्ती होना स्वीकार किया है। वहाँका वचन है—

> वैशाखे शुक्लनवम्यामुत्पन्ना सावनीसुता।
> सीतामुखात्सा संजाता पालिता जनकेन च॥
> रामपत्नी महाभागा सीता नामेति विश्रुता।
> तस्मिन् दिने रामभक्ताः श्रद्धाभक्तिसमन्विताः॥
> महोत्सवपराः सर्वे वित्तशाठ्यविवर्जिताः।

'महासुन्दरी-तन्त्र' के अनुसार इस दिन पुराणपठन एव श्रीसूक्तपठन श्रीरामके प्रीतिकारक हैं—

> वैशाखसितनवम्यां पुराणपठनं तथा।
> लक्ष्मीसूक्तं पठंस्तत्र याति रामं सनातनम्॥

इससे सौभाग्य, धन-धान्यकी वृद्धि, पुत्रादि संततिका विस्तार तथा सभी पापोंसे शुद्धि हो जाती है—

> सौभाग्यं धनधान्यं च पुत्रसंततिविस्तृतम्।
> रामप्रसादाल्लभते मुच्यते सर्वपातकात्॥

'शब्दकल्पद्रुम' कोषमें भी भविष्यपुराणके वचनसे कहा गया है कि त्रेतायुगमे श्रीसूर्यके उत्तरायण होनेपर वैशाख-शुक्ला नवमी, मङ्गलवारके मध्याह्नकालमें श्रीसीताका प्रादुर्भाव हुआ था—

> त्रेतायुगे उत्तराशां गते कमलिनीपतौ।
> सर्वर्तुनिकरश्रेष्ठे ऋतौ तु कुसुमाकरे॥
> मासि पुण्यतमे विप्र माधवे माधवप्रिये।
> नवम्यां शुक्लपक्षे च वासरे मङ्गले शुभे॥
> सार्पे ऋक्षे च मध्याह्ने जानकी जनकालये।
> आविर्भूता स्वयं देवी योगेषु गतिरुत्तमा॥
> (शब्द कल्पद्रुम-परिशिष्ट)

'अगस्त्यसंहिता'में भी यही बात कही गयी है—

> मासोत्तमे महापुण्ये वैशाखे माधवप्रिये।
> कुजवारे शुक्लपक्षे नवमी पुण्यसंयुता॥
> × × ×
> पृथिव्याः पूजनं कृत्वा जनकस्तु नरेश्वरः।
> हलेन कर्षणं चक्रे सर्वेषां पश्यतां सताम्॥
> लाङ्गलस्य मुखाग्रात्तु रमा कन्या विनिर्गता।
> भित्त्वा क्षितितलं सद्यः सीतानाम्ना बभूव सा॥

व्रत-निर्णय

श्रीरामनवमीके समान ही यह भी दशमी-विद्धा तथा मध्याह्नव्यापिनी ही ग्राह्य होती है। यदि नवमी दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो तो पिछले दिन व्रत करना चाहिये—

'द्वयमपि तुल्यभावेन पूर्ववत्' । पूर्वेणाविद्धा मध्याह्नव्यापिन्येव ग्राह्या ॥ दिनद्वयमध्याह्ने व्यापिन्यां तु परैवेति बोध्यम्, पूर्वविद्धानिषेधेन परविद्धाया ग्राह्यत्वेन स्वीकारात्'

(श्रीरघुवरशरणजीकृत वैष्णवमता०की अर्थप्रकाशिका व्याख्या)

१. निर्णयसिन्धुकारने फाल्गुन-कृष्णअष्टमीको सीतोत्पत्ति माना है, वह ठीक नहीं जान पड़ता। एक तो वह वचन ही स्थल-निर्देशरहित है, दूसरे वैशाख शुक्ला नवमीको जानकी-जन्मके प्रतिपादक वचनोंसे, जो बहुत जगह मिलते हैं, उसका विरोध होता है।

भविष्यपुराणका भी मत है कि अष्टमीविद्धा इस नवमीके उपोषणसे फलमें न्यूनता आती है तथा यह मध्याह्नव्यापिनी ही ग्राह्य है, दोनों दिन मध्याह्नव्यापिनी होनेपर परा उपोष्य है—

अष्टम्यां यदि विद्धा स्यान्नवमी माधवे सिते।
कुर्यान्नेदं व्रतं तस्यां कृतं चेन्न्यूनता भवेत्॥
मध्याह्नव्यापिनी ग्राह्या व्रतेऽस्मिन् नवमी तिथिः।
दिनद्वयगतायां तु तस्यां कार्या परा नरैः॥

यदि मध्याह्नव्यापिनी आदि योग न भी हों, तो भी यह दिन बड़ा पापनाशक तथा पवित्र माना गया है—

'एतैर्योगैर्विनापि स्यात्तद्दिनं पापनाशनम्।
(भविष्य)

व्रत-माहात्म्य

श्रीजानकीनवमी-व्रतकी गणना नित्य आवश्यक श्रेष्ठ व्रतोंमें है। जो इसका अनुष्ठान नहीं करता, वह नरकगामी होता है। इस दिन अन्न खानेवालेके लिये कहा गया है कि वह मानो कृमिसमूहके साथ पूय आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भोजन करता है—

यस्तु नो कुरुते मोहाज्जानकीजन्मसम्भवम्।
व्रतं स पच्यते घोरे नरके नात्र संशयः॥
तस्मिन्नहनि मूढात्मा भुङ्क्तेऽप्यन्नं तु यो नरः।
मुने स कृमिसंघातं सपूयं खादति स्फुटम्॥

जो इस व्रतका आचरण करता है, उसे सभी यज्ञों, षोडशमहादान, सर्वपृथ्वीदान, सर्वतीर्थपर्यटन तथा सर्वभूतदयाका फल प्राप्त होता है—

कुरुते यो व्रतं सोऽपि पृथ्वीदानफलं लभेत्।
महाषोडशदानानां यज्ञानां मुनिपुङ्गव॥
प्राप्नोति सर्वतीर्थानां प्राप्नुयात् सकलं फलम्।
सर्वभूतदयां कृत्वा फलमाप्नोति यज्जनः॥
तत् प्राप्नोति व्रतादस्मान्नात्र कार्या विचारणा।
(शब्दकल्प० परि० में उद्धृत भविष्यपुराणका वचन)

व्रतानुष्ठान-विधि

भविष्यपुराणके अनुसार श्रीजानकीनवमी-व्रतके आचरणकी विधि यह है कि व्रतीको सप्तमीके दिन प्रातः उठकर शौचादिसे निवृत्त हो किसी नदी आदिमें स्नान करके नित्यकर्म करना चाहिये। वहाँ संध्या-तर्पण आदि कर चुकनेपर उस दिन एक बार हविष्य भोजन करके पूरे संयमसे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिये। सम्भव हो तो भूमिपर ही शयन करे। दूसरे दिन अष्टमीको प्रातःकाल उठकर विधिपूर्वक तीर्थमें स्नान करके सोलह, आठ या चार स्तम्भोंसे मण्डित एक रम्य मण्डप बनाना चाहिये। उसे सुन्दर तोरण तथा वितानोंसे सजाना चाहिये। दरवाजोंको शङ्ख, चक्र, पताका आदिसे अलंकृत करे। प्रत्येक स्तम्भके सामने कलश रखे और शुद्ध तण्डुलराशिपर पूर्णपात्र स्थापित करे। बीचमें मिट्टीकी चार हाथकी एक वेदी बनाये, जो एक हाथ ऊँची हो। फिर यथाशक्ति पाद्य, अर्घ्य, एक या दो पल सोनेकी सीताकी प्रतिमा बनाये, जिसके चार भुजाएँ हों। शक्ति न हो तो चाँदी, पीतल, मिट्टी या गूलरके काष्ठकी ही प्रतिमा बनाये। यह भी सम्भव न हो तो दीवालपर या वस्त्रपर या कागज आदिपर बना चित्र ही रख ले। फिर सूतिकागारका निर्माण करके उसे सँवारकर चारों ओरसे कपडेसे ढँक दे। उसमें पर्यङ्क (पलग) पर महाबुद्धिमती श्रीविदेहरानी सुनयनाको शयन कराये। उन्हींके बगलमें स्तनपायिनी मैथिलीको सुलाये। चित्रमें जातकर्म करते हुए महाराज जनकको भी दिखलाना चाहिये। पुरोधा शतानन्दजीका भी अवश्य समावेश करना चाहिये। यथाशक्ति स्वर्ण आदिका हल, चाँदीका खेत, सोनेका सिंहासन तथा पूर्णपात्रावृत ताम्रमय घट भी सजाना चाहिये। उस घडेमें तीर्थोंका जल तथा पञ्चरत्नादि छोड़ने चाहिये। फिर शास्त्रकुशल आचार्यका वरण करना चाहिये, साथ ही १६ या ८ ऋत्विजोंका भी वरण किया जाय। तत्पश्चात् अष्टदल कमलपर कलश रखकर वहीं रत्नसिंहासनपर श्रीसीताकी प्रतिमा रख उनका आवाहन करे। एकाग्रचित्त होकर मूलमन्त्रसे तीन बार प्राणायाम करे। मूलमन्त्रके*

* 'श्रीसीतायै नमः' यह मूलमन्त्र है।

जनक ऋषि, गायत्री छन्द, सीता देवता हैं। इनका न्यास इस प्रकार करना चाहिये—

ॐ जनकाय ऋषये नमः मूर्ध्नि। गायत्रीछन्दसे नमः मुखे। सीतादेवतायै नमः हृदि। श्रीं नमः नाभौ। शक्त्यैः नमः पादयोः।

फिर श्रीं आदि छः बीज-मन्त्रोंसे करन्यास एवं अङ्गन्यास करके चार भुजाओंसे युक्त, सुवर्णके समान कान्तिवाली श्रीराघवसहित सीताका ध्यान करे। फिर हाथ जोडकर मूलमन्त्रका उच्चारण करता हुआ नमस्कार करके प्रतिमाका अधिवासन कर दे और उस रातमें ब्रह्मचारी होकर पृथ्वीपर शयन करे।

श्रीजानकी-पूजन-विधि

श्रीजानकी-नवमीके दिन शौचादिसे निवृत्त होकर, किसी पवित्र नदी आदिमें स्नान-सन्ध्यादि करके प्रथम प्रहर पूजामें तथा दूसरा नृत्य-वादनादिमें बिताकर मध्याह्नकालमें एकाग्र चित्तसे पूजा करे। उसकी विधि यह है—आसनपर बैठकर पूर्वोक्त प्रकारसे मूल-मन्त्रका अपने अङ्गोंमें विन्यास करे। मूलमन्त्रसे शङ्खको स्थापितकर उसमें अङ्कुश-मुद्रासे चिन्मय तीर्थका चिन्तन करते हुए जल रखे। फिर मूल-मन्त्रसे सात बार उस जलको अभिमन्त्रित करे। उससे सामग्रीका प्रोक्षण करे। पूजाके पात्र ताम्र अथवा स्वर्णके होने चाहिये। पहले हल-चालनसे समुद्भूत, श्रीसीतादेवीका चिन्तन करते हुए पुष्पाञ्जलि दे और फूलोंको प्रतिमाके सिरपर रख दे। श्रीसूक्त*के 'हिरण्यवर्णां०, आदि मन्त्रोंद्वारा आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य प्रदान करे। 'चन्द्र प्रभासा०' मन्त्रसे आचमन कराये। 'आप्यायस्व०'† मन्त्रसे दूध, 'दधिक्राव्णो०' से दधिस्नान, 'घृतं०' से घृत, 'मधु वाता०' से मधुस्नान, 'अपां०' से शर्करास्नान, 'आदित्यवर्णे०'से पञ्चामृतस्नान तथा 'स्वादुयवस्व०' द्वारा तीर्थाम्बुसे क्रमशः स्नान कराये। 'उपैतु मा देवसख.०' इस मन्त्रसे भी स्नान कराना चाहिये। स्नान कराकर प्रतिमाको रत्नसिंहासनमें स्थापित करा दे। फिर 'क्षुत्पिपासा०' मन्त्रसे वस्त्र, 'गन्धद्वारां०' से चन्दन,* तथा 'मनसः काममाकूतिं०' से आभरणालङ्कार अर्पित करे। कोमल तुलसीपत्र तथा पुष्पोंसे प्रतिमाकी पूजा करे। वहीं १०८ बार मूलमन्त्रका भी जप करे। तत्पश्चात् व्रती—

देवी साक्षादवतीर्णा यदालये।
मिथिलापतये तस्मै जनकाय नमो नमः॥

—इस मन्त्रसे राजा जनककी पूजा करे।

फिर निम्नलिखित मन्त्रोंसे महामति सुनयना, पुरोहित शतानन्दजी तथा हलका पूजन करे।

महामति सुनयनाकी पूजाका मन्त्र—

श्रीसीताजननी मातर्महिषी जनकस्य च।
पूजां गृहाण मद्दत्तां महामति नमोऽस्तु ते॥

शतानन्दजीके पूजनका मन्त्र—

निधानं सर्वविद्यानां विद्वत्कुलविभूषणः।
पुरोधास्त्वं शतानन्दाय ते नमः॥

हल-पूजन-मन्त्र—

जीवयस्यखिलं विश्वं चालयन् वसुधातलम्।
प्रादुर्भावयसे सीतां सीर तुभ्यं नमोऽस्तु ते॥

तत्पश्चात् अष्टदलोंके बीच जया इत्यादि आठ सखियों-की भी चन्दन-अक्षतादिसे पूजा करे। बहिर्मण्डलमें १६ अणिमादि देवताओंकी अर्चना करे। फिर 'आपः सृजन्तु स्निग्धानि' से दशाङ्ग धूप, 'आर्द्रां पुष्करिणीं०' से दीप, 'आर्द्रां यः करिणीं०' से नैवेद्य अर्पितकर ताम्बूल निवेदन करे तथा साङ्गतासिद्ध्यर्थ यथाशक्ति दक्षिणा दे। तत्पश्चात् महानीराजन (आरती) करके पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। साष्टाङ्ग प्रणाम करे। फिर पूर्वोक्त ऋत्विजोंद्वारा

* श्रीसूक्तके सभी मन्त्र कल्याणके उपनिषदङ्कके ६५५ पृष्ठपर सानुवाद प्रकाशित हैं, वहीं देखने चाहिये।

† दूध आदि पाँच अलग-अलग द्रव्योंसे तथा तीर्थाम्बुसे स्नान करानेके मन्त्र शुक्ल यजुर्वेदके हैं तथा तीर्थाङ्कके पृ० १४-१५ पर पूरे दिये गये हैं।

* चन्दनमें कस्तूरी, कपूर, केसर मिलाना चाहिये।

मूल-मन्त्रसे पायस-शर्कराकी १००८ या १०८ आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके बाद प्रदक्षिणा करके तुलसीदल एवं पुष्पोंसे भगवतीके चरणोंमे पुनः पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर बडी श्रद्धा, भक्ति तथा दीनतासे उनके दोनों चरणोंको पकड़कर निम्न मन्त्रसे प्रार्थना करे—

दुरन्तसंसारसमुद्रमग्नं
सीते शरण्यां शरणागतं त्वाम्।
उद्धारयस्वाशु कृतं मयैतद्
व्रतं ततो देवि मयि प्रसीद॥

तब पुनः साष्टाङ्ग प्रणाम करके, पुन पुष्पाञ्जलि देकर 'नीलनीरजदलायतेक्षणा०' आदि स्तोत्रसे अथवा 'या सीता[1]०' इस मन्त्रसे भगवतीकी स्तुति करे। तत्पश्चात् शेष सारा दिवस तथा रात्रिका समय भी गीत-वादित्र आदिद्वारा जागरण करते हुए ही व्यतीत करे।

दशमीके प्रात.काल पुनः पूर्वोक्त विधिसे प्रतिमाकी पूजा करके आचार्यकी भी पूजा करे और सोपस्करा वह प्रतिमा आचार्यको दान कर दे। उन्हें यथाशक्ति सवत्सा गौ तथा दक्षिणा भी देनी चाहिये। फिर श्रीसीताकी प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक पूर्णाहुति करके मण्डपका विसर्जन करे। दूसरे ब्राह्मणोंको भी भूयसी तथा अतिथि आदिको अन्नदान करना चाहिये। इस तरह सभीको संतुष्टकर सकुटुम्ब पारण करना चाहिये।

इस प्रकार व्रतोत्सव करनेवालेपर भगवती सीता सदा प्रसन्न रहती हैं। जिसके घर सीताकी प्रतिमा नित्य-पूजी जाती हो, वह उसमें भी श्रीसीताकी यह पूजा कर सकता है। यदि सीताका कोई अर्चा-विग्रह न हो तो शालग्राममें ही सीताकी भावनासे पूजा करनी चाहिये। इन्द्रादि देवतागण, गन्धर्व, किन्नर—सभी इस प्रकार जानकी-जयन्त्युत्सव मनाया करते हैं। इसके आचरणसे भगवान् राघवेन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा अश्वमेधादि यज्ञ एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी यात्राका फल मिलता है।

मनको प्रबोध

(खड़ी बोली)

अरे मन! भज नित नन्दकिशोर।
ललितत्रिभङ्ग मनोहर छविमय ऋषि-मुनि-मानस-चोर॥
अतुलित परम प्रेम-रस-निधि नित नव माधुर्य-निधान।
अति उदार सौन्दर्य-सुधार्णव सच्चित्-सुख की खान॥
सहज विरक्त ज्ञानि-जन-मन-आकर्षक अङ्ग प्रत्यङ्ग।
उदित रूप-रवि जहाँ, वहाँ मर चुका तमिस्र अनङ्ग॥
भोग-रोग दे त्याग, सदा जो दुःखद और अनित्य।
स्याम-रूप वर सुधा-तरंगिणिमें कर मज्जन नित्य॥

१. या सीतावनिसम्भवाथ मिथिलापालेन सवर्द्धिता पद्माक्षी नृपते. सुतानलगता या मातुलिङ्गोद्भवा।
या रत्ने लयमागता जलनिधौ या वेदवाराङ्गना लङ्का सा मृगलोचना शशिमुखी मा पातु रामप्रिया॥

महात्माओंके सङ्गसे लाभ उठानेके प्रकार

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

किन्हीं महापुरुष, महात्मा पुरुषसे जब कभी मिलना हो जाय, तब उनके सङ्गसे साधकको किस प्रकार लाभ उठाना चाहिये ? यह प्रश्न है। महापुरुषोंके सङ्गसे लाभ मनुष्यकी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर करता है। उनकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है—यद्यपि श्रद्धा होनेपर उनके दर्शनसे, भाषणसे, वार्तालापसे, सङ्गसे, उनके पास निवास करनेसे सभी प्रकारसे लाभ होता रहता है। जितनी अधिक श्रद्धा उनके प्रति होती है, उतना ही अधिक लाभ भी होता है; किंतु कम श्रद्धा होनेपर भी मनुष्य उनकी आज्ञाका पालन करके लाभ उठा सकता है। अवश्य ही इतनी बात समझमें आ जानी चाहिये कि महापुरुषका वचन शास्त्रका वचन है और इनके वचनका पालन करनेसे निश्चय ही हमारा कल्याण हो जायगा। इतनी श्रद्धा हो जानेपर महापुरुषकी आज्ञाके पालनसे मनुष्यको विशेष लाभ होता है।

जो उच्चकोटिके महापुरुष होते हैं, वे आज्ञा नहीं देते। ऐसी स्थितिमें श्रद्धालु मनुष्य उनके सङ्केतसे भी लाभ उठा सकता है, उनके सिद्धान्तसे भी लाभ उठा सकता है, उनके आचरणोंसे लाभ उठा सकता है; क्योंकि वे आचरण आदर्श होते हैं। महापुरुषोंको आदर्श मानकर हम विशेष लाभ उठा सकते हैं। उनके आदर्शके अनुरूप कर्म करके, महापुरुष जिस प्रकारसे आचरण करता है, उसी प्रकार आचरण करके हम लाभान्वित हो सकते हैं—

> यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
> स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
>
> (गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे पुरुष उसी-का अनुसरण करते हैं। वह जिस बातको प्रमाण बना देता है, सब लोग उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा थे, महात्माओंके भी महात्मा थे। उनका अनुकरण करना तो और भी अधिक लाभकी बात है। महात्मा पुरुषोंके आचरणके अनुसार व्यवहार करना ही मुक्तिको देनेवाला है; फिर साक्षात् परमात्मा यदि अवतार लेकर पधारें और उनके आचरणका अनुकरण किया जाय तो फिर कहना ही क्या।

कोई-कोई कहते हैं कि महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, किंतु उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। यह बात हमारी समझमें नहीं आती, यह न्याय भी नहीं है। यदि बात ऐसी हो तो हम किसका अनुकरण करेंगे ? अनुकरणीय तो महापुरुष ही होते हैं। उनके दो भेद हैं—१—भगवत्प्राप्त पुरुष, ये भी महापुरुष ही हैं। २—महापुरुषोंके महापुरुष साक्षात् भगवान्।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकारका व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको भी करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजने अपने माता-पिताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने माता-पिताके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अपनी सौतेली माताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हम-लोगोंको अपनी माताके तुल्य ताई, चाची, मौसी, मामी, सास आदि अथवा उन्हींके समान पदवाली अन्य माताओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने भाइयोंके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपने भाइयों और बन्धुओंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जनकनन्दिनी भगवती सीताके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमको अपनी धर्मपत्नीके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने लव-कुशके साथ जैसा व्यवहार किया, वैसा ही व्यवहार हमलोगोंको अपने पुत्रोंके साथ करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी प्रजाके साथ जैसा व्यवहार किया, हमें अपने नौकर-चाकर, मुनीम, गुमाश्ता आदिके साथ—जो अपने नीचे काम करनेवाले हैं वैसा ही करना चाहिये। भगवान्‌ने जैसा व्यवहार ऋषि-मुनियोंके साथ किया, वैसा ही व्यवहार हमें साधुओंके साथ, ब्राह्मणोंके साथ, महात्माओंके साथ, ज्ञानी और भक्तोंके साथ करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक व्यवहारमें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये। उन्हींके आदर्शके अनुरूप जीवन बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे बहुत शीघ्र मनुष्यका उद्धार हो सकता है। ऐसा करनेमें बार-बार भगवान्‌की स्मृति तो होती ही है, साथ ही भगवान्‌के चरित्रगत गुणोंका अनुशीलन होनेसे वे गुण हमारे अंदर आते हैं, जिससे हमारे आचरणोंका सुधार होता है। केवल उनकी स्मृतिसे ही हमारी आत्मा शुद्ध होकर कल्याणकी ओर अग्रसर हो सकती है, क्योंकि

भगवान्‌के दर्शन, भाषण, स्पर्श एवं वार्तालापकी भाँति उनके चिन्तनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है।

भगवान् अपने अवताररूपमें इस समय विद्यमान नहीं हैं, व्यापकरूपमें विद्यमान हैं, उनकी लीलाएँ तथा चरित्र भी ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। उनसे हम जान सकते हैं कि भगवान्‌ने अमुकके साथ अमुक ढंगसे व्यवहार किया। उसीके अनुसार हमलोगोंको भी जहाँ जैसा प्रसङ्ग हो, वहाँ वैसा व्यवहार करना चाहिये। साथ ही भगवान्‌की लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यका दिग्दर्शन करना चाहिये।

उदाहरणके लिये भगवान्‌की एक लीलाको ले लीजिये। भगवान् लङ्का-विजयके अनन्तर सीता, लक्ष्मण एवं अन्य सबके साथ अयोध्या लौट रहे हैं। उनका एक-एक चरित्र अनुकरणीय है। रास्तेमें बंदरोंके साथ, राक्षसोंके साथ उनकी बात-चीत हो रही है, अपनी धर्मपत्नी जगज्जननी सीताके साथ भी वे बातचीत कर रहे हैं और उन्हें मार्गके दृश्य दिखला रहे हैं। बंदरोंसे वे कह रहे हैं—'यह अयोध्यानगरी—मेरी जन्मभूमि है, यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मुक्ति हो जाती है। अयोध्यामें वास करनेसे मुक्ति हो जाती है। यह मुझको वैकुण्ठसे भी बढ़कर प्यारी है।' साथ-साथ उनसे विनोद भी करते जाते हैं। हमलोगोंको अपने अनुयायियोंके साथ, अपनेसे छोटोंके साथ ऐसा ही मधुर एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। अयोध्या पहुँचकर श्रीराम मुनियोंके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे मिलते हैं। बड़ोंके साथ हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा भगवान्‌ने उस अवसरपर मुनियोंके साथ किया। भाइयोंके साथ भी वे यथायोग्य व्यवहार करते हैं। सारी प्रजा प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के दर्शनोंके लिये उमड़ आती है, तब भगवान् समान भावसे, बड़े प्रेम एवं आदरपूर्वक सबसे यथायोग्य मिलते हैं। ऐसे अवसरोंपर हमें भी सबसे इसी प्रकार मिलना चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि इस लीलामें भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको किस प्रकार देखा जाय? विचार करनेपर पता लगेगा कि उनकी लीलामें पद-पदपर गुण भरे हुए हैं। भगवान्‌का व्यवहार दयासे पूर्ण है, प्रेमसे पूर्ण है, विनयसे पूर्ण है। उनके बड़ोंके साथ व्यवहारमें विनय है, छोटोंके साथ व्यवहारमें प्रेम है, दया भरी हुई है। इसी प्रकार उनके चरित्रमें प्रभाव भी देखना चाहिये। वे एक ही क्षणमें अनन्त रूप धारण करके बड़प्पनके अभिमानसे शून्य होकर सबसे यथायोग्य मिलते हैं। यह उनका कैसा विलक्षण प्रभाव है! अब उनके चरित्रका रहस्य समझना चाहिये। अवधवासी उन्हें अतिशय प्रिय क्यों थे? इसका रहस्य, वे स्वयं कहते हैं, कोई विरला ही जानता है। इस कथनसे उन्होंने यह दिखलाया कि अवधवासियोंका उनमें अतिशय प्रेम था। इसीलिये वे उनको अतिशय प्रिय थे। साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही श्रीराम थे, यह उनका तत्त्व है। इस प्रकार भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यको समझना चाहिये तथा उस लीलासे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उनके व्यवहारमें नीति, धर्म, प्रेम एवं विनय ओतप्रोत रहते हैं। हमारा भी व्यवहार ऐसा ही होना चाहिये। हमारे व्यवहारमें भी नीति, धर्म, प्रेम एवं त्याग ओतप्रोत रहने चाहिये।

इसी प्रकार संसारमें जो महापुरुष हो गये हैं अथवा जो महापुरुष वर्तमानकालमें ईश्वरकी कृपासे हमें मिल गये हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, उनके संकेतका अनुवर्तन करना चाहिये। संकेतका अर्थ यह कि बिना बोले इशारेसे उन्होंने कोई बात कह दी अथवा जिज्ञासाके भावसे कोई बात पूछ ली। मान लीजिये, उन्होंने आपसे पूछा—जप, ध्यान होता है न? उनके इस प्रकार पूछनेपर आपको जप और ध्यान प्रारम्भ कर देना चाहिये, यदि नहीं करते हों तो। प्रश्नके रूपमें उनका आपके लिये यह संकेत ही है कि आप ऐसा करें। यदि वे किसी कामके लिये आपको साक्षात् प्रेरणा कर दें, तब तो आपको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये। आज्ञा और प्रेरणाका अर्थ प्रायः मिलता-जुलता-सा है। प्रेरणाका स्वरूप यह है—'प्रातःकाल बड़े सवेरे उठना चाहिये। सूर्योदयसे पहले ही स्नान करके यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप प्रारम्भ कर देना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादा तो यह है कि संध्या और भी जल्दी रात रहते ही प्रारम्भ कर दी जाय और सूर्योदयतक गायत्रीका जप करते रहा जाय। संध्या-गायत्रीमें जिनका अधिकार नहीं है अर्थात् जिनके यज्ञोपवीत नहीं है—जैसे स्त्रियाँ, शूद्र एवं बालक आदि, उनके लिये वे महापुरुष यह कह सकते हैं कि 'भगवान्‌के नामका जप एवं स्वरूपका ध्यान, गीताका पाठ, भगवान्‌की मानसिक पूजा या मूर्तिपूजा, अपनी आत्माके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना, भगवान्‌के गुणोंका गान, यह तो अवश्य ही करना चाहिये। सोनेके समय भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको याद करते-करते

सोना चाहिये। अथवा निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा, प्रेम, विश्वास हो तो निर्गुण निराकार तत्त्वका ध्यान करते-करते शयन करना चाहिये और काम करते समय लक्ष्य भगवान्‌की ओर रहना चाहिये।' यह प्रेरणाके रूपमे एक प्रकारकी आज्ञा ही है। इसके उत्तरमें हमारे यह कहनेपर कि 'जो आप कहते हैं, बहुत ठीक है और तदनुसार यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है, किंतु मन भगवान्‌में नहीं लगता' यदि महात्मा यह कहें कि मन न लगे, तो भी ऐसा करते रहो, तो यह उनकी स्पष्ट आज्ञा हुई। इसके भी आगे यदि वे यह कह दें कि 'करते-करते मन लगने लगेगा' तो यह उनका आशीर्वाद हुआ, जो भविष्यकी बात कह दी। दूसरे शब्दोंमें यह उनका एक प्रकारसे वरदान हो गया। अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो—यह आज्ञा है। अमुक कार्य करनेसे अवश्य सफलता मिलेगी, यह एक प्रकारका आशीर्वाद है, वरदान है।

किसी संतके पास निवास करनेसे भी हमको बहुत लाभ मिल सकता है। उनका हाव भाव, उनकी चितवन आदि देखते रहनेसे उनके संस्कार हमारे हृदयमें जमते हैं। काम करनेके समय उन संस्कारोंके अनुसार हमारे चित्तमें स्मृति होती है और स्मृतिके अनुसार हमारी चेष्टा भी उसी प्रकार होने लगती है। और तो और, महापुरुषोंके दर्शन मात्रसे उनके स्वरूपके, उनके चरित्रके संस्कार हमारे हृदयपर पड़ते हैं और चरित्रके साथ साथ उनके गुणोंका भाव भी हमारे हृदयमें आने लगता है। वे किसीका उपकार करते हैं तो उन्हें देखकर हमारे मनमें यह भाव आता है कि ये बड़े ही दयालु हैं, बड़े ही उदारचित्त हैं। उनमें हमारी विशेष श्रद्धा होती है तो उनके हृदयका भाव हमारे हृदयपर प्रतिफलित होने लगता है। उनके समीप रहनेसे उनके जो सिद्धान्त हैं, जो मान्यताएँ हैं, उनका ज्ञान बढ़ता चला जाता है और उसके अनुसार आगे जाकर हमारे भी वैसे ही सिद्धान्त बन जाते हैं। महापुरुषोंकी प्रत्येक क्रिया उपदेशसे ओतप्रोत रहती है, उसमें नीति, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार भरे रहते हैं। श्रद्धा होनेसे इनका स्पष्ट दिग्दर्शन होता है तथा साथ ही यह भाव भी पैदा होता है कि हम भी ऐसे बनें। यह भाव बहुत लाभदायक होता है। बार-बार उस भावकी स्फुरणा होनेसे कभी वह वैसा बन भी सकता है।

हमने बालकपनमें महापुरुषोंके दर्शन किये थे। उनकी स्मृति बहुत बार होती है, जिससे हमें बहुत अधिक लाभ होता है। इससे हम समझते हैं कि आपलोग भी यदि ऐसा करें तो आपलोगोंको भी विशेष लाभ होना चाहिये। महापुरुषोंके चरित्रोंकी स्मृतिसे उनका अनुकरण करनेकी इच्छा होती है और फलतः कुछ अंशोंमें वैसी चेष्टा बननेमें भी आती है, कम-से-कम उनकी छाप तो हृदयपर पड़ती ही है। जितनी अधिक किसी महापुरुषमें हमारी श्रद्धा होती है, उतने ही अधिक उनके आचरणोंके हृदयपर संस्कार जमते हैं और संस्कारोंके अनुसार ही स्फुरणा होनेसे वैसे ही आचरण भी हमसे भी होने लगते हैं। जब-जब प्रसङ्ग आये, तब-तब उनके आचरणोंको याद कर लेनेसे उनके अनुसार आचरण बनने लगते हैं। महापुरुषोंके हृदयके भावका उनका सङ्ग करनेवाले व्यक्तिके हृदयपर भी निश्चित प्रभाव पड़ता है और आगे जाकर वह भी वैसा ही महापुरुष बन सकता है। जो महापुरुष बनना चाहे, उसके वैसा बननेमें सबसे बढ़कर सहायक महापुरुषोंका सङ्ग, उनके समीप वास करना, उनके संकेतके अनुसार चलना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके शासनमें रहना है। ये सभी साधन एक प्रकारसे महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा बढ़ानेवाले हैं। इस प्रकार साधन करते-करते आगे जाकर साधक भी महापुरुष बन सकता है। इस प्रकार भगवान्‌की कृपासे महापुरुषोंसे भेंट हो जानेपर उनके सङ्गसे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, यह बात आपको संक्षेपसे ऊपर बतलायी गयी।

अर्जुनको भगवान् गीतामें ज्ञान प्राप्त करनेकी पद्धति इस प्रकार बतलाते हैं—

> तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
> (४। ३४)

अर्जुन! उस ज्ञानको तू प्राप्त कर। वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे। यहाँ यह प्रश्न होता है—उस ज्ञानको कैसे प्राप्त किया जाय? इसका उत्तर है—'प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।' अर्थात् उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करके, उनकी सेवा करके और जिज्ञासुभावसे प्रश्न करके। उनकी सेवा क्या है? उनकी आज्ञाका पालन ही सेवा है। आज्ञापालनके समान और कोई सेवा नहीं है। तुलसीकृत रामायणमें भगवान्‌ने भी यह बात अपनी प्रजासे कही है—

> सो सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥

मेरी आज्ञा माननेवाला ही मेरा सेवक है और वही मेरा अतिशय प्यारा, प्रियतम है। एक तो होता है प्रिय, एक

प्रियतर, एक प्रियतम । जो सबसे बढकर प्यारा है, उसे प्रियतम कहते हैं । उदाहरणके लिये पतिव्रता स्त्रीका पति ही प्रियतम है । भगवान् कहते है—'वही मेरा सेवक है और वही मेरा प्रियतम है, जो मेरे शासनको मानता है, मेरी आज्ञाका पालन करता है ।' स्वामी एव गुरुके आज्ञापालनका विशेष महत्त्व शास्त्रोंमें वर्णित है । नीचे पूर्वकालकी एक कथा दी जाती है, उसमें आज्ञापालनकी ही प्रधानता है ।

जबालाका पुत्र सत्यकाम नामका एक ब्रह्मचारी था, जो गुरुकुलमें वास करता था । उसको गुरुकी आज्ञा हुई—'हमारी चार सौ गौओंको वनमे ले जाकर चराओ । जब इनकी सख्या एक हजार हो जाय, तब इन्हें लौटा लाना ।' सत्यकामके चित्तमें विश्वास था कि गुरुकी आज्ञाके पालन करनेसे उसका कल्याण हो जायगा । उसने वैसा ही किया । अब वे गौएँ बढते-बढते एक हजार हो गयीं । तब एक बैलने सत्यकामसे कहा—'हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, गुरुका ध्येय सिद्ध हो गया । अब हमलोगोंको आश्रममें ले चलो ।' सत्यकामने कहा—ठीक है । तदनुसार वह गौओंको गुरुजीके आश्रममें ले जा रहा था कि मार्गमें ही उसे ब्रह्मज्ञान हो गया । जब वह आश्रमपर पहुँचा, तब गुरुने उसके मुखारविन्दको देखकर कहा—तुम्हारा खिला हुआ मुखकमल देखनेसे ऐसा लगता है कि तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया, तुम्हारे चेहरेपर बड़ी भारी शान्ति है । सत्यकामने कहा—आपकी कृपासे ही ऐसा सम्भव हुआ है; किंतु मैं आपसे ज्ञानकी बात सुनना चाहता हूँ । इसके बाद गुरुने उसे उपदेश दिया । यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि गुरुकी आज्ञाका पालन करते-करते सत्यकामको अपने-आप ही परमात्म-तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो गया । फिर महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेसे हमको यथार्थ ज्ञान हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या । गुरु हो किंतु महात्मा न हो, तब भी उसकी आज्ञाका बड़ा भारी महत्त्व है । फिर यदि कोई महात्मा हो और उसमें हमारा गुरुभाव हो, तब तो ज्ञान हमें अपने-आप निश्चय ही हो जायगा । आत्मकल्याणमें भाव ही प्रधान है ।

आज्ञापालनकी तो बात ही क्या, महात्मा पुरुषोंका तो सङ्ग ही सब प्रकारसे लाभदायक होता है । सत्सङ्गकी बड़ी महिमा शास्त्रोंने गायी है । रामचरितमानसमें लङ्किनी राक्षसी हनुमान्‌जीसे कहती है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

'मेरे प्यारे हनुमान् ! स्वर्ग तथा अपवर्ग अर्थात् मुक्ति—इन दोनोंको तराजूके एक पलड़ेमें रखो और दूसरी ओर एक क्षणके सत्सङ्गको । एक क्षणके सत्सङ्गसे हमें जो वास्तविक आनन्द मिलता है, जो सच्चा सुख मिलता है, वैसा सुख स्वर्ग और मुक्ति दोनोंको एक साथ प्राप्त होनेपर भी नहीं मिलता ।' यहाँ कोई यह कह सकते हैं कि 'स्वर्गकी बात तो ठीक है, वह तो अल्प है ही; किंतु मुक्तिके सुखसे भी सत्सङ्गका सुख विशेष बतलाया गया, यह बात समझमे नहीं आयी ।' इसका उत्तर यह है कि 'सत्' नाम है भगवान्‌का; उनमे जो प्रेम है, वही वास्तविक सत्सङ्ग है । मुख्य सत्सङ्ग तो यही है, और इसे प्रेमी लोग मुक्तिसे भी बढकर मानते हैं । सत्सङ्गका दूसरा अर्थ है, भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग । इसकी भी बड़ी भारी महिमा है । मान लीजिये भगवान् किसी समय अवतार लेकर भूतलपर पधारें और हम उनके साथ रहें, ससारमें मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये विचरण करें तो उसमें जो आनन्द आयेगा, उस सत्सङ्गमें जिस अलौकिक सुखकी अनुभूति होगी, वह आनन्द मुक्तिमें कहाँ है ?

एक मनुष्य स्वय भोजन करता है और दूसरा बहुत-से भूखे एव अनाथोंको, जो अन्नके बिना छटपटा रहे हैं, भोजन कराता है । बहुत-से भूखों एवं असमर्थोंको भोजन करानेमें जो सुख है, वह स्वय भोजन करनेमें नहीं मिलता । इसी प्रकार उपर्युक्त महापुरुषोंके साथ रहकर लोगोंका कल्याण करते हुए विचरण करनेमे भक्तको कितना आनन्द आता होगा, इसका अनुमान करना कठिन है । फिर यदि स्वय भगवान्‌का साथ मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है । अतः यह स्पष्ट है कि भगवत्प्राप्त पुरुषोंके साथ रहकर ससारमें भगवान्‌की भक्तिका प्रचार करनेमें, ससारके दुखी-अनाथ प्राणियोंका उद्धार करते रहनेमें जो आनन्द है, वह मुक्तिमें नहीं है ।

एक ओर तो कोई मनुष्य काशीमें मरकर स्वय मुक्तिलाभ करता है; क्योंकि काशीमें मरनेसे शास्त्रोंमें मुक्ति कही गयी है—'काश्या हि मरणान्मुक्तिः'—और दूसरी ओर उसी काशीमें रहकर शिवजी महाराज मुक्तिका सदावर्त बाँटते हैं । दोनोंमेंसे शिवजी महाराजको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह काशीमें जाकर मरनेवालेको थोड़े ही प्राप्त होता है । जो कुछ भी हो, अपने मनमें तो यही भाव रखना उत्तम है कि 'प्रभो ! हमको मुक्ति नहीं चाहिये । हमारे द्वारा लोगोंकी मुक्ति होती रहे । हमारा चाहे जन्म होता रहे, उसमें कोई चिन्ताकी बात

नहीं है। मनुष्य यदि मुक्ति दिलानेवाले काममें महापुरुषोंका साझीदार बना रहे तो उसे कितना आनन्द हो। सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जानेपर फिर जहाँतक बने, उनका सङ्ग अपनी ओरसे छोड़ना नहीं चाहिये। कोई कहे—स्वयं महात्मा यदि छोड़ दें तो? इसका उत्तर यही है कि वे तो छोड़ना जानते ही नहीं।

धर्म, ईश्वर एवं महात्मा पुरुष पकड़ना जानते हैं, छोड़ना नहीं। जिसे वे एक बार पकड़ लेते हैं, उसको वे छोड़ते नहीं। हमीं उन्हें छोड़ दें तो बात दूसरी है। धर्मको कोई छोड़ दे, धर्मका कोई त्याग कर दे तो धर्मका क्या वश? किंतु जो धर्मको नहीं छोड़ते, धर्म भी उन्हें कदापि नहीं छोड़ता। मनुष्य जब मर जाता है, उसके बन्धु-बान्धव उसके साथ श्मशानतक जाते हैं और वहाँ उसे छोड़कर चले आते हैं। धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जो प्राणीके साथ मृत्युके अनन्तर भी जाती है। ईश्वरकी कृपासे यदि किसी महापुरुषका सङ्ग मिल जाय तो फिर किसी बातकी आवश्यकता नहीं रह जाती। उससे बढ़कर और कोई वस्तु हो तो उसकी हम आवश्यकता समझें। उससे बढ़कर तो भगवान् हैं, जो प्रेम होनेपर अपने-आप ही हमसे आ मिलेंगे। भगवान्‌के मिलनेकी भी इच्छा रखना आवश्यक नहीं है।

मूल प्रश्न यह था कि महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाय तो क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि उनसे वार्तालाप करना चाहिये, उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। उनकी आज्ञाके पालनमें जो आनन्द है, वह मुक्तिके सुखसे भी बढ़कर है क्योंकि मुक्ति तो उस महापुरुषके चरणोंमें लोटती है। सत्सङ्गके बिना भगवान् मिलते नहीं, भगवान्‌के मिले बिना मुक्ति नहीं मिलती। तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'हे तात! सत्सङ्गके बिना भगवान्‌की कथा सुननेको नहीं मिलती। (भगवान्‌के गुण प्रभाव, तत्त्व एवं रहस्यकी कथा उनके नाम, रूप, लीला एवं धामकी कथा, भगवान्‌के माहात्म्यकी कथा—ये सब हरिकथाके अन्तर्गत हैं।) हरिकी कथाके बिना मोह अर्थात् अज्ञानका नाश नहीं होता। अज्ञानका नाश हुए बिना भगवान्‌में दृढ़ प्रेम नहीं हो सकता। (बिना दृढ़ प्रेमके भगवान् नहीं मिलते)।'

अतः मूल सबका सत्सङ्ग ही है। इसीलिये हमें सत्सङ्गका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये और सत्सङ्गमें रहकर रात-दिन भगवान्‌की चर्चा करनी चाहिये। भगवान्‌की चर्चाको छोड़कर एक मिनट भी दूसरे काममें यदि हम बिताते हैं तो यह हमारी भारी मूर्खता है। भगवान्‌की चर्चा अमृतके समान है, दूसरी बातें विषके समान हैं। जो अमृतका त्याग करके विषको ग्रहण करता है, उसको लोग मूर्ख ही कहेंगे। महात्माओंका दर्शन, भाषण वार्तालाप, चिन्तन, सब कुछ अमृतसे भी बढ़कर—या यों कह सकते हैं कि वह रसमय, आनन्दमय एवं प्रेममय है। जैसे चकोर पक्षी पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखता ही रहता है, उसी प्रकार हम भी महात्माके मुखको निहारते रहें—उनकी अमृतमय वाणीको कानोंसे सुनते ही रहें।

एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की कटै कोटि अपराध॥

'सत्सङ्ग एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनटका भी मिल जाय तो बहुत आनन्द मानना चाहिये। यदि इतना न मिले, अपितु आधी घड़ी अर्थात् १२ मिनट अथवा पाव घड़ी अर्थात् ६ मिनटका भी उपलब्ध हो जाय, तो उतनेसे ही हमारे करोड़ों अपराध नष्ट हो जायँगे।' उनके दर्शनसे, भाषणसे, स्पर्शसे वार्तालापसे पापोंका नाश होता ही रहता है। तीर्थोंसे भी बढ़कर सत्सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें कही गयी है। तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाले महात्मा ही होते हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ बने हैं, वे सब-के-सब सत्पुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके प्रभावसे, महापुरुषोंके भी महापुरुष भगवान्‌के प्रभावसे बने हैं। महात्मा भरतने सब तीर्थोंका जल एकत्रित करके जिस कूएँमें रखा था वह आज संसारमें भरतकूपके नामसे प्रसिद्ध है और महान् तीर्थ माना जाता है। भरद्वाज ऋषिका आश्रम भी उन्हींके कारण आज तीर्थ माना जाता है। एक क्या, जितने भी ऋषि हुए हैं, उन सभीके वासस्थान आज तीर्थोंमें परिगणित हैं। सन्तोंकी तो यहाँतक महिमा है कि जहाँ-जहाँ उनके चरण टिकते हैं, वह भूमि—स्थान पवित्र हो जाता है, उनका कुल पवित्र हो जाता है। शास्त्र कहते हैं—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(स्क० माहेश्वर, कौमार० ५५। १४०)

'ज्ञान एवं आनन्दके अपार समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें जिनका चित्त विलीन हो गया है, ऐसे पुरुषोंके चरण पड़नेसे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। उनके दर्शन, भाषण एवं

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

१–पलनेमें

'उठ ! तल !' दिगम्बर स्वर्णगौर छोटा-सा दाऊ अपने छोटे भाईका पल्ना पकड़कर खड़ा है। वह समझ नहीं पाता कि क्यों उसका यह अनुज उसके साथ खेलने नहीं चल सकता । बार-बार अपने हाथसे छोटे भाईका हाथ छूता है और अपनी तोतली बोलीमे उससे उठकर चलने और खेलनेको कहता है।

कटिमें मणिजटित नन्हे-नन्हें घुँघुरुओंकी मेखला, चरणोंमें नूपुर, हाथोंमें पतले कङ्कण, वक्षपर छोटे मुक्ताओंकी माला, नेत्रोंमे अञ्जन और भालपर घिरी घुँघराली अलकोंके मध्य एक भ्रमर-शिशु-सा कज्जलका बिन्दु—दाऊ पलनेसे टिका खड़ा है। एक हाथसे उसने पल्ना पकड़ रखा है। उसकी दृष्टि पलनेमे लेटे अपने छोटे भाईपर ही है।

अत्यन्त सुकोमल, दूधके फेन-जैसे उजले आस्तरणपर नीलसुन्दर चित पड़ा है। अपने छोटे-छोटे चरणोंसे शरीरपर पड़ा झीना पीताम्बर पैताने हटा दिया है इसने । बार-बार चरण उछाल रहा है और दोनों नन्हे हाथ उठा रहा है। अपना दन्तहीन छोटा-सा मुख बार-बार खोलकर किलक रहा है और देख रहा है स्थिर दृष्टिसे दाऊके भालपर लगे कज्जल-बिन्दुको। दोनों हाथोंसे उस नन्हें बिन्दुको पकड़ लेना चाहता है।

'तल !' दाऊ झुक गया है पलनेपर। उसका मुख छोटे भाईके मुखके पास आ गया है। नन्हे कोमल श्यामके कर कभी उसके नेत्र, कभी भाल, कभी नासिका छूते हैं और कभी अलकोंमें वे पतली अँगुलियाँ उलझती हैं। किलक रहा है वह सुकुमार ! यह मुख, यह कज्जलबिन्दु उसके इतने पास आ गया ? उसके लिये वह बिन्दु भी हाथोंमें ले लेने योग्य कोई वस्तु ही है, किंतु अभी उसके हाथ कहाँ ठीक काम करते हैं । उसकी नन्ही अँगुलियाँ कहाँ कोई वस्तु उठा पाती है।

'अरे, छोड़ !' अभीसे यह चपल नटखट है। बड़े भाईकी अलकें मुट्ठीमें आ गयी हैं इसके और अब यह उन्हें खींचता किलक रहा है। दाऊ सिर झुकाये जा रहा है।

'क्यों रे, तू दादाके केश खींचता है ?' मैयाने हँसकर दाऊकी अलकें अपने लालकी मुट्ठी खोलकर छुड़ा दीं।

'उठ !' यह केश खींचे या नाक नोचे, है अत्यन्त प्रिय। दाऊ इसके साथ खेलना चाहता है। इसे छोड़कर कहीं जाते नहीं बनता उससे और इससे ही अपने बड़े भाईके बिना कहाँ रहा जाता है। दाऊ पलनेके पाससे हट जाय तो अभी रोने लगेगा ।

'यह अभी नहीं जायगा। तू यहीं इसके साथ खेल !' मैया हँस रही है, परतु दाऊको यह बात ठीक लगती है। यह नहीं चलता तो दाऊ ही इसके पास बैठेगा। वह दोनों हाथों पलना पकड़कर उसपर चढ रहा है।

२–सहायता

'मैं उतारूँ ? रो मत !' दाऊ अपने छोटे भाईकी सहायता करने आया है। अपने छोटे-छोटे हाथ बढाकर उसे अपनी गोदमें लेना चाहता है।

कन्हाई अभी घुटनोंके बल सरकता है। आज पहली बार द्वारकी चौखट पार करनेका उसने प्रयत्न किया । किसी प्रकार देहलीपर चढ तो गया हाथ और पेटके बल, किंतु उतरा नहीं जाता । चौखटपर बैठा बड़े असमञ्जसमे पड़ा है । कभी हाथ झुकाता है, कभी पैर लटकाता है। बहुत ऊँची है यह चौखट उसके लिये ।

जब कोई बस न चला, मोहन ऊँ ऊँ करने लगा। वह घरमें और बाहर भी देखता जाता है—कोई क्यों उसकी सहायता करने नहीं आता ? अब यह उसका बड़ा भाई आ गया है, परतु दाऊ घरकी ओर खड़े होकर ही मोहनको गोदमें लेना चाहता है। श्यामको आज द्वारसे बाहर जाना है। वह बड़े भाईकी ओर हाथ बढानेके बदले बार-बार बाहर झुकता है और दाऊकी ओर देखता है। उसे बोलना कहाँ आता है कि कह सके—मुझे बाहर उतार दो।

'तू बाहर उतरेगा ?' दाऊने बात समझ तो ली। वह स्वय द्वारसे बाहर आया और अब हाथ बढानेपर श्यामने दोनों भुजाएँ गोदमें जानेके लिये उठा दीं।

दाऊ बल है तो क्या हो गया, अभी है तो दिगम्बर शिशु ही। उसका शरीर इतना बड़ा कहाँ है कि अपने छोटे भाईको पूरा उठा सके। अब श्यामसुन्दरको भुजाओंमें कधेके पाससे पकड़कर भर लिया है इसने और अपने उदरके सहारे उतार रहा है किसी प्रकार। कृष्णचन्द्र बड़े भाईको दोनो हाथोंसे पकड़े लटक रहा है।

चौखटसे उतर जानेपर मोहनने दो क्षण देखा उस चौखटको—'ओह, कितनी ऊँची है यह देहली भी !' बड़े भाईकी ओर देखकर हँसा और फिर यह सरक चला है। यथासम्भव शीघ्रतासे द्वारसे दूर, खूब दूर भाग जाना चाहता है वह। दाऊ चल रहा है अपने अनुजके पीछे-पीछे।

श्यामसुन्दर पीछे मुड़कर बार-बार देखता है—'आज द्वारसे कितनी दूर चला आया वह !' बहुत प्रसन्न हो रहा है मन-ही मन।

३—सहारा

'आ ! चल !' नन्हेसे नंग-धड़ग दाऊने अपने छोटे भाईके दोनों हाथ पकड़ लिये हैं और उसे चलना सिखा रहा है। श्यामसुन्दर बड़ा प्रसन्न है। वह हँस रहा है। अटपटे चरण रखता हिलता हुआ चल रहा है अग्रजके हाथके सहारे।

'चल तू, चल !' दाऊ अभी कहाँ समझ पाता है कि कन्हाई उसकी गतिसे नहीं चल सकता। अनेक बार लगभग घसिटते हुए, आगेको झुके हुए श्यामको चलना पड़ता है, क्योंकि दाऊ अधिक गतिसे पीछेकी ओर हटता है। परन्तु मोहन प्रसन्न है, वह आगेको झुककर भी हँसता जा रहा है।

श्यामसुन्दर स्वयं खड़े होनेमें समर्थ हो गया है। वह दीवाल पकड़कर या अन्य किसी सहारेसे खड़ा हो जाता है और तब एक-दो डग चलनेका प्रयत्न करता है। वैसे चलनेयोग्य नहीं हैं अभी उसके सुकुमार चरण।

'तू अपने-आप चलेगा ? गिरना मत !' दाऊके हाथसे अपने हाथ छुड़ानेका प्रयत्न किया कृष्णने और दाऊने हाथ छोड़ दिया, परन्तु कहीं छोटा भाई गिर न पड़े, यह आशङ्का इस नन्हे-से गोरे कुमारको है। अपनी तोतली भाषामे यह उसे सावधान कर रहा है।

श्याम हाथ छुड़ाकर खड़ा रहा दो क्षण। अपने शरीरके भारको सतुलित किये बिना भला, कैसे चल सकता है वह। एक डग ठीक चल सका, किंतु इस चल पानेकी प्रसन्नतामें दूसरा डग शीघ्रतामें उठ गया। लद्‌से भूमिपर लुढक गया वह।

'मैं उठाऊँ ?' दाऊ पास, और पास आ खड़ा हुआ। उसका यह कनूँ गिरकर भी हँस रहा है। दोनों हाथ इसने आगे भूमिपर टेक रखे हैं और मुख ऊपर करके बड़े भाईकी ओर देखता हँस रहा है। अलकोंसे घिरा इसका छोटा-सा यह प्रसन्न मुख *।

'ला, हाथ दे !' दाऊ दोनों हाथ नीचे बढाये खड़ा है। श्याम अभी भूमिसे हाथ उठा नहीं रहा है। वह बड़े भाईकी ओर देख-देखकर हँसता ही जा रहा है।

दोनों हाथ भूमिसे कृष्णने ऊपर उठा दिये। दाऊने उन्हे पकड़ लिया और सहायता दी छोटे भाईको उठ खड़े होनेमें। श्यामसुन्दर अब फिर चलनेका प्रयत्न करने लगा है।

'अच्छा, तू चलने लगा है !' यह कोई आ गयी है और अपने उल्लासको न रोककर बोल पड़ी है। कन्हाईने मुख घुमाकर देखा और झपटकर बड़े भाईके कण्ठमें दोनो हाथ डालकर हँसता हुआ लिपट गया है वह सकोचसे। दाऊ इस प्रकार अकस्मात् श्यामके लिपटनेसे डगमग हो गया है। छोटे भाईको दोनों भुजाओंसे समेटकर वह स्थिर रहनेका प्रयत्न कर रहा है।

४—उत्सुकता

'श्याम, क्या कर रहा है तू ?' मैया बहुत देरतक चुपचाप देखती रही अपने नीलसुन्दरकी क्रीड़ा। अन्तमे भीतर दबायी हँसी रुक नहीं सकी, हँस पड़ी वह और तब श्यामसुन्दरने मुख घुमाकर उसकी ओर देखा।

कटिमें नन्हे घुँघुरुओंवाली मञ्जुल मेखला, चरणोंमें नूपुर, करोंमें पतले कङ्कण, कण्ठमे मुक्ताकी छोटी-सी माला, भालपर कज्जल-बिन्दु। दिगम्बर दो शिशु व्रजराजके आँगनमें एक दूसरेके सामने भूमिपर बैठे हैं। एक इन्दीवर-सुन्दर और दूसरा स्वर्ण-गौर। दोनों अपनी क्रीड़ामें तल्लीन। मैया कबसे खड़ी-खडी उन्हें देख रही है, इसका उन्हें तनिक भी पता नहीं।

कन्हाई अभी घुटनोंके बल सरकता है। अपने बड़े भाईके सामने बायीं हथेली भूमिपर टेके, उसपर कुछ झुका बैठा है। बार-बार दाऊके दूधकी बूँदोंसे उज्ज्वल दाँत झाँककर देखता है और फिर दाहिने हाथके अँगूठे एव तर्जनीसे कोई एक दाँत चुटकीसे पकड़ता है। चुटकी उठाकर फिर अपने मुखमे ले जाकर दाँतके स्थानपर लगाता है। दाऊके मुखमें इतने उज्ज्वल, इतने सुन्दर दाँत हैं। उसके मुखमें एक भी क्यों नहीं है ? अपनी समझसे वह प्रयत्न कर रहा है बड़े भाईके दो-एक दाँत उठाकर अपने मुखमें लगा लेनेका।

दाऊ अपने छोटे भाईके सामने पालथी मारे बैठा है। वह मुख खोल देता है, जब श्याम उसके मुखमें झाँककर देखना चाहता है या हाथ ले जाकर मुख खोलनेका संकेत करता है। उसके मुखमें इतने दाँत हैं, उसका छोटा भाई उनमेंसे कुछ लेकर अपने मुखमें लगा ले, इसमें उसे कोई आपत्ति नहीं दीखती।

मैयाकी हँसी रुकी नहीं। दोनोंके अञ्जनरञ्जित बड़े-बड़े नेत्र मैयाकी ओर गये। श्यामने घुँघराले बालोंमें घिरा सुन्दर मुख घुमाकर देखा मैयाकी ओर और फिर मुड़कर घुटनोंके बल यथाशीघ्र सरक गया उसके पास। वह मैयाकी अँगुली पकड़कर उसे खींच रहा है। बार-बार अपना मुख खोलकर अँगुलीसे दिखाता है—'इसमें दाँत क्यों नहीं हैं?' और दाऊकी ओर देखकर मैयाको खींचता है, खीझता है। उसकी एक-एक भङ्गी कह रही है—'तू दाऊके दाँत मेरे मुखमें लगा दे।'

मैया हँसती है—हँसते-हँसते लोट-पोट सी हो रही है।

'अरे, दाँत तो मैयाके मुखमें भी हैं। श्यामसुन्दर अब हठ कर रहा है, मैयाके मुखमें बार-बार अपने हाथ ले जाता है, मैयाकी अँगुली ले जाता है—'तू अपने दाँत मेरे मुखमें लगा।'

५—निरीक्षण

'मैया!' श्यामसुन्दर रो रहा है। पता नहीं क्या हुआ है पता नहीं क्या खो गया है या वह कुछ चाहता है—पक्षियोंकी छाया पकड़ना या दर्पणमें पड़ा अपना प्रतिबिम्ब पकड़ना और वह हो नहीं पाता। मैया भी पता नहीं कहाँ चली गयी है कि अपने नन्हे कन्हाईकी पुकार सुन नहीं रही है।

'माँ! माँ!' माता रोहिणी भी पता नहीं कहाँ क्या करने लगी है। श्याम—नगा श्याम आँगनमें भूमिपर बैठा खीझ रहा है। वह बार-बार अपने हाथ हिला रहा है, नन्हे चरण हिला रहा है, सिर झकझोर रहा है और रो रहा है। रोते-रोते इधर-उधर देखता जाता है—'कोई क्यों नहीं सुनता? कोई क्यों उसके पास नहीं आता? घरकी सब दासियाँ किधर भाग गयीं?' उसे एक ओरसे सबपर झुँझलाहट हो रही है।

'कनूँ!' यह आया अपने छोटे-छोटे चरणोंसे लदबद दौड़ता उसका बड़ा भाई। दाऊ आकर मोहनके सामने उकड़ूँ बैठ गया और अपने छोटे भाईके अश्रु पोंछनेका प्रयत्न करने लगा। वह अपने कनूँको आश्वासन देना चाहता है।

कन्हाईने सहसा रोना-खीझना बंद कर दिया। उसकी दृष्टि दाऊके वक्षपर पड़ी मोतियोंकी मालापर चली गयी। दाऊकी स्वर्ण-गौर देहकान्तिमें उज्ज्वल मोती कुछ पीले लगते हैं। मोहन एक हाथ भूमिमें टेककर झुक गया। दहिने हाथकी तर्जनी और अँगूठेसे मोतीके एक दानेको पकड़नेका प्रयास करते हुए वह बड़े ध्यानसे उसे देख रहा है।

'तू लेगा इसे?' दाऊ अपने छोटे भाईको पूरी माला ही अपने गलेसे उतारकर पहना देना चाहता है।

श्यामसुन्दरको अवकाश नहीं है। वह मोतीके इस दानेका निरीक्षण कर रहा है। सम्भवतः उलट-पलटकर देख रहा है कि इसमें कैसे श्वेत एवं पीत छटा हिलती-डोलती है। दाऊ माला क्यों हिला रहा है? क्यों उठाना चाहता है उसे यहाँसे? बिना बड़े भाईके मुखकी ओर देखे, बिना कुछ बोले अपना बायाँ हाथ भूमिसे उठाकर दाऊके वक्षपर रख दिया मोहनने। अपनी उत्फुल्ल कमल-जैसी छोटी हथेलीसे मालाका एक अंश दबा दिया, जिससे दाऊ माला हिलाकर उसके निरीक्षणमें बाधा न दे सके।

बड़े-बड़े दीर्घ दृग् जमे हैं दाऊके वक्षके उस नन्हे मोतीपर। कपोलोंपर दो बूँदें चमक रही हैं अबतक। माँ और मैया दोनों आ गयी हैं, किंतु उनका लाला निरीक्षणमें लगा है। वह इस समय अपने सामने बैठे दाऊके मुखकी ओर भी देख नहीं रहा है। दाऊ, मैया और माँके नेत्र अपलक उसके श्रीमुखकी एकाग्रभङ्गीका इसी सुसमयमें निरीक्षण कर सकते हैं।

६—स्नान

सुनते हैं—भगवान् विष्णु सिन्धुशायी हैं। रात-दिन समुद्रमें ही सोते रहते हैं, इधर यह घुटनों सरकनेवाला नन्हा चञ्चल नन्दनन्दन—इसे कहीं पानी मिल भर जाय। आँगनमें दो बूँद पानी भी मिले तो उसे अपनी लाल-लाल हथेलीसे फैलाता रहेगा। बीच-बीचमें मुड़कर इधर-उधर देखेगा, हँसेगा।

कहीं दो चुल्लू पानी मिल जाय किसी छोटे बर्तनमें—कन्हाई उसे भूमिपर फैला लेगा। दोनों हाथ, घुटने कीचड़में लथपथ कर लेगा। पेटके बल सो जायगा वहीं और फिर इधर-उधर ढूँढ़ेगा बड़े भाईको। दाऊके पास सरक जायगा और उसे भी ले आयेगा उस कीचड़में खेलनेके लिये।

'श्याम, तू मछली है क्या?' माता रोहिणी पता नहीं कितनी देरसे अपने इस चपलकी क्रीड़ा देख रही हैं। अब उन्हें लगता है कि बच्चेको अधिक देर जलमें नहीं रहना चाहिये।

मैयाने दोनों भाइयोंको नहला दिया था। केश सँवार दिये थे। शृङ्गार किया था। परंतु इससे क्या हुआ? आँगनमें बड़े सारे कठौतेमें पानी भरा हुआ था। कृष्णचन्द्रको इतना अधिक जल मिल गया, अब वह स्नान कैसे न करे।

कन्हाईने जल देखा और आनन्दसे कठौतेके पास बैठकर

ताली बजाने लगा। झाँककर देखा उसने जलमें अपना मुख और फिर हाथ डालकर उस प्रतिबिम्बको पकड़नेके प्रयत्नमें लग गया।

'ऊँ, ऊँ!' कृष्णचन्द्र मुड़कर हाथकी अँगुलियाँ हिलाकर अपने बड़े भाईको समीप बुला रहा है। जलमें जो बालक दीखता है वह उनके हाथ नहीं आता—यह बार-बार संकेत करता है।

दाऊ आया और कठौतेमें घुसकर बैठ गया। अब प्रतिबिम्ब दीखता नहीं तो उसकी बात कौन सोचे। श्याम भी स्नान क्यों न करे। वह अपने बड़े भाईके पास उसके सामने जलमें लेट गया।

कठौतेका जल चारों ओर फैल रहा है। दाऊ पालथी मारे जलमें बैठा है। कभी छोटी-सी अञ्जलिसे अपने कंधोंपर जल डालता है, कभी अपने छोटे भाईके मस्तक या पीठपर।

कठौतेमें बड़े भाईके सामने पेटके बल श्याम लेटा है। वह मुख घुमा-घुमाकर बड़े भाई या मॉकी ओर देख लेता है बीच-बीचमें। हँसता जाता है। हाथ-पैर उछालता है और मछलीके समान बार-बार चपलतापूर्वक कुलबुलाता है। मॉ उसे झुककर उठाना चाहती है, किंतु वह निकलना कहाँ चाहता है पानीसे।

भगवान् विष्णु क्या मत्स्यावतार ले पाते इस जलशायी-को देखनेके पश्चात्?

७—अध्ययन

'ऊँ, गॅ,' पता नहीं क्या, कन्हाई कुछ बोल रहा है—क्या बोल रहा है, यह कैसे कहा जा सकता है। अपनी समझसे वह पढ़ रहा है। झूम-झूमकर पढ़ रहा है वह।

द्वारके सामने मार्गकी धूलिमें कृष्णचन्द्र बैठा है। दाऊने ही सहायता देकर इसे चौखट पार कराया होगा। मैयाने उबटन लगाकर इसके सहज स्निग्ध अङ्गको और चिकना कर दिया है। घुँघराले केश तैलसिञ्चित हैं और सँवारे हुए हैं। नेत्रोंमें अञ्जन लगा है और भालपर एक बिन्दु है काजलका। घुटनों चलनेके कारण पैर और दोनों हाथ धूलिमें सन गये हैं। नासिकापर, दहिने कपोलपर और उदरपर धूलि-सनी अँगुलियोंकी छाप लग रही है। अब यह बायें पैरकी पालथी मारे, दहिना चरण कुछ मोड़कर फैलाये, बायीं हथेली भूमिपर टेके झुका बैठा है और दहिने हाथकी पतली तर्जनीसे धूलिमें रेखाएँ खींचता और झूम-झूमकर 'गॅू-गॉ' करता जा रहा है। बड़े जोरसे अध्ययनमें लगा है यह।

अपने छोटे भाईके सामने दिगम्बर दाऊ बैठा है पूरी पालथी मारकर बायें हाथको टेककर उसके सहारे आगेको झुका। उसका भी मैयाने श्यामके समान ही शृङ्गार किया है; किंतु उसके मुख, कपोल, वक्ष तथा उदरपर उसके अनुजके धूलिभरे करोंकी छाप पर्याप्त अधिक है। श्याम बार-बार उसके मुख या वक्षपर पूरा हाथ रखकर संकेत करता है कि वह देखे, उसके छोटे भाईने कितना अधिक लिख लिया है।

'बाबा, ताऊ, मैया' दाऊके मुखमें जो आता है—व्यक्तियोंका, गायोंका, बछड़ोंका नाम वह बोलता जाता है। यह नियम थोड़े ही है कि कोई नाम दस-पाँच बार आवृत्ति न करे। वह कोई-न-कोई नाम अँधाधुंध बोलता जाता है और धूलिमें सामने आड़ी, टेढ़ी, चक्करदार उलझी रेखाएँ तर्जनीसे खींचता जाता है।

श्यामसुन्दर चकितभावसे देखता है अपने अग्रजकी ओर। ओह, उसका यह दादा इतना भारी विद्वान् है। इतने सारे नाम लिख सकता है। नहीं, वह छोटा विद्वान् नहीं रहेगा। मस्तक झुकाकर बड़ी शीघ्रतासे दाऊकी खींची रेखाओंपर एक सिरेसे दूसरे सिरेतक बड़ी-बड़ी उलझी रेखाएँ वह खींच रहा है। खूब सिर हिला रहा है। अधिक शीघ्रतासे 'गॅू-गॅू' करने लगा है। बीच-बीचमें मुख उठाकर बड़े भाईकी ओर मुसकराता हुआ देखता है, मानो कहता हो—'दादा, देख! मैंने भी कितना लिख दिया है।'

ये दोनों महापण्डित धुआँधार अध्ययनमें लगे हैं इस समय। अब इन्होंने अपने सामने भूमिपर जो बड़ा भारी शास्त्र लिख दिया है, वह किसीकी समझमें नहीं आता तो ये क्या करें।

८—संकोचमें

श्यामसुन्दर अभी बोलना सीख रहा है। वह 'मॉ,' 'दादा', 'बाबा' कह लेता है। 'दाऊ' तो बहुत पहले कहना आ गया था उसे। आज सवेरे-सवेरे वह मैयाके पास मथानी पकड़कर आ खड़ा हुआ है। अपनी छोटी-सी हथेली फैलाकर कह रहा है—'दादा!'

'अच्छा, माखन निकलने तो दे!' मैया बार-बार समझाती है, किंतु मोहनको तो स्वयं अपने 'दादा'को आज माखन खिलाना है। उसे जल्दी पड़ी है। कहीं दाऊ यहीं आ गया तो? नहीं, श्याम आज ले जाकर उसे माखन खिलायेगा अपने हाथों। वह अपने हाथों ही खिलायेगा। हाथ नहीं लगाने देगा बड़े भाईको। उसे उतावली है। वह

मैयाके मुखको, नाकको बार-बार हाथसे पकड़ता है। बार-बार खीझता है। उसे क्यों जल्दीसे माखन नहीं दे दिया जाता ?

'लाला ! नेक-सा माखन मुझे भी दे।' यह कौन आ टपकी ? इतनी देरमें, इतनी हठपर तो कहीं मैयाने माखन दिया है और यह बीचमे ही माँगनेवाली आ गयी। श्यामने अपना मस्तक जोरसे हिला दिया और उससे बचकर निकलनेके लिये दूसरी ओर मुड़ा।

'नेक-सा तो दे दे।' गोपिकाने आगे होकर हाथ फैलाकर मार्ग रोक दिया।

दहिने हाथकी लाल हथेलीपर थोड़ा-सा उज्ज्वल माखन लिये, बाये हाथको भूमिपर टेके दिगम्बर नीलसुन्दर घुटनोंके बल सरक जाना चाहता है गोपिकासे बचकर। चरणोंमें नूपुर, कटिमें मेखला, कण्ठमें मुक्ताहार, भालपर बिखरी अलकोंके बीच कज्जलबिन्दु। वह कभी इधर और कभी उधर खिसकता है गोपीसे बचनेके लिये।

'नेक दे दे।' गोपिका मार्ग रोके आग्रह कर रही है।

'दादा !' मोहन बैठ गया। उसने मुड़कर मैयाकी ओर देखा और फिर गोपीकी ओर संकेत किया बायें हाथसे उसने।

'यह तुझे जाने नहीं देती ? दादाका माखन माँगती है ? दे दे इसे थोड़ा-सा।' मैयाने स्नेहसे पुचकारा।

कन्हाई अपना छोटा-सा सिर झुकाकर सोचने लगा है। वह क्या करे ? अपने बड़े भाईका भाग इसे दे या न दे ? बायें हाथकी तर्जनी और अँगूठेको वह माखनमें लगाये है। दो सरसोंके बराबर माखन अँगुलीपर उठा पाया है बहुत सोच-विचारकर। अब इतना भी दे या न दे ? हाथ बढाते-बढाते भी खींच लिया उसने। यह तो दाऊ दादाका भाग है न, नहीं देगा। अपने घुँघराले बालोंको मस्तक हिलाकर झकझोर दिया उसने।

मैया पुचकार रही है—'दे दे, लाला।'

गोपी हाथ फैलाये माँग रही है—'नेक दे दे।'

दोनोंके बीचमें माखनमें बायें हाथका अँगूठा और तर्जनी लगाये सकोचमें पड़ा यह त्रिभुवनसुन्दर ।

९-गायन

'दादा, दादा, दादा' आज श्यामसुन्दर गायन कर रहा है। वह अकेला गोष्ठमें आ बैठा है और झूम झूमकर गा रहा है। अपने गानपर स्वयं मुग्ध हो रहा है।

'कौन आ गया ?' मोहनको तनिक आहट मिली और सकोचमे उसका गान सहसा बद हो गया। सिर घुमाकर उसने पीछेकी ओर देखा। 'दादा !' यह तो उसका दाऊ दादा है। इससे सकोच करनेकी तो कोई बात है नहीं। कन्हाईका सुन्दर मुख हास्यसे खिल उठा। उसके अरुण पतले अधरोपर नन्हे दाँतोंकी उज्ज्वल दूध-सी कान्ति चमक गयी। पता नहीं कब आ गया यह दाऊ दादा गुपचुप उसके पीछे।

'तूँ गा।' दाऊ अबतक छोटे भाईके पीछे खड़ा था, अब आकर दाहिनी ओर बैठ गया।

'दा . दा, दा ' दा, दा ' ' दा' श्यामसुन्दरके गानका आनन्द बढ गया है। जम गया है उसका गायन अब। वह झूम-झूमकर गाने लगा है।

'बा . बा, बा.. बा, बा. बा' दाऊ भी छोटे भाईके साथ गा रहा है। वह कभी ताली बजाता है, कभी चुटकी बजानेका यत्न करता है अपनी पतली नन्ही अँगुलियोंसे।

पूरा गोष्ठ सूना पड़ा है। गोबर और गोमूत्रसे भरा-सा है। गायें चरने चली गयी हैं, पर गोष्ठ अभी स्वच्छ नहीं हुआ है। श्रीकृष्णने कछनी तो कहीं खोलकर फेंक दी है। चरण तथा कटिसे नीचेका पूरा भाग गोबरसे सना है। मैयाने अलकोंमें तेल डालकर उन्हें सँवार दिया है। एक माला सजा दी है अलकोंपर और एक मयूरपिच्छ लगा दिया है। नेत्रोंमें अञ्जन और भालपर कज्जलका बिन्दु है। वक्षपर मुक्ताकी माला है। सिर हिला हिलाकर ताली बजानेका यत्न करते हुए झूम-झूमकर गा रहा है वह।

दाऊ नीली कछनी बाँधे अपने भाईके समान ही सजा-बजा बैठा है उसके दाहिनी ओर। केवल चरण ही उसके गोबरमे पड़े हैं। वह भी झूम रहा है, गा रहा है।

श्याम 'दादा, दादा' करके गा रहा है, तब तो उसका दादा उसके समीप बैठा है। फिर दाऊ 'बाबा' करके गा रहा है तो बाबा नहीं आयेंगे ? परतु बाबा गोष्ठके द्वारपर ही ठिठके भावमुग्ध खड़े हैं। आगे आनेसे उनके इन अपूर्व गायकोंके गानेमें बाधा पड़ेगी। उनके दोनों गायक—तुम्बुरु कहीं सुन लें इनका यह गान, तो अपनी वीणा पत्थरपर दे मारें। कितनी कर्कश है उनकी वीणा इस स्वरलहरीके समक्ष !

१०-नित्यबन्धु

'कन्हाई, तेरा दादा कहाँ है ?' यह गोपी आज श्यामको खिझाना चाहती है। मोहनकी बड़ी-बड़ी अञ्जनरञ्जित रतनारी आँखोंमें खीझकी जो छटा है ।

श्यामने मुख घुमाकर आँगनमें बैठे अपने अग्रजकी ओर देख लिया और उसके अधरोंपर उज्ज्वल हास्य चमक उठा।

'ना, तेरा दादा वह नहीं है।' गोपीने मुख बनाया। वह जो बड़ी आँधी आयी थी, तेरे दादाको वनमें उठा ले गयी।'

'मेरे दादाको आँधी वनमें उठा ले गयी?' भोला कृष्ण नहीं जानता कि आँधी कोई पशु है, पक्षी है या राक्षस है; किंतु उसे आँधीपर बड़ा क्रोध आया है। नन्हे हाथोंकी मुट्ठियाँ बँध गयी हैं और सिर हिलाकर वह जोरसे 'ना, ना' कर रहा है।

'ना क्या, आँधी तो ले गयी तेरे दादाको।' गोपी हँस रही है।

'कहाँ है आँधी?' जैसे वह मिल जाय तो यह उसकी नाकपर घूँसे मारेगा।

'वह क्या अब बैठी है? वह तो भाग गयी, दूर भाग गयी और तेरे दादाको भी ले गयी।' गोपीका हास्य रुक नहीं पा रहा है।

कन्हूँ दोनों हाथोंको हिला रहा है। धप्से भूमिपर बैठ गया है। सिर झकझोर रहा है। उसके सुन्दर नेत्रोंमें अश्रु आ गये हैं।

'तू रोता क्यों है? यह तो झूठी है। वह क्या बैठा है तेरा दादा।' मैयाको अपने लालके नेत्रोंमें अश्रु सह्य नहीं। कितना भोला है उसका सुकुमार पुत्र।

'दादा!' श्याम झटपट उठा और दौड़ गया बड़े भाईके पास। दाऊके सामने बैठकर उसके दोनों हाथ बड़े प्रेमसे पकड़ लिये उसने।

'यह तेरा दादा कहाँ है, यह तो भद्रका दादा है।' गोपीने फिर चिढ़ानेका प्रयत्न किया।

'मेरा दादा है।' श्यामने और कसकर अग्रजके हाथ पकड़े और उसके मुखकी ओर देखा। उसके नेत्र कह रहे है—'दादा, तू तो मेरा ही है न?'

दाऊ अपने आगे सटकर अपनी गोदमें झुके अपने इस छोटे भाईके कंधेपर एक हाथ धरे बड़े स्नेहसे इसे देख रहा है। श्याम एक हाथसे बड़े भाईका हाथ पकड़े है और मुख गोपीकी ओर किये दूसरे हाथकी मुट्ठी बाँधकर उसे घूँसा दिखा रहा है।

यह उसका दादा है—सदासे, सर्वदासे उसका। जो इसे उससे छीनना चाहेगा, उसे वह मारेगा नहीं? कौन छीन सकता है भला, दाऊको उससे।

११—खीझ

'दादा! दादा कहाँ है?' श्यामसुन्दर जगते ही अपने बड़े भाईको ढूँढ़ेगा, यह तो जानी हुई बात है। नेत्र खोलनेसे भी पहले उसने 'दादा, दादा' की रट लगायी और हाथसे टटोलना प्रारम्भ किया। यह क्या कि चारों ओर देखनेपर भी उसका दाऊ उसे दीखता नहीं।

'तू झटपट मुँह धुला ले। दाऊके पास जायगा न तू? दाऊ गाय दुहने चला गया है।' मैयाने हँसते-हँसते अपने लालको गोदमें उठाया।

'दादा गाय दुहने चला गया?' कृष्णचन्द्रका प्रसन्न मुख गम्भीर हुआ।

'अरे, अभी तो गया है। तू भी झटपट उसके पास पहुँच जायगा। मुँह धुला ले तो तुझे मैं ले चलती हूँ!' परंतु अब यह कहाँ सुनता है ऐसे आश्वासन। अब मैयाकी गोदमेंसे उतरनेके लिये छटपटाने लगा है। मैयाकी नाक, मुख, केश नोचने लगा है। क्यों नहीं मैयाने इसे पहले जगाया?

'अच्छा, रो मत! चल गोष्ठ लिये चलती हूँ।' सवेरे-सवेरे यह रूठ जायगा तो न दूध पियेगा न माखन खायगा; परंतु यह तो मैयाके साथ गोष्ठमे जानेको भी प्रस्तुत नहीं। गोदसे उतरनेको मचल ही रहा है। हाथ-पैर झुँझलाहटसे हिला रहा है।

'तू अपने ही जायगा? जा, दौड़ जा।' गोदसे उतार दिया मैयाने, परतु यह तो भूमिपर लोटपोट होने लगा है। क्यों दाऊ इसे छोड़कर गोष्ठ भाग गया? नहीं जायगा यह उसके पास। मैया क्या करे? उसका यह नन्हा नीलसुन्दर भूमिपर लोट रहा है। छूने नहीं देता अपना शरीर। उठानेका प्रयत्न करनेपर नोचने लगता है। मुँह धोनेका प्रयत्न करनेपर जलका पात्र पैर मारकर लुढ़का दिया इसने।

अञ्जन कपोलोंपर फैल रहा है। अलकें बिखरी हैं और दोनों हाथोंसे खीझ-खीझकर श्याम उन्हें नोच रहा है, खींच रहा है। बड़े-बड़े लोचनोंसे बड़ी-बड़ी बूँदें गिर रही हैं। भूमण्डल चञ्चल हो रहा है। मुख अरुण हो उठा है। जो छोटी-मोटी वस्तु हाथ आती है, उसीको फेंक देता है, पटक देता है, पैर मारकर लुढ़का देता है। मैयासे बार-बार दूर जाकर भूमिपर लोटने लगता है।

'यह क्या?' दाऊ बड़े उल्लाससे छोटी-सी दोहनी लिये आया। अपने हाथसे दुहा दूध छोटे भाईको पिलाने ला रहा था वह। आँगनमें दृष्टि गयी और दोहनी हाथसे छूट गिरी। फूट गयी वह भड़से। दूध फैल गया चारों ओर। दाऊको

यह सब देखनेका अवकाश नहीं। वह उस फैले दूधमें डूबे चरणोंके चिह्न आँगनमें बनाता अपने अनुजके पास आ बैठा है।

'किसने मारा है तुझे ?' कृष्णके नेत्रोंमें अश्रु हैं, वह अपनी कोमल अलकें खींच रहा है, तो दाऊके नेत्रोंके बिन्दु रुके कैसे रहेंगे। परतु कन्हूँ आज बड़े भाईसे खीझ गया है। वह दाऊके हाथको बार-बार हटा देता है। मुख दूसरी ओर करके लेट जाता है। बार-बार दाऊ उसके सामने बैठता है और वह करवट बदल लेता है; किंतु उसका केश नोचना बद हो गया है। बद हो गयी हैं हिचकियाँ। अब खीझ जा रही है, रूठना भी जायगा ही। कबतक वह अपने दादासे रूठा रहेगा ?

और यह जो उसके दादाके रतनारे नेत्रोंसे आँसू गिर रहे हैं.... .....

कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा*

(लेखिका—बहिन श्रीकृष्णा सहगल)

किसी पहाड़ी प्रदेशके एक छोटे-से गाँवमे एक निर्धन दम्पति रहा करते थे। पत्नीका नाम कमला था। वह बहुत ही नेक, दयालुहृदया और धैर्यवाली थी। उसे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत प्राप्त होता, वह उसीमें सतुष्ट रहती। परतु उसका पति रामलाल बहुत ही चिडचिड़ा और तेज मिजाजका था, बात-बातपर क्रोधित हो उठता। इसके अतिरिक्त उसमें एक बहुत बडा दुर्गुण यह था कि वह बहुत ही निकम्मा, आलसी और कामचोर था। मेहनत-मजदूरी तो वह कुछ करता नहीं था, परन्तु पेटू था प्रथम श्रेणीका। 'काम करनको आलसी, भोजनको हुशियार'—बस, यही हिसाब था उसका। कमला बेचारी पासकी पहाड़ीसे या किसी जगलसे लकड़ियाँ बीन लाती और उन्हें बेचनेपर जो कुछ मिलता, उससे वह दाल-आटा इत्यादि खाने-पीनेकी सामग्री खरीदकर ले आती। साथ ही वह लोगोंके घरोंमें भी चक्की पीसना, बर्तन माँजना, कपड़े धोना इत्यादि छोटे-मोटे काम करती रहती। इससे भी उसे थोड़े-बहुत पैसे मिल जाते और यदा-कदा पहननेको भी कोई फटा-पुराना कपड़ा अथवा खानेकी चीज मिल जाती थी। इस तरह दिन बीत रहे थे। उधर पतिदेवकी यह हालत थी कि पत्नीके कियेका अहसान मानने अथवा स्वय कुछ कमाकर लानेकी बात तो दूर रही, उल्टे उसीसे पैसे छीनकर वह गाँवकी भट्ठीसे ताड़ी या ठर्रा इत्यादि पीकर रोज ही नशेमें चूर होकर आता। कभी खानेको भोजन कम होता या कमला और पैसे देनेसे इन्कार करती तो उसे गालियाँ देता और छड़ी लेकर खूब पीटता। वह तो सदा चढे घोड़े सवार ही रहता। कभी-कभी तो अकारण ही उसे मारने अथवा बुरा-भला कहने लगता। साराश यह कि वह बहुत ही अन्यायी और निर्दयी था। दूसरेकी कठिनाइयोंको वह बहुत ही कम समझता।

पहले तो कुछ समयतक कमला यह सब कुछ सहती रही, परतु सहनशीलताकी भी सीमा होती है। रामलाल तो अपने पुरुषपनका अनुचित लाभ उठानेपर उतारू था ऐसी दशामें वह बेचारी उसके मनमाने अत्याचार कहाँतक सहती। परतु कमला बेचारीका था ही कौन जो उसकी सहायता करता ? माँ-बाप तो कभीके परलोक सिधार चुके थे। समाज भी गरीबोंकी नहीं सुनता। केवल भगवान्‌का ही उसको सहारा था। आखिर उसने निश्चय किया कि वह भगवान्‌को सब कुछ बतायेगी और प्रार्थना करेगी कि उसके जीवनकी यह दशा बदले।

गाँवसे बाहर एक पुराना विष्णुभगवान्‌का मन्दिर था। एक दिन वह सचमुच ही भगवान्‌से शिकायत करने घरसे चल पड़ी। वह अपने ध्यानमें अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चली जा रही थी। मार्गमें उसे एक बूढ़ी ग्वालिन मिली, जो भूमिपर पड़े हुए एक बहुत बड़े दूधके मटकेको उठानेका प्रयत्न कर रही थी। परतु वह बेचारी इतनी निर्बल थी कि बहुत यत्न करनेपर भी उस मटकेको उठाकर अपने सिरपर न रख सकी। उस वृद्धाने जब कमलाको जाते देखा तब वह पूछ ही बैठी—'बेटी ! तुम कौन हो और इतनी जल्दी-जल्दी कहाँ जा रही हो ? यदि तुम्हे देर न हो तो यह मटका मेरे साथ उठाकर मेरे सिरपर रखवाती जाओ।'

* एक विदेशी लोककथाके आधारपर।

'मेरा पति मुझे बहुत तंग करता है, इसलिये मैं भगवान्से प्रार्थना करने जा रही हूँ।' कमलाने मोहिनसे प्रत्युत्तरमें कहा और साथ ही वह बड़ी प्रसन्नतासे उस बूढ़ी माताकी सहायता करके आगे बढ़ी। वह बूढ़ी ग्वालिन भी उसे 'जीती रहो बेटी! ईश्वर तेरा भला करे' इत्यादि आशीर्वाद देते नहीं थकी।

कमलाने बहुत ही नम्र और विशाल हृदय पाया था; उसे झट दूसरेपर दया आ जाती; दूसरेके दुःखमें उसका दिल बहुत दुखी हो उठता और वह सबके साथ सहानुभूति करती। वह स्वयं भी तो निर्धन थी, इसलिये गरीबोंकी अनुभूतियों अथवा परिस्थितियोंको वह सदा समझती थी। किसीको दुखी देखकर उसका दिल रो उठता।

जब वह कुछ आगे पहुँची तब उसने लकड़ीकी एक रेढ़ीमें एक कोढ़ी व्यक्तिको लेटे देखा। दोपहरका समय था और सूर्यकी तमतमाती धूप उस कोढ़ीपर भी पड़ रही थी। कोढ़ीने कमलासे कुछ भीख माँगी परंतु कमला बेचारीके पास देनेको था ही क्या। फिर भी उसने सुधाभरे मीठे स्वरमें कहा—'बाबा, इस समय तो मेरे पास कुछ भी नहीं है, फिर कभी दूँगी।'

इसपर कोढ़ी बोला—'अच्छा देवी! गरमीके मारे मेरा बुरा हाल है। आज मेरी बेटीको बुखार आ गया था, इसलिये वह यहाँ ठहर नहीं सकी। अतः यदि तुम मुझे यहाँसे हटाकर छायामें कर दो और इस लोटेमें थोड़ा जल ही ला दो तो मुझपर तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, भगवान् तुम्हें बहुत देगा!'

कमलाको तो पहलेसे ही उस कोढ़ीकी दशा देखकर बहुत तरस आ रहा था। उसकी बातें सुनकर उस अपंगके प्रति करुणासे उसका हृदय भर आया और उसने दयावश उसकी रेढ़ीको खींचकर सड़कके किनारे एक बहुत बड़े बरगदके वृक्षकी छायामें कर दिया। तत्पश्चात् उसका लोटा लेकर वह जल लेने चली। अभी वह दो-चार कदम ही आगे बढ़ी थी कि उसे उस वृद्धाका ध्यान आया और सोचने लगी—'क्यों न उस ग्वालिनसे दो-चार घूँट दूधके ही माँग लाऊँ। अभी तो वह सामने ही दीख रही है। कदाचित् वह थोड़ा दूध दे भी देगी।' इस विचारके आते ही वह उलटे पाँव घूम पड़ी। वह वृद्धा तो बहुत धीरे-धीरे जा रही थी, इसलिये कमला शीघ्रतापूर्वक चलकर उसके समीप पहुँच गयी और कोढ़ीकी बात बताते हुए उसके लिये थोड़ा-सा दूध उससे माँगा। वृद्धाने बड़ी प्रसन्नतासे आधा लोटा दूध उसे दे दिया। कोढ़ी वह दूध पीकर बहुत तृप्त हुआ और कमलाको अनेकों आशीर्वाद देता हुआ उस वृक्षके नीचे ठंडी हवा तथा शीतल छायामें सुखसे सो गया!

उस गरीब अपंग कोढ़ीकी किंचित् सेवा करके कमलाको अपार आनन्द तथा शान्तिका अनुभव हो रहा था; वह संतुष्ट मनसे मन्दिरकी ओर आगे बढ़ने लगी। परंतु अभी वह थोड़ी ही दूर गयी थी कि उसे कुछ चरवाहे मिले। वे काफी प्यासे दिखायी पड़ते थे। उन्होंने कमलाको देखते ही उसे सम्बोधित करके कहा, 'बहिन! हमें बड़ी प्यास लगी हुई है, परंतु हम आज पहली बार ही इस नयी दिशामें आये हैं। यहाँ हमारी बहुत-सी गौएँ, भैंसें तथा बकरियाँ घास चर रही हैं इसलिये कहीं ऐसा न हो कि हम उन्हें छोड़कर पानीकी खोजमें जायँ और वे कहीं दूसरी ओर ही निकल जायँ। फिर इस स्थानसे अपरिचित होनेके कारण हम यहाँके रास्तों और झरनोंसे भी तो अनभिज्ञ ही हैं। अतः यदि तुम हमें इस बर्तनमें थोड़ा जल ला दो तो हम तुम्हारे बहुत आभारी होंगे।'

उन्हें अजनबी जानकर कमलाने उनकी सहायता करनी चाही और उनसे उनका मिट्टीका बर्तन लेकर वह पासके किसी झरनेसे उनके लिये जल भर लायी। उस कड़कती धूप और लूमें शीतल तथा मीठा जल पीकर चरवाहोंके प्राणोंमें प्राण आ गये। वे सब कमलाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसको बहुत-बहुत धन्यवाद देने लगे और अपनी गायोंके पीछे चल पड़े। कमला भी अपने लक्ष्यस्थानकी ओर अग्रसर हुई।

मन्दिर अब समीप ही था। मन्दिरमें पहुँचकर उसने प्रार्थना करते हुए दोनों हाथ जोड़कर भगवान्की मूर्तिको प्रणाम किया। उसके हृदयकी सच्ची पुकार सुनकर भगवान् विष्णु अपने चतुर्भुज रूपमें उसके सामने प्रकट हो गये और आशीर्वाद देते हुए उन्होंने उसके आनेका कारण पूछा।

कमला बेचारी बड़ी सीधी-सादी, छलरहित और सरल स्वभावकी थी। उसको अधिक बातें बनाना तो आता नहीं था। अतः वह निष्कपट हृदयसे अपने साधारण शब्दोंमें ही बोली—'भगवान्जी! भगवान्जी!! मेरा पति बिना अपराध ही मुझे बहुत पीटता है, आप उसे केवल यह समझा दें कि वह मुझे मारा न करे।'

'एवमस्तु—ऐसा ही होगा' भगवान्ने हाथ बढ़ाकर उसे आशीर्वाद देते हुए कहा और पूछा—'बस, इतना ही था

कुछ और भी ? तुम्हें जो कुछ भी चाहिये, तुम मुझसे माँग सकती हो ।'

संतोषी हृदयकी कमलाने कहा—'नहीं, भगवान्‌जी ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, मैं मेहनत-मजदूरी करके खाने पहननेका सामान ले आती हूँ । आप केवल मेरे पतिको ही अच्छी सीख दे दें कि जिससे वह कोमल स्वभावका बन जाय और हमारी गृहस्थी सुखी हो जाय । आपकी कृपासे और तो सब कुछ है ।' कमला चाहती तो भगवान्‌से सैकड़ों वस्तुएँ माँग सकती थी, परंतु उसने अन्य कुछ भी नहीं माँगा ।

प्रभु उसके इन शब्दोंसे अत्यन्त प्रभावित होकर कहने लगे—'बेटी ! मैं तुम्हारे निःस्वार्थ तथा विशुद्ध भावसे बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम अवश्य कोई वरदान माँग लो । मैं तुम्हारी सारी कमियोंको पूर्ण करूँगा ।'

परंतु जब कमलाने कहा—'प्रभो ! मुझे कभी किसी अभावका अनुभव ही नहीं होता, मैं प्रत्येक स्थितिको स्वामीकी कृपा मानकर प्रसन्न रहती हूँ,' तब फिर भगवान्‌ने अनजान-से बनकर उससे प्रश्न किया—'बेटी ! तुम महलमें रहती हो या झोंपड़ीमें ? तुम्हारे घरमें कितने दास-दासियाँ हैं ?'

'पिताजी ! मैं तो टूटी-फूटी झोंपड़ीमें रहती हूँ—हमारे घर नौकर-चाकर कहाँ । मैं तो सारा काम स्वयं ही करती हूँ ।' कमलाने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया ।

'अच्छा ! तुम क्या खाती-पीती हो—खीर-पूड़ी-हलवा, बढ़िया-बढ़िया मिष्टान्न, दूध-मलाई, संतरे-सेब इत्यादि ?'

'नहीं, प्रभुजी ! हम तो केवल सूखी रोटी और दाल ही जुटा पाते हैं, इतने पकवानोंका तो कभी प्रश्न ही नहीं उठता ।'

'अच्छा ! तो सूखी रोटी और दाल जिस थालीमें खाती हो, वह किस चीजकी बनी है—सोनेकी, चाँदीकी, काँसी-पीतलकी या मिट्टीकी ?'

'नहीं, भगवान्‌जी ! हमारे पास तो मिट्टीकी एक तश्तरी भी नहीं है । मैं तो जंगलमेंसे केलेके पत्ते तोड़ लाती हूँ । नहीं तो हाथपर ही रखकर खा लेती हूँ ।'

'अच्छा, तो बताओ—सोती कहाँ हो ? सुन्दर पलंग या चारपाईपर ? ओढ़ती क्या हो ?' भगवान् उसपर इन सब प्रश्नोंकी बौछार किये जा रहे थे ।

'प्रभुजी ! बढ़िया पलंग और नीचे डालनेके रुईदार नरम गद्दे न तो हमारे पास हैं न हमें उनकी कभी याद ही आती है । आपकी बनायी पृथ्वी ही हमारा बिछावन है । ओढ़नेको बढ़िया कम्बल तथा मखमली रजाइयाँ खरीदना तो हमारी बिसातके बाहर है । इसीलिये सर्दी-गरमी—दोनोंमें ही जो फटे-पुराने चीथड़े मिल जाते हैं उन्हींपर हम खुशीसे गुजारा कर लेते हैं ।' कमला भी धैर्यपूर्वक सभी प्रश्नोंके उत्तर दिये जा रही थी ।

भगवान् उसकी ये सब बातें सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले—'बेटी ! निस्संदेह तुम्हारे पास भौतिक धन-दौलत नहीं है, परंतु तुम्हारे पास एक ऐसी निधि है, जो कि बड़े-बड़े धनियोंके पास भी नहीं होती । हर हालतमें प्रभुकी कृपाका अनुभव, जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोष, चाहका अभाव, हृदयकी विशालता एवं उदारता, दुखियोंके प्रति दया और उनकी सहायता करनेकी वृत्ति, मधुर वचनोंसे उन्हें सान्त्वना देना तथा उत्तम विचार रखना—यह एक अमूल्य खजाना है । सुख-दुःख तो केवल कर्मोंके ही भोग हैं । जाओ, आजसे तुम्हें किसी भी बातका अभाव नहीं रहेगा, लक्ष्मी तुम्हारे चरण चूमेगी । मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त बड़े ही प्रिय लगते हैं । जाओ, मेरी याद करती रहना, आजसे तुम्हें किसी प्रकारका दुःख नहीं रहेगा ।' भगवान् उसे यह आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गये । कमला भी भगवान्‌की मूर्तिको मस्तक नवाकर वापस लौटने लगी । इस समय उसके मनमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य छाया था । जाते समय तो वह तेजीसे जा रही थी, परंतु अब उसके कदम बड़े आरामसे धीरे-धीरे पड़ रहे थे, उसके चेहरेसे भी प्रसन्नता टपक रही थी । लौटते समय उसे फिर वे ही चरवाहे मिले और कहने लगे—'बहिन ! तुमने हमें स्वादिष्ट शीतल जल पिलाकर संतुष्ट किया था, इसलिये हम भी उस उपकारका बदला चुकाना चाहते हैं । अतः जिस बर्तनमें तुम हमारे लिये जल लायी थीं, हमने उसीके नीचे तुम्हारे लिये एक उपहार रखा है, तुम्हें वह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा ।'

मिट्टीका वह बर्तन भूमिपर उल्टाकर रक्खा हुआ था । कमलाने जो उसे सीधा करके उठाया तो देखकर दंग रह गयी । वहाँ अमूल्य रत्नोंसे जड़ी एक सोनेकी ईंट थी । और वे चरवाहे जानते हैं कौन थे ? वे थे देवता—वे कमलाकी परीक्षा लेने आये थे । कमलाको रत्नोंसे जड़ी स्वर्णकी ईंट देते हुए उन्होंने कहा, 'बहिन कमला ! तुम इसमेंसे जितने चाहोगी, उतने ही हीरे, मोती, पन्ने इत्यादि रत्न निकाल सकोगी, उनकी संख्या कभी भी कम नहीं होगी ।'

कमला अब और भी प्रसन्नतासे सोनेकी ईंट लेकर आगे

बढी। वह कोढ़ी अभी उस वृक्षके नीचे ही लेटा था। जब कमला उसके सामनेसे होकर निकली, तब उसने दयावश उस ईंटमेंसे कुछ रत्न निकालकर उसको देना चाहे। अब तो कोढी बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसी समय उसके स्थानपर गौर-बालकके रूपमें भगवान् श्यामसुन्दर 'मनमोहन' वहाँ प्रकट हो गये। उनके अपूर्व तेजका कहना ही क्या था। उनकी अलौकिक आभा तथा प्रभामण्डलके दिव्य प्रकाशके सामने आँखें ठहरती ही न थीं। कमला उनकी अद्वितीय शोभा तथा मनमोहन छविको मन्त्र-मुग्ध-सी हुई निहारती ही रह गयी। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण ही उस कोढ़ीके रूपमें कमलाकी परीक्षा लेने बैठे थे। कमला और रामलाल संतानहीन थे, सो कन्हैयाने उसे पुत्र-प्राप्तिका वरदान दिया और साथ ही यह आशीर्वाद दिया कि वह बालक बहुत तेजस्वी तथा सर्वगुणसम्पन्न होगा। इतना कहकर मुरली-मनोहर भगवान् 'मनमोहन' वहीं अन्तर्धान हो गये।

कमला भी अपने घरकी ओर बढी। अब उसे वही वृद्ध ग्वालिन खाली मटका लिये वापस आती मिली और प्रसन्न मुखसे बोली, 'बेटी! यह लो कुछ रुपये। आज तुम्हारी सहायतासे ही मैं इतना बड़ा दूधका मटका उठाकर ले गयी थी और थोड़ी ही दूर जानेपर मुझे एक सेठ मिले, जिन्हें दूधकी बड़ी आवश्यकता थी। इसलिये उन्होंने बड़े मँहगे दामोंपर मुझसे वह सारा दूध खरीद लिया। आज मुझे सदाकी अपेक्षा तीनगुना अधिक दाम मिले हैं इसलिये कि वे फालतू पैसे मुझे तुम्हारे ही भाग्यसे मिले हैं वे मैं तुम्हें ही देना चाहती हूँ।' वास्तवमें साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी ही उस बूढी ग्वालिनके रूपमें थीं और यह कहते हुए लक्ष्मीजीने अपने चतुर्भुज रूपमें उसे दर्शन दिये। लक्ष्मी तो भगवान्‌की ही शक्ति ठहरीं। जिसपर भगवान्‌की इस शक्ति, साक्षात् लक्ष्मी-देवीकी कृपा हो, वह किस बातसे वञ्चित रह सकता है। लक्ष्मीजीने उसे वे रुपये देते हुए कहा 'तुम जहाँ भी ये रुपये रखोगी, वहाँ ये सदा उतने ही रहेंगे, कभी भी कम न होंगे। जाओ, तुम सौभाग्यवती होओ और सदा सुखी रहो।' लक्ष्मीजी यह आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गयीं।

कमलाके घर लौटनेतक संध्या हो चुकी थी। उसका पति सदाकी ही भाँति आज भी नशेमें चूर था; परंतु वह आज बहुत शान्त था, कमलाको उसने कुछ भी डाँट-डपट नहीं बतायी। न इतनी देरसे उसके घर लौटनेका कारण ही पूछा। घरमें भोजन भी तैयार न था, परंतु रामलालको आज क्रोध नहीं आया। वह कमलाके चरणोंमें गिरकर जोर-जोरसे रो पड़ा। उसे अपने किये कर्मोंपर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। वह उसी भाँति रोनेके स्वरमें बोला, 'देवी कमला! मैं तुम्हारे साथ जो अनुचित व्यवहार तथा निर्दयताका बर्ताव करता आया हूँ, उसका मुझे बहुत ही दुःख है। आज मेरा सारा समय ही पिछली बातें सोचते बीता है। भगवान्‌ने मुझे तुम-जैसी देवी दी, परंतु मैंने तुम्हारी कदर नहीं की। मैं अब प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे कभी मैं मदिराको हाथ नहीं लगाऊँगा और तुम्हारे योग्य बनकर दिखाऊँगा।' रामलालका हृदय आत्मग्लानिसे भर उठा।

कमलाको अपने कानोंपर विश्वास नहीं हो रहा था, वह आज इस ईश्वरीय देनपर अपनेको संसारभरमें सुखी समझ रही थी। रामलालका एक फटा-पुराना कोट खूँटीपर लटक रहा था। कमलाने देवी लक्ष्मीजीवाले रुपये उसीकी जेबमें डाल दिये और सोनेकी ईंटको अपने टूटी-फूटी पेटीमें रख दिया। अब तो कमलाको मजदूरी करनेकी आवश्यकता न थी, उसने ईंटमेंसे बहुतसे रत्न निकालकर रामलालको दिये। रामलालने शहर जाकर उन्हें एक जौहरीके पास बेचना चाहा। जौहरीने उन्हें देखा तो वह आँखें फाड़कर देखता ही रह गया—वे अत्यन्त मूल्यवान् थे। केवल बड़े-बड़े राजा महाराजा या करोड़पति सेठ ही उन्हें खरीदनेकी सामर्थ्य रखते थे। जौहरीको आशा थी कि वह उन्हें बहुत मँहगे दामोंपर बेच सकेगा। इसलिये उसने रामलालको भी अच्छी कीमत दे दी। रामलाल उन रुपयोंसे सभी आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर लौटा। दूसरी बार वह किसी अन्य जौहरीके पास गया तो उसने उसे पहलेसे दुगुनी कीमत दी, तीसरी बार एक नये जौहरीसे उसे तिगुनी कीमत प्राप्त हुई। अब तो रामलालकी आँखें खुलीं—उसे जब पता लगा कि ऐसे अनुपम प्रकारके रत्न तो यहाँ किसीके भी पास नहीं हैं, तब वह स्वयं ही बड़ा जौहरी बन गया। उसका व्यापार खूब चल निकला। अब उसके टूटे झोंपड़ेके स्थानपर बहुत बड़ा महल खड़ा था—सोने-चाँदीके बर्तन, दास-दासियाँ, घोड़े-गाडी आदि सभी कुछ उसके पास था। रामलाल अपने व्यापारके सिलसिलेमें शहरवाली मुख्य दुकानकी देखभालके लिये महीनेमें चार-पाँच बार अपनी गाडीपर सवार होकर शहरका चक्कर लगा आता। गाँवभरमें उसकी धाक थी और अब वह सबसे अधिक धनवान् था। [शेष आगे]

अध्यात्म, भौतिकता और जीवन

(लेखक—श्रीप्रतापसिंहजी चौहान, एम्० ए०)

अध्यात्म और भौतिकताका जीवनसे क्या सम्बन्ध है, इसे लेकर इस निबन्धमे कोई नवीन खोज नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्राचीन ऋषियोंसे लेकर अर्वाचीन विद्वानों-तकने अपने विभिन्न ग्रन्थों तथा व्याख्याओंद्वारा इस विषयपर अनुभव-सिद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। लोगोने उन मार्ग-प्रदर्शनोंको माना है, समझा है, अनुभव किया है और उससे वे लाभान्वित भी हुए हैं, किंतु फिर भी उलझनें रह ही गयी हैं। जिस प्रकार सूर्य कभी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने प्रकाश-द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित कर दिया है, क्योंकि उसके अनवरत प्रकाश-दान करते रहनेपर भी ससारमे अनेक ऐसी गुहाएँ और स्थान शेष रह जाते हैं, जिन्होंने कभी भगवान् भुवनभास्करकी एक भी किरण नहीं देखी है। भगवान् राम, कृष्ण और बुद्धके कालमे भी नास्तिक रहे हैं। वर्तमान युगमें भी चालीस-पचास वर्ष-पूर्व परमहस रामकृष्णके अलौकिक आध्यात्मिक व्यक्तित्व-को देखकर भी अनास्था शेष नहीं रही—नास्तिकताके इस अद्भुत युगको देखकर कौन यह कहनेका साहस कर सकता है। अतएव उन महापुरुषोंकी बानियों तथा आध्यात्मिक स्थापनाओंकी पुनरावृत्तिकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन्होंने अपने कालमें अनुभव की थी। आज भी लोग आध्यात्मिक जीवन तथा भौतिक जीवनके मध्य विभाजक रेखा न खींच सकनेके कारण अत्यन्त भ्रममे पडे हुए हैं तथा इसी कारण अध्यात्मके प्रति एक विचित्र पूर्वग्रह बनाये हुए हैं।

मैं अपने उपर्युक्त कथनको एक उदाहरणद्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। अभी जन्माष्टमीके अवकाशमे मुझे अपने एक अस्वस्थ मित्रको देखनेके लिये कानपुर जाना पड़ा। मेरे इन मित्रने मुझे पत्रद्वारा सूचित कर दिया था कि आप दो-तीन दिनके लिये मेरे पास आइये, दो-तीन घटे मेरे लिये पर्याप्त नहीं है। अतएव, मैंने मध्यम मार्ग अपनाया और एक दिन तथा एक रात उनके साथ रहा। मेरे ये मित्र खान-पान तथा रहन-सहनमे बिल्कुल अंग्रेज हैं। बर्किंघमसे इन्होंने केमिस्ट्रीमे पी-एच्० डी० प्राप्त की है तथा योरपके विभिन्न देशोंमे लगभग तीन-चार वर्ष रहे है। भोजनके लिये एक कमरेको डाइनिंग रूम बना रखा है। वहींपर एक बड़ी मेजके चारों ओर कुर्सियोंपर बैठकर परिवारके अधिकाश स्त्री-पुरुषके तथा बच्चे भोजन करते हैं। अधिकांश मैं इसलिये कहता हूँ कि उनकी माताजी तथा दो-एक अन्य जन भी भोजनकी भारतीय परम्परामें ही आस्था रखते है। मुझे भी एक दिनके लिये अपनी रूढ़िवादिताको तिलाञ्जलि देकर इस आरोपित प्रगतिशीलताको वरण करना पडा। ऋषियोने ऐसे ही समयोंके लिये आपद्धर्मका विधान किया है। पता नहीं, भोजन-प्रणालीकी इस मान्यताके तात्कालिक परि-वर्तनको आपद्धर्मके अन्तर्गत लिया जा सकता है या नहीं, किंतु मैंने इसे आपद्धर्मके अन्तर्गत ही मानकर सतोष किया। मेजपर सुस्वादु भारतीय भोजनके साथ-साथ कुछ पाश्चात्त्य प्रकारका भोजन भी था। इस भोजनमें अडे प्रधान थे। पेस्ट्री आदि भोज्य पदार्थ भी थे। पता नहीं इन अभारतीय अभोज्य पदार्थोंकी योजना (मै इन्हे अभोज्य इसलिये मानता हूँ कि इनका प्रयोग सवर्णजातियोंमें ब्राह्मणों और आध्यात्मिक साधकोंके लिये वर्जित माना गया है और मेरे मित्र महोदय उच्च वर्णके रूढिवादी ब्राह्मणकुलके हैं, यद्यपि अब इन भोज्य पदार्थोंका प्रचार प्रायः सभी उच्चवर्गोंमें भी अबाधगतिसे स्थान पा चुका है) मेरे व्यक्तित्वके विरोधरूपमें की गयी थी अथवा यह उनका नैतिक, स्वाभाविक क्रम था। मैं तो उसे स्वाभाविक रूपमें ही ग्रहण करता हूँ, चाहे उनकी मनोवृत्ति जैसी रही हो। अडोंकी शक्ति और उपादेयतापर वहाँके अन्य जनोंमें सराहनापूर्ण वार्तालाप

चल रहा था। इसी बीच एक सज्जनने मुझसे कहा कि 'आप इस शक्तिके प्रतीक अडेको क्यों स्वीकार नहीं कर रहे है ?' मैंने देखा वे भी नहीं खा रहे थे और इसीसे वल प्राप्त करके मैंने स्मितके साथ कहा कि आप भी तो इस फलाहार (अडेमें जान न होनेके कारण पाश्चात्त्य देशोंमें इसे Vegetable के अन्तर्गत ही ग्रहण किया जाता है) को कृतार्थ नहीं कर रहे हैं। मेरे इस वार्तालापको मेरे प्रगतिशील डा० मित्रने सुना, मानो अभी-तक वे मुझे परास्त करनेके इस शुभावसरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। बोले—'हॉ, आप अडा क्यों नहीं खा रहे हैं ? इसमें ' आगे वे कुछ कहें इसके पहले ही मैंने उत्तर दिया 'जी, इसीलिये।' और अपने कथनको स्पष्ट करते हुए मैने आगे कहा—'मैंने तो आपसे यह प्रश्न नहीं किया कि आप अडा क्यों खाते है। मैंने खानेवालोंके लिये भी अपना किसी प्रकारका अभिमत नहीं प्रकट किया। क्या मेरे व्यवहारका यह क्रियात्मक उत्तर आपके प्रश्नके लिये पर्याप्त नहीं है ?' वे मेरी ओर इस प्रकार देखते रहे मानो वे मेरे कथनके अभिप्रायको न समझ सके हों। मैंने उनसे कहा—'भाई, यदि हिंसा-अहिंसाके विवादात्मक प्रश्नको छोड भी दे तो प्रकृति-के ऊपर भोजनके इस अनिवार्य प्रभावको किस प्रकार अस्वीकार किया जा सकता है। जिस प्रकारका भोजन किया जायगा, नि.सदेह उसी प्रकारका मन बनेगा और वैसे ही उस व्यक्तिके कार्य होंगे। व्यक्तियोंके समूहसे समाजका निर्माण होता है। अस्तु, उसी प्रकारका समाज भी बनेगा।' मेरे मित्रने इसका प्रतिवाद किया, किंतु वे स्वय जानते थे कि उनके द्वारा प्रयुक्त तर्क कितने शिथिल थे; क्योंकि प्रत्यक्षके समक्ष सभी प्रमाण निरर्थक सिद्ध होते है।

आपाततः उपर्युक्त घटनाका उल्लेख विषयके शीर्षक-के साथ असगत-सा प्रतीत होगा; किंतु गम्भीरतापूर्वक सोचनेपर इस उदाहरणमे तथ्यका आभास अवश्य मिलेगा। जन्माष्टमीकी उक्त घटनाका मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा है और उसीसे प्रेरणा प्राप्त करके मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अध्यात्म और भौतिकताको लेकर जीवनमें जो एक भ्रम घर कर गया है, उसके विषयमे मैं भी कुछ लिखूँ, यद्यपि मैं अपनी सीमाओंसे पूर्ण अवगत हूँ और मै यह दावा नहीं करता कि अध्यात्म तथा भौतिकताके सम्बन्धमे मेरा यह विवेचन अन्तिम शब्द होगा।

ऊपर मैने कहा है कि भोजनका मनपर बडा प्रभाव पडता है। भोजन अध्यात्म और भौतिकताके लिये मेरुदण्डके समान है। भोजनके ही प्रभावसे मानव-मन अध्यात्म और भौतिकताको ग्रहण करता है। इस बातको आमिषभोजी और निरामिषभोजी पशु-पक्षियोंके स्वभावद्वारा अधिक सरलतासे समझा जा सकता है। हिंस्र पशुओंमे सिंहका प्रथम स्थान है। उसके आमिषा-हारने ही उसे इतना दुर्दान्त बना दिया है। उसकी भयकरता और हिंस्र स्वभावसे सभी परिचित हैं। इसके विपरीत गायको ले लीजिये। विशुद्ध शाकाहारी तथा निरामिषभोजी पशु है। इसकी प्रकृति अपने भोजनके कारण ही इतनी कोमल, मृदु और अहिंस्र है। इसी कारण जब किसी व्यक्तिको अत्यन्त ऋजु स्वभावका देखा जाता है, तब उसके लिये प्रायः लोगोंको यह कहते हुए पाया गया है कि 'बेचारा बडा सीधा है, बिल्कुल गाय।' इसी प्रकार पक्षियोंके स्वभावके भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि जैसा भोजन किया जायगा, वैसा ही स्वभाव बनेगा और तदनुकूल ही व्यक्तिके आचरण भी बनेंगे।

अतएव भोजनद्वारा मानव-प्रकृतिका निर्माण सारे ससारमें त्रिविध देखा जाता है। आर्य मनीषियोंने इसीके अनुसार भोजनको भी तीन वर्गोंमे विभाजित कर दिया है। मानव-स्वभाव क्रमसे सत्त्वगुणसम्पन्न, रजोगुण-सम्पन्न और तमोगुण-सम्पन्न माना गया है। इसीके अनुसार भोजन भी सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी वर्गोंमे विभाजित किया गया है। सत्त्वगुणी भोजनके अन्तर्गत प्राय. अधिकाश शाक, दुग्ध, घी,

दही, चावल, गेहूँ, जौ, मूँग आदि भोज्य-सामग्री स्वीकृत हुई है। तरकारियोंमें लहसुन, प्याज आदि रजोगुण तथा तमोगुण उत्पन्न करनेवाली तरकारियाँ वर्जित मानी गयी हैं। सत्त्वगुणी स्वभावमें पूर्णता लानेके लिये उपर्युक्त भोज्य-पदार्थोंका भी मिताहार ही होना चाहिये। सत्त्वगुणी भोजनसम्बन्धी यह व्यवस्था यहींतक अलम् नहीं हो जाती, वरं भोज्य सामग्रीके अतिरिक्त भोजन-निर्माण करनेवालेका मन भी पूर्ण शुद्ध, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा स्नेहिल होना चाहिये। यदि उसके मनमें इसके प्रतिकूल किसी प्रकारका विकार होगा तो उसका प्रभाव भी असंदिग्धरूपसे भोजनपर पड़ेगा और वह दोष उतनी ही मात्रामें भोजन करनेवालेके मनमें भी आ जायगा। इसी प्रकार कुछ वैभिन्न्यके साथ रजोगुणी भोजनको भी समझना चाहिये। रजोगुणी भोजनमें स्वादका अत्यन्त ध्यान रखा जाता है, इसलिये उसके निर्माणमें भी अधिक व्यय होता है। यह भोजन अधिक गरिष्ठ होता है। दुग्धके सम्पूर्ण विकार इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। घीका प्रयोग अतिशय मात्रामें होता है। सात्त्विक व्यक्तियोंकी अपेक्षा इस प्रकारके भोजन करनेवाले व्यक्ति अधिक मात्रामें भोजन भी करते हैं। संक्षेपमें इस प्रकारका भोजन और इस वर्गके व्यक्ति सत्त्वगुणी और तमोगुणी व्यक्तियों तथा सत्त्वगुणी भोजन और तमोगुणी भोजनके मध्यबिन्दुके रूपमें है—ठीक उसी प्रकार, जैसे बाल्यावस्था और यौवनके मध्यमें वय-सन्धिका काल। तमोगुणी भोजनमें प्राय सभी उत्तेजक भोज्य पदार्थ माने गये हैं। इनमें मांस, मछली, अंडे, कटु, तिक्त, कषाय आदि प्रमुख पदार्थ हैं। अपने स्वभावके अनुकूल ही प्रत्येक व्यक्ति अपने भोजनका चुनाव करता है, उसीके अनुसार उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना हो सकती है। उसीके अनुसार वह संसारसे विरक्ति और अनुरक्ति प्रकट करता है। उसीके अनुसार वह संसारी अथवा असंसारी या दोनोंका संयुक्त भाव।

सात्त्विक भावसम्पन्न व्यक्ति धर्मभीरु या धार्मिक होता है। रजोगुणसम्पन्न व्यक्तिका स्वभाव अर्द्ध-धार्मिक तथा अर्द्ध-सांसारिकता या भौतिकतासम्पन्न होता है। तमोगुणी व्यक्ति घोर संसारी अथवा भौतिक भावापन्न होता है। इस स्थलपर मैं 'धर्म' शब्दकी परिभाषा या अर्थ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। आधुनिक कालमें 'धर्म' शब्दके साथ जितनी अधार्मिकताका व्यवहार किया गया है, उतना अन्य किसी शब्दके साथ नहीं। आजकल अधिकांश व्यक्ति धर्मको अत्यन्त रूढ़िवादिताके अर्थमें प्रयुक्त करने लगे हैं, जो प्रगतिशीलताका निपट विरोधी है। किंतु 'धर्म' शब्द न तो प्रगतिशील है और न अप्रगतिशील, वह जो है, वही है। न तो रत्तीभर कम, न रत्तीभर अधिक और वास्तविकता तो यह है कि बिना धर्मके किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तुका अस्तित्व एक दिन भी स्थिर नहीं रह सकता—चाहे वह व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक, और चाहे वह वस्तु लोहनिर्मित हो, चाहे कोई वनस्पति। उसकी व्याप्ति प्रगतिशील, अप्रगतिशील तथा स्थिर—सभी पदार्थोंमें एक समान है। 'धारयति इति धर्म'। अर्थात् जो सबको धारण किये हुए है या जिसमें सब धरे हुए हैं, वह धर्म है। यदि परिभाषाकी व्याख्या की जाय तो उस व्याख्याका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है—यावत् पदार्थोंको चिरकालतक जो अपने परिवेशमें सुरक्षित रखता है, उसके योग-क्षेमका पूर्णतया वहन करता है, उस अनुपम शक्तिको हम 'धर्म' के नामसे सम्बोधित करते हैं। मानवके लिये धर्मके उस महद्रूपके एक अंगका वर्णन करते हुए मनुने मनुस्मृतिमें कहा है—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् यदि मनुष्य अपनी नैतिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक सत्ता बनाये रखना चाहता है तो उसकी धारणाशक्ति अच्छी होनी चाहिये, उसके क्षमाका भाव होना चाहिये, उसमे अस्तेय होना चाहिये, उसे मन-सहित इन्द्रियोंका स्वामी होना चाहिये, इन्द्रियोंपर उसका पूर्ण अनुशासन होना चाहिये, धैर्य धारण करनेकी उसमें शक्ति होनी चाहिये, अविद्याका त्याग होना चाहिये, उसे सत्यवादी होना चाहिये तथा उसमें क्रोधका लेशमात्र भी न होना चाहिये। मनुस्मृतिकारको पूर्ण निश्चय है कि जो भी व्यक्ति उपर्युक्त दसों धार्मिक गुणोंसे सम्पन्न होगा, वह अति दीर्घकालतक अभ्युदयमय जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें नि·श्रेयसका अधिकारी बनेगा। वह लौकिक तथा पारलौकिक दोनों सुखोंका पूर्ण अनुभव कर सकेगा। धर्मके उपर्युक्त दसों लक्षण सभी मतोंके अनुयायियोंको समानरूपसे लाभप्रद हैं। मनुद्वारा स्थापित धर्मकी इस परिभाषासे मेरी उपर्युक्त व्याख्यापर पर्याप्त प्रकाश पडता है। अर्थात् धर्मके इन्हीं दसों लक्षणोंका अनुगमन करनेसे जीवन भली-प्रकार सुरक्षित रह सकता है। इनमें एक भी लक्षणकी अवहेलना करनेसे उतनी ही मात्रामें जीवनमें अशान्ति आ जायगी और वह उतने ही अशमें अरक्षित हो जायगा।

अस्तु, यदि व्यक्तिका मन पूर्णतया सत्त्वगुणमें अधिष्ठित होगा तो वह धर्मवान् कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि वह सद्-असद्-विचार-सम्पन्न होकर ससारके पदार्थोंका भोग करता हुआ निःश्रेयसका अधिकारी हो सकता है और सात्त्विकतासे वह जिस मात्रामें च्युत होगा, उतने ही अशमे वह संसारमें लिप्त हो जायगा अर्थात् भौतिकभावापन्न होगा। उतने ही अंशमें उसका मन अशान्त हो जायगा। सांसारिकतामें आविष्ट होनेके कारण वह उसके भोगमें भी पूर्ण सुखका अनुभव नहीं कर पायेगा, क्योंकि अशान्त मनसे किसी भी वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

किंतु धर्मसे भी ऊपर अध्यात्म है। धर्म मानो क्षेत्र हो, जिसमें अध्यात्मरूपी बीज वपन किया जाता है। अध्यात्म अथवा आत्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रक्रिया मानवका सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये ऋषियोंने साधनाकी अनेक सरणियोंकी प्रतिष्ठा की है। उन सभी सरणियोंको सरलतासे दो स्थूल मार्गोंमें विभाजित किया जा जकता है—१. विचार या ज्ञान-मार्गीय तथा २. साधना या योग-मार्गीय। एक तीसरा भाग भी सम्भव हो सकता है—भक्तिमार्गीय सरणि; किंतु भक्तिको मैं हृदयप्रधान होनेके कारण शुष्क ज्ञानसे पृथक् मानता हूँ और इसीलिये उसके स्वरूपको योगके अन्तर्गत ही स्वीकार करता हूँ। ज्ञानमार्गीय साधनाके अन्तर्गत विचार या ज्ञान ही प्रधान होता है। पर दर्शनोंमेंसे प्रायः पाँचमें तर्क और विचारद्वारा आत्माके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया गया है—प्रकृति, जीव और ब्रह्मके निरूपणका भगीरथ-प्रयत्न किया गया है। भारतीय दर्शनोंकी स्थापनाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण और महनीय हैं, इसपर इस स्थलपर कुछ कहना विषयान्तर होगा, किंतु आत्मसाक्षात्कार केवल विचार और तर्कके आधारपर सम्भव नहीं है, इसके सत्यको विभिन्न दर्शनोंके प्रतिष्ठापकोंने भी स्वीकार किया है। विचारके क्षेत्रमे उपनिषदोंका प्रमुख स्थान है। कठोपनिषत्कारने यह स्वीकार किया है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' अर्थात् इस आत्माको बुद्धि—मेधा या शास्त्रज्ञान अथवा व्याख्यानद्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। निश्चय ही उपनिषद् यहाँ अहकारशून्य शुद्ध तार्किक ज्ञानकी ही बात करता है। उसे यहाँ स्वार्थ और अहकारपूर्ण अज्ञान अभिप्रेत नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान-मार्गका निष्कर्ष है कि 'अह' (Ego) को नष्ट करनेसे अपने वास्तविक स्वरूप आत्माके दर्शन हो सकते है। सबसे अन्तिम दर्शन वेदान्त अपनी स्थापनाके द्वारा इसी

निष्कर्षपर पहुँचा है । 'अह' के पूर्ण निरसनका अर्थ होता है—अपनी वासनाओं तथा स्वार्थोंका उस अलौकिक शक्तिके चरणोंमे पूर्ण समर्पण, किंतु यह मार्ग इतना दुरूह और अगम है कि सफलताको अवसर कई जन्मों-के सतत अभ्यासके पश्चात् भी प्राप्त हो सकेगा—निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । गोस्वामी तुलसी-दासजीने इसीलिये कहा है—'ग्यान पथ कृपान कै धारा ।' निश्चय ही वह तलवारकी धारके ऊपर चलनेके ही समान है ।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्मकी सर्वोपरि उपलब्धि अहकारके पूर्ण त्यागमें है । रूढ योगकी क्रियात्मक प्रक्रियाओंद्वारा भी आत्मदर्शनके प्रयत्न किये गये है । योगकी इन प्रक्रियाओंमे हठयोग और राजयोग प्रमुख हैं । आसन, प्राणायामद्वारा समाधिकी प्राप्ति हठयोगकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है, किंतु इस प्रक्रियामें मन तभीतक लयकी स्थितिमें रहता है, जबतक वह समाधिके अन्तर्गत है । इसके पश्चात् वह पुनः अनेक सकल्प-विकल्पोंमें रत हो जाता है । अतएव उसे आत्मानन्दका क्षणिक ही आभास होता है । और फिर समाधि-अवस्थामें भी जडता ही रहती है । मन आनन्द-मे नहीं आविष्ट हो पाता । इसीलिये हठयोगद्वारा प्राप्त समाधिको जड-समाधि कहते है ।

योगकी दूसरी प्रक्रिया है राजयोग । इस प्रक्रियामें मनको एकाग्र करके उसके लय करनेका प्रयास किया जाता है । इस योगकी अनेक विधियाँ है, किंतु सभीमें ध्यानद्वारा मनोलयका प्रयत्न है । भक्ति भी योगके अन्त-र्गत ही मानी गयी है । इसमें किसी भी देव-विग्रहके समक्ष पूर्ण प्रणति या आत्मसमर्पण स्वीकार किया जाता है । इसमें प्रभुके प्रति पूर्ण राग तथा प्रणति होनेके कारण 'अह' का पूर्ण निरसन अत्यन्त सरल दृष्टिगोचर होता है ।

योगकी सम्पूर्ण प्रक्रियाओंमें आत्मप्राप्तिके मार्गमे जैसी सफलता 'सुरतिशब्द योग' को मिली है, वैसी अन्य किसी साधना-पद्धतिको कदाचित् नहीं मिली । इस परम्पराका कबीरसे लेकर आजतकका एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा महनीय इतिहास है । हिंदी-साहित्यके इतिहासकारों-ने इसे 'सत-मत' की सज्ञा दी है । इनके ग्रन्थोंका परिशीलन भर किया गया है । इधर विद्वानोंके अनेक शोध ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं, किंतु ये विद्वान् चूँकि उनकी साधना-पद्धतिसे पूर्ण परिचित नहीं रहे हैं, इसलिये उनके ग्रन्थों और योगमतके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके । सतोंके साधना-मार्गमें ज्ञान, विज्ञान तथा भक्तिका अद्भुत समन्वय मिलता है । इनकी साधनासे अहंका पूर्ण निरसन सम्भव है । मनका सम्पूर्ण लय भी इन्हींके साधनद्वारा सम्भव है । सतोंने तो पूर्ण दावेके साथ अपने मतको सर्वोपरि सरल साधना और सर्वोपरि आध्यात्मिक उपलब्धिके रूपमें स्वीकार किया है ।

अस्तु, अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि मानव-जीवनकी चरम उपलब्धि आत्मसाक्षात्कार है और यह आत्म-साक्षात्कार तभी सम्भव हो सकता है, जब हम या तो विचार एव तर्कद्वारा 'अहं' का पूर्ण निरसन करें या फिर योगकी अनेक प्रक्रियाओंमेसे किसी एकका अनुगमन करके मनोलयद्वारा 'अह' पर विजय प्राप्त करे । किंतु इसके लिये मनकी अवस्थिति सद्धर्मपर होनी अनिवार्य है और सद्धर्मके लिये मनका सत्त्वगुणपर अधिष्ठित होना परमावश्यक है । तथा मन सत्त्वगुणपर तभी अधिष्ठित हो सकता है, जब व्यक्ति सयमपूर्वक सत्त्वगुणी भोजन करे । इस प्रकारका योगी ही भौतिक जगत्के या ससारी जीवनके सुखोंका आनन्द भी उठा सकता है । अतएव जीवनमे भौतिकता-को अध्यात्मके परिवेषमें ही स्वीकार करना चाहिये, तभी अभ्युदय और नि.श्रेयसकी सम्पूर्ण प्राप्ति सम्भव हो सकता है ।
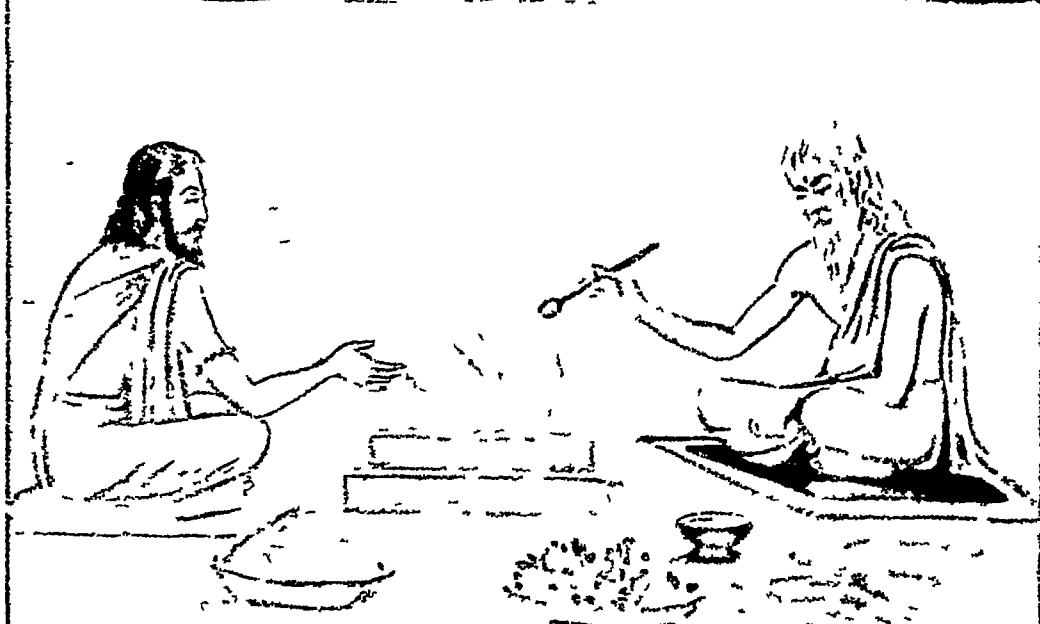
सकाम यज्ञोंका फल—स्वर्ग-सुख

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
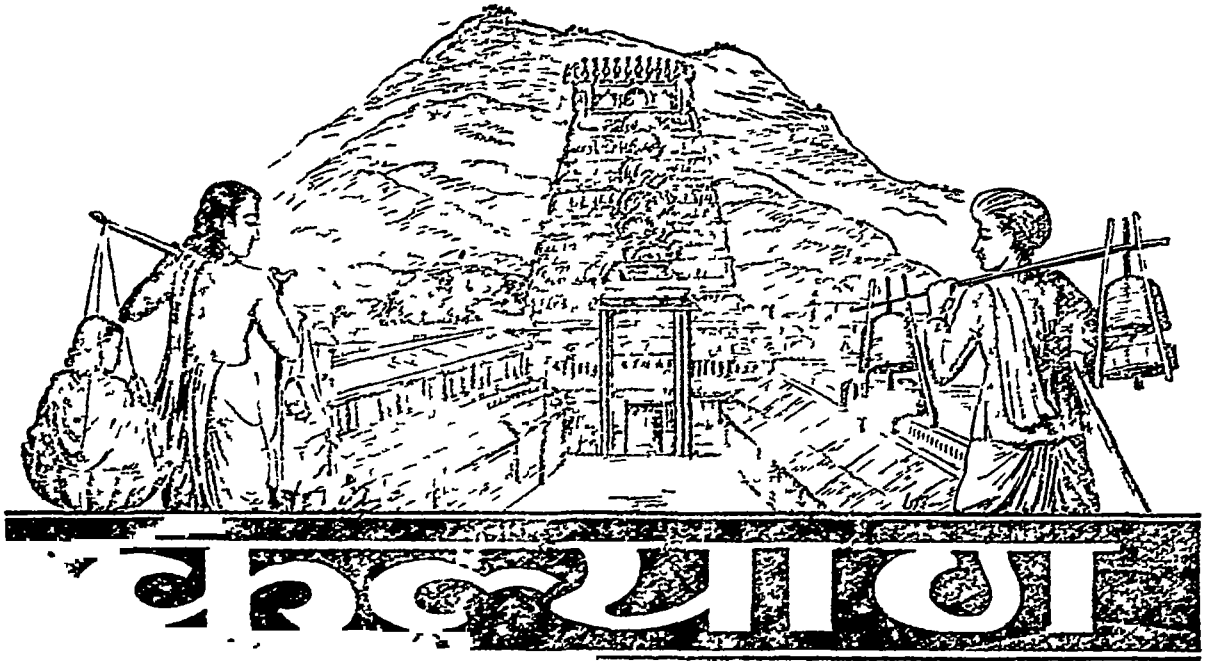
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१४, अप्रैल १९५७ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३६५

भजनकी महत्ता, सकाम यज्ञसे नश्वर स्वर्गकी प्राप्ति

परम धन हरि को भजन अकाम ।
आठहु जाम निकाम काम तजि भजिय स्याम अभिराम ॥
वेद विहित आचरत कामजुत जग्य जाग जे लोग ।
पाइ पुन्य सुरधाम लहत वे सकल दिव्य सुख भोग ॥
मुदित होत कछु काल भोगि नित सुरपति सदन विसाल ।
होत छीन जब पुन्य, पुहुमि पर परत व्यथित तत्काल ॥
जे सकाम अनुसरत श्रौत मत, ते कबहूँ न अघात ।
आवागमन चक्र चढ़ि संतत इत आवत उत जात ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

कल्याण

याद रक्खो—आँखोंसे देखना, कानोंसे सुनना, जीभसे चखना, नाकसे सूँघना और चमडीसे स्पर्श करना—ये इन्द्रियोंके व्यापार तो जबतक इन्द्रियाँ हैं, तबतक होते ही रहेंगे। इन्द्रियाँ मिली ही हैं इसीलिये। परतु यही व्यापार—यही इन्द्रियोंका विषयोंमें विचरना यदि भोगेच्छासे होता है तो उससे नित्य नये दु खोंकी उत्पत्ति होती रहती है। इन्द्रियोंके साथ भोगदृष्टिसे होनेवाला विषयोंका सयोग आरम्भमें बडा मीठा—अमृत-सा प्रतीत होता है, परतु परिणाममें वह घोर विषके समान फल देनेवाला होता है—वैसे ही, जैसे सखिया-सदृश विषसे दूषित मिठाई। अतएव कभी भोगदृष्टिसे विषयोंका सेवन मत करो।

याद रक्खो—यदि तुम्हारी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं तो जिस इन्द्रियको जब तुम अपनी इच्छासे स्वतन्त्रतापूर्वक हित समझकर जिस विषयमें लगाते हो, उसीमें लगती है। वे तुम्हें जबरदस्ती किसी विषयमें खींचकर नहीं लगा सकतीं। न विषयोंमें राग-द्वेष है न मन ही बलात्कारसे तुम्हें किसी विषयकी ओर खींचकर लगा सकता है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिसे जीवनयात्रा चलानेके लिये परिणाम सोचकर इन्द्रियोंको यथायोग्य विषयोंमें लगाते हो—जिस वस्तुको जब देखना आवश्यक तथा उचित हो, उसीको देखते हो, इसी प्रकार आवश्यकता तथा औचित्य देखकर ही सुनते, रस लेते, सूँघते और स्पर्श करते हो तो उससे चित्तमे निर्मलता तथा प्रसन्नता आती है और उसका फल होता है—सारे दु खोंका नाश।

याद रक्खो—वे ही विषय यदि भोगदृष्टिसे राग-द्वेषपूर्वक मन-इन्द्रियोंके वशमें होकर भोगे जाते हैं तो उनसे निश्चय ही बार-बार दु ख उत्पन्न होते रहते हैं और राग-द्वेषरहित होकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके यथायोग्य इन्द्रियोंके द्वारा उनका उपयोग करते हो तो दु खोंका नाश होता है। विषय वे ही और इन्द्रियाँ भी वे ही—भावभेदसे फलभेद हो जाता है।

याद रक्खो—यदि तुम इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका सेवन केवल भगवत्प्रीत्यर्थ—भगवान्‌की प्रसन्नता तथा पूजाके लिये करते हो तो तुम्हारी इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की पूजा बनकर भगवान्‌की प्रसन्नताका परम कारण बन जाती है। फिर तुम्हारा देखना, सुनना, चखना, सूँघना और स्पर्श करना—सभी व्यापार भगवान्‌की पूजा बन जाते हैं और तुम भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय हो जाते हो। फिर तुम्हारी इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌का कार्य होता है, भगवान्‌की चेष्टा होती है। तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा मन और तुम—सभी भगवान्‌की लीला सम्पन्न करनेके साधन—यन्त्र बन जाते हैं। वे यन्त्री जिस यन्त्रसे जब जो काम लेना चाहते हैं, लेते हैं। तुम्हारा अभिमान नष्ट हो जाता है। तुम करनेवाले भी नहीं रहते। भगवान् यन्त्रीके द्वारा सचालित होकर यन्त्रकी भाँति तुम्हारे शरीर, इन्द्रिय, मनके द्वारा भगवान्‌के कार्य होते रहते है। तुम्हारा जीवन भगवान्‌का कार्य सम्पन्न करनेवाला साधन बनकर धन्य हो जाता है। अतः तुम अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कार्यको, इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको भगवान्‌की पूजाके भावसे उनकी प्रसन्नताके लिये ही करो।

याद रक्खो—इन्द्रियोंकी जो चेष्टा, मन-बुद्धिके द्वारा होनेवाला जो कार्य भगवान्‌की पूजाके लिये होगा, उसके सारे दोष अपने-आप निकलकर वह कार्य सबके अनुकरण तथा आचरण करने योग्य, परम पवित्र बन जायगा और जो चेष्टा तथा जो कार्य भोगके लिये होगा, उसमें सारे दोष अपने-आप आ जायँगे और उन कर्मोंकी सज्ञा पाप हो जायगी। परिणामस्वरूप तुम्हें दु.ख होगा और तुम्हारे उस कार्यका जो अनुकरण करेगा, उसे भी पापभागी होकर दु ख भोगने पडेंगे।

'शिव'

काममें लाने योग्य आवश्यक बातें

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा उपदिष्ट)

सवेरे कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटे पूर्व उठना चाहिये—जैसे ६ बजे सूर्योदय होता हो तो ५ बजे उठना। फिर शौच जाकर, हाथ-पैर-मुँह धोकर, कुल्ला करके स्नान करना चाहिये। तदनन्तर अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासना तथा गायत्री-जप करना चाहिये। संध्या और गायत्रीका जप सवेरे सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना चाहिये तथा सभीको भगवन्नामजप, ध्यान, गीता-रामायण आदिका अर्थ और भावसहित पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि ईश्वरोपासना अवश्य करनी चाहिये। उसके बाद घरमें गुरुजनोंको प्रणाम करके तथा शरीरकी स्थितिके अनुसार व्यायाम करके अपने शरीरके अनुकूल दूध आदि पवित्र पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। भोजन नित्य बलिवैश्वदेव करके एवं मौन होकर करना चाहिये।

निम्नलिखित नियमोंका पालन करना चाहिये—

(१) हाथका बुना हुआ पवित्र वस्त्र पहनना।

(२) व्यापारमें झूठ-कपटका, चोरबाजारीका और सेलटैक्स-इन्कमटैक्सकी चोरी आदिका त्याग करना एवं किसीको भी कष्ट न देते हुए दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे सबके साथ सत्यतापूर्वक निःस्वार्थभावसे व्यवहार करने और हर समय भगवान्को याद रखनेका प्रयत्न करना।

(३) बाजारकी, होटलकी, स्टेशनकी, खोमचेकी—बाहरकी बनी हुई किसी प्रकारकी मिठाई, पावरोटी, बिस्कुट, चाय आदिको काममें नहीं लाना। बाजारकी केवल प्राकृतिक चीजें—जैसे साग, फल, मेवा, दूध, घी, अनाज आदि पवित्र पदार्थोंको ही काममें लाना।

(४) चमड़ेकी किसी भी चीजको काममें न लेना।

(५) गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका सेवन कभी नहीं करना।

(६) ताश, चौपड़, लाटरी, जूआ आदिसे सदा दूर रहना।

(७) सिनेमा, नाटक आदि नहीं देखना, क्योंकि इनमें हर प्रकारसे हानि ही है।

(८) चमड़ा, चर्बी, हड्डी आदिसे सम्बन्धित अपवित्र—घृणित पदार्थोंको काममें नहीं लाना एवं उनका व्यापार भी नहीं करना।

(९) फालतू कामोंमें, विषयभोगोंमें, खेल-तमाशोंमें, पापकर्ममें, प्रमादमें और अधिक सोनेमें अपने समयको बर्बाद नहीं करना।

(१०) ऐश-आराम, भोग, स्वाद-शौकीनीमें कम-से-कम खर्च करना।

(११) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, बुद्धि, सदाचार आदि सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये प्रयत्न करना।

वंशीका विलक्षण प्रेम

बिछुरत मोहन अधर तें, रहत न जेहि घट साँस।
वंसी-सम पायौ न हम, प्रेम-प्रीतिको आँस॥
पोर पोर तन आपनो, प्रथम छिदापौ जाय।
तब वंसी नँदलाल पै, भई सुहागिन आय॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

१६. एक भगवान् ही ऐसे हैं, जिनको पकड लेनेपर, फिर कभी किसी भी अवस्थामें तनिक भी दुःख नहीं होता। जो जितने अंशमें पकड लेता है, उतने अंशमें उसका दुःख कम हो जाता है तथा पूरा पकड लेनेपर दुःख बिल्कुल नहीं होता। अब आप देखें—लोग बेचारे कितने दुखी रहते हैं। यदि उनमेंसे कोई भगवान्‌को पकड ले तो वह दुखी नहीं होगा, क्योंकि उसके मनमें यह दृढ विश्वास रहेगा कि परमसुहृद् सर्वशक्तिमान् भगवान् साथ हैं, फिर क्या डर है। आप निश्चय समझिये—जो काम सर्वथा असम्भव है, भगवान् चाहें तो क्षणभरमें उसे कर दे सकते हैं। उनके लिये कोई ऐसी बात ही नहीं है, जिसे वे न कर सकें। केवल विश्वास चाहिये। एक कथा आती है—महाप्रभु श्रीचैतन्य कीर्तन कर रहे थे श्रीवासजीके आँगनमें। श्रीवासजीका लडका मर गया, पर श्रीवासजीने स्त्रियोंसे कहा कि 'यदि रोओगी तो महाप्रभुका कीर्तन भङ्ग हो जायगा और यह हुआ तो मैं गङ्गामें डूबकर प्राण दे दूँगा।' स्त्रियाँ डर गयीं। अब बेटा भीतर मरा पडा है और आँगनमें कीर्तन करते हुए महाप्रभु नाच रहे हैं, पर धीरे-धीरे और लोगोंको यह बात मालूम हो गयी, सबका उत्साह कम होने लगा और सब धीरे-धीरे नाचना छोडकर बैठ गये। महाप्रभुको बहुत देर बाद बाह्य-ज्ञान हुआ। वे बोले—'क्या बात है? मालूम होता है कोई अनिष्ट घटना घट गयी है।' लोगोंने उन्हें सारी बात कह दी। महाप्रभुने लडकेको मँगवाया और लगे नाचने। लडकेमें प्राणका संचार हो गया। श्रीवासने देखा—यह तो गजब हो गया, इस लडकेका बडा सौभाग्य था कि उसकी ऐसी मृत्यु हुई थी। लडका बातें करने लगा। फिर श्रीवासने प्रार्थना की कि 'महाप्रभो! ऐसा मत करो।' इसके बादकी ठीक घटना हमें याद नहीं, शायद जब घरके सभी लोगोंको संतोष हो गया कि इसको मरनेका ऐसा सौभाग्य और नहीं प्राप्त होगा, तब फिर महाप्रभुने कहा 'अच्छा, यही सही।' यह इसलिये हुआ था कि श्रीवासका यह भाव था कि महाप्रभु साक्षात् भगवान् हैं। पर श्रीवासके लिये प्रभुने वैसा नहीं किया था, किया था उस लडकेकी माताके संतोषके लिये। ऐसी कोई घटना नहीं है कि जिसे भगवान् न कर सकें।

१७. जहाँ भगवान्‌में एवं संतमें विश्वास है, वहाँ सब कुछ सम्भव है। गोपीप्रेमके उपासक एक बहुत बडे संत नरोत्तमदास हो गये हैं। वे जातिके कायस्थ थे। पर ब्राह्मणलोग उनको बहुत मानते थे। इसपर ब्राह्मणोंकी एक बहुत बडी टोलीने उनका विरोध किया। बहुत-से ब्राह्मण शिष्य भी थे, उन्हें बडा दुःख हुआ। आखिर नरोत्तमदासजीकी आयु समाप्त हुई। वे गङ्गातट-पर मरे। मरते समय बोली बंद हो गयी। फिर तो ब्राह्मणोंकी एक बहुत बडी भीडने मजाक उडाना शुरू किया। कोई कहता—'बहुत ठीक हुआ, बडा भक्त बना था।' कोई कुछ कहता, कोई कुछ। उनका शरीर छूट गया, पर उनके ब्राह्मण शिष्योंको बडा दुःख हुआ। एक शिष्य बडा विश्वासी था। वह ब्राह्मण था। उसने मन-ही-मन प्रार्थना की—'गुरुदेव! एक बार जी उठिये तथा इन सभी ब्राह्मणोंका उद्धार करके जाइये।' उसकी प्रार्थना सच्चे हृदयकी थी। बिल्कुल जलानेकी तैयारी हो रही थी कि नरोत्तमजी धीरे-धीरे उठ बैठे और लगे हँसने। अब तो ब्राह्मणलोगोंका होश गुम हो गया, क्योंकि उन्होंने उन्हें बहुत गालियाँ दी थीं। आखिर एक-एक ब्राह्मणने आकर क्षमा माँगी और सब शिष्य हुए। सबने उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ली। इसके बाद सात दिनके

लगभग वे जीते रहे। अन्तिम दिन बोले—'मुझे गङ्गामें ले चलो। गङ्गामें जाकर खड़े हुए, शिष्योंसे कहा—'मेरा शरीर मलो।' शिष्योंने शरीर मलना शुरू किया। ऐसा मालूम हुआ मानो उनका शरीर दूधका पुतला था, पानीमें घुल गया।

१८. चार चीजें हैं, जो बिना श्रद्धाके भी काम देती हैं—(१)नाम (२) धाम (३) लीला (४) संत। इनमेंसे किसीके साथ प्राणकी बाजी लगाकर जुड़ जाय। नामसे जुड़े तो फिर ऐसा हो जाय कि प्राण छूटे, पर नाम नहीं छूटे। २. धामसे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि चाहे बम बरसे, व्रज-रजपर ही प्राण छोड़ेंगे; यहाँसे बाहर नहीं जायँगे। ३. लीलासे जुड़े तो ऐसा जुड़े कि इस जगत्‌को बिल्कुल भूल जाय—यहाँतक कि चर्म-चक्षुसे भी हर जगह लीला-ही-लीला देखे। ४. संतसे जुड़े तो ऐसा कि प्राण रहते तो अलग नहीं होऊँगा, मुर्दा शरीर ही अलग होगा। ऐसा होनेपर ही श्रीप्रिया-प्रियतमकी कृपा प्रकट होती है।

१९. भगवान् सबकी सँभाल करते हैं; फिर जो उनका हो गया है, उसकी करें—इसमें कहना ही क्या है। एक संतकी बात है। वे बदरीधाम जा रहे थे। रास्तेमें टट्टी लगने लगी। चालीस-पचास टट्टियाँ लगीं। अब साथियोंने तो उन्हें छोड़ दिया। वे विचारे एक रास्तेसे कुछ हटकर जंगलमें गुफामें जाकर पड़ रहे। दूसरे दिन एक बूढ़ा आया एक पुड़िया दवा और दही-भात लेकर। संतने दवा खा ली और दही-भात खा लिया। तीन-चार दिन वह रोज दवा और दही-भात लाता रहा और वे खाते रहे। तीन-चार दिन बाद उनके मनमें कौतूहल हुआ कि यह कौन है, अतः जब वह दही-भात लेकर आया, तब उन्होंने उससे पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'इससे तुम्हें मतलब? दवा ले लो, दही-भात खा लो।' संत बोले—'पहले बताओ कि तुम कौन हो।' वह बोला कि 'यह नहीं बताऊँगा।' बाबा बोले—'मैं भी दही-भात नहीं खाता।' उसने कहा 'मत खाओ' और यों कहकर वह लौटने लगा। पुनः कुछ देर बाद आया और बोला—'खा लो।' बाबा बोले—'बताओ।' आखिर वहीं उस बूढ़ेकी जगह भगवान् प्रकट हो गये। संत बोले—'महाराज! कुछ अनुमान हो गया था कि इस भयानक जगलमें आपके सिवा और कौन होगा। पर नाथ! क्या स्वयं आप इस प्रकारकी सेवा भी करते हैं?' भगवान्‌ने कहा—'जहाँ कोई होता है, वहाँ तो प्रेरणा कर देता हूँ; नहीं होता तो स्वयं आता हूँ।' यह सच्ची घटना है और कुछ ही समय पहलेकी बात है।

२०. दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं, वे भगवान्‌के बहुत ही विश्वासी थे, गाँवके जमींदार थे। एक साल अकाल पड़ा। कोठेका अनाज तो बाँट ही दिया, अपना मकानतक बेचकर गरीबोंको लुटा दिया। स्त्री-पुरुष पेड़के नीचे रहने लगे। उनका नियम था—एकादशीका उपवास करना, फिर द्वादशीके दिन ब्राह्मण-भोजन कराके तब पारण करना। एकादशीके दिन वे पंढरपुर जाया करते थे। इस बार भी गये, दर्शन किया, किंतु पासमें कुछ नहीं था। कुछ दिन पहले बहुत धनी थे, पर आज फूटी कौड़ी भी पास नहीं थी। लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले। एक पैसेकी फूल-माला ली, एक पैसेका प्रसाद चढ़ा दिया तथा एक पैसा दक्षिणामें दे दिया। दूसरे दिन लकड़ी बेचनेपर फिर तीन पैसे मिले। उनका आटा ले लिया, पर अब केवल आटेका निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ। दोपहर हो गया। एक-एक करके ब्राह्मण आते, पर खाली आटा देखकर अस्वीकार कर देते। अन्तमें भक्तदम्पति मनमें सोचने लगे—'प्रभो! मेरा नियम क्या आज भङ्ग होगा?' इतनेमें एक ब्राह्मण आया, जो अत्यन्त बूढ़ा था। बोला—'पटेल! बड़ी भूख लगी है।' उस बेचारेने लजाकर कहा—'महाराज! मेरे पास तो केवल आटा है।' ब्राह्मणने कहा—

'फिर क्या चाहिये । यहींसे थोड़े कंडे इकट्ठे कर लें । मैं बाटी बनाकर खा लूँगा ।' यही हुआ, बाटी बनने लगी । इतनेमें एक बुढ़िया आयी । ब्राह्मण बोले—'बड़ा अच्छा हुआ, पटेल, यह मेरी स्त्री है, हम दोनों प्रसाद पा लेंगे ।' पटेल लज्जित हो गये, सोचने लगे—'एक आदमीके लिये भी आटा पर्याप्त नहीं है, दो कैसे जीमेंगे ।' पर भगवान्‌की लीला थी, बाटी बनायी गयी और ब्राह्मणने कहा—'एक पत्तल तुम अपने लिये भी ले लो ।' पटेल बड़े विचारमें पड गये । अन्ततोगत्वा बहुत कहने-सुननेके बाद ब्राह्मण-ब्राह्मणी जीमने लगे । कुछ खाकर अन्तर्धान हो गये । पटेल बड़े चकित हुए । प्रसाद पाकर मन्दिरमें दर्शन करने गये, वहाँ भगवान् प्रत्यक्ष चिन्मय रूप धारणकर बात करने लगे । बहुत बातें हुईं । अन्तमें भगवान् बोले—'भाई! हमें ऐसी ही बाटियाँ खानेमें आनन्द आता है ।' पटेलने पूछा—'महाराज ! तब क्या आप बड़े-बड़े यज्ञोंमें नहीं जाते ?' भगवान्‌ने कहा—'वे लोग हमको खिलाना ही नहीं चाहते ।' पटेलसे भगवान्‌ने फिर कहा—'कल तमाशा देखना, उसी ब्राह्मणके वेशमें मैं कल अमुक जगह जाऊँगा, देखना, मेरी कैसी पूजा वहाँ होती है ।'

एक बहुत बड़े धनीके यहाँ यज्ञ था । हजारों ब्राह्मणों-का निमन्त्रण था । ठीक जीमनेके अवसरपर वे ही बूढ़े बाबा पहुँचे और बोले—'जय हो दाताकी ! एक पत्तल हमें भी मिल जाय । बहुत भूखा हूँ ।' लोगोंने पूछा—'आपको निमन्त्रण मिला है ?' ब्राह्मण बोले—'निमन्त्रण तो नहीं मिला, पर हूँ बहुत भूखा, बड़ा पुण्य होगा ।' ब्राह्मणकी एक बात भी उन लोगोंने नहीं सुनी । आखिर ब्राह्मण जबर्दस्ती एक पत्तल लेकर बैठ गये । अब तो बनिक बाबूके क्रोधका पार नहीं रहा । उन्होंने हाथ पकड़कर ब्राह्मणको निकलवा दिया । पटेल देख रहे थे । बूढ़े ब्राह्मण पटेलको इशारा करके कह रहे थे—'देखा—हमारा सत्कार कैसा होता है ?' फिर कहा—'अब देखो, क्या होता है ।' उसी समय बहुत जोरकी आँधी आयी, बड़े-बड़े ओले गिरने लगे । सारा यज्ञ नष्ट हो गया । एक ब्राह्मण भी भोजन नहीं कर सका । कथा बहुत विस्तारसे एवं बहुत लंबी है । सारांश यह कि किसी भी दुखीको देखकर उसमें विशेष रूपसे भगवान्‌को देखना चाहिये ।

२१ असलमें तो आर्त्त भक्त, अर्थार्थी भक्त भी बनना बडा कठिन है । कोई सच्चा आर्त्त, सच्चा अर्थार्थी हो जाय, तब तो फिर क्या पूछना । उसका दुःख भी मिट जाय एवं भगवान्‌को पाकर वह कृतार्थ भी हो जाय—इसमें तनिक भी सदेह नहीं है । आर्त्त भक्त हो चाहे अर्थार्थी, उसमें अनन्यनिष्ठा होनी ही चाहिये । अनन्यनिष्ठाका अर्थ यह कि और सभीपरसे—सभी साधनोंपरसे भरोसा उठाकर मनमें यह निश्चय कर ले कि 'मेरा यह काम तो भगवान् ही पूरा करेंगे ।' मान लें हमें कोई बीमारी है । अब यदि ठीक-ठीक मनमें यह निश्चय हो कि यह बीमारी प्रभुसे ही दूर करवानी है तो फिर निश्चय मानिये प्रभु उसे दूर कर देंगे । पर यदि कोई कहता है कि 'प्रभु तो दूर करेंगे ही, पर निमित्त तो दवा बनेगी ।', तो समझ लीजिये कि असलमें उसका विश्वास भगवान्‌पर नहीं है, विश्वास दवापर है । फिर भगवान् भी जब अच्छा करेंगे, तब सीधे जादूकी तरह नहीं करेंगे, किसी दवासे ही करेंगे । ऐसा न होकर यदि यह धारणा कर लें कि दवासे क्या होगा, प्रभु अच्छा करेंगे, तो सच मानिये बिना दवाके कठिन-से-कठिन रोग—जिसका अच्छा होना असम्भव मान लिया गया है अच्छा हो सकता है और एक क्षणमें ऐसा हो सकता है मानो उस बीमारीका कोई चिह्न भी नहीं रह गया हो—मानो वह बीमारी कभी हुई ही न थी ।

इसी प्रकार अर्थार्थी भक्त भी भगवान्‌की कृपा पाकर एक क्षणमें निहाल हो सकता है तथा एक क्षणमें एक अत्यन्त दरिद्रको अरबपति, असख्यपति भगवान् बना सकते हैं । कोई कहे कि 'मैं धनके लिये भजन

करता हूँ' तो उसे सोचना चाहिये कि मेरी निष्ठा भगवान्पर है या नहीं। यदि निष्ठा है तो उसकी यह पहचान है। कोई उसे आकर यह कहे कि 'हम गारंटी करते हैं—तुम यह सौदा कर लो, तुम्हें जरूर लाख रुपये मिल जायँगे। नहीं मिलें तो मैं लाख रुपये तुम्हें अपने पाससे दूँगा।' इसपर भी यदि उसका मन डिगे तथा वह यह नहीं करके भजन ही करता रहे, तब वह सच्चा अर्थार्थी भक्त है और उसके लिये फिर भगवान् अपना सम्पूर्ण भंडार खोलकर उसे निहाल कर देंगे। आजकल लोग भजन तो करते हैं, दो-चार माला जपते हैं, पर साथ ही सौदे-सट्टेमें भी रुपया लगाते रहते हैं। यह अर्थार्थी भक्तका लक्षण तो है नहीं। इसी कारण आजकल न तो आर्त्त भक्तके लिये जादूका-सा खेल भगवान् करते हैं और न अर्थार्थीको ही जादूकी तरह कोटिपति बनाते।

२२. भगवान्से सच्चे मनसे प्रार्थना कीजिये—'मेरे नाथ! यदि आप हमें इसी गिरी अवस्थामें देखना पसंद करते हैं, इस प्रकारसे निरन्तर हमारे मनमें अशान्ति बनी रहने देनेमें ही आपका चित्त प्रसन्न होता है—बार-बार मेरे सामने आप आते हैं और आपका मैं तिरस्कार कर देता हूँ, यदि इसी घृणित अवस्थामें मुझे रखकर आप प्रसन्नताका अनुभव करते हैं तो फिर आपकी इच्छा करते पूर्ण हो, नाथ! क्योंकि आप यदि ऐसा चाहते हैं तो इसीमें मेरा परम मङ्गल है। पर यदि ये सब दोष मेरी कमीके कारण होते हों— मेरी तत्परताकी कमीके कारण, मेरे अविश्वासके कारण होते हों, तो प्रभो! अब बहुत हो चुका नाथ! अब कृपा करके इसी क्षण इन्हें मिटा दो। मैं अबोध हूँ, अज्ञानी हूँ, पतित हूँ, मुझे पता नहीं कि मेरे मनमें ये दोष किस कारणसे होते हैं। इनके मिटनेका जो उपाय सुनता हूँ, उसका आचरण भी मुझसे नहीं होता—क्यों नहीं होता, इसका कारण भी मैं नहीं जानता। अतएव हे दयाके सागर! अब मेरी ओर निहारो और फिर जो उचित हो, करो। शान्ति यदि मेरी कमीके कारण मुझे नहीं मिल रही है तो फिर मेरी उस कमीको मिटा दो, इसी क्षण मिटा दो और यदि तुम्हारी इच्छासे शान्ति नहीं मिल रही हो, तब तो मुझे कुछ कहना है ही नहीं; यह अशान्ति ही मेरा परम प्रिय धन है—मैं ऐसा अनुभव करने लगूँ; क्योंकि तुम मेरे स्वामी हो, तुम्हारा मुझपर पूर्ण अधिकार है। मैं तुम्हारी वस्तु हूँ, तुम जैसे रखना चाहो, वैसे ही रक्खो।'

यह है प्रेममिश्रित भावकी प्रार्थना। यह नहीं हो। और शान्ति चाहिये—जैसे भी हो, शान्ति मिलनी चाहिये, तो फिर यह कामना सीधे शब्दोंमें करके यही माँगना चाहिये कि 'हमको शान्ति दो, हे नाथ! शान्ति चाहिये, शान्ति दो।' शान्ति पानेके लिये यही सर्वोत्तम उपाय मैं जानता हूँ, करता हूँ। वही मैंने आपको भी बतला दिया।

२३. यदि उनपर विश्वास न होता हो तो यह भी उन्हींसे कहिये, उन्हींसे पूछिये—'नाथ! कहाँसे विश्वास लाऊँ? पैसेसे खरीदनेकी चीज तो यह है नहीं, तुम कह सकते हो, उपाय बतलाता हूँ उसे करो। पर नाथ! उपाय पता नहीं क्यों, मुझसे नहीं होते। सुन लेता हूँ, यत्किंचित् करनेकी भी चेष्टा करता हूँ; पर वे मुझसे हो नहीं पाते, ठीक मौकेपर मैं फेल हो जाता हूँ। अब तुम्हीं बताओ नाथ! क्या करूँ? यदि तुम कहो कि काम, क्रोध, लोभको मेरे बलपर डाँटो तो नाथ! मेरा आपके बलपर यथार्थ विश्वास ही नहीं होता। क्या करूँ?'

२४ सोचकर देखिये, हृदयकी बात किससे कहें? कौन ऐसा है, जो सर्वसमर्थ है और हमारी सहायता कर सकता है? तो यही उत्तर मिलेगा—एकमात्र प्रभु ही ऐसे हैं। उनमें शक्तिकी कमी नहीं। वे हमारे मित्र भी हैं तथा उन्हें हमारी इस घृणित दशाका पूरा-पूरा

पता भी है। फिर उनको छोड़कर और किसकी शरणमें जायँ? सूरदासने गाया है—'तुम तजि और कौन पै जाऊँ?' काम, क्रोध, लोभसे तंग आकर कहिये—काम, क्रोध, लोभ—ये तीनों, क्या नाथ! आपसे अधिक शक्तिशाली हैं? नहीं हैं, आपको यह पता भी है कि इसको ये तंग करते हैं, आप मेरे मित्र भी हैं तथा आपमें इन्हें मार डालनेकी शक्ति भी है—फिर मेरी ऐसी घृणित दशा क्यों है? नहीं जानता। तुम्हीं जानो।' सार बात यह है कि किसी प्रकार भगवान्‌से जुड़िये, चाहे सकाम भावसे ही सही।

२५. पार्वतीजीने पूछा—मुझे श्रीकृष्णकी महिमा कुछ बताइये। शंकरने कहा—'देवि! जिसके चरण-नखकी महिमाका वर्णन असम्भव है, उसकी महिमा क्या बताऊँ।' फिर बोले—'सुनो—प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक मैं—शङ्कर रहता हूँ। हम तीनोंके तीनों उन श्रीकृष्णकी कलाके करोड़वें अंशसे उत्पन्न होते हैं। इतने तो वे प्रभावशाली हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक कामदेव रहता है। वह इतना सुन्दर है कि समस्त ब्रह्माण्डको मोहित किये रहता है। पर उसमें जो सुन्दरता है, वह श्रीकृष्णकी सुन्दरताका करोड़वाँ-करोड़वाँ अंश है। वे इतने सुन्दर हैं। उनके शरीरसे इतना तेज, इतनी चमक निकलती है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जितने सूर्य हैं, सब-के-सब उस चमकके करोड़वें अंशसे प्रकाशित होते हैं! उनमें श्रीकृष्णकी अङ्ग-प्रभाके करोड़वें अंशसे प्रकाश आता है। जगत्‌में जितनी मनको मोहनेवाली सुगन्धियाँ हैं, सुगन्धित फूल हैं, सबमें श्रीकृष्णके अङ्ग-गन्धके करोड़वें अंशसे गन्ध आती है। और बहुत-सी बातें बतायी हैं—वे सब कविकी कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य हैं। तथा सचमुच ही किसीको श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्यपर विश्वास हो जाय तो फिर उसको जीवनमें केवल श्रीकृष्णकी ही चाह रहेगी, बाकी चाहें सब मिट जायँगी।

२६. आप सात बातोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगाकर चेष्टा कीजिये। प्रेम उत्पन्न होनेके पहले ये सात बातें अवश्य हो जाती हैं, तब प्रेम प्रकट होता है। नहीं तो, आप हों या कोई हो, रास्ता तय करना बड़ा ही कठिन है।

> प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ ले जाय॥

—यह बिल्कुल सत्य है। बहुत बात कर लेंगे, लीला भी सुन लेंगे, लाभ भी थोड़ा होगा ही, पर इन सातके आये बिना वास्तविक प्रेम प्रकट ही नहीं होता। यह ठीक है कि पूर्णरूपसे ये सात बातें तो तभी होती हैं, जब भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है, पर उसके पहले साधकको चाहिये कि वह इनको अपने अंदर पूरी-पूरी उतारनेके लिये सम्पूर्ण प्रयत्न करे। वे बातें ये हैं—

(१) शान्ति रखना—इसके लिये दृष्टान्त शास्त्रमें आता है कि राजा परीक्षित् बिना अन्न-जलके सात दिन कथा सुनते रहे, पर उनमें शान्ति इतनी थी कि अन्न-जल उन्हें याद ही न आता था।

(२) भगवान्‌के भजनके सिवा और किसी काममें समय बिल्कुल नहीं लगाना।

(३) संसारके समस्त भोगोंसे ऐसा वैराग्य हो जाय कि वे विष्ठा-से दीखने लग जायँ। जिस प्रकार विष्ठाको देखकर घृणा होने लगती है, मुँह-नाक बंद करके हम चलते हैं कि कहीं दुर्गन्ध न आ जाय, ठीक उसी प्रकार समस्त भोगोंसे आन्तरिक घृणा हो जाय।

(४) मनमें अपने अंदर मानका बिल्कुल भाव ही न रहे। शास्त्रमें दृष्टान्त आता है कि राजा भरत जब प्रेमके लिये व्याकुल हुए, तब वे इतने अधिक मानशून्य हो गये थे कि राज्य करते समय जिन-जिन राजाओंपर

विजय प्राप्त की थी, जिन-जिनसे शत्रुता थी, उन्हींके घरमें जाते थे और उनकी दी हुई रोटीके टुकड़े माँग-माँगकर पेट भरते हुए भजन करते थे—और अपने शत्रुको ही नहीं, वरं चाण्डालकको प्रणाम करते थे।

(५) दिन-रात मनमें यह विश्वास, यह भरोसा बढ़ता रहे कि मुझे श्रीकृष्ण अवश्य-अवश्य मिलेंगे। यह विश्वास मनसे एक क्षणके लिये भी दूर न हो।

(६) निरन्तर नामका गान अतिशय प्रेमसे हो, भाररूपसे नहीं—मालाकी संख्या पूरी करनेके लिये नहीं, बल्कि नाम इतना प्यारा लगे कि प्राण भले छूट जायँ, पर नाम नहीं छूटे।

(७) जहाँ-जहाँ भगवान्की लीलाएँ हुई हैं, उन स्थानोंमें अतिशय प्रेम हो।

ये सात बातें तो धारण करनेकी हैं और चार बातें विघ्नरूप हैं, जिनसे बचनेकी चेष्टा प्राणोंकी बाजी लगाकर करनी चाहिये। ये चार बातें ही प्रेमकी प्राप्तिमें बाधक होती हैं। जहाँ ये छूटीं कि बस, प्रेमका रास्ता बड़ी शीघ्रतासे तय होने लगता है। इनको शास्त्रमें 'अनर्थ' कहते हैं, जो असलमें भगवान्से हटाते रहते हैं। वे चार ये हैं—

(१) दुष्कृतजात अनर्थ—अर्थात् पूर्वजीवनमें तथा इस जीवनमें आपने जो-जो बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार मनपर जमा रहते हैं और वे बार-बार बुरे कर्मोंकी स्फुरणा कराकर साधकको घसीट ले जाते हैं। अब पहले जो हो चुके, उनके लिये तो क्या किया जाय, पर अब यह पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बुरे कर्म हमारे द्वारा भूलसे भी कभी न हों। झूठ-कपट आदि सभी बुरे कर्म मार्गसे बहुत दूर हट जायँ।

(२) सुकृतजात अनर्थ—आपने जो पूर्वजीवनमें एवं इस जीवनमें पुण्य किये हैं, उनके फल आकर बाधा डालते हैं—जैसे पुण्यके फलसे आपको धन-मान प्राप्त हो गया है जो आपके मार्गमें बाधा दे रहा है। इससे बचनेका उपाय यह है कि सच्चे मनसे भगवान्को अपने सब पुण्य समर्पण कर दिये जायँ तथा भीतरी हृदयसे उनका फल नहीं चाहा जाय।

(३) अपराधजात अनर्थ—दस प्रकारके नामापराध एवं चौंसठ प्रकारके सेवापराधोंसे जहाँतक हो बचना चाहिये। ये इतने भयानक दोष हैं कि बहुत ऊँचे उठे हुए साधकोंको भी नीचे गिरा देते हैं। इनसे बचनेका उपाय है— सच्चे मनसे भगवान्से प्रार्थना करना कि 'हे नाथ! मुझे अपराधसे बचाओ' तथा जान-बूझकर कभी अपराध न करनेकी पूरी चेष्टा करना। अबतक बहुत अपराध हो चुके हैं और अब भी होते हैं, इसीलिये रास्ता रुक रहा है।

(४) भक्तिजात अनर्थ—यह विघ्न आपको कम सतायेगा, यह हमारे-जैसे संन्यासी तथा साधकोंको बहुत तंग करता है। यह है भक्ति करके उसके द्वारा सम्मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा चाहना। इससे भी मार्ग रुक जाता है। इन चारों अनर्थोंसे बचते हुए उपर्युक्त सातोंको धारण करनेकी चेष्टा करें। खुशामदकी बात दूसरी है, पर सच बात तो यह है कि रास्ता तय करना हो तो फिर ये काम अवश्य कीजिये। मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, मैं आपसे जो बातें कहूँगा, उनसे मेरा तो लाभ ही होगा। पर आपका रास्ता मेरी समझसे तो तभी तय होगा, जब कि आप कमर कसकर चलनेके लिये तैयार हो जायँगे।

धन, स्त्री, शरीरका अभिमान रत्ती-रत्ती चूर हुए बिना रास्ता कटेगा नहीं। खूब तेजीसे चलिये, नहीं तो मर जाइयेगा। मरते समय चित्तकी वृत्ति जहाँ रहेगी, वहीं आप चले जायँगे। मकान, रुपया, धन, परिवार, मान-बड़ाई—सब-के-सब या तो आपको पहले ही छोड़ देंगे या आप इनको छोड़कर चले जायँगे।

विष्ठा-मूत्रसे भरा हुआ यह शरीर मिट्टीमें मिल जायगा। इसे जानवर खा जायँगे तो यह विष्ठा बन जायगा। जलाया जायगा तो इसकी राख हो जायगी और गाड़ दिया गया तो सड़कर कीड़ोंके रूपमें परिणत हो जायगा। इसके आगमकी तथा विलासकी चिन्ता छोड़िये।

ये बातें केवल सुननेकी नहीं है, करनेसे होगा। बड़ी तत्परतासे करनेपर होगा। नहीं तो सुनते रहिये—न शान्ति मिलेगी, न दुःख मिटेगा। प्रेम तो कहाँसे मिलेगा!

आप नित्य ये सब बातें सुनते हैं, पर फिर भी रुपये एवं परिवारकी ममता तथा अभिमान नहीं मिटते। इसका अर्थ यह है कि अभी आप रास्तेपर चलनेके लिये तैयार नहीं हैं। यदि प्रत्येक बार आप मनको दण्ड देने लगें तो फिर मन सीधा हो जाय।

सत्सङ्ग

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

सत्यं परं धीमहि—अहिंसा परमो धर्मः।

प्राणी कर्म करता है और उसके फलस्वरूप भोग-प्राप्तिकी इच्छा करता है। प्राणिमात्र सुखके लिये भोगकी इच्छा करते है। इसके लिये कर्मफलका त्याग करना चाहिये, भोगमें सुखबुद्धिका त्याग करना चाहिये, जगत्के प्राणी-पदार्थसे मुझे सुख होगा—इस बुद्धिका त्याग करना चाहिये। नौकरी करनेवाला नौकर कर्म करता है, वह वेतनकी इच्छा करता है—यह बन्धन नहीं है; व्यापारी माल देकर कीमत माँगता है, यह बन्धन नहीं। परतु जीवमात्र अमुक वस्तु मुझे मिले तो मैं सुखी बनूँ और अमुक बातसे मैं दुखी हूँ, इस भावनाको छोड़ दे। मैं शरीर या जीव हूँ, यह भावना छोड़े बिना तथा मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, परम सुखका धाम हूँ—इस भावनाके जागे बिना कभी सुख नहीं होगा। इसलिये बार-बार मै आत्मस्वरूप हूँ, ऐसी भावना करे। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं, ज्ञान-जैसा पवित्र कुछ नहीं। जगत्को देखते समय इच्छाकी अनेक तरङ्गे चित्तमें उठती हैं। उनका शमन करनेवाला ज्ञान है। तप, दान, व्रत, नियम आदि साधनोंसे इच्छाका सम्पूर्णतया शमन नहीं होता। योगसे भी शमन नहीं होता। ये सब यदि निष्काम हों तो ज्ञान पैदा करते हैं और ज्ञानसे इच्छाका शमन होता है। इसलिये भोग-त्यागके इच्छुक, आत्यन्तिक शान्ति, मोक्षके इच्छुक, अखण्ड सुखके इच्छुकको बारंबार भावना करनी चाहिये कि मैं नित्य हूँ, मुक्त हूँ, अविकारी हूँ, असङ्ग हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ और जगत् बाजीगरके खेलके समान मिथ्या है। समझदार आदमी मदारीके खेलमें दिखाये जानेवाले आमके फलकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानी जगत्के मिथ्या पदार्थोंसे सुखकी आशा नहीं रखता।

ज्ञानका वास्तविक उदय हुए बिना पूर्ण शान्ति नहीं होती, इच्छाओंका शमन नहीं होता। इच्छाओंके शमनके लिये ऊपर श्रेष्ठ उपाय बतलाये गये है। दूसरा उपाय यह है कि मनको—जो अनेकों इच्छाएँ करता है, तप, व्रत-नियम, भक्ति, ध्यान, दान आदिमें लगाये और यह इच्छा करे कि इन सबका फल मुझे मुक्ति मिले।

सहवाससे इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। मुमुक्षु जगत्की क्रीडाका सङ्ग छोड़े। हम जैसे बनना चाहते हैं वैसे बने हुए पुरुषोंका सङ्ग करनेसे वैसे बन सकते हैं। इसलिये जो शान्त, इन्द्रिय-निग्रही, ज्ञानी, भक्त, दयालु और वासनामात्रसे मुक्त पुरुष हो या उस मार्गपर चलनेवाला हो, उसका सङ्ग करे। तैरनेवालेके सङ्गसे मनुष्य पार जा सकता है, डूबतेका सङ्ग करनेसे डूबता है। इसलिये अपनेसे श्रेष्ठका सङ्ग करे।

मनुष्यकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वह बनता है । चित्त एक ऐसी वस्तु है कि वह जो दृढ़ भावना करता है, वैसा ही अपनेको देखता है । 'आत्मा सत्यस्वरूप है' यह भावना वारंवार करनेसे समय आनेपर आत्माको वैसा देखता है ।

सांसारिक वासनावाले जीवके लिये सम्पूर्ण सङ्गत्याग करना शक्य नहीं है । जब-जब प्रसङ्ग पड़े, तब-तब उपयोगके अनुसार अपना काम निकालने भरतक सङ्ग करे और उसमें भी यदि वह वासनावाला पुरुष भोग-सम्बन्धी बातोंमें उतरे तो वहाँसे चलना बने । उदाहरणके लिये एक व्यसनी है, वह आफिसमें अपने साथ ही क्लर्कका काम करता है । उसके साथ आफिसका काम करनेमें दोष नहीं है । परंतु जब वह होटलमें जानेका विचार करे, तब उसके साथ न जाय । इसी प्रकार संसारमें लीन सभी जीवोंके विषयमें समझना चाहिये । इच्छा जीतना कठिन है । एक ऋषि यमुनाके जलमें बैठकर जप, तप, ध्यान करते थे । ब्रह्मचारी थे, कई घंटे वे बैठ सकते थे और इच्छानुसार जीनेकी शक्ति उनमें थी । मछलियोंकी क्रीडा देखकर उन्हें व्याह करनेकी इच्छा हो गयी । उनमें नाना रूप धारण करनेकी सिद्धि थी, फिर भी वे भोगेच्छाका त्याग नहीं कर सके । यह सङ्गका फल है । इसलिये दृष्टिसङ्गका त्याग करे । इसका उपाय यह है कि रास्ता चलते जमीनपर दृष्टि रखकर चले । मनुष्यकी दृष्टि सहज ही स्त्रीके ऊपर ठहर जाती है, इसलिये यदि उसपर दृष्टि पड़े तो तुरंत उसे हटा ले, ठहरने न दे । स्त्रियोंमें बैठना पड़े तो आँखें मूँदकर बैठे । एक पुरुषको स्त्री न थी । वे एक विधवा और उसकी लड़कीके साथ रहते थे, कुछ दिनोंतक मुझे उनके साथ रहनेका काम पड़ा । वे जब घरमें बैठते, तब आँखें बंद ही रखते । आँखें मूँदकर बैठनेमें बहुत लाभ है, भोग-वासनाका जहर मुख्यतया मनुष्यपर आँख और कानके द्वारा चढ़ता है । कानकी अपेक्षा भी आँख अधिक बलवती है । परस्त्रीके साथ कभी एकान्त-सेवन न करे—बातचीत, हास्य-विनोद न करे । जब परस्त्रीके साथ कोई काम आ पड़े तो उसको मा-बहिन कहकर बारबार सम्बोधन करे । परमात्मासे यही प्रार्थना नित्य करे कि 'हे प्रभु ! अपनी मायासे तुम मुझे बचाना ।' मनुष्य अपनी शक्तिसे कभी भोग-वासनाका त्याग नहीं कर सकता । ईश्वरकी शरण ले ले तो उसकी दयासे वह वासनामुक्त हो सकता है । इसलिये भोगवासना त्यागनेमें जैसे ज्ञान साधन है, वैसे ही भक्ति तथा परमात्माकी शरण भी साधन है । इस साधनसे परमात्मा उसे ज्ञान देता है, उसको डूबनेसे बचाता है । महाराज पाण्डु जानते थे कि भोगसे उनकी मृत्यु होगी । माद्रीने उनको मना किया, परतु वे भोगेच्छा छोड न सके और मृत्युको प्राप्त हो गये । भोगवासना छोडना कठिन है, जो ज्ञानका दम्भ करके भोग छोड़नेकी बातें करता है, वह मूर्ख है, ठग है । उसके हृदयमें भोगका रस और उसकी स्मृति वर्तमान है ।

भोगमें सुख नहीं है । सुखके बदले दु.ख है । विचार करनेपर यह बात समझमें आती है तथा शास्त्र और संत ऐसा कहते हैं । फिर भी उसकी इच्छा छूटती नहीं । जीवके अनेक जन्मोंके संस्कारके कारण ऐसा होता है । योगी भी इससे नहीं बचे । इसके अमोघ उपाय हैं ज्ञान, विचार, भक्ति, परमात्माकी शरण और जहाँतक हो सके, सङ्गका त्याग ।

भोग-त्यागके लिये, इच्छाओंको—चाहे वे बडी हों या छोटी—कम करनेका अभ्यास करे । जिसके बिना चल सके, वह वस्तु पास हो या सुलभ भी हो तो भी उसको न भोगे । मन यदि इच्छा करे तो उससे पूछे कि इसकी क्या आवश्यकता है ? जीवनयात्रा मात्रकी इच्छा मनकी स्वीकार करे, शेष मनकी तरङ्गोंको काटता ही जाय । मन मूर्खका बिगडा और स्वतन्त्र हुआ मन्त्री है । वह आत्माको नचाता है । इस मनको अब वशमें करना है । धीरे-धीरे कुछ शिक्षासे, कुछ समझा-बुझाकर, कुछ उसका कहना करके इस बिगड़े हुए मनको वशमें करनेका यत्न करना चाहिये ।

भोग-वासनाके त्यागमें भोजनका मुख्य स्थान है । इसलिये उन्मादकारी भोजन न करे । ऐसा भोजन इन्द्रियों और मनको मथ डालता है । जैसे सङ्ग इच्छा उत्पन्न करनेमें कारण है, वैसे ही खान-पान पैदा हुई इच्छाको बढ़ानेमें कारण है । खान-पान और सङ्ग—इन दोनोंके भोग-वासनाके त्यागमें परहेजका सयम रूपमें सहायक हैं और ज्ञान, भक्ति, विचार, परमात्माकी शरण, एकान्त, सत्सङ्ग और वैराग्य—ये औषधरूप हैं । रोग मिटानेमें औषध और परहेज दोनों जरूरी हैं । पड़ी हुई टेव सहज ही छूटती नहीं, इसके लिये धीरे-धीरे सतत प्रयत्न आवश्यक है ।

एक मनुष्य व्यसनी या विषयी है, उसे उस व्यसन या विषयको छोड़ना है । वह पहले सप्ताहके सात दिनोंमें किसी एक दिन उसके त्यागका नियम ले ले और उस नियमका भङ्ग हो तो उपवास करनेका दण्ड रक्खे तथा उस उपवासके दिन विशेष प्रभु-प्रार्थना करे । जैसे-जैसे वह त्याग-दिवस सिद्ध होता जाय, वैसे-वैसे उसको बढ़ाता जाय । इस अभ्याससे वासना क्षीण होती जाती है । सारे व्यसनोंका पूर्ण त्याग ही आवश्यक है । स्त्रीमें पूर्ण विषय-त्याग तबतक कठिन है, जबतक मनुष्य किसी विशेष कार्यमें पूरा नहीं लग जाता । फिर भी स्त्री और पुरुष दोनों एक साथ ईश्वरके मार्गपर चलें तो वह सुलभ हो सकता है ।

पुरुषकी अपेक्षा स्त्री विषय-त्यागकी इच्छा करे तो वह दृढ़ रहती है । निश्चय करनेके बाद स्त्री प्राय डिगती नहीं । तप, व्रत-नियम आदिमें स्त्रियाँ पुरुषकी अपेक्षा दृढ़ निश्चयवाली और बलवान् होती हैं । सहन करनेमें स्त्रियाँ बढ़ जाती हैं । अपनी स्त्री विषयपर विजय प्राप्त करनेके लिये किला है । स्त्रीके सङ्गमें रहकर, यानी स्त्रीका एक-बारगी त्याग न करके धीरे-धीरे भोग-त्याग करना बहुत सुलभ है । देवता तथा ऋषि-मुनि स्त्रीसहित रहते सुने गये हैं । जब अपनी भोग-वासना शिथिल पड़ जाती है, तब स्त्रीका साथ परमार्थके मार्गमें बहुत ही सहायक होता है । भोगका यथार्थ विचार करनेसे भोगेच्छाका शमन होता है । सारे ब्रह्माण्डके जीव मुख्यत: जिह्वा और उपस्थके भोगके पीछे पागल हैं । जिह्वाभोगका अर्थ है—विविध पदार्थोंको विष्ठारूप या मांसरूप बना देनेकी क्रिया । अनेक जन्मोंतक भोजन किया, अनेकों पदार्थ खाये, पर तृप्ति नहीं । मनुष्य भोजन करता है और खा लेनेपर उससे ऊब जाता है । यदि खानेवाला सच्चा हो और खानेका पदार्थ सच हो तो उससे खानेवाला तृप्त हो जाय । परंतु भोक्ता और भोग्य दोनों ही विलक्षण हैं, तब तृप्ति कैसे हो । जीवित मनुष्यका लकड़ीके बनावटी आमसे किस प्रकार पेट भर सकता है ?

अपना जीवन भोजन और भोगमें नष्ट हो जाता है, सारे जीवनमें हम दूसरा क्या काम करते हैं ? रात-दिन हम काम करते है । सवेरेसे रातके दस बजेतक औरतें काम करती हैं और भोजन बनाने, पानी भरने, अनाज सँवारने, भोजन कराने-करने तथा घर-बासन साफ करनेमें काल-यापन करती हैं । जिह्वापर स्वाद तो उतनी ही देरका है, जितनी देर वह पदार्थ जीभपर है । फिर तो वह विष्ठा बन जाता है । एक पलके झूठे स्वादके लिये स्त्रियोंको सारा दिन पूरा कर देना पड़ता है । यदि जीवन चलानेमात्रके लिये ही भोजन होता तो पाव-आध घटा एक समय भोजनके लिये बस था, शेष समयमें परमार्थ-साधन होता । मनुष्य खानेके पदार्थोंके लिये ही धधा या नौकरी करता है न ? जीवन टिका रहे, इसके लिये तो बहुत थोड़े पदार्थोंकी अपेक्षा है । उसके लिये इतना अधिक श्रम होता ही नहीं । हम तो मोहके पीछे मरते हैं । मनकी इच्छाएँ कभी पूरी होनेकी नहीं हैं, उनको जबतक कम नहीं किया जायगा, तबतक प्रतिदिन अनेकों भोग भोगनेपर भी, मन ऐसा अभागा है कि वह अतृप्त ही रहेगा । तृप्ति, सतोष, अप्राप्तकी अनिच्छा, प्राणी-पदार्थसे सुख-बुद्धिका त्याग हुए बिना कभी शान्ति हो नहीं सकती । सुख उसका नाम है, जिसमें श्रम न हो । शरीरका मुख्य अङ्गप्राण है । जिह्वा और उपस्थके भोगमें प्राणको दूसरे प्रत्येक श्रमकी अपेक्षा

अधिक श्रम करना पड़ता है। इन दोनों भोगोंमें प्राणका क्षय अधिकाधिक होता है। प्राण जीवका प्यारा धन है, जगत्‌के सारे धनोंकी अपेक्षा बढ़कर है। ऐसा अमूल्य धन इन दोनों भोगोंमें अधिकाधिक नाशको प्राप्त होता है। फिर भी हम कहते हैं कि इनसे मुझको सुख होता है। यह हमारी मूर्खता है। विषय-भोगमें इकट्ठे हुए वीर्यका नाश और पतनके सिवा और क्या विशेषता है? जैसे प्राण जीवनका आधार है, वैसे वीर्य शरीरका आधार है। इस वीर्यको हम भोगमें—क्षणिक भोगमें नाश कर देते हैं। सारा जीवन जीभ और उपस्थके भोगमें नष्ट करते हैं। रात-दिन श्रम, नींद—किसीकी भी परवा न करके झूठ, कपट, चोरी, जुआ आदि अनेक कुकर्म करके इन दोनों भोगोंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते रहते हैं और जीवनके सच्चे साधनका नाश करते है। फिर भी हम बुद्धिमान् कहलानेका दम भरते हैं। ये बातें संक्षेपमें लिखी गयी हैं। ये सच्ची बातें हैं, कविकी कल्पना नहीं हैं। विचार करनेपर इनका तथ्य ज्ञात हो जायगा, इनका बारबार विचार करनेसे भोग-वासना शान्त होती है।

सुख उसका नाम है, जिसके भोगमें थकावट न हो, अरुचि न हो, अभाव न हो। चाहे जितना स्वादिष्ट भोजन हो, पेट भरते ही हमारी उसके प्रति अरुचि हो जाती है। हम उससे ऊब जाते है। उसको खाने-पचानेमें हम थक जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जिह्वा-रसमें सुख नहीं है। विषय-भोगमें वीर्य गिरते ही हम श्रमित हो जाते हैं। शरीर मलिन और मुख निस्तेज हो जाता है। उसके बाद चाहे-जैसी सुन्दरी स्त्री हो, अनुकूल सम्भोग हो, हमको वह आकर्षक नहीं लगती। इससे जान पड़ता है कि विषय-भोगमें सच्चा सुख नहीं है।

आत्म-सुख ऐसा है, जिसमें लगनेपर हम उसे छोड़ ही नहीं सकते, उसमें हमको रस मिलता है। उसका हमको व्यसन पड़ जाता है। उससे हम ऊबते नहीं, थकते नहीं। इसके विपरीत जीवन, चेतना, शक्ति, स्फूर्ति और आनन्दका अनुभव होता है। आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है, सुखस्वरूप है। चित्तमें इच्छा उत्पन्न होनेके पहले चित्त सुखस्वरूप ही होता है। जगत्‌में श्रम सुखके लिये नहीं। श्रमके बिना भी चित्त सदा सुखरूप है। जब इच्छा होती है, तब उससे श्रम होता है और उससे दु:ख होता है। सुखके लिये श्रमकी अपेक्षा नहीं है। दु:खके लिये ही श्रमकी आवश्यकता है। सुख तो नित्य सुप्राप्त है। इच्छाएँ मनमें न उठें तो बस, अखण्ड सुख है। इच्छा उत्पन्न होनेके पहले चित्तमें इच्छाका अभाव ही रहता है। मैं सुखस्वरूप हूँ, आनन्द-स्वरूप हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, जन्म-मरण-रहित हूँ, अविकारी हूँ, आशा-तृष्णासे रहित हूँ—यह भावना नित्य करे।

प्राणी जो कुछ भी करनेके लिये आग्रह करता है, वह दु:खके लिये ही है। सुखके लिये इच्छा-त्यागके सिवा और कुछ करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। जिस प्रमाणमें इच्छाका त्याग होता है, उसी प्रमाणमें तुरत सुखका अनुभव होता है। जो इच्छा करता है, वह भिखमंगा है। जो इच्छा करता है, वह कृपण है। जिसको कभी इच्छा नहीं होती, वही श्रेष्ठ ऐश्वर्यसम्पन्न है। इच्छा बढ़ते-बढ़ते पशुत्व आता है। इच्छा दास बनाती है, परतन्त्र बनाती है।

सारी इच्छाएँ दूसरेसे पूरी होती हैं। इसलिये इच्छा-वाला पराधीन है। पराधीन कभी सुखी नहीं होता। जो इच्छारहित है, वह स्वतन्त्र है। जो अपनेसे संतुष्ट है, वह दरिद्र नहीं है। वह भिखमंगा नहीं है। वह अखिल ऐश्वर्यसम्पन्न है। इच्छा-त्याग अद्भुत शक्ति है। इच्छा-त्यागसे देवत्व प्राप्त होता है। जीव इच्छाके समूल त्यागसे परमात्मा बनता है। इच्छासे जीव और अनिच्छासे परमात्मा होता है। परमात्मा तुम्हें इच्छा-त्याग करनेका बल प्रदान करें।

परम सेवासे कल्याण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ससारके प्राय सभी प्राणी दु.खमे निमग्न हैं। दु ख-के दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दु ख भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२). आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। पशु-पक्षी, कीट, पतग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दु ख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक दु.ख' है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दु ख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक दु ख' है। 'आध्यात्मिक दु ख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या-भय, छल-कपट, अहंता-ममता आदि अध्यात्मविषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सब तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है तथा शरीर और इन्द्रियोंमे होनेवाले रोगोंको व्याधि कहते हैं। एवं पारलौकिक दु.ख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुन इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। इन सभी प्रकारके दुःखोका सर्वथा अभाव परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दु.खोंका अत्यन्त अभाव होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दु खोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमे उसकी आत्मा सब दु खोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एव शरीर, इन्द्रिय और अन्त.करणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता, अतः उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीर-सम्बन्धी दुःखोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता। वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके सङ्ग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्ति-पूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है।

श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसीलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता कहती है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
>
> (१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर-की अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही साध्य हैं। अत साधकको उनके गुण और आचरणोंका लक्ष्य रखकर उनके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवे अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतर' कहा है—

> ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
> श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
>
> (१२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

अत: सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। उस सेवाके दो रूप होते हैं— (१) सेवा और (२) परम सेवा।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी कष्टके कारण जो दुखी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दुःख निवृत्त करके उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है। इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—

(१) कोई बीमार—आतुर व्यक्ति जो सड़कपर पड़ा है, जिसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है ऐसे व्यक्तिको अस्पतालमें भर्ती कराके या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र और दवा, चिकित्सा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वय कर देना अथवा करवा देना। धन-हीन गरीब अनाथ बीमारोंकी सेवा बहुत ही उत्तम है। अत प्रत्येक भाईको यह सेवा-कार्य करना चाहिये। धर्मार्थ चिकित्सा-सस्थाओंमें काम करनेवाले एव निष्कामी वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे सस्थामें तो फीस लें ही नहीं, घरपर जाकर भी फीस न लें।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वय कर देना या दूसरोंसे करवा देना।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और स्थान आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना।

(४) जिनके न माता-पिता हैं न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिग लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान, और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो, उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहिनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है। घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं। इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है। उन विधवाओंके पास जो भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं। यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है। इसलिये माता-बहिनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये चाहे उनका ब्याज कम ही मिले।

विधवा माता-बहिनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमे तथा मन-इन्द्रियोंके सयमरूप तपमें बिताना चाहिये एव नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उप-

योगी है। बिना घरका काम-धधा किये भोजन करना त्याज्य है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्त करण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रात:काल और सायकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना एव काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम समझते हुए नि स्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहिनोंके साथ उत्तम व्यवहार एव उनकी सेवा करनी चाहिये, क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुखी, अनाथ, आतुर और गायकी सेवासे भी बढ़कर है। इसके विपरीत उसको कष्ट देना तो महान् हानिकर है, क्योंकि दुखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरनाक होती है।

इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुखी हैं, उनका दु ख दूर करनेका प्रयत्न करना।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी, स्थान आदिके अभावमें दुखी हों या रोगी और वृद्ध हो जानेके कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनका प्रबन्ध करना।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि जीवमात्रकी रक्षा करना, उनको दु.खसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है।

यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है।

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सब दुःखोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्ति करा देती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्त्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार है। जैसे—

(१) ससारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वकी चीज है। क्योंकि ये सब साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं, किंतु जो मरणासन्न है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद तो हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्सङ्ग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्‌में लग जाय तो उसका कल्याण उसी समय

हो सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अत इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका भी कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो गया, क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है। हम अपना कल्याण नहीं कर सके किंतु हमारेद्वारा किसी एक मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा भी यह जीवन सफल हो गया। हम भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगेंगे, तो भी भगवान् हमारा कल्याण ही करना चाहेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ और अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर रहे हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह काम सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये ऐसा मौका प्राप्त हो जाय तो उसे नहीं छोड़ना चाहिये। लाख काम छोडकर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ, 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु', 'महाभारत' आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवन-चरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक पुस्तकोंको विवाह-द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना, साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोकहितार्थ वितरण करना-कराना; ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक पुस्तकोंको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना, दूकान खोलकर या लारियों-द्वारा, ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा'में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके—परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः॥

नदियाँ स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते तथा मेघ अपने लिये नहीं बरसता। सज्जनोंकी सम्पत्ति तो परोपकारके लिये ही होती है।

विरला जानन्ति गुणान विरलाः कुर्वन्ति निर्धने स्नेहम्।
विरलाः परकार्यरताः परदुःखेनापि दुःखिता विरलाः॥

विरले ही गुणोंको समझते हैं, विरले ही निर्धनोंसे प्रेम करते हैं, दूसरोंके कार्य-साधनमें तत्पर और परदुःखसे दुखित होनेवाले भी विरले ही होते हैं।

जीवनका उद्देश्य—शान्ति

(लेखक—प्रो० श्रीप्रियदर्शन रामेश्वरम्)

किसी मनुष्यमें शान्तिका होना इस बातका चिह्न है कि उसने जीवनतत्त्वको पहचान लिया है, उसका अनुभव परिपक्व हो चुका है और एक सीमातक उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है।

वास्तवमें हमारे दैनिक जीवनका जो भी रूप बना हुआ है, वह हमारे मनका प्रतिबिम्ब मात्र है। अपने मनसे ही हम इस वर्तमान ससारको साक्षात् नरक बना डालते है और यदि चाहें तो इस धरतीको स्वर्ग बना सकते हैं।

अगरेज विद्वान् शेक्सपियर कहा करते थे कि 'मन एक उद्यान है, जिसमें आप चाहें तो सुन्दर पुष्प विकसित करें, चाहे इसे ऊजड पडा रहने दें। यदि उसमें अच्छे-अच्छे बीज नहीं डाले जायँगे तो बहुत-से निकम्मे बीज अपने-आप गिर जायँगे और जगली घास पैदा कर देंगे। बाग के मालीकी भाँति आप उसमें सद्विचाररूपी पेड-पौधे लगाइये तथा बुरे और निकम्मे विचारोंको निकाल फेंकिये।'

इसका अर्थ यही है कि मनको लचकदार बनाइये। शान्ति तथा सतोप प्राप्त करनेकी आदत डालिये। आप जहाँ भी हैं, जैसे भी है, हजारोंसे अच्छे हैं। यह बात मनसे कदापि न निकलने दीजिये। अपना अस्तित्व मानसिक धरातलपर आधारित कीजिये, क्योंकि मनुष्यको जितना इस बातका ज्ञान होता जाता है कि 'मेरा अस्तित्व मानसिक विचारसे हुआ है' उतना ही वह शान्तचित्त होता जाता है। उसकी सद्बुद्धि बढ़ती जाती है और वह पश्चात्ताप, ईर्ष्या, उग्रता आदिको छोडकर दृढ, शान्त तथा गम्भीर बनता जाता है।

व्यक्तिगत अनुभव

जीवनमे अनेकों कठिनाइयाँ भोगनेके पश्चात् 'बुद्धि' का आना स्वाभाविक है। मेरा निजी अनुभव है कि अब मैं पहलेसे काफी शान्तचित्त हो गया हूँ और अपनेको वशमें रखना जान गया हूँ तथा परिणामतः अब मेरी स्वाभाविक इच्छा यह रहती है कि किस तरह दूसरोंकी सेवा करूँ तथा उन्हें लाभ पहुँचाऊँ। किसीके प्रति साधारण-सा उपकार करनेमें, उसे थोड़ी-सी भी सहायता देनेमे जो मानसिक सुख एव शान्ति मिलती है, उसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन करना प्राय. असम्भव है।

'जैसे भी मिले, मनुष्यको शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जितना अधिक शान्त होते जायँगे, उतना ही अधिक सफलता आपके पद चूमेगी। उतनी ही अधिक भलाई करनेकी शक्ति आपमें उत्पन्न होगी।' बाइबिलके उपर्युक्त वाक्यमें सार भरा है। इसका एक दूसरा पहलू भी है। शान्तचित्त व्यक्तिके साथ सभी लोग आदर तथा प्रेमका व्यवहार करते हैं। प्रसिद्ध अमरीकी मनोवैज्ञानिक एमर्सनके शब्दोंमें शान्तचित्त व्यक्ति एक सूखी और प्यासी भूमिपर छायादार पेडके समान है। जोरसे पानी बरसे अथवा कडी धूप पड़े, उसे इसकी कोई चिन्ता नहीं होती। उसकी शान्ति तथा प्रसन्नचित्ततामें कोई खलबली नहीं होती। उसके मानसिक क्षेत्रमें कभी भूचाल नहीं आता। आनन्द——अथाह आनन्द उसे प्राप्त हो चुका है।

कार्लाइलके सुप्रसिद्ध वचन हैं—शान्ति आत्मोन्नतिका अन्तिम पाठ है। प्रसिद्ध भारतीय सत कबीरदासका एक दोहा भी इसी तथ्यको भलीभाँति प्रतिपादित करता है——

कबिरा यह तनु है तवा तपत सदा त्रैताप।
साति होत जब सांति पद पावै राम प्रताप॥

यह 'शान्तिपद' वही वस्तु है, जिसे जीवनका फूलना और आत्माका फलना कहा गया है। इसका मूल्य ज्ञान एवं बुद्धिसे भी अधिक है यह स्वर्ण और हीरकसे करोड़-गुना मूल्यवान् है। शान्त व्यक्ति रुपये बटोरनेकी इच्छाको निम्न तथा हेय समझता है। प्रसिद्ध नाविक मैंगलेन—जिसने विश्वमें सर्वप्रथम भूमण्डलका नावद्वारा चक्कर लगाया था, जो जीवनभर नाव-जहाजोंपर तथा तूफानी लहरोंपर ही झूलता रहा, एक अत्यन्त शान्तचित्त व्यक्ति था। उससे पूछा गया—इस उथल-पुथलमे तुम्हे शान्ति कैसे मिलती है ? तो उसका उत्तर था—'हलचल और उथल-पुथल तो समुद्रके ऊपरी भागमे रहती हैं। मेरा मन तो समुद्रके तहकी भॉति हो गया है, जहॉ सदैव शान्ति स्थापित रहती है, कभी तूफान नहीं आता।'

आजके युगमें, जब कि 'जीवन तथा जीनेकी कला' के विषयमे मनुष्योंको शिक्षित करनेकी प्रथा ही नहीं है, ऐसे करोडो व्यक्ति मिल जायँगे, जिन्होंने अपनी जिंदगी-को साक्षात् नरकमें बदल लिया है। अपने तेज स्वभावके कारण उन्होंने क्रोधसे सारी सुन्दरता तथा मधुरिमाका विनाश कर दिया है। उनको सभी शत्रु-ही-शत्रु दृष्टि-गोचर होते है। यह बाहरी पहलू रहा। अब ऐसे मनुष्योंके मनकी ओर ध्यान दे तो और भी अधिक चिन्ताकी बात है। इन लोगोंने अपने मनको वशमें न रखनेके कारण अपने जीवनको नष्ट कर लिया है—सुखकी आहुति दे डाली है। वासनाके वशीभूत होकर क्रोधसे लाल-पीले होते रहते हैं तथा शोकके कारण विवश हो-कर रोने-पीटने लगते हैं। भय और चिन्ता छायाकी भाँति सदैव उनके साथ रहती है। मनपर उनका कोई नियन्त्रण नहीं होता।

दूसरी ओर उस मनुष्यको देखिये, जिसे 'जीना' आता है। अपने मनको अपनी अवस्थाओंके अनुकूल लचकदार बनाना उसे खूब आता है। मन उसके पूर्ण नियन्त्रणमें है। उसके विचार शुद्ध एव पवित्र हो गये हैं। उसने शोकपर आत्मिक विजय प्राप्त कर ली है। आचार्य श्रीरामशर्माके शब्दोंमें उसने इस भूतलको ही स्वर्ग बना लिया है। इस ज्ञानवान् मनुष्यके चारों ओर एक अपूर्व वातावरण बन गया है, जो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है कि आप भी चाहें तो अपने विचारोंसे स्वर्गको नरक और नरकको स्वर्ग बना सकते हैं, दु खोंमें रहते हुए सुखका अनुभव कर सकते हैं अथवा सब सुखोंके रहते हुए दुखी बने रह सकते हैं।

आइये! जीवनमें एक नया अध्याय प्रारम्भ करें। बुरे तथा गदे विचारोंको मनसे बिल्कुल निकाल फेंकें। मनमे शान्ति स्थापित करे। फिर देखें कि यही ससार, जिसे आप दु.ख तथा आपत्तिका घर समझ रहे हैं, आपके लिये सुखधाम तथा स्वर्गभूमि बन जायगा और जो कुछ आप चाहेंगे, वह आपको मिल जायगा।

स्मरण रखिये! मैं कोई नयी बात नहीं कह रहा हूँ, आप पहलेसे ही इस सत्यसे परिचित है। मानसिक शान्तिसे आप सामर्थ्यवान् होते हैं। सबका भला चाहना, सबको अच्छा समझना, सबसे मेल-जोल रखना, प्रत्येक मनुष्यके उत्तम गुणोंको देखना आदि तभी सम्भव है जब आप शान्तचित्त हों। उक्त साधन साक्षात् स्वर्गके द्वार हैं। जो मनुष्य प्रत्येक प्राणीकी ओर मित्र-भाव रखता है और उसके हितकी चिन्ता करता है; उसे अवश्य शान्ति मिलेगी और वह शान्ति चिरस्थायी रहेगी।

स्मरण रखिये कि आप चाहे जहॉ भी हैं, जीवनके समुद्रमें एक नावके समान लहलहा रहे हैं। मनका पतवार शान्तिके साथ दृढ़तासे पकडे रहिये। चञ्चल, अधीर मत होइये। शान्तिमें शक्ति है, नैसर्गिक बल है। आपको किनारा मिल जायगा, किंतु तबतक आप बार-बार मनसे कहते रहिये— 'शान्त हो, शान्त हो।'

निष्काम कर्म

(लेखक—स्व० श्रीरानुगटि लक्ष्मीनरसिंहराव)

आजीवन किसी-न-किसी सत्कर्मका आचरण करना हमारा धर्म है। उसमे हमारी स्वतन्त्रता है। तुम सदा सत्कर्म करो। उसके फलकी चिन्ता मत करो। फलके साधनभूत कर्मका तुम्हे निर्विशेपता और निष्कल्मषताके साथ निरालस रहकर आचरण करना चाहिये। तुम प्रयत्नमें सदा अप्रमत्त रहो, जागरूक रहो और पूर्ण श्रद्धा-युक्त रहो। फलकी तुम्हे इतनी चिन्ता क्यों? फल-सम्पादक कर्मका जब तुम पूरा आचरण करोगे, तब उसका फल तुमको क्यों न मिलेगा? जब तुम्हारे अदर प्रयत्नबल होगा, तब फलकी सिद्धि क्यों न होगी? परतु सर्वदा फलपर ही ध्यान मत रखो। उसकी प्राप्तिकी अनावश्यक आतुरता छोडो। फलसम्पादनमे तुम्हारी जितनी अधिक आतुरता होगी, उतनी अधिक उस कर्ममें दुर्बलता आ जायगी और सम्भव है कि तब फल सिद्ध न हो। एक दिव्य तेज पूर्ण दीपक जल रहा है, उसको देखते ही ऑखे चौंधिया रही हैं। उसके पास पहुँचनेमे जल्दी मत करो। जल्दी-जल्दी जाने लगोगे तो मुँहके बल गिर पड़ोगे। सामनेवाले उस दीपकके कारण बीचका मार्ग अन्धकारमय हो गया है। निरन्तर तैयारीके साथ और नित्य जागरूकताके साथ यदि तुम फूँक-फूँककर चरण रखते जाओगे तो उस दीपकके पास सुखपूर्वक अवश्य पहुँच सकोगे। किसी फलका मनमें निश्चय कर लेनेपर उसकी चिन्ता बिल्कुल छोड देनी चाहिये। केवल उसके साधक कर्मोंका सावधानी तथा लगनके साथ आचरणमात्र करते रहना चाहिये। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्रयत्नोंमे सफलता ही होगी। सबमें सफलता ही होती तो क्या पृथ्वी अबतक स्वर्ग नहीं बन जाती? तुम कर्म करना चाहते हो। उसके लिये प्रयत्न करते हो। परतु तुम्हारे उस कर्मकी पूर्ति नहीं होती। क्या तुम जॉचकर देखते हो कि उसकी फल-सिद्धि क्यों नहीं होती? जब तुम उसके कारणका अन्वेषण नहीं करते तो स्पष्ट होता है कि तुम फल-प्राप्तिके लिये पर्याप्त प्रयत्न नहीं करते। सौ कर्मोंमे निन्यानवेतक कर्म प्राय प्रयत्नाभावके ही कारण निष्फल होते है। अत. तुम्हारे लिये प्रयत्न ही प्रधान है, फल प्रधान नहीं है। निरन्तर फलकी वाञ्छा करके तुम प्रयत्नमे त्रुटि कर रहे हो। इसलिये तुमसे फलसिद्धि दूर भाग रही है। धैर्य विलुप्त हो रहा है। तुम सिर पीट-पीटकर रो रहे हो। रो-रोकर उस प्रयत्नका त्याग भी तो नहीं करते। फिरसे प्रयत्न करते हो। तब भी तुममें त्रिकरण-शुद्धि नहीं आती। फलकी आतुरतासे प्रयत्नमे जल्दी करते हो। फिर उसमे विफल होकर रो-रोकर छाती पीटने लगते हो। सुखानुभवकी वाञ्छा करते हो। धनके लिये परिदेवन करते हो। दरिद्राधम होकर देहत्याग करते हो, सर्व-जन-वशीकरणके बडे-बडे यत्न करते हो, समस्त-जन-दासतामें रोदन करते हो। दूसरोंको उपदेश देनेके लिये गला फाडते हो। दूसरोंकी जूतियॉ खाकर चुप हो जाते हो। ससारभरके पालनकी इच्छा करते हो। भगवान्‌को भी वशमें करनेके लिये रज्जुओंका प्रबन्ध करते हो। दूसरोंके चरणोंका आश्रय लेते हो। अपने घरकी दासीके हाथसे तमाचे खाते हो। यह है तुम्हारे जीवनका क्रम। तुमने कभी सोचा कि इसका क्या कारण है। फलसम्बन्धी तुम्हारी अत्यासक्ति ही इसका कारण है। अत तुम फलकी आतुरताको छोडो। प्रयत्न करते जाओ। पूर्ण प्रयत्न करना ही तुम्हारा धर्म है। फल दैवाधीन है, वह मिले या न मिले। जिसमें ऐसी मन स्थिरता हो, वही ससारकी यात्रा सुचारुरूपसे कर

सकता है। जिसमें त्रिकरण-शुद्धि न हो, वह देहयात्रा चलानेके योग्य नहीं है। प्रयत्नमें तुम्हारी जितनी आसक्ति हो, उतना ही फलत्यागका आग्रह भी होना चाहिये। हमारे पूर्वजोंका कहना है कि प्रत्येक कर्म-फलको श्रीकृष्णार्पण करना चाहिये। केवल तोतेकी तरह रटकर श्रीकृष्णार्पण नहीं करना चाहिये। त्रिकरण-शुद्धिके साथ देवार्पण करना चाहिये। गीताके उपदेश—'फलाभिसधिसे रहित होकर काम करो'—का सार यही है। यदि तुम ऐसा करते तो तुम्हे दु ख क्यो होता ? उत्साहहीनता क्यो आती ? धैर्यशून्यता क्यो होती ? परतु तुम अन्यथा आचरण करके ससारमे झोंके खा रहे हो। अपने कार्यनाशका कारण दूसरोंको बता रहे हो। दूसरोंको दोष दे रहे हो। ससारको बुरा बता रहे हो। कालको दुष्काल कह रहे हो। अपने-आपको दोष दो। अपने-आपका तिरस्कार करो। व्यर्थ दूसरोंकी निन्दा क्यों कर रहे हो ? प्रयत्न तो तुमने किया। दूसरोंने तुम्हारा क्या बिगाडा ? क्या ससार अच्छा नहीं है ? तब तुम ऐसे ससारमें क्यों रहे ? जब जमाना बुरा है तो तुम कैसे अच्छे हुए ? क्या एक तुम्हारे सिवा सारा ससार बुरा है ? सुनो! वास्तवमें ससार न तो बुरा है और न अच्छा है। उसपर अच्छाई-बुराईका आरोपण तुम स्वय कर रहे हो। जितने फलकी तुम्हारी योग्यता होगी, उतनेसे बढकर फल तुम्हें कुछ न मिल सकेगा। खूब सोच लो, दोषी तुम हो या ससार ? यदि तुम पूर्ण कर्माचरण करते तो तुम्हें उसका पूर्ण फल मिल जाता। वैसा न किया तो सोचो, दोष तुम्हारा है या ससारका ? इसके अतिरिक्त एक बात और है। वस्तुत' तुम्हारे अदर न यथार्थ अनुराग है, न यथार्थ त्याग है और न यथार्थ शक्ति है। तुम अपने पुत्रसे प्रेम करते हो। ससारमे पुत्रसे बढकर हितकर वस्तु तुम्हारे लिये और क्या है ? यदि वह पुत्र तुम्हारे प्रति तटस्थ रहा तो तुम आँखे निकालने लगते हो। बाहरसे नहीं तो आखिर मनसे उसको शाप देते हो। यदि तुम्हारा पुत्र तुमसे प्रेम न करेगा तो पता नहीं तुम्हारे अनुरागमें कौन-सी कमी हो जायगी ? जितना अधिक प्रेम पिता अपने पुत्रपर प्रकट करता है, क्या उतना पुत्र अपने पिताके प्रति कहीं दिखाता है ? न जाने जगत्में कितने पिता तुम्हारी तरह रो रहे है। तुम सकटके समय किसीकी रक्षा करते हो। धन देकर उसके सकटोंको दूर करते हो। पर यदि वह तुम्हारे प्रति अपनी कृतज्ञता न प्रकट करे तो उसको कोसते हो, कृतघ्न बताते हो, उसको कब्जेमे लानेका प्रयत्न करते हो। तुमने हृदयपूर्वक त्याग करके उसकी रक्षा की है तो फिर तुम्हें उसकी कृतज्ञतासे क्या काम है ? हो सकता है कि वह तुम्हारा उपकार भूल जाय। परंतु तुम अपने सत्-स्वभावको क्यों छोड़ते हो ? सच्ची बात तो यह है कि तुम्हारा प्रत्येक कर्म बदलेमें फलप्राप्तिकी अपेक्षासे भरा है। तुम अपने ही लिये दूसरेका हित करते हो। अपने ही लिये दूसरोंपर त्याग करते हो। अपने ही लिये दूसरोंसे प्रेम करते हो। अपने ही लिये दूसरोंकी रक्षा करते हो। यथार्थ प्रेम या त्याग तुम्हारे अदर है ही नहीं। ससारके महान् कर्मोंमे प्राय. सौमे निन्यानबे कर्म दूकानकी लेन-देनके समान होते है। सर्वत्र 'यह लो'—'वह दो'— यही ढग चल रहा है। भक्तिमे भी तुम्हारा जीवन इसी प्रकार चल रहा है। तुम्हारी भक्ति भी यथार्थ नहीं रही। अपनी पत्नीको सुखसे प्रसव हो जाय, इसके लिये सत्यनारायणकथाकी मनौती कर लेते हो। जब देखो, बड़ी-बडी इच्छाएँ—अत्यन्त शीघ्र इच्छाओंके पूर्ण होनेकी आतुरता—विफल होनेका रुदन—दूसरोंपर विघ्नदोषोंका आरोपण—ससार और भगवान्पर बुराईके आरोपण—तुम्हारे जीवनका यही सार दिखायी दे रहा है। इतने रुदन और इतने क्रोध-शापोंका कारण क्या है ? तुम्हारा अपने किये कर्मके प्रतिफलकी इच्छा ही इसका प्रधान कारण है। यदि तुम प्रतिफलकी इच्छा न करते तो तुमको

यातना किस बातकी होती ? क्यों दूसरोंको दोष देना पडता ? क्यों अभिशाप देने पडते ? क्यों रोना-धोना पडता ? सृष्टिमे जितने जीव हैं, वे सब तुम्हारे भाई हैं। तुम त्रिकरणशुद्ध होकर उनसे प्रेम करो। उनसे बदला पानेकी आकाक्षा मत करो। बदला पानेकी इच्छा करना निन्द्य और निम्नकोटिकी चीज है। वह भिक्षुकके योग्य कर्म है। अत' तुम भले ही मर जाओ, पर किसीके सामने जाकर 'देहि' मत कहो। तुम्हे जो कुछ मिलना है, वह घोर जगलमे भी मिल जायगा। समुद्रके मध्यसे मिल जायगा। आकाशसे गिर-कर मिल जायगा। परतु तुमको इस बातका निश्चय नहीं है। यह निश्चय पक्का होता तो न तो तुम इतने दुखी होते और न तुम्हारा जीवन इतना भ्रष्ट ही होता। कामना देवी तुम्हारे दॉत तोड रही है। फिर भी तुम निर्लज्ज होकर दूसरोंके सामने हाथ पसारते हो। सुनो! कभी किसी मनुष्यसे कुछ मत मॉगो। भगवान्से भी कुछ मत मॉगो। शक्तिभर सत्कर्म करो। तनिक भी उसके फलकी चिन्ता मत करो। जिस प्रकार पुष्प विकसित होकर, अपना सारा सौरभ पवनमें लुटाकर मुरझा जाता है ओर जमीनपर गिर पडता है, उसी प्रकार फलापेक्षारहित होकर जन-कल्याणका सत्कार्य करते हुए प्राणत्याग करो। जिस प्रकार मेघ कुम्भवृष्टि—द्रोणवृष्टि—करके धरादेवीको सस्य-श्यामला बनाकर आकाशमें विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम फलकी वाञ्छासे रहित होकर यथासाध्य दूसरों-पर अनुराग प्रकट करके परम पदको प्राप्त करो। ख्यातिकी आकाक्षा करना भी दोष है। जिससे तुम्हारी हानि होती दीखे, ऐसे भी सत्कर्मका नि शङ्क होकर आचरण करो। तुमसे मैं पूछता हूँ—मानव तुम हो या वे रामानुज हैं, जिन्होंने गुरु-निरस्कार-दोषको भी स्वीकार करके समस्त लोगोंको सबके परम कल्याण-कारक मन्त्रराजका उपदेश दे दिया था। मनुष्य तुम हो या वे महात्मा बुद्ध हैं, जिन्होंने अपना वध करनेके लिये आये हुए कुमार्गगामी मनुष्योंको भी सन्मार्गी बनाया था ? मनुष्य तुम हो या वे ईसा है, जिन्होंने अपने एक गालपर तमाचा लगानेवालेको दूसरा गाल दिखानेकी बात कही थी ? तुम्हारा जीवन सच्चा है या उस साध्वीका, जिसने अपनी एक ओरके भूषणोंको चोरोंके ले लेनेपर शेष भूषणोंको भी लुटानेके लिये दूसरी करवट ले ली थी ? तुम्हें धिक्कार है। तुम्हारी फलाकाक्षाको धिक्कार है, किसीको एक पाई देकर तुम उससे पूरा रुपया वसूल करना चाहते हो ? कौपीनके बदलेमें कबल ले लेना चाहते हो ? तुम भगवान्के साथ भी यही निन्द्य सौदा करते हो ? ऐसे निन्द्य कर्मोंको अबसे पूरा छोड दो, सदा निष्कामभावसे प्रभुप्रीत्यर्थ सत्कर्म करो। फलकी चिन्ता कभी मत करो, प्रयत्नमे कमी मत आने दो। मनुष्य होकर चलो। ऐसा प्रवर्तन करो, जिससे संसारको तुम्हारे अदर भगवान्के तेजके अशका भान हो। इसी कर्म-रहस्य-तत्त्वको हमारे पूर्वजोंने बताया है।

(अनुवादक—श्रीबुलुसु उदयभास्करम् 'विशारद')

सन्तोऽनपेक्षा मच्चिताः प्रणताः समदर्शिनः। निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्। अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

सन्तजन किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करते, वे मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं, तथा अति नम्र, समदर्शी, ममताशून्य, अहकारहीन, निर्द्वन्द्व एव सचय न करनेवाले होते हैं। जो साधुजन तितिक्षु, करुणामय, समस्त प्राणियोंके हितैषी, शत्रुहीन और शान्तस्वभाव होते हैं वे साधुओंमें भूषणरूप हैं।

फिलमोर और उनकी साधना

जो मनुष्य अपने अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी अग्निको जलाये रखता है, कभी उसे बुझने नहीं देता, उसके सारे दोष भस्मसात् होते जाते हैं। उस अग्निके प्रकाशमें उसका जीवन देदीप्यमान होता रहता है। दूसरे लोग भी जो उसके सम्पर्कमें आते हैं, उस प्रकाशमें अपना रास्ता खोज लेते हैं। संसारमें ऐसे महान् पुरुष विरले ही होते हैं, जो अपने अन्त.करणमें ज्ञानाग्निको प्रज्वलित रखते हुए दूसरोंके अन्त.करणमे भी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करनेका जीवनभर प्रयास करते रहते हैं। ऐसे लोक-हिताकाङ्क्षी पुरुषोंमें अमेरिकाके चार्ल्स फिलमोर साहबका नाम बडे ही आदरके साथ लिया जा सकता है। ससारमें बहुत कम लोग होंगे, जो फिलमोर साहबके समान अपने जीवनको प्रभुप्रार्थनामय बनानेमें सफल हुए हों। वे चौरानवे वर्षतक जीये और उनके जीवनके अन्तिम साठ वर्ष निरन्तर भगवत्प्रार्थनाके अमृत-फलके आस्वादनमें व्यतीत हुए। फिलमोर साहबका निश्चय था कि मनुष्य आनन्दमय प्रभुका अंश है, अतएव मानवजीवन स्वभावत. आनन्दमय है। प्रभुमय जीवनकी अनुभूतिसे ही मनुष्य वास्तविक आनन्दका अधिकारी होता है। भगवत्-महिमासे आँखें मूँद लेनेके कारण ही प्राणी दु.ख भोगता है और उसके प्रति जागरूक रहनेसे वह सुखी रहता है। जीवनको प्रभुमय समझकर उसे तदनुकूल यापन करना ही जीवनकी पूर्णता है—इस सिद्धान्तका अनुगमन करते हुए फिलमोर अपने पीछे जो एक आदर्श छोड गये हैं, उसको ठीक-ठीक समझनेके लिये उनकी जीवन-साधनापर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

चार्ल्स फिलमोर एक बड़े ही परिश्रमी गृहस्थ थे। बहुत ही साधारण स्थितिसे उन्नति करके वे धन सचयकर एक चाँदीकी खानमें साझीदार हो गये। उनको अपने अनुकूल ही परिश्रम करनेवाली सहधर्मिणी मिल गयी थी—मर्टिली फिलमोर। दोनों दम्पति हृदयके सरल और भगवान्में बडा पक्का विश्वास रखनेवाले थे। नियमित रूपसे प्रार्थनामन्दिरमें जाना और प्रभु-प्रार्थना करना उनके जीवनका प्रधान अङ्ग था। जिनका हृदय निष्कपट होता है और जो प्रभुकी कृपाके भिखारी होते हैं, उनकी जीवन-नौकाको पार लगानेके लिये प्रभु स्वयं अपने हाथोंमें पतवार ले लेते हैं, किसी दूसरे मार्ग-प्रदर्शककी आवश्यकता नहीं होती।

फिलमोरने अचानक एक स्वप्न देखा। एक अदृश्य आवाज सुनायी पड़ी—'मेरे पीछे आओ।' सपनेमें वे छायाके पीछे-पीछे कसास शहरकी एक सड़कपर पहुँचे। छाया रुक गयी। आवाज आयी—'तुमको याद होगा कुछ वर्ष पूर्व सपनेमे तुमने इस स्थानको देखा था और तुमको बतलाया गया था कि यहाँ तुम्हे एक काम करना है। फिर याद दिलाया जाता है कि तुमको यहाँ एक काम करना है और एक अदृश्य शक्ति तुम्हारी सहायता-के लिये सदा तुम्हारे पीछे रहेगी।' जागनेपर फिलमोरको याद आया कि कुछ वर्ष पहले उन्होंने सचमुच ऐसा एक सपना देखा था। वे आध्यात्मिक चिन्तनमें लग गये। ईसाई धर्मग्रन्थोंके अतिरिक्त हिंदुओं और बौद्धोंके अध्यात्मका भी उन्होंने गहरा स्वाध्याय किया। उनका विचार था कि सत्य जहाँ कहीं भी मिले, उसे खुले दिलसे ग्रहण करना चाहिये।

एक दिन फिलमोर दम्पति प्रार्थनामन्दिरमें एक नवागत उपदेशकका भाषण सुनने गये। चार्ल्सको ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वक्ताके विचार उनके विचारोंके साथ एक ही स्रोतमे प्रवाहित हो रहे हैं। श्रीमती फिलमोरको एक नयी चीज मिली। वक्ताने बतलाया था कि हमारे जीवनकी चेतना चैतन्यमूर्ति प्रभुका ही अङ्ग है, प्रभुका ही रूप है। श्रीमती रोगपीड़िता थीं

और डाक्टर लोग दवा करके हार चुके थे । घर लौटने-पर उनके मनमें एक ही बात रह-रहकर उठने लगी—'हम प्रभुके हैं, हमको रोग नहीं हो सकता ।' उन्होंने सोचा, जीवन तो सर्वत्र है—"नन्हे-से कीडेमें है और मनुष्यमें भी है । पर कीडा मनुष्य क्यों नहीं बना ? कारण यह है कि चेतना होनेमे एक-सी होनेपर भी कीडेमें मनुष्यकी अपेक्षा बहुत कम बुद्धि है । बुद्धिके साथ ही चेतना शरीरका निर्माण करती है । चेतना एक प्रकारकी शक्ति है और उस शक्तिकी प्रेरणा बुद्धिके द्वारा होनी चाहिये । हम अपनी बुद्धिको चिन्तन और भाषणके द्वारा व्यक्त करते हैं । इसलिये शरीरके प्रत्येक अंशमें व्याप्त चेतनाके बारेमें हम सोच सकते है, उससे बातें कर सकते हैं ।" रोगसे त्राण पानेका एक नया नुसखा मिला । उन्होंने चिन्तन करना आरम्भ किया कि 'मेरे शरीरके अणु-अणुमें चेतना—प्रभुकी शक्ति व्याप्त हो रही है । उसके पास रोग कैसे टिक सकते हैं, दोष कहाँ ठहर सकते हैं ।' बस, रोग छू-मन्तर होने लगे । उसने प्रभुसे प्रार्थना की—'भगवन् ! आपकी चेतनाको मैंने अपने शरीरमें धारण कर उसे भ्रष्ट कर दिया है, इस मेरे घोर अपराधको क्षमा कीजिये । प्रभु ! मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि आपकी परम पवित्र सत्ता यानी मेरे शरीर और मनमें व्याप्त चेतनाको स्वतन्त्र रूपसे सचाई और पवित्रता-के बीच प्रवाहित होने दूँगी, दूषित चिन्तन या भाषणके द्वारा उसकी गतिमें अवरोध पैदा न करूँगी । प्रभु ! आपकी सत्ता यानी चेतनाका उपयोग मैं अपने चिन्तन और भाषणमें करती हूँ । इन्हें परम पवित्र बनाये रखनेकी चेष्टामे मेरी मदद करो, पतितपावन !

प्रभु-प्रार्थनाके बलसे श्रीमती फिलमोरके रोग दूर हो गये और उनको नवजीवन प्राप्त हुआ ! कहाँ तो डाक्टरोंने उन्हें जवाब दे रखा था, और कहाँ उनको स्वल्प कालमे ही प्रभुकी कृपासे अपूर्व स्वास्थ्य-लाभ' इस अद्भुत चमत्कार-को देखकर लोग दग रह गये ! प्रार्थनाकी असीम शक्तिमें उनका विश्वास जम गया । उनकी देखादेखी रोग-निवारणके लिये प्रभुकी कृपाके भिखारी बढ़ने लगे । श्रीमती फिलमोरको लोक-सेवाका एक बिल्कुल ही नया रास्ता मिल गया !

चार्ल्स फिलमोरने अपनी धर्मपत्नीके इस चमत्कृत चरित्रको देखा और वे उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके । उन्होंने सोचा कि संसारके सभी धर्मोंके संतोंने प्रभुको सर्वव्यापी और चेतनस्वरूप बतलाया है, अतएव वे हमारे निकटतम हैं, वे आत्मस्वरूप हैं तो हमारी आत्मा हैं । ऐसी अवस्थामे हम उनसे बातें कर सकते हैं और वे हमारी बाते सुन सकते हैं । इसमें किसीको सदेह नहीं होना चाहिये ।' इसके बाद वे प्रतिदिन रात्रिमें एक निश्चित समयपर अकेले बैठ जाते और यह अनुभव करनेकी साधना करते कि 'हमारा मन प्रभुकी चेतनासे ओतप्रोत है ।' महीनों उनकी यह साधना चलती रही । उसके बाद ऐसा समय आया कि उनको सच्चे सपने दीखने लगे । पहले तो उन्होंने उसपर ध्यान न दिया, पर जब उन्होंने देखा कि सपनेमें जो घटना उन्हें दीख पडी थी, वह ज्यों-की-त्यों प्रत्यक्ष घटित हुई, तब उनको अपनी साधनाकी गुह्य शक्तिपर विश्वास बढा और यहींसे उनका जीवन सत्यकी अनुभूतिके मार्गमे उतरा । फिलमोर अधूरा दिल लेकर चलनेवाले जीव न थे । एक बार जब उनको सत्यकी अनुभूतिका प्रकाश दृग्-गोचर हुआ, तब वे पूरी शक्तिके साथ उस ओर पिल पडे । उन्होंने अपनी स्त्रीको तथा औरोंको प्रभु-प्रार्थनाके बलसे स्वास्थ्य-लाभ करते देखा था । यह एक दूसरा सत्य भी उनके सामने प्रत्यक्ष प्रमाणित होते दीख पडा । लोगोंमें उसके प्रचारकी प्रेरणा उनके मनमे उठी और उन्होंने 'माडर्न थाट' (अभिनवविचार) नामक एक मासिकपत्र निकाला । उस पत्रके द्वारा मनको पवित्र और स्वस्थ रखनेका अभ्यास करने तथा मनकी एकाग्रता-

के साधनको बढ़ानेकी शिक्षा दी जाने लगी। दो वर्षके बाद एक दिन वसन्त ऋतुमें फिलमोर-दम्पति अपने छात्रोंके साथ सायं-प्रार्थनामें बैठे थे। जब वे चुपचाप—मौनावलम्बन किये बैठे थे, चार्ल्स फिलमोरके मनमें अचानक 'यूनिटी' शब्द आविर्भूत हुआ। वे उछल पड़े—बस, यही शब्द है, हमारे अनुष्ठानका लक्ष्य यही है, हम इसी शब्दकी खोजमें थे। आगे चलकर इसी 'यूनिटी' (मिलन) शब्दको केन्द्रित करके फिलमोर दम्पतिने अभिनव आध्यात्मिक साधनका एक महान् आन्दोलन खड़ा कर दिया।

'सोसायटी आव् सायलेंट यूनिटी' (मौन-मिलन-समाज) नामक एक संस्था स्थापित की गयी और उसका मुखपत्र 'यूनिटी' प्रकाशित किया गया। उस पत्रका एक मात्र लक्ष्य था आध्यात्मिक साधनाका प्रसार, उसमें व्यावसायिक विज्ञापनोंके लिये स्थान न था। श्रीमती फिलमोरने एक सडे-स्कूल (रविवार-विद्यालय) खोला और बच्चोंके लिये एक 'वी विज्डम' नामक मासिक पत्र निकाला।

इस सोसायटीने अमेरिकामें आध्यात्मिक साधनाका जो मार्ग प्रदर्शित किया, उसके तीन मुख्य स्तम्भ थे—सत्सङ्ग, ध्यान और प्रार्थना। दैनिक प्रार्थनाके लिये सवेरे ८ बजे और रातको ९ बजे सोसायटीके सदस्य यानी साधक-वृन्द इकट्ठे होते। एक साथ प्रार्थना करनेके बाद कुछ समयतक निस्तब्ध—मौन साधनका नियम था। दिनमें एक बार फिलमोर साहबका प्रवचन होता। मौनकालमें प्रभुकी सत्ताकी यानी चेतनाकी पूर्ण अनुभूतिमें साधक तल्लीन हो जाते थे। यही उनकी ध्यान-साधना थी। 'प्रभुकी सर्वव्यापिनी चेतना शरीर और मन-प्राणके अणु-अणुमे व्याप्त है, हमारी जीवन-चेतना उसी प्रभुकी चेतनाके असीम सागरकी एक हल्की तरङ्ग है, उस तरङ्गसे हमारा सारा आन्तरिक और बाह्य जीवन परिप्लावित हो रहा है। इसके प्रत्येक अवयवमे अभिनव आनन्द और पवित्रताका संचार हो रहा है। प्रभु आनन्दमय हैं, पवित्रतम हैं। हमारे लघु मानव-जीवनमें उनकी असीम कृपाकी धारा प्रवाहित हो रही है और हम कृतार्थ हो रहे हैं।' यह था उनकी अनुभूतिका आधार। इसके बाद 'सायलेंट हेल्प' (मौन-अनुग्रह) का कार्यक्रम होता, यह भी उनकी मौन-साधनाका एक अङ्ग था, बल्कि इसको मुख्य अङ्ग कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस मौन प्रार्थनाके द्वारा व्यक्तिविशेपका रोग-निवारण किया जाता था। रोगी अपने रोगके विषयमें 'यूनिटी' के प्रधान ऋत्विक् फिलमोर साहबके पास लिखते थे और मौन प्रार्थना-कालमे सब साधक एक साथ उसके निवारणके लिये प्रभुसे प्रार्थना करते थे। रोगीके साथ साधक-मण्डलीकी समकालीन सामूहिक प्रार्थनासे प्रभुका अनुग्रह प्राप्त होता था और वह रोगी स्वास्थ्य-लाभ करता था।

प्रार्थनाकी इस अपूर्व शक्तिका प्रभाव देखकर अमेरिकामें विभिन्न स्थानोंमें 'यूनिटी' के केन्द्र खुलने लगे। सब केन्द्रोंके लिये रातकी प्रार्थनाका समय नौ बजेके स्थानमे बारह बजे कर दिया गया। 'यूनिटी' पत्रिकाके ग्राहकोंकी संख्या तेजीसे बढने लगी। दुनियाके दूसरे मुल्कोंमे भी प्रचार बढा। 'यूनिटी' और 'वी विज्डम' की लाखो-लाखों प्रतियाँ छपने लगीं। इनके अतिरिक्त 'यू', 'डेली वर्ड', 'गुड बिजिनेस' आदि दूसरे पाँच पत्र क्रमश इस सोसायटीके द्वारा प्रकाशित होने लगे। नयी दुनियाँमे एक अभिनव आध्यात्मिक साधनाकी धारा बह चली।

आज फिलमोर दम्पति संसारमें नहीं हैं। 'यूनिटी' संस्थाके प्रधान संचालक उनके ज्येष्ठ और सुयोग्य पुत्र श्रीलावेल फिलमोर हैं। संस्थाके पास अपना निजी विशाल प्रार्थना-गृह, विशाल प्रेस तथा यूनिटी सेवाश्रम है। हजारों केन्द्रोंमें उनके अलग-अलग प्रार्थना-गृह हैं। लाखों आदमी फिलमोरकी साधनासे प्रभावित होकर प्रार्थनामय

जीवनका आनन्द ले रहे हैं। हजारों आदमी मौन प्रार्थना-की शक्तिसे स्वास्थ्य-लाभ करते हैं। यह सब फिलमोर साहबके विश्वासका चमत्कार है। भगवान्‌में उनका अटूट विश्वास था। वे अपनेको तथा सारे विश्व-मानवको भगवान्‌का पुत्र मानते थे, अतएव उनकी दृष्टिमें जो स्थान एक श्वेताङ्गके लिये था, वही स्थान काले-कलूटे नीग्रोके लिये था। समदर्शिता, अहैतुक प्रेम आदि अनेक दैवी गुणोंका उनमें अच्छा विकास हुआ था। यूनिटी-आन्दोलनके द्वारा फिलमोरने अपने अमर जीवनका एक विशुद्ध आदर्श विश्वकी आनेवाली पीढ़ियोंके लिये रख छोड़ा है।
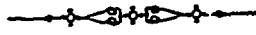
रूप-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

परब्रह्मका प्रधान अभिधान है—परम पुरुष। जो विश्वात्मा, विश्वपति तथा विश्वातीत तत्त्वस्वरूप है, वही पुरुष है। वैदिक ऋषि विश्वमानवको आह्वान करके तारस्वरसे घोषणा करते हैं—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।'

यह पुरुष सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् है। निश्चय ही सहस्रशीर्षा आदि वर्णन समष्टि-वैभवकी दृष्टिसे है, क्योंकि—

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥
(श्रीमद्भा० २। ६। १५)

वह फिर जब बाह्य विश्वब्रह्माण्डरूपमें अपने त्रिगुण वैभव, अपनी अव्यक्त सत्ताको अभिव्यक्त करता है—'गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः'—गुणाश्रित होकर भी अनन्त त्रिगुणशक्तिके प्रभावको प्रकट करता है, तब भी अपने पुरुष-तत्त्वसे विच्छिन्न नहीं होता। तब भी वह विराट् पुरुष रहता है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
(मुण्डक २। १। ४)

यह पुरुष ही गीतामें स्वरूपत्रयसम्पन्न है—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम। वही भागवतका लीला-पुरुषोत्तम है—

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्। (१०। २३। ३६)

परब्रह्म परमेश्वर पुरुष ही है—इस विषयमें शास्त्रकार, सिद्ध योगी, मुनि आदि कोई भी किसी प्रकारका संशय नहीं प्रकट करते। अब यह जिज्ञासा होती है कि इस परब्रह्म पुरुषका, इस ब्रह्मण्यदेवका स्वरूपरूप, नित्य तत्त्वरूप क्या है? गीतामें अर्जुनके 'शाश्वतं पुरुषं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्' श्रीकृष्ण वासुदेव हैं। श्रीकृष्ण ही आदिदेव हैं—'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च'। वे ही विभु हैं अर्थात् भूमा पुरुष हैं। वे ही शाश्वत पुरुष तत्त्व हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—इसकी आलोचना यहाँ नहीं करेंगे। श्रीगोपालतापनी श्रुति परमेश्वरके नित्य रूपके ध्यानके प्रसङ्गमें कहती है—'द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्'। द्वारकामें, हस्तिनापुरमें श्रीकृष्णभगवान् चतुर्भुज और द्विभुज हैं। कभी चतुर्भुज हैं, कभी द्विभुज हैं। नित्य तत्त्वमें श्रुतिकी ध्यानदृष्टिमें वे चतुर्भुज नहीं हैं, द्विभुज हैं।

श्रीकृष्ण या श्रीनारायणकी 'कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधर' की बात मैं पीछे कहूँगा। पहले यह जानना है कि 'पुरुष' क्या वस्तु है। पुरुष मानव-मूर्ति है। 'मर्त्यलिङ्गमधोक्षज' पुरुष मानवाकृति नहीं, अन्य रूप है—ऐसी धारणा नहीं की जा सकती। भागवतमें कहा है—'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभम्' (११। २०। १७)—नरमूर्ति सब मूर्तियोंका आदर्श है।' सभी जीवाकृतियोंकी मूल प्रतिमा है। निम्नतम जीव-समूह मानव-मूर्तिप्राप्तिके लिये क्रमशः ऊर्ध्वपथ आरोहण करके अग्रसर होते जा रहे हैं। अथवा इस मूर्तिकी भूमिसे अवरोहण करके दूर-दूर चले जा रहे हैं। मुख्य मानवाकृतिके सहस्रों विकृत भावोंसे सहस्रों जीवोंका आविर्भाव हो रहा है। जीवके क्रम-विकासकी जो विवर्त्तन-क्रिया है, जो लाखों वर्षोंका समुन्मीलन-क्रिया-प्रवाह है, उसकी पराकाष्ठा है मानवदेह। इसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर, पूर्णतर, सर्वाङ्गसुन्दरतर देहकी कोई कल्पना नहीं कर सकता। सबका अन्तःकरण, समस्त ज्ञान-विज्ञानका विचार मानवदेहको ही सर्वोत्तमरूपमें स्वीकार करता है।

निखिल देह-विभागके विन्यास और विकासमें मानव-देह ही Ne plus ultra 'पर न यत्परम्' है—जिससे बढ़कर, जिसके बिना और कोई प्रियतर, मनोज्ञतर नहीं है। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

हमने तैत्तिरीय-श्रुतिमे देखा हैं कि जीव-जीवनके अन्तर्गत सारे ही तत्त्व पुरुषाकृति हैं, पुरुषविध हैं। देह, प्राण, मन, ज्ञान, आनन्दको लेकर समुन्नत जीव पञ्चव्यूहात्मक होता है। देहमें, प्राणमे, मनमें, ज्ञानमें, आनन्दमें—विभिन्न भावोंमे जीव पुरुषविध है। अर्थात् देह जैसे पुरुषाकार है, प्राण भी वैसे ही तथा मन, ज्ञान, आनन्द भी वैसे ही पुरुषाकार हैं। क्या यह मूर्ति सबकी आद्य मूर्ति है? निश्चय ही देहसे प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द नहीं होते। आनन्द ही मूल तत्त्व है, आद्या-शक्ति है। आनन्दसे सब तत्त्वोंका उद्भव है—'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' वह आनन्द पुरुषविध है।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्यतर आत्माऽऽनन्दमय। तेनैष पूर्ण। स वा एष पुरुषविध एव।

अर्थात् यह आनन्द मूर्तिमान् है—पुरुष-मूर्ति है अर्थात् मानव-मूर्ति है। इस नराकृति परमानन्दके सम्बन्धमें भागवत कहता है—

'केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्।'

(१०।३।१३)

सब आत्माओंका आत्मा, सच्चिदानन्द परब्रह्मतत्त्व मूर्तिमान् है। यह सब शास्त्रोंकी पहली बात न होकर भी अन्तिम बात है, अन्तिम सिद्धान्त है।

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' से 'आनन्दरूपममृत यद्विभाति' होकर 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'

—इस विकासमार्गसे ब्रह्मतत्त्व बहुत दूरतक वक्रगतिसे घूमता हुआ अग्रसर होता है। अन्तमें बृहदारण्यक-श्रुति रहस्यका द्वार खोल देती है—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। × × स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्। ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्। ××ततो मनुष्या अजायन्त। (१।४।१,३)

सृष्टिके पूर्व यह विश्व आत्मा मात्र था। 'इदम् अग्रे आत्मा आसीत्'—यह पहले आत्मा था। यह आत्मा पुरुषाकार था, पुरुषविध था। पुरुषको अकेले-अकेले बहुत ही निरानन्द लगने लगा। पुरुष आनन्दस्वरूप होकर भी आनन्दके अभावका अनुभव करने लगा। यह जो आनन्दके अभावका अनुभव है, यह आनन्दका स्वभाव है; क्योंकि आनन्द प्रीतिमय है। प्रीतिका स्वभाव है अपनेको विलीन कर देना। प्रीति अपनेको दान करके ही पूर्ण होती है। अपने-आपमें पूर्ण होकर भी वह अपूर्ण है। 'एकाकी न रमते'—यह सृष्टिकी मूल मन्त्रशक्ति है। परब्रह्मके हृदयमें कामना जाग्रत् हुई। 'समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम्' तत्त्व होकर भी वह कामनासे चञ्चल हो उठा। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि'। सबसे आगे सर्वोपरि कामका उद्बोधन हुआ। 'सोऽकामयत। बहु स्या प्रजायेयेति।' उसने कामना की—मैं बहुतरूपमें बहुप्रज होकर अपनेको व्यक्त करूँगा। 'सोऽकामयत' कहकर ही तैत्तिरीय-श्रुति कहती है—'स तपोऽतप्यत्'—परब्रह्मकी कामना ही तपस्या है। पूर्णकामकी कामना ही तपःक्लेश है। जो प्रीति या अनुराग है, वह निरवच्छिन्न आनन्द नहीं है। आनन्दकी अपेक्षा गहन और गम्भीर भावशक्ति है, निविड़ आनन्द-वेदना है। ब्रह्मकी तपस्या यही स्वरूपान्तर्गत प्रेमानन्द-वेदना है। 'स तपस्तप्त्वा इद सर्वमसृजत यदिद किञ्च।' आनन्द ही निरानन्द है, वही तपस्या है, वही सृष्टि है, वही विसर्जन है, वही कर्म है। यह जीवाविर्भाव-तत्त्व है। 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'—यह परमेश्वरका आत्मविसर्जनमय यज्ञ है। 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।' इस सुगभीर श्रुति-वाक्यके अर्थ-रहस्यका यहाँ समाधान करना होगा।

विश्वका तथा विश्वातीत वैकुण्ठादि धामका जो परम तत्त्व, परमकारण तथा परमाश्रय है, वह पुरुषविध अर्थात् पुरुषाकृति है। सब कारणोंका कारण रम्य-रूपमय पुरुष है। जो 'लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' है, वह एक ही समय गुप्तरूप तथा व्यक्तरूप है। एक ही समय 'योगमाया समावृत' (गीता), 'त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतिः' (श्रीमद्भा० १०।१६।४२) और 'अनावृतप्रकाशः', 'पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः', 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद् भ्रूभङ्ग-संसूचितभूर्यनुग्रहः।' आदि उपनिषद्-साहित्यमें प्रायः सर्वत्र ही अनभिव्यक्त ब्रह्मविषयक वाक्य हैं। रूपको अनिरूपित रखकर ब्रह्मशक्ति, ब्रह्मविभाव, ब्रह्मानुभव प्रकार आदिका ही विवरण, विवृति, विचार उपनिषद्के ऋषियोंने प्रकट किया है। तिलमें जैसे तेल, दधिमें जैसे घी, काष्ठमें जैसे अग्नि रहती

है, वैसे ही ब्रह्म विश्वमय होकर विद्यमान है। वह अनन्त है, वह आत्मा है, विश्वरूप है, सत्य है, ज्ञान है, गुहाहित, गह्वरेष्ठ, पुरातन, दुर्दर्श, गूढ और अनुप्रविष्ट है। वह मनोमय, प्राणशरीरनेता तथा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर' है। वह सर्ववित्, सर्वकर्मा, सर्वकाम और अकर्त्ता है। वह सर्वरस, सर्वगन्ध है। वह ज्योति है—'तस्य भासा सर्वमिद विभाति।' वह 'हिरण्मये परे कोशे' ध्यानयोगद्वारा दर्शनीय है। चन्द्र-सूर्य उसके चक्षु हैं, वह तडिद्गर्भ मेघकी कान्तिवाला है। वह अज, ध्रुव, देव, विशुद्ध, 'प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख' है। वह अग्निमें, सलिलमें, ओषधि वनस्पतिमें है। 'स एको जालवानीशत ईशनीभिः' है। वह अचल होते हुए भी मनसे भी द्रुतगतिवाला है। देवगण नित्य उसके पीछे दौड़ते रहते हैं, तो भी उसे नहीं पकड पाते। इत्यादि रूपमय ब्रह्मके अरूप-वर्त्ममें अनन्त प्रकारकी उपलब्धिकी प्रणाली श्रुति प्रकट करती है।

यह ज्ञानमार्गकी ब्रह्मानुभावना है। परब्रह्मको जानने, समझने, धारण करनेमें इसी धाराका अनुसरण करना पड़ता है। ब्रह्मकी इस कल्याण-गुणावली, इस सुविमल विशेषण-समूहका अनुशीलन-अनुधावन करते-करते साधक भूल जाता है कि ब्रह्मरूपदर्शनमें ही सब साधनोंकी सार्थकता है। दर्शन ही प्राप्ति है। और जो कुछ है, सब अनुमानके आकाशपुष्पकी माला है। ज्ञान-मुग्ध साधक अमृतदुग्धरसपानकी बात भूल जाता है ज्ञानके शुष्क आनन्दके सशोषण, सम्मोहन, स्तम्भनके प्रभावमें, परंतु श्रुति तथा श्रुतिके द्वारा अनुगृहीत तत्त्वदर्शी ऋषि रूपकी बात नहीं भूलते। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' उनका मूल-मन्त्र है। 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुष ब्रह्मयोनिम्। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'—इत्यादि ऋषिकी परमाकाङ्क्षाका दिग्दर्शन है। 'अन्त शरीरे ज्योतिर्मयः,' 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्,' 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व' 'त पश्यते निष्कल ध्यायमान'। यह रूप, यह ज्योति तथा इसके दर्शनकी बात श्रुति कभी भूलती नहीं। प्राचीन ऋषि भी नहीं भूलते।

रूप ही तत्त्व है, तत्त्व ही रूप है। अरूप तत्त्व नहीं है। रूप और अरूप, इन दोनों मार्गोंपर चित्तका भाव प्रवाह चलता है। अरूप कभी रूप-भावनाका द्वार खोल नहीं सकता। परंतु रूप अरूप-भावनाके नाना स्रोतमें अपने प्रभावको प्रकट कर सकता है। रूपके अनन्त प्रतिरूप, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छायाएँ हो सकती हैं। एक रूपके, एक रूपमय तत्त्वके अनेक प्रभाव, अनेक विभाव, अनेक वैभव, अनेक भाव, अनेक शक्तियाँ, अनेक गुण तथा अनेक क्रिया होती हैं। रूपसे भिन्न भावमें विभावित होनेपर ही सब कुछ अरूपमें परिणत होता है—रूपमयके स्वरूपसे भिन्न होकर, केवल चिन्तनमात्र होकर निराकार हो जाता है, abstract concept हो जाता है। विभिन्न विभाव-भावनाकी छायामें—जिसका विभाव होता है, उसके रूपकी किरण आच्छन्न हो जाती हैं। गुण गुनते-गुनते रूपकी वर्णाबरी याद नहीं रहती। रूप विस्मृत होनेपर गुणकी रश्मियाँ धीरे-धीरे बुझकर हवा हो जाती हैं और अन्तमें निर्गुणके—निर्विशेषके आकाशमें विलीन हो जाती हैं। रूपानुभूतिके रसमें ही गुण फूलके समान फुल्ल रहता है, अन्यथा झड़कर दार्शनिकके अनादरकी धूलिमें लोटता है। ब्रह्म और साधक दोनोंका प्राण, सत्ता और सजीवन यह रूप है। ब्रह्मका रूप प्रतिष्ठित होते ही वह अपरिमित शक्ति-सौन्दर्य-सम्पदासे समृद्ध हो उठता है और तत्तत् ब्रह्म-वैभवके यत्किंचित् भावनाके प्रभावमें ही साधकका हृदय नव-नव भावरसमें तरङ्गित होता रहता है। मायाबन्धन छिन्न होना चाहता है। रूपका प्रत्याख्यान होनेपर 'रूप मिथ्या है' यह अकल्याणकारक ज्ञान प्रबल होता है और तब अन्धकार और शून्यकी यात्रा आरम्भ होती है। आनन्दकी किरणें, अमृतरसकी रश्मियाँ एक एक करके बुझने लगती हैं। ब्रह्म वैभव-भावनाके पूर्णैश्वर्यतत्त्वावशीलनकी स्वास्थ्य-सम्पद-में क्षयरोग—यक्ष्मा प्रवेश करता है। चिन्तन-समृद्धि दिन-दिन क्षीण होती रहती है। ज्ञान विज्ञानकी दरिद्रता दार्शनिक गर्वके, शून्य वेदान्तिक दम्भके उच्च प्रस्तरासनपर उपवेशन करके अन्तमें विशीर्ण होकर निर्वाणको प्राप्त होती है। जो दुर्बुद्धिवश रूपतत्त्वका परिहार करके निर्विकल्पतत्त्वके पथके पथिक बनते हैं, समस्त वस्तु-तत्त्व ही उनका बहिष्कार करके चले जाते हैं। वे नेति नेति भावनात्मक महाशून्य ब्रह्माकाशमें अपनेको उड़ाकर कृतार्थ होते हैं।

विश्व अनन्तरूपसम्पन्न है। समस्त अव्यक्त शक्तियाँ किसी-न-किसी सुयोग्य अथवा सुरम्य रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करती हैं। उत्पतनशक्ति विहङ्गमें अभिव्यक्त होती है, सन्तरणशक्ति मछलीमें, गुञ्जनशक्ति मधुपमें, ऊर्णाजालवयन-शक्ति ऊर्णनाभमें, पत्र-पुष्प-प्रकाशशक्ति वृक्षमें, वर्ण-गन्ध-सकलनशक्ति पुष्पमें, कलकूजनशक्ति कोकिलमें, विषदशन-शक्ति सर्पमें, चारुनर्तनशक्ति मयूरमें अभिव्यक्त हो। जगत्‌में जो कुछ देखा जाता है, सब किसी-न-किसी अव्यक्त

शक्तिका प्रकट प्रकाश है। निखिल शक्तियाँ जिस पराशक्तिसे सञ्चारित होती हैं वह पराशक्ति रूपमयी है। जगत्‌की सारी सञ्चारणशक्ति, सारी सृजनशक्ति, सारी प्रवर्तन-प्रगतिशक्ति आद्यरूपशक्तिसे प्रवर्तित होकर, दुरन्तरूपाकाङ्क्षासे प्रणोदित होकर पुनः-पुनः नव-नव-रूपप्राप्तिके अभियानमें प्रतिपल चल रही है। रूपाकाङ्क्षासे ही शक्ति अनुप्राणित होती है, dynamic बनती है।

'प्राकृत विश्व ही रूपका राज्य है। अप्राकृत आनन्द ब्रह्मका अतीन साम्राज्य है, सब आकाशवत् शून्य है, अमूर्त-शक्तिसिन्धु अथवा अनन्त अनिर्वचनीय सत्तामात्र है'—यह दार्शनिक समाजका एक निदारुण सत्कार है। प्रकृति जब रूप-रङ्गिणी है, रूपप्रकाशिनी है, तब पुरुष निश्चय ही रूपवर्जित, अरूप, निराकार है—यह अनुमान मिथ्या है।

'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'—इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रकृतिकी रूप-घोषणा करते हैं। परंतु प्रकृति तो पुरुषकी छाया है। 'छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।' पुरुषकी रूपशक्तिके सञ्चारके द्वारा ही प्रकृति रूपवती है। पुरुषके प्रभावसे जैसे प्रकृति चेतन होती है, अन्यथा वह अचेतन है, जडरूप है, वैसे ही पुरुषरूप प्रभावसे ही प्रकृति विचित्र-रूपसम्पन्ना होती है। विश्व जैसे रूपमें परिपूर्ण है, मूर्ति-विलसित है, ब्रह्मलोक भी उसी प्रकार रूप-परिपूर्ण है, मूर्ति-विलसित है। ब्रह्मधाम शून्यधाम नहीं है, पूर्ण है। उस पूर्णताके तत्त्वको श्रुति स्पष्टाक्षरोंमें व्यक्त करती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

'वह राज्य जैसे परिपूर्ण है, यह राज्य भी वैसे ही परिपूर्ण है।' श्रुति इस प्रकार न कहकर 'वह राज्य जैसे पूर्ण है, यह राज्य भी वैसे ही पूर्ण है' इस प्रकार कहती है। इस वाक्य विन्यासका विशेष तात्पर्य है। वह राज्य जैसे पूर्ण है, यह राज्य भी वैसे ही पूर्ण है—अर्थात् तदनुसार ही पूर्ण है, अर्थात् उस राज्यका छायानुगामी है। उस राज्यके सुदूर प्रतिबिम्ब विज्ञानसे यह राज्य निर्मित और रूपाकृत हुआ है। छान्दोग्य-श्रुति कहती है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ×× चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि—इति'।

श्रुति प्रकट करती है कि ब्रह्मतत्त्व श्याम है और ब्रह्मलोक शबल है अर्थात् विचित्र रूप-सामग्री-शोभासे सम्पन्न है। ऋषिके प्राणकी आशा है कि वह श्याम ब्रह्मके शरणापन्न होकर सर्वतोभावेन सत्त्वशुद्धि लाभ करके, समस्त मायामालिन्यसे विहीन होकर शत-शत-काम-रम्य शोभासामग्री-सम्पत्तिसे सम्पन्न ब्रह्मधाममें प्रवेश करे। तैत्तिरीय उपनिषद्‌के प्रारम्भमें भी यही तत्त्व प्रकाशित हुआ है। जो ब्रह्मविद्यामें पारदर्शी होकर ब्रह्मको प्राप्त करता है, वह सर्वज्ञ परब्रह्मका सहचर (सहचरी) होकर ब्रह्मलोकमें 'सर्वान् कामान् अश्नुते'—सब प्रकारके वाञ्छित विषयोंका उपभोग करता है। जिसके साहचर्यसे आनन्द-विलास, रस-सुखसम्भोग सम्भव है, वह ब्रह्मतत्त्व कभी निराकार, नीरस नहीं है, वह निश्चय ही रसमय रूपमय पुरुष है। अथर्वश्रुतिने ब्रह्मको पहले ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' कहकर वर्णन किया है। साथ ही यह भी कहा है कि उस ब्रह्मको जो हृदयगुहामें—हृदयदेशमें उपलब्ध करते हैं, अध्यात्मयोगसे प्राप्त करते हैं, वे ही उस ब्रह्मके साथ विविध प्रकारका आनन्द उपभोग करते हैं।

अतएव जो सत्यस्वरूप है, ज्ञान-विज्ञानमय तथा अनाद्यनन्त है, वही रूपवान् है, रसरञ्जित है, वही रूपब्रह्म है, रसब्रह्म है,—

'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

रस ही तत्त्व है, रस ही रूप है, आनन्द ही तत्त्व है, आनन्द ही रूप है। रूप ही तत्त्व है, तत्त्व ही रूप है; जो अरूप है, वह विज्ञान-विजृम्भण मात्र है। रूप माया-विलसित है—यह बात स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है, क्योंकि रूपमयका नित्य रूपरस विलास-वैभवका आयोजन करनेके लिये रूपमयकी अपनी अन्तरङ्गाशक्ति योगमाया सर्वदा व्याप्त रहती है।

अरूप ब्रह्मके अनुशीलनद्वारा जो ब्रह्म निर्वाण मुक्तिके रथपर आकाशमें आरोहण करते रहते हैं, अन्ततः 'अहं ब्रह्मास्मि' भावना ही उनके मुक्ति-पथका विघ्न बनी रहती है। 'अहं ब्रह्मास्मि'के कारण वे ब्रह्मतत्त्वसे विच्युत होकर अहङ्कारतत्त्वमें अथवा बुद्धितत्त्वमें बद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मको हटाकर बुद्धि रूपिणी माया साधकके चित्तपर अधिकार कर बैठती है। तब धीरे-धीरे ब्रह्मात्मवादीका पतन होने लगता है। इस साधन विपर्ययको लक्ष्य करके ही (१०।२।३२) भागवत सूचित करता है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

समस्त सौन्दर्यकी निर्यास-रस-मूर्ति जो रूप है, उस रूपके प्रति अनादर प्रकट करके जो निराकार-विज्ञानकी आराधनामें आत्मविसर्जन करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी वह चेष्टा फलवती नहीं होती, क्योंकि उनके मन-बुद्धि चित्त विशुद्ध नहीं होते, क्योंकि अन्तःकरणमें अहङ्कारका बीज उग जाता है। भक्तिहीनताका यही विषमय फल है। भक्तिहीनताका कारण है अरूपभावना। रूपप्रत्याख्यानके फलसे अहङ्काररूपिणी मायाके अधीन साधक साधन-भ्रष्ट होकर निम्नगामी हो जाता है।

रूपसाधना ही परमपुरुषार्थप्राप्तिका परम पथ है। ब्रह्मरूप ज्योतिसे प्राण-मन-नयन एक बार भर जायँ तो मायाका मोह-कुज्झटिकाजाल उस ज्योतिमें लुप्त हो जाता है। यह रूप ही अमृत है—'आनन्दरूपममृतम्'। रूप-विद्युत्के स्पर्शसे प्राणमें दिव्यानुराग प्रकट होता है। अनुराग-आनन्दके आवेगसे भरा हुआ प्रेमालोक प्रस्फुरित हो उठता है। प्रेमानन्दस्पन्दन वाञ्छित रूपब्रह्मको आकर्षण करके प्रेमीके प्राणके आलिङ्गनमें समर्पण करता है। 'भक्त्या मामभिजानाति'। प्रेमभक्ति ही ब्रह्मविज्ञान है। ब्रह्मविजय मन्त्र-शक्ति है। पूर्ण प्रेमभक्ति रूपकी अपेक्षा करती है। रूपमयके प्रति ही प्रेमोद्बोधन सम्भव है, प्रेमसाधना रूपके प्रभावसे ही सुधामयी होती है और 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।' अव्यक्त अरूपकी साधना क्लेशमय और अनिश्चय है। रूपप्रत्याख्यान करनेवालेके पतनका भय अधिक होता है। रूपवान् भगवान् अनुरागमयी व्रजकिशोरियोंको लक्ष्य करके कहते हैं—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८२ । ४५)

भगवत्-रूपतत्त्व सभी शास्त्रोंमें—नाना रहस्य-जालमें समावृत हो रहा है। रूपके इस रहस्यावरणका कारण क्या है, इसको हम स्वतन्त्ररूपसे अनुसन्धान करके देखेंगे। कुमार ध्रुवकी ब्रह्मरूपदर्शनस्वरूप साधनाकी सिद्धिके विषयमें यहाँ उल्लेख करके इस आलोचनाका उपसंहार करेंगे।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥

'हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम्' जो रूप है, वही रूप कुमारकी अध्यात्मसाधनाके परिपाकमें बाहर सम्मुख नयनगोचर हुआ—'बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श।'

जनक-दुलारी !

(रचयिता—डा० श्रीरामकुमारजी वर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मातु मेरी जनक-दुलारी नेह-पूरित है,
सुधि लेत जग के जरे-से जन-जन की।
माथे बीच तिलक करन हित नित्य चाहौं,
एक रेख रावरे चरन-रज-कन की ॥
निज सेवा सेवक सों ऐसी बनि आवै कछु,
जैसे लव-कुस कीन्ही इन चरनन की।
केवट को दीनी मनि-मुद्रिका उतारि तव,
धारौ मातु! मुद्रिका सो अब मेरे मन की ॥

चाहता है कि माँ उसके बिल्लीके बच्चेको ले ले तो वह पिल्ला पकड़े। दाऊके पास कितना अच्छा पिल्ला है। तीन चार पिल्ले और भी कूँ-कूँ करते उसके साथ आ रहे हैं।

'छोड़ दे, छोड़ दे इसे।' माताने दोनोंको एक साथ समझाना चाहा। 'इनकी माँ इन्हें दूध पिलायेगी।'

'हम दोनों इनको दूध पिलायेंगे।' तुतलाते हुए श्यामसुन्दरने माताकी ओर देखकर कहा।

'तू किसको-किसको दूध पिलायेगा?' माताको हँसी आ गयी।

बात ठीक है। मार्गमें धूलि धूसर यह कन्हाई अकेला तो है नहीं। इसके चारों ओर म्याऊँ-म्याऊँ करती यह घूमती बिल्ली और उसके बच्चे, वह दाऊके साथ कूँ-कूँ करती कुतिया अपने पिल्ले लिये आ रही है। ये मयूर इधर-उधर नाच रहे हैं और बंदरोंकी मण्डली मकानोंपर उछल-कूद इसीलिये तो कर रही है कि उसे नीचे आनेका अवसर मिले।

'मैं सबको दूध पिलाऊँगा।' कन्हाईने देखा इधर-उधर। उसके लाल-लाल अधरोंपर दूध-सा उज्ज्वल हास्य खिल उठा। बिल्लीका बच्चा लिये हुए उठ खड़ा हुआ वह घरमें चलनेके लिये। उसके बाबाके घरमें दूधका क्या टोटा है।

१४—हँसी

'कनूँ! वह बाट तो ले आ, लाल!' मैया चाहती है कि उसके पुत्रके हाथ-पैरोंमें कुछ शक्ति आये। यह चञ्चल प्रायः घरसे भाग जाता है। यहाँ कुछ काममें लगा रहे, यहीं खेलता रहे तो अच्छा।

'अरे, सब-के-सब मत उठा। एक ले आ।' हड़बड़ाकर मैयाने मना किया। छोटे-बड़े कई बाट एकके ऊपर एक रक्खे हैं। श्याम एक साथ सबको उठाना चाहता है। मैयाकी आज्ञाका पालन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नतासे दौड़ गया है, किंतु इतने बाट एक साथ उससे कैसे उठेंगे? उसके प्रयत्नमें यदि कोई खिसककर गिरे और चोट लगे तो। ?

नन्हा-सा कन्हाई—कटिमें कछनीतक नहीं है। अलकें बहुत कम बिखरी हैं। अङ्गोंमें कुछ थोड़े चिह्न हैं धूलि लगनेके, किंतु थोड़े ही हैं वे। मैयाने कुछ ही देर पहले पुत्रको उबटन लगाकर नहलाया है। उसकी अलकोंमें अब भी मैयाकी सजाई मालतीके पुष्पोंका छोटा-सा गुच्छा लगा है। नेत्रोंका कज्जल अभी भी फैला नहीं है और भालपर गोरोचनकी खौरके बीचका काला बिन्दु भी ज्यों-का-त्यों है।

कृष्णने मैयाकी ओर मुड़कर देखा और किंचित् हँसकर बैठ गया बाटोंके समीप। उसे कौन-सा बाट ले जाना है? सबसे बड़ा बाट ले जायगा वह। ले ही जाना है तो छोटा बाट क्यों ले जाय। लेकिन बड़ा बाट सबसे नीचे है। उसके ऊपरके दो एक बाट उठाकर बैठे-बैठे उसने धीरेसे भूमिपर रख दिये। अब शेष बाट बैठे-बैठे नहीं उठाये जा सकते। उठकर खड़ा हो गया वह और झुककर एक एकको उठाकर नीचे रखने लगा किसी प्रकार।

ओह! कितना भारी है यह बाट? श्यामसुन्दर दूसरे बाटोंको उठाने-धरनेमें ही थक गया है और उसपर यह तो पूरे ढाई सेरका है। कन्हाई दोनों हाथों उठानेका प्रयत्न कर रहा है उसे। मुख लाल-लाल हो गया है। भालपर स्वेद-बिन्दु छा गये हैं।

कृष्णचन्द्र इधर-उधर देखने लगा है। 'कोई सहायता नहीं करेगा?' मैया मना कर रही है। वह छोटा बाट लानेको कह रही है और हँस रही है। क्यों हँस रही है वह? श्याम छोटा बाट नहीं ले जायगा। वह तो इसीको ले जायगा। दोनों हाथोंसे पूरी शक्ति लगा रहा है वह।

यह दाऊ क्यों हँस रहा है? क्या मिल गया है इसे? यह तो ताली बजा-बजाकर नाच-नाचकर हँस रहा है। कन्हाईसे बाट नहीं उठता और यह हँसता है। मोहन अब रो पड़ेगा। कोई उठाकर उसके सिरपर बाट रख देता''। वह देख रहा है बड़ी कातरतासे इधर-उधर।

'नहीं उठता यह तुझसे? ला मैं उठा दूँ।' बहुत भली हैं माता रोहिणी। वे श्यामकी सदा सहायता करती हैं। बाट उठाकर कृष्णचन्द्रके मस्तकपर धर दिया है इन्होंने, किंतु हाथसे उसका पूरा भार उठाये हैं। श्यामने दोनों हाथों बाटको पकड़ रखा है मस्तकपर और बड़ी प्रसन्नतासे मैयाके पास आ रहा है। माता रोहिणी पीछे-पीछे बाट सम्हाले आ रही हैं।

'मेरा लाल ले आया बाट।' मैयाने अङ्कमें लेना चाहा। स्वयं बाट सिरपरसे ही सम्हालकर ले लिया, पर यह दाऊ क्यों हँस रहा है? यह तो हँसता ही जा रहा है। श्यामसुन्दर

बड़े भाईकी ओर मुड़कर अपनी सफलताके लिये हँस पड़ा है और हँसता हुआ यह दाऊ तो दोनों हाथ फैलाकर लिपट ही गया है उससे।

१५—क्रोध

'दाऊ कुछ अच्छा लड़का नहीं।' यह गोपी आज श्यामसुन्दरको खिझा रही है।

'अच्छा है, बहुत अच्छा है।' कृष्णचन्द्रने चौंककर देखा उसकी ओर और पूरे बलसे कहकर खड़ा हो गया। उसका दादा कहीं बुरा हो सकता है!

'उहुँ, तनिक भी अच्छा नहीं।' गोपी मुख बना रही है।

'तू अच्छी नहीं। बुरी है तू।' कन्हाई झगड़नेके लिये उद्यत हो गया है। वह इस गोपीकी नाक नोच लेगा। इसके केश खींचेगा। यह क्यों उसके बड़े भाईकी निन्दा करती है? वह धमका रहा है—'दादाको आने दे।'

'क्या कर लेगा तेरा दादा! बुरा लड़का है वह।' श्यामको अपने हाथोंसे रोक रखा है इसने। वह छटपटा रहा है। बार-बार हाथ बढा रहा है मुख या केश नोच लेनेके लिये।

'कनूँ! अरे यह क्या!' मैयाने देखा कि उसका नन्हा लाल गोपीसे हाथ छुड़ाकर घरमें दौड़ गया है। बड़े प्रयत्नसे दोनों हाथोंमें एक बड़ी-सी लाठी लिये आ रहा है। इतनी बड़ी लाठीको उठाकर ले आना ही उसके लिये श्रमसाध्य हो रहा है।

'मारूँगा इसे।' पतले-पतले लाल-लाल होठ फड़क रहे हैं। उज्ज्वल दन्तावली अधरको दबाये है। भ्रूमण्डल कठोर हो रहा है। कमल-दल-लोचन अरुण हो उठे हैं और उनमें जल आ गया है। दोनों हाथोंमें लाठी सम्हाले खड़े मर्षके नीलसुन्दरका श्रीमुख अरुण हो रहा है क्रोधसे।

'अरे ठहर!' मैया दौड़कर पास आ गयी है। इस चपलके लिये किसीके ऊपर लाठी पटक देना कोई बड़ी बात नहीं।

'यह दादाको बुरा कहती है। मैं इसे मारूँगा।' कृष्णचन्द्र मैयाको लाठी नहीं देना चाहता। वह तिरछे होकर खड़ा है। क्रोधसे काँप रहे हैं उसके पैर।

'कौन कहता है कि तेरा दादा बुरा है? तेरा दादा तो राजा है।' मैया अपने पुत्रको पुचकार रही है।

'दादा!' यह आया दाऊ। यह बाबाके पाससे दौड़ा-दौड़ा आ रहा है। श्यामने लाठी फेंक दी भूमिपर और दौड़कर बड़े भाईके पास पहुँचा—'तू इसे मार! यह तुझे बुरा बताती है।'

बड़े भाईका हाथ एक हाथमें लिये, दूसरे हाथसे गोपिकाकी ओर संकेत करता रोषमें भरा यह कन्हाई। गोपी अब साहस नहीं कर सकती। बड़े भाईके मुखकी ओर मुड़कर देख रहा है यह और दाऊ तो इसके इस मुखको देखनेमें ही मग्न है। इसकी बात समझने और गोपीकी ओर देखनेका उसे अवकाश ही नहीं।

१६—दुग्धपान

'मैया! मैया! कनूँ तो बछड़ा है।' दाऊ ताली बजा-बजाकर कूद रहा है, हँस रहा है। अपने छोटे भाईको गायके थनमें मुँह लगाकर दूध पीते देख बड़ी प्रसन्नता हुई है उसे।

दो क्षण ये दोनों न दीखें तो मैया व्याकुल हो जाती है। घरका काम-धंधा छोड़कर ढूँढने चल देती है। आज तो दोनों ही सबेरे-सबेरे बिना कलेऊ किये चुपचाप खिसक आये हैं गोष्ठमें। मैया, पता नहीं, कहाँ-कहाँ ढूँढती यहाँ पहुँची है।

'श्यामसुन्दर, तू बछड़ा हो गया है क्या रे!' मैया तनिक दूर ही खड़ी रह गयी है। उसका कृष्णचन्द्र भूखा है। गायका ही दूध वह कुछ पी ले, तो भी ठीक। घरमें तो बार-बार हठ करनेपर भी दूध पीना नहीं चाहता। पास जानेसे कहीं गाय इधर-उधर हटी ·· । थोड़ी दूर खड़ी मैया मन्द-मन्द हँस रही है।

कन्हाई गायका थन मुखमें लिये आँख उठाकर देख लेता है बछड़ेकी ओर। इतना सुन्दर, इतना चञ्चल बछड़ा क्या बुरा है जो दाऊ और मैया उसे बछड़ा बताती है? बछड़ा बनना अच्छा ही लगता है उसे और बछड़ा तो कूद रहा है, फुदक रहा है, बराबर उसको सूँघकर अद्भुत शब्द करता है—''म्याँ!''

मैया देखती है अपने पुत्रको और अपनी इस कपिलाको। कितनी सीधी, कितनी स्नेहमयी है यह कपिला भी। गर्दन घुमाकर बारबार सूँघती है कृष्णचन्द्रको। बारबार हुंकार

कर रही है। बार-बार जिह्वा निकालती है चाट लेनेको और फिर हटा लेती है। इतना समझती है यह कि उसकी रूखी जीभ इस सुकुमार शरीरको छूने योग्य नहीं है।

'कन्हूँ बछड़ा है।' दाऊ उछल रहा है प्रसन्नतासे।

मोहन थनसे मुख हटाकर मैयाकी ओर देख रहा है। दूधसे भरा है उसका मुख और मुसकरा रहा है वह। पतले लाल अधरसे दूधकी बूँदें गिर रही हैं।

'आ! आ जा, लाल!' मैयाने दोनों हाथ बढ़ा दिये उल्लाससे। किंतु कपिलाके चारों थनोंसे जो उज्ज्वल धारा झर रही है, अभी उससे यह तृप्त कहाँ हुआ है। यह तो फिर मुख घुमाकर लग गया है दूध पीनेमें।

दोनों हाथ भूमिपर टेके, घुटनोंके बल गर्दन कुछ ऊपर उठाये, मुखमें गायका थन लिये यह श्यामसुन्दर! अब तो दाऊ भी अपने छोटे भाईके सामने गायकी दूसरी ओर आ बैठा है। अपना मुख खोलकर दोनों छोटे हाथोंसे गायका थन पकड़कर वह मुखमें दूधकी धारा लेने लगा है।

१७—कछुआ भी, मछली भी

'दाऊ मुझे कछुआ कहता है।' मोहन बड़े भाईके विरुद्ध मैयाके पास अभियोग ले आया है। उसकी सुन्दर भौंहे और सुन्दर हो उठी हैं। मैयाका एक हाथ पकड़कर दूसरे हाथसे वह दाऊको दिखा रहा है। यह दाऊ उसे पानीका कछुआ बताये, यह भी कोई बात है।

'मैया, यह मना करनेपर भी पानीमें जानेसे नहीं रुकता। पानीमें तो कछुआ ही देरतक रहता है न?' दाऊने भी मैया-का दूसरा हाथ पकड़ लिया आकर।

'तू पानीमें क्यों जाता है?' मैयाने दाऊका पक्ष लिया। वह स्वयं नहीं चाहती कि श्याम यमुनातटपर खेलते समय जलमें उतरा करे।

'तू मछली है।' कन्हाईने मस्तक झुकाकर सोचा। जब मैया उसका पक्ष नहीं लेती, तब दाऊको चिढ़ानेका कोई उपाय उसे स्वयं निकालना ही चाहिये।

'मैं क्या पानीमें रहता हूँ कि मछली हूँ?' दाऊने मुँह बनाया। उसे मछली बनना बिलकुल पसंद नहीं।

'मछली है तू, मछली!' श्यामने मैयाका हाथ छोड़ दिया और ताली बजा-बजाकर नाचते हुए बड़े भाईको चिढ़ाने लगा। मैया अब इन दोनोंके बीचमें पड़ना नहीं चाहती। वह तो नाचते, मुख मटकाते श्यामकी शोभा देख रही है।

'तू ही कछुआ भी है और मछली भी।' दाऊने भी चिढ़ाया बदलेमें। 'हैं!' श्यामने नृत्य करना बंद कर दिया। वह अकेला ही कछुआ भी और मछली भी। बड़ी विचित्र भङ्गीसे वह देख रहा है बड़े भाईकी ओर।

'तू काला-काला कछुआ है और गिलगिली-सी मछली है।' दाऊने विशेषण जोड़े और ताली बजाकर हँसने लगा।

लो, श्याम धपसे भूमिपर बैठ गया। वह दोनों हाथ खीझकर हिला रहा है। मस्तक झकझोर रहा है। ऊँ-ऊँ कर रहा है। वह भले कछुआ या मछली होता, पर काला-कलूटा कछुआ और गिलगिली मछली एक साथ बनना उसे बहुत खराब लगता है।

दाऊ ताली बजाकर कूदता हुआ चिढ़ा रहा है। श्याम भूमिपर बैठा खीझ रहा है। अब वह लोट जायगा—भूमिपर लोट जायगा। क्यों चिढ़ाता है यह दाऊ उसे।

मैया झुककर पुचकार रही है। उठा रही है और दाऊको कृत्रिम रोषसे नेत्र बनाये हुए धमका रही है। भला, मैयाका यह कन्हूँ कछुआ-मछली कैसे हो सकता है।

१८—भोजन

'ले, मुख खोल।' बाबाने दही-भातका नन्हा-सा मीठा ग्रास उठाया, किंतु मोहनने हँसकर मुख घुमा लिया।

श्रीव्रजराज भोजन करने बैठे हैं। उनकी थालीके पास दाहिनी ओर राम और बाँयी ओर श्यामका आसन लगा है। बाबा दोनों बालकोंके मुखमें ग्रास देते जा रहे हैं।

बालक कहीं पण्डितोंकी भाँति चुपचाप गुमसुम भोजन करते हैं! श्याम बीच-बीचमें उठ खड़ा होता है। कभी वह नाचता है, कभी मटकता है, कभी दाऊके पास आ बैठता है, कभी बाबाके पीछे जा खड़ा होता है। दाऊ अपने छोटे भाईके उठते ही उसीकी ओर देखने लगता है। बाबा बार-बार पुचकारकर कन्हाईको बुलाते हैं। वह अनेक बार मुख बंद कर लेता है ग्रास लेनेके समय। बाबा उसे फुसलाकर खिलाते हैं। मैया पंखा झलती पास आ बैठी है, अपने लालकी लीला देख-देखकर मग्न हो रही है। वह भी बार-बार श्याम को पुचकारकर भोजनके लिये प्रोत्साहित कर रही है।

दाऊ कभी स्वयं ग्रास उठाकर अपने छोटे भाईको

खिलाता है, कभी बाबाको खिलाता है, कभी स्वयं खाता है। श्याम कभी थालीमें पूरा हाथ नचाता है, कभी हथेली भर देता है और कभी अंगूठे और तर्जनीसे एक चावल उठाकर अपने मुखमे रखता है बहुत धीरेसे।

मोहन कभी एक चावलका नन्हा ग्रास बड़े भाईके मुखमे झुककर देता है और कभी बाबाके मुखमें देनेको हाथ उठाता है। बाबा मुख झुकाकर उसके करका चावल ले लेते हैं मुखमें।

कभी बीचमें श्याम वही एक चावलका ग्रास लिये बॉयीं हथेली भूमिपर टेककर उठता है और मैयाके पास पहुँच जाता है। सब भोजन करते हैं तो मैया क्यों बैठी रहे। वह मैयाके मुखमें ग्रास देनेको हाथ बढाता है। व्रजराजके अधरों-पर मुसकान आ जाती है। मैया हँसते-हँसते मुख हटा लेती है और किसी प्रकार हाथमे वह ग्रास ले लेती है। कन्हाई बीच-बीचमें मैयाका हाथ या साड़ी पकड़कर खींचता है—'चल, तू भी खा।' मैया हँसती है और किसी प्रकार मनाती है।

श्रीव्रजराजकी दाढी और पेटपर उनके पुत्रोंने उजली बूँदें गिरा दी हैं। राम-श्यामके मुख, कर, वक्ष, उदर दधि-चावलसे भूषित हो रहे हैं।

'तेरा पेट भर गया?' मुख हटाते श्यामसे बाबाने पूछा। पेट भरना चाहिये, यह तो कन्हाईने सोचा ही नहीं था। भोजन तो मुखमें लेनेकी वस्तु है, उससे पेट भी भरा जाता है! बाबाका पेट तब अभी कहाँ भरा है। उसमें अभी एक छोटा गड्ढा दीखता है। कन्हाई अपना एक चावलका ग्रास उठाकर बाबाकी नाभिमें भर रहा है। बाबाका पेट भर रहा है वह, फिर यह मैया इतनी हँसती क्यों है?

१९—रूठा दाऊ

'कनूँ, तेरा दादा रूठा बैठा है। उसे मना ला, लाल।' मैया जानती है कि रूठनेपर दाऊको केवल उसका छोटा भाई ही मना सकता है।

श्याम रूठता है तो पृथ्वीपर लोटपोट हो जाता है। पैर तथा हाथ जोर-जोरसे हिलाता है, मैयाके केश-वस्त्र नोचता है और जो वस्तु हाथमें आ जाय, उसे पटक देता है। दहेंड़ियाँ और मटके फोड़ देता है। माखन फेंकने लगता है। दही-दूध पृथ्वीपर ढुलका देता है। जो भी उपद्रव करते बनता है, सब करता है।

दाऊ प्रसन्न हो तो भले मैयाकी चोटी खींच ले और दही-माखन फैलाकर खेले; किंतु रूठनेपर वह गुमसुम बन जाता है। घरके किसी कोनेमें जा बैठता है और कोई मनाये, कोई पुचकारे, आँख उठाकर देखेगा भी नहीं उसकी ओर।

कृष्ण अनेक बार रूठता है और उसके रूठनेमे भी एक छटा, एक आनन्द, एक मोहकता है। वह रूठे तो मैया मना लेगी; किंतु दाऊका रूठना—यह जन्मसे पूरे एक वर्षतक—श्यामसुन्दरके जन्मतक न तो बोला और न हँसा या मुस्कराया; गूँगा बना रहा वर्षभर। इसके रूठनेसे मैया डरती है। कोई नहीं चाहता कि यह रूठे। इसे डाँटनेकी बात भी कोई नहीं सोचता।

आज दाऊ रूठ गया है। मैया मोहनको डॉट रही थी, यह छोटे भाईको बचाने आया तो इसकी बात नहीं सुनी गयी। अब रूठकर कोनेमें जा बैठा है। कोई कन्हाईको कुछ कहे, यह बिलकुल सह नहीं सकता।

'लाल!' मैयाने देखा इसे मुख लटकाकर हटते और चौंक गयी। झट पुचकारने लपकी, गोदमें उठाया, मुख पोंछा; किंतु दाऊ तो रूठ चुका। वह क्या इतनी सरलतासे मानता है? मैयाकी गोदसे उतर गया और कोनेमें जा बैठा है।

श्यामसुन्दर बड़े भाईके पास आ गया, कंधेपर हाथ रखकर दो क्षण पीछे खड़ा रहा, सामने आया और फिर बैठ गया। दाऊ तो देखता ही नहीं उसकी ओर। उसने तो मुख झुका रखा है और नेत्र नीचे कर लिये हैं। मोहनने बैठे-बैठे ही झुककर अपना मस्तक भूमिपर रख लिया है। ऊपर मुख करके वह झाँककर देख रहा है बड़े भाईके नेत्रोंकी ओर।

'दादा!' बड़ी मधुरतासे एक क्षण भूमिमे सिर रखकर स्थिर रहनेके पश्चात् बुलाया श्यामसुन्दरने। अब क्या दाऊ रूठा ही रहेगा? अपने अनुजके इस भोले सुन्दर मुखको नहीं देखेगा वह? उसके नेत्र खुल गये हैं। देख रहा है वह कन्हाईकी ओर।

'दादा!' श्यामने मस्तक उठा लिया है और अपने बड़े भाईके दोनों कपोलोंपर अपने नन्हे कर रखकर मना रहा है उसे। किंतु अब दाऊ रूठा कहाँ है? वह कहीं श्यामसे रूठ सकता है?

२०—निर्माण

'दादा, मेरा घड़ा देख!' श्यामसुन्दरने गीली मिट्टीके एक छोटे गोलेमें थोड़ा गड्ढा बना लिया है। वह प्रसन्न हो रहा है कि उसने तनी शीघ्र घड़ा बना लिया।

'घड़ा कहीं ऐसा होता है? यह तो हँड़िया भी नहीं है।' यह मण्डलीभद्र चिढ़ाने लगा है मोहनको।

'तेरा कुछ नहीं बना है? तुझे कुछ बनाने नहीं आता।' अब झुँझलाकर कृष्णने अपना खिलौना पटक दिया और मण्डलीभद्रके सारे खिलौने मसल दिये। कोई इसे चिढा दे तो फिर उसके खिलौने बचे कैसे रह सकते हैं। यह तो एक ओरसे सभी बालकोंके खिलौने हाथोंसे, पैरोंसे कुचलने, मसलने, बिगाड़ने लगा है। जो अपने खिलौने छिपाना, बचाना चाहते हैं, उनसे झगड़ रहा है। उनके खिलौने बिगाड़नेको छीना-झपटी कर रहा है। इसका खिलौना नहीं बना, तो दूसरोंका कैसे बना रहेगा।

वर्षा होकर निकल गयी है। भूमि गीली है अब भी, किंतु आकाश स्वच्छ है। प्रातःकालीन धूपने वृक्षोंकी चोटियोंको सुनहला कर दिया है। झुंड-के-झुंड छोटे-छोटे बालक गोकुलमें नन्दभवनके सामने मार्गके दोनों ओर एकत्र हो गये हैं। अभी-अभी घरोंसे आये हैं वे। सबके केश सँवारे गये हैं। सबके नेत्र अञ्जनरञ्जित हैं। सबके शरीर नाना अलंकारोंसे अलकृत हैं। कुछ कछनी लगाये हैं, कुछ दिगम्बर हैं।

बालक गीली मिट्टीसे खिलौने बना रहे हैं। अपने हाथ-पैर उन्होंने मिट्टीसे सान लिये हैं। कोई खड़ा है, कोई बैठा है। वे अपनी समझसे घड़े, हँड़िया, दीपक, गाय, बछड़े, मनुष्य आदि बना रहे हैं मिट्टीसे और फिर बड़े उल्लाससे दिखलाते हैं दूसरोंको।

कन्हाई झगड़ रहा है, उलझ रहा है, सबके खिलौने बिगाड़ रहा है। इसके कर-चरण तो मिट्टीमें सने ही हैं, स्निग्ध शरीरपर स्थान-स्थानपर मिट्टीकी रेखाएँ इस झगड़ेमें लग गयी हैं। अलकें बिखर गयी हैं। कछनी ढीली-ढाली हो गयी है। बच्चे अपने खिलौने बचानेके ही प्रयत्नमें हैं, पर यह बलात् झगड़ रहा है, झपट्टे मार रहा है और इतनेपर भी स्वय रो रहा है। बड़ी-बड़ी बूँदें नेत्रोंसे कपोलोंपर आ गयी हैं इसके।

'तू रो मत। मैं तेरे लिये घड़ा बना देता हूँ।' दाऊ अपने छोटे भाईको मना रहा है। अपने मिट्टीसे सने हाथसे ही उसके अश्रु पोंछ रहा है।

'मैं बनाऊँगा, तू यहाँ बैठकर देख। तू मत बना।' कन्हाई चाहता है कि दाऊ अलग कुछ न बनाये। दाऊ भी बैठ गया है छोटे भाईके सामने। झुककर बड़े ध्यानसे वह कन्हाईके प्रयत्नको देख रहा है और सम्मति भी देता जाता है।

लोग कहते हैं कि यह इतना बड़ा ब्रह्माण्ड इसीने बनाया है। हाथमें मिट्टीका नन्हा गोला लिये जितने प्रयत्न, जितनी एकाग्रतासे यह एक खिलौना बनानेमें जुटा है, उतने प्रयत्नसे क्या ब्रह्माण्ड बनाया होगा इसने?

२१—उलझन

'कन्नूँ!' दाऊ क्या करे? उसका यह छोटा भाई बहुत अधिक चञ्चल है और प्रायः दाऊके शरीरपर ही लोटपोट हुआ करता है। कभी गलेमें दोनों हाथ डालकर पीठपर चिपकेगा, कभी पेटपर सिर रखकर सोना चाहेगा और कभी बगलमें सटकर बैठ जायगा। न इसे बड़े भाईके बिना चैन पड़ती और न दाऊसे इसके बिना दो क्षण रहा जाता है। आज इस चपलने अपना सिर बड़े भाईके सिरपर रखकर खूब हिलाया, रगड़ा और अब दोनों भाइयोंकी घुँघुराली अलकें परस्पर उलझ गयी हैं। दाऊ बहुत चाहता है कि सुलझा ले इस उलझनको, पर यह क्या उसके बसकी बात है? उसके छोटे-छोटे हाथ केशोंकी उलझन कैसे सुलझायें?

यह कन्नूँ पूरा नटखट है। केश उलझाकर अब हँस रहा है। ताली बजाकर मग्न हो रहा है। इसे अब इसमें कोई झझट ही नहीं दीखती कि अपना सिर बड़े भाईके सिरसे दूर हटाया नहीं जा सकता। यह तो सिर हिला-हिलाकर दाऊके प्रयत्नको और भी विफल किये दे रहा है। बार-बार अग्रजकी ओर देखता है और हँसता है। इसके खिले लोचन कहते हैं—'दादा! तेरी अलकें उलझ गयीं।' जैसे इसकी अलकें उनमें नहीं उलझी हैं।

केश खिंचेंगे तो कृष्णको कष्ट होगा। दुखेगा इसका सिर। दाऊ अच्छी उलझनमें पड़ गया है। कन्हाई हँसता है, सिर हिलाता है और दाऊको अपना मस्तक उसके मस्तकसे सटाये रखना पड़ता है।

'चल, मैयाके पास चलें।' हाथ पकड़कर बड़े भाईने

छोटे भाईको उठाया।

नन्हा-सा दिगम्बर कृष्णचन्द्र—कटिमें मेखला और चरणमें रुनझुन करते नूपुर। बड़ा प्रसन्न है। अटपट पदोंसे नाचता-सा, झूमता-सा, बीच-बीचमें ताली बजाता जा रहा है। अपने अनुजका कंधा पकड़े उससे कुछ अगुल बड़ा उसका स्वर्ण-गौर अग्रज कटिमें जरा-सी नीली कछनी बाँधे अपना सिर कुछ झुकाये बड़े प्रयत्नसे इस चेष्टामें लगा है कि कहीं उसका मस्तक छोटे भाईके मस्तकसे कुछ अगुल हट न जाय। उसका प्रयत्न बहुत कठिन है; क्योंकि यह कनूँ तो तनिक भी ध्यान ही नहीं देता कि अलकें उलझी हैं।

'मैया!' दाऊने मैयाको पुकारा। मैया ही पास आ जाय तो इस प्रयत्नपूर्वक चलनेके श्रमसे बचा जा सके। 'कनूँने मेरे केश उलझा दिये हैं।' कन्हाईको इस अभियोगमें कोई आपत्ति नहीं। वह ताली बजाकर हँस रहा है।

'यह क्या किया तुम दोनोंने?' मैया हँस उठी देखते ही। वह अपने दोनों पुत्रोंको सामने बैठाकर उनकी उलझी अलकें सुलझाने लगी है।

कर भला, हो भला; कर बुरा, हो बुरा

(लेखिका—बहिन श्रीकृष्णा सहगल)

[गताङ्कसे आगे]

रामलालके पड़ोसमें लाला बौंसीराम नामक एक सराफ रहता था। उसकी पत्नीका नाम था ईरषा। वह सर्वथा अपने नामके ही अनुरूप थी। इन दोनोंसे रामलालका वैभव नहीं देखा गया। ईरषा पहले तो कमलासे कभी सीधे मुँह बात भी नहीं करती थी; परंतु जबसे कमलाके पास धन आया, तबसे वह कमलाकी बड़ी अन्तरङ्ग सहेली बन बैठी—प्रतिदिन उसके घर जाती, ऊपरसे तो मीठी-मीठी बातें करती, परंतु मनमें उससे द्वेष रखती और भीतर-ही-भीतर सदा जलती रहती। कजूस वह इतनी थी कि उसके द्वारपर यदि कोई भिखारी भूला-भटका आ जाता तो उसे पैसा मिलना तो दूर रहा, हाँ गालियोंकी बौछारसे उसका अच्छा सत्कार अवश्य होता। गाँवभरमें उसकी कृपणता प्रसिद्ध थी—यहाँतक कि कोई भी व्यक्ति उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं रखता था। वह थी भी बड़ी झगड़ालू प्रकृतिकी—जहाँ-कहीं भी बैठती, हर-किसीकी निन्दा-चुगली करती और एक दूसरीसे लड़ाइयाँ करवाती रहती।

यों तो लाला बौंसीरामके पास धनकी कमी न थी, पर वह सब धन अनुचित रीतिसे ही कमाया गया था। उसकी अपनी खून-पसीनेकी कमाई न थी। उसकी जवाहरात तथा आभूषणोंकी अपनी दूकान तो थी ही, वह गहने बनानेका काम भी करता था फलतः वह लोगोंके गहने बनाते समय उनमें आधेसे भी अधिक खोट डाल देता और उनसे दाम लेता पूरे सोनेके—इस प्रकार बेचारे कई भोलेभाले देहाती उसके द्वारा ठगे जाते। पैंडू लोग विवाह-शादियोंमें तो अच्छे खासे ठोस सोनेके जेवर बनवाते हैं, बौंसीरामका नाम विख्यात हो गया था, इसके बाप-दादाके समयकी दूकान चलती थी और वे ईमानदारीसे काम करते थे। इसलिये आसपासके भी सभी गाँवोंसे लोग उसीके पास आते। वह वजन करनेमें भी गड़बड़ी कर जाता, एक तोलेको सवा तोला कहता, आठ माशेको दस माशे बताता, चार रत्तियोंकी उसके यहाँ छः रत्तियाँ बन जातीं, अपढ़ लोग उसके माप-तौलको क्या जानें; आखिर जबान भी तो कोई चीज है, लोग उसकी बातका विश्वास कर जाते। झूठे मोतियोंको सच्चा कहकर बेच देता। इस प्रकार निस्सदेह उसके पास धन बहुत अधिक हो गया था, पर उसका दिल बड़ा नहीं था। वह दान देनेमें या किसी दीन-दुखियाकी सहायता करनेमें सर्वथा अनुदार था। कोई उससे सहायताके लिये कहता तो वह तमककर उत्तर देता—यदि कोई सम्बन्धी गरीब है तो हम क्या करें! हमारे पास क्या आसमानसे पैसे टपकते हैं, हम भी तो मेहनत-मजदूरी करते हैं, दिनभर दूकानपर बैठना पड़ता है, बहीखातेका सारा हिसाब रखते हैं, दौड़-धूप मगज-पच्ची करते हैं, तब कहीं जाकर चार पैसे बनते हैं।

वे दोनों पति-पत्नी थे भी बड़े घमंडी, अपने धनके मदमें सदा चूर रहते। किंतु भगवान् तो सब कुछ जानते हैं; उनका इस प्रकार बोखेसे कमाया पैसा भी उल्टी राहसे निकल जाता, कभी बेटा बीमार हो जाता तो कभी बेटी। डाक्टर-

वैद्य उनसे दुगुनी फीस ले जाते। एक बार घरमें सेंध लग गयी और चोरोंने अच्छी खासी रकम उड़ा ली। चूँकि वे किसीके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे, इसलिये गाँव-वाले भी ऊपर-ऊपरसे तो उनके साथ सहानुभूति प्रकट करते, परंतु मनमें प्रसन्न ही होते। एक बार लच्छू भंगीका बेटा बड़ा सख्त बीमार पड़ा, उसे इलाजके लिये कुछ रुपयोंकी आवश्यकता थी। उसकी पत्नीने आकर बड़ी दीनताके साथ ईरषासे कुछ सहायता माँगी, पर ईरषाने उस बेचारीको टका-सा जवाब दे दिया। खैर, यह तो उसके दैनिक कारनामोंकी बात हुई, अब जरा आगेका हाल भी सुनिये।

हाँ तो हम कह रहे थे कि लाला धौंसीराम और ईरषा रामलाल तथा कमलाके वैभवको देखकर जला करते थे। एक बात जो उन्हें बहुत अखरती थी, वह थी उनकी मान-प्रतिष्ठा। गाँवके सभी लोग उनके शील एवं गुणोंके कारण प्रसन्न होकर उनकी प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा करते। वैसे ईरषाका आना-जाना तो उनके घरमें अब बहुत अधिक था। उसने एक दिन बात ही-बातमें कमलासे उनके इतने धनी बन जानेका रहस्य पूछा। कमला बेचारी सरल स्वभाव और निष्कपट हृदयकी स्त्री थी। उसे हेर-फेर या छल-छिपाव करना नहीं आता था। उसने अपने भोलेपनसे उसे सारी गाथा कह सुनायी। ईरषाने घर आकर वह सारी-की-सारी बात ज्यों-की-त्यों अपने पतिको सुनाते हुए कहा कि अबसे तुम भी मदिरापान किया करो। धौंसीराममें यदि कोई अच्छी बात थी तो यही कि उसमें जुआ खेलने या मदिरा इत्यादि पीनेका व्यसन नहीं था। अब ईरषा कमलाके वैभवको देखकर सदा-सर्वदा उसे मद्यपान करनेके लिये कहती। पहले-पहले तो धौंसीरामने बात नहीं मानी, परंतु फिर उसने सोचा—'हर्ज ही क्या है, एक-दो घूँट पीनेसे मुझे कोई लत थोड़े ही पड़ जायगी। आखिर ईरषा भी तो धन कमानेके विचारसे ही कहती है न; समझूँगा कि यह भी एक व्यापारका तरीका है, और उसने पीना शुरू कर दिया। अब मदिरा जो उसके मुँह लगी और मस्तीमें झूमनेका जो नया स्वाद पड़ा तो वह व्यसन फिर घर-बाहर चौपट होनेपर भी न छूटा। ईरषाने कहा कि 'अब तुम मुझको कभी-कभी मारा करो।' धौंसीराम तो बड़ा पत्नीभक्त था, उसने आजतक पत्नीकी कभी उपेक्षा भी नहीं की थी और न कभी वह उससे बुरी तरह पेश ही आया था। इसलिये पत्नीपर हाथ उठानेको उसका मन नहीं होता था। परंतु जब ईरषाने बड़ा हठ किया, तब उसने झूठ-मूठ ही अनमने होकर दो-चार हलके हाथ जमा दिये। ईरषाने रोना शुरू कर दिया और अगले ही दिन भगवान्‌के पास शिकायत लेकर चल पड़ी।

चलते-चलते मार्गमें उसे वही बूढ़ी मिली। उसने ईरषाको देखकर उसे कहा कि 'तुम जरा मेरी मटकी उठवाकर मेरे सिरपर रखवाती जाओ' परंतु कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली—कहाँ इतने बड़े धनी सराफकी पत्नी और कहाँ वह भिखारिन बुढ़िया। उसका और ईरषाका मुकाबला ही क्या? ईरषाने इसको अपना अपमान समझा और लगी मनमें सोचने—'ऊँह, मैंने आजतक घरपर भी कभी कोई मटका-बटका नहीं उठाया। सभी काम दास-दासियाँ करती हैं। इस बुढ़ियाकी मजाल तो देखो—बड़ी आयी है मुझपर हुक्म चलानेवाली—कहती है मटका उठवा दो।' ईरषाका मुख क्रोधके मारे तमतमा उठा और वह अपने बड़प्पनकी शानमें तुनककर बोली—'जा-जा, अपना काम कर, मुझसे नहीं उठाया जाता तेरा यह बोझा। नहीं उठता था तो क्यों घरसे चली थी? अपने बेटे-बेटियोंमेंसे किसीको साथ ले आयी होती, वह उठा देता। मैं क्या तेरी नौकरानी हूँ और बिल्कुल निठल्ली बैठी हूँ? मेरा अपना समय बहुत मूल्यवान् है, मैं व्यर्थमें तुझ-जैसी गंदी औरतोंके काम करनेमें अपना समय नष्ट नहीं कर सकती।' और वह भुनभुनाती हुई आगे निकल गयी। कुछ दूर चलनेपर उसे भी वही कोढ़ी मिला और उसने वही कमलावाली बात उसके आगे दोहरायी। ईरषाने तो कोढ़ीको देखते ही अपनी आँखोंपर हाथ रख लिये और घृणासे अपने-आप ही बोल उठी 'छिः-छिः, राम-राम-राम—इतना गंदा शरीर कोढ़से भरा हुआ, देखते ही जी मिचलाता है। कौन इसके गंदे लोटेको हाथ लगाये और इस चमचमाती धूपमें पानी लाकर दे। मैं तो इसकी गंदी देहीको खींचकर कभी भी छायामें नहीं कर सकती। इस मूर्खको कहते भी शर्म नहीं आती—इन निगोड़े भिखमंगोंकी बिसात तो देखो, न आन देखते हैं न बान—इसको पता नहीं कि मैं कौन हूँ। मुफ्तखोर कहींके, माँगकर खाना आसान जो है। इसीलिये'''और फिर वह कुछ अकड़कर रोषसे बोली—'बेटीको बुखार था तो मैं क्या करूँ? तुम्हारे बापकी नौकर थोड़े ही हूँ। तू भी घरपर ही बैठता। हमारे पास भी घर लुटानेको पैसे नहीं हैं। मेहनतकी कमाई है, मेहनतकी; तुम लोगोंको तो झोली पसारकर माँगनेकी आदत पड़ गयी है।' और वह थू-थू करती मुँहपर रूमाल रखकर नाक-भौं सिकोड़ती आगे

चली गयी।

कुछ दूरीपर उसे वे ही चरवाहे मिले और उन्होंने उसको भी पानी पिलानेको कहा। ईरषा उनसे भी अभिमानपूर्वक बोली—'मैं क्या करूँ? गौओंकी रखवालीके लिये अपने किसी साथीसे कहो, वह कर देगा। मेरा समय बहुत कीमती है, मैं उसे व्यर्थ कामोंमें नहीं गँवा सकती। हट्टे-कट्टे जवान हो, खुद जाकर कहीं झरना ढूँढ लो। मुझे क्या बेगार पड़ी है जो तुम-जैसे अच्छे-भले जवानोंको इतनी दूरसे पानी लाकर दूँ?' और वह अपने ही घमंडमें बड़बड़ाती आगे बढ गयी।

मन्दिर अब निकट ही था, ईरषाने वहाँ पहुँचकर भगवान्की मूर्तिको नमस्कार किया और बड़े घमंडके साथ एक अठन्नी वहाँ फेंक दी। भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, उन्हें धनकी चाह-परवा थोड़े ही है। उन्होंने तो दुर्योधनके स्वादिष्ट पदार्थों और मेवेको त्यागकर विदुरके प्रेमसे आकर्षित होकर उसका साग ही स्वीकार किया था। अपने भक्तजन भगवान्को सदा ही प्रिय होते हैं। अवश्य ही बुरे लोग भी उनको अप्रिय नहीं होते, वे तो उन दुष्टोंको भी सुधरनेका अवसर देते हैं और उनकी भी सदा सुनते हैं। ईरषाके सामने भगवान् प्रकट तो नहीं हुए, पर आकाशवाणीमें बोले—'कहो बेटी! क्या चाहती हो?' ईरषाकी खुशीका ठिकाना न था, वह फूलकर कुप्पा हुई जा रही थी। उसने फटाफट उत्तर दिया—'बहुत बड़े आलीशान महल, दास-दासियाँ, मोटर-ताँगे, बाग-बगीचे—सभी कुछ।'

'हूँ?' भगवान्ने उसकी फरमायशें सुनकर पूछा—'हाँ, तो पहले कहाँ रहती हो—किसी टूटे-फूटे खँडहरमें? वहाँ दास-दासियाँ या मोटर-ताँगा नहीं है? सारा काम खुद ही करती हो क्या?'

'वाह, मैं क्यों खँडहरमे रहने लगी, वहाँ रहें मेरे दुश्मन। मैं तो पक्की बढिया इमारतमें रहती हूँ। और मुझसे काम तो होता नहीं। नौकर हैं, वे ही भोजन पकाते हैं और झाड़ू-बुहारी तथा बाजारका सभी काम करते हैं। हाँ, मोटर नहीं है; पर घोड़ागाड़ी तो है।'

'अच्छा! तब तो तुम बहुत धनवान् होओगी। तुम लोगोंको अच्छा भोजन मिल जाता है या सादी दाल-रोटी ही मिलती है? घरमें सामान भी काफी होगा?'

'दाल-रोटी खाय मेरी बला—हम तो रोज खीर-पूरी, हलवा, बर्फी, अच्छे-अच्छे फल और पकवान खाते हैं। मेरे पतिकी जवाहरातकी अपनी दूकान है, अतः हमारे घरमें तो बर्तन भी सब सोने-चाँदीके हैं।'

'अच्छा! तब तो तुम्हारे पति बहुत भले जान पड़ते हैं, वे तुम्हें बहुत ही सुखी रखते होंगे?'

'जी ''नहीं, परमात्माजी?' ईरषा अपनी बातपर तनिक जोर देकर और ऊपरसे बनावटी खेद प्रकट करते हुए कहने लगी—'वे तो बड़े दुष्ट हैं, नित्यप्रति मद्यपान करते हैं और मुझे बहुत ही पीटते हैं—मैं उन्हींकी तो शिकायत करने आयी हूँ।'

'तुम बहुत बातूनी और झूठी हो।' भगवान् उससे बोले। 'तुम्हारा पति तुम्हें कभी नहीं मारता; वह तो तुम्हें बहुत चाहता है और तुमसे बड़ा प्रेम करता है। परंतु हाँ, दैनिक व्यवहारमें तुम्हारा पति लोगोंसे बहुत छल-कपट करता है। याद रखो—मैं सभी स्थानोंपर गुप्तरूपसे निवास करता हूँ, मुझसे तो कोई भी रहस्य छिपा नहीं रह सकता। भोले-भाले लोगोंको अवश्य धोखा दिया जा सकता है, परंतु मेरी आँखोंमें कोई भी धूल नहीं झोंक सकता। मैं प्रत्येक व्यक्तिके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्योंसे ही नहीं, उसके मनकी बातोंसे भी परिचित हूँ। तुम्हारे पतिकी कमाई नेकनीयती और ईमानदारीकी नहीं, बल्कि सब धोखेबाजीकी खोटी कमाई है। यह मत भूलो कि पापका पैसा जैसे आता है, वैसे ही वापिस भी चला जाता है। तुम्हारे पास धन-दौलत—किसी चीजका अभाव नहीं है, परंतु फिर भी तुम्हारी तृष्णा नहीं मिटी। तुम दोनों ही स्वार्थी हो। जाओ, तुम्हारे पास जो कुछ है, उसीमें संतुष्ट रहना सीखो।'

इतना कहकर आकाशवाणी रुक गयी और ईरषा क्रोधसे पैर पटकती खिन्न मनसे वापिस लौटने लगी। वापिसीके समय उसने देखा कि एक ऊँचे टीलेपर अद्वितीय कान्तिसे युक्त एक सुन्दर-सा बालक बैठा बाँसुरी बजा रहा है और आस-पास वे ही चरवाहे तथा और भी कई ग्वाल-बाल तालियाँ बजा-बजाकर नाच-गा रहे हैं। पर उसे इसमें कोई आनन्द नहीं आया। उसी वृक्षके नीचे वहीं निकट ही उन चरवाहोंका मिट्टीका बर्तन उल्टा पड़ा था, उसपर नजर पड़ते ही ईरषाको कमलाकी स्वर्णकी ईंटवाली बात याद आ गयी और वह ललचायी आँखोंसे उस ओर देखने लगी। चरवाहे और ग्वाल-बाल अपने नृत्य तथा आँखमिचौनीके खेलमें मस्त थे। ईरषाने चुपकेसे धीरे-धीरे उस घड़ेको सीधा किया, उसके

नीचे एक बड़ा-सा गोबरका ढेर था। उस गोबरमेंसे एक बिच्छू निकला और उसने ईरषाके पाँवमें डक मार दिया। दर्दके मारे वह जोरसे जो चिल्लायी तो उसका चीत्कार सुनकर चरवाहोंके रूपमें वे देवता दौड़कर वहाँ आ गये और जोर-जोरसे हँसने लगे। उनके अट्टहाससे वह वन गूँज उठा। ईरषाने जो पहलेवाले उन दोनों चरवाहोंको देखा तो लज्जित होकर वहाँसे भागी—

आगे वही कोढी बैठा था, पर ईरषाके देखते-ही-देखते वह एक सुन्दर बालकके रूपमें प्रकट हो गया। उसका शरीर सुन्दर गहनोंसे सजा था। ईरषाने दो-तीन बार आँखें मलकर देखा कि कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रही है; परन्तु जब हरबार ही उसे अमूल्य आभूषणों तथा वस्त्रोंसे सुसज्जित वह सलोना बालक ही दिखायी दिया, तब उसके मनमें लालच उमड़ा। सोचने लगी कि 'क्यों न इस नन्हे बालकको फुसलाकर इसके रत्नजड़ित दो-चार गहने ही उड़ा लूँ।' इस विचारसे वह उसकी ओर आगे बढी ही थी कि फिर वही कोढीका रूप उसके सामने आ गया और वह जोर-जोरसे अट्टहास करके हँसते हुए कहने लगा—'तुम बहुत ही लालची और स्वार्थी हो। तुम्हारे पास इतना धन है, परन्तु फिर भी तुमने मुझको चार-आने पैसे नहीं दिये। वह धन किस कामका जो योग्य पात्र-को दानमें न दिया जाय या भले कामोंमें न लगाया जाय।'

इसके पश्चात् वह कोढी फिर बोला—'देखो, बेटी! तुम्हें मैं एक कामकी बात बताता हूँ मनुष्यको कभी भी दुष्टता, क्रोध, कुटिलता अथवा अभिमान नहीं करना चाहिये। घमण्डका सिर सदा ही नीचा होता है। क्रोध और घमण्ड मनुष्यके अपने शत्रु होते हैं—क्रोधी व्यक्तिका विवेक जाता रहता है और गुस्सेमें स्वयं उसीको पता नहीं चलता कि उसे क्या करना चाहिये अथवा क्या नहीं। गुस्सेमें किये हुए कार्यपर बादमें सदा पछतावा रहता है। बुद्धिमान् व्यक्ति अपनेसे बड़े और पूजनीय वृद्धजनोंके अतिरिक्त विद्वान्, तपस्वी, महात्मा तथा गुरुजनों—सभीका आदर करते हैं; किसीका अपमान करना अथवा रुपयेके मदमें किसी निर्धनका दिल दुखाना तथा उनका निरादर-तिरस्कार करना उनसे नहीं बन पड़ता। बेटी! ऊँचे-नीचे सभीके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव करना और सहानुभूति तथा सहायता देकर दुखियोंके दुःख हरना तथा सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग करना—ये ही अच्छे व्यक्तिके लक्षण हैं। भगवान्‌के घरमें निर्धन और धनीका अन्तर नहीं है। भगवान्‌को तो दोनों ही प्रिय हैं। वे तो केवल हृदयकी परख करते हैं। ऊँच और नीचके नियम तो मनुष्य और समाजके द्वारा ही बनाये गये हैं; इसीलिये जो लोग अपनेसे नीचे लोगोंकी सहायता करते हैं, भगवान् उन्हें अनन्तगुना देते हैं।'

यद्यपि कोढ़ीके शब्दोंमें बड़ा स्नेह, वात्सल्य और सदुपदेश था, फिर भी ईरषाने समझा कि चूँकि उसने कोढीको पानी नहीं पिलाया, अथवा कुछ दिया नहीं, इसीलिये वह उससे कुछ प्राप्त करनेके विचारसे दानकी महत्ता अथवा गरीबोंकी सहायता करना इत्यादि बड़ी-बड़ी बातें बघार रहा है। वह गुस्सेसे बोली, 'जा-जा, रहने दे अपने उपदेश; इतना ज्ञानी है तो यहाँ सड़कोंपर भीख माँगता क्यों फिरता है! तेरी महत्ता तुझे ही प्राप्त हो।' उस मूर्खाको क्या पता था कि साक्षात् भगवान् ही उसकी परीक्षा ले रहे थे। वह कोढी-को यों फटकारती हुई अपने घरकी ओर आने लगी। रास्तेमें उसे वही बुढिया ग्वालिन मिली तो सही, परन्तु उसे वृद्धासे भी कुछ प्राप्त नहीं हुआ। तब वह मन मसोसकर जली-भुनी घर पहुँची।

धौंसीमलको तो अब मदिरा तथा जूएका चस्का लग ही चुका था, अतः दूकानपर बैठनेको उसका जी ही न चाहता था। कहाँ तो पहले वह रातके नौ बजेसे पूर्व दूकान बंद नहीं करता और पाई-पाईका हिसाब रखता था, कहाँ अब संध्यासे पहले ही उसका मन ताश खेलने और अपने मित्रोंकी धमाचौकड़ीमें शामिल होनेको उतावला हो उठता है।⋯⋯ उधर लोगोंकी भी आँखें खुल रही थीं। वे उसके खोट मिलाने अथवा झूठे तथा कपटभरे व्यवहारको खूब समझने लगे थे। इसलिये वे भी उसकी दूकानपर कम ही आते। रामलाल भी तो जौहरी ही था, अतः सब उसके पास चले जाते।

रामलालकी सज्जनता तथा ईमानदारीके कारण सभी उसी के पास जाना पसंद करते। वह एक तो कम दामोंपर चीज देता, किसीको धोखा नहीं देता, खरा माल देता। यदि कोई चीज अपने पास न भी होती तो शहरसे उन्हीं दामोंपर मँगवा देता। सारा गाँव उससे प्रसन्न था। धौंसीमलका कारोबार तो अब घट ही गया था। बाकी रहा-सहा भी मदिरा और जूएमें चौपट हुआ जा रहा था। ईरषा अपने भाग्यपर रोती रहती। उसने कभी किसी गरीबका भला, सत्कार नहीं किया था, न किसीके साथ कभी सहानुभूति ही प्रकट की थी। अतः अब लोग भी अपने अपमानका बदला समझकर उसके बुरे दिनोंसे प्रसन्न होते। पहले वे दो गाली

खाकर भी ऊपरसे नहीं बोलते थे, पर मनमें अवश्य बुरा-भला कहते थे। कहते हैं न कि जो किसीकी गाली, अपमान (निन्दा) या कटु वचनोंको सह लेता है, उस व्यक्तिका आन्तरिक दुःख ही इतना अधिक होता है कि वह अपमान या बुराई करनेवालेको जला डालता है—साथ ही वह उसके पुण्य तथा अच्छे कर्मोंको भी ले लेता है। धौंसीराम और ईरषाके विषयमें यह बात बिल्कुल ठीक उतरी थी, उनके पुण्य अब क्षीण हो चले थे।

रामलाल और कमलाके शील, स्वभाव अथवा उदार वर्तावके कारण लोग उनकी प्रशसा करते। साधु-भिखमगा कोई भी उनके द्वारसे खाली न जाता। अतिथि-सत्कारमें वे दम्पति कोई त्रुटि नहीं रखते। कमला कभी भी किसीके प्रति कठोर वचन मुँहसे न निकालती और यही ध्यान रखती कि कहीं क्रोधवश किसीके दिलको जलानेवाली या उसके मर्मको चोट पहुँचानेवाली कोई भी बात कभी मुँहसे न निकल जाय। गली-मुहल्लेकी औरतें उसके हित-मित भाषण तथा समझदारीके कारण अपने दिलकी सारी बातें उसके आगे खोलकर रख देतीं, अपने दुःखोंका रोना रोतीं और वह अपने विवेक अथवा बुद्धिमानीसे उनके घरके मामलोंमें उन्हें नेक सलाह देती, सदा सद्व्यवहारकी शिक्षा देती और उनके दुःख-दर्दको दूर करनेका सच्चा प्रयास करती।

समय पाकर उन दम्पतिके यहाँ एक बडा ही सुकोमल और सुन्दर, चाँद-सा गोरा पुत्र उत्पन्न हुआ। कमलाको 'मनमोहन' भगवान्‌के बालगोपाल-रूपके दर्शनोंकी स्मृति अब भी बनी थी, अतः बच्चेको उसने भगवान्‌की कृपासे 'मनमोहनरूप' ही जाना और उन्होंने उसका नाम भी 'मनमोहन' ही रखा।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।'

बचपनसे ही वह बालक अपनी तीक्ष्ण बुद्धि तथा अपूर्व प्रतिभाका परिचय देने लगा। वह बालक प्रभुके आशीर्वादसे सर्वगुणसम्पन्न था और बड़ा होकर उसने सत्कर्मोंद्वारा अपने माता-पिताके नामको और भी उज्ज्वल कर दिया। रामलाल और कमला उस-जैसे पुत्ररत्नको पाकर फूले न समाते थे।

गरीबी और बेकारी

(लेखक—श्रीमेघराज अग्रवाल, बी० एस्-सी०, ए० एम्०, आई० ई०)

आज संसारपर आर्थिक सकट छाया हुआ है और इस देशमें ही नहीं, प्रायः सभी देशोंमें लोग गरीबी और बेकारीसे बेचैन हैं। यह विज्ञानका युग है और विज्ञानके सहारेसे मनुष्य अणुकी गहराई तक पहुँच चुका है। यदि मनुष्य थोड़ी बुद्धिसे काम ले तो ससारके सब लोग बड़ी आसानीसे सुखी हो सकते हैं; पर चारों ओर इससे उल्टा ही दृश्य दिखायी पड़ रहा है।

इस गरीबी और बेकारीकी समस्यापर यदि गहरी दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बेकार वह व्यक्ति है, जिसके पास अपनी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये पैसा नहीं है और वह उस पैसेको प्राप्त करनेके लिये कामकी खोजमें है। धनी व्यक्ति, जिसके पास जरूरतोंकी पूर्तिके लिये पर्याप्त पैसा है, कोई काम न करता हुआ भी बेकार नहीं कहा जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जरूरतोंकी पूर्ति ही असली चीज है और पैसा उन जरूरतोंकी पूर्तिका केवल एक साधन है। जरूरतोंका पूरा न होना ही गरीबी है।

वर्तमान उद्योगप्रणालीका यह मूल सिद्धान्त है कि जनताकी जरूरतोंको खूब बढा दिया जाय, जिससे उद्योग-पति खूब पैसा कमाते रहें। मनुष्य तो अपनी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये काम करता है और पसीना बहाता है, पर यह उद्योगपद्धति मनुष्यकी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये नहीं, वर उनको उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिये अग्रसर रहती है। जो वस्तु मनुष्यकी जरूरतोंको पूरा करती है, वह उसकी गरीबीको दूर करती है; और जो वस्तु इसके विपरीत जरूरतोंको बढाती है, वह गरीबीको बढाती है। इसका यह अर्थ हुआ कि वर्तमान उद्योगपद्धति मनुष्यके हितके विरुद्ध काम करती है। इस मूल सिद्धान्तका प्रभाव आज हम अपने जीवनकी प्रायः सभी वस्तुओंमें अनुभव करते हैं और यह सिद्धान्त ही मनुष्यको गरीबीकी ओर खींचे लिये जा रहा है। मनुष्यको जीवनके लिये भोजन आवश्यक है और यदि कोई व्यक्ति इस आवश्यक पदार्थको प्राप्त नहीं कर सकता तो वह गरीब कहा जाता है। पर यदि मनुष्यको भोजनकी जरूरत ही न रहे तो भोजन न मिलना गरीबीका कारण न बनेगा।

इस उद्योगप्रणालीके इस मूल सिद्धान्तका फल यह है कि आजकल पैसा खर्च करनेपर जरूरतें पूरी नहीं होतीं, पर और अधिक बढ जाती हैं। सिगरेट और चाय—इस

युगकी दो विशेष वस्तुएँ हैं। वर्तमान समाजमें सिगरेट और चाय पीनेवाला ही सभ्य समझा जाता है। जो व्यक्ति इन चीजोंसे दूर रहता है, उसको जगली या मूर्खकी उपाधि दी जाती है। सिगरेट पीनेपर पैसा खर्च होता है, पर इससे हमारी कोई भी जरूरत पूरी नहीं होती, उलटा सिगरेट पीनेसे जो रोग पैदा होते हैं, उनपर और पैसा खर्च करना पड़ता है। चाय पीनेपर पैसा लगता है और उससे जो हानि शरीरको होती है, उसको दूर करनेके लिये भी काफी पैसा लगता है।

दाँत साफ करनेके लिये गुणकारी स्वच्छ दाँतुन बिना पैसेके ही मिल जाता है, पर विज्ञापनोंके चक्करमें पड़कर लोग दाँतोंको खराब करनेवाली क्रीम और ब्रशपर पैसा लगाते हैं। प्रकृतिके सरल नियमोंके पालनसे स्वास्थ्य और सौन्दर्य अपने-आप ही मिल जाते है, पर मनुष्य प्रकृतिको लात मारकर दवाकी बोतलों, पाउडरों और क्रीमोंकी शीशियोंमें इनको खोजता रहता है। इन दवाइयों और क्रीम आदिपर रुपया भी लगता है और इससे स्वास्थ्य भी खराब होता है।

इन सब बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नये-नये ढगकी इस युगकी बनावटी वस्तुओंपर पैसा भी खर्च होता है और उनसे बीमारी भी मिलती है। इन वस्तुओंके सेवनसे हम बीमारीको अपने उद्योगसे प्राप्त किये पैसेसे मोल लेते हैं। सिगरेट और चाय बिना पैसेके तो मिलते नहीं, इसलिये बिना पैसा खर्च किये सिगरेट और चायसे पैदा होनेवाले रोग भी हमको नहीं मिल सकते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह और ऐसी ही अन्य बहुत-सी बनावटी वस्तुएँ हमें गरीबी और दुःखकी ओर ले जानेका काम करती है।

इसके विपरीत जब हम प्राकृतिक वस्तुओंपर ध्यान देते हैं, तब पता चलता है कि उनके सेवनसे हमारी बहुत-सी जरूरतें पूरी हो जाती हैं। इसलिये वे वस्तुएँ गरीबी और बीमारीको दूर करनेका काम करती हैं।

दूध और शहद भारतीय सभ्यताके आधार हैं, भारतीय अर्थशास्त्र और भारतीय प्रकृतिके अटल नियमोंके आधारपर बने हैं। आवश्यकताओंकी पूर्ति और मनुष्यका हित ही इस अर्थनीतिके उद्देश्य हैं। गाय दूध, घी, दही—सब कुछ देती है, जिनके सेवनसे मनुष्यका शरीर ही नहीं, उसकी आत्मा भी तृप्त हो जाती है। इनके सेवनसे सब रोग दूर भाग जाते हैं। दूधकी कमीके कारण ही आज घर-घर क्षय, नेत्र-रोग और अन्य कई रोग तेजीसे बढते जा रहे हैं। रोग दूर भाग गये तो उनपर खर्च होनेवाला पैसा भी बच गया। गायका गोबर बहुत बढिया खाद है और आज जो देशमें अन्नकी कमी है, वह इस खादकी कमीके कारण ही है। आजकल कठिनाईसे बारह मन गेहूँ प्रति एकड़ होता है। इस गोबरसे यह आसानीसे पद्रह मन हो सकता है। बैल खेत जोतने, पानी खींचने आदि कितने ही कामोंमें आते हैं। एक ही गायसे बहुत-सी गायें और बैल पैदा हो जाते हैं। पशुके मर जानेपर चमड़ा, हड्डी आदि सब काममें आ जाते हैं।

शहदसे मनुष्यके स्वास्थ्यको जो लाभ होता है, वह तो प्रायः सब लोग जानते हैं। मधुमक्खीका बहुत बड़ा लाभ यह भी है कि इससे खेतों और बगीचोंकी उपज बहुत अधिक हो जाती है। कनाडामें ३½ करोड़ पौंड शहद हर साल पैदा होता है और अमरीकाके किसान शहदसे १५ करोड़ रुपया हर साल कमाते हैं; पर इस अभागे देशमें करोड़ों रुपयेका शहद धूप और हवासे फूलोंमें ही सूख जाता है, क्योंकि उसको जमा करनेके लिये यहाँ मधुमक्खियाँ ही नहीं हैं। लाखों शहदके छत्ते शहद निकालनेमें ही नष्ट कर दिये जाते हैं।

शहद अमृत है; पर विदेशोंमें मधुमक्खीकी सेवा केवल शहदके लिये नहीं होती, पर इसलिये होती है कि इससे खेती और बगीचोंकी उपज बहुत बढ जाती है। शहदसे जो आय होती है, उससे लगभग १५ गुना लाभ खेतीको होता है। विदेशोंमें खेतीकी इतनी उपज इसी कारणसे होती है। यदि हम प्रकृतिके इन सरल साधनोंसे लाभ न उठायें तो भूखे मरनेके सिवा और क्या पा सकते हैं।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गाय और मधुमक्खी मनुष्यकी बहुत-सी जरूरतोंको पूरा करती हैं और इसलिये गरीबीको दूर करनेका काम करती हैं। हम गरीब क्यों होते जा रहे हैं? इसीलिये कि हमने गरीबीको दूर करनेवाले दूध, शहद आदिको त्यागकर गरीबीको लानेवाले सिगरेट और चाय आदिको अपना लिया है। सत्य तो यह है कि यदि गरीबी दूर हो सकती है तो केवल गाय और मधुमक्खीसे, अन्नकी समस्या सुलझ सकती है गाय और मधुमक्खीसे, रोगोंसे छुटकारा मिल सकता है तो भी इनसे ही। गायकी सेवाके बिना गरीबीकी समस्या दूर हो ही नहीं सकती।

ससारकी प्रत्येक वस्तु और मनुष्य प्रकृतिके अटल नियमोंसे बँधे हैं। विज्ञानके चक्करमें पड़कर मनुष्य प्रकृतिको

ठुकरा रहा है, पर प्रकृति तो उसके रोम-रोममें व्यापक है। प्रकृतिकी शक्तिके सामने मनुष्य कुछ भी नहीं,—एक भूकम्प आता है और हजारों मनुष्य कीड़ोंकी तरह मर जाते हैं। एक नदीमें बाढ़ आती है तो गाँव-के-गाँव साफ हो जाते हैं। प्रकृतिके सरल नियमोंके पालनसे मनुष्यको सुख मिलता है और जितना ही वह प्रकृतिसे दूर होता है उतना ही गरीब, रोगी और दुखी होता जाता है। बनावटी चीजोंको प्राप्त करने और बनावटी जरूरतोंको पूरा करनेके लिये मनुष्य दौड़-धूप करता है। यदि हम शान्तचित्तसे ध्यान दें तो बहुत-सी चीजें जो जरूरी समझी जाती हैं, वास्तवमें जरूरी नहीं हैं। उनको छोड़ देनेसे हमें लाभ भी होगा और जरूरतें कम होनेसे आर्थिक समस्याएँ भी बहुत सरल तथा कम हो जायँगी। प्रकृतिकी शरण लेकर और हानिकर बनावटी वस्तुओंके त्यागसे हम बहुत कम पैसोंसे ही अपनी सब जरूरतोंको पूरा कर सकते हैं और उन कम पैसोंको प्राप्त करनेके लिये हमें दौड़-धूप भी कम करनी होगी।

और, जब कोई से आगे बढ़ जाता है ?

[मत्सर, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है पचीसों वर्ष पहलेकी।

किसीने देखा एक श्रीमतीजीको।

साथियोंने बताया—वे एम्० ए० पास हैं।

एक तो महिला, दूसरे एम्० ए० पास !

वे पुरुष, केवल मैट्रिक !

उन्हें कैसा कैसा तो लगा—!

काश, मैं भी एम्० ए० पास होता !

× × ×

यह भावना थी Inferiority Complex की, हीनताकी, मत्सरकी—एक महिला मुझसे आगे बढ़ गयी !

× × ×

मेरे एक साथी हैं।

मैंने उनकी भूलें सुधारी हैं।

लोग मानते हैं कि योग्यतामें वे मेरे पासगके बराबर भी नहीं।

पर आज वे मुझसे कई गुना पैसा पाते हैं।

मुझे अकसर उलहने मिलते हैं—तुम त्यागके ही ढकोसलेमें पड़े हो। देखो, वे कितने मजेमें हैं ! 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला चीनी हो गया !'

× × ×

एक पड़ोसीके घर कार आयी।

एक दिन रेडियो आया।

टेलीफोन लगा।

कितनोंको मत्सर हुआ—

'हैं रे अकबरा, तेरे जे ठाट !'

कहते हैं कि एक दिन अकबर शिकारको गया।

रातको अकेला जगलमें जा फँसा।

एक गरीब वनवासीने उसे शरण दी।

प्रेमसे कोदो-साँवाकी मोटी रोटी खिलायी।

पानी पिलाया झरनेका।

आग जलाकर रातभर गरमाया।

सुबह अकबर जब चलने लगा, तब निमन्त्रण देता आया उस वनवासीको।

एक रोज उस वनवासीने सोचा—चलूँ, 'अकबरा' से मिल आऊँ।

खोजता-खोजता पहुँचा राजधानीमें।

अकबर उसे देख बड़ा खुश हुआ और लगा उसे अपना माल-खजाना दिखाने।

वनवासी आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखता जाता था और कहता जाता था—"हैं रे अकबरा, तेरे जे ठाट !"

× × ×

अभी उसी दिन तो एक सज्जन कह रहे थे कि 'राज्यका' 'मन्त्री पहले अकसर हमारे घर आया करता था, वहीं खाता, वहीं सो जाता। बादमें मैं चला गया अमेरिका। कई वर्ष बाद लौटा तो सुना कि वह 'मिनिस्टर' बन गया है ! मिलने गया तो सीधे मुँह बात करना तो अलग, उसने मुझे पहचाना भी नहीं।

और मैं देख रहा था कि इन सज्जनके मुँहसे मत्सरकी

ही भावनाएँ बोल रही हैं।

× × ×

सुत बित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥

रुपया-पैसा, धन-दौलत, जर-जमीन, कार-बँगला, पद-सम्मान, बेटा-बेटी, वैभव-ऐश्वर्य—आदि तरह-तरहकी चीजें हमें रात-दिन ललचाया करती हैं।

हम सब इसी फेरमें पड़े रहते हैं।

और इसी फेरमें जब हम देखते हैं कि इससे छोटा हमसे कम हैसियतका कोई व्यक्ति अथवा हमारा कोई समकक्ष अथवा कोई भी अन्य व्यक्ति किसी भी दिशामें हमसे आगे बढ जाता है, हमें मात दे देता है, तो हमारा कलेजा भीतरसे कसक उठता है। उसमें जलन पैदा हो जाती है।

इस जलनका ही नाम है—मत्सर!
इस जलनका ही नाम है—ईर्ष्या!
इस जलनका ही नाम है—डाह!

× × ×

तुलसीबाबा कहते हैं—

खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी।
जरहिं सदा पर संपति देखी॥

मत्सरकी कैसी सुन्दर व्याख्या!

दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर जलना मत्सर है।

दूसरोंका वैभव देखकर कुढना मत्सर है।

दूसरोंका उत्कर्ष देखकर चिढना मत्सर है।

× × ×

किसीके पास मुझसे अधिक पैसा हो जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीको मुझसे ऊँचा पद मिल जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीको मुझसे अधिक आदर और सम्मान मिल जाता है, मैं जल उठता हूँ।

किसीमें मुझसे अधिक योग्यता आ जाती है, मैं जल उठता हूँ।

मेरा मकान बिना पलस्तरका है, पचीसों बार धक्के खानेपर भी सीमेंटका परमिट नहीं मिल पा रहा है और मेरे पड़ोसीके मकानपर पलस्तर हो रहा है, कलई हो रही है; मैं जल उठता हूँ।

किसीकी रद्दी-से-रद्दी किताबें छप रही हैं और पैसेके अभावमें मेरी बढिया-से-बढिया पुस्तकोंको दीमकें चाट रही हैं, मैं जल उठता हूँ।

मेरे पास चार ही साड़ियाँ हैं और बगलवालीके पास दस साड़ियाँ हैं। मेरे हाथ सूने हैं और उनके पास सोनेके कगन हैं। श्रीमतीजी मचली फिर रही हैं—'जीजी नचिहैं तो हमहूँ नचब!'

× × ×

बात है १९३०-३२ की।

उन्हें गाँधीकी हवा लग गयी।

कालेज छोड़कर आ गये मैदानमे।

वे भी सविनय अवज्ञा-आन्दोलनके सैनिक बने।

इतना तो ठीक।

समयकी पुकार, युगकी पुकार, कर्तव्यकी पुकार, देशकी पुकार—उनका राजनीतिमें कूदना उचित ही था।

बल्कि वैसा न करना ही गलत होता।

पिताजीका देहान्त भी उन्हें पथसे विचलित न कर सका।

× × ×

पर बात यहींतक होती तो गनीमत थी।

'नया मुल्ला प्याज अधिक खाता है।'

गाँधीजी लँगोटी लगाते हैं तो वे क्यों न लगायें?

उनके पास भी आ गये खादीके दो गमछे—दो-दो गजके।

एक गमछा पहनते, एक ओढ़ते।

कड़कड़ाती सर्दीमें भी इतने ही परिग्रहसे काम चलाते।

× × ×

इतना ही नहीं।

नमक खाना भी उन्होंने छोड़ दिया!

रोटी, गुड़ और दूध—बस, केवल इतना ही उनका आहार रह गया।

× × ×

कोई छः महीने चला यह स्वाँग।

"मर जाओगे यहाँ 'सी' क्लासमें—नमक न खाओगे तो!" कहकर जेलके साथियोंने नमक खानेको उन्हें राजी कर लिया।

बाहर निकले तो कुछ बुजुर्गोंने धोती-कुर्ता पहननेको भी तैयार कर लिया ।

× × ×

और अभी उसी दिन तो भाईजी कह रहे थे—'लोगों-को दिखानेको ही तो ये कुर्ता, पाजामा पहनते हैं, वर्ना इन्हें क्या !—कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ।'

× × ×

मैं मानता हूँ कि त्यागका भी मत्सर होता है, हो सकता है । अपरिग्रहमें भी मत्सर हो सकता है ।

लँगोटी लगानेमें, कौपीन पहननेमें भी दिखावा हो सकता है । दूसरोंसे सम्मान पानेकी, अपनेको बड़ा दिखानेकी भावना हो सकती है । 'त्यागवीर', 'महात्मा' कहलानेकी वासना हो सकती है ।

और जब ऐसा है, तब ऐसे त्यागका मूल ही क्या ।

× × ×

सच्चा अपरिग्रह तो इन बाह्य बातोंपर निर्भर ही नहीं करता ।

वहाँ कपड़ा रहे तो ठीक, न रहे तो ठीक ।

नंगा रहकर भी मनुष्य परिग्रही हो सकता है और सूट-बूट पहनकर भी अपरिग्रही !

त्याग और अपरिग्रह बाहरकी नहीं, भीतरकी वृत्ति होती है ।

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

× × ×

कोई सोचते हैं—

मेरे कई साथी एम्० एल्० ए० (विधानसभाके सदस्य) बन गये ।

मेरे पढ़ाये हुए शिष्य एम्० पी० (संसद्के सदस्य) बन गये ।

मेरे साथ एक मेजपर बैठकर काम करनेवाले कितने ही साथी 'मिनिस्टर' (मन्त्री) बन गये ।

और मैं दस-पंद्रह साल पहले जहाँ था, वहीं आज भी हूँ ।

× × ×

लोग कहते हैं—'तुम बुद्धू हो ।'

कितने ही सगे-सम्बन्धी उनसे कहते हैं—'तू मूर्ख है ! बहती गङ्गामें हाथ नहीं धोता । तेरे साथी कहाँसे-कहाँ पहुँच गये, तू अभी घास ही खोदता पड़ा है ! तू इनमें किससे कम है ? तू एम्० ए० पास नहीं क्या ? तू योग्य नहीं क्या ? तू पढ़ा-लिखा विद्वान् नहीं क्या ? तू देशभक्त नहीं क्या ? तूने जेलें नहीं काटीं क्या ? तू नजरबंद नहीं रहा क्या ? तूने देशके लिये कष्ट नहीं सहा क्या ? तूने त्याग नहीं किया क्या ? तब तू क्यों चुप बैठा है ? न अपने लिये सही, कम-से-कम हमारे ही लिये तू राजनीतिमें उतर, विधानसभामें जा, लोकसभामें जा, मिनिस्टर बन ! तेरे चलते हमारी भी शान बढ़े, हमारी भी पूछ हो, हम भी कुछ बन जायँ ! ·· '

और वे हैं कि इन बातोंको इस कान सुनते हैं, उस कान उड़ा देते हैं ।

चाहते तो वे भी देशभक्तिकी हुंडी भुना सकते थे ।

कुछ नहीं तो (Political sufferer) राजनीतिक पीड़ितके नामपर कुछ चाँदी काट सकते थे—कुछ रुपये, कुछ भूमि, कुछ लायसंस, कुछ ठेके, कुछ पद प्राप्त कर सकते थे, कई बार लोगोंने इसके लिये उकसाया भी, पर वे तो इन ओछी बातोंमें विश्वास ही नहीं करते ।

सेवा और कर्तव्यका पुरस्कार माँगना वे मानवका अधःपतन मानते हैं और सेवाका अपमान भी ।

और फिर, यह खेल उनके बसका भी नहीं ।

Politics is a dirty game.

राजनीतिका खेल बड़ा गंदा होता है ।

बड़ों-बड़ोंको इसमें झूठ बोलना पड़ता है ।

बड़ों-बड़ोंको इसमें सत्यकी हत्या करनी पड़ती है ।

अनुशासनके नामपर, दलबंदीके नामपर अपने मुँहपर ताला लगाकर, झूठको सच और सचको झूठ बताना पड़ता है ।

सत्तामें असत्यका, अन्यायका, शोषणका समर्थन करना ही पड़ता है ।

वे मान लेते हैं कि यह खेल मुझसे सपर नहीं सकता ।

इसके लिये मैं अयोग्य हूँ, सोलह आना अयोग्य ।

× × ×

मत्सर किसीसे भी हो सकता है ।

अपने हमजोलियोंसे तो मत्सर होता ही है, अपनेसे छोटोंसे भी मत्सर होता है, बड़ोंसे भी।

× × ×

करोड़पती सेठ हैं, ऐश्वर्य और वैभवका पार नहीं है, हवेलियाँ आकाशसे बातें करती हैं, मोटरें इतनी चमकदार हैं कि दृष्टि नहीं ठहरती, पर सेठजीसे जरा एकान्तमें पूछिये—'कहिये, सेठजी! मजेमें हैं न?'

एक ठंढी आह खींचकर सेठजी कहेंगे—"क्या कहूँ, पण्डतजी! अमुक सेठ सट्टेमें मुझसे बाजी मार ले गया!

अमुक सेठको सोने-चाँदीके फाटकेमें मुझसे ड्यौढ़ा लाभ हो गया! · · ·"

सेठजी दूसरे सेठोंसे तो मत्सर करते ही हैं, उस बिसुआ मजदूरसे भी उन्हें मत्सर होता है, जो उनकी हवेलीके बगलमें टूटी झोंपडीमें रहता है—'भगवान्‌का अन्याय तो देखो कि इस बिसुआके यहाँ रात-दिन चें-पें मची रहती है और मेरे घरमें एक बचा भी नहीं! जहाँ दूध पीनेके भी लाले हैं, वहाँ बच्चोंकी यह पलटन और जहाँ किसी बातकी कमी नहीं, वहाँ हम बच्चेके दर्शनके लिये तरसते हैं। एक दत्तक बेटा ले रखा है, पर उससे कहीं जीकी भूख मिटती है?'

× × ×

और, हमारे ये पण्डितजी!

नित्य वेदान्तकी ही भाषा बोलते हैं।

वेद और स्मृति, गीता और भागवतकी ही बात-बातपर दुहाई देते हैं।

क्या इनका हृदय मत्सरसे शून्य है?

राम कहिये।

जरा टटोल कर भी तो देखिये।

इस बातका विश्वास हो जाय कि आप उनकी खिल्ली न उड़ायेंगे तो वे आपको अवश्य ही बता देंगे कि अमुक विद्वान्‌की ख्याति सुनकर उनका जी जल उठता है। अमुक पण्डितकी कीर्ति-पताका फहराते देख उनके कलेजेपर साँप लोटने लगता है। ·· ··

× × ×

उन महात्माजीकी क्या हालत है?

वो बड़े त्यागी हैं, कष्टसहिष्णु हैं, सदाचारी हैं।

क्या उन्होंने मत्सरपर विजय प्राप्त कर ली है?

ऊँ हूँ!

दूसरे लोगोंकी, अन्य महात्माओंकी प्रशंसा सुनकर वे भी तो जल उठते हैं। आँख खोलकर देखनेपर आप कबूल कर लेंगे—

कोई सफा न देखा दिलका, साँचा बना झिलमिलका।
कोई बिल्ली कोई बगुला देखा, पहने फकीरी खिरका॥

उस मन्थराको तो देखिये—

भला राजासे दरिद्रा दासीको क्या मत्सर?

वाल्मीकि महाराज कहते हैं—

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत॥
सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत्॥

रामको तिलक हो या भरतको, मन्थराका क्या बनता-बिगड़ता? कहती भी है वह—

कोउ नृप होइ हमहि का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

फिर ऐसा क्यों?

दीख मथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥

उसका हृदय क्यों जल रहा है?

इस मत्सरका कारण है—सङ्ग-दोष।

× × ×

कैकेयीसे मन्थराका अनन्य प्रेम ठहरा।

फिर वह कैसे सहन करे कि कैकेयीके बेटेको गद्दी न मिले, कौसल्याके बेटेको मिले!

हम जिस महात्मापर श्रद्धा रखते हैं, जिस गुरु या जिस विद्वान्‌के सम्पर्कमें रहते हैं, उसकी प्रशंसा करनेके बदले यदि कोई किसी अन्य महात्मा, गुरु या विद्वान्‌की प्रशंसा करने लगे तो हम जल उठते हैं।

ऐसा है यह मत्सरका जाल।

× × ×

इस मत्सरका कोई ठिकाना है?

जिसे देखिये, वही इसकी आगमें जल रहा है।

निःस्वो वष्टि शतं दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति ।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं शिवो हरिपदं ह्याशावधिं को गतः ॥

जिसके पास कुछ नहीं है, जो अकिंचन है, उसे सौ चाहिये।

सौवालेको हजार चाहिये, हजारवालेको लाख ।

लखपती पृथ्वीपति होना चाहता है ।

पृथ्वीपति चक्रवर्ती बनना चाहता है ।

चक्रवर्तीको इन्द्र बननेकी कामना है ।

इन्द्र ब्रह्मा बनना चाहता है, ब्रह्मा शिव और शिव विष्णु ।

किसने पार पाया है आशाकी इस सीमाका ?

सब एक-दूसरेसे मत्सर करते हैं !

× × ×

कोई एम्० एल्० ए० बननेको आकुल है, कोई एम्० पी० ।

कोई पार्लमेंटरी सेक्रेटरी बननेको बेचैन है, कोई मिनिस्टर ।

कोई मुख्यमन्त्री बननेके दाँव-पेंच लगा रहा है, कोई प्रधान मन्त्री ।

और राष्ट्रपति बननेके लिये तो न जाने कितने लोग मुँह बाये फिरते हैं ।

× × ×

कौपीन लगाकर लोग मठाधीश बननेको मुकदमे लड़ते हैं !

आदमी—सच्चा और ईमानदार आदमी बनना तो दूर, लोग 'भगवान्' बननेको आकुल रहते हैं !

× × ×

साराश मत्सरके, ईर्ष्याके असख्य रूप हैं ।

मूर्ख तो मूर्ख, 'पठित मूर्ख' भी मत्सरके शिकार रहते हैं ।

बड़े-बड़े महात्मा, बड़े-बड़े संन्यासी, बडे-बड़े महापुरुष भी मत्सरकी आगमें जलते रहते हैं ।

आपका सम्मान हो रहा है, मेरा नहीं हो रहा है । आपको फूल-मालाएँ चढायी जा रही हैं, मुझे कोई नहीं पूछता । आपका नाम छपता है, मेरा नहीं छपता । आपकी पूछ हो रही है, मेरी नहीं हो रही है । आपकी कद्र है, मेरी नहीं है ।

बस, मैं मत्सरकी आगमें सुलग रहा हूँ ।

× × ×

खाने-पीने, पहिनने-ओढने, रहने आदिकी कोई कमी न होनेपर भी मैं रात-दिन बेचैन रहता हूँ; क्योंकि दूसरे लोग—मेरे पड़ोसी, मेरे सहयोगी, मेरे परिचित, मेरे समकक्ष, मुझसे छोटे, मुझसे बड़े लोग मुझसे आगे बढे जा रहे हैं ।

यह भावना मुझे सालती है ।

यह भावना मुझे काटती है ।

यह भावना मुझे पेरती है ।

और इसीको कहते हैं—'मत्सर !'

× × ×

आदर्श-सम्पुट, प्रेम-चरणामृत

(श्रीबालकृष्ण बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सदैव अपनों ही द्वारा जहरके प्याले बढ़ाये गये मेरी ओर—पीनेके लिये, खाली कर देनेके लिये ।
और सदैव मैंने उन्हें पी डाला,—खाली कर दिया ।
फिर भी—
जीवित हूँ, ज्योतित हूँ,
क्योंकि—
मेरे मन-मन्दिरमे आदर्श-सम्पुटमें प्रेम-चरणामृत सदैव सुलभ रहा, सदैव उपलब्ध रहा ।

दुग्धं गीतामृतं महत्

(लेखक—डा० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्०)

गीता भारतीय साहित्यकी अनमोल निधि है। दार्शनिक परम्परामें उसे समस्त उपनिषदोंका सार माना जाता है। वस्तुतः उसमे प्राचीन कालकी अनेक दार्शनिक विचार-धाराओंका समन्वय है। ज्ञान, कर्म और भक्तिकी त्रिवेणीके सगमपर स्थित साधनाका यह अक्षय-वट मानव-मङ्गलका महातीर्थ है। आध्यात्मिक साधना और सास्कृतिक शीलके सूक्ष्म और व्यापक तत्त्वोंका जैसे सरल, सुबोध और सुन्दर रूपमे निरूपण गीतामे मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी सरलता, स्वच्छता और सुन्दरताके कारण ही गीता विद्वानोंका अलकार और साधारण जनोंका कण्ठहार रही है। गीतामें प्राप्त होनेवाला कर्म और योगका सुन्दर समन्वय मानवीय सस्कृतिके मङ्गलका सनातन सदेश है।

यद्यपि गीतामें पूर्वकालकी अनेक विचार-धाराओंका समन्वय हुआ है, फिर भी उसमें उपनिषदोंके विचार-तत्त्वकी प्रधानता है। कुछ विद्वानोंका यह भी मत है कि गीता एक भागवत-सम्प्रदायकी उपनिषद् है। गीता-की सरल और प्राञ्जल शैली पद्यमय उपनिषदोंसे बहुत कुछ मिलती है। गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दी जानेवाली पुष्पिकाके 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' शब्द इस बातके प्रमाण हैं कि दार्शनिक परम्परामें गीता-का पद उपनिषदोंके ही समान था। गीताकी पाठ-परम्परा-में प्रचलित निम्न श्लोक इस बातका प्रमाण है कि विचार, विभूति और मान दोनोंकी दृष्टिसे ही गीता एक उपनिषद् ही नहीं वरं उपनिषदोंका सार-सर्वस्व है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता-माहात्म्यकी परम्परामें प्रचलित उक्त श्लोक गीताके गौरवका ही सूचक नहीं है वर इसके साथ-साथ उपनिषद् और गीता दोनोंके स्वरूपके गम्भीर रहस्योंका प्रकाशक है। इसके अतिरिक्त उपनिषद्, गीता, श्रीकृष्ण, अर्जुन और सुधी पाठक—सबके स्थान, सम्बन्ध और महत्त्वके अद्भुत मर्म माहात्म्यके इस अनुष्टुप्के दो सरल पदोंमें छिपे हुए हैं। उपनिषद् वेदोंका ज्ञानकाण्ड होनेके कारण ज्ञानका मूल है। वे गीतासे प्राचीन और उसकी प्रेरणा हैं। अतः गीताके माहात्म्यके प्रसङ्गमें उपनिषदोंका प्रथम उल्लेख किया गया है। गीतामें सभी उपनिषदोंसे विविध तत्त्वोंका सार ग्रहण किया गया है। वह किसी एक उपनिषद्पर आश्रित नहीं है। इसीलिये उपनिषदोंको 'सर्व' पदसे विशेषित किया गया है। समस्त उपनिषद्-साहित्य गीताकी दार्शनिक पीठिका है। इन उपनिषदोंको माहात्म्यके रूपकमें गौ माना गया है। उपनिषदोंका समूह एक गो-वर्ग है। गीता इसी उपनिषद्-रूपी गो-वर्गका समाहित दुग्ध है। गौसे दुग्ध प्राप्त होता है, उसी प्रकार गीताका ज्ञानामृत भी उपनिषदोंसे प्राप्त हुआ है। इस एक सरल ग्रामीण रूपकका मर्म बडा गम्भीर है। इसका प्रयोजन केवल काव्य-सौन्दर्य अथवा उपनिषदों और गीताके आधाराधेय-सम्बन्धका निर्वाह नहीं है। इससे भी बढकर इसका अभिप्राय उपनिषदों और गीता दोनोंके स्वरूपके निगूढ मर्मका उद्घाटन है।

उपनिषद् गीताके दुग्धामृतका आधार होनेके कारण ही गो-कल्प नहीं हैं। उपनिषदोंमें गौके अन्य मुख्य गुणोंकी उपस्थिति इस रूपककी सार्थकता है। गौ स्वभावसे सरल और स्वरूपसे पवित्र होती है। अपने सौम्य रूप और मधुर प्रकृतिके कारण वह बाल-वृद्ध सबको प्रिय होती है। भारतीय संस्कृतिका वह प्राण है। उसके औरस वृषभ कृषि और व्यापारके साधन तथा

वाहन बनकर देशके आर्थिक जीवनके अवलम्बन हैं। अपने दुग्धामृतसे देशकी संतानोंका पोषण और स्वास्थ्य-संवर्धन करनेके कारण गौ वस्तुतः हमारी माता है। 'गौ माता' पद हमारे भाषा-व्यवहारमें इसी तथ्यकी प्रतिष्ठाका सूचक है। गौ हमारी सस्कृतिकी पूज्य विभूति और देशके गौरवकी प्रतीक है। उपनिषद् भी गौके समान गुण और गौरवसे पूर्ण है। भाषा-शैलीकी दृष्टिसे वे गौके स्वभावके समान सरल और मधुर हैं। गौके स्वरूपके समान ही वे स्वच्छ और पवित्र हैं। गौके समान ही वे हमारी अमूल्य सास्कृतिक विभूति है। जिस प्रकार गौके दुग्धामृतद्वारा बाल्यकालसे ही शरीरका पोषण-सवर्धन होता है, उसी प्रकार आरम्भसे ही उपनिषदोंके अमृत तत्त्वोंसे हमारे मन और आत्माका पोषण और विकास होता है। जिस प्रकार गौकी सतान, वृषभ देशके आर्थिक जीवनके अवलम्बन हैं, उसी प्रकार उपनिषदोंसे प्रसूत धर्मशास्त्र, पुराण आदिका विशाल और शक्तिमान् साहित्य हमारे धार्मिक जीवनका आधार है। गौके समान पूज्य और पवित्र उपनिषदोंका दुग्धामृत हमारे सास्कृतिक जीवनका प्रमुख पेय और हमारे आध्यात्मिक जीवनका सारमय पाथेय है।

गौके समान पूज्य और पवित्र उपनिषद् हमारी श्रद्धा और अर्चनाके योग्य है, किंतु इस पूजा और अर्चनाके साथ हमारे जीवनमें उनका महत्त्वपूर्ण उपयोग है। उनसे ज्ञानका दुग्धामृत और आत्मिक जीवनका पोषण प्राप्त करनेके लिये उनकी सेवा तथा उनके दोहनकी आवश्यकता है। गौ स्वभावसे बहुत सरल होती है, अत. साधारणतः कोई भी उसका दूध निकाल सकता है, किंतु विधिपूर्वक सेवा और दोहनके लिये एक कुशल 'गोपाल' की आवश्यकता है। साधारण जन साधारण रीतिसे ही एक-दो गायका अपने उपयोगके लिये कुछ दूध निकाल सकते है, किंतु सर्वजनके उपयोगके लिये एक विशाल गौसमूहसे पर्याप्त मात्रामें दूध निकालना एक कुशल गोपालका ही काम है। साधारण जन एक-दो गायकी ही सेवा भी कर सकते हैं। एक विशाल गोवर्गकी समुचित सेवा एक योग्य और समर्थ गोपाल ही कर सकता है। इसी प्रकार उपनिषद्रूपी गौ-समूहसे समुचित सेवापूर्वक जनहितके लिये प्रचुर दुग्धामृत निकालना श्रीकृष्ण-जैसे सिद्ध और समर्थ गोपालका ही काम है। साधारण जन अपनी रुचि और तुष्टिके अनुसार एक-दो उपनिषदोंसे उपयोगी तत्त्व ग्रहणकर अपना आध्यात्मिक कल्याण कर सकते है, किंतु 'समस्त' उपनिषदोंसे प्रभूत ज्ञानामृत ग्रहणकर उसे लोकहितके लिये भेंट करनेमे श्रीकृष्णके समान महान् प्रतिभा ही समर्थ है। माहात्म्यके 'दोग्धा गोपालनन्दनः' पदका यही तात्पर्य है। श्रीकृष्ण उपनिषद्रूपी गौओंसे गीतारूपी दुग्धामृतके समर्थ दोग्धा ही नहीं हैं, वे उनके कुशल पालक और सेवक भी हैं। श्रीकृष्ण जन्मसे तथा कुलसे गोपाल थे। इस तथ्यने इस रूपक तथा उसके निर्वाहमें 'गोपाल' पदको अत्यन्त उपयुक्त और सार्थक बना दिया।

किंतु एक कुशल और समर्थ गोपालको भी गोदोहनके लिये बछड़ेकी अपेक्षा होती है। बछडा गोदोहनका निमित्त है। उसके सुकुमार शरीर और प्राणके पोषणके लिये ही गायके थनोंसे दूधका स्रवण आरम्भ होता है। इसी प्रकार उपनिषदोंसे भी ज्ञानामृत निकालनेके लिये एक वत्सकी आवश्यकता है। अर्जुन वह वत्स है। ज्ञानके प्रसङ्गमें वह मनुष्यकी आकुल आत्माका प्रतीक है। जिज्ञासु तथा ज्ञान-ग्रहणके लिये आकुल जीव श्रुति माताके लिये अपने वत्सके समान ही प्रिय और पोषणीय है, किंतु बछड़ा गोदोहनका निमित्त मात्र है। गौका समस्त दूध उसके ही अर्थ नहीं है। कदाचित् वह उस सबको ग्रहण भी नहीं कर सकता

और यदि ग्रहण करनेमें समर्थ भी हो तो यह लोकके लिये कल्याणकर नहीं है। 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' अर्जुनके इस वचनसे यह विदित होता है कि वह गीताके तत्त्वको ग्रहण करनेमें समर्थ हुआ। उससे इसका क्षुद्र हृदयदौर्बल्य अवश्य दूर हो गया, किंतु इसमें सदेह है कि अर्जुन गीताके समस्त गहन तत्त्वोंके ग्रहणमें समर्थ है। उसकी आवश्यकता-पूर्तिके योग्य तत्त्व उसे अवश्य ही प्राप्त हो गया। वस्तुतः जिस प्रकार बछड़ा गोपालके लिये गोदोहनका निमित्तमात्र होता है, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये गीताके दिव्य उपदेशका निमित्तमात्र है। वह उपदेश तो समस्त विश्वके लिये है, ठीक वैसे ही एक विशाल गो-समूहका दोहन करनेवाले गोपालकी दुग्ध-राशि लोकके स्वास्थ्य और कल्याणके लिये होती है। एक अन्य प्रसङ्गमें श्रीकृष्णकी 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' यह उक्ति एक दूरगत ध्वनिके द्वारा कदाचित् इस भावका भी सकेत करती है।

अस्तु, वत्सके समान अर्जुन गीताके दिव्य उपदेशका निमित्तमात्र है। अर्जुनके निमित्तसे भगवान्‌ने समस्त लोकके उपकारके लिये यह ज्ञानामृत-का सत्र खोला है, किंतु मुक्त सत्रसे भी पोषक-तत्त्व ग्रहण करनेकी रुचि और चेष्टा सब लोगोंमें नहीं होती। पौष्टिक तत्त्वोंसे अपनेको पुष्ट करनेकी सचेतनता बुद्धिमान् लोगोंमें ही होती है। लौकिक क्षेत्रमें उन्नति करनेके लिये सभीमें स्वाभाविक कामना होती है, किंतु आध्यात्मिक क्षेत्रमें विकास करनेकी सद्-बुद्धि सबमें नहीं होती। चटपटे और स्वादिष्ट व्यञ्जनोंमें प्रायः सबकी रुचि होती है, यद्यपि वे स्वास्थ्यके लिये अधिकांश हितकर नहीं होते। कम स्वादिष्ट होते हुए भी पौष्टिक पदार्थोंके सेवनकी रुचि कुछ बुद्धिमान् लोग ही यत्न-पूर्वक उपार्जित करते है। दूधके बारेमें भी कहा जाता है कि वह सबको रुचिकर नहीं होता। बच्चे भी कुछ बड़े होकर उससे अरुचि करने लगते हैं, किंतु व्यायाम करनेवाले तथा स्वास्थ्य-निर्माणके इच्छुक सचेतनतापूर्वक दूधमें रुचि उत्पन्न करते हैं और उसे अपने भोजनका आवश्यक अङ्ग बनाते हैं। लौकिक जीवनमें वे बुद्धिमान् हैं। उन्हें सुधी कहना चाहिये। ज्ञान और अध्यात्मके क्षेत्रमें गीताके दुग्धामृतके सेवनमें रुचि रखनेवाले ही 'सुधी-भोक्ता' हैं। अच्छी बुद्धिवाले ही जीवनमे ज्ञानामृतका सेवन करते हैं। अर्जुनरूपी वत्सके निमित्तसे प्राप्त गीतारूपी दुग्धामृतकी प्रभूत राशि ऐसे ही सुधी भोक्ताओंके लिये है।

गीता उपनिषद्‌रूपी गो-समूहसे निकाला हुआ महान् दुग्धामृत है (दुग्धं गीतामृतं महत्), जिसका सुधी व्यक्ति सेवन करते हैं। दुग्ध वस्तुतः पृथ्वीका अमृत है। वह केवल वर्णमें ही अमृतके समान (श्वेत) नहीं है वरं गुणमें भी उसीके समान संजीवन है। माहात्म्यके उक्त रूपकमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व गीताको दुग्ध मानना ही है। दुग्ध जीवनका स्वाभाविक, आवश्यक और पूर्ण भोजन है। दूध ही एक ऐसा भोजन है, जिसे आबाल-वृद्ध सभी सरलतासे ग्रहण कर सकते हैं। दूधके समान ही गीताका ज्ञानामृत भी सर्वोपकारी है। दुग्धमें कुछ ऐसे आवश्यक तत्त्व होते हैं, जिनके कारण वर्तमान स्वास्थ्य-वेत्ता भी उसे मनुष्यके भोजनका आवश्यक अङ्ग मानते हैं। इसके साथ-साथ दुग्ध पूर्ण भोजन भी है। डाक्टरोंकी यह राय है कि मनुष्यके शरीरके पोषण और विकासके लिये जो भोजन-तत्त्व आवश्यक हैं, वे सब दुग्धमें वर्तमान हैं। दूधके समान ही गीताका ज्ञानामृत भी मनुष्यके आन्तरिक जीवनके पोषणके लिये आवश्यक और पूर्ण आध्यात्मिक भोजन है। जिस प्रकार दूधमें शरीरके पोषण और विकासके लिये आवश्यक सभी भोजन-तत्त्व वर्तमान रहते हैं, उसी प्रकार गीतामें भी मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनके पोषण और विकासके

लिये अपेक्षित सभी आवश्यक साधन-तत्त्व वर्तमान हैं। ज्ञान, कर्म और भक्तिरूप त्रिविध साधन-मार्गोंके विस्तृत विवेचनके अतिरिक्त ब्राह्मी स्थितिसे लेकर आहार, आसन आदितकके नियमोंका निरूपण गीतामें मिलता है। गीता दर्शनका सिद्धान्त-शास्त्र नहीं है, वह अध्यात्मके तत्त्वोंका तथा साधनाकी विधियोंका एक ग्राह्य और व्यवहार्य उद्घाटन है। दर्शन-ग्रन्थोंके तर्ककी मिर्च-खटाई तथा पौराणिक भक्ति-ग्रन्थोंकी नमक-मिठाई-से युक्त दर्शन और भक्तिके विविध व्यञ्जनतुल्य ग्रन्थ मनीषियों और श्रद्धालुओंको चाहे अधिक रुचिकर हों, किंतु गीता इन उत्तेजनाओं और प्ररोचनाओंसे रहित दुग्धके समान एक सरल और सात्त्विक आध्यात्मिक भोजन है। अतिशय तर्क और अन्ध-श्रद्धा-से मुक्त साधुमना साधकोंके लिये यह परिपूर्ण आधार है। दूधके समान कोई भी साधक इसे अपने जीवन-का पूर्णाधार बना सकता है; क्योंकि इसमें सभी अपेक्षित तत्त्व वर्तमान हैं। फिर भी यदि वैचित्र्यका इच्छुक मनुष्य इसे पूर्ण आधार न बना सके, तो भी दूधके समान ही जीवनके पोषणमें गीताका एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार समस्त भोजन-के बाद अन्तमें दूधका सेवन हितकर है, उसी प्रकार सभी शास्त्रोंके सेवनके बाद गीताका ग्रहण साधनाके लिये श्रेयस्कर है। आयुर्वेदके निघण्टुओंके विश्लेषणके अनुसार दूध गीताके ही शब्दोंमें 'रस्य, स्निग्ध, स्थिर और हृद्य' सात्त्विक आहार है तथा आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिका वर्द्धक है। सात्त्विक और सरस होनेके कारण यह सुपाच्य भी है।

गीता भी दूधके समान ही रस्य और स्निग्ध सात्त्विक, आध्यात्मिक भोजन है। दूधके समान ही अपने मौलिक रूपमें इसका ग्रहण सर्वोत्तम है। भावनाकी कुछ उष्णता देकर इसे अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है। प्रेमकी मधुरताका पुट इसे अधिक सुस्वादु और रुचिकर बना सकता है। दर्शनके आचार्यों-ने तर्कके अम्लका पुट देकर इसका जो दही जमाया है, वह विचारके लवणके संयोगसे अनेक प्रकारसे हितकर है। दहीके समान गीताकी दर्शन-सीमित व्याख्याएँ विकारहारिणी हैं। यों तो उसकी छाछ भी हितकर है, किंतु विचारसे मथित गीताका तत्त्व-सार-रूप नवनीत ही सर्वोत्तम है। गीताके स्रष्टा गोपालका वही प्रसिद्ध अभीष्ट भी है। अस्तु, अनेक रूपोंमें यह गीताका दुग्धामृत विकारनाशक और हितकर है।

रूपकको पूर्ण करनेके लिये माहात्म्यके ही दो अन्य पदोंके सहयोगसे गीताके दुग्धामृतका महत्त्व पूर्णतः स्पष्ट कर देना गीताके माहात्म्यका अनुरूप उपसंहार है। दूधके सेवनसे पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करनेके लिये कुछ व्यायाम भी आवश्यक है। छोटा बच्चा भी हाथ-पैर हिलाकर माँका दूध पचाता है। पहलवान लोग कुश्ती और कसरतसे प्रभूत मात्रामें दूध हजम करते हैं। व्यायामसे सुपचित होकर दूध हमारे शरीरका रस और रक्त बनता है। बिना व्यायामके उसका देहसे एकाकार होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार गीताके दुग्धामृतको आत्मसात् करनेके लिये योग, नियम, प्राणायाम आदि आध्यात्मिक व्यायाम अपेक्षित हैं। साधनाके व्यायामद्वारा हमारे मनसे एकाकार होकर उसका सार-तत्त्व हमारी आत्माकी विभूति बनता है। माहात्म्यके 'यः पठेत् प्रयतः पुमान्' तथा 'प्राणायामपरस्य च' पदोंका यही अभिप्राय है।

'स्वधर्माराधनमच्युतस्य'

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'काल्लू कल मर गया ।' पण्डित दीनानाथ दोनों समय सध्या करनेवाले आचारनिष्ठ शुद्ध सनातनधर्मी ब्राह्मण हैं । वे आजके सुधारकोंसे सहानुभूति रखनेवाले नहीं, उनको 'कलियुगके अग्रदूत' कहनेवाले है, किंतु आज उनका स्वर अत्यन्त शिथिल है । उनका मुख उदास-उदास है । चिन्ता, शोक, वेदना—पता नहीं क्या-क्या है उनमें और आज सूर्योदयसे पूर्व ही वे जो घरसे निकलनेको विवश हुए हैं, यह विवशता क्या कम दु.खद है । अपने खेत-खलिहानसे निश्चिन्त कर दिया था जिसने उन्हें, वह काल्लू तो कल मर गया । अब यह बेचारा ब्राह्मण—यह हलवाहा ढूँढने निकला है तब, जब उसे स्नान करना है, संध्या करनेका समय समीप आ गया है ।

'काल्लू मर गया ?' पूछनेवालेको भी काल्लूसे सहानुभूति है । गाँवमें वैसे भी ऊँच-नीचका भेद हृदयोंमें अन्तर नहीं डालता । अस्पृश्य वहाँ पराये नहीं हुआ करते । उनका प्रत्येक घरसे सम्बन्ध होता है । वे यदि पण्डितजीको 'भैया' कहते हैं तो पण्डितजीके बच्चे उन्हें 'चाचा' कहते हैं । यह सरल शुद्ध स्नेह गाँवका स्वभाव है । फिर काल्लू— वह तो किसीके लिये पराया नहीं था । सबका अपना था, सबकी समयपर सहायता कर देनेवाला ।

'तुम तो कल कचहरी गये थे,भैया?' पण्डित दीनानाथके नेत्र भर आये । 'कल दोपहरतक वह गाय-बैलोंकी सार-सम्हाल करता रहा । स्नान करने गया और तालाबमें स्नान करके देरतक नहीं लौटा । घरसे उसकी बिटिया पूछने आयी उसे तो पता लगा कि घर भी नहीं गया ।'

'डूब गया काल्लू ?' पूछनेवाला चौंका—'वह तो तैरना जानता था ।'

'मैं उसे पुकारता सरोवरकी ओर गया ।' पण्डितजीने प्रश्नका उत्तर देना आवश्यक नहीं माना । वे कहते गये—'वहाँ कोई नहीं मिला । सब घाट सूने पड़े थे । उसके डूबनेका डर मुझे नहीं था । उधरसे मन्दिरकी ओर होकर लौटा । वह प्रतिदिनकी भाँति मन्दिरके चबूतरेके नीचे द्वारके सम्मुख दण्डवत् किये पृथ्वीपर पड़ा था । मैंने पुकारा और जब वह बोला नहीं, तब उसके पास जाकर उसे हिला देना चाहा । वह तो शङ्करजीके पास जा चुका था ।'

'हृदय बद हो गया उसका ।' गाँवोंमें भी कुछ नये पढ़े-लिखे लोग तो है ही । वे सज्जन अपनी विद्वत्ता व्यक्त करने लगे—'यह रोग तो बड़ोंको ही होता है । परिश्रम करनेवाले ग्रामीणोंका हृदय तो सुदृढ़ होता है । काल्लूकी यह मृत्यु अद्भुत है ।'

'वह धर्मात्मा था । उसकी मृत्यु चारपाईपर पड़े-पड़े कैसे होती ।' पण्डित दीनानाथ-जैसे धार्मिक नियमनिष्ठको भी काल्लूके सम्बन्धमें यही निर्णय था कि वह धर्मात्मा था । वे कह रहे थे—'कल एकादशीके दिन भगवान् शङ्करको प्रणाम करते हुए उसने शरीर छोड़ा, वह तो सीधे भगवान्‌के धाम गया होगा ।'

काल्लू चमार—अस्पृश्य ग्रामीण, जिसे अपना नाम लिखनातक नहीं आता था, जो न दोपहरसे पूर्व स्नान कर पाता था न कोई स्तुति जानता था । व्रत जिसने जाना नहीं, पूजनका जिसे अधिकार नहीं, मन्दिरके चबूतरेपर पैर रखनेकी जिसने कभी इच्छा नहीं की, वह 'काल्लू चमार धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्‌के धाम गया होगा'—गाँवके सबसे बड़े सस्कृतके विद्वान्, पक्के कर्मनिष्ठ पण्डित दीनानाथ यह कहते हैं । काल्लू उनका हलवाहा था, उनके घर हड्डीतोड़ परिश्रम करते वह बचपनसे बढ़ा था, कहीं पण्डितजी उसके साथ पक्षपात तो नहीं करते ?

कल एकादशी थी। काल्हू कभी व्रत नहीं करता था, किंतु मरा तो वह कल। सुना है एकादशीको मरनेवाला भगवान्के धाममें जाता है। ठीक स्मरण आया, कल शुक्लपक्षकी एकादशी थी। काल्हू लगभग दो पहर दिन चढ़े मरा और मरा भी कहाँ—ठीक भगवान् शङ्करके मन्दिरके सामने दण्डवत् करते। तब वह धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्के धाम गया होगा—यह बात संदेह करनेयोग्य तो जान नहीं पड़ती।

× × ×

'आज ईख बोनी थी। दो दिनसे गन्नोंके बोझ पानीमें पड़े हैं।' पण्डित दीनानाथने कहा। 'पता नहीं काल्हू किसे कह आया था। सवेरे किसे कहाँ ढूँढ़ूँ?'

संसारका स्वभाव ही यही है। अपने सगे-सम्बन्धियों, स्त्री-पुत्रोंतकको जो शोक होना है, अपने लिये होता है। अपनी सुख-सुविधाके छिन जानेका ही दुःख होता है। पण्डित दीनानाथको भी इसी प्रकारका दुःख है। जब निश्चिन्त स्नान-संध्या करनी चाहिये, एक नियमनिष्ठ ब्राह्मणको चमारोंकी बस्तीमें जाना पड़ रहा है। आजकल हलवाहे मिलने कठिन ही हैं। सभी किसी-न-किसीका हल पकड़े है और गाँवमें जिनके भी खेत है, गन्ना तो उन सभीको बो देना ठहरा इन्हीं दस-पाँच दिनोंमें।

काल्हू केवल हलवाहा नहीं था। वह पण्डितजीकी खेती और पशुओंका पूरा प्रबन्धक था। किसी दिन तो दूसरोंके समान पण्डितजीको प्रातः उसे पुकारना नहीं पड़ा। रात्रिके अन्तिम प्रहरमें आकाशमें शुक्र दिखायी पड़ा और काल्हू आ जाता पण्डितजीके यहाँ। बैलोंको खली-भूसा देता और उसका हल खेतमें पहुँच जाता सबसे पहिले।

'काल्हू! कल कौन-कौन आयेंगे?' बोने, काटने आदिके समय अधिक मजदूर आवश्यक होते हैं। काल्हूको ही उनका प्रबन्ध करना था। पण्डितजी केवल पूछ लेते। उन्हें तो काल्हूसे ही पता लगता कि कल किधर हल जायगा।

'तुम अपना बोझा उठा लो!' फसल खलिहानमें आ गयी। सब काटनेवाले मजदूरोंको 'बन्नी' (मजदूरीके रूपमें फसलका ही कुछ भाग) दी जा चुकी। अपने हलवाहेका 'हक' है कि अपनी पसंदका एक पूरा बोझा वह अपने लिये चुन ले, किंतु काल्हू कुछ दूसरे ढंगका है। पण्डितजीका यही आदेश उसने कभी स्वीकार नहीं किया। उसका भी एक सिद्धान्त है—'स्वामी हाथ उठाकर जो दे दें, वही लाखका।' पण्डितजीको ही बताना पड़ेगा कि काल्हू कौन-सा बोझा ले जाय और ऐसे समय किसान कृपण नहीं हुआ करता।

काल्हूने कभी एक तिनका नहीं लिया। एक मुट्ठी अन्नपर उसकी नीयत नहीं डिगी। यह कहनेकी बात नहीं है। काल्हूकी सावधान दृष्टि सदा यह रही कि कोई और भी कहीं पण्डितजीके खेत-खलिहानमें हाथ न चला सके। पण्डितजी निश्चिन्त थे काल्हूके रहते और काल्हूको कभी पण्डितजीकी खेती परायी नहीं प्रतीत हुई। परिश्रमसे 'जी चुरानेवाले दूसरे हुआ करते हैं।'

'इनका क्या दे दे, काल्हू?' खेतीका काम कम अवकाश देता है; किंतु इधर काल्हूको अपनी कन्याके हाथ पीले करनेकी चिन्ता हो गयी थी। वह मुँह खोलकर माँगता तो पण्डितजी सौ-पचासके लिये जी छोटा करनेवाले नहीं थे, परंतु वह उनसे भी माँगना जो नहीं चाहता। अब रात्रिमें जूते बनाने लगा था। पण्डितजीके घरसे पहर रात गये लौटता और तब राँपी लेकर बैठ जाता। सात दिनमें भी एक जोड़ी बन जाय तो हर्ज क्या है। उसके गवाँरू जूते बूढ़े किसानोंको बड़े अच्छे लगते है। वे चलते खूब हैं और वह तो जूता दे जाता है। किसी-न-किसीके यहाँ रख जायगा।

'आप पहिनकर देख लें भैया!' काल्हूकी बँधी बात है। 'पैरमें ठीक आता है या नहीं? तनिक चलकर

देख लें। ठीक आ जाय तो जो मैयाकी मर्जी दे देंगे, दाम कहीं भागे जाते हैं ?' मोल-भाव काल्लू करता नहीं। गाँवके लोग पैसे देनेमें उदार नहीं होते। अन्न तो वे आधसेर अधिक दे देंगे, किंतु पैसा एक भी अधिक देना अखरता है उन्हें। यह स्वीकार करना ही होगा कि यदि काल्लू मोल-भाव करनेमें पटु होता तो उसे उससे कहीं अधिक मूल्य मिलता, जो अब वह पा जाता था।

हाँ, तो पण्डित दीनानाथजीका दु ख काल्लूके लिये कम, अपने लिये ही अधिक है। अब वे कहाँ हलवाहा ढूँढ़े ? कैसे गन्ना बोनेकी व्यवस्था करें ? स्नान-सध्याका समय हो रहा है और काल्लूके कारण वे इधरसे तो वर्षोंसे अपरिचित रहे हैं। उन्हें तो काल्लूने जैसे बीचधारामें छोड़ दिया है। उनकी व्याकुलता—किंतु क्या ससारके सभी स्वजनोंकी व्याकुलता इसी कोटिकी नहीं होती ? केवल पण्डितजीको क्यों दोष दिया जाय।

'अब तो भैया, यह सब करना ही पड़ेगा !' लबी साँस ली पण्डितजीने। 'काल्लू क्या गया, मेरा सगा भाई उठ गया।' उनकी ऑखोंमें ऑसू आ गये।

'बेटी, अब रोनेसे तो कुछ होता नहीं है।' पण्डितजी सायंकाल काल्लूकी कन्या तथा उसकी पत्नीको आश्वासन दे रहे थे। 'काल्लू मेरा भाई था। उसके क्रिया-कर्ममें जो लगे, यहाँसे ले जानेमें सकोच मत करना।'

'चाचा !' रो रही थी बेचारी लडकी। मनुष्य रुदनके अतिरिक्त और कर क्या सकता है। मृत्युपर उसका बस कहाँ है। 'हमारे पास देनेको कुछ नहीं है। माँके साथ मैं भी आपके यहाँ मजदूरी करके ⋯'

'ऐसी बात मत कह, बेटी !' पण्डितजीने ऑखें पोंछ लीं। 'काल्लू नहीं रहा तो क्या तेरा इस घरमें कुछ नहीं रह गया।'

पण्डितजीने क्या-क्या दिया, पता नहीं, किंतु जब वे माँ-बेटी उनके यहाँसे लौट रही थीं, तब उनके पास एक बड़ी गठरी थी अच्छे-से मोटे कपड़ेमें बँधी हुई।

—पण्डित दीनानाथजी बहुत दुखी हैं। ब्राह्मण होकर कल वे एक चमारकी अर्थीके साथ गङ्गाकिनारेतक गये थे। आज सबेरे हलवाहे ढूँढ़ने निकलकर भी चमरटोली-तक जा नहीं सके। वे मार्गसे ही लौट आये थे। उनके खेतोंमें आज हल नहीं चला। गाँवके वे सम्मानित व्यक्ति हैं। वे सम्पन्न हैं और इधर कई गाँवोंमें उनके जैसा सस्कृतका पण्डित भी नहीं है। संध्या-पूजामें उनकी निष्ठाने गाँवोंमें उनके प्रति और श्रद्धा बढ़ा दी है। उन्हें इस दु:खमें आश्वासन देने उनके यहाँ शामको गाँवके बड़े-बूढे तथा और लोग भी आ गये हैं।

'बेचारी अनाथ हो गयी।' एकने सहज भावसे कह दिया दोनोंको जाते देखकर। वैसे चमारकी पत्नी और कन्याके लिये कोई विशेष चिन्ता नहीं थी उसे।

'सबके नाथ तो भगवान् हैं और वे इनको भला, कैसे भूल सकते हैं।' पण्डितजीकी दृष्टि अभी कन्याको आगे करके चली जाती रोती काल्लूकी पत्नीकी ओर ही थी। 'काल्लू धर्मात्मा था। भगवान्‌का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री और पुत्रीकी चिन्ता वे परमपालक कर लेंगे।'

'काल्लू धर्मात्मा था—भक्त था।' पण्डितजीकी यह बात कुछ जँचती नहीं थी। लोगोंको कल यह अखरा ही था कि उनके श्रद्धाभाजन पण्डितजी एक चमारकी अर्थीके साथ गये। लोग काल्लूकी प्रशसा सुनने या करने नहीं आये थे। काल्लूसे उन्हें अब कोई काम नहीं था और चमारकी स्त्रीकी चिन्ता क्या, वह कल नही तो परसों किसी औरके पास बैठ जा सकती है। पण्डितजीकी यह प्रशंसा सुनकर लोगोंने परस्पर देखा एक दूसरेकी ओर —ये कितने भोले हैं।

'आप कोई चिन्ता न करें। आपके लिये अच्छा हलवाहा हम ढूँढ़ देंगे। हम मिलकर कल आपके गन्ने बो देंगे। दूसरी सहायताके लिये भी हम सब सदा प्रस्तुत रहेंगे। आप स्वीकार करें तो ⋯ कलसे आपके यहाँ काम करने लगे। वह अभी युवक है। बलवान् है। काम करनेमें चतुर है और ईमानदार है। काल्लूके बिना आपका कोई काम अटकेगा नहीं।' लोग यह या ऐसी ही बातें करने-कहने आये थे। उनका सोचना

ठीक ही था कि पण्डितजीका शोक अपने लिये है—अपनी असुविधाओंके लिये और उन्हें वे दूर कर सकते हैं। यहाँ आनेपर यह बात ही दूसरी डगर चल पड़ी।

'काल्लू ईमानदार था। परिश्रमी था। सीधा था। अच्छा आदमी था वह।' एक वृद्धने बात समाप्त कर देनेके ढंगपर कहा। अच्छा आदमी—इससे अधिक काल्लूको वे और कुछ माननेको प्रस्तुत नहीं थे। यों अच्छा आदमी और धर्मात्माकी दार्शनिक विवेचना उन्होंने न कभी की थी और न करनेकी उनमें क्षमता थी। 'जब दूसरे चमार लोगोंके उकसानेपर मन्दिरमें जाकर उसे भ्रष्ट कर आये, वह अपनी पूरी पचायतके हठपर भी मन्दिरके चबूतरेपर नहीं चढ़ा और मन्दिरके सामने दण्डवत् करनेसे किसी दिन चूका भी नहीं। उसमें श्रद्धा तो थी शकरजीके लिये।'

'और धर्मात्मामें क्या होता है? बड़े-बड़े कामोंमें ही धर्म निहित हो, ऐसी बात तो है नहीं। सचाई, ईमानदारी, अपने कर्तव्यका पालन—बड़े-बड़े यज्ञ, दान आदि दूसरे धर्मोंसे भी बड़े है।' पण्डित दीनानाथजीने सम्भवतः लोगोंका भाव समझ लिया था। वे बड़ी गम्भीरतासे एक बार सबकी ओर देखकर कह रहे थे—'अपनी शक्ति, स्थिति और वर्णाश्रमके अनुसार अपने कर्तव्यका ईमानदारीसे पालन भगवान्की सच्ची आराधना है। काल्लू एकादशीको शकरजीके सम्मुख बिना किसी कष्टके शरीर छोड गया—यही बात बतलाती है कि प्रभुने उसकी सेवा स्वीकार कर ली।'

देहातके सरल-सीधे लोगोंने श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया पण्डितजीका तर्क। आपका उर्वर मस्तिष्क न स्वीकार करता हो तो कोई और मार्ग अन्वेषण करना चाहिये।

ना जाने का रूपमें नारायण मिल जायँ

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी)

आज-कल भिक्षावृत्ति एक कला भी है और व्यवसाय भी। दुःख-प्रदर्शनके नित्य नये ढग निकाले जाते हैं तथा सहस्रों व्यक्ति आवश्यक और अनावश्यक रूपसे करुणाकी याचना करने लगे हैं। प्रश्न उठता है कि दान इत्यादिके रूपमें सहायता की जाय अथवा नहीं? दाताकी दृष्टिसे दोनों ही स्थितियोंमें खतरा है। सहायता यदि नहीं दी जाती, तो बहुत-से व्यक्ति हमारी सहायता एवं करुणासे वञ्चित रह जायँगे और यदि सहायता की जाय तो फिर किसकी की जाय? किसीके माथेपर तो लिखा नहीं है कि यह वास्तवमें जरूरतमद है, अथवा इसने केवल स्वाँग बना रखा है। ऐसी स्थितिमें अधिक सम्भावना इस बातकी है कि हम दान देकर एक सामाजिक अभिशापको प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। पात्र-कुपात्रके विवेक एव निर्णयकी समस्या अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नहीं, यह समस्या शाश्वत और सनातन है।

इस समस्याका एक ही उपचार है। पात्र-कुपात्रके विवेचनमें दाता अपनी शक्ति और अपने समयको नष्ट न करे। ऐसा करनेसे मनमें क्षोभ और पश्चात्ताप-जैसी प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। हम बहुत सोच-समझकर किसीकी सहायता करते हैं। बादमें हमें विदित होता है कि हम धोखा खा गये। हमने जिसको दान दिया है, उसको वस्तुतः हमारी सहायताकी आवश्यकता ही न थी। ऐसी स्थितिमें हमारे मनमें क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसके विपरीत हम किसी व्यक्तिको मना कर देते हैं। बादमें पता चलता है कि उस व्यक्तिको वास्तवमें हमारी सहायताकी आवश्यकता थी। आप सहमत होंगे कि यह स्थिति हमारे पश्चात्ताप, कभी-कभी आत्मग्लानिका हेतु बनती है।

पात्रापात्रके विवेकके पूर्व हमें एक अन्य प्रश्नपर विचार कर लेना चाहिये। हम किसीकी सहायता करते ही क्यों हैं? उत्तर स्पष्ट है। करुणा नामका मनोवेग हमें करुणाके कारणके निवारणके लिये प्रेरित करता है।

अथवा यों कहिये कि हमारा शील, हमारी सद्वृत्तियाँ हमें ससारका दु:ख कम करनेके लिये प्रेरित करती हैं। करुणा करते समय हम मनोवेगोंके क्षेत्रमें कार्य करते हैं, बुद्धि अथवा विश्लेषणात्मक विवेचनके क्षेत्रसे हम दूर हट जाते हैं। उस समय हम यदि बुद्धिके क्षेत्रमें हों तो कदाचित् करुणा ही न करें और तब पात्रापात्रके निर्णयका प्रश्न उत्पन्न न हो। विश्लेषणात्मक विवेचन हमें अपने स्वार्थसिद्धिकी प्रेरणा देता है। हम तुरत सोचने लगते हैं कि अपनी जो सम्पत्ति हम इस अन्य व्यक्तिको दे रहे हैं, उसके द्वारा हमारे अमुक-अमुक कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, हम मकानका किराया चुका सकते हैं, अपने बालकके लिये मिठाई ला सकते हैं, पत्नीके लिये औषधकी व्यवस्था कर सकते हैं, स्वयं अपने लिये कोट सिलवा सकते हैं—आदि। ऐसी स्थितिमें हम अपने-आपमें इतने लिप्त हो जायँगे कि अन्यव्यक्तिकी सहायताका प्रश्न हमारे लिये अत्यन्त गौण बन जायगा।

साराश यह है कि परदु.खानुभूतिके फलस्वरूप करुणा उत्पन्न होती है और उसके कारण सहायताकी ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः करुणाके क्षेत्रमें विवेचन तथा विश्लेषणके लिये कोई स्थान नहीं है।

करुणाके द्वारा पराया दु.ख कम होता है—बस, करुणा करनेके लिये इतना समझ लेना पर्याप्त है और इसी कारण वह मानवका सबसे बडा गुण एव धर्म माना जाता है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

समस्त विश्वमें एक ही शक्ति व्याप्त है, विश्वका प्रत्येक अणु उसी सर्वशक्तिमान्का अंश है। अत. उस सर्वव्यापिनी शक्तिके प्रति सवेदनशील होना, हमारी शक्तियों एव ज्ञानेन्द्रियोंका चरम विकास है। पराये दु.खको अपना दु ख समझना मानवताका चिह्न है। पर-दु खानुभूतिका क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा, मनुष्यता उतनी ही विकसित समझी जायगी।

विश्वका प्रत्येक अणु जब हमारा ही एक अङ्ग है, तब फिर पात्र-अपात्रका विवेक ही व्यर्थ है। ऐसी दशामें अपने-परायेका भेद ही लुप्त हो जाता है। हमारे पास जो कुछ है, वह केवल 'हम' नामके एक अंशविशेषका न होकर 'ये सब' नामके बृहत् रूपकी धरोहर है। मनकी यह अवस्था उत्पन्न होनेपर दान अथवा त्यागमें जो आनन्द है, वह सग्रह अथवा ना करनेमें कहाँ? अपने हिस्सेकी मिठाई जब हम अपने पुत्रको खिला देते हैं, तब हमें कितने आनन्दका अनुभव होता है! ससारके प्राणीमात्रके प्रति जिस व्यक्तिका यह दृष्टिकोण हो, उसकी दानशीलता अभ्यासकी नहीं, अपितु स्वभावकी वस्तु बन जाती है। यथा—

रहिमन वे नर मर चुके जो कहुँ माँगन जायँ।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नायँ॥

करुणा मनुष्यका धर्म है, दूसरेकी सहायता करना मनुष्यत्वका तकाजा है। इस सम्बन्धमें आगा-पीछा सोचना आदमीके दर्जेसे नीचे गिर जाना है। विभीषणके शरणमें आनेपर भगवान् श्रीरामने अपने अनुचरों एवं सहयोगियोंका ध्यान मानव-हृदयकी इसी विशालताकी ओर आकर्षित किया था—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

भले-बुरेकी पहचान असम्भव है, उसके सम्बन्धमे विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि बुराइयोंका चिन्तन मनको दूषित कर देता है। सब हमारे ही अङ्ग हैं, अत. हमें सबका विश्वास और स्वागत करना चाहिये—

तुलसी या ससार में सब सौं मिलिये धाय।
ना जाने का रूप में नारायन मिलि जाय॥

करुणाका अवसर प्राप्त होनेपर हम अपनी शक्तिके अनुरूप सहायता करके अपने कर्तव्यका पालन कर दें। आवश्यक अथवा अनावश्यक रूपसे याचना करनेका उत्तरदायित्व याचकके ऊपर है, दातापर नहीं।

लोकप्रियता

(लेखक—श्रीहरिभगवानजी एम्० एस-सी०, विज्ञानरत्न)

राजनीतिक लोकप्रियताकी व्याख्या करते हुए इंगलैंडकी विधान-सभाके एक प्रमुख सदस्यने कहा था—'यह एक ऐसे कलाकारकी कला है, जो श्रमजीवी और पूँजीपति दोनों वर्गके लोगोंको उनके विरोधात्मक हितोंकी रक्षा करनेका आश्वासन देता है और ऐसा करनेमें इस बातको ध्यानमें रखता है कि किसी वर्गका ऐसा लाभ न हो जाय, जिससे दूसरे वर्गके सदस्योंमें उसकी मानहानि हो।' अत्युक्ति भले ही हो, किंतु उपर्युक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञ सामाजिक कल्याणकी भावनासे ही सदैव कार्य नहीं करते, अपने पद एवं अपनी लोकप्रियताको स्थिर रखनेके लिये वे समयानुसार विभिन्न मार्गोंका अनुसरण करते हैं।

एक दूसरे सरलहृदय राजनीतिज्ञने अपने मनोभावोंका वर्णन करते हुए कहा—'मैं लोकप्रियताके घने बादलोंमें सदैव विचरण किया करता हूँ। मेरे प्रत्येक वाक्यको रेकर्ड करनेकी और प्रत्येक गतिकी फोटो लेनेकी चेष्टा की जाती है। मुझे राष्ट्रका कर्णधार कहा जाता है और विश्वशान्तिका दूत।

'किंतु मैं अपने आपको दूसरे लोगोंकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। मुझे अपनी निर्बलताका ज्ञान है। मैं जानता हूँ कि बाल्यकालमें मेरे द्वारा निर्मित देशकी उन्नतिकी कोई भी योजना अभीतक पूर्ण नहीं हुई है। युद्धसे घबराते हुए भी मुझे युद्ध करना पड़ता है, दलबंदीसे घृणा करते हुए भी मुझे उसका सहारा लेना पड़ता है, लोकप्रियताको स्थिर रखनेके लिये मुझे देशकी प्रगतिका असत्य चित्रण करना पड़ता है। अपनी इस दुःखद परिस्थितिका ध्यान करके मैं सोचने लगता हूँ कि क्या संसारमें मुझ-सा अभागा कोई और भी है।'

ये हैं एक विश्वप्रिय महान् पुरुषके उद्गार! ये हैं एक ऐसे महापुरुषके शब्द, जिसको सम्पूर्ण संसार बड़ा भाग्यशाली समझता है, किंतु उसका अपने लिये मत इससे भिन्न है।

लोकप्रियता एक झूठी कसौटी है, जिसपर मनुष्यकी महानताको अथवा देशकी उन्नतिको परखनेका असफल प्रयत्न किया जाता है। महात्मा अरविन्दने एक स्थलपर लिखा है—

'लोकप्रियताके आधारपर किसी चीजका मूल्याङ्कन अनुचित है। लोकप्रिय बननेके लिये तो दूसरोंको प्रसन्न रखना पड़ता है और उनके अनुसार कार्य करना पड़ता है। इसके लिये तो सामूहिक दुर्गुणोंको भूलना पड़ता है, उनको बतानेसे तो अपयश मिलता है।'

इमर्सनने लिखा है—'दुनियामें रहकर दुनियाकी तरीकेसे काम करना सरल है, एकान्तमें रहकर अपने तरीकेसे काम करना भी सरल है; किंतु महान् पुरुष वह है, जो दुनियामें रहकर अपनी शैलीसे काम करता है।'

अतः संसारमें रहकर लोकप्रियताके मार्गका अनुसरण करना, दूसरे लोगोंकी बातोंका ध्यान रखते हुए काम करना, सांसारिक जीवनको बितानेका सरलतम उपाय है। इससे आंशिक सुख मिल सकता है; किंतु जीवनको समझनेके लिये, अपने दृष्टिकोणको विस्तृत करनेके लिये, लोकप्रियताके सीमित क्षेत्रसे निकलना पड़ेगा।

× × ×

लोकप्रिय बननेकी भावनासे ही मिलती-जुलती दूसरी भावना अपयशसे बचनेकी होती है। वस्तुतः ये एक ही भावनाके दो पार्श्व हैं, एक ही सिक्केके दो पक्ष हैं। केवल लोकप्रिय बननेकी भावनासे विभिन्न स्तरोंपर हानि होनेकी आशङ्का रहती है; किंतु अपयशसे बचनेकी भावनासे सामाजिक कल्याण भी होता है। कैसे ?

जब दक्षिण अफ्रिकामें गांधीजी रहते थे, तब एक बार कस्तूरबासे उनका झगड़ा हो गया। सेवाभावसे किसीके मल-मूत्र साफ करनेकी बात थी। 'बा' को यह कार्य घृणित लगता था। गांधीजी इसपर क्रोधित हो उठे और क्रोधके आवेशमें उन्होंने बा को घरसे निकाल दिया। जैसे ही गांधीजी गृह-द्वार बंद करने चले, अश्रुपूर्ण बा ने कहा, 'जरा सोचो! हमारे-तुम्हारे बीचके इस प्रकारके झगड़ेको देखकर पास-पड़ोसके लोग क्या कहेंगे?' वाक्य साधारण था, किंतु यह क्रोधकी भड़की हुई अग्निको शान्त करनेके लिये पर्याप्तसे भी अधिक था।

जब पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष आदिमें झगड़ा होता है, तब अपयशसे बचनेकी भावनासे ही अनेक झगड़े शान्तिपूर्ण विधिसे सुलझ जाया करते हैं और जब यह विचार मनमें आ जाता है कि समाजका काम कुछ-न-कुछ कहना ही है—वह जो कहेगा, उसको हम सुन लेंगे,

तब मनुष्यपरसे एक प्रकारका अङ्कुश हट जाता है और वह अपनी मनमानी करने लगता है ।

× × ×

तथ्य यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है । मनुष्यको एकान्तमें सुख मिल सकता है; किंतु एकान्तमें सुख तभी प्राप्त होता है, जब उसकी पर्याप्त मानसिक उन्नति हो चुकी हो और समूहसे उसका मन ऊब चुका हो । एकान्तकी खोज केवल परिवर्तनके लिये होती है ।

यदि समाज मनुष्यके लिये एक आवश्यकता है तो मनुष्यकी समाजके प्रति कुछ स्वाभाविक भावनाएँ होनी चाहिये । लोकप्रियताकी अथवा अपयशसे बचनेकी भावना वस्तुतः मनुष्यकी समाजके प्रति स्वाभाविक भावना है । फलतः इस भावनाका स्रोत मनुष्यकी अन्तरतम प्रवृत्तियोंसे सम्बद्ध है ।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें मनुष्यकी तीन मूल कामनाएँ बतायी गयी हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा । इन सबमें लोकैषणा—यश-प्राप्तिकी इच्छा सबसे अधिक तीव्र मानी गयी है और इसीलिये इसका त्याग सबसे कठिन है । इसका त्याग मनुष्योन्नतिकी पहली सीढ़ी है ।

वैज्ञानिकोंने भी यशकी कामनाको काफी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । युग नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकने सम्पूर्ण मानसिक क्रियाओंके मूलको समाजमें मान प्राप्त करनेकी इच्छासे सम्बद्ध किया है । एक दूसरे प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आडलरने उच्च स्थान प्राप्त करके अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छाको मनुष्यकी सर्वोपरि कामना बताया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकप्रियता अथवा अपयशसे बचनेकी इच्छा मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति है । अतः इसका विकास—दमन नहीं—व्यक्तित्वके पूर्ण विकासके लिये आवश्यक है; किंतु इसका विकास नियन्त्रित होना चाहिये, नहीं तो परिणाम भयंकर हो सकता है । कैसे ?

नैपोलियन जब सेंट हेलेनामें नजरबंद था, तब लोगोंने उससे पूछा, 'तुममें विश्व-विजय करनेकी इच्छा कैसे जाग्रत् हुई ?' उसने उत्तर दिया, 'मेरी गरीब माँने मुझको बड़े श्रमसे पाल-पोसकर बड़ा किया । बड़े होनेपर मुझे ऐसा भान हुआ कि मोहल्ले और पास-पड़ोसके लोग मुझे नीची नजरोंसे देखते हैं । मुझमें पड़ोसियोंको कुछ कर दिखानेकी भावना जाग्रत् हुई । मान-प्राप्त सिपाही बनकर मैंने अपनी इस इच्छाकी पूर्ति की, किंतु कामनाकी पूर्तिसे कामना और बढ़ती जाती । मोहल्लेसे मैं शहरतक बढ़ा, शहरसे राष्ट्रकी ओर और राष्ट्रसे विश्वकी ओर । मैं संसारको कुछ कर दिखाना चाहता था ।' इसमें संदेह नहीं कि नैपोलियन महान् था; किंतु हम उसकी भयानक विध्वंसकके रूपमें याद करते हैं, उसके लिये हमारे शान्तिपूर्ण हृदयमें कोई स्थान नहीं । क्यों ? केवल इसलिये कि विश्वविजयसे उसने अपनी लोकप्रियताकी कामनाको पूर्ण करनेकी चेष्टा की । विश्वहित करनेकी भावनाका उसमें अभाव था । लोकप्रियता उसके लिये साधन न रहकर साध्य बन गयी थी, यश-प्राप्तिकी भावनाके अनियन्त्रित विकाससे वह कुत्सित हो उठी थी ।

गांधीजीने अफ्रिकामें सत्याग्रह क्यों किया ? बिहारमें नीलकी खेती करनेवालोंका साथ उन्होंने क्यों दिया ? 'भारत छोड़ो' आन्दोलनका नेतृत्व क्यों किया ? नोआखालीमें हिंदू-मुसलमानोंके झगड़ेको शान्त करनेकी उन्होंने चेष्टा क्यों की ? इसलिये नहीं कि वे लोकप्रिय बनना चाहते थे, प्रत्युत इसलिये कि वे देश-हित, जन-हित, समाज-सेवा करना चाहते थे । हिंदू-मुसलमानोंके झगड़ेमें यदि उन्होंने हिंदुओंका साथ दिया होता तो उन्हें गोली खाकर शहीद न बनना पड़ता और कुछ क्षेत्रोंमें उन्हें अपयश न मिला होता; किंतु उन्होंने वह किया, जो उन्हें समयानुकूल करना चाहिये था । इसीलिये वे राष्ट्रपिता माने जाते हैं और विश्ववन्द्य हैं ।

जब जन-सेवा, लोकसंग्रहकी भावनासे प्रेरित होकर कार्य किया जाता है, तब आरम्भमें अपयश भले ही मिले, किंतु अन्तमें लोकप्रियता ही मिलती है । जनसमुदायके हृदयमें स्थान उपकार करनेमें मिलता है, घात करनेसे नहीं । यदि उपकार करनेकी भावना प्रमुख है तो लोकप्रियता स्वाभाविकरूपसे मिलेगी और यदि लोकप्रियता प्राप्त करना ही उद्देश्य है तो अन्तमें मानहानि ही होगी ।

समाजमें प्रगतिशील विचारोंके प्रचार करनेमें आरम्भमें कठिनाई पड़ा करती है, क्योंकि परिवर्तन करनेमें साधारणतया लोगोंको अड़चनें होती हैं । फलतः किसी भी उपकारके करनेके लिये आरम्भमें विरोध सहना पड़ता है और यही व्यक्तिकी सफलताका परीक्षा-क्षेत्र है । यदि व्यक्ति समाजके विरोधको सहन करते हुए अपनी उपकारभावनाकी पूर्तिमें संलग्न रहता है तो क्रमशः समाजके लोगोंमें उसके किये गये उपकार सम्मुख आते जाते हैं, इससे धीरे-धीरे विरोध कम होता जाता है और लोकप्रियता बढ़ने लगती है ।

गांधीजीने जब नमक-सत्याग्रह करनेका आदेश दिया तब आरम्भमें इस विचारका बड़ा विरोध हुआ । इसकी बात

सुनकर मोतीलाल नेहरू-जैसे कुशल राजनीतिज्ञने कहा— 'ब्रिटिश साम्राज्य-जैसी शक्तिके विरुद्ध नमक-जैसी छोटी चीजका सत्याग्रह करनेसे कैसे मोर्चा लिया जा सकता है ? वस्तुतः महान् कार्य बडी चीजोंको करनेसे नहीं, छोटी चीजको बड़े ढगसे करनेसे होता है ।'

फलत. प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्तामें परहित-भावना प्रधान होनी चाहिये । उसमें जनसमुदायकी भावनाओंके परखनेकी शक्ति होनी चाहिये, उनके विरोधको सहन करनेका गाम्भीर्य होना चाहिये । साधारण रूपसे सामाजिक आलोचनाओं-का ध्यान रखना चाहिये, किंतु ये यदि व्यक्ति अथवा समाजकी उन्नतिमें ही बाधक होती हैं तो उनका परित्याग ही श्रेयस्कर है । जनसमुदायकी भावनाओंको केवल स्पष्ट करनेसे थोड़े कालके लिये सफलता मिल सकती है, किंतु स्थायी लोकप्रियताकी प्राप्तिके लिये आत्मसमर्पण करना होगा, जनसमुदायसे आत्मिक एकाकारता करनी होगी । जब व्यक्ति इस अवस्थापर पहुँच जाता है, तब उसके लिये लोकप्रियताका कोई महत्त्व नहीं रहता । स्थायी लोकप्रियता उसी समय मिलती है, जब उसकी चाह मनमे निकल चुकी हो ।

गीतामें भगवान्ने कहा है—

सक्ता कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
(३ । २५)

जिस प्रकार लोग फलासक्त होकर काम करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोक-सग्रहकी भावनासे अनासक्त होकर काम करते हैं । फलप्राप्तिकी इच्छासे रहित होकर ही कार्य करना चाहिये, क्योंकि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गीता २ । ४७)

कर्ममें हमारा अधिकार है, फलमें नहीं । लोक-हित करना हमारा मुख्य ध्येय होना चाहिये । वस्तुतः लोकप्रियता तो लोक-हितके कर्मका फल है । लोकप्रियतारूपी फलसे विमुख होकर हमें लोक-हितकी ओर एकाग्रचित्तसे बढना चाहिये और यही हमारा धर्म है, क्योंकि परोपकार पुण्य है और परपीडन पाप है—अठारहों पुराणों एव अन्य धार्मिक ग्रन्थोंका सार यह है ।

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे ।
पर दु खे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे ॥

परोपकार करते समय यदि मनमें अभिमान आ गया या लोकप्रियता प्राप्त करनेकी भावना जाग गयी तो कार्य निम्नस्तर-का हो जायगा । मनुष्यको लोकप्रियताकी भावनासे ऊपर उठनेका प्रयत्न करना चाहिये, इस भावनाके दासत्वको छोड़नेका प्रयास करना चाहिये ।

प्रार्थना

(ब्रज-भाषा)

अब मोहि एक भरोसौ तेरौ ।
भक्ति-भाव सौं विरत, कलुष रत, मोहावृत, विषयन कौ चेरौ ॥
काम-लोभ-मद-मोह बसत निसि बासर किये हिये महँ डेरौ ।
सिरपर मीच, नीच नहिं चितवत, रहत सदा रोगनि सौं घेरौ ॥
परमारथ की बात कहत नित, भोगन सौं अनुराग घनेरौ ।
बारबार अनुभवत—नाहिं कोउ तो सो हितू, न तो सौ नेरौ ॥
तदपि बिसारि तोहि हौं पाँवर सुमिरौं कामज सुखहि अनेरौ ।
अब तौ बस तू ही अवलंबन, तो बिनु और न कोऊ मेरौ ॥
निज पन बिरद बिचारि दयामय ! कृपा अहैतुक सौं नित प्रेरौ ।
तू ही मोहि उबार बिषम भवसागर सौं, कर छोह घनेरौ ॥

भक्त चतुर्भुजदास

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—पं० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग बी० ए०, साहित्यरत्न)

अष्टछापके कवियोंमें सूरको भाव-साम्राज्यका एकछत्र अधिपति माना गया है, अन्य कवियोंको उनका भावानुगामी। किंतु सूरके साथ ही यदि हम अन्य महानुभावोंकी वाणीका भी अनुशीलन करें तो उनमें भी हम वैसी ही भावुकता, वही रसावेश और वैसी ही तल्लीनता पायेंगे। सभी एक ही रस, एक ही पीड़ामें पगे हैं, आराध्य भी तो सभीके एक ही हैं रसेश श्रीकृष्ण।

चतुर्भुजदास भी श्यामसुन्दरकी उसी रूप-माधुरीमें निमग्न हैं, जिसका आस्वाद पानेके लिये सभी अष्टसखा सर्वदा आतुर और वियोग-व्याकुल हैं। उनकी आँखोंकी 'बान' और लगनको देखिये—

> नैंननि ऐसियै बानि परी।
> बिनु देखे गिरिधरनलाल मुख जुग भर गनत घरी॥
> मारगु जात उलटि चपलनु मोहन तन दृष्टि परी।
> जब ही तें लागी जक इकटक निमि मरजाद टरी॥
> चत्रभुजदास छुडावन कौ हठु मैं बिधि बहुत करी।
> त्यों सरबसु हरि कौं हरि दीनो देह दसा बिसरी॥

एक क्षणका वियोग भी असह्य है। इसीलिये निमिकी मर्यादाको भङ्ग करके एकटक, पलक गिराये बिना गिरिधरलालको ये नेत्र निरवधि देख रहे हैं, यहाँ मर्यादा और विधि-निषेधको कौन पूछता ? कितने चपल हैं ये नेत्र कि मार्ग चलते-चलते ही उनसे ये जा उलझे। और इसका परिणाम हमें भुगतना पड़ा सर्वस्व समर्पण—हृदय, आत्मा, समग्र जीवनके निवेदनके रूपमें; फिर क्यों न आत्मविस्मृतिकी दशा प्राप्त हो ? ऐसे हैं ये रसमत्त नेत्र, इसीलिये कविने इन्हें कुरङ्गकी कितनी सुन्दर उपमा दी है—

> नैंन कुरंगी रति रस माते फिरत तरल अनियारे।
> नवल किसोर स्याम घन तन बन पाए हैं नव निधि वारे॥
> नाना बरन भए सुख पोषे स्याम सेत रतनारे।
> 'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन कृपा रँग रँगि रचि रुचिर सँवारे॥

हरिणके नेत्रोंकी भाँति उनकी सहज चपलता और तरलित भावोंकी विचक्षणता तथा संगीत-रसमें निमग्न आत्माकी सम्पूर्ण विस्मृति उनके अपने गुण हैं। सघन श्याम मेघोंकी गहन प्रेम-रससे भरे श्यामसुन्दरके अनुराग-रागमें वे रँगे हुए हैं। इसीलिये श्याम-वर्णमें समाविष्ट श्वेत-रतनारे आदि समस्त रंगोंकी झलक, विविध सुखोंसे परिपुष्ट भावोंकी झाँकी हमें वहाँ मिलती है। हृदयके अनेक सचारी भाव अनुभाव-रूपमें चक्षुपटलपर विलसित होनेके कारण ही तो वे 'तरल', सरस और 'अनियारे', अनूठे हैं। कविके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणका यह एक परिपुष्ट उदाहरण है।

चतुर्भुजदास उस असीम सौन्दर्य-निधिके आराधक हैं, जिसमें व्रजसीमन्तिनियोंने अवगाहन कर एकतान भावसे अपनेको केन्द्रित कर दिया था। रूप-ठगी व्रज सुन्दरीके शब्दोंमें ही देखिये—

> तब ते और न कछू सुहाइ।
> सुंदरस्याम जबहि तें देखे खरिक दुहावत गाइ॥
> आवति हुती चली मारग सखि हौं अपने सतभाइ।
> मदनगोपाल देखि कै इकटक रही ठगी मुरझाइ॥
> बिसरी लोक लाज गृह कारज बंधु पिता अरु माइ।
> दास 'चतुर्भुज' प्रभु गिरिवरधर तन मन लियो चुराइ॥

जबसे खिरकमें गोदोहन करते हुए 'सुन्दर श्याम'को देखा है, उनके कोटि-कन्दर्पलावण्यसे ऐसी ठगौरी पड़ी है कि उनपर टकटकी लग गयी। घरके कार्यका तो भान ही किसे रहे, स्वजन और परिजनोंके प्रति लज्जाका भाव भी विलीन हो गया। चेतना ही कहाँ, जो कहींका अनुसंधान रहे। 'मुरझाइ'में कितनी निस्पन्दता औ गहरी वेदना छिपी हुई है ? 'तन-मनके चोर'ने अपने पास छोड़ा ही क्या, जो हृदयकी पँखुडियोंको विकासका अवकाश दे। उल्लासके क्षणोंमें ही चित्त किसी भी ओर रमता है। किसीसे बँध जाने और बँधकर भी न पा सकनेकी स्थितिमें और कुछ कैसे सुहा सकता है। कितनी विवशता है!

इसीलिये, उस मधुर दर्शन, मिलनके पल निकल जानेपर उनके वियोगमें एक-एक क्षण युगके समान बीत रहा है। वह मन्द, मधुर, मादक मुसकान कैसे भुलायी जा सकती है। कितनी विडम्बना है कि जब मिलनकी घड़ी आयी, तब चित्त इतना भावाविष्ट हो गया कि उनसे दो बात भी न हो सकी। सुयोग मिलनेपर भी भावमुग्धताके कारण जिसके मनकी न हो सकी है, ऐसी किसी मुग्धाका चित्रण कविकी मर्मस्पर्शी वाणीमें देखें—

तब तें जुग समान पल जात ।
जा दिन तें देखे सखि मोहन मो तन मुरि मुसिकात ॥
दरसन देत ठगौरी मेली कहि न सकी कछु बात ।
बीतत घरी पहर क्रम क्रम अब रूर मीडत पछितात ॥
हिरदै गडी मदन मूरति मन अटक्यो साँवल गात ।
चत्रभुज प्रभु गिरिधरन मिलन कौं नेन बहुत अकुलात ॥

कितना पछतावा है, कितनी आतुरता है ! वह मदन-मोहिनी मूर्ति अन्तरतममें गड़ गयी है, उसे निकालना दुष्कर है, मन भी तो साथ नहीं, जो इसके लिये प्रयास किया जा सके। वह तो उस 'साँवरगात'से जा अटका है, कितना सुन्दर आदान-प्रदान हुआ है। अब आँखें उस रूपकी प्यासमें तड़प रही हैं। इस भावव्यापारका माध्यम भी तो ये ही हैं। इन्हें अपने कियेका फल भोगना ही चाहिये।

हृदयकी व्यथा ही आँखोंमें आ झलकती है और क्रमशः अङ्ग-अङ्गकी गति-विधिमें उसकी स्पष्ट छाया फैल जाती है। कवि अपने हृदयकी तालाबेली, मनको डाँवाडोल कर देनेवाली वियोग-व्यथा किसी विरहिणीका प्रतिनिधित्व करता हुआ इस प्रकार चित्रित करता है—

उठी फिरि फिरि आवनि निज द्वार ।
गृह आगमन सोई हो तब ते देखे नदकुमार ॥
सुंदर स्याम कमल दल लोचन सोभा सिंधु अपार ।
ता दिन ते आतुर भए मग तन चितवत बारबार ॥
मोर भवन ते निकसे मोहन चलनि गयद सुढार ।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधरन मिलन कों करत अनेक बिचार ॥

मनमोहनको अपने द्वारसे जाते हुए एक बार देख लिया है। बस, उन कमलदललोचन श्यामसुन्दरके अपार शोभा-सिन्धुमें बार-बार निमज्जन करनेके लिये वह उन्मन—उन्मत्त हो उठी है। एक क्षण चैन नहीं। आँगन और ड्योढी एक कर रखी है। न जाने कब वे वहाँसे निकल पड़ें। दृष्टि भी मार्गपर लगी हुई है। लौट-लौटकर वहीं जाती है। कितनी बेचैनी और मनोमन्थनकी दशा है! वह अपने रंग-विरंगे सपनोंकी भाव-धारामें न जाने कबतक डूबी हुई इसी प्रकार दिवानिशि बिताती रहती है।

धीरे-धीरे यह तन्मयता उन्मादके रूपमें बदल जाती है। मनकी चञ्चलता, गतिकी स्थिरता और उस अनन्तकी अनन्त साधनाकी विवेचना दो सखियोंके बीच हुए प्रश्न-संवादसे और स्पष्ट हो जाती है।

ए री तू घरिये घरी क्यों आवै ?
नंदनँदन सों हेतु कहा है सो क्यों न मोहि बतावै ॥
दीपक बार द्वार मगरू करि फेर बारने धावै ।
हिये अँधारो उजारो चाहत सो दीपक क्यों जावै ॥
मनि माला आँगन में लै लै तोर डार बगरावै ।
बीनन मिस मोहन अवलोकत यों ही पहर बितावै ॥
ब्रह्मादिक जाकौ ध्यान धरत हैं, खोजत अनत न पावै ।
चत्रभुज प्रभु गिरवर छबि निरखत इनहि लखें सचु पावै ॥

उन्मत्त, मूक, जडकी भाँति बार-बार किसी भी बहानेसे वह नन्द-भवनके चक्कर काट रही है। नन्दनन्दनसे उसे क्या प्रयोजन है, उनके प्रति उसकी कैसी लगन है, वह किसीको नहीं बताती। आखिर प्रेम तो मौन साधनाकी निधि है, विज्ञप्ति या घोषणाकी वस्तु थोड़े ही है। प्रियके आगमनकी वह अनुक्षण बाट जोहती है। अपने भवनमें दीपक जला देती है, फिर द्वारपर दौड़कर आती है—सम्भवतः अपनी तल्लीनतामें प्रियकी पदचापकी ध्वनिकी कल्पना करके। किंतु भीतर जो एक निराशाका अन्धकार छाया हुआ है, जिसमें वह आशा-प्रकाशकी रश्मियाँ लाना चाहती है। भला, वह अन्धकार इस भवनके दीपकसे दूर हट सकता है ? यह आशा-निराशा, सुख-दुःखकी आँखमिचौनी कबतक चलती रहेगी, कौन जाने ? यशोदाके आँगनमें अपनी मणिमालाको तोड़-तोड़कर, मानो हृदयके भाव-मुक्ताओंकी कितनी ही अञ्जलियाँ बिखेरकर वह उन्हें बीनती है और इसी बहाने मन-मोहनके दर्शन करती हुई एक पहर बिता देती है। कितनी चातुरी है! ब्रह्मादिकके ध्यानमें भी जो नहीं आता, उसकी मुख-छविसे वह अपनेको परितृप्त करती रहती है—हृदयसे उसकी सौन्दर्य-सुधाका स्वाद लेती रहती है।

चतुर्भुजदास भी उसी पगली ग्वालिनीकी तरह नन्दनन्दनके मुख-दर्शनका कोई-न-कोई बहाना निकाल ही लेते हैं, उनकी आँखोंमें बड़ा सुन्दर चित्र उतरता है।

कर लै निकसी घन दोहनी ।
मोरहि स्याम बदन देखन कौ आरूस अँग छवि सोहनी ।
मानो सोभा निधि मथि काढ़ी मनसिज मन को मोहनी ।
खरिक के डगर चली हित पागी रसिक कुँवर के गोहनी ॥
गाइ दुहवनके मिस तब प्रिय नदनँदन मुख जोहनी ।
चत्रभुज प्रभु गिरिधरलाल की चितवनि मृदु मुसकोहनी ॥

प्रभातकी उल्लासमयी वेलामें रसिक कुँवरके मुख-दर्शनके लिये गोदोहनके मिस खरिकके मार्गपर दोहनी हाथमें लेकर जानेवाली रसपगी अङ्ग-अङ्ग अलसित छविसे विलसित, शोभा-सिन्धुसे मथकर काढी गयी उस मनसिज-मन-मोहिनीकी कल्पना कीजिये। उसके रूप लावण्यकी मृदुताके साथ ही उसके भावविभोर हृदयका भी अनुमान कीजिये और

आस्वादन कीजिये; नन्दनन्दनकी मन्दस्मितिसवलित चितवनसे प्राप्त मधुरिमाका नवनीत-हृदय कवि, ग्वालिनी और रूप-माधुरी—तीनों यहाँ तद्रूप, तदाकार-से दिखायी देते है।

अब यह पूर्वानुराग अनुदिन बढता जा रहा है। मिलनकी लालसा बलवती हो रही है, सदा-सर्वत्र लालगिरिधरकी प्रेम-रज्जुमें बँधे रहें—इसके लिये प्रयास हो रहे हैं। उधर प्रेमीके मधुर आकर्षणसे प्रिय भी समीप खिंचते चले आ रहे है, दो हृदय एक होकर रहेंगे—

> या ही ते फिरत सदा बन खोरी।
> कबहुँक अचर गहत मद हँसि सहज लेन रति जोरी॥
> अन्तन नाहि 'चतुर्भुज' प्रभु तनि हारी मनहिं निहोरी।
> बाटी प्रीति लाल गिरिधर सौं लोक वेद तृन तोरी॥

उत्कट प्रेमकी धाराका वेग लोक-वेदकी मर्यादामे बाँधा नहीं जा सकता। प्रेम तो उन्मुक्तता, स्वच्छन्दता चाहता है। परमगोपनीय अव्यक्त तत्त्व होते हुए भी अपनी चरमावधिमे वह स्वतएव अनायास व्यक्त हो जाता है। तब अन्य भौतिक बन्धन, आवरण या परिसीमन उसे पङ्गु नहीं कर सकते। तभी तो प्रिया प्रियतम वन-वन, गली-गली प्रेमकी वशी बजाते हुए उन्मुक्त विचरण करते हैं। एक मन्द मुसकानमें ही दो प्रेमी-हृदयभावोंकी टूटी कड़ियोंको जोड़कर स्वय ही सदाके लिये अनजाने एक-दूसरेके हृदयमे बदी बन जाते हैं। कवि इसी गोपी-भावमें तादात्म्य पाता है। कवि-वाणी उसी भाव-वीणाकी झकार है, जिसमे उसके सर्वस्वकी माधुरी खेला करती है।

प्रेमियोंकी एकरूपता, उनकी एकरमता कविके ही शब्दोंमें परखें—

> माई! मेरौ मावौ सौं मन मान्यौ।
> अपनौ तन और कमल नैन कौ एक ठौर लै सान्यौ॥
> एक गोविन्दचन्द के कारन बेर सबन सौं ठान्यौ।
> लोक लाज कुल कानि सबै तजि, मैं अपन्यौत घर आन्यौ॥
> अब कैसें बिलगु होइ मेरी सजनी दूध मिल्यौ जैसें पान्यौ।
> 'चतुर्भुज' प्रभु मिली हौं गिरिधर पहिलै की पहिचान्यौ॥

प्रेम तो मन मानेका सौदा है, दो हृदयोंका स्वेच्छासे सर्वदाके लिये बँध जानेका समझौता है। जब जीव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल जाय, उसकी अहता-ममता समूल विनष्ट हो जाय, जो दैन्यकी परमावधि है, और तभी सर्वस्व-समर्पणकी कोटि आती है। फिर प्रभु भी जीवसे या हरि भी भक्तसे विलग नहीं रह सकते। वे भक्तका अस्तित्व विलय होनेपर अपना अस्तित्व भी उसके अधीन छोड़ देते हैं। उसकी परवशताके आगे स्वय परवश हो जाते हैं। दो स्थितियाँ भिन्न प्रतीत होती हुई भी फलमें कितनी एक हैं। इसीलिये गोपाङ्गनाएँ एक गोविन्दचन्द्रकी साधना करती हैं, भले ही इसके परिणाममें उन्हें सम्पूर्ण विश्वसे वैर मोल लेना पड़े। इस वैरका हरिके प्रेमके आगे मूल्य भी क्या? यह तो दूध और पानीकी-सी एकात्मकता है—जहाँ दूध-ही-दूध है, पानीकी पहचान ही उठ गयी और यह युग-युगके, जन्म-जन्मके सस्कार, प्रेम और साधनाका फल है—ऐसा वे विश्वास करती हैं। कवि घोषित करता है, 'पहले की पहिचान्यौ' ....

इतनी एकात्मकता—तद्रूपता अनन्य प्रेम बिना नहीं हो सकती। अहर्निशि वही लगन, वही उलझन, वही मनन! फिर मिलनमे क्या व्यवधान हो सकता है? कवि-चित्रकारकी तूलिकाका एक ऐसा भी कलाचित्र देखिये—

> आजु सखी तोहि लागि रही रट।
> गोबिंद लेहु, लेहु कोउ गोविंद कहति फिरति बन में घट औघट॥
> दधिको नाउ बिसरि गयौ देखत स्यामसुँदर ओढ़ैं सुभग पीत पट।
> माँगत दान ग्वारी मेली 'चतुर्भुज' प्रभु गिरधरनागर नट॥

निकली तो दधि बेचने, किंतु 'गोविन्द लेहु लेहु कोउ गोविन्द' की रट लगाती घर और वनमें फिरने लगी। लगन ही जो ठहरी। गोविन्द और ग्वालिनी एकरस, एकरूप हो गये। पीतपट ओढे हुए श्यामसुन्दरको देखकर वह अपने आपको ही भूल गयी, दधिको कौन कहे? दानमें मानो उसने अपना हृदय ही दे दिया, उसकी ऐसी मोहिनीसे छली गयी।

इस प्रकार चतुर्भुजदास अपने परमाराध्य नन्दनन्दनकी रूप-माधुरीमें आसक्त हैं, निरन्तर उनके प्रेम-रससे आपूरित हैं, वे क्षण क्षण अधिकाधिक शोभायमान मुख-सरोजके पावन परागके लुब्ध मधुकर हैं। वे अङ्ग-अङ्गकी माधुरीपर न्योछावर होते हैं। चितवनोंसे सुखकी वर्षा हो रही है और उसमें सराबोर कविका भावुक हृदय स्वय भावविगलित होकर गा उठता है—

> बलिहारी हौं चारु कपोलनु की।
> छिनु छिनु मैं प्रतिबिंब अधिक छबि झलकनि कुडल लोलनु की॥
> बदन सरोज निकट कुंचित कच भाँति मधुप के टोलनु की।
> दायें दिसन कहनि हँसि के कछु अति मृदु मीठे बोलनु की॥
> मृग मद तिलक भ्रकुटि बिच राजनि सिर चद्रिका अमोलनु की॥
> 'चतुर्भुज' प्रभु गिरधर सुख बरषत चितवनि नैन सलोलनु की॥

तीर्थाङ्कका शुद्धि-पत्र

'कल्याण'के गत विशेषाङ्क तीर्थाङ्कमे आये हुए तीर्थोंके विवरणमें कुछ भूलें छप गयी हैं। उन-उन स्थानोंके निवासी तथा तत्सम्बन्धित जानकारी रखनेवाले सज्जनोंने जैसी सूचनाएँ भेजी हैं, उनके आधारपर पाठक-पाठिकाएँ कृपया अपनी-अपनी प्रतिमें इस प्रकार सुधार कर लें—

पृष्ठ-सं०	शीर्षक	स्थल-निर्देश	अशुद्ध	शुद्ध
४३	अमरनाथ	पैरा३,पंक्ति३,४,५	काठगोदाम	पठानकोट
५०	टिहरीसे धरासू	पंक्ति ३	भिलगना नदी	भागीरथी गङ्गा
५७	चमोली	पंक्ति ४	जोशीमठतक	पीपलकोटीतक
८८	रावलीघाट	दूसरे कालमकी अन्तिम दूसरी पंक्ति	सम्राट् भरत	सम्राट् दुष्यन्त
९०	काम्पिल	पंक्ति १	जिला बदायूँ	जिला फर्रुखाबाद
११२	खेरेश्वर* महादेव	पंक्ति ३	राजापुर	बर्राजपुर
११३	क्षीरेश्वर	पंक्ति १	कानपुर-दिल्ली लाइनपर शिवराजपुर	कानपुर-अछनेरा लाइनपर बर्राजपुर
११९	राजापुर	अन्तिम दूसरी पंक्ति	महोवा है।	महेवा है
			महोवाका वर्णन चित्रकूट-के साथ जायगा।	यह वाक्य निकाल देना चाहिये
१४०	दुर्वासाधाम	पंक्ति ४	गोमती नदीके किनारे	टौंस व मञ्जुई नदियोंके संगमपर
१८८	परशुरामकुण्ड (टिप्पणी)	पंक्ति २	धारामें लुप्त	क्षतिग्रस्त†
२२२	चम्पकारण्य	पंक्ति १-२	रायपुरसे ७३ मीलपर नवापारारोड है।	रायपुरसे नवापारा राजिम २८ मील है।
		पंक्ति ३	नवापारारोड	राजिम
२२४	अमरकण्टक	पैरा ४, पंक्ति २	रीवासे पक्की	रीवासे कच्ची
२२५	,,	पैरा १, पंक्ति ३	इस स्टेशनपर	अनूपपुर स्टेशनपर
२३४	माहिष्मती (महेश्वर)	पंक्ति २	३५ मील	३१ मील
२९६	नाथद्वारा	पंक्ति ५	४ मील	७ मील
		पंक्ति ६	रास्तेमे	नाथद्वारा स्टेशनसे नगरके मोटरमार्गमें
		पैरा २, नीचेकी २-३ पंक्ति	दिलवाडा ग्रामके पास	सिहाड़ग्राममें पीपलके वृक्षके नीचे

* इसी स्थानका अगले पृष्ठपर क्षीरेश्वर नामसे अलग उल्लेख किया गया है।

† यहाँ मकर-सक्रान्तिमें मेला लगता है। जानेका मार्ग यो है। पूर्वोत्तर रेलवेके साखून स्टेशनसे मोटरबोटद्वारा पुरानी सदिया जाय, वहाँसे मोटरबसद्वारा तेजू, तथा तेजूसे मिसमीघाट जाकर वहाँसे २ मील आगे पैदल जानेपर परशुरामकुण्ड मिलता है। मेलेके अवसरपर तेजूसे मिसमीघाटतक सरकारी बसें चलती हैं।

२९६	नाथद्वारा	अन्तिम पैरा, पक्ति ४-५	श्रीनवनीतलालजी और श्रीविट्ठलनाथजी	श्रीविट्ठलनाथजी
		पंक्ति ६	श्रीनाथजीके मन्दिरमें	श्रीतिलकायित महाराजके मोतीमहलमें
२९७	काँकरोली	अन्तिम पैरा	यहाँ आस-पास श्रीबालकृष्ण-लाल, लाल बाबा, ब्रजभूषण-लालजी आदिके मन्दिर हैं	यह वाक्य निकाल दे ।
३२१	दक्षिणभारतके कुछ मन्दिर (चित्र)		वेदपुष्करिणी	कल्याणतीर्थ
३२७	मेल्कोटे (यादवगिरि)	पहले कालमकी अन्तिम पंक्ति	पञ्चतरणी	कल्याणतीर्थ या कल्याणी*
४४९	कश्यपाश्रम	पंक्ति २	पर स्थानका पता नहीं है	यह स्थान कसावखेड़े (औरंगाबाद दक्षिण) मे है
५३५	मुख्य जलप्रपात		३-कपिलधारा (ऊँचाई) २००फुट	९० फुट

नोट—पृष्ठ १५० पर 'सीतामढी'के विवरणके अन्तमें ये वाक्य जोड़ देने चाहिये—

एक स्थानीय महानुभावका कहना है कि जिस उर्विजाकुण्डसे आद्याशक्ति भगवती सीताजी आविर्भूत हुई थीं, वह पुराणप्रसिद्ध स्थान मन्दिरके निकट दक्षिणमें है—पुनौरामें कोई उर्विजाकुण्ड नहीं है ।

उपर्युक्त भूलोंके अतिरिक्त पृष्ठ ५४२–४६ पर छपे 'श्वेताम्बर-जैनतीर्थ' शीर्षक लेखमे आये हुए बिहार प्रदेशके सम्मेदशिखर, पावापुर, राजगृह, नालन्दा, चम्पापुर तथा पटनाका; उत्कलप्रदेशके उदयगिरि एव खण्डगिरिका, उत्तरप्रदेशके वाराणसी, सारनाथके पार्श्ववर्ती सिंहपुर एव चन्द्रपुर, अयोध्या, रत्नपुर, कम्पिलपुर, प्रयागके अक्षयवट, मथुरा, सौरीपुर एव हस्तिनापुरका तथा सौराष्ट्रके गिरनार तीर्थका विवरण इसलिये नहीं दिया गया कि वे दिगम्बरोंके तीर्थ भी हैं तथा उनका वर्णन उसी लेखके ठीक पहले छपे हुए 'दिगम्बर-जैनतीर्थ' शीर्षक लेखमे दिया जा चुका था अथवा तीर्थाङ्कमे अन्यत्र उनका समावेश हो चुका था । पाठकगण कृपया श्वेताम्बर-जैनतीर्थोंमें उक्त तीर्थोंको भी सम्मिलित कर लें ।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१–प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–प्रकाशनकी अवधि—मासिक

३–मुद्रकका नाम—घनश्यामदास जालान
जातीयता—भारतीय
पता—साहबगंज, गोरखपुर

४–प्रकाशकका नाम—घनश्यामदास जालान
जातीयता—भारतीय
पता—साहबगंज, गोरखपुर

५–सम्पादकका नाम—(१) श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार
(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी एम्०ए०, शास्त्री
जातीयता—भारतीय
दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचारपत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागी-दार हैं । — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता–नं० ३०, बाँसतल्ला गली, कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१ के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं, घनश्यामदास जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं ।

ता० २८ फरवरी १९५७

घनश्यामदास जालान
प्रकाशक

* वेदपुष्करिणी इससे भिन्न है ।
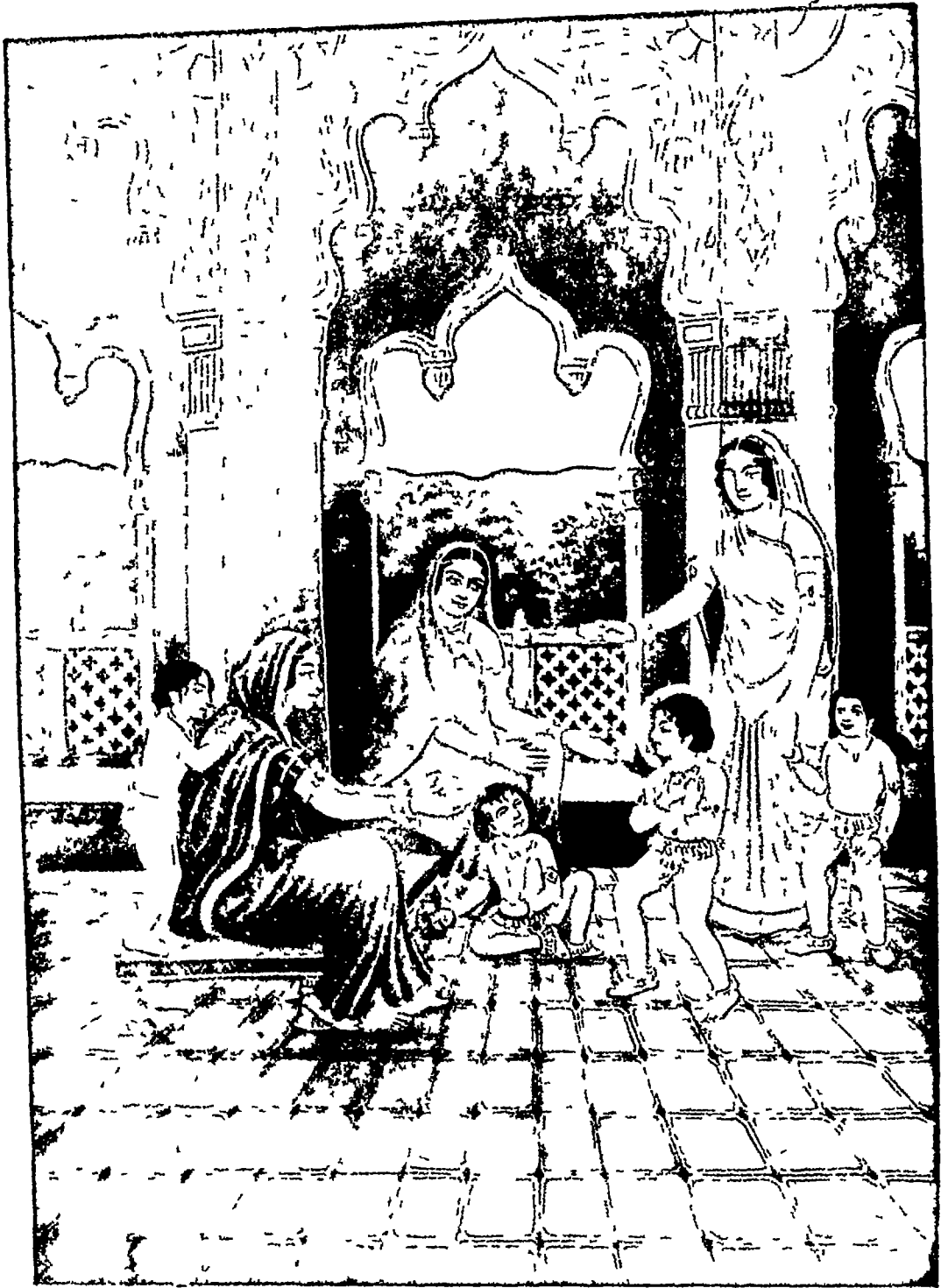
माता-पुत्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
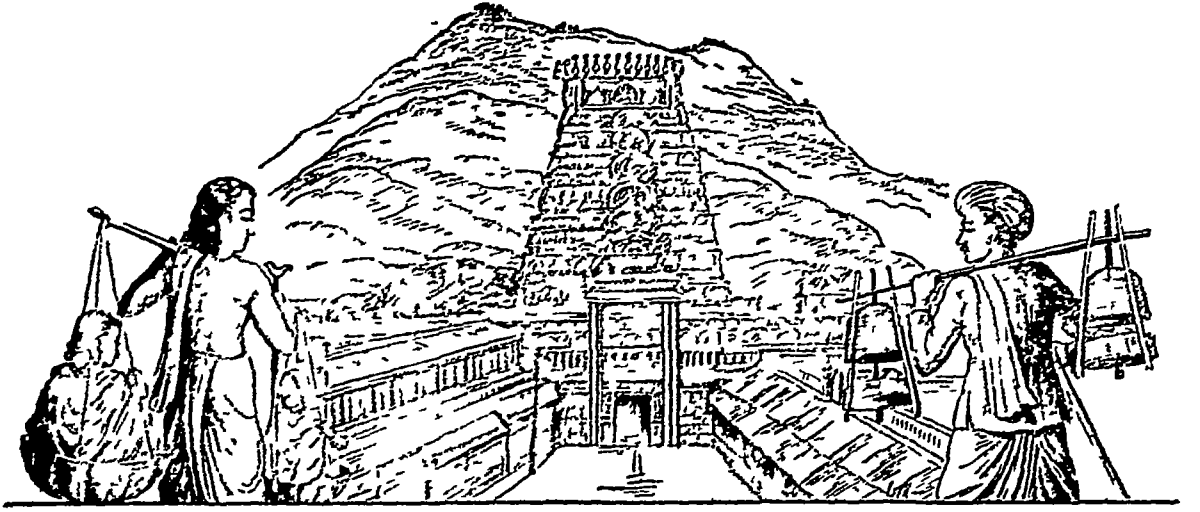
कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१४, मई १९५७ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ३६६

बाल-क्रीडा

छगन मगन अँगना खेलत चारु चारयो भाई ।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई ॥ १ ॥
बाल बसन भूषन धरे नख सिख छबि छाई ।
नील पीत मनसिज सरसिज मञ्जुल मालनि मानो है देहनि तें दुति पाई ॥ २ ॥
ठुमुक ठुमुक पग धरनि नटनि लरखरनि सुहाई ।
भजनि मिलनि रूठनि तूठनि किलकनि अवलोकनि बोलनि बरनि न जाई ॥ ३ ॥
जननि सकल चहुँ ओर आलबाल मनि अँगनाई ।
दसरथ सुकृत बिबुध बिरवा बिलसत बिलोकि जनु बिधि बर बारि बनाई ॥ ४ ॥
हरि बिरंचि हर हेरि राम प्रेम परबसताई ।
सुख समाज रघुराज के बरनत बिसुद्ध मन सुरनि सुमन झरि लाई ॥ ५ ॥
सुमिरत श्रीरघुबरन की लीला लरिकाई ।
तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अजहुँ अघाई ॥ ६ ॥

याद रक्खो—परमात्मा इस जगत्‌में वैसे ही व्याप्त हैं, वैसे ही पूर्णरूपसे भरे हैं, जैसे स्वर्णके हारमें सोना व्याप्त है या जैसे बरफमें केवल जल-ही-जल भरा है। सोनेके हारको किसी भी ओरसे, कहीं भी देखिये—बाहर देखिये, भीतर देखिये—वह केवल सोना-ही-सोना है, इसी प्रकार बरफके रूपमें सभी ओर, बाहर-भीतर जैसे जल-ही-जल है, वैसे ही एकमात्र परमात्मासे यह समस्त जगत् परिपूर्ण है।

याद रक्खो—सोनेका हार बननेसे पहले जैसे वह सोना था, उसके गलाये जानेके बाद भी जैसे वह सोना रहेगा और हारके रूपसे दृष्टिगोचर होनेके समय भी जैसे वह सोना ही है, केवल व्यवहारके लिये सोनेमें ही हारके नाम-रूपकी कल्पना हो गयी है, उसी प्रकार बरफ भी जमनेसे पहले जल था, गलनेके बाद भी जल रहेगा और बरफ बननेपर भी जल ही है, केवल नाम-रूपकी कल्पना हो गयी है। वैसे ही जगत्‌के सृजनके पूर्व भी परमात्मा ही था, जगत् न रहनेपर भी परमात्मा ही रहता है और जगत्‌के रूपमें भी परमात्मा ही है। अपनी लीलासे लीलाके लिये ही वह जगत्‌के रूपमें प्रकट है।

याद रक्खो—जैसे हारमेंसे सोना निकाल लेनेपर कुछ भी नहीं बच रहता और जैसे बरफमेंसे जल निकाल लेनेपर कुछ भी नहीं बचता, नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि सोनेने ही हारका नाम-रूप धारण किया था और जल ही ढेला-सा बनकर बरफ कहलाया था, वैसे ही परमात्माको निकाल लेनेपर जगत् नहीं रहता, क्योंकि परमात्मामें ही जगत्‌के नाम-रूपकी कल्पना है।

याद रक्खो—जैसे हारके उपादानकारण सोनेसे तथा बरफके उपादानकारण जलसे हार और बरफकी पृथक् सत्ता नहीं है, वैसे ही इस जगत्‌के उपादान-कारण परमात्मासे इसकी भिन्न सत्ता नहीं है। इस जगत्‌में केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। जगत्‌से परमात्माको पृथक् कर दिया जाय तो जगत् वैसे ही नहीं रह जायगा, जैसे सोने और जलको पृथक् कर देनेपर हार और बरफकी सत्ता नहीं रहती।

याद रक्खो—हार और बरफमें उपादानकारण तो सोना और जल है, परतु हारमें निमित्त-कारण सुनार और मशीनकी बरफमें निमित्त-कारण मशीन हो सकती है। किंतु परमात्माके सम्बन्धमें वैसी बात नहीं है। जगत्‌की रचनामें उपादान-कारण और निमित्त-कारण—रचनाकी मूल सामग्री और रचयिता—पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जैसे मकडी स्वयं ही अपने अदरसे लार निकालकर उससे जाला बनाती है और प्राकृतिक ढङ्गसे जैसे जल स्वयं ही जमकर बरफ बन जाता है, वैसे ही परमात्मा स्वय ही जगत्‌के मूल वस्तुरूप उपादान-कारण हैं और स्वय ही उसकी रचना करनेवाले निमित्त-कारण हैं। इसीसे वह अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण कहा जाता है।

याद रक्खो—जैसे सूतकी मालामें उसी सूतसे गुँथी हुई सूतकी मणियाँ—केवल सूत-ही-सूत है, वैसे ही परमात्मामें ही जगत् है और परमात्मा ही जगत्‌रूपसे दिखायी दे रहा है। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस तत्त्वको समझो और सहज ही परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाओ।

'शिव'

संसार-बन्धन

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

अज्ञानपङ्कपरिमग्नमपेतसारं
दुःखालयं मरणजन्मजरावसक्तम् ।
संसारबन्धनमनित्यमवेक्ष्य धन्या
ज्ञानासिना तदवशीर्य विनिर्णयन्ति ॥

यह ससाररूप बन्धन अज्ञानरूप कीचडसे चारों ओर सना हुआ है, साररहित है, दुःखोंका धाम है, जन्म-मृत्यु-जरा तथा व्याधि आदिसे युक्त है । परतु अनित्य होनेके कारण इसका नाश, इसकी निवृत्ति हो सकती है । ऐसा विचार करके जो धीर पुरुष ज्ञानरूपी तलवारसे इस बन्धन-को काट डालते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि ऐसे ही आत्मज्ञानी पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्वका निश्चय कर सकते हैं ।

अब बन्धनका स्वरूप देखिये, जिससे यह समझमें आ जाय कि उसकी निवृत्ति कैसे करनी चाहिये । इस सम्बन्धमें श्रुतिभगवती कहती है—

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥

'बन्धन और मोक्ष देनेवाले दो ही पदार्थ हैं—एक ममता और दूसरा ममताका अभाव । ममताके सम्बन्धसे प्राणी बन्धनमें जकड़ा जाता है और ममताके त्यागके द्वारा बन्धनसे मुक्त होकर मोक्षको प्राप्त होता है ।' अर्थात् यहाँ ममताको बन्धनका कारण बतलाया गया ।

विष्णुपुराणमें भी लिखा है—

ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः ॥

'किसी भी प्राणी या पदार्थसे ममताका सम्बन्ध जोड़ना ही दुःखका कारण है । ममत्वका सम्बन्ध न जोड़े तो मनुष्य सुख-शान्तिसे रह सकता है ।'

तनिक सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर ज्ञात हो जायगा कि इस जगत्‌में एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता, जिसमें असंख्य मनुष्य, पशु-पक्षी तथा कीट-पतङ्ग आदि नहीं मरते हों । पर क्या उनकी मृत्युके लिये हम दुखी होते हैं ? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा । परंतु इनमेंसे किसी भी प्राणीको हमने पाला हो, घरमें गाय या घोड़ा बँधा हो, कुत्ता या बिल्ली पाली गयी हो, अथवा तोता या मैना पिंजड़ेमें रक्खा गया हो और यदि उनमेंसे कोई प्राणी मर जाय तो दुःख हुए बिना नहीं रहेगा । इस दुःखका कारण उस प्राणी-की मृत्यु नहीं है; परंतु उस प्राणीमें जो ममत्व जोड़ रक्खा था, उसका वियोग होनेके कारण दुःख होता है । अपने हृदयमें जो ममताकी छाप थी, वह मिट गयी है—इसी कारण दुःख होता है ।

मान लीजिये कि एक आदमीने बिल्ली पाल रक्खी है, कहीं बाहर जानेका प्रसङ्ग आनेपर उसको उसने एक पड़ोसी-को सौंप दिया और उसके जानेके बाद वह बिल्ली मर गयी । पड़ोसीने उसके बारेमें उस आदमीको कोई समाचार नहीं दिया, फलतः उसके छः महीने बाद जब वह आदमी लौटा, और अपनी बिल्लीके मरनेका समाचार सुना, तभी उसे दुःख हुआ । इस प्रकार जिस समय बिल्लीकी मृत्यु हुई उस समय दुःख नहीं हुआ । जब उसकी मृत्युका समाचार सुना, तब दुःख हुआ। इससे भी यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके हृदयमें जो ममत्वकी छाप पड़ी होती है, उसका जब नाश होता है, तभी दुःख होता है । इसके विपरीत मान लीजिये कि बिल्ली तो जीती है, परंतु उस मनुष्यके प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिये पड़ोसीने उसके पास बिल्लीके मरनेका झूठा समाचार भेज दिया । उस समाचारके पाते ही उसको दुःख हुआ, यद्यपि बिल्ली जीती थी । इससे भी यही मानना चाहिये कि बिल्लीके जीवित रहनेपर भी हृदयके ममत्वकी छापका नाश होनेसे दुःख हुआ । इससे यह परिणाम निकला कि दुःखका प्राणीके जीवन या मरणके साथ सम्बन्ध नहीं है, परतु ममत्व-की छापके साथ सम्बन्ध है । वह छाप जबतक नहीं मिटती, तबतक दुःख नहीं होता और उस छापका नाश होनेपर दुःख हुए बिना नहीं रहता ।

अब एक तीसरा विकल्प लीजिये । उस पालतू बिल्लीने एक बार घरमें किसी बालकको काट लिया । उस आदमीको गुस्सा आया और उसने उसको घरसे भगा दिया और वह चली गयी । बिल्लीका वियोग तो यहाँ भी हुआ; परंतु उस मनुष्यने स्वेच्छासे अपनी ममताकी छापको मिटा दिया, इस-लिये उसको दुःख नहीं हुआ । इससे यह सिद्ध हुआ कि जब हम ममताकी छापको स्वेच्छासे मिटा देते हैं, तब दुःख

नहीं होता; परतु दूसरे किसी कारणसे जब वह नष्ट हो जाती है, तब दु:ख होता है।

एक मनुष्य अपने हाथमें दस रुपयेका नोट लिये चला जा रहा है। उसकी भूलसे वह नोट रास्तेमें कहीं गिर जाता है, अथवा कोई पाकेटमार उसका वह नोट मार ले जाता है। इस प्रकार नोटका वियोग होनेपर उस मनुष्यको अवश्य दु ख होता है। परतु यदि वही नोट रास्तेमें किसी सुपात्र गरीब आदमीको वह दे देता है तो उसे नोटके वियोगका दु ख नहीं होता, बल्कि एक सुपात्रकी सहायता करनेका आनन्द होता है। यहाँ भी यही दिखलायी देता है कि स्वेच्छासे किया गया ममताके विषयका त्याग दु खदायी नहीं होता, परतु यदि दूसरे किसी कारणसे ममताके छायका नाश होता है तो दु ख होता है।

इस प्रसङ्गको श्रीभर्तृहरि महाराज इस प्रकार समझाते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्त. स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वय त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि ममताके विषयका वियोग तो हुए बिना रहनेवाला नहीं, क्योंकि जिसका सयोग होता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। इसलिये विषय चाहे जितने समय अपने पास रहें, एक दिन उनका वियोग निश्चित है, चाहे विषय हमें छोड़कर चले जायँ, या हमें विषयोंको छोड़कर चला जाना पड़े। ऐसी स्थितिमें मनुष्य ममत्वके सम्बन्धको क्यों नहीं छोड़ देता? इसका क्या परिणाम होता है, इसे समझाते हुए भर्तृहरिजी कहते हैं कि यदि किसी दूसरे कारणसे विषयका वियोग होगा तो सताप हुए बिना नहीं रहेगा। परतु यदि तुम स्वेच्छासे उससे ममत्वका सम्बन्ध छोड़ दोगे तो सुख-शान्तिका अनुभव करोगे।

हम अपनी ऑखों देखते हैं कि मृत्युके समय मनुष्यको ममत्वके विषयोंको बलात् छोड़ना पड़ता है। सारे जीवनमें जो कुछ सग्रह किया होता है, उस सबको यहीं छोड़कर अकेले ही चले जाना पड़ता है।

इन सब बातोंको अपनी आँखोंसे देखते हुए भी मनुष्य मृत्युपर्यन्त विषयोंसे चिपटा रहता है और अन्त समयमें जब सब कुछ बलात् छोड़ना पड़ता है, तब अत्यन्त सतप्त होता है और विषयोंमें ममत्व रह जानेके कारण 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननीजठरे शयनम्'—जन्म-मरण और गर्भवासके चक्रमें परवश होकर घूमा करता है। परतु जो मनुष्य विवेकसे विचार करता है कि यह स्थिति एक दिन तो आनेवाली है ही, तब फिर स्वेच्छासे इन सबका त्याग क्यों न करे? ऐसा निश्चय करके जो मनुष्य जीते-जी सर्वस्वका त्याग कर देता है—उनमेंसे ममताका सम्बन्ध छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लेता है, वह परम सुख-शान्तिका अनुभव करता है।

फिर, जीवनकी अन्तिम घड़ीतक विषयोंमें चिपटे रहनेसे यह तो हो नहीं सकता कि उनका वियोग न हो। जैसे खिली हुई कली मुरझाकर गिर पड़ती है, जैसे ऊपर उछाली हुई गेंद नीचे गिरती ही है, जैसे जन्मे हुएको मृत्युके शरण जाना ही पड़ता है, उसी प्रकार जिसका आज सयोग हुआ है, उसका कालान्तरमें वियोग हुए बिना नहीं रहता। प्रत्येक ससारी मनुष्य जीवनकी अन्तिम घड़ीतक विषयोंसे चिपटा ही रहता है, तथापि विषयोंका वियोग तो होता ही है; फलतः ससार-चक्रमें भ्रमण चालू रहता है, यही लाभ होता है। यह बात समझाते हुए श्रीअष्टावक्र मुनि राजा जनकसे कहते हैं—

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥

'हे राजन्! प्रत्येक जन्ममें अन्ततक विषयोंसे चिपटे रहनेपर भी उनका वियोग तो हुआ ही। प्रत्येक जन्ममें इस प्रकारकी स्थिति होनेपर भी विवेक जाग्रत् न हुआ और ससार-चक्रमें भ्रमते रहे। इसलिये अब तो उनसे आसक्ति हटा लो और विरक्त हो जाओ। चिपटे रहनेसे तो दु खका पारावार न रहेगा। जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।'

श्रीपद्मपुराणमें भी लिखा है—

दाराधनागारशरीरबान्धवा
एते भवन्ति प्रतिजन्मदु.खदाः।
तावन्न यावद्धरिपादपल्लवं
भजेत धीरोऽखिलकामवर्जितः॥

'स्त्री-पुत्रादि, धन-वैभव तथा अपना शरीर और कुटुम्बके लोग जन्म-जन्मान्तरमें बदलते ही रहते हैं और इनमें मोह-ममता होनेके कारण मनुष्य मृत्युपर्यन्त इनसे चिपटा रहता है।

इससे वे ही सुखके साधन दुःखरूप होकर जन्म-मरणके चक्करमें घुमाते रहते हैं। परंतु जिस मनुष्यने विवेकसे जीते-जी इनकी आसक्तिको दूर कर दिया और भगवान्‌के चरण-कमलका सेवन करने लगा, उसका भव-बन्धन कट जाता है और प्रभुके पाद-पद्ममें उसको शाश्वत शान्ति मिलती है।'

यहाँतक हमने यह देखा कि विषयोंसे ममत्वका सम्बन्ध जोड़ना ही दुःखका कारण है, फिर इन विषयोंका वियोग यदि दैवेच्छासे होता है तो उससे अत्यन्त संताप होता है। परंतु यदि विवेकसे स्वेच्छापूर्वक इनको छोड़ दिया जाता है, अपनी इच्छासे ही उनमेंसे ममता हटा ली जाती है, तो मनुष्यको परम सुख प्राप्त होता है। इसी हेतु शास्त्र चेतावनी देते हुए कहते हैं—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

मनुष्य अपने सुखकी आशासे जैसे-जैसे प्राणि-पदार्थोंके साथ ममताका सम्बन्ध बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसका दुःख बढ़ता ही जाता है। इसलिये यदि सुख-शान्तिसे रहना हो तो जैसे बने, वैसे ममत्वको कम करता जाय।

अब ममत्वका सम्बन्ध कैसे जुड़ता है, इसका कारण देखिये। जरा सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर दीख पड़ेगा कि इस शरीरमें दो विभाग हैं—एक चेतन अंश और दूसरा जड अंश। प्राण निकल जानेके बाद जो शरीर पड़ा रहता है, वह जड है; क्योंकि उस समय उसमें कोई चेतन नहीं दीखता। जो चेतन अंश है, वह आत्मा है। यह आत्मा परमात्मारूप ही है। जो चैतन्य-तत्त्व सर्वव्यापकरूपमें वर्तमान है, वह परमात्मा कहलाता है, और जब वही एक शरीरविशेषमें प्रकट होता है, तब वह आत्मा कहलाता है।

यह परमात्मारूप आत्मा अपनी ही मायाके कारण शरीरके सङ्गसे अपनेको शरीररूप माननेवाला बन जाता है। इसलिये शरीरके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानकर वह जीवभावको प्राप्त होता है। जब जीव शरीरको ही अपना स्वरूप मान लेता है, तब शरीरको सुख पहुँचानेके लिये प्राणि-पदार्थोंका संग्रह करता है और 'मैं' और 'मेरा'के जालमें फँसकर जन्म-जन्मान्तरमें नये-नये संसारकी रचना किया करता है। जीवको चाहिये—आत्म-सुख, परंतु उस सुखको वह खोजता है संसारके भोग-पदार्थोंमें। इन भोग-पदार्थोंमें सुख प्रदान करनेकी कोई शक्ति ही नहीं है; इसलिये सुखके बदले, जहाँ-जहाँ सुखकी आशासे वह ममता जोड़ता है, वहाँ-वहाँ उसको दुःखका ही अनुभव होता है। जीवको सच्चा सुख—अक्षय सुख या निरतिशय आनन्द तभी मिलता है, जब उसको अपने स्वरूपका ज्ञान होता है और उसमें वह अपने जीवभावको लय कर देता है।

इस प्रकारके नित्यमुक्त आत्मामें भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ, इस विषयमें अनादिकालसे लोग प्रश्न करते आ रहे हैं। कोई इसका कारण 'माया' बतलाता है और उस मायाको भी अनिर्वचनीय कहता है। कोई इसको ईश्वरकी माया कहता है तो कोई अविद्या कहता है और उसमें भी 'मूलाविद्या' और 'तूलाविद्या'का विभाग करते हैं। कोई अज्ञान कहता है तो कोई स्वरूपका अज्ञान या स्वरूपकी विस्मृति कहता है।

विस्मृत्य च स्वमात्मानं मायागुणविमोहितः॥

कुछ लोग इसे आत्माका स्वभाव भी कहते हैं—

आत्मनो हि स्वभावोऽयं हेतुस्तत्र सुदुर्गमः।

कुछ लोग लीला कहते हैं, तो कुछ लोग इसे परमेश्वरकी मर्जी भी कहते हैं—

मरजी चेतन की जमी, इख मारन की होय।
मृगतृष्णाके नीर में, बहा करे बिन तोय॥
बहा करे बिन तोय, किनारा कहूँ न पावे।
कहूँ ऊर्ध्व कहुँ अधः फिरे फिर गोते खावे॥
कह गिरधर कविराय दीजिए किस ढिग अरजी।
परमेश्वरकी आप भई जब ऐसी मरजी॥

इस प्रकार इस विषयमें अनेकों मत-मतान्तर प्रवर्तित हुए हैं और ऐसा नहीं लगता कि सबको संतोष होनेलायक कोई एक निर्णय किया जा सकता हो। इसलिये इस विषयमें मौन अवलम्बन करना ही ठीक है।

भ्रम होता है, यह बात तो प्रत्यक्ष ही है, और इसी कारण यह संसार-चक्र चला करता है, यह बात भी प्रत्यक्ष ही है। यदि इस भ्रमकी निवृत्ति हो जाय तो संसारका उच्छेद भी हो जाय। इसलिये कारण चाहे जो भी हो, आत्माको इस प्रकारका भ्रम होता है—यह बात स्वतः सिद्ध है और ज्ञानसे इस भ्रमकी निवृत्ति होती है, यह बात तो उससे भी अधिक निश्चित है। इसलिये जिसमें तीव्र मुमुक्षा है, वह तो कारण ढूँढने जाता ही नहीं; केवल भ्रमकी निवृत्ति करनेके लिये साधनमें लग जाता है।

आत्मामें जीव-भाव कैसे आता है, इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

गायतो नृत्यतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् ।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥

संगीतके जलसेमें दर्शकगण, जो देखने-सुननेके लिये बैठे होते हैं, नाच और संगीतके प्रारम्भ होनेपर उसमें तल्लीन हो जाते हैं और अपनी वैसा करनेकी इच्छा न होनेपर भी डोलने लगते हैं, ताल देने लगते हैं, कोई-कोई तो गलेसे गाने भी लगते हैं। इसी प्रकार आत्मा स्वरूपसे तो पूर्णकाम है और वह स्वयं ही सुखस्वरूप है, अतएव अपने सुखके लिये उसको कोई कामना नहीं होती, तथापि मन-बुद्धिके कर्तापन और भोक्तापनको देखते-देखते उनके साथ वह तद्रूप हो जाता है और परवश होकर जन्म-मरणको भोगता है। इस प्रकार शुद्ध, बुद्ध और नित्यमुक्त आत्मा जन्म-मरण रूप धर्मवाला जीव बन जाता है।

अब यदि जीवभाव छुड़ाना है तो जीवको दिन-प्रतिदिन भाव और प्रेमके साथ उसका स्वरूप समझाना चाहिये। यह अभ्यास दीर्घकालतक एकान्तमें बैठकर निरन्तर करते रहना चाहिये। जीवभाव अनादिकालसे चला आ रहा है, इसलिये इसको दूर करनेका साधन भी दीर्घकालतक करना चाहिये। जीवको इस प्रकार प्रतिदिन समझाना चाहिये—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
न जन्ममृत्यू त्वयि मत्स्वरूपे ॥

'हे जीव! तू अपने स्वरूपको भूल गया है। स्वरूपसे तो तू शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है तथा वृद्धि-क्षयसे रहित है। इस संसारकी ममतारूपी मायाका तुझे स्पर्श भी नहीं होता। परंतु तू अज्ञानसे इसमें फँस गया है। इसलिये संसारको स्वप्नके समान समझकर ममताके बन्धनको तोड़ दे और मोहरूपी निद्रासे जाग पड़। तुझे दीख पड़ेगा कि तेरे सत्-चित्-आनन्द-रूपमें जन्म या मृत्यु कहीं है ही नहीं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भूल-भुलैयाँ

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि')

चलनहार 'हरि' चल बसैं, छुइ मुइ चहिए बात। झोंके आवैं पौन के, पात पके झरि जात॥

हवाके झोंके आ रहे हैं और पीपलके पत्ते झड़ रहे हैं। हवा बंद हो जायगी और पतझड़ भी।

परंतु—

मृत्युके झोंके रुकना नहीं जानते। वे तो आते ही रहेंगे और उनकी झोंकमें कोई-न-कोई झड़ता ही रहेगा।

इतना ही नहीं। और भी—

हवाके झोंकोंसे पके पात ही झड़ते हैं; परंतु मृत्युके झोंकोंके यहाँ ऐसा कोई क्रम नहीं—हिसाब नहीं। वहाँ तो जो हाथ लगा, वही साफ, और यदि कोई क्रम है भी तो हम उसे जान नहीं पाते।

और फिर कितनी विडम्बना!

प्राणी नित्य कितनोंका ही झड़ना इन झोंकोंद्वारा अपनी आँखों देखता है, कानों सुनता है, फिर भी अपने सम्बन्धमें बिल्कुल—हाँ, सोलहों आने निश्चिन्त रहता है और साथ ही 'मैं ही सबसे अधिक बुद्धिमान् हूँ'—यह अहंकार भी उसके मनसे कभी दूर नहीं होता।

चक्र चलता रहता है और सब उसमें घूमते रहते हैं।

यह कैसी भूल-भुलैयाँ है, भगवान्!

परम पुरुषार्थ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमेंसे धर्म और मोक्षकी प्राप्तिमें तो पुरुषार्थ प्रधान है तथा अर्थ और कामकी प्राप्तिमें प्रारब्ध प्रधान है । ऐसा होनेपर भी लोग अर्थ और कामके लिये अथक परिश्रम करते हैं, किंतु उनके परिश्रमसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती । इसलिये मनुष्यको जो कुछ भी सासारिक सुख-दु खादिकी प्राप्ति हो, उसके विषयमें तर्क-वितर्क न करके उसे भगवान्‌का विधान मानना चाहिये । श्री रामचरितमानसमे भी कहा है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

क्योंकि मनुष्य कर्म करनेमें तो प्राय: स्वतन्त्र है, पर फल भोगनेमें नहीं । गीतामें भगवान् कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(२ । ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ।'

अत: मनुष्यको यह समझकर कि भोग और अर्थकी प्राप्ति प्रारब्धका फल है, क्रिया तो उसमें निमित्तमात्र है, भोग और अर्थकी प्राप्तिके लिये कभी पापमय क्रिया नहीं करनी चाहिये । क्योंकि होगा तो वही, जो भाग्यमें लिखा है, फिर पाप करके अपने सिरपर बोझा क्यों लादा जाय ? इसलिये अर्थ और कामके लिये पाप करना सरासर मूर्खता है ।

पर इसका यह अभिप्राय नहीं हैं कि कुछ भी क्रिया न करके हम आलसी बनकर बैठ जायँ । बिना कुछ किये तो कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता । मनुष्य कुछ-न-कुछ क्रिया प्राय: करता ही रहता है । यदि वह पाप करता है, अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता तो उसे उसके फलस्वरूप नरकोंकी प्राप्ति होती है । इसलिये मनुष्यको कोई भी क्रिया पापमय और व्यर्थ तो करनी ही नहीं चाहिये, कामोपभोग और अर्थके उद्देश्यसे भी नहीं करनी चाहिये, बल्कि अपना कर्तव्य समझकर निष्काम एव अनासक्तभावसे और आत्माकी शुद्धिके द्वारा कल्याणके लिये करनी चाहिये ।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥
(५ । ११)

'कर्मयोगी ममत्व-बुद्धि-रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्त.करणकी शुद्धिके लिये कर्म करते है ।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(५ । १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्ति-रूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ।'

इसलिये निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करना ही उचित है, क्योंकि धर्मके पालन और मोक्षकी प्राप्तिमें पुरुषार्थ ही प्रधान है । अत: मनुष्यको इसीके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि इसीके लिये यह मनुष्य-जीवन मिला है । मनुष्य-जीवनकी सार्थकता परमपुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें ही है । इसमें प्रारब्धका बिल्कुल हाथ नहीं है । प्रारब्ध न तो आत्माके कल्याणमें बाधक ही है और न साधक ही । लोग स्त्री, पुत्र और धन आदिके विनाश तथा

शरीरके रुग्ण होनेपर परमात्माकी प्राप्तिरूप परम-पुरुषार्थके साधनको छोड़ देते हैं या साधन करनेमें शिथिलता कर देते हैं, यह उनकी कमजोरी है; इसमें केवल उनकी मूर्खता ही हेतु है । अत. विचारवान् मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप योगके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६ । २३)

'जो दुःखरूप ससारके सयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये । वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ।'

हमें यह मनुष्य-शरीर ऐश-आराम और भोगके लिये नहीं मिला है । आहार, निद्रा, मैथुन आदि विषयभोग तो जीवको पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी प्राप्त हैं । मनुष्य-शरीर तो परमात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष और धर्मपालनके लिये ही मिला है । श्रीचाणक्यनीतिमें बतलाया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
(१७ । १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें समान ही हैं । मनुष्योंमें विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक होता है, ज्ञानसे शून्य मनुष्य तो पशुओंके ही तुल्य है ।'

इसलिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान जिस-किस प्रकारसे हो, उसी धर्मयुक्त पुरुषार्थके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये । जो मनुष्य देहमें प्राण रहते-रहते काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि अवगुणोंको त्यागकर जिस प्रयोजनके लिये यह मनुष्य-शरीर उसे मिला है, उस प्रयोजनको सिद्ध कर लेना है, वही योगयुक्त हो सच्चे सुखका अनुभव कर सकता है । भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(५ । २३)

'जो साधक शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही इस मनुष्य-शरीरमें काम-क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहन करनेमे समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ।'

किंतु इस मनुष्य-शरीरको पाकर भी जो काम-क्रोध, लोभ-मोहमें फँसा रहकर अपना जीवन बिताता है, वह परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहकर घोर नरकमें जाता है । इसलिये दुर्गुण-दुराचारोंका सर्वथा त्याग करके आत्माके कल्याणके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारके पालनमें ही अपना जीवन बिताना चाहिये । गीतामे भी भगवान्ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(१६ । २१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले है । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(१६ । २२)

'हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ।'

यह मनुष्य-शरीर बहुत ही मूल्यवान् है तथा बड़े ही सौभाग्य और ईश्वरकी कृपासे प्राप्त हुआ है । इसलिये

इसे अर्थ, काम और भोगोंमें नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि शरीर, संसार और भोगोंमें जो सुखबुद्धि है, वह अज्ञानसे है; वास्तवमें इनमें सुख नहीं है । ये सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं । अतः विवेकी मनुष्योंको इनमें न फँसकर भगवान्के भजन-ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार, स्तुति, प्रार्थना आदिमें ही अपना जीवन लगाना चाहिये । भगवान्ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
(गीता ९ । ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

इसके सिवा वर्णाश्रमके अनुसार अनासक्तभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे भी मनुष्य परम पुरुषार्थ-रूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है । भगवान् गीताके तीसरे अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह, क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको पा लेता है ।'

अर्जुन क्षत्रिय थे, अतः भगवान् उन्हें स्वधर्मरूप क्षात्रधर्ममें लगे रहनेके लिये उत्साह दिलाते तथा उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
(गीता २ । ३)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू कायरताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ता । हे परंतप ! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ।'

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
(गीता २ । ३१)

'तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है यानी तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याण-कारी कर्तव्य नहीं है ।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा—पापका भागी नहीं होगा ।'

इसी प्रकार अन्य वर्ण एवं आश्रमवालोंको भी अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार तत्परताके साथ अनासक्त हो निष्कामभावसे अपने आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार तेजीके साथ आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न करता हुआ मनुष्य यदि धर्मके लिये मर मिटे तो भी उसका कल्याण ही होता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(गीता ३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, किंतु दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ।'

भगवान्ने निष्कामभावसे धर्मपालन करनेकी बड़ी भारी महिमा गायी है, क्योंकि निष्कामभावसे पालन किये हुए थोड़े-से भी धर्मसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है ।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
(गीता २ । ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं

होता और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।'

किंतु जो मनुष्य-शरीर पाकर अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है, वह तो जीता हुआ मृतकके समान है, क्योंकि उसका जीना व्यर्थ और निन्दनीय है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(गीता ३ । १६)

'हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे चलाये गये सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

अतः मनुष्यको किसी कालमें भी कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये तथा भोग और प्रमादमें भी अपना जीवन कभी नहीं बिताना चाहिये। मनुष्य-शरीरको पाकर जो अपना जीवन भोगोंमें बिताता है, उसके लिये श्री-तुलसीदासजी कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ॥

क्योंकि यह मनुष्य-शरीर इस लोक और परलोकमें कामोपभोग करनेके लिये नहीं मिला है, आत्माके कल्याणके लिये ही मिला है।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥

किंतु बहुत-से मनुष्य परमपुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिके विषयमे और धर्माचरणके विषयमें दैव यानी प्रारब्धको प्रधान मानकर साधन छोड़ बैठते हैं, वे श्रद्धाहीन और संशययुक्त मनुष्य मूर्खताके कारण ही परमपुरुषार्थरूप मोक्षसे वञ्चित रहते हैं। उनको कहीं भी सुख नहीं मिलता—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥
(गीता ४ । ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

अतः मनुष्यको ज्ञानके द्वारा संशयका छेदन करके अपने कर्तव्यकर्मके पालनके लिये परमपुरुषार्थ करना चाहिये।

वन्दना

वंदौं हरि-पद-पंकज पावन ।
बिधि-हर-सुर-ऋषि-मुनिजन-बंदित, सुमिरत सब अघ-ओघ नसावन ॥
जे पद-पद्म-पराग परसि पुनि गोतम-तिय भइ भावनि भामिनि ।
जे पद-पद्म-पराग परसि सुरसरि-जल अघ धोवत दिन-जामिनि ॥
जे पद-पद्म भूमि-लक्ष्मी-उर-मन्दिर सुचि नित रहत बिराजित ।
जे पद-पद्म प्रेम-रस-पूरित ब्रज-जुवतिन-उरोज रह राजित ॥
जे पद-पद्म भक्त-संतनि के हिय अति सुख सौं बसत निरंतर ।
ते पद-पद्म बसहु नित लोलुप के धन जिमि मेरे उर-अंतर ॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

२७ असल बात है सच्ची तीव्र-से-तीव्र लालसाका होना। यह हुई कि उसी क्षण सारा नकशा पलट जायगा। अभी चाह है, पर मन्द-से-मन्द है। जितनी परवा संसारकी वस्तुओंके लिये है, उतनी भी नहीं है। कुछ भी आप करें—देखें, श्रीकृष्णसे छिपा तो है नहीं, वे सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वसमर्थ हैं और उनमें अपार करुणा भी है। फिर आप उनके सामने रोते क्यों नहीं, रोना क्यों नहीं आता ?······का लडका बीमार था। मनमें कितनी व्याकुलता थी, रात दिन मगजमें एक ही बात थी। 'हे राम! लडका ठीक हो जाय' रोना सीखना नहीं पडता था। अपने-आप रोना आता था। जिस दिन जीवन श्रीकृष्ण-प्रेमके बिना सूना दीखेगा, उनका वियोग असह्य हो जायगा, उस दिन रोना स्वयं आने लग जायगा। वैसी लालसा ही नहीं है। इसीलिये न तो रोना आता है और न उतनी परवा ही होती है। बिल्कुल ठीक मानिये—घर, धन, परिवार, पुत्र—सभी फिर इतने फीके लगने लगेंगे कि मानो इनसे कैसे हमारा पिण्ड छूट जाय। पर अभी तो हम स्वयं इच्छा करके मन चलाकर इनको पकडते हैं। इसका अर्थ यही है कि उनकी लालसा नहीं है, पर जब लालसा नहीं है, तब फिर कहाँसे लायें। मोल तो मिलती नहीं। तब इसके लिये संतलोग अपने अनुभवसे यह कहते हैं कि 'मलिन अन्तःकरणमें यह लालसा उत्पन्न ही नहीं होती।' हमारा अन्तःकरण मलिन है, इसीलिये यह लालसा उत्पन्न नहीं हो रही है। जिस क्षण यह लालसा उत्पन्न हुई कि उसी क्षण भगवान्‌में भी लालसा उत्पन्न हो जायगी। अतः अन्तःकरणको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही कर्तव्य होता है। पर हमारा अन्तःकरण निर्मल हो, यह लालसा भी तीव्र नहीं है, क्योंकि उसके जो उपाय हैं, उनका आचरण जब हमसे नहीं होता, तब कैसे कहा जाय कि हम चाहते हैं कि हमारा अन्तःकरण निर्मल हो। फिर भी संतलोग तथा शास्त्र कहते हैं कि 'घबराओ मत। यदि एक बार भी भगवान्‌की ओर झूठी-मूठी प्रवृत्ति भी तुम्हारी हो गयी है तो फिर तुम भले ही भगवान्‌को छोड दो, भगवान् तुम्हारा पिंड नहीं छोडेंगे।'

आपको विश्वास करा देना तो कठिन है, पर एक बिल्कुल सच्ची बात आपको बतला रहा हूँ। बहुत ही मर्मकी बात है कि कैसे एक नाम लेनेसे ही मनुष्य तर जाता है। भगवान्‌में नाम-नामी, देह-देहीका भेद नहीं है। जो इस बातको मान लेता है, उसको समझानेका तरीका तो दूसरा है, पर जो यह नहीं मानता, उसके लिये दूसरा तरीका है। अवश्य ही उसे शास्त्र एवं भगवद्वचनोंपर कुछ-न-कुछ विश्वास तो होना ही चाहिये। नहीं तो, फिर नास्तिकको समझाना तो बडा ही कठिन है। भगवान् कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

अब इसके अनेक अर्थ होते हैं। एक यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि 'जो मेरा नाम निरन्तर लेगा, उसका नाम मैं निरन्तर लूँगा।' अच्छी बात है—नाथ! मुझसे निरन्तर नाम नहीं लिया जाता, मैंने जीवनभरमें एक बार आपका नाम लिया है तो एक बार बदलेमें आपने नाम लिया होगा। अब यदि यह प्रश्न होता है कि तुमने मनसे नहीं लिया था, वाणीसे यों ही निकल गया था, तो ठीक है, आपने भी बदलेमें एक बार वाणीसे ही मेरा नाम लिया होगा, पर नाथ! आपमें मेरी तरह वाणी और मनका भेद तो है नहीं। (भगवान्‌की वाणी और मन एक है) आप मेरे नाम

लेनेके बदलेमें केवल वाणीसे भी मेरा नाम लेते हैं, तो मेरा निश्चय उद्धार हो गया।

अब असल बात भी यही है। जिस क्षण एक नाम निकलता है, उसी क्षण भगवान्‌की सारी कृपा उसपर प्रकट होनेके लिये विधान बन जाता है, परंतु वह कृपा जबतक प्रकट नहीं होती, तबतक इधर-उधर भटकना जारी रहता है। यदि किसी प्रकार अत्यन्त कातरप्रार्थना सच्चे हृदयसे भगवान् या किसी सच्चे संतके प्रति हो जाय तो उसी क्षण इस बातपर उसे विश्वास हो जाता है और उसकी सारी अशान्ति मिट जाती है, परंतु यह प्रार्थना होती नहीं। हो तो, देखियेगा, सचमुच भगवान् इतने करुणामय हैं, उनका हृदय इतनी जल्दी पिघल जाता है कि जगत्‌में उसकी तुलना ही असम्भव है। जो चाहियेगा, जैसे चाहियेगा, वही उसी प्रकार वे कर सकते हैं। यह नियम केवल लौकिक बातोंमें ही नहीं, परमार्थमें भी यही नियम है। मान लें कि आप प्रार्थना करें कि 'हे भगवन्! मुझे धन दो, मान दो।' इस प्रार्थनाको वे जैसे जल्दी-से-जल्दी सुन सकते हैं, पूरी कर सकते हैं, वैसे ही उतनी ही जल्दीसे 'हे भगवन्! मेरा आपमें दृढ विश्वास हो जाय, आपमें मेरा प्रेम हो जाय' इस प्रार्थनाको भी सुन सकते हैं, पूरी कर सकते हैं। पर धनके माँगनेके समय तो आपका हृदय ठीक-ठीक उस धनको भीतरी हृदयसे माँगता है और विश्वास, प्रेम माँगते समय ऊपरी मनसे नित्य-नियम पूरा करता है। पूजापर बैठकर यह भी एक नियम है—कर लेते हैं, पर सचमुच वह व्याकुलता नहीं होती। ··· के लड़केकी बीमारीको लेकर जैसी व्याकुलता थी, क्या उन लोगोंने कोई भी उतना ही व्याकुल होकर यह चाहते हैं कि 'हमारा मन भगवान्‌में लगे, भगवान्‌पर हमारा विश्वास हो।' विश्वासकी अपेक्षा भी हृदयकी व्याकुलताकी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि व्याकुलता विश्वास करा देगी। अब उस लड़केकी बीमारीमें जो आदमी जो उपाय बतलाता था, वही वे करते थे। विचार भी नहीं रहा था कि 'यह ठीक कहता है या झूठ।' ऐसा इसीलिये था कि व्याकुलता थी। उसी प्रकार जिस दिन आप सच्चे मनसे चाहने लगेंगे, व्याकुल हो जायँगे कि हमारी साधनाकी वैसी स्थिति एक घंटे ही रहकर क्यों छूट जाती है, क्यों नहीं निरन्तर बनी रहती है, उसी दिन, उसी क्षण भगवान् सुन लेंगे। अभी आपको यह सहन हो रहा है कि स्मरण छूट गया तो क्या हुआ। दिनभर मौजसे रहे, भोजन किया, साँझको यहाँ आ गये, बातें कर रहे हैं। पर जब व्याकुलता होगी तब पागलकी-सी अवस्था होकर स्मरणकी स्थिति छूटते ही उसी क्षण, वहींपर लाज-शरम छोड़कर आप रोने लगियेगा और जबतक वह पुनः स्थिति नहीं हो जायगी, तबतक रोना बंद नहीं होगा।

जो हो, ऐसी सच्ची व्याकुलताका उपाय यही है जो आप कर रहे हैं। निरन्तर अपनी जानमें यही चेष्टा रखें कि नाम-लीला-गुण-रूप सुनें, पढ़ें, कहें, स्मरण रखें। करते-करते जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा वैसे-वैसे व्याकुलता उत्पन्न होनेकी, सच्ची लालसा उत्पन्न होनेकी भूमि तैयार होती जायगी। जिस दिन पूर्णरूपसे वह भूमि तैयार हो गयी कि कोई सच्चा संत या स्वयं भगवान् उसमें प्रेमका बीज बो देंगे। फिर वह उगेगा, बढ़ेगा, फूलेगा, फलेगा और निरन्तर फूलता-फलता ही रहेगा, उसका कभी फूलना-फलना बंद नहीं होगा।

२८. इस कलममें भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं, वहीं आजतक जितनी लीला हुई है, हो रही है, होगी—सब-की-सब मौजूद है। आप जिस लीलाको देखना चाहें, जिस रूपको देखना चाहें, उसी रूपमें, उस लीलाके साथ इसी कलमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं। यह बात नहीं है कि भगवान्‌के यहाँ भूतकाल, वर्तमान

काल, भविष्य काल हो। वहाँ तो सब वर्तमान काल ही है। अर्थात् जैसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनमें लीला हुई थी, इसका यह मतलब नहीं कि वह लीला तो भूतकालकी है। इसका अर्थ यह है कि आजसे पाँच हजार वर्ष पहले वृन्दावनकी लीलावाला फिल्म लोगोंके सामने आया था। वह फिल्म तो आज भी ज्यों-का-त्यों है, केवल छिप गया है। सिनेमा देखते हैं, वहाँ शुरूसे लेकर अन्ततकका खेल सजाया हुआ होता है। उसी प्रकार भगवान्‌के शरीरमें अनादिकालसे लेकर अनन्त-कालतक होनेवाली सभी लीला सजायी हुई है। जो जैसा अधिकारी होता है, उसके सामने उसके अधिकार भरकी लीला सामने आती है, फिर रील घूम जाता है। अर्जुनने चाहा विश्वरूप देखना, उसके सामने उसके अधिकार भरका आया।

२९. चाह सच्ची होनी चाहिये। फिर तो पहले-से-पहले भगवान् मामूली-से-मामूली बात भी करके रख देते हैं। मनमें विचार तो पीछे आयेगा, पर भगवान् जानते हैं कि यह उस दिन उस समय यह चीज चाहेगा तथा पहलेसे ही उसकी पूरी व्यवस्था करके रख देते हैं। एक मामूली-सी बात बतला रहा हूँ—मैं××××था, दिनमें किसी कारणसे भोजन कम किया था, इसलिये जोरसे भूख लग रही थी। मनमें बार-बार भूखका खयाल आता था। मनमें आया कहींसे कोई वृन्दावनका प्रसाद लाकर देता तो थोड़ा खा लेना—तीव्र इच्छा थी। वहाँसे सत्सगमें आया, आते ही एक आदमीने वृन्दावनका प्रसाद देना शुरू किया। मैं तो चकित रह गया, क्योंकि मेरे पेटकी बात तो किसीको मालूम थी ही नहीं। सुना कि××××××आये हैं और प्रसाद लेआये हैं।

३०. व्रजके मधुर भावके वास्तविक अधिकारी बहुत कम ही होते हैं। जिसके लिये गीता कही गयी, जिस गीताके जोड़का ग्रन्थ मिलना कठिन है, उसी अर्जुनने एक बार भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की—'हे प्रभो! आप गोपसुन्दरियोंके साथ होनेवाली अपनी लीलाकी बात हमें बतायें।' भगवान् नट गये और बोले—'उसे सुनकर तुम्हें देखनेकी इच्छा हो जायगी, इसलिये इस बातको जाने दो।' अर्जुन व्याकुल होकर चरणोंमें गिर पड़े। इसपर श्रीकृष्णने कहा—'उसके लिये तो साधना करनी पडेगी। तुम्हें त्रिपुरसुन्दरीकी उपासना करनी पडेगी। वे यदि प्रसन्न होकर तुम्हे दिखाना चाहेंगी, तभी देख सकते हो। दूसरा उपाय नहीं।' कथा पद्मपुराणमें विस्तारसे है—अर्जुन गये हैं। वहाँ देवीने स्पष्ट कहा है कि 'अर्जुन! जो भक्त श्रीकृष्णको प्राणके समान प्यारे है, उनमें भी सबको इस लीलाके दर्शन नहीं होते। कोई-कोई विरले ऐसे भक्त होते हैं, जिनपर श्रीकृष्ण यह कृपा कर देते हैं। तुम धन्य हो, जो तुमपर उन्होंने कृपा की है और उस लीलाके दर्शनके लिये तुम्हें मेरे पास भेजा है।' इसके बाद अर्जुनने बडी-बड़ी साधना, जैसे देवीने बतायी, की है और फिर जब गोपी बन गये हैं, तब श्रीराधाजी आकर उन्हें श्रीकृष्णके उस परम दिव्य धाममें, जिससे परे और कुछ भी नहीं है, ले गयी हैं और वहाँका आनन्द पाकर अर्जुन कृतार्थ हुए हैं। जो अर्जुन दिन-रात भगवान्‌के साथ खाते-पीते, बैठते थे, जिन्हें गीताका ज्ञान हो गया था, उनकी यह हालत है! हमारे-जैसे तुच्छ पामर प्राणी तो इस लीलाके कहनेके भी अधिकारी नहीं हैं।

३१ एक रानी देवी थी। उसको मारनेके लिये सिंह छोड़ा गया। सिंह महलमें गया, वह ध्यानस्थ बैठी थी। सिंह पहुँचा। वह बोली—'आइये, प्रह्लादके भगवान्! बडी कृपा की।' थाल लिया, प्रसाद सजाया, आरती सजायी। सिंह चुपचाप पूजा लेता रहा। धूप, दीप, नैवेद्यसे पूजा करके एवं विधिपूर्वक आरती उतारकर रानीने प्रणाम किया। फिर सिंह वहाँसे उछला तथा पिंजरेमें घुसनेसे पहले दो-तीन पहरेदारोंको खा

गया। सिंह तो एक ही था पर, उसने स्वामीजीकी पूजा स्वीकार की और पहरेदारोंको मार डाला। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये कि स्वामीजीका तो सच्चा भगवद्भाव था और पहरेदार सिंहको सिंह मान रहे थे। ऐसे ही प्रत्येक चोर, बदमाश, डाकू भी भगवान् बन सकता है। लाला बलदेवसिंह नामके एक सज्जन देहरादूनमें थे, हालमें मरे हैं। भगवान्‌के बडे भक्त थे, असली भक्त थे। बहुत रुपयेवाले थे। एक दिन डाकुओंने नोटिस दी कि 'अमुक तारीखकी रात्रिको हमलोग लूटने आयेंगे। आप तैयार हो जाइये।' यही नोटिस उनके भतीजेको भी मिली। भतीजे तो पुलिस सुपरिंटेंडेंटके पास गये तथा बलदेवसिंहने रसोइयोंको कहा कि 'खूब बढ़िया-बढ़िया माल बनाओ। आज भगवान्‌के पधारनेकी बात है।' भतीजे साहब आये। बोले—'चाचाजी! क्या इन्तजाम किया?' बलदेवसिंहजीने कहा, 'खूब बढ़िया-बढ़िया रसोई बनाकर रखी है उनके स्वागतके लिये।' भतीजेसाहब तो पागल समझकर चले गये। उनके घरपर पुलिसका पहरा बैठा और बलदेवसिंह सचमुच बहुत बढ़िया बढ़िया बहुत-से आदमियोंको खानेभरकी बहुत-सी रसोई बनवाकर रातभर प्रतीक्षा करते रहे कि अब आये, तब आये। स्वयं भी नहीं खाया। आखिर कुछ हुआ नहीं, पर यदि होता भी तो उनके घर तो डाकू नहीं आते, भगवान् ही आते।

३२ भगवत्प्राप्ति बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। बाघ, सिंह, हिरण, बकरीको साथ बैठा देनेसे यह नहीं माना जा सकता कि ऐसा कर देनेवाले भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुष हैं, क्योंकि ये बातें तो बहुत ही तुच्छ एव बहुत ही नीचे दर्जेकी हैं। सर्कसवाले भी पशुओंको शिक्षण देकर वशमें कर लेते हैं। भगवत्प्राप्ति असलमें क्या चीज है, इसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही जानते हैं। साधारण ससारी मनुष्य तो देखता है कि किसमें क्या चमत्कार है, पर चमत्कार होना भगवत्प्राप्तिका लक्षण नहीं है। दक्षिणमें एक सत हुए थे ज्ञानदेवजी। उन्हींके समय एक योगी थे चॉगदेव। वे सिंहपर सवारी करते थे। १४०० वर्षकी उनकी आयु थी। प्रत्येक १०० वर्षपर जब मृत्युका समय आता तब योगबलसे समाधिमें बैठ जाते और फिर १०० वर्षके लिये नया जीवन बना लेते। इतनी शक्ति थी। ज्ञानदेवजी दो भाई थे तथा एक उनके बहन थी। सभी ही भगवत्प्राप्त पुरुष थे। चॉगदेवके पास उनकी खबर पहुँची, बहुत लोग उनकी प्रशसा करते। चॉगदेवजीको अभिमान था। सिंहपर चढ़कर मिलने चले। लोग तो बाहरकी देखते हैं। बाप रे! कितना बडा महात्मा है कि सिंहपर सवारी करता है। लोगोंने कहा—'ज्ञानदेवजी महाराज! एक बहुत बड़े महात्मा आपसे मिलने आ रहे हैं, आप चलिये।' ज्ञानदेवजीके मनमें आया कि 'अच्छा, देखो।' उस समय तीनों भाई-बहन एक टूटी हुई दीवालपर बैठे थे, भगवत् चर्चा हो रही थी। जब लोगोंने बहुत कहा—'महाराज! बहुत भारी महात्मा आ रहे हैं, अगवानीके लिये चले चलिये' तो ज्ञानदेवजीने कहा—'ठीक है।' फिर दीवालसे बोले—'री दीवाल! तू चल।' कहनेकी देर थी कि वह दीवाल जमीनसे उखडकर चल पड़ी। चॉगदेवने देखा—'बाप रे! आजतक योगके द्वारा मैं चेतन प्राणीको ही वशमें करके इच्छानुसार नचा सकता था, पर यह तो जडपर शासन करता है।' उसी क्षण अभिमान टूट गया और चरणोंमें जा गिरे। उसी समय ६४ (अभग) छन्दोंमें उन्हें ज्ञानदेवजीने उपदेश दिया तथा राम-नामकी महिमा बतायी कि भगवान्‌के नामके सामने ये सभी बातें तुच्छ है। फिर उनकी छोटी बहिनने उन्हें दीक्षा दी, तब उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हुई।

असली सतोंकी पहचान किसी बाहरी चेष्टासे नहीं हो सकती। एक सॉईबाबा थे। उनको लोग रजाई ओढ़ा देते। सायमें कुत्ता आता, वे रजाईसे खिसकते-खिसकते बाहर हो जाते। अब इस चेष्टासे ही उन्हें

भगवत्प्राप्त मान लेना नहीं बनता । साँईबाबाकी बात नहीं है । उनके विषयमें तो एक विश्वस्त सूत्रसे मैंने सुना है कि वे भगवत्प्राप्त पुरुष थे । पर ऐसी चेष्टा देखकर किसीको भगवत्प्राप्त मान लेना भूल है । संतका असली स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण है । वृन्दावनमें ग्वारियाबाबा थे, हालमें ही शरीर छूटा है । उनका विचित्र ढग था । वे अपनेको श्यामसुन्दरका सखा मानते थे और सचमुच थे । उनकी विचित्र-विचित्र बातें आती हैं । दिनभर, पता नहीं, कहाँ-कहाँ घूमते रहते थे । एक दिन रास्तेमें पडे थे । रात्रिका समय था । कई चोर उस रास्तेसे जा रहे थे । चोरोंने पूछा—'कौन हो ?' ये बोले 'तुम कौन हो ?' उन सबने कहा—'हम तो चोर हैं ।' इन्होंने कहा—'हम भी चोर हैं ।' उन्होंने कहा—'चलो, तब चोरी करें ।' इन्होंने कहा—'चलो ।' सब एक व्रजवासीके घरमें चोरी करने घुसे । वे सब तो चोर थे ही । उन सबने सामान बाँधना शुरू किया । ये कुछ देर तो खड़े रहे । फिर वहीं एक ढोलक पड़ी थी । उसे लगे जोरसे ढम-ढमा-ढम बजाने । सब आदमी जाग गये । वे सब तो भागे, पर ये ढोलक बजाते रहे । घरवालोंने आकर चार-पाँच डडे बाबाको लगाये । अन्धकार था । रोशनी जलायी तो देखा कि ग्वारियाबाबा हैं । उन सबको बडा दु ख हुआ कि महात्माको डडे मार दिये । पूछा—'बाबा, तुम कैसे आये ?' बोले—'चोरी करबे ताँई आये ।' उन सबने पूछा—'और कौन-कौन हते ?' बोले—'श्यामसुन्दरके सखा सब हते ।' अब देखिये, इन लोगोंकी कैसी चेष्टाएँ होती हैं ।

ग्वारियाबाबा मरनेके कुछ दिन पहले बोले—'अब नोटिस आ गयी है, अब नहीं रहूँगा ।' मरनेके दो दिन बाद वहाँसे कुछ दूर एक भक्त था, उसके यहाँ गये और दूध पीया । बाबाका एक भक्त था, बड़ा बीमार था । रोने लगा कि 'बाबा, या तो अच्छा कर दो या अब पासमें बुला लो ।' स्वप्नमें आये । मरनेके दूसरे दिनकी यह बात है । उससे कहा—'रोता क्यों है ? चल, हमारा उत्सव मनाया जा रहा है, देख ।' फिर स्वप्नमें ही उसे ले गये । जो-जो था, दिखलाया । फिर कहा—'अमुक दिन तुम्हें ले जायँगे ।' नींद खुलनेपर उसने जाँच की । ठीक-ठीक जैसे उत्सव हुआ था, वैसे ही उसने स्वप्नमें देखा था और फिर उसी बतायी हुई तिथिको मर गया ।

उनकी ऐसी-ऐसी विलक्षण बातें हैं कि सबका समझना कठिन हो जाता है । पर वे थे सचमुच श्यामसुन्दरके सखा । सच्चे महात्मा थे । उनकी कई चेष्टाओंका कुछ भी अर्थ नहीं लगता था । दो महीने मरनेके पहले हाथोंमें हथकडी डालकर घूमते रहते थे कि श्यामसुन्दरने कैद कर दिया है । बड़े भारी सगीतज्ञ थे । कहनेका साराश यह है कि बाहरी चेष्टा भगवत्प्राप्तिका प्रमाण नहीं बन सकती । बहुत ऊँची चेष्टा करनेवालेमें भी त्रुटि रह सकती है तथा कोई बावला-सा नगण्य व्यक्ति भी बहुत बड़ा महात्मा हो सकता है ।

व्रजके प्रेमी संतोंका जीवन सुननेपर तो ऐसा मालूम होगा कि कोई रोते हैं, कोई हँसते है, कोई पागल हैं । कितनोंमें बाहरसे कुछ भी प्रेमके लक्षण नहीं दीखते, पर उनके भीतर श्रीकृष्ण-प्रेमका अनन्त सागर लहराता रहता है । इन प्रेमी सतोंकी पहचान बाहरसे हो ही नहीं सकती ।

३३. व्रजजीवन कुछ इतना पवित्रतम जीवन है कि उसका कण ही यदि किसीकी कल्पनामें आ जाय तो फिर सासारिक भोगोंकी तो बात ही क्या, ऊँची-से-ऊँची मर्यादाकी पारमार्थिक स्थितियोंसे भी वह सर्वथा उपराम हो जाता है । परतु यह करनेसे नहीं होता, यह तो भजनके फलस्वरूप—भगवत्कृपाके फलस्वरूप किसी भाग्यवान् साधकमें प्रकट होता है । निरन्तर गुण-लीला-का श्रवण करते-करते, नाम लेते-लेते उस कृपाका प्रकाश होकर किसी-किसी भाग्यवान्के अनर्थकी जब पूर्णतया

निवृत्ति हो जाती है, तब व्रजप्रेमकी साधना वस्तुत. शुरू होती है। उसके पहलेकी साधना तो जबर्दस्ती होती है, रुचिपूर्वक नहीं, पर जबर्दस्ती करना भी बड़ा उत्तम है। किसी तरह भी चलनेवालेका रास्ता तो कटता ही है।

३४. श्रीकृष्ण इतने सुन्दर हैं कि कहीं एक बार वे कृपा करके स्वप्नमें भी किसीको एक अपनी हल्की-सी झाँकी दिखा दें तो अनन्त जन्मोंकी आसक्ति उसी क्षण मिटकर वह उस रूपके पीछे पागल हो जाय, पर वे किसीके वशमें तो हैं नहीं। शास्त्रमें एक श्लोक है, जिसमें यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण कितने स्वतन्त्र हैं। कालियनागके फणपर तो नाचते हैं और उनके चरणोंके दर्शनके लिये बड़े-बड़े योगी बेचारे अनन्त जन्मोंसे बाट देखते हैं, पर वे सामने नहीं आते। इसलिये श्रीकृष्ण! तू मौजी है। एक अनुभवी भक्त कहते हैं—

गोपालाजिरकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोकुलहुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः॥

'श्रीकृष्ण! तुम ग्वालोंके आँगनके कीचड़में लोटते हो, पर विप्रवरोंके यज्ञोंमें जाते हुए लजाते हो; गौ-बछड़ोंके हुंकारका उत्तर देते हो, पर सत्पुरुषोंकी सैकड़ों स्तुतियाँ सुनकर भी मौन धारण किये रहते हो, गोकुलकी पुंश्चलियोंकी दासता करते हो, पर जितेन्द्रिय पुरुषोंके चाहनेपर भी उनके स्वामी नहीं बनते। इससे यह पता लग गया कि तुम्हारे चरण-पङ्कजयुगल केवल प्रेमसे ही प्राप्त हो सकते हैं।' तात्पर्य यह है कि परम—असीम सुन्दर होकर भी वे परम स्वतन्त्र हैं। उनकी हल्की-सी झाँकी भी स्वप्नमें वही कर सकता है, जिसे वे कराना चाहें। खेलना उनका स्वभाव है। उनका खेल भी विचित्र है। राजाको रङ्क, रङ्कको राजा, पापीको सत, सतको पापी, श्मशानको महल, महलको श्मशान—ऐसी ही विचित्र लीला वे करते हैं। किस क्षण, किसके जीवनमें क्या होगा, यह किसको पता? पर भक्तको डरनेकी आवश्यकता नहीं है, उसे तो उनकी ओर आशा लगाकर भजन करते रहना चाहिये। एक श्लोक है—

प्रतिज्ञा तव गोविन्द न मे भक्तः प्रणश्यति।
इति संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम्॥

'हे गोविन्द! आपकी यह प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्तका पतन नहीं होता। मैं इसी बातको याद कर-करके प्राणोंको धारण कर रहा हूँ।'

३५. यहीं श्रीकृष्ण हैं। अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं; और जहाँ हैं, अपनी सम्पूर्ण शक्ति, समग्र ऐश्वर्यको लेकर ही वर्तमान हैं। अब यदि हमारा इस बातपर विश्वास हो जाय तो हम दूसरेका मुँह फिर क्यों ताकें। किसीकी भी सहायताकी जरूरत नहीं। आजतक जितने भी संत हुए हैं, हैं और होंगे—सब उनके अंदर, उन श्रीकृष्णके अंदर ही हैं, जो अणु-अणुमें स्थित हैं। यहाँतक कि हम जिस मनसे सोचते हैं, उस हमारे मनमें ही वे स्थित हैं। पर हमारा विश्वास नहीं, तब क्या हो? यह घड़ी है, इसी घड़ीके अणु-अणुमें श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ही घड़ी बने हुए हैं। यदि विश्वास हो, ठीक-ठीक संशयहीन विश्वास हो, तो यहीं इस घड़ीमें ही वे प्रकट हो जायँ और आपसे बातें करने लग जायँ। समस्त वृन्दावनकी लीला आप यहीं इस घड़ीके स्थानपर ही देख सकते हैं। प्रह्लादका निश्चय था—खंभेमें भगवान् हैं, खंभा-जैसे जड पदार्थमें भी वह ठीक-ठीक भगवान्‌को देखता था। इसलिये भगवान् वहीं प्रकट हो गये नृसिंह-रूपमें, इसलिये कि उन्हें हिरण्यकशिपुको मारना था। पर कोई चाहे कि श्रीकृष्ण-रूपमें ही प्रकट हों तो श्रीकृष्णरूपसे ही खम्भमें प्रकट होंगे और पूछेंगे—'प्यारे! बोलो! क्या चाहते हो?' आप खूब मजेमें कह सकते हैं—'हमें व्रजकी लीलाका दर्शन कराइये!' और उसी क्षण वे चाहें तो दिखा सकते हैं। अर्जुनने प्रार्थना की—'नाथ! मैं

आपका विश्वरूप देखना चाहता हूँ, तो ठीक है, देखो।' वहीं रथपर सारथिके रूपमें जो श्रीकृष्ण थे, उन्हींके शरीरमें विश्वरूप दीखने लग गया, सारथि ही बदल गया। यदि अर्जुनके मनमें प्रेममयी लीला देखनेकी इच्छा होती तो भगवान् उन्हें वहीं उसी क्षण प्रेममयी लीला भी दिखा सकते थे। यह ठीक है कि बहुत भारी कड़ी साधनासे प्रेममयी लीलाके दर्शन होते हैं, पर साधनाका बन्धन साधकके लिये है, न कि श्रीकृष्णके लिये। वे चाहें तो बिना किसी भी साधनाके उसी क्षण लीला दिखा दें। साधना श्रीकृष्ण ही करवाते है; पर यह बन्धन नहीं कि साधना होगी, तभी दर्शन होगा। वे जो चाहें, वही नियम बन सकता है।

बस, विश्वास होना चाहिये—यहाँ श्रीकृष्ण हैं। बस, इतना ही। फिर हाथ जोड़कर कभी बात करें, कभी प्रार्थना करें, कभी रोयें, कभी खीझें। उनसे कहें—'क्यों प्रभो! केवल गीतामें कहते ही हो कि वैसी बात भी है? तुमने ही तो कहा है कि मेरे लिये सब समान हैं, तो मैं भी तुम्हारे लिये सबके समान ही हूँ, फिर मुझे क्यों नहीं स्वीकार करते। यदि कहो कि तुम चाहते नहीं, तो तुम्हीं बताओ मैं क्यों नहीं चाहता? मेरे अंदर चाह उत्पन्न करो। नाथ! यह तो जानते ही हो, तुमसे छिपा नहीं है कि मैं सुख चाहता हूँ, दुःख कदापि नहीं चाहता। भीतरी मनसे सुख चाहता हूँ। यदि तुम कहो कि फिर मुझे भजो, मुझमें ही सुख है और कहीं भी सुख नहीं है, तो बताओ, मेरे मनमें तुम्हारी इस बातपर विश्वास क्यों नहीं होता? क्यों मै विषयोंका भजन करता हूँ? तुम्हीं आकर एक बार बता जाओ—बस, एक बार ही सामने आकर बता जाओ, फिर चले जाना। तुम कहोगे कि मैं तो उसके सामने आता हूँ, जो मेरे लिये अत्यन्त व्याकुल होता है, तो फिर मेरे अंदर वही व्याकुलता उत्पन्न कर दो। यदि कहो कि तुम यह भी नहीं चाहते कि मेरे अंदर व्याकुलता उत्पन्न हो तो तुम्हीं बताओ, मैं ऐसा क्यों नहीं चाहता?' इस प्रकार बातें कीजिये। पर यह तभी होगा, जब आपका यह विश्वास हो कि श्रीकृष्ण यहाँ हैं, अवश्य हैं। विश्वासके लिये भी उपाय है—बार-बार कहें कि 'मेरे नाथ! मुझे क्यों विश्वास नहीं होता कि तुम यहाँ हो, तुम्हीं बताओ। मैं कहाँसे विश्वास लाऊँ? मैं दुःख चाहता नहीं, सुख चाहता हूँ—इसमें तनिक भी झूठ नहीं। तुम भी कहते हो—सुख मिलेगा मुझपर विश्वास करनेसे; तो फिर तुमपर हमारा विश्वास क्यों नहीं होता? क्या मैं तुम्हारे लिये दूसरा हूँ?'

३६. ऊँचे प्रेमका एक उदाहरण है—पतिव्रता स्त्री। पति परदेशमें है। अब मन नहीं लगता, तो वह मन नहीं लगनेपर एकान्तमें बैठकर रोने लग जायगी, पर उसके मनमें यह नहीं आ सकता कि 'चलें, बाहर घूम-फिर कर मन लगायें।' इसी प्रकार भक्तका मन लगनेपर वह एकान्तमें बैठकर भगवान्‌को याद करके रोने लगता है, रोकर ही मन शान्त करता है; उसके मनमें यह नहीं आता कि चलो चार दोस्तोंमें बैठकर मन बहला लें। यहाँका पति अल्पज्ञ है, पर श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं और जहाँ भक्त रो रहा है, वहीं वे अणु-अणुमें छिपे हुए हैं। उसका रोना उनमें करुणाका संचार कर देता है और उनको यह व्यवस्था करनी पड़ती है कि जबतक मैं नहीं मिलता, तबतक इसका मन थोड़ा-बहुत लगा रहे। जैसे स्त्रीको पतिका संदेश सुननेपर बड़ी शान्ति मिलती है, वैसे ही भक्तको भगवद्गुणानुवाद तथा आश्वासनकी बातें अर्थात् 'वे मिलेंगे, निश्चय मिलेंगे' सुनकर शान्ति मिलती है। इसीलिये ऐसे भक्तके लिये भगवान् संत पुरुषोंका सङ्ग देते हैं। संत दूत हैं, वहाँ उनसे मिलकर सारी बातें लाते हैं और भक्तको संतोष कराते हैं।

३७. × × × ने उस दिन बहुत ही मर्मकी बात कही थी—एक विषयोंके लिये रोता है और एक भगवान्‌के लिये रोता है। जो विषयोंके लिये रोता है,

उसके तो आदि-मध्य-अन्तमें दु ख-ही-दु ख है, क्योंकि विषयोंमें दु ख-ही-दु ख है। और जो भगवान्‌के लिये रोता है, उसके आदि-मध्य-अन्तमें सुख-ही-सुख है, क्योंकि भगवान्‌में सुख-ही-सुख है। विषयीका मन रोते समय विषयमें तदाकार होता है। इसका अर्थ यह है कि उसका मन दु खमें तदाकार होता है ओर भगवान्‌के लिये विरहमें रोनेवालेका मन भगवान्‌में तदाकार होता है। इसका अर्थ यह है कि उसका मन सुखमें तदाकार हो रहा है।

३८ एक बात विचारिये। भोले-भाले बच्चे एवं सुन्दरी स्त्रीकी ओर आँखें जाती हैं। पर विचारकर देखिये—इनके शरीरके भीतर क्या है? हाड़, मास, मल, मूत्र—गदी-से-गदी चीजें भरी हैं। फिर भी भ्रम हो जाता है और ऑखे बरवस चली जाती हैं तथा मन भी यह कहता है कि 'देखो कैसे सुन्दर हैं।' अब सोचिये कि यह भ्रम क्यों होता है? इनमें आशिकरूपसे श्रीकृष्ण मौजूद हैं और वे हैं, इसीलिये यह भ्रम हो जाता है कि यह सुन्दर है। फिर भला, स्वय श्रीकृष्ण जिस समय नटवरनागर मुरलीधरके रूपमें किसीके सामने आ जाते होंगे, उसकी क्या दशा होती होगी? जिनकी एक चमकमात्रसे ऐसा भ्रम हो जाता है कि हाड, मास, मल, मूत्रका थैला इतना सुन्दर प्रतीत होने लगता है, वे ही स्वय निजरूपसे जिस समय दर्शन देते होंगे, उस समयकी दशा कितनी विचित्र होती होगी!

३९ सचमुच ही यह जो कुछ है—सभी श्रीकृष्ण हैं। एक श्लोक भगवान्‌ने भागवतमें कहा है—इतना साफ कि क्या बताऊँ। पर हमारा विश्वास नहीं है, इसीलिये हम दुखी हैं। कहते हैं—'मनसे, वचनसे, दृष्टिसे तथा और सभी इन्द्रियोंसे जो ग्रहण होता है, वह मैं ही हूँ—इस बातको जान लो।' अब विश्वास हो तो अपने पुत्र या स्त्रीको तो आँखसे आप देखते ही हैं और ऑखसे देखी हुई चीज श्रीकृष्ण कहते हैं 'मैं हूँ।' फिर उनके व्यवहारसे दु ख क्यों होगा?

४०. श्रीकृष्णका स्पष्ट ध्यान नहीं होता तो, श्रीकृष्णकी सेवाके उपकरणोंका ही ध्यान कीजिये। भावना कीजिये—भगवान्‌को धूप दे रहे हैं, धूपकी कटोरीका ध्यान करते अथवा धूपके धुएँका ध्यान करते हुए ही मर गये तो आपको निश्चय निश्चय भगवत्प्राप्ति हो जायगी। व्रजके पेडका ध्यान करते हुए ही मरे, पर आपको प्राप्ति होगी श्रीकृष्णकी ही, क्योंकि वहाँका पेड श्रीकृष्ण ही है। वह पेड यहाँकी तरह जड नहीं है। मान लें कोई ध्यान करता है—वनसे श्रीकृष्ण लौट रहे हैं, सगमरमरकी सडक है, आगे-पीछे गाय है। सड़कके दोनों किनारे बडे-बडे आलीशान महल है, महलके नीचे फुटपाथ है, उसपर हरे-हरे वृक्ष लगे हैं। अब यदि श्रीकृष्णके रूपका ध्यान न होकर फुटपाथ, सड़क, वृक्ष आदि—इनमेंसे किसी भी वस्तुका ही ध्यान क्यों न हो, पर मन फँस गया तो यहीं जीवित अवस्थामें ही उसे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। साधना पूरी होनेके पहले ही मरना पड़े तो मरते समय चाहे किसी भी वस्तुका ध्यान क्यों न हो, यदि वह वृन्दावन-भावसे भावित वस्तु है, चाहे पेड-पौधा ही क्यों न हो, तो उसे निश्चय ही श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही होगी। इसका कारण यह है कि वृन्दावनमें जो पेड, सड़क, डडा, पत्ता, मकान, खभा—जो कुछ भी है, वह सर्वथा सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णरूप ही है। इसीलिये लीलाके ध्यानमें बहुत आसानी है।

४१. चाहे ध्यान न लगे, पर अपनी जानमें जो कुछ समय निकालकर सच्चे हृदयसे पूरी चेष्टा करता है कि 'मेरा मन भगवान्‌में लग जाय, उसका ध्यान न होनेपर भी भगवान् उसे अपना भक्त मान लेते हैं। ध्यान न लगे, उतनी देर जीभसे नाम-जप तो हो ही सकता है। चेष्टा हुई या नहीं—इसकी यही पहचान है कि आप जैसे दो घटे रोज बैठें और

उतनी देर यह खयाल रखें कि बस, और कुछ भी याद नहीं करना है । अब होगा यह कि शुरू करते ही मनमें दूसरी-दूसरी बातें याद आयेंगी। उन्हींके चिन्तनमे मन लग जायगा । पर फिर खयाल आयेगा कि अरे मन तो भाग गया । बस, यह खयाल आते ही यदि आपने उतनी बार सचाईके साथ उसे जोडनेकी चेष्टा की, तब तो समझना चाहिये कि पूरी चेष्टा हुई । यह न होकर जब ध्यान करने बैठें और दूसरी व्यापार-सम्बन्धी बातमें मन भाग गया तथा फिर जब याद आया तो याद आनेपर भी उन्हीं बातोंको सोचने लग गये और यह कहने लगे कि क्या करें, जब ध्यान नहीं होता, तब यह व्यापारकी ही बात सोच लें—ऐसा करना ही 'पूरी चेष्टा नहीं करना' है । मान लें दो घंटेमें ५०० बार मन भागा, पर ५०० बार ही जब-जब याद आयी, तब-तब पूरी तत्परतासे उसे भगवान्‌में जोड़ देनेकी क्रिया करके यह निश्चय करना कि अब नहीं भागने दूँगा—यही पूरी चेष्टा है ।

श्रीरामका नख-शिख

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)

रामचरितमानस तो मुख्यतः भक्तिके लिये लिखा गया ग्रन्थ है, अतएव उसमें इष्टदेवके वर्णनके अतिरिक्त अन्य किसीका नख-शिख-वर्णन अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। इसीलिये गोस्वामीजीने दूसरोंके नख-शिख वर्णनकी ओर विशेष ध्यान दिया ही नहीं । परशुरामजीका 'शान्त वेष करनी कठिन' वाला रूप चित्रित करना आवश्यक था, अतएव गोस्वामीजीने कुछ पंक्तियाँ लिख दीं। परशुरामजी भी तो आखिर रामके एक अवतार ही थे। इसी प्रकार उमा-शम्भु-संवादकी भूमिकामें शंकर-जीका नख-शिख-वर्णन किया गया है, क्योंकि कथाके प्रारम्भमें प्रधान वक्ताका चित्र आँखोंके सम्मुख झूलना चाहिये। प्रधान वक्ता भी ऐसे-वैसे नहीं—साक्षात् शङ्करजी, जो इष्टदेव रामके भी आराध्य हैं और एक प्रकारसे उन्हींके प्रतिरूप हैं। इन दोनों नख-शिखोंमें नख-शिखका कोई क्रम है ही नहीं । परशुरामजीके नख-शिखमें कविकी दृष्टि शरीरसे भालपर पहुँची, फिर वहाँसे सिरतक जाकर मुखपर उतर आयी है, फिर भौंहों और नयनोंपर चक्कर काटती हुई कंधे और भुजाओं तथा कमरतक उतरकर फिर कंधेपर पहुँच गयी है । शङ्करजीके नख-शिखमें वह दृष्टि शरीरके अङ्गों और वस्त्रोंसे होती हुई चरणोंतक गयी, फिर आभूषणोंतक चढ़कर मुखतक पहुँच गयी है, फिर जटाओंतक जाकर आँखों और कण्ठतक उतर आयी है और उसके बाद फिर भालतक चढ गयी है। गोस्वामीजीकी कवि-दृष्टि शंकरजीके चरणोंतक तो पहुँची भी, परंतु परशुरामजीके सम्बन्धमें उसने उतना भी आवश्यक न समझा । इसकी आवश्यकता भी न थी।

इधर रामजीका नख-शिख एक स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर लिखा गया है और वह भी बड़ी रुचिके साथ । कई सज्जनोंकी तो राय है कि इष्टदेव रामके मधुर मनोहर रूपकी व्यञ्जना करनेवाली 'सत पंच' (एक सौ पाँच) चौपाइयाँ ही अपने हृदयमें धारण करनेका उपदेश देते हुए गोस्वामीजीने ग्रन्थान्तमें कहा है—

> सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
> दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

नाम-महिमा तो गोस्वामीजीकी लिखी हुई प्रसिद्ध है ही। परंतु इष्टदेवके ध्यानके लिये तो रूपका महत्त्व भी कुछ कम नहीं है, इसलिये नख-शिखके सम्बन्धकी उनकी चौपाइयाँ भी मननीय ही हैं ।

ऐसे सात स्थल हैं, जहाँ भगवान् श्रीरामका नख-शिख कुछ व्यापकरूपमें गोस्वामीजीने अङ्कित किया है । पहला नख-शिख है उस रूपका, जिसे मनु-शतरूपाने देखा था । दूसरा है उस रूपका, जिसे कौसल्याने पहले-पहल देखा था । तीसरा वह है, जिसने मिथिलाके बालकोंका हृदय आकृष्ट किया, चौथा वह है, जिसने फुलवारीमें सीताजी और उनकी सखियोंका ध्यान आकृष्ट किया और पाँचवाँ वह है, जिसने धनुष-यज्ञमें पुर-वासियोंकी आँखें आकृष्ट कीं । छठा नख-शिख है, दूलह बने हुए श्रीरामचन्द्रका, जिसने सीताजीके हृदयमें घर कर लिया।

सातवाँ नख-शिख है बालकरूप रामका, जिन्हें भुशुण्डिने देखा और जो उनके मनमें बसे हुए हैं। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ नख शिख अधूरा सा ही है। व्यर्थकी पुनरावृत्ति गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें कहीं की ही नहीं है। अतएव नख-शिख-वर्णनमें भी उन्होंने अवसरके अनुसार जब जितना और जिस प्रकार कहना चाहिये, उतना ही उस प्रकार कहा है। उपर्युक्त तीनो प्रसङ्ग ऐसे थे कि वहाँ पूरे नख-शिख वर्णनकी आवश्यकता ही न थी, अतएव वे उसी ढगके रक्खे गये हैं।

मिथिलाके बालकोंने श्रीरामको एक समर्थ आकर्षक समवयस्कके रूपमें देखा था। अतएव उनकी निगाह रामकी कमरसे लेकर सिरतक गयी और उन्होंने रामके आभूषण-भूषित अङ्ग-प्रत्यङ्गको देखकर अपनेको धन्य माना।

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप त्रय मोचन॥
कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥

रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

नगर-निरीक्षणके समयका वह अपराह्न-काल था। राजकुमारोंकी साज-सज्जाके चिह्नस्वरूप कनकफूल तो कानोंमें अवश्य थे, परतु शेष बातोंमें सादगी होते हुए भी परम आकर्षक गौरव भरा हुआ था। तिलकने तो सबके ऊपर पहुँचकर कमाल कर दिया था। तिलकका सम्बन्ध विवाहसे भी तो होता है। भविष्यकी सूचना देनेवाला भगवान्का तिलक सम्पूर्ण रूप-शोभाको चक्राङ्कित कर दे (अर्थात् उसपर यह मार्का लगा दे कि यह अनूप रूप केवल रामजीकी ही सम्पत्ति हो सकती है, दूसरेकी नहीं) तो आश्चर्य ही क्या।

श्रीसीताजी और उनकी सखियोंने श्रीरामको मदनमोहन रूपमें देखा था और वह भी उस समय, जब राम लता-भवनसे प्रकट हुए थे। अतएव स्वभावत. उनकी दृष्टि शिखसे नखकी ओर जायगी और वह भी कटितक पहुँचकर रह जायगी, क्योंकि पैर तो शायद लताओं और झाड़ियोंकी आड़में रहे होंगे। अतएव वर्णन हुआ है—

सोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मनिमाल कंबु कल गीवा। काम कलभ कर भुज बलसींवा॥
सुमन समेत बाम कर दोना। सावँर कुअँर सखी सुठि लोना॥

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

श्रीरामकी चितवनने समवयस्क बालकोंका चित्त चुराया था, परतु सीताजी और उनकी सखियोंकी ओर वह चितवन मर्यादित ही रही, क्योंकि श्रीराम शीलके निधान जो थे। अतएव उनके हास विलासने इन लोगोंका मन मोल ले लिया; चुराया नहीं। अर्थात् जिसका उनके प्रति जैसा भाव रहा, उसके अनुकूल ही उसे अपने हास-विलास या प्रसन्न मुखमुद्रा की माधुरी दी। बालकोंके समक्ष जब वे उपस्थित हुए थे, तब सिरपर रुचिर चौतनी थी। उनका वदन ताप-त्रय मोचन था। वहाँ श्रद्धा और भक्तिका प्रसङ्ग था। यहाँ प्रेम और शृङ्गारका प्रसङ्ग है; अतएव यहाँ कामको भी लज्जित कर देनेवाले रूपकी बात है, अपान (अपनपा) भुला देनेकी बात है और सिरपर चौतनीके बदले मोरपख खोंसे जानेकी बात है। मदनमोहनका नटवर अवतार मोर-पखके लिये प्रसिद्ध है ही। प्रभातका समय था और वन-विहारका अवसर। सम्भव है भगवान्ने केशोंको सुव्यवस्थित करनेके लिये उसी उपवनमें पड़ा हुआ कोई मोर-पख उठाकर सिरमें लपेट लिया हो और लक्ष्मणजीने श्रद्धाके कारण कुसुम-कलियोंके गुच्छ लगाकर उसे मुकुट रूप दे दिया हो। परतु बालकोंने जो धनुर्धारीरूप देखा था, उससे कईगुना अधिक आकर्षक भगवान्का यह कुसुमायुधधारी रूप हो गया। कामके पुष्पबाण भी इन कुसुम-कलियोंके गुच्छोंके आगे क्या होंगे? घनश्यामपर सदैव आसक्त रहनेवाले मोरका पक्ष उनके सिरमाथे है, इससे अधिक तदीयताका प्रदर्शन और क्या हो सकता था? जो उनका होना चाहे, वह उन्हें सिरसा स्वीकार है—सब तरह स्वीकार है। कितना सुन्दर भाव आ गया है इस मोरपखमें।

धनुष-यज्ञमें पुरवासियोंने जो रूप देखा, वह इस प्रकार था—

सुंदर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥

चितवनि चारु मार मनु हरनी । भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला । चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥
कुमुद बंधु कर निंदक हाँसा । भृकुटी बिकट मनोहर नासा ॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं । कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं ॥
पीत चौतनीं सिरन्हि सुहाईं । कुसुम कलीं बिच बीच बनाईं ॥
रेखें रुचिर कंबु कल गीवाँ । जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ ॥

कुंजर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल ।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल ॥

कटि तूनीर पीतपट बाँधें । कर सर धनुष बाम बर काँधें ॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए । नख सिख मंजु महाछबि छाए ॥

जब हृदय श्रद्धाप्रवण होता है, तब वह नखशिख देखता है अर्थात् उस समय उसकी दृष्टि अपने इष्टदेवके चरणों (नख) से चलकर मुख (शिख) तक पहुँचती है । जब हृदय प्रेमप्रवण होता है, तब वह शिखनख देखता है अर्थात् उस समय उसकी दृष्टि अपने इष्टके मुखकी ओर पहिले जाकर फिर नीचे उतरती है । श्रद्धा बढती गयी तो वह चरणोंतक पहुँच जाती है । समवयस्कोंका हृदय श्रद्धाप्रवण था और मिथिला-कुमारियोंका हृदय था प्रेमप्रवण । पुरवासियोंमें तो सभी तरहकी भावनावाले उपस्थित थे, पर उनमें प्रेमप्रवण अथवा वात्सल्य-भावनावाले ही अधिक थे, क्योंकि राजाकी कन्या सीता मानो उनकी ही कन्या थीं और राजकुमारीके अनुरूप वरको वे प्रधानतः इसी दृष्टिसे देखेंगे । अतएव इस नखशिखमें मुखके सौन्दर्यको ही पूरी प्रधानता दी गयी है । आँखें तो सबकी बिना मोल उस छविपर लुट ही चुकी हैं; मानो वे चुरा ही ली गयी हैं (अनजानमें मालका उड़ जाना चोरी ही है, भले ही ऐसी चोरी माल खोनेवालेको भी परम प्रिय लगे) । उस रूपमें नगरके कुमारोंका देखा हुआ रुचिर चौतनीवाला धनुर्धर रूप भी है और उपवनकी कुमारियोंका देखा हुआ कुसुमकलियोंवाला मार-मद-हरण रूप भी है । परंतु यह सब होते हुए उस मुखका सौन्दर्य ऐसा अनूप है कि त्रिभुवन-शोभाकी सीमा उसके नीचे ही खिंचकर रह गयी है । गलेकी रेखा मानो कम्बु-कण्ठसे उद्घोषित कर रही है—शङ्खनादसे निर्णय दे रही है कि त्रैलोक्यके सौन्दर्यकी हद तो यहींतक मिल जायगी, अब इसके ऊपर जो आननकी छटा है, उसकी झलक त्रैलोक्यकी किसी अन्य वस्तुमें आना सम्भव नहीं । वह तो 'भावत हृदय जात नहिं बरनी' । फिर मजा यह कि वरके सम्बन्धकी इनकी अनुरूपताके लिये तुलसीकी मालाके साथ ही पीली चौतनी और पीला यज्ञोपवीत पहिनाना गोस्वामीजी नहीं भूले हैं ।

शेष चार नखशिख पूरे नखशिख हैं, जिनमें नखसे शिखतक अथवा शिखसे नखतक क्रमबद्ध वर्णन हुआ है । पहिले पूर्व प्रसङ्गानुसार दूलह रामका ही नखशिख देखिये, जिसने सकोचशीला सीताके 'प्रेम-पियासे' नयनोंको आकृष्ट किया था । पंक्तियाँ हैं—

स्याम सरीरु सुभायँ सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन ॥
जावक जुत पद कमल सुहाए । मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए ॥
पीत पुनीत मनोहर धोती । हरति बाल रबि दामिनि जोती ॥
कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर । बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥
पीत जनेउ महाछबि देई । कर मुद्रिका चोरि चितु लेई ॥
सोहत ब्याह साज सब साजे । उर आयत उर भूषन राजे ॥
पिअर उपरना काखा सोती । दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ॥
नयन कमल कल कुंडल काना । बदनु सकल सौंदर्ज निधाना ॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलकु रुचिरता निवासा ॥
सोहत मौरु मनोहर माथे । मंगलमय मुकुतामनि गाथे ॥

कोटि-मनोज-लजावन रूपको जिस श्रद्धासे जगज्जननी जानकीजी देख रही हैं, उसका वर्णन नखसे ही आगे बढ़ना चाहिये था और उसमें सबसे पहले उन चरणकमलोंका ध्यान होना चाहिये था, जिनमें मुनियोंके मन-मधुप भी छाये रहते हैं । अनुरागकी लाली उन चरणोंमें जावक बनकर खिली पड़ रही है । मिथिलामें इन चरणोंपर दृष्टि न तो कुमारोंकी गड़ी, न कुमारियोंकी गड़ी और न पुरवासियोंकी गड़ी । गड़ी तो भक्तिस्वरूपा श्रीसीताजीकी ही गड़ी । वर्णनका चमत्कार देखिये । पूर्वका धारण किया हुआ पीला यज्ञोपवीत इस समय सार्थक बनकर 'महाछबि' दे रहा है और कर-मुद्रिका तो चित्त ही चुराये ले रही है । रामनामाङ्कित मुद्रिका तो जगज्जननीके हाथमें आकर फिर प्रभुके पास पहुँचेगी और सदेशवाहिका बनकर विरह-व्यथा चुरानेवाली बनेगी । इसलिये अभीसे यदि वह चित्त चुरा रही है तो क्या आश्चर्य । मुद्रिकाके रत्नपर प्रभुकी मुखच्छवि प्रतिबिम्बित हो रही है । सीताजीका ध्यान वहीं अटक गया । तन्मयताकी उस परवशतामें चित्तकी चोरी हो गयी, इसलिये उसके आगेका वर्णन भी कुछ डगमगा गया । फिर देखिये । जो भृकुटी पहलेके रूपोंमें 'बिकट' अथवा 'बाँकी' थी, वह इस रूपमें पहुँचते-पहुँचते एकदम 'सुन्दर' हो गयी है । भौंहें टेढी करना वरदानके

क्षमयकी मुद्रा नहीं है। यहाँ तो प्रभु साक्षात् वर बनकर बैठे हुए हैं। फिर उनकी भौंहें विकट या बाँकी कैसे कही जायँ।

अब बचे ग्रन्थारम्भके दो नखशिख और ग्रन्थान्तका एक नखशिख। सो इनमें पहिले कौसल्याके देखे हुए रूपका नखशिख देखिये—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहिं देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरिनख अति सोभा रूरी॥
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥

यह वह रूप है, जिसके विषयमें गोस्वामीजीने कहा है—

सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

अर्थात् सर्वसमर्थ प्रभुका वात्सल्यरसके अनुकूल रूप, जो इस समय कौसल्याकी गोदमें है। कौसल्याजी जानती हैं कि गोदवाला रूप प्रभुका है, इसीलिये नखसे उनकी दृष्टि शिखकी ओर जाती है। इस रूपमें पदतलके भी देखनेका अवसर मिल जाता है, जहाँ ध्वज, कुलिस, अङ्कुश आदिकी ऐश्वर्य-सूचक रेखाएँ विद्यमान हैं। भक्तोंके लिये ये रेखाएँ साधना-सिद्धि, विघ्नभञ्जन और मनोनियन्त्रण अथवा सत्त्वगुण, तमोगुण और रजोगुणके प्रति इन चरणोंकी क्या प्रेरणा होगी—इसकी सूचना देती हैं। माता कौसल्या उन पदतलोंको सहलाने लगती हैं, जिससे नूपुर ध्वनित हो उठते हैं। मानो वे मुनियोंतकका मन मुग्ध करते हुए घोषणा कर रहे हों कि सौभाग्य हो तो माता कौसल्याका-सा हो। जिस नाभिसे सृष्टि-कर्ता ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई हो, उसकी गम्भीरताकी थाह पाना कोई सामान्य बात है? जिसको उस तत्त्वके दर्शन हो चुके हों, वही उसे जान सकता है। हरिनख (बघनखा) की शोभा 'अति रूरी' इसलिये भी है कि वह 'नृसिंहावतार' की याद दिला रहा है। प्रभुके हृदयपर यह बात बसी हुई है कि भक्तके उद्धारके लिये किसी भी समय और किसी भी जगह वे 'खंभा फाड़कर' प्रकट हो जायँगे। हरिनख ही नहीं विप्र-चरण भी वहीं हैं—शक्ति ही नहीं, शील भी उस हृदयमें भरपूर है। माताकी दृष्टि शिरतक जाकर ठहर गयी। बिखरे हुए 'गभुआरे' केश सुव्यवस्थित हो जायँ, इसलिये वे सँवार दिये गये और पीत झँगुलियासे शरीर आच्छादित कर दिया गया। पहिलेसे ही पीत झँगुलिया होती तो विप्रचरण आदि कैसे दीखते। पीत झँगुलिया स्नेहका वह आवरण है, जो भक्त अपने आराध्यके रूपके ऊपर डाल देता है। ऐसे रूपको तो वह दुनियाकी नजरोंसे बचाकर अपने ही हृदयमें रख लेना चाहता है। उस रूपका क्या वर्णन हो, जो वाणीका विषय नहीं, तर्कका विषय नहीं। वह तो विशुद्ध भाव गम्य—हृदयकी वस्तु है। जिसने स्वप्नमें भी उसकी झलक देखी है वही उसे जान सकेगा।

झँगुलिया-वेष्टित ठीक यही रूप परम भक्त काकभुशुण्डिजीने देखा और उसे अपने हृदयकी वस्तु बना लिया। देखिये वह ग्रन्थान्तका नखशिख, जिसके विषयमें भुशुण्डिजी स्वतः कहते हैं—

'बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥'

जननीको सुख देनेवाले इस रूपका वह आकर्षण था कि शंकर और भुशुण्डिजी भी 'पीत झगुलिआ तनु पहिराई' के साथ बोल उठे थे—

'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥'

इस जानु-पाणि-विचरणवाले रूपका नखशिख पूर्वके नखशिखमें मिलाते हुए पढ़िये—

मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥

रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर॥

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससि कर सम हासा॥
नील कंज लोचन भवमोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥

विकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए । कुंचित कच मेचक छबि छाए ॥
पीत झीनि झँगुली तन साही । किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी । नाचहि निज प्रतिबिंब निहारी ॥

माता कौसल्यामें वात्सल्य विशेष था और भुशुण्डिजीमें थी श्रद्धा विशेष । नखसे शिखकी ओर ये भी बढे हैं, परतु इन्होंने पदतलमें तीन ही नहीं, कुलिशादिक चारों रेखाएँ देखीं । ध्वज, कुलिस और अकुशकी तीन रेखाएँ तो माता कौसल्याने भी देखी थीं । चौथी रेखा थी कमलकी, जो अनुग्रहरूपी लक्ष्मीका उत्पत्ति-स्थल कही जा सकती है । भक्त-हृदय भला, अनुग्रहके उत्सको कैसे न देखता । माता कौसल्या तो अपने वात्सल्यके कारण तुतलाते बोलोंपर निछावर थीं इसीलिये वहाँ गोस्वामीजीने कहा 'अति प्रिय मधुर तोतरे बोला' । किंतु यहाँ भक्त-हृदय भुशुण्डि तो उनके हास, उनकी चितवनके विशेष आकाङ्क्षी थे। अत. 'कलबल वचन' का उल्लेखमात्र करके यहाँ कहा गया—'किलकनि चितवनि भावति मोही ।' यह किलकनि ही हास है, जिसके लिये कहा गया है—सकल सुखद ससिकर सम हासा ।' इस हासके स्पष्टीकरणके लिये बहुत पूर्वका प्रसङ्ग देखा जाय, जहाँ कहा गया है—

हृदयँ अनुग्रह इंदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ॥'

यह हास क्या है ? भगवान्‌के हृदयके अनुग्रहकी एक किरणमात्र है, जो बाहर प्रकट होकर उस अनुग्रहकी सूचना दे रही है । भक्तके लिये यही तो परम प्राप्य है । चितवनके लिये कहा गया है, 'नीलकज लोचन भव मोचन । वह चितवन ऐसी-वैसी नहीं थी । वह भवमोचनी थी । भुशुण्डिजी कहते हैं कि परम आकर्षक नखशिखवाली ऐसी रूपराशि नृप दशरथके मणिमण्डित अजिरमें विचरण करते हुए अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर नाच-नाच उठती थी । ब्रह्मने इनकी सृष्टि ही की है अपने उल्लासके लिये—अपनी लीलाके लिये । इस भावको ध्यानमें रखते हुए 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी' का रस लिया जाय, तब इस नखशिखका और भी आनन्द आयेगा ।

अब रहा ग्रन्थारम्भका सर्वप्रथम नखशिख, जिसे मनु-शतरूपाने देखा था । उसका भी सम्बन्ध इस नखशिखसे है; क्योंकि मनु-शतरूपाकी प्रार्थना ही थी कि वे वह रूप देखना चाहते हैं, 'जो भुशुण्डि-मन-मानस हसा' है । रूप वही दिखाया गया, परतु वह अँगुलियावाला रूप न होकर धनुष-बाणवाला युवारूप रहा, जिसमें ऐश्वर्य-माधुर्य दोनोंका सम्मिश्रण था और जिसके साथ शक्ति सयुक्त थी । एकान्त साधकके लिये जो बालरूपमें ही मधुर है, उसे मनु-शतरूपाके समान लोक सेवक साधकके लिये शक्तिसयुक्त युवारूपमे आना पड़ता है—जगद्-व्यवस्थापकके रूपमें आना पड़ता है—ऐश्वर्य और माधुर्य सब कुछ लेकर । मनु-शतरूपामे 'प्रेम न हृदयँ समात' था, अत. उन्होंने इस रूपको शिखसे नखतक देखा । देखिये वह रूप—

भगतबछल प्रभु कृपा निधाना । बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥
नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥
सरद मयक बदन छबि सींवा । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ॥
अधर अरुन रद सुदर नासा । बिधुकर निकर बिनिंदक हासा ॥
नव अबुज अबक छबि नीकी । चितवनि ललित भावती जी की ॥
भृकुटि मनोज चाप छबि हारी । तिलक ललाट पटल दुतिकारी ॥
कुडल मकर मुकुट सिर भ्राजा । कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥
उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला । पदिक हार भूषन मनिजाला ॥
केहरि कधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुदर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदडा । कटि निषग कर सर कोदडा ॥
तडित बिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि ॥
पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥
बाम भाग सोभति अनुकूला । आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला ॥
जासु अस उपजहिं गुनखानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ॥
छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी । एकटक रहे नयनपट रोकी ॥

इस नखशिखमें हास और ललित चितवनकी चर्चा तो है ही और उसे प्राथमिकता भी दी गयी है, साथ ही ऐश्वर्य सूचक मुकुट, कुण्डल, मणिजाल, शर कोदण्ड आदि भी हैं और माधुर्यसूचक छविसीमारूप शरद-मयक-वदन, मनोजचाप, छविहारी भृकुटि, शीलपरिचायक श्रीवत्स (विप्र-चरण-चिह्न) और पदराजीव, जिनपर मुनियोंके मन मधुपकी तरह बसे रहते हैं, आदि भी हैं । इस तरह इस रूपमें आगेके सभी नखशिखका सार आ गया है और फिर भी इसकी अपनी विशेषता भी रह गयी है, क्योंकि किरीट-मुकुट इसी रूपमें है और शक्तिमत्ताका प्रदर्शन भी इस रूपमें है। उनकी वामाङ्गिनी कौन है ? आदिशक्ति, छविनिधि, जगमूल । आदिशक्ति है, उनकी

लीला—उनकी परम करुणा, जो भक्तके लिये परम वाञ्छनीय है। छविनिधि है लक्ष्मी और जगमूल है आदिप्रकृति अथवा माया। सीताजी तीनोंका सम्मिलित अवतार हैं। मायाका एक दुष्ट और अतिशय दु:खरूप है, जिसे 'अविद्या माया' कहते हैं। सीताजीमें उसका अतिशय अभाव है। परंतु जो 'विद्या माया' है, वह भी सीताजीका पूर्णरूप नहीं है; क्योंकि भक्तिकी तुलनामें वह माया भी 'विचारी नर्तकी' ही रह जाती है।

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥

सीताजी तो वामभागमें अनुकूल होकर शोभा देनेवाली हैं। वे तो रामवल्लभा हैं, अतः प्रधानतः वे लीलाका, भक्तिका, परम करुणाका, आदि शक्तिका, ह्लादिनी शक्तिका, अवतार हैं। आधिभौतिक दृष्टिसे वे जगमूल हैं, आधिदैविक दृष्टिसे छविनिधि लक्ष्मी हैं और आध्यात्मिक दृष्टिसे भगवत्कृपा या आदिशक्ति हैं—ह्लादिनी, संधिनी, संवित्—तीनों शक्तियोंका पुञ्जीभूत रूप हैं। प्रारम्भमें इसीलिये तो सीताजीके तीन विशेषण लगाकर स्तुति की गयी है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी जगमूला शक्ति है, क्लेशहारिणी छविनिधि शक्ति है, सर्वश्रेयस्करी भगवत्कृपारूपी आदिशक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं, अतः भगवद्रूपके इस सर्वप्रधान नखशिखके साथ उनकी वामभागस्थ शक्तिकी भी चर्चा हो गयी है।

इस नख-शिखका सुमेरुरूप दोहा वह है, जो ऊपर दिया गया है।

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

भगवान्के रूपकी त्रिविध पूर्णताका और उसके दर्शनसे भक्त-हृदयमें उत्पन्न होनेवाले प्रभावका इस दोहेमें बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन हुआ है। सब गुणोंको अपनेमें ही लय कर लेनेवाला रंग है श्याम। सब भक्त-हृदयोंको आकृष्टकर अपनेमें ही लीन कर लेनेवाला है परमात्मा। अतएव जब वह सगुण-साकार होगा, तब श्यामरूपमें ही माना जायगा। जो निर्गुण होकर भी सगुण भासित हो, रंगरहित होकर भी रंगवाला भासित हो, वह होगा नील—जैसे आकाश अथवा समुद्र। अपनी अनन्त विशालताके कारण आकाश नील जान पड़ता है, अपनी अनन्त गम्भीरताके कारण समुद्र नील जान पड़ता है। वस्तुतः उनमेंसे कोई भी नील नहीं है। निर्गुण ब्रह्म भी अपनी अनन्त विशालता और अनन्त गम्भीरता लिये हुए सगुण भासित होगा तो वह नीलवर्ण ही माना जायगा। सगुण-साकारके ये ही दो रंग प्रधान हैं। ऊपरके दोहेमें उपमेय प्रभुके लिये तो श्याम-शब्द आया है और उनके उपमानोंके लिये नील-शब्द। उपमान भी तीन हैं, जो भगवान्की त्रिविध पूर्णताका अच्छा परिचय देते हैं। हमारे मन, बुद्धि, चित्तके अनुसार अर्थात् हमारी इन्द्रिय-शक्ति, विचार-शक्ति और कल्पना या भाव-शक्तिके अनुसार हम तीन ही जगत् मान सकते हैं। सरोरुह, मणि और नीरधर—ये तीनों जगत्के सर्वश्रेष्ठ उपमानके प्रतीक हैं। इन्द्रियगम्य भौतिक जगत्के सुन्दर पदार्थ या तो धरतीके अंदर रहेंगे या धरतीपर या धरतीसे ऊपर। धरतीके अंदरके सब पदार्थोंमें मणि सुन्दरतम है, धरतीके ऊपरके सब पदार्थोंमें पुष्प और उनमें भी कमल-पुष्प सर्वसुन्दर है, धरतीसे ऊपरके सब पदार्थोंमें क्षण-क्षण नवीनता धारण करनेवाला सजल मेघ सबसे सुन्दर है। बुद्धिगम्य आत्मिक जगत्में सर्वश्रेष्ठ, अतएव सर्वसुन्दर तत्त्व हैं—सत्-चित्-आनन्द। पुराणोंकी प्रतीकात्मक भाषामें कमलको सत्का प्रतीक माना गया है। (सम्पूर्ण फलकी उत्पत्ति पुष्पसे होती है और सम्पूर्ण स्थलकी उत्पत्ति जलसे हुई है, अतएव जलका पुष्प सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्तिके आदि कारणका प्रतीक होना चाहिये—यह सोचकर कह दिया गया कि भगवान्की नाभिसे कमल ही निकला, जिससे ब्रह्माजी हुए, जिन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि रची।) मणिको प्रकाशकत्व धर्मके कारण, चित्का प्रतीक माना गया है और नीरधरको रसत्वके कारण आनन्दका प्रतीक माना गया है। भावगम्य दैविक जगत्में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अतएव सर्वाधिक उल्लेखनीय देव हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। ब्रह्माकी विशिष्टता है उनकी कमलोद्भवता (कमलसे उत्पत्ति, जो न विष्णुके साथ लागू होती है न महेशके साथ)। विष्णुकी विशेषता है उनका शृङ्गार और उसमें भी सुमेरुतुल्य देदीप्यमान कौस्तुभ मणि। (ब्रह्मा और शङ्करने शायद ही कभी कोई मणि-माणिक्य धारण किये हों।) महेशकी विशेषता है उनका गङ्गाधरत्व—उनका नीरधरत्व (नीर-राशिको मस्तकपर धारण किये रहनेकी बात)। अतएव उपर्युक्त दोहेकी पहली पंक्तिका अर्थ हुआ कि 'प्रभु श्यामरूपमें आये, परंतु वह रूप ऐसा था, जिसमें त्रैलोक्यका सौन्दर्य अनन्त विशाल और अनन्त गम्भीर (नील) रूपमें समाहित था। सरोरुह, मणि, नीरधरका (भौतिक विश्वके सुन्दरतम

पदार्थोंका) सत्-चित्-आनन्दका (आत्मिक जगत्के श्रेष्ठतम तत्त्वोंका) और ब्रह्मा-विष्णु-महेशका (दैविक जगत्के परम महिमामय देवोंका) सम्पूर्ण सौन्दर्य अनन्तगुना विस्तृत होकर इस रूपमें समाया हुआ था ।

अब दोहेकी दूसरी पंक्तिको देखिये । तनुका एक अर्थ होता है शरीर और दूसरा अर्थ होता है स्वल्प या छोटा । सतका एक अर्थ होता है सौ और दूसरा अर्थ होता है सत या भला । कामका एक अर्थ होता है कामदेव (जो देवताओंमें परम सुन्दर माना गया है); दूसरा अर्थ होता है कामनाएँ या आकाङ्क्षाएँ—इच्छाएँ । शरीरकी शोभा देखकर सौ-सौ करोड़ कामदेव या करोड़-करोड़ सैंकड़ों कामदेव लज्जित हो जायँ—कह उठें कि रूप हो तो ऐसा हो, जिसके पासँगमें भी हमारा रूप नहीं ठहर सकता—यह तो सामान्य अर्थ हुआ और वह भी ठीक ही है। परंतु प्रभावोत्पादकता यदि देवलोकतक ही—कामदेवको लज्जित करनेतक ही रुककर रह गयी तो मर्त्यलोकमें दर्शन देनेका फिर क्या लाभ रहा! प्रभावोत्पादकताका सम्बन्ध तो मर्त्यलोकके भक्त-हृदयसे होना चाहिये । अतएव उत्तम अर्थ यह होगा कि उस छविकी यदि एक छोटी-सी झलकमात्र निरख ली जाय—ध्यानसे या तन्मयताके साथ देख ली जाय—तो करोड़ों सत्-कामनाएँतक लज्जित हो जायँ । दुष्कामनाओंका तो एकदम अभाव ही हो जायगा, ऋद्धि-सिद्धि, यश, कल्याण, स्वर्ग, मोक्ष आदिकी सत्कामनाएँ भी उस रूपको ही परम प्राप्य मानकर अपने-आप शिथिल हो जायँगी । भगवद्रूपका प्रभाव ही ऐसा होता है । जिस मनमें रामका रूप आया, वहाँ काम या कामनाका अन्य कोई रूप रह ही नहीं सकता । कितना सुन्दर दोहा कहा है अन्यत्र गोस्वामीजीने—

> जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम ।
> तुलसी कबहूँ कि रहि सकै रवि रजनी इक ठाम ॥

अब एक बात और लिखकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है । संसारी जीव प्रभुके समीप दो ही मार्गोंसे पहुँचा करते हैं । एक है प्रीति-मार्ग और दूसरा है भीति-मार्ग, यद्यपि यह अवश्य है कि आगे चलकर यह भीति-मार्ग भी प्रीति-मार्गमें परिणत हो जाता है । इन दोनों मार्गोंके अनुसार प्रभुके भी दो रूप हैं । एक है मधुर रूप (जिसके नख-शिखकी चर्चा ऊपर हो चुकी है ।) दूसरा है विराट् रूप । इस रूपकी ओर संकेत करानेकी आवश्यकता थी रावणके समान तर्कवादीको । इसीलिये मन्दोदरीके मुखसे गोस्वामीजीने एक ऐसे नख-शिखका भी वर्णन कर दिया है । यहाँ उसका उद्धरणमात्र पर्याप्त होगा । वह इस प्रकार है—

> बिस्व रूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु ।
> लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥
>
> पद पाताल सीस अज धामा । अपर लोक अँग अँग बिश्रामा ॥
> भृकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ॥
> जासु घ्रान अस्विनीकुमारा । निसि अरु दिवसु निमेष अपारा ॥
> श्रवन दिसा दस बेद बखानी । मारुत स्वास निगम निज बानी ॥
> अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
> आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
> रोम राजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरिता नस जारा ॥
> उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु की बहु कलपना ॥
>
> अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान ।
> मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान ॥

इसमें न तो पूर्वके-से नख-शिखोंकी क्रमबद्धता है न सर्वाङ्गीणता है, न वैसी आकर्षण-माधुरी है, परन्तु इसमें कल्पनाका विराट् व्यापार अवश्य है, जो बुद्धिको सोचने-समझने और आतङ्कित हो उठनेकी पर्याप्त सामग्री देता है ।

'चढ़नेवालोंको शाबास !'

> घबरा जानेवालोंको तो, लिखा हुआ न मिलेगा 'पास' !
> मेल नहीं, आमोद नहीं है ! और न है कोई परिहास !
> चढ़ पायेंगे वहाँ वीर वे, है जिनका दृढ़तम विश्वास !
> सूली ऊपर सेज पियाकी, चढ़नेवालोंको शाबास !!

—ब्रह्मानंद 'बन्धु'

श्रीमद्भागवतमें पुरुषार्थ-समन्वय

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम० ए०)

प्राणिजगत्‌मे कर्म और भोग स्वभावसिद्ध है। भोगप्रवृत्ति और कर्मप्रेरणाको लेकर ही जीवसमूह उत्पन्न होता है एवं कर्म और भोगके द्वारा ही सबको जीवित रहनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। मानव-प्रकृतिकी यह विशेषता है कि उसके अंदर एक जाग्रत् अहंबोध तथा एक स्वतन्त्र विचारशक्तिकी अनुभूतिके वर्तमान रहनेसे वह पूर्णतया स्वभावके स्रोतमें प्रवाहित होकर कर्म और भोगके पथपर परिचालित होना जीवनके आरम्भसे ही स्वीकार नहीं करता। प्रकृति माताने मानो अपने विरुद्ध विद्रोह-घोषणा करनेका स्वभाव और शक्ति देकर ही मानव-संतानको प्रसूत किया है। जन्मके अनन्तरसे ही आरम्भ करके मानवशिशुकी यही आन्तरिक प्रचेष्टा होती है कि वह प्रकृतिके वक्षपर आरोहण करके स्थित हो जाय, प्रकृतिके ही वक्षःस्थलका आश्रय लेकर अपने पथपर स्वयं स्वाधीन-रूपसे चले, प्रकृतिजननीका स्तन्यपान करते करते ही अपने भोग और कर्मको स्वयं ही चुने। यदि प्रकृति उसको अपनी गोदमें लेकर अपने सुनिर्दिष्ट नियमोंपर ही चलाती रहे, उसकी स्वाधीनताके विकासको रोककर साधारण जीवस्वभावमें आबद्ध रखकर यदि उससे जीवनयात्राके लिये अनुकूल कर्म और भोग ही करवाती रहे, तब तो उसका जीवन ही व्यर्थ होगा, उसके लिये मानवप्रकृतिकी प्राप्ति ही निरर्थक हो जायगी। मनुष्य प्रकृतिकी विद्रोही संतान है। प्रकृतिमाताको भी इसीमें आनन्द मिलता है, इसमें ही उसके मातृत्वकी परम सार्थकता होती है। इसी हेतु विश्वप्रकृतिने, समग्र जड जगत्‌को एवं मानवेतर प्राणिजगत्‌को अनुल्लङ्घनीय सुशृङ्खल विधानमें परिचालित करते हुए भी मनुष्यकी स्वाधीनताके विकासके लिये यथेष्ट अवकाश छोड़ रखा है, मनुष्यको अपने अनन्यसाधारण पौरुषके बलसे स्वाधीनरूपेण अपने कर्म और भोग नियन्त्रित करनेका यथेष्ट सुयोग प्रदान किया है। स्वयं भगवान्‌ने भी कहा है—'पौरुषं नृषु'—मनुष्योंके भीतर मैं ही पौरुषरूपसे विद्यमान हूँ। मनुष्यके अंदर यह जो स्वाधीनताबोध, यह जो अपनेको स्वयं परिचालित करनेकी सामर्थ्य और प्रेरणा, यह जो अपने पथका स्वयं निर्धारण करके प्रकृतिकी अनुकूलता-ग्रहणपूर्वक अपने अभीप्सित आदर्शकी ओर अग्रसर होनेकी साधना विद्यमान है, इसको भगवान्‌की विशेष विभूति ही जानना और विचार करना तथा श्रद्धाके साथ स्वीकार करना चाहिये।

मनुष्येतर प्राणिसमूह अवशरूपसे परिचालित होता है। अपने स्वभावानुरूप प्रकृति और प्रयोजनबोधद्वारा मनुष्य अपनेको अपने विचारानुरूप अभीप्सित आदर्शद्वारा स्वयं परिचालित करता है। दूसरे प्राणियोंके समान मनुष्यके अन्तरमें भी स्वभावानुरूप प्रवृत्ति और प्रयोजनबोध पूर्णमात्रामें विद्यमान है। किंतु मनुष्य उनका दास नहीं है, मनुष्यने उनका दासत्व स्वीकार करके प्रकृतिके नियमान्तर्गत जीवन काटनेके लिये मानवदेह ग्रहण नहीं किया। प्रवृत्तिके ऊपर आदर्शका प्रभुत्व प्रतिष्ठित करनेमें ही मनुष्यत्वकी अभिव्यक्ति होती है। प्रवृत्ति-समूहको सुशासित करके विचारनिर्दिष्ट आदर्श जिस मात्रामें स्वभावके ऊपर आधिपत्य स्थापित करनेमें समर्थ हो, प्राणिसुलभ प्रवृत्तिके बदले मानवोचित आदर्शका प्रभाव जीवनके प्रयोजनबोधके ऊपर जिस परिमाणमें प्रतिष्ठालाभ कर सके, उसी परिमाणमें मनुष्यत्वका जागरण समझना चाहिये। प्रवृत्तिद्वारा चालित होना ही पराधीनता और पशुत्व है, आदर्शकी अनुप्राणनाद्वारा अपने आपको परिचालित करना ही स्वाधीनता और मनुष्यत्व है। अनियन्त्रित असंयत जीवन वस्तुतः प्रवृत्तिताड़ित जीवनका ही नामान्तर मात्र है एवं वहाँपर अनधीनता नहीं, अपितु पूर्णमात्रामें पराधीनता अर्थात् दासत्वकी शृङ्खलाद्वारा सर्वाङ्गयन्त्र शृङ्खलित रहनेपर भी दासत्व बोधाभावरूप शोचनीय अवस्था है। आदर्शद्वारा संयमित सुनियन्त्रित जीवन धाराके भीतर ही स्वाधीनता या आत्मप्रभुत्वका विकास होता है।

किंतु मानवजीवनका आदर्श क्या है? यह आदर्श सम्पूर्ण जीवन—मानव-जीवनके सभी स्तरोंमें एक ही प्रकारसे नहीं रहता। मनुष्यकी विचारशक्ति और इच्छा शक्तिके विकासके साथ-साथ, अपने अन्तरात्माके स्वरूप और प्रयोजनके परिचयके साथ-साथ, जीवनकी चरम सार्थकता-के सम्बन्धमें बुद्धिगत धारणाके क्रमोत्कर्षके साथ-साथ उसके

जीवनादर्शका परिवर्तन होता है। मनुष्यत्व-विकासके शैशव-स्तरमें मनुष्य कामसुखको ही जीवनके आदर्शरूपमें निर्धारण करता है। देहेन्द्रिय-मनकी भोगलालसा दूसरे प्राणियोंके समान ही मनुष्यमात्रमें स्वभावसिद्ध है। इसी स्वाभाविक लालसाके प्रभावसे विशेष-विशेष अवस्थाओंमें विशेष-विशेष प्रवृत्तियाँ उद्बुद्ध होती हैं। इन्हीं सब प्रवृत्तियोंकी चरितार्थतामें सामयिक सुखास्वादनसे मनुष्यमात्र ही अभिज्ञ है। भोगके अभावमें दुःख और भोगकी प्राप्तिमें सुख सभीके अनुभवगोचर है। देहेन्द्रिय-मनके आकाङ्क्षित भोग्य-पदार्थ प्राप्त होनेपर ही अन्यान्य प्राणियोंके समान मनुष्य भी तात्कालिक आपेक्षिक पूर्णताकी अपने भीतर उपलब्धि करता है। इसी अभिज्ञताके फलस्वरूप मनुष्य अपनी विचारशक्तिका प्रयोग करके भोगसुखको ही जीवनके आदर्शरूपमें वरण कर लेता है। इसी भोग-सुखका स्थायित्व, गभीरत्व, व्यापकत्व, दुःखलेशविहीनत्व, नित्य नूतनत्व सम्पादन करना ही उसके जीवनका व्रत हो जाता है। जबतक देह रहता है, तबतक भोगसुखकी प्रयोजनीयताको कोई भी सम्पूर्णरूपसे अस्वीकार नहीं कर सकता। किंतु मानवत्व-विकासके प्रथम स्तरमें इस काम या भोगसुखमें ही मनुष्यका पौरुष नियोजित होता है एवं इसीको वह परमपुरुषार्थ समझकर जीवनपथपर अग्रसर होता है। इस काम-पिपासाकी पूर्तिके उद्देश्यसे ही वह परिवार, समाज और राष्ट्र-गठनकी प्रयोजनीयताका अनुभव करता है। एवं पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय विधि-निषेधोंका पालन करता है। इस उद्देश्यसे ही वह प्रबलतर शक्तिसम्पन्न मनुष्य-सङ्घ और देवता आदिकी आराधना करता है। याग-यज्ञ-जप-तप-व्रतोपवासादि सम्पादन करता है एवं इसको ही केन्द्र बनाकर पाप-पुण्यका विचार करता है।

किंतु देहेन्द्रिय-तर्पणको आदर्श मानकर चलते-चलते विचारशील मनुष्य पग-पगपर इस आदर्शकी क्षुद्रता अनुभव करने लगता है। प्रत्येक सुख ही दुःखके कण्टकोंसे वेष्टित दिखायी देता है। प्रत्येक प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये जितना प्रयास करना पड़ता है, उसमें दुःखकी ज्वालाका ही अनुभव होता है। एकके सुखके साथ दूसरोंके सुखका विरोध होनेसे जीवनमें युद्ध-पर-युद्ध आवश्यक हो जाता है। एवं दुःखमय संग्रामकी तुलनामें सुखका परिमाण अल्प ही जान पड़ता है। जो वस्तु एक समय सुखका कारण होती है, वही फिर दूसरे समय दुःख उत्पादन करती है। अनिश्चित भविष्यकी भावनासे वर्तमानका भोग-सुख भी अतृप्तिकर हो जाता है। अपनी सामयिक प्रवृत्तिके चरितार्थ हो जानेपर भी दूसरेको अपनी अपेक्षा अधिकतर सम्पत्तिशाली और शक्तिशाली देखनेसे, अपनी अपेक्षा दूसरेके भोग्यसम्भारका अधिक प्राचुर्य देखनेसे आन्तरिक ईर्ष्यावश वही दुःखका कारण हो जाता है। स्वयं भी किसी समय प्रचुरतर भोगका आस्वादन कर लेनेपर अल्पतर भोगोंमें फिर सुख नहीं मिलता। इस प्रकार विविध कारणोंसे मनुष्यकी बुद्धि इसकी अपेक्षा बृहत्तर एक ऐसा आदर्श लेकर चलना चाहती है, जिससे सुख उसके अनुचररूपसे सहज ही प्राप्त हो सके।

तब उसकी दृष्टि जाती है सम्पत्ति और शक्तिकी ओर। प्रचुर सम्पत्ति और पारिपार्श्विक अवस्थापर प्रभुत्व प्राप्त कर लेनेसे भोगके उपकरणोंकी भी यथेष्ट प्राप्ति होती है, भावी सुखके सम्बन्धमें भी पर्याप्त निश्चिन्तता आ जाती है। शक्ति और सम्पत्ति—राज्य और ऐश्वर्य—तब उन्नततर, स्थायितर, व्यापकतर पुरुषार्थके रूपमें गृहीत होते हैं। इसीको हिंदूशास्त्रमें एक शब्दमें 'अर्थ' कहा जाता है। इसी पुरुषार्थके साधनकी प्रचेष्टामें मनुष्य कितनी तपस्या करता है, कितने वर्तमान सुखके प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त करके सुनियमित रूपसे सुदीर्घ कालतक दैहिक और मानसिक शक्तियोंका प्रयोग करता है, कितने सङ्घ, समवाय और राष्ट्र गठन करता है, पृथ्वीके वक्षको विदीर्ण करके, समुद्रके तलदेशमें प्रवेश करके, प्राकृतिक शक्तियोंका जय करके कितने ही धन-रत्न एकत्रित करता है, कितने नये-नये यन्त्रोंका आविष्कार और नूतन रहस्योंका उद्घाटन करता है। मनुष्यके साथ मनुष्यके व्यवहारोंमें कितनी जटिलता सृजन करता है, कितने कूटनीतिके जाल विस्तार करता है, कितने विधान कानूनोंके बन्धनद्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको संयमित करनेकी चेष्टा करता है। इसी अर्थको आदर्श बनाकर मनुष्य अपनी अन्तर्निहित विविध शक्तियोंको उद्बुद्ध और विकसित करता है। यही आदर्श मनुष्यको कितना बड़ा बना सकता है, इस बातका प्रमाण प्राचीन आसुरी सभ्यता तथा आधुनिक पाश्चात्य सभ्यतामें मिलता है।

किंतु मनुष्यकी अन्तरात्मा इससे तृप्त नहीं हो सकती। ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी साधना आपाततः मनुष्यके सुख और गौरवका क्षेत्र बहुत परिमाणमें बढा देती है निःसदेह, किंतु प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, घृणा, भय, लोभ, सघर्ष आदि भी साथ-ही-साथ वर्धित होकर मानवसमाजको एक बीभत्स सग्रामक्षेत्र बना देते हैं एव क्रमशः विनाशकी ओर अग्रसर करते रहते है। अर्थका आदर्श जितना ही श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेता है एव उसकी साधनामें मानवीय शक्तियोका जितना ही अधिक विकास होता है, उतना ही अर्थ अनर्थकी मूर्ति धारण करता है, वृद्धि उतना ही ध्वसके हेतुरूपमे आत्मप्रकाश करती है, मनुष्यत्व उतना ही पशुत्वके दासत्वमें नियोजित होकर आत्महत्या करता है। वर्तमान पाश्चात्य सभ्यताकी अत्यधिक गौरववृद्धिके साथ-साथ अर्थकी यह विभीषिकामय मूर्ति विशेषरूपसे प्रकट हो रही है। प्राचीन युगमे भी अर्थादर्शप्रतिष्ठ सभ्यताके उच्च शिखरपर आरोहण करके असुर जातियाँ किस प्रकार विनष्ट हो चुकी हैं, इतिहास-पुराणादि इस बातके साक्षी हैं।

अतएव अर्थादर्शके ऊपर ऐसे किसी आदर्शकी प्रयोजनीयता मानवकी आत्मा अनुभव करती है, जिससे वह अर्थकी साधनाको सुनियन्त्रित कर सके, अर्थकी अस्वास्थ्यकर वृद्धिको रोक सके, अर्थके अनर्थका रूप साधारण करनेमें बाधा डाल सके। मानवी बुद्धि धर्मके भीतर इस आदर्शका सधान पाती है। विश्वविधानके अन्तर्निहित आदर्शके साथ मनुष्यकी व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवनधाराका योगसस्थापन ही 'धर्म' है। मनुष्यके अन्तरमें स्वभावत जो उचित-अनुचित-बोध, न्यायान्याय-बोध, कर्तव्याकर्तव्यबोध, श्रेय-अश्रेय-बोध विद्यमान देखा जाता है, उसीके भीतर धर्मका आत्मप्रकाश है। मनुष्य जो कुछ पाता है, जो कुछ करता है, जो कुछ छोड़ता है—सभीके ऊपर उचित-अनुचित-बोधका प्रभुत्व प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। यह प्रभुत्व ही धर्मका साम्राज्य है। मनुष्य कितनी कामसेवा करे, कितनी अर्थसाधना करे, प्राप्त भोगपदार्थोंका किस प्रकार उपयोग करे, अधिकृत राजशक्ति और धन-सम्पत्तिका किस अवस्थामें किस प्रकार प्रयोग करे, इन सबके धर्मके आदर्शद्वारा नियन्त्रित होनेपर जीवनमें सामञ्जस्य सम्पादित होता है, आनन्दकी धारा प्रवहमाण होती है।

धर्मका यही प्रधान निर्देश है कि प्रेयकी अपेक्षा श्रेयका गौरव अधिक है, भोगकी अपेक्षा त्यागका, ग्रहणकी अपेक्षा दानका, दूसरेसे सेवा लेनेकी अपेक्षा दूसरोंकी सेवामें स्वेच्छासे आत्मनियोगका और देहेन्द्रिय-मनकी तृप्तिमे एव ऐश्वर्य तथा प्रभुत्वके उपार्जनमें प्रयासशील होनेकी अपेक्षा दूसरोंके सुख-स्वाच्छन्द्य-विधानमे देहेन्द्रिय-मनकी शक्तियोंके प्रयोगका गौरव अधिक होता है। धर्मका लक्ष्य होता है—भेदके बाद अभेदकी प्रतिष्ठा, वैषम्यके मध्य साम्यकी प्रतिष्ठा, विरोधके भीतर मिलनकी प्रतिष्ठा और बहुत्वके भीतर ऐक्यकी प्रतिष्ठा। काम और अर्थ मनुष्यको भेद, वैषम्य और विरोधकी ओर ले जाना चाहते है, धर्म उसे चलाता है अभेद, साम्य और मिलनकी ओर। काम और अर्थका आदर्श परार्थको पराभूत करके स्वार्थके साधनमें मनुष्यको नियोजित करता है, धर्मका आदर्श परार्थसाधनके भीतरसे ही प्रत्येककी स्वार्थसिद्धिका पथप्रदर्शन करता है। काम और अर्थकी अनुप्राणना दूसरोंके सुख और स्वाधीनताको पददलित करके अपनी चरितार्थता और गौरव वृद्धि करनेकी शिक्षा एव उत्साह देती है; धर्मकी अनुप्राणना दूसरोंकी सेवामें आत्मोत्सर्ग करके, दूसरोंको सुख और स्वाधीनता प्रदान करके अपने जीवनको सार्थक्यमण्डित करनेकी शिक्षा और उद्दीपना प्रदान करती है। धर्मकी साधना उच्च-नीच, धनी-निर्धन, सबल दुर्बल, राजा-प्रजा आदि सबको समान भूमिपर ले आती है, सबके विरोध, भय, घृणा, दम्भ, आत्मनिर्भरताको दूर करके उनके बीच प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करती है।

धर्मको आदर्शके रूपमें ग्रहण कर चुकनेपर जीवन यज्ञमय हो जाता है। आपके पास जो कोई भोग्य वस्तु हो, जो कोई धन-सम्पत्ति हो, जो कोई प्रभाव-प्रतिपत्ति हो, जो कुछ विद्या-बुद्धि हो, उसीको सर्वयज्ञेश्वर भगवान्‌की सेवाबुद्धिसे 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय' उत्सर्ग कर दें एव उस यज्ञावशिष्ट प्रसादके द्वारा अपना पोषण करें। दानके भीतरसे ही यथार्थ स्थायी आय प्रकट होती है। जो देंगे, विश्वके भडारसे उसकी अपेक्षा बहुत अधिक पायेंगे; जो पायेंगे, उसका भी इसी आदर्शके अनुसार आहुति-प्रदान कर दीजिये। उसके फलस्वरूप और भी अधिक पायेंगे। आप अपनी प्राप्त सम्पत्तिको विश्वकी सेवामें समर्पण कर दें, विश्व अपने अक्षुण्ण भडारसे आपका सारा अभाव पूर्ण कर

देगा । यही यज्ञका रहस्य है, यही धर्मनीति है । विश्वविधानके भीतर यह यज्ञनीति और धर्मनीति अन्तर्निहित हैं । यज्ञद्वारा—समष्टिके कल्याणमें व्यष्टिके आत्मोत्सर्गद्वारा और व्यष्टिके पोषणमें समष्टिके शक्ति-नियोगके द्वारा—त्यागके भीतरसे भोगकी व्यवस्थाके द्वारा और विश्वके सभी विभागोंमें सबकी सप्रेम सहयोगिताके द्वारा—यह जगत् विधृत है, इस जगत्की शृङ्खला और सामञ्जस्य सुरक्षित है, जगत्का क्रमशः अभ्युदय होता है । यज्ञके लिये ही अर्थका उपार्जन, उत्कृष्टतर यज्ञके सम्पादनमें अविकार-प्राप्तिके लिये ही शक्ति और सम्पत्तिका वृद्धिसाधन, यज्ञनीतिकी विरोधिनी कामपिपासा तथा अर्थपिपासाका प्रशमन—ये ही मानव-जीवनमें कर्म और भोगके उत्कृष्ट आदर्श हैं ।

धर्मसाधनाको जीवनमें सुप्रतिष्ठित करनेके लिये तदनुकूल कतिपय विशेष अनुष्ठान—देहेन्द्रिय-मनके संयम विधायक कतिपय नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका सुनियन्त्रित सम्पादन—आवश्यक होता है । मन, बुद्धि और हृदयका काम तथा अर्थके दृष्टिकेन्द्रसे उद्धार करके उन्हें धर्मके दृष्टिकेन्द्रमें निष्ठायुक्त करनेके लिये तदनुकूल कतिपय मतों एवं विश्वासोंका अवलम्बन, हमारी साधारण अभिज्ञताके अतीत कतिपय तत्त्वोंमें आस्थावान् होना, कतिपय अतीन्द्रिय व्यापार एवं प्रत्यक्षानुमानके अगोचर नैतिक और आध्यात्मिक नियमोंकी सत्यता स्वीकार कर लेना आवश्यक होता है । अलोकसामान्य महापुरुष कहलानेवाले सम्मानित व्यक्तियोंकी सूक्ष्मतर अनुभूति और व्यापकतर अभिज्ञता एवं 'शास्त्र' नामसे स्वीकृत ग्रन्थसमूहके निर्देशोंके ऊपर निर्भर करके अकुण्ठित चित्तके द्वारा इन सब तत्त्व, नियम, शृङ्खला, आधिदैविक व्यापार आदिको मान लेना पड़ता है एवं विचारशक्ति, इच्छाशक्ति और अनुभवशक्तिको तदनुवर्ती बनाकर जीवनपथपर अग्रसर होना पड़ता है । विभिन्न देशोंमें, विभिन्न कालोंमें, मानव-समाजके विभिन्न अंशोंमें विशेष-विशेष महापुरुषों और शास्त्रोंके अभ्युदयमें इन सब विश्वासोंकी विचित्रता न अस्वाभाविक ही है और न अशोभन ही । हिंदूसमाजके भीतर भी इस प्रकारके अनेकों मतों और विश्वासोंका प्रवर्तन हुआ है तथा मानव-समाजके दूसरे अंशोंमें भी हुआ है, किंतु मतवाद, धर्मविश्वास और अनुष्ठान-पद्धतिके विशेष आकार और प्रकारके ऊपर धर्मकी यथार्थ साधना निर्भर नहीं करती । किसी विशिष्ट मत और विश्वासकी प्रत्येक तात्त्विक या पारमार्थिक सत्यतापर धर्म साधनाका मूल्य और सिद्धि निर्भर नहीं करती ।

जो धर्ममत और अनुष्ठानपद्धति तदनुवर्ती साधकोंके मन, बुद्धि एवं हृदयको काम तथा अर्थके आदर्शकी अपेक्षा उन्नततर, बलवत्तर आध्यात्मिक आदर्शकी भूमिपर प्रतिष्ठित करते हैं, उनकी भोगप्रवणता प्रशमित करके त्यागप्रवणता और सेवाप्रवणताकी वृद्धि करते हैं, उनके स्वभावगत हिंसा, द्वेष, घृणा, भय, संकीर्णता आदि मनुष्यत्व-संकोचक दोषोंका नाश करके सभी मनुष्योंके प्रति और सब जीवोंके प्रति अकृत्रिम प्रेमका विकास सम्पादन करते हैं, मानवसमाजमें साम्य, मनोप, सहयोगिता, समप्राणता और समुदारताके संस्थापनमें सहायक होते हैं, दुःख, दैन्य, बन्धन, भीति आदिके कारणोंका निराकरण करके सबको निराविल आनन्द, स्थायी ऐश्वर्य, परममुक्ति, निर्द्वन्द्व जीवनधाराकी ओर अग्रसर करते हैं; उन धर्ममत और अनुष्ठानपद्धतियोंका बाहरी आकार-प्रकार और दार्शनिक भित्ति, उसके भीतर युक्ति-तर्ककी दृढता या भावका उच्छ्वास अथवा क्रियाकाण्डका बाहुल्य चाहे जैसे भी हो, वे ही धर्मसाधनामें सहायक होंगे, मानव-जीवनकी सार्थकता-सम्पादनके अनुकूल होंगे । इस प्रकारके धर्ममत और अनुष्ठान-पद्धतियाँ अनेक हो सकती हैं एवं उन्हींका अवलम्बन करके मानवसमाजमें अनेक सम्प्रदायोंका प्रवर्तन हो सकता है, परंतु उनमें धर्मसाधनाका विरोध न होगा, प्रत्येक धर्मसाधनाका एक एक विशिष्ट पथ होगा । परंतु इन मतावलम्बियों और आनुष्ठानिकोंके बीच यदि विरोध, विद्वेष, घृणा आदि देखे जाते हैं, तब तो धर्मकी ग्लानि ही समझनी चाहिये । मत और अनुष्ठानकी कट्टरता तो धर्मसाधनाकी विरोधिनी है, मत और अनुष्ठान धर्मके ही स्थानको अधिकृत करके धर्मके आदर्शको ही प्रपीड़ित करते हैं । जितने मत और अनुष्ठान मानवसमाजमें हिंसा-घृणा-विद्वेष-विरोध आदिको प्रश्रय देते हैं, मनुष्य-मनुष्यमें भेदबुद्धि बढ़ा देते हैं, असत्य-कपटता-निष्ठुरता- संकीर्णता आदि मनुष्यत्व संकोचक चित्तवृत्तियोंको धर्मके नामपर साधकके चित्तक्षेत्र पर अधिकार करनेमें सुविधा प्रदान करते हैं, समझना होगा कि वे सब धर्ममत और धर्मानुष्ठान नहीं हैं, वे धर्मके नामसे प्रचारित होनेपर भी वस्तुतः अधर्म हैं, मनुष्यके समुचित पूर्णत्व-साधनके और मनुष्यको दुःख-ज्वालामें मुक्ति-प्रदानके अनुकूल नहीं हैं ।

धर्मके द्वारा कामसाधना और अर्थसाधनाको सुसयत करना होगा। धर्मका अनुष्ठान यदि काम और अर्थकी सेवामें नियोजित हो, विशेष-विशेष कामनाओंकी पूर्ति और शतैश्वर्य-लाभके उपायरूपमें यदि धर्माङ्गीभूत क्रियाकाण्ड तथा उपासना आदिका अवलम्बन किया जाता है, तब तो धर्मको जीवनका आदर्श न बनाकर काम-अर्थको ही आदर्शरूपमें स्वीकार किया गया, धर्मको काम और अर्थकी दासतामें प्रतिष्ठित किया गया। इससे धर्मकी अवज्ञा होती है। धर्मको तो काम और अर्थका नियामक होना चाहिये, दास नहीं, मानव-जीवनमें यही धर्मका अधिकार है। विश्वविधानके अन्तर्निहित यथोचित आदर्शके अनुसार श्रेयोबुद्धिकी प्रेरणासे मानव-जीवन परिचालित हो, काम और अर्थ प्रयोजनानुसार इस धर्मजीवनकी सेवामें नियुक्त हों—इस प्रकार जीवनके नियन्त्रित होनेसे ही धर्म, अर्थ और कामका समन्वय होता है। किंतु इस धर्मादर्शनियन्त्रित मानव-जीवनकी चरम सार्थकता क्या है ? यह जीवनधारा किस गन्तव्य धाममें पहुँचकर चिरशान्तिमय विश्राम प्राप्त करती है ? काम-अर्थरूप प्रेयको श्रेयके आदर्शद्वारा नियन्त्रित करके और श्रेयकी सेवामें नियोजित करके मानव-जीवनकी जो साधना चलती है, उसका पर्यवसान कहाँ होता है ? क्या ऐसा भी कोई चरम श्रेय है, जिसे प्राप्त कर लेनेसे और कुछ प्राप्त करनेका प्रयोजन-बोध नहीं रह जाता, जहाँ पहुँचनेपर चलनेका विराम हो जाता है, संसारके ससरणकारी प्रभाव जहाँ निवृत्त हो जाते हैं, जहाँपर श्रेय और प्रेयका चिरमिलन सिद्ध हो जाता है और जहाँपर परम कल्याण तथा परम आनन्द अभिन्नरूपसे अनुभूत होते हैं ? तब इस निःश्रेयसका आदर्श ही मानवकी विचार-दृष्टिके सम्मुख समुदित होता है। उसकी अपेक्षा श्रेयस्तर किसी दूसरी वस्तुकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी कारण उसे 'निःश्रेयस' कहा जाता है। काम, अर्थ और धर्म—इस त्रिवर्गको अतिक्रम करके यह चरम आदर्श मानवात्माका आकर्षण करता है, इसीलिये इसे 'अपवर्ग'की संज्ञा दी गयी है। सब प्रकारकी दुःखज्वाला, बन्धन, भय, आवागमन, पराधीनता और ससीमतासे मुक्ति प्राप्त करनेका यह महान् आदर्श है, इसीलिये इसका एक नाम 'मोक्ष' भी है। किंतु इस चरम आदर्शका स्वरूप निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है।

मनुष्यकी अन्तरात्मा चिरकालसे ही इसी मोक्षकी आकाङ्क्षा करती है, भीतर-ही-भीतर इस मोक्षका अनुसंधान करती है। मोक्षकी आकाङ्क्षा वस्तुतः मानवात्मामें स्वभावसिद्ध है। सब प्रकारके अभाव और अपूर्णतासे मुक्त होकर वह परमपरिपूर्ण स्वभावमें प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। सब प्रकारकी ससीमता, परिच्छिन्नता और क्षुद्रतासे मुक्त होकर वह असीम, अनन्त भूमाके स्वरूपमें निश्चल स्थिति प्राप्त करना चाहता है, सब प्रकारकी सकीर्णता, मलिनता, दुर्बलता एवं अशान्तिसे मुक्त होकर पवित्र, उदार, शक्तिसम्पन्न और परमानन्दमय स्वरूपमें आत्मसम्भोग करना चाहता है। किंतु उसकी बुद्धि अविकसित अवस्थामें मुक्तिके परिपूर्ण स्वरूपका निरूपण नहीं कर पाती, उसका मन परममुक्तिको वासनाके विषयभूत करनेमें समर्थ नहीं होता, उसकी कर्मशक्ति उस आदर्शका अनुवर्तन करनेका पथ खोज नहीं पाती। इसी कारण मानवसाधारणकी अविकसित और असमार्जित बुद्धि अन्तरात्माके मोक्षानन्दलाभकी प्रेरणाको इन्द्रियभोग्य शब्द स्पर्श-रूप-रसादिकी ओर, मनोभोग्य यश-मान-प्रभुत्वादिकी ओर, पारलौकिक भोग्य स्वर्गसुखादिकी ओर धावित करनेका प्रयास करती है; देह, मन और इन्द्रियसमूहको काम, अर्थ और पारत्रिक सुख प्रदान करनेवाले कर्मोंकी सेवामें नियोजित करके मुक्तिका आस्वादन करानेका प्रयत्न करती है। किंतु अन्तरात्मा इन सब परिच्छिन्न, अस्थायी, मलिन भोगों और कर्मोंके बीच अपनी पूर्णताका अनुभव नहीं करता, देहेन्द्रिय-मन, बुद्धिको भी स्थिर नहीं रहने देता। सुतरां इसके अन्तरमें अशान्तिकी ज्वाला जलती ही रहती है एवं भीतर-ही-भीतर जिज्ञासा उठती रहती है—'मोक्ष कहाँ है, उसका स्वरूप क्या है ?'

निष्कपट अनुसंधित्सु बुद्धिको अन्तमें प्रतिभात होता है कि जो चरम सत्य है, परम कल्याण और अनवद्य सुन्दर है, जो विश्वविधानके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें अपनी महिमामें नित्य प्रतिष्ठित रहता है, विश्वप्रपञ्च जिससे उद्भूत, जिसके द्वारा विधृत एवं जिसके ज्ञान, प्रेम और शक्तिद्वारा नियन्त्रित होता है, जिसकी सत्ताके अतिरिक्त और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, वही परमतत्त्व है, उसीके स्वरूपमें मोक्ष नित्य विराजमान रहता है, उसीके साथ ज्ञान, प्रेम और कर्ममें नित्ययुक्त हो सकनेसे ही मनुष्यको मोक्षानन्दका आस्वादन प्राप्त होता है। उसको जाननेसे ही और कुछ जानना शेष नहीं रहता। उसके साथ ऐकान्तिक मिलनका सम्भोग प्राप्त कर चुकनेपर और कुछ सम्भोग करना शेष

नहीं रह जाता। सुतरा इस अद्वय परमतत्त्वको जानना, उसको भीतर-बाहर—सभी जगह अनुभव करना, उसके सौन्दर्य, माधुर्य एव ऐश्वर्यका जीवनमें और जगत्मे आस्वादन करना, सब प्रकारसे तन्मय हो जाना—यही मानवजीवनका चरम आदर्श है। सम्पूर्ण कर्म, सकल ज्ञान, समस्त प्रेम और सारी शक्तिको इस आदर्शकी ओर एकाग्रताके साथ नियोजित करना ही जीवनकी साधना है। इस तत्त्वको तत्त्ववेत्ताओंने विविध नामोंसे अभिहित किया है और विचित्र भावोंमें आस्वादन करनेका प्रयास किया है। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नामोंसे उसीका निर्देश किया गया है; कृष्ण, विष्णु, शिव, काली, दुर्गा, राम, गॉड, अल्लाह आदि नामोंसे विविधपथावलम्बी उपासक उसकी उपासना करते हैं, विभिन्न धर्मशास्त्र विभिन्न नामों और विचित्र उपाधियोंसे भूषित करके उसीको विचित्रप्रकृतिविशिष्ट और विचित्रभावसम्पन्न तत्त्वान्वेषियोंकी बुद्धि तथा हृदयके समीप उपस्थापित करते हैं। तत्त्व वस्तुत एक, अद्वितीय, अनन्त, सच्चित् प्रेमानन्दस्वरूप है, किंतु मनुष्यके मन, बुद्धि, हृदयके निकट उसके नाम विचित्र हैं, उपाधियाँ विचित्र हैं। विभिन्न भावोंके सम्मुख उसका विभिन्न भावोंमें आत्मप्राकट्य होता है। किंतु चाहे जिस भावके अवलम्बनसे हो, समग्र जीवन—जीवनके सभी विभाग—तद्भावित होनेसे ही कृतार्थता होती है, मानवजीवन भागवत जीवनमें परिणत होनेसे ही सार्थक होता है। भगवान्को केन्द्र बनाकर भगवान्की सेवाबुद्धिसे, जीवनके सभी कर्मों, सभी भोगों, सभी ज्ञानों, सभी भावानुशीलनों और सभी धर्मानुष्ठानोंको सुनियन्त्रित करके सर्वत्र सभी विषयोंमें भगवान्के विचित्र आत्मप्रकाशके दर्शनका अभ्यास ही भागवत जीवनकी साधना है। इस भागवत जीवन-साधनाके भीतर ही काम, अर्थ और धर्मकी सार्थकता और समन्वय है।

'श्रीमद्भागवत'मे तीन श्लोकोंद्वारा मानवसमाजको इस सुमहान् आदर्शकी शिक्षा दी गयी है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृत.॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभि.॥
वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।९—११)

('सिद्धान्त'*के पुरुषार्थ-विशेषाङ्कसे)

प्रार्थना

जनम सब बीत्यौ अघ के काम।
फँस्यौ मोह-ममता मे निसिदिन, भज्यौ न चित दै राम॥
लोगनि कह्यौ 'भजौ नित हरि कौं' धर्यौ साधु कौ वेष।
मन मे रही कामिनी-कांचन की कामना विसेष॥
जैसें विष-पूरित घट-मुख मिथ्या पय सोभा पावै।
तैसेहि कुटिल-हृदय मम मुख पै सुचि हरिकथा सुहावै॥
पापी परम, अधम, अभिमानी, वंचक, मन कौ कारौ।
बिरद विचारि दयानिधि! अब मोहि निज चरननि मैं डारौ॥

* यह एक पाक्षिक पत्रिका है, जो गङ्गातरङ्ग, नगवा, काशीसे निकलती है। इसका एक शाखाकार्यालय मदनकुटीर, सुभाषमार्ग, लखनऊमें भी है। इसके लेख बड़े विद्वत्तापूर्ण होते हैं। अध्यात्म, उपासना तथा विद्यामें अभिरुचि रखनेवाले लोगोंके लिये पत्र बड़ा ही उपयोगी है। इस वर्ष ५०० पृष्ठोंके साथ लगभग ३०० पृष्ठोंका एक बहुमूल्य विशेषाङ्क भी निकला है। विशेषाङ्कसहित पत्रका वार्षिक मूल्य ५) मात्र है। —सम्पादक

घटनाओंसे आध्यात्मिक संकेत

(लेखक—पण्डित श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

साधकको छोटी-से-छोटी घटनाओंसे भी अपने कामकी—लाभकी शिक्षा सदा ग्रहण करते रहना चाहिये। ध्यान देनेपर उनके भीतरसे ऐसे आध्यात्मिक तथ्योंका संकेत मिलता है, जो नितान्त बहुमूल्य होते हैं तथा उन्हें अपने जीवनमें लाकर हम अपने-आपको सुधार सकते हैं। आवश्यकता है कि हम अपनी आँखें खुली रक्खें तथा जिज्ञासावृत्तिके द्वारको बंद न कर दें।

(१)

एक समयकी आप-बीती घटना है। कई सालोंकी बीती बात आज भी मेरी दृष्टिमें नितान्त स्पष्टतासे झलक रही है अपनी आध्यात्मिक महत्ताके साथ। काशीसे हम अपने जन्म-स्थानको जा रहे थे। रास्तेमें बलिया (पूर्वी उत्तरप्रदेश-के एक छोटे नगर) में कार्यवश उतरना पड़ा। वहाँसे शीघ्र जानेके लिये रेलगाड़ीका समय न था। केवल मोटरका ही आधार था। कई आदमियोंके साथ मैं उसमें बैठा। मोटर मजेमें जा रही थी, परंतु सायंकाल होते ही उसमें एक विचित्र दोष उत्पन्न हो गया। उसमें बिजलीकी दो बत्तियाँ थीं। एकसे बाहर प्रकाश होता था और दूसरीसे भीतरकी ओर। दोनों साथ-साथ जलती थीं, परंतु अचानक उनमें एक विचित्रता पैदा हो गयी। दोनों ओर एक साथ रोशनी होना बंद हो गया।

यदि रोशनी बाहर होती थी तो भीतर एकदम अन्धकार। और यदि भीतर रोशनी होती तो बाहर इतना घना अन्धकार कि हाथ-पर-हाथ न सूझे। मनमें उसी समय इस आध्यात्मिक तत्त्वकी सत्यता भासने लगी कि श्रेय और प्रेयका भेद वास्तविक है। यदि प्रेयमें अपना जीवन खपा रहे हैं, जगत्‌की वस्तुओंमें फँसकर उन्हींमें अपना सर्वस्व लगा रहे हैं, तो श्रेय सचमुच बड़ा दूर है। यदि श्रेयमार्गमें लगे हुए हैं, तो प्रेयको कौन पूछे। समय कहाँ ? उसमें मन ही कैसे लग सकता है ? यदि इस जगत्‌में जगा है, तो उधर वह बिल्कुल सोया ही है और यदि उधर जगा है तो इस जगत्‌के लिये सोया है। यदि बाहर प्रकाश है तो भीतर अन्धकार रहेगा ही और यदि भीतरमें प्रकाश जगमगा रहा है—ज्ञानचन्द्रकी किरणोंसे अज्ञान-तमके दूर होनेपर हृदय प्रकाशमान हो गया है, तो बाहर घना अन्धकार है—संसारके विषयमें प्रगाढ अवहेलना है, नितान्त तिरस्कार-बुद्धि है। इसलिये दोनों स्थानोंमें प्रकाश एक साथ होना नितान्त दुष्कर है। मोटरकी रोशनीकी तरह कभी प्रकाश होता है बाहर और कभी प्रकाश होता है भीतर।

जो लोग आध्यात्मिकताके प्रेमी हैं और अपनेमें भीतरी प्रकाशके दर्शन करनेका यत्न करते हैं, उन्हें बाहरकी ओरसे मुख मोड़ना ही पड़ेगा। संसारके विषयोंमें फँसा रहे, इस जगत्‌के आपातरमणीय विषपरिणामी विषयों की माधुरीका आस्वाद भी लेता रहे और साथ-साथ परमार्थके पथपर आरूढ रहे—यह होना नितान्त दुष्कर कार्य है। होगा एक ही—चाहे इस ओर रहो, चाहे उस ओर। इस नावपर चढ़ो, चाहे उस नावपर चढ़ो; पर यदि दोनों नावोंपर एक साथ पैर रखना चाहते हो तो यह गलती करते हो। बीचमें ही जानसे हाथ धोना पड़ेगा। दोनों नावोंका उद्देश्य एक ही नहीं है। एक तीरघाट जाती है तो दूसरी मीरघाट। इसलिये अपना उद्देश्य निश्चित कर लो। तुम्हें इसी संसारके तीरपर रहना है या उस मीरमुन्शी—भगवान्‌के घाटपर लगना है। यदि मीरघाट जाना है तो मेरे भैया! उसी नैयाका सहारा लो, जिससे दैया-दैया करते प्राण खोना न पड़े और झटसे अपने लक्ष्यपर पहुँच जाओ। संसारमें रहते समय काम तो करना ही पड़ेगा, पर उसमें आसक्ति मत रक्खो। ध्यान रक्खो दूसरी ओर। तभी कल्याण होगा, तभी मङ्गल होगा, तभी आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त होगी; अन्यथा नहीं।

(२)

एक दूसरी घटना घर जानेकी है। काशीसे घर जानेके लिये परिवारके लोग अनेक दिनोंसे तैयारियाँ कर रहे थे। छोटी-मोटी चीजें खरीदी जा रही थीं। बड़ा हो-हल्ला था—ऐसे जायँगे, वैसे जायँगे। आखिर वह निर्दिष्ट समय आ गया और सब लोग छड़ बाँधकर एक साथ चले गये। मैं अकेला ही काशीवाले निवासमें रह गया। अकस्मात् चित्तमें एक विचित्र दशा हो गयी। तुलना करने लगा इस घर जानेकी क्रियासे उस घर जानेकी क्रियाको। आखिर दोनों ही तो घर

ही हैं। वही मूल आवास है—प्राप्य स्थान है; जहाँ जीव आरामसे अपने विशुद्ध रूपमें निवास करता है। यक्षकी वही अलका है, जहाँ वह अपनी प्रियतमाके साथ रास रङ्गमें लीन रहकर आनन्दसे जीवन बिताता है। वह धर्म तथा काममें पूर्ण सामरस्यका उपासक बनकर अपने सुखमय दिनोंको बिताता है, परंतु उससे हो जाती है एक बड़ी च्युति, एक घोर अपराध। वह अपने ही 'काम' की आसक्तिके कारण 'धर्म' की अवहेलना कर बैठता है। 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' के आदर्शको भूलकर वह धर्मविरोधी कामका किंकर बन जाता है। फल भी उसके लिये बड़ा ही दुःखद तथा हानिकारक होता है।

अलकासे यक्षका इसीसे तो निष्कासन हुआ। जीवकी यह स्वर्गसे च्युति है तथा उस दिव्यलोकसे इस मर्त्यलोकमें उसका पतन होता है। वह जनमता इस लोकमें अवश्य है, परंतु नाना क्लेश-परम्पराओंसे घिरे रहनेपर भी उसके अन्तस्तलमें उस परमधाम, अमृतलोक, आनन्द-रसासिक्त गेहकी स्मृति सदा बनी ही रहती है और किसी योग्य गुरुकी अनुकम्पासे उसकी चाह चित्तमें जाग उठती है। जीव उसे पानेके लिये बेचैन हो उठता है। उसकी दशा उस कस्तूरी-मृगकी-सी होती है, जो अपनी ही कस्तूरीके गन्धसे पागल होकर उसे बाहर खोजता फिरता है, वह गरीब जानता नहीं कि उस दिव्य गन्धमयी कस्तूरीका निवास तो स्वयं उसकी नाभिमें ही है। विषयान्ध जीवकी भी ऐसी ही दशा होती है। परमानन्दका झरना उसके ही अन्तस्तलमें है परंतु वह पागल जीव उसे ढूँढ़ता इधर-उधर भटकता फिरता है। जो कुछ भी हो, उसे इस घरमें ही स्थायीरूपसे रहनेके विचारको छोड़ना पड़ेगा। वह अव्यक्तसे व्यक्तमें आया है और इस व्यक्तसे फिर उसे अव्यक्तमें ही समा जाना है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

याद रक्खो, घर जानेकी तैयारी एक दिनमें नहीं होती। कितने दिनोंमें छोटे-मोटे सामान जुटाये जाते हैं। कभी कोई चीज आती है और कभी कोई। दूसरे दिन फिर दूसरी चीज जुटायी जाती है। सारांश यह कि कितने दिनोंके प्रयत्नसे इतना सामान एकत्र हो पाता है कि हम घर जायँ। पर क्या हम कभी विचार करते हैं—दिलमें एक क्षणके लिये भी इस विचारको स्थान देते हैं कि हमें उस घरमें जाना है, जो परमपिताके तेजःपुञ्जसे पवित्रित है और जहाँ पहुँचनेपर मनुष्य तापत्रयसे मुक्त हो जाता है। घर जानेके लिये भला, हम कभी तैयारी भी करते हैं? जब घर जानेका ध्यान आता है, तब तैयारी की जाती है। पर यहाँ तो आपातरमणीय विषयोंमें मन इतना फँसा रहता है कि इसे छोड़कर जानेकी बात भी मनमें नहीं आती। यदि आती भी है तो हमारी तैयारी भी क्या उसके समुचित है? अरे असारको सार समझनेवाला मन! अब चेत जा, इस घरको जानेके लिये तो इतनी उतावली है तुझे और जानेके लिये इतनी तैयारी करता है तू? पर उस घरकी कभी चिन्ता करता है और उसके लिये उचित तैयारी भी करता है? नहीं, कभी नहीं। जिस काममें लगे हो, करते जाओ। जिस व्यापारमें व्यस्त हो, उसे निभाते जाओ। पर याद रक्खो। यह तो नाटकका तमाशा है, इसका सूत्र तो उस सूत्रधारके हाथमें है। उसकी मर्जीसे हम नाटकमें भूमिका—जन्म ग्रहण किये हुए हैं। हमारा काम यही है कि बस, भूमिका मात्रको निभाते चलें। यदि हम इसमें अनुरक्त होकर इसीमें रमने लगेंगे तो वह सूत्रधार मारकर हमें इस रङ्गस्थलसे निकाल देगा, क्योंकि हम खेलनेके अयोग्य साबित हो गये हैं। अतः इसमें नाटकके पार्टकी तरह व्यवहार करो। जानलो, यह वास्तव नहीं है। हमलोग तो केवल खेल कर रहे हैं उसे रिझानेको। उसकी लीलासे यह संसार है और उसे प्रसन्न करना अपना काम है। इस मायिक नाटकको सच्चा समझकर व्यवहार मत करना।

घर जानेकी तैयारी करो। किस घरकी? इस नश्वर घरकी नहीं, उस अनश्वर घरकी, जहाँ जानेसे फिर आना नहीं होता इस विषमय संसारमें—'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम (गीता)। सदा जानेके लिये प्रस्तुत बने रहो। प्रतिदिन तैयार बैठे रहो। अपनेसे सबका कर्जा चुकता कर लो और निश्चिन्त बन जाओ। भगवन्नामके स्मरणका तो नियम कर लो।

जानेके समय कितना हो-हल्ला मचता है, जानेपर शान्ति हो जाती है। मरनेके समय भी ऐसी ही उतावली होती है और उसके बाद शान्ति। वियोगका काल विषम होता है, पर वियुक्त हो जानेपर? ममतामय देहका सम्बन्ध छोड़ते हुए जीवको बड़ा दुःख होता है। जब छूट जाता है, तब शान्ति मिलती है। क्या इसकी सूचना इस गृह-गमनके व्यापारसे नहीं मिलती? उस लीलामय भगवान्की जय!

विश्व-मोहिनी

[पुराण-कथा]

(लेखक—श्रीकरसनदास माणेक, अनु०—श्रीशान्ति ऑंकड़ियाकर)

वीणापाणि देवर्षिका मस्तक आज अहङ्कारसे टूटता जा रहा था। 'जिस कामदेवका सारे विश्वमें साम्राज्य है, उसी कामदेवको मैंने पराजित किया है'—इस गर्वसे वे फूले नहीं समाते थे। नारायणका नाम लेनेवाली उनकी जिह्वा आज 'नारायण' नामका विस्मरण करके 'मैं' 'मैं'का अमङ्गल नामोच्चार कर रही थी।

'मैं और शङ्कर—शङ्कर और मैं!' वे सोचते थे—'विश्वमें कामदेवको जीतनेवाले केवल दो ही पुरुष! एक कैलासनिवासी महादेव और दूसरा मैं मैं! मैं नारद, नैष्ठिक ब्रह्मचारी!'

'अरे, आप तो महादेवसे भी श्रेष्ठ हैं!' भानभूला उनका मन पुकार उठा। नारदका 'अहं' और बढ़ा।

'यह कैसे!' नारदकी अन्तरात्मा मनसे पूछती थी।

'क्यों कैसे!' मन जवाब दे रहा था। 'महादेव कामदेवको पराजित करके भी आखिर तो उसके वश हो गये, क्योंकि हिमालयकी पुत्री उमाके साथ आखिर तो उन्होंने विवाह किया ही न! और आप तो रहे नैष्ठिक ब्रह्मचारी!'

'हाँ, बात तो सत्य है!' और महागर्वके एक हुकारके साथ नारद कैलासकी ओर चल पड़े। शंकरजी भी भले क्षणभर देख लें जगत्के इस एकाकी नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी सूरत। जगत्के एकाकी कामविजेताके भले शंकर भी दर्शन कर लें आज।

[२]

हिमालयके शृङ्ग वीणापाणिकी वीणाके झङ्कारसे आन्दोलित हो उठे। पर आज इस झङ्कारसे 'नारायण' शब्दकी आकृति खड़ी नहीं होती थी, परंतु 'मैं' शब्दकी आकृति स्पष्ट हो रही थी।

'महाराज!' किसी अपरिचित स्त्रीकी आवाज दूरसे आकर उनके कानोंपर पड़ी।

नारदने पीछे देखा तो उनके हाथोंसे वीणा नीचे गिर जानेकी तैयारी करने लगी।

'इतनी सुन्दर लड़की ब्रह्माने कब उत्पन्न की होगी! बूढ़ा भी बड़ा रसिक मालूम पड़ता है' उन्होंने सोचा।

पर मुझे क्या! नैष्ठिक ब्रह्मचारीको जगत्की किसी भी रूपसी छोकड़ीसे क्या प्रयोजन?

नारदजीने अपनी गतिको जरा और तेज कर दिया।

'महाराज!' कानोंपर फिरसे अमृतकी धारा-सी आवाज टकरायी। नारदजीके पाँव जरा धीमे पड़ गये। उन्होंने कुपित होकर पूछा—

'क्या काम है तेरा मुझसे?'

'मेरा!' उस सुन्दरी कुमारीने अब बिल्कुल समीप आकर कहा—'मेरा आपसे सभी काम है, महाराज!'

और महाराजके सिरमें चक्कर आने लगे ··· सिरके साथ-साथ आँखें भी घूमने लगीं! पर यह क्या जादू? उस पुतलीका चेहरा सदा सम्मुख ही रहता है! कितना सुन्दर है वह चेहरा!

वसन्तकी उषाके आश्रय-स्थानके समान ओष्ठद्वय! साक्षात् कामदेवके हास्यसे निर्मित हुई हो, ऐसी दन्तपंक्ति!

पर नारदजीकी आँखें तो कुमारीकी आँखोंमें ही छिप गयी थीं। और अङ्ग देखनेकी उन्हें फुरसत ही कहाँ थी! कितनी सुन्दर थीं ये आँखें! सुन्दर ·· 'मोहक' 'मारक' ··· ·· दाहक ··शामक ·· उद्दीपक।

नारदजीका सारा अस्तित्व अब उन दो आँखोंसे बहती हुई किरणोंका हार-गुम्फन कर रहा था।

'महाराज!' लड़कीने तीसरी बार सम्बोधन किया और नारदजीकी आँखें खुल गयीं।

'महाराज' ·· महाराज करती है, पर है क्या—यह तो कहती नहीं है!'

'आप कितनी सुन्दर वीणा बजाते हैं, महाराज!'

नारदजीके शरीरके पञ्चमहाभूत एक-एक कदम नीचे उतर गये!

पृथ्वी जलमें, जल वायुमें, वायु तेजमें और तेज आकाशमें परिवर्तित होने लगा।

'इससे क्या प्रयोजन है तुझे?'

'कुछ नहीं!' नारदजीके प्रश्नके उत्तरमें कुमारी बोली

और खिलखिलाकर हँसने लगी । हँसकर बोली—'इतनी सरस वीणा बजानेवाले इधरसे निकलें और मैं उन्हें धन्यवाद दिये बिना जाने दूँ, यह कैसे हो सकता है । और इसीलिये ही मैंने आपको कष्ट दिया । अच्छा, अब जय······जय !' यह कहकर कुमारी चलने लगी ।

'पर खड़ी तो रहो जरा !' बिजलीकी गतिसे आगे बढती हुई कुमारीके पीछे-पीछे दौड़ते हुए वीणापाणिने कहा ।

'क्या कुछ काम है मुझसे ?' जरा रुककर कुमारी बोली ।

'काम कुछ नहीं है, पर अपना नाम तो बताती जाओ।' नैष्ठिक ब्रह्मचारीने कुमारीको यथासाध्य अधिक समय अपने सम्मुख खड़ी रखनेके लिये व्यर्थके प्रश्न करने आरम्भ कर दिये ।

'नाम ! नाम विश्वमोहिनी !'

'विश्वमोहिनी ! सर्वथा अनुरूप नाम है । और पिताका नाम ?'

'और पिताका नाम ?'

'विराटसेन !'

'और माताका ?'

'मायादेवी !'

'कहाँ रहती हो ?'

'सामनेके विराट नगरमें । मेरे पिताजी वहाँके राजा हैं ।'

'विवाहिता हो या कुमारी ?'

कुमारी लज्जित हो गयी ।

'पुरुष कितने निर्लज्ज होते हैं !' पैरकी अङ्गुलिके द्वारा जमीनपर रेखा खींचती हुई कुमारी बोली और फिर 'नमस्ते' कहती हुई नगरकी ओर तेज चालसे चलने लगी ।

'अरे अरे अरे ! खड़ी तो रहो जरा !' नैष्ठिक ब्रह्मचारी उसके पीछे दौड़ते हुए बोले—'मेरे प्रश्नका उत्तर तो देती जाओ !'

'उत्तर चाहिये, तो आइये स्वयवरमें ! कल प्रातःकाल !'

और वीणापाणिपर स्मितकी एक महासहारक बिजली फेंककर वह हिमालयके शृङ्गोंके पीछे अदृश्य हो गयी । उस बिजलीके धक्केसे बेहाल मुनि क्षणभर तो वहीं खड़े रहे··· जडवत् !

और फिर जमीनपर चिपके हुए अपने चरणोंको बड़े प्रयत्नसे उठाकर 'विश्वमोहिनी', 'विश्वमोहिनी'का जाप जपते और इस सारे दृश्यको देखकर मूक बनी हुई अपनी वीणापर हाथ फेरते चल पड़े सीधे भगवान् विष्णुके पास ! ·

नारदजीको देखते ही भगवान्ने खड़े होकर उनको हृदयसे लगा लिया ।

'अकस्मात् इस ओर कैसे ? मुझपर बड़ी कृपा की आपने, महाराज !' मुनिसे अलग होते हुए भगवान्ने अपना प्रेम प्रदर्शित किया ।

वैकुण्ठका दिव्य नारी नारदजी और भगवान् विष्णुका यह प्रेम-मिलन कुछ आश्चर्य और कुछ ईर्ष्यासे देखने लगा ।

'आज्ञा कीजिये, प्रभो !' नारदजीको अपने पास बैठाकर भगवान्ने पूछा ।

'एक काम है, महाराजपर···।'

नारी-वृन्दकी ओर सकोचभरी एक दृष्टि डालकर नारदजी शान्त हो गये ।

'यों बैठी क्यों हैं, आप सब ?' भक्तके हृदयका भाव समझकर और लक्ष्मीजीके सामने एक सूचक नेत्रपल्लवी करके भगवान्ने कहा—'विश्वके सबसे प्रथम ब्रह्मर्षि और अनन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी हमारे ऑगनमें पधारे हैं । उनके स्वागतकी कुछ तैयारी तो कीजिये !'

एक-एक करके सब देवियॉ मुनिको प्रणाम करके बाहर चली गयीं ।

'बोलिये, प्रभो !'

'मैं एक वरदान लेनेके लिये आया हूँ, देव !' नारदजीने बातका सिलसिला आरम्भ किया ।

'जो स्वय वरदान-मूर्ति हैं, महाराज ! उन्हें मेरे पास वरदान मॉगनेकी क्या आवश्यकता है ?' भगवान्ने भक्तकी महत्ता बढाना आरम्भ किया ।

'यों बातको उड़ा मत दीजिये, देव ! आज तो मैं निश्चय करके ही आया हूँ—मुझे वरदानकी आवश्यकता है । मुझे अपनी-जैसी ही मुखकान्ति प्रदान कीजिये, प्रभो ! दीजिये शीघ्र प्रभो ! शीघ्र, दीजिये !'

भगवान् विचारमें पड़ गये—'मुनिको आज क्या हो गया है कि मेरी-जैसी मुखकान्ति मॉगते हैं ? क्यों मॉगते हैं ?' फिर बोले—'आपकी मुखकान्ति मेरी अपेक्षा जरा भी न्यून तेजस्वी नहीं है, महाराज !'

'मैंने कह चुका कि प्रभो ! मेरे पास आज चुहल विनोदके लिये समय ही नहीं है । मैं ठेठ हिमालयसे आ रहा हूँ—इसी एक कामके लिये ! मैंने जो वर मॉगा है, प्रभो ! तुरत उसे प्रदान कीजिये और मैं तुरत यहॉसे चलता बनूँ ··· कल प्रातःकालसे पहले तो मुझे हिमालय फिर पहुँच जाना ही चाहिये ।'

'पर है क्या ?'

'है' जो भी हो !'

'बात गोपनीय हो तो मुझे कुछ भी पूछना नहीं है, मुनिवर ! पर मुझे लगा कि आप ठहरे मेरे सुहृद् ''इससे यदि कोई नयी समस्या खड़ी हुई हो तो आपको मेरा अनुभव कुछ मार्ग दिखा सके !'

नारदजी जरा पिघले ।

विश्वमोहिनीके साथ विवाह करनेकी उनकी लालसा इतनी प्रबल थी कि 'प्रभु वरदानके अतिरिक्त और भी कोई कीमिया शायद दिखा दें तो अच्छा' यह सोचकर उन्होंने प्रभुको सारी बातोंसे परिचित कर दिया ।

'अच्छा' ' ' ऐसी बात' ! नारदजीकी बात पूरी-पूरी सुन लेनेके बाद विष्णु बोले—'तब तो यह विश्वमोहिनी आप-से ब्रह्मचारीको भी ,'

मुझ-से ब्रह्मचारीको और आप-से संसारीको—सबको वह कुमारी पसंद आ सकती है, प्रभो ! मुझे उसके साथ विवाह करना है, स्वयंवरमें ही विवाह करना है । और इसीलिये तो आपकी मुखकान्ति माँगने आया हूँ, ठेठ हिमालयसे वैकुण्ठतक ! ' '

भगवान्‌ने लंबी साँस ली ।

'मुझे समझानेका प्रयत्न करना चाहते हैं तो यह निरर्थक कालक्षेप है, प्रभो ! मैं उपदेश लेने नहीं आया हूँ, आपकी मुखमुद्रा लेने आया हूँ, भगवन् !

नारदजीकी अधीरता चरम सीमापर पहुँच गयी थी । भगवान् पलभर चुप रहे ।

'मुझे क्या उत्तर देते हैं, देव ?' मुनिका 'काम' अब 'क्रोध'में परिवर्तित होता जा रहा था ।

'आपके सदृश आत्मीयको न देने योग्य मेरे पास क्या वस्तु है, मुनि ? पर' ' 'पर' ' '

'पर ? मुझे उड़ाना चाहते हैं, सदाकी प्रकृतिके अनुसार ? याद रखिये, विष्णुजी, कि जगत्‌के किसी भी देवको शाप देनेकी शक्ति नारदके पास सुरक्षित है ।'

नारदका 'क्रोध' अब 'सम्मोह'का रूप धारण करता जा रहा था ।

'आपके शापसे डरकर नहीं, प्रभो ! पर आपके स्नेहसे विनम्र होकर मैं, आप जो माँगेंगे, प्रदान करूँगा ।'

'तब तो दे दीजिये मुखकान्ति अपनी !' उठते हुए नारदजीने जोरसे कहा ।

'जाइये, वरदान है मेरा मुनिवर !' नारदके साथ-साथ उठते हुए विष्णुने कहा—'जिससे आपका सच्चा कल्याण हो, वही वस्तु मेरी ओरसे आपको प्राप्त हो !'

'पर मेरा सच्चा कल्याण, आप मुझे अपनी मुखकान्ति प्रदान करें इसीमें है ।' 'सम्मोहसे' स्मृतिभ्रंशकी ओर जाते हुए मुनि बोले ।

'यदि वास्तवमें ऐसा हो तो, वही मिले ।' 'बस ! तथास्तु' !

और भगवान्‌को अन्तिम प्रणाम किये बिना ही नारदजी वहाँसे चल दिये ।

विश्वमोहिनीके स्वयंवरमें नारदजीने ज्यों ही प्रवेश किया, त्यों ही वहाँ एकत्रित सहस्रों मानवोंकी सहस्र-सहस्र आँखें उनके मुँहपर स्थिर हो गयीं ।

नारदमुनि तो हर्षित होकर गर्वसे खड़े रहे । उन्होंने सोचा—'अब तो विश्वमोहिनी फूलमाला लेकर आये, इतनी ही देर है । वरमाला मेरे गलेको ही सुशोभित करेगी ! इन सैकड़ों राजाओंमें मेरे-जैसा रूपवान् और कौन है ? और हो भी कहाँसे ?' मूँछोंपर ताव देते हुए नारदजीने अपनी देहसे कहा—'सब विष्णुकी मुखकान्ति थोड़े ही ला सकते हैं !' यह सोचकर अभिमानने कुछ खार खाया और स्वयंवरमें एकाएक शान्ति छा गयी । फूलमालासे अलग होकर कोई फूल नीचे गिर पड़े और उसकी भी आवाज सुनी जा सके, ऐसी शान्ति !

किसी अगोचर पकड़में आ गये हों, इस प्रकार सारी सभाके मस्तक, एक ही दिशामें स्थिर हो गये ! हजारों आँखोंकी दृष्टिके प्रवाह सम्मिलित होकर एक महाप्रवाहमें एक ही दिशामें बहने लगे ।

सखियोंसे घिरी हुई विश्वमोहिनी स्वयंवरमें आ रही थी । हाथमें वरमाला, चेहरेपर खुमारी और आँखोंमें सारे ब्रह्माण्डको विवश करनेवाला चमत्कार ! उसके सौन्दर्यकी प्रशस्ति करते हुए रक्षक आगे-आगे चल रहे थे ।

सबके हृदयोंको अपने कुंकुम वर्ण चरणोंके नीचे दबाती वह आगे बढ़ रही थी । जहाँ वह रुक जाती थी, वहीं सबके हृदय भी स्थिर हो जाते थे और जब वह वहाँसे फिर गतिमान् होती तो बँधे पड़े हृदय, जैसे, फिरसे चालू हो जाते थे—प्रथमसे भी अधिक तीव्र गतिसे !

वीणापाणिके हृदयकी स्थिति तो इन सबसे भी कुछ विलक्षण ही थी ! वे तो मनमें विश्वमोहिनीके साथ मँगनी कर चुके थे । विश्वमोहिनीकी वरमाला वे, मन-ही-मन, पहन ही चुके थे । इससे ····

विश्वमोहिनी जब बीच-बीचमें रुकती, तब उन्हें असीम क्रोध हो उठता था—विश्वमोहिनीपर नहीं, किंतु आगे बैठे हुए राजाओंपर ! 'निकम्मे चल पड़े हैं सब'—उनके मनमें आता । 'जहाँ साक्षात् श्रीविष्णुकी मुखकान्ति लेकर ब्रह्मपुत्र वीणापाणि महामुनि नारद बैठे हों, वहाँ विश्वमोहिनी दूसरे राजाओंके गलेमें वरमाला डालनेका विचारतक कैसे कर सकती है ? स्वप्नमें भी नहीं मूर्ख ! गँवार ! अविवेकी !'

'अ · ह् ह् · ह् · !' ऊपरके विचार-ही-विचारमें नारदजी जोरोंसे हँस पड़े ।

'क्यों महाराज ! अकेले-अकेले हँस कैसे रहे हैं ?' बगलमें बैठे हुए शंकरके एक गणने धीरेसे उनसे पूछा ।

'हँसता हूँ इन मूर्खोंकी कुबुद्धिपर !···इनके मुँह तो देखो जरा ! विश्वमोहिनीको पाने निकले हैं, मूर्ख ! शीशेमें अपनी सूरत देखकर आये होते तो अच्छा होता !' समीप आती हुई विश्वमोहिनीके लावण्यसे प्रतिक्षण अधिक बेसुध बनते जाते मुनिवर एक साथ बोल उठे ।

'कामातुराणां न भयं न लज्जा ।'

वह गण बड़बड़ा गया ।

और फिर 'कामातुर'के इस उपहासपर दोनों एक साथ हँसने जा रहे थे कि विश्वमोहिनी नारदजीके ठीक सामने आकर खड़ी हो गयी !

और नारदजीके आत्माकी धरतीपर एक भयानक भूकम्प आ गया ! केवल हृदय ही नहीं, कायाका कण-कण तड़पने लगा ! शोणितका प्रवाह उनकी शिराओंमें बिजलीकी गतिसे दौड़ने लगा ! प्रकम्प और प्रस्वेद मुनिके रोम-रोमसे दृष्टिगोचर होने लगे !

वरमालावाला हाथ विश्वमोहिनीने जरा-सा ऊँचे उठाया और जरा आगे बढा दिया !

तूफानमें पत्ता काँप उठे, वैसे ही काँपते अपने मस्तकको नारदजीने जरा ऊँचा किया और आगे भी बढाया !

सारी सभा एक दृष्टिसे यह दृश्य निहार रही थी—विश्वमोहिनी इस अनोखी मूर्तिके गलेमें वरमाला पहनायेगी क्या ?

पर इतनेमें तो भाद्रपदके मेघकी ध्वनि-जैसा एक रौद्र—रम्य—कठोर—कमनीय अट्टहास विश्वमोहिनीके कण्ठसे प्रकट हुआ ।

और फिर तो जैसे प्रलयकाल समीप आ गया हो, वैसे ही अट्टहासके कई पुनरावर्तन हो गये !

और फिर शनैः-शनैः प्रथम राजागण, फिर और आमन्त्रित सज्जन और इसके बाद विश्वमोहिनीका सारा परिवार—यों सारा सभामण्डप वरमालाकी राह देखते इस मुनिवरकी ओर दृष्टि करके अट्टहासोंका प्रवाह बहाने लगा !

'क्या है यह ?' क्षोभ और रोषसे नारदजीने गर्जना की'·· 'मुझे वरमाला अर्पण करनेके स्थानपर मेरा यह घोर अपमान !····'

'वरमाला !' मुनिकी रोष-गर्जनासे तनिक भी भयभीत हुए बिना विश्वमोहिनीने उत्तर दिया—वरमाला ! और वह भी आपकी ग्रीवामें ? क्या मेरे पिताने इस स्वयंवरका आपको वरमाला अर्पित करनेके लिये ही आयोजन किया है ? ह्·· ह् · ह् ह् · हः !'

रौद्र-रमणीय अट्टहाससे फिर सभामण्डप गूँज उठा ! ··

और इसी बीच, जैसे कुछ भी न हुआ हो, इतनी स्वच्छतासे विश्वमोहिनी आगे बढ गयी !

'अब तो सीमा हो गयी !' रोषकी ज्वाला बनकर नारदजी अपने आसनसे उछल पड़े !

'कुछ शाप दें, इसके पहले एक काम कीजिये, महाराज !' शङ्करके उस गणने नारदजीके वस्त्रका छोर पकड़कर मुनिके कानोंमें धीरेसे कहा ।

'क्या ?' अन्तिम क्षणपर भी शायद यह आदमी विश्वमोहिनीके साथ विवाह करनेकी कोई नयी युक्ति बता दे—इसी आशामें नारदजीने पूछा—'कहिये, क्या करूँ ?'

'कहीं दर्पण ढूँढकर अपना मुँह देख लीजिये पहले !'

और नारदजी दौड़े—कायर मनुष्य जी बचाने दौड़ता है, वैसे ही !

और रास्तेमें प्रथम जो जलाशय आया, उसीमें अपने मुँहका प्रतिबिम्ब देखा । देखते ही उनके क्रोधकी कोई सीमा न रही !

'हरामखोर ! चालाक ! पाखंडी ! प्रपंची ! ईर्ष्याका पुतला ! विघ्न-संतोषी !' भगवान्‌के नाम उन्होंने गालियाँ

दीं—एक-एक मन वजनवाली ! 'मैंने उसकी मुखकान्ति माँगी' और उसने मेरा हाल किया यह ! वदरकी सूरतका मेरा मुँह ! मर्कट वना दिया मुझे तो ! अनार्य ! अधम ! कुटिल !'

नारदजीने कुछ निश्चय किया !

'इस विनोदका कठिन-से-कठिन वदला न लूँ, तो मैं ब्रह्माका पुत्र नहीं !' और नीचे होकर उन्होंने जलाशयका जल अपने हाथमें लिया और उसी क्षण उसी जलमेंसे, श्री-विष्णुका विग्रह उनके सम्मुख प्रकट हो गया !

'नि.सकोच शाप दीजिये, मुनिवर !' विष्णुने हँसते हुए कहा—'आपका शाप सिरपर चढानेके लिये मैं यहाँ आया हूँ !'

'ऐसा नाटक तो तुमने अनेक वार किया है, नटखट ! पर इस समय तो ' तुम चाहे जैसी चेष्टा करो, छूटनेवाले नहीं हो—मेरे शापसे ! मैंने विश्वमोहिनीको देखा, मैं कामवश वना और दौड़ा वैकुण्ठकी ओर ! तुमसे मुखकान्ति माँगी और' और' !'

'और मैंने आपको मर्कटकी मुखकान्ति दी, यही न ! पर मैंने आपसे कहा था कि 'मुनिवर ! जिससे आपका सच्चा कल्याण होगा, वही मैं आपको प्रदान करूँगा !'

'तो क्या तुमको मेरा कल्याण, मैं वदर वनूँ इसीमे नजर आया ?'

'मर्कट-जैसे मुँहवाले तो आप वन ही गये थे—नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको भूलकर ! उस रूपसी कुमारीपर आसक्त होकर ! जिस क्षण आपके हृदयमें उस छोकरीके प्रति वासना उत्पन्न हुई थी, उसी क्षण आप वस्तुतः वदर वन चुके थे, प्रभो ! पर आप अपना वह परिवर्तन देख नहीं सकते थे ! मैंने तो केवल, जो विकृति आपके हृदयमें आयी थी, उसे आपके वदनपर ला दिया !'

'चुप रहो और सुनो !' मुनिने क्रोधपूर्वक गर्जना की—'तुम ठहरे देव, इससे मानवके भाव पहचाननेमें असमर्थ हो ! और इसलिये मेरा पहला शाप तो यह है कि तुम मानव बनकर पृथ्वीपर अवतार धारण करो !'

'तथास्तु, प्रभो !' हँसते हुए भगवान् विष्णुने नारदका शाप सिर-आँखोंपर चढाया !

'मेरा दूसरा शाप यह है कि जिस विरहव्यथाका तुमने मुझे अनुभव कराया, उससे लाखोंगुनी विरहव्यथाका तुम स्वय अनुभव करो—मानवावतारके समय !'

'तथास्तु !'

'और मेरा तीसरा शाप यह है कि जिस वदरकी आकृति देकर तुमने मेरा उपहास कराया, वही वदर-आकृति, वही वदरजाति मानवावतारके समय तुम्हारी सवसे अधिक सहायता करे !'

'तथास्तु, प्रभो ! और कुछ ?'

'और ! और ! और' '

नारदजी अभी आगे शाप देने जा रहे थे कि उनके मस्तिष्कमें एक आवाज हुई ! और साथ ही विष्णुसहित वह जलाशय भी अदृश्य हो गया !

उन्होंने पीछे देखा तो न था स्वयवर न था विराटपुर, न थी मानव-मेदिनी और न था कोलाहल !

था केवल शङ्करका वह गण !

'मुझे क्षमा कीजिये, देवर्षि !' दोनों हाथ जोड़कर वह मुनिके चरणोंमें पड़ने जा रहा था कि नारदजी उसके चरणोंमें झुक गये ! ''

और शङ्करके गणके पैर फिर कितने ही क्षणतक नारदजीके उष्ण आँसुओंसे भींगते रहे !
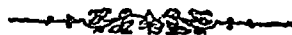
तात तीनि अति प्रवल खल काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि विग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥
लोभ कें इच्छा दंभ वल काम कें केवल नारि ।
क्रोध कें परुष वचन वल मुनिवर कहहिं विचारि ॥
काम क्रोध लोभादि मद प्रवल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

दरिद्र कौन ? जिसको संतोष न हो

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'सचमुच पारस कोई पदार्थ है ?' अल्वर्ट मॉरीसन रसायन-शास्त्री हैं। प्रत्येक वैज्ञानिकको एक सनक होती है। कहना यह चाहिये कि प्रतिभाका प्रसाद उसीको प्राप्त होता है, जो अपनी सनकका पक्का हो। मॉरीसन-को प्राचीन पदार्थशास्त्रके अन्वेषणकी सनक थी और विषय कोई हो, उसका प्राचीनतम साहित्य तो भारतके अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध है नहीं। अल्वर्ट मॉरीसन भारतीय पदार्थ-शास्त्रका अन्वेषण कर रहे थे। उन्होंने पुराण, ज्यौतिष तथा अन्य अनेकों सूत्र एवं कारिका-ग्रन्थ एकत्र कर लिये थे।

'केवल कल्पना है पारस ?' अनेक वार यह विचार आता था—'एक भव्यकल्पना—भारतीय कल्पना प्रवण होते हैं। कितनी पूर्ण—कल्पना की है उन्होंने।'

'कोई सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती। कोई लोभी कभी पारस नहीं पाता।' अल्वर्टका मन उन्हें संतुष्ट नहीं होने देता था—'केवल परमसंतुष्ट संत उसे पाते या देखते हैं, वह उनके संतोषकी परीक्षामात्र बन सकता है। एक रहस्यसे बाहर आकर फिर रहस्य हो जाता है वह।'

'परमात्माके लिये कुछ असम्भव तो नहीं है।' वैज्ञानिक अल्वर्ट आस्तिक हैं—'जिन्हें भी पारस मिला वे सच्चे अर्थोंमें संत थे। अपने लाडले बच्चोंपर प्रभु अपना कोई रहस्य प्रकट कर दे—कोई कठिन बात तो नहीं है।'

''पारस पदार्थ है या कल्पना ?' साहित्यिक या समालोचक झटसे 'कल्पना' कह देगा, किंतु एक रसायन-शास्त्री ऐसा कर नहीं पाता। 'लोहेके अणुओंमें केवल एक परिवर्तन उसे स्वर्ण बना देगा। यह परिवर्तन उसमें भार और रंग दोनों दे देगा। अवश्य उसका विस्तार—आकार सकुचित हो जायगा। पारस यदि कोई ऐसा पदार्थ हो, जो अपने स्पर्शसे लोहेके अणुओंमें अपेक्षित परिवर्तन कर देता हो ?'

'पारस प्राप्त हुए बिना तो समस्या सुलझती नहीं।' वैज्ञानिकका काम कल्पनासे नहीं चलता। वह प्रत्यक्ष-को ही प्रमाण मानता है। अल्वर्टको पारसकी आवश्यकता थी। पारस यदि कहीं हो—भारतमें ही हो सकता है, जहाँ अनेक वार पाया गया है अथवा उसे पानेकी कल्पना की गयी है।

भारतकी यात्रा कुछ कठिन नहीं थी वैज्ञानिकके लिये। वे केवल भ्रमण करने आनेवाले यात्री बनकर ही आये। उन्हें पता था कि पारस कभी जनसामान्यकी जानकारीमें नहीं आया। आज उसे पानेकी चर्चा भारतमे भी पागलपन ही कही जायगी।

'कहाँसे कैसे अन्वेषण प्रारम्भ हो ?' कुछ ठीक उपाय सूझता नहीं था। अवश्य ही अल्वर्टने भारतीय साधुओंके प्रति अपना आकर्षण व्यक्त कर दिया था। वे प्रायः पता लगाकर अच्छे कहे जानेवाले साधुओंके दर्शन करने पहुँचते थे।

'मुझे बड़े आश्रमोंवाला बडा साधु नहीं चाहिये।' बहुत शीघ्र उन्हें अनुभव हो गया कि जो प्रख्यात साधु हैं, वे सम्पन्न हैं और जहाँ सम्पत्ति स्वीकृत होती है, पारसका पता वहाँ पानेकी आशा भी नहीं की जा सकती। 'कौपीनधारी—जिसके पास कुछ न रहता हो, जो देनेपर भी पैसा न ले, ऐसा साधु चाहिये मुझे।'

भारतमें ऐसे अकिंचन वीतराग महापुरुषोंका कभी अभाव नहीं रहा । प्रारम्भमें कठिनाई हुई, किंतु शीघ्र ही अल्बर्ट ऐसे महत्-पुरुषोंसे परिचय करनेका मार्ग पा गये ।

× × ×

'तुम पारस क्यों चाहते हो ?' एक वृक्षके नीचे अपने कमण्डलुपर मस्तक धरे एक कौपीनधारी अलमस्त लेटे थे । अब अल्बर्टको घास या धूलिमें ऐसे साधुओं-के समीप बैठनेमें सकोच नहीं होता । पतलूनके 'क्रीज' की चिन्ता कबकी छूट चुकी है ।

'वह ऐसा पदार्थ नहीं है कि कुतूहल-निवृत्तिके लिये उसे पाया जा सके ।' सत समझा रहे थे–'मुझे वह प्राप्त नहीं । किसीको आज प्राप्त है या नहीं, मुझे पता नहीं, किंतु तुम क्यों नहीं सोचते कि उसे पा लेनेपर कितनी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी समाजमें ?'

'आप चाहें तो उसे पा सकते है ?' अल्बर्टने पूछा । उनकी जिज्ञासा अभी तर्कसे तृप्त होनेको प्रस्तुत नहीं थी ।

'परमात्मा परम दयालु है ।' साधुका स्वर गद्गद हुआ । 'उसका कोई बच्चा कोई हठ कर ही ले तो वह दयामय उसे अवश्य पूर्ण कर देगा । पारस पदार्थ न भी हो तो उसे पदार्थ बना देनेमे उस सर्वशक्तिमान्-को क्या देर लगेगी ।'

'एक बार मैं उसे देख पाता !' रासायनिककी उत्कण्ठा आतुर हो उठी ।

'क्या करोगे उसका ?' साधु हँसे । 'उसका आविष्कार ससारके लिये सबसे बड़ा विध्वसक बम सिद्ध हो सकता है ।'

'आज कितने कगाल हैं लोग ।' अल्बर्टने प्रार्थनाके स्वरमे कहा–'दरिद्रोंपर दया नहीं आती आपको ? उनका दु ख—उनके अभाव दूर करनेके लिये केवल कुछ घटों-को पारसका प्राप्त होना भी पर्याप्त हो सकता है ।'

'बहुत भावुक हो तुम ! वैज्ञानिक भावुक नहीं हुआ करते ।' साधु खुलकर हँसे—'आजकी समाज-व्यवस्था, आजकी शासन-व्यवस्था—तुम पारस प्राप्त कर लो तो स्वर्ण बनानेके लिये छिपते फिरोगे । पारस पता लगनेपर तुमसे छीन लिया जायगा । तुम जेलमे बद होओगे या तुम्हारी हत्या कर दी जायगी । आगे पारसका क्या होगा—तुम कोई आश्वासन नहीं दे सकते । पारस पाकर तुम कितनी अशान्ति ले लोगे—तुमने स्वयं सोचा है ?'

'आपके सत्यको अस्वीकर नही किया जा सकता ।' वैज्ञानिकने मस्तक झुका दिया—'सब आपत्तियाँ झेलकर भी यदि मैं कुछ कगालोंकी सेवा कर सकूँ—आप मुझपर विश्वास कर सकते हैं कि मै आपके देशके दरिद्रोंकी ही सेवा करूँगा । पारस या उससे बना स्वर्ण इस देशसे बाहर नहीं जायगा । मै अपने उपयोगमें भी उसे नहीं लाऊँगा ।'

'तुम इस प्रकार कह रहे हो, जैसे पारस मेरे पास पड़ा है ।' साधु फिर हँसे ।

'आप उसे पा सकते हैं ।' वैज्ञानिक निराश नहीं हुआ । वह अपने आग्रहपर स्थिर रहा—'दरिद्रोंका दु.ख दूर करनेमें आप अवश्य मेरी सहायता करेंगे ।'

'जिनका चित्त सम्पत्तिके अभावमें दुखी है, वे दरिद्र हैं ।' साधुने समझानेका मार्ग लिया—'जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, वे दरिद्र हैं—ऐसा तो तुम नहीं मानते होगे, क्योंकि मेरे पास एक कौडी नहीं और मुझे दरिद्र मानकर मेरी सहायता करनेकी बात तुम सोच भी नहीं सकते ।'

'सम्पत्तिके अभावमें जो दुखी हैं, वे दरिद्र है ।' अल्बर्टने साधुकी परिभाषा स्वीकार की—'उनकी ही मै सेवा करूँगा । आपके समान सतुष्ट महापुरुषोंकी कोई क्या सेवा कर सकता है ?'

'आज तुम बम्बई चले जाओ !' साधुने आज्ञा की। 'दो दिन वहाँ रहो। इसके अनन्तर यदि पारसकी आवश्यकता प्रतीत हो तो यहाँ आ जाना !'

× × ×

'बड़ा दुखी है यह, पता नहीं बेचारेका कौन मर गया है !' अल्बर्ट मॉरीसन प्रथम श्रेणीमें रेलमें यात्रा कर रहे थे। उनके डिब्बेमें केवल एक यात्री थे। कोई भारतीय व्यापारी होंगे। उनके वस्त्र, कोटमें लगे हीरोंके बटन, अँगूठीमें जड़ा बड़ा-सा नीलम—अवश्य वे कोई सम्पन्न व्यक्ति होंगे, किंतु उनका श्रीहीन मुख, बार-बार लंबी श्वास लेना, बार-बार नेत्र पोंछना—कोई बहुत बड़ा दुःख उनपर आया जान पड़ता था।

'बाबू ! एक पैसा !' स्टेशनपर गाड़ी रुकी थी। गोदमें नवजात शिशु लिये मैले-फटे वस्त्रोंमें शरीर छिपाये एक कङ्कालप्राय भिक्षुणी आ खड़ी हुई। दैन्यकी साकार मूर्ति दीखती थी वह।

'चल ! भाग यहाँसे !' भारतीय व्यापारीने उसे दुत्कार दिया। वह तो जैसे इसकी अभ्यस्त हो गयी थी। बडा खेद हुआ अल्बर्टको। उसने अपनी जेबसे मनीबेग निकाला, जो पहिला नोट हाथ आया, उस भिखारिनीके हाथपर रखकर खिडकी बंद कर ली उसने।

'ये भिखारी अब भी पिंड नहीं छोडते !' व्यापारी महोदय अपने-आप बडबड़ा रहे थे—'इन्हें अपनेसे मतलब, कोई जीये या मरे, इन्हें पैसा चाहिये !'

'क्या कष्ट है इन्हें ?' इच्छा हुई अल्बर्टको जाननेकी, किंतु बिना प्रयोजन किसी अपरिचितकी व्यक्तिगत बातोंमें बोलना असभ्यता है। अपने समाजके शिष्टाचारके कारण चुप रहना था और व्यापारी महोदय समझते नहीं थे कि साहब हिंदी जानता है। स्वयं वे अंग्रेजी बोलनेमें असमर्थ थे। गाडी सीटी देकर चल चुकी थी।

पर्याप्त समयतक उस डिब्बेमें दो ही यात्री रहे। ट्रेन जब बम्बई बोरीबन्दर स्टेशन पहुँच गयी, तब भी दो ही यात्री उतरे उसमेंसे। अल्बर्ट मॉरीसन मार्गमें अपनी पुस्तकके पन्नोंमें उलझ गये थे। उन्हें याद भी नहीं आयी कि वे डिब्बेमें एकाकी नहीं हैं।

'हैं !' दूसरे दिन प्रातःकाल होटलके अपने कमरेमें अल्बर्टने जब प्रात काल अखबार उठाया, वे चौंक पड़े। एक बार उनके हाथसे अखबार छूटकर गिर पड़ा।

'भारतके प्रसिद्ध व्यापारी श्री· ···ने कल रात आत्महत्या कर ली !' समाचारके प्रथम पृष्ठपर मोटा शीर्षक था। अल्बर्टको स्मरण आया—यह नाम तो उन्होंने कल अपने साथ यात्रा करनेवाले व्यापारी महोदयके बक्सपर लिखा देखा था। तब क्या उन्होंने····'

'उन्हें अपने सट्टेके व्यापारमें बहुत बड़ा घाटा लगा था।' समाचार-पत्रने विवरण दिया था—'अनुमान किया जाता है कि घाटा एक अरबके लगभग है। उसे दे डालनेपर उनकी केवल अपने रहनेकी बड़ी कोठी और दस-बारह करोड़की सम्पत्ति बच रहेगी उनकी श्रीमतीजीके समीप !'

अल्बर्टको स्मरण आया, वे भारतीय व्यापारी बड़बड़ाते हुए कल कह रहे थे—'मैं कंगाल हो गया ! केवल कुछ करोड बचेंगे मेरे पास ! आजका अरबपति दरिद्र हो गया !'

'दरिद्र !' अल्बर्ट फिर चौंके—'दस-बारह करोड़ और विशाल कोठी होनेपर भी वह अपनेको ऐसा दरिद्र समझता था कि मर गया आत्महत्या करके !'

'सम्भवत वह आनन्दसे खिल उठी होगी एक रुपयेका नोट पाकर !' कलकी वह भिखारिन स्मृतिपट-पर आयी—'दोनोंमें दरिद्र कौन ?'

'जिनका चित्त सम्पत्तिके अभावमें दुखी है, वे दरिद्र !' साधुके वचन स्मरण आये और मनने कहा—

'सम्पत्तिके अभावकी कोई सीमा है ? कुछ ही करोड रहनेसे आत्महत्या कर लेनेवाला सेठ—अमंगोप जिसे है, वह दरिद्र। यही तो अर्थ हुआ। ऐसे दारिद्र्यकी दवा पारस कैसे कर सकता है।'

वैज्ञानिकने टेलीफोन डाइरेक्टरी उठा ली थी। वे पूछना चाहते थे कि योरपके लिये वायुयान कब जा रहा है। पारस पानेकी कोई उत्कण्ठा अब उनमें रह नहीं गयी थी।

श्रद्धाकी जीत

कितनी स्पष्ट उक्ति है कि जो परमात्माको भजता है, उसके सुख-दुःखका ख्याल परमात्मा स्वयं रखता है। 'हम भक्तोंके, भक्त हमारे।' भक्तोंकी लाज भगवान् कभी नहीं जाने देता। परंतु भक्तको भगवान् कसौटी-पर अवश्य कसता है, क्योंकि उसपर कृपादृष्टि भी वही रखता है। भक्तके लिये असम्भव वस्तुको सम्भव वही बना देता है। भक्तकी प्रतिष्ठाको निरन्तर वही बढ़ाता है। इसका अनुभव हमें भक्तोंके परम पवित्र चरित्रोंसे होता है। मीराँ, सूर, तुलसीको कौन नहीं जानता।

यहाँ वैसी ही आधुनिक युगकी घटी हुई एक घटनाकी वास्तविकताको शब्द-रूप देनेका प्रयत्न किया गया है।

मंगलपुर गाँवमें एक प्राणप्रसाद नामक धनी व्यक्ति रहता था। उसका एक लड़का था, उसका नाम था सुखीराम। उचित उम्र होते ही प्राणप्रसादने सुखीरामका ब्याह एक गरीब परिवारकी कन्यासे कर दिया। लड़की-का नाम था चम्पा।

चम्पा ससुराल आयी। उसके अद्वितीय व्यवहारसे लोगोंको विश्वास हो गया कि चम्पा कोई साधारण नारी नहीं है। वह न तो कभी उदास होती, न कभी उसके मुखपर मलिनता ही दीख पड़ती। कठोर वचन बोलना तो जैसे वह सीखी ही न थी। उसके साथ वार्तालाप-का सुख प्राप्त करनेके लिये हर कोई लालायित रहता।

चम्पाका एक नियम बहुत ही सुन्दर था। प्रतिदिन बड़े सबेरे वह उठती, नित्य-नियमसे निवृत्त होकर रामनामका जप करती। इस नियमको वह किसी मूल्य-पर भी न तोड़ती। शैशवकालमें ही उसने यह नियम अपने दादासे सदुपदेशके रूपमें पाया था। नन्ही पोतीको दुलारते हुए एक दिन दादाने कहा—'बेटी! राम-नाममें अनुपम शक्ति है। एकाग्र मनसे उसका मनन करनेवाले-की मानसिक शान्ति किसी भी हालतमें खण्डित नहीं होती। रामनामका निरन्तर नियमानुसार मनन करनेवाला न तो कभी विपत्तियोंसे घबराता है और न कभी सुखमें छलक ही जाता है। वह सदा, विपत्तिमें दरिया और खुशीमें पैमाना होता है। सच्चा सुख और वास्तविक शान्ति तो मानवको रामनामके सेवनसे ही प्राप्त होती है।'

चम्पाके कोमल हृदयपर दादाके इन शब्दोंने अनोखा असर किया। वे शब्द उसके हृदयपटलपर सदाके लिये अङ्कित हो गये और वह राम-नामका अखण्डितरूपसे मनन करने लगी। राम-नामका सुरम्य सिक्का उसके हृदयपर जम गया और उसे इससे अद्वितीय आत्मिक शान्ति प्राप्त होने लगी। समय बीता और उसे एक मनोरम चैतन्य प्राप्त हुआ। एक सौम्य तेज उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे प्रस्फुटित होने लगा।

चम्पाके ब्याहके पूर्व ही उसके दादाका देहावसान हो चुका था, किंतु दादाद्वारा दिया गया मन्त्र वह भूली न थी। उसे वह दादाका सबसे श्रेष्ठ उपहार मानती थी। राम-नामका मनन वह अत्यन्त प्रेम एवं श्रद्धासे नित्य करती थी। उसकी भक्ति एवं श्रद्धाकी

बात सुनकर उसके श्वशुर प्राणप्रसादको भी कुतूहल-सा हुआ था। हँसी भी आयी थी। सासने भी मुँह बनाते हुए आश्चर्य व्यक्त किया था। ननद भी उसे 'भक्तिन' नामसे सम्बोधन करनेसे नहीं चूकती थी। पाश्चात्य सभ्यताका पुजारी पति तो उसे 'महारानी मीराँ' कहकर ताने मारता। चम्पा इस उपहासको समझती जरूर थी, पर क्रुद्ध होने, उदास होने और दुखी होनेके बदले वह सबके साथ हँसती और उनकी पाशविक मनःस्थितिपर मन-ही-मन तरस खाती और परमात्मासे उनके लिये सद्बुद्धिकी कामना किया करती। उसका व्यवहार इतना नम्र और सद्भावनापूर्ण था कि उपहासके साथ ही सभी उसके सद्गुणोंकी प्रशसा करनेको बाध्य होते।

एक बार सुखीराम यकायक बीमार हुआ। परिचित चिकित्सकने इलाज करनेमें जरा भी कसर न रखी, पर दवासे तो दर्द और बढ़ गया। प्राणप्रसादके होश हवा हो गये। क्यों न होते—इकलौता बेटा ही तो था सुखीराम उनका। शहरसे बड़े डाक्टरको भी बुलाया गया। डाक्टरने अपनी स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा रखकर रोगी एव रोगकी छानबीन की। निदान ज्ञात हुआ या नहीं, यह तो वे जानें या भगवान् ही, पर औषध और इजेक्शन उन्होंने अवश्य दिये। पर भाग्यने उनके इजेक्शनोंका साथ न दिया। रोगीकी स्थिति प्रतिक्षण गम्भीर होने लगी।

परिवारके सब लोग घबराने लगे। प्राणप्रसाद भी खिन्न-हृदय इधर-उधर दौड़-धूप करने लगे। बड़ों-बूढ़ोंने सलाह दी—'बड़े-बड़े डाक्टरोंको बुलवाओ और उनके परामर्शसे इलाज करवाओ। बेटेकी जानके आगे धन-दौलतका मोह कैसा? यही तो तुम्हारी सारी दौलत-की-दौलत है। चिकित्सा कराओ, अच्छा हो जायगा।' और साथ ही सान्त्वना भी दी कि 'शरीर है, व्याधि तो उसे प्रतिक्षण घेरे ही रहती है, विधिके विधानको मिटानेमें कौन सफलीभूत हो पाया है इस परिवर्तनशील ससारमें!'

लक्ष्मीपुत्र प्राणप्रसादने ऊँची फीसें देकर बड़े-बड़े चिकित्सक बुलवाये। सबने रोगीकी जाँच की, विचार-विमर्श किया ..... इलाज भी आरम्भ किया, किंतु उन महानुभावोंके भाग्यमें यश ही नहीं बदा था। रोगीका आराम हराम हो गया। सुखीराम अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगा। डाक्टरोंने निराशा प्रकट की 'रोगी मुश्किलसे चौबीस घटे निकाल सकेगा।' और अपनी फीस लेकर .....।

प्राणप्रसाद और उसकी पत्नी तो लगभग पागल हो गये। पास-पड़ोसके लोग भी दुखी थे। पढ़ा-लिखा जवान विवाहित बेटा यों असमयमें ही कालकवलित हो जाय तो फिर किस वज्रहृदयको दुःख न हो। 'प्रभु! दुःख ही तेरे सृजनकी परिणति है।' डाक्टरोंका निर्णय सुनकर चम्पा सन्न रह गयी। मानो उसे काठ मार गया हो! पर क्षणभर बाद वह सम्हली। उसमें अनोखा परिवर्तन हुआ। वह उठी। उसने स्नान किया—स्वच्छ वस्त्र पहने। अपने कमरेमें जाकर भगवान् रामकी छविके समक्ष दीप जलाकर खड़ी हो गयी। क्षणभर सीतारामकी सुमनोहर छविको वह निहारती रही। उसके हृदयतलसे दर्दका दरिया उमड़ पड़ा। वह गद्गद्-कण्ठसे बोली—भगवन्! मेरी लाज आपके हाथ है। यदि मैं सच्ची सदाचारिणी एव सत्याचारिणी होऊँ तो मेरे पतिका बाल भी बाँका न होने देना! मुझ दुखियारीको केवल आपका ही अवलम्ब है।' प्रार्थना करके वह सजल नयनों-सहित रोगीके कक्षमें गयी, उसने वहाँ उपस्थित प्रत्येकको कक्षसे बाहर जानेकी नम्र प्रार्थना की।

चम्पाके अतिरिक्त अब रोगीके कमरेमें कोई भी न रहा। चम्पाने द्वारको धीरेसे बद कर दिया। सुखीराम उस समय बेसुध था। चम्पाने पतिका सिर अपने अङ्कमें लिया और पतिके मुखारविन्दको देखकर व्याकुलतासे उसने आँखें बंद कर लीं। दर्द-भरे हृदयसे चम्पा अपने जीवनाधार 'राम'के परम पवित्र नामका मनन करने

लगी। 'रघुपति राघव राजाराम, पतित-पावन सीताराम।'

विश्वास होगा क्या आपको ? दो ही घंटेमें अचेतन सुखीराम होशमें आ गया। उसने आँखें खोलीं। क्षीण आवाजमें कहा, 'पानी।'

उन अमृतमय शब्दोंको सुनकर चम्पाकी आँखोंसे अश्रु प्रवाहित हो उठे। उसने पानी दिया—अत्यन्त प्रेमसे पतिके शरीरको सहलाते हुए वह पुनः राम-नामका विश्वासपूर्वक जप करने लगी।

दो घंटे और बीते और रोगी पुकार उठा,—'सती, सती।' पुत्रकी आवाज सुनते ही माँ-बाप चौंक उठे। उन्होंने द्वार खटखटाया। चम्पाने धीरेसे पतिके सिरको तकियेपर रखकर दरवाजा खोला। सास-ससुरके चरण स्पर्शकर उसने कहा—'किसी एक सुयोग्य चिकित्सकको बुलवाइये। अब चिन्ताका कोई कारण नहीं है।'

दैवी शब्दोंकी भाँति पुत्रवधूके शब्दोंको सुनकर प्राणप्रसाद दौड़े हुए गये और डाक्टरोंको बुला लाये। स्वाभाविक गम्भीरता लिये हुए डाक्टर आये और वह भी एक नहीं बल्कि सात-सात! रोगीको देखा और सब दंग रह गये।

आश्चर्य है कि रोगीकी स्थिति तेजीसे सुधरने लगी।

जाको राखै साइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

कौन कह सकता है कि ये शब्द झूठे हैं ·······?

[जनकल्याणके सानिध्यसे]

(अनुवादक—श्रीजयशंकरजी पण्ड्या)

देवताके नामपर पाप

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी)

बड़े ही दुःखका विषय है कि एक ओर तो पाश्चात्य शिक्षा तथा जगत्में बहती हुई नास्तिकताकी प्रबल लहर लोगोंमें धर्मके प्रति अविश्वास और अश्रद्धा उत्पन्न कर रही है तथा दूसरी ओर आस्तिक कहलानेवाले लोग धर्म और देवताके नामपर अपनी कुत्सित वासनाओंकी पूर्तिके लिये भाँति-भाँतिके प्रपञ्च रचकर भोले-भाले नर-नारियोंके ठगने और उन्हें भ्रष्ट करनेमें लगे हुए हैं। इससे नास्तिकताके प्रसारमें और भी बल मिल रहा है।

समाजमें ज्ञान तथा भक्ति-प्रेमके नामपर तो बुराइयाँ चल ही रही थीं। अब इधर प्रेतबाधानिवारण, रोगनाश, विपत्तिनाश, पुत्रप्राप्ति, धनप्राप्ति आदिका प्रलोभन देकर लोगोंको आकर्षित करनेके बहुत-से नये तरीके निकले हैं। स्त्रियोंमें देवताओंका आवेश होता है, वे नाचती, बदन हिलाती, बदन पीटती, नाना प्रकारकी भाव-भंगिमा करती हैं और फिर उनके तथा देवताओंके पुजारियों, माध्यम पुरुषोंके मुँहसे प्रेत बोलते हैं, देवता बोलते हैं अपनी नाराजी या प्रसन्नता प्रकट करते हैं, शाप-वरदान देते हैं। प्रसाद-भेंट चढ़ायी जाती है, मान्यताएँ मानी जाती हैं, और भी बहुत-सी बातें होती हैं। इसमें धन तो खुले हाथों लुटाया ही जाता है, शील और सतीत्वका भी नाश होता है। प्रेतबाधानाश, पुत्रप्राप्ति आदि कामनाओंके वशमें हुई अच्छे-अच्छे घरानोंकी भोली-भाली बहू-बेटियाँ बुरी तरह इनकी शिकार होती हैं। कहा जाता है इन लोगोंके द्वारा कुछ तो कुटनियाँ नियुक्त होती हैं, कुछ स्त्री-पुरुष दलाल होते हैं, जो बड़े-बड़े चमत्कारोंकी बातें फैलाकर लोगोंको आकर्षित करते हैं। कुछ खास-खास अङ्ग-सञ्चालनमें निपुण स्त्री-पुरुष रहते हैं, जो तरह-तरहकी प्रेतावेश या देवावेशकी चेष्टा किया करते हैं। उनकी देखादेखी और लोग भी कुतूहलसे, स्वार्थसे, भोलेपनसे अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार प्रभावित होकर वैसी ही चेष्टा करने लगते हैं।

भोले-भाले सरल हृदयके श्रद्धालु लोग, खास करके स्त्रियाँ, इस प्रकारके कार्य अधिक करती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि कहीं भजन-कीर्तन होता है और लोग नाचते-गाते हैं तो उनसे प्रभावित होकर पास बैठे

हुए लोगोंके मुँहसे तान निकलने लगती है, अङ्ग नाचने लगते हैं; कुछ इतने भावाविष्ट हो जाते हैं कि उनका बाह्य ज्ञानतक नष्ट हो जाता है । अच्छा गाना हो तो वहाँ बैठे हुए सङ्गीतसे सर्वथा अनभिज्ञ लोग भी अलापने, सिर हिलाने तथा ताल देने लगते हैं । यह सहज प्रभाव होता है । इसी प्रकार इन लोगोंके यहाँ भी लोग, खास करके सरलहृदया स्त्रियाँ प्रभावित होकर ऐसी चेष्टाएँ करने लगती हैं, जिनको ये प्रेतावेश या देवावेश बतलाकर उनको और भी प्रभावित करते हैं ।

शारीरिक रोग आदि प्राकृतिक होते है और प्रकृतिसे ही उनमें कमी होती है और उनका नाश भी होता है । दवा इत्यादि ठीक प्रयुक्त होनेपर प्रकृतिके कार्यमें सहायता करती हैं । कुछ लोग विना दवाके ही अच्छे हो जाते हैं । ऐसे लोगोंकी संख्या ५० । ६० प्रतिशतसे कम नहीं होती । संतान कई कारणोंसे नहीं होती । प्रकृतिकी सुव्यवस्थासे वह कारण मिट जाता है तो संतान भी हो जाती है । ऐसा ससारमें सदा होता ही रहता है । परतु ये चमत्कार बतानेवाले लोग उनको अपने देवताका प्रभाव तथा अनुग्रह बतलाते हैं और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार करते हैं । भोले-भाले नर-नारी इनके वाग्जालमें और मायाजालमें फँसते ही रहते हैं । एक वार जव पूरा प्रभाव पड़ जाता है, तव अनुचित लाभ भी उठाया जाता है । विविध उपायोंसे उनमें वासना जाग्रत् करके उनके द्वारा अपनी वासनाकी तृप्ति की जाती है ।

ये सव अनाचार बड़े पैमानेमें फैल रहे हैं । देखा-देखी इनका बड़ा विस्तार हो रहा है । अतएव इस प्रपञ्चसे सबको सावधान रहना चाहिये और अपनी बहू-बेटियोंको ऐसे स्थानोंपर भूल-चूककर भी नहीं भेजना या नहीं जाने देना चाहिये ।

उपर्युक्त बातें मैंने स्वयं जाँच तथा अनुभव करके लिखी हैं।

सघोष राम-नाम-जपसे लाभ

(महात्मा श्रीगोपीनाथजी परमहस, शिष्य श्रीअवधविहारीदासजी 'नागावावा' की कृपासे प्राप्त)

श्री'राम-नाम' शब्दका उच्चारण करके जप करनेका लाभ ! 'निज अनुभव अव कहौं खगेसा ।'

पहला लाभ—ऊँचे स्वरसे स्पष्ट उच्चारण करके नाम जपनेसे भगवान्में प्रेम उत्पन्न हो जाता है । कलियुगके लिये लिखा भी है—कलौ तद्धरिकीर्तनात् । वर्तमान समयके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीका भी यही सिद्धान्त है—

राम राम रटु राम राम रटु राम राम रटु जीहा ।
राम नाम नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा ॥

(विनय-पत्रिका)

यहाँ 'रटु' शब्द ऊँचे स्वरका बोधक है ।

दूसरा लाभ—ऊँचे स्वरसे नाम जपनेसे मन संकल्प-विकल्प आप-से-आप छोड़ देता है । इसके प्रमाणमें महर्षि वाल्मीकिजी हैं—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

राम-नाम उच्चारण करनेसे वाल्मीकिजी कोकिलकी उपमामें लिखे गये हैं ।

तीसरा लाभ—ऊँचे स्वरसे राम-नाम जप करनेसे राम-शब्द ही श्रवणमें पड़ता है । अत. राम-शब्द ही श्रवणका विषय हो जाता है और अन्य शब्दोंका श्रवणमें पड़ना बंद हो जाता है । अन्य शब्दोंका श्रवणमें पडनेसे आकुलता उत्पन्न होती है । अतः एकाकी रहना प्रिय लगता है । यह अनुभूत बात है ।

चौथा लाभ—ऊँचे स्वरसे राम-नाम जपनेसे श्रीरामध्वनि मस्तिष्कमें गूँजती है । १८ घटे रामध्वनि करनेपर ४ घटे सोनेमें भी रामध्वनि मस्तिष्कमें गूँजती रहती है । ४ घटे सोनेके अन्तिम समयमें जैसे ही रामध्वनिसे दिमाग खाली होने लगता है, वैसे ही जगकर वाणीसे रामध्वनि करनेसे पुनः पूर्ववत् रामध्वनि मस्तिष्कमें गूँजने लगती है । जैसे कुम्हार चाकको डंडेसे घुमाकर डडा हटा

लेता है और चाक अपने-आप घूमता रहता है। वह ज्यों ही बंद होने लगता है त्यों ही कुम्हार अपने डंडेसे उसे पुनः घुमा देता है। जैसे कुम्हारका चाक सतत घूमता रहता है, उसी प्रकार जब रामध्वनि दिमागमें सतत गूँजती रहती है, तब कुछ ही कालमें तीव्र वैराग्य आपने-आप जाग उठता है, जिसमें ब्रह्मलोकपर्यन्त तृणवत् हो जाता है। प्रमाण—

राम-नाम सों विराग-जोग जागि हैं।

(विनय-पत्रिका)

पाँचवाँ लाभ—ऊँचे स्वरसे राम-नाम जपनेसे, मन चाहे कहीं रहे, वाणीसे जप अपने आप होता रहता है। यही सिद्धान्त शिवजीका भी है। यथा—

सम्भु सिखवन रसनहूँ नित राम नामहि घोपु।

(विनय पत्रिका)

यहाँ 'घोपु' शब्द ऊँचे स्वरका बोधक है। अब जो कोई पूर्व-लिखित पाँचों लाभ उठाना चाहे, उसे भी राम-नाम-जप ऊँचे स्वरसे करना चाहिये।

'सियावर रामचन्द्रकी जय!'

पुण्य-पापसे सुख-दुःख कैसे मिलता है ?

(लेखक—श्रीनन्दकिशोरजी मोरपखवाले)

वर्तमान शिक्षा-दीक्षा तथा अन्य कई कारणोंसे भारतीय लोगोंमें इस प्रकारके भाव उत्पन्न हो रहे हैं कि 'मानो पाप-पुण्यका मनुष्यको कोई फल मिलता ही नहीं। अतएव मनमाना कर्म करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।' इस प्रकारकी धारणाके कारण आज मनुष्य तुच्छ पैसोंके लिये अथवा अन्य साधारण कामनाओंके लिये भी चाहे-जैसा पापकर्म कर बैठता है। फिर उसे समय पाकर उस पापका फल दुःख अवश्य भोगना पडता है। पाप पुण्यका कोई भी फल न माननेवाले लोग पापमें ही प्रवृत्त होते हैं, पुण्यकर्मका बनना तो अत्यन्त ही कठिन है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इन सब महात्माओंके उपदेशोंको भी कई लोग आज नहीं मानना चाहते। पर उनके न माननेसे पाप-पुण्यका अवश्यम्भावी परिणाम मिट नहीं सकता। जैसे रेडियोके द्वारा दूर-दूरतक शब्द सुनायी देते हैं—पता नहीं लगता कि तुरत इतनी दूरसे वे स्पष्ट रूपमें कैसे आ जाते हैं—जैसे यह सब होता है, उसी प्रकार पाप-पुण्य भी लगते हैं।

पुण्य है—परोपकार, दूसरे जीवोंको सुख पहुँचाना, भूखे-प्यासे, साधु-ब्राह्मण या किसी भी जीवको भोजन और जल प्रदान करना, औषध आदिके द्वारा रोगियोंके दुःख दूर करना, लोगोंको सन्मार्गमें लगाना—जिससे आगे चलकर दुःख हो ही नहीं। सब प्रकारसे प्राणिमात्रको सुख पहुँचाना और उनका हित करना इत्यादि पुण्यकर्म हैं।

मन, वाणी, शरीरसे किसीको दुःख पहुँचाना, उसका अहित करना, उसे बुरे मार्गमें लगाना—जिससे भविष्यमें उसका अहित हो, इत्यादि पापकर्म हैं।

अहिंसा, सत्य इत्यादिके पालनसे पापका नाश और पुण्यका अर्जन होता है। पाँच यमोंमें सर्वप्रथम 'अहिंसा' है।

किसीके किसी कर्म द्वारा कोई सुखी होगा या अपने हितका अनुभव करेगा, तो उसे सहज ही बड़ा आनन्द होगा। उस आनन्दकी प्रत्यक्ष किरणें आकाशमें फैलकर रेडियोकी भाँति उस कर्मकर्ताके पास पहुँच

जायँगी। उसका गुप्तचित्र बन जायगा और समयपर कर्मकर्ताको सुख पहुँचायेगा।

किसीके द्वारा किये हुए कर्मसे किसीको दु ख पहुँचेगा या उसका अहित होगा तो उसे बड़ा मानसिक क्लेश होगा। वह भी अप्रत्यक्षरूपसे आकाशमें फैलकर रेडियोकी भाँति उस कर्मकर्ताके पास पहुँच जायगा तथा उसका भी गुप्तचित्र बन जायगा और समय पाकर कर्मकर्ताको दु ख पहुँचायेगा।

पुराणोंमें आया है कि धर्मराजके मन्त्री चित्रगुप्त हैं। वे ही जीवोंके अच्छे-बुरे सारे कर्मोंका हिसाब रखते हैं और यमराजको बतलाते हैं। यह चित्रगुप्त वस्तुत मनुष्यके किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंके गुप्त चित्र हैं।

यह कर्मकी साधारण गति है और कौन, किस भावसे, किस स्थितिमें कैसा कर्म करता है—यह कर्मकी विशेष गति है। निष्काम कर्म परम श्रेष्ठ है, पर उसका बनना बहुत ही कठिन है।

अतएव मनुष्यको नित्य निरन्तर उत्साहके साथ परोपकारके कर्म ही करते रहना चाहिये, क्योंकि मनुष्योंके द्वारा पापकर्म तो कुछ-न-कुछ बन ही जाते हैं; पर परोपकारके पुण्य-कर्मोंसे पापोंमें कमी आती है और कुछ तो कट ही जाते हैं।

स्वतन्त्र भारतके दो आवश्यक कर्तव्य—शिक्षण-क्रान्ति और अपराधी-सुधार

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

भारतने स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद बहुत लंबी-लंबी विकास और प्रगतिकी योजनाएँ बनायी हैं और कुछको तो कार्यान्वित-कर सफलता भी प्राप्त की है, पर दो अत्यन्त आवश्यक कार्योंकी ओर अभी उल्लेखनीय प्रगति कुछ भी नहीं हो पायी। पहली समस्या जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और भावी भारतके विकासमें जिसकी सबसे अधिक उपयोगिता है, वह है—शिक्षण पद्धतिमें क्रान्ति। सभी विचारशील व्यक्ति इस बातका गहराईसे अनुभव करते हैं कि वर्तमान शिक्षणपद्धति बहुत ही अयोग्य है। इसके द्वारा शिक्षार्थियोंका विकास जिस रूप तथा जिस दिशामें होना चाहिये, नहीं हो पाता। इससे समय, श्रम और अर्थकी बहुत बड़ी बरबादी होती है और इस दूषित प्रणाली-द्वारा भारतकी प्रगतिमें योग देनेवाले व्यक्ति तैयार नहीं होते, पूर्ववत् मानसिक दासताके प्रतीक क्लर्क ही तैयार हो रहे हैं, जिनकी इतनी बड़ी सख्यामें कोई आवश्यकता नहीं। देशमें उद्योग-धधोंके विकासद्वारा बेकारीका निवारण करना आजका सबसे पहला काम नजर आ रहा है, पर ये नव-शिक्षित श्रम और उद्योग-धधोंसे दूर रहते हैं अपितु बेकारी और बढा रहे हैं। शिक्षा-सुधारकी समस्या बहुत ही महत्त्वपूर्ण होनेपर भी आठ वर्ष हो गये, इस ओर कोई भी कदम उठाया गया नजर नहीं आता और न निकट भविष्यमें इसकी ही है। मानसिक दासता और बेकारीको दूर करनेके लिये शिक्षामें सुधार या आमूल क्रान्ति शीघ्र-से-शीघ्र होनी बहुत ही जरूरी है। आज नैतिकता घट रही है। उसे दूर करनेके लिये नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा होनी आवश्यक है।

दूसरी गम्भीर समस्या अनैतिकता और अपराधोंकी अभिवृद्धि है। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि इसे रोकनेमें भी सरकार सर्वथा असफल हो रही है। न घूसखोरी कम हुई और न अन्य प्रकारकी अनीतियाँ ही। इसी प्रकार विविध भाँतिके अपराधोंमें भी कोई कमी नजर नहीं आती। अप-राधियोंके सुधारकी ओर भी कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। यह देशके लिये बहुत ही लज्जा एव कलङ्ककी बात है। अपराध क्यों किये जाते हैं और क्यों बढते हैं—इसकी गहरी छानबीन होनी चाहिये और उस रोगका भलीभाँति निदान करके आवश्यक उपचार तत्काल कार्यान्वित किये जाने चाहिये। जेलों आदिमें जो अपराधी हैं, उनके हृदय-परिवर्त्तन, अपराधी मनोवृत्तिके दूरीकरणके उपाय शीघ्रातिशीघ्र काममें लाने चाहिये। तभी भारत दूसरे देशोंके साथ मस्तक ऊँचा करके खड़ा रह सकेगा। आज नैतिकतामें भारत बहुत अधिक पिछड़ गया है। हमारे-से दूसरे देश बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

बहुत-से देशोंमें धोखा, झूठ और चोरीका नामोनिशान ही नहीं रहा। जिस प्रकारके अपराधोंका हमारे यहाँ बोलबाला है, वैसे अपराध अन्य देशोंमें बहुत ही कम मिलेंगे। यह अध्यात्मवादी भारतके लिये कहाँतक शोभनीय है? डाकुओं-द्वारा धन ही नहीं, व्यक्तितक गायब कर दिये जाते हैं और इच्छित धन देनेके बाद ही उनको छोड़ा जाता है। यद्यपि डाकुओंमेंसे बहुत-से मारे गये, अतः उनकी कमी हो रही है, फिर भी नित्य नये अपराधोंकी वृद्धि हो रही है। वेश्यावृत्ति जो किसी भी सभ्य समाजके लिये कोढके समान है, उसकी भी वृद्धि हुई है। उसे कम करने और हटानेके लिये कोई ठोस प्रयत्न हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं। हजारों बहू-बेटियाँ गुंडों और दलालों आदिके द्वारा भगायी जा रही हैं, बेची जा रही हैं। बहुत-सी बहनोंको आजीविकाके अभावमें यह घृणित पेशा करना पड़ रहा है। चीन आदिने इसकी कमी और उन्मूलनके लिये सजग होकर अच्छी सफलता प्राप्त की है। भारतको भी इस दिशामें तुरंत ठोस कदम उठाना चाहिये।

भारत, जिसके जीवनका आदर्श ब्रह्मचर्य रहा है और जिसकी नारियोंके सतीत्वकी कहानी विश्वभरमें बेजोड़ है, वहाँ आज व्यभिचार इतना बढ गया है कि अनेक बार बड़ा ही विचार होता है और मार्मिक वेदना होती है। नैतिक और धार्मिक शिक्षाकी कमीके कारण कितना जबरदस्त अधःपतन हुआ है। आज ब्रह्मचर्य, एकपत्नीव्रत, एकपतिव्रत तथा शीलकी भावनाको बहुत ही गहरी चोट पहुँची है। आजके शिक्षित कहलानेवाले विद्यार्थी अपनी बहिनस्थानीय छात्राओं-के साथ छेड़खानी और असभ्य आचरण खुले आम कर रहे हैं। उनके हृदयमें यह कोई बुरी बात या पाप है—ऐसी भावना नहीं दिखायी देती, न उन्हें कोई रोकनेवाला ही है। लड़के और लड़कियोंके विवाहकी वयकी मर्यादा बढायी गयी और स्त्रियोंको भी पुरुषों-जैसी ही कही जानेवाली ऊँची शिक्षा दी जाने लगी है। अतः १५ से २५ वर्षतककी अविवाहित कन्याएँ कई प्रदेशोंमें अधिक संख्यामें देखी जाती हैं। वैसे प्रदेशोंमें बंगाल और आसामका मुझे कुछ अनुभव है और वहाँके दैनिक पत्रोंके प्रत्येक अङ्कमें आपको उन अविवाहित कन्याओं और छात्राओंके भगानेके किस्से पढनेको मिलेंगे और ये तो केवल जो पकड़े जाते हैं और जिनके मामले चलते हैं, उन्हींके समाचार हैं। अन्य भगायी जानेवाली कन्याओंके व्यभिचार तो इससे कइगुना अधिक होते हैं। अधिक पढ़ी लिखी बी० ए० और एम० ए० की छात्राओंको जल्दी योग्य वर नहीं मिलते। मिलते हैं तो बहुत पैसा माँगते हैं, जो उनके माता-पिता दे नहीं पाते। अतः हजारोंकी संख्यामें ऐसी छात्राएँ २०-२५ वर्षकी उम्रतक अविवाहित ही रह जाती हैं। फिर वे बेचारी किसी आफिस या शिक्षण-संस्था और दूसरे सरकारी विभागोंमें नौकरी कर लेती हैं। इससे माता-पिताका खर्च टल जाता है और आमदनी आरम्भ हो जाती है। इसलिये वे भी फिर विवाहके लिये उत्सुक एवं प्रयत्नशील नजर नहीं आते। तब उन कन्याओंका अनुचित सम्बन्ध अविवाहित अवस्थामें ही इधर-उधरके व्यक्तियोंसे हो जाता है। यह जानकर भी कई माता-पिता तो मौन रहते हैं, कई उल्टा उसमें सहयोग भी देने लगे हैं। किसी धनिक या कमाऊ व्यक्तिसे किसी लड़कीका अनुचित सम्बन्ध हो जाय तो कई साधारण स्थितिके माता-पिता अपने लिये इसे लाभकारी ही समझते हैं या फिर उस कन्याको अपनी इच्छासे ही कोई वर चुन लेना पड़ता है। बीससे तीस वर्षकी ऐसी अविवाहिता और सुशिक्षिता कई कन्याओंके सम्बन्धमें बंगाल-आसाममें यह विश्वस्तरूपसे सुना और अनुभव किया है। उनका शील और चरित्र कहाँतक अदूषित रह सकता है! जब कि बहकानेवाले कामुक व्यक्तियोंकी कमी नहीं है। और भी अनेक तरहके व्यभिचार शहरोंमें ही नहीं, गाँवोंतकमें दिनोंदिन बढ़ रहे हैं। इसका हर-एक व्यक्ति अनुभव कर सकता है। यही दशा रही तो शील-धर्मका लोप-सा हो जायगा, जो मानवका सच्चा भूषण है। इन व्यभिचार-वृद्धिके कारणोंपर भी पूरी छानबीन करके योग्य उपाय काममें लेने चाहिये।

भारतीय जीवनमें एक बहुत बड़ा दूषित वातावरण सिनेमाओंके द्वारा बढ़ रहा है। आर्थिक बरबादीके साथ नैतिक भावनाओंकी समाप्ति बड़े जोरोंसे हो रही है। भारत सरकार मद्यका निषेध कर रही है, अन्य नशीली वस्तुओंपर कर (टैक्स) बढाकर उन्हें बंद करनेका प्रयत्न कर रही है; पर महान् अनर्थके मूल इन सिनेमाओंको उल्टा प्रोत्साहन दे रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्तिके बाद सैकड़ों ही नहीं, हजारों सिनेमाघर नये चालू हुए हैं। जहाँ एक था, वहाँ तीन-चार-पाँच हो गये हैं। शहरोंमें ही नहीं, गाँवोंतकमें यह बरबादी फैल रही है। अभी-अभी मैं दक्षिण भारतमें जो कुछ देखकर आया हूँ, उससे तो दंग रह जाना पड़ा। कई छोटे-छोटे गाँवोंमें एक नहीं, तीन-तीन सिनेमाघर चालू हैं और गरीब और मध्यम स्थितिके हजारों व्यक्ति इसकी चक्कीमें पिसे जा रहे हैं। दिनभरमें कठिन मेहनत करके चार-आठ आने कमाते हैं और शाम

होते ही सिनेमामें स्वाहा कर देते हैं। एक छोटे-से गाँवमें मैं गया तो देखा वहाँ तीन सिनेमा चलते हैं और दो-दो बार शो होता है और उनमेंसे प्रत्येकमें चार-पाँच सौ दर्शनार्थी सम्मिलित होते हैं। छोटे बच्चे, स्त्रियाँ, तथा अधिकाश गरीब स्थितिके पुरुष थे। कहिये कितना बुरा असर उनकी आर्थिक स्थिति और नैतिक भावनापर पड़ता होगा! मैंने सुना है कि सिनेमा देखनेके लिये बच्चे चोरी तक करने लगे हैं। जिनको घरवाले पैसे नहीं देते या जानेसे रोकते हैं, वे लुक-छिपकर, चोरी करके वा किसीसे उधार लेकर भी अपनी बुरी लतको चरितार्थ करते हैं। मनमें विकार पैदा करनेवाले दूषित प्रेम तथा अश्लील वार्तोकी शिक्षा और गदे गायन—ये ही तो उनके पल्ले पड़ते हैं जो जीवनकी बर्बादीके मूल हैं। सरकारको अपनी आय बढानेकी फिक्र लगी है। जनताके महान् अहितकी ओर उसने आँखें मूँद ली हैं, जो सर्वथा अनुचित और देशके प्रति बड़ा अपराध है।*

सरकारके अपव्ययका भी कुछ पार नहीं है। इधर तो जनतापर और वस्तुओंपर नये-नये टैक्स लगा वा बढा रही है और व्यापारियों आदिसे तो अनुचित तरीकोंसे सेलटैक्स, इन्कमटैक्स आदि अधिकाधिक वसूल करनेमें अधिकारी अपनी अधिकाधिक उन्नति मानते हैं, क्योंकि बड़ी-बड़ी योजनाओंके लबे खर्च किसी तरह पूरे करने ही हैं। विरोध करनेवालोंकी चलती नहीं। उनकी सुनता कौन है? जो मनमें आया, मृत्यु-बिल आदि पास कर लिया और उनकी आयोंके रुपयोंकी ठीकसे खर्च करनेकी ओर कोई लक्ष्य नहीं है। लबी-लबी हजारोंकी तनख्वाहें, जिनके कम होनेकी बात थी, उल्टी बढी ही हैं। दूतावासोंपर लाखों-करोड़ों रुपया अनाप-शनाप खर्च होता है। चुनावोंके लिये कितनी बर्बादी होती है और भी देशका रुपया कितनी बुरी तरहसे चारों ओर अपव्यय हो रहा है—इसकी फिक्र किसे है? क्या यह अनीति नहीं है? हजारों-लाखों रुपये तो इधर-उधर यों ही लोग उड़ा जाते हैं। क्या वे अपराधी नहीं हैं? पर यह सोचे कौन? अत्यधिक और अनैतिक करोंसे बचनेके लिये व्यापारियोंको भी अनीतिका मार्ग स्वीकार करना पड़ता है। इस तरहसे सरकार एक तरहसे अनीति सिखाती भी है। जनताका शोषण स्वराज्यकी शोभा नहीं।

भारतीय सस्कृति अहिंसा-प्रधान है। मानवोंको ही नहीं, पशुओंके वधको भी महान् पाप माना जाता है। पर स्वतन्त्रताके बाद मासाहार कितना बढा है, पशुओंकी हत्या कितनी अधिक हो रही है—इसकी ओर जरा भी ध्यान दिया जाय तो भारतीय सस्कृति और गाँधीजीके सिद्धान्तोंके सर्वथा विपरीत हो रहा है, यह स्पष्ट हो जायगा। देशकी अधिकाश जनताकी माँग गो-हिंसाको बद करनेकी होनेपर भी सरकार इसके लिये तैयार नहीं है। जहाँ जनमतकी अवहेलना है, वह जनतन्त्र कैसा? कसाईवाड़े, बूचड़खाने दिनों-दिन बढ रहे हैं। थोड़ेसे पैसोंकी आमदनीके लिये हजारों-लाखो बदरोंको विदेशोंमें निर्दयताके साथ मारनेके लिये भेजा जा रहा है। क्या पशुओंकी इस प्रकारकी हत्या-वृद्धि अपराध नहीं है? फिर उसको कम करनेकी अपेक्षा बढावा क्यों दिया जा रहा है?

मनुष्यके लिये ही नहीं, प्राणिमात्रके लिये जीवनका पहला एव आवश्यक कार्य क्षुधा-निवृत्ति है। पेटकी ज्वालाके आगे न्याय, अन्याय, पाप और अपराध—सभी भुला दिये जाते हैं। अतः किसी भी सरकारका सबसे पहला कर्तव्य यह होना चाहिये कि बेकारी न रहने पाये, न बढने पाये; वस्तुएँ महँगी न हों, इसका ध्यान रखा जाय। बहुत-से अपराधोंके मूलमें यह बेकारी और भुखमरी तथा महँगाई ही दिखायी देती है। इधर कुछ वर्षोंसे वह भयानकरूपमें बढ रही है। युद्धकालके बाद पूर्वापेक्षा भी वस्तुओंके दाम बहुत बढ गये, पर उद्योग-धधे और आजीविकाके साधन उतने नहीं बढे। इधर जन-सख्यामें तेजीसे वृद्धि होती जा रही है। उधर व्यापार-रोजगार-कामधधे ठप्प-से होने लगे हैं। बहुत-से व्यक्ति बेकार हो गये और नये पढे-लिखे आदि दिनोंदिन बेकारीमें और भी वृद्धि कर रहे हैं।

* २८ जनवरीके 'नवभारत टाइम्स'में श्रीजगदीशचन्द्रजी त्यागीने लिखा है—"भारतमें लगभग ३५०० सिनेमागृह हैं, छविगृहके बाहर लाइन लगाकर टिकट लेनेमें आधा घटा, आने-जानेमें पौन घटा और खेलका समय तीन घटा—इस प्रकार प्राय हर एक दर्शक एक बारमें सवा चार घटेका समय नष्ट करता है। लगभग छविगृहोंमें २२७५००० व्यक्तियोंके बैठनेका स्थान है और दर्शकोंकी वार्षिक औसतन उपस्थिति ७३ करोड़ है। अब इतने व्यक्तियोंका ४। घंटेके दरसे एक वर्षमें ३०८३४ वर्ष जितना समय व्यय हो जाता है। यह तो रही समयकी बात, अब धनकी सुनिये। यदि प्रति व्यक्तिका औसत १) एक रुपया भी मान लिया जाय तो ७३ करोड़ रुपये सिनेमा देखनेमें व्यय कर दिया जाता है, जबकि सिनेमाकी टिकट दस आनेसे साढे तीन रुपयेतक की भी है।"

इतना धन और समय व्यय करके लोग बदलेमें प्राप्त करते हैं—अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, चोरी, डकैती, अपराध आदि करनेकी प्रबल प्रवृत्ति!!

नये पढ़े-लिखे युवक और युवतियाँ अनेक दुर्व्यसनों और फैशनोंमें फँसते जा रहे हैं। चाय, सिगरेट, पान, साबुन, तेल, धुलाई, बढ़िया-बढ़िया कपड़े, जूते, घड़ी, साइकल, मोटर, बिजलीके पखे, रेडियो आदि सभी तरहके ऐश-आराम और सुख-सुविधाएँ उन्हें चाहिये। अतः खर्च तो खूब बढ़ा, पर बेचारोंको कोई नौकरी और कामधधा नहीं मिलता। नित्य समाचारपत्रोंको पढते हैं। 'आवश्यकताओं (Wants)' को ही विशेषरूपसे देखते रहकर तत्काल अर्जी लिख भेजते हैं, परतु जहाँ एक आदमीकी जरूरत है, वहाँ हजारों अर्जियाँ पहुँचें तो उनकी आशाएँ कहाँतक सफल हो सकती हैं। उनके माता पिताओंके पास जो कुछ था या वे जो कमाते हैं, वह तो उनकी पढाईमें ही स्वाहा हो जाता है। फिर वे पढ लिखकर भी कुछ कमा नहीं पाते और उनकी विवाह-शादियोंमें बहुत लबा खर्च हो जाता है। फिर बच्चे-बच्चियोंकी कतार-सी लग जाती है। कहिये, वे बेचारे पेटके लिये फिर कोई अन्याय या अपराध न करें—यह कहाँतक सम्भव है? इस बेकारीकी समस्याको जल्दी-से-जल्दी हल किये बिना भारत आगे नहीं बढ सकेगा। लोगोंमें श्रम, सेवा और मितव्ययिताकी भावनाको तेजीसे पनपाना होगा और छोटे-छोटे उद्योग-धधे समस्त देश-व्यापीमें चालू करने होंगे। शिक्षाके वर्तमान तरीकेको बदलकर जिन जिन कामोंमें जितने व्यक्ति खप सकते हैं, उन विषयोंकी शिक्षा उन्हें देनी होगी। शिक्षाके साथ उद्योगका सम्बन्ध अनिवार्य करना आवश्यक है। नैतिक और धार्मिक शिक्षा* भी अवश्य दी जाय, जिससे उनकी प्रकृतिमें सात्त्विकता बढ़े, दुराचारोंसे उन्हें घृणा हो।

*धर्मकी इस प्रकार उपेक्षा करनेसे—चाहे उसमें भावना कोई भी हो—व्यक्तिके नैतिक आदर्शोंमें अवश्यमेव शिथिलता आ जायगी। सचाई, ईमानदारी, सेवाभाव आदि नैतिक आदर्शोंके प्रति व्यक्तिका अनुराग हृदयको आन्दोलित करनेसे ही उत्पन्न होता है। हृदयको आन्दोलित करनेमें वे सभी प्राचीन पौराणिक गाथाएँ, जिनके प्रति व्यक्तिकी ममता है, विशेष सहायक होती हैं। अपनी सस्कृतिकी रक्षा धर्ममार्गपर चलनेके लिये आवश्यक है। संस्कृति जीवनका प्रेरणा-स्रोत है। धर्मके प्रेरणास्रोतोंको सुखा देनेका परिणाम इन नौ वर्षोंमें यह हुआ है कि देशमें अनैतिकता बढ़ गयी है। केवल कर्तव्यके नामपर मनुष्यमें सचाई, ईमानदारी और सेवाभाव नहीं थोपे जा सकते। इसीलिये मनीषी चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचार्यने धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकतापर बहुत जोर दिया है।

भारतीय अहिंसा-नीतिके अनुसार अपराधियोंके लिये मृत्युदण्ड तो बद हो ही जाना चाहिये। अभी-अभी ससद्‌में इसके लिये एक विधेयक प्रस्तुत किया गया, पर सरकारकी ओरसे उसका घोर विरोध हुआ। विधिमन्त्रीने उसे असामयिक बताया और मृत्युदण्ड बद करनेपर हत्याओं आदिके बढनेकी आशङ्का प्रकट की। पर प्रश्न तो यह है कि हजारों वर्षोंसे मृत्युदण्ड चालू है, क्या उससे हत्याओंके अपराध कम हुए हैं? यदि नहीं तो एक बार उस अच्छे रास्तेका भी प्रयोग करके देखना चाहिये। मृत्युदण्डकी जगह आजन्म कारावास कम नहीं है। किसी भावावेशमें आकर यदि किसी व्यक्तिसे कोई हत्या हो गयी तो क्या उसकी भावनामें सुधार नहीं किया जा सकता? बहुत बार हत्या करनेवाले अपने आवेश एव अपराधके लिये बहुत ही पश्चात्ताप करते देखे जाते हैं और वे भविष्यमें यह गलती नहीं दुहरायेंगे—इसके लिये दृढसकल्प भी करते हैं। उन्हें सुधरनेका मौका अवश्य ही मिलना चाहिये। इसी तरह अन्य अपराधियों एव कैदियोंके प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार हो। उनको अर्थोत्पादक अच्छे-अच्छे उद्योगोंकी शिक्षा दी जाय या उनमें उन्हें लगाया जाय। साथ ही हर जेलमें प्रार्थना, गीता आदि अच्छे धार्मिक ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी व्यवस्था हो। सद्‌विचारोत्तेजक व्याख्यान, अच्छे ग्रन्थोंके स्वाध्याय, सत्पुरुषोंकी सगति आदि उनके विचारोंको सुधारने एवं सात्त्विक भावोंमें वृद्धि करनेवाले साधनोंको अधिक-से-अधिक परिमाणमें उपस्थित किया जाय। धर्मगुरुओं, सत्पुरुषों और सतोंसे अनुरोध किया जाय कि वे अपराधियोंको सुधारनेमें सहयोग दें। अन्य देशोंमें इस सम्बन्धमें कई प्रकारके प्रयत्न हुए एव हो रहे हैं। फिर भारतमें देरी और उपेक्षा क्यों? हमारे राष्ट्रपिता गाँधीजी और विनोबाजी तो हृदय-परिवर्तनको ही प्रधानता देते हैं और उन्होंने अपने प्रयत्नसे लाखों और करोड़ों व्यक्तियोंका हृदय-परिवर्तन किया भी है। गुजरातमें सत रविशकरजी, सत बालजी, स्व० मावलकरजी आदिने अपराधियोंके सुधारमें जो आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की, उसके उदाहरण हमारे सामने हैं। उत्तर-प्रदेश आदिकी सरकारोंने जेलोंके सुधारकी ओर ध्यान दिया है—यह जाननेमें आया है। उसे तेजीसे आगे बढाया जाय। अपराधी-सुधारमें अहिंसात्मक हृदय-परिवर्तनका तरीका शीघ्र एव अवश्य अपनाया जाय।

अभी-अभी दस वर्षके कठोर कारावासकी सजा भोगकर

५० वर्षीय ज्योतिभूषणने सरकारको जो अनुरोध-पत्र भेजा है कि 'या तो मेरे पुनर्वासकी उपयुक्त व्यवस्था हो, नहीं तो शेष जीवन जेलमें ही काटनेकी अनुमति दी जाय। पेट भरनेके लिये उसे चोरीके सिवा कोई चारा न रहा।' उसका वर्णन 'तरुण'के गत १५ नवम्बरके अङ्कमें छपा है, जो समाज और सरकारको एक चुनौती है। सरकार अपनी है, अतः किसीको दोष देनेकी बात नहीं। हम सभीका राष्ट्रिय उन्नतिमें सहयोग देना कर्तव्य है, सभी कर्तव्य-पालन करें। सरकार ठीक काम न करे तो उसके विरुद्ध जन-आन्दोलन चलाया जाय। चुनावमें योग्य अनुभवी ईमानदार व्यक्तियोंको भेजा जाय।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—डा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

२३—दो देवता

'बाबा, मुझे एक देवता ला दो—बड़ा-सा देवता।' श्रीव्रजराजके अङ्कमें दाहिने जानुपर मृदुल स्वर्ण-प्रतिमाके समान दाऊ और बायें जानुपर विकच-इन्दीवर-श्याम मोहन आ बैठे हैं। कन्हाईने कल बाबाको पूजा करते देखा है। उसे भी एक देवता लेना है। किंतु बाबाके छोटेसे शालग्राम उसे पसंद नहीं। वह बड़ा देवता लेगा। उसने बाबाकी घनी यत्र-तत्र कुछ पकी दाढ़ीमें अपने नन्हे गुलाब-से हाथ उलझा दिये।

'तू देवताका क्या करेगा?' बाबाने पुचकारते हुए पूछा।

'पूजा करूँगा।' अपनी तोतली बोलियोंमें मोहन कह गया।

'तेरा देवता तो यह दाऊ है?' चपल कन्हाईके हाथमें कोई देवप्रतिमा पड़ जाय तो उसका क्या होगा, कौन कह सकता है। फिर छोटे भाईका देवता बड़ा भाई नहीं है, यह कोई कह कैसे सकता है।

'और यह कनूँ?' दाऊने दोनों हाथोंसे बाबाके दोनों कपोल पकड़े। यह कोई बात है कि वे देवता हैं, उनका छोटा भाई देवता नहीं है।

'हाँ, हाँ, यह भी देवता है।' बाबाको हँसी आ गयी। देवताका भाई भी तो देवता ही होगा।

'दाऊ दादा देवता है!' श्यामको अपनी धुन है। वह बाबाकी गोदसे उतरकर ताली बजाता नाच रहा है। चरणोंके नूपुर और कटिकी मेखला रुनझुन कर रही है। भालपर कुञ्चित केश लहरा रहे हैं।

'दादा, तू आ!' अग्रजके बड़े भाईका हाथ पकड़कर वह घरमें ले जानेको खींचने लगा।

× × ×

'तुम दोनों क्या कर रहे हो?' मैया देखती ही रह गयी अपने पुत्रोंकी वह शोभा।

'पूजा कर रहा हूँ।' श्यामने देखा मैयाकी ओर, तनिक हँसकर वह फिर अपनी पूजामें लग गया।

दाऊ दादा तो घरका देवता है। वह कहीं भाग तो जायगा नहीं। मोहनने बाबाको पूजा करते कल देखा है। बाबा अपने छोटे-से काले-काले देवतापर दूध, दही, घी, चीनी, चन्दन, फूल आदि बारी-बारीसे डाल रहे थे। देवतापर एक ही दिन सब चीजें डाल दी जायँ, ऐसी क्या जल्दी है। जब जिस दिन जो चीज मिलेगी, वह डाल दी जायगी। देवता साथ ही तो है। आज दही मिल गया है, कन्हाई अपने देवताकी पूजा कर रहा है उसने और बाबाने दाऊसे भी तो बताया है कि श्याम भी देवता है, फिर दाऊ ही क्यों पूजा न करे!

दहीके मुखतक भरे छोटे-से मटकेके पास राम-श्याम एक दूसरेकी ओर मुख करके पास बैठे हैं। दोनों दिगम्बर देवता नन्हें हाथोंमें दही भरकर एक दूसरेके सिर, कंधे, पेट और पैरपर कहीं भी डाल देते हैं, डालते जा रहे हैं। भूमिपर चारों ओर दही फैला है और उसमें बैठे अपनी गोदके इन दोनों देवताओंको अब मैया सिरसे पैरतक शुद्धोदक स्नान कराना चाहती है।

२४—भेंट

'दादा!' बड़ी कठिनाई तो यह है कि इस समय सिर उठाकर इधर-उधर देखा नहीं जा सकता और यह दाऊ तो पूरा मौनी बाबा है। पुकारनेपर भी चुपचाप देखता और मुसकराता रहता है। उत्तर तो कदाचित् ही देता है।

किसीने श्यामसुन्दरके नन्हे-नन्हे दोनों हाथ सुन्दर पकड़े

फलोंसे भर दिये हैं। नन्हा कन्हाई, उसकी नन्ही-सी अञ्जलि—कितने फल आ सकते हैं उसमें? परतु लाल, पीले, रंग-बिरंगे बड़े सुन्दर फल हैं। कृष्णचन्द्र अपने पेटके सहारे अञ्जलि लगाये बहुत सावधानीसे सम्हल-सम्हलकर चलता, सम्हालकर लिये आ रहा है उन फलोंको। कोई फल नीचे न गिर जाय।

दिगम्बर श्याम—चरणोंके नूपुर और कटिकी किङ्किणी इस मन्द गतिमें क्वचित् ही तनिक-सा शब्द कर पाती हैं। मस्तक झुकाकर फलोंको देखने और गिरनेसे बचानेके प्रयत्नमें व्यस्त है मोहन। घनी अलकें झुककर मुखमण्डलपर चारों ओरसे लटक आयी हैं। पदोंकी गति शिथिल और अरबराती-सी अस्तव्यस्त है।

'दादा!' खड़े होकर कन्हाईने सिर उठाया और कुछ झुके हुए फलोंको सम्हाले हुए ही देखा उसने। वह क्या सामने बैठा है उसका दादा। पालथी मारे आँगनमें बैठा है और छोटे भाईकी ओर देखकर मन्द-मन्द हँस रहा है। मोहनके अधरोंपर भी स्मित आया। उसने फिर मस्तक झुका लिया। चरणोंमें उल्लसित गति आ गयी। फद् फद्—जल्दी-जल्दी चलनेके प्रयत्नमें लग गया है वह, किंतु इतने फलोंको लेकर चलना क्या सरल काम है?

'दादा!' श्यामसुन्दर दाऊके पास आकर धीरेसे भूमिपर बैठ गया। सारे फल बड़े भाईके सामने फैला दिये—धर दिये उसने अपने फैले हुए दोनों पैरोंके बीचमें और दोनों हाथ भूमिपर टेककर, मस्तक झुकाकर बड़ी प्रसन्नतासे दो क्षण देखता रहा फलोंको। देहलीसे यहाँतक बीस डगकी भारी दूरी इतने फल अजलि और पेटपर लादकर यह सुकुमार चलकर आया है—थक नहीं गया होगा? किंतु इसे थकानका ध्यान नहीं। यह तो प्रसन्न हो रहा है—'कितने फल लाया हूँ मैं। कितने सारे—कितने सुन्दर!'

पालथी मारे नीली कछनी मात्र बाँधे गोरे दाऊके सामने दोनों चरण दोनों ओर फैलाकर उनके बीचमें रंग-बिरंगे फल बिखेरे, दोनों हाथ भूमिपर टेके, उसका यह नव-नील-नीरद दिगम्बर अनुज! अब यह वैसे ही बैठा मुसकराता अग्रजके मुखकी ओर मुख ऊपर उठाकर मुग्ध भावसे देख रहा है—'दादा क्यों उसीको देख रहा है? कितने अच्छे फल हैं—खा न इन्हें!' किंतु दाऊ तो एक फल उठाकर उसीके मुखसे लगाने जा रहा है।

२५—दौड़

'दादा!' श्यामसुन्दर दौड़ता-दौड़ता खड़ा हो गया है। बड़े भाईको पुकार रहा है।

'आ, आ जा तू!' दाऊने मुड़कर पीछे देखा और हाथ फैलाकर छोटे भाईको बुलाया।

'नहीं, तू यहाँ आ!' कन्हाईने वहीं खड़े-खड़े कहा और अपनी कछनी खोलनेमें लग गया। यह कछनी भी एक उपद्रव है। यह दौड़ने नहीं देती। मैया जब पीताम्बरकी कछनी बाँध देती है—बहुत थोड़ी देर रह पाती है वह श्यामकी कटिमें। यदा-कदा ही मोहन उससे प्रसन्न होता है। प्रायः वह उसे खोलकर चाहे जहाँ फेंक आता है।

तू थक गया? दाऊ अपने छोटे भाईके पास लौट आया। उसका यह छोटा भाई कितना सुकुमार है। यह थक तो गया ही होगा।

तू आगे मत दौड़! श्यामको अभी दौड़नेकी उमंग है। दौड़ना है। क्यों दौड़ना है? किसलिये दौड़ना है? कितना दौड़ना है? कहाँतक दौड़ना है? यह सब कुछ नहीं। दोनों भाइयोंको दौड़ना है।

अब कछनी फेंककर श्याम दौड़ पड़ा है। वह लदबद दौड़ता जा रहा है। हिल रही हैं घुंघराली अलकें, हिल रहा है वक्षपर नन्हे मुक्ताफलोंका हार, हिल रहे हैं दोनों कर-कमल। लाल-लाल चरण फद्-फद् करते उठ-गिर रहे हैं। नूपुर एवं किङ्किणी शब्द कर रही हैं। आगे-आगे दिगम्बर नीलसुन्दर दौड़ रहा है और उसके पीछे कमरमें नीली कछनी बाँधे स्वर्ण-गौर उसका बड़ा भाई दौड़ रहा है, जान-बूझकर कुछ मन्द गतिसे।

'दादा!' कन्हाई खड़ा हो गया। बड़ा प्रसन्न है वह। अपने दाऊ दादासे आगे दौड़ आया है, इस उमंगमें पीछे मुड़कर खड़ा हो गया है। दोनों नन्हे हाथोंसे ताली बजा रहा है।

श्यामसे दो पद दूर आकर दाऊ खड़ा हो गया है। वह क्या कम उमंगमें है? उसका छोटा भाई इतना प्रसन्न है। उसके कनूँके इन्दीवर-सुन्दर मुखपर स्वेदके कण झलमल कर रहे हैं और ताली बजा रहा है वह। दाऊ एकटक देख रहा है अपने अनुजको।-उसकी उमंग ही दूसरी है।

'आ, दौड़ !' कन्हाई फिर दौड़नेको मुड़ पड़ा है।

'मैं तो थक गया !' दाऊने साथ नहीं दिया।

'तू थक गया दादा ?' श्याम लौट आया है बड़े भाईके पास और उसका हाथ पकड़कर झूम रहा है। हँस रहा है।

कौन थका है ? इन दोनोंमें कोई थका हो या न थका हो, देखनेवालेके पलक अवश्य थकित हो रहेंगे।

२६—शयन

'दादा !' कन्हाई नींदमें ही अपने हाथसे अपने बड़े भाईको टटोल लेता है। दाऊके हाथ उसके शरीरसे हटे और वह चौंका। वह करवट लेगा और आँखें बंद किये ही पुकारेगा तथा टटोलेगा। दाऊ अपने छोटे भाईको निद्रामें भी अपने हाथसे मानो सम्हाले रहता है। यदि करवट लेनेमें वह हाथ हट जाय, मैयाके थपकी देनेपर भी श्याम दादाको ढूँढेगा।

श्यामके नीलकमलके समान सुन्दर शरीरपर दाऊका प्रफुल्ल पद्मकर या फिर दाऊके देहपर मोहनका नन्हा-सा अरुण सरोज-पाणि—दोनों भाई एक दूसरेको छूते हुए ही सो सकते हैं। एकके बिना दूसरेको निद्रा ही नहीं आती।

'दादा !' श्यामने हाथसे टटोला। शय्यापर हाथ पड़ रहा शिथिल होकर और वह फिर कुनमुनाया। फिर पुकारा उसने और टटोला। उसका दादा कहाँ गया ? वह नेत्र बंद किये ही उठ बैठा सुकुमार चरणोंसे ओढा हुआ पीताम्बर हटाकर शय्यापर। दोनों हाथोंसे नेत्र मले उसने।

'दादा !' श्यामने नेत्र मलते हुए, जम्हाई लेते हुए पुकारा। अब नेत्र खोलकर देखा उसने इधर-उधर। यह दाऊ दादा इतना सबेरे क्यों उठ गया ? क्यों शय्यासे उतरकर दूर भूमिपर बैठा है ? श्याम अभी नींदमें है। वह कुछ सोचता नहीं, कुछ विशेष देखता नहीं। उसने अपने बड़े भाईको देख लिया है—बस। अब वह शय्याको दोनों हाथोंसे पकड़कर पेटके बल होकर दोनों पैर नीचे लटकाकर उतर रहा है।

दाऊ आज पहले उठ गया। वह धीरेसे नीचे उतर आया। सब मैयाके पास भूमिपर बैठ गया है। मैया दही मथ रही है। मक्खन निकले तो वह झटसे लेकर अपने छोटे भाईके पास चला जाय। कनूँ सोता ही रहे, तब भी उसके मुखमें थोड़ा-सा मक्खन रख देगा वह। बार-बार मन्थन-पात्रमें झाँकता है—कितनी देर है मक्खन निकलनेमें ? अभी नहीं निकला ? अब-तक नहीं निकला ? वह मैयासे बार-बार शीघ्र माखन देनेको कह रहा है।

'दादा !' डगमग पैरों मोहन आया। दाऊ अब-तक छोटे भाईका पुकारना सुन नहीं सका था। अब उसे आया देखकर हँस पड़ा। किंतु श्यामकी नींद पूरी नहीं हुई है। वह तो आया और बड़े भाईकी गोदमें सिर रखकर वहीं सो गया भूमिपर।

नन्हेसे दाऊकी गोदमें सिर धरे उसका नन्हा भाई सो रहा है। बड़ी-बड़ी पलकें बंद करके, दोनों हाथ शिथिल डालकर कन्हाई भूमिपर ही सो रहा है, घुँघराली अलकोंसे घिरा उसका मुख—श्वाससे हिलता वक्ष एवं उदर।

दाऊ अपने भाईको देख रहा है और बिना बोले मैयाको हाथसे मना कर रहा है—दही मत हिला। कनूँ सो रहा है यह। इसे जगा मत।'

२७—विनोद

'आ, दूध पीयेगा ?' श्रीव्रजराज दोनों घुटनोंमें दोहनी दबाये गो-दोहन कर रहे हैं। पीछे कौन आकर खड़ा हुआ, यह जाननेकी उन्हें आवश्यकता नहीं। दाऊ, श्याम, भद्र, सुबल, तोक—कोई भी हो, बाबाके लिये सब अपने ही हैं। नूपुरोंकी रुनझुन ध्वनिसे केवल इतना समझा उन्होंने कि कोई शिशु है और वह उनके पीछे, उनके कंधेको सहारा बनाकर आ खड़ा हुआ है।

'ले, मुख खोल तो !' बाबाने देखा कि उनका कृष्ण अब उनके पीछेसे सामने आ खड़ा हुआ है। वह अभी-अभी नींदसे उठकर, मैयाकी आँख बचाकर गोष्ठमें चला आया है। अलकें बिखरी हैं, भालपरका कज्जल-बिन्दु भालपर और नेत्रोंका अञ्जन कपोलोंपर फैला है। अब भी नेत्रोंमें आलस्य है। खड़ा-खड़ा वह दूधकी उजली धार बड़े ध्यानसे देख रहा है। उसका यह दिगम्बर रूप··· ।

'दूध पीयेगा ?' बाबाने बड़े स्नेहसे फिर पूछा।

'हूँ !' सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए अपना छोटा-सा मुँह खोल दिया उसने।

दूधकी धारा सीधे मुखमें पड़ी, पता नहीं कैसी गुदगुदी-सी लगी और मोहनने मुख बंद कर लिया। पतले लाल-लाल अधरोंपर पड़कर बिखर उठी वह उज्ज्वल धारा। नील कमल-से मुखपर दूधकी बूँदें चमकने लगीं। अलकोंमें कुछ उज्ज्वल सीकर उलझ गये।

'मुख खोल!' बाबाने फिर प्यारसे कहा, किंतु श्यामने हँसते हुए मुख घुमा लिया दूसरी ओर। उसे दूधकी धारा जीभपर लेनेमें गुदगुदी होती है।

'अब यह क्या करता है?' बाबाने डाँटा नहीं, उनके स्वरमें प्रसन्नतापूर्ण वात्सल्य ही था। मोहनने अपनी दाहिनी हथेली फैला दी है और उसे पात्रके ऊपर करके दूधकी धारा रोक रहा है। हाथपर दूधकी धारा लेना उसे बहुत रुचा है। हँस रहा है वह।

'दादा!' श्याम हटा नहीं, हाथ भी नहीं हटाया उसने। बड़े भाईको देखकर उसने पुकारा और अपनी हथेलीकी ओर देख लिया। उसकी भङ्गिमा कह रही थी—'दादा देख तो! यह कितना अच्छा खेल है।'

दाऊ अपने छोटे भाईको ढूँढता अकेला गोष्ठमें आ पहुँचा है। श्रीनन्दबाबा घुटनोंमें दोहनी दबाये दोनों हाथोंसे खूब बड़ी, चाँदी-सी उज्ज्वल कामदाको दुह रहे हैं। उनके एक ओर श्याम और एक ओर राम खड़े हैं। दोनोंने एक-एक हाथसे बाबाका कधा पकड़ रखा है और दूसरी हथेलीपर दूधकी धारा ले रहे हैं। लाल-लाल हथेलीपर उजली धारा। दूधके बिन्दु दोनोंके दिगम्बर अङ्गोंपर और बाबाके मुख, दाढी, पेटपर बढते जा रहे हैं। दोनों बार-बार खिलखिलाकर-खिलखिलाकर हँसते हैं और देखते हैं हाथपर पड़ी दूधकी धाराको। बाबा आनन्द-विह्वल हो रहे हैं अपने पुत्रोंका विनोद देखकर।

दूध-सा उज्ज्वल कामदाका बछड़ा फुदक रहा है, बार-बार सूँघता है राम-श्याम या बाबाको। उसकी माँके दूधका इतना सुन्दर उपयोग हो सकता है! वह प्रसन्नतासे कूद रहा है।

२८—आनन्दकन्द

'क्या है रे! क्यों भागता है तू!' माता रोहिणी बैठी हैं बहुत-से वस्त्र सामने रखकर। उन्हें कोई-न-कोई व्यवस्था करनी ही रहती है। अब यह हँसता, खिलखिलाता कृष्णचन्द्र आया और उनके सामने रखे वस्त्रोंके ढेरमें छिपने लगा है। अपने ऊपर बहुत-से वस्त्र डालकर घुटनोंके बल भूमिमें चिपक गया है वह। माता उसका छिपना देखकर हँस रही हैं। उनके नन्हे कन्हाईने कितना सुन्दर स्थान चुना है छिपनेके लिये।

'कनूँ!' यह आया ताली बजाता उछलता-सा हँसता दाऊ। अपने छोटे भाईको यह छूने आया है दौड़ा दौड़ा।

'कनूँ!' श्याम कहीं चुपचाप पड़ा रह सकता है? फिर इस समय तो उसे हँसी आ रही है। वह अपने ऊपर लदे रंग-बिरंगे वस्त्र हिला रहा है। दाऊ उन वस्त्रोंके ढेरको दोनों हाथोंसे पकड़कर लेट-सा गया धीरेसे उनपर सिर रखकर छातीके बल।

'दादा!' श्यामने एक ओरसे अपना छोटा-सा सिर निकाला और दाऊके पेटके नीचेसे सरककर निकल गया। अब वह माता रोहिणीकी पीठसे चिपककर ताली बजा रहा है।

'राम! अपने छोटे भाईको दौड़ाकर गिराना नहीं!' किंतु यह माता रोहिणीका राम या कन्हाई क्या इस समय उनकी बात सुन सकते हैं? दोनों अपने आनन्दमें, अपनी क्रीड़ामें मग्न हैं। दोनों हँसते हैं, ताली बजाते हैं और माँके इधर-उधर दौड़ते हैं एक दूसरेको छूने तथा बचानेके लिये। श्याम कभी माताकी पीठसे चिपकता है, कभी बगलमें खड़ा होता है और कभी सामने। माता जिसे भी पकड़नेको हाथ बढाती है, वही दूर हट जाता है हाथसे। माता रोहिणीके सामने पड़ा नवीन कौशेय वस्त्रोंका ढेर—परतु ये दोनों कहाँ उसे देखते हैं। अपनी दौड़ादौड़ीमें उस ढेरको अपने छोटे छोटे चरणोंसे ये रौंदते ही जा रहे हैं।

'दाऊ! आ, लाला; कलेऊ कर ले!' यह मैया आ गयी अपने दोनों शिशुओंकी क्रीड़ा देखने। वह क्या देखती नहीं है कि इन दोनोंको अभी उसकी बात सुनायी पड़ ही नहीं सकती?

'दादा!' श्यामसुन्दर माता रोहिणीकी ओटसे मैयाके पीछे जा छिपा है। वह मैयाके दोनों पैरोंके बीचमें खड़ा है और दोनों हाथोंसे मैयाके वस्त्रको लेकर अपनेको प्राय: पूरा ढक लिया है उसने। उसका अलकोंसे घिरा, हास्यसे खिला मुख ही बाहर झाँक रहा है।

मैया और माता रोहिणी अपने आनन्दकन्दकी इस आनन्द-क्रीडामें मग्न हो रही हैं, डूब-सी गयी है आनन्दसिन्धुमें और यह दाऊ हँसता हुआ फिर दौड़ा है इस आनन्दघन अपने अनुजको पकड़ने।

२९—शिक्षण

'मैं शङ्ख बजाऊँगा।' श्यामसुन्दर दाऊको लिये विना तो कोई काम करनेमे रहा। अब यह बड़े भाईका हाथ खींच रहा है कि वह इसे बाबाका बड़ा शङ्ख बजाना सिखा दे।

'चल।' दाऊको ही कहाँ कम कुतूहल है। उसीको कहाँ शङ्ख बजाना आता है। दोनों भाई एक दूसरेका हाथ पकड़कर चल पड़े हैं।

एक बार इधर-उधर देखकर कि कोई देखता तो नहीं कृष्णचन्द्रने दोनों हाथोंसे उठा लिया बाबाका शङ्ख और लाकर दे दिया बड़े भाईको।

'फूँ' नन्हेंलाल हाथोंमें बड़ा-सा शङ्ख लेकर दाऊ मुखसे लगाये है। उसके छोटेसे मुखकी वायु शङ्खमें 'फू' करके निकल जाती है। कन्हाई ध्यानसे बैठा हुआ बड़े भाईकी ओर देख रहा है।

'दादा, मुझे दे तो।' उठकर खड़ा हो गया कृष्णचन्द्र और दोनों हाथोंमें शङ्ख ले लिया उसने। जिसके नन्हे हाथ अभी प्रयत्नपूर्वक शङ्खको सम्हाल पाते हैं, वह शङ्ख बजा लेना चाहता है!

'पुर्र!' शङ्ख फूँकसे नहीं बोलता तो मोहनने उसके छिद्रमें अधर लगाकर अपने मुखसे ही शब्द कर दिया है और अब शङ्खको अधरोंसे हटाकर दाऊकी ओर मुसकराता हुआ मानो कह रहा है—'देख दादा! मैंने इतना तो बजा ही दिया इसको।'

'ये दोनों कबसे प्रयत्न कर रहे हैं, तुम इन्हें सिखा दो न।' मैया पता नहीं कबसे द्वारकी ओटमें खड़ी हैं और अपने दोनों कुमारोंका उद्योग देख रही हैं। अब बाबाको आते देखकर अनुरोध किया उसने।

'तुम शङ्ख बजाओगे? अच्छा! आओ, मैं सिखाऊँ।' बाबाको देखकर दोनों भाई चौंके थे, किंतु बाबा तो हँस रहे हैं। प्रसन्न हैं वे। श्यामसुन्दर शङ्ख लिये उनके आगे आ खड़ा हुआ है।

'पहिले अपने दादाको बजाने दे।' बाबाके बैठते ही कृष्णचन्द्र उनकी गोदमें जा बैठा है। दाऊको अपने आगे बैठा लिया है उन्होंने। अब वे बताने लगे हैं कि किस प्रकार मुख सिकोड़कर कैसे शङ्ख मुखसे लगाना चाहिये और कैसे फूँकना चाहिये। स्वयं बजाकर बता रहे हैं वे।

'धूँ! धूँ!' पता नहीं इस नन्हे दाऊकी फूँकमें कितनी शक्ति है। यह तो पहिली ही बार बजाने लगा है शङ्खको जोरसे और बजाता ही जा रहा है। उत्साहके मारे बजाते-बजाते खड़ा हो गया है यह।

'दादा, मैं बजाऊँगा।' श्याम अब दाऊके पास पहुँच गया है। दोनों हाथोंसे शङ्ख पकड़ लिया है इसने। शङ्ख लेकर यह सीखनेके लिये बाबाके पास आ गया है।

'फू, पुर्र!' बहुत नन्हा है कन्हाई। शङ्खके लिये पर्याप्त फूँक कहाँ दे पाता है यह सुकुमार। बाबा कहते हैं—'अब तुझे कल सिखाऊँगा।'

'मैं दादाने सीखूँगा।' यह कोई बात है कि दाऊ शङ्ख बजा ले और श्याम न बजा पाये। अब जब दादाको बजाना आ गया है, उसे शिक्षक तो मिल ही गया।

अब बजाकर रहेगा वह।

३०—रूठा कन्हाई

'कनूँ! लाल! उठ तो! देख तो तेरे शरीरमें कितनी धूल लग गयी है। तेरे केश धूलमें सन गये हैं। देख, तुझे कौन बुला रहा है।' मैया पुचकार रही है, दुलार रही है, बार-बार गोदमें लेनेका प्रयत्न कर रही है।

कन्हाई आँगनमें भूमिपर चित पड़ा है। उसके नील-सुन्दर अङ्गोंमें तथा घुँघराली अलकोंमें रज लिपट गयी है। अञ्जन-रञ्जित बड़े-बड़े नेत्रोंमें आँसूकी बूँदें झलमला रही हैं। वह अपने लाल-लाल चरण और कर उछाल रहा है। मैया उसे उठाती है तो वह और भी छटपटाता है। मैयाके नाक, मुख, हाथ नोचता है। बार-बार छूटकर पृथ्वीपर लोटता है। वह एक ही धुन लगाये है—'दाऊ!'

'दाऊने तेरी रोटी छीन ली? बहुत बुरा है दाऊ। मेरा लाल तो राजा है। उठ। मैं तुझे दूसरी उससे अच्छी रोटी देती हूँ।' मैया दूसरी रोटी ले आयी बहुत-सा माखन चुपड़कर।

'दाऊ!' श्यामने उठकर दूसरी रोटी हाथमें ले ली और बैठ गया।

'मैं दाऊको अब नहीं छीनने दूँगी, मारूँगी उसे।' मैयाको क्या पता कि बात क्या है।

'दाऊ!' कन्हाईने बड़े जोरसे मस्तक इधर-उधर हिलाया और फिर रोनेका स्वर किया। अब वह मैयापर खीझ रहा है। अभी उसे बोलना तो आता नहीं। वह केवल दो अक्षरोंके एक दो नाम ही तुतलाते हुए बोल पाता है। मैया

क्यों नहीं समझती कि उसका लाल चाहता है कि वह दाऊको लाकर उसके आगे बैठा दे।

'ले, दाऊ आ गया। क्यों रे?' हाथमें एक रोटी लिये दाऊ अपने छोटे भाईके पास आ रहा है। श्याम रो रहा है, यह देखकर वह और वेगसे आ रहा है। मैयाके डाँटनेपर उसका ध्यान ही नहीं।

'दाऊ!' श्यामने भी कहाँ मैयाकी बात सुनी। वह भी रोटी लिये बड़े भाईके पास घुटनोंके बल सरक चला है। मैया समझ ही नहीं पाती कि वह क्या करे। दोनों भाइयोंमें कोई झगड़ा भी है, ऐसा तो दीखता नहीं।

बड़ा भाई छोटे भाईके आगे बैठ गया नील-कमलके पास स्वर्ण-सरोजकी भाँति। छोटे भाईने दूसरा हाथ रोटी लेनेके लिये बढाया और बड़े भाईके हाथकी रोटी भी उसके हाथमें आ गयी।

दाऊ चाहता है कि तनिक-सी रोटी तोड़कर वह श्यामके मुखमें डाल दे। श्याम सिर हिलाता है और रोटियाँ दूर हटा लेता है। यही तो झगड़ा है। बड़े सबेरे कन्हाईने मैयासे एक छोटी रोटी ली और घुटनोंके बल घिसकता वह बड़े भाईके पास पहुँचा। श्याम चाहता था कि दाऊ रोटी छुए नहीं, पर मुखसे काटकर पूरी खा ले। दाऊने जरा-सा तोड़ लिया छोटे भाईके मुखमें देनेको और रूठ गया कन्हाई। रोटी भूमिपर डालकर वह मैयाके पास आकर रोने-मचलने लगा।

अब श्यामके दोनों हाथोंमें रोटियाँ हैं। वह दाऊके आगे जमकर बैठा है। उसके अधरोंपर हँसी है और पलकोंमें आँसू उलझे हैं। दोनों रोटियोंको एक साथ वह दाऊके मुखसे बार-बार लगा रहा है। जब दाऊ हाथ बढाता है, वह दोनों हाथ दूर हटाकर सिर हिला देता है इधर-उधर जोरसे।

मैया भी वहाँ है—अब दोनोंमेंसे किसीका ध्यान इधर नहीं।

३१—झाँ

'आ, आ, लाल! राम, आ बेटा!' श्रीउपनन्दजीकी पत्नी आज मैयाके पास आयी हैं। वे बड़ी हैं, व्रजरानीने आदर-पूर्वक बैठाया है उन्हें और माता रोहिणी भी उनके समीप आ बैठी हैं। वे आयी हैं राम-श्यामको दो क्षण अङ्कमें लेनेका [illegible] प्राप्त करने और ये दोनों चपल खभेके पीछे जा हैं सकाचसे। दोनों हाथ आगे करके बड़े उल्लाससे वे कन्हाई और कभी दाऊको पुचकारकर बुलाती हैं; किंतु जब वे हाथ फैलाकर बुलाती हैं, तब दोनों खभेकी ओटसे झाँकते मुख हँसते हुए दूसरी ओर छिप जाते हैं।

'आ जा, लाल! अपनी ताईकी गोदमें आ जा!' मैया पुचकारती है, किंतु दोनोंको तो आज झाँ! करनेमें रस आ रहा है। वैसे तो ताईके घर जाकर ऊधम मचा आते हैं; किंतु आज पता नहीं कहाँकी लज्जाने घेर रखा है इन्हें।

'आ, बेटा! तू मेरे पास तो आ!' माता रोहिणी जैसे ही इन दोनोंकी ओर झुकती हैं, दोनों हँसते हुए भाग खड़े होते हैं और दूसरे खभेकी आड़में जा छिपते हैं।

खभेसे चिपका खड़ा है दाऊ और बड़े भाईकी पीठसे सटा है श्यामसुन्दर। दोनोंकी नीली-पीली कछनी सटी हैं। दोनोंके नूपुरसहित चरण एवं कङ्कणयुक्त कर पास-पास हैं। कभी खभेके एक ओर और कभी दूसरी ओर अलकोंसे घिरे दोनोंके चन्द्रमुख साथ-साथ झाँकते हैं और कभी दोनों मुख खभेके दोनों ओर दिखायी देते हैं। दोनों हँस रहे हैं। दोनोंके अधरों-पर उज्ज्वल दन्तकान्ति दूधकी धारा-जैसी झलक रही है। बड़े मनोहर हैं दोनोंके अञ्जन-रञ्जित बड़े-बड़े लोचन।

'हम तीनों नेत्र बंद करती हैं। देखें हमारे लाल किसकी गोदमें बैठते हैं।' उपनन्द-पत्नीने दोनों हाथ नेत्रोंपर रख लिये। मैयाने, माता रोहिणीने भी ऐसा ही किया।

बड़े भाईने छोटे भाईके मुखकी ओर देखा। दोनों खभेकी ओटसे निकलकर बहुत धीरे-धीरे आ रहे हैं। किसकी गोदमें बैठेंगे, अभी इन्होंने स्वयं निश्चय किया नहीं जान पड़ता। उपनन्द-पत्नीने अँगुलियोंकी संधिसे देखा, अँगुलियाँ तनिक हिलीं और भागे दोनों। हँसते हुए दोनों खभेकी ओर अपने नन्हे चरणोंके नूपुर रुनझुन करते दौड़ गये।

छिप गये हैं फिर ये खभेकी आड़में। माताएँ पुचकार रही हैं और झाँक रहे हैं खभेके इधर-उधरसे बार-बार दोनों-के चन्द्रमुख।

३२—सत्प्रयत्न

'कृष्ण कहाँ है? कहाँ चला गया वह?' बाबा जिस शीघ्रता एवं आतुरतासे पूछते आये हैं, उसने मैयाको, माता रोहिणीको, दासियोंको, घर आयी गोपियोंको—सबको डरा दिया है।

'क्या हुआ? क्या हुआ मेरे लालको?' मैया व्याकुल हो गयी है। पता नहीं, फिर कौन-सा उत्पात आया। नित्य कोई-न-कोई उपद्रव मैयाके इस सुकुमार हृदयधनके पीछे लगा ही रहता है।

'उसे कुछ हुआ नहीं है।' बाबाने आतुरतापूर्वक बताया। 'वह शालग्रामजीको उठाकर भाग गया है। कहाँ है वह ? दाऊ भी तो दीखता नहीं है।'

'हे भगवान् !' मैयाके प्राण लौट आये मानो। वह उठ खड़ी हुई। गोपियाँ और दासियाँ मुसकरा उठी हैं, किंतु मैया ढूँढने चल पड़ी है। 'बड़े ऊधमी हैं दोनों। अभी तो यहीं खेल रहे थे, चले कहाँ गये ? अरे दाऊ ! ओ कृष्ण ! कहाँ हो तुम दोनों ?' मैया पुकार रही है।'

'मैया !' यह मीटी तोतली बोली। अच्छा तो ये दोनों गोरस रखनेके घरमें बैठे कुछ कर रहे हैं। छिपे होते तो क्या मैयाकी पुकारका उत्तर देते।

'तुम दोनों यहाँ क्या कर रहे हो ?' मैया शीघ्रतासे समीप आ गयी है।

एक दूध-भरे मटकेके पास सटकर कृष्णचन्द्र बैठा है। इस दिगम्बरने एक हाथ भूमिपर टेक रखा है और एक डुबा रखा है दूधके पात्रमें। इसके पास ही दोनों हाथ भूमिपर टेके दाऊ उसी पात्रपर झुका है और बड़े ध्यानसे पात्रमें कुछ देख रहा है।

'काला देवता अच्छा नहीं, सफेद करता हूँ मैं ! दादा, देख यह सफेद होता है न ?' कालीसी बटिया अपने दूधमें डूबे लाल-लाल हाथमें लिये श्यामसुन्दर ध्यानसे देख रहा है। शालग्रामजीपर जो दूधकी उज्ज्वलता आयी है, उससे दोनों भाई बड़े प्रसन्न हैं। सफल हो रहा है उनका सत्प्रयत्न। उनके बाबाका यह काला देवता सफेद बन रहा है।

'ठाकुरजीको यह दूधमें नहला रहा है।' पास आते व्रज-राजकी ओर मैयाने देखा और किंचित् हँसी। उसके लालने भगवान् नारायणका कोई अपराध नहीं किया, इससे उसका चित्त प्रसन्न हो गया है।

'बाबा, मैं तुम्हारे ठाकुरजीको उजला कर रहा हूँ।' मोहनने हाथ पात्रसे निकालकर भोलेपनसे दिखा दिया बाबाको।

'इनको ला ! तुझे उजले देवता दे दूँगा।' बाबाने पुचकारा। भगवान् नर्मदेश्वरकी उजली बटिया कृष्णचन्द्रको बहुत प्रिय है। कौन जाने कन्हाईके लिये भगवान् नारायणने भी अपना एक शुक्लाम्बरधर शशिवर्ण रूप रख छोड़ा हो।

२३—परिचय

'श्यामसुन्दर ! आओ, लाल ! देखो, मैं तुम्हारे लिये कितने सुन्दर खिलौने लाया हूँ !' आज कन्हाईके नानाजी पधारे हैं गोकुल। ढेरों उपहार लाये हैं वे अपने साथ। बाबाने बड़े सत्कारसे बैठाया है उन्हें। मैयासे मिलने घरमें तो अब जायँगे वे, पहले उनकी इच्छा इस नीलसुन्दरको अपने हाथों खिलौने देनेकी है। इसे गोदमें लेकर घरमें जाना चाहते हैं।

मैयाने राम-श्यामको अभी-अभी सजाया है। अभी कलेऊ करके दोनों भाई घरसे निकले हैं। धूलिकी एक रेखातक अभी अङ्गोंपर नहीं लगी है।

बड़ा सकोची है कृष्णचन्द्र। अपने नानाजीको देखकर यह बड़े भाईके पीछे जा छिपा है। झाँककर देख रहा है उनकी ओर। खिलौने और मिठाइयोंका प्रलोभन भी इसको नहीं खींच पाता है।

'राम, आओ ! तुम तो आओ, लाल !' और दाऊके लिये तो जैसे कहीं ससारमें कोई अपरिचित है ही नहीं। यह अपने छोटे भाईको छोड़कर कहीं किसीसे घुलता-मिलता नहीं, कहीं झिझकता भी नहीं। यह आया राजकुमारके समान धीर स्थिर गतिसे और नानाजीको नन्हे हाथ जोड़कर उनसे सटकर चुपचाप बैठ गया। कन्हाई अब बाबाके पीछे जा छिपा है।

'तुम घोड़ा लोगे ?' बड़े सुन्दर खिलौने हैं, पर दाऊको न घोड़ा चाहिये न हाथी। उसके अनुजने कुछ लिया ही नहीं तो वह कुछ कैसे ले सकता है।

'नानाजीके पास जा, बेटा !' बाबा श्यामको पुचकार रहे हैं, प्रोत्साहित कर रहे हैं। हाथ पकड़कर उसे इन्होंने उनकी गोदमें बढा दिया है। सब कहीं धूम करनेवाला यह आज पूरा संकोची बन गया है।

कितने क्षण टिकता है इस चपलका संकोच ? इसे किसीसे परिचय करते कितनी देर लगती है। दो क्षणमें यह घुल-घुलकर बातें करने लगा है नानाजीसे। यह उनकी गोदमें लेट गया है और दोनों पैर नचा रहा है, दोनों अरुणकर-कमल उनकी उजली दाढीमें उलझा रहा है और कह रहा है—'सब खिलौने मैं लूँगा !'

'सब तेरे ही तो हैं।' भर गया कण्ठ उन वृद्धका।

'सब मेरे हैं। यह घोड़ा मेरा है।' बड़े उत्साहसे कन्हाई नानाजीकी गोदमें ही उठकर बैठ गया है।

'दादा, बैठ तू मेरे घोड़ेपर ! बैठ !' बाबा हँस रहे हैं और मुसकरा रहे हैं नानाजी । अपने छोटे से घोड़ेको दाऊके आगे खड़ा करके बड़े भाईका हाथ पकड़कर यह आग्रह कर रहा है और सो भी अकेले नहीं बैठाना चाहता दाऊको । कहता है—'तू बैठ तो मैं तेरे पीछे बैठूँगा ।'

३४—गोपाल

'लाला, तू इस प्रकार भूमिपर क्यों सो रहा है ? देख, मैंने तेरी शय्या बिछा दी है ।' मैया अपने चपल पुत्रसे सदा सावधान रहती है । अब यह बछड़ेके पैरोंके बीचमें आ सोया है । कहीं बछड़ा चौंककर उठ खड़ा हो तो' '? बहुत धीरेसे ही मोहनको उठाना है यहाँसे ।

'तू गौरवको भी ले चल !' कामदाका दूध-सा उज्ज्वल बछड़ा । श्यामको यह बहुत प्रिय है । यह कैसे बने कि कन्हाई शय्यापर सोये और यह गौरव भूमिपर सोता रहे ।

'तुम दोनों उठो ! अपने इस सखाको भी ले चलो !' मैया हँसकर रह गयी । उसका कृष्ण कितना भोला है ।

आँगनमें भूमिपर बछड़ा मजेसे आँखें अधमुँदी करके लेटा है । यह श्यामसे खेलने प्रायः घरमें चला आता है । नवजात, कोमल उज्ज्वल बछड़ा और उसके मुखके पास बैठा दाऊ अपने नन्हे हाथोंसे उसका मुख तथा गला सुहला रहा है । बछड़ेने दाऊकी गोदमें मुख रख दिया है । बछड़ेके पिछले पैरोंपर अपनी घुँघराली अलकोंसे मण्डित सिर रखकर दिगम्बर श्याम उसके पेटपर लेटा है । अपने बड़े भाईकी ओर और मैयाकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकराता जाता है । कितना सुन्दर है उसका शयन-स्थल !

'गौरव, उठ !' दाऊने बछड़ेका मुख दोनों हाथोंमें लेकर पुचकारा ।

'आ, हम शय्यापर सोयेंगे ।' श्याम भी उठा और मुखके पास आ खड़ा हुआ ।

'चल !' बछड़ा जैसे इन दोनोंकी बातें समझता है । उसने एक बार पैर कड़े करके फैलाये और अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ । अब एक ओरसे दाऊ और एक ओरसे कन्हाई उसको पकड़कर ले चलना चाहते हैं ।

'तू आ ! यहाँ सो जा !' बछड़ा फुदक रहा है—कूद रहा है । वह कभी दाऊको, कभी श्यामको, कभी मैयाको और कभी पलगको सूँघता है और उछलता है । श्याम उसे पुचकारता है, बुलाता है, शय्यापर चढनेको कहता है । बछड़ा ऐसे नहीं समझता तो मोहन पलगपर चढ गया है और लेटकर अपने बगलका स्थान बछड़ेको दिखाकर हाथसे बुला रहा है । दाऊ नीचे खड़ा बार-बार प्रयत्न कर रहा है । जैसे बिल्ली और उसके बच्चे शय्यापर सो जाते हैं—कन्हाईके पास वैसे ही यह गौरव क्यों नहीं सो सकता ? दोनों भाई यह समझ नहीं पाते ।

'तू ले आ उसे !' श्याम अब मैयासे आग्रह कर रहा है ।

'उसे अभी नींद नहीं आती । वह खेलेगा अभी ।' मैया हँसती जा रही है । परतु वह खेलेगा तो कन्हाई ही क्यों सो जाय ? वह भी खेलेगा उसके साथ । वह शय्यासे उतर रहा है ।

भूल-सुधार

'कल्याण'के चौथे अङ्कमें तीर्थाङ्कका जो शुद्धि-पत्र छापा गया था, उसमें कुछ भूलें दृष्टिदोषसे अप्रकाशित रह गयी थीं । उन्हें अब प्रकाशित किया जा रहा है । पाठक कृपया इन्हें भी अपने-अपने अङ्कमें सुधार लें ।

पृष्ठ-सख्या	शीर्षक	स्थल-निर्देश	अशुद्धि	सशोधन
८९	सुनासीरनाथ	पहली पक्ति	कस्बा बिलग्राम	मल्लावाँ
२१४	उज्जैन	दूसरे कालमके पहले पैरेकी ३री पक्ति	भाद्री अमावास्याको	वैशाख मासमें
,,	,,	उसी पैरेकी ४थी पक्ति	कुम्भसे ६ वर्षपर अर्धकुम्भीका मेला होता है	यह वाक्य निकाल दें
२१५	,,	पहले कालमके पहले पैरेकी अन्तिम दूसरी पक्ति	यहीं दुर्गादासकी मृत्यु हुई थी	दुर्गादासका दाह-सस्कार यहीं हुआ था

इसके अतिरिक्त 'कल्याण'के तीसरे अङ्कमें पृष्ठ ८०८ से ८११ तक 'श्रीजानकी-जयन्ती' शीर्षकसे जो लेख छपा है, उसमें भी दो एक मोटी भूलें रह गयी हैं । पाठकोंको भ्रम न हो, इसलिये उन्हें भी नीचे प्रकाशित किया जा रहा है—

पृष्ठ सख्या		अशुद्ध	शुद्ध
८०९	(टिप्पणी)	श्रीसीतायै नमः	श्री सीतायै नमः
८११	,,	वेदबाराङ्गना लङ्का	वेदवार गता लङ्का

—कल्याण-सम्पादक

मृत्यु-काव्य

(मूल लेखक—श्रीमाने गुरुजी, अनुवादक श्रीयुत बी० सी० चौहान और श्रीभास्कर चौधरी)

भारतीय संस्कृतिमें स्थान-स्थानपर मृत्युके सम्बन्धमें जो भाव आये हैं, वे बड़े ही मधुर और सुन्दर हैं। मृत्युकी भीषणता भारतीय संस्कृतिमें नहीं है। मृत्यु जीवन-वृक्षका एक मधुर फल है। मृत्यु ईश्वरका एक स्वरूप है। जीवन और मृत्यु दोनों ही परम मङ्गल हैं। जीवन और मृत्यु वस्तुतः एक ही हैं। रात्रिके पश्चात् दिवस और दिवसके पश्चात् पुन. रात्रिका निर्माण होता है। दूसरे शब्दोंमें जीवनरूपी वृक्षमें मृत्यु-फल लगता है और मृत्युरूपी वृक्षमें जीवन-फल! भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'मृत्युका अर्थ है वस्त्र बदलना'। कार्य करते-करते यह वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फट जाता है। वह त्रिभुवनधात्री जननी नये वस्त्र दिलानेके लिये हमें बुलाती है। हमें वह अपनी क्रोडमें उठा लेती है। नये वस्त्राभूषणोंसे आभूषित कर पुनः इस संसारके क्रीडा-प्राङ्गणमें क्रीडा करनेके लिये भेज देती है और दूरसे हमको, अपने बच्चोंको प्रसन्न देख आनन्दित होती है। कभी-कभी जन्मके अत्यन्त निकट ही मृत्यु हो जाती है। कोई बचपनमें मरता है, कोई जवानीमें। त्रिभुवनधात्री जननी वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जितकर हमें संसारके क्रीडा-प्राङ्गणमें भेजती है। पर कभी-कभी शायद जननीको वह वस्त्र नहीं भाता। इसीलिये अपने लाड़ले, अपने जिगरके टुकड़ेको वापस अपनी क्रोडमें उठा लेती है और पुनः नये वस्त्राभूषणसे सुसज्जित करती है। जननीका मातृ-प्रेम अनमोल है। त्रिभुवनधात्री जगत्-जननीका भंडार अनन्त वस्त्रोंसे सुसज्जित है, यह सोचकर हमें वस्त्रोंका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। वस्त्रको पवित्र रखना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि सेवा करते-करते ही यह वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो फट जाय।

देह यानी घड़ा। जब कोई मर जाता है, तब हम उसके सम्मुख घड़ा रखते हैं। कहते हैं—'यह घड़ेके समान था, इसमें रोनेकी क्या बात है? सेवा-साधनार्थ यह घड़ा मिला था। महान् ध्येयरूपी वृक्षके सिञ्चन-हेतु यह घड़ा मिला था। कोई घड़ा छोटा होता है तो कोई बड़ा! नाना प्रकारके इन घड़ोंका वही महान् प्रजापति निर्माण करता है और विश्व-उद्यानके सिञ्चन-हेतु यहाँ भेज देता है। फूटे हुए घड़ोंका वह पुनः निर्माण करता है और पुनः विश्व-उद्यानके सिञ्चन-हेतु भेज देता है। इस प्रकार अनन्त कालसे चलता आ रहा है। विक्टर ह्यूगोने एक स्थानपर लिखा है—'मनुष्य क्या है? यह नर-देह क्या है? यह मिट्टीका गोला है, किंतु इसमें एक चेतना है और इस चेतनासे ही इस मिट्टीके गोलेका महत्त्व है। एक मिट्टीके गोलेको बदलकर विश्वम्भर दूसरा बनाता है। जिस प्रकार बच्चे पतंग कट जानेपर दूसरा कागज लेकर नयी पतंग बनाते हैं, वैसे ही यह जीवन है। जीवनरूपी पतंगमें उतार-चढ़ाव उस ईश्वरके ही इशारोंसे आते हैं, जो किसी अदृश्य गचीपर बैठा पतंग उड़ाता है। पतंग फट जानेपर वही उन्हें पुनः जोड़ देता है। नया कागज! नया रंग! नयी उड़ान! विविध रंगोंके, विविध धर्मके, विविध वृत्तिके कोटि-कोटि पतंग प्रतिक्षण उड़ते हैं, फटते हैं, नये आते हैं! प्रचण्ड क्रीडा, विराट् खेल!

मृत्यु यानी महायात्रा! मृत्यु यानी महाप्रस्थान! मृत्यु यानी महानिद्रा! दिनभर उछल-कूदके पश्चात् हम सोते हैं। निद्रा यानी लघु मरण! सम्पूर्ण जीवनकी उछल-कूदके पश्चात्, अनेक वर्षोंकी उछल-कूदके अनन्तर हम निद्रादेवीकी क्रोडमें शयन करते हैं। प्रतिदिन हम आठ घंटे सोते थे। यह निद्रा आठों पहरकी रहती, उससे भी बड़ी रहती है। मृत्यु यानी जननीकी क्रोडमें शयन करना। शिशु दिनभर खेलता-कूदता, मचलता-रोता, गिरता-पड़ता है और साँझके समय चुपकेसे जननी उसे अपनी गोदमें ले लेती है, अपनी क्रोडमें छिपा लेती है। उसकी क्रीडा-सामग्री वैसे ही पड़ी रहती है। माता उसे अपनी गोदमें लेकर सोती है। माँकी उष्णता पाकर शिशु स्वस्थ हो प्रातः पुनः दुगनी क्रीडा-चेष्टा प्रारम्भ कर देता है। वैसे ही यह जीव है। विश्वप्राङ्गणके थके-माँदे जीवको जीवनकी साँझमें त्रिभुवनधात्री जगत्-जननी उठा लेती है, चाहे बालककी इच्छा हो या न हो। अपने बालक साथियोंकी ओर, अपने सांसारिक खिलौनोंकी ओर बालक ललचायी दृष्टिसे देखता है; किंतु जननी बालकका हित जानती है। रोते हुए बालकको वह उठा लेती है, क्रोडमें हौले-हौले थपकियाँ देकर सुलाती है, जीवन-रस पिलाती है और पुनः क्रीडाके हेतु विश्वप्राङ्गणमें भेज देती है। मृत्यु यानी पीहर जाना। ससुराल गयी हुई वधू दो दिनके लिये

पीहर जाकर फिर लौट आती है। पुनः एक नया प्रेम, नया उत्साह, नया आनन्द सञ्चित करके आती है। उसी तरह जगत्-जननीके पास जाना यानी मृत्युको प्राप्त होना है। बाल्यावस्थामें पाठशाला जाता हुआ बालक पानी पीनेका बहाना करके, भूखका नाम लेकर, बीमारीका ढोंग रच बीचमें ही घर भाग जाता है, माताके स्नेहकी भूख जो उसे लगी रहती है। माँ प्यारसे पीठपर थपकियाँ देती मुँह मीठा कराती और कहती है—'अब जा'। बालक हँसता-खेलता पुनः पाठशाला चला आता है। वैसे ही इस संसारकी पाठशालामें माताके स्नेहके भूखे बालक माँका चन्द्रमुख देखनेके लिये लालायित हो उठते हैं और बीचमें ही माँके पास लौट आते हैं तथा भरपूर प्रेम-रसका पान करके पुनः इस विश्वके महान् विद्यालयमें प्रविष्ट होते हैं।

मृत्यु यानी विश्रान्ति। मरण यानी अनन्त स्नान। थके-माँदे मनुष्य सरोवरमें तैर कर आते हैं। उनकी थकान जाती रहती है। जीवन-सरोवरमें तैरनेवालोंको जीवन मिलता है। मरण क्या है? विश्वकी थकी-माँदी आत्मा अनन्त जीवनसिन्धुमें तैरती है। यह एक अवकाश है। जीवनसरोवरमें तैरकर हम पुनः स्वस्थ हो संसारमें कार्य करते हैं। ऊँचे स्थानपर स्थित देवालयमें प्रविष्ट होनेके लिये सीढ़ियाँ पार करनी होती है। मरण यानी एक पग। मरण यानी प्रगति, मरण यानी अग्रसर होना। मन्दिरमें ले जानेवाली सीढ़ियोंको हम प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार मरण पवित्र और मङ्गलमय है; अतः मृत्युको प्रणाम।

मरण यानी विस्मरण। संसारमें स्मरण एवं विस्मरणका समान महत्त्व है। जन्मसे जितने भी कर्म हम करते हैं, अथवा जो कुछ भी देखते या सुनते हैं, यदि वे सब हमें स्मरण रहें तो कितना भार हमारे लिये हो जायगा। उस भाररूपी प्रचण्ड पर्वतके नीचे हम दब जायँगे। यह जीवन असह्य हो जायगा। व्यापारी हजारों चेष्टाएँ करता है, किंतु अन्तमें लाभ या हानि तो होनेहीवाले हैं। मरण यानी जीवन-व्यापारमें प्राप्त हुए लाभ या हानि परखनेका क्षण। व्यापारी साठ-सत्तर साल दूकान चलाता है, व्यापार करता है। स्वातन्त्र्यदात्री जननी उसपर व्यापारमें प्रतिबन्ध नहीं लगाती। मृत्युकी अत्यन्त आवश्यकता है। कभी-कभी संसारमें मध्यकालीन नाम-रूप नष्ट हो जाना चाहता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य कुचाल चलता है। बादमें उसे पश्चात्ताप होता है और वह सत्यके मार्गपर चलने लगता है। पर जनताको उसके काले भूतकालका विस्मरण नहीं हो पाता। लोग कहते हैं—'अरे यह आदमी? हम सब समझते हैं। हजारों चूहे खाकर बिल्ली हजको चली है। यह सब ढोंग रच रहा है। इसको भला क्या पश्चात्ताप होगा।' दुनियाके ये उद्गार उस मनुष्यके अनुतप्त अन्तःकरणमें चुभ जाते हैं। अपने भूतको वह भुला देना चाहता है, किंतु दुनिया भुलाना नहीं चाहती। ऐसी परिस्थितिमें पर्देकी आड़ होकर नया रंग, नया रूप और नया नाम लेकर ही विश्वके रङ्ग-मञ्चपर आनेमें आनन्द आता है।

यदि मृत्यु न होती तो संसार भयानक हो जाता। मृत्यु संसारको रमणीय बनाती है। मृत्युके कारण ही विश्वमें प्रेम है। यदि हम सब अमर होते तो हम एक दूसरेको पूछते भी नहीं। सब पाषाण बने दूर-दूर रहते। कल हमें जाना होगा, अतः क्यों बुराई मोल लें—ऐसा विचार करके मनुष्य अपने वर्तावको उत्तम रखता है। अंग्रेजी भाषामें एक कविता है। एक दुखी भाई कहता है—'कहाँ है, मेरा भाई? मैं क्यों अकेला खेलूँ? अकेला घूमूँ? अकेला तितलियोंका पीछा करूँ? कहाँ है मेरा भाई? यदि मैंने उससे जीते-जी प्यार किया होता तो कितना अच्छा होता, किंतु अब क्या करूँ?' मृत्यु उपकारक है। जीवनसे जो कार्य नहीं हो पाता, वह कभी-कभी मृत्युसे हो जाता है। सभाजी महाराजके जीवनसे मराठोंमें फूट पड़ी, किंतु उनकी गौरवमयी महान् मृत्युसे सब मराठे एक हो गये। वह मृत्यु यानी अमृत। जीवनसे जो कार्य न हो सका, वह मृत्युने कर दिखाया। मरणमें अनन्त जीवन है। हम सोचते हैं मृत्यु यानी अंधकार, किंतु मृत्यु यानी अमर, अनन्त प्रकाश। मरण यानी निर्वाण। भगवान् बुद्धके उद्गार थे—'स्वयका निर्वाण करो, उसीसे तुम सच्चा प्रेम करना सीखोगे। अपनेको भुला दो, अपनी वैयक्तिक आशा, आकाङ्क्षा, क्षुद्र स्वार्थ-लोभ भूल जाओ, ताकि अमर सत्य अमर जीवन प्राप्त हो।' अपनी आसक्ति भूलना, अपनी, देहकी, मनकी, इन्द्रियोंकी स्वार्थ-वासना भूलना यानी मृत्यु। इस मृत्युका जीवित रहकर भी अनुभव किया जा सकता है। नारियलका डोल नारियलसे विलग रहकर जैसा खड़-खड़ होता है, उसी प्रकार देह-इन्द्रियोंसे आत्माका विलग होकर रहना यानी मृत्यु। तभी तो तुकाराम महाराज कहते थे—'मैंने अपनी मृत्यु अपनी आँखोंसे

देखी—और उसे मैंने अनुपम पाया।' जीते-जी जिसने मरना सीखा, वह अमर हो गया।

भारतीय संस्कृति कहती है—अरे मानव, अब मृत्युके समय तो गद्दीदार पलङ्गसे नीचे आ। हम सूट-बूट पहिनकर इठलाते हैं। उस समय तो वह इठलाना रहता है, परन्तु साध्य-प्राङ्गणमें जब वरमें तुलसी वृन्दावनके समीप, जननीसे मिलने जाते हैं, तब सूट-बूट सब अलग ही रह जाते हैं। जननी अपना मङ्गल कर हमारी देहपर फिरती है। इसीलिये हम उसके समीप खुले बदन जाते हैं। इसी प्रकार संसारमें इठलानेके पश्चात् जीवनकी साँझमें जब हम जगत्-जननीके समीप जाते हैं, तब खुले बदन जाते हैं। तब गहने, वस्त्र, वैभव दूर रखने चाहिये, केवल भक्ति, प्रेम लेकर जननीके समीप जाना चाहिये।

कभी-कभी मनुष्यको जननीसे खुले बदन मिलनेमें संकोच होता है। दुर्योधन माँ गान्धारीकी कृपादृष्टिसे अमर होना चाहता था, किंतु उसे संकोच हुआ। अतः वह जाँघिया पहनकर माँके समीप गया था। उसका अन्य सारा शरीर वज्रका हो गया, पर जाँघपर भीम-का आक्रमण होनेसे वह चूर्ण हो गयी। जननीके समीप संकोच कैसा? यदि अमर जीवन चाहते हो तो जननीके पास बालक होकर जाओ। तुम्हारा जन्म गुदड़ीपर हुआ। तुम्हारी मृत्यु भी गुदड़ीपर होनी चाहिये। जन्मके समय भी बालक थे तो मृत्युके समय भी बालक-स्वरूप होना चाहिये। अन्तर इतना ही है कि जन्म लेते समय जननीसे दूर आये थे और अब मृत्युके समय जननीसे मिलने जा रहे हैं। अतः हँसो। जन्म लेते समय हम रोते थे, किंतु लोग हँसते थे, अब मृत्युके समय हम हँसेंगे और हमारी मीठी याद करके लोग रोयेंगे। हमने जीवन कैसा बिताया, इसकी परीक्षा यानी मृत्यु। मृत्युसे ही जीवनकी कीमत आँकी जाती है। मरते समय जो रोता है, उसका जीवन असफल और जो हँसता है, उसका जीवन सफल माना जाता है, कृतार्थ समझा जाता है।

साक्रेटीज़ मरते समय अणुतत्त्वका रसास्वादन कर रहा था। गेटेने मरते समय कहा था—'विशेषप्रकाश, विशेष प्रकाश (मोर लाइट, मोर लाइट)' श्रीसमर्थके बोल थे—'रोते क्यों हो, यह मेरा दासबोध है।' लोकमान्य 'यदा यदा हि धर्मस्य' का उच्चारण करते हुए गये। पं० मोतीलाल गायत्री-मन्त्रका जाप करते हुए गये। देशबन्धुके मरते समयके उद्गार थे—'प्रियतम! तुम्हारे द्वारपर दीप जलाने फिरसे आ रहा हूँ'। हरिभाऊसे नामदार गोखलेने मरते समय कहा—'हरिभाऊ दुनियाका आनन्द देखा, अब उस दुनियाको देखने जाता हूँ।' भगिनी निवेदिताने मृत्युके समय कहा—'वह देखो प्रातःकालका प्रकाश हो रहा है, भारतका प्रातःकाल समीप ही है। प्रकाश देखकर मैं मर रही हूँ, धन्य!' संसारमें इस प्रकार कितने बड़े-बड़े महाप्रस्थान हुए।

मरण यानी सेवा। मरण यानी शान्ति। मरण यानी नवजीवनका आरम्भ। मरण यानी आनन्द-दर्शन। मरण यानी पर्वणी मृत्यु। यानी जीव और शिवका संगीत। मृत्यु यानी प्रियतमकी गोदमें जाना।

"कर ले सिंगार चतुर अलबेली, साजनके घर जाना होगा।
'माटी ही ओढ़न, माटी बिछावन, माटीमें मिल जाना होगा॥

कितना सुन्दर है यह गीत और कितने भव्य हैं इसके भाव। मृत्यु यानी संसारसे वियोग और जगदीश्वरसे संयोग। जीव और शिवका विवाह-मुहूर्त यानी मृत्यु। मनुष्यके मरनेके पश्चात् हम उसे नहलाते हैं, नये वस्त्र पहनाते हैं, उसका शृङ्गार करते हैं, मानो वह विवाह-मङ्गल है। मरण यानी विवाह-मङ्गल, मरण यानी विवाह-कौतुक। भारतीय संस्कृतिने मरणका डर ही निकाल डाला है। भारतीय संस्कृतिने मृत्युको जीवनसे अधिक सुन्दर और मधुर बनाया है। मृत्यु यानी प्राण—ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया है। मृत्यु यानी खेल। मृत्यु यानी मिठाई। मृत्यु यानी वस्त्र बदलना, मृत्यु यानी चिरलग्न। जिस संस्कृतिने मृत्युको जीवन बनाया, उसी संस्कृतिके उपासक आज मृत्युसे अधिकाधिक डर रहे हैं! 'मृत्यु' शब्द भी उन्हें सहन नहीं होता। महान् ध्येयके लिये जो हँसते-हँसते यह शरीरका घड़ा फोड़नेको प्रतिक्षण प्रस्तुत रहते हैं, वे ही भारतीय संस्कृतिके सच्चे उपासक हैं। चमड़ीको बचानेकी कुचेष्टा भारतीय संस्कृतिके पुत्रोंको शोभा नहीं देती। भारत-का सर्वप्रकारका दैन्य दास्य, सर्वप्रकारकी विषमता विकृति सर्वप्रकारका अंधकार दूर हटानेके लिये शरीरको बलिदान करनेके लिये लाखों पुत्र-पुत्री जब तैयार होंगे, उसी समय भारतीय संस्कृतिकी सुगन्ध दिग्-दिगन्तमें फैल जायगी और भारत नवीन तेजसे प्रकाशित हो उठेगा।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। आपने अपनी परिस्थितिका परिचय लिखा सो ठीक है। द्रव्योपार्जनके लिये यथावश्यक न्यायोचित चेष्टा करना ही मनुष्यका काम है। उसके परिणाममें लाभ या हानि—जो कुछ भी हो, उसे प्रभुकी अहैतुकी कृपा मानकर सदैव संतुष्ट रहना चाहिये।

जब आपको आवश्यकतानुसार भोजन और वस्त्र प्राप्त हैं तो चिन्ताका कोई कारण ही नहीं है। सदैव एक-सी परिस्थिति नहीं रहती। जैसे दु.खद परिस्थिति विना बुलाये अपने-आप आती है, वैसे ही वह चली भी जाती है। अत साधकको धैर्य रखना चाहिये।

आपकी इच्छा वचपनसे ईश्वर-प्राप्तिकी रही एवं अवतक जो विषयोपभोगमें व्यर्थ समय गया, उसका आपको पश्चात्ताप है—यह बड़ी अच्छी बात है। भगवान्‌की दया और सत्सङ्गसे ही इस प्रकारके भावोंका उदय हुआ करता है। इसीलिये भगवान् प्रतिकूलताका प्रदर्शन कराया करते हैं कि साधक कहीं अनुकूलताके उपभोगमें फँस न जायँ। वर्तमान परिस्थितिसे जो आपकी ईश्वर-प्राप्ति-विषयक इच्छा दृढ हुई, यह बड़ा ही अच्छा हुआ।

आप जो पठन-पाठन आदिका अभ्यास कर रहे हैं, उससे आपको संतोष नहीं है—यह भी उचित ही है। साधकके जीवनमें साधनकी भूख तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहनी चाहिये।

भगवान्‌के साकार स्वरूपके दर्शनोंकी ऐसी उत्कट इच्छाका होना, जिसकी पूर्तिके विना जीना ही कठिन हो जाय, यह प्रभुकी महती कृपा है। इस रहस्यको समझकर अपनेको उनका कृतज्ञ बनाना चाहिये। हृदय उनके प्रेमसे भर जाना चाहिये एवं विरह-व्याकुलता नित्य नयी बढ़ती रहनी चाहिये।

आपने लिखा कि 'अब क्षणभरके लिये भी संसारमें और घरमें रहनेकी मेरी इच्छा नहीं होती'—इसपर गम्भीरतासे विचार करें। संसारके बाहर आप कहाँ जायँगे? यह मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका समुदाय शरीर भी तो संसारका ही हिस्सा है। इससे सम्बन्ध रखते हुए, इसे अपना मानते हुए आप ससारसे अलग कैसे हो सकेंगे? ऐसा कोई स्थान नहीं है, जो संसारका हिस्सा न हो, फिर आप जायँगे कहाँ?

जिस शारीरिक, मानसिक मानापमान आदिको झंझट मानकर आप घर छोड़ना चाहते है, ये सब आप जहाँ जायँगे वहाँ भी आपके साथ रहेंगे, क्योंकि जिनको आप अपने मानते हैं, वे मन, बुद्धि आदि तो आपके साथ रहेंगे ही।

अत: अच्छा हो कि आप जिस घर और कुटुम्बको अपना मानते हैं, उसको भगवान्‌का समझें और भगवान्‌की कृपासे आपको जो विवेक मिला है, उससे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञा और प्रेरणाके अनुसार अपने कर्त्तव्य-पालनद्वारा सबकी सेवा करते रहें। उनसे किसी प्रकारके सुख-भोगकी आशा न करें। मन, बुद्धि और अपने आपको तथा जो कुछ आपके पास है, सबको भगवान्‌के समर्पण कर दें। किसीमें ममता न रक्खें तथा अपनेको भगवान्‌का समझें और भगवान्‌को अपना समझें, न्य किसीको अपना न समझें।

वर्तमान परिस्थिति ही साधकके लिये साधन-सामग्री है; क्योंकि वह भगवान्‌की कृपासे मिली है। उसे बदलनेमें साधक स्वतन्त्र नहीं है। उसका सदुपयोग करनेमें वह सर्वथा स्वतन्त्र है। अत: सुखकी आशा और दु:खके भयको छोड़कर प्रभुपर निर्भर रहना, हर हालतमें निश्चिन्त रहना, उनकी कृपाका दर्शन करते हुए उनके प्रेममें विभोर और विरहमें व्याकुल रहना—यही साधकका काम है। उसे विश्वास रखना चाहिये कि प्राप्त वस्तुका सदुपयोग करनेपर वे परम दयालु प्रभु

स्वयं आवश्यक परिस्थिति प्रदान कर सकते हैं । यदि एकान्त उसके साधनमें हितकर होगा तो अपने-आप वैसा सयोग लग सकता है । यदि किसी संतसे मिलना आवश्यक होगा, तो अपने-आप उसका मिलना हो सकता है । साधकका हित किसमें है ? इस बातको जितना परम दयालु सर्वसमर्थ प्रभु जानते हैं, उतना साधक नहीं जानता । अतः साधकको किसी प्रकारकी परिस्थितिकी चाह नहीं करनी चाहिये । परिस्थितिकी चाह उसे परिस्थितिका दास बना देती है ।

भगवान्‌का होकर किसी परिस्थितिका दास बनना साधनमें विघ्नके अतिरिक्त और क्या हो सकता है । अतः साधकको सब प्रकारकी इच्छाको मिटाकर हर प्रकारसे प्रभुपर निर्भर रहना चाहिये ।

(२)

सादर हरि-स्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार मालूम हुए । आपने जो साधना की, उसका विवरण लिखा, वह भी ज्ञात हुआ । उससे जो-जो लाभ आपको प्रतीत हुए, यह भगवान्‌की विशेष कृपा है । इस कृपाका अनुभव करके विशेष लाभ उठाना चाहिये अर्थात् भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ बनाना चाहिये और उनमें नित्य नवीन प्रेम बढ़े, इसकी चेष्टा करनी चाहिये ।

इस लाभमें भी आप जिनको अपना विरोधी मानते हैं, वे तो सहायक है, जैसे ध्रुवको भक्तिमें लगानेमें उसकी सौतेली माता सहायक हुई थी । इस दृष्टिसे आपको चाहिये कि उन विरोधियोंकी भी अपनेपर कृपा ही मानें ।

वास्तवमें तो बात ऐसी है कि किसीको अपना शत्रु मानना ही भूल है, क्योंकि दूसरा कोई भी किसीको दु.ख-सुख नहीं दे सकता । दु.ख-सुखकी परिस्थिति तो प्राणीको अपने कर्मके अनुसार ही प्राप्त होती है, दूसरा तो केवल निमित्तमात्र होता है । अतः किसीको भी शत्रु नहीं मानना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि न तो उनसे बदला लेनेकी भावना रखनी, न उनका बुरा चाहना और न किसी प्रकार भी उनका अहित ही करना चाहिये । प्रत्युत ऐसा भाव रखना चाहिये कि उनकी बुद्धि शुद्ध हो, ताकि वे किसीको कष्ट देनेमें निमित्त न बनें ।

इस प्रकार अपना भाव शुद्ध कर लेनेपर करनेवालेको शान्ति मिल सकती है, मनमें शुद्धि आ सकती है और विरोधियोंका भी भाव बदल सकता है । अतः सब प्रकारसे सबका हित है ।

दूसरेके साथ की हुई भलाई अपने साथ ही भलाई है और दूसरेके साथ की हुई बुराई अपने प्रति ही बुराई है । अतः मनुष्यको कभी किसी प्रकार भी किसीका बुरा करनेकी बात मनमें नहीं आने देनी चाहिये ।

किसीको अपना शत्रु मानना और उसको वशमें करनेका या परास्त करनेका उपाय सोचना—यह सब प्रकारसे हानिकारक है । इसमें न तो अपना हित है और न दूसरेका ही । फिर भगवान्‌की भक्ति और जप आदिके अनुष्ठानको दूसरेके अनिष्टकी भावनासे दूषित क्यों करना चाहिये ? उनका उपयोग तो भगवान्‌में विश्वास और प्रेम बढ़ानेके लिये ही करना सब प्रकारसे हितकर है ।

आपके मनमें जो अशान्ति और चञ्चलता है, वह भी वैरभावका त्याग कर देनेसे और जिनको आप विरोधी मानते हैं, उनके अपराधको क्षमा कर देनेसे शान्त हो सकती है ।

जब आप समाजकी सेवा करना ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाना चाहते हैं, आपके मनमें आध्यात्मिक मार्गपर चलनेकी उत्कट अभिलाषा है, कर्मयोगका साधन आपको प्रिय है, तब इस परिस्थितिमें तो आपके लिये यही सर्वोत्तम मार्ग है कि किसीको अपना विरोधी या शत्रु न मानें, शुद्ध भावनासे उनका हित-चिन्तन करें, उनको विफलमनोरथ करनेकी न सोचें, प्रत्युत उनसे क्षमा माँग लें और उदारतापूर्वक समझौता कर लें । वस्तुएँ सब अनित्य हैं, इनका वियोग अनिवार्य है । कर्मयोगके साधनमें स्वार्थका त्याग पहला कदम है, इसको किये

बिना कर्मयोग सिद्ध नहीं हो सकता। अतः आप भजन-साधन जो कुछ भी करते हैं, सब-का-सब एकमात्र प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करना चाहिये। उसके बदलेमें किसी प्रकारके फलकी कामना नहीं करनी चाहिये। प्रभु जो कुछ करते हैं और करेंगे, उसीमें मेरा हित है—ऐसा विश्वास करके हर एक परिस्थितिमें निश्चिन्त रहना चाहिये। जिस प्रकार अनुकूल परिस्थिति सदैव नहीं रहती, उसी प्रकार प्रतिकूल भी सदा नहीं रहती। उसका परिवर्तन अवश्यम्भावी है, फिर चिन्ता करनेमें क्या लाभ ?

(३)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार भेद अन्तःकरणके माने गये हैं। मनका काम मनन करना और संकल्प-विकल्प है। बुद्धिका काम निर्णय करना और निश्चय करना है। चित्तका काम चिन्तन करना है। अहंकारका काम अपना और पराया मानना है। पहले संकल्प-विकल्प होता है, इसमें मनका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे रहता है। मननमें इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, तब चित्तसे सम्बन्ध होकर मनन चिन्तनका रूप धारण कर लेता है, उस समय मन और चित्तकी एकता हो जाती है। उसके बाद जब इनका सम्बन्ध बुद्धिसे हो जाता है, तब बुद्धिद्वारा पहले विवेचन, फिर निर्णय और निश्चय होकर एकाग्र वृत्तिरूप ध्यान होता है। अहंकारका सम्बन्ध सब अवस्थाओंमें रहता है।

(२) श्रद्धामें विवेचन नहीं होता, मान्यता होती है। निश्चय विवेचन और निर्णयपूर्वक होता है। अन्तमें दोनों एक हो जाते हैं। अपने-अपने स्थानमें दोनों ही उच्चश्रेणीके होते हैं।

यह शरीर आत्मा नहीं है, तो भी जो प्राणी इसीको अपना स्वरूप मानता रहता है, उसका यह गलत विश्वास है। जो विवेचनपूर्वक निश्चय किया जाता है, उसमें ऐसे विश्वासको स्थान नहीं है, किंतु यदि इन्द्रियोंके ज्ञानका प्रभाव बुद्धिपर पड़ जाय, तो उस बुद्धिद्वारा किया हुआ निर्णय और निश्चय भी निम्नश्रेणीका ही होता है। इस प्रकार विश्वास और निश्चयका भेद और परस्परका सम्बन्ध समझना चाहिये।

(३) 'संशय' संदेहको कहते हैं। यह मन और बुद्धि दोनोंमें ही रहता है। इन्द्रियोंमें भी इसका निवास है। कार्यमें यह सफल नहीं होने देता और कर्तव्यमें प्रवृत्ति नहीं होने देता। इसके नाशका उपाय विवेक और विश्वास है। विश्वासका ही दूसरा नाम उस समय श्रद्धा हो जाता है, जब वह पूज्यभाव और भक्तिपूर्वक होता है।

(४) भगवान्‌की दया तो सबपर समान है। उनकी कृपासे ही मनुष्यको विवेक मिला है। सूर्य, चन्द्रमा, हवा, पानी प्राणिमात्रको उनकी दयासे ही यथावश्यक सुख प्रदान कर रहे हैं। पर मनुष्य न तो उनकी कृपाका आदर करता है, न उनके दिये हुए ज्ञानका ही। इतना ही नहीं, उस करुणा-वरुणालयपर श्रद्धा भी नहीं करता, और तो क्या, अपना भी नहीं मानता। तब उसकी अपार दयाका रहस्य इसकी समझमें कैसे आये ? जो साधक उनके सुहृदतापूर्ण स्वभावकी ओर देखकर सब प्रकारसे उनका हो जाता है, अपने आपको उनकी गोदमें बैठा देता है, सर्वथा उनपर निर्भर होकर सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, वही धन्य है। उसीने मनुष्य-जीवनको सार्थक बनाया, उसके व्यवहारमें वर्णाश्रम-धर्म रहता है, पर उसका सम्बन्ध एकमात्र अपने परमाधारसे ही रहता है। उसका समस्त व्यवहार उसके दिये हुए विवेकसे उसकी दी हुई शक्ति और वस्तुओंद्वारा उसके विधानानुसार नाट्यशालाके स्वाँगकी भाँति, उस प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये ही होता है। वहाँ शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं है।

श्रीश्रीवृन्दावनेश्वरी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
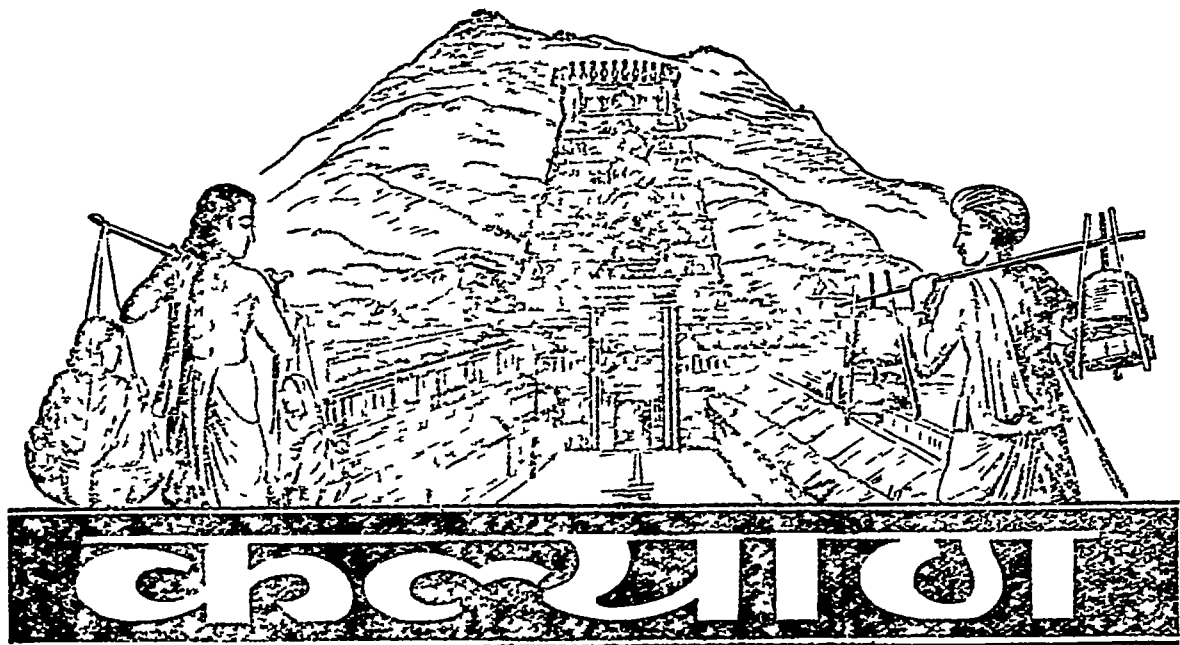
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०१४, जून १९५७ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ३६७

श्रीराधाजीकी वन्दना

जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके तरुनि मनि नित्य नव तन किसोरी ।
कृष्न तन नील घन रूप की चातकी कृष्ण मुख हिमकिरन की चकोरी ॥
कृष्ण दृग भृंग विश्राम हित पद्मिनी कृष्ण दृग मृगज बंधन सुडोरी ।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी कृष्णगुनगान रससिंधु बोरी ॥
परम अद्भुत अलौकिक तेरी गति लखि मनसि साँवरे रंग अंग गोरी ।
और आचरज मैं कहुँ न देख्यौ सुन्यौ चतुर चौसठ कला तदपि भोरी ॥
विमुख परचित्त ते चित्त जाको सदा करत निज नाह की चित्त चोरी ।
प्रकृत यह गदाधर कहत कैसैं बनै अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी ॥

६—

याद रक्खो—होता वही है और होगा वही, जो भाग्यचक्रका निर्माण करनेवाले नित्य निर्भ्रान्त, सदा सावधान, परम न्यायशील, दयासागर प्रभुने रच रक्खा है। तुम अपने किसी भी बलसे न उसे बदल सकते हो और न उससे बच सकते हो।

याद रक्खो—तुम कितना भी रोओगे, चिल्लाओगे, झल्लाओगे, कोसोगे, बकोगे, झकोगे—होगा कुछ नहीं। तुम्हारे लिये जो विधान बन चुका है, उसे तुमको भोगना ही पड़ेगा—कराहकर भोगो, या सराहकर भोगो।

याद रक्खो—प्रभु नित्य मङ्गलमय हैं, उनका कोई भी विधान अमङ्गलरूप तो हो ही नहीं सकता। मङ्गलसे रहित भी नहीं हो सकता। भले ही वह तुम्हें अपनी सीमित तथा अदूरदर्शिनी दृष्टिसे या विपरीत दृष्टिसे प्रतिकूल अथवा अमङ्गलरूप दिखायी दे। प्रतिकूल या अमङ्गलरूप दीखनेपर भी उसे भोगना तो पड़ेगा ही, पर उसमें तुम्हें दु ख होगा, पीडा होगी और बड़ी मनोवेदना होगी।

याद रक्खो—प्रभु नित्य मङ्गलमय होनेके साथ ही सर्वज्ञ हैं—तुम्हारा वास्तविक हित किस बातमें है, तुम्हारी यथार्थ क्या आवश्यकता है, इसको प्रत्यक्ष जानते हैं, सर्वशक्तिमान् हैं—तुम्हारी प्रत्येक आवश्यकताको पूर्ण करनेमें सहज समर्थ हैं, सदा निर्भ्रान्त हैं—उनसे कभी कोई प्रमाद या भूल नहीं होती, और सहज ही तुम्हारे परम सुहृद् हैं—बिना किसी हेतुके नित्य-निरन्तर तुम्हारा हित ही चाहते है, इसलिये उनका कोई भी विधान वह कैसा भी लगे—सर्वथा तुम्हारे लिये हितकारक ही है। इसपर विश्वास कर लोगे तो तुम समस्त भयोंसे तथा समस्त शोकोंसे सर्वदा—सर्वथा मुक्त रहकर परम आनन्द और शाश्वत शान्तिका अनुभव कर सकोगे।

याद रक्खो—जगत्में प्रत्येक मनुष्य भयग्रस्त है और शोकसतप्त है; क्योंकि यहाँके सभी प्राणि-पदार्थ विनाशशील हैं। विनाशकी आशङ्कासे मनुष्य सदा भयभीत रहता है और विनाश हो जानेपर शोकसतप्त हो जाता है। अपनी मानी हुई कोई भी चीज—सम्बन्धी मनुष्य, प्राणी, वस्तु, स्थिति, मान, मर्यादा, शरीर, स्वास्थ्य आदिका नाश न हो जाय, यह 'भय' सबको लगा है, और किसी भी अपनी मानी हुई वस्तुका विनाश हो जानेपर 'शोक' होता है। इस भय और शोकसे कोई भी मुक्त नहीं है। यदि तुम मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलविधानमें विश्वास कर लोगे तो इस भय और शोकसे सर्वथा मुक्त हो जाओगे, क्योंकि फिर तुम्हारी न तो किसी वस्तुविशेषमें ममता रह जायगी और न तुम्हें वस्तु-विनाशमें किसी प्रकारके अमङ्गलकी आशङ्का रहेगी।

याद रक्खो—अभिनिवेशके ये दो ही रूप हैं, जिनसे सब त्रस्त हैं—वस्तुके विनाश होनेसे पूर्व 'विनाशका भय' और वस्तुके विनाश होनेके बाद 'विनाश हो जानेका शोक'। प्रभुपर विश्वास करनेवालेके लिये भय और शोक' दोनों ही मर जाते हैं।

याद रक्खो—तुम्हे फलरूपमें जो कुछ प्राप्त होता है, सब मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलविधानसे प्राप्त होता है। अतएव जो कुछ भी अनिच्छा या परेच्छासे प्राप्त हो, उसे मङ्गलमय प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छासे निर्मित मङ्गलविधान समझकर उसमें अपने परम मङ्गलका विश्वास करो और सदा मङ्गलमय प्रभुके प्रति कृतज्ञ रहकर उनका मङ्गलमय स्मरण करते रहो।

'शिव'

संसारकी प्रतीति

(लेखक—स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

बहुत गई थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
काल-चिरैया चुग रही, निसि दिन आयू-खेत॥
नारायण सुख भोगमें, तू लंपट दिन-रैन।
अन्त-समय आयो निकट, देख खोलके नैन॥
धन-जोबन यूँ जायँगे, जा बिधि उड़त कपूर।
नारायण गोविन्द भज, मत चाटै जग-धूर॥
नारायण संसारमें भूपति भये अनेक।
मैं-मेरी करते रहे, ले न गये तृन एक॥

सत्सङ्गी—श्रीशङ्कराचार्य एक स्थलपर कहते हैं—'ज्ञाते तत्त्वे क संसारः ?'—अर्थात् तत्त्व-ज्ञान होनेके बाद फिर संसार कैसा ? यह बात कुछ ठीक गले नहीं उतरती। तत्त्वज्ञान होनेके बाद यदि संसार न रहता, तो या तो आजतक किसीको तत्त्वज्ञान हुआ ही नहीं। क्योंकि संसार प्रत्यक्ष दीखता है, अथवा तत्त्वज्ञान होनेके बाद संसार रहता नहीं—यह मान्यता ही गलत है। अब इसमें सत्य क्या है, यह आप समझाइये।

संत—भाई, तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंने त्रिविध साधन बतलाये हैं। अन्तःकरणमें तीन दोष रहते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी निवृत्तिके लिये अलग-अलग साधन करने पड़ते हैं। अन्तःकरण इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके द्वारा जबतक विशुद्ध नहीं हो जाता, तबतक यह बात समझमें नहीं आती।

ऐसा कुतर्क आपके ही मनमें आता है, ऐसा न समझिये। बल्कि दूषित अन्तःकरणवाले सभी आदमियों-को ऐसे कुतर्क हुआ ही करते हैं। इसलिये जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है, उसे तो सबसे पहले अन्तः-करणको दोषरहित करना चाहिये।

इन तीन दोषोंमें पहला दोष 'मल' कहलाता है। इस दोषकी निवृत्तिके लिये निष्काम कर्म, जप, दान, सत्य, सदाचार, ब्रह्मचर्य आदिका सेवन करना चाहिये। मल पापका ही दूसरा नाम है। निष्काम कर्म, जप और दान-पुण्यके बिना पापका क्षय नहीं होता, इसलिये इनको करना चाहिये।

दूसरा दोष है 'विक्षेप' अर्थात् अन्तःकरणकी चञ्चलता। अन्तःकरण अपने भीतर रहनेवाली वासनाओं-के कारण चञ्चल रहता है। इसको स्थिर करनेके लिये सगुण या निर्गुण उपासना, आसन, प्राणायाम और गुरु-भक्तिका आचरण करना चाहिये।

इन दो दोषोंको दूर करनेके बाद तीसरा दोष जो 'आवरण' कहलाता है, उसकी निवृत्तिके लिये गुरुमुखसे शास्त्राध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार दीर्घकालतक अभ्यास करते-करते गुरुकी कृपासे आवरण भङ्ग होगा तथा स्थिर और निर्मल अन्तःकरणमें अपने-आप ज्ञानका उदय होगा।

अब हम मूल विषयपर आते हैं। ज्ञानका उदय होनेके बाद संसार रहता है या नहीं और यदि रहता है तो किस रूपमें रहता है—इस बातको समझना साधन-सापेक्ष है। फिर भी मैं यथाशक्ति समझानेका प्रयत्न करूँगा। आपकी बुद्धि कदाचित् इसे स्वीकार न करेगी, परंतु आपका हृदय ऐसा नहीं कहेगा। जो ज्ञान बुद्धिसे तो समझमें आ जाता है, परंतु अन्तःकरणमें स्थिर नहीं होता, वह 'परोक्षज्ञान' कहलाता है और अन्तःकरण जबतक विशुद्ध नहीं होता, तबतक ज्ञान 'अपरोक्ष' नहीं होता।

देखिये, यह एक घड़ा है और यह पानी भरनेके काममें आता है, फिर यदि अनाज भरना हो तो उसमें अनाज भी भरा जा सकता है। यह घड़ा मिट्टी-स्वरूप ही है, क्योंकि यह मिट्टीका विकार है। इस बातको समझनेके लिये बुद्धिसे विचार करना चाहिये और

पश्चात् तदनुकूल निश्चय करना चाहिये । ऐसा निश्चय करनेके लिये किसी घड़ेको फोड़कर चूर-चूर करके 'वह मिट्टीरूप है' इस प्रकार नहीं समझा जाता । उसी प्रकार सोनेका गहना केवल सोना ही है, दूसरा कुछ नहीं— ऐसा निश्चय करनेके लिये भी गहनेको भट्ठीमें डालकर गलाना जरूरी नहीं है । अर्थात् ज्ञान होनेके बाद ससार रहता हो या न रहता हो, उसका नाश करना जरूरी नहीं है । कार्यको उसके मूल कारणके रूपमें जानना चाहिये, यही कार्यका नाश कहलाता है। घडेको मिट्टीके रूपमें जान लेना और गहनेको सोनेके रूपमें जान लेना, यही घड़ेका तथा गहनेका नाश होना है; क्योंकि मिट्टीमें घड़ेका तथा सोनेमें गहनेका अत्यन्ताभाव है।

इसी प्रकार ज्ञानका उदय होनेके बाद संसार दीखना बद नहीं होता, परतु उसको देखनेकी दृष्टि बदल जाती है । अज्ञानीको संसार नाम-रूपमें और कार्य-कारणभावमें दीखता है और ज्ञानीको ईश्वररूप या ब्रह्मरूपमें दीखता है । अज्ञानीको घड़ा और गहना आदि पदार्थोंके रूपमें ससार दीखता है तथा ज्ञानीको मिट्टी और सोनेके रूपमें, अर्थात् अधिष्ठान-रूपमें दीखता है । ज्ञानीकी दृष्टिमें नाम-रूप तथा कार्य-कारण-भाव कल्पित हैं, इसलिये नाम-रूपसे परे परमात्मारूप ससार ज्ञानीको भासता है और इसीसे "ज्ञाते तत्त्वे कः ससारः"— यह जो कहा गया है, इसमें कोई असत्य नहीं है । अज्ञानीको जिस प्रकार ससार दिखलायी देता है, वैसा ज्ञानीको नहीं दिखलायी देता ।

यही बात पञ्चदशीमें और ही तरहसे समझायी गयी है, जो देखने योग्य है । वहाँ कहा गया है—

> ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन निर्मिता ।
> जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥

यहाँ जगत्को दो भागोंमें बाँट दिया गया है—एक तो ईश्वरनिर्मित सृष्टि और दूसरा जीवकल्पित ससार । ईश्वरने अपने संकल्पमात्रसे कार्य-कारणभावयुक्त नाम-रूपात्मक सृष्टिकी रचना की । यह सृष्टि अनादि कालसे चली आ रही है और इसमें कोई कमी-बेशी नहीं होती है । यह केवल कार्य-कारणभावरूप है । इसलिये पदार्थोंका रूपान्तर हुआ करता है और इसी कारण नाम-रूप बदला करते हैं । इस सृष्टिका नाश नहीं होता । परंतु प्रलय कालमें इसका तिरोभाव हो जाता है और सृजनकालमें फिर उसी सृष्टिका आविर्भाव होता है । इस आविर्भाव और तिरोभावको सृष्टिकी उत्पत्ति और लय कहते है ।

संसार—जीव जब शरीर धारण करके माताके उदरमेंसे बाहर निकलता है, तबसे लेकर जबतक वह शरीरका त्याग नहीं करता तबतक अपनी कल्पनासे 'मैं और मेरे' रूपमें प्राणी और पदार्थोंका सग्रह करता है, उसको ही ससार कहते हैं । यह ससार जीवकी ही कल्पना होनेके कारण घटता और बढ़ता रहता है और जीव जब यह शरीर छोड़ता है, तब इस शरीरसे रचा हुआ संसार भी छूट जाता है अर्थात् जीवका गत शरीरके—ससारके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता; इतना ही नहीं, बल्कि उसकी स्मृति भी नहीं रह जाती ।

अब यह देखना चाहिये कि जीव अपनी कल्पनासे किस प्रकार ससारकी रचना करता है । जीव जब माताके गर्भमें होता है, तब वह अनेक यातनाओंको भोगता रहता है । माताके आहार-विहारसे उसको दुःख पहुँचता है । फिर बँधी जगहमें प्रवाही तत्त्वोंके बीच उल्टे सिर लटकनेका दु ख भी कोई छोटा दुःख नहीं है तथा माताकी जठराग्निके तापसे सतप्त होते रहना आदि अनेक दु.ख होते हैं; परतु सबसे अधिक और असह्य दु.ख तो उसको पश्चात्तापका होता है । सैकड़ों बिच्छुओंके डककी अपेक्षा भी इस दुःखकी वेदना अति तीव्र होती है । जीव जब गर्भमें रहता है, तब उसकी सुषुम्णा नाड़ी खुली रहती है और इस

कारण उसको गत जन्मोंकी सारी बातें याद होती हैं तथा सारा ही भूतकाल सिनेमाकी फिल्मके समान उसकी दृष्टिके सामने उपस्थित होता है। इससे गत मनुष्य-जन्मोंमें ईश्वरने दया करके मुक्ति प्राप्त करनेके लिये जो-जो सुअवसर प्रदान किये, उन सबको विषय-सेवनके पीछे धूलमें मिला देनेके कारण उसको अत्यन्त पछतावा होता है। सच्चे पश्चात्तापकी तीव्र वेदनाकी कल्पना तो भुक्तभोगी ही कर सकता है। उस समय भी जीव प्रभुसे प्रार्थना करता है—'भगवन्! मैं कृतघ्न हूँ। आपके द्वारा प्रदान किये गये सभी अवसरोंको मैंने व्यर्थ ही गवाँ दिया और आपको दिये हुए वचनका भी मैंने पालन नहीं किया। मैं अत्यन्त नीच और वचन-भङ्ग करनेवाला विश्वासघाती तथा आत्मद्रोही हूँ। फिर भी आपकी दयाका पार नहीं है, इसलिये इस समय मुझको इससे बाहर निकालिये। इस जन्ममें तो जरूर ही आपकी भक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं करूँगा, जिससे कि मुझको फिर कभी गर्भवासका दुःख न भोगना पड़े।' करुणाके समुद्र परमात्मा उसको गर्भसे बाहर निकालते हैं। प्रसवका धक्का लगते ही उसकी सुषुम्णा नाड़ी इडा और पिङ्गलाके बीच गुँथ जाती है और परिणामस्वरूप उसे ज्ञानकी विस्मृति हो जाती है। गर्भसे बाहर निकलने-पर वह बेसुध होता है और जडके समान उसको अपना तथा दूसरे विषयोंका कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

जीवकी ऐसी दुर्गतिमें प्रभु उसको एक माता प्रदान करते हैं, जो उसे पाल-पोसकर बडा करती है। कुछ बडा होनेके बाद भगवान् आकर उससे पूछते हैं—'भाई! यह कौन है?' तो वह उत्तर देता है—'मेरी माँ है।' उसके बाद ईश्वर उसको दो-तीन, भाई-बहिन देता है और पीछे आकर पूछता है—'भाई! ये कौन हैं?' तो वह कहता है—'ये तो मेरे भाई-बहिन हैं।' फिर ईश्वर उसका एक स्त्रीसे ब्याह कराता है और इसके पेटसे दो-तीन बालक देता है। फिर आकर पूछता है—'भाई! ये कौन हैं?' तब वह जवाब देता है—'मैं स्वयं जाकर इस स्त्रीको ब्याहकर लाया था, क्या तुमने यह नहीं देखा है जो पूछते हो कि यह कौन है? और फिर इसके पेटसे जन्मे ये मेरे बच्चे हैं, इसमें भी पूछनेकी क्या बात है?' इस प्रकार प्राणी-पदार्थका संग्रह करते-करते जीव 'मैं और मेरा' रूप एक संसारकी रचना करता है।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो जीवको शरीरको 'मैं' कहनेका कोई अधिकार नहीं है तथा शरीरके सम्बन्धमें आनेवाले प्राणी-पदार्थको भी 'मेरा' कहनेका कोई अधिकार नहीं है। फिर भी अज्ञानके कारण, ईश्वरकी मायासे, जीव संसारकी रचना करता है और 'मैं तथा मेरा' की कल्पनामें बँध जाता है। अपने संसारमें वृद्धि होनेसे सुखका अनुभव करता है और हानि होनेपर हाय-हाय करता है। शरीर छूटनेके बाद अपना रचा हुआ यह संसार छूट जाता है। भावी जन्ममें गत जन्मके संसारकी स्मृति भी नहीं रहती। इस प्रकार जीव एकके बाद एक शरीर धारण किया करता है और प्रत्येक शरीरमें नवीन संसारकी रचना करता जाता है।

परंतु ज्ञानी पुरुष ज्ञान होनेके बाद समझता है कि 'मैं और मेरा' की कल्पना तो भ्रममूलक है, इसलिये ज्ञानी इस कल्पनाको छोड़ देता है। इस कारण 'मैं शरीर हूँ'—ऐसा उसको अहंकार नहीं रहता। ऐसा होनेपर 'मेरा-पन' का भाव भी छूट जाता है। शरीरके रहते हुए भी, ज्ञानी शरीरके साथ 'मैं-पन' का व्यवहार छोड़ देता है और इस प्रकार शरीरसे परे अपने परमात्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है और जीवन्मुक्तिका सुख प्राप्त करता है।

देखने लायक आनन्द तो यहीं है। संसार तो छूट जाता है ज्ञानी तथा अज्ञानी—दोनोंका ही, पर ससार छोड़नेकी क्रियाके भावमें अन्तर होनेके कारण उनके फलमें भी अन्तर होता है। ज्ञानी इच्छापूर्वक ज्ञानदृष्टिसे जीते-जी ससार छोड देता है और अज्ञानीको मृत्युकालमें बलात् अपना संसार छोडना पडता है। इससे उसके मनमें संसारके प्रति आसक्ति रह जाती है और इस कारण उसके जन्म-मरणका चक्र चालू रहता है। उधर ज्ञानी तो मृत्युके पहले ही ससारको स्वेच्छासे छोड़ चुका होता है, इसलिये वह जीवन्मुक्तिका सुख भोगता है।

इस प्रसङ्गको समझाते हुए भर्तृहरि महाराज कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि भोग-पदार्थ (संसार) चाहे जितने समयतक रहें, एक ऐसा समय आयेगा कि वे बलात् चले ही जायँगे। जब विषयोंका वियोग होना ही है, तब फिर हम स्वयं ही उनको क्यों न त्याग दें, जिससे उनके वियोगका दु ख न हो। भोग-पदार्थोंके भोगकी अवधि जब समाप्त हो जाती है, तब मनको अत्यन्त संताप होता है। परंतु यदि विवेकसे हम स्वयं ही उनको छोड़ देते हैं तो मनको अत्यन्त सुख-शान्तिका अनुभव होता है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब समझदार आदमीको चाहिये कि भोग-पदार्थोंसे आसक्तिको हटा ले।

अब यहाँ एक बात यह समझने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि माताके उदरमें सुषुम्णा नाडी खुली रहनेके कारण जीवको गत-जन्मोंका ज्ञान रहता है; परतु प्रसवके धक्केसे जब सुषुम्णा नाड़ी बँध जाती है, तब उसका ज्ञान विस्मृत हो जाता है। इसी प्रकारसे जब मृत्युकाल बिल्कुल समीप आ जाता है, तब मृत्युका असह्य धक्का लगता है और उस समय प्रायः सुषुम्णाका बन्धन खुल जाता है तथा फल-स्वरूप जीवको ज्ञान होता है और वह पश्चात्ताप करता है। दूध गिर जानेके बाद रोनेसे क्या होता है? बाढ आनेके बाद उस बाढ़को रोकनेके लिये बाँध कैसे बाँधा जा सकता है। सारा चौमासा बीत जानेके बाद, इस प्रकारकी खेती की होती तो लाभ होता—यह बुद्धिमानी सूझे तो वह किस कामकी होगी? इसी प्रकार इस पश्चात्तापका भी दु.ख देनेके सिवा और कोई उपयोग नहीं होता; क्योंकि उस समय, गयी बाजी सुधारनेके लिये उतना समय ही नहीं रहता। देखते-देखते जीव शरीरके बाहर ढकेल दिया जाता है और किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये उसे अन्य देह धारण करनी पडती है।

'फिरि पछताएँ का बनै, जब चिरियाँ चुग गईं खेत।'

जगत्का धोखा

धोखैं-ही-धोखैं डहकायौ।
समुझि न परी, विषय-रस गीध्यौ, हरि-हीरा घर माँझ गँवायौ॥
ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ।
जनम-जनम बहु करम किए हैं, तिनमैं आपुन आपु बँधायौ॥
ज्यौं सुक सेमर सेव आस लगि, निसि-बासर हठि चित्त लगायौ।
रीतौ पर्‍यौ जबै फल चाख्यौ, उड़ि गयौ तूल, ताँवरौ आयौ॥
ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौ चौहटैं नचायौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, काल-ब्याल पै आपु डसायौ॥

हृदयके उत्तम भावोंसे परम लाभ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको अपने हृदयका भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये। हृदयका भाव उत्तम होनेपर मनुष्यकी सारी चेष्टाएँ अपने-आप उत्तम होने लगती हैं। इसके विपरीत उत्तम-से-उत्तम कर्म भी भाव-दूषित होनेके कारण निम्न श्रेणीका बन जाता है। एक मनुष्य यज्ञ, दान, तप, देवताओंकी उपासना आदिका अनुष्ठान यदि अपने शत्रुको मारने या दुःख पहुँचानेके उद्देश्यसे करता है तो उसके वे यज्ञ, दान, तप, उपासना आदि अनुष्ठान यद्यपि शास्त्र-विहित होनेसे स्वरूपतः सात्त्विक हैं, फिर भी दूसरेका अनिष्ट करनेका दुर्भाव होनेके कारण तामसी हो जाते हैं और 'अधो गच्छन्ति तामसाः (गीता १४। १८)'—इस न्यायके अनुसार उनके करनेवाले मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार बर्तन माँजना, झाड़ू देना आदि सेवारूप कर्म निम्नश्रेणीके होनेपर भी निष्काम-भावसे किये जानेपर करनेवालेका भाव उत्तम होनेके कारण सात्त्विक हो जाते हैं और 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' (गीता १४। १८)—इस न्यायके अनुसार वैसे कर्म करनेवाले मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। अतः समझना चाहिये कि क्रियाकी अपेक्षा भाव प्रधान है।

यज्ञ-दान-तपरूप क्रियाकी अपेक्षा भी भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यानरूप क्रिया उत्तम है, किंतु यह क्रिया सात्त्विक होनेपर भी सकाम भावसे की जाय तो राजसी बन जाती है। इसी प्रकार यज्ञ-दान-तपरूप क्रिया जप-ध्यानकी अपेक्षा निम्न श्रेणीकी होनेपर भी यदि फल और आसक्तिका त्याग करके निष्कामभावसे की जाय तो परम शान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति करा सकती है। इसलिये जप-ध्यानसे भी वह श्रेष्ठ मानी गयी है। गीतामें भी कहा है—

ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

'ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अब यह बतलाया जाता है कि उत्तम क्रियाएँ और भाव कौन-कौन-से हैं। नमस्कार करना, स्नान करना आदि शरीरकी क्रियाएँ हैं, तीर्थयात्रा करना पैरोंकी क्रिया है, यज्ञ और दान देना हाथकी क्रियाएँ हैं, गीता, भागवत, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना वाणीकी क्रिया है, देवताओं और महात्माओंका दर्शन करना नेत्रोंकी क्रिया है, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको सुनना कानोंकी क्रिया है; भगवान्‌के नाम, चरित्र और गुणोंका मनन और चिन्तन करना तथा भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना मनकी क्रियाएँ हैं एवं किसी आध्यात्मिक विषयका निश्चय करना बुद्धिकी क्रिया है। ये सभी उत्तम क्रियाएँ हैं। इन सब उत्तम-से-उत्तम क्रियाओंकी अपेक्षा भी हृदयका उच्च भाव सर्वोत्तम है।

श्रद्धा, प्रेम, दया, क्षमा, शान्ति, समता, ज्ञान, वैराग्य, निर्भयता, आन्तरिक पवित्रता, निष्कामता आदि—ये सब हृदयके उत्तम भाव हैं। ये सभी आत्माका उद्धार करनेवाले हैं। जिस क्रियाके साथ इनका संयोग हो जाता है, वह क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम बन जाती है। मनुष्यको चाहिये कि उपर्युक्त भावोंको ईश्वरकी कृपाके प्रभावसे अपने हृदयमें उत्तरोत्तर बढ़ते हुए देखता रहे। इस प्रकार देखनेवालेकी उत्तरोत्तर उन्नति होती चली जाती है। हृदयके भाव उत्तम होनेपर मनुष्यके आचरण स्वतः ही उत्तम होने लगते हैं। उसे अपने आचरण सुधारनेके लिये कोई अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके दुर्गुण-दुराचारोंका अपने-आप ही अभाव हो जाता है, क्योंकि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं, जहाँ दया है, वहाँ हिंसाके

लिये स्थान नहीं, जहाँ क्षमा है, वहाँ क्रोध रह नहीं सकता, जहाँ समता है, वहाँ विषमता कहाँ और जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप असम्भव है। इसी प्रकार अन्य सभी भावोंके विषयमें समझ लेना चाहिये।

जब हम किसीके साथ व्यवहार करें, उस समय हमें उसके साथ प्रेम, विनय, उदारता और निष्काम भाव आदिसे युक्त होकर व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर क्रिया स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम होने लगती है।

प्रथम हमें गीताके सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक बतलाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षणोंका अपने हृदयमें दिग्दर्शन करना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम दैवी सम्पदासे सम्पन्न हो सकते हैं। फिर हमें गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक जो भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनको अपनाना चाहिये। वे लक्षण उन भक्तोंमें तो स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये वे अनुकरणीय हैं। अत. उन भक्तोंके भावोंसे भावित होकर हमें उनका अपने हृदयमें दर्शन करते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर ईश्वरकी कृपासे हम वैसे ही बन सकते हैं। जो मनुष्य उन भक्तोंके भावोंको लक्ष्य बनाकर उनका अनुकरण करता है, वह भगवान्‌का अतिशय प्यारा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२।२०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

भावका बड़ा भारी महत्त्व है। एक तो वास्तवमें भगवत्प्राप्त महापुरुष है और दूसरा एक उच्चकोटिका साधक—सच्चा जिज्ञासु है। वह जिज्ञासु जब महात्माको पाकर उनको तत्त्वसे जान जाता है, तब वह भी उसी प्रकार तुरंत महात्मा बन जाता है, जिस प्रकार वास्तविक पारसमणिके साथ स्पर्श होते ही लोहा तुरत सोना बन जाता है। यदि वह सोना न बने तो समझ लेना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है, कोई पत्थर है; या वह लोहा लोहा नहीं है, लोहेका मैल है; अथवा उन दोनोंके बीच काष्ठ, वस्त्र आदि किसी तीसरे पदार्थका व्यवधान है। इसी प्रकार यदि महात्माका सङ्ग करके उनका तत्त्व जान लेनेपर जिज्ञासु महात्मा नहीं बन जाता तो समझना चाहिये कि या तो वह महात्मा सच्चा महात्मा नहीं है या वह जिज्ञासु सच्चा श्रद्धालु नहीं है, अथवा जिज्ञासुमें कोई संशय, भ्रम आदिका व्यवधान है।

यह पारसकी तुलना भी महापुरुषके लिये उपयुक्त उदाहरण नहीं है, क्योंकि महापुरुष तो पारससे भी बढ़कर है। किसी कविने कहा है—

पारसमें अरु संतमें, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आप समान॥

अभिप्राय यह है कि पारस लोहेको सोना बना सकता है, पर उसे पारस नहीं बना सकता, किंतु महात्मा तो जिज्ञासुको अपने समान बना सकता है।

प्रथम तो ज्ञानी महात्माओंका मिलना ही दुर्लभ है और यदि वैसे महात्मा मिल जायँ तो उनको तत्त्वसे पहचानना कठिन है। तत्त्वसे जाननेके बाद तो उनमें श्रद्धा होकर तुरत ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। बिना पहचाने तो भगवान्‌के दर्शनसे भी कल्याण नहीं हो सकता। उदाहरणके लिये दुर्योधन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे नहीं जानता था, वरं अश्रद्धाके कारण उसका उनमें उल्टा दुर्भाव था; अतः वह उनसे मिलनेवाले यथार्थ लाभसे वञ्चित रहा। इधर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थ रूपसे जानते थे, इसलिये वे

भगवान्‌के परम धाममें चले गये। भगवान्‌के प्रति जिसका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार उसे लाभ होता है। दुर्योधन भगवान्‌की एक अक्षौहिणी सेना लेकर ही सन्तुष्ट हो गया, किंतु अर्जुनने तो भगवान्‌का ही वरण किया। इसमें भाव ही प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय कंसके धनुष्यज्ञमें गये, वहाँ जिनकी जैसी भावना थी, उसीके अनुसार उनको वे दीख पड़े। श्रीमद्भागवतमें आया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः :॥

(१०।४३।१७)

'जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय वे पहलवानोंको वज्रके समान कठोर-शरीर, साधारण मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक, माता-पिताको शिशु, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट् (बड़े भयंकर), योगियोंको परम तत्त्व और भक्तशिरोमणि वृष्णिवंशियोंको साक्षात् अपने इष्टदेव जान पड़े।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें भी धनुष्यज्ञके समय भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

'जिनकी जैसी भावना थी, प्रभुकी मूर्ति उन्होंने वैसी ही देखी।'

भगवान्‌को जो पुरुष जिस भावसे देखता है, भगवान् उसके लिये वैसे ही हैं। गीतामें भी कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते · ˆ भजाम्यहम्।

(४।११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

भगवान् तो दर्पणकी भाँति हैं। मनुष्य जिस रूप और आकृतिको लेकर दर्पणके सम्मुख होता है, वैसा ही उसमें दीखता है। इसी प्रकार जिसके मनका जैसा भाव होता है, वैसा ही भगवान्‌में प्रदर्शित होता है। सूर्य-भगवान् सब जगह समान हैं अर्थात् सबको समानभावसे प्रकाश देते हैं; किंतु दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, काठमें नहीं, और सूर्यमुखी शीशा तो उनकी रोशनीको लेकर कपड़े, रूई आदिको जला देता है; किंतु साधारण शीशा नहीं जला सकता। इसमें उस सूर्यमुखी शीशेकी ही विशेषता है, सूर्यका प्रभाव तो सब जगह समान ही है। इसी प्रकार भगवान् तो सब जगह समान ही हैं, किंतु मनुष्य अपनी श्रद्धा और भावसे उनसे अधिक-से-अधिक चाहे जितना लाभ उठा सकता है।

भगवान्‌ने कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इसमें भक्तके भावकी प्रधानता है। भगवान् सभी जगह विराजमान हैं, किंतु बिना श्रद्धाके उनसे कोई कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। जिसमें भगवद्विषयक आस्तिकबुद्धि नहीं है, वह नास्तिकताके कारण परम-शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहता है। गीतामें कहा है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य ।
न :शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२।६६)

'न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें

निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और न उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना ही होती है तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्ति-रहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है ।'

श्रीहनुमान्‌जीका भगवान् श्रीरामके प्रति बहुत उच्चकोटिका भाव था । * इस कारण भगवान्‌ने उनके लिये कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

'सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्यगति होता है ।'

इसमें भाव ही प्रधान है । अतः अपना भाव उत्तम-से-उत्तम बनाना चाहिये । सबको उत्तम भावसे देखनेपर देखनेवालेको भी लाभ है और जिसे देखा जाता है, उसे भी लाभ है । इसी प्रकार दूसरेको दुर्भाव-से देखनेपर देखनेवालेकी भी हानि है और जिसे देखा जाता है, उसकी भी हानि है । यदि हम अपने लड़के, छात्र या नौकरके लिये यह कहते हैं कि वह नीच है, दुष्ट है और इस प्रकार समय-समयपर उनके दुर्गुण-दुराचारोंकी चर्चा करते रहते हैं तो इससे उन छात्र, बालक और नौकरपर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे हमसे विमुख या उपरत हो जाते हैं एव वे उस भावसे भावित होकर निम्न श्रेणीके बन जाते हैं । अतः इस तरह कहने और सुननेवाले दोनोंको ही सिवा हानिके कोई लाभ नहीं है । ऐसे व्यवहारसे दोनोंका ही पतन है । अतः ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये । उत्तम व्यवहारसे—जिसके साथ उत्तम व्यवहार किया जाता है, वह भी सुधर सकता है । एक व्यक्ति विश्वास करनेयोग्य नहीं है और उसका हम विश्वास करते हैं तो दिन पाकर वह विश्वासपात्र बन सकता है, क्योंकि वह समझता है कि ये मुझपर विश्वास करते हैं तो मुझे इनके विश्वासके अनुसार ही रहना चाहिये । इस प्रकार हमारे उच्च भावसे उसका और हमारा दोनोंका उत्थान होना सम्भव है । अतः हमें सबको उच्च भावसे ही देखना चाहिये ।

अपने स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिमें कोई अवगुण हो तो उसे दूर करनेके लिये उसकी चर्चा नहीं करनी चाहिये और उसमें गुण बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये । इस प्रकार करनेसे उसके साथ अपना प्रेम बढ़ता है और उसका सुधार भी होता है । भगवान् श्रीरामने सुग्रीवको प्रेमका तत्त्व समझाते समय प्रेमीके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह बतलाते हुए कहा है—

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ॥

मनुष्यका कर्तव्य है कि अपने प्रेमी मित्रको बुरे मार्गसे रोककर अच्छे मार्गपर चलाये, उसके गुण प्रकट करे और अवगुणोंको छिपाये ।

भगवान् श्रीराम जिस प्रकार अपने भक्तोंके अवगुणों-की ओर नहीं देखते थे, उसी प्रकार हमें भी अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदिके अवगुणोंको न देखकर उनके साथ दयापूर्वक कोमलता और प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । इस विषयमें भगवान् श्रीरामका भाव हमारे लिये अनुकरणीय है । भगवान् श्रीरामके स्वभावके विषयमें श्रीभरतजी महाराज कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

'प्रभु सेवकका अवगुण कभी नहीं मानते । वे दीनबन्धु हैं और अत्यन्त ही कोमल स्वभावके हैं ।'

अतः हमें सबके साथ दया, प्रेम, विनय, त्याग और उदारतापूर्वक व्यवहार करना चाहिये ।

सर्वोत्तम भाव तो यह है कि सब कुछ परमात्माका

---

* श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामसे कहते हैं—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ । नर नारायन की तुम्ह दोऊ ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥

स्वरूप है। जैसे स्वप्नमें मनुष्य जिस संसारको देखता है, वह उसके मनका संकल्प होनेके कारण उससे अभिन्न है, उसी प्रकार यह सारा संसार भगवान्‌का संकल्प होनेके कारण उनसे अभिन्न है अर्थात् भगवान्‌का स्वरूप ही है। इस भावसे देखनेवाला मनुष्य उच्च कोटिका माना जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

यह सर्वोत्तम भाव है। ऐसा न हो तो इससे उतरा हुआ उत्तम भाव यह है कि सबमें भगवान् व्यापक हैं। भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
(गीता ९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् (जलसे बरफके सदृश) परिपूर्ण है।'

'यो मां पश्यति सर्वत्र' (गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है।'

श्रुति भी कहती है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
(यजुर्वेद अ० म० ४०। १)

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनस्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वरसे व्याप्त है।'

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह समझना चाहिये कि जैसे बादलोंमें आकाश व्यापक है, वैसे ही भगवान् सबमें व्यापक हैं। अत. सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है और सबका आदर करना ही भगवान्‌का आदर करना है। यह भाव भी बहुत उत्तम है।

यदि ऐसा भाव भी न हो तो सब भगवान्‌के भक्त हैं या सब भगवान्‌की प्रजा हैं, अत' सभी हमारे भाई हैं—इस प्रकार देखना चाहिये; क्योंकि सब ईश्वरके अंश होनेसे ईश्वरकी प्रजा हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

अभिप्राय यह है कि परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और उसका अश होनेसे आत्मा भी नित्य शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप है।

अतएव सब प्राणी ईश्वरके अंश होनेके नाते हमारे भाई हैं। जैसे अपने भाईके हैजे या प्लेगकी बीमारी हो जाती है तो हम उसके उस संक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करते हुए उसके हितके लिये वैद्य-डाक्टरोंको बुलाकर या उसीको वैद्य-डाक्टरोंके पास ले जाकर प्रेमपूर्वक उसका इलाज करवाते हैं, उसी प्रकार हमें और सबके साथ व्यवहार करना चाहिये, क्योंकि ससारमें जितने भी प्राणी हैं, सभी हमारे भाई हैं और उनमें मनुष्य प्रधानतासे हमारे भाई हैं। इसलिये सबका जिस प्रकार परम हित हो, वैसे ही हमें करना चाहिये। यहाँ दुर्गुण-दुराचारोंका जो समूह है, वही बीमारी है। ज्ञानी, भक्त, महात्मा ही वैद्य हैं। उनके पास लोगोंको ले जाना या उनको लाकर उनसे मिला देना ही रोगीकी वैद्य-डाक्टरोंसे भेंट कराना है। उसके दुर्गुण-दुराचार और दुर्व्यसनोंसे अपनेको बचाना ही सक्रामक रोगसे अपनी रक्षा करना है। अतएव हमें हर प्रकारसे निष्काम भावपूर्वक सबका परम हित करना चाहिये।

ऐसा भी न हो तो चौथी बात यह है कि ससारमें गुण और दोष भरे हुए हैं, किंतु अपनेको तो गुणग्राही होना चाहिये, किसीके दोषकी ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये। अवधूतशिरोमणि श्रीदत्तात्रेयजीने जड-चेतनात्मक चौबीस पदार्थोंसे शिक्षा ग्रहण की और

उनके गुणोंको धारण किया, इसी प्रकार हमें भी सबके गुण ही ग्रहण करने चाहिये । इस प्रसङ्गको श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ७ वें, ८ वें और ९ वे अध्यायोमें विस्तारसे देखना चाहिये ।

भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे सत और असंतके लक्षण बतलाकर अन्तमें यही कहा है—

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक ।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक ॥

इसका भाव यह है कि ससारमें मायासे रचित गुण और दोष भरे हुए हैं । हमारे लिये सबसे बढ़कर गुण (भाव) यह है कि किसीके अवगुण और गुण दोनोंको ही न देखे, क्योंकि गुण-दोषोंको देखना ही मूर्खता है । पर यदि देखे बिना न रहा जाय तो गुणोंको ही देखना चाहिये, अवगुणोंको नहीं; क्योंकि दूसरोंके अवगुणोंको देखने, सुनने, कहने और माननेमें महान् हानि है । नेत्रोंसे देखने, कानोंसे सुनने, वाणीसे कहने और मनसे माननेपर हृदयमें वैसे ही संस्कारोंका सग्रह होता है और वह मनुष्य फिर वैसा ही बन जाता है । इसके सिवा दूसरेके अवगुणोंको कहने-सुननेसे एक तो हम उसके दोषोंके हिस्सेदार बन जाते हैं और दूसरे उसकी आत्माको दु.ख पहुँचता है, इसलिये भी हम पापके भागी होते हैं । इसलिये किसीके दुर्गुण-दुराचारोंको न तो कहे, न सुने, न देखे और न हृदयमें ही स्थान दे ।

संत-असंत

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०)

बदउँ बिधि पद रेनु भवसागर जेहि कीन्ह जहँ ।
सत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी ॥

एक ही पिताके दो पुत्रोंमें एक सत हो सकता है और दूसरा खल हो सकता है । भवसागर एक ही है, जिसे विधाताने बनाया; परतु उसीसे सुधा, शशि और कामधेनु-सरीखे सत-तत्त्व भी कुछ प्रकट हुए । सतत्व और असतत्वके लिये कुलकी नहीं; किंतु करतूतिकी प्रधानता है । देखिये न—

उपजहिं एक सग जग माहीं । जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलधि अगाधू ॥
भल अनभल निज निज करतूती । लहत सुजस अपलोक बिभूती ॥

दोनोंके सामान्य व्यवहार भी एक-से हो सकते हैं, परतु उन दोनोंके परिणाममें जमीन-आसमानका अन्तर हो जाता है । दोनों ही दूसरोंको दु:ख देनेकी क्षमता रखते हैं, दूसरेके लिये दु ख सहनेकी क्षमता रखते हैं, दोनोंमें ही जीवनका उज्ज्वल और श्याम पक्ष बराबर-बराबर रह सकता है, फिर भी परिणामकी दृष्टिसे एक परम यशस्वी होता है और एक परम निन्दनीय । देखिये—

बदउँ सत असज्जन चरना । दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं । मिलत एक दुख दारुन देहीं ॥
भूर्ज तरू सम सत कृपाला । पर हित निति सह बिपति बिसाला ॥
सन इव खल परबंधन करई । खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह ।
ससि सोषक पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह ॥

दुःखप्रद वह भी है, जो मिलते ही दारुण दु.खकी नींव डाल दे और वह भी है, जो बिछुड़नेसे मर्मान्तक पीड़ा दे । अन्यके लिये दु.ख-सहिष्णु सन भी है और भोजपत्रका वृक्ष भी, इसी तरह बराबर-बराबर अँधेरे उजेलेवाला कृष्णपक्ष भी है और शुक्लपक्ष भी, परतु फिर भी एक अनर्थकारी अतएव अपयश-भाजन है और दूसरा उपकारकारी अतएव सुयश भाजन है ।

सुमति और कुमतिकी भाँति सतत्व और खलत्व प्रत्येक हृदयमें निवास करता है, परतु जहाँ सतत्वकी प्रधानता है, वहाँ सच्ची समृद्धिकी प्रधानता है और जहाँ खलत्वकी प्रधानता हो जाती है, वहाँ समझिये कि विपत्तिकी भी प्रधानता होगी ही ।

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं । नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ सपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥

सुमतिका तकाजा यह है कि मन, वाणी, क्रियासे परोपकारपर ध्यान रखा जाय । सत और असतके परखनेकी कसौटी यही है ।

पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगराया ॥

मनुष्यमें जड और चेतन—तन और आत्मा—दोनोंका ही मेल है। जडत्व यदि प्रबल हुआ तो आसुरी अथवा खलत्वकी प्रवृत्ति जागेगी। चेतनत्व प्रबल हुआ तो दैवी प्रवृत्ति अथवा संतत्वकी वृत्ति जागेगी। जडत्वकी प्रबलतामें मनुष्य अपने ही साढे तीन हाथके शरीरको सब कुछ मान बैठता है और अपनेसे भिन्न व्यक्तियोंको अपने सुखका साधन बनानेके लिये उनके साथ भाँति-भाँतिके विपरीत व्यवहार करने लगता है और परिणाममें भाँति-भाँतिके दुःख भी उठाता है। फिर तो जिस शरीरके सुखके लिये उसने इतनी खटपट उठायी थी, उसको भी घोर संकटमें डालकर वह दूसरोंका अपकार करता फिरता है। यही उसका स्वभाव बन जाता है।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥

चेतनत्वकी प्रबलतामें मनुष्य अपनी ही प्रतिच्छाया प्रत्येक मनुष्यमें ही नहीं, किंतु प्रत्येक प्राणी और जड-चेतन सभी वस्तुओंमें देखने लगता है। 'पर-उपकार' ही उसका 'सहज' स्वभाव बन जाता है।

खल-वृत्तिवाला मनुष्य दोष ही ढूँढा करता है और संतवृत्तिवाला मनुष्य गुणोंकी ही खोजमें रहता है।

'जो जेहि भाव नीक पै सोई।'

जड चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

यही नहीं, अपने-अपने स्वभावके अनुसार दोनोंकी मनोवृत्तियाँ भी इस ढंगकी बन जाती हैं कि एक दैवी-सम्पत्तियोंवाला बन जाता है और दूसरा आसुरी सम्पत्तियों-वाला। गीतामें कहा गया है—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

इन सम्पत्तियोंका इतना असर होता है कि जिन व्यक्तियोंमें ये पहुँचती हैं, उनमें तो ये असर करती ही हैं; परंतु जो ऐसे व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आता है, उसपर भी इनका असर हो जाता है।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु बेद बिदित सब काहू॥

इसलिये—

बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।

बुद्धिमान् जन अधमका सङ्ग नहीं करते।

अतएव नितान्त आवश्यक है कि संतों और असंतोंकी परख जान ली जाय—उनके लक्षणोंको समझ लिया जाय। गोस्वामीजी संतोंकी वन्दना करते हुए उनके स्वभावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ॥

× × ×

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

× × ×

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥

× × ×

दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥

× × ×

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥

गोस्वामीजीने भगवान्‌के मुखसे संतोंके लक्षण विस्तार-पूर्वक दो स्थलोंपर कहलवाये हैं। एक तो अरण्यकाण्डमें नारदके प्रश्नपर और दूसरे उत्तरकाण्डमें भरतके प्रश्नपर। नारदसे भगवान् कहते हैं कि संतोंके जिन गुणोंके कारण मैं उनके वशमें रहता हूँ, वे अमुक-अमुक हैं। भरतसे भगवान् कहते हैं कि संत जिन गुणोंके कारण मुझे परम प्रिय लगते हैं, वे अमुक-अमुक हैं। उन दोनोंकी प्रमुख तालिका ऊपर दे दी गयी है। प्रथम तालिकामें—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥

और दूसरी तालिकामें—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥

तथा—

मन बच क्रम मम भगति अमाया।

ऐसे दस लक्षण विशेषरूपसे दर्शनीय हैं। यों तो

कह ही दिया गया है कि उनके लक्षण अगणित एवं श्रुतिपुराण विख्यात हैं।

संत ही सच्चा मित्र हो सकता है; क्योंकि मित्रताका अर्थ ही है अपने स्वार्थकी अपेक्षा अपने किसी घनिष्ठके स्वार्थको अधिक महत्त्व देना। अतएव जो वास्तविक मित्र होगा, वह निश्चय ही संत भी होगा। संत ही सच्चा भक्त भी हो सकता है। भक्तिका अर्थ ही है—अपने समूचे स्वार्थको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देना और प्रभुकी इच्छाको ही सर्वोपरि मान लेना। अतएव जो भक्त होगा, वह निश्चय ही संत भी होगा। हम तो यहाँतक कहेंगे कि जो अपना हितैषी है, चाहे वह सामान्य पाटकीट (रेशमका कीड़ा) हो—

पाट कीट तें होइ तेहि तें पाटंबर रुचिर।
कृमि पालत सब कोइ परम अपावन प्रान सम॥

—माता-पिता-गुरुके समान महनीय व्यक्ति हो—

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥

—वह उसी अंशतक संतकी श्रेणीमें है। जिससे जिस अंशमें परहित हो रहा है, वह उसी अंशमें संत है। मित्रके लक्षण गोस्वामीजीने किष्किन्धाकाण्डमें कहे हैं और भक्तके लक्षण तो जगह-जगह कहे हैं। विशेषतः वे स्थल देखे जायँ, जहाँ वाल्मीकिने भगवान्‌को उनके रहने लायक भवन बताये हैं। स्वतः भगवान्‌ने लक्ष्मण और शबरीको अपनी नवधा भक्ति कही है तथा विभीषणकी कुशल-चर्चापर अपना स्वभाव बताया है।

संतों या सतजनोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें मुख्य कसौटी वही है, जो पहले बतायी गयी है। जहाँ उनके स्वार्थका प्रश्न होगा, वहाँ वे वज्रके समान कठोरताके साथ नीति-धर्मका पालन करेंगे और जहाँ दूसरोंके स्वार्थका प्रश्न होगा, वहाँ वे कुसुमसे भी कोमल हो जायँगे। उनका उदय सदैव सबके लिये सुखकारी होता है।

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। परहित द्रवहिं संत सुपुनीता॥

× × ×

संत उदय संतत सुखकारी। बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी॥

परंतु कठिनता यह है कि सच्चे संत बहुत कम ही मिला करते हैं। कबीरने भी तो कहा है—'साधु न चलहिं जमाति।' गोस्वामीजी कहते हैं—

जग बहु नर सरि सर सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई॥
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई॥

× × ×

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥

× × ×

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नर बर थोरे जग माहीं॥

अथवा

नारिनयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरिहिं कृपा पाव कोइ कोई॥

वे कम होते हुए भी इतने उदार होते हैं कि अपनेसे छोटोंको ठुकराना तो दूर रहा, सिर-माथेपर ही रखते हैं। वे दुःख सहकर भी दूसरोंके छिद्र दुराते हैं—

बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्ह सदा तृन धरहीं॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू॥

× × ×

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा॥

इसलिये आग्रहपूर्वक उनसे सम्पर्क बढ़ाना चाहिये।

सत्सङ्गके बिना कभी कोई शुभ कार्य बनता नहीं। सत्सङ्ग सुलभ हो तो समझिये कि ईश्वरकी बड़ी कृपा है, इसलिये वह एक क्षणके लिये भी मिल जाय, उसका एक परमाणु भी मिल जाय, तो समझिये कि बड़े भाग्य हैं।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जो जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

× × ×

सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

× × ×

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

× × ×

बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

× × ×

तबहिं होहिं सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥

भगति सुतंत्र सकल गुन खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥

× × ×

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किएँ जोग जप जाग बिरागा ॥

परंतु दुर्लभ होते हुए भी, प्रबल इच्छा हो तो वह सत्संग 'सबहि सुलभ' भी हो सकता है—

मुद मंगलमय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ॥
राम भगति जहँ सुरसरि धारा । सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ॥
बिधि निषेधमय कलिमल हरनी । करम कथा रबि नंदिनि बरनी ॥
हरिहर कथा बिराजति बेनी । सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥
बटु बिस्वासु अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुकर्मा ॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा ॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ । देत सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग ॥
मज्जन फल पेखिअ ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥

गोस्वामीजी कहते हैं कि सामान्य व्यक्तियोंके ऊपर सङ्गका असर हुए बिना रह नहीं सकता । सुसङ्ग मिला तो वे अच्छे हो जायँगे और कुसङ्ग मिला तो बुरे हो जायँगे । सामान्य वस्तुओं तकमें यह असर देखा जा सकता है ।

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥
साधु असाधु सदन सुक सारीं । सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारीं ॥
धूम कुसंगति कारिख होई । लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई ॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवनदाता ॥

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग ।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग ॥

इस प्रसङ्गमें—

सुरसरि जलकृत बारुनि जाना । कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ॥
सुरसरि मिलें सो पावन कैसें । ईस अनीसहि अंतरु जैसें ॥

—वाला दृष्टान्त भी भलीभाँति माननीय है ।

सामान्य जनकी कौन कहे, यदि खल भी सुसङ्गमें पड़ जाय तो कुछ-न-कुछ कर ही बैठता है । भले ही अपने स्वभावसे लाचार होनेके कारण पीछे उसकी पोल खुल जाय, परंतु सज्जनताका बाहरी बाना रखकर वह कुछ तो अपनेको पुजा ही लेता है । यदि कोई दिखावेमें साधुताका बाना न भी रखता हो किंतु हो वस्तुतः साधु तो उसका तो जगत्में सम्मान होगा ही और उसका सङ्ग सबके लिये लाभप्रद रहेगा ही ।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥
लखि सुबेष जग बंचक जेऊ । बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ ॥
उघरहिं अंत न होइ निबाहू । कालनेमि जिमि रावन राहू ॥
कियेहुँ कुबेषु साधु सनमानू । जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहुँ बेद बिदित सब काहू ॥

खल लोग भी संतोंका वेष धारण करके समाजमें विचरण कर सकते हैं और संत लोग 'कुवेष'-धारी होकर अपरिचित बने रह सकते हैं । किसको अपनाया जाय और किसको त्यागा जाय, यह तो पहिचान या परख होनेपर ही निश्चित किया जा सकता है । 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ।' अतएव जिस प्रकार संतोंके विस्तृत लक्षण जान रखना जरूरी है, उसी प्रकार असंतोंके भी लक्षण विस्तृत रूपमें जान रखना जरूरी है ।

समानचित्त गोस्वामीजीने जिस प्रकार संतोंकी वन्दना की है, उसी प्रकार खलोंकी भी वन्दना की है और इसी वन्दनामें उन्होंने खलोंके बड़े—खास-खास लक्षण बता दिये हैं । वे कहते हैं—

बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ । जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ ॥
पर हित हानि लाभ जिन्ह केरें । उजरें हरष बिषाद बसेरें ॥
हरि हर जस राकेस राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी । पर हित घृत जिन्ह के मन माखी ॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा । अघ अवगुन धन धनी धनेसा ॥
उदय केतु सम हित सब ही के । कुंभकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं ॥
बंदउँ खल जस सेष सरोषा । सहस बदन बरनइ पर दोषा ॥
पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना । पर अघ सुनइ सहस दस काना ॥
बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही । संतत सुरानीक हित जेही ॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा । सहस नयन पर दोष निहारा ॥

उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति ।
जानि पानि जुग जोरि जन बिनती करइ सप्रीति ॥
मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा । तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥
बायस पलिअहिं अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥

मजा यह है कि वन्दना करते हुए भी वे यह नहीं कहते कि खल लोग उनके साथ अपनी खलता छोड़ दें ।

भर्तृहरिने चार प्रकारके मनुष्य बताये थे। एक वे, जो स्वार्थका त्यागकर दूसरेका हित करें, दूसरे वे जो स्वार्थको साधते हुए दूसरेका हित करें। तीसरे वे जो स्वार्थके लिये दूसरेका हित नष्ट करें और चौथे वे जो बिना स्वार्थके भी दूसरोंका अहित करते रहें। तीसरे दर्जेवालोंको उन्होंने मानव-राक्षस कहा है और चौथे दर्जेवालोंको क्या कहा जाय, यह वे भी नहीं समझ पाये। गोस्वामीजीने दो दर्जे और बढा दिये हैं। पाँचवाँ दर्जा उनका है, जो दूसरोंका अहित करनेमें ही अपना स्वार्थ मानें। 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें।' और छठा दर्जा उनका है, जो दूसरोंका अहित करनेमें अपना सर्वस्व और यहाँ तक कि जीवन भी अर्पित कर देंगे। 'परहित घृत जिन्ह कें मन माखी।' मक्खी घीमें पड़कर स्वयं भले ही मर जाय, परंतु घी तो बिगाड़ेगी ही। इससे भी तगड़ा उदाहरण है—'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं' का। कौन-सा स्वार्थ है ओलोंका कि जो आकाशका ऊँचा निवास त्यागकर फसलका जबरदस्ती नुकसान करने ही यहाँ पहुँच जायँ, भले ही उसे चौपट करनेमें उन्हें स्वतः भी गलकर नष्ट हो जाना पड़े। यह है आदतकी लाचारी। यह है सच्चा खलत्व। हमने सुभाषितमें पढ़ा था कि एक मनुष्य इसलिये जबरदस्ती जंगली बाघका भक्ष्य बना था कि उसे खाकर बाघको नरमांसकी चाट लग जाय और वह फिर उस गाँवके सब आदमियोंको, जिनसे कदाचित् उसकी शत्रुता हो गयी होगी, एक-एक करके खा डाले। नीरोने कब परवा की कि इतिहास उसके मुँहपर खूब कालिख पोतकर उसे जन्म-जन्मतक गालियाँ देता रहेगा, उसने तो यही दिखाना चाहा कि मनुष्य अपने बाल-बच्चोंसमेत किस प्रकार जल-भुनकर और तड़प-तड़पकर मर सकते हैं।

गोस्वामीजी लिखते हैं—

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥

ऐसा आदमी यदि बिलैया-दण्डवत् करे—बड़ी नम्रता दिखाये—तो भी उससे बहुत सतर्क रहना चाहिये।

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई॥

राक्षस-वर्ग इन्हींमेंसे तो रहता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट परधन परदारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी॥

जैसे भरतके प्रश्नपर प्रभुने संतोंका वर्णन किया है, वैसे ही असंतोंका भी किया है। वे कहते हैं—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ परिताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥

× × ×

बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

× × ×

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥

परद्रोही परदार रत परधन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥

× × ×

ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

कलियुगका तो यह हाल है कि—

लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमानु असा॥
कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत क्वौ अनुजा तनुजा॥
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता॥
तनु पोषक नारि नरा सगरे। पर निंदक जे जग मो बगरे॥

यही नहीं, और भी कहा गया है—

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥

× × ×

सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × ×

जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

× × ×

जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

× × ×

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥

× × ×

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥

× × ×

बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि मोह बस करहिं बिप्र गुरु घात॥

× × ×

आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥

अतएव कलियुगमें तो खलोंसे बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है; परंतु उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनसे दुश्मनी मोल लेना अपनी आफत मोल लेना होगा। और उनसे दोस्ती हो नहीं सकती, क्योंकि वे जिस पत्तलपर खाते हैं, उसमें छेद किये बिना मानते नहीं, जिस सीढीसे ऊपर चढ़ते हैं उसे ठुकराकर गिराये बिना उन्हें चैन नहीं। इसलिये उनसे उदासीन रहना ही सर्वोत्तम है। कुत्तेको पुचकारिये तो मुँह चाटेगा और दुतकारिये तो सम्भव है काट खाय। आप चुपचाप उससे उदासीन होकर अपनी राह चले जाइये तो वह भूँक-भौंककर चुप रह जायगा। देखिये—

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा॥
धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पग प्रहार नित सहई॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥
कबि कोबिद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥
उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥

शठलोग सत्संगति पाकर सुधर सकते हैं, किंतु सज्जन दुर्भाग्यवश कुसंगतिमें पड़ जाय, तो भी अपना सत् स्वभाव सहसा छोड़ते नहीं—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

परंतु फिर भी सज्जनोंतकको अपने सतत्वपर गर्व करके कुसङ्गके रास्ते झाँकते नहीं रहना चाहिये। महात्मा गान्धीजी-के तथा अन्य ढेरों उदाहरण सत्संगतिसे शठोंके सुधरनेके प्रकरणमें दिये जा सकते हैं। मनकी वृत्ति तो न जाने कब कैसी हो जाय। गोस्वामीजी पहले ही कह गये हैं—

बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

जीवनका अधःपतनकी ओर उन्मुख होना सरल है, परंतु ऊपरकी ओर चढ़ना कठिन है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह दुष्टोंको पहचानकर उनसे बचता जाय और सज्जनों-को पहचानकर उनसे मेल-जोल बढ़ाता जाय।

संक्षेपमें गोस्वामीजीने उन दोनोंके स्वभाव और उन दोनोंके परिणामको एक उदाहरणसे स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥

एक उदाहरण क्यों, उनके अनेकानेक दृष्टान्त, अनेकानेक उदाहरण, अनेकानेक उपमान, जिनका दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है, इतने मार्केके हैं कि उनका स्पष्टीकरण करके प्रवचनकार व्यासलोग संत-असंत और सत्सङ्ग-दुःसङ्गके बड़े स्पष्ट और भव्य चित्र श्रोताओंके हृदयोंपर अङ्कित कर सकते हैं। जलज-जोंकके, सुधा-सुराके, भूर्जतरु-सनके, विटपके, नवनीतके, कपासके, प्रयागके, रज और धूलके, सुरसरि जल और वारुणीके, मनमाखी और हिम-उपलके, श्वानके, पारस-के, कुठार और चन्दनके उपमान तो विशेष रोचक ढंगपर समझाये जा सकते हैं। बीच-बीचमें प्रसङ्गानुसार बाहरके भी दृष्टान्त बड़े मजेमें दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—'उजरे हरष'के प्रसङ्गमें वह कथा सुनायी जा सकती है, जिसमें एक मनुष्य-को शंकरने यह वरदान दिया था कि वह जो माँगेगा, वह उसे मिल जायगा, परंतु उसके पड़ोसियोंको बिना माँगे ही उसका दूना मिल जाया करेगा। इसपर उसने शंकरजीसे कहा कि मेरी एक आँख फोड़ दीजिये। उसने सोचा कि मेरी एक आँख फूटनेपर भी मैं देख सकूँगा, पर पड़ोसियोंकी दोनों फूट जायँगी।

सुकृत न सुकृती परिहरइ कपट न कपटी नीच।
भरत सिखावन देइ चले गीधराज मारीच॥

उपनिषद्-सुधा-धारा

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

अमृत-पदके पाँच सोपान

वेदों और उपनिषदोंमें अमृत-पदकी प्राप्तिके लिये कई प्रार्थनाएँ आती हैं। यजुर्वेदके निम्न मन्त्रमें विद्वानोंके लिये अमृत प्राप्तिका लक्ष्य बताया गया है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥

वह प्रभु हमारा बन्धु, उत्पादक और सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, वह इस ब्रह्माण्डके सब लोकोंको जानता है। जिस भगवान्‌के समीप स्थित देव—दिव्यगुणयुक्त विद्वान् पुरुष—तीसरे धाममें अमृतका उपभोग करते हैं। (वेदोंमें 'मोक्ष' शब्दकी अपेक्षा 'अमृत' का अधिक व्यवहार हुआ है।)

मृत्युसे अमृतकी ओर

उपनिषदोंमें तो 'अमृत' शब्दका बहुलताके साथ प्रयोग हुआ है। याज्ञवल्क्य मुनिने गार्गीके इस प्रश्नके उत्तरमें कि 'मरणोन्मुख व्यक्तिको किस मन्त्रका ध्यान करना चाहिये' जो तीन महावाक्य अथवा मन्त्र बताये हैं, वे सूत्ररूपमें होते हुए भी बड़े सारगर्भित और तत्त्वपूर्ण हैं। अर्थात्—

ॐ असतो मा सद् गमय।
ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय।
ॐ मृत्योर्मा अमृतं गमय।

'हे भगवन्! मुझे असत्य मार्गसे बचाकर सत्यमार्गपर ले चलिये, अन्धकारसे बचाकर प्रकाशकी ओर ले चलिये और मृत्यु-दुःखसे बचाकर अमृतकी ओर ले चलिये।'

बृहदारण्यक उपनिषद्‌के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादमें इस अमृतत्वकी प्राप्तिको ही जीवनका परमलक्ष्य कहा गया है। मैत्रेयीके यह पूछनेपर कि यदि यह सारी पृथिवी धन-धान्यसे पूर्ण हो जाय तो क्या मैं 'अमृत' पद प्राप्त कर लूँगी, याज्ञवल्क्यने वही उत्तर दिया, जिसे आजका सभ्य कहा जानेवाला मानव सर्वथा भूल चुका है, पर जो विश्वके लाखों वर्षोंके इतिहासका एकमात्र निचोड़ है। ऋषिने सर्वथा अकृत्रिम और अत्यन्त प्रबल शब्दोंमें कहा—

नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।

याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; सांसारिक पदार्थोंके बाहुल्ययुक्त व्यक्तियोंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायगा। सांसारिक धन-सम्पत्तिसे कभी अमृत-पदकी आशा नहीं की जा सकती।'

उपनिषदोंके विभिन्न स्थलोंमें इस 'अमृत' के सम्बन्धमें आंशिकरूपसे कहा गया है। इसका विशद वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्‌के तृतीय प्रपाठकके छठे खण्डसे लेकर ११ वें खण्डतक है। इस प्रकरणको 'ब्रह्मोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें आध्यात्मिक विकासके क्रमको सुन्दर ढंगसे उपस्थित किया गया है। 'कल्याण'के जिज्ञासु पाठकोंकी आत्मिक उन्नतिमें इससे निश्चय ही सहायता मिलेगी।

अमृतकी ओर प्रथम पग

यहाँ उपनिषत्कारने अमृतके पाँच सोपान बताये हैं। इनमें पहला है—

तद् यत् प्रथममृतं तद् वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

"इन अमृतोंमें जो प्रथम अमृत है, उसका पान करते हुए 'अग्निमुख'—अर्थात् अग्निके समान देदीप्यमान मुखवाले 'वसु' ब्रह्मचारी अपना जीवन-यापन करते हैं। दिव्यगुण-सम्पन्न व्यक्ति खाने-पीनेमें ही रत नहीं रहते, वे अमृतरूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं।"

इससे पहले तृतीय प्रपाठकके चौथे और पाँचवें खण्डमें यह कहा गया है कि चारों वेदोंको तपानेसे जो रस निकला, वही अमृतरूप है। इस अमृतके पाँच रूप हैं—'यश', 'तेज', 'ऐश्वर्य', 'कान्ति' और 'अन्न'। जो इन पाँच रसोंका पान करते हैं, वे ही देव हैं। इनमें प्रथम अमृत 'यश' है। इसका पान करनेवाले 'वसु' कहलाते हैं और वे अग्निमुख होते हैं। 'वसु' का अर्थ है 'वसतीति वसुः'—जो निवास करे, रहे, इस संसारमें ठीक ढंगसे रहना जानता हो। 'अग्नि' शब्द भौतिक पदार्थोंका प्रतिनिधि है; इसलिये 'अग्निमुख' का अर्थ है, जिसका मुख—'ध्यान' सांसारिक पदार्थोंकी ओर है। मनुष्य-जीवनका उद्देश्य 'अग्निमुख'से 'ब्रह्ममुख'की ओर,

प्रवृत्तिमार्गसे निवृत्तिमार्गकी ओर जाना है। इसलिये अमृत-मार्गका प्रथम सोपान यह है कि मानव इस संसारमें ठीक प्रकारसे रहता हुआ प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर अग्रसर हो। शास्त्रके शब्दोंमें—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

इस प्रकारके व्यक्तिको 'यश'की प्राप्ति होती है। उपनिषत्कारके शब्दोंमें—

'एतस्माद् रूपाद् उदेति'

अमृतके इस रूपसे उसकी ऊर्ध्वगति होती है।

दूसरा पग—इन्द्रमुख

अब अमृतके दूसरे सोपानका वर्णन ऋषिके शब्दोंमें सुनिये—

अथ यद् द्वितीयममृतं तद् रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

इन अमृतोंमें जो द्वितीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'इन्द्रमुख' अर्थात् इन्द्रके समान ऐश्वर्यवान् मुखवाले 'रुद्र' ब्रह्मचारी अपना जीवन यापन करते हैं। ऐसे दिव्यगुण व्यक्ति खाने-पीनेमें रत नहीं रहते, वे अमृतरूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं। 'रुद्र'का अर्थ है 'रोदयति इति रुद्रः'—जो रुला दे, वह रुद्र है। इस प्रकारके व्यक्ति अपनी तपस्याके बलसे विषयोंको रुला देते हैं अर्थात् विषयभावनाओंका नाश कर देते हैं। इन्हें 'ऐश्वर्य' अर्थात् भगवत्पद-प्राप्तिरूपी सच्चा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अपने इस ऐश्वर्यसे ये 'तेजस्वी' होते हैं—जो ऋषिने इसका फल बताया है।

तीसरा पग—वरुणमुख

अमृतके तीसरे सोपानका वर्णन उपनिषत्कार इस प्रकार करते हैं—

अथ यत् तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

इन अमृतोंमें जो तृतीय अमृत है, उसका पान करते हुए 'वरुणमुख' 'आदित्य' ब्रह्मचारी अपना जीवन-यापन करते हैं। दिव्यगुणसम्पन्न पुरुष खाने-पीनेमें रत नहीं रहते, वे अमृतरूप ब्रह्मके दर्शनसे ही तृप्त रहते हैं।

आदित्य ब्रह्मचारी उसे कहा जाता है, जो ४८ वर्षतक अथवा आजन्म ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाला हो। 'वरुण' शब्द 'वृञ् वरणे' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है—वरना, स्वीकार करना, अङ्गीकार करना। भगवान्‌को जिन्होंने सर्वतोभावेन वर लिया है—जिस प्रकार सीताने श्रीरामको वरा था—वे ही 'वरुणमुख' हैं और आदित्य—सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं। सूर्यकी पाँच विशेषताएँ हैं—वह (१) सदा प्रकाशशील है, (२) अपने कार्यमें सर्वथा नियमित है, एक क्षणकी भी चूक नहीं करता, (३) पृथ्वीके सारे मल और दुर्गन्धको खींच लेता है, (४) तेजस्वी है और (५) जलको खींचकर वर्षाके रूपमें पृथ्वीको देता है। 'वरुण-मुख' मनुष्य भी सूर्यके समान प्रकाशशील, नियमित, तेजस्वी और जनताके दोषोंको खींचकर उनपर सदा परोपकारकी वर्षा करते रहते हैं। ऐसे महापुरुष सच्चे 'ऐश्वर्य'की प्राप्ति करते हैं।'

चौथा पग—सोममुख

चौथा अमृत-सोपान इस प्रकार है—

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

'इस चौथे अमृतका पान 'सोममुख' 'मरुत्' आजीवन करते हैं। ये देव खाने-पीनेसे नहीं, अमृतके दर्शनसे तृप्त रहते हैं।'

'मरुत्' वायु अर्थात् प्राण-शक्तिको कहते हैं, ऐसे देव, जिन्होंने प्राण-शक्ति प्राप्त की है, वे भी मरुत् कहलाते हैं। उपनिषदोंमें प्राणकी बड़ी महिमा गायी गयी है। केन-उपनिषद् और प्रश्न-उपनिषद्में अलंकार-रूपसे कहा गया है कि सब इन्द्रियों और प्राणमें एक बार संघर्ष हो गया। प्रत्येक इन्द्रियके शरीरसे बाहर निकल जानेपर भी शरीरके कार्य अव्याहतगतिसे चलते रहे; जब प्राण बाहर निकला, तब सारा शरीर लोष्टाश्मवत् हो गया। उस समय सब इन्द्रियोंने प्राणकी स्तुति की। प्रश्नोपनिषद्‌में इस स्तुतिका निम्नलिखित भावपूर्ण श्लोक आता है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥

"पृथ्वी, द्यु तथा अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकोंमें और जो कुछ भी स्थित है, सब प्राणके ही वशमें है। हे प्राण! जैसे माता पुत्रकी रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर! हमें भी 'भौतिक ऐश्वर्य' तथा 'प्रज्ञा'—मानसिक और आत्मिक ऐश्वर्य प्रदान कर।"

इस प्रकार प्राणशक्तिसम्पन्न पुरुष 'सोममुख'—सोमकी ओर मुखवाले होते हैं। 'सोम' नाम चन्द्रमाका है। इसी 'सोम'से 'सौम्य' बनता है। यह शब्द उपनिषदोंमें बार-बार आता है। शक्तिके साथ हृदयमे शान्ति होनी चाहिये। शक्ति प्राप्तकर मनुष्य प्रायः मदोन्मत्त हो जाता है—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'; पर जिनका जीवन शान्तिके परमधाम ब्रह्मकी ओर होता है, वे 'विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा'—विपत्तिमें धैर्यवान् और उन्नति—'शक्ति' प्राप्त होनेपर क्षमाशील होते हैं।

यह चौथा अमृतपान है। इसका फल शक्ति है।

'तस्याभितप्तस्य वीर्यं रसोऽजायत'

इस प्रकार तपस्या करनेसे 'वीर्य'—शक्तिकी प्राप्ति होती है।

पाँचवाँ पग—ब्रह्ममुख

पञ्चम अमृत यह है—

अथ यत् पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन।
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥

'यह जो पञ्चम अमृत है, उसका पान करते हुए 'ब्रह्ममुख' अर्थात् ब्रह्मके समान विशाल हृदयवाले 'साध्य' अपना जीवन व्यतीत करते हैं। देव खाने-पीनेसे नहीं, अमृतके दर्शनसे तृप्त होते हैं।'

'ब्रह्म-मुख' वे व्यक्ति हैं, जिनके जीवनका लक्ष्य सदा ब्रह्मके गुणोंकी ओर होता है, जो सदा अपना ब्रह्मके साथ अटूट (अभिन्न) सम्बन्ध समझते हैं—जैसा मुण्डक-उपनिषद्में ऋषिने कहा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

''अमृतरूप ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें है, ब्रह्म ही उत्तरमें है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व—संसारमें जो कुछ भी वरिष्ठ है, सब ब्रह्म-ही-ब्रह्मका प्रसार है, उसीका विस्तार है। ऐसे ब्रह्ममुख व्यक्ति 'साध्य'—सिद्ध अवस्था, जिसे जीवनमें पूरी तरहसे घटाना हमारा परम लक्ष्य है, उसे प्राप्त करते हैं।'' ऐसे अद्वितीय मनुष्य—

'तस्य अभितप्तस्य अन्नाद्यं रसोऽजायत'

—अन्नाद्य-रसको प्राप्त करते हैं। उपनिषदोंमें 'अन्न' और 'अन्नाद्य' शब्द भोक्ता और भोग्यके अर्थमें आते हैं, 'ब्रह्ममुख साध्य' पुरुष इस सारे जगत्को भोग्य' अर्थात्—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।

—ब्रह्मके दिये हुए जगत्को त्यागभावसे ही देखते हैं, उसमें लिप्त नहीं होते।

पिता पुत्रको यह उपदेश दे

अमृत-पदके इन पाँच सोपानोंका उपदेश अरुण ऋषिने अपने ज्येष्ठ पुत्र उद्दालकको दिया और साथमें यह कहा—

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने॥

'प्रत्येक पिताको चाहिये कि इस रहस्यको अपने ज्येष्ठ पुत्रको बतलाये अथवा विनम्र अन्तेवासी शिष्यको उपदेश करे।'

कितना आत्म-उद्बोधक और नव चेतनाप्रेरक ऋषिका यह उपदेश है। ऋषि बार-बार कहते हैं कि इस अमृत-मार्गके पथिक खाने-पीनेसे संतुष्ट नहीं होते, उनकी एकमात्र संतुष्टि और तृप्ति तो अमृत-दर्शनसे होती है। इस अमूल्य मानव-जन्मको प्राप्त करके भी यदि हमने इस अमर-पदको प्राप्त करनेकी दिशामें कुछ भी पग न बढ़ाया तो हमसे बढ़कर मन्दभाग्य कौन होगा ?

अमृत-प्राप्तिका उपाय एवं फल

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ (कठ० २।१।२)

जो मूर्ख बाहरी भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, वे सर्वत्र फैले हुए मृत्युके पाशमें पड़ते हैं, परंतु जो बुद्धिमान् पुरुष नित्य अमृतत्व (परमात्मा) को जान लेते हैं, वे इस जगत्के अनित्य भोगोंमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं करते।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (कठ० २।६।१४)

मनुष्यके मनमें जो कामनाएँ भरी हैं, वे सारी-की-सारी जब भलीभाँति नष्ट हो जाती हैं, तब वह अमर (जन्म-मृत्युसे रहित) हो जाता है और यहीं ब्रह्मका सम्यक् प्रकारसे अनुभव करता है।

नास्तिकको भी समझो !

(मूल लेखक—श्रीकाका कालेलकर, अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर)

ईश्वरमें विश्वास रखना जिन लोगोंके लिये मुश्किल है, वे ईश्वरमें पूरी श्रद्धा रखनेवालोंकी मनोवृत्तिको शायद अच्छी तरह न समझ सकें और उनकी कदर भी न कर सकें और शायद ईश्वरवादियोंकी श्रद्धा तथा उनके अवलम्बनकी वे टीका भी करें, पर जो लोग ईश्वरके भक्त होनेका दावा करते हैं, उन्हें नास्तिक एवं अज्ञेयवादियोंकी मनोभूमिको समझ लेना चाहिये और उनकी कदर भी करनी चाहिये। कितनी वार साम्प्रदायिक ईश्वरवादीकी अपेक्षा अज्ञेयवादीको मैंने ईश्वरके अति निकट देखा है। जब मैं कहता हूँ कि मैं हिंदू हूँ, मुसल्मान हूँ, पारसी हूँ और नास्तिक भी हूँ, तब इस अन्तिम शब्द 'नास्तिक'को मैं यों ही अन्य दूसरे शब्दोंके साथ नहीं जोड़ रहा हूँ। जिस प्रकार मैं अपनेसे हिंदू हूँ, मुसल्मान हूँ, उसी प्रकार मेरे अपने विश्वासके परिणामस्वरूप मैं नास्तिक भी हूँ।

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण तो इस हदतक कह चुके हैं कि 'सत् असत् च अहम् अर्जुन !' नास्तिकोंका हमें आदर करना चाहिये। उनकी ओर दयाकी दृष्टिसे देखना—यह नफरतका ही दूसरा ढंग है। ऐसा भाव किसी भी ईश्वर-भक्तको किसी भी चेतन प्राणीके प्रति नहीं रखना चाहिये। फिर अज्ञेयवादी-जैसे सच्चे और अपर तत्त्वशोधकोंकी तो बात ही क्या।

मूल बात तो यह है कि ईश्वर ही एक तत्त्व या शक्ति है, इसलिये स्वाभाविक रीतिसे व्यक्तिरूपमें है। फिर भी व्यक्तिरूपके सम्बन्धमें आनेसे, सर्वशक्तिमान् होनेके कारण वह सर्वोत्तम व्यक्ति बन जाता है। यही कारण है, मानव उसे 'पुरुषोत्तम' कहकर सम्बोधित करता है।

सर्वसाधारण मानव ईश्वरको व्यक्तिरूपमें ही समझ सकता है, उसे अपना सकता है और उसका साक्षात्कार कर सकता है; परतु कितने ही लोगोंकी मानसिक रचना इस सिद्धान्तके अनुकूल नहीं होती। वे प्रेम जरूर कर सकते हैं, वे प्रेम देते भी हैं, परंतु प्रेम लेनेकी कोई खास आवश्यकता अनुभव नहीं करते। अपनेसे प्रेम करनेवालोंकी कदर वे जरूर करेंगे; परंतु प्रेमकी आवश्यकता वे तब अनुभव करेंगे, जब वे निराशामें डूबे होंगे, 'एकाकी' होंगे। ऐसे समयमें भी जिन्हें इसकी जरूरत नहीं होती, ऐसे भी कुछ लोग होते हैं, परंतु उनकी संख्या नहींके बराबर ही होती है।

जो लोग ईश्वरमें विश्वास नहीं रखते, उनके लिये चरित्र ही परमेश्वर होता है। वे प्रार्थना नहीं करते—ऐसी बात नहीं, वे भी प्रार्थना करते हैं जरूर, पर उनकी प्रार्थना एक उत्कट इच्छाका रूप धारण करती है।

मैं ज्ञानी एवं दयामय ईश्वरकी प्रार्थना करूँ, जिससे कि वह आपको, मुझे समझनेकी शक्ति दे—यों अपने मित्रसे कहनेकी अपेक्षा वह उतनी ही उत्कटतासे बोल उठेगा कि 'तुम मुझे समझ सकते तो अच्छा होता ! तुम्हें समझानेके लिये मैं अपने हृदयकी गहनता एवं मानसिक दुनियाकी कोई भी चीज बलिदान करनेके लिये तैयार हूँ।'—और क्या आपके मतानुसार इस प्रकारकी प्रार्थना ईश्वर नहीं समझ सकता या पूरी नहीं कर सकता ? उत्कटता ही प्रार्थना है। कोई भावुक खुले हृदयसे अपनी उत्कटताको प्रकट करेगा, तो कोई अपने भावोंको छिपायेगा और अपनेको कठोर दिखानेका प्रयत्न करेगा। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि भावुकताके प्रदर्शनमें पकड़ जाते हैं, तब वे लज्जित होते हैं और फिर परोपकारीकी बात कहकर छिपाते हैं। ऐसे लोगोंकी मनोभूमिका पृथक्-करण अपनी भावुकताको

हमेशा सरल नहीं होता और न इसकी जरूरत ही है। किसी भी आदमीको ईश्वरके निकट पहुँचनेकी मनाही नहीं है और ऐसा कोई नहीं है, जो सदैव प्रार्थनाशून्य रह सके—इतना समझ लेना ही पर्याप्त होगा। भले ही ईश्वर किसी भी अनपेक्षित रूपमें प्रकट हों, हम उनका अनुकरण करें—यही ईश्वर-भक्तोंको करना चाहिये।

नास्तिक एवं अज्ञेयवादी भी अनजानमें ईश्वरके भक्त ही होते हैं। हम इनका निरीक्षण करें,—तर्कसे नहीं, जो कुछ वस्तु हमारे पास है, उसकी मददसे। हमारी प्रार्थनामयता हमें यह योग्यता प्रदान करती है और तभी हम मददगारके रूपमें सिद्ध हो सकते हैं; परंतु मूल जरूरत दूसरोंको मदद देनेकी नहीं, स्वयं अपनी ही मदद करनेकी है, जिससे सब लोगोंको समझ सकेंगे।

('अखण्ड-आनन्द' गुजराती मासिकसे)

मृत्युका सौन्दर्य

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

'मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि जन्मकी अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी चीज होनी चाहिये। जन्मसे पूर्व माके गर्भमें जो यातना भोगनी पडती है, उसे तो मैं छोड़ देता हूँ, परंतु जन्मते ही जो यातना प्रारम्भ होती है, उसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। उस समयकी पराधीनता कैसी है? और वह तो सबके लिये एक-सी होती है। मृत्युमें, यदि जीवन स्वच्छ हो तो, पराधीनता-जैसी चीज कुछ नहीं रहती। बालकमें ज्ञानकी इच्छा नहीं होती और न उसमें किसी तरह ज्ञानकी सम्भावना ही होती है। मृत्युके समय तो ब्राह्मी स्थितिकी सम्भावना है। इतना ही नहीं, बल्कि हम जानते हैं कि बहुत लोगोंकी मृत्यु ऐसी स्थितिमें होती है। जन्मका अर्थ तो दुःखमें प्रवेश है ही, मृत्यु सम्पूर्ण दुःख-मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार मृत्युके सौन्दर्यके विषयमें और उसके लाभके विषयमें हम बहुत-कुछ विचार कर सकते हैं और इसे अपने जीवनमें सम्भवनीय बना सकते हैं।'

(गांधीजी)

कई दिनोंतक वस्त्र पहिननेके पश्चात् आप मैले वस्त्रोंको त्यागकर धोबीके धुले नये सफेद वस्त्र धारण कर लेते हैं। आपका आत्मा गंदगीको स्वीकार नहीं करता। उसका स्वभाव सात्त्विक है। वह स्वच्छ निर्मल वातावरणमें रहना चाहता है। जैसे हम मैले, फटे-पुराने या जले-गले वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार हमारा आत्मा पुराने शरीररूपी फटे हुए वस्त्रोंको त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है। जैसे कपड़ोंमें उलट-फेर कर देनेसे शरीरपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि नये वस्त्र पहिनकर वह और भी निखर उठता है, वैसे ही शरीरकी उलट-पलटका आत्मापर कोई प्रभाव नहीं होता। नया शरीर पाकर आत्मा नये रूपसे फिर पृथ्वीपर अवतीर्ण हो जाता है।

मृत्युसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो एक अनिवार्य स्थिति है। यदि जीवन प्रश्न है, तो मृत्यु उसका उत्तर! जितने श्वास आपको मिले हैं, उनसे एक भी अधिक मिलनेवाला नहीं है। मृत्युकी अनिवार्यताको समझते हुए जो-जो महत्त्वपूर्ण कार्य आपको करने हैं, शीघ्र ही कर लेने चाहिये। कबीरदासने सत्य ही लिखा है—

> पानी केरा बुदबुदा, अस मानसकी जात।
> एक दिना छिप जायँगे, तारे ज्यों परभात॥

'मनुष्य-जीवन एक पानीके बुलबुलेके समान क्षणिक है। जैसे प्रभात होते ही तारे स्वतः छिप जाते हैं, वैसे ही क्षणमात्रमें जीवनका अन्त हो सकता है।'

झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मन मोद ।
खलक चबेना कालका, कछु मुखमें कछु गोद ॥
मालिन आवत देखकर कलियाँ करैं पुकार ।
फूले फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार ॥

आगे कबीर कहते हैं—

कबीर यह जग कुछ नहीं, छन खारा छन मीठ ।
कालि जु बैठी माँडिया, आज मसाणाँ दीठ ॥
मरता मरता जग मुआ, औसर मुआ न कोइ ।
कबिरा ऐसे मरि मुआ, जो बहुरि न मरना होइ ॥
बैद मुआ, रोगी मुआ, मुआ सकल संसार ।
एक कबीरा ना मुआ, जिनका राम अधार ॥

मृत्यु कोई ऐसी नहीं जो औरोंको न हुई हो और केवलमात्र हमींपर आ पड़नेवाली हो । वैद्य-रोगी, पति-ज्ञानी, महात्मा, विद्वान्-मूर्ख—सभी मृत्युके मार्गसे गये हैं । धन इत्यादि कुछ भी साथ नहीं गया—

कौड़ी कौड़ी जोरि कै, जोरे लाख करोर ।
चलती बार न कछु मिल्यो लई लँगोटी तोर ॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास ।
सब जग जलता देखि कै, भयो कबीर उदास ॥

जब मृत्युका बुलावा आता है, तब कोई भी उसे नहीं रोक सकता—

कबिरा जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करे, चले बजावनहार ॥

तात्पर्य यह है कि नश्वर शरीरके लिये रोना वृथा है । यह तो हाड़, मांस, रक्त, मज्जा इत्यादि निर्जीव पदार्थोंका बना हुआ एक ढाँचा मात्र है । मरनेके बाद भी शरीररूपी मिट्टी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती है । कोई चाहे तो मरे हुए शरीरको मसालोंमें लपेटकर दीर्घकाल तक अपने पास रख सकता है । पर देह तो जड है । वास्तविक वस्तु तो आत्मा है । आत्मा अजर-अमर है । उसका नाश नहीं होता । हम जिसे 'हम' कहते हैं वह वस्तुतः शरीर नहीं, यह अजर-अमर आत्मा ही है । और यह आत्मा शरीर छोड़ देनेके पश्चात् भी ज्यों-का-त्यों जीवित रहता है । फिर जो जीवित है, उसके लिये शोक करनेसे क्या प्रयोजन ?

भगवान्ने गीतामें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
(२ । २२)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ।

अतएव मृत्युसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है, परलोक और पुनर्जन्म भी हैं । जीव इस शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है । गीतामें भगवान्ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
(२ । १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है । उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ।'

जीवन-जंजाल

आदि मैं जीव अनादि अनंत हु मातके गर्भ मैं वास कर्‌यौ है ।
बाहर होनहि रोदन कै चढ़ि गोद हिंडोरनि मोद भर्‌यौ है ॥
प्रौढ़ ह्वै भामिनि भोग भजे, पुनि वृद्ध ह्वै रोगनि खाट पर्‌यौ है ।
देह नवीन मैं गेह कियौ, यह देह चितागि मैं जाइ जर्‌यौ है ॥

हीरे-मोती किस कामके ?

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

जीते-जी सबको धन-सम्पत्ति उपार्जन एव संग्रह करनेकी अजीब धुन लगी हुई है। कामिनी और काञ्चन, मायाके दो बड़े जबर्दस्त रूप हैं। कामिनीका त्याग करनेके बाद भी गुजारेके लिये काञ्चनका जंजाल नहीं छूटता। अथवा यों कहें कि जीवनकी उद्योगशालामें सबके लिये इसका प्रयोग अनिवार्य है। कहते हैं कि धन-दौलतके लालचमें एक राजाको वरदान मिला था। उसके स्पर्शमात्रसे सब कुछ सोना बन जाता था। इससे उसके स्त्री-पुत्र और सब कुछ उसके छूनेसे जडवत् स्वर्ण-मूर्ति बन गये। खाने-पीनेकी वस्तुएँ भी। जीना कठिन हो गया एक दिनमें ही। धन-दौलत खाने-पीनेकी वस्तुएँ नहीं, जीवन देनेकी नहीं। धन तो साधन है, धनसे जीवन नहीं मिलता। धन तो जड है, जीवन चेतन है। सोने-चाँदी, हीरे, जवाहरातसे मनुष्य नहीं बनते; किंतु मनुष्य न हों अथवा ससारमें सब कुछ केवल जवाहरात हो, तो वे सब किस कामके ? इस सम्बन्धमें एक ऐतिहासिक घटना है।

फारस, बैबीलोनियाँ, बलूचिस्तान और अफगानिस्तान-को जीतकर अलेक्जेंडर महान्की फ़ौजें भारत जीतने-को आगे बढ़ीं। फौज तो बढ़ी आती थी; किंतु उसके पहले, उसके आगे, कहीं अधिक तीव्र गतिसे, अलेक्जेंडर महान्द्वारा भारतपर आक्रमणका 'समाचार' बातों-बातों देशमें दूर-दूर सर्वत्र फैलता जा रहा था और यत्र-तत्र राज्योंकी राजधानियोंमें, राजाओं एवं राजकर्मचारियोंमें इस समाचारसे गम्भीरता एवं सनसनी फैलती जा रही थी कि अब क्या करना होगा।

भारतकी सीमापर, मार्गमें जो प्रथम राज्य पडता था, उसके राजाको आक्रमणकी निश्चित सूचना दी गयी। राजाने प्रधानको बुलाकर परामर्श किया और उसे अपने स्थानपर पूर्ण अधिकारयुक्त नियुक्तकर, स्वयं चुपचाप अकेले घोड़ेपर सवार होकर सीमान्त-स्थानकी ओर चल दिया, जहाँ अलेक्जेंडर महान् अपनी फौज-सहित ठहरा हुआ आक्रमणकी तैयारी कर रहा था।

रात्रिका समय था, मैसिडोनियाँका राजा सिकंदर महान् अपने शाही तंबूमें आराम कर रहा था। इतनेमें उसके अधिकारियोंने उसे सूचना दी कि जिस राज्यपर हमें आक्रमण करना है, वहाँका एक राजदूत आपसे मिलनेके लिये आकर बाहर ठहरा हुआ है।

सिकंदरको कुछ आश्चर्य तो हुआ, किंतु रात अधिक हो जानेपर भी उसने दूतको अदर बुलाया। परतु जब यह दूत निर्भय—निर्द्वन्द्व वृत्तिसे आकर सिकंदरके पार्श्वमें उसके साथ ही आसनपर बैठ गया, तब सिकंदर-को अच्छा न लगा।

सिकदरके स्तम्भित चेहरेको देख आगन्तुकने कहा—'क्रोध करनेका कोई कारण नहीं होना चाहिये; क्योंकि जिस देशपर आप आक्रमण करना चाहते हैं और उसके सोने, चाँदी, जवाहरात पानेकी इच्छा रखते हैं, उसी देशका मैं राजा हूँ।'

'तब तो सब कुछ लेकर ही मैं तुम्हें छोड़ूँगा ' सिकंदर बोला।

राजाने कहा—'मुझे तो ऐसी बातकी कोई कल्पना नहीं थी, मैंने तो आपका कोई अपकार नहीं किया; फिर आपके आघातसे मैं क्यों डरूँ ? मैं तो आपपर पूर्ण विश्वास करके आया हूँ कि आपके साथ इस पहली मुलाकातसे मेरा और मेरे देशका कुछ भला ही होगा। मैं तो यह पूछता हूँ कि धनके लालचमें बड़ी फौज साथ लिये भोली निरपराध जनताको मारने और अपनी

फौजको परेशान करके मारनेके लिये क्यों आप दुनिया भरमें भटकते फिरते हैं? आप हमसे क्या लेना चाहते हैं?'

"तुम तो कायरोंके समान तर्क करते हो और आये हो बड़ी हिम्मतसे। अस्तु, तुम मुझे सात वर्षतक 'कर' दो तो मैं तुमसे युद्ध नहीं करूँगा।" सिकंदर ने कहा।

'सात वर्षतक! यह तो असम्भव है।'

'तो छः वर्षतक दो।'

'यह तो हमारी सामर्थ्यसे बाहर है।'

'अच्छा, तो पाँच वर्षतक दो।'

'मेरी प्रजा दरिद्र हो जायगी।'

'अच्छा, चार वर्षतक मान लो।'

'मैं नहीं मान सकता।'

'किंतु लो, तीन वर्षतक देनेके लिये तुम्हारे राजकोषमें काफी सम्पत्ति होगी।'

'इससे हमारी इज्जत धूलमें मिल जायगी।'

'अच्छा तो, मैं दो साल मजूर करता हूँ।'

'यह हमारी शानके खिलाफ होगा।'

"खैर, अब मैं एक सालका 'कर' लिये बिना नहीं मान सकता। मैंने अनेक देश जीते हैं, तुमसे अवश्य कुछ-न-कुछ लेना ही है।"

'एक सालका 'कर' लेनेसे तो आपका ही अपमान होगा और इससे आपको क्या सम्पत्ति मिलेगी?'

अब सिकदर हँसने लगा 'तो अब मैं क्या करूँ?'

राजाने कहा—'मेरी बात सुनिये। आपके बहादुर सिपाही पैदल चलकर बहुत दूरसे थकते हुए आये हैं। सब दुश्मनीके भाव त्यागकर, पूर्ण विश्वास और प्रेमके साथ हमारे राज्यमें आप सब लोग अतिथिके रूपमें पधारें और शौकसे भोजन करे। हमलोग परस्पर सहयोगी और मित्रकी भाँति साथ-साथ भोजन करें।'

कुछ आनाकानीके बाद सिकदरने निमन्त्रण मान लिया।

कुछ दिनों बाद सिकदर महान् अपने साथियों-सहित राजधानीकी ओर चल पडा। शहरके निकट पहुँचकर उसने देखा कि वह राजा अपनी विशाल सेनासहित वहाँ ठहरा हुआ है। ज्यों ही सिकंदर और वह राजा इतने निकट आ गये कि परस्परकी बातचीत सुनायी दे सके, तब सिकदरने कहा—'तुमने मेरे साथ मीठी बातें करके बड़ा विश्वासघात किया।'

राजाकी विशाल सेना चारों ओर फैलकर अतिथि सिकदर और उसके साथियोंको घेर चुकी थी।

'तुम हम सबोंको मौतके घाट उतारकर खुशीका त्योहार मनानेके लिये हमें निमन्त्रण देने गये थे। यहाँ यह सब फौज इसीलिये तो लाये हो!'

'नहीं, यह कोई धोखा नहीं, न यहाँ कोई मौतका घाट है, ये सब तो हमारे सरदार हैं। आपकी रक्षा और सम्मानके लिये आये हैं। हमारी सेना तो इससे भी बहुत विशाल है। हम किसी भयसे आपके पास नहीं गये थे। हम व्यर्थ खून बहाना नहीं चाहते।'

सिकदर महान् और राजा, साथ-साथ घोड़ेपर सवार, बराबरीसे नगरकी ओर चल दिये। राजमहलमे प्रवेश करके सिकंदर और उसके सरदार भोजनशालामें पधारे, जहाँ सैकड़ों मोमबत्तियाँ जगमगा रही थीं। भूख सबको खूब लगी थी। वे सब एक बड़ी गोल चौकीके चारों ओर जमकर बैठ गये। चौकीपर बहुत-से स्वर्णथाल स्वर्णथालोंसे ही ढके हुए रखे थे। राजाके सकेतपर सेवकोंने सब ढक्कनोंको उठा लिया।

सब थाल चमक उठे और सिकदरसहित सब सरदार उन थालोंकी वस्तुओंको देखकर स्तम्भित हो गये। सब आँखें फाड़कर देखने लगे और अवाक् रह गये। थालोंमें हीरा, पन्ना, मोती, नीलम, लाल, पुखराज—अनेक प्रकारके

रत्न परोसे हुए थे ।

कुछ देर आश्चर्यसे सब कुछ देखकर सिकंदर बोला—'आखिर इन सब चीजोंको तो हम खा नहीं सकते। ये खायी जानेवाली चीजें नहीं हैं। हमें तो रोटी चाहिये।'

राजाने उठकर नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'श्रीमन्, मेरे परम मित्र, आप अपनी बड़ी फौज लेकर अपने दूर देशसे बड़ी मुसीबतें पार करते हुए, इन बहुमूल्य रत्नोंको पानेके लिये ही तो देशोंपर आक्रमण करने और अगणित निरपराध लोगोंका खून बहाते आये हैं। हम रक्तपात किये बिना ही आपको यह सब समर्पण करते हैं, आप इनसे संतुष्ट होइये। यही तो आपको चाहिये न! परंतु यदि आपको रोटी चाहिये तो रोटी आपके देश मैसिडोनियाँमें मिलेगी।' (फारसीसे)

स्वभावविजयः शौर्यम्

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'यह कापुरुषोंका कार्य नहीं है, क्षीणकाय, हीन-सत्त्व, अपग, असमर्थ—जो ससारमें कुछ नहीं कर सकते, ऐसे आलसी एकत्र कर लिये जायँ, साधनाश्रम इसके लिये स्थापित नहीं हुए हैं।' समर्थ स्वामी रामदास निरे साधु नहीं थे। वे उन जीवनसम्पन्न महापुरुषोंमें थे, जिनके श्रवण अत्याचारपीडितोंकी आर्त पुकार सुननेको सदा सावधान रहते हैं।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' श्रुतिका यह अश सदा सम्मुख रहता था समर्थके शिष्योंके। साधनाश्रम सुपुष्ट, व्यायामशील, सतेज, तरुण साधुओंके आश्रम थे। उनमें निरुद्योग, रसनाकी तुष्टिके लिये उदरको अनावश्यक भरते रहनेवालोंके लिये स्थान नहीं था। जिनके अन्तरमें उत्साह हो, आर्तोको आश्रय देनेकी उदारता हो और साथ ही ससारके विषयोंसे सचमुच वैतृष्ण्य हो, वे ही उन आश्रमोंके साधक बन पाते थे।

गोपालन, आश्रमसेवा, व्यायाम और आस-पासके अन्यायपीड़ित, अनाश्रित अथवा प्रारब्धपीडित रुग्णजनोंकी सेवा, उनकी सहायता—आपत्तिमें पड़े प्राणियोंका उद्धार—श्रीसमर्थके आश्रमोंकी यही आदर्श परम्परा थी। बड़ा सीधा पथ था। प्रायः श्रीसमर्थने अपने आश्रमोंमें गोमयनिर्मित मारुति-मूर्तियाँ स्थापित की थीं। उनमेंसे अनेकों मूर्तियाँ अब भी हैं। सेवा तथा शौर्यके प्रतीक उन श्रीरामदूतकी उपासना—उन्हींका आदर्श।

आश्रमके साधु ब्रह्मचारी थे। उन्हें मुख्य शिक्षा मिलती थी—'शरीर अनित्य है। मनुष्य तो मृत्युका ग्रास होता ही है। सौभाग्य उसका जो श्रीरघुनाथकी सेवामें शरीर उत्सर्ग कर सके।'

अपने लिये दो कौपीनके टूक और एक तुंबीका कमण्डलु पर्याप्त था साधकोंको। आश्रमकी गायें उन्हें दूध दे देती थीं। ज्वारके टिक्कर उन्हें सुस्वादु लगते थे और यह कुछ भी न हो—पत्ते, दूर्वा, बिल्व आदिसे क्षुधा सतुष्ट कर लेना उन्होंने सीखा था। वे अन्ततः श्रीमारुतिके उपासक थे।

वे शान्तिके समुपासक—यों संसार जानता है कि श्रीसमर्थके सेवक शस्त्र रखते थे, शस्त्र-शिक्षा प्राप्त करते थे। किसी आपत्तिमें पड़ेका उद्धार करना हो—उन्हें शस्त्र उठानेके लिये सोचना नहीं पड़ता था; किंतु उन्होंने अपवादस्वरूप ही कहीं शस्त्राघात किया होगा—

—केवल वहीं, जहाँ पीड़ितका उद्धार उसके विना अशक्य हो गया हो।

'साधुका कोई शत्रु नहीं होता।' समर्थ स्वामीकी अद्भुत शिक्षा थी। 'अत्याचारी दयाका पात्र है, क्योंकि वह सत्यसे भटक गया है। वह दण्डनीय भी हो तो यह काम साधुका नहीं।'

'प्राण देकर भी पीडितका उद्धार कर लेना परम व्रत है।' साधक साधुओंको उनके अनुपम गुरुने सिखाया था। 'उसका उद्धार करनेमें अपनेपर आघात सह लेना सच्ची शूरता है। आघात तो उतना ही और वहीं आवश्यक है, जहाँ जितनेके विना स्वयं आहत होकर भी पीड़ितको परित्राण देना शक्य न रह जाय।'

कदाचित् ही कभी ऐसा अवसर आया हो। समर्थके सेवकोंमें एक भी आततायियोंके समुदायमें जहाँ पहुँच पाता था, उसका आतङ्क ही पीड़ितके प्राण बचा देनेको पर्याप्त था।

'ये काफिर फकीर—शैतानोंका काफिला इनके काबूमें है। ये शमशेर उठाते हैं तो डायनें खप्पर लेकर उतर आती हैं आसमानसे।' अत्याचारी-वर्गमें पता नहीं कितनी बातें फैली हैं—'इनकी बददुआसे पूरी फौज महामारीसे मर जाती है।'

'समर्थका साधु आ गया!' अच्छे-अच्छे सेनापतियोंके हौसले पस्त हो जाते थे यह सुनते ही। 'अच्छा, उसे निकल जाने दो। वह जिन्हें ले जाना चाहे, ले जाने दो।'

पूरा आक्रमण जिस अबलाको उडानेके लिये था, समर्थका एक साधु समूची सेनामेंसे उसे सुरक्षित ले निकल जाता। 'वह किसीको मारेगा नहीं। दौलत बचानेकी उसे कोई फिक्र नहीं होगी।' शत्रुके सैनिक भी यह समझते थे।

'अब तुम आश्रमके योग्य नहीं हो।' अपने ऐसे अद्भुत साधुओंमें भी एक आश्रमके संचालकको उस दिन श्रीसमर्थने कह दिया। 'तुममें कापुरुषताके बीज आ गये। कहीं घर बना लो और विवाह करके गार्हस्थ्य स्वीकार करो।'

× × ×

'बचाओ, मेरी बच्चीको बचाओ!' लगभग अर्धरात्रिके समय आर्त चीत्कारने निद्रासे उठा दिया था रघुनाथदासको। आतुरतापूर्वक उन्होंने प्रदीप उठाया और कुटियाका द्वार खोला।

'वे उसे लिये जा रहे हैं! वे पिशाच उसे घोड़ोंपर ले जा रहे हैं।' एक रक्तस्नात पुरुष दौड़ता आ रहा था। उसके पैर अस्तव्यस्त पड़ रहे थे।

'उसे बचाओ! मेरी बच्ची …।' रघुनाथदास शीघ्रतासे लपके; किंतु वह लड़खड़ाकर गिर पड़ा। दुर्भाग्यसे उसका सिर एक बड़े पत्थरपर पड़ा। यह अन्तिम आघात—पहले ही उसपर पता नहीं कितनी चोटें पड़ी थीं। अवश्य उसने शत्रुओंका डटकर सामना किया होगा। एक बार शरीरमें तड़पन हुई और वह शान्त हो गया।

प्रदीप पास रखकर रघुनाथदास पृथ्वीपर बैठ गये। उन्होंने नाड़ी देखी, हृदयपर हाथ रखा—कोई जीवनचिह्न नहीं था। शवको उठाकर आश्रममें ले आये।

आज वे एकाकी रह गये हैं आश्रममें। आवश्यक सूचनापर सभी साधु अन्यत्र सेवाकार्यके लिये चले गये हैं। एक ही अश्व रह गया है और …… किंतु कोई आर्यकन्या अत्याचारियोंके हाथ पड़ गयी है। श्रीसमर्थके आश्रमतक उसकी आर्त पुकार पहुँच चुकी तो उसका उद्धार अनिवार्य हो गया। अश्वारोही पता नहीं किधर कितनी दूर निकल गये। एक-एक क्षण मूल्यवान् था। शवको सुरक्षित रखकर अपना अश्व कसा और शस्त्र

सम्हाले। एक आश्रमका संचालक साधु दो क्षणमें पीड़ित-परित्राणका सैनिक बना घोड़ेपर उड़ा जा रहा था।

आहत परिचित था। उसके ग्रामतक पहुँचना कठिन नहीं हुआ। आक्रमणकारियोंका दल किधर गया, यह वहाँसे पता लग गया।

'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ!' अरुणोदयसे पूर्व ही रघुनाथदासका अश्व आक्रमण करके निश्चिन्त चले जाते शत्रु-सैनिकोंके पीछे पहुँच गया।

'समर्थका साधु!' आततायियोंमें आतङ्क व्याप्त हो गया। वे यद्यपि सख्यामें पर्याप्त अधिक थे—एक साधु पैंतालीस सशस्त्र सैनिकोंका क्या कर लेता? किंतु रघुनाथदासको तो शिक्षा मिली थी—'आर्तका परित्राण प्रभुकी सेवा है। उसमें शरीर उत्सर्ग हो जाय, परम सौभाग्य!'

'उस लड़कीको उतार दो चुपचाप!' शत्रु-सैनिकोंके मध्य उनका अश्व अशङ्कभावसे चलता चला गया और सरदारके पार्श्वमें पहुँचकर उन्होंने ललकारा—समर्थके साधुको शस्त्र उठानेपर विवश मत करो!'

'उतार दो! उतार दो, सरदार, उसे!' शत्रुके सैनिक ही चीखने लगे। 'खुदाके लिये उतार दो!'

चारों ओर घोर वन, मशालोंकी रोशनी आस-पास और ऊपर जहाँतक जाती है, उससे आगे लगता है प्रेतोंका झुंड मुख फाड़े अँधेरेमें छिपा है। भयसे उन अत्याचारियोंने इधर-उधर और ऊपर देखा। वनके पत्ते, डालियाँ वायुसे खड़खड़ाते ही रहते हैं। वे काँप उठे। 'यह शमशेर उठायेगा तो अभी भूतनियाँ खप्पर लेकर आसमानसे उतर आयेंगी!'

'चुपचाप उसे उतार दो, अन्यथा!' रघुनाथदासका अश्व सरदारके अश्वसे आ सटा था। अपना एक हाथ तलवारकी मूठपर रखकर सरदारके मुखपर दृष्टि जमायी उन्होंने और दूसरा हाथ सरदारके आगे बैठी आकृतिकी ओर बढ़ा दिया। अश्वकी लगाम इस क्षण मुखमें आ गयी थी।

'उतार दो उसे!' साथी चीख रहे थे। सरदारका मुख पीला पड़ गया था। वह कुछ करे या सोचे, इससे पहिले उसके आगे बैठी आकृतिको रघुनाथदासके हाथने अपने अश्वपर उठा लिया और तब उनका अश्व पीछे मुड़ पड़ा।

'जान बख्शी खुदाने!' सरदारका श्वास ऊपर अटक गया था भयसे। अब वह आश्वस्त हुआ।

'मौतका फरिश्ता था यह काफिर!' दूसरोंके घोड़े भी पास खिसक आये। 'इनके करिश्मोंसे खुदा बचाये!'

× × ×

'श्रीरघुनाथकी सेवा कापुरुषोंका काम नहीं है!' समर्थ स्वामी रामदास प्रातःकाल आश्रमपर पहुँचे थे और अचानक असंतुष्ट हो गये थे संचालकपर। 'जिसमें शौर्य नहीं है, वह साधन नहीं कर सकता!'

अबतक और साधु भी आ गये थे। सबने अपने भागका सेवाकार्य सम्पन्न कर लिया था। प्रातःस्नान, संध्या एवं अर्चनसे अवकाश मिलते ही सबको श्रीसमर्थने अपने समीप बुला लिया। अब सबके सम्मुख वे संचालकको सम्बोधित कर रहे थे—'अब तुम आश्रमके योग्य नहीं रहे! कहीं अलग रहो और गृहस्थाश्रम अपना लो तो अच्छा!'

'हुआ क्या है?' किसीकी समझमें बात नहीं आ रही थी। संचालकने कोई प्रमाद नहीं किया था। रात्रिमें वे एकाकी जाकर यवनोंद्वारा हरण की गयी कन्याको ले आये थे। कहीं कोई कापुरुषता—उन सम्मान्यके द्वारा कापुरुषताकी कल्पना भी कठिन है, किंतु श्रीसमर्थ सर्वज्ञ हैं। वे अकारण इतने क्षुब्ध भी तो नहीं हो सकते। अब तो वे साधु भी आ गये थे, जिन्हें रात्रिके सुरक्षित शवको सरितामें विसर्जित

करनेका आदेश मिला।

'वह लड़की कहाँ है?' समर्थने पूछा।

'लक्ष्मणदास उसे उसके मामाके यहाँ पहुँचाने गया है।' संचालक बोलनेका साहस नहीं कर सके तो एक दूसरे साधुने कहा। 'वह बार-बार मूर्च्छित हो रही थी। सम्भव है, स्वजनोंमें पहुँचकर कुछ आश्वस्त हो।'

'इस बार श्रीचरण मुझे क्षमा करें!' हिचकियाँ लेते हुए रघुनाथदास समर्थके चरणोंपर गिर पड़े।

सौन्दर्यकी वह साकार सुकुमार मूर्ति—बहुत दूर-तक उसे अश्वपर अपने आगे—अपने अङ्कमें बिठाकर लाना पड़ा था। अरुणोदयकी आभामें उसकी वह म्लान मुखश्री—रघुनाथदासको दोष कैसे दिया जाय। साधनपरिशुद्ध उनके चित्तमें पता नहीं कहाँसे मनोभव उठ खड़ा हुआ था। वे तरुण हैं, उनके बाहु थरथराये थे। बालिकाको सम्भवतः कुछ अधिक सावधानीसे अश्वपर उन्होंने सम्हाल लिया था—इससे अधिक तो कुछ नहीं।

'आँखका स्वभाव है रूपपर आकृष्ट होना' सर्वज्ञ गुरु शिष्योंको सचेत कर रहे थे—'इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंका स्वभाव अपने-अपने विषयोंकी ओर जाना है। मनका स्वभाव संकल्प-विकल्प करते रहना है। इन्द्रियों एवं मनके इस स्वभावपर जिसने विजय प्राप्त कर ली, केवल वही शूर है। शेष सब कापुरुष हैं। साधु वह हो नहीं सकता, जिसमें शौर्य न हो। श्रीरघुवीर समर्थकी सेवा तो मन-इन्द्रियवर्गके स्वभावपर विजय पानेवाला शूर ही कर सकता है।'

'केवल इस बार श्रीचरण मुझे क्षमा करें।' रो रहे थे रघुनाथदास गुरुके चरणोंपर मस्तक रखे।

'आश्रममें तुम्हें स्थान नहीं दिया जा सकता।' कुसुम-कोमल संत पता नहीं क्यों कभी-कभी वज्र-कठोर हो उठते हैं। 'तुम्हें गार्हस्थ्य स्वीकार करनेकी आज्ञा मैं नहीं देता। वह तुम्हारी इच्छापर निर्भर है, किंतु कहीं अलग रहो। साधु रहना हो तो शौर्यका उपार्जन करना चाहिये।'

'श्रीचरणोंके आशीर्वाद और कृपाका मैं अधिकारी रहूँ!' रघुनाथदासने आर्त प्रार्थना की—'अलग रहूँगा आश्रमसे।'

'अवश्य! अभी एकान्त-साधन आवश्यक है तुम्हें।' समर्थने आशीर्वाद दे दिया।

इन्द्रियनिग्रहका महत्त्व

दमो दानं यमो यस्तु प्रोक्तस्तत्त्वार्थदर्शिभिः। ब्राह्मणानां विशेषेण दमो धर्मः सनातनः॥
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रो दम उत्तमः। विपाप्मा तेन तेजस्वी पुरुषो दमतो भवेत्॥
ये केचिन्नियमा लोके ये च धर्माः शुभक्रियाः। सर्वयज्ञफलं चापि दमस्तेभ्यो विशिष्यते॥
न दानस्य क्रियाशुद्धिर्यथावदुपलभ्यते। ततो यज्ञस्ततो दानं दमादेव प्रवर्तते॥

(पद्म० सृष्टि० १९। ३११–३१५)

दम, दान एवं यम—ये तीनों तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंद्वारा बताये हुए धर्म हैं। इनमें भी विशेषतः दम (इन्द्रियदमन) ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है। दम तेजको बढ़ाता है, दम परम पवित्र और उत्तम है। इसलिये दमसे पुरुष पापरहित एवं तेजस्वी होता है। संसारमें जो कुछ नियम, धर्म, शुभकर्म अथवा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल हैं, उन सबकी अपेक्षा दमका महत्त्व अधिक है। दमके बिना दानरूपी क्रियाकी यथावत् शुद्धि नहीं हो सकती। अतः दमसे ही यज्ञ और दमसे ही दानकी प्रवृत्ति होती है।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

३४—भ्रातृप्रेम

'मैया ! दादा मुझे चिढाता है । वह मुझे कोयल-जैसा काला कहता है । उसने सब सखाओंको सिखा दिया है । सब मुझे ही चिढाते हैं ।' श्याम बहुत अप्रसन्न है । क्यों सब चिढाते हैं उसे ? सब तो सब, उसका दादा भी उसे चिढाता है ।

मुखपर अलकें घिर आयी हैं । लाल-लाल हो रहा है इसका मुख । नेत्र भरे-भरे-से हैं । जल्दी-जल्दी आया है और मैयाके आगे खड़े होकर हाथोंसे नेत्र मलते हुए अभियोग उपस्थित किया है इसने ।

'दाऊ बड़ा वैसा है, मेरे लालको चिढाता है । आने तो दे उसे यहाँ ।' मैयाने अपने लालको गोदमें खींच लिया । अञ्चलसे मुख पोंछा और अलकें सुधारने लगी ।' तू अब इन सबोंके पास मत जा । यहीं मेरे पास खेल ।'

कन्हाई प्रसन्न हो गया है । मैयाके मुखकी ओर वह मुसकराता हुआ देखने लगा है । मैयाने अभी-अभी ही माखन निकाला है । मिश्री मिलाकर अपने हाथसे कृष्णचन्द्रको उसने माखन खिलाना चाहा, पर कन्हाईने मुख हटा लिया । हाथ बढाकर माखनका स्वर्णपात्र अपने हाथमें ले लिया उसने ।

'तू अब जाता कहाँ है ? कहीं जा मत ! यहीं बैठ !' श्याम नवनीत लेकर उठ खड़ा हुआ मैयाकी गोदसे । वह कहाँ जायगा, सो मैया जानती है । 'सब तुझे खिझाते हैं और तू उन्हींके पास जा रहा है ? यहाँ बैठ मेरे सामने !'

किया क्या जाय ? मोहनने मुख उठाकर देखा तो मैयाका मुख उसे गम्भीर लगा । अब इसकी बात न मानी जाय तो यह मारेगी । चुपचाप बैठ गया मैयाके आगे सिर झुकाकर; किंतु अकेले उससे माखन खाया जा सकेगा ? बायें हाथमें छोटा-सा स्वर्णपात्र है माखनसे भरा और दाहिने हाथकी अँगुलीसे माखन उठाना चाहता है यह । खानेकी बात तो दूर, माखनमें अँगुलीतक डुबायी नहीं जाती इससे ।

'खा ले ! बहुत मीठा माखन है, बेटा !' मैयाने स्नेहसे पुचकारा । श्यामसुन्दरने केवल मुख उठाकर देखा मैयाकी ओर । यह क्या ! इसके नेत्र तो भर आये हैं । इसका मुख तो उदास हो रहा है ।

'क्या हुआ तुझे ? क्यों रोता है तू ?' मैयाने उठा लिया अङ्कमें । 'दादा !' बड़े-बड़े बिन्दु टप-टप गिरने लगे कपोलोंपर । मैयाके आँचलमें मुख छिपा लिया इसने ।

'तो रोता क्यों है तू ? वह आ रहा है तेरा दादा !' मैयाको हँसी आ गयी । बड़ा भोला है उसका यह लाल । दाऊ चिढाये, तग करे या और कुछ करे; पर बड़े भाईके बिना इससे रहा नहीं जा सकता ।

'दादा !' शीघ्रतासे मैयाकी गोदसे सिर उठाकर देखा श्यामसुन्दरने । अरे यह, तो सचमुच उसका दादा ही आ रहा है । नवनीतका पात्र लिये हँसता हुआ मोहन दौड़ चला है अपने अग्रजकी ओर उल्लासमें भरा ।

३५—गोष्ठशायी

'तू गोबरमें चलेगा तो मैं मैयासे कह दूँगा !' दाऊ अपने छोटे भाईके खेलमें बहुत कम बाधा देता है । कन्हाई जो कुछ करना चाहे, उसमें उसका साथ देना ही बड़े भाईको आता है; किंतु कभी-कभी यह चपल कुछ ऐसा ऊधम करने लगता है, जिससे डर लगता है कि मैया इसे डाँटेगी या मारेगी । आज मैयाने घरसे निकलते-निकलते कहा है—'अपने छोटे भाईको सम्हालना । गोबर या कीचड़में मत खेलना ।' और यह कनूँ तो गोबरमें ही बैठने जा रहा है । दाऊने श्याम सुन्दरका हाथ पकड़ा ।

'दादा, मैं तो सोता हूँ ।' कन्हैया वहीं बैठ गया । आज इसे भी हठ सूझी है । इतना हरा-हरा ठडा गोबर है, इसमें बैठनेसे कोई क्यों रोकता है उसे ?

× × × ×

'श्याम कहाँ है ?' मैया अकेले दाऊको देखते ही डर गयी । कटिमें नीली-नीली कछनी लगाये तीन वरसका नन्हा-सा दाऊ; किंतु सब उसे 'बल' कहते हैं । वह बड़े वृषभके भी सींग पकड़ लेता है तो फिर वृषभको झुके ही रहना पड़ता है । वह जब अपने छोटे भाईके साथ रहता है, मैया तनिक

निश्चिन्त रहती है। कन्हाई भी बड़े भाईके संकोचसे बहुत चञ्चलता नहीं करता। अब दाऊ यहाँ आ गया, पता नहीं अकेला कृष्ण क्या चपलता करे।

'वह गोबरमें सो रहा है!' दाऊने उलाहना दिया—'मेरी बात नहीं मानता।'

मैयाने सवेरे-सवेरे दोनों पुत्रोंको उबटन-तेल लगाकर स्नान कराया था। नेत्रोंमें काजल लगाया था। ललाटोंपर काजलके बिन्दु लगा दिये थे। दोनोंके केश सवाँरकर पुष्प गूँथ दिये थे उनमें। आभूषण पहिनाये थे और कछनी बाँध दी थी दोनोंकी कमरमें। कलेऊ कराकर तब खेलनेको छोड़ा था। मोहन गोबरमें लथपथ लोटेगा, यह तो मानी-जानी बात थी। उसे गोबर, धूलि, कीचड़में खेलना बहुत रुचता है; परंतु कहीं वह और कोई चञ्चलता न करे। मैयाने दाऊको गोदमें उठाया और शीघ्रतासे गोष्ठमें पहुँची।

गायें चरने चली गयी हैं। चारों ओर गोबर पड़ा है। गोमूत्रकी कीचड़ हो रही है स्थान-स्थानपर। अभी गोष्ठ स्वच्छ नहीं हुआ। वह रहा श्यामसुन्दर। लाल-लाल नन्हे चरण फैलाये, एक कुछ कड़े गोबरके ऊपर मस्तक रखे मजेसे लेटा है। चरणोंमें, करोंमें, शरीरपर यत्र-तत्र हरा-पीला गोबर लगा है। अलकोंका एक भाग लथपथ होकर चिपक गया है। वह मन्द-मन्द मुस्कराता, एक हाथकी अँगुलियाँ नचाता लेटा-लेटा देख रहा है। कटिकी पीली कछनी, गलेका मुक्ताहार—सब गोबरमें सने हैं उसके। वह उठा—मैयाको देखते ही उठा। दाऊ मैयाकी गोदमें है तो वही क्यों भूमिपर रहे? दोनों भुजाएँ फैला दीं उसने गोदमें आनेको। अब मैया क्या अपनी साड़ीके गोबरसे सननेकी बात सोच सकती है? वह तो बायीं भुजा बढ़ाकर, कुछ झुककर गोदमें उठा रही है अपने मोहनको।

३६—निद्रालु

'राम, सो मत!' बाबा कभी दाऊको और कभी कन्हाईको सावधान कर रहे हैं। कहनेको तो दोनों कहते हैं कि नहीं सो रहे हैं, किंतु नेत्र दोनोंके झपक रहे हैं। दोनों बार-बार जम्हाई लेते हैं। श्यामने तो बाबाके कंधेपर सिर टिका भी दिया है।

'कृष्णचन्द्र, तू सो रहा है! उठकर बैठ जा, बेटा!' बाबा कहते तो हैं, पर उठा नहीं पा रहे हैं। उनका वात्सल्य बड़े असमञ्जसमें उन्हें डाले है। इन दोनोंकी निद्रामें बाधा देनेको जी नहीं चाहता और दोनोंने अभी दूध नहीं पिया है। सो जायँगे तो दूध पिलाना बहुत कठिन होगा।

'मैं सो नहीं रहा हूँ। तुम कहानी कहो, बाबा!' कृष्णचन्द्र बीच-बीचमें बोलता है तो उसका स्वर ही कह देता है कि वह सो ही जानेवाला है। दूध पीनेकी चिन्ता भला, इन दोनोंको है कहाँ!

जाड़ेके दिन, गोष्ठमें अग्नि जलाकर उसके चारों ओर गोप बैठे हैं। श्रीव्रजराज तथा उनके सभी भाई एकत्र हैं। आजकल यही अवसर होता है गोपोंके लिये व्रजराजके पास बैठनेका और उनके लिये एक और भी बड़ा प्रलोभन है यहाँ। सायंकालका भोजन करके राम-श्याम प्रायः बाबाके पास घरमेंसे आ जाते हैं। दोनों थोड़ी देर खेलते हैं, हँसते हैं, अनेक प्रकारकी भोली-भाली बातें करते हैं। किसका हृदय इस सुखका स्वाद पानेके लिये आतुर नहीं होगा?

आज भी दोनों बालक घरमेंसे हँसते दौड़ते आये। वे एक दूसरेको छूनेकी चेष्टा कर रहे थे। कभी एक गोपके पीछे उसकी पीठसे सटकर खड़े होते, कभी दूसरेकी। दाऊ भाग रहा था और श्याम छूना चाहता था। अग्निकी लाल-लाल ज्योतिमें उनके चमकते खिले मुख।

सुकुमार बालक थक जायँगे थोड़ी देरमें। व्रजराजने उन्हें कहानी सुनानेका लोभ देकर दौड़नेसे रोका। दाऊ बाबाकी दाहिनी ओर उनसे सटकर बैठ गया और कन्हाई उनकी गोदमें जा बैठा। अब कहानी प्रारम्भ हुई। थोड़ी देर दोनोंने 'हूँ-हाँ' की और निद्रा तो आनी ही ठहरी इस समय।

'तू सो गया लाल!' बाबाने तनिक हिलाया। उनके कंधेपर सिर रखकर श्यामसुन्दर सो गया है। बंद हो गयी हैं उसकी सुन्दर पलकें। अलकें मुखको घेरकर झुक आयी हैं।

'राम! आओ, घर चलें!' किंतु बाबासे उठँगकर राम भी सो गया है। बाबाके हिलानेपर वह नेत्र मलने लगा है और फिर सो जाना चाहता है।

'राम! उठो, बेटा!' बाबा हाथ पकड़कर उठा रहे हैं। नेत्र बंद किये ही वह उठकर खड़ा तो हो गया, पर झुकता जा रहा है। बहुत सावधान करनेपर कभी-कभी नेत्र खोलता है और फिर बंद कर लेता है। कंधेपर सोये श्यामसुन्दरको लिये दाहिने हाथसे दाऊका हाथ पकड़े बाबा घरमें जा रहे हैं। यह दाऊ अटपटे पदोंसे किसी प्रकार चल रहा है नींदमें। बाबा उसे सम्हाले हैं, बार-बार सावधान कर रहे हैं।

कोई कहता है—'नित्य जागरूक हैं ये दोनों बन्धु ।'

भला, बाबाके कधेसे लगे निद्रित कन्हाई और बाबाके हाथके सहारे झुके-से पड़ते दाऊकी यह छटा उसने काहेको देखी होगी कभी ।

३७—गो-दोहन

'बाबा ! मैं गाय दुहूँगा !' कन्हाई बड़े सवेरे एक छोटी-सी दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच गया है। कई दिनोंसे बराबर वह बाबासे मचल रहा है कि उसे गाय दुहना सिखा दिया जाय । जब महर्षि शाण्डिल्यने गो-पूजन कराके गो-दोहन-सस्कार करा दिया उससे, तब उसे गाय क्यों नहीं दुहने दिया जाता ?

लगभग तीन वर्षका कृष्णचन्द्र—अभी मैयाने मुख भी नहीं धोया है इसका ! अलकें बिखरी हैं मुखपर । अञ्जन कपोलोंतक फैला है और कटिकी कछनी गिरनेको हो रही है । चरणोंके नूपुर और कटिकी मेखला रुनझुन करता भागा आया है यह और बाबाके दोनों पैरोंसे लिपट गया है । मैया घरमें पुकारती ही रह गयी, किंतु इसे शीघ्रता थी । नित्यकी भाँति देर होनेपर गोप सब गाएँ दुह लेंगे और फिर सायकाल तो बाबा मना ही कर देते हैं ।

'तू कौन-सी गाय दुहेगा ?' जब यह चपल रातमें सोते समय अपनी दोहनी शैयाके नीचे रखकर सोया, तब आज इसकी हठ मान ही लेना उत्तम है । बाबाने मना नहीं किया ।

'मैं कामदाको दुहूँगा !' श्यामसुन्दर प्रसन्न हो गया है । उसने बाबाके पैर छोड़ दिये हैं और कामदाका बछड़ा खोलने दौड़ गया है, किंतु यह बछड़ा अपनी मैयाका दूध पीने क्यों नहीं जाता ? यह तो कन्हाईको सूँघ-सूँघकर उसके चारों ओर फुदकने लगा है । अब बाबा इसे पकड़कर कामदाके थनोंसे लगायेंगे ।

'दादा ! आ, तू भी कामदाको दुह !' मोहन हर्षसे नाच उठा है । यह उसका अग्रज भी एक छोटी दोहनी लिये आ गया है । मैयाने इसका मुख धो दिया है । कछनी सम्हाल दी है । अलकें सँवारी हुई हैं । वैसे अपने छोटे भाईके पास आनेकी शीघ्रतामें मैयाको इसने एक मालातक अलकोंमें लगानेका अवकाश नहीं दिया है ।

'तू ऐसे बैठ !' बाबाके आगे बैठा है कृष्णचन्द्र । एक प्रकारसे उसे गोदमें लेकर बाबा दुहना सिखा रहे हैं । दाऊको गाय दुहना आ गया है । वह कामदाकी दूसरी ओर बैठा है । दोनों भाई आमने-सामने बैठकर एक ही गाय दुहेंगे । बाबा बता रहे हैं अपने हाथोंमें श्यामका हाथ लेकर—'ऐसे गायका थन पकड़ !'

'दादा !' कन्हाई दोनों हाथोंसे ताली बजा रहा है । उसने दूधकी उजली धार अपने हाथसे निकाल ली है । क्या हुआ जो धार पात्रमें न पडकर भूमिपर चली गयी ।

'दादा ! दादा !' लेकिन दादा क्या करे । इस चञ्चल कनूँने दूधकी धार उसके मुखपर मार दी है । नेत्रमें दूध चला गया है । आँख मलते दाऊकी अलकों और कपोलपर दूधकी उजली बूँदें—दाऊ हँस रहा है—कितना प्रसन्न है उसका भाई । कन्हाई ताली बजाता हुआ बाबाकी गोदमें हँसीसे झुका जा रहा है ।

३८—साहसी

'माँ ! माँ ! देख मेरा झूला !' श्यामसुन्दर बड़े ऊँचे स्वरसे माता रोहिणीको पुकार रहा है दोनों हाथ उठाकर । माता उसे ढूँढने ही भवन-द्वारपर आयी है ।

'अरे, तू कहाँ जा बैठा है । उतर आ ! उतर आ, बेटा !' माताका हृदय धक्‌से हो गया देखते ही । यह दो वर्षका उनका नन्हा कन्हाई टूटकर गिरे हुए अर्जुन वृक्षकी इतनी ऊँची शाखापर चढ गया है ! हे नारायण · · ।

दोनों अर्जुन वृक्ष भूमिपर जड़समेत उखड़े पड़े हैं । उनके पत्ते मुरझाये हुए लटके हैं । भूमिसे ऊपर उन वृक्षोंकी जो शाखाएँ हैं, उनपर ऊपर-नीचे, इधर-उधर छोटे-छोटे बालक लदे हैं । वे सब शाखाओंपर चढ-उतर रहे हैं । शाखाओंको हिला रहे हैं । सब प्रसन्न हैं । हास्य और कोलाहल फूटा पड़ रहा है यहाँ चारों ओर । डेढसे तीन-चार वर्षतकके ये बालक —ये दोनों वृक्ष गिरे क्या, इन सबोंके लिये खेलका बहुत बड़ा साधन मिल गया ।

'हिला, दादा ! और, और हिला !' श्रीकृष्ण वृक्षकी सबसे ऊँची शाखाकी फुनगीपर चढ गया है । उसके छोटे-छोटे चरण शाखाके दोनों ओर झूल रहे हैं । दोनों नन्हीं भुजाओंसे कभी शाखा पकड़ लेता है, कभी मगन होकर भुजाएँ ऊपर उठा देता है । कटिमें बहुत जरा-सी पीली कछनी है । वक्षपर मुक्तामाल है । भालपर अञ्जनबिन्दुको गोदमें लिये अलकें खेल रही हैं । श्यामसुन्दरका सुन्दर मुख आनन्दसे खिला है । इसके अञ्जनरञ्जित लोचन उत्फुल्ल हो रहे हैं । हिलती डालपर झूलनेका आनन्द ले रहा है यह ।

कटिमें नीली कछनी बाँधे अपने छोटे भाईसे कुछ पीछे स्वर्णगौर दाऊ उसी शाखापर दोनों ओर दोनों चरण किये बैठा है। दोनों हाथोंसे उसने शाखा पकड़ रखी है। दोनों चरण नीचेकी मोटी शाखापर टिक जाते हैं जब वह खड़ा होता है। बार-बार खड़े होकर वह शाखाको हिला रहा है। उसका अनुज झूलनेका आनन्द लेना चाहता है, बार-बार मुख पीछे करके उसकी ओर देखता है, इससे शाखा हिलानेका उसका उत्साह बढ़ता ही जा रहा है। बहुत प्रसन्न हो रहा है वह अपने उद्योगसे।

'राम ! अपने छोटे भाईको लेकर शीघ्र उतर आ !' माता रोहिणी वृक्षके नीचे आ गयी हैं, परंतु ये नटखट बालक उनकी बात सुनते कहाँ हैं। ये दुगुने उत्साहसे शाखा हिलाने लगे हैं। माता शीघ्रतासे भवनमें जा रही हैं। व्रज-रानीको भेजे बिना ये ऊधमी माननेवाले थोड़े ही हैं। बड़े साहसी हैं ये चपल !

३९—नटखट

'दादा, क्या करता है तू ?' यह कन्हाई पूरा नटखट है। स्वयं कुछ करके उसका दोष दूसरेको लगा देना इसके लिये बहुत साधारण बात है। अब बाबाके पेटपर मुँह लगाकर मड़से कर दिया इसने फूँक मारकर और दादाका नाम लेकर, बाबाकी ओर देखकर हँस रहा है।

आज दोपहरीमें भोजन करके बाबा विश्राम कर रहे हैं। बहुत थोड़ी देर लेटते हैं वे इस समय। गर्मीकी दोपहरीमें बालक कहीं धूपमें न भाग जायँ, इसलिये राम-श्यामको भी वे अपने साथ ले आये हैं गोष्ठमें।

बाबा पलंगपर चित पड़े हैं। उनके दाहिनी ओर नीली कछनी बाँधे दाऊ उनके अधपके रोमोंवाली तोंदपर सिर रखे आड़ा लेटा है। उसका पूरा ध्यान इस समय बाबाकी गहरी नाभिपर है और चुपचाप उसमें अपनी पतली तर्जनी घुमाता हुआ देख रहा है उसी तर्जनीको।

श्याम लेटनेको तो बाबाके बायें लेट गया है, पर वह क्या चुपचाप पड़ा रह सकता है ? कभी वह उठकर बैठता है, कभी बाबाके वक्षपर सिर रखता है, कभी उनकी दाढ़ीमें दोनों हाथ उलझाता है। यह दाऊ इस प्रकार चुपचाप क्यों पड़ा है ? श्यामको यह अच्छा नहीं लग रहा है। वह बड़े भाईको छेड़ना चाहता है। कभी-कभी दाऊकी अलकोंमें हाथ भी डालता है, पर दाऊ तो उसकी ओर देखकर तनिक हँस भर देता है और फिर लग जाता है बाबाकी नाभिमें अँगुली घुमानेमें। पता नहीं, कौन-सा गम्भीर निरीक्षण कर रहा है यह।

श्यामसुन्दर उठकर बैठ गया और झुककर उसने दाऊके मुखके सामने मुख ले जाकर बाबाके पेटपर मड़से कर दिया। किंतु दादा तो इसपर भी हँसकर ही रह गया। वह तो सिर ही नहीं उठाता। श्यामको अच्छा खेल मिल गया है। वह बार-बार मुँह लगाता है बाबाके उदरसे और बार-बार शब्द करता है।

'तू तो मेरा पेट जूठा कर रहा है !' बाबाने बायीं भुजामें धीरेसे लपेटकर कन्हाईको ऊपर वक्षपर खींच लिया है। आनन्द, स्नेह, उल्लासके मारे रोम-रोम खड़ा हो रहा है उनका।

'मैं कहाँ जूठा करता हूँ ।' हास्यके समय कृष्णचन्द्रके अधरोंपर यह दन्तावलिकी उज्ज्वल छटा ! नेत्र तिरछे करके बड़े भाईकी ओर भी देखता जाता है यह।

'तू नहीं जूठा करता, जूठा तो करता है तेरा यह मुख ।' दोनों हाथोंसे अपने लालका नन्हा-सा मुँह पकड़े, भावभरे दृगोंसे उसे देखते ये व्रजराज !

'बाबा ! कहानी कहो ।' यह दाऊ सहसा अपना नाभि-निरीक्षण छोड़कर बाबाके मुखके पास मुख करके लेट रहा है। इस प्रस्तावमें अब उसके छोटे भाईका आग्रह निश्चय समर्थक बनेगा।

४०—उत्सुकता

'मैया, माखन दे न ?' किंतु अभी मैया माखन कहाँसे दे दे। माखन तो अभी निकला ही नहीं है।

आज दोनों भाई बड़े सवेरे उठ गये हैं। मैयाके लिये यह कम उलझनकी बात नहीं है। अब ये दोनों उसे कोई काम ठिकानेसे नहीं करने देंगे। इनके मुख भी अब वह माखन देनेके पीछे ही धुला सकेगी।

मैया अपनी ओरसे बहुत ही शीघ्र उठी थी। उसने देख लिया था कि उसके दोनों कुमार आनन्दमें सो रहे हैं। इन दोनोंके लिये जिस दिन वह अपने हाथसे दही मथकर माखन निकाल पाती है, बड़ा सुख मिलता है उसे। उसके पुत्र जितने स्वादसे उसका निकाला माखन खाते हैं, दूसरे किसीके भी दही मथनेसे वैसा स्वाद उन्हें माखनमें नहीं

आता। श्याम तो अनेक बार रूठता है कि मैयाने, पता नहीं, किसका निकाला खट्टा माखन दे दिया उसे।

मैया धीरेसे उठकर दही मथने लगी थी। पुत्रोंके उठनेसे पहले उसे माखन निकाल लेना था, किंतु पता नहीं, कब ये दोनों उठ बैठे। दोनोंमेंसे कोई एक उठे तो दूसरेकी नींद अपने-आप टूट जाती है। दोनों शय्यासे उतरे और आकर मैयाके दोनों ओर उसके पैरोंसे लिपटकर खड़े हो गये। बड़े स्नेहसे मैयाने अपने पुत्रोंका मुख देखा और उसके हाथ मन्थन-रज्जुको अधिक शीघ्रतासे खींचने लगे।

'माखन दे!' दोनों मचल रहे हैं। दोनोंकी अलकें मुखके चारों ओर बिखरी हैं। दोनोंके नेत्रोंका अञ्जन कपोलोंतक फैल रहा है। दोनोंके भालका कज्जलबिन्दु लम्बा-चौड़ा, टेढ़ा तिरछा हो गया है। दोनोंके नेत्रोंमें अभी आलस्य है। श्यामकी कछनी कहीं खुलकर गिर गयी है और दाऊकी कछनी भी ढीली ढाली हो रही है।

'तनिक रुक जाओ! अभी माखन निकलता है। तू कितना माखन लेगा?' मैया फुसलाये रखना चाहती है।

'इतना माखन लूँगा मैं!' कृष्णचन्द्रने दोनों हाथोंसे बताया। बड़ी देर हो रही है माखन निकलनेमें। दोनों भाई मैयाका पैर छोड़कर उस बड़े भारी मटकेको दोनों ओर पकड़कर उसमें झाँककर देख रहे हैं। दोनोंकी अलकोंपर, भालपर, नासिकापर, कपोलोंपर नन्हे उज्ज्वल बिन्दु बढ़ते जा रहे हैं।

'दादा! माखन आ गया!' कन्हाई उस खम्भेका जिसके सहारे मटका रखा है, चक्कर काटकर अपने बड़े भाईके दाहिनी ओर आ सटकर खड़ा हो गया है। मटकेमें झाँकते समय उसके नेत्रमें कोई नन्ही बूँद पड़ गयी है। शीघ्रतासे पलकें मारता मुस्कराकर बड़े भाईकी ओर देख हँस रहा है। बड़ी उत्सुकता है दोनोंमें। मैया बार-बार टोकती है, मना करती है श्यामको कि वह मटकेमें हाथ न डाले। दोनों झुके हैं, मटकेमें नाचते दहीको बराबर देख रहे हैं।

४१—रेणुक्रीड़ा

'दादा, तू अपना पेट मत हिला!' श्यामसुन्दर अपने छोटे हाथोंकी नन्ही अञ्जलिमें कोमल बालुका भरकर दाऊके पेटपर डालता जा रहा है। दाऊ बीच-बीचमें पेट फुला देता है और सब बालू खिसक जाती है।

प्रातः नन्दव्रजके छोटे-छोटे शिशु श्रीयमुनाजीके पुलिनपर खेलने आ गये हैं। प्रभातका समय, तनिक-तनिक धूप, ठंढी नरम रेत—बालकोंको खेलनेके लिये मनमाना क्षेत्र मिल गया है।

बहुत थोड़े हैं, जिनकी कटिमें ठिकानेसे कछनी बँधी है। प्रायः दिगम्बर हैं। बहुतोंने कछनी खोल फेंकी है। कछनीके वस्त्रका इससे सुन्दर क्या उपयोग होगा कि उसमें रेत भरी जाय?

रेतसे भरी अलकें, धूसर देह, सुन्दर नन्हे शिशुओंका समुदाय। कोई लोट-पोट होता है, कोई पैरोंसे रेत रगड़ता है, कोई 'कुआँ' खोदता है, कोई टीला बनाता है और कोई दूसरेके ऊपर रेत उछालता है। एक-दूसरेका चरण पकड़कर रेतमें घसीटते हैं। ताली बजाते हैं। कूदते हैं। नाचते हैं। दौड़ते हैं और लदबद गिरकर लोट-पोट होते हैं।

'मोहन, तुझे भूख लगी होगी। बहुत देर हो गयी। आ बेटा!' माता रोहिणी तनिक दूर खड़ी पुकार रही है। दूसरी ओर जल भरनेको जाती तथा जल भरकर लौटती गोपियाँ खाली या भरे घड़े लिये ठगी-सी खड़ी हैं।

'दादा, हम तुझे देवता बनायेंगे!' श्यामको अवकाश नहीं माँकी पुकार सुननेका। गोपियोंकी ओर देखनेकी बात उसे स्मरण ही नहीं आ सकती इस समय।

दाऊ लेटा है रेतमें। शिशुओंकी एक भीड़ उसके चारों ओर बैठी है। सब उसे रेतसे ढक देनेके प्रयत्नमें हैं। वह बीच-बीचमें कुलबुला पड़ता है। सब रेत खिसक जाती है। वह हँसता है और सब खिलखिलाकर हँसते हैं।

'तू अब हिल मत!' श्याम ठीक तो कहता है। कहीं देवता भी हिला करता है। बड़े भाईके चरण सखाओंके साथ पकड़कर हँसते हुए दूरतक घसीट ले गया वह और अब फिर अञ्जलिमें रेत भरकर पेटपर डालने लगा है।

दाऊके पास अञ्जलिमें रेत लिये धूलिधूसर कन्हाई। रेतसे भरी इसकी अलकें। दूर पीछे पड़ी पीली कछनी। साथमें बैठे हँसते शिशु। घाटके मार्गमें ठगी खड़ी गोपियाँ और माँ पुकार रही हैं—'मोहन, आ जा बेटा! राम, बेटा! छोटे भाईको ले आ!'

४२—कीचड़में

'दादा, दौड़ तू!' वर्षा हुई है, भूमिपरसे जल बह रहा

है; अभी नन्ही-नन्ही फुहियाँ बरस ही रही हैं और श्यामसुन्दर-को इस पानीमें छप-छप करते दौड़नेकी धुन चढ़ी है।

मैयाने दोनों भाइयोंको वर्षाके समय अपने सामने बैठा रखा था। अब आकाश स्वच्छ हो रहा है। बादल हल्के पड़ रहे हैं। मैया किसी काममें लगी और दोनों भाई एक दूसरेको संकेत करके द्वारसे बाहर भाग आये। कितना सुन्दर समय है खेलनेका। धुले; स्नान किये वृक्षोंके पत्तोंसे बूँदें टपक रही हैं। पक्षी अपने पंख फड़फड़ाकर जल झाड़ रहे हैं। पृथ्वीपर इधर-उधर पानी भागा जा रहा है। अब ऐसा समय क्या घरके भीतर बैठ रहनेका है ?

श्याम दिगम्बर है और दाऊने तनिक-सी कछनी बाँध रखी है। दोनोंकी अलकोंमें जलके ये बरसते सीकर हीरक-कणों-से उलझते जा रहे हैं। दोनों पानीमें छप-छप करते एक दूसरेका हाथ पकड़े नाचते-से चल रहे हैं। घुटनोंतक दोनोंके चरण भीग गये हैं और उनपर मिट्टीके छींटे पड़ गये हैं जहाँ-तहाँ।

'इस पानीमें दौड़ा जाय तो?' श्यामसुन्दरके मनमें बात आयी और बड़े भाईका हाथ छोड़कर उसने दाऊको अपना सुझाव बता दिया। कितना सुन्दर सुझाव है ?

अलकें लहरा रही हैं; चरण छपाछप छींटे उछाल रहे हैं; दोनों भाई आगे-पीछे दौड़े जा रहे हैं। दोनों हाथ हिलाते; इधर-उधर देखते दौड़ रहे हैं। बड़ा आनन्द आ रहा है दोनोंको दौड़नेमें।

'अरे !' दाऊ सहसा खड़ा हो गया और पीछे मुड़ पड़ा; किंतु कोई चिन्ता करने-जैसी बात नहीं है। उसका छोटा भाई फिसलकर गिर पड़ा है किंतु उसे चोट लगी नहीं जान पड़ती। भूमिपर पड़ा-पड़ा वह अग्रजकी ओर देखकर हँस रहा है।

'गिर पड़ा तू ?' नन्हा-सा दाऊ कितना स्नेह करता है अपने इस कन्हाईसे। वह इसके समीप आ गया है। श्याम धप्से गिर पड़ा था पेटके बल और जैसेका तैसा ही हाथ-पैर फैलाये लेटा है पानी और कीचड़से भरी भूमिपर। केवल अलकोंसे बिग मुख उठाकर हँसते हुए अपने बड़े भाईकी ओर देख रहा है।

'उठ !' झुककर दाऊने छोटे भाईका हाथ पकड़ लिया, किंतु यह उठना कहाँ चाहता है। इसे तो लेटे रहनेमें आनन्द आ रहा है।

'तू यहाँ बैठ !' कृष्णने बड़े भाईका हाथ खींचा बैठनेके लिये। कण्ठसे चरणतक पेटकी ओरका पूरा शरीर लथपथ हो गया है कीचड़से। मुखपर भी कुछ छींटे पड़े हैं। अब यह लेटे-लेटे कीचड़में चरण नचा रहा है। इधर-उधर हिला रहा है पैरोंको। जब यह नहीं उठता, तब दाऊ इसके पास बैठेगा ही। वह वहीं कीचड़में छोटे भाईके मुखके पास बैठ गया है।

४३—माखनचोरी

'दादा, तोकके घरका माखन बहुत मीठा है।' अब कन्हाई जैसे बड़े भाईका हाथ पकड़कर, तनिक फुदककर, तनिक मचलकर मुख बना रहा है, वह तो देखनेकी ही वस्तु है। ऐसे ढंगसे अधर सिकोड़ रहा है, जैसे माखन इसके मुखमें ही आ गया।

'तोक, तू आगे चल धीरे-धीरे। बोलना मत, भला ! कहाँ रखा है माखन ?' श्याम जिस घरमें जाता है, उस घरके बालकको प्रायः आगे कर लेता है। आज तो चाचाके घरपर ही कृपा करनी है इसे। अब दाऊ अपने अनुजके इस आनन्दमें बाधा कैसे दे ?

'तू यहाँ बैठ !' कृष्णचन्द्र अभी पूरे तीन वर्षका भी नहीं है, किंतु अभीसे बड़े भाईका इसने इतना सम्मान करना सीख लिया है। उलटे ऊखलपर चढ़कर तो माखन उतारा जायगा। दाऊके लिये झटपट ढूँढ़कर एक पीढ़ा बिछा दिया है इसने।

दोसे चार वर्षतकके नन्हे बालकोंका एक पूरा समुदाय। कोई नंगे हैं, किसीने कछनी बाँध रखी है। मोटे तगड़े सुन्दर बालक। माताओंने इनको उबटकर नहलाया है। इनके केश सँवारे हैं। इनके नेत्रोंमें अञ्जन लगाया है और स्वयं इन्होंने खेलमें धूलि लगा ली है अपने अङ्गोंमें। नाना प्रकारके आभूषण पहिने हैं सब। अब इस समय सब-के-सब मौनी हो रहे हैं। इधर-उधर झाँकते जाते हैं। नेत्र और हाथ नचाकर संकेत करते हैं परस्पर।

'ये इतने बंदर कहाँसे आ गये ?' गृहस्वामिनीने कपियोंको ऊपर छतसे कूदते-उछलते आँगनमें उतरते देखा और समझ गयी कि ये किसके साथ क्यों आये हैं। उसके घर आज नन्दनन्दन आया है, अब यह भी क्या बताना रहा। और यह जो गोरस गृहमें तड़-तड, भड़-भड़, बब-बब, घम-घम तथा खिलखिलाहट मची है—दबे पैरों वह आयी और द्वारकी ओटसे छिपकर देखने लगी।

दाऊ जैसे गृहका अधिष्ठातृ-देवता है। आसन लगाये पीढ़ेपर जमा है वह और श्याम जैसे गृहस्वामी बन गया है और देवताका सत्कार करनेमें लगा है।

छीकेपर धरे बर्तनोंमें छेद हो गये हैं। दूध और दहीकी धारा गिर रही है। भूमि उज्ज्वल हो गयी है और उसमें फूटे बर्तनोंके टुकड़े बिखरे हैं। बालकोंके मुख, कर, चरण उजले-उजले हो रहे हैं। उनकी देहपर स्थान-स्थानपर उज्ज्वल बिन्दु पड़े हैं। सब माखन, दूध, दही सार्थक करनेमें लगे हैं।

'दादा, मुख खोल!' बार-बार श्याम अपने हाथों माखनके लौंदे बड़े भाईके मुखमें दे रहा है। उसे तो दूसरे ही खिला रहे हैं।

तनिक आगे झुकी थी वह और स्पष्ट देखनेके लोभमें। ताली बजाकर उछलते, कूदते, हँसते बालक उसके समीपसे भाग निकले। नटखट श्याम भागते-भागते उसके मुखपर भी मक्खन फेंकता गया है।

'क्यों रे, क्या कर रहा तू?' दाऊको कोई शीघ्रता नहीं। वह धीरे-धीरे सबसे पीछे चला जा रहा है।

'माखन खा रहा था।' भला, इसमें बहाना बनानेकी क्या बात है।

'तो खा ले, लाल!' बड़े स्नेहसे पुचकारा तोककी माताने। दाऊसे भला झगड़े कौन।

'अब नहीं खाऊँगा, पेट भर गया।' जब छोटा भाई चला गया, तब बड़ा कैसे टिक सकता है।

४४-दादाको बुलाऊँ?

'तू छोड़ दे मुझे!' आज यह नवनीत चोर पकड़ा गया है। अकेला आया था इस घरमें। किंतु माखन अभी निकला नहीं था। दही मथते-मथते बीचमें किसी कामसे पात्रमें ही मथानी छोड़कर गोपिका घरमें चली गयी और यह आ पहुँचा। गोपीने लौटते ही इसे पात्रमें हाथ डालते देख लिया और धीरेसे पीछेसे आकर पकड़ लिया है इसका वह मथे दहीमें डूबा दाहिना हाथ।

'तू मेरे घरमें क्यों आया? मेरे मटकेमें हाथ क्यों डाला तूने?' गोपी भला ऐसे कैसे रोषमें आ जाय? यह ढाई वर्षका कृष्ण उसके घरमें चोरी करने आया और पकड़े जानेपर उलटे आँख भी दिखाता है।

'क्या हुआ मैं आया तो? माखन देख रहा था तेरे मटकेमें।' आज यह न तो डरता है न अनुनय करता है, न बहाने बनाता है। यह तो अकड़ा खड़ा है और धमकाता ही जाता है। गोपिकाको हँसी आ रही है इसकी धृष्टतापर।

'आज मैं तुझे छोड़नेवाली नहीं। रोज-रोज तू मेरा माखन चुरा ले जाता है।' नेत्र कड़े किये गोपीने।

'दादाको बुलाऊँ? तू छोड़ती है या नहीं?' अच्छा तो यह बात है? इसे विश्वास है कि दाऊ इसे ढूँढता शीघ्र ही यहाँ आ पहुँचेगा। इसी भरोसे आज अकड़ रहा है यह।

'बुला ले, तुझे जिसे बुलाना हो।' कोई अपराध भी करे और आँख भी दिखाये तो कैसे सहा जाय।

'देख, छोड़ दे, नहीं दादाको बुलाता हूँ।' किंतु गोपी तो धमकीमें आती नहीं। सचमुच श्याम पुकारने लगा है—'दादा! दादा!'

'कनू!' हैं, यह दाऊका ही तो स्वर है। सचमुच वह आ गया? कन्हाईका हाथ छूट गया गोपीके हाथसे अपने-आप।

'दादा!' बिखरी अलकें, अटपटी कछनी, सोतेसे उठकर मोहन सीधे भाग आया था। अब बड़े भाईको देखकर इसके नेत्र खिल उठे हैं। बार-बार गोपीकी ओर देखता है। इसके नेत्र मानो पूछ रहे हैं—'कहूँ दादासे?'

'कनू! क्या है रे?' श्यामसे एक वर्ष बड़ा है उसका यह गौर-सुन्दर अग्रज। अपने छोटे भाईको पास न देखकर यह भी घरसे निकल पड़ा था। इसकी अलकें भी बिखरी हैं। यह भी नींदसे उठकर ही दौड़ आया है।

'दादा, तू इसका मटका फोड़ दे। यह मुझे माखन नहीं देती।' कन्हाईने बड़े भाईका हाथ पकड़ लिया उसी दहीमें सने हाथसे।

'यह मानता नहीं है। तुम देखो न, अभी माखन निकला कहाँ है। तुम दोनों तनिक बैठ जाओ। अभी निकला जाता है माखन।' गोपिकाके नेत्र भर गये हैं। कन्हाईने अपने अग्रजसे कुछ कहा नहीं। इस नन्हे दाऊका सम्मान करता है पूरा व्रज। इससे झगड़ा नहीं जा सकता। दो पीढ़े डाल दिये हैं दोनों भाइयोंके बैठनेके लिये उसने। दाऊ छोटे भाईकी ओर देख रहा है कि यहाँ बैठना है या नहीं।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

४२. भागवतमें महापुरुषकी उच्चस्थितिका लक्षण बतलाते हुए यह कहा गया है कि जिसे सचमुच ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उसे यह ध्यान भी नहीं रहता कि मेरा शरीर बैठा है कि खा रहा है कि टट्टी-पेशाब कर रहा है। उसे अपने शरीरका बिल्कुल ही ज्ञान नहीं रहता। जैसे शराब पीकर मनुष्य पागल हो जाय और फिर उसके ऊपर वस्त्र हैं या नहीं—इस बातका उसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको अपने शरीरका ज्ञान नहीं होता कि यह छूट गया है कि है। वह तो सदाके लिये आत्मानन्दमें डूब जाता है। शरीर लोगोंकी दृष्टिमें प्रारब्ध रहनेतक काम करता है, फिर वह भी प्रारब्ध समाप्त होते ही गिर पडता है। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके वाक्य हैं। अब आप सोचें—यदि कोई सचमुच ब्रह्मप्राप्त पुरुष आपको मिला है तो उसमें यदि वह सच्चा प्राप्त पुरुष है तो ये लक्षण घटेंगे ही, पर यदि दीखता है कि वह महापुरुष पेशाब करता है, भोजन करता है, सबसे बातचीत करता है, व्यवहारमें सलाह देता है और कहीं भी पागलपन नहीं दीखता, तो फिर दोमें एक बात होनी चाहिये—या तो वह प्राप्तपुरुष नहीं है, साधक है, या वह इतने ऊँचे स्तरपर पहुँचा हुआ पुरुष है कि उसके प्रारब्धको निमित्त बनाकर उसके अन्त करणमें स्वयं भगवान् ही उसकी जगह काम करते हुए जगत्में अपनी भक्ति, अपने तत्त्वज्ञानका प्रचार कर रहे हैं। इन दो बातोंके अतिरिक्त तीसरी बात मेरी समझमें नहीं आती। या तो उसमें कमी है या वह इतना ऊँचा है कि स्वय भगवान् उसके शरीररूप खोलीके अदरसे काम कर रहे हैं।

देखिये, आपने भगवान्को देखा है? नहीं देखा है। पर फिर उन्हें मानते क्यों हैं? इसीलिये मानते हैं कि संतोंने उन्हें देखा है और शास्त्र कहते हैं कि भगवान् हैं। अत उसी शास्त्रकी यह बात है कि संत—असली संतका स्वरूप ऐसा होता है। विश्वास होना तो कठिन है, क्योंकि अन्त.करण सासारिक वासनाओंसे इतना भरा होता है कि सत्यका प्रकाश उसमें छिपा रहता है। पर सच मानिये—जिस दिन आपका अन्त·करण तैयार हो जायगा अर्थात् बिल्कुल उपराम हो जायगा, उस दिन संतमें ही नहीं, आपकी जहाँ दृष्टि जायगी—वहीं एक भगवान्-ही-भगवान् दीखेंगे। पर अभी तो जो आपको दीखता है, उसीको लेकर आपके प्रश्नपर विचार करना है, अस्तु! आपको जहाँ संत दीखते हैं, केवल वहाँ ही नहीं, जहाँ यह घड़ी दीखती है, वहाँ भी श्रीभगवान् हैं और पूर्णरूपसे हैं। आपमें, मुझमें, इनमें और सब वस्तुओंमें है। आपमें, इनमें, हममें प्रकट नहीं हैं—यहाँ छिपे हुए हैं। ये ही भगवान् जहाँ आपको संतका शरीररूप खोली दीखती है—वहाँ प्रकट रहते हैं। अवश्य ही इस बातको समझ लेना थोडा कठिन है, क्योंकि वास्तवमे इस बातको बतानेके लिये कोई दृष्टान्त नहीं है। पर ऐसे समझनेकी चेष्टा करें कि जिस दिन श्रद्धा हो जायगी, उस दिन तो यह घडी ही भगवान् बन जायगी। दीवाल, खभे—सब भगवान् बन जायँगे और प्रह्लादकी तरह फिर सबमें भगवान्का ही दर्शन होगा। यह तो श्रद्धाकी बात है; क्योंकि इन चीजोंमें भगवान् प्रकट नहीं हैं। पर जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी जरूरत नहीं होती। वहाँ जरूरत होती है केवल देखनेकी, सम्पर्कमें आनेकी। घड़ी देखनेसे आपको भगवान्की अनुभूति नहीं हो सकती, न घडी आपका कल्याण ही कर सकती है। पर संतको देखने मात्रसे ही, सम्पर्कमें आने मात्रसे ही, आपको

भगवान्‌की अनुभूति होनी प्रारम्भ हो जायगी और संत-का दर्शन आपका कल्याण कर देगा, क्योंकि वहाँ भगवान् प्रकट हैं।

जैसे आग इस कलममें भी है, इस चौकीमें भी है और हमारे शरीरमें भी है, पर फिर भी साँझ होते ही हमें ठंड लगेगी ही। पर यहींपर यदि इस कलम, इस चौकीको घिसनेसे आग प्रकट हो जाय तो फिर तो श्रद्धाकी जरूरत नहीं होगी कि हमारी ठंड दूर हो, इसके पास बैठते ही ठंड दूर हो जायगी, चाहे आँख मूँदकर ही क्यों न बैठें। एक अंधेको भी बाहरसे लाकर यदि यहाँ बिठा देंगे, जो आग देख नहीं सकता, श्रद्धा भी नहीं कर सकता कि आग ऐसी होती है, तो ठंड उसकी भी दूर होगी। इसी प्रकार भगवान् जहाँ-जहाँ अप्रकट है, वहाँके लोग दुःखसे त्राहि-त्राहि करते हैं, पर वे ही लोग यदि संतके पास जा पहुँचें तो फिर उनको श्रद्धा नहीं करनी पड़ेगी, बिना श्रद्धाके ही, बिल्कुल बिना भावके ही उनका दुःख दूर हो जायगा। अब प्रश्न होता है कि कोई कहे कि 'हमें तो सच्चा संत मिल गया और यदि बिना भावके ही कल्याण होता है तो हमारा क्यों नहीं हुआ? हमारे मनमें अशान्ति क्यों है? हमें दुःख क्यों है?' तो इसका उत्तर यह है कि आप सचमुच ही संतके सम्पर्कमें नहीं आये। नहीं तो कल्याण हो ही जाता। श्रद्धाकी बिल्कुल ही जरूरत नहीं है, जरूरत है केवल सम्पर्कमें आनेकी। आप नहीं आये, इसीलिये आपका दुःख नहीं मिटा। सम्पर्कमें आनेका अर्थ है यह कि आपका मन, आपकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं बुद्धि तथा शरीर—सब-के-सब उस संतसे जुड़ जायँ, बिना भावके ही जुड़ जायँ। फिर देखेंगे, एक क्षणमें ही आपकी सारी अशान्ति मिट जायगी। आप एक ऊँचे साधकसे भी जुड़ सकते हैं; पर यदि वह भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं है तो उससे जुड़नेपर, यद्यपि उस रूपमें भी भगवान् हैं, आपका कल्याण बिना श्रद्धाके नहीं होगा। किंतु सच्चे संत महापुरुषको बिना जाने, बिना पहचाने, बिना उनपर श्रद्धा किये, पूरा-पूरा उनसे जुड़ जायँ तो फिर निश्चय ही उसी क्षण कल्याण हो जायगा।

संक्षेपमें बात यह है कि श्रद्धा होनी और जुड़ना—सम्पर्कमें आना दो वस्तुएँ हैं। किसीमें श्रद्धा होना एवं उससे जुड़ना—ये दो क्रियाएँ हैं। इसे ऐसे समझें—कल्पना करें, यहाँ दो व्यक्ति बैठे हैं। एक सदाचारी साधक है, दूसरा भगवत्प्राप्त महापुरुष है। अब जहाँ वह साधक आपको दीखता है—वहाँ भी असलमें भगवान् हैं, पूर्ण रूपसे हैं, पर यहाँ श्रद्धा करनी पड़ेगी कि ये भगवान् हैं तथा उनसे जुड़ना पड़ेगा अर्थात् मन, वाणी, समस्त इन्द्रियाँ आदिको इनसे जोड़ना पड़ेगा, तब आपका कल्याण होगा। पर महापुरुषके लिये यह बात नहीं है। वहाँ श्रद्धा चाहे बिल्कुल ही न हो कि ये भगवत्प्राप्त पुरुष हैं, केवल इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जुड़ जायँ, बस, आपका काम बन जायगा। कोई कहे कि हम तो महापुरुषसे जुड़े हुए हैं तो मैं आपको कसौटी बताता हूँ कि वे जुड़े हैं या नहीं। इसकी जाँच कर लीजिये। मनका जुड़ना—मनका रूप है दिनभर चिन्तन करना, कुछ-न-कुछ संकल्प-विकल्प करते ही रहना। इसका यही स्वरूप दर्शन-शास्त्रमें बताया गया है। अब आप सोचें कि आपका मन दिनभरमें कितना संकल्प-विकल्प महापुरुषके सम्बन्धमें करता है और कितना संकल्प-विकल्प उनके अतिरिक्त पदार्थोंसे। आँखका जुड़ना क्या है? आँख देखती है। दिनभरमें आप कितनी देर उन्हें देखते हैं, उनकी लिखी हुई पुस्तकोंको देखते हैं? इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों एवं बुद्धिकी चेष्टाकी औसतपर जाँच लें कि वे किस पदार्थसे जुड़ी हैं।

जिस दिन किसीका मन वैर-भावसे भी महापुरुषसे सोलहों आने जुड़ जायगा, उस दिन उसका कल्याण हो जायगा; क्योंकि श्रद्धाकी बिल्कुल जरूरत ही नहीं है, जरूरत है जुड़नेकी। श्रद्धाकी वहाँ जरूरत

होती है, जहाँ भगवान् छिपे रहते हैं, जहाँ प्रकट हैं, वहाँ श्रद्धाकी जरूरत बिल्कुल ही नहीं है। प्रेमसे या वैरसे किसी प्रकार जुडना चाहिये। जुडते ही काम बन जाता है। यह ठीक है कि महापुरुषसे वैर-भावसे जुडना आदर्श नहीं हो सकता तथा वैर-भावसे जुडनेवालेको मोक्षरूप ही कल्याण मिलता है, भगवत्प्रेम-की प्राप्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति महापुरुष-द्वेषीको प्राय नहीं ही होती। मुझे इसमें तनिक भी सदेह नहीं है कि सत बिना श्रद्धाके ही काम कर देते हैं। पर जुडनेकी जरूरत तो होगी ही। यह भी एक परम आश्वासनकी बात है कि जिसका एक क्षणके लिये भी किसी भी इन्द्रियसे वास्तविक महापुरुषके साथ जुडना हो गया, उसका कल्याण हो ही जायगा, क्योंकि धीरे-धीरे उसकी समस्त इन्द्रियाँ जुड ही जायँगी और जिस दिन समस्त जुड गयीं कि बस काम बन गया। यही महापुरुषकी विशेषता है। स्त्री-बच्चोंसे तो आप अनन्त जन्मोंमें—अनन्त योनियोंमे जुड चुके हैं। उन स्त्री-बच्चोंके रूपमें भी स्वयं भगवान् ही थे, पर अभीतक आपका उद्धार नहीं हुआ। उनसे जुडे भी भीतरी मनसे ही थे, प्रत्येक योनिमें आप जुडे हैं; पर काम नहीं बना। इसीलिये भगवान्की यही अनन्त कृपा जीवपर होती है कि वे अवताररूप तथा सतरूपमें प्रकट हो जाते हैं और उनके प्रकट स्वरूपसे बिना भावके ही जो कोई एक क्षणके लिये भी जुड जाता है, उसका कल्याण हो ही जाता है। जुड़ना पूरा-पूरा हुए बिना कल्याणमें देरी होती है। चाहे एक जन्ममें हो या एक और जन्म धारण करके, पर यह सर्वथा सत्य है कि महापुरुषसे एक क्षणके लिये जुड़ा हुआ भी आगे चलकर पूरा-पूरा जुड़ ही जाता है तथा पूर्ण कल्याण उसका हो ही जाता है।

४२. यह मार्ग ही ऐसा है कि इसपर सर्वथा अहंकारशून्य होकर सारी ममता-माया छोड़कर, बस, श्रीकृष्णको ही एकमात्र जीवनका सार-सर्वस्व बनाकर चलना पडता है। जबतक बिल्कुल अपनपा मिटा नहीं दिया जाता, तबतक प्रेम प्रकट ही नहीं होता। आप एक भी व्रजप्रेमीके जीवनमें भी यह बात नहीं देखेंगे कि उनके मनमें ससार भी हो और श्रीकृष्णप्रेम भी हो। अधकार और प्रकाश दोनों साथ रह ही नहीं सकते। या तो ससार रहेगा या श्रीकृष्ण रहेंगे।

श्रीकृष्णकी कृपासे आपके मनमें एक धुँधली चाह उत्पन्न हुई है, पर यह चाह इतनी मन्द है कि इसको बहुत तेजीसे बढ़ानेकी तथा यह सूख न जाय—इसके लिये चेष्टा करनेकी पूरी आवश्यकता है। बात यह है कि जबतक मन श्रीकृष्ण-प्रेमसे सिक्त नहीं होगा, तबतक कोई भी वस्तु सदा रहनेवाली शान्ति दे ही नहीं सकती। इसे आप अपने जीवनमें अनुभव करेंगे, पर धीरे-धीरे।

एक खास बात और है—वह यह है कि आप खूब तेजीसे वैराग्य बढ़ाइये। आपके लिये ही नहीं, किसी भी प्रेम चाहनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक है कि विषयोंसे तीव्र वैराग्य तथा मनके द्वारा निरन्तर भगवत्-चिन्तन हो। यह नहीं होगा तथा कोई आपको कहे कि शान्ति मिल जायगी तो समझ ले कि या तो वह कहनेवाला स्वयं भ्रममें है, या जान-बूझकर आपको धोखा देता है। ससारमें जबतक भगवद्बुद्धि बिल्कुल स्थिर नहीं हो जायगी, तबतक यदि ससारका तनिक भी चिन्तन होगा तो वह अशान्ति करेगा ही। आगको पकड़कर मनुष्य जले नहीं, यह असम्भव है। इसी तरह ससारको ससारके रूपमें देखते रहनेपर इसके चिन्तनसे जलन बढ़ेगी ही, चाहे आप कहीं भी—किसी भी देशमें चले जायँ। आपको पता नहीं है—शायद वृन्दावनमें रहनेवाले भी कई व्यक्ति बहुत अशान्त रहते हैं। जिन्हें वे आँखें प्राप्त नहीं हैं, वे वृन्दावनमे भी जाकर राग-

द्वेषसे बचे नहीं रह सकते। वहाँ भी उन्हें क्षणिक शान्ति ही मिलेगी। वृन्दावनकी चिदानन्दमयताका अनुभव उन्हें नहीं ही होगा। धामके वस्तुगुणसे अन्तमें उनका कल्याण हो जाय, यह बात दूसरी है।

रास देखकर भगवद्भाव हो तो वह वस्तुतः भगवत्प्राप्तिकी परमोच्च साधना होती है, पर आप नाराज न हों, आपका मन भगवान्‌की ओर नहीं लगता। वह लगता है वहाँकी सजावटपर। जिस मनमें कूड़ा (विषय) है, वह गंदा मन रासके भगवत्स्वरूपोंमे ज्यादा दिन टिकेगा ही नहीं। रही वृन्दावनकी बात, सो वृन्दावन असलमें जड वस्तु नहीं है कि वह एक देशमें सीमित है, वह भगवान्‌का स्वरूप-तत्त्व है, सर्वव्यापक है। श्रीराधारानी-श्रीकृष्णकी कृपासे जिनकी वह दृष्टि हो जाती है, उन्हें अणु-अणुमें श्रीधामके दर्शन हो सकते हैं, होते हैं। भूलोकमें आप जिस वृन्दावनका दर्शन करते हैं, वह सर्वथा निस्संदेह सच्चिदानन्द विभु तत्त्व है, पर वहाँ भी जिन्हें उस स्वरूपका अनुभव या उसपर श्रद्धा नहीं है, उन्हें वहाँ रहकर भी शान्ति नहीं।

सच मानिये—कहीं भी जायँ, शान्ति तभी मिलेगी जब कि मनसे संसार निकलेगा। यह नियम ऐसा है कि कभी टलेगा नहीं। आपके प्रति जो मैं प्रार्थना करता हूँ, उसमें यह न समझें कि मैं कोई अपनी बात आपपर लादना चाहता हूँ। केवल इतनी बात आपसे निवेदन कर देता हूँ कि मेरी समझमें आपको संसार मनसे निकालना ही पड़ेगा। यह न करके चाहेंगे कि अशान्ति मिट जाय तो नहीं मिटेगी। अशान्ति तो संसारकी सत्ता मिटनेसे ही मिटेगी। आपके लिये यह एक बात जँच रही है कि आप पूरे निश्चयके साथ चौबीस घंटे लीलाका श्रवण, चिन्तन, मनन—जब जैसा सम्भव हो, करते रहें। युक्ति मैं आपको बतला रहा हूँ, कुछ दिन करेंगे तो मेरा विश्वास है कि उन्नति होनी ही चाहिये। करनेपर चौबीस घंटे यह अनुभव-सा होने लगेगा—मेरे ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण वृन्दावन है। मैं वृन्दावन हूँ, मेरा शरीर वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय आकाशमें चल रहा है—श्वास लीजियेगा, उस समय अनुभव होगा कि श्वासके साथ पावन वृन्दावनकी वायु मेरे हृदयमें प्रवेश कर रही है। फिर इतनी निश्चिन्तता आयेगी कि शरीर रहे या जाय, मैं तो वृन्दावनमें ही हूँ। साथ ही लीलाका चिन्तन जितनी देर कीजियेगा, वह और भी आनन्द बढ़ायेगी, पर यह सब करनेसे होगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आपके अन्तःकरणमें ही बैठे हैं। जब उनसे आपको शान्ति नहीं मिली, तब मुझ-जैसे मलिन मनवाले प्राणीकी बातसे कैसे शान्ति मिलेगी। शान्ति तो तभी मिलेगी जब कि या तो संसारके प्रत्येक अन्तःकरणमें आप श्रीकृष्णको देखें, पुत्र, स्त्री, माँ—ये सब-के-सब बिल्कुल उनके ही रूपमें दीखने लग जायँ। या इन सबको भूलकर पावन वृन्दावनमें मन इतना रम जाय कि बस ये हैं कि नहीं, इसकी स्मृति भी मनमें न रहे।

४४. आपने अभी व्रजप्रेमका साधन कदाचित् आरम्भ ही किया है। यह खाँडेकी धार है। ज्ञान और भक्ति दोनोंसे ही यह न्यारी चीज है। यह इतनी ऊँची चीज है कि इसके मार्गमें पैर रखकर चलनेपर संसारको छोड़ ही देना पड़ता है। पर आपका मन अभी संसारकी उन्नतिमें फँसना चाहता है, घर-गृहस्थीके झंझटमें आप कूद-कूदकर पड़ते हैं। मामूली-से-मामूली तुच्छ बातके लिये उखड़कर लोगोंसे चिढ़ जाते हैं तथा परिवार इतना प्यारा है कि इसके लिये आपको बुरा-भला करनेमें कोई ग्लानि नहीं होती। आप ही सोचें, श्रीकृष्णप्रेमके मार्गपर चलनेवालेका भला, यह ढंग हो सकता है? देखें, चित्तकी बदमाशी नहीं छूटना एक बात है, तथा उसके लिये परवा न होना दूसरी बात है। पर मेरी दृष्टिमें चाहे गलत हो, मुझे ऐसा लगता है कि अभी आपके मनमें यह पूरी परवा ही नहीं है कि मन हमारा व्रजमें रमे, क्योंकि

उसका लक्षण यह है कि मनके भागनेपर, जैसे याद आया कि मन व्रजसे कहीं अन्यत्र गया है, बस, वैसे ही तीव्र व्याकुलता होगी और तुरत आप उसे व्रजसे जोड देंगे, किंतु आप तो शायद जान-बूझकर व्रजप्रेम-का चिन्तन छोडकर दूसरा काम करते हैं। ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्ण ही आपकी सहायता करें, मैं और क्या कहूँ।

व्रजप्रेमी जितने हुए हैं, जितनोंका जीवन मैंने पढा है, प्राय. सभी कहते हैं कि हमारी शक्ति नहीं है कि हम अपना सुधार करें और सचमुच ऐसा ही मानते हैं। पर सुधार न होनेके कारण वे दिन-रात रोते हैं, उनमें कडापन, खासकर संतोंके प्रति अकड किसीके भी जीवनमें नहीं मिलेगी। अभिमान तो वे लोग जडसे ही छोड देते है। इस प्रेमके पीछे न जाने कितने करोडपति भिखारी बनकर रोटीके सूखे टुकडे माँगकर मारे-मारे फिरे है। न तनपर वस्त्र हैं, न खानेको अन्न। परिवारसे छिपकर अपना जीवन भजनमें बिता चुके हैं। पर आपके जीवनमें अभीतक मुझे नहीं दीखता कि आपमें व्रजभक्तों-की निरभिमानता आ गयी है, रुपयेका महत्त्व कम हो गया है। रुपयेको आप धूलि समझते हों और मानको विष समझते हों—ऐसी बात मुझे अभी नहीं दीखती। वरं उल्टा मुझे तो यह दीखता है कि अभी आपके मनमें धन प्राप्त करनेकी चाह है। और यदि चाह रही तो मेरी समझमें आपका उद्धार तो हो सकता है, पाँच प्रकारकी मुक्ति भी आपको मिल सकती है; पर, यह ढग रखकर, शास्त्रोंके जो मैंने पढ़े हैं, देखे है, सुने हैं, आधारपर कहता हूँ—आपको यह व्रजप्रेम प्राप्त हो जाना तो बड़ा ही कठिन दीखता है। व्रजप्रेम केवल उसीके लिये है, पीछे जो उसके अपना सब कुछ जला-कर भस्म कर डालनेकी इच्छा रखता हो। संस्कृतमेंप्रेमके सिद्धान्तपर बडे-बडे सुन्दर ग्रन्थ हैं, इस मार्गके बड़े-बडे आचार्य हुए हैं और उन्होंने इस व्रजप्रेमके मार्गको अलग छाँटकर बड़े विलक्षण ढंगसे समझाया है। उन्हें देखनेपर पता चलता है कि यह हँसी-खेल नहीं है, इसमें—भीतरी मनमें अनन्त जन्मोंतक नरकनकमें सडनेकी तैयारी जिसके मनमें होती है, वही बढ सकता है। वास्तवमें जो श्रीकृष्णप्रेम है, वह कुछ ऐसी दुर्लभ वस्तु है कि उसके लिये सर्वस्व त्याग करना ही पडता है—तुच्छ परिवार-धन-जनकी तो बात ही क्या है। शान्ति मिले, आनन्द मिले, हमें शान्ति नहीं मिलती नहीं मिली—ये बातें जिसके मनमें हैं, उसके लिये व्रज-प्रेमकी बात करना, कहना, सुनना तो मजाक उडानेकी तरह है।

नारायन बाढी कठिन जहाँ प्रेम को धाम।
विकल मूरछा सिसकिबो ये मग के बिश्राम॥

श्रीकृष्ण आपपर कृपा करें—और कुछ नहीं, केवल आपके मनमें किसी प्रकार इस संसारसे छूटनेकी लालसा जाग जाय और दीनता आ जाय, फिर काम बने, नहीं तो, यों संसारको पकडे रहना और व्रजप्रेम पाना आज-तक तो कहीं हुआ नहीं है।

४५. यह जो अशान्ति है और साधना नहीं बनती—इसमें हेतु यही है कि आपकी संत एवं भगवान्-पर श्रद्धा नहीं है। पापके संस्कार श्रद्धा होनेमें बाधक होते हैं। इसीलिये संत कहते हैं—'भजन करो, निरन्तर भजन करो।' भजन करनेसे अन्तःकरणका मल मिट जायगा और मल मिटा कि बस, विक्षेप और आवरण तो बहुत ही आसान चीजें हैं। ××××ने एक बार बडे प्रेमसे कहा था—मनुष्यको केवल एक काम करना है, भजनके द्वारा मलका नाश कर देना; बिल्कुल इतना ही काम उसको करना पडेगा और यह काम उसे ही करना पड़ेगा। रहा विक्षेप अर्थात् मनकी चञ्चलता, इसे दूर कर देंगे संत तथा भगवान्‌ने जो पर्दा डाल रखा है, उसे हटाकर वे सामने आ जायँगे। यही आवरण-भङ्ग है। दृष्टान्त दिया था—जैसे दर्पण है, उस-पर चिकट मल चढ़ा है, वह हिल रहा है और पर्दे

लगे हैं। अब रगड-रगडकर साफ कर दो—बस, तुम्हारा इतना ही काम है। सत नीचे-ऊपर पेंच कसकर हिलना-भटकना नष्ट कर देंगे। भगवान् पर्दा हटा देंगे। बस, फिर मुख स्पष्ट दीखने लग जायगा। रगडनेसे यदि परिश्रमका अनुभव हो तो साबुनसे धो दो। निरन्तर नाम सहज साबुन है। मनकी मलिनता ही भगवान्का आनन्द नहीं लेने देती। अभी आपने लीलाकी, तत्त्वकी इतनी बातें सुनीं, पर इनका आनन्द सबको एक समान नहीं मिला होगा। इसमें एकमात्र हेतु है, मनकी मलिनताकी घनता। जिसका मल जितना अधिक घन है, उतना ही इन बातोंका आनन्द वह नहीं उठा सकेगा। नहीं तो, इतनी देरकी बातचीतमें श्रीकृष्णका नाम जितनी वार आया, जब-जब उनके गुणोंकी बात आयी और वृत्तिने उसे पकडा, उतनी-उतनी वार हृदय पिघलकर बहने-सा लगा होता। आप पद सुनते हैं—

'कृष्न नाम जब ते मैं श्रवन सुन्यौ री आली,
भूली री भवन हौं तौ बावरी भई री।'

इसमें रत्तीभर भी अत्युक्ति नहीं, न यह निरी भावुकताकी बात है। बिल्कुल सत्य है। यही दशा श्रीगोपीजनोंकी श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुणकी स्मृति-श्रवणसे हो जाती है।

आन्तरिक प्रेमके चिह्न बाह्य शरीरपर प्रकट हो जाते हैं और उनका शास्त्रोंमें विस्तारसे वर्णन है। आज भी सच्चे प्रेमियोंमें वे चिह्न प्रकट होते हैं। एक रघुबाबा गोरखपुरमें थे। उनमें 'तनुता' का प्रकाश हुआ था। और भी कई प्रेमविकार उनके शरीरपर स्वय भाईजीने समय-समयपर देखे। प्रेमपथकी बात ही निराली है। साध्य-साधन एकमात्र श्रीकृष्ण होंगे, वहाँसे पथ शुरू होगा। अभी तो जड 'शरीरका आराम' और 'नामका मोह' पग-पगपर पछाड रहा है।

प्रेम उत्पन्न होनेपर बिल्कुल 'रही न काहू काम की'-सी दशा भीतर-भीतर हो जायगी, संसारमें कोई भी आकर्षण आपके लिये नहीं रहेगा। इसकी साधना अपने-आप होती है। अपने-आप परिवारसे, धनसे, सभी प्राणियोंसे मोह हटकर दृष्टि निरन्तर श्रीकृष्णकी ओर लग जाती है। केवल श्रीकृष्ण-चर्चा, केवल श्रीकृष्ण-भजन ही जीवनका उद्देश्य नहीं, स्वभाव हो जाता है। प्रेमकी इतनी पवित्र अवस्था प्रारम्भमें ही होती है कि उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ, किसी प्रकारका आकर्षण (प्रेमास्पदके अतिरिक्त और किसीके प्रति) रहता ही नहीं। इसकी प्रारम्भिक साधना है—पर्वतकी तरह दृढ निश्चय लेकर मनसे श्रीकृष्णका स्मरण, जीभसे भजन, कानोंसे श्रवण एव निरन्तर सजातीय-वासनाविशिष्ट सत्सङ्ग यापनमें जीवन जाय।

महाप्रभुने पाँच उपाय बतलाये हैं—

१—निरन्तर नाम-जप, २—सजातीय-वासनाविशिष्ट सत्सङ्ग, ३—श्रीमद्भागवतका आस्वाद, ४—श्रीविग्रह-सेवा, ५—श्रीव्रजवास।

श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है कि ये पाँचों इतनी विलक्षण शक्तिसम्पन्न साधनाएँ हैं कि कल्पनातीत शीघ्रतासे भाव, जो प्रेमकी पूर्वकी अवस्था है और जिसका एक नाम 'रति' भी है, उत्पन्न हो जाता है। पर 'सद्धियाम्'। इसकी टीका की गयी है—'अपराधविहीनानाम्'। अर्थात् जो भगवत्सेवापराध एव नामापराधसे रहित हैं, उनमें इस साधनासे एक क्षणमें ही भाव उत्पन्न हो जाता है, अपराधयुक्त प्राणीमें नहीं।

४६. जैसे लकड़ीके दो टुकड़े हैं। उन दोनोंमें अग्नि तो व्याप्त है। न विश्वास हो तो रगड़कर देख लें, उसमेंसे आग निकलेगी। इसी प्रकार भगवान् प्रत्येक प्राणीमें बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर व्याप्त हैं। अब जैसे आग कहीं प्रकट हो जाय और प्रकट होकर किसी लकड़ीके खण्डको पकड़ ले तो फिर लकडी उसी आगमें जलकर स्वयं आग बन जाती है। जहाँ

अग्निका संयोग हुआ कि वह लकडी फिर लकड़ी रह ही नहीं सकती। वह निश्चय-निश्चय आग बन जाती है। ठीक इसी प्रकार, जिस समय भगवान्‌का वास्तविक साक्षात्कार संतको होता है, उसी क्षण वह भगवान्‌में मिल जाता है। ठीक भगवान्‌के रूपका वनकर ही तव भगवान्‌का अनुभव करता है। वस्तुत. तो वह स्थिति इतनी विलक्षण—इतनी अद्भुत है कि उसे किसी भी दृष्टान्तसे समझाया जा नहीं सकता, क्योंकि सभी दृष्टान्त जडजगत्‌के हैं और संत एव भगवान्‌के मिलनकी बात चिन्मय जगत्‌की है। पर यदि इस दृष्टान्तको कोई ध्यानमें रखे तो वह कुछ-कुछ कल्पना कर सकता है। भगवान् है तो प्रत्येक प्राणीमें, पर कहींपर किसी कारणसे (प्रेमकी रगडसे) प्रकट हुए और प्रकट होते ही उन्होंने अपने आधारको अर्थात् जिसके लिये जिसमें प्रकट हुए थे, उसे बिल्कुल पूरा-पूरा अपने समान वना लिया। जलनेके वाद जिस तरह काठ बिल्कुल काठ न रहकर अग्नि हो जाता है, ठीक वैसे ही संत देखनेमें तो मामूली मनुष्यकी तरह खाता-पीता, व्यवहार करता है, हँसता-रोता है, सन्यासी न हो तो घर-गृहस्थी भी करता है, परंतु वस्तुत. वह भगवान्‌की ही एक लीला है, जिससे वे अपनेको छिपाये रहते हैं। प्रश्न यह होता है कि फिर उस शरीरको भगवान् रखते क्यों हैं ? रखते हैं इसीलिये कि उसके स्पर्शमें आकर कुछ और भी प्राणी उस आगमें जलकर उसीकी तरह बन जायँ। इसीलिये प्रारब्धकी लीलाका निर्वाह होता है।

शास्त्र पढनेसे तो अनेक प्रमाणोंसे यह वात सिद्ध हो ही जाती है कि सच्चे भगवत्प्राप्त संत भगवान्‌से अभिन्न हो जाते हैं। युक्तियोंके द्वारा भी मनुष्य इसे समझ सकता है। पर वही समझेगा कि जिसने जीवनका एकमात्र उद्देश्य वनाया है कि 'मुझे प्रभुसे मिलना है।' फिर होता क्या है कि संत स्वय अपनी गरमी—अपना तेज उसे प्रकट करके दिखलाना शुरू कर देते हैं। उनके तेजका असर तो सबपर होता है; पर बीचमें अहंकार, ससारकी वासना, विषय-सुखकी चाह, उनसे लौकिक स्वार्थपूर्तिकी वासना—ये सब खडे होकर उनके तेजको देरसे ग्रहण होने देते हैं। जिस दिन जीवनका उद्देश्य एकमात्र भगवान् हो जाते हैं, उस दिन ये सब व्यवधान झड़ जाते हैं, साधक इनको फेंककर अकिंचन बन जाता है। फिर जहाँपर संत दीखते हैं, उस स्थानपर श्रीकृष्ण दीखें—इसमें तो कहना ही क्या है, उसकी दृष्टिमें सर्वत्र एक श्रीकृष्ण ही रह जाते हैं और वह दिव्य पावन आनन्दके समुद्रमें डूब जाता है। जबतक यह हो, तबतक शास्त्र आज्ञा देते हैं कि 'चाहे किसी भावसे हो, सम्बन्ध जोडे रहो।' भगवान्‌की करुणा जैसे अहैतुकरूपसे भगवान्‌में रहती है, संतरूप भगवान्‌की मूर्तिमें भी वह करुणा वैसे ही रहती है और वह करुणा किसी दिन एक क्षणमें तुम्हारे व्यवधानको दूर कर देगी। अवश्य ही अलग हटोगे तो भी निस्तार तो होगा ही, क्योंकि एक वारका सम्बन्ध ही निस्तारके लिये अल है। पर कुछ देर लगेगी, क्योंकि आखिर नियमसे सब होता है। कोई कहे कि संत अपने-आपको प्रकट करके जीवोंका उद्धार क्यों नहीं करते तो इसका उत्तर यदि इसमें लाभ होता तो आप ठीक समझें, यह है कि वे प्रकट होकर नाचते। जिस समय प्रकट होनेसे लाभ होता है, उस समय प्रकट भी होते हैं—हुए हैं। पूर्वकालमें महाप्रभु चैतन्यदेव प्रकट हुए थे और खुलेआम प्रेमका वितरण उन्होंने किया था। उस दिन पेटमें प्रेमकी भूख थी। आज तो जगत्‌के प्राणी चाहते हैं—हमको धन मिले, मान मिले। यह देना उन्हें अभीष्ट है नहीं। अधिकाश जगत्‌का वातावरण आज इसी कामनासे कलुषित हो रहा है। फिर इससे भी ऊपरकी एक वात यह है कि

भगवान् कब कौन-सा ढंग स्वीकार करते हैं— इसका रहस्य यदि हम समझ जायँ तो फिर भगवान् भी हमारी तरह मामूली ही सिद्ध हों, उनकी भगवत्ता ही क्या रह जाय। अत शास्त्र एव संत स्वयं कहते हैं कि चाहे उनकी कोई चेष्टा ऐसी हो कि जिससे जगत्को कम लाभ होता हुआ दीखे; पर निश्चय-निश्चय मान लीजिये कि इसी चेष्टासे इस समय अधिक लाभ होगा। यदि न होता तो वे वैसी चेष्टा करते ही नहीं, क्योंकि उनमे भ्रम-प्रमादकी गुंजाइश ही नहीं है। इसपर विश्वास करा देना बडा कठिन है, पर बात बिल्कुल सत्य है—शास्त्रकी है, मेरी नहीं। उन ऋषियोंकी बात है, जिनकी बाते त्रिकाल-सत्य हैं।

बिल्कुल उनकी कृपासे ही कोई उन्हें जान सकता है। मुझ-जैसे मलिन प्राणी तो संत एवं भगवान्के तत्त्वकी वास्तविक कल्पना भी नहीं कर सकते। बंगालकी बात है—हालकी ही। एक माई थी—विधवा हो गयी। पर भगवान्में उसका वात्सल्यभाव हो गया। फिर गोपालको पुत्र मानकर उसने तीस वर्षतक उपासना की। प्रतिदिन गोपालको भावनासे भोजन कराया करती थी। अब गोपालको दया आ गयी। एक दिन आये और सचमुच खाने लग गये। पर आधा खाकर ही भाग गये। वह तो प्रेमसे पगली हो गयी। 'गोपाल', 'गोपाल' चिल्लाती हुई मारी-मारी फिरती। उन्हीं दिनों रामकृष्ण परमहस नामके कलकत्तेमें एक बहुत बडे महात्मा हुए थे। कुछ लोग उन्हींके पास जा रहे थे। लोगोंने उस माईसे कहा—'चल, बुढिया! गोपाल वहाँ मिलेंगे।' वह तो पगली थी ही; थोडा चावल और नमक बाँध लिया कि गोपाल मिलेगा तो खिलाऊँगी। वहाँ पहुँची। लोगोंकी भीड थी। परमहस उपदेश कर रहे थे। तरह-तरहके उपहार, मिठाई, फल आदि लोग लाये थे। सब सामने रखा हुआ था। बुढ़िया गयी। परमहसको देखते ही बिल्कुल शान्त हो गयी। परमहंसने उपदेश बंद कर दिया। बोले—'मैया, मैं तो खिचडी खाऊँगा।' खिचडी बनी। बुढ़ियाको होश हो गया था। वह सोचने लगी कि 'मैं पगली हो गयी थी। ये महात्मा हैं, इनकी कृपासे अच्छी हो गयी हूँ।' इसको आज्ञा हुई—लोगोंने देखा बुढियाका अहो भाग्य है। बुढिया शरमायी, पर लोगोंने कहा—'परमहंस तुम्हारी खिचडी खाना चाहते हैं।' परमहंस रामकृष्ण भी पागलकी तरह ही रहते थे। बुढियाने खिचडी बनायी। पर सकोच था, केवल नमक-चावलकी खिचडी महात्माको कैसे खिलाऊँ। रामकृष्ण सभामण्डपसे उछले तथा कूदते-फाँदते वहाँ पहुँचे। 'मैया! खिला, भूख लगी है।' रामकृष्ण बैठ गये। बुढियाने परोस दिया। परोसते ही रामकृष्ण गोपालके रूपमें हो गये। बुढिया फिर गोपाल, प्यारा गोपाल—कहकर चिल्लाने लगी। उस दिनसे बुढ़िया एवं गोपालका सम्बन्ध नित्य हो गया।

कहनेका मतलब यह है कि एक नहीं, ऐसी कितनी घटनाएँ प्रत्यक्षमें होती हैं कि जिनसे सत एव भगवान् बिल्कुल अभिन्न हैं—यह तो सिद्ध हो ही जाता है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि ग्राहक नहीं है, इसीलिये संत उस रूपमें प्रकट नहीं होते। ऐसे-ऐसे सत हुए हैं कि जिन्होंने केवल एक दृष्टि डालकर मलिन-से-मलिन प्राणीमें उसी क्षण प्रेमका सचार कर दिया है।

एक बात और समझ लेनेकी है। संत एवं भगवान्-मे भेद न होनेपर भी जो प्रेमी संत होते हैं, उनमें 'प्रेमी' एवं 'प्रेमास्पद'—ये दो भाव रहते हैं।

जिस प्रकार राधारानी एव श्रीकृष्ण तत्त्वत एक हैं, पर फिर भी दोनों दो बने रहते हैं, उसी प्रकार प्रेमी सत भगवान्से अभिन्न होते हुए भी पृथक् बने रहते हैं। और जैसे राधारानीको प्रसन्न करनेका गुर श्रीकृष्णकी सेवा और श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेका गुर राधारानीकी सेवा है, वैसे ही भक्त और भगवान्का भी जोडा है।

४७. या तो सतकी अनुभूति सर्वथा मिटा दीजिये और उसकी जगहपर भगवान्की ऊँची-से-ऊँची कल्पना

जो आपके मनमें हो, उसके अनुसार, उसी भगवत्-सत्ताको अभिव्यक्त देखिये, अथवा भगवान्‌को भी भूल-कर सर्वथा एकाग्रचित्तसे एकमात्र यही उद्देश्य बना लीजिये कि संतके चरणारविन्दमें कैसे प्रेम हो। दोनोंका फल एक ही होगा। दोनोंको एक साथ ले चल सकें, तो भी एक बात है; पर इन दोनों बातोंके अतिरिक्त जो चीज है,—यह व्यवधान है, उसे हटा दीजिये। विषयासक्ति, लौकिक स्वार्थ, पारिवारिक मोह—ये व्यवधान हैं। जितनी श्रद्धा है, काफी है। यह नियम है कि वस्तुत संत यदि कोई हो तो उसमें श्रद्धाकी जरूरत नहीं है, उसकी ओर तो उन्मुख होनेकी जरूरत है। श्रद्धासे तो पत्थरकी मूर्ति भी कल्याण कर देती है। श्रद्धा न हो और फिर ऊँची-से-ऊँची चीज मिल जाय, यही महापुरुषकी विशेषता है। यहाँ फैसला श्रद्धाके तारतम्यसे नहीं होता, उन्मुखताके तारतम्यसे होता है। यही उन्मुखताका तारतम्य ही पारमार्थिक स्थितिके ऊँचे-नीचे स्तरकी प्राप्तिमें हेतु हो जाता है। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि आप संतके वास्तविक स्वरूपको जानें, बिना जाने सर्वथा अन्धकारमें ही रहकर यदि अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे तो स्थिति आपको वही मिलेगी, जो जाननेवालेको मिलेगी। जाननेवालेको कुछ विशेष मिले, यह बात नहीं है, उन्मुख कौन अधिक है—इस बातपर ही स्थिति निर्भर है। कोई भी हो, वह कितनी मात्रामें अपने-आपको मिटाकर उसकी जगह संतको बैठा देनेके लिये तैयार है—यह प्रश्न है। फिर वहाँ जो वास्तविक अभिव्यक्त अचिन्त्यशक्ति है, भगवत्-सत्ता है, वह उसको उस मात्रामें अपना लेगी। इसलिये उपर्युक्त दो बातोंमें एक बात कीजिये—मेरे कहनेसे नहीं,—सर्वथा शास्त्रीय प्रमाणको देखकर। 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'—सूत्रको रटकर संतके ढाँचेकी जगह भगवान्‌को देखिये। अथवा 'हे संत, हे संत, हे संत—' यह रट लगाकर बस, सर्वथा 'अनन्यममता विष्णौ' की जगह 'अनन्यममता संतचरणेषु'—कर लें। सच मानिये, एक ही फल मिलेगा।

मनुष्यका स्वाभाविक हृदय ऐश्वर्यप्रवण होता है और वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा—मान लें, किसीने संतकी जगह सर्वथा भगवान्‌को देखकर चलना प्रारम्भ किया—त्यों-त्यों स्वाभाविक ही उसके मनमें भगवत्-ऐश्वर्यका उदय होगा और वह सोचेगा कि ये सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं। पर इस सम्बन्धमें एक नियम याद रखना चाहिये, वह यह कि कल्याण-गुणताके अंशमें (अर्थात् जगत्-उद्धारकी क्रियाके सम्पादनरूप अंशमें) महापुरुषकी ज्यों-की-त्यों वही शक्ति है, जो शक्ति अवतारमें अभिव्यक्त होती है। परंतु ऐश्वर्यके प्रकाशकी शक्ति श्रद्धालुकी श्रद्धापर निर्भर है। ऐश्वर्यका प्रकाश केवल उस श्रद्धालुके लिये ही होगा कि जिसका सर्वथा संशयहीन विश्वास, परिपूर्ण विश्वास संतमें एकमात्र भगवान्‌के ही होनेका हो चुका है, जिसके मनमें जरा भी संतपनेकी अनुभूति अलग अवशिष्ट है, उसके लिये बेधड़क प्रकाश नहीं होगा। हमलोगोंमेंसे ऐसा अभी कोई नहीं है, जो किसी संतके प्रति सर्वथा इस श्रद्धाके स्तरपर पहुँचा हो। अतः उसे यह ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐश्वर्य-अंशमें भगवत्ताके प्रकाश अर्थात् सर्वज्ञता, सर्वसमर्थताकी अभिव्यक्तिकी ओरसे दृष्टि मोड़ ले। अन्यथा होगा यह कि उसकी श्रद्धाकी कमीके कारण इस शक्तिके प्रकाशमें उसे त्रुटि दीखेगी और वह फिर उधेड़-बुनमें पड़ेगा। इस भागवतीय नियमको याद रखना चाहिये। अवतारमें और भगवद्रूप संतमें, जो पहले जीवभावको लिये हुए जन्मे थे और फिर भगवत्-सत्तामें विलीन हो गये—(दोनोंमें) अन्तर यही है कि जो अनादिसिद्ध भगवान्‌का अवतार है, उसमें तो दोनों शक्तियोंकी अभिव्यक्ति अर्थात् कल्याणगुणता एवं ऐश्वर्यकी शक्तियोंका प्रकाश बिना श्रद्धाके ही होता है। पर सर्वोच्च संतमें केवल कल्याण-गुणता ही प्रकाशित होती है, ऐश्वर्य श्रद्धालुकी संशय-हीन श्रद्धा होनेपर ही कहीं प्रकाशित होता है।

कामके पत्र

(१)

श्रीराधा-कृष्ण—युगलस्वरूपकी उपासना

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करना। मेरा बाहरी जीवन बडा व्यस्त-सा रहता है, स्वभावदोष है—व्यस्तताके कारणोंको बटोरते रहनेका। इसके साथ ही स्वभावमें आलस्य-प्रमाद भी कम नहीं है, इसीसे पत्रोंका उत्तर लिखने-लिखानेमें देर हो जाया करती है। रोज-रोज सफाई भी क्या दूँ?

तुमने श्रीराधाकृष्ण-युगलस्वरूपकी मधुर रागमयी आराधनाके विषयमें पूछा सो यह विषय यद्यपि लिखने-पढ़नेका नहीं है, सलग्न होकर,—तन्मय होकर करनेका है और इसके जानने-बतलानेवाले भी विशेष अधिकारी ही होते हैं—मैं स्वय इसका पूरा जानकार नहीं, तथा करनेमें तो त्रुटि-ही-त्रुटि है—इसलिये इस विषयमें मेरा कुछ भी लिखना अनधिकार-चेष्टामात्र है, तथापि तुमने आग्रहसे पूछा है, और इसी बहाने प्रिया-प्रियतम श्री-राधा-माधवकी किंचित्स्मृति हो जायगी—यह समझकर कुछ लिख रहा हूँ। ध्यानसे पढ़ना और समझमें आये तो करनेका प्रयत्न करना।

यह निश्चय करना चाहिये कि एकमात्र श्रीराधा-कृष्ण ही मेरी परम गति हैं, वे ही एकमात्र मेरे प्राणोके आराध्य हैं, वे ही मेरे प्राणवल्लभ हैं। जैसे मछली जलको ही सब कुछ मानती है, जैसे चातक मेघको ही जानता है, जैसे सती एकमात्र पतिको ही पुरुषरूपमें पहचानती है, उसी प्रकार एकमात्र श्रीराधा-गोविन्द ही मेरे सर्वस्व हैं और श्रीराधा-गोविन्द-युगलके प्रेमसुधा-रस-सुख-सागरमें नित्य निमग्न होकर जो नित्य-निरन्तर उनके सुख-सविधान-रूप परिचर्यामें लगी रहती हैं—वे महाभाग्यवती व्रज-गोपियाँ ही मेरी प्राण हैं तथा मेरे जीवनकी कला हैं एवं परम आदर्श गुरु हैं। श्रीराधा-माधव—युगलकिशोरका अनिर्वचनीय अनन्त विश्वविमोहन मोहनरूप-सौन्दर्य कोटि-कोटि मदन और कोटि-कोटि रतियोंके निरुपम रूप-सौन्दर्यको सहज तिरस्कृत करता है, वस्तुतः उसके साथ किसीकी तुलना ही नहीं की जा सकती। श्रीनन्दनन्दन एवं श्रीवृषभानुनन्दिनी सच्चिदानन्द-सौन्दर्य-सुधानिधि हैं। वे अनन्तैश्वर्य, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त रससे परिपूर्ण हैं। श्रीराधा मानो दिव्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय स्वर्णकेतकी पुष्प हैं और श्रीश्यामसुन्दर दिव्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय नीलकान्तिमय समुज्ज्वल मरकत-मणि हैं। उनका अलौकिक प्रतिक्षण नवनवायमान परम मधुर रूपसौन्दर्य कल्पनातीत अनन्तानन्त सौन्दर्य-राशिका गर्व सतत खर्व कर रहा है। सर्वश्रेष्ठ नायक और नायिकाके शास्त्रवर्णित समस्त गुणोंकी सीमाको पार करके निःशेष निस्सीम अनन्त विचित्र मधुर गुणगण श्रीराधा-माधवमें नित्य विराजित हैं। दोनोंके ही गुणोंसे दोनों नित्य मुग्ध हैं। अश्रु-पुलकादि प्रेम-भावरूप आभूषणोंसे दोनोंके ही श्रीअङ्ग नित्य सुशोभित हैं। वे परस्पर एक-दूसरेके भावोंसे विभावित हैं। उन्होंने अपने सारे अङ्गों-अवयवोंमे मानो भावमय अलंकार धारण कर रक्खे हैं। वस्तुत. उनके परस्परके अन्तरगत दिव्य मधुर प्रेमोज्ज्वल भाव ही बाहर समस्त अङ्गोंमें आभामय अलंकारोंकी भाँति झिलमिला रहे हैं। श्रीराधिकाजीने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके प्रेममें मुग्ध होकर उनकी नीलवर्ण अङ्गकान्तिको अपने अङ्गका भूषण बनानेके लिये नीलवर्ण वसन पहन रक्खा है और श्रीश्यामसुन्दरने प्रियतमा श्रीराधिकाजीके प्रेममें मुग्ध होकर उनकी स्वर्णवर्ण अङ्गकान्तिको अपने अङ्गका भूषण बनानेके लिये पीतवर्ण वसन धारण कर रक्खा है। नीलचीरधारिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी और पीतवसनधारी श्रीश्यामसुन्दर दोनों ही अपने-अपने अन्तर के मधुरतम भावोंसे

एक दूसरेके प्रति लोलुप होकर जिस निरुपम निरुपाधि अवर्णनीय शोभा-सौन्दर्यको धारण किये हुए हैं, वह सर्वथा वर्णनातीत है। नित्य एक ही परम तत्त्व नित्य दो बनकर परस्पर मधुरतम सुख-सविधानमें सलग्न है।

इन्हीं श्रीराधा-माधवकी मधुर रागमयी आराधना करनी है। प्रेममयी तृष्णाका नाम 'राग' है। इस रागमयी भक्तिका साधन चार भावोंसे होता है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। भगवान् श्रीकृष्ण मेरे एकमात्र स्वामी हैं, मैं उनका दास या भृत्य हूँ—इस भावका नाम है 'दास्य' भावका भजन, श्रीकृष्ण मेरे सखा या बन्धु हैं, इस भावका नाम है'सख्य',श्रीकृष्ण मेरे पुत्र या पुत्रस्थानीय हैं इस भावका नाम है—वात्सल्य, और श्रीकृष्ण मेरे पति, स्वामी, प्राणवल्लभ हैं, मैं उनकी दासी हूँ—इस भावका नाम है 'मधुर'-भावका भजन। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्याम-सुन्दरके प्रेमकी प्राप्तिके लिये रागमार्गीय प्रेमी भक्तोंके अनुगत होकर दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन चार भावोंमेंसे किसी एक भावसे या अनुकूल मिश्रित भावोंसे भजन करना आवश्यक है।

भजनके दो प्रकार प्रधान हैं—विधिमार्ग और रागमार्ग। विधिमार्गके भजनको 'विशुद्ध ऐश्वर्यमय' या माधुर्यमिश्रित ऐश्वर्यमय कहा जा सकता है और रागमार्गका भजन 'विशुद्ध माधुर्यमय' है। विधिमार्गको ऐश्वर्यमार्ग कहा जाता है और रागमार्गको माधुर्यमार्ग। रागमार्गका सम्बन्ध व्रजके साथ है और विधिमार्गका ऐश्वर्यमय दिव्य धाम आदि तथा राजपुरियोंके साथ। जो सम्पूर्ण माधुर्यमय भगवान् नन्दनन्दनको या उनके दुर्लभ मधुर प्रेमको प्राप्त करना चाहते हैं, वे रागमार्गका भजन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये अनुभवी भक्तोंने पाँच भाव बतलाये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें शान्तके गुण दास्यमें, शान्त-दास्यके गुण सख्यमें, शान्त-दास्य-सख्यके गुण वात्सल्यमें और शान्त-दास्य-सख्य —चारोंके गुण मधुरभावमें रहते हैं। इससे मधुरभाव ही परिपूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ भाव है। व्रज-प्रेम-प्रणालीमे स्वतन्त्ररूपसे तो 'शान्त'भावका अस्तित्व ही नहीं है। दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये स्वतन्त्र भी रह सकते हैं, परतु इन सबमें मधुरभाव सर्वश्रेष्ठ है और इस परमश्रेष्ठ मधुरभावके भजनसे ही एकमात्र श्रीकृष्ण-सेवास्वादनकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो सकती है। यह मधुरभाव उन्हींमें प्रस्फुटित होता है, जो वैराग्यकी चरम सीमाको अतिक्रम कर चुके होते हैं—जिनमें गदे इन्द्रिय-भोग-सुखोंकी तो कोई कल्पना ही नहीं, मोक्ष-सुखका भी परित्याग हो जाता है। अपने लिये जहाँ कुछ रहता ही नहीं, 'अहं'की जहाँ सर्वतोभावेन सर्वथा विस्मृति या निवृत्ति हो जाती है और सुख एवं दु ख दोनों ही केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही स्वीकार किये जाते हैं, ऐसा विलक्षण मधुरतम भाव केवल श्रीव्रजगोपियोंमें ही पूर्ण एव विशुद्धरूपसे सदा सुप्रतिष्ठित रहता है। जो भक्त भगवान् श्रीकृष्णकी जिस भावसे आराधना करता है, भगवान् उसे उसकी वासनाके अनुरूप ही फल-प्रदान किया करते हैं। तभी वे भक्तके भक्ति-ऋणसे मुक्त होते हैं। परंतु इन मधुरभावापन्न व्रज-सुन्दरियोंके भावके अनुरूप फल भगवान् दे ही नहीं पाते। इनके भावके अनुकूल कुछ भी देनेका अर्थ है—अपने ही सुखको और बढ़ाना, अर्थान्तरसे इनके भजन-ऋणसे और भी दब जाना, क्योंकि गोपसुन्दरियोंके हृदयमें न किसी कामनाका संकल्प है, न तनिक भी आत्मसुखकी अभिलाषा है और न किसी वासनालेशका ही अस्तित्व है। उनका जीवन सहज ही केवल श्रीकृष्णसुखके निमित्त है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-निरन्तर व्रज-सुन्दरियोंके ऋणी बने हुए हैं। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

'गोपियो ! तुमने मेरे लिये गृहकी उन कठिन वेडियोंको तोड डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-तपस्वी भी नहीं तोड पाते । तुम्हारा यह आत्ममिलन निर्मल निर्दोष है । मैं देवताओंकी आयुमें भी तुम्हारा ऋण नहीं चुका सकता । तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे ऋणमुक्त कर सकती हो ।'

जीव कितनी भी उत्कृष्ट सुदुर्लभ वस्तु, स्थिति, मति या गति चाहे या प्राप्त करे, श्रीकृष्णप्रेम-धनके साथ किसीकी भी, किसी अशमें भी, तुलना नहीं हो सकती । वरं जबतक इन दूसरी-दूसरी वस्तु-स्थितियोंकी इच्छा रहती है, तबतक इस प्रेमके पवित्र भावका उदय होना भी कठिन होता है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

'भोग और मोक्षकी (प्रेमरसका उदय होनेसे पहले ही उसके भावामिलापरूप रक्तको पी जानेवाली) पिशाचिनी स्पृहा जबतक हृदयमें रहती है, तबतक हृदयमें उस प्रेम-सुखका उदय ही कैसे हो सकता है ?'

श्रीव्रजधामकी व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत श्रीराधा-माधव-की लीला बडे-बडे देवता और ऋषि-मुनियोंके लिये भी अगोचर है । जिसे प्राप्त करनेके लिये महान् ऐश्वर्यशाली शिव-ब्रह्मादि देवगण भी सदा समुत्सुक रहते हैं और जिसकी जरा-सी झाँकी पाकर ही वे अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, श्रीनारायणकी नित्य अङ्कशायिनी भगवती श्रीश्रीरमादेवी भी जिसके लिये नित्य लालायित रहती हैं, स्वयं ब्रह्मविद्या जिसकी प्राप्तिके लिये कल्पोंतक तपस्या करती है—उस दिव्य मधुरसुधामयी भगवत्-प्रेम-रस-लीलाके आस्वादनके लिये चित्तकी जो प्रबल और अदम्य लालसा होती है, उसीका नाम यथार्थमें 'मधुर प्रेम' है । यह मधुर प्रेम ही सर्वोपरि श्रेष्ठ और एकमात्र वाञ्छनीय है । यही प्रेमियोंका 'परम धन' है । इस धनकी अनन्य आकाङ्क्षा करके अनन्य साधन करते रहनेपर साधकको उसकी सिद्धावस्थामें इस परम अमूल्य प्रेमधनकी प्राप्ति हो सकती है ।

इस भजन-प्रणालीमें सबसे पहले आवश्यक है—असत्सङ्ग (धन, स्त्री, मानका और इनके सङ्ग) का परित्याग, इन्द्रिय-सुखकी वासनाका सर्वथा त्याग, जनससारमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी विरक्ति, निज-सुख—मोक्षतकके इच्छालेशका सर्वथा त्याग और अपनेको व्रजमें स्थित एक किशोर-वयस्का सुन्दरी गोपिकाके रूपमें अर्थात् मञ्जरी देहप्राप्त गोपकुमारीके रूपमें ले जाकर—मनसे ऐसा मानकर विशुद्ध रागमयी श्रीललितादि सखियों, श्रीरूप-मञ्जरी आदि मञ्जरियों एवं तदनुगा नित्यसिद्धा अन्यान्य व्रजदेवियोंमेसे किसी एकके अनुगत होकर उसके मधुर सेवाभावका अवलम्बन करके उक्त गुरुरूपा सखीके बायीं ओर रहकर निरन्तर सेवामें सलग्न रहना—अर्थात् मनमे ऐसा भाव, चिन्तन, धारणा या ध्यान करना कि 'मैं एक किशोरवयकी परमा सुन्दरी गोपकुमारी हूँ, मेरे हृदयमें इन्द्रियसुखकी, नाम-कीर्तिकी, लोक-परलोककी या भोग-मोक्षकी—किसी भी वासनाका लेश भी नहीं है, श्रीराधा-माधवका सुख-सेवा-रसास्वादन ही मेरा स्वभाव है और मैं अपनी इन गुरुरूपा नित्यसिद्धा सखीके वामपार्श्वमें रहकर उनकी अनुगता होकर सदा-सर्वदा श्रीराधा-माधव-की यथोचित सेवामें सलग्न हूँ ।'

बाह्यरूपमे जीभसे सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण-नामका मधुर जप और ससारके समस्त भोग-पदार्थोंसे नित्य उपरामताका अभ्यास बना रहना चाहिये ।

श्रीराधा-कृष्ण—युगलरूपकी मधुर रागमयी आराधनाका यह एक सक्षिप्त सकेतमात्र है । शेष भगवत्कृपा ।

(२)

श्रीभगवन्नाम और भगवत्कथाका माहात्म्य

प्रिय महोदय, सादर सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला । आपने भगवन्नाम तथा भगवान्‌की

लीलाकथाका माहात्म्य लिखनेके लिये अनुरोध किया, सो आपकी बड़ी कृपा है। भगवन्नाम तथा भगवत्कथाकी महिमा वैसे ही अनन्त और अनिर्वचनीय है, जैसे भगवान्‌के स्वरूपकी। सम्पूर्ण शास्त्र तथा संत-महात्माओंकी वाणी इनके माहात्म्यसे पूर्ण है। मुझ-सरीखा प्राणी इनके माहात्म्यका क्या वर्णन कर सकता है। अनन्त और असीमका वर्णन क्षुद्रतम, सान्त तथा ससीमके द्वारा कैसे सम्भव है! तथापि कुछ वचन यहाँ उद्धृत कर देता हूँ, इन्हें अर्थवाद न मानकर यथार्थ सत्य मानना और इनसे लाभ उठाना चाहिये।

सर्वपापप्रशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्।
सर्वदुःखक्षयकरं हरिनामानुकीर्तनम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'श्रीहरि-नाम-संकीर्तन समस्त पापोंका नाश करनेवाला, समस्त उपद्रवोंको शान्त करनेवाला और सारे दुःखोंको दूर करनेवाला है।'

परिहासोपहासाद्यैर्विष्णोर्गृह्णन्ति नाम ये।
कृतार्थास्तेऽपि मनुजास्तेभ्योऽपीह नमो नमः॥
(विष्णुधर्मोत्तर०)

'दिल्लगी या निन्दा आदिके बहाने भी जो भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हैं, वे भी कृतार्थ हैं, उन मनुष्योंको भी बार-बार नमस्कार है।'

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
(स्कन्दपुराण)

"जिस मनुष्यने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण कर लिया, उसने मोक्ष पानेके लिये कमर कस ली है।"

गोविन्देति तथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः।
दहते सर्वपापानि युगान्ताग्निरिवोत्थितः॥
(स्कन्दपुराण)

'प्रलयकालकी अग्नि प्रज्वलित होकर जैसे समस्त विश्वको भस्म कर डालती है, वैसे ही भक्तिसे या बिना भक्तिके ही उच्चस्वरसे उच्चारण किया हुआ 'गोविन्द' नाम समस्त पापोंको भस्म कर देता है।"

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(श्रीमद्भागवत)

'संकेतसे, परिहाससे, आलाप-पूर्तिके लिये या अवहेलनासे—किसी भी प्रकारसे उच्चारण किया हुआ भगवान्‌का नाम समस्त पापोंका नाश कर देता है।'

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा।
यन्न क्षपयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनम्॥
(स्कन्दपुराण)

'इस कलियुगमें कर्मजनित, वाणीजनित और मानस—ऐसा कोई पाप नहीं है, जो 'गोविन्द'-नामके कीर्तनसे नष्ट न हो जाय।'

नित्यं कृष्णकथा यस्य प्राणादपि गरीयसी।
न तस्य दुर्लभं किंचिदिह लोके परत्र च॥
(स्कन्दपुराण)

'जिसको श्रीकृष्णकी कथा नित्य प्राणसे भी बढ़कर प्रिय लगती है, उसे इस लोक और परलोकमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।'

अहो हरिकथा लोके पापघ्नी पुण्यदायिनी।
शृण्वतां ब्रुवतां चैव तद्भावानां विशेषतः॥
(नारदपुराण)

'अहो, इस जगत्‌में हरिकथा सुनने तथा कहनेवाले मनुष्योंके समस्त पापोंका नाश और उन्हें पुण्योंकी प्राप्ति होती है। भावपूर्वक सुनने-कहनेसे विशेषरूपसे पाप-नाश और पुण्य-प्राप्ति होती है।'

तेषां क्षीणं महत् पापं वर्षकोटिशतोद्भवम्।
विप्रेन्द्र नास्ति संदेहो ये शृण्वन्ति हरेः कथाः॥
(स्कन्दपुराण)

'ब्रह्माजी कहते हैं हे विप्रश्रेष्ठ! जो हरि-कथाका श्रवण करते हैं, उनके सौ करोड़ वर्षोंमें किये हुए महा-

पाप भी नष्ट हो जाते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥
(श्रीमद्भागवत)

'विष्ठा खानेवाला सूअर जैसे सुमिष्ट खाद्यको छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही जो भगवान् अच्युतकी कथा-सुधाका त्याग करके असत्-गाथाओं विषय-वार्ताओंको सुनते हैं, वे उस सूअरके ही समान हैं। वे दैवके द्वारा मारे जा चुके हैं।'

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
(श्रीमद्भागवत)

'धर्मोंका सुन्दररूपसे अनुष्ठान करनेपर भी यदि उसके द्वारा भगवान्की कथामें रति नहीं उत्पन्न होती तो वह केवल परिश्रममात्र है।'

मत्कथावाचकं नित्यं मत्कथाश्रवणे रतम्।
मत्कथाप्रीतमनसं नाहं त्यक्ष्यामि तं नरम्॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

भगवान्ने कहा—'अर्जुन ! मेरी कथा बाँचनेवाले, मेरी कथाके सुननेमें रति रखनेवाले तथा मेरी कथासे प्रसन्न होनेवाले मनुष्यका मैं कभी त्याग नहीं करता।'

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥
राम कथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥
शेष भगवत्कृपा।

गोहत्या तथा हिंसाको प्रोत्साहन क्यों ?

[पश्चिमीय सभ्यता और शिक्षाका भयानक दुष्परिणाम]

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

प्राचीन कालमें मिस्र, यूनान, मैसोपोटामिया और बैबीलोनियाकी सभ्यताएँ और धर्म विशेष स्थान रखते थे। पर आज उनकी सभ्यताके चिह्न वहाँके बसनेवाले लोगोंमें नहीं, पत्थरके टुकड़ोंपर खुदे हुए या आधुनिक इतिहासज्ञोंद्वारा लिखी पुस्तकोंमें मिलते हैं। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति मिस्र, यूनान आदि देशोंसे हजारों वर्ष पहलेकी होनेपर भी गङ्गाकी धाराकी तरह देशके जन-जनके हृदयमें प्रवाहित रही है और आज भी निर्मूल नहीं हुई है। हूण, शक, यवन तथा मुसल्मानोंने डेढ़ हजार वर्षतक देशपर आक्रमण किये, हिंदू-धर्मको नष्ट करनेकी कोशिश की, पर वे सफल न हो सके।

लार्ड मैकालेका सफल प्रयत्न

अंग्रेजोंने कुछ दिन रहनेके बाद अनुभव प्राप्त करके भारतीय संस्कृतिपर सफल कुठाराघात करनेका श्रीगणेश किया। किसी भी जाति और धर्मका ह्रास और विनाश तलवार और तोपोंसे नहीं, शिक्षा और साहित्यको विषैला बनानेसे ही वस्तुतः होता है। सर्वप्रथम लार्ड मैकालेने इस प्रश्नकी ओर ध्यान देते हुए लिखा—'हमें भारतमें इस तरहकी एक श्रेणी पैदा करनेका भरसक प्रयत्न करना चाहिये, जो केवल रक्त और रंगकी दृष्टिसे हिंदुस्तानी हो, किंतु जो अपनी रुचि, भाषा, भावों और विचारोंकी दृष्टिसे अंग्रेज हो।' उस समयके गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंकने मैकालेके विचारोंका समर्थन करके इस कार्यको आरम्भ कराया। प्रसिद्ध इतिहासलेखक प्रोफेसर एच०-एच० विलसनने पार्लमेंटकी सिलेक्ट कमेटीके सामने कहा—

'वास्तवमें हमने अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी एक पृथक् जाति बना दी है, जिन्हें कि अपने देशवासियोंके साथ या तो जरा भी सहानुभूति नहीं है और यदि है तो बहुत ही कम।' सर चार्ल्स ट्रैवेलियमने 'शिक्षाप्रणालियोंके राजनीतिक परिणाम' शीर्षक एक पत्रमें लिखा—

'हमारी-सी शिक्षा, रुचि और रहन-सहनके कारण

इन लोगोंमे भारतीयता कम होती जा रही है और अग्रेजियत अधिक आ रही है ।'

यह ठीक है कि देशके कुछ पश्चिमीय शिक्षाप्राप्त लोगोंने स्वतन्त्रता-आन्दोलनमें सहयोग दिया । पर पश्चिमीय शिक्षा और सभ्यताके दुष्प्रभावके कारण देश-की एक बहुत बडी सख्यामें हिंदूधर्म और सस्कृतिके प्रति दुर्भावना उत्पन्न हो गयी । जिस हिंदूधर्मको औरगजेब और महमूद गजनवी समाप्त नहीं कर सके, आज हजारों लोग, जिन्होंने हिंदू-घरोंमें जन्म लिया, इस प्राचीन और मानवधर्मकी भावनाको नष्ट करनेपर तुले हुए हैं । सरकार ही नहीं, सनातनधर्म, आर्यसमाज और जैनधर्म-को माननेवाली शिक्षा-सस्थाओंसे प्रतिवर्ष बहुसख्यक ऐसे लोग निकलते हैं, जिन्हें हिंदू कहलानेतकमें लज्जा आती है, जो गोवध और हिंसाका खुला समर्थन करते हैं । धर्मके नामसे चलनेवाली कितनी ही सस्थाएँ उन लोगोंको सहयोग देती है, जो गोहत्याके समर्थक और हिंदुत्वके विरोधी हैं ।

गोरक्षा तथा अहिंसा

गौ 'हिंदू-सस्कृति'की प्रतीक और हिंदूधर्मका मानबिन्दु है । अहिंसा हमारे धर्मका साधारण लक्षण ही नहीं, लौकिक और पारलौकिक सुखका परम साधन और मुक्तिका सफल सोपान भी है । पश्चिमीय सभ्यता और शिक्षाके कारण हिंदूधर्मके सिद्धान्तोंको जो हानि पहुँच रही है, विस्तारभयसे उन सबका वर्णन न करके आज गौपर कितनी विपत्ति है और हिंसाको कितना प्रोत्साहन दिया जा रहा है—इस विषयमें कुछ निवेदन किया जा रहा है ।

हिंदू-राजत्वकालमें ही नहीं, मुसलमानोंके समयमें भी इतनी अधिक गोहत्या और अहिंसा नहीं थी, जितनी आज है । अंग्रेजी-राज्यसे पूर्व उत्तर भारतमें बादशाह बाबरसे लेकर बहादुरशाहतक तीन सौ वर्षतक गोहत्या बंद रही । दक्षिण भारतमें नवाब हैदरअलीने गोहत्यारे-के हाथ काट देनेका नियम बनाया । मुसलमान बादशाहों-ने गोहत्याको बद ही नहीं किया, गोचरभूमियाँ छोडीं और नस्लसुधारपर भी विशेष ध्यान दिया । उत्तर भारत-की प्रसिद्ध हरियाना और दक्षिण भारतकी अमृतमहल नस्लें मुसलमान राज्यकी ही देन हैं ।

इटालियन यात्री पीटर डिलवेलने, जो १६२३ में यहाँ आया था, लिखा है—'गोमास खाना सबके लिये वर्जित है, यह महापाप समझा जाता है ।' खम्भातमें गोहत्यारेको देहान्त-दण्ड दिया जाता था । कितने ही प्रसिद्ध विदेशी यात्रियोंने लिखा है, प्राय· गाँव और नगरोंमें अण्डा, मास और मछलीतक नहीं मिलते थे ।

सन् १८५७ का विद्रोह अग्रेजोंद्वारा पुन. गोवध जारी करने और कारतूसोंमें गायकी चर्बी लगानेके कारण हुआ । अंग्रेजोंने गदरमें सफलता प्राप्त करनेके बाद गायकी खालोंके व्यापारको प्रोत्साहन दिया, गायके नामसे मुसलमान और हिंदुओंके बीच एक दीवार खडी कर दी । वेद और शास्त्रोंतकपर झूठे दोषारोपण करके कितने ही हिंदुओंको गोहत्याका समर्थक बना दिया । फिर भी जनताके हृदयसे अग्रेज गोरक्षाकी भावना सर्वथा नष्ट न कर सके । सन् १८७१-७२ में गोरक्षाके लिये कितने ही नामधारी सिक्ख फाँसी चढ़े, तोपोंसे उड़े । १९१८ में हरिद्वारके निकट कटारपुरमें गायोंके प्राण बचानेके लिये सघर्ष हुआ । आठ गोभक्तोंको फाँसी तथा १३५ को कालापानीका दण्ड दिया गया ।

नेताओंकी गोभक्ति तथा अहिंसा

सन् १९२१ की गोपाष्टमीको दिल्लीके पाटौदीहाउस-के सम्मेलनमें काग्रेसी नेताओंने गोहत्याके प्रश्नको लेकर अंग्रेजी-राज्यसे असहयोग करनेका प्रस्ताव पास कराया । प० जवाहरलालजी नेहरूने १९३४-३५ में जो 'मेरी कहानी' पुस्तक प्रकाशित की, उसके पृष्ठ ३९२ पर

हिंदुओंके नरम और अहिंसक होनेका कारण उनका आदर्श गाय बतलाते हुए लिखा है—

'भिन्न-भिन्न देशवालोंने भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियोंको अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा या अपने चारित्र्यका प्रतीक बनाया है। उकाब संयुक्त राज्य अमेरिकाका और जर्मनीका सिंह, बुलडाग इग्लैंडका, लडते हुए मुर्गे फ्रासका और भालू पुराने रूसका प्रतीक है। सवाल यह है कि ये सरक्षक पशु-पक्षी राष्ट्रिय चारित्र्यको किस ओर ले जायँगे ? इनमेंसे ज्यादातर तो आक्रमणकारी, लडाकू और शिकारी जानवर हैं। ऐसी दशामें यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि जो लोग इन नमूनोंको सामने रखकर अपना जीवन-निर्माण करते है, वे जान-बूझकर अपना स्वभाव वैसा ही बनाते हैं, आक्रामक रुख स्वीकार करते हैं, दूसरोंपर गुर्राते हैं, गरजते हैं और झपट पडते हैं। और यह भी आश्चर्यकी बात नहीं है कि हिंदू नरम एवं अहिंसक हैं, क्योंकि उसका आदर्श पशु है गाय।'

महात्मा गाधीजीने लिखा है—

१—बाजारमें बिकने आनेवाली तमाम गायें ज्यादा-से-ज्यादा कीमत देकर राज्य खरीद ले। तमाम बूढ़े, लूले, लँगडे और रोगी ढोरोंकी रक्षा राज्यको ही करनी चाहिये। (१७–७–१९२७)

२—गायकी रक्षा करो, सबकी रक्षा हो जायगी। (१–२–१९४२)

३—गोरक्षाके साथ हिंदू-मुसलमानकी एकताका निकट सम्बन्ध है। (२०–४–१९२४)

४—मैं मुसलमानोंके लिये जहाँतक हो सके, दु ख सहन करनेको तैयार हुआ, उसका कारण स्वराज्य मिलनेकी छोटी बात तो थी ही, गायको बचानेकी बडी बात भी उसमे थी। (२५–१–१९२५)

५—हिंदुस्तानमें हिंदुओंके साथ रहकर गोवध करना हिंदुओंका खून करनेके बराबर है, और कुरान कहता है पडोसीका खून करनेवालेको जन्नत नहीं मिलती। (२५–१–१९२१)

लोकमान्य श्रीबाळ गगाधर टिळकने स्वराज्य होते ही गोहत्या-निषेधकी बात कही। काग्रेसने स्वराज्य प्राप्त करनेका एक मुख्य साधन अहिंसा रक्खा तथा बड़ी-बडी सभाओंमें अहिंसाकी घोषणा की गयी। आज भी सरकारी राष्ट्रध्वजमें अहिंसक राजा अशोकका चक्र-चिह्न रखकर अहिंसाको विशेष महत्त्व दिया गया है।

स्वराज्यके दस वर्ष

जनताको पूरा-पूरा विश्वास था कि स्वराज्य होते ही गोहत्या बद हो जायगी, अहिंसाको पूर्ण प्रोत्साहन मिलेगा। पर महात्मा गाँधीजीके सुझाव—'अग्रेजोंसे द्वेष न करके अग्रेजियतको दूर करो' की उपेक्षा की गयी। अग्रेज तो गये, पर अग्रेजियत या पश्चिमीय सभ्यता और शिक्षाकी उपेक्षा नहीं की गयी, बल्कि उसे विशेष प्रोत्साहन दिया गया। बडे-बडे नेता बार-बार पश्चिमीय सभ्यता तथा शिक्षाकी मौखिक भर्त्सना करते हैं, पर अमल नहीं। लार्ड मैकालेका स्वप्न अग्रेजी राज्य-कालमें तो अधूरा ही रहा, पर आज वह मूर्तरूप धारण करके हमारे जीवनका अङ्ग बन गया है।

सभ्यताकी श्रेष्ठताका परिणाम केवल क्षणिक भौतिक सुख या दिखावेसे नहीं, मानसिक सुख और शान्तिसे ही निकाला जा सकता है। अमेरिका, इग्लैंड, फ्रास, जर्मनी आदि देश जो सैकड़ों वर्षोंसे पश्चिमीय सभ्यता-के केन्द्र रहे हैं, वहाँके लोगोंने इस सभ्यतासे सुख और शान्ति प्राप्त नहीं की, वर अणुबम, परमाणुबम आदि ऐसे आयुध तैयार किये, जो उनके अपने तथा मानवताके लिये भयकर खतरा हैं। यह है पश्चिमीय सभ्यताका सैकडों वर्षका निष्कर्ष।

भारतके कुछ प्रभावशाली लोग यह जानते हुए भी

कि पश्चिमीय सभ्यताकी उपज अणु तथा परमाणुबम ही नहीं, उनके अनुभव भी घातक हैं, पश्चिमीय सभ्यता एवं शिक्षा शान्तिका कारण नहीं हो सकतीं, भारत-जैसे अहिंसाकी संस्कृति रखनेवाले देशमें—जो धर्म तथा संस्कृतिप्रधान रहा है—गोहत्या और हिंसाको प्रोत्साहन दे रहे हैं, जिसके कुछ निम्नलिखित उदाहरण हैं।

यह ठीक है कि संसारके बहुसंख्यक देशोंमें मांस-भोजियोंपर प्रतिबन्ध नहीं; पर कितने ही देशोंमें, विशेषतया भारतमें कभी भी राज्यस्तरपर न तो गोहत्याको प्रोत्साहन दिया गया और न हिंसाको ही बढाया गया। पर आज जिस सरकारको गोरक्षा तथा अहिंसाकी भावना रखनेवाले करोडों लोग तरह-तरहके टैक्स तथा अन्य सहयोग देते हैं, वह भारत-सरकार सरकारी स्तरपर भी गोहत्या तथा हिंसाको प्रोत्साहन दे रही है।

१—केन्द्रीय सरकारके 'कृषि तथा खाद्य मन्त्रालय'ने मांसबाजार-रिपोर्ट १९५६ द्वारा मांसका उत्पादन तथा प्रचार बढ़ाने और गोहत्या जारी रखनेका सुझाव दिया।

२—स्वास्थ्य-मन्त्रालयने फरवरी १९५५ के पत्रद्वारा राज्यसरकारोंको पशुओंके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे दवा तैयार करनेकी आज्ञा दी।

३—द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनामें मछलीके लिये बारह करोड तथा मुर्गी-पालनेके लिये तीन करोड रुपया खर्च करनेकी योजना बनायी गयी तथा गोहत्या-निषेध-कानूनों-के मार्गमें रुकावट डाली गयी।

४—अहिंसक भारतने १९५५-५६ में पशुओं तथा अन्य जीवोंद्वारा प्राप्त ३७,८८,७६,०७९ रुपयेकी गाय-बैल आदिकी खालें, हड्डी, गोमांस, मछली आदिका निर्यात किया।

५—भारत-सरकारकी 'राष्ट्रिय आयसमिति १९५४' की रिपोर्टके अनुसार देशमें २२ करोड़ रुपयेका गोमांस, ९ करोडका भैंसमांस, ४४ करोड़ रुपयेका बकरी-भेड़का मांस तथा ३६ करोड रुपयेकी मछली तैयार हुई।

६—१९५३-५४ में २५ लाख रुपयेकी गोवंशकी आँतें विदेश भेजी गयीं। १९५५-५६ में ४७ लाख रुपये मूल्यकी निर्यात की गयीं।

७—देशमें चारे-दानेकी ठीक व्यवस्था नहीं, फिर भी सरकारद्वारा गोचरभूमियोंको तुड़वाना तथा दाने-खलीका निर्यात होता रहा है।

८—निर्दयी तथा हिंसक अनुभवोंके लिये अमरीका आदि देशोंको १९५३ में बीस हजार तथा १९५७ में ढाई लाख बंदर भेजे गये।

९—गोवंशको निकम्मा बनाकर नष्ट करनेवाले वनस्पति घी, निर्घृत दुग्धचूर्ण आदिको प्रोत्साहन दिया जाता रहा।

१०—विद्यार्थियों तथा नवयुवकोंमें शिक्षण-संस्थाओं-द्वारा मांस-अण्डे आदिको प्रोत्साहन तथा श्रीसुरेन्द्रकुमार दे और श्रीपजाबराव देशमुख-जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्यके मन्त्रियोंद्वारा अण्डे-मांस आदिका सार्वजनिक प्रचार।

११—सरकारी शिक्षाविभागद्वारा बनायी 'साहित्य अकादमी'द्वारा अहिंसाके अवतार भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीरपर मांसाहार और ब्राह्मणोंपर गोमांस-भक्षणका मिथ्या दोषारोपण करनेवाली 'भगवान् बुद्ध' पुस्तिका प्रकाशित की गयी, जिससे धार्मिक जनतामें भी मांस तथा गोमांसको प्रोत्साहन प्राप्त हो।

उपर्युक्त तथ्योंसे सिद्ध है कि देशमें जनतन्त्र तथा धर्मनिरपेक्ष सरकार होते हुए भी करोडों लोगोंकी धार्मिक भावनाको ठेस पहुँचानेवाले, गोहत्या और हिंसाको बढ़ानेवाले कुकृत्य हो रहे हैं। इनका जिम्मेवार कोई व्यक्तिविशेष नहीं है, वर यह पश्चिमीय सभ्यता तथा शिक्षाका दुष्परिणाम है। जो सज्जन और संस्थाएँ हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृतिको जीवित रखना चाहते हैं, वे निम्नलिखित प्रार्थनापर ध्यान दें।

१—अपने जीवन तथा निजी एवं सार्वजनिक कार्योंमें हिंदूधर्म तथा भारतीय संस्कृतिको महत्त्वपूर्ण स्थान दें।

२—कालेज तथा स्कूलोंको पश्चिमीय सभ्यता तथा शिक्षाके दुष्प्रभावसे बचानेका प्रयत्न हो। अबतकके

अनुभवके अनुसार यदि ऐसा न हो सके तो कम से-कम सनातनधर्म, आर्यसमाज, जैन आदि धार्मिक संस्थाओंके नामसे चलनेवाले इन पश्चिमीय सभ्यताको दृढ़ और स्थायी बनानेवाले विद्यालयोंके प्रति जनता उपेक्षा करे तथा हिंदूधर्म और भारतीय संस्कृतिके अनुरूप शिक्षाकी व्यवस्था की जाय। धार्मिक विचारके जो सज्जन अपने कालेज और हाई स्कूल चलाते हैं या उन्हें विशेष सहायता देते हैं, वे भी कृपया इधर ध्यान दें।

३–जो लोग हिंदूधर्म तथा भारतीय संस्कृतिकी अवहेलना करते, पश्चिमीय सभ्यता और शिक्षाको प्रोत्साहन देते हैं, उन्हें धार्मिक तथा सांस्कृतिक कार्योंमें महत्त्व न दें।

४–धार्मिक पर्वों, तीर्थों, त्यौहारों आदिको सात्त्विक एवं शास्त्रीय पद्धतियोंसे मनानेको प्रोत्साहन दिया जाय।

हिंदू-संस्कारों तथा भारतीय संस्कृतिका प्रचार बढ़ानेके लिये स्वाभाविक उपायोंसे जनमत जाग्रत् और संगठित किया जाय।

भगवान्‌की सोलह कलाएँ

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

बहुधा लोग यह प्रश्न करते हैं कि 'भगवान्‌की सोलह कलाएँ कौन-कौन-सी हैं? भगवान् श्रीकृष्णकी सोलह कलाएँ कौन-कौन थीं। भगवान् राममें वे कौन-सी चार कलाएँ कम थीं, जिनके कारण उन्हें बारह कलाका अवतार कहा जाता है?' इत्यादि। अतः इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ शास्त्रोंके मत प्रकट किये जाते हैं।

वेदोंमें भगवान्‌को 'षोडशकला' कहा गया है। प्रश्नोपनिषद्‌की श्रुति कहती है—'सौम्य! वह पुरुष जिसमें सोलह कलाएँ हैं, इसी शरीरके भीतर वर्तमान है—

'इहैवान्तःशरीरे सोम्य! पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति।' (६। २)

इसी उपनिषद्‌की दूसरी श्रुति कहती है कि जिसमें—रथकी नाभिमें अरोंके समान—सम्पूर्ण कलाएँ प्रतिष्ठित है, उस ज्ञातव्य पुरुषको जानो, जिससे मृत्युके समय तुम्हें कष्ट न हो—

'अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः॥'
(६। ६)

शतपथ ब्राह्मणकी श्रुति कहती है—

'प्रजापतिः षोडशकलः। तस्य रात्रय एव पञ्चदश कलाः। ध्रुवैवास्य षोडशी कला।'
(१४। १३। २२)

अर्थात् कालात्मा प्रजापतिकी सोलह कलाएँ हैं—उभयपक्षकी पंद्रह रात्रियाँ पंद्रह तथा ध्रुव इसकी सोलहवीं कला है। इसीके 'पुरुषमेध'-प्रकरणमें पुरुषसूक्तके सोलह सूक्तोंसे षोडशकलात्मक पुरुषकी स्तुतिका उल्लेख है—'षोडशर्चेन षोडशकलम्' (१२। ४। १२)। षोडशीतन्त्रमें भी आता है कि भगवान् शिवमें सोलह कलाओंका पूर्णरूपेण विकास हुआ है, अतएव उनकी शक्तिका नाम षोडशी है[1]।

ये सोलह कलाएँ कौन-कौन हैं—इस सम्बन्धमें श्रुतियोंका कथन है कि प्राण, श्रद्धा, व्योम, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये ही सोलह कलाएँ हैं। (प्रश्न० ६। ४) अन्यत्र ब्रह्मके प्रकाशवान् पादकी प्राची आदि चार दिशाएँ, अनन्तवान् पादकी पृथ्वी, द्यौः, समुद्र, अन्तरिक्ष, ज्योतिष्मान् पादकी अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् तथा आयतवान् पादकी प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन—इन चार-चार कलाओंको ही सोलह कला बतलाया गया है।

---

१. तन्त्र-ग्रन्थोंमें कामेश्वरी, भगमालिनी, नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महाविद्येश्वरी, शिवदूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनिका, चित्रा तथा त्रिपुरसुन्दरी—ये तिथियोंकी अधिष्ठात्री सोलह कलाएँ बतलायी गयी हैं।

श्रीमद्भागवतमें—

षोडशकलाय छान्दोमयाय (५ । ११ । १८)
'सम्भूतं षोडशकलं (१ । ३ । १)
षोडशात्मा (५ । ११ । ५)

इन श्लोकोंकी टीकामें श्रीधर स्वामी आदि भागवतके टीकाकारोंने—

'एकादशेन्द्रियाणि पञ्च भूतानि इति षोडश कला अंशा यस्मिन्' ।

—ऐसा अर्थ किया है । अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत—ये सोलह कलाएँ—अर्थात् अंश जिसमें हों, वह षोडशकलात्मक पुरुषावतार है ।

कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके षोडशकलामय पूर्णावतार तथा श्रीरामचन्द्रजीके द्वादशकलात्मक अवतार होनेकी बात भी कहते हैं । इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका भी सुनी जाती है । कहते हैं, एक बार वृन्दावन जानेपर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजसे किसीने श्रीकृष्णके सोलह कलापूर्ण तथा श्रीरामके बारह कलायुक्त अवतार होनेकी बात कही । इसपर गोस्वामीजीने कहा कि 'मैं तो अबतक रामको एक राजपुत्र समझकर ही उनकी उपासना करता था, किंतु तुमने तो उन्हें बारह कलाका अवतार भी बना दिया, यह तो और उत्तम बात हुई ।' यह विनोदमय प्रसङ्ग कहाँतक सत्य है, यह तो भगवान् जानें; किंतु तत्त्वतः गोस्वामीजीको यह सिद्धान्त कदापि मान्य न था । रामचरितमानसमें अर्धनारीश्वर भगवान् शङ्करद्वारा उन्होंने 'तुम जो कहा राम कोउ आना' इस प्रश्नपर भगवती पार्वतीजीको बड़ी खरी-खोटी सुनवायी है । उनके मतसे तो निरञ्जन अजन्मा निर्गुण निराकार व्यापक पूर्ण परात्पर ब्रह्म ही प्रेमासक्तिवश कौसल्याके गोदमें प्रकट हुआ था । उनके अंशसे 'अगणित शम्भु विष्णु भगवान्'की उत्पत्ति होती है । वे 'दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन । सारद कोटि अमित चतुराई, बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई, बिष्नु कोटि सम पालनकर्ता । तथा रुद्र कोटिसत सम संहर्ता ॥' हैं । गोस्वामीजीके मतसे उन्हें साक्षात् परब्रह्मसे तनिक भी न्यून माननेवाला मोह-पिशाचग्रस्त, अज्ञ, अकोविद, अंधा, अभागी, लम्पट, कपटी, कुटिल, बातुल, भूतवश तथा मद्यमोहरूपी मद पीकर मतवाला बना है; उसकी बात सुननेयोग्य नहीं है । (रामचरितमानस, बालकाण्ड ११४-११६ दोहा)

कुछ लोग 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इस श्रीमद्भागवत-(१ । ३ । २८)—वचनसे श्रीकृष्णकी अधिक भगवत्ता सिद्ध करते हैं । पर भागवतकारकी दृष्टिमें ऐसी बात नहीं है । वहाँ 'एते चांशकलाः पुंसः'का सम्बन्ध ऋषि, मुनियों, मनुओं, प्रजापतियों तथा तेजस्वियों एवं मनुपुत्रोंसे है[1] । भगवान् श्रीरामको तो उन्होंने सभी कलाओंका स्वामी—'कलेशः' (२ । ७ । २३) तथा विशुद्धानुभवमात्र, अनामरूप, प्रत्यक् चैतन्य एवं आदि पुरुष कहा है । (७ । १७) । श्रीधरस्वामीने भी भागवतकी टीकाका श्रीगणेश करते हुए 'नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय' द्वारा उनके नमस्कारसे ही मङ्गलाचरण किया है तथा जगह-जगहपर श्रीरामप्रति अद्भुत प्रेम दिखलाया है । सच्ची बात तो यह है कि भागवतकारके 'कला' तथा 'अंश' शब्दोंसे कोई छोटे भावकी व्यञ्जना नहीं होती । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी—

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः,
(२ । ७ । २६)

'तत्रांशेनावतीर्णस्य' (१० । १ । २), 'अवतीर्णोऽशभागेन (१० । १० । ३५) तथा १० । २ । ९, १६; १० । ३३ । २०; १० । ३८ । ३२)

[1] वाल्मी० रामायण, अरण्यकाण्डके ४० वें सर्गके ३०-वें श्लोककी 'तिलक' टीकामें तिलककार नागोजी भट्टने इस विषयपर विस्तृत विवेचन किया है, पाठकोंको उसे देखना चाहिये ।

आदिमें 'कला' तथा 'अंशमें' उत्पन्न होनेकी बात लिखी है। फिर जिस प्रकार श्रीकृष्णोपासनाका प्रधान ग्रन्थ होनेसे भागवतमें 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा है, उसी प्रकार 'आदि-रामायण', 'आनन्द-रामायण' आदि रामोपासनाप्रधान ग्रन्थोंमें 'रामस्तु भगवान् स्वयम्।' भी (आ० रा०)

'कृष्णोऽशांश एवास्य वृन्दावनविभूषणः।
एते चांशकलाश्चैव रामस्तु भगवान् स्वयम्॥'
(आदिरामायण पूर्वखण्ड ८। १८)

उपर्युक्त शब्दोंमें भगवान् रामको साक्षात् भगवान् कहा है। अतः इसका तात्पर्य उपास्यकी स्तुतिमें ही पर्यवसित होता है, दूसरोंकी न्यूनतामें इन वचनोंकी प्रवृत्ति कदापि नहीं है—

'नहि निन्दा निन्दयितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्।'

कुछ लोग—

'अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा॥
पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः शशिनः कलाः।'
(शारदातिलक)

—इन चन्द्रमाकी सोलह कलाओंको चन्द्रवंशी होनेके नाते श्रीकृष्णमें भी अध्यस्त करते हैं। इसी प्रकार सूर्यवंशी होनेके कारण—

'तपिनी तापिनी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचिः।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा॥
कभाद्या वसुधाः सौर्यष्ठडान्ता द्वादशेरिताः।
(शारदातिलक)

—इन सूर्यकी बारह कलाओंको श्रीराममें होना बतलाते हैं। पर इस बातमें भी कुछ सारयुक्त नहीं दीखती। वस्तुतः इन कलाओंसे यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है; अन्यथा नृसिंह, परशुराम, वामन आदिमें कोई भी कला न होगी, क्योंकि उनकी तो सूर्य अथवा चन्द्रमा—इन दोनोंमेंसे किसीके वंशमें प्रसूति नहीं हुई।

अस्तु! उपर्युक्त सभी बातोंपर विचार करनेसे 'त्रिपादूर्ध्व' आदि श्रुतिमन्त्रके अनुसार चतुष्पाद ब्रह्मके प्रत्येक पादकी चार कलाओंवाला समाधान ही सर्वोत्तम है। शेष सामान्य है। इन कलाओंसे युक्त ब्रह्म ही 'षोडशकल' है, अतः पुरुषसूक्तकी सोलह ऋचाओंसे उसकी तथा उस ब्रह्मकी षोडशी शक्तिकी श्रीसूक्तकी सोलह ऋचाओंसे स्तुति किया जाना उचित ही है। रही बात अवतारोंकी सोलह कलाओंकी, सो इस सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख मुझे कहीं प्राप्त न हुआ।* यहाँ यही समझना चाहिये कि उपासककी दृष्टिसे उन-उनके सभी इष्ट प्रायः सर्वश्रेष्ठ पूर्णावतार तथा परब्रह्म हैं। यदि इसके विपरीत कहीं कोई बात दीखे तो बस—

'न हि निन्दा निन्दयितुं प्रवर्तते'

के न्यायसे उसके निन्दात्मक अंशका परित्याग कर विधेयमें श्रद्धा बढ़ानी चाहिये। यही निष्कण्टक मार्ग है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर नमो नारायणाय । आपका पत्र गोरखपुर होता हुआ मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

(१) वर्तमानमें ही सहज स्वभावसे अन्तःकरणकी चेष्टाएँ निर्मल—निर्विकार हो सकती हैं, यदि साधक उनसे सम्बन्ध छोड दे । जबतक साधकका सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंसे बना रहेगा, वह इनको अपना स्वरूप मानता रहेगा यानी इनमें 'मैं' पनका भाव रहेगा या इनमें ममता रहेगी, तबतक सर्वथा निर्मल विचार नहीं हो सकता—ऐसी मेरी मान्यता है ।

(२) भगवान् और भक्तों (संतों) की कृपा तो स्वभावसे ही बिना किसी कारणके सबपर है । पर उसका आदर करके उनकी अहैतुकी कृपाका लाभ उठाना और आदर न करके लाभ न उठाना—यह साधककी मान्यता और साधनपर निर्भर है ।

जबतक साधकको उनकी कृपाकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, उसके लिये वह लालायित नहीं हो जाता, उसके लाभसे वञ्चित रहनेका उसे यथार्थ दुःख नहीं है, तबतक उस अहैतुकी कृपाका अनुभव नहीं होता । जब साधक उनकी कृपाको मान लेता है, उसका उस कृपापर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब उस कृपाका अनुभव भी उस कृपासे ही अपने-आप होने लगता है, कोई परिश्रम नहीं करना पडता । पर जबतक मनुष्यमें उनकी कृपासे प्राप्त बल, योग्यता और सामग्रीका अभिमान रहता है और वह उनका उपयोग ठीक नहीं करता, तबतक उसमें शरणागतिका या कृपानिर्भरताका भाव उत्पन्न नहीं हो सकता । इस मार्गमें विश्वास ही एकमात्र प्रधान उपाय है ।

भगवद्विश्वासीको कभी हताश नहीं होना चाहिये, हताश होना ईश्वरकी दयापर दोषारोपण है, और कुछ नहीं । × × × ।

(२)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार विदित हुए । 'कल्याण' मासिकपत्रमें मेरे पत्रोंको पढ़कर आपने अपने जीवनकी समस्याका प्रश्न भेजा, उसका उत्तर इस प्रकार है—

आपकी परीक्षा समाप्त हो गयी होगी, नम्बर अच्छे मिल गये होंगे ?

स्वप्नदोषकी घटना और उसके न होनेका साधन पूछा सो इसके लिये निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं—

(१) संसारकी आसक्तिको त्यागकर तथा जगत्से निराश होकर एकमात्र प्रभुको ही सब प्रकारसे अपना मानना और उनपर निर्भर हो जाना । ऐसा करनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है, तब संसारसे सम्बन्ध टूट जानेपर बुरे संकल्प और स्वप्नका समूल नाश हो सकता है ।

(२) सोते समय भगवान्का स्मरण करते-करते सोनेकी आदत डालनेसे बुरे स्वप्नका आना बंद हो सकता है ।

(३) स्वप्नदोषसे होनेवाले दुःखद परिणामको समझकर उससे मिलनेवाले मिथ्या सुखकी कामनाका त्याग करके उस वासनाको उठा दिया जाय तो स्वप्नदोष बंद हो सकता है ।

(४) विवाह करके नियमानुसार अपनी धर्मपत्नीसे सहवासद्वारा भी भोगवासनाको मिटा देनेसे स्वप्नदोषका शमन हो सकता है ।

(५) प्रातः-सायं दो रत्ती बंग-भस्म आधा तोला शहदके साथ लेकर आधा सेर दूध पीनेसे भी स्वप्नदोष दूर हो सकता है। औषध-सेवनके विषयमें विशेष जानकारी करनी हो तो उस विषयके जानकार वैद्यसे पूछना चाहिये।

(३)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला, समाचार विदित हुए। आपकी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) किसी भी प्रकारकी चाहका नाम इच्छा है। उसके मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) जिसमें सुखभोगकी भावना हो, उसके लिये वस्तु, व्यक्तियोंकी माँग हो, वह इच्छा तो त्याज्य है, क्योंकि उससे मनमें अशान्ति, अभावका दुःख रहता है। ऐसी इच्छाओंकी निवृत्ति तो हो सकती है, पर पूर्ति नहीं हो सकती।

(ख) दूसरी इच्छा-शक्ति वह है, जिसमें सदा एकरस रहनेवाले नित्य-आनन्दमय परमात्माकी माँग रहती है। इसकी पूर्ति वर्तमानमें ही हो सकती है। इसके लिये भक्ति, ज्ञान या योग तीनोंमेंसे एक अवश्य होना चाहिये। इस माँगकी पूर्ति होनेपर मन अपने-आप एकाग्र हो जाता है। अन्य सभी प्रकारकी इच्छाओंका समूल नाश हो जाता है। सदा रहनेवाली शान्ति मिल जाती है।

(२) मनको एकाग्र करनेके लिये भोगासक्तिका त्याग और भगवान्‌के नामका जप परम आवश्यक है। जो भी कार्य किया जाय, वह अपने सुख-भोगके लिये न हो। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्तव्य मानकर सेवाके रूपमें निष्कामभावसे किया जाय तो काम अपने-आप उच्चकोटिका होने लगेगा।

(३) भगवान्‌के स्मरणसे मनका बल बढ़ सकता है या योगाभ्याससे बढ़ सकता है। यह प्राकृत नियम है कि मन जितना शुद्ध होता जायगा, उतना ही सबल होता जायगा। प्रभुके स्मरणसे और किसीका भी बुरा न चाहकर निष्कामसेवा करनेसे मन शुद्ध होता है।

(४) भगवान्‌पर दृढ विश्वास हो जानेपर, उनको अपना मान लेनेपर और उनकी महिमाका ज्ञान हो जानेपर मनुष्य सहजमें ही निर्भय हो सकता है।

(५) आप यदि सचमुच संयमसे रहना चाहते हैं तो सुखका लालच और दुःखका भय छोड़कर प्रभु-पर निर्भर हो जाइये, फिर जीवनमें संयम अपने आप आ जायगा। किसीका बुरा न करनेका दृढ संकल्प और विषयोंमें वैराग्य हो जाय, तो भी संयम आ जाय।

(६) संसारकी पराधीनताके दुःखसे पूर्ण दुखी होकर यदि सुखकी आशाका सर्वथा त्याग कर दिया जाय तो अपने-आप आत्मबल जाग्रत् हो सकता है। मनुष्यको सुखकी आशाने ही पराधीनताके जालमें फँसा रखा है।

(४)

सादर हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। आपने अपने साधनके विषयमें लिखा सो ठीक है; परंतु जब आपका साधन ठीक चल रहा था, उन्नति हो रही थी, वैसी परिस्थितिमें आपने उसे बदला क्यों? उसके विषयमें संदेह क्यों किया? जब आप भगवान् रामको अपने सामने देखना चाहते है, तब आपको ध्यान भी उसी प्रकार करना चाहिये।

आँख बंद करनेके बाद दीखनेवाले अँधेरेका या हल्के प्रकाशका ध्यान करना या उसे देखते रहना साधन नहीं है। ध्यान तो अपने इष्टका करना चाहिये और वह प्रेमपूर्वक मनसे करना चाहिये। पहले उनके साथ सम्बन्ध होगा, उसके बाद प्यार होने-पर स्मरण होगा, उसके बाद चिन्तन और ध्यान होगा।

उसके पहले ध्यान कैसे होगा ?

प्रत्यक्ष दर्शन तो विरह-व्याकुलतासे ही हो सकते है। जबतक उनके दर्शनोंकी लालसा उत्पन्न न हो, तबतक कैसे हो सकते हैं ? एव जबतक भोगोंकी लालसाका नाश न होगा, उससे हृदय भरा रहेगा, तबतक भगवान्‌के दर्शनोंको हृदयमें स्थान कैसे मिलेगा ? अत: पहले सुखभोगकी कामनाका त्याग करके भगवान्‌से मिलनेकी लालसाको प्रबल बनाना चाहिये।

साधकको ध्यानजनित थोडी-सी शान्तिके सुखमें भी रस नही लेना चाहिये। उसका उपभोग करते रहनेसे साधनमें प्रगति रुक जायगी।

आप यदि अपने इष्टका दर्शन चाहते हैं, तब फिर सुषुप्तिकी झलकको क्यों चाहते हैं ? सुषुप्ति तो प्रतिदिन शयन-कालमें होती ही है। वह कोई बडी चीज नहीं है, बल्कि वह तो बाधक है।

आपके यहाँ राजयोगी कौन हैं, मैं नहीं जानता। शक्ति-प्रयोगका चमत्कार दिखानेवाले अधिकाश आजकल दम्भी हुआ करते हैं। सुषुप्तिकी हालत होना तो साधनमें विघ्न है। यह कोई साधनकी या योगकी उन्नतिका लक्षण नहीं है। अत. सावधान रहना चाहिये।

मै तो आपको परामर्श दे सकता हूँ, अपनी मान्यताके अनुसार साधनका तरीका बता सकता हूँ। शक्ति-प्रयोग करनेकी न तो मुझमें सामर्थ्य है और न मैं करना जानता ही हूँ। अत. मुझसे आप इस प्रकारकी आशा न करें। भगवान्‌के दर्शन आपको भगवान्‌की कृपासे ही हो सकते हैं—यह मेरा विश्वास है।

जिस साधनसे आपकी काम-वासना मिटी थी, वह आपके लिये बडा अच्छा था, वही फिर आरम्भ करना चाहिये। उसपर ही दृढ विश्वास रखना चाहिये। बार-बार साधनमें सदेह करना और उसे बदलना साधकके लिये हितकर नहीं होता।

भगवान्‌का आपपर कोप नहीं है। उनकी तो बडी दया है। भगवान्‌का तो कभी किसीपर कोप होता ही नहीं। आपने उनकी कृपाका आदर नहीं किया, अवहेलना की। उस प्रमादके कारण जो काम-वासना दब गयी थी, वह फिर मौका पाकर उभर आयी है। अत चिन्ता न करें, भगवान् बडे कारुणिक हैं। पुन. पूर्ववत् उनका स्मरण-चिन्तन करना आरम्भ कर दें और उनकी कृपापर निर्भर हो जायँ। यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

भक्तका व्यङ्ग वचन

सिवजू कौ किंकर करत प्रन संकर सौं,
तेरे तीन सीत, सो त्रिदोस उपजावैगौ।
गंगा पारवती चंद देखौ सरद अंग याकौ,
तेरौ दास ह्वैकै ताकौ जतन जितावैगौ॥
मेरे तीन ताप हैं सो आप नीके जानत हौ,
कहत 'मुकुंद' यौ इलाज बनि आवैगौ।
दोऊ वात सधै मेरे उर मैं बिराजौ आइ,
मेरे तीनों ताप तेरौ सीत मिट जावैगौ॥

क्या अहिंसाके अवतार भगवान् बुद्धका अन्तिम भोजन शूकर-मांस था ?

(प्रो० श्रीललितमोहन कार काव्यतीर्थ, एम्० ए०, बी० एल्० का एक पुराना लेख)

[प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलालजीकी अध्यक्षतामें दिल्लीकी बनी 'साहित्य एकादमी' द्वारा प्रकाशित 'भगवान् बुद्ध' पुस्तकके पृष्ठ २६१ पर भगवान् बुद्धका अन्तिम भोजन सूअरका मांस लिखा है । कितने ही जिम्मेवार लोग, जो स्वयं मास खाते हैं, भगवान् बुद्धपर मासाहारका लाञ्छन लगाकर अहिंसा और मांसभक्षणका साथ-साथ समर्थन करते हैं । पर यह ठीक नहीं । प्रो० ललितमोहन कारने अनेक प्रमाणोंद्वारा यह सिद्ध किया है कि भगवान् बुद्धका अन्तिम भोजन सूअरका मास नहीं, शकरकन्द था । जो लोग भगवान् बुद्धपर मासाहारका लाञ्छन लगाते हैं, आशा है वे इस प्रामाणिक लेखसे लाभ उठाकर भविष्यमें अहिंसाके अवतार भगवान् बुद्धपर मांसाहारका दोषारोपण करनेका दुराग्रह न करेंगे ।

—सम्पादक]

गोरखपुरसे कसिया कस्बेको जानेवाली सड़कके दक्षिणी किनारेपर, गोरखपुरके पूर्वमें ३३ मीलकी दूरीपर पृथ्वीका एक पवित्रतम स्थल 'माथा कुँअर' (मठ कुआर) स्थित है, जहाँपर बुद्धमतावलम्बियोंके मतानुसार ईसासे ५४३ वर्ष पूर्व तथा यूरोपियन विद्वानोंके मतानुसार ईसासे ४८७ वर्ष पूर्व शाक्यमुनि बुद्धने शरीर-त्याग किया था । तबसे लाखों बौद्धभक्तोंने इस स्थानकी यात्रा की है तथा आज भी विश्वके कोने-कोनेसे यात्री इस पवित्र स्थलकी, जहाँपर 'एशिया-की 'ज्योति' निर्वाणित हुई थी, यात्राके हेतु आते हैं । जहाँपर किसी युगमें विशाल भवन थे, वहाँ आज केवल खँडहरोंका ढेर है । केवल एक मन्दिर, एक स्तूप एव दूर-दूर खड़ी कुछ बड़ी इमारतें ही शेष दिखायी देती हैं । मन्दिर गयाकी बराबर पहाड़ियोंकी 'दशरथ गुफा'के आकारका है तथा इसमें विश्रामकी मुद्रामें बुद्धकी मूर्ति प्रतिष्ठित है । मूर्तिका सिर उत्तरकी ओर है तथा दायें हाथके सहारे टिका है । इस मूर्तिका आकार मनुष्यके आकारसे चार-गुना अधिक है तथा बुद्धगया-मन्दिरमें स्थित बुद्धकी मूर्तिके आकारके समान है । यह मूर्ति बर्मा बौद्धभक्तोंसे भेंटमें प्राप्त स्वर्ण एव रेशमसे आवेष्टित है । यह सम्भवतः बुद्धके एक धनिक भक्त पुक्कुसद्वारा दिये गये उस स्वर्ण-वस्त्रके अनुकरणमें है, जिससे बुद्धके पट्टशिष्य आनन्दने बुद्धके मृत शरीरको लपेटा था । दक्षिणी दीवारमें एक तख्ती टँगी है, जिसमें सन् १८७७ ई०में जनरल कनिंघमके सहायक कारलायलद्वारा इस स्थलकी खोजका वर्णन है । मन्दिरका निर्माण यहाँके मल्लोंने किया था । सम्राट् अशोकने इसको फिरसे बनवाया था तथा पिछले दिनोंमें ही इसकी विशेष मरम्मत की गयी है । शालके दो वृक्षोंके बीच, विश्रामकी मुद्रामें बुद्धकी मूर्ति उस स्थलपर प्रतिष्ठित है, जहाँ बुद्धने प्राणत्याग किया था । दाह-संस्कार यहाँसे लगभग आध मीलकी दूरीपर छोटी गण्डक नदीकी सहायक ककुत्थाके किनारे किया था । इसका नाम हिरण्या अथवा अतितवती भी है तथा आजकल यह प्रायः सूखी ही रहती है । अब भी भिक्षुओंके लिये बने छोटे-छोटे कमरोंकी दो पंक्तियाँ तथा बीचमें रास्तेकी दीवारें विद्यमान हैं । शेष सब इमारतें केवल मलबेका ढेर ही हैं । दक्षिणकी ओर लगभग एक मीलकी दूरीपर उपेक्षित खँडहर विद्यमान हैं, जिनका सम्बन्ध बुद्धके बन्धु तथा शिष्य अनुरुद्धसे है ।

कसिया एक छोटा-सा कसबा है, जो यहाँसे लगभग डेढ मील पूर्वमें स्थित है । यह वही स्थान है, जिसे कुसीनारा (या कुसीनगर) कहते हैं । गोरखपुरके ३० मील दक्षिण-पूर्वमें स्थित देवरिया रेलवे स्टेशनसे भी इस स्थानपर जानेका रास्ता है । यह स्थान देवरियासे २२ मील उत्तरमें है तथा यहाँपर देवरियासे बसद्वारा जाया जा सकता है । गोरखपुरसे भी बस जाती है, ३० मील है । बुद्धके जन्मदिवस तथा महापरिनिर्वाणके पुण्यदिवस वैशाखी पूर्णिमाके दिन यहाँ एक मेला लगता है, जिसमें सम्मिलित होनेके लिये बसोंद्वारा गोरखपुर, देवरिया, पड़रौना तथा अन्य समीपस्थ स्थानोंसे लोग बड़ी संख्यामें आते हैं । बुद्धकी मृत्युके इस स्थानके दर्शनसे स्वाभाविक ही उनकी मृत्युके कारणका स्मरण हो आता है । उनके अन्तिम दिनोंके घटना-क्रमका वर्णन इस प्रकार है कि कई स्थानोंपर रुकनेके पश्चात् जब बुद्ध वैशालीसे पवा (पडरौना, जिला देवरिया) आये, तब वे अस्वस्थ थे । वे अपने अनुयायियोंसहित चण्डके उद्यानमें रह रहे थे । चण्डको स्वर्णकार तथा लोहार कहा जाता है, परंतु सम्भवतया वह बढई (रथकार) था । (जातकोंमें बढइयोंके उन्नत शिल्पका वर्णन है ।) अपना अन्त निकट जान बुद्ध

सम्भवतया अपने घरकी ओर—कपिलवस्तु जा रहे थे, परंतु उनका देहान्त वहाँ पहुँचनेसे पूर्व ही हो गया। मार्गमेंही उनका जन्म हुआ था तथा मार्गमें ही उनका देहावसान भी हुआ।

बुद्धका अन्तिम बारका भोजन चण्डने तैयार किया था। दीर्घ निकाय (पाली सूत्र-पिटक) के महापरिनिर्वाणने सूत्रमें इस भोजनको 'शूकर-माधवम्'की संज्ञा दी गयी है। वास्तवमें यह क्या था, यह हमारे लिये समस्या ही है। इसका अर्थ विभिन्न विद्वानोंद्वारा निम्न प्रकारसे किया गया है—

१—सूअरका सूखा मांस।

२—सूअरके बच्चेका मांस तथा चावलका भोजन।

३—सूअरके कोमल अङ्गोंका मांस।

४—जंगली सूअरके बच्चेके मांसल भाग।

५—सूअरका कुछ कड़ा मांस इत्यादि।

श्रीवाटर्सका कथन है कि—'शूकर-माधवम्'का सामान्य अर्थ सूअरके मांससे बने पदार्थ हैं। डा० रासडेविड्स इसका अनुवाद एक स्थानपर सूअरका सूखा मांस तथा दूसरे स्थानपर सूअरका कोमल मांस करते हैं, परंतु वे इसके सामान्य अभिप्राय एवं स्पष्टीकरणसे संतुष्ट नहीं हैं तथा वे इसे कोई वानस्पतिक भोजन-पदार्थ समझते हैं। श्री के० ऐफ० न्यूमैनका मत भी यही है। उनके मतानुसार वह किसी खाद्य कुकरमुत्ताका नाम है तथा इस मतके लिये उन्होंने कारण भी दिये हैं। यहाँपर यह विशेषरूपसे उल्लेखनीय है कि बुद्धके देहान्तके तिब्बती अथवा चीनी भाषाओंमें लिखित वर्णनोंमें भी कहीं भी बुद्धके अन्तिम भोजनके रूपमें सूअरके मांसका उल्लेख नहीं है। महायान-ग्रन्थोंमें महापरिनिर्वाणके वर्णनमें भी इसका उल्लेख नहीं है तथा 'सवत्ता विनय' में चण्डके भोजनके वृत्तान्तमें भी इसका कोई निर्देश नहीं है। यू-सिंग-चिंगमें चण्डद्वारा बुद्धके लिये रखे गये स्वादिष्ट भोजनको 'चन्दन वृक्षकी बाल' अथवा चन्दनकी बालकी संज्ञा दी गयी है। इन नामोंसे सम्भवतया किसी वृक्षकी वनस्पति तथा सुरभिपूर्ण कुकुरमुत्ताका अभिप्राय है। चीनी भाषाओंमें सभी पराश्रयी वनस्पतिको 'मु-अरह' कहा जाता है, जिसका अर्थ है वृक्षकी बाल। तथा बौद्ध भिक्षुओं एवं उनके मित्र-समुदायमें कुकुरमुत्ताको 'हीसाग-जो' अथवा भिक्षुके मांसके नामसे पुकारा जाता है। न्यूमैनके इस मतसे मैं सहमत हूँ कि धर्मात्मा बढईके द्वारा बुद्धके लिये सूअरका मांस पकाया जाना सम्भव प्रतीत होता तथा 'शूकर-माधवम्' का अर्थ वनस्पति अथवा कुकुरमुत्ता ही किया जाना चाहिये। वास्तवमें यह बात विचित्र-सी प्रतीत होती है कि एक अशीति-वर्षीय व्यक्तिको—जो पिछले चालीस वर्षोंसे एक पुण्यात्माके रूपमें विख्यात हो तथा अत्यन्त सम्भवतया दन्तहीन हो—पशुके मांसका भोजन दिया जाय। इसके अतिरिक्त इस प्रकारका भोजन उनके सिद्धान्तोंके पूर्णरूपेण प्रतिकूल था। बौद्धोंके शीलों अथवा संयमोंका (५, ८ अथवा १० नियमोंका, जिनकी संख्या आध्यात्मिक-उन्नतिके अनुसार निर्धारित होती है) आरम्भ किसी प्राणीका जीवन न लेनेसे होता है। जातकोंमें पशुओंको भोजनके लिये मारनेसे बचानेके लिये बुद्धद्वारा अपने शरीरके समर्पणका उल्लेख है। यदि बुद्ध अपने जीवनकालमें ही जनताके समक्ष अपने विगत जीवनके आदर्शोंके प्रतिकूल आचरण करते तो इन सभी उपदेशोंका प्रभाव पूर्णतया लुप्त हो जाता। पशुओंके वधका विरोध करनेके कारण ही हिंदूलोग बौद्धको दशावतारोंमें स्थान देते हैं। 'विनयपिटका' में हमें स्पष्टरूपसे यह निषेध मिलता है—'ओ भिक्षुओ! भोजनके लिये मारे गये किसी पशुका मांस कभी भी नहीं खाना, जो भी ऐसा करेगा, वह घोर पापका भागी होगा।'

अशोकके शिलालेखोंसे भी ज्ञात होता है कि सम्राट् होनेपर भी अपनी रसोईके लिये मारे जानेवाले दो मोरों और एक मृगके लिये वह भगवान्से क्षमा माँगता था, यद्यपि उसकी रसोईके लिये भी भारी संख्यामें मारे जानेवाले पशु कम होकर इतने ही रह गये थे। उसने निकट भविष्यमें, राज-परिवारकी रूढियोंसे ऊपर उठकर नवीन मार्ग अपनानेमें समर्थ हो जानेपर, इस वधको भी बंद करनेका प्रण किया था। स्पष्ट ही वह ऐसा करनेमें सफल हुआ था तथा बौद्धधर्मका दृढ अनुयायी बन जानेके पश्चात् उसने राजाज्ञाद्वारा अपने विशाल साम्राज्यमें पशुओंका वध अधिकतर निषेध कर दिया था।

आज बुद्धके सहस्रों वर्ष पश्चात् उनकी मृत्युसे सम्बन्धित स्थानोंसे दूर रहते हुए हम बुद्धके जीवन तथा उनकी मृत्युके कारणोंको अधिक महत्त्व न दें, यह स्वाभाविक ही है। उनके कालमें उनका जीवन राष्ट्रकी निधि था तथा सभीकी दृष्टि उनपर केन्द्रित थी। उनका दाहसंस्कार

सम्राटोंके अनुरूप किया गया था तथा उनके दाहके पश्चात् आठ राजाओंने उनको अपना मानते हुए उनका भस्म प्राप्त करनेके लिये चेष्टा की । उनकी अस्थियोंपर स्मृति-चिह्नके रूपमें स्तूपोंका निर्माण करवाया गया था।

बुद्धके लिये उपयुक्त भोजन अथवा पथ्यके सम्बन्धमें चण्डके समक्ष स्थिति गम्भीर रही होगी तथा बुद्धको भोजन देते हुए उसने पूर्ण सावधानी अवश्य ही बरती होगी । बुद्धके पास अनेक भक्त रह रहे थे, जिनमेंसे कुछ उनके निकट तथा प्रिय सम्बन्धी थे । बुद्ध भोजनके गुणोंका महत्त्व गयामें सुजाताद्वारा दिये गये दूधके उस भोजनकी तरह—जिससे उनको बोध हुआ था—मोक्षके सहायकके रूपमे समझते थे, न कि मृत्युके सहायकके रूपमें। बुद्धने अपने पट्टशिष्य आनन्दको चण्डद्वारा दिये गये अन्तिम भोजनकी प्रशसामें अपनी ओरसे सदेश दिया था।

'शूकर-माधवम्' 'शूकर' तथा 'माधवम्'से बना समस्त शब्द है। दूसरे शब्दका अर्थ ही अधिक कठिनाईका कारण बना है। और भ्रम फैलानेका कारण भी यही है। सर्वप्रथम, 'माधवम्'का अर्थ मास नहीं है। यह शब्द 'मुदु' (पाली भाषा) से बना है। अत. मुदुनो भावः मार्दवम्का (अर्थ है कोमल होनेकी स्थिति ।) शूकर शब्दका अर्थ भी 'सूअर-का मास' नहीं है। ईसापूर्व तीसरी शताब्दीमें पाली भाषाके अत्यन्त पुराने तथा महान् वैयाकरण कच्चायनाने स्पष्टरूपसे कहा है कि 'सूअरके मास'के लिये 'शौकर' शब्द आना चाहिये न कि 'शूकर'। उनका कथन है कि उसके मासके लिये 'ण' आगम प्रत्ययके रूपमें लगाता है, जिससे 'अ' की पहली ध्वनि 'आ' तथा 'उ' अथवा 'ऊ' की पहली ध्वनि 'औ' में बदल जाती है । (सस्कृतमे इस परिवर्तनको 'वृद्धि' कहते हैं, जिसमें 'अ' तथा 'उ' अथवा 'ऊ' औमें बदल जाते हैं, परतु पालीमें 'ओ'में बदलते हैं)। उसने 'महिषस्य इद मासम्'को माहिषम् (अर्थात् भैसकी किसी वस्तु अथवा मासको 'माहिषम्' कहते हैं) तथा 'शूकरस्य इद मासम्'का शौकरम् (सूअरकी किसी वस्तु अथवा मासको 'शौकरम्' कहते हैं) लिखा है।

'रघुवश'मे कालिदासद्वारा पालीके 'माधवम्' के सस्कृत रूपान्तर 'मार्दवम्'के प्रयोगसे भी इस शब्दपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। (सर्ग ८ के श्लोक न० ४३ में 'अभितप्तम् अयःअपि मार्दवम् भजते' अर्थात् गरम करनेसे लोहा भी नरम हो जाता है ।) इस प्रकार 'माधवम्'का अर्थ गरम करने अथवा पकानेसे नरम हुई वस्तु है। महाभारतके नलोपाख्यानके राजा नलद्वारा रचित कहे जानेवाले 'पाकदर्पण'में, जो पाक-क्रियापर अत्यन्त प्राचीन रचना है, पकानेकी एक विधिके बारेमें कहा गया है—

'एवं पाके कृते तस्य मृदुत्वं स्वादु जायते ।'

—(अर्थात् इस प्रकार पकानेपर इसकी मृदुता अधिक स्वादु हो जाती है) 'मृदुत्वम्' मार्दवम्का पर्यायवाची है तथा ये दोनों एक ही शब्द 'मृदु'से बने हैं । पाणिनिरचित अष्टाध्यायीमें भी 'स्वादु-मार्दवम्' शब्दका उसी अर्थमे उल्लेख है, जिस अर्थमे पाकदर्पणमें है। यदि केवल 'मृदु' शब्दका ही प्रयोग किया जाय तो उसका अभिप्राय होगा—मृद

'समीकृत भक्षणम् (विशेष प्रकारके बर्तनमें पकाया गया भोजन)। एक शब्द 'मार्दवम्' है जिसका अर्थ है मिट्टीके बर्तनमें तैयार किया गया भोजन तथा इस शब्दका पाली रूपान्तर 'माधवम्' है।

'शूकर' शुकासे बना है (जिसका अर्थ है चुभनेवाले कड़े बालोंवाली अथवा बालों-जैसी वनस्पति) अतः घासके चुभनेवाले सिरेको 'शुका' कहा जाता है। इसका उदाहरण श्रीहर्षके नैषधचरितमें 'निविशते यदि शुकाशिखा पदे' (अर्थात् यदि घासका चुभनेवाला सिरा भोजनके निचले भागमें प्रवेश कर जाय) का प्रयोग है। पदध कीड़ेको 'शुका-कीट' अर्थात् कड़े बालोंवाला कीड़ा कहा जाता है। अनाजकी बालोंको भी चुभनेके कारण 'शुका' कहा जाता है। शुकासे 'र' प्रत्यय लगानेसे शुकर बनता है, जिस प्रकार मधु (शहद) से मधुर (मीठा) बनता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन कालमें व्यक्ति-वाचक सज्ञाओंतकके लिये भी पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग मुक्तरूपसे किया जाता रहा है। कालिदासने चकवेके लिये चक्रवाक (पहिये-जैसी आवाजवाला) की बजाय, 'रथाङ्ग-नामा' (रथके एक भागके नाम) वालाका प्रयोग किया है। मूलीके लिये चाणक्यमूलम्, विष्णुगुप्तकम् एव कौटिल्यम्का, जो चन्द्रगुप्तके विख्यात मन्त्रीके नाम हैं, प्रयोग भी मिलता है।

बारहवीं शताब्दीके श्रीलङ्काके भिक्षु मौगलान थेरोने अपने पाली शब्दकोष 'अभिधान-पददीपिका'में शूकरके लिये शूकरो (तु) वराहो (च) तथा वराहो शूकरी गर्जोके शब्द दिये हैं। आधुनिक देशी भाषाओंकी तरह पालीके व्याकरण, कोष-

शास्त्र, अलकारशास्त्र एव छन्दःशास्त्र इत्यादि संस्कृतके अनुकरणमें ही हैं। हम देखते हैं कि अमरसिंहने, जो मौगलान थेरोसे पहले (सम्भवतया चौथी शताब्दीमें) थे, और बौद्ध थे, (यद्यपि उन्होंने सस्कृतमें लिखा है) शूकरके लिये वराहो सूकरो, गृहस्ती, कोलाह, पाहरी, किराह, किटीह, दमस्तरी, घोने, स्तम्भधार, क्रोदो, भद्र इत्यादि पर्यायवाची शब्द दिये हैं।

शकरकन्द नामका एक अत्यन्त सुन्दर कन्द है, जिसके लिये सूअरके बहुत-से नाम (जैसे गृहस्ती ग्रस्ती, सूकरी, क्रोदकन्या, वराही, क्रोदी, ग्रस्तीकन्या, वराह-कन्द इत्यादिके नामसे) प्रयुक्त होते हैं। इसके लिये विष्णुके—जिनका एक अवतार वराहरूपमें भी था— नाम विश्वक्सेनप्रिय माधवेस्त, विश्वक्सेनकान्त (विष्णुका प्रिय) भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अन्य नाम हैं—वराहीकन्द, श्वडन्ये, समर्च कराह्लको माता., अनूपमभवद्देश वराह एव लोमवान्। बराहकन्दको कुछ लोग चर्मकार आलू भी कहते हैं। यह सीली तथा दलदलवाली भूमिमें उगता है तथा सूअरकी तरह बालोंवाला होता है।

गुणोंके अनुसार इसके नाम हैं—बल्य (बलदायक), अमृत, महावीर्य (अत्यन्तशक्तिदायक), महासुधा (महान् ओषधि), वृद्दिदा, विकासमें सहायक तथा व्याधिहन्ता (रोगको दूर करनेवाला)। इसके लिये एक और नाम मागधी अर्थात् मगधमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु भी है।

'याम' (एक प्रकारके कन्द) का एक प्रकार शूकर है। इसके बारेमें प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ भावप्रकाशमें लिखा है— विदारी स्वादुकन्दा च सा तु क्रोष्ट्री सिता स्मृता। इक्षुगन्धा क्षीरवल्ली क्षीरशुक्ला पयस्विनी ॥ (चुभनेवाला मीठा कन्द, यदि सफेद हो, नाम-सूअरी, गन्नेकी गन्धवाला, दूधकी बेल, दूधकी तरह सफेद दूधसे युक्त)। भावप्रकाशमें इस कन्दका विवरण इस प्रकार दिया गया है—वाराहमूर्धवत् कन्दो वराहीकन्द······ (अर्थात् सूअरके सिर अथवा थूथनीके आकारवाले फलको 'वाराहीकन्द' कहते हैं।) इसके गुण ऋद्धि-वृद्धि नामकी दो अप्राप्य तथा अत्यन्त प्रभावशालिनी बूटियोंके समान बताये गये हैं, तथा इसका प्रयोग उनके विकल्पके रूपमें बताया गया है। (ऋद्धि-वृद्धिस्थाने वराहीकन्द तुल्य क्षिपेत्)।

पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर कात्यायनके वार्तिकके अनुसार पौदोंकी जड़ोंका लिङ्ग भिन्न-भिन्न हो सकता है (पुण्यमूलेषु बहुलम्) अतः शूकरी तथा शूकर दोनोंका अर्थ पौदेकी जड़का खाने योग्य भाग हो सकता है।

जिस जिलेमें कसिया स्थित है, उसमें इस कन्दको गजी (हिंदी गठी, सस्कृतमें ग्रस्ती) कहा जाता है और शकरकन्द (सस्कृत शूकरकन्द) भी कहा जाता है। यह नाम अधिक व्यापकरूपसे प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम 'शर्कराकन्द'से बना है, परतु सस्कृत खाद्य-कन्दोंकी सूचीमें इस नामका कोई कन्द नहीं है (श्रीएन० जी० बनर्जीद्वारा बगालीमें खाद्यकन्दोंकी सूचीमें इसका नाम नहीं है)। डाक्टर होका—जो विन्सट स्मिथकी भाँति गोरखपुरमें एक अधिकारी थे—मत है कि पावामें बुद्धने चण्डके घरमें शूकर (सूअरका मास नहीं परतु शूकरकन्द) का भोजन किया था, जिससे उनका रोग बढ गया था तथा इस रोगसे उनके जीवनका अन्त हो गया था। व्रतमें फलाहारी भोजनके रूपमें शकरकन्दको उबालकर खाया जाता है। इस प्रकार यह 'शूकर-माधवम्' (अर्थात् शकरकन्दका कोमल गूदा) के बहुत निकट प्रतीत होता है। इस इलाकेमें चौमासा अथवा चातुर्मास्यम्का पालन बहुत अधिक किया जाता है। सामान्यतः यह हरिशयन-एकादशीको प्रारम्भ होकर देवोत्थान-एकादशीको समाप्त होता है। बुद्धोंके वस्सावास (अथवा वर्षावास) का काल भी लगभग यही होता है। यहाँके धार्मिक वृत्तिके लोग देवोत्थान-एकादशीसे पूर्व गजी नहीं खाते। देवोत्थानी एकादशीके दिन स्थानीय मडियोंमें बिक्रीके लिये गजी तथा श्रीपद (सस्कृतमें नृगटिक) के ढेरोंका अपूर्व दृश्य दिखायी देता है। शकरकन्द सुगमतासे उगाया जा सकता है तथा नैपालकी ढलानोंकी तराईमें यह बहुत अधिक बोया जाता है।

इसका स्वाद मीठा होता है तथा रग सफेद और लाल। लाल रगवाला शकरकन्द बगालके रगालू जैसा होता है। परतु जब यह कच्चा होता है, तब इसमें दूध-जैसा गाढा रस होता है, जब कि सफेद किस्मवालेमें यह रस कम होता है। इन दोनों किस्मोंके उबले गूदेमें रेशे होते हैं, जिनसे दुर्बल आमाशयमें पीड़ा होने लगती है। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, जब मेरे एक विद्यार्थीने मुझे बताया कि वह अपने बूढे पिताजीको, जो कसियाके समीपके एक ब्राह्मण जागीरदार हैं, पेचिशके इलाजके लिये नगरमें लाया है। उनको व्रतके पश्चात् गजीके खानेसे पेचिश हुई थी। इस बातसे बुद्धकी घटनाका स्पष्ट चित्र दृष्टिके सामने आ जाता है।

ऐसा होनेपर भी शकरकन्दका प्रयोग अधिक किया जाता है। दूरस्थ गाँवोंमें लगनेवाले मेलोंमें भी खानेके लिये मुख्यरूपसे बिकनेवाली वस्तु यही होती है। गजकर्ण आलू नामका एक और कन्द है (विशेषरूपसे कन्द-मूल-फल भारतके धार्मिक लोगोंका भोजन है) जो अभिधान प्रदीपिका-के गज तथा चीनी वृत्तान्तके 'बाल'के अर्थोंको पूरा करता है। सालिगरामके निघण्टुभूषणमें इसका वर्णन इस प्रकार है—हस्तिकन्दः हस्तिपत्रः स्थूलकन्दोऽति कन्दकः, बृहत्-पत्रेऽतिपत्रश्च हस्तिकर्णस्तु कर्णकः (अर्थात् हस्तिकन्द, हाथीके (कानों) जैसे पत्तोंवाला बड़ा कन्द, बड़े-बड़े पत्ते, बड़े तथा कान जैसे पत्ते।) उत्तर प्रदेशमें इसे बन्द कहते हैं। भूमिसे निकालनेपर यह सूअरकी तरह काला तथा बालोंवाला होता है। पड़रौना (जिसमें पावा है जहाँपर बुद्धको 'शूकर-माधवम्' का भोजन दिया गया था) की यह विशेष उपज है तथा यहाँ यह बहुत उगाया जाता है।

यह 'मन'की श्रेणीमें है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

'मनकः स्यान्महापत्रः' अर्थात् मन अथवा मनक तथा बृहत्पत्र एक ही वस्तु हैं। (ऊपर अतिपत्र बृहत्पत्र देखें।)

हिंदू वैद्योंने—जो भोजनद्वारा रोगोंकी चिकित्सामें बहुत विश्वास रखते थे—इसकी बहुत प्रशंसा की है। आमाशयकी अत्यन्त दुर्बलताके रोगमें 'मन-मन्द' कन्दको उबालकर पानी-की भाँति पतला करके इसे भोजनके रूपमें निर्धारित किया जाता है।

परंतु चण्डद्वारा बुद्धको दिया गया भोजन साधारण उबले कन्द-मूलसे श्रेष्ठ प्रतीत होता है। बुद्धने इसकी बहुत प्रशंसा की है।

मृदु (जिससे मार्दवम् बना है) 'मृद्'से बना है जिस-का अर्थ दबाना, कूटना, गूँदना इत्यादि है। उबले शकरकन्द अथवा कूटे कसेरू (कसेरू) का दूधमें बना पकवान भी 'शूकरमार्दवम्' कहा जा सकता है।

कसेरू दलदलवाले इलाकोंमें उत्पन्न होता है तथा सूअर इसे बहुत पसंद करते हैं और इसमें बाल भी होते हैं। इसका नाम शूकरेष्टा अर्थात् सूअरकी पसंद तथा क्रोड़ा भी कहा जाता है। सिंघाड़ेकी तरह कूटा हुआ अथवा पीसा हुआ कसेरू भी लप्सी (दूध तथा चीनीमें उबली वस्तु) बनानेमें प्रयुक्त किया जाता है। हलवे-जैसे इस पकवानकी बहुत प्रशंसा की जाती है तथा उच्चकोटिके लोग इसे चावसे खाते हैं। बूढ़ोंके लिये एक अत्यन्त श्रेष्ठ फलाहारी भोजन है। यह सुपाच्य तथा पौष्टिक पदार्थ है।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'शूकरमाधवम्' गूदेदार वनस्पति थी अर्थात् बुद्धने महापरिनिर्वाणसे पूर्व दूधमें किसी कन्दका बना भोजन लिया था, जिस प्रकार गयामें बोधसे पूर्व बुद्धने दूधमें बना भोजन लिया था। अपनी मृत्युसे पूर्व बुद्धने इन दोनोंकी समानता एवं पवित्रताका उल्लेख किया था।

नश्वर जगत्

घोरे पील पालकी खवास खिदमतगार,
सेना के समूह जे जितैये बड़ी रारके।
जेहर जवाहर खजाने तोसेखाने तैसे,
ऐसे छोड़ि चाल्यौ जैसे बगुचा बेगार के॥
'बेनी' कवि कहै परमारथ न कीन्हौ, मूढ़,
कीन्हे बहुतेरे पाप सुता सुत नार के।
काल सर साँधे देख माया मद आँधे,
कछू गाँठ हू न बाँधे चले काँधे चढ़ि चार के॥

वालक राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
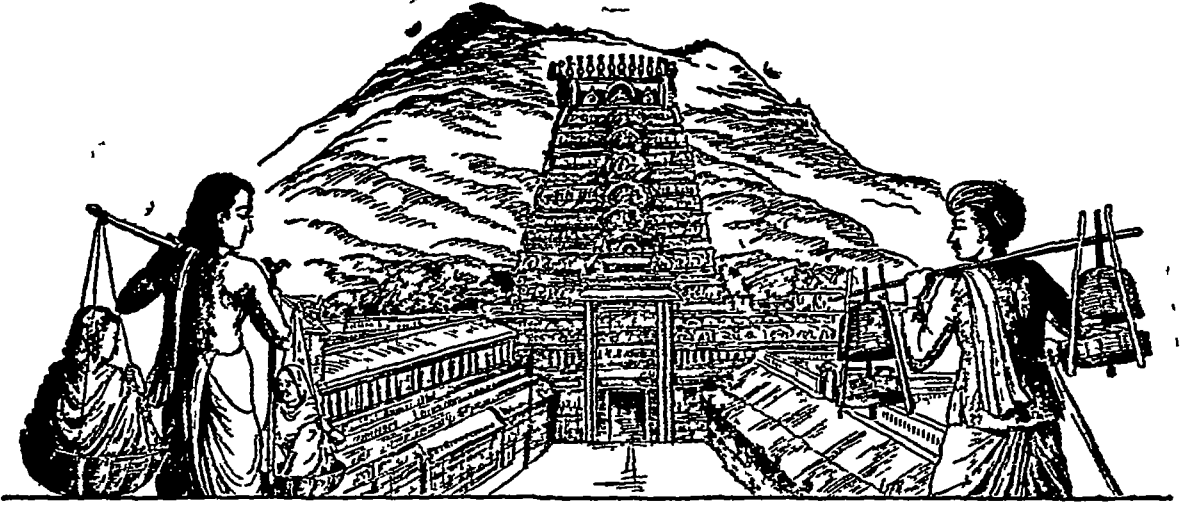
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१४, जुलाई १९५७ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ३६८

बाल-माधुरी

आज तो निहार रामचंद्र कौ मुखारविंद,
चंदहू ते अधिक छवि लागत सुहाई री ।
केसर कौ तिलक भाल, गरे सोहै मुक्तमाल,
घूँघरवारी अलकन पर कुण्डल छवि छाई री ॥
अनियारे अरुन नैन, बोलत अति ललित बैन,
मधुर मुसकान पर मदनहू लजाई री ।
ऐसे आनंदकंद निरखत मिट जात द्वंद
छवि पर वनमाल 'कान्हर' गई हौं विकाई री ॥

कल्याण

याद रक्खो—यदि तुम्हें पूर्वकी ओर जाना है और तुम जाने लगोगे पश्चिमकी ओर—तो तुम अपने पहुँचनेके स्थानसे दूर होते चले जाओगे, इसी प्रकार तुम्हें यदि करनी है भगवत्प्राप्ति और तुम करते रहोगे विषयोंका चिन्तन तो भगवत्प्राप्ति तुमसे दूर होती चली जायगी एव इस दिशामें तुम्हारे जीवनमे सफलता होगी ही नहीं ।

याद रक्खो—मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, वैसा ही बनता चला जाता है । विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयोंने डूबकर वह विषयरूप बन जाता है और भगवान्‌का चिन्तन करते-करते भगवद्रूप ।

याद रक्खो—तुम जिस प्रकारका चिन्तन करोगे, उसी प्रकारका वातावरण तुम्हारे लिये बनता चला जायगा । भगवान्‌में चित्त लगाते रहोगे तो तुम्हे वैसा ही साहित्य, वैसी ही साधन-सामग्री, वैसा ही सङ्ग क्रमश. मिलता जायगा । विषय और विषयी जगत्‌से अपने-आप ही सम्बन्ध कटता चला जायगा । भगवान्‌की ही चर्चा करने लगोगे तो विषयी पुरुष—जिनको विषय-चर्चा ही प्रिय लगती है—तुम्हारे पास आना-बैठना बद कर देंगे और भगवच्चर्चा करनेवाले लोग तुम्हारे पास आने-बैठने लगेंगे ।

याद रक्खो—सारे अनर्थों, पापों तथा पतनका मूल हैं—विषयचिन्तन । विषय-चिन्तनसे विषयासक्ति—विषयकामना बढकर मनुष्यके विवेकको खो देती है और बुद्धिभ्रष्ट होकर मनुष्य चाहे जैसे कुकर्म कर बैठता है, जिनके बुरे फलसे छुटकारा मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है ।

याद रक्खो—भगवान्‌की लीला, भगवान्‌के गुणानुवाद, भगवान्‌के तत्त्व और स्वरूपका चिन्तन, भगवत्-सम्बन्धी कथोपकथन आदिसे भगवच्चिन्तन बढ़ता है और ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों चित्तमें सात्त्विक आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है एवं तुम भगवान्‌के समीप पहुँचते जाते हो ।

याद रक्खो—ससारके चिन्तनसे चित्त-प्रदेशमे व्यर्थ-का कूडा भरता चला जाता है, राग-द्वेष उत्पन्न होते तथा बढते हैं, अशान्ति होती है, पापमें प्रवृत्ति होती है, चित्तका स्थिर, शान्त तथा सुखी रहना बद हो जाता है, दिन-रात जलन बनी रहती है, मरते समयतक चित्त चिन्ताओंसे भरा रहता है, भगवान्‌का मङ्गलमय स्मरण छूट जाता है और मानव-जीवन विफल ही नहीं, पापका भारी भार सग्रह करके अनन्त दु:खमय जन्मोंका कारण बन जाता है । इसलिये जैसे भी हो, ससारचिन्तनके बदलेमें भगवच्चिन्तनका प्रयत्न करो ।

याद रक्खो—कई बार भगवच्चिन्तनके नामपर भी विषय-चिन्तन होता रहता है, जो विषयासक्ति और विषय-कामनाको बढ़ाता है । इससे खूब सावधान रहो तथा भगवान्‌का वैसा ही विशुद्ध चिन्तन करो, जिससे विषय-चिन्तनको स्थान ही न मिले ।

याद रक्खो—भगवान्‌के शृङ्गार और उनकी मधुर शृङ्गारलीलाका चिन्तन जहाँ शुकदेव मुनि, श्रीचैतन्य महाप्रभु, सनातन-रूप गोस्वामी, सूरदास, नन्ददास आदि विरक्तोंके लिये भगवान्‌के निर्मल दिव्य प्रेम-रसकी प्राप्तिका पवित्रतम अमोघ साधन है और वैसे विषयविरक्त भगवत्प्रेमियोंका प्रियतम जीवन है, वहाँ विषयासक्त, इन्द्रियाराम लोगोंके लिये वही भोग-वासना उत्पन्न करने, बढाने तथा उनके घोर पतनका साधन हो सकता है । इसलिये सावधान रहो । चित्तकी ओर अन्तर्दृष्टि करके सदा देखते रहो, उसमें कहीं तनिक भी भोग-वासना तो नहीं आ गयी है ।

'शिव'

संसारमें सार क्या है ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

शास्त्रमें एक वचन मिलता है—

यत् सारभूतं तदुपासनीयं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रात् ॥

भाव यह है कि ससारमें जो सार वस्तु हो, मनुष्य उसीका सेवन करे, अर्थात् पुरुषार्थद्वारा सार वस्तुको प्राप्त करे और असार वस्तुओंमें न फँसे। दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे दूध और पानी मिलाकर हंसको दो तो वह साररूप दूधको ग्रहण करेगा और असार वस्तु पानीको छोड़ देगा, उसी प्रकार मनुष्यको भी करना चाहिये।

अतएव यदि सारको ग्रहण करना है तो ससारमें सार वस्तु क्या है—यह जान लेना चाहिये। जिस मनुष्यमें विवेक-बुद्धि जाग्रत् नहीं हुई होती, वह तो विषयभोगके साधनोंको ही साररूप मानता है, इस कारण सारे जीवनको इन साधनोंके जुटानेमें ही लगा देता है। भोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, बल्कि उससे भोगतृष्णा दिन-प्रतिदिन बढती ही जाती है, परिणाम यह होता है कि मनुष्य मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक विषय-चिन्तनमे ही लगा रहता है और उसके फलस्वरूप आसुर योनियोंको ही प्राप्त होता है। यह बात हुई उन मनुष्योंकी—

जो 'कामोपभोगपरम' हैं अर्थात् काम्य वस्तुओंको प्राप्त करके उनका भोग भोगनेमे ही जीवनको सार्थक समझते हैं। ऐसे मनुष्योंको शास्त्रोंमे पामर और विषयीकी संज्ञा दी गयी है।

परतु जो मुमुक्षु पुरुष हैं, वे इस बातको जानते है कि भोग-पदार्थ दु खयोनि और आगमापायी हैं, अत उनसे कोई सच्चा और स्थायी सुख नहीं मिलता। इससे वे लोग विषयोंको विषवत् त्याग देते हैं और ससारमे साररूप क्या है—इसका विचार करते हैं। सारे ससारका सार खोजना तो एक बहुत व्यापक प्रश्न है, इसलिये पहले छोटे-छोटे परिचित उदाहरणोंको देखें, जिससे मूल प्रश्नका समझना सहज हो जाय।

एक आदमीके पास एक सोनेकी अँगूठी है। उस अँगूठीको निहाईपर रखकर उसपर हथौडा मारा जाय तो क्या होगा? अँगूठीका आकार नष्ट हो जायगा और हथौड़ेसे पीटा सोनेका टुकडा दीख पडेगा। वह सोना एक समय अँगूठीके रूपमें था, ऐसी केवल स्मृतिमात्र रह जायगी। अब उसको एक बर्तनमे रखकर भट्ठीपर चढ़ायेंगे तो वह अँगूठी गलकर एक छोटी सोनेकी गुटिका बन जायगी और तब यह स्मृति भी शेष नहीं रहेगी कि वह गुटिका पहले अँगूठीके रूपमें थी। इस सारे प्रयोगका सार इतना ही है कि अँगूठी जब उत्पन्न नहीं हुई थी, उस समय भी सोना तो था ही। पीछे सुनारने उस सोनेसे एक आकृति तैयार की और उस आकृतिका नाम 'अँगूठी' रखा। नाम तो आकृति बननेके बाद ही पडा। पीछे जब उस आकृतिको नष्ट कर दिया गया, तब उसका नाम भी नष्ट हो गया और सोना अवशेष रह गया। नरसी मेहताने अपने एक भजनमें यही बात इस प्रकार कही है—

'घाट घडया पछी नामरूप झूजवाँ, अन्ते तो हेम नुं हेम होय।' अर्थात् आकृति गढ़नेके बाद नाम-रूपका अस्तित्व होता है, फिर अन्तमें सोने-का-सोना ही रह जाता है। यही बात दूसरी तरह कहें तो कह सकते हैं कि पहले सोना था, पीछे उसने एक रूप धारण किया और उस रूपका नाम अँगूठी रखा गया। फिर सोनेने अपनी उस आकृतिको अपनेमे समेट लिया और इस प्रकार नाम-रूप दोनोंका नाश हो गया और सोना फिर अपने मूल स्वरूपमे आ गया।

अब अँगूठीके विषयपर फिर आइये। अँगूठीमेंसे सोना निकाल लें तो क्या बच रहेगा? यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सोनेने ही नाम-रूप धारण किया

था, इसलिये अँगूठीमेंसे सोना निकाल लेनेपर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, क्योंकि नाम और रूप दोनों ही सोनेमें कल्पित थे।

परंतु अँगूठीमेंसे सोना प्रत्यक्षरूपमें निकाला नहीं जा सकता, अतएव इसको समझनेके लिये सूक्ष्म रीतिसे विचार करना पड़ता है। अतः इससे एक और स्थूल दृष्टान्त लीजिये।

एक मिट्टीका घड़ा लीजिये। वह घड़ा और कोई वस्तु ही नहीं है, केवल मिट्टीके द्वारा धारण की गयी एक विशेष आकृति है। और उस आकृतिको मिट्टीकी दूसरी आकृतिसे पृथक् दिखलानेके लिये उसको 'घड़ा' नाममात्र दिया जाता है। यह घड़ा कच्चा है, अर्थात् इसकी आकृति अवाँमें पकायी नहीं गयी। अब पानीसे भरा एक बड़ा बर्तन लीजिये और इस घड़ेको उसमें डुबा दीजिये। एक आध घंटेके बाद देखिये तो वह घड़ा दिखायी नहीं पड़ेगा। घड़ेकी मिट्टी पानीमें गल गयी, इससे घड़ेकी आकृति नष्ट हो गयी। और जब आकृति नष्ट हो गयी, तब 'घड़ा' नाम किसको दिया जाय? इसलिये घड़ेकी मिट्टी निकाल लीजिये तो नाम-रूप दोनोंका नाश हो जाता है और मिट्टी अवशेष रह जाती है और घड़ेकी आकृति बननेसे पूर्व मिट्टी तो थी ही। मध्यमें मिट्टीने एक आकार धारण किया, जिसको हमने 'घड़ा' नाम दिया। फिर पीछे उस घड़ेको पानीमें डालनेपर मिट्टी गल गयी और नाम-रूप नष्ट हो गये तथा मिट्टी बर्तनकी पेंदीमें बैठ गयी।

अब यहाँ भी हम घड़ेमेंसे मिट्टीको प्रत्यक्ष रूपमें नहीं ले सकते, इसलिये मिट्टी पानीमें गल गयी—यह बात बुद्धिके सहारे समझनी पड़ती है। अतः अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिये, जिसमें बुद्धिकी कुछ भी सहायता न लेनी पड़े और सारी बात प्रत्यक्ष समझमें आ जाय।

एक वस्त्रका टुकड़ा लीजिये। अब यह पता लगाइये कि वह किस प्रकार बना है। रूईसे सूत बना और सूतको बुननेसे वस्त्र बना। अब इस वस्त्रमेंसे एक-एक करके सूतके तारोंको निकालते जाइये। सब तारोंको निकाल लेंगे, तब क्या बाकी रहेगा? कुछ भी बाकी न रहेगा। रहेंगे तो वे सूतके तार ही रहेंगे और वस्त्रका कोई नाम-निशान भी न रहेगा। सूतके तारोंने एक साथ मिलकर जो वस्त्रका आकार धारण किया था, वह आकार तारोंके अलग-अलग हो जानेसे नष्ट हो गया और आकारके नष्ट होते ही 'वस्त्र' नामका भी नाश हो गया। प्रकारान्तरसे कह सकते हैं कि वस्त्रके उत्पन्न होनेके पहले सूत था। उस सूतके तारोंको व्यवस्थित रीतिसे मिलानेसे वस्त्र बना और फिर उन तारोंको अलग-अलग कर देनेसे वस्त्रका नाश हो गया।

अब तीनों दृष्टान्तोंको साथ लेकर देखिये। अँगूठीमें मानो सोना साररूप था, क्योंकि अँगूठीका आकार और 'अँगूठी' नाम तो नाशवान् ही है, इस कारण वहाँ साररूप कुछ है तो वह सोना ही है। इसी प्रकार घड़ेके दृष्टान्तमें भी मिट्टी साररूप है, क्योंकि आकृति और उसका नाम तो नाशको प्राप्त होता है, पर मिट्टी ज्यों-की-त्यों रहती है। वस्त्रके दृष्टान्तमें भी नाम और रूप नाशको प्राप्त होते हैं, परंतु सूत तो ज्यों-का-त्यों रहता है। अतएव अँगूठीका आधार सोना है, घड़ेका आधार मिट्टी है और वस्त्रका आधार सूत है। अथवा अँगूठी सोनेके सिवा और कुछ नहीं है, घड़ा मिट्टीके सिवा और कुछ नहीं है और वस्त्र सूतके सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति सोने, मिट्टी और सूतसे ही क्रमशः होती है। जिससे जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसको उसका उपादान कारण कहते हैं, अतएव अँगूठीका उपादान कारण सोना है, घड़ेका मिट्टी है और वस्त्रका सूत है, और इस कारण उनमें साररूपमें सोना, मिट्टी और सूत हैं। नाम और रूप कल्पित होनेके कारण नष्ट हो जाते हैं। यहाँ एक ही बातको अनेक प्रकारसे बहुत बार कहा गया है, यह बोधकी दृढ़ताके लिये आवश्यक समझकर कहा गया है। इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं माना जाता। इसके समर्थनमें वेदान्तसूत्र कहता है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।'

अर्थात् उपदेशको हृदयमें दृढ़ होनेके लिये एक ही बात बारबार समझायी जाती है। वसिष्ठ ऋषिने भी श्रीभगवान् रघुनाथजीसे कहा है—

भूयो निपुणबोधाय शृणु किंचिद् रघूद्वह।
पुनः पुनर्यत् कथितं तद्बोधेऽप्यवतिष्ठते॥

'बोधकी विशेष दृढ़ताके लिये एक बार फिर कहता हूँ, सावधान होकर सुनो; क्योंकि एक ही बात अनेक प्रकारोंसे कही जाती है तो उससे मन्द बुद्धिवालेको भी बोध हो जाता है।'

हमने जिस बातको इतना विस्तारपूर्वक कहा है, उसीको श्रीगौडपादाचार्यने एक ही श्लोकमें समझाया है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

भाव यह है कि नाम और रूप जैसे वस्तुकी उत्पत्तिके पूर्व नहीं होते, वैसे ही वस्तुका नाश होनेपर भी नहीं रहते। वे मध्यकालमें दीखते हैं, तो भी उनको मिथ्या ही जानो। 'अँगूठी नाम और उसका रूप सुनारके द्वारा गढ़े जानेके पूर्व नहीं थे, बीचमें दिखायी दिये हैं। और अँगूठीको गला देनेके बाद वे अदृश्य हो गये। इसलिये बीचमें जो अँगूठी नाम और उसकी आकृति दीख पड़ते हैं, उनको मिथ्या समझना चाहिये, क्योंकि उनमें स्वर्ण ही सत्य है। और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि वस्तु मध्यमें सत्य-सी दीख पड़ती है, क्योंकि हम उसका उपयोग करते हैं परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे वह सत्य नहीं बल्कि कल्पित होनेके कारण मिथ्या है, अर्थात् केवल व्यवहार-कालमें प्रतीत होती है इसलिये उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। दृष्टान्त देकर और भी समझाते हुए वे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

अर्थात् स्वप्नके पदार्थ, इन्द्रजालका खेल, बादलोंमें दीखनेवाला गन्धर्व नगर तथा दूसरी अनेकों आकृतियाँ-जैसे दीखती हैं, तथापि मिथ्या ही होती हैं, केवल देखने मात्रको होती हैं, उसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक विश्व-प्रपञ्च जो दीख पड़ता है मिथ्या ही है—ऐसा तत्त्वज्ञानी समझते हैं।

इसी प्रकार सृष्टिके उत्पन्न होनेके पहले एक परमात्मा ही था। उसको एकसे अनेक रूप होकर रमण करनेकी इच्छा हुई और इसलिये उसने अपने ही भीतरसे इस संसारकी रचना की। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'—अर्थात् अपनेमेंसे जगत‍्को रचकर उसमें स्वयं जीवरूपसे प्रवेश किया। अतएव यह निश्चित हो गया कि परमात्मा इस सृष्टिका उपादान कारण है, क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि जिसमेंसे जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह उसका उपादान कारण होती है।

अब यहाँ यह विचारनेकी बात है कि अँगूठी बनानेमें सोना और सुनार—इन दोनोंकी जरूरत पड़ती है, घड़ा बनानेके लिये मिट्टी और कुम्भकार दोनों चाहिये तथा वस्त्रके लिये सूत और जुलाहा दोनों चाहिये। अत जिससे जो वस्तु बनती है, वह उसका उपादान-कारण, तथा जो बनाता है वह निमित्त-कारण कहलाता है। यहाँ इस सृष्टिकी रचनामें यदि ईश्वरको उपादान-कारण मानें तो फिर निमित्त-कारण क्या है? उसका भी पता लगाना चाहिये। उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ईश्वर स्वयं ही उपादान कारण और निमित्त-कारण दोनों है। जैसे मकड़ी अपने शरीरमेंसे लार निकालकर जाला बनाती है, अतएव उसका निमित्त और उपादान दोनों कारण मकड़ी ही होती है, उसी प्रकार ईश्वर भी जगत‍्का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। अर्थात् उपादान भी स्वयं ही है और उपादानमेंसे सृष्टि रचनेवाला भी वह स्वयं ही है।

हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि किसी भी वस्तुमें साररूप तो उसका उपादान-कारण ही होता है, उपादान-कारणसे कार्यकी भिन्न सत्ता नहीं होती। जैसे अँगूठीमें सोना, घड़ेमें मिट्टी तथा वस्त्रमें सूत ही सार है, वैसे ही इस संसारमें साररूप इसका उपादानकारण ही होना चाहिये और वह है ईश्वर या परमात्मा। जैसे वस्तुमेंसे उपादान निकाल लेनेपर कुछ भी शेष नहीं रहता, उसी प्रकार संसारमेंसे यदि ईश्वरको हटा दिया जाय तो संसार नहीं रह सकता।

अब ईश्वर ही जगत्‌का उपादान-कारण है, इसका प्रमाण देखिये । गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।

अर्थात् इस समस्त जगत्‌में मैं अव्यक्तरूपसे व्याप्त हूँ । जैसे अँगूठीमे सोना, अथवा घड़ेमें मिट्टी व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही ईश्वर जगत्‌मे व्याप्त रहता है । यहाँ कदाचित् अर्जुन प्रश्न करे कि 'महाराज ! आप तो रथमें यहाँ मेरे सामने बैठे हैं और फिर कहते है कि मैं सारे जगत्‌मे व्याप्त हो रहा हूँ,—यह कैसे हो सकता है ?' इसीलिये भगवान् पहलेसे ही कह रहे हैं—'मया अव्यक्तमूर्तिना' । मैं इस अवतार-स्वरूपसे तो तुम्हारा रथ हाँकता हूँ—यह ठीक है, परतु मेरा जो मूल सर्वव्यापक स्वरूप है, जो इन्द्रियोंसे अगोचर है, उस स्वरूपसे मैं सर्व जगत्‌मे व्याप्त हो रहा हूँ ।

फिर दूसरे प्रसङ्गमे श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।

अर्थात् हे अर्जुन ! जैसे अँगूठी सोनेसे भिन्न कोई वस्तु नही है, उसी प्रकार मुझसे भिन्न इस ससारमें कोई पदार्थ नहीं है । अर्थात् मैं ही इस जगत्‌रूपमें दृष्टि-गोचर हो रहा हूँ । इस जगत्‌का उपादान-कारण मैं ही हूँ । इसलिये मेरे सिवा जगत् दूसरा कुछ नहीं है ।

ब्राह्मण लोग प्रतिदिन शकरकी पूजा करके आरती उतारते समय गाते हैं—

कर्पूरगौरं करुणावतारं
संसारसारं भुजगेन्द्रहारम् ।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे
भवं भवानीसहितं नमामि ॥

यहाँ शकरका एक विशेषण 'ससारसार' भी है । अर्थात् इस ससारमे कुछ साररूप है तो वह एक ईश्वर ही है, क्योंकि उसके सिवा जगत् कोई वस्तु नहीं । अब इस साररूप वस्तुको खोजें कहाँ ? ऐसा किसी भक्तके मनमे प्रश्न हो तो कहते हैं—'सदा वसन्त हृदयारविन्दे ।' अर्थात् प्राणी मात्रके हृदयकमलमें उनका नित्य निवास है । इसलिये ईश्वरको खोजनेके लिये कहीं बाहर दौड़नेकी जरूरत नहीं । हृदयको शुद्ध करनेसे वहीं उनका दर्शन हो जायगा ।

श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।
तथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ॥

जिस प्रकार दर्पणमे प्रतिबिम्बित हुए रूपके भीतर और बाहर चारों ओर दर्पणका काच ही रहता है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं होता, इसी प्रकार इस शरीरमें भी, इस जगत्‌मे भी अदर और बाहर, चारों ओर एकमात्र परमेश्वर ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है । इस प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक है, अतएव वह कहीं नहीं है—यह कहना ही नहीं बनता । स्वर्ण जैसे अँगूठीमें है, वैसे ही ईश्वर जगत्‌मे है । इस कारण यदि स्वर्णके बिना अँगूठीका अस्तित्व रह सकता हो तो ईश्वरके बिना जगत्‌का भी अस्तित्व रह सकता है ।

ऊपर जो बात श्रीअष्टावक्र मुनिने सुन्दर दृष्टान्तके द्वारा समझायी है, उसी प्रसङ्गको श्रीवसिष्ठ ऋषिने एक नाटकके रूपकसे श्रीरामचन्द्रजीको समझाया है, उसका उल्लेख करके निबन्ध समाप्त करूँगा ।

अस्मिन् विकारवलिते नियतेर्विलासे
संसारनाम्नि चिरनाटकनाट्यसारे ।
साक्षी सदोदितवपुः परमेश्वरोऽयं
एकः स्थितो न च तया न च तेन भिन्नः ॥

अनेकों विकारोंसे भरे हुए, नियति-रूपी नटीके विलासोंसे युक्त इस ससार नामक अनादि महानाटकमें सर्वदा प्रकाशमान यह प्रत्यगात्मारूप एक राजा ही देखनेवाला है । वस्तुतः देखनेमें यह राजा नटीसे तथा नाटकसे भिन्न नहीं है । द्रष्टा पुरुष दर्शन और दृश्यसे अभिन्न ही है ।

इसलिये इस ससारमे कोई साररूप है तो वह एक परमेश्वर है, दूसरा कुछ नहीं । जो दिखलायी देता है, वह तो केवल दिखावामात्र, दृश्यमात्र है ।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) आपने लिखा, 'मैंने छ: वर्षसे आध्यात्मिक क्रियाका साधन आरम्भ किया है, पर उसमें प्रगति नहीं होती।' इससे ज्ञात होता है कि आप जो साधन कर रहे हैं, वह ठीक आपकी समझमें नहीं आया। साधनमें निम्नलिखित बातें होनेपर उसमें मन लग सकता है—

(क) साधन ऐसा होना चाहिये, जिसमें साधककी रुचि हो।

(ख) जो साधन किया जाय, वह साधककी योग्यता और प्रकृतिके अनुरूप हो अर्थात् जिसको साधक अनायास सहज स्वभावसे ही कर सकता हो।

(ग) जिसमें साधकका श्रद्धा-विश्वास हो कि यह साधन अवश्य ही मुझे मेरे लक्ष्यतक पहुँचा देगा।

इस प्रकार साधनका चुनाव हो जाय और साधक उसे समझ ले तो फिर साधन साधकका स्वभाव बन जाता है। उसके करनेमें न तो आलस्य और प्रमाद बाधक हो सकता है और न मनकी चञ्चलता ही।

(२) ईश्वर सबका शासक, स्वामी, रक्षक और हितकारी है; वह सर्वत्र है। जो अन्य किसीसे मिलनेकी इच्छा नहीं रखता, एकमात्र उसीसे मिलनेके लिये व्याकुल हो जाता है, उसे वह तत्काल मिल जाता है। उससे साधक जिस प्रकार और जिस रूपमें मिलना चाहता है, वह उसी रूपमें साधकको मिल जाता है। मिलनेके बाद यह शङ्का अपने-आप मिट जाती है कि वह मिलेगा या नहीं। मिलनेके बाद जो स्थिति होती है, उसका वर्णन गीता अध्याय १२, श्लोक १३ से १९ तक देख लीजिये। वहाँ भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके लक्षण लिखे हैं।

(३) यह संसार अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील और नाशवान् है—जिस रूपमें दिखायी देता है, उस रूपमें नहीं रहता। जो-जो बननेवाली चीजें हैं, वे सभी अनित्य होती हैं। बननेवाली वस्तुका बिगड़ना अनिवार्य है, यह सबके अनुभवमें आता है। यह जीवोंको अनेक कर्मोंका फल भुगतानेके लिये और मनुष्योंको कर्मबन्धनसे छुडानेके लिये बना है। पुण्य और पाप तो मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार स्वयं करता है। यदि संसारमें पाप न हो तो पुण्य किसे कहते हैं—यह पता ही न चले, यदि दु:ख न हो तो सुखकी क्या पहचान?

सृष्टि बननेके पूर्व आप, हम और सभी प्राणी अव्यक्तरूपमें थे एवं भगवान्‌में ही उनकी प्रकृतिके आश्रित थे। बादमें अपने-अपने पूर्वकर्मानुसार यथासमय प्रकट होते रहे।

(४) ईश्वरकी इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह समझ जिनकी है, वे तो कुछ नहीं करते और उनके द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें कोई पाप नहीं होता। पर जो मनुष्य सुखभोगके लालचसे एवं दु:खके भयसे मनमाना कर्म करना चाहते हैं, अपनेको उस कर्मका कर्ता मानते हैं, भगवान्‌के विधानको न मानकर उसका उल्लङ्घन करते हैं, वे ही दोषके भागी होते हैं। कर्म करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है और उसका विधान भी बता दिया है, उसको हरेक मनुष्य समझता भी है, फिर भी उसका उल्लङ्घन करता है, इसलिये ही वह दोषी होता है। जो इस रहस्यको समझ लेता

है कि उसकी कृपाके बिना कुछ नहीं होता, वह अपनी ओरसे कुछ नहीं करता, अतः उसका 'करना' 'होने'मे बदल जाता है।

(५) छ वैरियोंमें लोभ और क्रोध अधिक बलवान् हैं, इनका कारण काम है और उसका भी कारण मोह अर्थात् अज्ञान है।

इनसे निस्तार पानेके लिये साधकको चाहिये कि उसकी जो अज्ञानसे भोगोंमे सुख-बुद्धि हो रही है, उसे अपने विवेकद्वारा मिटाये, इनमें आसक्त न हो। भोगोंका लालच छोड देनेपर सभी वैरियोंसे निस्तार हो जायगा।

क्रोधको मिटानेके लिये साधकको चाहिये कि जो कुछ हो रहा है, उसे भगवान्‌का विधान मान ले, अपने अधिकारका त्याग कर दे, दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करे, उनके कर्तव्यकी ओर दृष्टिपात न करे और अपने कर्तव्यका पालन भगवान्‌की सेवाके नाते करता चला जाय।

(६) बिना अनुमतिके किसीकी वस्तुको ले लेना अवश्य ही पापकर्म है। किस कर्ममें कितना पाप होता है, उसका कर्ताको क्या दण्ड मिलना है और कब मिलता है—यह फलदाताके हाथमें है। प्रभुके कानूनमे सब बातोंका विधान अवश्य है, पर उससे पूरा-पूरा नाप-तौल नहीं किया जा सकता। विस्तार देखना हो तो धर्मशास्त्र और पुराणोंमे देख सकते हैं। जहाँ नरक-यातनाका वर्णन आता है वहाँ लिखा है कि कर्मका फल इस जन्ममे भी मिलता है और आगामी जन्ममे भी।

(२)

सादर हरिस्मरण। आपका कार्ड मिला। समाचार ज्ञात हुए। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद क्या करना चाहिये—यह प्रश्न भगवत्प्राप्त पुरुषके जीवनमे नहीं रहता, क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। फिर भी उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिद्वारा वही क्रिया अपने आप हुआ करती है, जो होनी चाहिये। उसकी प्रत्येक क्रियामें लोकहित भरा रहता है।

(२) भगवत्प्राप्तिके उपाय अनेक हैं। उनके मुख्यरूपमे तीन भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं—(१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग, (३) कर्मयोग। निष्काम-भाव, वैराग्य, समता, शम, दम, तितिक्षा, विवेक आदि दैवी सम्पदाकी सभी मार्गोंमें आवश्यकता है एव दुर्गुण और दुराचाररूप आसुरी सम्पदाका त्याग भी सब प्रकार-के साधनोंमें होना चाहिये।

(३) मनुष्योंकी आसक्ति भोगोंमें हो रही है, वे समझते हैं कि इन भोगोंके द्वारा हम मनकी बात पूरी करके सुखी हो जायँगे। इस मिथ्या धारणाके कारण और भगवत्प्राप्तिके महत्त्वमें विश्वास न होनेके कारण मनुष्यमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती।

(४) जो मनुष्य विवेकके द्वारा जगत्‌की अनित्यता, क्षणभङ्गुरता, दु खरूपता और सारहीनताको समझ गये हैं और इस परिवर्तनशील अशान्त अभावपूर्ण जीवनसे विरक्त होकर आत्मकल्याणकी आवश्यकता समझते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं।

(५) भगवान्‌की प्राप्ति होनेपर मनुष्य सब प्रकारके दु ख, भय और चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उसे सुख और अमृतमय नित्य जीवन प्राप्त होता है। उसके जीवनमें पराधीनता और किसी प्रकार-का अभाव नहीं रहता।

(६) भगवान्‌की प्राप्तिके जो उपाय हैं, वे सब शरीर, मन, इन्द्रियों और बुद्धिको तथा समस्त व्यावहारिक कार्योंको सुन्दर और निर्दोष बना देनेवाले अत उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।

मनुष्य काम, क्रोध, लोभ और मोह आदिके वशमें होकर भेद मानने लग जाता है ।

(७) भगवान्‌की प्राप्ति मनुष्य जब चाहता है, तभी हो जाती है । इस कारण समयकी कोई अवधि नहीं है । केवल एक ही शर्त है कि भगवान्‌के सिवा अन्य किसी प्रकारकी इच्छा नहीं रहनी चाहिये ।

(८) नित्यमुक्त, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वश्रेष्ठ, सर्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको पा लेना, उनका साक्षात् हो जाना ही भगवत्प्राप्ति है ।

(९) 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या शास्त्रोंमे बहुत प्रकारसे की गयी है । जिसमें उपर्युक्त गुण हों और अन्य भी समस्त सद्‌गुणोंका जो भडार हो तथा जो सर्वव्यापी निर्गुण निराकार निर्विशेष भी हो, वह भगवान् है ।

(१०) 'भगवान्', 'आप', 'यह' और 'मैं'—इनमें भेद है । यह भेद जीवोंकी दृष्टिसे है और अनादि है, ब्रह्मकी दृष्टिसे नहीं ।

(३)

सादर हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) आपका 'मैं' दो भागोंमे विभक्त है । एक तो आपने जिसको अपना स्वरूप मान रखा है—यह मनुष्य-जीवन जो कि भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आपको मिला है और आपसे सर्वथा भिन्न है ।

दूसरा आपका वास्तविक स्वरूप है, जो उस प्रभुका ही अंग है और उसीकी जातिका है ।

आपका कर्तव्य क्या है, इसकी परिभाषा बहुत लबी-चौडी है । उसका विस्तार पत्रमें नहीं लिखा जा सकता । मनुष्यका कर्तव्य बतानेके लिये असख्य पुस्तकें और ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं । संक्षेपमें आपका कर्तव्य वही हो सकता है, जो सर्वहितकारी हो, जिसमे किसीका अहित न हो, जिसे करनेकी शक्ति, सामग्री और आवश्यक साधन आपको प्राप्त हो एवं जो आपके वर्ण-आश्रम-धर्मके अनुसार आपके लिये विहित हो और जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो ।

(२) आप अपनेको जहाँ समझ रहे हैं, वहीं हैं । वास्तवमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ आप न हों । शरीरमें आपका खास स्थान हृदय माना गया है । अपना स्वरूप आप स्वय ही जान सकते हैं, उसका वर्णन नहीं होता । ससारमें विभिन्नता होना अनिवार्य है, स्वाभाविक है और अनादि है ।

(३) आप यहाँ (मनुष्य-शरीरमें) अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगकर ससारसे उऋण होकर सदाके लिये इसके बन्धनसे छूटनेके लिये आये हैं । इसके पहले आप इस ससारमें ही थे, पर किस शरीरमें अपना अस्तित्व मानते थे, यह कोई नहीं बता सकता । योगविद्यासे आप स्वय तो जान सकते हैं ।

(४) जिस शरीरको छोडकर आप इस मनुष्य-शरीरमे आये है, उसके सस्कार दब गये हैं, इस कारण उनकी स्मृति नहीं हो रही है । निमित्त पाकर हो सकती है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । आप जब माताके गर्भमे थे, उस समयकी भी तो कोई बात याद नहीं है । करीब तीन सालतकके बालकपनमे—बहुत छोटी अवस्थामें जो काम किये थे, वे भी याद नहीं हैं । रोज जो स्वप्न आता है, वह याद नहीं रहता । इसके अतिरिक्त और भी बहुत बातें स्मरण नहीं रहतीं, यह सबका अनुभव है, फिर पूर्व जन्मकी बात याद न रहना कोई आश्चर्य नहीं है ।

(५) आपका आवागमन इसलिये चालू है कि आप ससारके देनदार हैं । उससे लिया तो बहुत है, दिया कुछ नहीं । जो कुछ भी दिया है, वह भी बदलेमें अधिक लेनेके लिये ही दिया है । यह लेन-

देनका खाता जबतक चुकती नहीं हो जाता, तबतक आवागमन कैसे छूटे ?

(६) आपका चरम लक्ष्य क्या है, यह तो आप जानें, पर मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य ससारके बन्धनसे छूटकर अपने परम प्रियतम प्रभुको पा लेना ही है।

(७) भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे जो विवेक मिला है, उसके द्वारा ससारका स्वरूप तो प्रत्यक्ष दिखलायी दे रहा है कि इसमें कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है, सभी प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं। अत. इनमे आसक्त होना, इनसे सम्बन्ध जोडना, इनकी इच्छा करना अपने विवेककी अवहेलना करना है। दूसरी बात रही भगवान्‌को जाननेकी, सो भगवान्‌को जीव कैसे जाने, क्योंकि उन्हे जाननेका साधन उसके पास है नहीं। अतः उनको जाननेका प्रयत्न न करके साधकको चाहिये कि उनको मान ले अर्थात् दृढ विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर ले कि भगवान् हैं और वे मेरे हैं। मैं और यह समस्त विश्व भी उन्हींका है। इस प्रकार मान लेनेपर वे स्वय ही कृपा करके अपना साक्षात्कार साधकको करा देते हैं, प्रयत्नद्वारा वे नहीं जाने जाते, क्योंकि वे असीम और अनन्त हैं और प्रयत्न सीमित होता है।

(८) ईश्वरमे आस्था (निष्ठा) विश्वास करनेपर ही हो सकती है। जिनकी उनपर आस्था है, उनकी और वेद-शास्त्रकी बात माननेपर, प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली उनकी महिमाको देखकर उसपर विचार करनेसे और अपनी जानकारीके अनुसार जीवन बना लेनेसे ईश्वरमें आस्था सहज ही हो सकती है।

(९) भगवान्‌का प्रभाव क्या है, इसका उत्तर इस छोटेसे पत्रमें कैसे लिखा जाय। उनके प्रभावका वर्णन करनेमें बहुत कुछ कहकर भी कोई पूर्णतया नहीं कह सका। अत. इतना मान लेना ही साधकके लिये अल है कि इस जगत्‌मे जो भी कोई व्यक्ति, पदार्थ आदि प्रभावशाली प्रतीत होते हैं, उन सबका प्रभाव उन्हींके प्रभावके एक अशका प्रतिबिम्बमात्र है। (गीता १० । ४१-४२)

(१०) भगवत्प्राप्त महापुरुषका जो दिव्य ज्ञान है, वही गुरुतत्त्व है। इसके अतिरिक्त प्रभुकी कृपासे मनुष्यको जो विवेक मिला है, वह भी गुरुतत्त्व है। जो उसका आदर नहीं करता, वह गुरुका भी आदर नहीं कर सकता।

(११) हरिकी कृपा तो अनन्त है, सदैव है और सबपर है। उसका अनुभव उस कृपाका आदर करनेपर—अपनेको उन कृपालुका कृतज्ञ बना लेनेपर और उनके आदेशानुसार जीवन बना लेनेपर सुगमतासे हो सकता है।

(१२) प्रभु अवश्य ही विभु हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रभु न हों। स्थानकी पवित्रता और अपवित्रता तो मनुष्योंकी दृष्टिमें है और उसका प्रभाव भी उन्हींपर पड़ता है। आप विचार करें—क्या आपके शरीरमें जहाँ मल-मूत्रका स्थान है, वहाँ आप नहीं हैं। इस दृष्टिसे आपकी यह शङ्का ही बेसमझीकी है। मल और मूत्र जब आपके शरीरसे अलग होते हैं, तभी उनको अपवित्र कहा जाता है। शरीरमे रहते हुए तो कोई भेद नहीं है।

(१३) वर्ण और आश्रमोंकी व्यवस्था मनुष्य-समाजको सुखी और स्वस्थ तथा सर्वहितकारी बनानेके लिये परम आवश्यक है और इहलोक-परलोकमें कल्याणकारी है। इस विषयमें आप अधिक क्या जानना चाहते हैं, विस्तारपूर्वक पूछनेपर उत्तर दिया जा सकता है।

(१४) धर्मका बन्धन सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये है। इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाले कर्तव्यका ही दूसरा नाम धर्म है। वास्तवमें

धर्मका कोई बन्धन नहीं होता। मनुष्यके कर्तव्यका जो विधान है, उसीको धर्मके नामसे कहा जाता है। बिना विधानके कोई भी व्यवस्था नहीं रह सकती।

(१५) धर्मको आश्रय छोड़ देनेपर अधर्मका आश्रय मिलेगा, जिसका परिणाम दुःख, अशान्ति, पराधीनता, अव्यवस्था और पतन अनिवार्य है। दुःख किसीको अभीष्ट नही है, अतः धर्मका आश्रय परम आवश्यक है।

(१६) सनातन धर्म उस धर्मका नाम है, जो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला हो—'यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेषिक सूत्र) तथा जो अनादि है, जो ईश्वरीय विधान है, जो सबके लिये मानने योग्य है। उसमें जो भेद दिखायी दे रहे हैं, इसका कारण कहीं तो स्वार्थी लोगोंद्वारा स्वार्थवश किया हुआ प्रचार है और कहीं वह अधिकारीके भेदसे आवश्यक है, क्योंकि सब मनुष्य एक ही मार्गसे नहीं चल सकते। प्रत्येककी बुद्धि, योग्यता, प्रकृति और समझमें भेद होता है। उसके अनुसार उनकी साधनामें भेद होना भी आवश्यक हैं। ऐसा मतभेद उस सनातन धर्मकी विशेषता और महानताका द्योतक है।

(१७) परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये आपको उसी मान्यताको साधनके रूपमें अपनाना चाहिये, जो रुचिकर हो, जिसपर आपका दृढ विश्वास हो, जिस मान्यताके अनुरूप आप सहजमें ही अपना जीवन बना सकें। जिस मान्यतामें न तो किसीके अहितकी भावना हो, न किसीके साथ द्वेष हो, न किसीकी निन्दा हो—ऐसी सर्वहितकारी मान्यतासे तथा ईश्वरकी भक्ति और ज्ञानसे परम शान्ति मिल सकती है।

अब मानससम्बन्धी शङ्काओंका उत्तर क्रमसे लिखा जाता है—

(१) रामचरितमानस कैसा है, यह तो उसमें स्वय तुलसीदासजीने लिखा ही है। दूसरा कोई उससे अधिक क्या बतायेगा। उसके प्रचारका हेतु तो यही मानना चाहिये कि मनुष्योंका भगवान्में प्रेम हो, विश्वास हो और वे उनके जीवनकी कथासे अपने-अपने कर्तव्य-का ज्ञान प्राप्त करें एव ईश्वरकी भक्तिद्वारा उनको प्राप्त करें।

(२) श्रोता और वक्ताके लक्षण भी रामचरितमानस-के आरम्भमे ही तुलसीदासजीने स्वय बता दिये है। वक्ता सदाचारी, भगवान् रामका प्रेमी भक्त, लोभ और कामनासे रहित अवश्य होना चाहिये। श्रोताके हृदयमें भगवान् रामपर श्रद्धा और उनके चरित्र सुनने-की लालसा होनी चाहिये।

(३) श्रीमानसके कथाप्रबन्धमें विचित्रता सबके लिये एक-सी नहीं है। जिसकी जैसी धारणा है, उस-को वैसी ही विचित्रता प्रतीत होती है।

(४) शकर-धनुषको बडे-बड़े योद्धा नहीं उठा सके, इसमें भगवान् रामद्वारा अभिमानियोंका अभिमान नाश करना और अपने भक्तोंकी श्रद्धाको बढ़ाना इत्यादि बहुत रहस्य हैं।

श्रीलक्ष्मणजीको राक्षसलोग ही नहीं, स्वय रावण भी नहीं उठा सका—इसमें भी रावण आदिको जो अपने बल-पराक्रमका अभिमान था, उसका नाश करना और लक्ष्मणजीकी महिमाका प्राकट्य आदि रहस्य भरा पडा है।

(५) भगवान् राघवेन्द्रने मनुष्यका स्वॉग लिया था। अतः उस स्वाँगके अनुरूप लीला न की जाती तो सारा खेल ही बिगड़ जाता। अपने स्वाँगका पूर्णतया निर्वाह करना ही इन सब लीलाओंका उद्देश्य है। सुग्रीवके साथ श्रीरामने जो क्रोधकी लीला की, उसमें यदि सचमुच क्रोध होता तो क्या वे यह कहते कि—

'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

इसी प्रकार सीताहरणके समय उन्होंने जो शोक और

विषादकी लीला की, उसमें भी वास्तवमें दुःख नहीं था। शबरी और ऋषि-मुनियोंके मिलनमें एवं नारदके साथ हुई बातोंके प्रसङ्गमें इसका रहस्य खुल जाता है।

फुलवारीमें जो हर्षकी लीला है, उसका रहस्य भी लक्ष्मणके सामने भगवान्ने ही खोल दिया है।

(६) हनुमान्जी ब्रह्मपाशमें स्वयं अपनी इच्छासे उसका मान रखने और रावणसे मिलनेके लिये बँधे थे।

इसी प्रकार भगवान् राम भी नागपाशका आदर करने और युद्धकी शोभा बढ़ानेके लिये स्वयं अपनी इच्छासे ही नागपाशमें बँधे थे।

(७) मानसमें 'सत्' शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है। शब्दका अर्थ प्रसङ्गके अनुसार हुआ करता है, उसे समझना चाहिये। 'सत्' शब्द सत्ताका, श्रेष्ठताका और सत्यताका भी वाचक होता है। सत्य बोलनेको भी 'सत्' कहते हैं। आपने जो उदाहरण दिखाये हैं, उनमें तीनों ही अर्थ क्रमसे आये हैं।

(८) 'दूना' शब्द गणितकी दृष्टिसे किसी-न-किसी प्रकारके नाप-तौलकी ओर संकेत करता है। पर आपके पूछे हुए प्रसङ्गोंमें सुख और सुहागका तो नाप-तौल हो सकता है, क्योंकि वह वर्णन सीमितभाव-विषयक है। परंतु भगवान् रामका प्रेम असीम है, उसका नाप-तौल नहीं हो सकता, अतः श्रीहनुमान्जीके कथनमें जो 'दूना' शब्दका प्रयोग है, वह इस भावका द्योतक है कि हे माता! श्रीरामजीका आपके प्रति प्रेम आपसे भी अधिक है। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्जीको भी आश्वासन देनेके लिये ही 'दूना' शब्दका प्रयोग किया है, नाप-तौलकी दृष्टिसे नहीं।

(९) जनकजीने जो चित्रकूटमें सीताजीको उपदेश दिया है, वहाँ 'गुरु' शब्द बड़ोंका वाचक है। श्रीरामजीके जो-जो माननीय पूज्य थे, वे सभी गुरुके अर्थमें सम्मिलित हैं। अतः स्त्रियोंके लिये गुरु बनानेकी बात नहीं है।

(१०) रामनामका स्मरण गोप्य होते हुए भी किसीको सुनाकर करनेका निषेध नहीं है। शब्द यदि दूसरेको न सुनायी दे, पर भाव यह हो कि मैं राम-नामका जप करता हूँ, उसे गुप्त रखता हूँ—इसे लोग जानें, तो वह वास्तवमें गुप्त नहीं है। सुनाकर किया जाय, पर उसमें किसी प्रकारकी मान-बड़ाईकी या अपना महत्त्व प्रकट करनेकी भावना नहीं है तो वह गुप्त ही है। यही इसका रहस्य है।

किसी मन्त्रके मनमें अपने-आप होनेवाले स्मरणका दोष नहीं है।

(११) भगवान् श्रीरामको समस्त अयोध्यावासी साक्षात् परब्रह्म जानते थे, यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सबके भावका क्या पता लगे। परंतु उनको चाहते सभी थे, उनके प्रति प्रेम सबका था। हाँ-सबका प्रेम एक-सा नहीं हो सकता। अयोध्याका प्रभाव जाननेवाला ही उसका प्रभाव बतानेमें शायद समर्थ न हो तो मैं उसे कैसे बताऊँ?

(१२) मानसमें सीता-वनवास, लव-कुशका यौवराज्याभिषेक, लक्ष्मणजीके त्यागका प्रसङ्ग नहीं कहा गया। सम्भव है गोस्वामीजीको यह वर्णन रुचिकर नहीं रहा हो।

'गये जहाँ सीतल अमराई' वाला प्रसङ्ग परम धाम पधारनेका हो, यह बात नहीं है।

(४)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र गीताप्रेस, गोरखपुर होकर मिला। समाचार ज्ञात हुए।

आपने लिखा कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्को प्राप्त करना चाहता हूँ। पर यह बात कहाँतक ठीक है, इसपर विचार करना चाहिये। अपने मनसे ही पूछिये कि भगवान्के मिलनेमें जो विलम्ब हो रहा है, उसका आपको कितना दुःख है। यदि दुःख नहीं है तो वह चाह कैसी।

संसारमें देखा जाता है कि छोटी-से-छोटी आवश्यकताकी पूर्ति न होनेपर मनुष्य महान् दुखी हो जाता है. उसे चैन नहीं पडता; पर भगवान्‌के न मिलनेपर वह चैनसे रह सकता है । फिर भी उसे यह भान होता है कि मैं भगवान्‌को प्राप्त करना चाहता हूँ ।

वास्तवमें बात ऐसी है—जो सचमुच भगवान्‌से मिलना चाहता है, भगवान् उससे मिलनेके लिये आतुर हो उठते है । पर जो भगवान्‌को सुखकी सामग्री बनाकर उनको प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान् कैसे मिलें ? जो भगवान्‌को प्राप्त करना चाहेगा. उसे अन्य किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा क्यों रहेगी ?

आपने पूछा कि निष्कामभाव प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें कैसे वर्तना चाहिये सो जो साधक निष्काम-भाव प्राप्त करना चाहे, उसे किसी भी व्यक्ति या पदार्थसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी आशा नहीं रखनी चाहिये । अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये, किंतु उसका अभिमान नहीं करना चाहिये । बदलेमे न तो किसीसे कुछ लेना चाहिये, न पानेकी आशा ही रखनी चाहिये । दूसरेके कर्तव्यको नहीं देखना चाहिये । किसीके दोषोंको नहीं देखना चाहिये । समस्त व्यक्ति, वस्तुएँ भगवान्‌की है, अत कोई न तो मेरा है, न पराया है; ऐसा भाव रखना चाहिये । सबका हित करनेका भाव रखना चाहिये । किसीका भी अहित न तो करना चाहिये, न मनमे किसीका अहित चाहना ही चाहिये । ऐसा करनेसे निष्कामभाव प्राप्त हो सकता है ।

शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक वस्तु न तो किसीसे माँगनी चाहिये और न उसका भार भगवान्‌पर ही छोडना चाहिये । बिना याचना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे शरीरके उपयोगमे लगा देना चाहिये । न मिले तो भगवान्‌की कृपाका अनुभव करके उनके प्रेममें विभोर हो जाना चाहिये । समझना चाहिये कि आज भगवान् अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं। यदि आवश्यकतासे अधिक वस्तु प्राप्त हो जाय तो जिनको आवश्यकता हो, उनके हितमें उसको लगा देना चाहिये । शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्राप्त हो तो उसको शरीरके हितमे लगा देना चाहिये और उसमें भी भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेममें निमग्न रहना चाहिये । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि न तो निष्काम-भावका अभिमान हो और न प्राप्त वस्तुओंके उपभोग-का सुख हो ।

आपने लिखा कि मैं दिनभर नामजप करता हूँ. यह अच्छी बात है, पर क्या रात्रिमें नाम-जप नहीं करते ? यदि ऐसा हो तो निरन्तर करनेका अभ्यास करना चाहिये ।

नामजप विधिपूर्वक होता है या नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये । नामजपके लिये अन्य कर्मोंकी भाँति कोई विशेष विधि-विधान नहीं है । उसके लिये तो नाम और नामीके साथ अपनापना ही पर्याप्त है । जिसका नाम लेता हूँ, वह मेरा है और मैं उसका हूँ—यह भाव निस्सन्देह और दृढ होना चाहिये ।

ध्यानसहित आदर और प्रेमपूर्वक किया हुआ जप अनन्त फल देनेवाला है । साधारण जपके साथ उसकी १० गुना और १०० गुना कहकर तुलना नहीं की जा सकती तथा वैसा जप करनेवालेकी दृष्टि भी समय, सख्या और फलपर नहीं रहती । वह तो अपने प्रियतम-का स्मरण इसलिये करता है कि उसके किये बिना उसे चैन नहीं पडता, वह बिना किये रह नहीं सकता क्योंकि वह स्मरण ही उसका जीवन है । यदि उसका सहारा न होता तो उसके लिये अपने प्रियके वियोगमें जीवित रहना भी असम्भव हो जाता ।

संख्या पूरी करनेके लिये जपमें जल्दीबाजी न करके भावपूर्वक जप करना चाहिये।

जप करते समय कोई आ जाय तो उसे भगवान्‌का भेजा हुआ समझकर आदर और प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिये। पर ऐसी बातें ही करनी चाहिये, जिनमें उसका हित भरा हो। ऐसी बातोंमें समय नष्ट नहीं करना चाहिये, जो किसी अन्यके दोषों या निन्दा-स्तुतिसे सम्बन्ध रखती हो या जो व्यर्थ चर्चा हो।

साधन किसीके देख लेनेसे प्रकट हो जाता है और न देखनेसे गुप्त रहता है, ऐसी बात नहीं है। साधन वही गुप्त है, जो किसीको दिखानेकी भावनासे न किया जाता हो, जिसके करनेका साधकके मनमें अभिमान न हो, जिसके फलस्वरूप वह किसीसे कुछ आशा न करता हो।

नामजपके अपराध १० बताये जाते हैं, पर वास्तवमें उसकी महिमापर विश्वास न होना और उसके बदलेमें किसी प्रकारका सुख चाहना यही अपराध है। दूसरे अपराधोंका जन्म इनके कारण ही होता है।

साधकके मनमें ऐसा भाव नहीं आना चाहिये कि मैं किसी दूसरेका अन्न खाता हूँ। उसे तो समझना चाहिये कि मुझे जो कुछ शारीरिक सेवाके लिये प्राप्त होता है, वह सब कुछ भगवान्‌का है और यह शरीर भी उन्हींका है। उन्हींकी वस्तुका उनके आदेशानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये उपभोग करनेमें मैं तो निमित्तमात्र हूँ। करने-करानेवाले भी वास्तवमें वे ही हैं, क्योंकि जो कुछ करनेकी शक्ति और योग्यता है, वह भी तो उन्हींकी दी हुई है और मैं स्वयं भी उन्हींका हूँ, फिर दूसरा है ही कौन?

निष्कामभावमें तो इसके लिये भी स्थान नहीं है कि मैं साधन करता हूँ, उसका फल मिलेगा और आधा हिस्सा अन्नदाताको मिल जायगा, क्योंकि उसके मनमें तो फलका संकल्प ही नहीं रहता, फिर यह शङ्का कैसे हो कि इसका आधा फल अन्नदाताको मिलेगा। यदि कोई फल होता है और सब-का-सब सभी लोगोंको मिलता रहे तो उसे इसकी चिन्ता क्यों होनी चाहिये।

आहारशुद्धिके विषयमें आपने पूछा सो जिसके आचरण और भाव शुद्ध हैं; जो यथासाध्य अपनी जानकारीके अनुसार पवित्रतापूर्वक भोजन तैयार करता है, उसका बनाया हुआ अन्न शुद्ध है, पर साधकको तो वह तभी स्वीकृत होना चाहिये, जब उसे स्वीकार न करनेपर देनेवालेको दुःख हो और शरीरके लिये उसकी आवश्यकता हो। किसी प्रकारके स्वादसे या मान-प्रतिष्ठासे प्रेरित होकर स्वीकार नहीं करना चाहिये तथा अभिमानसे प्रेरित होकर उसका त्याग भी नहीं करना चाहिये। यदि स्वीकार न करना ही उचित समझा जाय तो बड़ी नम्रताके साथ स्वीकार न करनेका सच्चा कारण निवेदन करके उससे क्षमा माँग लेनी चाहिये ताकि उसके मनपर किसी प्रकारका आघात न पहुँचे।

जिसमें सबका हित हो, वही काम करने योग्य है और जिसमें किसीका भी अहित होता हो, वह करने योग्य नहीं है। इसी सूत्रको लेकर कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय कर लेना चाहिये। जिसके करनेकी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसके करनेका विधान हो, जो वर्तमानमें करना आवश्यक हो और जो हितकर हो, वही करना चाहिये। प्रत्येक कामके विषयमें अलग-अलग कहाँतक लिखा जाय।

आपके मनमें उठनेवाली शङ्काओंका उत्तर विचार करनेपर अपने-आप मिल सकता है। उसपर भी कोई बात पूछनेकी मनमें उठे तो बिना संकोच पूछ लिया करें।

कल्याणका भार तो भगवान्‌ने किसी दूसरेपर नहीं छोड़ा है, अपने ही हाथमें रखा है। जो अपना

कल्याण चाहता है, उसका कल्याण करनेके लिये प्रभु हर समय तैयार रहते हैं। अत. साधकको दूसरे किसीसे भी अपने कल्याणकी आशा नहीं रखनी चाहिये।

रामायणमें भगवान्‌ने जो यह बात कही है कि 'शकर भजन बिना नर भक्ति न पावइ मोरि', इसका मुख्य अभिप्राय तो यह मालूम होता है कि जो लोग भ्रमवश भगवान् शकर और राममें भेदबुद्धि करके राग-द्वेष कर लेते हैं, वे भूल करते हैं। वास्तवमें भगवान् राम और शकर दो नहीं हैं। रामभक्तके लिये शंकर रामका प्रेमी है, इसलिये भक्तका गुरु है और शिवभक्तके लिये राम शकरका प्रेमी है, इसलिये वह शकर-भक्तका गुरु है। जिसको भी रामका प्रेम प्राप्त करना है, उसे उस प्रेमकी शिक्षा भगवान् शंकरसे मिलेगी। उसको वैसा ही भजन, स्मरण और प्रेम करना पड़ेगा, जैसा भगवान् शंकर करते हैं, अत उसके लिये शकरकी भक्ति आवश्यक है। उसी प्रकार शकरके भक्तके लिये रामभक्ति आवश्यक है।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

४८. काम करते समय जिस किसी वस्तुपर दृष्टि जाय, उसीमें एक बार श्रीश्यामसुन्दरकी उस मधुर छविको देखनेका अभ्यास कीजिये। साथ ही 'नाम' निरन्तर चलता रहे। छूटे, फिर पकड़ें, इस प्रकार अपनी जानमें ईमानदारीके साथ जीभसे नाम एव मनके द्वारा लीलाका या रूपका चिन्तन करनेकी पूरी चेष्टा करें। फिर यदि एक पाई भी सफलता न हो तो कोई आपत्ति नहीं, बिल्कुल आपत्ति नहीं। साधना न हो तो दोषकी बात बिल्कुल नहीं है; पर उसके लिये मनमें महत्त्व न होकर उसे छोड़ देना दोष है। मान लें—समस्त जीवन चेष्टा करते रह गये, न वृत्ति सुधरी, न भाव हुआ न विश्वास, यहाँतक कि रूपकी मामूली धारणापर मन एक सेकडके लिये भी स्थिर नहीं हुआ। पर यह लालसा लगी रही और बार-बार करते ही गये तो फिर मैं तो सगयहीन होकर ही यह कहता हूँ कि आपको ठीक वही चीज भगवान् देंगे, जो सर्वथा साधनाकी परिपक्व अवस्थामें ऊँचे साधकोंको मिलती है। ध्यान करते समय कोई चित्र नहीं बॅधता तो घबराइये मत। कभी वृन्दावन तो गये ही हैं। वहाँका सर्वोत्तम दृश्य, जो आपके मनमे हो उसकी, उन पेड़-पत्तोंकी धुँधली-सी स्मृति मानस-पटलपर क्या नहीं ला सकते? मैं ठीक कहता हूँ—मस्तिष्क यदि पागल हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा निश्चय ला सकते हैं। प्रतिदिन नियमसे एक बार ही स्मरण कीजिये, पर कीजिये अवश्य। फिर देखेंगे वह एक बारकी स्मृति—उन वृक्षोंकी स्मृति ही आगे चलकर अनन्तगुनी हो जायगी तथा मरते समय यदि उन लता आदिकी ही कोई धुँधली-सी स्मृति हो गयी तो निश्चय समझे, आप निहाल हो गये। व्रजमें लता बनेंगे और स्वय राधा-रानी एव श्रीकृष्ण उस लता-रूप, सच्चिदानन्दमय लतारूप आपके समीप आकर अपने हाथोंसे फूल तोड़ेंगे तथा आप चाहें तो उसी क्षण अपने इच्छानुसार रूप धारण करके उनकी सेवा कर सकते हैं। व्रजकी लताका ध्यान करके लता बनने-वाला ब्रह्मप्राप्त पुरुषसे कम नहीं है। यह भावुकताकी बात हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य ही इस सिद्धान्त-को श्रीकृष्णकी अतिशय कृपासे ही आप समझेंगे और विश्वास कर सकेंगे।

स्वय तो पहले तत्त्वत. श्रीकृष्ण बनकर ही तब व्रज-के लता बनेंगे, क्योंकि श्रीकृष्णके व्रजकी लता जड वस्तु नहीं है, वह सच्चिदानन्दमय है। सोचिये,

श्रीकृष्णकी कितनी कृपा है—बिना उस दिव्य लताको देखे ही प्राकृत धारणामें आयी हुई लताका आप ध्यान करते है, पर वे इसीको अपना ध्यान मान लेते है, इसीको निमित्त बनाकर वे आपको सर्वोच्च स्थिति प्रदान कर देते हैं। आपसे क्या लता, पेड, पत्ते, मिट्टीके घडे, पीतलके कलसेका भी ध्यान नहीं हो सकता? और मजा यह है कि इनमेसे किसीका व्रजभावसे भावित होकर ध्यान करनेपर बिल्कुल सच्चिदानन्दमय राज्यमे ही प्रवेशाधिकार मिल सकता है।

सन्ध्या-समय, आपने देखा होगा, गायें वनसे लौटती है। ठीक उसी तरहका एक धुँधला चित्र व्रजभावसे भावित होकर इस समय अपने मानस-पटलपर लाकर देखे—गायें आ रही है, बस, श्रीकृष्ण मान लेंगे कि यह मेरा ध्यान कर रहा है।

योगीके लिये मन लगाना, मन स्थिर करना कठिन हैं, क्योंकि उसे तन्मय करना है एक वस्तुमे। पर यहाँ तो गायसे मन उचटे तो पेडमें, पेडसे मन उचटा तो यमुनाके जलमें, वहाँसे मन उचटा तो वनकी पगडडीमें, वहाँसे मन गया तो गोबरमें, धूलिमे (सब सच्चिदानन्दमय है) मन लगाकर कहीं—कुछ भी ध्यान करके कृतार्थ हो सकते है। क्या परिश्रम है? केवल चाहकी कमी है।

यहाँ बैठे-बैठे इस कलममें देखें, भावना करे—यह पेड़-सा दीखता है, वृन्दावनमें हरे पेडोंका रंग इससे कुछ भिन्न है। अब इस प्रकारके चिन्तनको ही श्रीकृष्ण अपना चिन्तन मान लेंगे और ठीक इसे निमित्त बनाकर मरते समय आपको सर्वोच्च स्थितिका दान कर देंगे। वे देखेंगे अपनी जानमें इसने मनको मेरी प्यारी वस्तुओंमें लगाया है। गायें मुझे प्यारी हैं, वन मुझे प्यारे हैं, पेड-लता मुझे प्यारे हैं—इसने मेरी प्यारी वस्तुओंका चिन्तन किया है। इसका तो मैं ऋणी हूँ। यह भी जाने दें, और कुछ न सही, एक बार कहिये—राधा राधा। ये शब्द भावुकताकी बात नहीं है—श्रीकृष्णको ऋणी बना देंगे—

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

आपकी समस्त अशान्ति एक क्षणमें दूर हो जायगी। आप केवल व्रज-लीलामे मनको थोडा-सा भी ले जानेका अभ्यास डाल ले, यद्यपि यह है सर्वथा कृपासाध्य। बडे-बड़े ऊँचे अधिकारी हो सकते हैं, पर उनकी अभिरुचि ही इस ओर नहीं होती। समस्त जीवन रचे-पचे रहनेपर भी आनन्द-शान्ति उनके भाग्यमे बहुत ही कम हाथ लगते हैं, क्योंकि उन्हे भगवत्कृपाका अवलम्बन प्राय नहीं रहता। पर यह व्रज-लीला ऐसी है कि इसमे रुचि यदि हुई तो यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त मान लें कि किसी विलक्षण महात्माकी अहैतुकी कृपा आपको उस स्तरमें ले जानेके लिये हो चुकी है। नहीं तो, रुचि असम्भव है। आप तो अपना परम सौभाग्य समझें। अब केवल थोडा-सा और आगे बढ जाइये। इस व्रज-लीलाकी कल्पनामे अपने मनको तदाकार कर दे। यह इतना आसान है कि इसकी कल्पना भी बिना लगे हो नहीं सकती। अवश्य ही यह होनी चाहिये सची। व्रजभावसे भावित चित्तसे लता, पेड, पत्ते, पगडडी, वन, गा`, गोशालाकी भीत, साड़ी, साफा देखते-देखते ही मन इस नश्वर राज्यसे उठकर वहाँ चला जायगा। वहाँ जाकर आप यहाँकी परिस्थितिके लिये सर्वथा चिन्ताहीन हो जायँगे, यहाँकी उधेड-बुन रहेगी ही नहीं, मन एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर जायगा।

४९. अत्यन्त तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ, गदी-से-गदी चीज, आगमे पड़कर अपना समस्त मैल—अपनी समस्त दुर्गन्ध त्यागकर ठीक आगका रूप धारण कर लेती है, वह इतनी तेज हो जाती है कि वह स्वयं अपने सम्पर्कमें

आनेवाली वस्तुको भी भस्म कर देती है। इसी प्रकार किसी भी भगवत्-प्रेमी संतमें मिलिये तो सही, मिलते ही थोडा नहीं, पूरा-का-पूरा—सब कुछ, जो भी वे है, जो भी उनमे है, सब—आपमे उतर आयेगा। आग तो जड है और संत चेतन ही नहीं, इस विलक्षण जातिके चेतनके रूपमे रहते हैं कि उसकी कोई उपमा ही नहीं है, कोई दृष्टान्त नहीं है कि उस स्थितिको हम या आप बुद्धिके द्वारा समझ ले। आप ठीक-ठीक उसी रसमें ढलकर, अपने-आपको मिटाकर उसी रसके अनुरूप नहीं हो जायँगे, तबतक स्थिति क्या है—यह समझना सम्भव ही नहीं है। वह रस सच्चिदानन्दमय है; आप स्वयं जबतक समस्त जडतासे सम्बन्ध नहीं तोड लेंगे, तबतक उस रसका आस्वाद नहीं हो सकता। अभी तो मन प्यारा लगता है, पुत्र, परिवार, धन प्यारे लगते हैं। जड वस्तुओंकी तह-की-तह चारों ओरसे लिपटी हुई है। वास्तविक आनन्दकी बात छोड दें, संतके प्रति साधारण-से सम्बन्धका जो फल होना चाहिये, वह भी हमलोगोंमें-से शायद ही किसीमें अभिव्यक्त हुआ हो। देखें, मै कहता हूँ—'आप यह कार्य कर दें' और संत भी मेरी तरह ठीक यही बात कहते हैं। दोनों ही शब्द हैं, पर दोनोंमें इतना अन्तर है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। मेरा कहना, मेरी आवाज, उस चेतन सत्ताके आधारपर है, जिसकी संज्ञा 'जीव' है और जिसमे यह अहंकार वर्तमान है कि 'मै हूँ'; परंतु 'आप यह कार्य कर दें'—संतके मुखसे निकले हुए ये शब्द उस विलक्षण अनिर्वचनीय चेतन सत्ताके आधारपर है, जो कहता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।'
'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'
'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥'

परंतु क्या आपको वह आनन्द मिलता है, निश्चय नहीं मिलता। मिलता होता तो आपकी स्थिति ही बदल जाती। वहाँ, संतके ढाँचेके अन्तरालमें वह बोलता है, जो सर्वेश्वर है, जो 'सुहृदं सर्वभूतानां'की घोषणा करता है, जिसमे केवल आनन्द-ही-आनन्द है। पर आपको तो डर लगता है, प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है। जहाँ प्राणकी व्याकुलता लेकर सदाके लिये उसीमें समा जानेकी इच्छा हो जानी चाहिये थी, वहाँ उपरामता भी आती है। ऐसा क्यों होता है? इसीलिये कि उसमें मिले नहीं। आगकी तरह उसकी कृपा आपको चारों ओरसे घेर रही है, घेरे हुए है और आगे चलकर वह मिला भी लेगी निश्चय, परंतु अभीतक आप अपनी ओरसे मिले नहीं। अपनी दुर्गन्धसे आपको घृणा नहीं है। आप उसमे मिल जानेकी तीव्र लालसा नहीं रखते। विश्वास कीजिये—'आप चाहे मलिन-से-मलिन प्राणी क्यों न हों, केवल मैलेकी तरह आपमें दुर्गन्ध ही क्यों न भरी हो, बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, केवल बदबू आ रही हो, पर 'संत' नामकी वस्तु इतनी पवित्र है, इतनी सरस है कि उसका स्पर्श होते ही आप बिल्कुल उसी ढाँचेमें ढल जाइयेगा। आग क्या यह देखती है कि यह मैला है? मैला आगमें पडा कि सारा-का-सारा अगारा बन जायगा। अस्तु, मिलिये। उसमें मिलिये। अपनी सारी मलिनता, सारी दुर्गन्ध लेकर मिलिये। दिन-रात उसके इशारेपर चलनेकी चेष्टा कीजिये। दिन-रात सोचिये, संत कितने कृपालु हैं। दिन-रात यह विचार कीजिये—'कृपामय! तुम्हारी कृपा ही मुझे भले अपना ले, मुझमें तो बल नही।' दिन-रात नाम लीजिये, चलते-फिरते नाम लीजिये। इससे बड़ी सहायता मिलेगी। दिन-रात यही इच्छा कीजिये कि संतका संग नहीं छूटे। दिन-रात यही सोचिये कि संतके लिये परिवार, संतके लिये इज्जत यदि बाधक है तो संतके चरणोंमें इनको भी समर्पण कर देना है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं किसीको सन्यासी बननेकी उत्तेजना देता हूँ। बाहर कपड़ा रँगकर भी क्या होगा। परंतु यह ठीक है,

नितान्त सत्य है, सर्वस्वकी आहुति देनेके लिये तैयारी मनसे ही करनी पड़ेगी। बाहरका ढाँचा ज्यों-का-त्यों रहकर मन बिल्कुल खाली हो जायगा, तभी आपकी अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि किसी संतकी दृष्टि—अमृतमयी दृष्टि, अमोघ दृष्टि पड चुकी है तो आपके लिये परवाना काटा जा चुका; परतु आप यदि अपनी ओरसे देनेके लिये—जिसकी चीज है, उसकी ही चीज उसको लौटानेके लिये तैयार हो जायँ, अर्थात् अपनी ममता उठाकर सबपर उसका अधिकार मान लें, तो फिर शीघ्र-से-शीघ्र कृपा प्रकाशित हो जायगी। आपने पूछा और मेरे ऊपर आपका प्रेम भी है, इसीलिये कहता हूँ—'रोटी मुझे भी भगवान् ही देते हैं, कपड़े भी वे ही देते हैं, आपको भी वे ही देते हैं और देंगे। फिर अपनी एव परिवारकी चिन्ता क्यों करते हैं? मैं जिस दिन उनका होऊँगा, उसी दिन मेरा मन यह ठीक कहेगा कि मुझसे सम्बद्ध समस्त चीजें उनकी हैं—वे उन्हें नष्ट कर दें, तोड़ दें, फेंक दें या जो भी चाहें करें। मैं क्यों कहूँ,—ऐसा करें, वैसा करें। मेरी कोई चाह नहीं—उनकी चाह ही, बस आपकी चाह।' यह भाव ही संत-चरणोंमें प्रेम होनेकी पहली सीढ़ी है।

५०. आप पाँच सूत्रोंको याद रखें—

१. विषय-त्यागसे प्रेम।

२. लीला-गुणोंके श्रवणसे प्रेम।

३ अखण्ड तैलधारावत् भजनसे प्रेम।

४ पर मुख्यत भगवान्के भक्तकी कृपासे ही प्रेम होता है। और—

५ यह कृपा उनकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

पर निमित्तरूप उपाय है—रोना, भगवान्के सामने रोते जाना। मनमें केवल श्रीराधाकृष्णके चरणोंमें न्योछावर होनेकी लालसा रहकर बाकी सब लालसा मिट जानी चाहिये।

५१. पुत्र, स्त्री, बच्चे, परिवारका चित्र बहुत आग्रह-पर ही मनमें आये, अन्यथा वे कैसे हैं, उनका क्या हो रहा है, उनका भला-बुरा किस बातमे है—इन सबको सर्वथा विश्वासके साथ भगवान्पर छोडकर सर्वथा निश्चिन्ततापूर्वक जागनेसे सोनेतक केवल भजन-स्मरणमें समय बिताना—यही ऊँचे स्तरके त्यागका बाहरी रूप है।

५२. एक मित्रको मैंने उनके जीवन-सुधारका यही उपाय बतलाया है कि पापसे बचो, बचनेकी चेष्टा करो; परतु जब भी, जिस प्रकार भी बुरे विचार मनमें आयें; उन्हें साफ-साफ लिखकर किसी संतके पास भेजते रहो; फिर कोई परवा नहीं।

५३. विज्ञानका नियम है—काँच ही नहीं, समस्त धातु बनते ही हैं सूर्यसे। सूर्यकी किरणोंसे ही समस्त धातुओंका निर्माण होता है। सूर्यकान्तमणि भी बनती है सूर्यसे ही। उसी प्रकार ठीकसे कोई भी भगवान् एवं संतकी कृपाको ग्रहण करके एक क्षणमें ही उच्च-से-उच्च अधिकारी बन सकता है। आज व्याख्यानमें सुना—लाखों वर्षके अन्धकारको मिटनेके लिये लाख वर्षकी जरूरत नहीं है। जरूरत है प्रकाश पहुँचनेकी। प्रकाश आते ही उसी क्षण उजाला हो जायगा। ठीक इसी प्रकार रत्तीभर भी कोई साधना नहीं चाहिये, कुछ भी जरूरत नहीं है। जरूरत है—बस, आप सच्चे मनसे चाह लें इनकी कृपाको ग्रहण करना। निश्चय समझें, फिर वह उसी क्षण प्रकाशित हो जायगी। उस सच्ची चाहका स्वरूप यही है कि दूसरी कोई भी चाह मनमें न रहे और वह चाह किसी अन्य वस्तुसे मिटे नहीं।

५४. सर्वत्र भगवद्दर्शन तथा महापुरुषोंके प्रति तीव्र आकर्षण—दोनों ही बातोंके लिये जिस क्षण तीव्र उत्कण्ठा, तीव्र चाह उत्पन्न होगी, उसी क्षण आपकी दशा बड़ी विलक्षण हो जायगी। जीवनमें केवल एक ही उद्देश्य

रह जायगा—कैसे ये दो बातें पूरी हों, कैसे, किस उपायसे जल्दी-से-जल्दी यह हो जाय। उस समय जो भी उपाय आपको बताया जायगा, कोई मामूली व्यक्ति विनोदमें भी आपको बता देगा तो आप वही करनेके लिये पागलकी तरह तैयार हो जाइयेगा। वह करना नहीं पडता, स्वाभाविक मनकी ऐसी दशा हो जाती है। पर अभी क्या दशा है—विचारें, चेष्टा करनेके लिये मन बहुत कम तैयार है। भगवद्दर्शनके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय—सबसे सरल उपाय, जिसमें मनकी बहुत कम जरूरत है, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको श्रीमद्भागवत-समाप्तिके समय बताया है, पर उसे कौन करनेके लिये तैयार है ? भगवान्ने कहा है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १६-१७, १९)

'हँसनेवालोंकी परवा छोड दो, लज्जा एवं देहाभिमानादि भी छोड दो तथा कुत्ते, चाण्डाल, गौ, गधेतकको भूमिपर पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। जबतक सभी भूतोंमें मेरी अभिव्यक्ति न दीखे, तबतक शरीर, मन एवं वाणीकी वृत्तिसे ऐसी उपासना करो। भगवत्प्राप्तिके जितने उपाय हैं, उनमे सबसे सुन्दर उपाय मेरी रायमें यही है कि सभी भूतोंमें मन, वाणी एव शरीरकी वृत्तिसे मेरी भावना की जाय।'

ये श्रीभगवान् कृष्णके श्रीमुखके वाक्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णसे बढकर उपदेशक न कोई है, न हुआ है, न होगा। पर कौन उपर्युक्त उपायको करनेके लिये तैयार है ? आपका शरीर इसे कर ही नहीं सकेगा। तरह-तरहकी युक्तियोंका, योग्यताका, महापुरुषकी रायका बहाना बताकर आप इसे टाल देंगे। इसी प्रकार महापुरुषोंमें श्रद्धाके लिये जिस समय सर्वस्व-त्यागका प्रश्न खड़ा हो जाय, उस समय इतने ऊँचे त्यागकी बात छोड दीजिये, तुच्छ-से-तुच्छ त्याग भी नहीं सहजमें होगा। आपको जीवन-निर्वाहके लिये कमी नहीं है। पर मनमें रुपयेका महत्त्व रहनेके कारण होता यह है कि जरा-सा कहीं भी उसमे नुकसान पहुँचनेकी बात ध्यानमें आ जाय तो सबसे पहले उसकी रक्षाका प्रश्न उठ खड़ा होता है। ठीक ऐसे ही जिस दिन भगवद्दर्शन, संतप्रेमका महत्त्व मनमें घर कर जायगा, उस दिन अपने-आप सभी उपाय आप करने लग जायँगे।

५५. हमलोग असलमे भगवान्की महिमा जानते ही नहीं। जानते होते, तो उन भगवान्का साक्षात् करके उनके साथ तरह-तरहके नित्य नये प्रेमका व्यवहार करनेवाले महापुरुषको देखकर जीवनकी ऐसी विलक्षण दशा हो जाती कि उसका वर्णन करना असम्भव है। आप विचारें, भारतवर्षके मुख्य मन्त्रीसे मिलकर जब कोई आदमी बँगलेसे बाहर आता है और वह यदि किसीसे हाथ मिला लेता है अथवा किसीकी ओर थोडा मुसकुरा देता है तो वह आदमी समझता है, मानो हम तो बस, निहाल ही हो गये तथा कहीं वह किसीको मोटरमें साथ बैठा ले, उस समय तो उसके गौरवकी—उसके मनमें अपने ऊँचे होनेकी भावनाकी जो तरङ्गें उठती हैं, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भला, ऐसे-ऐसे अनन्त मुख्य मन्त्री लाट ही नहीं, अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके इशारेसे एक क्षणमे पलक मारते-मारते बन जाते हैं और दूसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं, वह अखिलब्रह्माण्डपति स्वय जिसके सामने आकर अत्यन्त प्रेमसे बातें करें, उसके साथ तरह-तरहकी लीला करें, तो ऐसे पुरुषसे बढ़कर जगत्में और कौन है ? मान लें कोई महापुरुष है, वह एकान्त कमरेमें बैठा भगवान्से बातें कर रहा है, उसी समय आप आये, बाहरसे पुकारा और पुकारते ही वह महापुरुष आपसे

बड़े प्रेमसे कहे—आओ, पधारो। अब यदि आप रत्तीभर भी इस बातका महत्त्व जानते, तो फिर ऐसा अनुभव होता कि जगत्‌में हमसे बढकर भाग्यवान् कोई नहीं। अशान्तिकी तो छाया भी आपको नहीं छू सकती। और मन उस अतुलनीय आनन्दसे निरन्तर इस प्रकार भरा रहता कि जगत् आपको देखकर दग रह जाता। अरे, जिन आँखोंसे उस महापुरुषने अभी-अभी भगवान्‌को देखा है, अभी-अभी जिस शरीरको भगवान्‌ने स्पर्श किया है, उन्हीं आँखोंसे वह महापुरुष आपको देख रहा है, उसी शरीरसे आपको स्पर्श कर रहा है। सच मानिये—यदि किसी दिन भगवान्‌की अपार कृपासे भगवान्‌की महत्तापर विश्वास कीजियेगा, उसी दिन बस, महापुरुषके मिलनेका क्या आनन्द होता है—यह समझ सकियेगा। मन बिल्कुल विषयोंसे कूट-कूटकर भरा है। हमलोगोंका मन एकदम गदा है, इसीलिये महापुरुषके दर्शनका हमें आनन्द नही मिलता। समझना-समझाना कठिन है, पर वस्तुत. महापुरुषके सङ्गका आनन्द इतना दिव्य, इतना विलक्षण, इतना असीम है कि बस, उस आनन्दकी कहीं भी, किसी भी सुखसे तुलना हो ही नहीं सकती। वह आनन्द क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है, कभी समाप्त नहीं होता। हाथ जोडकर, दीन होकर रोते हुए हमलोग प्रार्थना करें—'प्रभो! अत्यन्त पामर, दीन, हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी कृपा प्रकाशित करो। नाथ! तुम्हारे जन सतोंके प्रति निस्स्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो।' प्रतिदिन प्रार्थना कीजिये। प्रार्थनासे बडा काम होता है। सच मानिये—ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् न दे सकें। ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें। वे असम्भवको सम्भव, एक क्षणमे सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं। पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है।

हरिसे लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

जिसकी अपार कृपासे, अहैतुकी कृपासे, आप यहाँ पारमार्थिक पवित्रतम वातावरणमे आ पहुँचे हैं, उसीकी अपार कृपा निश्चय ही बिना किसी भी शका-सदेहके आपके आगेका रास्ता भी तय करा देगी। भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई।
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहे नाथ भलाई॥

'नाथ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है, मैं नित्य निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मै नहीं छोडता, तब मेरे नाथ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोडते हो? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो।'

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं। निश्चय मानिये—जैसे सूर्यमे यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्‌मे, विनोदकी भाषामे कहनेपर, यह कहा जा सकता है कि उनमे यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें। अब आप ही सोचें, जीत किसकी होगी? एक ओर अखिल ब्रह्माण्ड-पति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा। इन दोनोंमे निश्चय ही जीत भगवान्‌की होगी।

५६. सूर्यसे ही सब वस्तुएँ बनती हैं। काँच, सोना, चाँदी और मणियाँ—सब सूर्य ही बनाते हैं। सूर्यकी किरणोंसे ही सब बनता है। पर उन्हींकी बनायी हुई चीजोंमेंसे किसीपर तो किरण खूब चमकती है, किसीपर किरण पड़कर थोडा गरम होकर ही रह जाती है। इसी प्रकार अहैतुकी कृपा ही सबमे भगवद्विश्वास पैदा करती है। धीरे-धीरे यह कृपा ही पूर्ण विश्वास कराती है। कृपामे पड़े रहकर अपने-आप अन्त.करण पूर्ण कृपा-प्रकाशका अधिकारी बन जाता है। इसलिये घबराना नहीं चाहिये—बस, पडे रहना चाहिये।

कृपारूप किरणोंके प्रकाशमें फिर आप ही सर्वोत्तम बन जाइयेगा ।

५७ यदि आप अभी किसी दूरस्थित मित्रको याद करें तो उसकी मानसिक मूर्ति तो सामने आ जायगी, पर उसका शरीर यहाँसे बहुत दूर किसी अन्य स्थानमे होनेके कारण नहीं दीखेगा, परतु भगवान्‌मे यह बात नहीं है । भगवान् और भगवान्‌का स्मरण दो वस्तु नहीं हैं । जिस समय आप भगवान्‌की मूर्ति अपने मानस-पटलपर लाते है, उसी समय वहीं पूर्णरूपसे भगवान् आपके मनमें आ जाते है । पर वे बोलते इसीलिये नहीं हैं कि आप उन्हें भावनाका चित्र मान लेते है और थोडी देर बाद फिर दूसरे कामोंमें लग जाते हैं । यदि ठीकसे कोई एक भी लीलाका चित्र बॉधकर मनको उसमे डुबाये रखे तो उसी भगवान्‌की मूर्तिमे भगवान् प्रकट हो जायँगे, क्योंकि भगवान् वहॉ पहलेसे ही हैं । जबतक मन नहीं लगायेंगे, तबतक 'मैं भगवान्‌को चाहता हूँ' यह कहना बनता नहीं । आप ही सोचें—धन चाहनेपर मन उसमें कैसे लगता है ? कौन-सी युक्ति मन लगानेकी आपने किसीसे पूछी थी ? नहीं पूछी थी, मनकी स्वाभाविक गति धनकी ओर लग रही थी, क्योंकि धनकी चाह थी । इसी प्रकार जहाँ भगवान्‌की चाह है, वहाँ मनकी गति उसी ओर दौडेगी । धन तो चाहनेमात्र-से नहीं मिलता, उसके लिये न जानें कितने उद्योग करने पडते हैं, फिर उद्योगके सफल होनेका निश्चय नहीं । पर इसमें केवल चाहकी जरूरत है । 'हे नाथ ! तुम मुझे मिल जाओ'—यह चाह होते ही वे मिल जायँगे । आप ही सोचें—जब भगवान्‌का चिन्तन छोडकर मन दूसरी चीजपर जाता है, तब उसके लिये भगवान्‌से अधिक मूल्य उस वस्तुका है या नहीं ? और जब उसकी कीमत आपके मनमें ज्यादे है तो भगवान् क्यों आयें ? मुझे सचमुच ज्ञात नहीं कि भगवान्‌के लिये सच्ची चाह कैसे उत्पन्न होती है, पर यह ठीक-ठीक जानता हूँ कि सच्ची चाह उत्पन्न होते ही वे मिल जायँगे । मैं तो अपनी बात कहता हूँ—सचमुच मुझे यही लगता है कि चाह होते ही भगवान् उस चाहको पूर्ण कर देंगे ।

५८. **मोहन मुखारबिंद पर मनमथ कोटिक वारौं री माई ।**
जहँ जहँ अगन दृष्टि परति तहँ तहँ रहत लुभाई ॥
अलक तिलक कुंडल कपोल छवि
इक रसना मो पै बरनि न जाई ।
गोबिंद प्रभु की बानिक ऊपर
बलि बलि रसिक चुड़ामनि राई ॥

जगत्‌का समस्त सौन्दर्य इकट्ठा कर लेनेपर भी श्यामसुन्दरके श्रीविग्रहके सौन्दर्यसागरकी एक बूँदके भी बराबर नहीं होता । त्रिभुवनमे सबसे सुन्दर कामदेव माने जाते है, पर शास्त्रमे ऐसा वर्णन मिलता है कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके रूपके करोडवें अशके करोडवें अशसे कामदेवमें सुन्दरता आती है । श्रीकृष्णके एक-एक अङ्गपर करोडो कामदेवकी छवि फीकी पड जाती है । यह केवल भावुकताकी बात नहीं है । सचमुच ही जिन सतोंको उनकी हल्की-सी झॉकी मिल जाती है, वे बिल्कुल पागल-से हो जाते हैं । इसी त्रिभुवनमोहन नामको सुनकर श्रीकृष्णके प्रति श्रीगोपीजनोंका हृदय बिक जाता है । साधनाके बाद जब गोपीभावके साधकों-का नित्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममे जन्म होता है और गोपीदेहमें जब किशोर अवस्थाका प्रादुर्भाव होता है, तब श्रीकृष्णका रूप देखनेका, श्रीकृष्ण नाम सुननेका एव उनकी वशीध्वनि सुननेका सुअवसर उन्हें प्राप्त होता है । बस, एक बार इन तीनोंमेसे किसीको देखने या सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ कि एक अनिर्वचनीय दशा प्रारम्भ होती है, जिसकी जगत्‌में कहीं कोई तुलना ही नहीं है । सूरदास, नन्ददास आदि महात्माओंने इसी दशाका वर्णन करते हुए जो पद लिखे है, उन्हें 'हिलग'के पद कहते हैं । यथार्थ दशाका वर्णन तो वाणीमें आ ही नहीं सकता । जो आता है, वह भी उसीको अनुभव हो सकता है कि जो निरन्तर

भजन-स्मरण करते-करते अपनी सारी विषयासक्ति खो चुका है । अस्तु, जब गोपियोंकी व्याकुलता—श्रीकृष्णसे मिलनेकी व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब पहले-पहल उनका रासलीलामे श्रीकृष्णके साथ मिलन होता है और इसके बाद उन्हें सेवाका अधिकार मिलता है । फिर एक लीला होती है—विरहकी लीला, अर्थात् श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियोको छोडकर मथुरा चले जाते है और वहाँसे द्वारका चले जाते हैं । इसी वियोगकी दशामे प्रेमका यथार्थ स्वरूप खिलता है । प्रेम क्या वस्तु है, यह व्रजसुन्दरियोंकी दशासे कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है । इसी दशाका वर्णन करते हुए महात्माओंने लीला देख-देखकर जो पद लिखे है, वे विरहके पद कहे जाते है । महात्माओंके जो पद मिलते हैं, उनमें भी कुछ ऐसे है, जो कल्पनासे लिखे गये हैं और कुछ लीला देखकर—अनुभव करके लिखे गये हैं । यह निर्णय पहुँचे हुए संतलोग ही कर सकते हैं कि कौन अनुभवका है, कौन कल्पनाका । पर हमारे-जैसे तुच्छ प्राणियोंके लिये, पामर प्राणियोंके लिये तो सभी पद—चाहे कल्पनाके हों, चाहे अनुभवके हों—पवित्र करनेवाले ही हैं । अत. श्रद्धासे युक्त होकर व्रज-सुन्दरियोंकी कैसी दशा होती है, प्रेमकी कैसी विलक्षण अतुलनीय अवस्था होती है—इसे सुनकर कृतार्थ होनेकी आशासे, उन व्रजसुन्दरियोंकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए उनकी कृपाके एक कणकी भीख माँगते हुए हम-लोग उनकी विरह-चर्चा करें, सुनें । मन लगानेके उद्देश्यसे, नहीं, मनको पवित्रतम करनेके उद्देश्यसे विरहकी चर्चा सुनें, करे ।

उन विरहके पदोंमे भी कई तो श्रीराधाजीके विरहके पद हैं और कई उनकी सखियोंके विरहके । पर यह भी निर्णय करना कठिन है कि कौन किसके हैं । अस्तु, किसीके भी हों, हमारे-जैसोंको चरणोंमें स्थान देकर, हमारी मलिन आत्माओंको अपनी कृपाकी बूँद देकर कृतार्थ करें—यही राधारानीसे, व्रजसुन्दरियोंसे एवं श्रीकृष्णसे प्रार्थना है ।

५९. प्रेमकी सब अवस्थाओंका, ऊँचे-से-ऊँचे भावोंका विकास श्रीराधारानीमें होता है । रसशास्त्रके पण्डितोंने तथा भावुक, अनुभवी वैष्णवोंने इन बातोंकी विस्तारसे आलोचना की है । उसी प्रेमकी एक अवस्थाका नाम है——प्रेम-वैचित्त्य । इसका प्रकाश प्रायः राधारानीमे ही होता है तथा उनकी अष्टसखियोंमें भी होना सम्भव है । इसमे होता है यह कि श्रीकृष्ण पासमे रहते हैं, राधारानी स्वयं श्रीकृष्णकी गोदमें सिर रखकर लेटी रहती है, पर उन्हें यह भान होने लग जाता है कि श्रीकृष्ण हमे छोड़कर कहीं चले गये और रोने लगती है—इतनी व्याकुलता हो जाती है कि फिर सर्वथा मरणकी दशा उपस्थित हो जाती है । श्रीकृष्णकी गोदमे रहकर ही ऐसी दशा होती है । श्रीकृष्ण यह देखकर आनन्द-निमग्न होते हैं तथा राधा-प्रेमकी अतुलनीय दशाका आस्वाद लेते है ।

रासलीलामें सब गोपियोंको छोडकर श्रीकृष्ण राधा-रानीको एकान्तमे ले चले । वे दो ही रह गये और उच्चतम प्रेमकी तरङ्गोंका प्रवाह आरम्भ हुआ । श्लोकोंमे उसका सकेत श्रीशुकदेवजीने किया है । इसके बाद अत्युच्च अवस्था, मानकी अवस्था आरम्भ हुई । यह मान यहाँका निकृष्ट अभिमान नहीं है । लोग सोचते हैं कि श्रीराधारानीने अभिमान कर लिया, इसीलिये श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर चले गये, पर वहाँ तो बात ही अत्यन्त विचित्र हुई थी । यह मैं केवल अपने अनुभवहीन ज्ञानपर नहीं कह रहा हूँ, परम रागमार्गीय भक्त सनातन गोस्वामीको इस लीलाका सकेत प्राप्त हुआ था और उन्होंने अपनी रासकी टीकामे इसका सकेत भी किया है । अस्तु, प्रेमकी उच्चतम अवस्था बढ़ते-बढ़ते वैचित्त्य-की अवस्था आरम्भ हो गयी और राधारानी ठीक श्रीकृष्णके पास रहकर भी यह अनुभव करने लगीं कि

श्रीकृष्ण मेरे पास नहीं हैं । 'हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! आदि उस प्रेम-वैचित्त्यकी अवस्था है, जहाँ श्रीकृष्णकी गोदमें पडी हुई राधारानी यह श्लोक कह रही हैं और श्रीकृष्ण आनन्दमें डूब रहे हैं । श्रीराधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं । उसी क्षण गोपियाँ खोजती हुई वहाँ आ पहुँचती हैं । श्रीकृष्णको उनकी आहट मिल जाती है और इसके पहले कि वे राधारानीको सचेत कराकर दूसरी अवस्थामें ले चलें, उन्हें गोपियाँ दीखने लग जाती हैं । इसलिये श्रीकृष्ण वहीं वृक्षोंकी आडमें खडे हो जाते हैं । गोपियाँ आती हैं, श्रीराधारानीको मूर्च्छित अवस्थामे पाती हैं, उनको चेत कराती हैं । राधारानी 'समझती हैं कि श्रीकृष्ण मुझे छोडकर बहुत पहले चले गये हैं, पर श्रीकृष्ण तो उन्हें अभी-अभी छोडकर गये हैं। इसके पहले तो प्रेम-वैचित्त्यके कारण वे वियोगका अनुभव कर रही थीं ।

यह अत्यन्त ऊँचे स्तरके प्रेमकी बात है, जिसका विकास श्रीप्रियाजीमें ही होता है । हमलोग तो केवल एक अत्यन्त निम्न स्तरमें भी जा पहुँचें तो जगत्‌की सभी पारमार्थिक स्थितियाँ उसके सामने फीकी हो जायँ ।

दो प्रकारकी लीलाएँ होती है—एक सखियोंके साथ, सखियोंकी उपस्थितिमें और दूसरी केवल दोके बीचमें, जहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराधा दो ही रहते हैं । प्रेमके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास जब दो रहते हैं, तभी होता है । उनमेंसे कुछका आस्वाद अर्थात् दर्शन मञ्जरियोंको, दासियोंको, सहेलियोंको, सखियोंको निकुञ्ज-छिद्रोंसे होता है और कुछका तो बिल्कुल ही नहीं होता ।

ऐश्वर्य, गुण, ज्ञान आदि समस्त भगवत्ता राधारानीमें ज्यों-की-त्यों रहती है, पर मुग्धताका इतना सुन्दर आवरण वे अपनी इच्छासे ही धारण किये रहती हैं कि लीला अनुपम—सर्वथा सब ओरसे अनुपम हो जाती है ।

श्रीराधा-कृष्णका अलौकिक विहार

करत हरि नृत्य नव रंग राधा संग लेत नव गति भेद चरचरी ताल के ।
परसपर दरस रस मत्त भए ततथेई थेई गति लेत संगीत सुरसाल के ॥ १ ॥
फरहरत बहिचर थरहरत उर हार भरहरत भ्रमर वर विमल वनमाल के ।
खसित सित कुसुम सिर हँसत कुंतल मनो लसत कल झलमलत स्वेद कन भाल के ॥ २ ॥
अंग अंगन लटक मटक भृंगन भौंह पटक पट ताल कोमल चरन चाल के ।
चमक चल कुंडलन दमक दसनावली विबिध विद्युत भाव लोचन विसाल के ॥ ३ ॥
बजत अनुसार द्रिमद्रिम मिरदंग निनाद झमक झंकार कटि किंकिनी झाल के ।
तरल ताटंक तड़ित नील नव जलद में यों विराजत प्रिया पास गोपाल के ॥ ४ ॥
जुवति जन जूथ अगनित वदन चंद्रमा चंद भयो मंद उद्योत तिहिं काल के ।
मुदित अनुराग बस राग रागिनी तान गान गति गर्व रंभादि सुर बाल के ॥ ५ ॥
गगनचर सघन रस मगन बरषत फूल वार डारत रतन जतन भर थाल के ।
एक रसना 'गदाधर' न बरनत बनै चरित अद्भुत कुँवर गिरिधरन लाल के ॥ ६ ॥

साधनकी सफलता

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मानव-जीवन साधन-भूमि है, शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि, अहवृत्ति—सब-के-सब साधन ही हैं और ये परमात्माकी कृपासे ही हमे मिले हैं। इस समग्र जीवन-रूपी साधन-भूमिमें हम प्राप्त साधनद्वारा सब कुछ ग्रहण करते हैं और गृहीत वस्तुका विपरीत परिणाम भोगकर या देखकर साधनद्वारा उनका त्याग कर देते हैं। गुरु-प्रदत्त विवेकद्वारा हमें बहुत ही सुन्दर बात विदित हुई कि साधनके सहारे हमलोग कुछ भी ग्रहण करने और छोडनेके लिये स्वाधीन हैं, साथ-ही-साथ हमे बहुत हितकर स्वतन्त्रता भी मिली है कि जो कुछ भी हमे प्राप्त हैं, उसका हम दुरुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम अनेक कष्ट और दु.खके रूपमें भोगना पडता है तथा सदुपयोग कर सकते हैं, जिसका परिणाम सुख-शान्ति-आनन्दके रूपमें देखा जा सकता है। शास्त्र, सत और गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा प्रेरणा मिलती है कि शरीर-बल कर्म करनेका साधन है, इसका सदुपयोग दूसरोंकी सेवा-सहायतामें होना चाहिये। इन्द्रियाँ भी साधन हैं, इनकी शक्तिका सदुपयोग सेवा-सहायताके कर्म विधिपूर्वक करनेमें है। मन भी साधन है—इसमें भावकी शक्ति है, सर्व-हितकारी प्रवृत्तिमें बदल देनेसे इसका सदुपयोग हो जाता है; ऐसा करते ही सकल्प शुद्ध हो जाते हैं, भावना पवित्र बन जाती है और निरन्तर उच्चतम आदर्श-का ही मनन होने लगता है। अशुभ सकल्पकी पूर्ति शक्तिका दुरुपयोग है, शुभ सकल्पकी पूर्ति मन:शक्तिका सदुपयोग है। दुरुपयोगसे दुर्गति और सदुपयोगसे सद्-गति होती है। चित्त भी साधन है, इसमें चिन्तनकी शक्ति है, चिन्तनगत वस्तु या भावकी ही तद्‌रूपता मिलती है। पवित्र वस्तु, सद्‌गुण और परम शुद्ध ।« ही चिन्तन करना चित्तकी शक्तिका सदुपयोग है। बुद्धि भी सर्वोच्च साधन है, इसमे दर्शनकी शक्ति है। जिस प्रकार नेत्रद्वारा स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धिद्वारा प्रत्येक पदार्थका भीतरी रूप देखा जाता है। मनकी भाव-शक्तिसे किसी भी वस्तुको अपनाया या स्वीकार किया जाता है तो बुद्धिकी दर्शनशक्तिसे स्वीकृत-को सम्यक् प्रकार देखा जाता है—स्वीकृतिके परिणामका ज्ञान होता है। यह बुद्धि प्रपञ्च और परमार्थ—दोनोंके ज्ञानका साधन है। · ··शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्तके समस्त कर्मव्यापारके पीछे यदि बुद्धिरूपी साधनका सदु-पयोग न किया जाय तो जीवनकी गति घोर अन्धकारमें होती है। बुद्धिरूपी साधनके सदुपयोगसे मानवतामें दिव्यता प्राप्त होती है। जीवनमें चैतन्य-सत्ता—आत्माके योगसे बुद्धिमें ही अहवृत्ति स्फुरित होती है; यह अह भी साधन है, इसमें सब कुछ आत्मसात् करनेकी अथवा भिन्नतामें अभिन्नता प्राप्त करनेकी शक्ति है। इस शक्तिके द्वारा देहादि असत् वस्तुओंसे अभिन्नता स्वीकार करना शक्तिका दुरुपयोग है और सर्वाश्रय परमाधार अविनाशी आत्मा—परमात्मामें अभिन्नताका अनुभव करना प्राप्त शक्तिका सदुपयोग है।··· जीवनरूपी साधन-भूमिमे प्राप्त साधनोंका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यको पतितावस्थाकी वेदना भोगनी पडती है और सदुपयोगसे ही उच्चावस्था, मुक्तावस्थाका आनन्दानुभव होता है। गुरुप्रदत्त विवेकके प्रकाशमें ही साधनका सदुपयोग किया जा सकता है। वास्तवमें परमार्थ-सिद्धिके लिये जो साधना बतायी गयी है, वह दोष-निवृत्तिके लिये ही है। प्राय. हमलोग शास्त्र और सतके वाक्य तो पकड लेते हैं पर उनके भीतरी रहस्यको नहीं देख पाते। अनेक परमार्थी साधक वर्षोंसे अपने ढगसे साधना करते रहते हैं; पर उससे जो स्थिरता, समता, शान्ति, शक्ति मिलनी चाहिये,

वह नहीं मिलती, ऐसा होनेपर भी प्रमादवश भूलकी शोध नहीं की जाती है और प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर साधनासे ही साधक निराश हो जाते हैं और कभी-कभी तो भगवान्‌की कृपा न होनेकी त्रुटि निकालने लगते हैं। विचारशील पुरुष जानते हैं कि भगवान्‌की कृपाका कहीं भी अभाव नहीं है, अभाव तो है उस दृष्टिका, जिसके द्वारा कृपाका नित्य दर्शन हो सकता है, यह दृष्टि गुरु-प्रदत्त विवेकसे मिलती है और गुरु-प्रदत्त विवेक सुलभ होता है श्रद्धापूर्वक तत्त्वज्ञानी पुरुषकी सुसगतिसे।

यह सत्पुरुषोंका ही अनुभव है कि जीवकी अहकार-रूपी ग्रन्थि जबतक नहीं खुलती, वह विनत होकर सम्पूर्ण भावसे अपने आपको अपनेसे महान्‌की शरणमें समर्पित नहीं करता अथवा लघुता, क्षुद्रता, न्यूनताकी वेदनासे व्यथित होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मासे प्रार्थी नहीं बनता, तबतक उसके स्वच्छन्दता-प्रमाद आदि दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती। दृश्यको अदृश्य करना और अदृश्यमें दृश्यको रखकर सदा सम, शान्त, निर्द्वन्द्व रहना ज्ञानी महापुरुषकी कला है। इसके प्रतापसे मनुष्योंका मोह उन्हें नहीं व्यापता। एक अज्ञानीके लाखों अभिप्राय हुआ करें, पर लाखों तत्त्वज्ञानियोंका एक ही अभिप्राय होता है, एक ही लक्ष्य होता है। वे अनेकता-के पीछे निरन्तर एक तत्त्वका अनुभव करते हुए पूर्ण शान्त रहते हैं। तत्त्वज्ञानीके सङ्गसे साधकको अपने भीतर जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होता है, वह कोई बात रटकर याद करनेकी तरह नहीं है, वह तो ऐसा प्रकाश है, जो जीवनकी अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं और हर्ष-शोकके मध्यमें प्रकाशित रहता है और सामयिक कर्तव्य स्पष्ट करते हुए परमार्थीको निर्भय और निश्चिन्त रखता है। जिस ज्ञानके द्वारा साधक असत् वस्तुसे विरक्त और सत्य तत्त्वमें अनुरक्त न हो सके, वह ज्ञान नहीं, विद्याभिमान है। आध्यात्मिक सामर्थ्य प्राप्त होनेपर जो कुछ अकरणीय और अशुभ है, वह सयमी साधकके द्वारा होता ही नहीं, और जो कुछ करणीय है, शुभ है, वह अनायास ही होता रहता है। उसके द्वारा सभीका हित होता है, किसीका अहित होता ही नहीं। आत्म-निरीक्षण करते हुए निरन्तर सावधान रहना चाहिये कि कहीं प्राप्त शक्ति और जीवनरूपी साधनका दुरुपयोग न हो जाय।

समस्त कर्मोंकी सबसे बडी ग्रन्थि राग-द्वेषकी है, इसीमें अहकार बद्ध रहता है, इसकी निवृत्तिका उपाय त्याग और प्रेम ही है। त्याग-प्रेमकी पूर्णताके लिये गुरु-प्रदत्त विवेककी आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों रागका त्याग होता जाता है, इच्छाएँ घटती जाती हैं, त्यों-त्यों बन्धन कटते जाते हैं, दु ख कम होते जाते हैं। ज्यों-ज्यों द्वेष मिटता जाता है, अशुभ सकल्प हटते जाते हैं, त्यों-त्यों सघर्ष और भेद-भाव भी मिटते जाते हैं, अशान्ति हटती जाती है; अन्तमें राग-द्वेषके पूर्ण अभावमें—त्याग-प्रेमकी पूर्णतामें ही अगाध शान्ति और अखण्ड एक रसका अनुभव होता है। अशुद्धके चिन्तनसे ही चित्त अशुद्ध होता है, शुद्धके चिन्तनसे ही चित्त शुद्ध होता है। साधकको भगवान्‌के गुण, दिव्य रूप, लीला-धामके चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रहना चाहिये। वास्तवमें अपने कर्तव्यको पूर्ण करते रहना ही मानवका चरम लक्ष्य नहीं है, इससे भी आगे परमानन्द परमात्माका नित्य योग प्राप्त करना अन्तिम ध्येय है, यही परम पुरुषार्थ है।

उद्बोधन

रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि।
भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि॥

मनका दृढ आधार

(लेखक—प० श्रीवलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌ने मनके रूपमें हमारे भीतर एक दैवीशक्तिसे सम्पन्न वस्तुको निहित कर रखा है। हम नित्यप्रति मनकी शक्तियोंको देखते हैं, परंतु उसकी गहराईके भीतर कभी नहीं उतरते। यदि हम सावधानीसे उसमें उतरें तो हमे पता चलेगा कि उसके भीतर कितनी शक्तियाँ अन्तर्निहित हैं। इसीलिये वैदिक ऋषियोंने मनको 'शिवसकल्प' होनेकी अनवरत प्रार्थना की है। मन जो भी सकल्प करता है, उसे कार्यरूपमे परिणत कर देता है। अतएव आवश्यक है कि मनका सकल्प 'शिव' हो, रौद्र न हो, विधायक हो, विनाशक न हो, कल्याणका स्रष्टा हो, विनाशका रचयिता न हो। जितने बड़े-बड़े मङ्गल कार्योंकी सघटना हम देखते हैं, उनके भीतर यह मनका 'शिवसकल्प' सदा जागरूक रहता है। किसी भी कार्यको व्यवहारके स्तरपर आनेसे पहले मानसिक तथा वाचनिक स्थितिसे होकर जाना ही पड़ता है। इसलिये अपने यहाँ एकाकारताका प्रतीक है—मनसा-वाचा-कर्मणाका सिद्धान्त। उपनिषदोंका यही कथन है कि व्यक्ति मनके द्वारा जो चिन्तन करता है, उसीको वचनोंके द्वारा प्रकट करता है तथा आगे चलकर उसे ही वह कार्यके रूपमें निष्पन्न करता है। अतएव यदि आप किसी शुभ कार्यको करनेके लिये उद्युक्त हैं तो सर्वप्रथम अपने मनके सकल्पको कल्याणकारी बनाइये। वही मूल स्रोत है। कार्य-मन्दाकिनीका मन ही स्रोतभूत हिमाचल है। कार्य-सरिता अपनी पुष्टि तथा समृद्धिके लिये वहींसे पवित्र सकल्प-सलिलको एकत्र करती रहती है। यह माना सिद्धान्त है कि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्मकी शक्ति विलक्षण तथा व्यापक है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होती है, उसकी शक्ति उतनी ही अधिक तथा गहराईतक पहुँचानेवाली होती है। होमियोपैथिक औषधोंके चुनावमें यही तो सिद्धान्त काम करता है। जो दवा जितनी सूक्ष्म होगी, उसका प्रभाव उतना ही अधिक, चिरस्थायी तथा दीर्घकालीन होगा। 'बहुरल्पीयसि दृश्यते गुण.' भारविके इस कथनका सकेत ऐसे ही सूक्ष्म औषधकी ओर है।

मन अणु माना गया है। उसकी शक्ति आणविक शक्ति है। आजकलकी भाषामें वह 'ऐटमबम'की तरह कार्यशाली है। बमका प्रयोग हानिके लिये ही हो रहा है, परतु वह विधायिनी शक्तिके उत्पादनके लिये भी लगाया जा सकता है और आजका वैज्ञानिक उसी उपायके खोजनेमें लगा है, जिससे वह सचालितशक्ति हानि न उत्पन्नकर लाभ ही पैदा करे। मनकी भी ठीक यही दशा है। वह हमारे शरीरके भीतर रहनेवाला 'ऐटमबम' ही है। वैदिक ऋषियोंने मनकी दो शक्तियोंपर विशेषरूपसे जोर दिया है। एक शक्ति है—नयनशक्ति और दूसरी है नियमनशक्ति। इस सुप्रसिद्ध मन्त्रमें इन्हीं दोनों शक्तियोंकी ओर लक्ष्य किया गया है—

> सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
> नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
> हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
> तन्मे मन. शिवसकल्पमस्तु॥

इस मन्त्रमे सुन्दर सारथिकी उपमा मनसे तथा इन्द्रियोंकी उपमा घोड़ोंसे बड़े सुन्दर ढगसे दी गयी है। 'अश्व' तथा 'वाजी' शब्द सामान्यत. घोड़ेके लिये प्रयुक्त होते हैं, परतु दोनोंमे अन्तर है। अश्व है साधारण घोड़ा, जो टिक-टिक करता हुआ अपना रास्ता तै किया करता है, परतु 'वाजी' है वह तीव्र गतिवाला, जोरोंसे दौड़नेवाला घोडा, जिसे यदि न रोका जाय तो वह किसी भयानक दुर्घटनामें अपने सवारको डाल देगा। सुयोग्य सारथि प्रथम प्रकारके घोड़ोंको मार्गमें ले जाता है—उन्हे चाबुक मारकर आगे बढनेको बाध्य करता है, परतु वह वाजीको उन्मार्गमें जानेसे रोकता है लगामको जोरोंसे खींचकर। एकका वह नयन करता है, तो दूसरेका नियमन (नियन्त्रण)। मनका ठीक यही कार्य है। कुछ आदमी स्वभावसे इतने शिथिल होते हैं कि मनको उन्हें प्रेरित करनेकी आवश्यकता होती है और कुछ ऐसे उद्धत होते हैं कि उन्हे विवेकमार्गपर रोककर रखनेकी आवश्यकता होती है। मन दोनों ही कार्य करता है। वह हृदयमें प्रतिष्ठित होता है (हृत्प्रतिष्ठम्) तथा कभी वृद्ध नहीं होता (अजिरम्)। शरीर जीर्ण-शीर्ण भले हो जाय, झुर्रियाँ भले लटकने लगें, भले ही वह अपने पैरोंपर सीधे न खड़ा हो सके और लकुटिया टेककर ही वह चल-फिर सके, परंतु क्या मनकी दशा वैसी होती है? वह एकदम जवान बना रहता है, शक्तियोंका पुञ्ज बना रहता है। जिस प्रकार पृथ्वीके नीचेसे झरना स्वय फूट निकलता है, उसी प्रकार मनकी शक्तियाँ भी

वृद्धावस्थामें भी उससे फूटकर निकला करती हैं। यह निश्चित है मन कभी बूढ़ा नहीं होता। वह नितान्त वेगशाली है। उससे शीघ्रगामी वस्तुका पता नहीं है। शीघ्रगमनमें मन ही उपमानभूत है। इस विषयमें वह कभी उपमेय नहीं होता। लङ्काको पार करनेवाले मारुत-नन्दन हनुमान्‌जी 'मनोजव' बतलाये गये हैं। ऐसे प्रभावशाली मनके संकल्प=इच्छाएँ शिव हों, कल्याणकारी हों—वैदिक ऋषि-की यही प्रार्थना है और इससे सुन्दर प्रार्थना और हो ही क्या सकती है। गीता कहती है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' मनुष्य श्रद्धाका पुञ्ज है। वह संकल्पका खजाना है। इसीलिये संकल्पके शिवत्वकी प्रार्थना की गयी है।

हमारे मनमें बड़ी भारी शक्ति भरी हुई है। मन तो जीता-जागता डायनमो है, जिससे अपनी इच्छाके अनुसार बिजली पैदा की जा सकती है। मन जो इच्छा करता है वह एक दिन पूरा हुए बिना न रहेगी। जितना मन शुद्ध होगा, उतना ही जोर उसकी इच्छामें बना रहेगा। प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी बातें हमने पुराणोंमें सुनी हैं। मन उनका इतना सात्त्विक था कि जिस वस्तुकी उन्होंने इच्छा की, वह तुरंत पैदा हो जाती थी। आजकल अशुद्ध मन यह काम नहीं कर सकता पर इसे तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसमें असीम शक्ति भरी हुई है।

तब हमें अपने मनसे कैसे काम लेना चाहिये? मन जिधर जायगा, उधर ही उसकी शक्ति खर्च होगी। मान लीजिये कि मेरा मन किसी सौम्य वस्तुपर लगा हुआ है, तब तो उतनी उसकी शक्ति घट जायगी। यदि दूसरी ओरसे भी उसी जोरकी अभिलाषा हो तो दोनों मिलकर अनुकूल भावका अनुभव करेंगे। पर यदि उधरसे अनुकूल भावकी प्रेरणा नहीं हुई तो हमारा मन बेहाथ हो जायगा, उसकी सारी शक्ति मारी जायगी। इस कारणसे वह अपनेको हीन, क्षीण पायेगा। इस संसारके पदार्थ नश्वर ही तो हैं। अतः उनसे यदि मन लगा तो कभी-न-कभी आधारके नाश हो जानेपर मनकी क्या बुरी दशा होगी, इसका भी तो विचार करना चाहिये। स्त्रीमें मन लगा है, कभी वह संसारसे चल बसती है। जिस प्रकार बिना जंजीरकी नाव आँधीके समय नदीकी उत्ताल तरङ्गोंके ऊपर थपेड़े खाती हुई सीधी नहीं रह सकती, उलटकर सरिताके नीचे जाने लगती है, ठीक वही दशा इस आश्रयहीन मनकी हो जाती है। शोक चारों ओरसे इसे थपेड़े मारने लगता है। विकलताकी आँधी चारों ओरसे बहने लगती है। फल यही होता है कि चित्त काबूमें नहीं रहता, पागल हो जाता है। किसीका थोड़े समयके लिये और किसी-का तो सदाके लिये। मनकी प्रवृत्तिके वेगावेगके ऊपर यह परिणाम अवलम्बित रहता है। यह तो हुई नश्वर आश्रयपर अवलम्बित रहनेवाले मनकी दुर्दशाकी करुण-कहानी।

ऐसे मनको ठहरानेके लिये हमें दृढ़ आधारकी आवश्यकता होती है। एक तो स्वयं चञ्चल ठहरा, जविष्ठ ठहरा। फिर यदि वह चञ्चल विषयकी ओर लगाया जायगा, तब वह और भी चञ्चल हो उठेगा। तूफानके समय मल्लाह अपनी नावको ठोस जमीनमें खूँटोंको गाड़कर टिकाता है। यदि जमीन दलदली हो तो न तो नावका पता चलेगा और न मल्लाहका। दोनों बेकिनार हो रहेंगे। ठीक यही दशा मनकी है। यदि दृढ आधारपर उसे हम नहीं टिकायेंगे तो वह हमें कहींका न रखेगा। न इस घाट लगेगा और न उस घाट। वह हमें अथाह सागरमें ले जाकर झोंक देगा। इसीलिये संतोंका कहना है कि मनको बाँधनेके लिये दृढ़ रस्सी चाहिये, उसे टिकनेके लिये दृढ़ आधार चाहिये, उसे पकड रखनेके लिये दृढ प्रलोभन चाहिये। तभी वह काबूमें आ सकता है। हम नहीं कहते कि उसे मार डालो। उसे जीवित रहने दो। वह मारे मरेगा नहीं। परंतु उसका उपद्रव करनेका जो स्वभाव है उसे तो दूर भगा दो। उसे शुभ कर्मोंमें लगाओ—यही ऋषियोंका साग्रह कथन है।

इसके लिये हम क्या करें? मनका उपयोग अपने हितमें कैसे करें? उपाय तो आपाततः कठिन है। पर अभ्याससे कौन वस्तु साध्य नहीं होती। पहले तो इसे बाहर जाने ही न दीजिये। जितना बाहर जायगा, उतना ही यह क्षीणशक्ति—हीनवीर्य—होता जायगा। इसकी शक्तिको भीतर-ही-भीतर सञ्चित कीजिये। किसी भी इष्टदेवमें इसे लगा दीजिये। बस, अनश्वर देवताके साथ यह सदा खेला करे। यदि यह रूपका लालची है तो घनश्यामकी पीताम्बर-कलित मयूर-पुच्छधारी वनविहारी छविको सदा निरखा करे। यदि मधुर शब्दोंके सुननेकी अभिलाषा उठती है तो तीनों लोकोंको भुला देनेवाली काम-मन्त्रसे अनुप्राणित मुरलीकी आवाजको सुना करे। यदि हाथ-पाँव अपने-अपने काम करनेके लिये उतावले हो रहे हैं तो इन्हें भगवान्‌के ही काममें लगा दो। हाथ भगवान्‌के विग्रहकी पूजा करें तथा पाँव मन्दिरमें जा-जाकर अपनी चरितार्थता अनुभव किया करें। यदि नाकसे सुगन्धित वस्तुके सूँघनेकी इच्छा है तो वनमालीके शरीरस्पर्शसे परिचित होनेवाली

पुष्पमाला तथा तुलसीकी गन्धका आनन्द लिया करो । ये वस्तुएँ है किनकी ? उनकी, जो इस जगत्‌के नियन्ता हैं, सबके आधार है, सदा रहनेवाले है, सर्वत्र रहनेवाले हैं। यदि ऐसे व्यक्तिमें हमारा मन लगा रहेगा तो क्या उसकी शक्ति कभी क्षीण होगी । क्या उसे कभी विचलित होनेका अवसर आयेगा ? नहीं, कभी नहीं । आनन्दमयी माँके साथ जो मन क्रीड़ा करता है, उसे असुख कहाँ ? सच्चिदानन्दके साथ जो रहता है, उसे बेचैनी कहाँ ? गोपी-सखाके साथ जो वृन्दावनकी हरियालीका मजा लेता है, उसे उदास या सूखा रहनेका अवसर कहाँ ?

अत. प्यारो ! छोड़ो पुत्र-कलत्रकी ममता । छोड़ो उनमें चित्त लगाना, जोड़ो इसे भगवान्‌के अरविन्दसुन्दर चरणद्वन्द्वमे। तभी कल्याण होगा। तभी एकान्त मङ्गल होगा। तभी विषय वा गुणोसे मुक्ति लाभ करोगे । अन्यथा नही। तथास्तु—

शान्तिः शान्तिः शान्ति.।

एक वैज्ञानिकका ईश्वरमें विश्वास

[सात कारण]

(ले०—श्रीयुत ए० क्रेसी मॉरिसन (न्यूयार्क एकैडेमी आव् साइसके भूतपूर्व सभापति)

हम अभी वैज्ञानिक युगके उष.कालमे ही निवास करते हैं और प्रकाशकी प्रत्येक रश्मि किसी विचारशील स्रष्टाकी निर्माण-चातुरीको ही अधिकाधिक आलोकित कर रही है। डार्विनके बाद इन ९० वर्षोंमें हमने आश्चर्यजनक गवेषणाएँ की हैं । विज्ञानजनित विनय एव ज्ञानकी भूमिसे उपजी श्रद्धाके द्वारा हम क्रमश ईश्वराभिज्ञताके समीप पहुँच रहे है।

भगवान्‌के प्रति मेरे अपने विश्वासके सात कारण हैं—

पहला—गणितशास्त्रके स्थायी नियमोंद्वारा हम यह सिद्ध कर सकते है कि विश्वकी कल्पना और रचना किसी निर्माणशास्त्रीकी बुद्धिसे हुई है।

मान लीजिये आपने दस पैसोंपर क्रमशः १ से १० तककी सख्या लिखी और उन्हें अपनी जेबमे डालकर अच्छी तरहसे हिला-मिला दिया। अब आप एक सख्यावाले पैसेको निकालकर फिर सबको हिला-मिलाकर दो सख्यावाले पैसेको निकालिये और फिर सबको हिला-मिलाकर तीन सख्यावाले पैसेको निकालिये और इसी क्रमसे दसों पैसोंको निकालनेकी चेष्टा कीजिये। गणितकी प्रक्रियाद्वारा हमें यह विदित है कि एक सख्यावाले पैसेको पहली ही बार निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रति दस बारकी चेष्टामें एक बार होगी। क्रमसे एक और दो सख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी आशा प्रतिशत चेष्टामे केवल एक बार होगी। एक, दो और तीन सख्याके पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना १००० बारमे एक बार होगी और इसी तरहसे यह हिसाब बढता ही जायगा। विश्वास होना कठिन है, परतु इसी तरहसे क्रमपूर्वक दसों पैसोंको निकाल लेनेमें सफलताकी सम्भावना दस अरब बारकी चेष्टामें केवल एक बार होगी।

इस दृष्टान्तके आधारपर यह कहते नहीं बनता कि पृथ्वीपर जीवधारियोंके रहनेके लिये परमावश्यक नियमोंका पारस्परिक अत्यन्त उचित सम्बन्ध केवल एक आकस्मिक घटनामात्र है। पृथ्वी अपनी धुरीपर घटेमें एक हजार चक्कर लगाती है। यदि यह घटेमें दस ही बार घूमती तो हमारे दिन और रात आजसे दसगुने बड़े होते और प्रतिदिन सूर्य सारे पेड़-पौधोंको भस्म कर डालता तथा यदि कोई अकुर कहीं बच भी रहता तो बड़ी लबी रातकी सर्दीमें उसे पाला मार जाता। हमारे जीवनके परम साधन सूर्यके धरातलका तापमान १०००० फारेनहाइट है; और हमारी पृथ्वी उससे ठीक उतनी ही दूरी पर है जहाँ कि यह सनातन अग्न्याधार हमें केवल आवश्यकतानुरूप पर्याप्तमात्र उष्णता प्रदान करता है, न अधिक न कम। हमें सूर्यसे जितनी गर्मी मिलती है, कहीं उसकी आधी ही मिले तो हम सर्दीके मारे जम जायँ और यदि कहीं जितनी गर्मी प्राप्त होती है उसकी आधी और बढ जाय तो फिर सब भून उठेंगे। पृथ्वी अपनी धूरीपर सीधी न खड़ी होकर २३° का कोण बनाती हुई झुकी है जिसके कारण ऋतुओंका होना सम्भव हुआ है। यदि यह झुकाव न होता तो समुद्रसे उठे हुए जलवाष्प

सुदूर उत्तर या दक्षिणकी ओर जाकर बरसते और हमारे महाद्वीप बर्फसे ढके रहते। चन्द्रमा जहाँ है, वहाँ न रहकर यदि हमसे ५० सहस्र मीलकी दूरी पर स्थित होता तो इतने प्रवल ज्वार आते कि दिनमे दो-दो बार सारे महाद्वीप जलमग्न हो जाते; बड़े-बड़े पहाड़ भी कट-कटकर सफाचट हो जाते। पृथ्वीकी ऊपरी परत दस फुट भी और मोटी होती तो हवामे ओषजन (Oxygen) नामक वायु नहीं होता और इसके अभावमे सारा प्राणि-जगत् मृत्युकी गोद-मे सो जाता। इसी प्रकार यदि समुद्र भी कुछ ही फुट और गहरे होते तो ये वायुके कर्बन द्विओषित (carbon de oxide) एव ओषजन अंशोंको सोख लेते और पृथ्वी वनस्पति-शून्य हो जाती। अथवा यदि हमारा वायुमण्डल वर्तमानसे अत्यधिक सूक्ष्म होता तो करोड़ोंकी सख्यामे जलते हुए उल्कापात होते रहते और ससारमें नित्य सर्वत्र आग लगती रहती। इन तथा असख्य अन्य उदाहरणोंको देखते हुए लाखोंमें एक बार भी ऐसी कल्पनाकी सम्भावना नहीं होती कि प्राणिमय जगत्की रचना आकस्मिक है।

दूसरा—प्राणियोंकी स्वप्रयोजन सिद्ध करनेकी बौद्धिक क्षमता ही किसी सर्वव्यापी चिच्छक्तिकी ओर सकेत करती है।

जीवन अथवा प्राण क्या वस्तु है, इसकी अभीतक कोई मनुष्य थाह नहीं लगा पाया है। न इसमें भार है, न इसकी कोई रूपरेखा है, फिर भी शक्ति इसमें है। वर्द्धन-शील जड़से चट्टानतक चटक जाती है। चेतनशक्तिने जल, स्थल और वायुपर विजय प्राप्त की है, उसने तत्त्वोंको अधीन करके उन्हें अपने मिश्रणसे बने हुए पदार्थोंमेंसे अलग-अलग होने और मिलकर फिर वही रूप धारण करने-को बाध्य किया है। महच्चेतन मूर्तिकार बनकर सभी जीव-धारियोंको रूप प्रदान करता है, कलाकार बनकर प्रत्येक पत्ते और प्रत्येक वृक्षकी कल्पनाको साकार करता है, प्रत्येक पुष्पमें रग भरता है। चतुर सगीतज्ञकी भाँति प्रत्येक पक्षीको उसने प्रेम-गीत सिखाया है। यही चेतना फलों और मसालोंमें उनका सूक्ष्म स्वाद एव गुलाबमें उसका सौरभ बनकर बैठी है। यही जल और कार्बोनिका अम्लको शर्करा तथा काष्ठमें परिणत कर देती है और ऐसा करते समय ओषजनकी सृष्टि करती है, जिससे प्राणिवर्गको प्राणवायु प्राप्त हो। अत्यन्त छोटे, दुर्निरीक्ष्य, पारदर्शी, गतिमान्, गोंदके घोलकी बूँदकी तरह, सूर्यसे शक्ति ग्रहण करनेवाले जीवनबीज (Protoplasm) की ओर जरा ध्यान दीजिये। यह अकेला कोष (cell) नीहारके सदृश पारदर्शी, बिन्दु-मात्र अपने उरमें चेतनाका बीज धारण किये रहता है। छोटे-बड़े सभी प्राणियोंमें इस चेतनाको वितरित करनेकी इसमें शक्ति वर्तमान है। इसकी शक्ति समस्त वनस्पतियों, पशुओं और मानवोंमे बढकर है, क्योंकि यह चेतनाका बीज है। प्रकृतिसे चेतनाकी सृष्टि नहीं हुई है। अग्निदग्ध पर्वत और क्षारहीन सागर चेतनसृष्टिके आवश्यक उपकरण नहीं जुटा सकते।

फिर चेतना कहाँसे आयी ?

तीसरा—पशु-पक्षियोंमें बुद्धिका होना अकाट्यरूपसे इस बातकी ओर सकेत करता है कि कोई ऐसा स्रष्टा है, जिसने सब प्रकारसे असहाय छोटे-छोटे प्राणियोंमें भी सहज बुद्धि रख दी है।

छोटी साल्मन (एक प्रकारकी विलायती मछली) वर्षों समुद्रमें रहकर अपनी ही नदीमें वापस आ जाती है और उसी किनारेको पकड़े हुए आगे बढती है जिससे वह सहायक नदी मिलती है, जिसमें साल्मन पैदा हुई थी। कौन उसे इस तरह ठीक-ठीक वापस ले जाता है ? यदि आप उसे दूसरी सहायक नदीमें छोड़ दें तो उसे तुरत पता लग जायगा कि वह गलत रास्तेपर है। वह नीचे उतरकर मुख्य नदीमें आयेगी और फिर अपनीवाली सहायक नदीमें जाकर ठीक स्थानपर पहुँच जायगी।

ईल नामक मछलीका चमत्कार समझना तो और भी कठिन है। ये विचित्र जीव अपने जीवनकी प्रौढावस्थामें सभी स्थानोंके जलाशयों और नदियोंसे निकल निकलकर बर्मूडाज-द्वीपके पास सागरके एक गहरे दहमे जाते हैं। यूरोपकी ईलें सहस्रों मीलका रास्ता तय करके वहाँ पहुँचती हैं। वहीं वे सब बच्चे देकर मर जाती हैं। इन छोटे बच्चोंके पास सिवा इसके कि वे विजन जलराशिमे पड़े हैं और कुछ जाननेका कोई साधन देखनेमें तो नहीं आता। फिर भी वे वहाँसे लौटकर उन्हीं किनारोंपर आ लगते हैं, जहाँसे उनके माता-पिता चले थे। इतना ही नहीं, आगे बढते हुए वे अपने पूर्वजोंवाली नदियों, झीलों और जलाशयोंमें भी जा पहुँचते हैं। इसलिये किसी भी जलाशयसे ईलें सदाके लिये लुप्त नहीं हो जातीं। पर अमेरिकाकी कोई भी ईल योरपमें नहीं मिलती और न योरपकी ईलें अमेरिकाके समुद्रोंमें पायी गयी हैं।

प्रकृतिकी ऐसी व्यवस्था है कि योरपकी गर्भिणी ईलें एक वर्ष बाद प्रौढावस्थाको प्राप्त होती हैं, क्योंकि दहमें पहुँचनेके लिये उन्हे लबा रास्ता समाप्त करना रहता है। [योरप और अमेरिका दोनों ही स्थानोंसे वे वहाँ ठीक प्रजननकालपर एक साथ ही पहुँच जाती हैं।] इस प्रकार यातायातका ज्ञान उनमें कहाँसे आता है ?

ततैया या बरैं छोटे झींगुरको पकड़कर पृथ्वीमे एक छेद करके उसमें डाल देती है और उसको ऐसी जगह डक मारती है, जिससे वह मरता नहीं अपितु चेतनाशून्य होकर सुरक्षित भोजनके रूपमें पड़ा रहता है। अब ततैया अडे देती है ताकि उसके बच्चे जब बाहर आयें तब इस सुरक्षित भोजनको, बिना उसकी जान लिये, धीरे-धीरे खाते रहें। मरे शरीरका माश उनके लिये प्राणघातक सिद्ध होगा। बच्चोंको पैदा करके माँ ततैया तो उड़ जाती है और मर जाती है। वह अपने बच्चोंको कभी देखती नहीं। निश्चय ही सभी ततैयाएँ इस क्रियाको जीवनमें केवल एक बार और पहली ही बार ठीक-ठीक करती आ रही हैं, नहीं तो ततैयाओंकी जाति ही मिट जाती। ऐसी रहस्यमयी क्रियापद्धतिके बोधको परिस्थितियोंके प्रभावसे उत्पन्न कहकर नहीं टाला जा सकता। अवश्य ही यह किसीकी देन है।

चौथा—मनुष्यमें पशु-पक्षियोंकी सहजा बुद्धिसे भी विशेष एक वस्तु विवेकशक्ति है।

दसतक गिननेकी अथवा दसका केवल अर्थ ही समझनेकी अपनी योग्यताका कोई और जीव कोई उल्लेख नहीं छोड़ गया है। यदि सहजा बुद्धि बाँसुरीके केवल एक स्वरके तुल्य है, जो मीठी है पर सीमित भी है, तो मानवमस्तिष्कमे सगीतके सभी वाद्य-यन्त्रोके समस्त सुरोंका सग्रह है। इस चौथे कारणपर अधिक विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। मानवीय बुद्धिको धन्यवाद है कि हम इतना तो विचार कर ही सकते हैं कि आज हम जो कुछ हैं, वह समष्टि बुद्धिका ही एक कण प्राप्त करके हैं।

पाँचवाँ—आज हम जीवमात्रके स्वरूप-रहस्यको खोल देनेवाले उस तत्त्वको जानते हैं, जिसका पता डार्विनको नहीं था। वह (रजो-वीर्यात्मक) द्विविध जननपरमाणुओं (Genes) का चमत्कार है।

ये जननपरमाणु इतने छोटे होते हैं कि यदि सारे जीवित मनुष्योंके स्वरूप-विधायक समस्त जननपरमाणुओंको एकत्र किया जाय तो उँगलीकी एक पोर-जितने चौड़े और गहरे छेदको भी पूरा नहीं भर सकेंगे। फिर भी ये अत्यन्त छोटे जननपरमाणु और इनके सहायक जीवन-बीजमध्यस्थ रञ्जनशील तन्तु (Chromosomes) प्रत्येक जीवित कोषमे वर्तमान रहते हैं और ये ही सारे मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा वनस्पतियोंके स्वभाव-स्वरूपकी कुजी हैं। दो अरब मनुष्योंके स्वभाव-स्वरूपको एकत्रित करनेके लिये उँगलीकी पोर-बराबर छेद कितना छोटा स्थान है ! पर ये बातें हैं निर्विवाद सत्य। भला, ये जीवन-परमाणु कैसे असख्य पूर्वजोंकी सामान्य चारित्र्यगत छापको इतने अत्यन्ताल्प स्थानमे सुरक्षित रखते हैं ? वास्तवमें विकास यहीं—इस कोषसे ही आरम्भ होता है, जिसमें जीवन-परमाणु रहते और बढते हैं। पृथ्वीके समस्त प्राणियोंके स्वरूप-विकासपर इन दुर्निरीक्ष्य जीवनपरमाणुओंका एकच्छत्र शासन किसी ऐसी अद्भुत चातुरी और कार्यपटुताका उदाहरण है, जिसका उद्गम कोई सर्वकारण-कारण ज्ञानराशि ही हो सकती है। किसी अन्य कल्पनासे यहाँ काम चलता नहीं।

छठा—प्रकृतिकी विलक्षण व्यवस्थितता हमें यह समझनेके लिये बाध्य करती है कि कोई अनन्त ज्ञानराशि ही इतनी दूरदर्शिता और प्रबन्धपटुतासे सृजन-कार्यका सम्पादन कर सकती है।

कई वर्षों पहले आस्ट्रेलियामें बाड़के लिये एक जातिकी नागफनी लगायी गयी। आस्ट्रेलियामें इसके नाशक कृमि-कीट थे नहीं, इसलिये यह नागफनी खूब बढ चली। इसका भयकर विस्तार इतना बढने लगा कि कुछ ही समयमें इसने इग्लैंडके क्षेत्रफलके बराबर पृथ्वी छेंक ली। नगरों और गाँवोंमें भी यह इतनी अधिक हो गयी कि वहाँके रहनेवालोंको अलग हट जाना पड़ा। उनके खेतोंको यह नष्ट करती चली जा रही थी। इससे त्राण पानेका उपाय खोजनेमें कृमि-कीट-शास्त्रविशारदोंने ससार छान डाला। अन्तमें उन्होंने एक कीड़ा खोज निकाला जो केवल नागफनीपर ही अवलम्बित रहता है। यह सिवा उसके और कुछ नहीं खाता। इसका वश भी खूब जल्दी बढता है तथा आस्ट्रेलियामें इसको हानि पहुँचानेवाला अन्य कोई जीव नहीं था। इसलिये शीघ्र ही पशुजगत्‌ने वनस्पतिपर विजय पायी। अब नागफनीकी बढती हुई सेना पीछे हट गयी है। साथ-ही साथ कुछको छोड़कर शेष कीड़े भी लुप्त हो गये हैं। पर जितने बचे हैं, वे नागफनीको सदा नियन्त्रणमें रखनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकारके नियन्त्रण और नियमनकी व्यवस्था ससारमें सर्वत्र देखनेको मिलती है। अति शीघ्र वश-विस्तार करनेवाले कीट-पतगोंका भला, क्यों नहीं पृथ्वीपर सर्वाधिक प्रभुत्व हो गया ?

इसका कारण यह है कि उनके पास मनुष्यकी भाँति फुफ्फुस-यन्त्र नहीं है। वे नलिकाओंद्वारा साँस लेते हैं। परतु जब वे बढते हैं तो ये नलिकाएँ उनकी शरीरवृद्धिके अनुपातसे नहीं बढतीं। इसीलिये कोई कीट-पतग बृहत्काय नहीं हुआ। उनके शारीरिक विकासकी यह रुकावट उनको नियन्त्रणमें रखती है। यदि यह नियन्त्रण न होता तो मनुष्यका आज अस्तित्व ही न मिलता। सिंहके समान शरीरवाली एक ततैयासे भेंट होनेकी जरा कल्पना कीजिये।

सातवाँ—मनुष्यके द्वारा भगवान्‌की धारणा सम्भव है, यह बात ही एक अद्वितीय प्रमाण है।

भगवद्धारणा मनुष्यकी एक दिव्य मानसिक प्रक्रियासे सम्भव है। यह मानसिक प्रक्रिया ससारके इतर प्राणियोंको उपलब्ध नहीं है। इसका नाम है ध्यान। इसके द्वारा मनुष्य और केवल मनुष्य ही अदृश्य वस्तुओंका साक्षी बन सकता है। ध्यानद्वारा दृष्टिगोचर होनेवाले दृश्योंका विस्तार निस्सीम है। मनुष्यका परिपक्क ध्यान जब एक आध्यात्मिक वस्तु बन जाती है तब वह सबमें उपयोगिता और सप्रयोजनताको देख सकता है, इस महान् सत्यका दर्शन कर सकता है कि भगवान् सर्वत्र और सबमें हैं और सबसे समीप तो हमारे अपने हृदयमें ही वर्तमान हैं।

ध्यानकी दृष्टिसे भी प्रार्थना* की ये पक्तियाँ नितान्त सत्य हैं—

आकाश-पटरूपर अङ्कित है प्रभुका गुण-गौरव-यशोगान।
अम्बरके उरमें चमक रहा उनके करका कौशल महान॥

जो नहीं था, वह मर गया

(लेखक—श्रीप्रतापशेठजी)

'मैं हूँ', इसके लिये तो किसी भी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, परतु मेरे शरीर है या नहीं—यह विचारणीय है। यदि शरीर होता, तो जैसे मैं आत्मस्वरूप हूँ, वैसे ही शरीर भी आत्मस्वरूप होना चाहिये था और फिर उसको भी प्रमाणकी आवश्यकता न होती, किंतु अपने लिये जैसे अन्य पदार्थ विषय होते हैं, वैसे ही अपना शरीर भी विषय होता है। वह जब हमारी बुद्धिका विषय होता है, तभी उसमें विषयता आती है और उसकी मृत्यु होती है। किंतु बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर—ये द्रष्टास्वरूप हों तो इनका नाश कभी नहीं होता। नाश वही होता है, जो उनका विषय होता है। यदि द्रष्टास्वरूप बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीरका नाश होता तो अपनेको नाश समझता ही नहीं।

बुद्धि, इन्द्रियाँ या शरीर आदि जो द्रष्टारूप हैं, उनपर बुद्धिके द्वारा लगायी हुई विषयोंकी सापेक्षता यदि पूर्णतया निकाल दी जाय तो वे *आत्मस्वरूप* ही हैं। उनका नाश कभी होता ही नहीं। उनका नाश होता तो वे अपनेको कभी समझते ही नहीं और समझनेवालेका न होनेसे नाशका कोई स्वरूप ही नहीं रहता। नाश जिनका होना समझा जाता है उन बुद्धि आदि इन्द्रियोंका न होकर उनके रूप-रसादि विषयोंका ही होता है।

अपनी किसी भी क्रियाके होनेके समय तो वह अपना विषय नहीं रहती, क्योंकि विषय होनेके लिये जो पदार्थ विषय होता है, वह पहले होना चाहिये। अतः वैसी क्रिया भी विषय होनेके पहले होनी चाहिये। परतु विषय होनेके पहले किसी क्रियाका स्वरूप और उसका अर्थ नहीं रहता, *यानी क्रिया आत्मस्वरूप* ही रहती है। इसका भाव यह है कि किसी भी वस्तुको रूप और अर्थकी प्राप्ति होती है तो वह बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होती है। अत. मृत्युको भी जो मृत्युका स्वरूप और अर्थ प्राप्त होता है, वह भी बुद्धिमें यानी ज्ञानमें ही होता है। अर्थात् जबतक बुद्धि है, तभीतक मृत्यु है। बुद्धिके अतिरिक्त मृत्यु या जगत्‌की भावाभावरूपी कोई भी वस्तु मूलतः नहीं है। सब परमात्मस्वरूप ही है। परमात्माको ही बुद्धि गुण लगाकर जगत् बनाती है और हमारी मृत्यु भी उसीके अदरकी एक चीज है।

अपने जन्मके समय 'मैं जन्मा' ऐसा ज्ञान अपनेको नहीं होता, वह पीछे उत्पन्न होता है। इसीसे यह सिद्ध है कि

---

* बाइबिलके प्रार्थना-खण्डकी १९वीं प्रार्थनाकी प्रारम्भिक पक्तियाँ।

यह ज्ञान झूठा है। जहाँ जन्मका ही ज्ञान नहीं, वहाँ जन्मसापेक्ष मृत्युको कैसे सत्य माना जाय ?

हमको जो भी ज्ञान होता है, वह सब वस्तु या क्रियाके बादमें ही होता है। ज्ञान होनेके पहले वस्तु या क्रिया होनी चाहिये, तभी हम कह सकते हैं कि अमुक बातका ज्ञान हुआ। यानी ज्ञानका स्वरूप ही यह है कि वह पीछेसे होता है, इसलिये वह अनुभवकी तरह सत्य नहीं होता, अतएव शरीरको यदि बुद्धिने विषय नहीं किया तो वह भी परमात्मस्वरूप ही है। जैसे जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उनको यदि विषय नहीं किया जाय तो वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं, वैसे ही हमारा शरीर और हमारे शरीरकी समस्त क्रियाएँ भी यदि उनको बुद्धिने विषय नहीं किया है—सब परमात्मस्वरूप ही हैं। जगत्का, हमारे शरीरका और उसकी सब क्रियाओंका स्वरूप विषयता ही है और यह विषयता बुद्धिकी अपेक्षासे है। इस बुद्धिको ही माया कहते हैं। यही सब जगत्की कर्त्री है। जगत्को, अपने शरीरको और सब क्रियाओंको विषय नहीं किया जायगा तो उससे 'मैं' 'तू' का भेद निकल जायगा और एक परमात्मा ही रह जायगा।

'मैं' स्वय तो 'मैं' हूँ; परतु दूसरेको यही 'मैं' तू दीखता है। काशीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परतु बद्रीनाथको वह 'तू' दीखता है। ऐसे ही बद्रीनाथ अपनेको 'मैं' समझता है, परंतु काशीनाथको बद्रीनाथ 'तू' दीखता है। यानी 'मैं' को जब हम बुद्धिसे जानने जाते हैं, तब वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दूसरा परोक्ष पदार्थ बन जाता है। अपने शरीरकी भी यही बात है। उसको भी हम जब विषय करेंगे, तभी उस विषय होनेवाले शरीरकी मृत्यु होगी। मृत्यु हमारा विषय होनेके कारण वह 'मैं' को कभी नहीं प्राप्त होती, वह विषय होनेवाले 'तू' को ही प्राप्त होती है और वह मृत्यु भी 'तू' की हो या 'मैं' की, वह होनी है विचारमें ही। प्रत्यक्ष मृत्यु कभी किसीको आती ही नहीं। विषय करनेमें पदार्थ बदल जाता है, 'मैं' का 'तू' हो जाता है। परमात्माका जगत् बन जाता है। यह सब बुद्धिरूपी मायाका ही कर्तृत्व है। इसी 'तू' के अनेक भेद होते हैं। सर्वभक्षक कालादि भी इस बुद्धिरूपी मायाकी ही सतति है। निरपेक्ष वर्तमानको तो बुद्धि पकड़ ही नहीं सकती। निरपेक्ष वर्तमान तो परमात्मास्वरूप ही है; उसको यदि बुद्धिमें या ज्ञानमें लानेका प्रयत्न किया जायगा तो वह भी भूतकाल बन जायगा; क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान होगा, वह वस्तु ज्ञान होनेके पूर्व होनी चाहिये, ऐसा ज्ञानका स्वरूप है। परतु वह ज्ञान विपर्यस्त ही होता है, क्योंकि वह वर्तमानमें नहीं होता। अपराध बननेके समय जो उपस्थित न हो, उसकी गवाही कैसे सत्य मानी जाय।

बुद्धिके बिना तो कालको भी कालका स्वरूप ही प्राप्त नहीं रहता। बुद्धिके बिना काल परमात्मस्वरूप ही है। जो पदार्थ बुद्धिमें आनेवाले हैं, वे सब कालग्रटित ही हैं; उन्हींको जगत् कहते हैं। यह जगत् बुद्धिरूपी मायाका ही बनाया हुआ है।

यदि यह भेद 'मैं' में यानी आत्मामें है, ऐसा मानें तो फिर वह 'मैं' मैं न रहकर 'तू' यानी दृश्य जड पदार्थ बन जायगा। 'मैं' स्वय तो 'केवल और स्वतःसिद्ध' पदार्थ है और जो 'केवल और स्वत सिद्ध' होता है, उसका नाश कभी नहीं होता, क्योंकि उसमें नाशके अवयवभूत परमाणु नहीं होते। इसलिये आत्मा कभी मरता नहीं और जो मरता है, वह काशीनाथका बद्रीनाथ और बद्रीनाथका काशीनाथ मरता है। यानी काशीनाथको जो बद्रीनाथ 'तू' दीखता है और बद्रीनाथको जो काशीनाथ 'तू' दीखता है। वह 'तू' ही मरता है। परतु तू कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा कहना पड़ता है। स्वय काशीनाथ और बद्रीनाथ तो 'केवलस्वरूप, स्वत.-सिद्ध और अद्वितीय पदार्थ' हैं। केवलस्वरूपके लिये मरण कहाँ ? जो मरते हैं, वे सब 'तू' स्वरूप ही मरते हैं। परतु 'तू' कोई वस्तु ही नहीं है। इसलिये 'जो नहीं था, वह मर गया' ऐसा ही कहना उचित है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी)

[गतवर्ष पृष्ठ १३८५ से आगे]

"भावमय श्रीभरतलाल 'श्रीराम सीय शयन अवनि'का दर्शन करने गये हैं।" यह मङ्गलसम्पन्न संवाद श्रीराम-प्रेम-रस-रसिक नागरिकोंमें पूर्णरूपेण व्याप्त हो गया। वे भी अपनी 'नयन मन जरनि'को विनष्ट करनेके लिये उत्कण्ठित हो गये। वे अपनी गतिका अवरोध करनेमें असमर्थ हो गये—आर्त होकर दौड़ पड़े श्रीभरतका अनुगमन करनेके लिये। उनका एकमात्र लक्ष्य था—'श्रीराम सीय विश्रामस्थल।'

वे उस परमपावनी स्थलीको निहार रहे हैं। अवलोकन करनेके अनन्तर सस्नेह परिक्रमा करके सनम्र अभिवादन करनेमें प्रवृत्त हो गये। उस कठिन 'दर्भ-साथरी'का अवलोकन करनेके पश्चात् उनके वियोगी मनमें 'अवधराज-प्रासाद-स्थित श्रीराम-सीय-शयनागार'की स्मृति सबल हो गयी और वे सोचने लगे—कितना मनोरम शयनागार था—शयनके लिये मञ्जुल पलग, प्रकाशके लिये शीतल मणिदीप और दुग्धफेनकी भाँति सुकोमल, सुचिक्कण और विशद वस्त्र, उपधान और गद्दियाँ—ये सभी सुसाधन समुपस्थित थे वहाँ। और यहाँ ··· । कितना विशाल वैषम्य है यहाँ और वहाँके शयनकक्षमें। हमारे श्रीराघवकी सुकोमला त्वचाको कितने कष्टप्रद हुए होंगे ये दर्भसमूह! प्रभुने यहाँ किस प्रकार रात्रि बितायी होगी! इस कल्पनामात्रसे उनका वदन विवर्ण हो गया। उनके मनको करुणाने अधिकृत कर लिया। नेत्रकोण अम्बुसयुक्त हो गये। फिर वे असहिष्णु होकर श्रीकैकेयीको दोष देने लगे। वाम विधाताको भी निर्दोष समझना अनुचित था उनकी भावमयी दृष्टिमें। विभिन्न-विभिन्न भावना एवं विचारके नागरिक, विभिन्न-विभिन्न व्यक्तियोंके व्यक्तित्वकी श्लाघा करते हुए अपनेको निन्द्य समझने लगे। परमपावनी भक्ति-भागीरथीमें सुमज्जन करनेवाले नागरिक भैया भरतको साधुवाद देने लगे—'धन्य हो स्नेहमय! आपकी ही पुनीत प्रीतिके कारण हम पुनः श्रीराम-दर्शनका मनोहर लाभ ले सकेंगे। अन्यथा कृपालु श्रीरामभद्रने तो तमसा नदीके तटपर हमारे दैहिक कष्टका अनुभव करके हमारा परित्याग कर ही दिया था।' ज्ञानार्णवमे डुबकियाँ लगानेवाला जन-समुदाय चक्रवर्ती श्रीदशरथजीके सत्य स्नेहकी प्रशसा करने लगा। 'धन्य हो हमारे दिवगत सम्राट्! कितना अविकल स्नेह था श्रीरामके पावन पदोंमें आपका। श्रीरामभद्रका वियोग होते ही आपके प्राण पखेरू हो गये—

जिअत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥

'किंतु हम तो आजतक जीवित हैं श्रीरामसे वियुक्त होकर। सत्यस्नेही! हम आपका अनुसरण करनेमें असमर्थ ही रहे।' कर्मठ नागरिक श्रीगुहके परम पुनीत आत्मनिवेदनकी सराहना करते हुए उनकी अपेक्षा अपनेको निन्द्य समझने लगे। इसी प्रकार सम्पूर्ण निशा व्यतीत हो गयी। मनकी कल्पनाएँ समाप्त न हो सकीं। श्रीरामविरहदग्ध नागरिक निद्रादेवीका आवाहन करनेमे असमर्थ ही रहे—सो न सके।

भगवान् भुवनभास्करकी अरुणिमा आखण्डल-दिशाके पूत वक्षस्पर अपनी आभा बिखेरनेमे संलग्न हो गयी। श्रीराघव-दर्शनाभिलाषी जनोंकी अभिलाषा वृद्धिंगत हो गयी। चार घटिकामें ही सम्पूर्ण समाज देवनदीके उस पार हो गया। यह श्रीनिषादके परिश्रम और सुप्रबन्धका परिणाम था। अब आइये, श्रीभरतलालकी एक अनुराग-मयी झाँकीका दर्शन करें।

प्रात क्रिया करि मातु पद बंदि गुरहि सिरु नाइ ।
आगें किए निषाद गन दीन्हेउ कटकु चलाइ ॥

कियउ निषादनाथ अगुआईं । मातु पालकीं सकल चलाईं ॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा । बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा ॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू । सुमिरे लखन सहित सिय रामू ॥
गवने भरत पयादेहिं पाए । कोतल संग जाहिं डोरिआए ॥

प्रात.कालीन शौच, स्नान, सध्या-वन्दनादि दैनिक कर्मोंसे निवृत्त होकर श्रीभरतने क्रमशः सम्मान्या माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ श्रीवशिष्ठजीके चरणोकी वन्दना की। वन्यपथप्रदर्शक निपादगणको आगे करके सेनाको प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी। तदनन्तर श्रीनिपादराज स्वय आगे चले। इन्हींके संरक्षणमे माताओंकी शिविकाओंने भी प्रयाण किया। श्रीभरतने लघुबन्धु श्रीशत्रुघ्नकुमारको निपादका सहगामी बना दिया। 'श्रीशत्रुघ्नको भी श्रीभरतलाल आज अपने सहवासमें नहीं ले रहे है' यह एक विशिष्ट विषय है। भूसुर-वृन्दको सहगामी बनाकर श्रीगुरुदेवने भी प्रस्थान किया। सम्पूर्ण समाजके प्रस्थान कर लेनेपर परम पवित्रसलिला श्रीसुरसरिताकी वन्दना करके, सानुज श्रीसीतारामका मङ्गलमय स्मरण करके, प्रेममय श्रीभरतलाल भी गमन करनेमें प्रवृत्त हुए, किंतु और लोगोंकी गति-विधिमें और इनकी गति-विधिमें भूमि-आकाशका अन्तर है। अन्य समस्त जन-समुदाय वाहनोंपर सवार है और ये 'पयादेहिं पाएँ' हैं। अश्व लेकर सुसेवक साथमें चल रहे हैं और सोच रहे हैं—अभी हमारे स्वामीकी पैदल ही चलनेकी इच्छा है। कुछ दूर चलकर अवश्य ही घोड़ेपर सवार हो जायँगे; परतु श्रीभरतकी इस पैदलयात्राका क्या रहस्य है, आगे चलकर स्वयमेव ज्ञात हो जायगा।

प्रस्तुत यात्रासम्बन्धी श्रीभरतलालकी गतिविधिमें क्रमभङ्ग है। महामहिम श्रीभरतलालकी इस यात्राके गमन-क्रमका भावपूर्ण परिवर्तन उनकी परमोज्ज्वलस्नेहमहिमाकी ओर सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करनेके हेतु हमारे मन और मस्तिष्कको बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। आइये, उस सुमधुर स्नेह-सुधासागरमें हम अपने-अपने सु-मनको सुप्रवृत्त करानेका प्रयत्न करें।

आज श्रीभरतलालकी स्नेह एवं त्यागसे युक्त यात्राका श्रीगणेश—आदि दिवस है। 'श्रीदशरथलालित राम और श्रीकौसल्यापालिता सुकुमारी श्रीमैथिली काननके कठिन कण्टकाकीर्ण कठोर पथमें होगे' इस भावमय विचारके कारण भावुक श्रीभरतलाल वाहनपर सवार न हो सके। 'भरत अनुगामी' श्रीशत्रुघ्नकुमार तो अनुगामी ही ठहरे।

बन सिय रामु समुझि मन माहीं । सानुज भरत पयादेहिं जाहीं ॥

श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका प्रभाव पीछे आनेवाले नागरिकोंपर पडा—भलीभाँति पडा। पड़ना भी चाहिये था; क्योंकि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।' उनकी इस भावसवलित क्रियाका अवलोकन करके प्रत्येक नागरिकमें अनुरागमयी भावनाकी प्रबलता हो गयी। उनका पवित्र मन अनुरागग्रस्त हो गया। फलतः अश्वारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे। धन्य हो भैया भरतलाल! धन्य है आपका स्नेह! धन्य है आपकी स्नेह-सयुक्ता क्रिया, जिसका इतना महान् प्रभाव है कि साथ चलनेवाले लोग अनायास ही अनुकरण करनेके लिये मचल पडे।

देखि सनेह लोग अनुरागे । उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥

अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी और सानुज श्रीभरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें पुत्रवत्सला राजमाता श्रीकौसल्या असमर्थ हो गयीं। वे शीघ्र ही चल पड़ीं अपने विनयावनत सुपुत्र श्रीभरतलालकी ओर। उन्होंने अत्यन्त सनिकट पहुँचकर शिबिकाको रखवा दिया और बड़ी ही कोमल वाणीसे बोलीं।

जाइ समीप राखि निज डोली । राममातु मृदु बानी बोली ॥

कविकुलकमलदिवाकर पूज्यचरण श्रीगोस्वामीजीने राजमाताको लक्ष्य करके जिस शब्दका प्रयोग किया है,

वह शब्द कितना भावसंयुक्त है! वह शब्द कवि और माता कौशल्या दोनोंके गौरवका ही सूचक नहीं है, अपितु दोनोंके स्वरूपगत गाम्भीर्यका भी प्रकाशक है। 'राममातु' इस शब्दका अर्थ-गाम्भीर्य विचारकर मानसावगाहियोंका हृदय आनन्दसमुद्रमें हिलोरें लेने लगता है। उनका मस्तक स्वयमेव विनम्र हो जाता है पूज्य महाकविके पूत पादपद्मोंमें। अपनी पुत्रोपमा प्रजाकी करुण दशा देखनेमें असमर्थ हो जाना 'राममातु'का ही कार्य है। यह शब्द महाप्रभु श्रीरामकी महत्ताकी ओर दृष्टिपात करनेके लिये भी हमें लुब्ध कर रहा है।

'पितुराज्ञा गरीयसी' समझकर श्रीराम वनिता-बंधु-समेत रथारूढ़ हो गये। श्रेष्ठ सूत सुमत सारथ्य कर रहे हैं। रथकी गमनक्रिया आरम्भ हो गयी। रामस्नेही प्रजा भी व्याकुल होकर दौड़ पड़ी। जनसमुदाय रघुवर-विरहाग्नि सहन करनेमें असमर्थ हो गया। चरणोंके साथ-साथ मन भी तीव्र विचारधारामें प्रवाहित हो चला। विचार-धारा शान्त हो गयी—विचार सुनिश्चित हो गया।

.... । राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं ॥
जहाँ राम तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू ॥

इस विचारके सुदृढ़ होते ही अवशिष्ट ममताओंके बन्धन भी शिथिल हो गये। फिर तो—'बालक वृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ।' किंतु श्रीरामभद्र अपनी प्रिय प्रजाका यह करुण-दृश्य न देख सके।

करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं ॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए ॥
किए धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे ॥
सील सनेह छाँडि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई ॥

देखा आपने—यह है, श्रीरामभद्रकी कृपालुता! इसीलिये महाकविने मैयाको भी 'राममातु' ही कहना विशेष उपयुक्त समझा। अस्तु,

तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी ॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥

'मेरे लाल! मैया बलैया लेती है। तुम रथपर आरूढ़ हो लो। अन्यथा तुम्हारा यह प्रिय परिवार महान् क्लेश प्राप्त करेगा। यद्यपि स्नेहका उत्कर्ष पैदल चलनेमे ही है, तथापि सम्पूर्ण समाज श्रीरामविरहसे अत्यन्त शोकसे क्षीणकाय हो गया है। मार्गमें पैदल चलनेयोग्य इनका शरीर नहीं रहा है। तुम्हारे पैदल चलनेपर इसमेंका एक व्यक्ति भी सवारीपर नहीं चलेगा। ध्वनितः 'बचन रचना अति नागर' श्रीरामकी मैयाने यह भी कह दिया—यदि तू पैदल चलेगा तो मैं भी शिविकाका परित्याग कर दूँगी।'

कारणरहित कृपालु श्रीरामकी माँकी वाणीमें कितनी विशाल आत्मीयता है, कितनी मधुरिमा है! राममातु-की बानी अनुराग-सानी, साथ ही कितनी ओजस्विनी है। उस वाणीको श्रवण करनेके पश्चात् श्रीभरतको बिना 'ननु-न-च' किये ही—अविलम्ब अपने निश्चयमें परिवर्तन करना पडा।

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई ॥

वे स्नेहमयी मैयाकी आज्ञा शिरोधारण करके उनके पावन पादपद्मोंमें प्रणत हो गये। दोनों भाई रथारूढ होकर आगे चले। मन-की-मनमें ही रह गयी।

हाँ, तो मैं निवेदन कर रहा था कि प्रस्तुत प्रसङ्गमें श्रीभरतलालके गमन-क्रमका परिवर्तन बडा ही भावपूर्ण है। आज श्रीभरतने सोचा—"यहाँतक रथपर चढकर आना विशेष जघन्य कृत्य नहीं था। यहाँतक तो मेरे आराध्य भी रथपर ही चढ़कर आये थे, किंतु शृङ्गवेरपुरमें ही सत्यव्रती श्रीरामने मस्तकपर जटा निर्मित करके 'तापसबेष बिसेष उदासी' वेषकी रचना की थी। श्रीसुमंतको भी साथमें लेना अनुचित समझा था उन्होंने। इस स्थलसे मेरे जीवनाधार श्रीराघवेन्द्र देवी सीता और भाग्यवान् लखनलालके साथ 'बिनु पानहिन्ह पयादेहिं धाए' गये हैं। यदि मैं विगत दिवसकी

भाँति ही आज भी रथपर सवार होता हूँ तो 'मिटै भगति पथ होइ अनीती' यह सोचकर भावुक भैया भरतलालने आज अपना अनुगमन करनेके लिये एक व्यक्तिको भी अपने पीछे नहीं छोड़ा, सहवासी श्रीशत्रुघ्नकुमारको भी नहीं। सम्पूर्ण समाजको प्रस्थान करा देनेके पश्चात् स्वयं चल रहे हैं।

'श्रीभरत आज पैदल गमन कर रहे हैं' इस समाचारका अंशमात्र भी लोग मार्गमें कर्णगत न कर सके। करते भी कैसे ? त्रैलोक्यकी समस्त क्रियाएँ 'उरप्रेरक' की प्रेरणासे ही जो होती हैं। उसकी सत्ताके बिना तो पीपलका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो फिर—प्राणाधिक श्रीभरतकी परम पवित्र भावनामयी अभिलाषाको पूर्ण करनेमें 'उर प्रेरक रघुवंसविभूषन' को भी चाहे अनिच्छाहीसे दिया हो—साथ देना ही पड़ा।

अपने सुकुमार स्वामीकी इस दुःखद यात्राका अवलोकन करनेमें सुसेवक असमर्थ हो गये। उनके धैर्यका बाँध टूट गया। वे लगे प्रार्थना करने—'स्वामी! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमिमें गमन करने योग्य नहीं हैं। नाथ! इन घोड़ोंके साथ-साथ हम सेवकोंको भी सनाथ करें—रथारूढ़ हो जायँ।' इन विनयावनत वचनोंकी उन्होंने एक बार नहीं, कई बार पुनरावृत्ति की।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥

किंतु प्रेमव्रती श्रीभरत अपने प्रेमपथपर अटल ही रहे। उन्होंने सेवकोंके वचनोंका उत्तर देते हुए जिन वाक्योंका अपने श्रीमुखसे उच्चारण किया, उन वाक्योंका आनन्द श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही लें।

राम पयादेहिं पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

'मेरे उपास्यदेव शिरीष-पुष्पाधिक सुकोमल श्रीराघवेन्द्र सरकार इसी कठोर मार्गसे पैदल ही गये हैं। उन परम सुकुमार महाप्रभु श्रीरामके लिये किसीने भी रथ-गज-अश्वोंकी रचना नहीं की और मेरे लिये—सेवकके लिये—उनके अनुचरके लिये रथ-गज-अश्वसमूहोंका निर्माण किया गया है। भैया! उचित तो यह है कि इस पथपर—श्रीराम-चरण-पावन पथपर मेरा मस्तक पड़े; क्योंकि सम्पूर्ण धर्मोंमें कठिनतम धर्म तो सेवक-धर्म ही है और मैं हूँ श्रीराघवेन्द्र सरकारके पावन पादपद्मोंका एक भृत्य।'

अहा! कितने भावपूर्ण ये वचन हैं। एक-एक वाक्य श्रीरामभक्तिसे ओतप्रोत है। इन वचनोंमें सेवकोंके लिये कितना मधुर शिक्षण है। इन ओजस्वी वचनोंको सुनकर सेवकगण निरुत्तर होकर मौन हो गये। मौन ही क्यों, वे आत्मग्लानिका भी विशेषानुभव करने लगे।

देखि भरत गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक गन गरहिं गलानी॥

आज अवधवासी जनसमुदायके साथ तीर्थराज प्रयाग भी भक्तशिरोमणि श्रीभरतकी प्रतीक्षामें आतुर थे। श्रीभरतलाल भी सानुराग 'श्रीसीताराम श्रीसीताराम' उच्चारण करते हुए तीसरे पहर प्रयागमें प्रविष्ट हुए। जनसमुदायने श्रीभरतके पैदल चलकर आनेका संवाद सुना। सम्पूर्ण समाज दुःखकी छायासे आच्छन्न हो गया।

भरत पयादेहिं आए आजू। भएउ दुखित सुनि सकल समाजू॥

आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतलालके मनपर तो नहीं, किंतु पैरोंमें तो छाले डाल ही दिये।

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥
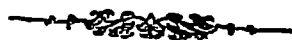
मूर्खता

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'सबका मूल्य है।' नाम देना उत्तम नहीं, क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। किसीकी आलोचना नहीं कर रहे थे वे, सहज स्वभाववश अपने सरल विश्वासकी बात व्यक्त कर रहे थे। 'यह दूसरी बात कि किसीका मूल्य बहुत कम है और किसीका बहुत अधिक, किंतु सबको क्रय किया जा सकता है।'

'यद्यपि यह अर्थप्रधान युग है, तथापि सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है।' मैंने प्रतिवाद किया। 'ऐसे लोगोंकी संख्या पर्याप्त अधिक है, जो किसी भी मूल्यपर क्रय नहीं किये जा सकते। अपने ही यहाँ·······'

'ऐसे कुछ ही अपवाद निकलेंगे।' बात यह है कि उनके सम्मुख कुछ नाम रख दिये गये थे और उन नामोंकी महत्ता अस्वीकार करनेका उपाय नहीं था।

'एक सीमातक अर्थ आवश्यक होता है।' मैंने स्पष्ट किया। 'मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि बहुत बड़ी सीमातक, किंतु एक सीमातक ही। व्यक्तिके व्यक्तित्व-को वह तभी क्रय कर सकता है, जब व्यक्ति मूर्ख हो। अपनेको मूर्ख बनाये बिना कोई अर्थके हाथों अपनेको सौंप नहीं सकता।'

'बड़े-बड़े विद्वान्, सुप्रख्यात साधु और महान् लेखक · ' वे प्रसिद्ध नामोंकी पूरी पंक्ति बोल गये।

'मैंने कितने बीज चुने हैं।' बड़े उल्लाससे एक बच्ची पास आ गयी। उसकी मुट्ठीमे चिरमिटीके लाल-लाल चमकते सुन्दर बीज थे।

'चल, खेल अभी!' बच्ची उन्हींकी थी, उन्होंने डॉट दिया। उसके भोले मुखपर उदासी आ गयी।

'बड़े सुन्दर बीज है तुम्हारे, मैं दो ले लूँ?' मैंने उसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया।

'नहीं।' मुट्ठी कसकर बाँध ली बच्चीने।

'तुम छोटे भैयाको ले आओ तो तुम्हें और बीज तोड़ दूँगा।' मैंने प्रलोभन दिया, क्योंकि मेरे मित्र उसे डॉटने जा रहे थे।

'पहले तोड दीजिये।' बच्चीके आग्रहमें बल नहीं था। बीज मिलते हों तो वह छोटे भाईको ले आयेगी। केवल तनिक पक्का आश्वासन अपेक्षित था। वह आश्वासन उसे मिल गया और वह दौड गयी छोटे भाईको ले आने।

'वह इसके केश नोचेगा, इससे झगड़ेगा और यह रो जायगी।' मैंने मित्रकी ओर देखा। बच्ची होनेपर भी इस कन्याका अपने छोटे भाईसे इतना स्नेह है कि उसे मार नहीं पाती, उसके द्वारा पिटनेपर भी। माता-पिताका पुत्रपर अधिक प्यार है। बच्चा अकारण भी रो उठे तो बालिका डॉटी जायगी।

उसका अबोध हृदय इस भयको अनुभव करने लगा है। हो सकता है, इसी भयसे छोटे भाईका ऊधम वह सह लेती हो—'बीजोंका क्या करेगी यह? ये बीज इसके क्या काम आयेंगे?'

'थोडी देर खेलेगी, प्रसन्न होगी और फेंक देगी!' मित्रने साधारण ढंगसे कहा।

'उसका अवसर भी अब नहीं आना है।' बात सच थी, उसका छोटा भाई उसके पासके बीज भी छीन लेगा और झगड़ेगा ऊपरसे।

'बच्चोंमें इतनी समझ कहाँ होती है।' मित्रका ध्यान उस बातपर नही था, जो उन्होंने प्रारम्भ की थी।

'एक समय था, बहुत वर्षोंका लंबा समय था वह, जब मेरे पास कभी दो-चार दिनको दस रुपये होते थे।'

मेरी बात विशेष नहीं लगनी चाहिये। भारतके अधिकांश ग्रामीणोंकी स्थिति यही है और भारतकी जन-संख्याका बड़ा भाग ग्रामोंमें रहता है। 'उन दिनों सनक थी—रुपया कैसे आये, इसके भाँति-भाँतिके उपाय सोचता रहता था। अपने आलस्यसे उनमेंसे कोई काममें नहीं आ सका—यह दूसरी बात।'

'अच्छा, तो आप कहानी सुनाने लगे हैं।' मेरे मित्र समझते हैं कि कहानीलेखक सत्य भी कहे तो वह होती कहानी ही है।

'उन दिनों एक साधु मिल गये थे। वे कहते थे कि उन्हें स्वर्ण बनाना आता है।' मैंने मित्रका प्रतिवाद नहीं किया, क्योंकि घटना सत्य हो या कल्पित—उसमें समर्थित सत्य है, तो घटनाके स्वरूपपर विवाद क्यों?

'उन्होंने आपको कुछ सिखलाया?' मेरे मित्रमें उत्कण्ठाका संचार हो गया। स्वर्ण घटित करनेकी प्रक्रियाके प्रति या कहानी सुननेके प्रति थी वह उत्कण्ठा—आप समझ लें। आप भी वह सब सुननेको उत्सुक होंगे।

× × ×

'आपने कभी स्वर्ण बनाया है?' मैंने उस साधुसे पूछा था।

'कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।' संक्षिप्त उत्तर था।

'अब बना देखें!' मैंने आग्रह किया।

'अब भी कोई आवश्यकता नहीं।' उन्होंने उपेक्षा कर दी।

'परीक्षणके लिये!'

'प्रक्रियामें मुझे पूरा विश्वास है और कुतूहल मुझे सदा अरुचिकर लगता है।' साधु तो साधु ठहरे।

'प्रक्रिया बता देनेकी कृपा करेंगे?' मैंने प्रार्थना की।

'बताना न होता तो तुमसे चर्चा क्यों करता?' साधु सीधे और स्पष्टवादी थे। 'किंतु इससे पूर्व तुम ठीक समझाओ कि स्वर्णका उपयोग क्या करोगे!'

'आप हँसेंगे। मैं वह सब आपको नहीं सुनाऊँगा। सम्भव है आपने भी सम्पन्न हो जानेका कभी स्वप्न देखा हो। भवन कैसा बनवाना है, उसकी साज-सज्जा कैसी रखनी है, क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँसे, किस प्रकारके मँगाने हैं—देखा है कभी आपने ऐसा स्वप्न? देखा है तो आपसे कुछ कहना नहीं। आप मेरी बात समझ जायँगे। न देखा हो तो आपके सम्मुख मुझे अपनी हँसी कराना नहीं।'

साधु बड़े धैर्यसे सुनते रहे मेरी कल्पना। दो-ढाई घंटे पूरे वे सुनते ही नहीं रहे, मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे। मेरे स्वप्नको बृहत् करने और स्पष्ट करनेमें योग देते रहे।

'अब कल बातें करेंगे।' अन्तमें वे अपने आवश्यक कार्यसे उठ गये। आप समझ सकते हैं कि मैंने कितनी उत्सुकतासे उस 'कल' की प्रतीक्षा की होगी।

'तुम्हारा स्वप्न सत्य हो जायगा तब? समझ लो कि सब कुछ हो गया।' साधुने दूसरे दिन स्वयं प्रारम्भ किया, यद्यपि मैं कम उत्सुक नहीं था प्रारम्भ करनेके लिये। उनके स्थानपर मैं समयसे कुछ पहले ही पहुँचकर प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगता था कि आज उनका पूजा-पाठ पूरा भी होगा या नहीं।

'इस प्रकार रहना होगा। लोग इतना सम्मान करेंगे।' मैंने अपनी स्वप्न-कल्पनाको स्पष्ट करनेमें संकोच नहीं किया।

'एक दिन बीमार पड़ोगे!' साधु हँसे नहीं।

कौन-कौन डाक्टर आयेंगे, कैसे लोग देखने आया करेंगे, आदि इस सम्बन्धके स्वप्न भी सुना दिये मैंने।

'डाक्टर बहुत-से इन्जेक्शन देगा। शरीर उठनेमें असमर्थ रहेगा।' अवश्य वे साधु भी पक्के कहानीकार होंगे। उन्होंने बड़ी भयानक बातें बतायीं—'नौकर मनमानी करेंगे। पड़े-पड़े चिड़चिड़ाते रहोगे।'

तिरस्कार, असमर्थता, हानि—इन सबका बडा भयानक वर्णन था साधुके शब्दोंमें। कठिनाई यह थी कि मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यदि मेरा स्वप्न सत्य होता है तो साधुकी कल्पनाके सत्य होनेकी सम्भावना ही अधिक थी।

प्रतिकूल स्वजनोंका तिरस्कार, अकृतज्ञ सेवकोंकी उपेक्षा, असमर्थता, रोग, हानि और बिना कुछ बोले कुढ़ते रहना, क्योंकि जो इतनी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पा लेगा, उसे अपने सम्मानको दूसरोंके सम्मुख तो सदा सँभालकर रखना होगा—कितनी भयंकर कल्पना थी।

जो लोग मेरे समान स्वप्न देखते हों, उन्हें अवश्य उस साधुसे मिल लेना चाहिये। वे स्वर्ण बनाना भी जानते हैं और पशुप्राय मनुष्यको समझाकर मनुष्य बनाना भी। कठिनाई यही है कि मैं उनसे पचीस वर्ष पूर्व मिला था। वे गङ्गाकिनारे पर्यटन करनेवाले परिव्राजक थे। तीन दिन मेरे समीप रुके थे। कोई पता उनका मुझे ज्ञात नहीं।

'अन्तमें मर जाओगे!' साधुने अपनी बात समाप्त की। अवश्य समवेदनाके बहुत तार आयेंगे। समाचार-पत्र बडे-बडे शीर्षक देंगे। बड़े समारोहसे अन्त्येष्टि होगी। भव्य समाधि बनेगी। मर जानेवालेको इन सबसे क्या लाभ। उसे यमदूत नरककी यन्त्रणा देते होंगे—नरकका वर्णन सुना है तुमने? सम्पत्तिके साथ भोग और तब नरक। बुरी बात है—बहुत बुरे स्थानपर तुम्हारा स्वप्न समाप्त होता है। अच्छा, अब कल।'

मैं उस 'कल' भी गया। अवश्य मुझमें अब वह उत्साह नहीं रह गया था। साधुने कमण्डलु उठा लिया था और गीली कौपीन भी कंधेपर डाल ली थी। वे अब जानेवाले थे।

'इस पुडियामें दो चावल पारद-भस्म है!' चलते-चलते उन्होंने कहा—'तुम इसे पिघले ताम्रमें डाल दो तो स्वर्ण बन जायगा। ऐसी मूर्खता न करो तो अच्छा। इसकी खुराक एक चावल है। दमा या दूसरे किसी रोगसे मरणासन्न व्यक्तिको दे दोगे तो एक बार देनेसे ही वह कष्टसे पूरा छुटकारा पा जायगा।'

साधु कहीं किसीके होते हैं। मुझे एक नन्ही पुडिया देकर वे चले गये। उनका फिर कभी कोई पता नहीं लगा। आप समझ सकते हैं कि मैंने उनका पता लगानेका कम प्रयत्न नहीं किया होगा—कोई लाभ नहीं हुआ।

× × ×

'आपने स्वर्ण बनाया?' मेरे मित्रने पूछा और सम्भवत. आप भी यही पूछना चाहेंगे।

'प्रयत्न भी नहीं कर सका।' निराश होना पडा मित्रको—यह तो बहुत पीछे पता चला कि ताँबेको पिघला लेना सामान्यतः सरल नहीं है। सम्भवत एक सप्ताह पश्चात् ही रेलकी यात्राके समय एक अपरिचित यात्रीको दमेका दौरा हुआ। बडी दारुण वेदना थी उसे। एक चावल भस्म मैंने दे दी। इसी प्रकार एक महिलाको यात्रामें हिस्टीरियाका दौरा हुआ और शेष भस्म दे दी गयी। तत्काल दोनोंको आशातीत लाभ हुआ था। दोनों अपरिचित थे, अत. पीछेकी बातका मुझे पता नहीं।'

'प्रारब्धमे नहीं था स्वर्ण आपके।' मित्र खिन्न हो उठे।

'साधुने एक वस्तु मुझे और दी थी।' मैंने उन्हें बताया, क्योंकि उन्हें खिन्न करनेको तो यह कथा मैंने सुनानी प्रारम्भ नहीं की थी।

'वह क्या?' सोल्लास पूछा उन्होंने।

'विचारकी एक शैली।' मैंने उनकी उत्सुकतामें साथ नहीं दिया। 'सम्पत्ति और दूसरे साधनोंका मोह

मूर्खता है। उनका अन्तिम परिणाम तो दूर—उनके उपयोगकी ठीक स्थिति भी समझ ली जाय तो उनका मोह समाप्त हो जाय।'

'आपने जो नाम गिनाये और वैसे और भी लोग' मैं अपनी बात कह रहा था—'सब आपकी बच्चीके समान हैं—उनकी विद्या और प्रतिभा चाहे जितनी बडी हो। यह बच्ची ही कहाँ कम विद्वान् मानती है अपनेको। अपने अक्षरज्ञानका पर्याप्त गौरव है उसे। चिरमिटीके बीजोंमे उसका विचारहीन आकर्षण—ऐश्वर्यका सारा आकर्षण इससे उच्चकोटिका नहीं।'

'आपकी दार्शनिकता अपनी समझमें नहीं आती।' मित्र बोले।

'सीधी बात है।' मैं समझाना चाहता था। 'परमात्मा दयामय हैं, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उसकी अपार कृपापर विश्वास न भी हो तो हम सब प्रारब्धको तो मानते ही हैं।'

'प्रारब्ध नहीं था, इसीसे तो हाथमें आकर भी स्वर्ण बनानेकी विधि आप सीख नहीं सके।' मित्रका मन नहीं अटका था।

'मैंने यह सीखा कि शरीरमें आसक्ति भी सम्पत्तिकी तथा स्वजनोंकी आसक्तिके समान मूर्खता है।' अब मैं भी बात समाप्त कर देना चाहता था। 'शरीर रोगी होगा, असमर्थ होगा और अन्तमें साथ छोड़ देगा। शत्रुसे भी बुरा व्यवहार स्वजनोंको करते सर्वत्र देखा जा सकता है। शरीरका सुख, इसका सम्मान और इसकी स्मृति सुरक्षित रखनेमें जो नरककी चिन्ता न करे, जो इन्हें ही अपना मान ले, उससे बडा मूर्ख कौन?'

'अब दीजिये मुझे चिरमिटी!' बच्ची आ गयी थी। छोटे भाईको वह साथ लायी थी। अब मुझे चिरमिटी तोड़ने उठना था, क्योंकि वह बच्चा भी मचल रहा था—'मुझे चिरमिटी दीजिये।'

'बस इतनी-सी चाह'

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची एम्० ए०, बार-एट-ला, विद्यावारिधि)

धरा धाम धन नहीं चाहिए, सुख संपद सम्मान।
नित्य चित्तमें रमे रमापति, निज सेवक लघु जान॥ १॥
शुभ करणी सद् ज्ञान हेतु हो, मेरा इन्द्रिय-ग्राम।
सात्त्विक जीवन साधन बन वे, सफल करें निज नाम॥ २॥
काम क्रोध मद लोभ मोह के, सारे बंधन काट।
मन बन जाये हरिका मन्दिर, खुलकर ज्ञान कपाट॥ ३॥
राम-नाम जपका रस रसना, करके अविरल पान।
जन-जनका तन शीतल कर दे, बनकर विनय निधान॥ ४॥
हों चरितार्थ युगल कर करके, जन हित के नित काम।
उनका सतत परिश्रम देवे, दुखियोंको आराम॥ ५॥
जहाँ कृष्ण सीतापति विचरे, निज-लीला विस्तार।
उस पावन पथपर पद चलकर, पावें मोद अपार॥ ६॥
जन-सेवामय प्रभु-पूजा में, रहे अमित उत्साह।
रहूँ मगन हरि-मिलन-लगन में, बस इतनी-सी चाह॥ ७॥

भक्त-जीवनका एक स्मरणीय ङ्ग

(लेखक—विद्वान् श्रीयुत के० नारायणन्)

गङ्गा उमड़ आयी !

भक्तिकी शक्ति अपरिमित है। अनेकों महान् व्यक्तियोंने सच्ची भक्तिके प्रभावसे बहुत-से अद्भुत कार्य कर दिखाये हैं। एकलव्यने केवल गुरुभक्तिके द्वारा धनुर्विद्या सीख ली थी। शिवाजीने गुरुभक्तिके प्रभावसे निडर होकर बाघिनका दूध दुहा था। श्रीमुत्तुस्वामि दीक्षितरने भक्तिपूर्वक अमृतवर्षिणी राग गाकर पानी बरसाया था। इसी प्रकारके महानुभावोंमे तिरुविशनल्लूर अय्यावय्यर भी एक हैं।

अय्यावय्यर बडे भक्तिमान् ब्राह्मण थे। नित्य नियमित रूपसे सध्या और पूजा-पाठ करते थे। सस्कृतके बड़े विद्वान् थे। वेद तथा आगमोंमे अच्छा अधिकार रखते थे। सारा गॉव उनका बडा आदर करता था। वे यथासाध्य दूसरोंकी सहायता भी करते थे।

एक बार उनके पिताके श्राद्धका दिन था। ब्राह्मण-लोग आ गये थे। मन्त्रोच्चारण हो रहा था। ब्रह्मभोजके लिये तैयारियाँ हो रही थीं। श्राद्धके अवसरपर इधर एक ब्राह्मणको प्रधानरूपसे भोजन दिया जाता है। उस भोजनको विष्णुका भोजन कहा जाता है।

इस समय अय्यावय्यर किसी कामसे घरके पिछवाडे-की ओर गये। वहॉ थोडी दूरपर एक भूखा निम्न जातिका मनुष्य खडा था। भूखके मारे उसका पेट पीठसे चिपक गया था। आँखें धँस गयी थीं। वह अय्यावय्यरसे बडे विनीत भावसे बोला—'स्वामिन्! चार दिनसे कुछ नहीं खाया है। भूखसे तडप रहा हूँ। कृपा करके कुछ खानेको दें, भूख सही नहीं जाती। प्राण निकले जा रहे हैं।'

अय्यावय्यरका हृदय पिघल उठा। वे तुरत अदर गये। और कोई भोजनका सामान तैयार नहीं था, विष्णुके लिये जो भोजनसामग्री पत्तेपर रखी थी, उसीको लाकर अय्यावय्यरने उसके हाथमे दे दिया। वह उसे बड़े चावसे खाकर तृप्त हो गया। उसका हृदय खिल उठा।

इधर पुरोहितोंने देखा तो उनमें बड़ी खलबली मची। अय्यावय्यरने श्राद्धके दिन विष्णु-भोजन किसी निम्न जातिके मनुष्यको दे दिया। यह सबके लिये असह्य था। पुरोहितोंने कह दिया कि अय्यावय्यर प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तो उन्हें जातिभ्रष्ट कर दिया जायगा। प्रायश्चित्त यह था कि गङ्गास्नान किया जाय।

अय्यावय्यर सोचमें पड गये। उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि उन्होंने ठीक ही किया। उनकी दृष्टि-में क्षुधासे मरनेवाले एक जीवको भोजन देना एक बडा शुभ कार्य था—वह विष्णु-भोजन ही था, उन्हें इसमें कोई गलती दिखायी नहीं पडी। पर अब आज श्राद्ध कैसे हो! गङ्गास्नान कैसे किया जाय। गङ्गा तो यहाँसे हजारों कोस दूर है।

अय्यावय्यर सीधे अपने घरके पीछे जो कुऑ था, उसकी ओर गये। उन्होंने उसके पास खड़े होकर ऑखें मूँद लीं और वे कातर स्वरसे भगवती गङ्गादेवीकी प्रार्थना करने लगे—'कैसा आश्चर्य, कुएँमे जल उमडने लगा। जलका स्तर धीरे-धीरे ऊँचा होता गया और अन्तमें वह कुएँके ऊपरतक आ गया। अय्यावय्यरकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे पुरोहितोंके पास आकर बोले—'देखिये, गङ्गाजल आ गया!' पुरोहित अचभेमें पड गये। सब कुएँके पास आ खड़े हुए तो देखा कि कुआँ फेनीले पानीसे उमड़ रहा है।

सबसे बड़े पुरोहितने कहा—'अय्यावय्यर! आप धन्य हैं! हम सकुचित विचारवाले आपकी महिमा क्या जानें?'

फिर क्या था। गङ्गाजल मिल गया था। पुरोहितोंका मन-परिवर्तन भी हो गया था। अय्यावय्यरने स्नान किया और श्राद्धका कार्य विधिपूर्वक सुसम्पन्न हुआ।

आज भी वह दिन बडी भक्ति-श्रद्धासे मनाया जाता है। भक्तिमान् ब्राह्मणलोग उस दिन तिरुविशनल्लूरमें इकट्ठे होते हैं और अय्यावय्यरका यशोगान करते हैं।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

४५—प्रागल्भ्य

'क्यों रे, तूने खोले हैं बछड़े ?' किसे पता था कि आज यह गोप अभी घरपर ही है। राम-श्याम बालसखाओंके साथ गोकुलकी गलियोंसे उछलते-कूदते नित्यकी भाँति धूम करते घूम रहे हैं। गोप चले गये हैं गायें चराने और गोपियाँ इन बालकोंकी ललित क्रीड़ा देखनेमें लगी हैं। इस गोपके गोष्ठसे बालकोंने सब बँधे बछड़े खोल दिये। किंतु जब यह घरसे निकला, सब-के-सब ताली बजाते भाग खड़े हुए हैं। दौड़कर सबसे पीछे भागते एक डेढ वर्षके नन्हे दिगम्बर बालकका हाथ पकड़ लिया है इसने और डाँट रहा है उसे। बड़ा क्रोधी है यह गोप।

'मैंने नहीं खोले हैं!' बेचारे बालकके नेत्र भर आये हैं। भयसे उसकी तोतली वाणी और अस्पष्ट हो गयी है। कातर हो रहा है वह।

'मैंने खोले हैं बछड़े!' किसी सखाको कोई कुछ कहे, यह श्याम सह नहीं सकता। यह लौट आया कन्हाई। दो वर्षका यह नीलसुन्दर इतने बड़े हट्टे-कट्टे गोपके सामने तनकर खड़ा हो गया है—'इसे छोड़ दो!' वाणीमें जो रोब है, खड़े होनेमें जो अकड़ है, देखने ही योग्य है वह।

'तूने खोले हैं? क्यों खोले?' गोपने बालकका हाथ छोड़ दिया और श्यामका हाथ पकड़ा।

'हाँ, खोले तो मैंने ही हैं!' सखा छूट गया और कृष्णकी वह प्रगल्भता चली गयी। झुक गया है उसका सुन्दर मुख। पीछे मुड़कर देख रहा है वह, कोई उसकी सहायता करेगा या नहीं?

'क्या हुआ जो बछड़े खोल दिये? हाथ छोड़ दो!' यह आया दौड़ता हुआ दाऊ। झटक दिया हाथ आते ही इसने गोपका। इसकी तेजस्विता तो फिर इसीके योग्य है। 'तुमने क्यों पकड़ा कन्हाईका हाथ?' नन्हा-सा यह गौरसुन्दर इस प्रकार इतने बड़े गोपसे पूछ रहा है, जैसे कोई सम्राट् किसी सामान्य व्यक्तिको फटकार रहा हो।

'इसने बछड़े खोल दिये। वे वनमें भाग जायँगे और गायोंका दूध पी डालेंगे। तुम अपने छोटे भाईको मना क्यों नहीं करते?' गोप हँस तो नहीं सका, पर उसके मुखपर जो डाँटनेका भाव था, वह चला गया है। इस दाऊसे वह झगड़ नहीं सकता। क्या हुआ जो यह तीन वर्षका बालक है। गोप जानता है कि यह रुष्ट हो जाय तो उसके घरमें एक भी मटका बचेगा नहीं। उसके ऊखलतकको यह पटककर फोड़ फेंकेगा। साथ ही ये सब बालक खड़े हो गये हैं। अब इन्हें डराया नहीं जा सकता। मधुमक्खियोंके इस छत्तेको छेड़नेमें अब कुशल नहीं है।

'बछड़े अपनी माँका दूध पियेंगे, तुम अपनी माँका दूध पियो।' उसकी पत्नी द्वारकी ओटमें हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है। व्रजके ये दोनों युवराज उसके दढियल पतिको उसकी बुढिया माँका दूध पीनेका आदेश दे रहे हैं, जैसे अभी स्वय ये अपनी माताओंका दूध पीते हैं। बेचारा गोप खड़ा-खड़ा देख रहा है और उसे अँगूठा दिखाते, ताली बजाते, दौड़े जा रहे हैं ये बालक।

४६—पावस-नृत्य

'कनूँ, तू मयूरसे अच्छा नाचता है!' नन्हा तोक ताली बजाकर कूद रहा है। झुंड-के-झुंड मयूर इधर-उधर ठुमक-ठुमककर नृत्य कर रहे हैं। किंतु श्यामसुन्दरके नृत्यकी शोभा तो भिन्न ही है।

'दादा, तू भी नाच!' कन्हाईने बड़े भाईका हाथ पकड़ा और दोनों गोल चक्कर काटने लगे।

'अरे!' हाथ छोड़कर अलग-अलग राम-श्याम सैकड़ों बालकोंके साथ दोनो हाथ फैलाये गोल-गोल फिरते रहे और घूमकर भूमिमें बैठ गये। वे बैठते हैं और फिर उठते हैं। उठते हैं और फिर बैठते हैं।

नीचे कोमल बालुका और ऊपर मेघाच्छन्न आकाश। नन्ही फुहियाँ बरस रही हैं। अलकोंमें हीरक-कनियाँ उलझती जा रही हैं। बालक चक्कर काट रहे हैं, घूमकर गिर रहे हैं और हँस रहे हैं।

मयूरपिच्छ लहरा रहा है, अलकें हिल रही हैं,

पटुका फहरा रहा है, वनमाला वक्षपर चञ्चल हो रही है, पीली कछनी उड़ रही है, मोहन दोनों हाथ फैलाये शीघ्रतासे गोल घूम रहा है और घूम रहा है उसके समीप ही उसीकी भाँति हाथ फैलाये उसका नीलाम्बरधारी अग्रज।

'पृथ्वी नाचती है, पेड़ नाचते है, गृह नाचते हैं।' बालक हँस रहे हैं चक्कर काटते हुए। वे एक दूसरेको घूमकर पकड़ते हैं और धद्-धद् गिरते हैं भूमिपर।

'दादा!' श्यामने घूमते-घूमते गिरनेसे बचनेके लिये दाऊको पकड़ लिया। दोनों भाई एक दूसरेको पकड़े धप-से हो रहे।

'दादा!' भूमिपर एक हाथ टेके, एक हाथसे बड़े भाई-को पकड़े कन्हाई कभी सिर इधर झुकाता है और कभी उधर। वह खुलकर हँसता है—'दादा, सब नाच रहे है।'

'तू नाचेगा तो सब नाचेंगे ही।' दाऊने भी एक हाथसे छोटे भाईको सम्हाल रखा है। वह जानता है कि उसके अनुजको अभी चक्कर-सा लगता होगा।

'मैं कहाँ नाच रहा हूँ?' श्याम अब स्थिर हो रहा है। वह स्थिर हो या चञ्चल, किंतु स्थिर तो वही है। शेष सब तो नाच ही रहे हैं। उससे कोई कहता क्यों नहीं—'तू नचा रहा है, इससे सब नाच रहे हैं।'

'कनूँ, उठ! मै तेरे साथ नाचूँगा।' तोकने हाथ पकड़ लिया। इस कनूँके साथ नाचनेवाले ये कुमार—पावस-नृत्य तो इन्हींका है। यों नाच तो सभी रहे हैं, पर सब नाच रहे हैं ग्रीष्मके झोकोंसे विवश सतप्त धरापर।

४७—मैंने कृपा की

'दादा, देख तो!' श्यामने एक ककड़ हाथमें उठाया। 'तू घड़ा फोड़ेगा इसका?' दाऊने रोकना चाहा।

'इसके घड़ेसे इतना मोटा पानी निकलेगा।' अपनी पतली कनिष्ठिका दिखायी मोहनने। वह यह सोचकर प्रसन्न हो गया है कि घड़ेसे पानीकी धारा गिरेगी।

कालिन्दीके कोमल पुलिनपर प्रात-काल छोटे-छोटे बालक खेल रहे हैं। किसी-किसीकी कटिमें कछनी है, नहीं तो सब दिगम्बर ही हैं। रेतमें घरौंदे बनाते हैं, गड्ढे खोदते हैं, लेट लगाते हैं और एक दूसरेपर रेत उछालते हैं। हँसना, कूदना, दौड़ना, ताली पीटना और कोलाहल—आनन्दकी क्रीड़ा चल रही है। अलकोंमें धूल भर गयी है, यह सोचनेका इन्हें अवकाश कहाँ।

घाटसे एक गोपी अपने घड़े भरकर ऊपर आयी। खडी होकर एकटक देखने लगी शिशुओंकी क्रीड़ा। कन्हाईने देखा उसके घड़ेको और एक नया खेल सूझ गया उसे।

मोहन प्रसन्न हो रहा है—दाऊ तो बस, इतना देखना जानता है। उसका छोटा भाई प्रसन्न रहे, बस। कनूँके खेलमें वह बाधा नहीं देता। वह तो स्वय श्यामके साथ खेलमें योग देता है, यदि उसके योगसे श्यामके अधरोंपर हास्यकी रेखा दीख पड़े। कितना प्रसन्न हो रहा है कन्हाई घड़ेमेंसे जल गिरनेकी कल्पनासे।

'इसका घड़ा तो मैंने......' गोपिकाने मैयाको उलाहना दिया है। मैया श्यामको डाँटेगी। दाऊ अपने छोटे भाईको बचानेके लिये स्वय अपने ऊपर आगेसे ही अपराध ले लेना चाहता है।

'हाँ मैया, दादाने देखा है।' श्याम बीचमें ही बोल पड़ा। 'मैंने इसपर कृपा की।'

'अच्छा, मेरा बेटा अब कृपालु हो गया है!' मैयाको हँसी आ गयी।

'मैने तो एक घड़ेमें थोड़ा-सा छेद किया।' श्यामने अपनी अँगुली दिखाकर बताया—'इतना मोटा पानी निकलने लगा घड़ेसे। इसने फिर तो तीनों घड़े पटक दिये। फट्से फूट गये सब। इसने घड़े क्यों फोड़े?' जैसे अपराधिनी वही है और उसीको डाँट पड़नी चाहिये।

'देख मैया, इतने बड़े-बड़े घड़े थे।' दोनों हाथ फैलाकर बताया मोहनने। 'दो घड़े सिरपर और कटिपर रखकर यह ऐसे तो चलती थी।' अब कन्हाई जो मटककर चल रहा है—गोपिकाको हँसी न आये तो और क्या हो।

'मैं घड़ेको न फोड़ता तो इसकी कटि टूट नहीं जाती?' बड़े भाईकी ओर अब उसने देखा। जैसे पूछता हो—'दादा, ठीक है न?' इस चञ्चलके नेत्र क्या-क्या कहते हैं, अब कोई कैसे समझे?

४८—वस्त्र-धारण

'श्याम, आ। मैं तुझे कछनी पहना दूँ।' ऋषभ गोपकुमारोंमें बड़ा है। वह कन्हाईकी सहायता करना चाहता है।

'मैं पहिन लूँगा।' कृष्णचन्द्र अपने प्रयत्नमें है। वह कछनीको कटिमें लपेट लेना चाहता है। बीच-बीचमें रुककर

दूसरे सखाओंकी ओर देखता है—वे कैसे कछनी बाँध रहे हैं।

एक ओरसे लपेटनेपर चिकना कौशेय वस्त्र दूसरी ओरसे खिसक जाता है। एक छोर नन्हे हाथोंमें आता है तो दूसरा छूट जाता है। श्यामसुन्दर अच्छी उलझनमें पड़ा है। वह कभी एक छोरसे, कभी दूसरे कोनेसे और कभी बीचोबीचसे कछनीको बाँधनेका प्रयास कर रहा है। कोई पद्धति ठीक नहीं बैठती।

बालकोंने कछनी खोलकर इस छोटे झरनेमें स्नान किया है। सबके अङ्ग धुल गये हैं। मोहनकी अलकोंसे अब भी बिन्दु झर रहे हैं। एक-दो पुष्प अभी भी अलकोंमें उलझे हैं। करोंमें पतले कङ्कण, भुजाओंमें हल्के अङ्गद, वक्षपर मुक्तामालके ऊपर गुंजाओंकी माला और उनमेंसे झाँकता श्रीवत्स-चिह्न, कण्ठमें कौस्तुभ, कटिमें मणिजटित स्वर्ण-मेखला, चरणोंमें नूपुर। धुले हुए विकच कुवलयकी यह शोभा। बछड़े दूर चर रहे हैं और बालक अपने-अपने वस्त्र पहिननेमें लगे हैं।

'दादा!' श्याम अन्तमें झुँझला गया। उसने कछनी पैरोंके पास भूमिमें डाल दी और दो क्षण उसे देखता रहा। फिर हाथमें उसे उठाकर बड़े भाईके सामने जा खड़ा हुआ।

'ला, मैं पहिना दूँ।' दाऊने स्वय वस्त्र पहिन लिये हैं। अपने छोटे भाईके हाथसे कछनी लेकर वह घुटनोंके बल बैठ गया है। दिगम्बर श्याम उसके सम्मुख खड़ा है और सिर नीचे करके ध्यानमें देख रहा है—सीख लेना चाहता है कछनी बाँधना।

'श्यामसे कुछ अंगुल ही तो बड़ा है यह दाऊ। एक वर्ष बड़ा क्या कोई बहुत बड़ा होता है? परंतु दाऊको कछनी बहुत अच्छी बाँधनी आती है, यदि यह चञ्चल कन्हाई चुपचाप खड़ा रहे।'

'दादा!' मोहन अपनी कछनी बँधते-न-बँधते ताली बजाकर भाग जाना चाहता है। इसने वह एक बहुत सुन्दर पक्षी देख लिया है।

'तनिक रुक।' दाऊने भागने नहीं दिया।

'वह-वह पील पक्षी।' कन्हाईको भला, अब कोई कितने क्षण रोक सकता है। दाऊ शीघ्रता करनेमें लगा है।

४९—गाय ब्यायी

'दादा! दादा! कपिलाने बछड़ा दिया है। बड़ा सुन्दर बछड़ा है। आ, देख तू।' श्यामसुन्दर बहुत प्रसन्न है। वह जल्दी-जल्दी मैयाको, माता रोहिणीको और बाबाको यह शुभ समाचार दे आया है। उसकी कपिलाने दूध-सा उजला बछड़ा दिया है। अपने बड़े भाईको ले जाकर तुरंत वह बछड़ा दिखा देना चाहता है।

'गाय भूखी है। मैं इसके लिये कुछ ले आता हूँ।' दाऊने बछड़ेको देखा और उसका ध्यान कपिलाकी ओर गया। तुरतकी ब्यायी गाय भूखी तो होगी ही। कितना खाली दीखता है उसका पेट। गोपोंने उसके आगे बहुत कुछ रख दिया है, पर इससे होता क्या है। कपिलाको तो दाऊ या श्यामके हाथसे कुछ चाहिये।

'ले, खा ले!' छोटे-से पात्रमें यह नीलाम्बरधारी छोटा बालक कुछ अन्न लाया है और फिर दौड़ गया है एक मुट्ठी दूर्वा लेने। कपिला अन्नकी ओर देखनेके स्थानपर उसकी ओर देख-देखकर हुंकार कर रही है।

'उठ! उठ तू!' श्यामसुन्दर बछड़ेके पास आ बैठा है। अपने लाल-लाल दोनों नन्हे हाथोंसे उठनेमें यह बछड़ेकी सहायता कर रहा है। बछड़ा अभी ठिकानेसे उठ नहीं पाता और चलनेमें उसके पैर लड़खड़ाते हैं। गिर पड़ता है बार-बार वह। अपनी माँके बदले वह कन्हाईको ही सूँघ लेना चाहता है उसके चारों ओर घूमकर। श्याम हँसता है, मुख हटाता है, जब बछड़ा उसका मुख और सिर सूँघनेका प्रयत्न करता है। दोनों हाथोंसे बछड़ेका मुख पकड़कर मोहन उसे बार-बार पुचकार रहा है।

कपिला बार-बार हुंकार कर रही है। वह अपने सामने बैठे दाऊको कभी सूँघती है, कभी दाऊके हाथसे तृण लेती है या उसकी छोटी टोकरीसे अन्नके दो-एक ग्रास खा लेती है और फिर हुंकार करके श्यामसुन्दरकी ओर शीघ्रतासे लपकती है। वह अपने नवजात बछड़ेको चाट ले या इस नीलसुकुमारको सूँघे? बछड़ा तो कहीं जाता नहीं, पर यह श्याम और यह गौर कहीं उसके पाससे दूर न चले जायँ—कपिला आज अत्यन्त आतुर हो रही है। बार-बार हुंकार करती है। बार-बार सूँघती है दोनोंको।

'दादा, तू इसे उठना सिखा।' श्यामसुन्दर बहुत उत्सुक है कि यह नन्हा बछड़ा फुदकने लगे। बछड़ा उठता है तो कन्हाई उससे तनिक दूर हट जाता है कि वह उसके

भी पलकें खुली नहीं हैं। कटिकी कछनी ढीली-ढाली हो रही है। दोनों चरण आधे मुड़े हैं।

'दादा!' श्यामने पलकें खोल दीं। कैसा है उसका यह दादा! पता नहीं कब जग गया। कब धीरेसे उठ गया और कबसे पलंग पकड़े अपने छोटे भाईके मुखको चुपचाप देख रहा है। कन्हूँ पुकारता है, पर यह बोलता ही नहीं। धीरे-धीरे हँसता जाता है। कभी-कभी मैयाकी ओर देख भर लेता है।

'दादा!' कन्हाईके अधरोंपर भी मन्द मुसकान झलक उठी। उसकी भङ्गिमा कहती है—'अच्छा, दादा तो यह रहा। मुझसे पहले जग गया?'

और वहींसे झुककर अपनी दोनों भुजाएँ बड़े भाईके गलेमें डाल दीं उसने।

५१—वनकी ओर

'राम! अपने छोटे भाईको साथ ही रखना बेटा! इसे धूपमें मत घूमने देना। तुमलोग यमुनामें मत उतरना। देखो, पेड़पर कोई न चढ़े भला और परस्पर झगड़ना भी मत। कन्हाईकी सँभाल रखना लाल!' मैयाको पता नहीं कितनी सूचनाएँ देनी हैं। उसका नीलसुन्दर वनकी ओर जा रहा है। इसे किसी प्रकार रोका नहीं जा सकता। धक्-धक् कर रहा है मैयाका हृदय।

श्यामसुन्दरको शीघ्रता है और दाऊ तो प्रस्तुत भी हो गया। सखाओंमें कुछ भीतर आ गये हैं और कुछ द्वारपरसे पुकार रहे हैं। अब मैयाकी सूचनाएँ कहाँ सुनते हैं ये दोनों।

लहराता मयूरपिच्छ, सम्हाली-सजायी अलकावली पुष्पमाल्यसे सनी हुई, कपोलोंपर झलमलाते मणि-कुण्डल, भालपर केसरकी भव्य खौरके मध्य कज्जलका बिन्दु, अञ्जन-रञ्जित तनिक रतनारे दीर्घ दृग, कंधोंपर लहराते नील-पीतपट, कण्ठमें मुक्ताकी माला एवं घुटनोंतक लटकती वैजयन्ती माला, एक कंधेसे नीचे लटकता छीका और दूसरेपर पड़ा काला कम्बल, बायें हाथमें शृङ्ग, दाहिनेमें बेंत, कटिकी कछनीमें लगी मुरलिका। मत्त गजराजकी गतिसे झूमते ये राम-श्याम निकले द्वारसे।

उछलते-कूदते चिकने चञ्चल रंग-बिरंगे सहस्रों बछड़ोंका समुदाय आगे-आगे चल रहा है। बछड़े बार-बार पीछे मुड़ आते हैं और दोनों भाइयोंको सूँघकर कूदते फुदकते फिर आगे चले जाते हैं।

सहस्रों गोप-शिशु—सब-के-सब सुन्दर, सुपुष्ट और चपल। सबको सजाया है उनकी माताओंने। तैलस्निग्ध अलकें, अञ्जन-मञ्जु लोचन, आभरण-भूषित देह, धौतोज्ज्वल वसन—सब लकुट, कम्बल, छीके, वेत्र, शृङ्ग, रस्सियाँ लिये हैं। सब हँसते हैं, कूदते-से हैं और बछड़ोंको हाँकते हुए गाते जा रहे हैं।

आरतीके थाल सजाये खड़ी हैं द्वारोंपर वृद्धाएँ, माताएँ। मार्गमें दोनों ओर खड़े हैं गोपगण। छज्जोंसे पुष्प झर रहे हैं। दूर्वाङ्कुर एवं लाजाके साथ केसरके सीकर बरस रहे हैं।

'कनूँ कोई धूम नहीं करेगा। मैं उसे कहीं इधर-उधर नहीं जाने दूँगा।' दाऊने मैयाको द्वारपर आश्वासन दिया।

'मैं तेरे लिये बहुत-से जामुन लाऊँगा। मैयाके लिये भी और बाबाके लिये भी।' कृष्णचन्द्रने द्वारसे कुछ आगे जाकर, मुड़कर अपनी ओर अपलक देखती माता रोहिणीको पुकार-कर कहा।

'अरे नहीं! जामुनपर चढ़ना मत। नहीं चाहिये किसीको यहाँ जामुन। मैं वनसे मँगाये लेती हूँ।' माताकी पुकार कहाँ सुनता है यह चपल। वह कभी इधर जाता है, कभी उधर देखता है। कभी पीछे मुड़ता है, कभी नाचता है। उसे घेरकर नाच रहे हैं, गा रहे हैं ये गोपकुमार। वनकी ओर बढ़ी जा रही है यह मधुर मण्डली।

५२—उपहार

'दादा! बता तो, मैं क्या लाया हूँ?' पीताम्बरके भीतर कोई गोल वस्तु छिपाये यह श्यामसुन्दर दौड़ा-दौड़ा हँसता-हँसता आया और दाऊके सामने बैठ गया।

किसी गोपकुमारको—कहना यह चाहिये कि व्रजमें किसी-को, स्वयं दाऊको भी कोई सुन्दर स्वादिष्ट या आकर्षक वस्तु मिले तो वह उसी समय कृष्णचन्द्रके लिये सुरक्षित हो जायगी। उसे पानेवाला झटपट श्यामके पास उसे पहुँचाना चाहेगा। और यह श्याम—कोई रत्न, कोई बड़ा-सा पुष्प-गुच्छ, कोई सुन्दर फल, कोई लुभावना फूल, कोई भी वस्तु जो इसे पसंद आ जाय, उसे लेकर दाऊके पास भागेगा। इसे लगता है कि सारी उत्तम वस्तुएँ इसके बड़े भाईको ही मिल जानी चाहिये।

'मयूरका बच्चा।' दाऊने बिना रुके, बिना झिझके उत्तर दे दिया। वैसे कोई भी जानता है कि मयूरका बच्चा इस प्रकार पीतपटमें बंद करके लानेपर हिले-डुले बिना नहीं रहेगा।

'नहीं दादा, तू देखकर बता।' श्यामने पीतपटकी वह पोटली सामने कर दी; किंतु दाऊने जब हाथ बढ़ाया, उसने पोटली दूर हटा ली—'तू छू मत।'

'श्रीदामाका गेंद।' दाऊ हँस पड़ा। वैसे उस पोटलीसे जो सुरभि आ रही है, वह पहेली समझनेकी आवश्यकता नहीं रखती।

'अच्छा, तनिक देख ले।' कन्हाईने अँगुली रखने जितना अंश उस वस्तुका दिखलाया।

'पका बिल्व!' कोई फल है, पीला-पीला यही दीख रहा है।

'अच्छा, तू मुख खोल!' मोहनने अग्रजके चिबुकपर अपना दाहिना हाथ रख दिया।

'तू पहले दिखा!' दाऊने फिर हाथ बढ़ाया।

'ना, मुख खोल तू।' श्यामने पोटली हटा ली।

'रह, मुझे देख लेने दे।' दाऊके मुख खोलनेपर कृष्णचन्द्रने झटसे पटुकेमेंसे एक सुन्दर सुपक्व आम निकाल-कर बड़े भाईके मुखसे लगा दिया; किंतु जैसे ही दाऊने उसे काटना चाहा—जैसे कन्हाईको कुछ स्मरण आ गया। उसने झट आम हटा लिया और अपने मुखसे लगाता बोला—'कहीं खट्टा हुआ तो?'

'दादा, देख कितना मीठा है?' थोड़ा-सा काटकर मुखमें लेते ही मोहन उल्लसित हो गया। उसने आम बड़े भाईके मुखमें लगा दिया। कन्हाईके अधरोंपर आमके रसकी पीताभ छटा—अपने हाथमें आम लेकर वह अग्रजको खिला रहा है उसके सामने बैठा घुटनोंके बल कुछ उझका-सा, 'मीठा है न?'

'भला, यह भी पूछनेकी बात है? इतनी मिठास और भी कहीं क्या सम्भव है?'

५३—शृङ्गार

'तू मेरा पुष्प मत तोड़।' श्याम अपने बड़े भाईका शृङ्गार करना चाहता है। उसे स्वयं सब प्रसाधन-सामग्री एकत्र करनी है। अब उसके देखे पसंद किये पुष्प, प्रवाल आदि कोई लेने लगे तो वह झगड़ेगा नहीं?

'अच्छा ले। तू ही ले ले इसे।' ऋषभ सीधा है।

कन्हाईसे झगड़ना उसे रुचता नहीं। अब उसके तोड़े फूलको यह नटखट अपना बता रहा है तो इसीका सही। दूसरा तोड़ लेगा वह।

'तूने मेरा पुष्प तोड़ा क्यों? इसे वहीं लगा दे!' श्याम तो झगड़नेका बहाना ढूँढ़ता रहता है। भला, टूटा फूल कहीं फिर टहनीमें जुड़ा करता है।

'फूल तेरा सही, ले!' बेचारा ऋषभ अब कैसे इसे मनाये?

'मैं तेरा तोड़ा क्यों लूँ? मैं अपने आप तोड़ूँगा। इसे जहाँ था वहीं लगा!' कन्हाई झगड़ेपर उतर आया है। यह देखता ही नहीं कि ऋषभ इससे कितना बड़ा और कितना तगड़ा है।

'ला, मैं लगा देता हूँ!' भद्र बीचमें पड़ा। अभीतक न तो दाऊका श्रृङ्गार हुआ न श्यामका। अब झगड़ा बढ़ा तो और भी देर होगी।

'दादा, अब तू चुपचाप बैठा रह। हिलना मत!' मोहन बहुत प्रसन्न है। झगड़ा करके ऋषभसे जीत गया है वह। भद्रने उसका फूल फिर टहनीसे लगा दिया। क्या हुआ जो काँटेमें उलझा दिया गया था वह पुष्प—तोड़ा तो श्यामने स्वयं ही। अब नाचता कूदता वह बड़े भाईके पास आ बैठा है उसका श्रृङ्गार करने।

चारों ओर अरुण हरित पल्लवोंसे लहराते फल भारसे झुके वृक्ष। पुष्पगुच्छोंसे लदी लहराती लताएँ। कूजते पक्षी, नाचते मयूर, उछलते-किलकते कपिदल और सहस्रशः बछड़े चरते, कूदते या बैठे खड़े। हरित मृदुल यत्र-तत्र नन्हे सुमनोंसे सज्जित मञ्जुल भूमि। बालक मयूरपिच्छ, गुञ्जा, पुष्प, पल्लव चयन करने तथा एक दूसरेको सजानेमें लगे हैं।

पुष्पित कदम्बके नीचे स्नान-धौत स्वर्णाभ, नीलवसन यह बैठा है दाऊ और अब यह उसका इन्दीवर-सुन्दर, पीतवसन अनुज उसके पास आ बैठा है बड़े भाईका श्रृङ्गार करने।

अलकोंमें ढेरों पुष्प-गुच्छ, कानोंपर किसलयदल, कक्षमें मयूरपिच्छ, गलेमें गुञ्जा तथा वनपुष्पोंकी अनेक मालाएँ, करमें गेरू, खड़िया, रामरजकी डलियाँ और कमलके पुष्प। प्रसाधनकी सामग्री अपने अङ्गोंपर ही रख ली है इसने और अब एक-एक उठाकर दाऊको सजानेमें जुट रहा है।

'दादा, तू हिलना मत!' अच्छा अनुरोध है। स्वयं तो एक एक वस्तु सजाकर फिर नाचता है और दादा हिले भी नहीं। पर दादा क्या हिल सकता है इस समय।

५४–प्रेम

'दादा!' यह कन्हू अपने दादाको सदा अकारण ही पुकारे, ऐसा कुछ नहीं है। इसका तो यह एक स्वभाव हो गया है। सोतेमें भी यह अनेक बार 'दादा, दादा' कर उठता है। इसकी यह पुकार भी बड़ी अद्भुत है। प्रत्येक बार इसके स्वरमें उत्साह, कुतूहल, प्रेम—पता नहीं क्या-क्या होता है। प्रायः यह ऐसे उत्साहसे पुकारता है, जैसे कोई बहुत अद्भुत बात अपने दादासे कहने जा रहा हो या फिर इसका दादा इसे कई युगोंके बाद मिला हो।

और यह दाऊ है कि कन्हाई जब भी पुकारेगा, इसके नेत्र उसकी ओर घूम ही जायँगे। बदलेमें यह बहुत कम बार पुकारता है, बहुत कम बार सम्बोधन करता है। बस, नेत्र उठाकर देखेगा छोटे भाईकी ओर। उस समय इसके नेत्रोंकी भावभरी भङ्गी देखने ही योग्य होती है वह छटा तो। दाऊ गाढ़ निद्रामें हो, कन्हाई पुकार ले उसे, तो उस समय भी वह 'हूँ, हाँ' अवश्य कर उठेगा और उसके नेत्र न सही, पर हाथ निद्रामें ही अपने छोटे भाईको टटोल लेनेके लिये हिल उठेंगे।

वसन्तकी यह पुष्पित, किसलयमण्डित वनश्री। हरित दूर्वासे आच्छादित भूमितल। पशु-पक्षियोंका आनन्द-उल्लास और भ्रमरोंका मत्त गुञ्जन सार्थक हो गया है आज। आज राम-श्याम दोनोंने सुमनोंसे अपनेको सजाया है। उज्ज्वल पुष्पोंकी छोटी मालाओंमें नीचे पाटलके पुष्प लगाकर उन्हें इन दोनोंने कानोंमें पहिन लिया है। कानोंको घेरकर, रत्न-कुण्डलोंको बंदी करके शोभित वे मालाएँ और कपोलोंपर लटकते पाटलके मृदुल सुमन। सघन स्निग्ध मृदुल घुँघराली अलकराशि भी उज्ज्वल मोटी मालासे घिरी है और फहरा रहे हैं मस्तकपर मयूरपिच्छ। कलाइयोंमें स्वर्ण-मल्लिकाकी माला आज कंगन बन गयी है और भुजाओंके स्वर्णाङ्गद यूथिका-सुमनोंके अङ्गदोंके साहचर्यसे अत्यधिक भूषित हो गये हैं। वक्षपर गुञ्जा, कुन्द, तुलसीदलकी उत्तरोत्तर बड़ी मालाओंको अपने अङ्कमें लिये पचरंगे पुष्पोंकी खूब मोटी वैजयन्ती माला घुटनोंतक लटक रही है।

दाऊ एक सघन नाटे, फैले हुए छत्राकार तमालके नीचे

बैठा है एक शिलापर। उसके दोनों चरण शिलासे नीचे हरित दूर्वापर दो विकच सरोज-जैसे लगते हैं।

'दादा!' यह आया है फुदकता हुआ कन्हाई। अपने नीलाम्बरधारी अग्रजकी बायीं ओर मुड़ा हुआ बैठ गया है यह अपने दोनों हाथोंसे बड़े भाईके बायें कंधेको पकड़कर।

'दादा!' इसके सम्बोधनमें केवल प्रेम है। सम्बोधनके लिये ही सम्बोधन है यह और दाऊ मुख घुमाकर अपलक देख रहा है अपने इस अनुजकी ओर। उसे कुछ बोलना नहीं और जो मोहनके इस भावमुग्ध मुखको देख लेगा, बोल पायेगा वह?

५५—स्वत्व

'अरी छोरियो! कहाँ जा रही हो सब?' दाऊने पूछ लिया। आज वह एक लाल-लाल किसलयोंसे लदे कदम्बके नीचे जमकर बैठा है। गौएँ आगे-पीछे, इधर-उधर चरनेमें लगी हैं। कन्हाई लगता है कि सखाओंके साथ कहीं पास ही खेलमें लगा होगा।

'दही बेचने!' रंग बिरंगे वस्त्रों एवं अलंकारोंसे सजी छोटी-छोटी दहेंडियाँ सिरपर रखे पाँचसे दस वर्षतककी बालिकाओंका झुंड—वे सब खड़ी हो गयीं। बड़े संकोचसे किसी एक अलक्ष्य कण्ठने उनमेंसे उत्तर दिया।

'हमें दही नहीं खिलाओगी?' दाऊ आज मौजमें है।

'लो, खा लो!' एक साथ ढेर-सी दहेंड़ियाँ सामने रख दी गयीं बड़ी उमंगके साथ।

'हम तो हँसी कर रहे थे। ले जाओ तुम सब।' सच मुच दाऊ अबतक सहज भावमें ही बोल रहा था।

'थोड़ा-सा भी नहीं खाओगे?' स्वर अत्यन्त अनुरोध-पूर्ण तथा कातर हो उठे। हृदय कहने लगे—'हाय, हाय! हमारा दही आज क्या व्यर्थ ही जायगा? बड़े भाईने यदि अस्वीकार कर दिया तो छोटा भाई आँख उठाकर भी देखने-वाला नहीं है।

'अच्छा, लाओ!' सामने शिलाको फूँककर स्वच्छ कर दिया नीलाम्बरधारीने। उसे छीना-झपटी नहीं आती, किंतु कोई आग्रहपूर्वक नैवेद्य अर्पित करना चाहे तो अस्वीकार नहीं कर सकता वह।

'तुम इसीमेंसे खा लो!' दहेडियाँ जूठी हो जायँगी, यह बात इन नन्ही बालिकाओंके मनमें नहीं आती।

एक स्पर्धा-सी—कोई पिछड़ा नहीं चाहती। कहीं दाऊने बस कर दिया तो? जो दहेंड़ियाँ यहाँ अछूती रहेंगी—अभागी ही रह जायँगी आगे भी वे।

'हमारा भाग हमको देकर तब आगे जाओ!' कन्हाई तो बड़े भैया-जैसा सीधा नहीं है। वह माँगना जानता ही नहीं।

'बड़े भागवाले आये हैं!' लड़कियोंने परस्पर देखा और नेत्र कड़े किये—'बड़े भैयाने सारी-की-सारी दहेंड़ियाँ जूठी कर दीं और अब ये चले हैं भाग लेने।'

'तब तो सब दही मेरा है!' मोहन उज्ज्वल तथा श्याम पर्वतोंके बीच साँकरी खोरमें दोनों पैर फैलाये, कटिदेशपर दोनों हाथ रखे, मार्ग रोके केसरी-शावकके समान तना खड़ा है—'मेरे दादाका प्रसाद है, कुछ तुम्हारे दादा-का नहीं। धर दो सब दहेंड़ियाँ!'

कौन-सी पोथी कहती है कि बड़े भाईका प्रसाद छोटे भाईका स्वत्व नहीं है? अब यदि कोई किसीका स्वत्व न दे तो वह छीनेगा। दहेंड़ियाँ तो फूटनेवाली ठहरीं।

दान-लीला

बेंचन चली दधि व्रजनारि।
सीस धरि धरि माट मटुकी, बढ़ी सोभा भारि॥
निकसि व्रज के गईं ग्वैंडै, हरष भईं सुकुमारि।
चली गावति कृष्न के गुन हृदयँ ध्यान बिचारि॥
सबनि कें मन जो मिलैं हरि, कोउ न कहति उघारि।
सूर प्रभु घट घटहिं व्यापी, जानि लईं बनवारि॥

समाजमें विवाह-विभ्राट्

(लेखक—स्वामी श्रीपारसनाथजी)

आगरेके मास्टर ताराचदको अपनी लड़कीके लिये एक लड़केकी आवश्यकता थी। उनके मित्र हीरालाल मास्टरने एक लड़का बतलाया। रविवारके दिन वे दोनों लड़का देखनेके लिये बरेली गये। लड़का बी० ए० में पढता था, उसका पिता सरकारी नौकर था। जब मित्रसहित मास्टर ताराचद वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने लड़केके पितासे भेट की। लड़केके पिताने कहा—'अभी तो लड़का पढता है। जबतक वह पढता है, उसके विवाहका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।'

मास्टरने पूछा—'आखिर कबतक पढना रहेगा?' लड़केका पिता कलेक्टर साहबका पेशकार था। मास्टरकी बात सुनकर पेशकारने उत्तर दिया—'यह तो उसकी मरजीकी बात है और विवाह करना भी उसीकी मरजीपर है। यदि वह चाहे तो मै आज ही उसका विवाह कर दूँ, परतु अभी विवाहकी उसकी इच्छा नहीं है।'

यह सुनकर मास्टर ताराचदने अपने मित्र हीरालाल मास्टरसे कुछ सकेत किया। तब हीरालालने पेशकार साहबसे कहा—'खैर, सम्बन्ध पक्का कर लेनेमें क्या हानि है? विवाह चाहे जब करें—आप।'

नाक-भौंह चढाकर पेशकारने उत्तर दिया—'हाँ, हानि तो कोई नहीं है। लड़की पढती होगी?'

मास्टर ताराचद बोले—'हिंदी मिडिल पास करनेके बाद पढना छोड़ दिया है।'

'आपने उसका पढना क्यों छुड़ा दिया?' पेशकारने कहा। 'आवश्यकताके लिये इतनी शिक्षा काफी है। इसीलिये छुड़ा दिया। कुछ घरका काम-काज भी तो सीखना चाहिये?' मास्टर ताराचदने उत्तर दिया।

'आपने गलती की। घरका काम सीखनेके लिये सारा जीवन पड़ा था। कम-से-कम अग्रेजीमें मैट्रिक पास कराना था। गाना जानती है? सितार-हारमोनियम बजा लेती है? कुछ नाचना भी जानती है?' पेशकारने प्रश्न किया।

यह सुनकर मास्टर ताराचदको गुस्सा आ गया। खूनका घूँट पीकर उन्होंने कहा—'गाना-नाचना तो नहीं जानती।'

मुँह सिकोड़कर सिर हिलाते हुए पेशकार साहब बोले—'तब तो सम्बन्ध होना कठिन है। मेरा लड़का यदुनाथ ऐसी लड़कीसे कदापि विवाह न करेगा। गाना-बजाना और नाचना जानना लड़कीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।'

अब मास्टर ताराचदसे न रहा गया। सोचा—यह सम्बन्ध तो होनेसे रहा, इसलिये मुँहतोड़ उत्तर देनेमें क्या हर्ज है? वे बोले—'हाँ साहब, आजकलके नौजवानोंको पढने-लिखनेके बाद भी बेकारीका सामना करना पड़ता है। इसी कारण वे पढी-लिखी, गाने-बजाने-नाचनेमें एक्सपर्ट बीबी तलाश किया करते हैं। ताकि यदि नौकरी न मिली तो अपनी स्त्रीको किसी फिल्म-कम्पनीमें भरती कराकर अपना पेट भर सकें। आपका विचार तो बुरा नहीं है, क्योंकि पढे-लिखे नौजवान चाहे बरसों बेकार बैठे रहें, गाने-बजाने नाचनेमें निपुण पढी-लिखी स्त्री जब चाहे तब कार्यमें लग सकती है। पहिले जमानेके आदमी चाहते थे कि खुद कमायें और बीबीको खिलायें। अबके मर्द चाहते हैं कि बीबी कमाये और वे उसकी कमाईपर गुजर करें।'

मास्टर ताराचदका मारगर्भित व्यग सुनकर पेशकार साहबका चेहरा उतर गया। लड़खड़ाती जबानसे वे कहने लगे—'आप बड़ी सख्त बात कह गये हैं!'

मास्टरने उत्तर दिया—'मैने सख्त-मुलायम कुछ नहीं कहा है। मैंने तो वर्तमान समयके वातावरणका बयान किया है। लड़का तो खैर लड़का ही है, परतु मुझे तो आपके विचारोंपर तरस आता है। आप अनुभवशील वृद्ध होकर भी ऐसे गदे विचार रखते हैं? क्षमा करना। आप घरकी रानी और जीवन-सङ्गिनी नहीं चाहते हैं, आपको गृहलक्ष्मीकी आवश्यकता नहीं है, आपको जरूरत है एक ऐसी स्त्रीकी जो वक्त पड़नेपर गा-नाचकर रोटी चला सके।'

यह कहकर मास्टर ताराचद अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ उठकर चले गये। रास्तेमें मास्टर ताराचदने अपने मित्रसे कहा—'देखी आपने पेशकारकी असभ्यता? लड़कीके पितासे पूछते हैं—'लड़कीको गाना-बजाना-नाचना सिखलाया या नहीं? और कुछ न पूछा। न तो यह पूछा कि गृहस्थीका क्या-क्या काम जानती है। भोजन बनाना आता

है या नहीं । सीना पिरोना आता है या नहीं ? उनको गृहलक्ष्मी नहीं चाहिये—सोसायटी गर्ल चाहिये ।'

एक ठंडी साँस खींचकर मास्टर हीरालालने कहा—'हेडमास्टर साहब, हमारा हिंदू-समाज धीरे-धीरे अंग्रेजी-समाज बन जाना चाहता है । हम 'काले अंग्रेज' बनते जा रहे हैं और हिंदू-संस्कृतिको सत्यानाशमें मिलाते जा रहे हैं ।'

'फिर भी कहा जाता है कि हम प्रगति कर रहे हैं, उन्नतिकी ओर जा रहे हैं । इनकलाब ला रहे हैं, समाजको कल्याणके पहाड़पर चढ़ा रहे हैं ।' हेडमास्टर ताराचंदने उत्तर दिया ।

दूसरे रविवारको मास्टर ताराचंद और मास्टर हीरालाल एक दूसरा लड़का देखनेके लिये अलीगढ़ गये । लड़का एम्० ए० में पढ़ता था । लड़केका पिता मर चुका था । उसका चाचा श्यामलाल—तालोंके कारखानेका मालिक था । घरकी हैसियत अच्छी थी । अपना मकान था । नौकर-चाकर भी दौड़ रहे थे । श्यामलालने मास्टरसे पहला सवाल किया—

'लड़कीने कहाँतक शिक्षा पायी है ?'

'हिंदी मिडिल पास किया है ?'

'हिंदी मिडिल ? अंग्रेजी नहीं पढ़ायी ?'

'अंग्रेजी घरपर कुछ सीखी है । नाम-धाम पढ़ लेती है । तार और चिट्ठी भी मामूली तौरपर समझ लेती है ।'

'तब तो आपने बहुत अंग्रेजी पढ़ा दी है ।'

'काफी है । यदि आपको जरूरत पड़ी तो वह किसी दफ्तरमें ऐड्रेस वगैरह लिखनेकी नौकरी कर लेगी ।'

अब तो श्यामलालजी चकरा गये । मास्टर ताराचंदको गौरसे देखकर बोले—'इसका क्या मतलब ?'

मास्टर साहबने उत्तर दिया—'अंग्रेजी शिक्षाका उपयोग यही हो सकता है । यानी आवश्यकता पड़नेपर कहीं नौकरी करके रोटीका प्रबन्ध कर सके ।'

इसपर वहाँ जो लोग बैठे थे, फरमायशी कहकहा लगाते हुए हँस पड़े । बाबू श्यामलालजी भी खूब हँसे । फिर बोले—'शिक्षाका आदर्श है सभ्यता सिखलाना, न कि नौकरी कराना ।'

तब मास्टर ताराचंदने उत्तर दिया—'यह तो आज मुझे एक नयी बात बतायी है आपने । मुझे आजतक ज्ञात न था कि शिक्षाका लक्ष्य सभ्य बनना है । मैं तो यही समझता था कि रोटी कमानेके लिये ही पढ़ना-लिखना आवश्यक है ।'

श्यामलालजी बोले—'यदि आपका ऐसा विचार था तो वह गलत था । मुझे आश्चर्य है कि आप हेडमास्टर होकर भी ऐसे विचार रखते हैं !'

'मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, बाबू साहब !' मास्टरने व्यंग किया । श्यामलाल कहने लगे—'बात यह है कि लड़का एम्० ए० में पढ़ रहा है । उसकी इच्छा है कि किसी अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कीसे ब्याह किया जाय । लड़की अधिक पढ़ी-लिखी न हो तो कम-से-कम मैट्रिक, एफ० ए० तक अवश्य पढ़ी होनी चाहिये ।'

मुसकराकर मास्टर साहब कहने लगे—'चाहिये भी यही । लड़का हो अंग्रेजीका विद्वान् और लड़की हिंदी ही जानती हो तो बड़ी कठिनाई पड़ती है । पति अंग्रेजी बोलता है, पत्नी हिंदी बोलती है । न पतिकी बात पत्नी समझती है और न पत्नीकी बात पति समझता है । ऐसी दशामें निभाव होना कठिन है ।'

'यह तो आप मजाक कर रहे हैं ।' श्यामलालने कहा ।

'अच्छा ! यह मजाक है ? मैंने तो सच समझकर कहा था ।' मास्टर बोले ।

तब मास्टर हीरालालने कहा—'वैसे लड़की खाना पकाना, सिलाई और गृहस्थीके कामोंमें होशियार है ।'

श्यामलाल बोले—'खाना तो हमारा लड़का भी बहुत अच्छा पका लेता है । बैंगनका भरता तो ऐसा बनाता है कि कमाल कर देता है ।'

मुसकराकर मास्टर ताराचंद कहने लगे—'ऐसी दशामें लड़कीको पाकशास्त्रकी शिक्षा देना बेकार हो गया । सिलाई-वाली मशीन भी वह चला ही लेता होगा ? थोड़ा संतान-पालनकी शिक्षा भी उसे दिला देते तो सारा झगड़ा खतम हो जाता ।'

'झगड़ा क्या खतम हो जाता ?' अचकचाकर श्याम-लालने पूछा ।

'यही कि लड़की अंग्रेजी पढ़ी हो और घर-गृहस्थीके काम जानती हो या न जानती हो । बाकी काम तो आपका लड़का जानता ही है । खाना पकाना, सिलाई करना और संतान पालनमें वह कमाल हासिल ही कर चुकेगा । बीबी केवल गिट-पिट करनेको रह जायगी । यदि अवसर पड़ेगा तो कमाकर खिला भी सकेगी । पति घरका काम करेगा और पत्नी आफिस जायगी ।'

मास्टर ताराचंदकी चुटकीपर फिर सब लोग हँस उठे।

दोनों हाथ मलकर मास्टर हीरालाल कहने लगे—'हमारे वर्तमान समाजकी बुद्धि तो देखिये। लोग हिंदी पढ़ी-लिखी लड़कीको; फिर चाहे वह कितनी अच्छी हिंदी क्यों न जानती हो, पढ़ी-लिखी ही नहीं समझते। घरेलू कामोंमें दक्ष होना कोई तालीम ही नहीं मानी जाती। मातृभाषामें चाहे वह लिखना पढ़ना न जानती हो, परंतु अंग्रेजीमें होशियार हो। तभी वह शिक्षिता है। वह बैंगनका भरता बनाना न जानती हो, तब भी कोई हर्ज नहीं। उसे फटा कपड़ा सीना न आता हो, तब भी कोई त्रुटि नहीं। शिशु-पालनकी तमीज न हो, तब भी काम चल जायगा, परंतु यदि वह गिटपिट न करती हो, टेनिस न खेलती हो, सिनेमा न देखती हो, पतिके आवारा दोस्तोंसे लपककर हाथ मिलाना न जानती हो, तो काम नहीं चल सकता। स्त्री-शिक्षाके विषयमें लोगोंका दृष्टिकोण कैसा बदला है कि कमाल है।'

इसके बाद दोनों मास्टर उठकर अपने घर निराश होकर लौट गये।

× × × ×

मास्टर ताराचंदका लड़का कैलाशनाथ एम्० ए० पास करके एक कालेजमें प्रोफेसर हो गया था। रविवारका दिन था। मास्टर ताराचंद तो अपने मित्र मास्टर हीरालालके साथ कानपुर गये हुए थे अपनी लड़कीके लिये लड़का देखने। इधर तबतक एक साहब अपनी लड़कीके लिये लड़का तलाश करते हुए कैलाशनाथके कमरेमें आ विराजे। यों बातचीत हुई—

'मास्टर ताराचंदजी कहाँ हैं?'

'वे तो कानपुर गये हुए हैं।'

'क्यों?'

'लड़कीके लिये वरकी तलाशमें।'

'और मैं अपनी लड़कीके लिये वरकी तलाशमें इधर आया हूँ। सुना था कि उनका इकलौता पुत्र कैलाशनाथ कुँवारा है। कैलाश बाबू कहाँ हैं?'

'मेरा ही नाम कैलाशनाथ है।'

'अच्छा! तो आप करते क्या हैं?'

'सनातन धर्म कालेजमें प्रोफेसर हूँ।'

'बड़ी खुशीकी बात है। मगर यह नौकरी उतनी अच्छी नहीं, जितनी दूसरी नौकरियाँ होती हैं। इसमें ऊपरकी आमदनी नहीं होती।

'मुझे जो कुछ मिलता है, वह सब ऊपरसे ही भगवान्से ही मिलता है।'

बाबूजी खिलखिलाकर हँस उठे। कहने लगे—'यह तो ठीक है, भगवान्का दिया हुआ ही सब पाते हैं, परंतु बँधे पैसे बँधे हुए ही होते हैं। आजकलके जमानेमें बँधे पैसोंसे कैसे काम चल सकता है? बुरा न मानना, बँधे हुए पैसोंकी मास्टरीसे तहसीलकी चपरासगीरीमें अधिक फायदा है।'

'मगर वह बेईमानीकी कमाई होती है।'

'ईमानकी कमाईवालोंका दीवाला निकल जाता है। आपने अपने पिताका रुपया पानीमें बहा दिया, आजकलकी मास्टरी और प्रोफेसरीमें क्या रक्खा है? पुलिस, कचहरी, जंगलातमें होते तो सारी जिंदगी मौजमें कटती। कुछ नहीं तो किसी रजवाड़ेमें ही घुस जाते। चार ही सालमें हवेली बनवा लेते। मेरे पड़ोसमें एक लड़का रहता है। केवल इन्ट्रेंस पास किया था। कुम्भके मेलेमें टिकट बेचनेपर उसकी नौकरी लग गयी थी। केवल एक महीने ही रहा था। तनख्वाहके अलावा आठ हजार कमा लाया है। रेलके अफसर उसपर बहुत खुश हैं। कहते थे कि प्रत्येक कुम्भपर तुम्हारी ड्यूटी लगायी जायगी। इसके तीन साल बाद अर्द्ध-कुम्भी पड़ रही है और छः साल बाद कुम्भ आयेगा। अब हिसाब लगा लो कि केवल टिकट बेचकर ही वह अपने जीवनमें लखपती हो जायगा या नहीं?'

'रिश्वत लेते उसे शरम नहीं आयी? लाखों मुसाफिर अपने घरसे दूर परदेशमें पड़े होते हैं। वहाँ पड़े-पड़े भूख-प्यास-बीमारी सहते रहते हैं। जब वे घरको भागते हैं, तब उनसे रिश्वत लेना होगा वह नर-पिशाच!'

'ऊपरकी आमदनीमें दोष नहीं होता। मान लो कि कोई आदमी रातको बिना बत्तीके साइकिलपर निकला, सिपाहीने पकड़ लिया, वह चालान करनेके बजाय दो रुपये लेकर छोड़ देता है। यदि चालान करता तो पाँच रुपया जुर्माना होता। ऊपरकी आमदनीकी बदौलत ही उसे तीन रुपयेकी बचत हो गयी। उधर सिपाहीका भी भला हो जाता है। उसे तनख्वाह ही क्या मिलती है!'

'परंतु बिना बत्तीवाला साइकिलसवार आगे चलकर किसीसे टकरा भी जा सकता है। किसी लड़केको चोट पहुँचा दी, किसी भले आदमीके कपड़े बिगाड़ दिये तो क्या कोई अच्छा नतीजा निकला? उसका चालान होना ही मुनासिब था।'

'अभी आपका लड़का न नहा गया है—रिश्वत कौन नहीं लेता? नजराना, डाली-भेंट और चंदा-रिश्वतके ही दूसरे नाम हैं। चापलूसी, सिफारिश भी तो रिश्वत ही है।'

'मैं तो ऊपरकी आमदनीसे नफरत रखता हूँ।'

'तब मैं सम्बन्ध भी नहीं कर सकता।'

'सम्बन्धके लिये आपको मजबूर कौन करता है? जो रिश्वत लेता हो, ब्लैकमेल करता हो, ऊपरकी आमदनी रखता हो, उसीसे अपनी लड़कीका सम्बन्ध कीजिये। मना कौन करता है? और मना करनेसे भला, आप मान भी सकते हैं?'

और सचमुच वे चुपचाप चले गये। जब मास्टर ताराचंद आये, तब कैलाशनाथने उनको यह सारा हाल सुनाया। मास्टरने कहा—

'समाजमें आज विवाह भी अभिशाप बन रहा है।'

पागलकी झोली

[मुर्देकी खोपड़ी बोली—'साधु सावधान']

(लेखक—श्रीमत् सीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

पागल एक दिन गङ्गातटपर श्मशानमें बैठा राम-राम कर रहा था। श्मशान जनशून्य था। संध्या हो रही थी। इसी समय आवाज आयी—'साधु सावधान'। पागलने राम-राम करते हुए इधर-उधर देखा, कोई दिखायी नहीं दिया। केवल एक मुर्देकी खोपड़ी पड़ी थी। खोपड़ी अपनी उज्ज्वल दन्तपंक्तिको फैलाती हुई बोली 'साधु सावधान'।

पागल—राम-राम। मुर्देकी खोपड़ी बोल रही है!

खोपड़ी—तुम बोल सकते हो और मैं नहीं बोल सकती?

पागल—मैं जीता हूँ, तुम तो मर गये हो—सीताराम।

खोपड़ी—तुम जी रहे हो, यह किसने कहा? तुम भी तो मर गये हो, कालके मुखमें पड़े हो, काल प्रतिक्षण तुम्हारा ग्रास कर रहा है। तुम भी तो मुर्दोंमें ही शामिल हो, बन्धु!

पागल—राम-राम! 'साधु सावधान' यह तुमने क्यों कहा?

खोपड़ी—साधु सजकर बगल बजाते हुए बीच रास्तेमें मजा कर रहे हो इसलिये।

पागल—बीच रास्तेमें?

खोपड़ी—हाँ, बीच रास्तेमें। तुम्हें कहाँ जाना है, जानते हो?

पागल—राम-राम, बताओ।

खोपड़ी—हिमालयकी भाँति जमा हुआ एक 'मैं'का राज्य है, वहाँ जाना है। जबतक वहाँ नहीं पहुँच जाते, तबतक रास्तेमें ही भटक रहे हो—जानते हो?

पागल—राम-राम, वहाँ पहुँच गया—इसका कैसे पता लगेगा?

खोपड़ी—जब दो चीजें कुछ भी नहीं रह जायँगी। गङ्गाजल और नालेका जल, फूलोंका हार और जूतोंकी माला, प्रशंसा और निन्दा, मान और अपमान, जीवन और मृत्यु, शत्रु और मित्र—सब एक हो जायँगे। तुम जड-उन्मत्तकी भाँति समता धारण करके विचरोगे। जमे हुए 'एक' के साथ सदाके लिये मिल जाओगे।

पागल—वहाँ पहुँचनेके लिये ही तो राम-राम करता हुआ बगल बजाता फिरता हूँ, बन्धु!

खोपड़ी—पर जो लोग तुमको चारों ओरसे घेरकर ताण्डव मचाते हुए रास्ता रोके खड़े हैं, उन्हें पहचानते हो?

पागल—राम-राम, तुम किनकी बात कह रहे हो ?

खोपड़ी—उन चेले-चाटियोंकी, जिनमें कोई कहता है—'आप महापुरुष महात्मा हैं, जगत्का परम कल्याण कर रहे हैं,' कोई साक्षात् भगवान् बतलाकर जय बोल रहे हैं, कोई गहने-कपड़े, रेशमी चद्दर देकर पूजा कर रहे हैं, कोई तरह-तरहकी विलास-सामग्री लाकर सामने रख रहे हैं, कोई गन्ध-पुष्प, धूप-दीप दान कर रहे हैं, कोई पैरोंतक लटकती हुई मालासे सजा रहे हैं, कोई चन्दन-चर्चित करनेके लिये व्याकुल हैं, कोई शरीरपर इत्र-फुलैल लगानेके लिये अत्यन्त व्यग्र है, कोई पूजाके लिये छायाचित्र उतारना चाहते हैं, कोई मठ-मन्दिर बनवाकर प्रचार करनेको उत्सुक हैं ।

शिष्य गुरुसे मन्त्र ग्रहण करता था भगवत्साक्षात्कारके लिये, पर अब उसको त्यागकर कोई 'मेरे गुरु अवतार हैं'—यों ढोल बजाते हुए देश-देशान्तरमें प्रचार करते फिरते हैं, निरीह भोले लोगोंको धोखा देकर स्वयं 'साक्षात् विष्णु-पार्षद' बनकर उनसे पूजा कराते हैं । यह सब तुम्हारा प्रचार नहीं है, नाम बदलकर आत्मप्रचार करना है । 'मेरे गुरु अवतार हैं' यों कहकर साधारण भोले लोगोंको विस्मित, चकित और साधु-सज्जनोंके सामने तुमको उपहासास्पद बनाते हैं । आकाशकी भाँति अखण्ड असीम अनन्त तुम्हारे स्वरूपको वे एक सड़े पुराने ढाँचेमें अटकाकर रखनेके लिये व्याकुल हैं । वे बार-बार तुमको उस टूटे ढाँचेमें भरकर तुममें ढाँचेका अभिमान जगा देना चाहते हैं । कोई तो विष्णुका पार्षद बनकर गृहस्थोंके मनमें विश्वास पैदा करके निस्सकोच उनका सर्वनाश कर रहे हैं, तो कोई कितने छल-कौशलसे, कितने रूपोंमें केवल तुम्हारे परम स्वरूपको भुलाना चाहते हैं । आत्माके सिवा और कुछ भी नहीं है, एकमात्र आत्मा ही है—इस ज्ञानको नष्ट करनेके लिये कोई-कोई तो कमर कसकर खड़े हो गये हैं और ढेर-के-ढेर रुपये बहा रहे हैं । कोई 'हमारे गुरु अवतार हैं' कहकर लोगोंको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं तो कोई 'भगवान्‌के पार्षद' सजकर अपनी विषयवासना चरितार्थ कर रहे हैं । इस प्रकार तुम्हारे देहात्मबोधको जगानेके लिये निरन्तर जो जी-जानसे लग रहे हैं—जानते हो, वे कौन हैं ?

पागल—तुम्हीं बतलाओ !

खोपड़ी—ये हैं देवताओंके द्वारा भेजे हुए विघ्न—

कुयोगिनो ये विहितान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २८ । २९)

'जो अधूरे योगी देवताओंद्वारा उपस्थित किये हुए स्वजनरूपी विघ्नोंसे मार्गच्युत हो जाते हैं ।'

अतः बन्धु-बान्धव, भक्त, चेला-चाटी—जो मार्गमें रोड़े अटकाते हैं और देहात्मबोध जगानेके लिये सतत सचेष्ट रहते हैं, वे देवताओंके द्वारा प्रेरित विघ्न हैं । तुम देवताओंको अतिक्रम करके अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त करो—इसे देवता नहीं चाहते । इसीसे वे भक्त शिष्य सजकर आते हैं और तुम्हें इस पुराने ढाँचेमें अटकाये रखना चाहते हैं । मन्दिरके देवता नहीं, घटाकाश नहीं—तुम असीम अव्यक्त अनिर्वचनीय निरञ्जन निष्कल हो । एकमात्र तुम्हीं हो—इस बातको भुलाकर वे तुम्हें इस टूटे ढाँचेमें भर रखना चाहते हैं । इसीसे मैंने कहा—'साधु, सावधान !'

और ये जो स्त्रियाँ 'बाबा' 'बाबा' पुकारती हुई कितना प्यार, कितनी प्रीति, कितनी भक्ति दिखाती है—जानते हो, ये कौन हैं ?

पागल—बतलाओ ।

खोपड़ी—ये 'देवमाया' है, तुम्हें भुलाना चाहती हैं । स्वयं शुकदेवने कहा है—अजितेन्द्रिय व्यक्ति देवमाया-रूपिणी नारीको देखकर उसपर लुब्ध हो जाता है और पतङ्गके अग्निमें पड़नेकी भाँति अन्धकारमय नरकमें जा गिरता है । साधुओंको स्त्रीसे दूर रहना चाहिये । जो

ऐसा नहीं कर सकता, उसकी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहती। स्वय भगवान्ने कहा है—आत्मवान् पुरुषको स्त्री और स्त्री-सङ्गी पुरुषोंका सङ्ग दूरसे त्यागकर निरापद निर्जन स्थानमे बैठकर अनलसभावसे मेरा ध्यान करना चाहिये—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

नारीके और नारीसङ्गी पुरुषके सङ्गसे जितना और जैसा दु.ख प्राप्त होता है और ससारबन्धन होता है, उतना और वैसा दु.ख किसी भी दूसरे ससर्गसे नहीं होता। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान!' इस विद्याको प्राप्त करनेमे कौन समर्थ होते हैं—जानते हो?

पागल—बतलाओ।

खोपडी—जो सॉपके समान जनसङ्गसे भय करता है, मिष्टान्नको विषके समान समझता है, स्त्रियोंको राक्षसीके रूपमे देखता है, वही ब्रह्मविद्याको प्राप्त कर सकता है। इसीसे मैंने कहा है—'साधु, सावधान!'

पागल—'राम,राम,सीताराम—अच्छा,बन्धु! बताओ—मै क्या करूँ?'

खोपडी—सबसे ओझल हो जाओ, तुम्हारा चिह्न भी कोई न देखने पाये। तुम जी रहे हो, यह भी किसीको पता न लगे। भागो, भागो।

पागल—राम-राम, हँसा दिया तुमने तो बन्धु! क्या तुम यह समझते हो कि मनुष्य अपनी इच्छासे कुछ कर सकता है! जो होना है, सब हो ही रहा है। कोई भी स्वाधीन नहीं है, बन्धु! मैं जानता हूँ मै निराश्रय नहीं हूँ। मेरे एक रक्षक—चालक हैं, जो सदा-सर्वदा मेरी रक्षा करते हैं और मुझे चलाते हैं। राम, राम, सीताराम! बन्धु! जैसे लोगोंका एक दल महापुरुष अवतार कहकर हल्ला मचा रहा है, वैसे ही एक दूसरा दल भी है जो पाखण्डी, बदमाश, धर्मध्वजी और कपटी कहकर आनन्दका उपभोग करता है। यह जानती न?

खोपडी—हॉ जानती हूँ।

पागल—मै दोनों ही दलोंके लोगोंको क्या समझता हूँ, जानती हो?

खोपडी—बतलाओ।

पागल—सबको अपना इष्ट-देवता मानकर मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ। माताओंको जगन्माता जानकर मन-ही-मन प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ। मैं लोकालयमे रहने या सर्वसङ्गका त्याग करके वनमें जानेके लिये स्वाधीन नहीं हूँ। जिन्होने मुझे लोकालयमें रखा है, उनकी जिस दिन इच्छा होगी, उस दिन वे वनमें ले जायँगे। उन्होंने भक्तश्रेष्ठ उद्धवको यह अन्तिम उपदेश दिया था—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १९)

'मन, वाणी, शरीरकी सभी वृत्तियोंसे समस्त प्राणियोंमें मेरी ही भावना करे—मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन मानता हूँ।'

इसीसे मन-ही मन सबको 'सब तुम्हीं हो' कहकर प्रणाम करनेका अभ्यास करता हूँ और राम-राम करता हूँ।

जनसङ्गका त्याग करके वनमे जानेके लिये कह रहे हो, बन्धु? सौभरि मुनि सर्व-त्याग करके कठिन तपस्या करते थे, एक दिन जलमे मछलियोंको ससार करते देख लिया कि उनकी भी ससार करनेकी इच्छा हो गयी। राजा भरत धन-जन-राज्य-ऐश्वर्य सब छोड़कर वनमें रहते थे, एक हरिनमें ममता करके हरिन बन गये। वनमें भी कौवे, सियार, लोमड़ी, बिल्ली, मयूर, हरिन आदि हैं। केवल मनुष्यका सङ्ग ही नहीं, बन्धु! राम, राम, सीताराम! हरिन, मयूर, वृक्षोंका सङ्ग करके भी मनुष्य लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है राम-राम। जानते हो, बन्धु? जो अपने पैरोंपर खड़े होना चाहते है,

अपनेको बड़ा मानकर चलते है, उनको पद-पदपर विपत्तिका सामना करना पड़ता है और जो शरणागत दास होकर, यन्त्र होकर, स्वामीके—यन्त्रीके चलाये चलते हैं, उनकी वे निरन्तर रक्षा करते है।

शरणागत दास 'अपनेको महापुरुष, महात्मा या अवतार कभी नहीं मानता, पर लोग तो सदासे कहते ही आये हैं, आगे भी कहेंगे। मैं तो जैसे 'पाखण्डी' 'धर्मध्वजी', 'मान-बड़ाईका भूखा' इत्यादि सुनकर राम-राम करता हूँ, वैसे ही 'महात्मा' 'महापुरुष' 'भगवान्' सुनकर भी राम-राम करता हूँ। जानते हो—मैं तो अपनेको माँकी गोदमे पड़ा नगा शरणागत शिशु समझता हूँ और उसीपर निर्भर हो रहा हूँ। मै जानता हूँ—

खेलत बालक ब्याल सँग मेलइ पावक हाथ।
तुलसी सिसु पितु मात सम राखत सिय रघुनाथ॥

जो कुछ भी हो, बन्धु! तुमने मेरी शुभ कामना करके जो इतना सावधान कर दिया, इसके लिये मैं तुम्हारा साधुवाद तथा तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

इतना कहकर पागलने ज्यों ही दण्डवत् प्रणाम करना चाहा त्यो ही देखा कि वहाँ कोई मुर्देकी खोपड़ी नहीं है, उसके गुरुदेव ही खड़े-खड़े हँस रहे हैं। पागलने नयन-जलसे उनके चरणयुगलको धो दिया!

जय राम! सीताराम!!

विष्णु और लक्ष्मीकी एकरूपता

(संत विनोबा)

कुछ लोग कहते हैं, भूदान-आन्दोलन केवल आर्थिक है, आध्यात्मिक नहीं। लोग समझते नहीं कि मन्दिरमें प्रसादके तौरपर मिठाई बाँटे जानेसे ही मन्दिर हलवाई-की दूकान नहीं बन जाता। मिठाई वहाँ धर्मका चिह्न-मात्र है। उसी तरह यह जमीन बाँटना, लेना आदि कोरा बँटवारा नहीं है। यह सब प्रेमसे हो रहा है। जमीनका बँटवारा तो छीनकर या कानूनसे भी हो सकता था। तब इसे आर्थिक आन्दोलनमात्र कहा जा सकता था, लेकिन यहाँ तो सब कुछ प्रेमसे ही होता है।

धर्मके साथ अर्थका होना भी क्या कोई पाप है? विष्णुके साथ लक्ष्मी, शिवके साथ शक्तिका होना क्या पाप है? धर्मके साथ अर्थके आ जानेसे ही वह आर्थिक-मात्र नहीं हो जाता। इस आन्दोलनका स्वाद है—करुणा, जो चखनेमें मीठा है और उसका रूप है अर्थशास्त्र। केवल रूप तो कोई अर्थ नहीं रखता। बगीचेके केलेकी मधुरता गोबरके नकली केलोंमें नहीं आती, यद्यपि उनका रूप केलेका ही रहता है। वैसे ही कानूनसे जमीन बाँटना या छीनना गोबरके केलेके समान ही है, और यहाँ तो प्रेमका भी बँटवारा है।

इस आन्दोलनमें विष्णु और लक्ष्मी, शिव और शक्ति, मिठास और सौन्दर्य साथ-साथ हैं। केवल ऊपरसे नहीं, गहराईमें जाकर देखना होगा।

(प्रेषक—दुर्गाप्रसाद)

त्वमम्बा सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता।
त्वयैतद् विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम्॥

'भगवती लक्ष्मी! तुम सम्पूर्ण लोकोंकी जननी हो, देवदेव श्रीहरि ही इसके पिता हैं। तुम्हारे और भगवान् विष्णुके द्वारा यह चराचर जगत् व्याप्त है।'

कामके पत्र

(१)

दस पवित्र साधन

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। तुमने साधनके सम्बन्धमे पूछा सो बडी अच्छी बात है। नाम-जपमे तुम्हारा प्रेम है ही। कलियुगमे नामका आश्रय ही सबसे बडा साधन है। उसे तुम कर ही रहे हो। जीवनमें उतारनेके योग्य कुछ अति आवश्यक साधन लिख रहा हूँ—

१—प्रतिदिन एक लाख भगवन्नाम-जप।

२—अधिक-से-अधिक मन्त्र-जप।

३—भगवान्‌का अपने प्रति अत्यन्त अनुग्रह, सहज सौहार्द, असीम कृपा, परम स्नेह मानकर उसपर बार-बार दृढ विश्वास करते तथा बढाते हुए, नित्य अति प्रसन्न रहते हुए, भगवान्‌के प्रति अपनेको—अपने सुख-दु:ख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, कामना-वासना, ममता-मोहसहित सब प्रकारसे अर्पण कर देना। अपनेको सर्वथा उनका ही बना देना, और इस समर्पणके भावको प्रतिदिन प्रात:काल तथा रात्रिको सोते समय दृढ बनाना। बार-बार इसकी आवृत्ति करते हुए इसको अपने जीवनमें उतारना।

४—घरवालोंके उपकार, उनके ममत्व, उनके सद्‌व्यवहारको ही याद करना और प्रतिदिन उनके लिये सद्भावना करते हुए भगवान्‌से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना कि उनमे सबके प्रति सौहार्द, त्याग, भगवद्भक्ति और भगवत्प्रेम उत्पन्न हों।

५—सबमे भगवद्भाव करना।

६—किसीका कभी अहित न सोचना, न करना, न किसीके दोष देखना।

७—किसीकी निन्दा-चुगली न करना।

८—क्रोधकी क्रिया न करना।

९—नित्य किसी गरीबकी कुछ सेवा निरभिमान-भावसे करना।

१०—नित्य तुलसी सींचना तथा भगवान्‌के चढ़ाया हुआ तुलसीपत्र खाना।

इन दसों बातोंको जीवनमे उतारनेकी चेष्टा करना। भगवत्कृपाके बलपर यह दृढ विश्वास करना कि ये बातें मेरे जीवनका सहज स्वभाव बन जायँगी। शेष भगवत्कृपा।

(२)

बुराई न देखकर प्रेम करना चाहिये

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने जो कुछ लिखा, वह यथार्थ है, पर मैं इसके लिये क्या करूँ? सत्य कहूँ तो—आप जरा भी अत्युक्ति न मानियेगा—मैं स्वयं इतनी दुर्बलताओंसे, इतने दोषोंसे भरा हूँ कि दूसरोंके दोषोंकी आलोचना करना तो दूरकी बात है, उनकी ओर देखनेका भी अधिकारी नहीं हूँ। जन्मसे अबतक असंख्य अपराध बने हैं, अब भी बन रहे हैं। ऊपरके साज और मनकी यथार्थ स्थितिमें कितना अन्तर है, इसे अन्तर्यामी ही जानते हैं। यह सब जानते हुए भी दोषोंसे मुक्त नहीं हुआ जाता। यह कितना बडा अपराध है। इतनेपर भी दयासागर अपनी दयासे, अपनी अनोखी कृपासे, अपने सहज सौहार्दसे कभी वञ्चित तो करते ही नहीं, अपनी कृपासुधाके समुद्रमे सदा डुबाये रखते हैं। इस घृणित नरक-कीटपर कितनी कृपा वे करते हैं, इसकी सीमा ही नहीं है। मैं आपसे क्या बताऊँ? मेरी तो आपसे भी यही प्रार्थना है कि दूसरे क्या करते हैं, इस बातपर ध्यान मत दीजिये।

तेरे भाएँ जो करौ भलौ बुरौ संसार।
नारायन तू बैठि कै अपनौ भवन बुहार॥

एक महात्मा लिखते हैं—'जितना हम सोचते हैं

कि उस पुरुषमे इतनी बुराई है, उतनी ही बुराई हम उसे देते हैं । जो जितना कमजोर होगा, उतना ही अधिक दूसरोंके विचारोंका उसपर प्रभाव पड़ेगा । इस प्रकार हम जितना दूसरोको बुरा समझते हैं, उतना ही उनके प्रति बुराईके हम भागी होते हैं । उसी प्रकार जब हम किसी मनुष्यको अच्छा, सच्चा, ईमानदार समझते है तो उसके जीवनपर हम अपना बहुत ही अधिक प्रभाव डालते हैं । यदि हम उनसे प्यार करते हैं, जो हमारे सम्पर्कमें आते है, तो वे भी हमसे प्यार करने लगते हैं । यदि आप चाहते है कि ससार आपसे प्रेम करे तो आप पहले ससारके लोगोंसे प्रेम कीजिये ।

'एक प्रकारसे चारों ओर प्रेम-ही-प्रेम है । प्रेम जीवनकी कुजी है । प्रेमका प्रभाव इतना अधिक होता है कि उससे ससार हिल उठता है । सबके साथ चौबीसों घटे प्रेम करनेकी ही भावना कीजिये और देखिये—आपको सब ओरसे प्रेम-ही-प्रेम मिलेगा । यदि आप लोगोंसे घृणा-द्वेष करेंगे तो चारों ओरसे आपको घृणा-द्वेष ही प्राप्त होंगे और आप उनसे सतप्त तथा विक्षिप्त होने लगेंगे । बुराई करनेसे भयकर विष उत्पन्न होता है । बुराई, घृणा, द्वेष-ईर्ष्या—तीरकी तरह लौटकर हमींको वेधती है और ऐसा घाव हृदयमें करती हैं कि जो प्रायः कभी अच्छा नहीं हो सकता ।'

अतएव हमें चाहिये कि किसीकी बुराई न देखें, किसीको बुरा न समझें । हममें कितनी बुराइयाँ भरी हैं—यह जानते हुए भी भगवान् उनको कैसे सह रहे हैं ! वे कभी हमसे न तो घृणा करते है न जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिसे ही वञ्चित रखते हैं । उन्हींकी भाँति हमें किसीसे घृणा न करके सबके साथ अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये । हम जितना ही दूसरोंसे प्रेम करेंगे, उतना ही अधिक प्रेम उसके बदलेमें हमे प्राप्त होगा । शेष भगवत्कृपा ।

(३)

भगवान्‌की शरणमें ही जीवनकी सफलता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । यह सत्य है—ससारमें किसी भी वस्तु, स्थिति या प्राणि-पदार्थमें शान्ति नहीं है । पर हम इन्हींसे शान्तिकी आशा रखते हैं, तब बताइये, शान्ति कैसे मिले । ससारके प्राणिपदार्थोंकी ममता, उनकी कामना और उनकी आसक्ति तो निरन्तर काम-क्रोधादिका ही आश्रय दिलायेंगी, जो हमारे लिये दु.खोंकी परम्परा उत्पन्न कर देगा । इन काम-क्रोधादिके परायण होकर, इनके वशमें होकर, इनका आज्ञाकारी गुलाम बनकर मनुष्य क्या-क्या नहीं करता, पर ये कभी उसको सन्मार्गपर आने ही नहीं देते । एक साधकने इनसे घबराकर भगवान् श्रीकृष्णसे शरणकी प्रार्थना करते हुए कहा है—

कामादीनां कति न कतिधा पालितादुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः ।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते ! साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये ॥

'मैं कामादिके कितने बुरे-बुरे आदेश कितनी प्रकारसे पालन करता रहा, पर मेरे प्रति न तो उन कामादिको दया आयी और न अपनेको दया करनेमें असमर्थ जानकर उन्हें लाज ही आयी, वे अपनी चालसे बाज आये ही नहीं । अब हे यदुनाथ ! मुझमें बुद्धि आ गयी है और मैं उनको छोड़कर तुम्हारे अभय चरणोंकी शरणमे आ गया हूँ । तुम मुझको अपने दासत्वमें नियुक्त कर लो ।'

सभी अन्याश्रयोंको छोडकर एकमात्र भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे ही सुख-शान्ति मिलेगी और उसीसे जीवन सफल होगा । शेष भगवत्कृपा ।

हिंदू-संस्कृतिका मातृवाद

(लेखक—श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री)

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

मातृभावनामे पूर्ण दैवीगुणोंको पाकर हिंदूने मुहुर्मुहुः माताकी महिमा पुराणोंमें गायी है। जिस वस्तुमें हिंदूको अधिकाधिक पूज्यभाव अपेक्षित है, जिसका प्रत्युपकार हिंदू कभी पूरा नहीं कर सकता तथा जिसके चरणोंमें वह अपनी अगाध श्रद्धा अर्पण करना चाहता है, उसे वह 'माता' शब्दसे विभूषित करता है। इस 'माता' शब्दमें हिंदूकी समस्त श्रद्धा, अटल विश्वास, पूरी पूज्यभावना और मानवोचित एव दैवी—सम्पूर्ण गुण मानो कूट-कूटकर भरे हुए हैं। 'माता ताभ्यो गरीयसी' आदि वाक्योंद्वारा माताको सर्वश्रेष्ठ माना है। माताको वेद और ब्रह्मसे भी बढकर माना है—

माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः।

सम्पूर्ण तीर्थोंका निवास मातामें ही बताया गया है। केवल माताकी ही सेवासे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति कही गयी है। इस अनन्त गुणविभूषित साक्षात् ब्रह्मस्वरूप 'माता' शब्दका हिंदू-संस्कृतिमें किस-किसके लिये और क्यों प्रयोग किया गया है, संक्षेपमे आज इसी विषयपर विचार करना है।

हिंदूकी पहली माता वह है, जो उसे जन्म देती है। अपार कष्ट सहन करके वह बालकको दस मास उदरमे धारण करती है, कहीं गर्भमे विकृति न हो जाय, अतः पथ्य पदार्थ खाती-पीती और बड़ी सावधानीसे रहती है, अपने ही रक्तादिसे गर्भको पुष्ट करती है और अन्तमें प्रसव पीड़ा जैसी विकराल वेदनाका सामना करके शिशुको जन्म देती है—

संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि।
प्रजायते सुतान् माता दुःखेन महता क्षिते॥

स्वय गीलेमें सोकर बालकको सूखेमें सुलाती है, अपनी सारी सद्भावनाएँ बालककी एकमात्र मुसकानपर न्यौछावर कर देती है; भले स्वय रोगी हो जाय, परतु सदा बालकके नीरोग रहनेके लिये कामना करती है, उसके समस्त सुख तथा प्राण मानो बालकमें ही केन्द्रित हो जाते हैं।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

'पुत्र भले ही कुपुत्र हो जाय, परतु माता कभी कुमाता नहीं सकती।' वह अपनी छातीका दूध पिला-पिलाकर पुत्रकी पुष्टि करती है। यदि माँ जलपूर्ण पात्र लिये चली आ रही है और बालक रो रहा है तो पानीके पात्र जैसे-तैसे रखकर जबतक वह अपने बालकको छातीसे नहीं लगा लेती, तबतक उसके प्राण शान्ति नहीं पायेंगे—

मातृस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे।
दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः॥

इस प्रकार बालक जब डेढ-दो वर्षका हो जाता है, तब माता उसे सर्टिफिकेट दे देती है, 'बेटा! अब तुझे दूध नहीं पिलाऊँगी।' 'क्यों माँ! मुझे दूध क्यों नहीं पिलायेगी? बिना दूधके तो मै जीवित ही न रह सकूँगा।' 'पुत्र! अब तेरा छोटा भाई मेरे गर्भमे आ गया है, इसलिये अब तुझे दूध नहीं मिलेगा।' बालक इन बातोंको क्या समझे, उसे तो दूध चाहिये—'माँ' ‥ ‥'माँ' बालक सायंकालतक इसी प्रकार चिल्लाता रहा, परतु फिर भी जन्मदात्री माँका दूध उसे न मिला और मिलता भी कहाँसे?

इतनेमें सध्याके समय जगलसे घास चरकर गाय लौटती है। उसने देखा कि बालकका फूल-सा मुखड़ा कुम्हलाया हुआ है। दूधके लिये 'माँ' ‥ ‥ 'माँ'‥‥‥ चिल्ला रहा है। उसका मातृत्व जाग उठा। स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। तुरत बालकके पास जाकर बोली—'वत्स! रोओ मत, मैं हूँ तेरी माँ। मेरे दो स्तनोंका दूध तू पीना और दोका मेरे बछड़ेको पिलाना। मेरे बछड़े बैल बनकर खेतमें अनाज पैदा करेंगे और मै घरमें दूध-दही उत्पन्न करूँगी। मौजसे जीवन बिताना, बेटा! दूध पीना, यदि दूध-ही-दूधसे कुछ अरुचि हो जाय तो दूधमें किंचित् खटाई डालकर दही जमा लेना। दही खाना। यदि दहीसे भी तृप्ति हो जाये तो मथ करके नवनीत और छाँछ बना लेना, घी खाना—

विना गोरसं को रसो भूपतिषु,
विना गोरसं को रसो भोजनेषु।

'बिना दूध, दही और घीके भला, भोजनमें कौन आनन्द रखा है। और देख बेटा! यदि तुझे कभी दुर्भाग्यवश विषधर सर्प काट खाय, तो मेरे ही घृतको पीना आरम्भ कर देना और जबतक वमन न हो जाय तबतक पीते जाना।

जब वमन हो जाय, तब समझना कि सर्पदशका विष निर्मूल हो गया। गोबर और मूत्र भी मेरा व्यर्थ मत फेंक देना। घर-द्वार लीपना, जिससे रोगोत्पादक कीटाणु नष्ट हो जायँ। और बचे तो खेतमें डाल देना, बेटा! दस दाने बोओगे और दो सौ दाने उत्पन्न होंगे। ससारमें गोबरसे अच्छी कोई खाद नहीं है। मेरे इस पञ्चगव्यकी महिमा अपार है—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिस्तथैव च।
गवां पञ्च पवित्राणि पुनन्ति सकलं जगत्॥

'मरनेके उपरान्त भी मुझे ऐसे ही मत फेंक देना। पहले तो मेरे चमड़ेके जूते बनवाकर अपने पैरोंकी कॉंटे और धूपसे रक्षा करना, फिर मेरे रक्त और हड्डियोंको खेतमें डाल देना। मुझमें एक पदार्थ और भी रहता है, जिसे गोरोचन कहते हैं। बेटा! उसे भी रखना, वह भी अनेक प्रकारके ऐश्वर्यको बढानेवाला है। मैं तेरी मॉ और तू मेरा पुत्र।' इस प्रकार हिंदूकी दूसरी मॉ है गायमाता।

गावो मे चाग्रतो नित्यं गाव. पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवा मध्ये वसाम्यहम्॥

हिंदू-सस्कृतिमें गायको रुद्र, वसु, आदित्य आदि सभीसे पूज्य माना गया है। वह केवल दूध देनेकी मशीन नहीं वर साक्षात् भगवती है, दुर्गा है, माता है और कामधेनु है।

'मङ्गलायतनं दिव्या. सृष्टास्त्वेताः स्वयम्भुवा।'

परतु खाना-पीना और मौज उड़ाना ही तो जीवन नहीं है? फिर मनुष्यका क्या कर्तव्य है? उसे कैसे जीना चाहिये? उसे व्यवहार कैसे करना चाहिये? उसके जन्मकी सार्थकता क्या है? आदि-आदि जो भी प्रश्न मानवके उत्कृष्ट मस्तिष्कमे उत्पन्न हुए, उन सबका समाधान करती है हिंदूकी तीसरी मॉं—गीता मॉं।

जीवन जाते देर नहीं लगती। वृद्धावस्था और रोगके कारण शरीर जर्जर हो गया। अब कुछ नहीं सुहाता। अन्न बद, दूध बंद।

यह मेरी सम्पत्ति, ये मेरे महल, यह मेरी स्त्री और पुत्र इत्यादिके माया-मोहमें फँसे जब पापी प्राण नहीं निकलते, ऐसे प्राण-सकट-कालमें सावधान करती है गीता मॉ—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूय.।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

तू क्यों घबराता है, इस देहके नष्ट हो जानेपर भी आत्मा कभी नहीं मरता। उसे न शस्त्र काट सकते हैं न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न वायु सुखा सकता है। तेरे कर्मोंके अनुसार फिर तुझे शरीर प्राप्त होगा—**पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**

अपनी भूलोंको याद करके अगले जन्ममें शुभ कर्म करनेकी प्रतिज्ञा कर, यह आत्मा (जीवात्मा) इस पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरको प्राप्त होता है। कुछ सान्त्वना बँधी और 'कर्मानुगो गच्छति जीव एक'' के सिद्धान्तानुसार जीव पाञ्चभौतिक नश्वर शरीरको छोडकर अन्यत्र चला गया।

लाओ अब गङ्गाजल मुखमें डाल दो। क्यों? क्योंकि हिंदूने क्षण-क्षण अनुभव करके ससारके समस्त जलोंका स्वय परीक्षण करके स्वर्गसे पधारी त्रिपथगा गङ्गामें डकेकी चोट छाप लगा दी, कि इससे अच्छा जल ससारमे कहीं नहीं है। गङ्गाकी महिमा अनन्त है—

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥

चौथी मॉ है—गङ्गा मॉ।

अब इस मृत शरीरको कौन रखे। इसे घरमेंसे निकाल दो। यह अस्पृश्य और त्याज्य है। तब पाँचवीं मॉ भारत माता कहती है—पुत्र! मेरी ही मिट्टीसे तुम्हारी काया बनी, मुझमें ही खेल-कूदकर तुम बड़े हुए और मैंने ही अपनी छाती फाड़-फाड़कर तुम्हें अन्न एव जल दिया। आज तुम्हारे इस मृत शरीरको जब कहीं जगह नहीं है, तब आओ, वत्स! मैं तुम्हें अपनी गोदमें सदाके लिये छिपा लेती हूँ।

गङ्गास्नानं गवां सेवा गीताध्ययन मेव च।
सुखाय जननीसेवा मातृभूमेश्च वन्दनम्॥

आजके युगमें हिंदू-सस्कृतिके प्रतीकोंके प्रति अवहेलनाके भाव दिन-प्रति-दिन बढते जा रहे हैं। इन सास्कृतिक प्रतीकोंको मातृभावका दुग्धसिंचन करके पुनः पल्लवित, पुष्पित और गौरवान्वित करना ही प्रस्तुत लेखका अपना दृष्टिकोण है।

भाव-जागरण

(लेखक—श्रीयोगराजजी थानी)

ग्रीष्म ऋतुके दोपहरके समय जब प्रचण्ड किरणों-वाला सूर्य आकाशमें स्थिर होकर पृथ्वीपर मानो भीषण आग उगल रहा था, उस समय मनुष्योंकी तो बात ही क्या, पशु-पक्षी-तक भी हाँफ रहे थे। वृक्षोंकी छाया भी सिमटकर फिरसे लबी होनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। दूर-दूरतक कोई आता-जाता दिखायी नहीं दे रहा था। वे सरोवर और नदियाँ जो अपने पानीकी अधिकतापर मान किया करती थीं, सूखकर पानीके लिये तरस रही थीं। वे ठडी तेज हवा-के झोंके, जो वृक्षोंतकको हिलानेका अभिमान किया करते थे, एक पलके लिये भी अपनी झलक नहीं दिखा रहे थे। वे मनुष्य-जातिके पुरुष जो अपनेको बलशाली कहते थे और बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंको सह सकनेके लिये सदैव तत्पर रहते थे, बाहर आनेका साहस नहीं कर रहे थे।

इसी देशका एक राजकुमार अपने महलकी खिड़की-से बाहर गर्मीके वातावरणको देख रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि एक सन्यासीपर पड़ी, जो हाथमें 'ॐ'की पताका लिये, नगे पाँव और नगे सिर जलती हुई भूमिपर निश्चिन्तता-पूर्वक चला जा रहा था। राजकुमारको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। परतु वह सन्यासी चला ही जा रहा था। भगवान् ही जानें उस सन्यासीमें जीवधारियोंकी भाँति ये वही पाँच तत्त्व थे या नहीं। राजकुमार बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी ओर देखता रहा। सन्यासीके मुखपर तेज था, लालिमा थी। राजकुमारको जिज्ञासा हुई, भावोंमें जागरण हुआ, विचारधारा बदली और जब सन्यासी ठीक महलके नीचेसे होकर गुजरा, तब राजकुमारने श्रद्धापूर्वक पुकारा—'महात्मन्! ठहरियेगा।'

सन्यासी रुक गया। इतनेमें राजकुमार भी जा पहुँचा और आश्चर्यान्वित होकर राजकुमारने पूछा—'महाराज! इस नगरीमें तो पशु-पक्षी भी इस समय अपनी माँदो या घोंसलोंमें पड़े व्याकुल हो रहे हैं, आप पताका हाथमें लिये कहाँ जा रहे हैं? क्यों जा रहे हैं?'

सन्यासीने उत्तर दिया—'कुमार! कदाचित् तुम नहीं जानते कि जब एक प्राणी इस ससारमें आता है, तब जन्मके समय वह खुद तो रोता है, पर उसके जन्मपर उसके आस-पासके लोग हँसते हैं। मनुष्यको अपना जीवन इस प्रकारसे व्यतीत करना चाहिये कि जब वह संसारसे विदा हो, उस समय और सब तो रो रहे हों परतु वह स्वय हँस रहा हो। इस तथ्य एव सत्यको पूर्ण करनेके लिये प्रभु-भक्ति भी एक मार्ग है और इसीलिये मैं यह साधना और तप कर रहा हूँ ताकि मरनेके समय मुझे यह पश्चात्ताप न करना पड़े कि मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया और उस परम पिता परमात्माकी उपासना भी न कर सका।'

राजकुमारने फिर पूछा—'महात्मन्! क्या यह पृथ्वी आपको गरम नहीं लग रही है और आपके पैर नहीं जल रहे हैं? देखिये, सूर्य कितनी भयकर आग बरसा रहा है!'

सन्यासीने उत्तर दिया—'यह केवल समझने और महसूस करनेकी बात है। जिस प्रकार एक आदमी बाजारमें किसी अन्य व्यक्तिसे गाली सुनकर लड़ मरनेके लिये भी तैयार हो जाता है, पर वही गाली यदि स्नेहसे उसे कोई अपना सम्बन्धी ही देता है तो वह उसकी परवातक नहीं करता। इसी प्रकार इस धरतीसे भी मेरा सम्बन्ध है और इसकी गरमी मुझे किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं देती।'

सन्यासीकी इन बातोंने राजकुमारको अपनी ओर खींच लिया। उसके भाव बदलते गये और वह सन्यासीके विचारों, भावों, आदर्शों, ध्येयों, उद्देश्यों और लक्ष्योंके प्रति आकर्षित होता गया। इतना आकर्षित हो गया कि उसने साधुके साथ जानेका आग्रह किया। सन्यासीने उत्तर दिया—'तुमने राजाके यहाँ जन्म लिया है, आरामसे रहो, नरम गलीचोंपर सोओ। मेरे साथ चलोगे तो तुम्हे इन सब चीजोंका परित्याग करना पड़ेगा, काँटों और पत्थरोंकी सेजको तुम सहन न कर सकोगे। हम जिस पत्थरको गलीचा समझकर उसपर रात-रात गुजार देते हैं, प्रातः उसीके नीचे हमें विषैले साँपोंके दर्शन होते हैं।'

परतु राजकुमारकी आस्थाको और उसके भक्तिमें लीन होनेके विश्वासको सन्यासी अपने भयपूर्ण शब्दसे डिगा नहीं सके। कुमारका आग्रह और भी तीव्रतर हो गया।

पर सन्यासीको अब भी विश्वास नहीं था राजकुमार-पर। सन्यासी यही सोचता था, राजकुमार नवयुवक है, भावुक है। आज तो भक्तिकी भावनासे ओतप्रोत है, न जाने कल यह आजके सुमार्गको कुमार्ग समझ बैठे और आजकी भक्तिभावनाको यह भूल समझ बैठे। इसीलिये राजकुमारके दृढ विश्वासकी परीक्षा लेनेके लिये उसने एक प्रश्न किया इस आशा और विश्वासपर कि प्रश्न सुन लेनेके पश्चात् राजकुमार भक्तिकी धुनको छोड़ देगा। सन्यासीने कहा—'कुमार! तुम्हें भगवान्ने इतना धन-धान्य दिया है, नौकर-चाकर दिये हैं, अच्छे कुलमें पैदा किया है, राज-कुमार बनाया और कुछ ही वर्षोंमें वह तुम्हें राजा भी बना देगा, अतः तुम यहींपर रहो और राजतिलकके शुभ दिन-

की प्रतीक्षा करो । भगवान्‌के दिये धन-धान्यको, भगवान्‌द्वारा दिये गये ऐश्वर्यको त्यागकर, ठुकराकर यदि तुम वनमें चले जाओगे तो क्या यह उस भगवान्‌का अपमान न होगा, जिसकी तुम उपासना करनेकी इच्छा रखते हो ।'

यही प्रश्न था कि इसका उत्तर देना राजकुमारके लिये असम्भव होगा । जिसके लिये सन्यासीकी ऐसी कल्पना थी । पर कल्पना साकार नहीं हुई और राजकुमारने कहा—'महात्मन् ! एक व्यापारी व्यापार करता है और उसमें उसे पर्याप्त लाभ होता है; पर यदि वह उस लाभवाली रकमको घर बैठकर ही खा-पी लेता है, आरामके मोह और वासनामें पड़ जाता है और इस आशापर व्यापार छोड़ बैठता है कि जीवनके लिये पर्याप्त धन है तो वह बेसमझ और नादान व्यापारी है । सच्चा और वास्तविक व्यापारी तो वही है, जो अपने व्यापारमें आये हुए लाभके द्वारा फिर व्यापार करता है और करता ही जाता है । मैं भी एक व्यापारी हूँ । मैंने पीछे भी एक व्यापार किया था, भगवान्‌ने उस व्यापारको सही और उचित समझकर मुझे यह वरदान दिया कि मुझे एक असाधारण व्यक्ति बनाया और राजाके यहाँ पैदा किया । भगवान्‌ने मेरे पिछले कर्मोंको शुभ समझा था, अतएव अब मैं क्यों न और अच्छे कर्म करूँ और फिर प्रभुभक्तिका व्यापार करूँ, ताकि भगवान् मुझे समझदार व्यापारी समझकर और भी अधिक लाभ दें, जिससे मेरा अगला जन्म भी सुखी और वास्तविक मनुष्यका-सा जन्म हो जाय ।'

सन्यासीके पास इस तर्कका कोई उत्तर न था । वह मूक हो गया और कहने लगा—'ठीक ही तो है, देर तो केवल भावोंके जागनेकी है, यदि एक बार भी भाव जाग गये तो समझ लीजिये जीवन सफल हो गया । मनुष्य दुनियाके किसी भी मोहमें नहीं फँस सकता । दुनियाके सारे लालच यदि एकत्रित हो जायँ, तो भी उसे अपने अटल विश्वाससे विचलित नहीं कर सकते । भाव जागा तो समझिये मनुष्यने अपने उद्देश्य, अपने लक्ष्यको पा लिया ।' अब राजकुमारके भावोंका जागरण हो गया था, उसे अब प्रभु-भक्तिकी लगन लग चुकी थी ।

प्यारेसे—मनकी बात

हो चाहे तुम सर्वदोषमय, दोषरहित, गुणमय, गुणहीन ।
निर्मल मन अति हो चाहे, हो चाहे मन अत्यन्त मलीन ॥
प्यार करो, चाहे ठुकराओ, आदर दो, चाहे दुत्कार ।
तुम ही मेरे एक प्राणधन, तुम ही मेरे प्राणाधार ॥
कोटिगुना कोई हो तुमसे बढ़कर सुखद, रूप-गुण-धाम ।
मैं तो नित्य तुम्हारा ही हूँ, नहीं किसीसे कुछ भी काम ॥
फूट जायँ वे पापिनि आँखें, बहरे हो जायें वे कान ।
देखें, सुनें, भूलकर भी जो अन्य किसीका रूप, बखान ॥
निन्दा करो पेट भर चाहे, मैं नित तुम्हें सराहूँगा ।
दारुण दुःख सदा दो तो भी, मैं तुम ही को चाहूँगा ॥
बदतर से बदतर हालतमें भी तुमको न उलाहूँगा ।
मरकर भी तुमको पाऊँगा, संतत प्रेम निबाहूँगा ॥
कभी नहीं उपजेगी मेरे मनमें अन्य किसीकी चाह ।
नरकोंकी, दुर्गतिकी कुछ भी मुझे नहीं होगी परवाह ॥
एक तुम्हारा ही बस, होगा मुझपर सदा पूर्ण अधिकार ।
एक तुम्हीं बस, नित्य रहोगे मेरे सब कुछ, सरबस-सार ॥

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क

भक्ति-अङ्क

कृपालु विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील सुलेखक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' का आगामी विशेषाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकाशित करना निश्चय हुआ है। यद्यपि भक्ताङ्क और 'भक्त-चरिताङ्क' पहले निकल चुके हैं, उनमें भक्तोंके चरित्र पर्याप्त आ गये हैं, साथ ही 'कल्याण'में 'भक्ति'-विषयक साहित्य भी बहुत प्रकाशित हो चुका है, तथापि भक्तिके स्वरूपका विविध दृष्टियोंसे विवेचनपूर्वक भक्ति-सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला कोई स्वतन्त्र विशेषाङ्क अबतक नहीं प्रकाशित किया जा सका था। 'कल्याण' के भक्तहृदय पाठक-पाठिकाओंकी बहुत समयसे इसके लिये माँग थी। अतः 'भक्ति-अङ्क' के लिये महत्त्वपूर्ण सामग्री संग्रह करनेका कार्य आरम्भ किया जा रहा है। इसलिये 'कल्याण'के प्रेमी विद्वान्, भक्तों, भगवत्प्रेमियों और विचारशील आदरणीय सुलेखकों-सुलेखिकाओंसे प्रार्थना है कि वे अपना लेख आगामी एक मासके अंदर ही शीघ्र भेजनेकी कृपा करें।

लेख ऐसा होना चाहिये, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यसे युक्त हो। कागजके एक पीठपर काफी हासिया छोड़कर अच्छी भाषा तथा अच्छे अक्षरोंमें लिखा गया हो। किसी भी सम्प्रदाय या व्यक्तिपर या किसी अन्य सिद्धान्तपर जिसमें तनिक भी आक्षेप न हो, जो बहुत बड़ा न हो और सिद्धान्तका प्रतिपादक होनेके साथ ही रोचक भी हो।

लेख बहुत अधिक संख्यामें आ जानेपर सबके लेखों तथा कविताओंका छपना सम्भव नहीं होता। कई सज्जन उत्साहसे लेख भेज देते हैं; पर वे तथ्यहीन तथा अशुद्धियोंसे भरे होते हैं, ऐसे लेखोंका भी छपना सम्भव नहीं। एक विषयके बहुत-से लेख आ जानेपर सबका छपना सम्भव नहीं, विषयान्तर होनेपर भी छपना सम्भव नहीं और 'कल्याण'के परिमित पृष्ठ होनेके कारण स्थानाभावसे भी सब लेखोंका छपना सम्भव नहीं—इन सब बातोंपर भलीभाँति विचार करके लेखक महानुभाव कृपया तथ्यपूर्ण छोटे लेख भेजें और न छपनेपर हमारी परिस्थितिको समझकर हमे क्षमा करनेकी कृपा करें, यह करबद्ध प्रार्थना है।

लेखोंकी विषयसूची नीचे छपी है, इनमेंसे किसी विषयपर या भक्तिसम्बन्धी अन्य किसी भी विषयपर लेख लिख सकते हैं। लेख हिंदी, संस्कृत, बॅगला, गुजराती, अंगरेजी—इनमेंसे किसी भी भाषामें भेजा जा सकता है।

निवेदक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक

'भक्ति-अङ्क' की विषय-सूची

ऋक्षराजका कन्यादान

इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा । अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥

(श्रीमद्भागवत)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
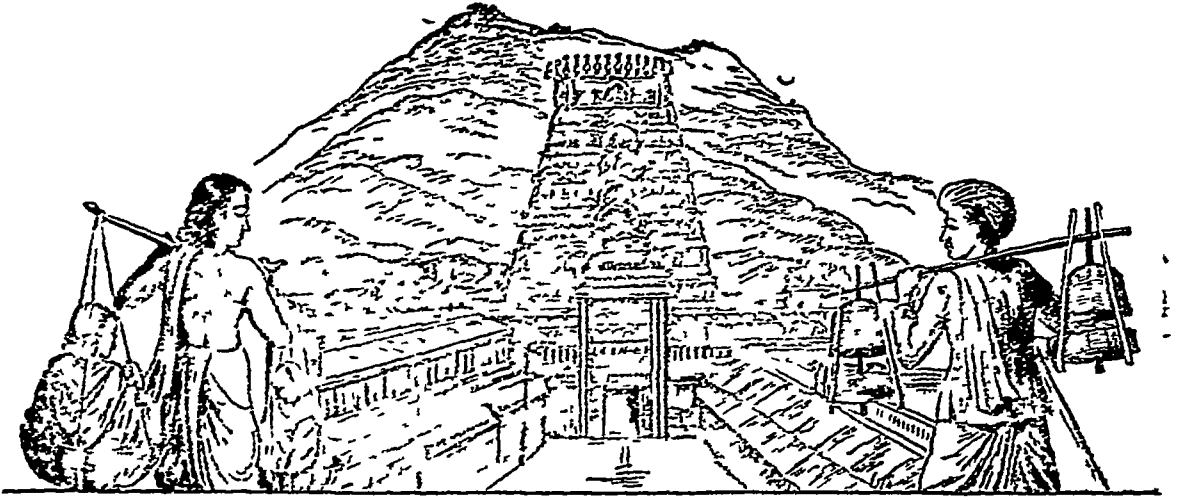
कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१४, अगस्त १९५७ { संख्या ८ पूर्ण संख्या ३६९

ऋक्षराजद्वारा मणियुक्त कन्या-अर्पण

जानेउँ मैं तुम त्रिभुवन ईसा । पुरुष पुरान विष्नु जगदीसा ॥
सभय पालि करहु नखारा । एक अनेक सकल आधारा ॥

× × × ×

एहि विधि रिच्छराज जब जाना । हरि बोले तब करि सनमाना ॥
निज कर कंज प्रथम तेहि गाता । परस्यो दीन बंधु जन त्राता ॥
परम कृपाल भक्त भय भंजन । मंद हास जुत कह जदुनंदन ॥
अहो रिच्छपति मैं इत आयो । कारन तासु न तोहि सुनायो ॥
एहि मनि कारन मो कहँ लोगू । मिथ्या दोष लगावइ रोगू ॥
सो वह रोग मिटै मनि पाए । देउँ तिन्हहि जिन्ह दोष लगाए ॥
वचन सुनत हरषा रिच्छेसा । हरषित चित सिर धरेउ निदेसा ॥
निज कन्या प्रभु लायक जानी । मनि जुत निज कर अरपेउ आनी ॥

[श्रीमद्भागवतके प्राचीन पद्यानुवादसे]

याद रक्खो—जो तुम्हारे साथ घृणा-द्वेष करते हैं, अन्याय-बुराई करते हैं, अपने स्वार्थकी रक्षाके लिये तुम्हारे स्वार्थकी हानि करते हैं, वे स्वयं अपना ही अनिष्ट कर रहे हैं। इसलिये वे मूर्ख हैं, दयाके पात्र हैं, प्रेमके पात्र हैं। उनके प्रति दया करो, घृणा और द्वेषके बदलेमें प्रेम करो, अन्याय और बुराईके बदलेमें उनके साथ उदारता और भलाई बरतो, उनके स्वार्थकी रक्षाके लिये अपना स्वार्थ छोड़ दो। तुम्हें सब ओरसे प्रेम मिलेगा, भलाई मिलेगी और तुम्हारे सच्चे स्वार्थकी सिद्धि होगी। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—सारा ब्रह्माण्ड एक ही ईश्वरका विराट् शरीर है, तुम उसके एक अङ्ग हो। तुम्हारा न अलग स्वार्थ है, न अलग लाभ है। सबका स्वार्थ ही तुम्हारा स्वार्थ है, सबको होनेवाला लाभ ही तुम्हारा लाभ है। अतएव कभी भूलकर भी ऐसा काम न करो, जिसमें सबका लाभ न हो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—बाहरका कोई मनुष्य तुम्हारा शत्रु नहीं है, तुम्हारा बुरे विचारोंसे भरा मन ही तुम्हारा शत्रु है। इसलिये जब तुम्हें यह दिखायी दे कि अमुक मनुष्य बिना ही कारण तुमसे घृणा, द्वेष और शत्रुता कर रहा है, उसका स्वभाव ही बुरा है, जो तुम्हारे साथ सहज ही बुराई करता है, तब अपने अंदरकी ओर गहराईसे देखो और जाँच करो—कहीं तुम्हारे मनमें उसके प्रति या उसी-जैसे किसी दूसरेके प्रति घृणा, द्वेष या शत्रुताके छिपे भाव तो नहीं हैं? तुम्हारे द्वारा किसी भी प्रकार-से उसकी अनिष्टचिन्ता तो नहीं हो रही है? उसके पतन तथा दुःखमें तुम्हारे मनमें सूक्ष्म भी सुखका अनुभव तो नहीं हो रहा है? यदि ऐसी कोई बात हो तो उसे तुरंत निकालकर उसके प्रति प्रेम करो, उसका हित-चिन्तन और हित-साधन करो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—यदि वस्तुतः कोई अपने बुरे स्वभावके वश होकर ही तुम्हारी बुराई करता है तो उसका भी प्रतीकार बदलेमें उसकी बुराई करनेमें नहीं है। तुम यदि बुराईके बदलेमें बुराई, घृणाके बदलेमें घृणा करते हो तो स्पष्ट ही तुम्हारे अंदर ये निश्चित हानिप्रद मूर्खतापूर्ण विचार मौजूद हैं। इनसे तो अग्निमें आहुति डालकर उसे भड़कानेकी भाँति तुम उसकी बुराई तथा घृणाको और भी बढ़ा दोगे। इससे तुम्हारी और उसकी दोनोंकी ही हानि होगी। लाभ तो इसीमें है कि तुम उसकी बुराई तथा घृणाका बदला प्रेम और उसका हित-साधन करके दो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—जितना तुम यह सोचते हो और निश्चय करते हो कि अमुक मनुष्यमें इतनी बुराई है, इतने अवगुण हैं, उतनी ही बुराई तथा उतने ही अवगुण तुम उसको दे देते हो। उसमें बुराई नहीं है तो आ जाती है और किसी अंशमें है तो बढ़ जाती है। अतएव तुम उस बुराईके निश्चित भागी होते हो। इसी प्रकार तुम यदि किसीमें गुण देखते हो तो उसे गुण देते हो, अतएव सबमें गुण देखकर सबसे प्यार करो, इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—प्रेमसे प्रेम उत्पन्न होता है, सेवासे सेवा-भावना बढ़ती है, घृणासे घृणा बढ़ती है और अहितसे अहित-भावना बढ़ती है। तुम जो दोगे, वही तुम्हारे पास अनन्तगुना होकर लौट आयेगा। तुम सबसे प्रेम करो—तुम्हें सब ओरसे प्रेम-ही-प्रेम मिलेगा। तुम्हारे हृदयमें, तुम्हारे आस-पास, तुम्हारे वातावरणमें प्रेम-सुधा-की आनन्दमयी नदी बहने लगेगी, जो तुम्हें तथा तुम्हारे साथ ही सबको सुखी बनानेमें समर्थ होगी। अतएव सदा सबसे प्रेम करो। घृणा, द्वेषका सामना विशेष प्रेमसे करो—इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

याद रक्खो—जो मनुष्य जितना ही अधिक और स्वार्थरहित प्रेम करता है, उतना ही अधिक भगवान् उसके समीप आते हैं, क्योंकि भगवान् प्रेमस्वरूप ही हैं और जितनी ही भगवान्‌की अधिक समीपता होगी, उतने ही सबमें भगवान्‌के दर्शन सहज सुलभ हो जायँगे। फिर तो तुम्हें सर्वत्र सबमें भगवान् और भगवान्‌के दिव्य गुण ही दिखायी देंगे, अतः यही करो—इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है।

'शिव'

संसार मनोमात्र है

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

रानी मदालसा अपने पुत्रको पलनेपर झुलाते समय गाती है कि 'हे पुत्र! तुम स्वरूपसे शुद्ध हो, बुद्ध हो तथा नित्य मुक्त हो, इस मायामय संसारके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। यह संसार जो दीखता है, स्वप्नके समान मनोमात्र है, इसलिये मोहरूपी निद्रासे जाग जाओ।'

'संसार तो भाई! मनोमात्र है'—यह बात सुनते ही एक सज्जन बोल उठे—'यह क्या कह रहे हो? देखती आँखोंपर पट्टी क्यों बाँधते हो? संसार तो प्रत्यक्ष है, जैसे हाथमें रखे आँवलेको देखनेके लिये दर्पणकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्यक्ष वस्तुको सिद्ध करनेमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती। संसार तो प्रत्यक्ष है और उसमें शहर, गाँव, नदी, पर्वत, जंगल, बाग-बगीचे, महल, झोंपड़ी—सब प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। कहीं तो ब्याहके गीत गाये जाते हैं तो कहीं मृत्युका रोना-पीटना सुनायी देता है। कहीं पुत्र-जन्मके उपलक्ष्यमें मिठाई बँटती है तो कहीं किसीके इकलौते बेटेके मरनेपर हाहाकार सुनायी देता है। कोई भूखसे व्याकुल होकर एक टुकड़े रोटीके लिये तरस रहा है तो कहीं अन्नके ढेर-के-ढेर पड़े हैं। ऐसे अनेक प्रकारके अच्छे बुरे दृश्य प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं, तो भी आप कहते हैं कि यह सब मनोमात्र है। यह जीती मक्खी कैसे निगली जाय?'

इसका उत्तर इतना ही है कि 'भाई! जरा धीरज रखो। आँखसे दीखनेवाली सभी वस्तुएँ सच्ची नहीं होतीं, तथा जिस रूपमें वे दीखती हैं, उस रूपमें भी नहीं होतीं। इसलिये यह कहना नहीं बनता कि जितनी आँखसे दीखती हैं उतनी ही वस्तुएँ हैं और जो नहीं दीखता, वह नहीं है। यह बात जल्दी मानी नहीं जा सकती। फिर इस बुद्धिवाद और तर्कके युगमें तो कोई मानेगा ही कैसे? अतएव इस बातको समझनेके लिये कुछ दृष्टान्तोंकी आवश्यकता है, जिनसे बात आसानीसे समझमें आ जाय और फिर हृदयमें भी उतर आवे।

देखिये, यह एक हीरा है। इस हीरेको एक जौहरी और एक उपाधिधारी सज्जन देखते हैं। हीरेको हाथमें लेकर और देखकर उपाधिधारी महाशय कहते हैं कि 'ओहो! हीरा तो बहुत अच्छा है। इसकी चमक देखनेसे तो जान पड़ता है कि यह बहुत ही मूल्यवान् है।' उधर जौहरी हीरेको हाथमें लेकर झट अपनी जेबसे यन्त्र निकालता है और उसकी सहायतासे हीरेकी ठीक-ठीक जाँच करता है। देख लेनेके बाद कहता है कि 'इस हीरेकी चमक तो बहुत अच्छी है, पर इसमें अमुक ऐसी बड़ी कमी है कि इसकी कीमत एक कौड़ीकी भी नहीं है। मेरी रायमें इस हीरेको घरमें रखना भी नहीं चाहिये। नहीं तो अनिष्ट होगा।'

अब इसमें किस प्रत्यक्ष ज्ञानको सत्य मानें? इसका विचार आप स्वयं कर लें। इसलिये जो आँखोंसे दीखता है, वह सदा यथार्थरूपमें ही नहीं दीखता।

दूसरा उदाहरण लीजिये। एक काँचका प्याला पड़ा है। उसमें पानी भरा है। निरी आँखोंसे देखनेपर वह पानी स्वच्छ दीखता है, परंतु सूक्ष्मदर्शक यन्त्रकी सहायतासे देखेंगे तो उसमें असंख्य जीव दीख पड़ेंगे। फिर भला, प्रत्यक्षकी क्या महिमा रह गयी?

तीसरा दृष्टान्त लीजिये। सामान्य मनुष्यको सूर्य

थाली-जितना गोल दीखता है और ऐसा लगता है कि वह पृथ्वीके आसपास घूम रहा है, क्योंकि वह प्रतिदिन सवेरे उगता और शामको अस्त होता प्रत्यक्ष दीखता है। परंतु जिसको खगोल-विद्याका ज्ञान है, उसकी दृष्टिमे तो सूर्य पृथ्वीकी अपेक्षा कई लाख गुना बडा है और पृथ्वी उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करती हुई अपनी धुरीके ऊपर भी लट्टूके समान घूमती रहती है। इसी कारण ऋतु तथा दिन-रात यथासमय हुआ करते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञानका क्या मूल्य है ?

इन सब दृष्टान्तोंसे यह प्रत्यक्ष समझ आ जायगा कि ज्ञान दो प्रकारसे होता है—(१) केवल निरी ऑखोंसे देखकर और (२) किसी यन्त्रकी सहायतासे, अथवा शिक्षित सूक्ष्म बुद्धिकी सहायतासे देखकर। इनमे पहले प्रकारका ज्ञान तो सर्वसाधारणको एक-सा ही होता है, क्योंकि इसमे ऑखसे जितना दीख सकता है, उतना ही दीखता है। यह ज्ञान बहुधा अज्ञान ही होता है। दूसरे प्रकारका ज्ञान बहुत अशोंमे यथार्थ होता है। 'बहुत अशोंमे' लिखनेका कारण यह है कि हमारे बनाये हुए यन्त्र परिमित शक्तिवाले होते हैं तथा हमारी ऑखोंमे देखनेकी शक्ति भी सीमित होती है। इसलिये आज जो दीखता है, वही त्रिकालाबाधित सत्यस्वरूपमें है—यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि भविष्यमे दूसरे यन्त्रोका आविष्कार हो सकता है और उसके द्वारा जैसे भूतकालमें हो चुका है, वैसे ही आज जिसको हम सत्य कहते हैं, वह असत्य भी निकल सकता है।*

पहले प्रकारके ज्ञानको सामान्य ज्ञान और दूसरे प्रकारके ज्ञानको विशिष्ट ज्ञान कह सकते हैं। हीरेके दृष्टान्तमें यन्त्रकी सहायतासे विशेष ज्ञान हुआ, यद्यपि उसमे भी बुद्धिकी कुशलताकी अपेक्षा तो थी ही और सूर्यके दृष्टान्तमे उस विषयके अध्ययनके द्वारा प्राप्त सूक्ष्म बुद्धिको लेकर विशेष ज्ञान होता है।

ये दो प्रकारके ज्ञान आपके सामने आये। अब एक तीसरे प्रकारके ज्ञानको भी समझ लीजिये। वह है भ्रमज्ञान। कभी-कभी भ्रमसे भी कार्यसिद्धि होती दीखती है। इस कारण भ्रमको भ्रमज्ञान नाम दिया जाता है। बल्कि तत्त्वज्ञानकी बातोंको समझनेमे तो भ्रमज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध होता है और इस कारण 'सवादी भ्रम' को एक प्रमाण माना जाता है।*

सूक्ष्म दृष्टिसे देखे तो सामान्य ज्ञान अधिकांशमें भ्रम नही तो और क्या है ? जिस जलमे असख्य कीटाणु भरे हों, उसको स्वच्छ जल कहना और पृथ्वीकी अपेक्षा लाखों गुना बडे सूर्यको थाली-जैसा कहना भ्रम नहीं तो और क्या है ?

दो आदमी शामके अँधेरेमे चले जा रहे हैं। रास्तेमे कुछ काली-काली वस्तु पडी देखकर दोनो आदमी चौंक-कर खडे हो गये। एक आदमी उसे सर्प समझकर पीछे लौटनेके लिये तैयार हो जाता है। तब दूसरा आदमी कहता है—'इसमे इतनी डरनेकी बात क्या है ? सॉप कभी एकदम यों ही नहीं काट लेता। वह आदमी अपनी जेबसे दियासलाई निकालकर एक बत्ती सुलगाकर थोडा समीप जाकर देखता है तो जान पडता है कि वह सॉप नहीं है। इतनेमे दियासलाई बुझ जाती है।

* पिछले दिनों पश्चिमी वैज्ञानिकोंमें सूर्य सचमुच स्थिर है या नहीं, इस विषयमे मतभेद हो गया है। उनके शोधका परिणाम क्या होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। हमारे शास्त्रोंमें तो दोनों पक्ष हैं। एक पक्ष सूर्यको स्थिर मानता है और दूसरा पक्ष पृथ्वीको स्थिर मानता है। फिर भी ग्रह-गणितमें कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि ग्रहणादि योगका समय दोनोंमें एक ही आता है।

* पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य मुनि कहते है—

स्वय भ्रमोऽपि सवादी यथा सम्यक्फलप्रदः।
ब्रह्मतत्त्वोपासनादि तथा मुक्तिफलप्रदम्॥

जैसे सवादी भ्रम स्वय भ्रम होनेपर भी फल देनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना भी मुक्ति-फल प्रदान करनेमे समर्थ होती है।

फिर निश्चय करनेके लिये कुछ और पास जाकर वह दूसरी दियासलाई जलाता है तो देखता है कि एक चिथडेकी लीरी पडी हुई है और हवासे हिलनेके कारण अँधेरेमें साँप-जैसी लगती है । तीसरी दियासलाईकी बत्ती जलाकर वह चिथडेमें लगा देता है । चिथडेके जलते ही प्रकाश हो उठता है और सर्प कहीं खोजनेपर भी नहीं मिलता । जो चिथडा साँपके रूपमें दीखता था, वह जल गया, तब फिर साँपकी भ्रान्ति कैसे हो ? भ्रान्ति होनेके लिये कोई आधार तो चाहिये ही । शास्त्रमे इसीको 'अधिष्ठान' कहते हैं । शास्त्रीय भाषामे कहें तो कह सकते हैं कि साँपकी भ्रान्ति होनेमे चिथड़ेकी लीरी अधिष्ठान है ।

इसी प्रकार बहुधा चमकती सीपमे चाँदीकी भ्रान्ति हो जाती है और इस भ्रमज्ञानका दृष्टान्त तत्त्वज्ञानमे बहुत दिया जाता है ।

यह भ्रमज्ञान दो प्रकारका होता है—(१) निरुपाधिक और (२) सोपाधिक । चिथडेकी लीरीमे होनेवाली साँपकी भ्रान्ति निरुपाधिक भ्रमका दृष्टान्त है, क्योंकि यहाँ यह निश्चय हो जानेपर ही कि चिथडेकी लीरी है, साँपकी भ्रान्ति दूर होती है । परतु सोपाधिक भ्रममे ऐसा नही होता ।

एक स्फटिक मणि पडी है । उसके पास ही एक लाल पुष्प पडा है । दूरसे देखनेपर स्फटिक लाल रगका दीख पडता है, पास जाकर देखिये तो वह बिलकुल सफेद है । इसलिये बुद्धिसे यह निश्चय हो सकता है कि स्फटिकमें किसी भी प्रकारका रग नही होता, तथापि जबतक लाल पुष्प हटाया न जायगा, तबतक वह लाल रगका ही दीखेगा । लाल पुष्पको दूर करके हरी पत्ती रख दें तो स्फटिक हरे रगका दीखेगा । पीला फूल रख दे तो पीले रगका दिखलायी देगा । इसी प्रकार बुद्धिसे निश्चय किया जा सकता है कि स्फटिकमे किसी प्रकारका रग नहीं है । परतु जबतक रगीन वस्तुकी उपाधि उसके पास पडी है, तबतक स्फटिक उस वस्तुके रगका दीखेगा ही । उपाधिको दूर करते ही वह अपने शुद्ध स्वरूपमें दीखने लगेगा । इसलिये इस भ्रमको सोपाधिक भ्रम कहते है ।

ये तो हुए शास्त्रमें दिये जानेवाले दृष्टान्त । परतु व्यावहारिक दृष्टान्तसे भी यह बात समझी जा सकती है । एक आदमी काले काँचका चश्मा पहने है । उसके सामने थालीमें भात, चनेकी दाल, मूँग, उड़द और छोटी-छोटी गेहूँकी चपातियाँ रखो । उसको यह सारा अन्न काले रगका दीख पडेगा, यद्यपि बुद्धिसे वह इस बातको जानता है कि चावल सफेद होता है, चनेकी दाल पीली होती है, मूँग हरा होता है, उडद काला होता है और गेहूँ लालिमा लिये हुए होता है । जबतक चश्मेकी उपाधि दूर नहीं की जायगी, तबतक तो सब काला ही दीखेगा । यह हुआ सोपाधिक भ्रमका व्यावहारिक दृष्टान्त ।

यहाँतक आकर हमने यह निश्चय कर लिया कि आँखसे जो प्रत्यक्ष दीखता है, वह सत्य ही हो—ऐसी बात नही, तथा वह अपने यथार्थ रूपमे दीख पडता हो—ऐसी बात भी नहीं है । दियासलाई जलानेके पहले साँप प्रत्यक्ष ही था और सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे देखनेके पूर्व प्यालेका पानी भी स्वच्छ जान पडता था ।

वेदान्तदर्शन तो कहता है कि आँखसे जो दीखता है, नाकसे जो सूँघा जाता है, जीभसे जो चखा जाता है तथा त्वचासे स्पर्श किया जाता है, वह सभी मिथ्या है । 'मिथ्या ही है'—इसका अर्थ यह है कि वह सब परिवर्तनशील है तथा क्षणमे नाश होनेवाला है, इसलिये वह एक स्वरूपमे स्थिर नहीं रह सकता । जो आज क्षुद्र कीटके रूपमे दीखता है, वह कालान्तरमें स्वर्गमें जाकर इन्द्रके आसनपर बैठ सकता है । इस प्रकारके क्षण-क्षणमें बदलनेवाले ससारमे ज्ञानीकी आस्था कैसे रह सकती है ? जो आज सुकोमल बालक है, वह कुछ ही समय बाद तगडा जवान दीख पडता है और

देखते ही-देखते हाथमे लाठी लेकर उसके टेकेपर बडी कठिनतासे डगमगाता हुआ चलता है, फिर मरकर मिट्टीमे मिल जाता है। यह स्थिति प्राणिमात्रकी जहाँ नित्य ही देखनेमें आती है, उस ससारमे भला, कौन समझदार आदमी विश्वास करेगा? आज पौधेमे जो नाजुक कली होती है, वह दूसरे दिन खिलकर सुन्दर पुष्प बन जाती है और तीसरे ही दिन सूखकर झड जाती है, ऐसे क्षणभङ्गुर ससारके प्रति क्या बुद्धिमान् पुरुषकी सत्यबुद्धि हो सकती है? जो आज लक्ष्मीवान् है और ससारमे सर्वत्र जिसका जय-जयकार बोला जाता है, वह एक दिन ऐसा आता है कि गली-गली भीख माँगना दीख पडता है, फिर भला, ऐसे ससारको कौन सच्चा कहेगा? जो आदमी आज प्रखर बुद्धिवाला समझा जाता है, जिसकी विद्वान्के रूपमें सारे जगत्मे प्रसिद्धि है, ऐसे मनुष्यके मस्तिष्कका एक-आध ज्ञानतन्तु बिगड जानेपर उसको जगत्मे पागलकी तरह इधर-उधर भटकते देखनेवाला कोई आदमी इस ससारको कैसे स्थिर कह सकता है। जो प्राणी आज कबूतरके रूपमे दीख पडता है, कल वही सर्प या सिंह हो जाता है और परसों वही देव या दानवरूपमे दीखता है ऐसे क्षणभङ्गुर ससारको कौन मिथ्या नहीं कहेगा?

बुद्धिको स्थिर करके, वृत्तिको तटस्थ रखकर कोई भी विचारशील पुरुष इस प्रकार ससारका अवलोकन थोडी देर भी करता रहे तो उसको यह विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता कि जो ससाररूपमें दीख पडता है, वह भ्रान्ति ही है और वेदान्तदर्शन जो ससारको मिथ्या कहता है, वह यथार्थ ही है—एकान्तमे बैठकर स्थिर चित्तसे यह विचार करते रहना चाहिये।

यह बात झटपट समझमे आनेवाली नहीं है। इसको समझनेके लिये एक प्रकारकी योग्यता प्राप्त करनी पडती है। जैसे किसी वैज्ञानिक प्रयोगके लिये साधन तथा प्रयोगके रहस्यकी जानकारी आवश्यक होती है, उसी प्रकार वेदान्तदर्शनके सिद्धान्तको समझनेके लिये भी योग्यता प्राप्त होनी चाहिये। वह योग्यता है साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर अन्तःकरणके दोषोंको निवृत्त करना। इसके बिना सिद्धान्तका रहस्य समझमे नहीं आता।

इतनी योग्यता प्राप्त करनेके पहले, अभी तो हमे 'ससार मनोमात्र है' इस बातको तर्कसे देखना है। इस बुद्धिवादके तर्कप्रधान युगमे जो बात तर्कसे समझायी जाती है, वह झट समझमे आ जाती है।

हम जब जागते होते है, तब हमारा मन आँखसे जगत्के प्राणिपदार्थोंको देखता है, कानसे सुनता है, नाकसे सूँघता है आदि। इसका अर्थ इतना ही है कि मन जब बहिर्मुख होता है, तब ससार बाहर दीखता है, जिसको हम 'जाग्रत् प्रपञ्च' कहते है। जब हम सो जाते है, तब मन स्थूलशरीरके साथका सम्बन्ध छोडकर अन्तर्मुख होता है। उस समय किसी भी इन्द्रियके साथ मनका सम्बन्ध नहीं रहता। निद्राकालमे 'हिता' नामक एक अत्यन्त सूक्ष्म नाडीमें जाग्रत्के ससारके समान ही स्वप्न-ससारकी रचना मन करता है, जिसको हम 'स्वप्न-प्रपञ्च' कहते हैं। इस 'हिता' नाडीकी सूक्ष्मता जानने योग्य है। वह सिरके बालके सौवे भाग-जैसी सूक्ष्म है, फिर भी उसमें मन जाग्रत्-प्रपञ्चके समान ही स्वप्न-जगत्की सृष्टि करता है। ऐसी सूक्ष्म नाडीमे इतना बडा ससार कैसे समा सकता है, यह भी विचारणीय है। अब यही मन जब अपने उपादान अज्ञानमे लयको प्राप्त होता है, तब उस स्थितिको हम सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्थामे ससारका कारण मन लयको प्राप्त हो जाता है, फलतः ससारकी रचना करनेवाला अन्य कोई नहीं रह जाता; अतएव ससारकी प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मनकी इन तीनो अवस्थाओंमे साक्षी-रूपसे उपस्थित ही रहता है। यदि आत्मा विद्यमान न हो तो जाग्रत् अवस्थामें जाग्रत्-प्रपञ्चका अनुभव कौन करे,

स्वप्नावस्थामें स्वप्न-प्रपञ्चका अनुभव कौन करे तथा फिर सुषुप्ति अवस्थामे ससार कहीं है ही नहीं—यह अनुभव किसको हो ? इसलिये मनकी इन तीनों अवस्थाओंका अनुभव करनेवाला आत्मा तो सर्वत्र ही अनुस्यूत रहता है। जाग्रत्-स्वप्नमे क्रमश स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च दीखता है और सुषुप्तिमें प्रपञ्च नहीं दीखता—इसका कारण यही है कि ससार मनोमात्र है। यह बात अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे सिद्ध की जा सकती है। अन्वय—अर्थात् जहाँ मन है, वहाँ ससार भासता है—जैसे जाग्रत्-स्वप्नावस्थामे मन रहता है, इसलिये वहाँ ससार दिखलायी देता है। और व्यतिरेक अर्थात् जहाँ मन नहीं, वहाँ ससार भी नहीं दीखता। सुषुप्ति-अवस्थामे मन लयको प्राप्त होता है अर्थात् हाजिर नहीं रहता, इसलिये वहाँ ससार भी नहीं दिखलायी देता।

यहाँतक हमने यह सिद्ध किया कि ससार मनका धर्म है, आत्माका नहीं। आत्मा तो केवल द्रष्टारूपमें मनकी ससार-रचना और लयको समान भावसे देखता है। मन जब ससारकी रचना करता है, तब आत्माको कोई आनन्द नहीं होता तथा जब उसका लय करता है, तब उसको कोई खेद नहीं होता। सभी अवस्थाओंमें आत्मा निर्विकार और शान्त रहता है। इस बातके समर्थनमें अब कुछ शास्त्रोंका प्रमाण भी देख लीजिये। आप्तवाक्य भी एक स्वतन्त्र प्रमाण होता है। इसलिये जब जो कोई बात युक्तिसे समझायी जाती है और उसका शास्त्रसे समर्थन मिलता है, तभी उस सिद्धान्तको यथार्थ समझना चाहिये। इस बातको समझना और समझकर अनुभवमें उतारना तो साधन-सापेक्ष है। इसलिये जो साधन-सम्पन्न हैं, वे तो इसे अवश्य ही समझ लेंगे और सतोषका अनुभव करेंगे। जिनके पास सूक्ष्मबुद्धि है, पर वैराग्य आदि साधन नहीं है, वे बुद्धिसे विचारको ग्रहण तो कर सकेंगे पर अनुभवमें नहीं उतार सकेंगे और जिनके पास कोई साधन ही नहीं है, उन्हें तो यह बात गपोडबाजी अथवा मिथ्या प्रलाप जान पडनेकी पूरी सम्भावना है।

इस प्रसङ्गमें योगवासिष्ठमें कहा गया है—

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

भाव यह है कि चित्त अर्थात् मन जब रागादि पाँच क्लेशोंसे दूषित होता है, तब मन ही ससाररूपमें भासित होता है। वे पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जब मन इन पाँच क्लेशोंसे घिरा होता है, तब वही ससाररूपमें दीखता है और जब उसी मनको इन पाँचो क्लेशोंसे मुक्त करके शुद्ध कर लिया जाता है, तब ससार नहीं दीखता।

फिर दूसरे प्रसङ्गमे कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात् मन ही जन्म-मरणरूप ससारबन्धनका कारण है, उसी प्रकार मोक्ष देनेवाला भी मन ही है। जो मन विषयभोगमें आसक्ति रखता है, वही ससार-बन्धन कराता है और जब वह विषय-विमुख होता है, तब मोक्ष भी वही दिलाता है।

इस सम्बन्धमें श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधे सत्यसद् भवेत्॥

निद्राकालमें मन जैसे स्वप्नससारकी सृष्टि करता है, वैसे ही राग-द्वेषादिसे युक्त मन बाह्य ससारकी रचना करता है। इस प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्च भी स्वप्न-प्रपञ्चके समान ही मनोमात्र है, स्वप्न जैसे निद्रा-कालमें सत्य जान पडता है, उसी प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्च भी ज्ञानरूपी जागृति जबतक नहीं आती, तभीतक सत्य जान पड़ता है।

इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्॥

एक चमकती हुई बड़ी सीप पड़ी है। उसके ऊपर सूर्यका प्रकाश पड़ता है। दूरसे वह ऐसी लगती है मानो चाँदी हो। परंतु यह चाँदी तभीतक दीख पड़ती है, जबतक पास जाकर सीपीका ज्ञान नहीं प्राप्त कर लिया जाता। जिस क्षण यह निश्चय हो जायगा कि वह सीप पड़ी है, उसी क्षण चाँदीका दीखना बंद हो जायगा।

इसी प्रकार एक और अद्वितीय ब्रह्मका जो इस जगत्‌का अधिष्ठान है (उसी प्रकार जैसे सीप चाँदीके ज्ञानका अधिष्ठान थी, चिथड़ेकी लीरी जैसे सर्पज्ञानका अधिष्ठान थी) जबतक ज्ञान नहीं होता, तभीतक यह जगत् दीख पड़ता है—ठीक उसी प्रकार जैसे अधिष्ठानके ज्ञानके पहले चाँदी और सर्प दीख पड़ते थे।

इस ज्ञानका अनुभव करनेके लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। शरणमें जाते समय गुरुके प्रति कैसा भाव होना चाहिये—यह बतलाते हुए श्रुति कहती है—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

पहले तो ईश्वरके प्रति परम भक्ति होनी चाहिये। ईश्वरके प्रति यदि परम अनुराग न हो तो भला, उनको प्राप्त करनेका प्रयत्न ही कैसे हो सकता है ? फिर ईश्वरके प्रति जैसा भक्ति-भाव हो, वैसा ही गुरुके प्रति होना चाहिये। गुरुमें ईश्वरबुद्धि न हो तो यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकारकी योग्यतावाले शिष्यको बोध करानेसे ज्ञान तुरत अपने-आप स्फुरित होता है।

अब गुरुके पास किस प्रकार विनयसे जाना चाहिये, यह समझाते हुए श्रीकृष्ण भगवान् गीतामें कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

अत्यन्त दीनभावसे साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करना, अर्थात् बहुत ही नम्रभावसे गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। गुरु बोध प्रदान करें, उस समय जो बात समझमें न आये, उसको प्रश्न करके विवेकपूर्वक पूछना चाहिये, जिससे मनमें संशय न रह जाय। इन दोनोंसे बढ़कर आवश्यक बात तो यह है कि गुरुकी सेवा करके उनको संतुष्ट रखना चाहिये। ऐसा करते-करते गुरु प्रसन्न होकर एक दिन अवश्य ज्ञानका स्वरूप समझा देंगे और साधक कृतकृत्य हो जायगा।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चो यः प्रकाशते।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिकालमें जो कुछ प्रपञ्चरूपमें दिखलायी देता है, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। इसलिये प्रपञ्चकी सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे भिन्न या स्वतन्त्र नहीं है। (जैसे चाँदीकी सत्ता सीपकी सत्तासे तथा साँपकी सत्ता चिथड़ेकी लीरीकी सत्तासे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार उससे स्वतन्त्र भी नहीं होती।) इस सारे प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप जो ब्रह्म है, वही मैं स्वयं हूँ—यह बात जब संशय-विपर्ययसे रहित होकर निश्चय हो जाती है, तब साधक सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है, जन्म-मृत्युरूप संसारसे तर जाता है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाता है।

ॐ नमो नारायणाय।
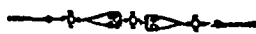
सर्वोपयोगी सार-सार बातें

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

आपको सार-सार बात बतलायी जाती है । एक तो अपने शरीरको कोई रोग हो जाय तो उसके वशीभूत नहीं होना चाहिये और बीमारीको बहुत महत्त्व नहीं देना चाहिये । महत्त्व देनेसे शरीरमें देहाभिमान और आसक्तिकी वृद्धि होती है ।

दूसरी बात यह है कि शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियोंसे हर समय काम लेना चाहिये और उत्तम-से-उत्तम काम लेना चाहिये । सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि जिससे अपने आत्माका कल्याण हो, उद्धार हो—वैसा ही काम हमें शरीर आदिसे लेना चाहिये ।

तीसरी बात यह है कि अपनेमे कोई बुरी आदत हो या कोई दुर्व्यसन हो तो उसको दूर करनेके लिये उससे सम्बन्ध त्याग देना चाहिये । नहीं तो उसका दूर होना कठिन है । उदाहरणके लिये यदि हमारी पाँच व्यक्तियोंके साथ बैठकर ताश या चौपड खेलनेकी बान पड गयी हो तो उस बुरी टेवको छुडानेके लिये जहाँ लोग ताश-चौपड खेलते हों, वहाँ उनके पास कभी नहीं जाना चाहिये । यदि कहीं इस प्रकारका सयोग उपस्थित हो जाय तो दूरसे ही उस मार्गसे हट जाना चाहिये । अथवा कोई कुमार्गमें जानेवाला मनुष्य हो और उसके सङ्गसे अपनेमे कोई बुरी आदत आ गयी हो तो पुन· उस कुमार्गगामी पुरुषका कभी सङ्ग ही न करे । ससारके लोगोंमें या अपनेमें जितनी भी कुटेवे है, सब-की-सब आसक्तिके ही कारण है । आसक्तिका नाम ही सङ्ग है । सयोगका नाम भी सङ्ग है । अत उक्त दोनों-ही अर्थोंमें सङ्गका त्याग कर देना चाहिये ।

आसक्तिका त्याग हो सके, तब तो आसक्तिका ही त्याग करना चाहिये, सर्वोत्तम बात यही है किंतु हम यदि ऐसा न कर सके तो बुराईके साथ कम-से-कम सम्बन्ध-विच्छेद तो कर ही देना चाहिये । जगत्‌में जितने और जो भी मनुष्य हैं, उनसे अधिकाश जो पाप होते हैं, उनका एकमात्र कारण आसक्ति ही है । यह आसक्ति इसलिये है कि भोगोंमें हमारी सुख-बुद्धि है, हमे भोगोंमे सुखकी प्रतीति होती है । वास्तवमें भोगोंमें सुख है ही नहीं । ऐसी दशामें विवेकद्वारा बुद्धिसे मनको समझाना चाहिये और समझा-बुझाकर इस सुख-बुद्धिका त्याग कराना चाहिये ।

समय नामकी जो वस्तु है, वह बहुत ही मूल्यवान् है । लाख रुपया व्यय करनेपर भी एक क्षणका भी समय नहीं मिल सकता । अत हमको अपने समयका आदर करना चाहिये । जो समयका आदर करता है, वह कालको जीत लेता है अर्थात् जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाता है । फिर उसे काल कभी नहीं मार सकता । यों समझना चाहिये कि अपने समयको नष्ट करना मनुष्य-जन्मको नष्ट करना है ।

एक ओर रुपया हो और दूसरी ओर समय, तो समयके लिये रुपयोंका त्याग किया जा सकता है, किंतु अपने समयको अवश्य काममे लाना चाहिये । जो अनुभवी पुरुष है, उनके सङ्गसे हमें लाभ उठाना चाहिये । इसी प्रकार जो वयोवृद्ध अर्थात् अवस्थामे अपनेसे बडे हों, उनके परिपक्व अनुभवसे भी लाभ उठाना चाहिये । साथ ही महात्माओं, ज्ञानियों, सज्जनों और भक्तों तथा जितने भी उच्च कोटिके अच्छे-अच्छे पुरुष हैं, उनके सङ्गका लाभ लेना चाहिये । इसके विपरीत नास्तिक, पापी, नीच और दुर्व्यसनी पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये । उनके साथ मित्रता तो कभी करनी ही नहीं । यदि किसी समय उनसे भेट हो भी जाय तो भीतरसे प्रीति नहीं करनी चाहिये, मनमें उनके प्रति उपेक्षा-बुद्धि ही रखनी चाहिये । योगदर्शनमे बतलाया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।' (१ । ३३)

'सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्माओंमे क्रमश. मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त निर्मल होता है ।'

ऊपरसे सयोग होनेपर भी भीतरसे जो उपेक्षा है, वह बहुत मूल्यवान् वस्तु है । बाहरका सयोग हानि नही पहुँचा सकता, यदि भीतरमे उपेक्षा हो—जैसा कि पहले कह आये है ।

'सङ्' शब्द आसक्तिका वाचक है और प्रीतिका भी । भीतरसे प्रीति अथवा आसक्तिका त्याग कर दिया जाय तो बाहरका सयोग उतना हानिकारक नहीं होता ।

परमात्माने जो कुछ भी ज्ञान अपनेको दिया है, उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिये । ठीक उपयोग किये जानेसे उत्तरोत्तर उस ज्ञानकी वृद्धि होती है और वृद्धि होते-होते उस बढे हुए ज्ञानके द्वारा परमात्माको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है । परमात्माके विषयका जो ज्ञान है, उसे उत्तरोत्तर खूब बढाना चाहिये । ईश्वरने जो हमलोगोंको ऐश्वर्य अर्थात् भोग-सामग्री दी है, उसका भी उचित रूपमें उपयोग करना चाहिये । अवश्य ही यह समझना चाहिये कि यह जो सामग्री भगवान्ने हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है, न कि भोगके लिये । उन सम्पूर्ण सामग्रियोंको ईश्वरकी सम्पत्ति समझकर और सबमें ईश्वरको व्यापक जानकर उन सामग्रियोंसे जगद्रूप जनार्दनकी सेवा करना ही मुक्तिका मार्ग है । भगवान्की दी हुई सामग्रीसे ही भगवान्की सेवा करनी चाहिये । यों समझना चाहिये कि 'हम तो निमित्तमात्र हैं, भगवान्की सामग्री भगवान्को ही अर्पण कर रहे हैं । इसमें हमारा क्या है, हमारे द्वारा तो उन्हींको वस्तु उन्हींको सौंपी जाती है । उनकी वस्तु उन्हें न देकर यदि हम अपने उपभोगमें लायें तो यह तो एक प्रकारसे चोरी ही होगी ।' भगवान् गीतामें कहते हैं—

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥'

देवताओंकी दी हुई वस्तुको जो उन देवताओंको दिये बिना ही स्वय भोगता है, वह चोर ही है ।

भगवान्की दी हुई वस्तु उन्हे अर्पित करके यदि हम शरीर-निर्वाहके लिये काममे लावें, तब तो वह हमारे लिये भगवान्का प्रसाद बन जाता है और उस भगवत्प्रसादसे बुद्धि शुद्ध होकर हमारे आत्माका कल्याण हो जाता है । यह एक प्रकारसे सिद्धान्तकी बात है कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर प्राणिमात्रका अधिकार है । इसलिये सबको देनेके बाद जो बच रहे, वही हमारे लिये प्रसाद है । अपने शरीरमे तथा मन, बुद्धि एव इन्द्रियोमे जो बल है, उसीका नाम आत्मबल है । मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—सबका नाम आत्मा है । यदि हम इनका दुरुपयोग करेंगे तो आगे जाकर हमे घोर पश्चात्ताप करना पडेगा । इसलिये पहलेसे ही सावधान रहकर हमे अपनी शक्तियोंका उपयोग उचित रूपसे करना चाहिये । भगवान्ने जो सामग्री हमको दी है, वह आत्माके कल्याणके लिये दी है । जो भी मनुष्य इस प्रकारकी सामग्रीको पाकर अपने आत्माका कल्याण नहीं करता, उसे आगे जाकर घोर पश्चात्ताप करना पडता है, यद्यपि समय बीत जानेपर इस पश्चात्तापसे कोई विशेष लाभ नहीं होता । इन सब बातोंको सोचकर हमें भगवत्कृपासे प्राप्त सामग्री और सामर्थ्यका उचित उपयोग करना चाहिये । अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियोमे जो शक्ति है, उसके सदुपयोगमात्रसे हमारा कल्याण हो सकता है, और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है । यह शक्ति ही पर्याप्त है । इसका उपयोग हम ठीक करें तो थोडे ही समयमें इसी शक्तिके द्वारा हम भगवान्को प्राप्त कर सकते है, किंतु यदि इसका उपयोग हम ठीकसे न करे तो सौ वर्ष बीत जानेपर भी हम उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं और अन्तमे यह सब सामग्री हमारे लिये बेकार हो जाती है, क्योंकि उससे हमारा सम्बन्ध-

विच्छेद हो जाता है। किसी भी वस्तुके साथ सयोग होनेपर उसका वियोग अवश्यम्भावी है, क्योंकि सयोग वियोगको लिये हुए ही होता है अर्थात् सयोगका परिणाम वियोग निश्चित है। यह समझकर जबतक शरीर, मन, बुद्धि एव इन्द्रियोंके साथ हमारा सयोग है, तभीतक उनसे जो कुछ लाभ हमे उठाना हो उठा लेना चाहिये। इसी प्रकार जो हमारे कुटुम्बी हैं—स्त्री है, पुत्र है तथा और जितने भी हमारे सम्बन्धी अथवा प्रेमी हैं, उनका भी उपयोग हमलोगोंको उचितरूपसे करना चाहिये। उन सबको भगवान्‌की सेवामें लगा देना ही उनका समुचित उपयोग है और यही हमारा उनके प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य है। स्त्री हो तो उसे भी हम भगवान्‌की भक्तिमें लगायें। पुत्र हो तो उसे भी और जो हमारे प्यारे मित्र, कुटुम्बी आदि हों, उन सबको भी सच्चे काममें—जिससे उनका कल्याण हो, ऐसे काममें लगाना ही हमारा कर्तव्य है। सबके कल्याणके अन्तर्गत ही हमारा अपना कल्याण है। अपने कल्याणके लिये भगवान्‌से कोई अलग प्रार्थना नहीं करनी है। सबमें ही तो हम हैं। दूसरोंके हितके लिये हम अपने ऐश्वर्यका त्याग कर देते हैं—यह तो महत्त्वका कार्य है ही, इससे भी बढ़कर मूल्यवान् कार्य यह है कि दूसरोंके कल्याणके लिये हम अपने कल्याणका भी त्याग कर दे। यह और भी महत्त्वपूर्ण त्याग है। मान लीजिये भगवान् हमसे यह कहें कि मैं तुमको दर्शन दे सकता हूँ, चाहे तुम कर लो या जिसे तुम कराना चाहो, उसे करा दो। ऐसा अवसर आनेपर यदि हम स्वय दर्शन न करके किसी दूसरेको दर्शन देनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह त्याग हमारे लिये विशेष मूल्यवान् है।

दूसरोंके साथ हम जो व्यवहार करते है, उनकी सेवा करते हैं, उनके प्रति उदारताका बर्ताव करते हैं—यह भी हमारा बहुत उत्तम कार्य है, किंतु इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि हमारे उत्तम आचरणके प्रभावसे दूसरा पुरुष भी वैसा ही बन जाय। मान लीजिये कि मैंने किसीका उपकार किया, सेवा की और उसके हृदयपर यह छाप पड़ी कि 'किसीका उपकार करना, सेवा करना उत्तम बात है, मेरे द्वारा भी किसीकी सेवा बन जाय तो मेरा अहोभाग्य है।' इस प्रकारका भाव उसके हृदयमे उत्पन्न हो गया तो यह हमारे द्वारा उसकी विशेष सेवा हुई। दूसरोंको शिक्षा देनेकी यह बहुत अच्छी पद्धति है। हम किसीको कहे कि 'तुम लोगोंका उपकार किया करो, सेवा किया करो' इसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तरीका यह है कि हम उसकी सेवा करके अपनी क्रियासे उसे शिक्षा दे, उपदेश देकर नहीं।

इसी प्रकार जो मनुष्य स्वय सत्य बोलता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, ईश्वरकी भक्ति करता है, उसका जो लोगोंके मनपर यह असर पड़ता है कि सत्य बोलना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये, यह शिक्षा देनेका प्रकार बहुत ही उच्चकोटिका है। वाणीके द्वारा शिक्षा या उपदेश देनेका उतना मूल्य नहीं है, जितना आचरण करके उस आचरणके द्वारा शिक्षा देनेका है।

साथ ही हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे अदर कहीं दिखाऊपन न आ जाय, अथवा अहकार न आ जाय कि 'मैं शिक्षा देनेवाला हूँ, मुझसे लोग शिक्षा ले, लोग मेरे आचरणको देखकर, उसे आदर्श मानकर ग्रहण करे।' यह भाव हमारे मनमे नहीं आना चाहिये, अपितु यह भाव आना चाहिये कि लोगोंका कल्याण कैसे हो, लोग उच्चकोटिके कैसे बने।

पिता स्वयं विद्वान् होनेपर भी अपने लड़केको, अपनेसे जो अधिक विद्वान् होते हैं, उनके पास शिक्षा लेनेके लिये भेजता है। वह हृदयसे चाहता है कि मुझसे भी अधिक योग्य मेरा लड़का बने। लड़का ही क्यों, और लोग भी तो हमारे भाई हैं। सभी हमारे पूज्य हैं, सभी हमारे मित्र है। इतना ही नहीं, वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार तो सभी हमारे आत्मा, हमारे अपने स्वरूप है। इन सबका जो कल्याण है, वह हमारा ही तो कल्याण है।

भाई-भाईमें तथा अपने कुटुम्बमें और मित्रोंमें जब बहुत अधिक प्रेम होता है, तब उनके लाभसे मनुष्य अधिक प्रसन्न होता है। अपने लाभसे तो सभी हर्षित होते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि सबको अपना आत्मा ही सबसे अधिक प्यारा है, किंतु अपने आत्मासे भी बढ़कर जब दूसरे प्यारे होते हैं, तब उनके लाभसे अधिक प्रसन्नता होती है। होनी भी यही चाहिये। यही तो इस बातकी परीक्षा है कि हमारा आत्मभाव कितना अधिक विस्तृत हुआ है।

मान लीजिये, हमे एक लाख रुपये मिले और हमारे मित्रको दो लाख रुपये मिले। अब यदि मित्रको अधिक रुपया मिलनेपर हमें अधिक प्रसन्नता हो, तब यह समझना चाहिये कि हमारा उसके साथ सच्चा मैत्रीभाव है और वह हमें प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा है, शरीरसे भी बढ़कर प्यारा है। इसी प्रकार दूसरोंको उन्नत देखकर हमें अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। यह बहुत ही उच्चकोटिका भाव है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि हमे जो पुत्र प्यारा लगता है, वह पुत्रके लिये नहीं, अपितु हमारे लिये ही प्यारा लगता है अर्थात् हमारे स्वार्थके लिये ही हमें अपना पुत्र प्यारा लगता है। हमारी स्त्री जो हमको प्यारी लगती है, वह हमारे सुखके लिये ही प्यारी लगती है। किंतु यह तो एक स्वार्थकी बात है, जो सारे ससारमें पायी जाती है। उच्चकोटिकी बात तो यह है कि हम जिससे भी प्यार करें, उसके लिये ही करें—न कि अपने स्वार्थके लिये, क्योंकि महात्मालोग जिस किसीसे भी प्यार करते हैं, उसके हितके लिये ही करते हैं, अपने स्वार्थके लिये नहीं। यह भाव जिनके हृदयमें होता है, उन्हींका असर होता है और उन्हींकी शिक्षा लगती है। भगवान्‌की दयासे सब लोगोंका उद्धार हो जाय, सबका कल्याण हो जाय, सब भगवान्‌के भक्त बन जायँ—ऐसा भाव मनमें रखना बहुत ही उत्तम है।

एक मनुष्य अपना कल्याण चाहता है और दूसरा सबका कल्याण चाहता है, उन दोनोंमें सबका कल्याण चाहनेवाला ही उत्तम है। भगवान्‌के यहाँ किसी बातकी कमी तो है नहीं। वे चाहें तो एक क्षणमें सबका कल्याण कर सकते हैं। परमात्माके पास मुक्तिका जो भण्डार है, वह तो अटूट है। भगवान्‌की इच्छासे यदि सारी दुनियाका कल्याण हो सकता हो तो सबके कल्याणकी इच्छा रखना यह अत्यधिक उत्तम भाव है।

सबका कल्याण हो जाय, ऐसा भाव रखना तो उत्तम है, किंतु अपना प्रभाव दूसरोंपर पड़े, यह इच्छा रखनेसे अहकार आता है। अत ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे अहकार भी न आये और दूसरोंके कल्याणका भाव भी मनमें बना रहे। इसके लिये यह भाव रखना उत्तम है कि किसीके द्वारा भी हो, सबका कल्याण होना चाहिये। लोगोंके कल्याणमे मै ही निमित्त बनूँ, ऐसा आग्रह रखना ठीक नहीं। निमित्त भगवान् चाहे किसीको बनायें, अपने तो यही भाव रखना चाहिये कि सबका परम हित हो, अर्थात् सबका कल्याण हो।

ध्यानसहित भगवान्‌का नाम-जप करना बहुत ही उत्तम है। उसे सभी कोई करे। हमारी बात मानकर ही करे, ऐसी बात नहीं। अपने गुरुकी बात मानकर, अच्छे-अच्छे महात्मा पुरुषोंकी बात मानकर या किसीकी भी बात मानकर भगवान्‌का भजन-ध्यान करें, जिससे उनका कल्याण हो। किंतु हमारी जो उत्तम क्रिया है, उसको लोग देखेंगे अथवा धारण करेगे तो उनका भी हित होगा—इस प्रकार अपनी क्रियाओंमें उत्तमताकी कल्पना करना अच्छा नहीं, क्योंकि उससे अभिमान बढ़ता है। अत. हमें तो यही समझना चाहिये कि मेरी क्रिया अत्यन्त साधारण है, जो उत्तम पुरुष हैं, उन्हींका अनुकरण करना चाहिये।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

६०. जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीकृष्णकी प्राप्ति बनाकर जबतक मनसे 'अधिक-से-अधिक श्रीकृष्ण-चिन्तन नहीं होता, तबतक प्रेमी भक्तोंके प्रति आकर्षण तेजीसे बढना कठिन है। आवश्यकता है केवल इसी बातकी—जिस किसी भी प्रकारसे मनमे श्रीकृष्णके गुणोंकी, लीलाकी, नामकी मधुर-मधुर स्मृति बनी ही रहे। बस, इसी बातकी चेष्टा करें, इसीमे जीवनका साफल्य है और ऐसा करनेसे ही रास्ता तय होगा।

ऑखोंके सामने आप यह स्थान देख रहे हैं, पाल तना दीख पड रहा है, पर यहींपर दिव्य सच्चिदानन्दमय वृन्दावन-राज्य है, यहींपर श्रीकृष्ण है और समस्त लीला ठीक यहींपर चल रही है। मनसे चिन्तन कीजिये—'सन्ध्याका समय है, वनसे श्रीकृष्ण गाये चराकर लौट रहे है। आगे गायोंकी कतार है, गाये हुमग-हुमगकर श्रीकृष्णके पास जाना चाहती है। पीछे भी गायोंकी कतार है। बीचमे श्रीकृष्ण अत्यन्त मधुर स्वरसे वशी बजा रहे हैं, ध्वनिकी मधुरताके कारण गायोंमे भी एक अत्यन्त शान्ति-सी बीच-बीचमे आ जाती है। श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हुए है। घुँघराले केश मन्द-मन्द हवाके झोकोंसे ललाटपर आ जाते हैं। उन्हे वे बाये हाथसे हटा देते हैं। सडकके किनारे श्रीगोपीजनोंकी कतार लगी हुई है। श्रीकृष्ण अपने बालोंको हटाकर कभी किनारेकी ओर, कभी पीछेकी ओर ताक देते हैं, मुसकुरा देते है। थोडा आगे बढते है, गायें भी आगे बढ़ती है। ग्वालबाल कभी उनके पीछे हो जाते हैं, कभी आगे। 'इस प्रकार मनको कभी गायमें, कभी ग्वालबालमे, कभी श्रीकृष्णमे, कभी श्रीकृष्णके मुकुटमें, कभी उनकी घुँघराली अलकोंमें, कभी वशीमे, कभी चरणोंमें, कभी वृन्दावनके कदम्बके पेडमे, कभी आमके पेडमें, और कभी अमरूदके पेडमें स्थिर करनेकी चेष्टा करें। मनको मुकुट देखनेमे लगाया और फिर आसानीसे जितनी देर वह टिक सके, उतनी देर उसे टिकाकर, जब हटने लगे तो उनके किसी दूसरे अङ्गमें लगा लें। फिर वहॉसे उचटे तो तीसरे अङ्गमे लगाते रहिये। वन, नदी, पर्वत, गाय, सडक, गोपी, ग्वाल-बाल, आम, अमरूद, छीके, डडे, बॉसुरी—ऐसी अनन्त चीजे हैं, जिनमें चाहियेगा तो मन लगा सकते है। बस, मनको फुरसत मत दीजिये। जीभ तो मशीनकी तरह नाम लेती रहे और मन वृन्दावनके किसी भी पदार्थका चिन्तन ही करता रहे। बहुत जरूरी हो, तभी मनको बाहर लाइये। नहीं तो, अन्तर्मुख रहकर प्रत्येक वृत्तिको वृन्दावनीय किसी भी पदार्थमें तदाकार करते रहिये। अभ्यास करनेसे होगा, खूब आसानीसे होने लगेगा। सब भूलकर इसकी चेष्टा कीजिये, नहीं करेंगे तो फिर कोई उपाय नहीं है।

जहॉ भीत दीखती है, मकान दीखते हैं, टीले दीखते है, कूँआ दीखता है, पेड दीखते हैं, वहॉ ऑख मूँदकर एक बार खूब दृढतासे निश्चय कीजिये—'ओह! यहॉ तो वृन्दावन है, बस, वे पेड, वे दृश्य है, बस, सामने श्रीकृष्ण है, गाये हैं, बस-बस यही हैं।' इस प्रकार जितनी लीलाएँ पढ़ी है, सुनी है, जितनी सुनेंगे, पढ़ेंगे, उनमेंसे जिसकी ओर मन टने, उसीमे रम जाइये। तभी रास्ता तय होगा। मनको तन्मय करना पडेगा ही, चाहे कैसे भी करें। उनकी कृपाका आश्रय लेकर करें तो कुछ भी असम्भव नहीं।

घबराना नहीं चाहिये। जिनकी अनन्त कृपासे मनमें धुँधली लालसा पैदा हुई है, उनकी कृपा निश्चय ही आगे भी बढा ले जायगी। जल्दी या देरी, पहुँचना तो है ही। राधा! राधा! राधा!

अभ्याससे सफलता मिलेगी ही। नाम तो खूब जल्दी सध जायगा। हाँ, मनको खास स्वरूपकी ओर अथवा लीलाकी ओर लगाकर दूसरा काम करनेमें विशेष गाढ़े अभ्यासकी आवश्यकता है। बीच-बीचमें जल्दी-जल्दी स्मृति तो थोड़े ही अभ्याससे सम्भव है।

६१ छिनहिं छिन सुरति होति री माई।
बोलनि मिलनि चलनि हँसि चितवनि प्रीति रीति चतुराई॥
साँझ समय गोधन सँग आवनि परम मनोहरताई।
रूप सुधा आनँद सिंधुमें झलमलात तरुनाई॥
अंग अंग प्रति मैन सैन सजि धीरज देत छुड़ाई।
उड़ि उड़ि लगन दगनि टोना सो जगमोहनी कन्हाई॥
मरियत सोचि सोचि दिन वातनि हौं वन गहन भुलाई।
वल्लभ औचक आय मंद हँसि गहि भुज कंठ लगाई॥

पद्यका भावार्थ यह है—श्रीगोपी अथवा श्रीराधाजी कहती हैं—'सखि! बार-बार स्मृति हो रही है। वह बोलना, मिलना, चलना, मुसकाते हुए देखना, प्रीतिकी रीति, प्यारभरी चतुरता बार-बार याद आ जाती है। सन्ध्याके समय श्यामसुन्दर गायोंके साथ आते थे, उस समय उनकी मनोहर छवि देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो सुन्दरतारूपी आनन्दमय—अमृतमय समुद्र लहरा रहा हो और तरुणता (किशोरावस्था) रूपी तरङ्ग उसमें झलमल-झलमल कर रही हों। श्यामसुन्दरका एक एक अङ्ग क्या था, मानो कामदेवकी सेना हो। धीरज बरबस छूट जाता था। आँखोंपर किसी अङ्गकी छवि पड़ते ही मालूम पड़ता था मानो श्यामसुन्दररूप जादूगरने टोना फेंका हो। समस्त जगत्को मोहनेवाले कन्हाई अपने अङ्गोंकी छविका टोना फेंककर हमें मोहित कर लेते थे। एक दिन मैं वनमें, गहन वनमें भूल गयी थी—उन प्रसङ्गोंकी याद कर-करके मृत्युका-सा दुःख होता है। इतनेमें ही अचानक श्यामसुन्दर आये और मन्द-मन्द मुसकाकर मेरी भुजाओंको पकड़कर मुझे कण्ठसे लगा लिया।'

पदके इन भावोंपर एकान्तमें बैठकर विचार कीजिये। विचार करते समय मनमें एक रसकी धारा बह उठेगी। आप उसमें न जाने कहाँ-से-कहाँ बह जायँगे।

६२ सभी प्रेममयी लीला तथा सभी ऐश्वर्यमयी लीला, समस्त लीलाओंका आधार भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी ही है। श्रीकृष्ण लीलाका आस्वाद लेते हैं और श्रीराधाजी लीलाका आस्वाद कराती हैं। ऐश्वर्यमयी लीलाके भी जैसे अनन्त स्तर हैं, वैसे ही प्रेममयी लीलाके भी अनन्त स्तर हैं। व्रजलीलामें ग्वालवालोंके साथ जो लीला होती है, श्रीगोपीजनोंके साथ जो लीला होती है तथा श्रीराधाजीके साथ—केवल एक श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, इन तीनोंमें बड़ा अन्तर होता है।

इन तीनों लीलाओंमें भी कई स्तर हैं। इन स्तरोंका अनुभव प्रेमी साधककी साधनापर ही निर्भर रहता है। जो जितना ऊँचा होता है, वह उतने ही ऊँचे स्तरका अनुभव करता है। इन तीन लीलाओंमें जो गोप—ग्वालबालके सङ्गकी लीला है, उसका अनुभव तो कुछ भाग्यवान् संत कर पाते हैं। उनकी संख्या भी बहुत कम ही है। पर श्रीगोपीजनोंके साथकी लीलाका अनुभव करनेवाले संत तो बहुत ही थोड़े होते हैं तथा श्रीराधाजीके साथ जो लीला होती है, उस लीलाको अनुभव करनेवाले तो इने गिने कुछ विरले ही होते हैं। बात कर लेना आसान है। शास्त्र पढ़कर हम बहुत-सी बातें, लोगोंको चकित कर देनेवाली बातें बना सकते हैं, परंतु सचमुच इन लीलाओंका दर्शन होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य, इनमें स्वयं सम्मिलित होकर कृतार्थ होनेका सौभाग्य तो श्रीराधारानीकी, श्रीकृष्णकी महान् कृपासे किसी किसीको ही होता है। जहाँ समस्त परमार्थ-साधना एवं साध्यतत्त्व समाप्त हो जाता है, वहाँ इस लीला-तत्त्वका श्रीगणेश होता है। पर यह बात दिमागमें तबतक नहीं आ सकती, जबतक कि भगवत्कृपासे अन्तःकरण सर्वथा निर्मल होकर कृपाके ही परायण नहीं हो जाता।'

वेदान्तकी सच्ची साधना यदि हो और सचमुच हम ब्रह्मप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त कर सकें तथा इसके बाद वस्तुतः

आगे जो एक रहस्यमय अनिर्वचनीय सच्चिदानन्दमय साधनाका मार्ग है, वह आरम्भ हो, तब कहीं सम्भव है कि मनुष्य असली सगुण-तत्त्वका रहस्य समझ सके। नहीं तो, होता क्या है कि दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो जाती है। पर इससे भी परे कुछ ऐसी रहस्यमयी बातें है, ऐसा अनिर्वचनीय कुछ भगवत्तत्त्व है, जो सर्वथा किसी भी साधनाके द्वारा नहीं समझा जा सकता। उस स्थितिकी प्राप्ति सभी ब्रह्म-प्राप्त पुरुषोंको भी हो ही, यह निश्चित नियम नहीं है। हो भी सकती है, नहीं भी।

ये सब उल्टी-सीधी बाते शास्त्रीय ज्ञान, तत्त्वज्ञानकी चर्चा आदि तो मनुष्य उसी क्षण भूल जाय, यदि स्वप्नमे भी उसे एक हल्की-सी श्रीकृष्णके रूपकी झॉकी देखनेको मिल जाय। वह जबतक नहीं मिलती, तभीतक सारी बहस, सारी उधेड-बुन है। नारायणस्वामी थे—एक बार वे बैठे हुए थे, सामने श्रीकृष्ण दीखे। वे लगे दौडने। दौडते-दौडते कुसुमसरोवरपर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीकृष्ण पीठकी ओर आ गये। फिर पीछे दौडे, दौडते-दौडते अपने स्थानपर आ गये। इसी प्रकार दिनभर दौडते देखकर पुजारीने पूछा—'बाबा! क्यों दौडते हो?' उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। बहुत आग्रह करनेपर बोले—'भैया! श्रीकृष्ण दीखते है, दीखनेपर ऐसी इच्छा होती है कि पकडकर इनके हृदयमें समा जाऊँ, पर वे भागने लगते है। मैं भी दौडने लगता हूँ। दौडते-दौडते जब थक जाता हूँ, तब वे पीछे दीखने लग जाते है। मै फिर पीछेकी ओर दौड़ने लगता हूँ। सारे दिन यही लीला चलती रहती है।' पुजारीने पूछा—'बाबा! उनसे कुछ पूछते नहीं?' स्वामीजीने कहा—'पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती है और सोचता हूँ—यह बात पूछूँगा, यह शास्त्रीय बात जान लूँगा पर रूप देखते ही सब भूल जाता हूँ। बस, देखते ही रह जानेकी इच्छा छोडकर बाकी सब भूल जाता हूँ।'

६३ श्रीकृष्ण श्रीगोपीजनोंसे कुरुक्षेत्रमें मिलनेपर कहते है—'गोपियो! तुमने हमे कृतघ्न समझा होगा क्या करे, काम-काजकी भीडमे लग गये। देखो, ईश्वर ही प्राणियोंका संयोग कराता है और वही पुन. वियोग कराता है। · सौभाग्यकी बात है कि हमारे प्रति तुमलोगोंका प्रेम निश्चल रहा। बस, यह प्रेम ही सचमुच सार है।' इस प्रकारका भाव श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। पर वास्तवमे श्रीकृष्ण गोपीजनोसे हटकर भी नहीं हटे थे, श्रीकृष्ण हटते ही नहीं। उद्धवजीके ज्ञानका गर्व शान्त होनेपर जब वे श्रीकृष्णके पास लौटे है, उस समयका बडा ही सुन्दर वर्णन नन्ददासजीने किया है—

गोपी गुन गावन लग्यौ, मोहन गुन गयौ भूलि।

× × ×

करुनामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूँठी।
जब ही लौ नहि लख्यौ तबहि लौं बॉधी मूठी॥
मै जान्यौ ब्रज जाय कै तुम्हरो निर्दय रूप।
जे तुम कौ अवलम्बहीं तिन कौं मेलो कूप॥
कौन यह धर्म है।

पुनि पुनि कहै अहो स्याम! जाय वृन्दावन रहिये॥
परम प्रेम कौ पुञ्ज जहॉ गोपिन सँग लहिये।
और काम सब छॉडि कै उन लोगन सुख देहु॥
नातर टूट्यौ जात है अबहीं नेहु सनेहु।
करौगे फिरि कहा॥

सुनत सखा के बैन नैन भरि आए दोऊ।
बिवस प्रेम आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहिं सॉवर गात।
कल्पतरोरुह सॉवरो ब्रजवनिता भई पात॥
उलहि अँग-अग ते।

ह्वै सचेत कहि भले सखा! पठए सुधि ल्यावन॥
अवगुन हमरे आइ तहॉ ते लगे बतावन।
मोमे उन मैं अतरो एकौ छिन भरि नाहिं॥
ज्यौं देखौ मो माहिं वे, त्यौं हौं उनहीं माहिं॥
तरगनि बारि ज्यौं।

गोपी रूप दिखाय तबै मोहन बनवारी ॥
ऊधो भ्रमहि निवारि डारि मुख मोह की जारी।
अपने रूप दिखाय पुनि गोपी रूप दुराय ॥
'नन्ददास' पावन भये जो यह लीला गाय।
प्रेम रस पुंजनी ॥

श्रीकृष्ण ही श्रीराधा हैं, श्रीगोपियाँ हैं। श्रीराधा, श्रीगोपियाँ ही श्रीकृष्ण हैं। पर वियोगके बिना प्रेमका विकास नहीं होता—यह दिखानेके लिये, जगत्‌के साधकोंको कृतार्थ करनेके लिये, प्रेम-साधनाकी पद्धति सिखानेके लिये वियोगका अभिनयमात्र किया गया था।

व्रजमें आज भी लीला चलती रहती है, नित्य रसमयी लीलाका प्रवाह अनादि कालसे चलता आ रहा है। अनन्तकालतक चलता रहेगा। साधक जब उस लीलामें प्रवेश करता है, तब पहले कुछ दिन वहाँ नित्य सखियोंके सङ्गमें रहकर पकाया जाता है। वही हिलग-की स्थिति है। इसके बाद जब व्याकुलता चरम सीमाको पहुँच जाती है, तब रासमें सर्वप्रथम मिलन होकर—अनन्तकालके लिये स्वयं भी सेवामें अधिकार पाकर निहाल हो जाता है। यह एक साधारण नियम है। यों तो श्रीकृष्ण जो चाहें, वही नियम साधकके लिये बन जायगा।

प्रेममें त्याग-ही-त्याग है। जिसके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही साध्य-साधन हैं, उसीके लिये यह पथ है, दूसरेके लिये इसकी गुंजाइश नहीं है। पतिव्रताकी तरह उसे बाट देखनी पड़ती है कि पतिका सदेशा लेकर कौन आता है। स्वयं चलकर दूतकी तलाशमें पतिव्रता नहीं जाती। स्वामीका दूत ही पतिव्रताके पास आता है। उसी प्रकार साधक श्रीकृष्णका नाम लेकर निरन्तर आँसू बहाता रहता है और श्रीकृष्णकी ओरसे समयोचित—अधिकारोचित चेष्टा होती है।

मनमें तीव्र लगन, तीव्र चाह, उत्कण्ठाकी तीव्र आग है, पर बाहर किससे कहे ? साधक समझता है—'मेरे नाथ! तुम्हें ज्ञात है, तुम्हारे पास साधन है, तुम चाहो तो आ सकते हो, पर मैं चलकर भी तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकता। मेरे जीवनधन! अनन्त जीवनकी चाह लेकर बैठा हूँ, कृपाकी डोरीको स्वयं कृपा करके पकड़ा दो। अंधा हूँ, पथ नहीं जानता। मेरे प्रियतम! जिस पथमें चलना चाहता हूँ, उसमें कोई साथी नहीं। तुम्हारे सिवा अवलम्बन नहीं, एकमात्र तुम्हीं सम्हाल सकते हो। सम्हाल लो, नाथ!' ऐसी प्रार्थना हो, निरन्तर मशीनकी तरह नाम मुँहसे निकलता रहे तथा मन लीलाकी तरङ्गोंमें डूबता-उतराता रहे—यही करना चाहिये।

आप सायंकाल ज्योनारमें बैठे रह सकते हैं, पर मनसे अपनेको बरसानेके सरोवरपर रख सकते हैं, देख सकते हैं। वहाँ श्रीराधारानी हैं, ललिता हैं, श्रीकृष्ण हैं, मधुर वंशी बज रही है। सब हो सकता है, पर चलना होगा आपको ही, इसकी तैयारी करनी पड़ेगी आपको ही। सारा प्रपञ्च, सारा व्यवहार इसीके अनुकूल होनेपर ही स्वीकार्य है, अन्यथा तुरंत सबकी आहुति देनेके लिये सच्ची लगन रखनी पड़ेगी। मित्र रहेंगे, परिवार रहेगा, माँ रहेगी, पुत्र रहेंगे, आपके सिरपर पगड़ी, टोपी, बदनपर कोट भी ऐसा ही रहेगा; पर मनमें एक विलक्षण व्याकुलताकी आग जलती रहेगी। यह जलन बढ़ती ही चली जायगी। 'कैसे श्रीकृष्ण-चरणोंमें न्यौछावर हो जाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ ?' एकान्तमें बैठकर रो पड़ियेगा। यह होगा उनकी कृपासे ही, पर उसके पहले आप भावना कीजिये, उनकी कृपा अनन्त है। कृपाको ग्रहण करते चले जाइये। 'प्रेम-गली अति साँकरी, तामें द्वै न समाय।'

६४ यहाँ आप जो वन, पर्वत, नदी, झरने, स्त्री, पुरुष, हिरन, गाय, पक्षी, महल, सड़क देखते हैं, जो कुछ भी स्त्री-पुरुषोंमें, पिता-पुत्रमें, मित्र-मित्रमें प्रेमका

भाव देखते हैं, इन्हें देखकर उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी कुछ कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें वह राज्य नहीं है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी उन-उन चीजोंके आधारपर ही ये चीजें भी कल्पित हुई हैं, उसके आधारपर ही ये चीजें है, उस सच्चिदानन्द-मय राज्यकी छाया-जैसी हैं। समझने-समझानेके लिये कोई दृष्टान्त ही नहीं है। एक दिन सोच रहा था- कैसे समझाऊँ? पासमें कमण्डलु पड़ा था, सूर्यकी किरणोंमें उसकी छाया पड़ रही थी। मैंने कमण्डलुको घुमाना शुरू किया। विचित्र-सी छाया बनती गयी। उस छायाको देखकर कभी तो यह अनुमान हो सकता था कि कमण्डलु इस छायाका आधार है पर कभी-कभी तो यह पता ही नहीं लग सकता था कि ऐसी छायाका आधार भी कमण्डलु हो सकता है। कुछ ऐसे ही यहाँ भी समझ सकते हैं। यहाँ जो कुछ दीख रहा है—पहाड़, नदी, वन, सूर्य, चन्द्र, गाय, सरोवर, बर्तन, साड़ी, डंडा, स्त्री-पुरुषका ढाँचा, आपसमें प्रेमका व्यवहार—सब-का-सब चीजें उस सच्चिदानन्दमय राज्यकी नकल हैं। इन सबका आधार वह सच्चिदानन्दमय राज्य ही है। पर वह दिव्य राज्य त्रिगुणात्मक मायाके आवरणके अन्तरालसे प्रतिभासित होकर विकृत हो जाता है। जहाँ आपको ये चीजें दीखती हैं, वहींपर महान् अनिर्वचनीय दिव्य सच्चिदानन्द-मय वृन्दावन है। पर अभी तो उसकी कल्पना सर्वथा असम्भव है। हाँ, इनको न देखकर इसके आधारपर दृष्टि डालते ही, मन टिकाते ही, इस भ्रान्तिमय छाया-स्वरूप राज्यकी निवृत्ति हो जायगी फिर वह चीज देखनेको मिलेगी, जो सर्वथा सब ओरसे विकारहीन, सच्चिदानन्दमय है।

सच्चे वेदान्ती तो साधना करके सत्तास्वरूप सच्चिदानन्दमय राज्यमें विलीन हो जाते हैं। पर जो लड़ने-झगड़नेवाले हैं, उन्हें यह समझाना ही कठिन है कि ऐसी भ्रान्ति इस रूपमें क्यों होती है। उनकी बुद्धि यह समझ ही नहीं सकती कि ठीक इस भ्रान्तिके अन्तरालमें कुछ-न-कुछ ऐसी ही, ज्यों-की-त्यों चीज है, जिसके कारण यह भ्रान्ति है।

यहाँ आप पढ़तेमें सुनते हैं—श्रीकृष्ण गोपियोंको छेड़ते हैं, किसीका हाथ पकड़ लेते हैं। अब ये चेष्टाएँ यद्यपि हैं ठीक ऐसी ही, पर ऐसी होकर भी ये लौकिक नहीं, परम दिव्य हैं, सर्वथा चित्-आनन्दसे सब ओरसे ओतप्रोत हैं। उन्हें बुद्धिसे समझा ही नहीं जा सकता। उनका तो कोई विरले भाग्यवान् महात्मा ही अनुभव करते हैं। अनुभवके पहले तो इन लीला-प्रसङ्गोंमें यहाँकी विकारमयी चीजोंके विकारमय भावोंका ही अविकारी आरोप हो जाता है। महात्मालोग ऐसी लीलाको चीनीके तूँबेसे उपमा देते हैं। चीनीका बनाया हुआ तूँबा देखकर कोई भी समझ नहीं सकता कि यह कड़वे तूँबेके अतिरिक्त कोई और चीज है। वह उसकी कटुताकी ही कल्पना सर्वथा करता है। ऐसे ही इस लीलाकी अत्यन्त माधुर्यमयी, सच्चिदानन्दमयी बातें भी अनधिकारियोंके द्वारा विकृत हो जाती हैं। सर्वथा श्रीकृष्णकी कृपासे जो साधनामें प्रवृत्त होता है, वही अनुभव करके निहाल होता है, अन्यथा कोई भी उपाय नहीं है। खूब सोच लें, यह दृढ़ सिद्धान्त मान लें—समस्त जागतिक आसक्ति मिटाकर, समस्त आश्रय त्यागकर श्रीकृष्णको पकड़ना होगा, केवल तभी इस लीलाका उन्मेष सम्भव है। नहीं तो ब्रह्मप्राप्त पुरुषोंमें भी इसका उन्मेष हो ही, यह नियम नहीं है।

६५. जितनी चीजें आप देखते हैं, जो आपको प्यारी लगती हैं, जो भाव आपको प्यारा लगता है, यहाँ इस राज्यके सम्बन्धसे तोड़कर उसे दिव्य राज्यसे जोड़ दीजिये। सुन्दर-से-सुन्दर बगीचा देखा है, कुञ्ज देखी है, उसीके आधारपर उसमें दिव्यताका भाव करके, उसीका वृन्दावन-कुञ्जके रूपमें चिन्तन कीजिये। आपके मनमें बढ़िया-से-बढ़िया घड़ेकी जो कल्पना हो उसका

मानसिक चित्र खींचकर उससे श्रीकृष्णका हाथ धुलाना है—यह समझकर उस कलसेका ध्यान कीजिये। इसी प्रकार जिस लीलाका भी वर्णन पढ़ते हैं, उसके प्रत्येक वाक्यमें एक-एक दो-दो चीजोंका उल्लेख मिलेगा, जिन्हें आपने देखा है। बस, उन्हींका चिन्तन कीजिये। एकसे मन उचटते ही दूसरेसे जोड़ दीजिये। जिस प्रकारसे भी हो, मनको उसी राज्यकी किसी वस्तुसे जोड़े रहिये। फिर निश्चय मानिये कि उसीको निमित्त बनाकर श्रीकृष्णके दिव्य राज्यमें प्रवेशाधिकार मिल जायगा। मन टिकते ही, इस भ्रान्तिमय राज्यकी निवृत्ति हो जायगी और फिर ठीक उसी जगह सत्य वस्तु, जो पहलेसे ही है, निरन्तर है, प्रकाशित हो जायगी। पूरी चेष्टा करके मनको इस जगत्से निकालकर, यहींपर चलती हुई लीलामें, परम रमणीयरूपमें, वृक्ष, बासन, साड़ी, पगड़ी आदिमें जोड दें, फिर निश्चय अभूतपूर्व शान्तिका अनुभव होगा। अभी मन दिन-रात चिन्तन करता है रतनगढ़, कलकत्ता, पेटी, तिजोरी, कागज, पेंसिल, गली, सडक, यहाँके बासन, यहाँके कपड़ोंका। इनके बदले उसे वृन्दावनीय पदार्थोंमें जोडिये। यही करना है, बस, इतना ही करना है। फिर भगवान्‌की कृपाका समुद्र उथलकर आपके सामने असली वस्तुको प्रकट कर देगा।

६६ भगवान्‌की समस्त लीलाओंका आधार (मूल) एकमात्र श्रीराधिकाजी ही हैं। ये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण-की ह्लादिनी शक्ति हैं, स्वरूपा शक्ति हैं। ये ही अनन्तरूप धारण करके श्रीकृष्ण-लीलाका सामञ्जस्य करती हैं। श्रीराधाजीकी प्रेमलीला इतनी ऊँची है कि वस्तुत. वे जिसे कृपा करके कुछ दिखाना चाहें, वही देख सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। वे आज भी हैं और भावनाके अनुसार जैसी भी इच्छा कीजियेगा, वैसी ही उसी क्षण उस इच्छाकी पूर्ति कर सकती हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही राधा हैं। इनमें तनिक भी, रत्तीभर भी किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। एक सच्ची घटना सुनाता हूँ, व्रजमे हुई थी।

तीन महात्मा घूम रहे थे। घूमते-घूमते उनमें जो कुछ अधिक आयुके थे, वे तो थक गये। उन्होंने कहा —'भैया, अब तुमलोग जाओ, मैं तो अब यहीं आराम करूँगा।' तीनोंने दिनभर कुछ भी नहीं खाया था। अतः एक तो ठहर गये, दो आगे बढ़े। बरसाना निकट आ गया। दोनों बड़े श्रद्धालु थे। दोनोंने आपसमें सलाह करके यह निश्चित किया कि आज चलो, श्रीजीके अतिथि बनें। बात विनोदमें हुई थी, अत उन लोगोंने फिर इसपर विचार नहीं किया। सोचा—अब रात हो गयी है, कहाँ माँगने जायँ, यहीं रातमें मन्दिरमें जो कुछ प्रसाद मिल जायगा, उसे खाकर पानी पी लेंगे। उस दिन मन्दिरमें उत्सव था। उत्सव देखनेमें लग गये। उत्सव समाप्त हुआ, लोग चले गये। करीब ग्यारह बजे मन्दिरके पुजारीजी जोर-जोरसे पुकारकर कहने लगे— 'अरे यहाँ दो आदमी श्रीजीके अतिथि कौन हैं?' इन लोगोंने आवाज सुनी, वह विनोदकी बात याद आ गयी। फिर प्रेममें विभोर हो गये। दोनोंने कह दिया—कोई होगा। पश्चात् पुजारीजी इन दोनोंको ले गये और प्रसादमें जो-जो बढ़िया-से-बढ़िया चीजें थीं, भरपेट खूब प्रेमसे दोनोंको खिलायीं। इन लोगोंने प्रेममें भरकर खूब आनन्दसे प्रसाद पाया तथा पूर्ण तृप्त होकर उसके बाद एक छतरीमें जाकर सो रहे, वह वहाँसे दूर, कुछ ही दूर हटकर थी। जो सोनेके बाद दोनोंको एक ही समय एक ही स्वप्न आया। दोनोंने देखा, 'एक अत्यन्त सुन्दर बारह वर्षकी बालिका आयी है और पूछ रही है—'क्यों, तुमलोगोंने भरपेट भोजन तो किया? हमारे अतिथि हो न?' उन लोगोंने स्वप्नमें ही कहा— 'खूब छककर खाया।' बालिका बोली—'पर आज प्रसादमें खूब बढ़िया पान था, पुजारी वह देना भूल गया। वही पान लेकर मैं आयी हूँ।' यह कहकर उसने दोनोंके पास दो-दो खिलियाँ पानकी रख दीं। उसी समय दोनों-की नींद खुल गयी। उठकर देखा तो सिरहाने दो-दो

बीड़े पानके रखे हुए हैं । दोनों रोने लगे, प्रेमसे व्याकुल हो गये । पानकी बीडी मुँहमे रखकर प्रेममें अधीर हो गये । दोनोंने अपना स्वप्न एक दूसरेको सुनाया—एक ही समयमे दोनोंको एक ही स्वप्न हुआ था ।

यह सच्ची घटना है और जिनको ऐसा अनुभव हुआ है, वे शायद जीवित हैं । बात इतनी ही है कि श्रीराधारानी, श्रीकृष्ण केवल विश्वास देखते है, फिर जैसे भरपेट भोजन देकर उनको अतिथिके रूपमे स्वीकार कर लिया, वैसे ही सच्चे विश्वासके साथ उनका दर्शन चाहनेवाले, उनकी लीलाको देखकर कृतार्थ होनेकी इच्छा रखनेवाले-को वे अतिथि बनाकर उसका अतिथि-सत्कार कर सकते हैं । उनके लिये सभी समान हैं, किसीके प्रति भेदभाव नहीं है । अत आप यदि अनन्य मनसे आतुर होकर श्रीकृष्णसे, श्रीराधारानीसे चाहे कि 'बस, आपका निरन्तर चिन्तन हो, निरन्तर आपकी लीला सुननेको मिले' तो सच मानिये, देरीका काम नहीं है । अवश्य इस प्रार्थनाको वे सुनेगे । पर प्रार्थना सच्ची हो तब । जबतक आपकी प्रार्थना सच्ची नहीं हो, तबतक झूठे ही मनसे बार-बार कहते रहिये । झूठी प्रार्थनाको भी वे कृपा करके समय-पर सच्ची बना देते हैं ।

आपकी यह चाह बडी उत्तम है कि निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण बना रहे और लीला सुननेको मिले । यह बहुत ही उत्तम चाह है । बस चाहते चले जाइये, झूठी-सच्ची जैसी भी चाह हो—चाहते ही चले जाइये । चाह बनी रहेगी तो वह कभी सच्ची भी हो जायगी और किसी-न-किसी दिन पूर्ण कृपाका प्रकाश होगा ही ।

भगवान्‌की लगन

(लेखक—डा० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०)

(१)

भगवान्‌का साक्षात्कार करनेके लिये किसको अधिक बढाना चाहिये—हृदयको या मस्तिष्कको ? मस्तिष्कके द्वारा उसका साक्षात्कार करनेकी प्रक्रिया ज्ञानमार्गके नामसे अभिहित होती है और हृदयके द्वारा उसको जानना भक्तिमार्गके नामसे कहा जाता है । इन दोनोंमे हृदयको ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ माना है । हृदयके द्वारा भगवान्‌को पाना सुकर है । जैसे बिजलीके द्वारा किसीको छू दिया जाय, तो शरीरभरमें सनसनी-सी फैल जाती है, उसी प्रकार हृदयको जाग्रत् करनेपर शरीरभरमें विशेष चेतनता फैल जाती है । हृदयमें भावावेश होनेपर मनुष्यमें विशेष शक्ति आ जाती है, जिसके बलपर वह अशक्य कार्योंको भी कर डालता है । इसीलिये भावोन्मेषके लिये सदा बड़े लोगोंका ध्यान रहता है । राजनीतिक नेता इसीलिये हृदयको अपील करके जनताको उकसाया करते हैं, मस्तिष्कको अपील करनेपर वह काम हो नहीं सकता । उसमें मीन-मेष करनेके लिये बहुत-से स्थान होते हैं । तर्क-वितर्क करनेकी बहुत जगह रहती है, पर हृदयपर प्रभाव डालते ही अन्य इन्द्रियाँ शिथिल होकर उसीमें केन्द्रित हो जाती हैं । अत. हृदयको जाग्रत् करना क्या है, समग्र चेतनापर एकदम अधिकार करना है । इसीलिये हृदयको उन्नत बनानेकी बात अपना महत्त्व रखती है ।

भगवान्‌को पानेके लिये जितने साधन किये जाते हैं, उनके द्वारा यदि हृदय विकसित न हो तो उनका विशेष उपयोग नहीं है । मन्त्रजप तभी सार्थक है, जब उससे भगवान्‌में प्रीति जगे, स्तोत्रपाठका तभी उपयोग है, जब उससे भगवान्‌के रूप या स्वभावका सच्चा परिचय मिलते हुए उनमें अनुराग बढे । यदि इनसे यह काम न होगा तो इनको अधूरा कहना होगा । अच्छा, तो मनुष्यकी सब इन्द्रियोंमे बाहरीकी अपेक्षा अन्तःकी शक्तिशालिता स्फुट ही है और इस त्रिविध अन्तःकरणमे हृदय सर्वश्रेष्ठ है । अतः उसीके द्वारा किये गये कार्य सफल हो सकते हैं और अधिक शीघ्रतासे हो सकते हैं । इसलिये इसकी जागृतिके लिये सदा सावधान रहना चाहिये । यदि वह चक्र जाग्रत् हो गया तो भगवत्साक्षात्कारमें विलम्ब न होगा ।

(२)

हृदयमें भगवान्‌के लिये व्याकुलता होना कितना कठिन है । ससारके प्रेमी जनोंके लिये हम ससारी जीवोंका हृदय व्याकुल हो जाता है । प्रणयिजनोंमेंसे किसीको किसी प्रकारकी

हानि पहुँचेगी, इस कल्पनासे ही हृदयमें व्याकुलता आ घुसती है। हृदय कभी स्त्रीके लिये व्याकुल है, तो कभी पुत्रके लिये चिन्तित है। कभी सञ्चित धन-राशिके लिये व्याकुल है, तो कभी अपने ऐश-आरामके साधन एकत्र करनेमें मगन है। इन चीजोंमें उसका मन अपनेसे लगता है। समझता है ये चीजें हमारी हैं, ये वस्तुएँ हमारे कामकी हैं। अतएव इनके लिये व्याकुल बना रहता है। पर भगवान्के लिये क्या कभी वह व्याकुल होता है? कभी नहीं। जो हमारा परम आधार है, जिससे वियुक्त होनेपर असख्य जनन-मरणके विकट दुःखोंको काटते-काटते भी उनका अन्त नहीं होता। जो हमारा एक-मात्र गम्य स्थान है अथवा जो हमारा सच्चा किल्बिषरहित स्वरूप है, उस भगवान्के लिये क्या हमलोग उस व्याकुलता-का कभी अनुभव करते हैं, जिसे हम अपने स्त्री-पुत्रादिके लिये नित्यप्रति किया करते हैं। हृदयपर हाथ रखकर पूछा जाय तो वह निषेधात्मक उत्तर देता है। जब व्याकुलता ही नहीं, तब भगवान्का साक्षात्कार कैसे हो? भगवान्के लिये जब हृदयसे पुकार उठे, तब तो वह आये। हृदयमें जिसके व्याकुलता है, वह उसपर आक्रमण करके बैठा रहता ही है। यदि भगवान्के लिये व्याकुलता रहेगी तो हृदयमें भगवान्का सञ्चार अवश्य हो जायगा। अतएव ओ मेरे हृदय! उस मित्रके लिये व्याकुल हो, जिसके समान बन्धु दूसरा इस जगत्में कोई नहीं। उस माताके लिये रो, जिसके समान ममतावाली माता कोई है ही नहीं। उस पिताकी चिन्ता कर, जिसके समान पुत्र-वत्सल दुनियामें कोई नहीं। उस प्रियतमके लिये व्याकुल बन, जिसके समान सुन्दर और रसमय प्रेमी कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। उसे जो चाहे, सो समझ, परतु उसके लिये व्याकुल अवश्य हो। आलस्य छोड़कर उसके पीछे पड़, तभी तो वह मिलेगा। अन्यथा मृगमरीचिकाकी भाँति वह केवल विकल्पमात्र बना रहेगा। अतः यदि कल्याण चाहता है तो बस, व्याकुल बन। खाते व्याकुल बन, पीते व्याकुल बन। सोते व्याकुल बन। हरदम व्याकुल बना रह उसके लिये। वह जरूर मिलेगा, व्याकुलता जरूर मिटेगी, पर उसके लिये व्याकुलता सच्ची होनी चाहिये। अतएव सतलोग झूठी व्याकुलताकी भी सराहना करते हैं। आखिर वह सच्चे मार्ग-पर तो चल रहा है।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

भगवान् थोड़ेहीसे प्रसन्न हो जाते हैं। वे भक्तोंसे बहुत नहीं चाहते। श्रीकर्दमजीने अपनी स्तुति (भागवत स्कन्ध ३, अध्याय २१) में इसी बातपर विशेष जोर दिया है कि भगवान् आत्मज्ञानके द्वारा प्राणियोंको कर्मोंके फलसे उपरति देते हैं तथा अपनी मायासे इस जगत्का व्यवहार चलानेके लिये अनेकों साधनोंको उत्पन्न करते हैं। ऐसा होनेपर भी वे थोड़ी-सी आराधनासे ही भक्तोंका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं। ऐसे भगवान्को हम सदा नमस्कार करते हैं—

> तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
> स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
> नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
> सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥
> (भागवत ३ । २१ । २१)

वह थोड़ी भी आराधना नहीं, जिसमें व्याकुलता न हो। भक्तके प्रेममय हृदयकी पहचान तो होती है इसी व्याकुलता-की बदौलत। व्याकुलता उसीके लिये होती है, जिसे चित्त नितान्त चाहता है और जिसके वियोगमें वह असीम वेदनाका अनुभव करता है। उपासनामें इस मानस स्थितिकी नितान्त आवश्यकता है। यदि उपासना करते समय चित्त द्रवीभूत नहीं होता, उसका काठिन्य कोमलताके रूपमें परिणत नहीं हो जाता, तो वह क्या सच्ची उपासना है? वह तो केवल नियमकी पाबंदी है। सच्ची लगनके लिये व्याकुलता महनीय भेषज है।

घरघाला बाँसुरी

खेलत हौ खरिकान धँसे गुनी गोरस लालची नंदके लाला,
पोरन पोरन सौं परचीं तुम्हरी नस जानतीं गोकुल वाला।
नैनन सैननके नटिहा, करिहाँ मटकै, लटकै गलमाला,
खोलतीं हौं सिगरे गुन लाल, न बोलती यों बँसुरी घरघाला ॥

'निधिनेह'

सुराज्य

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)

गोस्वामीजीने लिखा है—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

इन पंक्तियोंमें राजनीतिका बड़ा अच्छा तत्त्व आ गया है। राज्य-व्यवस्थाके प्रधान अङ्ग हैं राजा-रानी, अमात्य (मन्त्री या सचिव), राज्य-कोष, राजसेना, राज्य अथवा देश और राजधानी।

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।

इस व्यवस्थाका उद्देश्य है—कण्टक बननेवाले आततायियोंका उन्मूलन करना और इस तरह प्रजाको सब प्रकार सुखी तथा समृद्ध बनाना। चाहे एकतन्त्र राज्य हो, चाहे गणतन्त्र हो, सभीके सम्बन्धमें इन तत्त्वोंपर विचार करनेकी आवश्यकता होती है। राजाके अर्थमें राष्ट्रपति, प्रजातन्त्रीय मन्त्री, कार्यपालनाधिकारी आदि सभी सम्मिलित हैं। मन्त्रीके (सचिवके) अर्थमें प्रजातन्त्रात्मक सचिव तो हैं ही, साथ ही विधान-सभासद्, संसद्-सदस्य, राजनीतिक दलोंके पदाधिकारी आदि भी सम्मिलित हैं। रानीके अर्थमें राजाके स्नेही, उसके अवैतनिक सलाहकार, शासनतन्त्रसे निरपेक्ष रहकर भी उसके परम हितकी कामनावाले, राजाकी सुविधाओंकी व्यवस्थावाले, शासनको रूखा तर्कवादी होनेसे बचानेवाले आदि-आदि सब सम्मिलित हैं।

अब राज्यव्यवस्थाके एक-एक अङ्गपर विचार कीजिये। गोस्वामीजी कहते हैं कि राजाको विवेकका अवतार होना चाहिये। वह मूर्तिमान् विवेक हो। जिसके हाथमें शासनसूत्र है, उसका विवेक ही गड़बड़ा गया तो फिर सुराज्यकी समाप्ति ही समझिये। विवेक ही उसका धर्म है। जो धर्मशील नरनाथ है, उसके पास ही साम-दाम-दण्ड-भेदकी नृप-नीतियाँ मुकुट-स्वरूप होकर रह सकती हैं। मानव-स्वभाव समता और विषमताके पेचीदे सम्मिश्रणसे कुछ इस तरहका रहा करता है कि उसको नियन्त्रित रखने और साथ ही उन्नत करते रहनेके लिये निर्मल विवेककी ही सबल भुजाएँ चाहिये। समता और विषमतावाले वर्णाश्रम-धर्मको प्रधानता देनेवाला परम्परागत धर्म-शास्त्र, या नये-नये कानूनोंके रूपमें युग-धर्मको अथवा देश-कालको प्रधानता देनेवाला नव-निर्मित विधि-शास्त्र ही अकेला इस शासन-तन्त्रको चलानेके लिये पर्याप्त नहीं है। असली शासन तो शास्त्रों या शास्त्र-पंक्तियोंसे नहीं, किंतु व्यक्तियोंमें चलता है। शास्त्र-वाक्य कितने भी अच्छे हों, किंतु उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्ति यदि निकम्मे, चोर या घूसखोर रहें तो शासन केवल कागजी शासन रह जायगा। जैसे केवल शास्त्रसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही शासकके केवल शीलसे भी काम नहीं चल सकता। बड़े-बड़े शीलवान् शासक फेल हो गये हैं जबतक कि उन्होंने इस बातका भी प्रबन्ध नहीं कर लिया कि उनके आदेशोंसे शासितकी अभीष्ट-सिद्धि हो पायी कि नहीं। चक्रके चक्रव्यूहमें फँसकर बेचारा भगवान् पण्डित भूततको प्राप्त हो गया। छात्रोंको दानका विचार रखनेवाले राजासे यह कह दिया गया कि उसके राज्यमें कोई अभावग्रस्त ही नहीं है। इसी तरहके ढेरों उदाहरण दिये जा सकते हैं। शासन-तन्त्रके प्रयोक्ताका विवेक ही वह तत्त्व है, जिसके द्वारा देश-काल-पात्रकी पूरी परख हो सकती और किस परिस्थितिमें क्या करना विशेष हितकर होगा, इसका निर्णय हो सकता है। दूर बैठकर यह निर्णय करना कठिन है। स्थानिक कर्मचारी अथवा 'मैन ऑन दि स्पाट'की इसीलिये इतनी महत्ता है। उसके विवेकको उचित सम्मान देना ही चाहिये। विवेकशील शासककी दृष्टिमें बहुमत और अल्पमतका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता। वह तो विवेककी तुलाको ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। जनमतको लोग अस्थिर कहा करते हैं। उस बालूपर भीत उठाकर कितना सुदृढ महल बनाया जा सकेगा। विवेकशील शासकके लिये उत्तमोत्तम नियमोपनियम बनाते रहनेका भी कोई विशेष मूल्य नहीं रहता, क्योंकि आखिर वह गहना किस कामका, जिससे अङ्ग कटे। उसका तो परम ध्येय यही होता है कि वह—

पालइ पोसइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

गोस्वामीजीका यह दोहा, जिसमें वे कहते हैं कि—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोसइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

राजधर्म-सर्वस्व बतलानेमें बड़े मार्केका है । उसका भी इस प्रसङ्गमें स्मरण कर लिया जाय ।

दूसरा तत्त्व है सचिवोंका । जितने भी लोग पदेन परामर्शदाता हैं, चाहे वे प्रतिनिधि-मण्डलके सदस्य हों, चाहे राज्य-परिषद्के सदस्य हों, चाहे सचिवालयके सदस्य हों और चाहे विविध राजनीतिक दलोंके अधिकारी हों,वे सब सचिव ही हैं। सचिवोंको विरागकी प्रतिमूर्ति अथवा उसका मूर्तिमान् अवतार होना चाहिये । यों तो राजनीतिका अर्थ ही हो गया है—स्वार्थ या आत्मोदय, और इसलिये आजकल पूरे वेतनभोगी सचिवोंको छोड़कर शेष सब किसी-न-किसी स्वार्थका प्रतिनिधित्व करते हैं । परतु जिस किसी सलाहमे सचिवका निजी स्वार्थ सनिहित होगा अथवा जो सलाह वह अपने स्वार्थकी प्रेरणासे देगा, वह कहाँतक विवेकानुकूल होगी, यह कहना कठिन है । अपने या अपने दलके स्वार्थसे वस्तुस्थिति-को सामने रखना एक बात है और अनासक्तभावसे वस्तुस्थिति-का विचार करके राय देना एक दूसरी ही बात है । पूर्वकालमें सचिवमण्डलमें ऐसे ही व्यक्ति रखे जाते थे, जिनकी निःस्वार्थ सेवाओंका पूरा विश्वास हो चुकता था । इन्हें एक प्रकारसे ब्राह्मणवर्ग कह सकते हैं । शासक-वर्ग अथवा क्षत्रिय-वर्ग इससे एकदम पृथक् था । शासक-वर्ग तो अब भी पृथक् ही रह सकता है और प्रायः रहता भी है, परतु उसके सचिव-वर्गके लिये विशेषतः अवैतनिक सचिववर्गके लिये उनकी मर्यादा बाँधनेवाले उपयुक्त नियम अभीतक बन नहीं पाये हैं। इसलिये एक ओर वे अपने-अपने स्वार्थ भी अपने साथ चिपकाये रखते हैं और दूसरी ओर अपनेको भी शासक मानकर समय-असमय जब चाहे, तब शासनमें हस्तक्षेप किया करते हैं, जिससे शासकको अपने विवेकके प्रयोगका उन्मुक्त वातावरण नहीं मिलने पाता । सुराज्यके लिये यह सबसे बड़ी बाधा है ।

अब तीसरा तत्त्व देखिये । 'शाति सुमति सुचि सुदर रानी ।' रानी राजाकी परमहितैषिणी, उसको सब तरहसे प्रसन्न रखनेवाली, उसके जीवनमें सरसता लानेवाली, उसकी अवैतनिक सलाहकार, शासनसे तटस्थ रहते हुए भी शासनके सम्बन्धमें समुचित परामर्श देनेवाली, न्यायकी कठोरताको दयाकी कोमलतासे आर्द्र रखनेवाली, स्नेहसिक्त वातावरणको समृद्ध करनेवाली होती है । इसलिये ऐसा दल भी शासन-व्यवस्थाका एक आवश्यक अङ्ग है । सस्कृतके नीति-कारोंने उन्हें सुहृत्की सज्ञा दी है । गोस्वामीजीने रानीके भावमें उन्हें समाविष्ट कर लिया है । ऐसे दलमें बाहरी और भीतरी दोनों तरहका सौन्दर्य आवश्यक है । व्यवहारका सौन्दर्य बाहरी है और विचारों तथा चारित्र्यका सौन्दर्य—दिमाग और दिलका सौन्दर्य—भीतरी है । 'सुमति' से विचारका सौन्दर्य, 'शुचि'से चारित्र्यका सौन्दर्य और 'सुन्दर' से रूपका अथवा व्यवहारका सौन्दर्य, लक्षित किया गया है । नारीकी पूर्णता सुमति, शुचिता और सुन्दरतामे ही है । राजाकी रानी अथवा अर्धाङ्गिनीको तथा राजाके सुहृदोंको शान्तिका मूर्ति-मन्त रूप होना चाहिये । विवेक मस्तिष्ककी वस्तु है और शान्ति हृदयकी । राज्य-व्यवस्था बहुत विवेकपूर्ण हो; परंतु फिर भी यदि वह हृदयको सतोष नहीं दे सकती—शासकके हृदयको और शासितके हृदयको भी, तो वह अधूरी ही है। जन-सतोषके लिये कई अवसरोंपर विवेकपूर्ण व्यवस्थाओंमे भी हेर-फेर करना पड़ जाता है । लोगोंमें शान्ति बनी रहे, यह शासनका मुख्य ध्येय रहता है । वह शान्ति भी मुर्दोंकी-सी न हो । वह जीवित-जाग्रत् शान्ति हो, जो सद्विचार, सच्चारित्र्य और सद्व्यवहारको प्राणवान् करते हुए बनी रहे । शासक ऐसे लोगोंसे मेल-जोल बढाये, जो 'सुमति शुचि-सुन्दर' शान्ति-के वर्धक हों, यों तो ससारमें व्यर्थकी चिल्लाहट मचानेवालों और चाटुकारोंकी कमी नहीं है, परतु उनको बढावा देते रहनेसे व्यर्थकी अशान्ति ही बढती है। (इस प्रसङ्गमें नारीकी महिमा-का जो सकेत हो गया है, वह भी अवलोकनीय है ।)

चौथा तत्त्व है राजकोषका । आजकल राजकोषका अर्थ माना जाता है रुपया-पैसा तथा अस्त्र-शस्त्र । परतु क्या मानव-समाजका यही वास्तविक धन है ? धनका असली अर्थ है, वह शक्ति जिससे भविष्यकी सुख-सुविधा खरीदी जा सके । क्या हम अस्त्र-शस्त्रसे या रुपये-पैसोंसे भविष्यकी सुख-सुविधा खरीद सकते हैं ? यदि ऐसा है तो रावणको किस बातकी कमी थी ! भविष्यकी सुख-सुविधा 'कामार्थधर्म' में नहीं; किंतु 'धर्मार्थकाम' में निहित है, वह राष्ट्रके चारित्र्यमें निहित है । राज्यव्यवस्थाका वही सच्चा कोष है । यह चारित्र्य-आस्तिक्य भावके बलपर—चित्तमें रामचरण-आश्रित रहनेके चावपर—विशेषरूपसे निर्भर रहता है । अतएव सुराज्यके कोषकी सर्वाङ्गीण पूर्णता इसीमे है कि उसके चित्तका चाव रामचरणा-श्रयके प्रति हो । 'सकल अग सपन्न सुराऊ । राम चरन आश्रित चित चाऊ ॥' यह वह मूलस्रोत है, जिसका जल पाकर समृद्धि-की सभी नदियाँ उमड़ उठती हैं और जिन समृद्धि-सरिताओंमें

यह मूलस्रोत नहीं है, वे पूर्व-सुकृतका क्षणिक चमत्कार दिखाकर देखते-देखते अन्तर्धान हो जाती हैं।

'सजरू मूरू जिन्ह सरितन्हि नाहीं। समय गएँ पुनि जाहिं सुखाहीं॥

जिस राज्य-व्यवस्थाने धर्मकी परवा न की, वह राष्ट्रकी सामूहिकताकी भी कबतक परवा करेगी, अन्ताराष्ट्रीय सौहार्द-पर भी कहाँतक दृढ आस्था रख सकेगी ? मनुष्यका अनुचित गर्व ढहानेमें, विद्वेषकी सँकरी सीमाएँ काटनेमें, प्रेमके विस्तारको विश्वबन्धुत्वतक ही नहीं किंतु 'विश्वात्मैक्य' तक ले जानेमें, मानव-जीवनके सच्चे ध्येयको सर्वोपरि रखकर उसे आगे बढानेमें ईश्वर-निष्ठासे बढकर और कोई मूल्यवान् वस्तु नहीं। यह सच्चा कोष जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्रके हाथ लग गया, वह भविष्यकी सारी सुख-सुविधाएँ खरीदनेमें पूरा सक्षम हो जाता है।

पाँचवाँ तत्त्व है—राज्य अथवा देश या राष्ट्रका। उसे न केवल सुहावन, किंतु पावन भी होना चाहिये। सुव्यवस्थित बसा हुआ राज्य सुहावन रहता ही है और यदि उसमें पावन विचारधारा बहती हो तो उसे वास्तविक देश कहना चाहिये। अन्यथा वह देश होते हुए भी विपिन है। और यदि विपिनको भी सुव्यवस्थित और पावन ढगपर बसा दिया गया तो वही उत्तम देश बन जाता है।

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहहिं दिवस जहँ तरनि प्रकासू॥

राज्यव्यवस्थाने यदि सुहावन देशको पावन न बनाया तो उससे लाभ ही क्या ? वास्तवमें तो सुहावन देश वही है, जो पावन भी हो। जो देशका हाल है, वही राष्ट्रका भी समझिये। पूरा राष्ट्र ही व्यवहारमें सुहावन हो और विचार तथा भावमें पावन हो, तभी सुराज्य है।

छठा तत्त्व है—राजधानी। गोस्वामीजीने लिखा है कि राजधानीको शैलके समान होना चाहिये। संस्कृतके नीति-कारोंने इसे ही दुर्गकी सज्ञा दी है। प्रत्येक राज्यमें एक केन्द्र तो ऐसा होना ही चाहिये, जहाँसे सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था सचालित हो। उस केन्द्रका न केवल भौतिक स्तर किंतु मानसिक स्तर भी ऊँचा होना चाहिये, जहाँसे चारों ओरके क्षेत्रोंका भली-भाँति निरीक्षण हो सके। वह शैल या दुर्गके समान सुदृढ और सारगर्भ हो। उससे नि.सृत विचारों, भावों और साधनों-के निर्झर पूरे राज्यके प्रदेशको (समूचे विपिनको) हरा-भरा रखें। शैलमें जलभडार उसी विपिनसे आता है—पृथिवीमें सूखकर अन्तर्निहित स्रोतोंसे होकर, परतु वह अलक्षित रहता है। वही जलभडार अनेक गुना अधिक होकर जन-कल्याण-के लिये प्रवाहित होता है, जिसे दुनिया देखती है। इस प्रसङ्गमें आय-कर-व्यवस्थाका जितना सुन्दर चित्रण मनु और कालि-दासने किया है, वह भी ध्यानमें रखा जाने योग्य है।

सातवाँ तत्त्व है—राजसेना। राज्य-व्यवस्थाके लिये राज्य-सेना रखना आवश्यक होता है। सेना न केवल बाहरी आक्रमणका प्रतीकार करती है, किंतु आन्तरिक शान्ति भी बनाये रखती है, जिससे किसी भी ओरसे कोई विकृति न आने पावे। असली सेना वेतनभोगियोंकी नहीं रहा करती। सच्चा सैनिक वह है, जो अनुशासनका पूर्णव्रती हो और सयमका सच्चा धनी हो। यम और नियमके तत्त्वोंसे बढकर और कोई सैनिक शक्ति नहीं है, जो किसी भी जन-समाजको भीतरी अशान्ति और बाहरी आक्रमणोंसे सदाके लिये बचा सके। यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम हैं—तप, शौच, सतोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। देश-कालके अनुसार इन सैनिकोंका क्या रूप तथा कैसा प्रशिक्षण रहे, यह देखना विवेक-रूपी नरेशका काम है, परतु यदि वह इस सैनिकशक्तिको भलीभाँति सगठितरूपमें बढाकर नहीं रख रहा है तो न तो वह आन्तरिक अशान्तिको दूर रख सकेगा, न बाहरी आक्रमणसे ही अपनेको या अपने राज्यको बचा सकेगा।

ऐसे राज्यका यदि कोई शत्रु हो सकता है तो वह है मानव-स्वभावमें बरबस प्रवेश करनेवाला मोह। मोहको ही गोस्वामीजीने सब व्याधियोंका मूल कहा है। मोहको ही उन्होंने 'रावण' बताया है। विवेकका यदि कोई प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है तो वह है मोह। मोहके बलपर ही क्षुद्र स्वार्थ सिर उठाता है और समाजमें काम, क्रोध, लोभ या रागद्वेष, आलस्य, अनाचार, अनास्था आदिके चक्र चलते हैं। ये ही सब उसके दल जिनके बलपर हैं, वह विवेकके सुराज्यपर आक्रमण करता रहता है। यदि विवेकके पास यम-नियमके सैनिक प्रबल हैं, अनासक्तिका सचिव जाग्रत् है, ईश्वर-निष्ठाका कोष भरपूर है, शान्तिका साहचर्य विद्यमान है तो वह मोहपर और उसके समूचे दल-बलपर भी अवश्य विजय प्राप्त करेगा। मोहको इस प्रकार उसने पछाड़ दिया तो फिर उसका राज्य निष्कण्टक हो जायगा और वह अपने राज्यके सुख-सम्पत्ति और सुकालका पूरा प्रवर्तक बन जायगा।

सम्पदा बाहरका साधन है, सुख मनकी स्थिति है और सुकाल इन दोनोंका सयोग करानेवाला अवसर है। सुराज्यमें इन तीनोंका सामञ्जस्य तो होना ही चाहिये। यह होगा तब,

जब यम नियमके द्वारा मोहको परास्त किया जाय और विवेक, वैराग्य, ईश्वरनिष्ठा तथा जाग्रत् शान्तिका उचित मूल्याङ्कन हो। यही गोस्वामीजीकी सुराज्यकी कल्पना है। इसे ही आगे चलकर उन्होंने 'रामराज्य'के रूपमें दिखाया है।

चित्रकूटमें भगवान् रामने निवास किया। उनके निवास करते ही वनकी सम्पत्ति लहलहा उठी। मानो सुराज्य पाकर प्रजा प्रफुल्ल हो उठी हो। वहाँ शान्तिपूर्ण विवेकका साम्राज्य छा गया, वैराग्यका बोलबाला हुआ, यम और नियमके प्रचारसे मोह सदलबल भाग खड़ा हुआ और पूरा विपिन सुहावन तथा पावन हो गया। मनमें राम चरणाश्रित रहनेका चाव खिल उठा। जहाँ प्रभुका निवास है, वहीं सुराज्य है। सुराज्यका प्रेमी प्रभुके इस निवासको पहिचाने, यही इस वर्णनमें गोस्वामीजीका संकेत है। मुगलोंकी विदेशी सत्तामें सुराज्यके दर्शन करने हों तो प्रत्येक भारतीय अपने चित्तरूपी चित्रकूटमें रामको बसा ले, यही उनका परोक्ष उपदेश था।

'इक दिन जाना है भाई !'

(लेखक—बाबू श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

आया है सो जायगा राजा रंक फकीर।
कोउ सिंघासन चढ़ि चले कोऊ बँधे जँजीर॥

राजा-रंक, योगी-महात्मा, पापी-धर्मवान्, अमीर-गरीब सबको एक दिन जाना है। बड़े-बड़े किले, अट्टालिकाएँ, सुरम्य उद्यान—सब मृत्युदेवके एक-एक ग्रास हैं। चन्द्रमुखी स्त्रियाँ, प्यारा पुत्र, सुन्दर शरीर, प्रबल यौवन, भयंकर सत्ता—सभी कालके गर्भमें विलीन हो जाती हैं—इस तरह विलीन हो जाती हैं कि ढूँढनेपर भी उनका पता नहीं चलता। मुसकराते हुए राजभवनकी जगह बीभत्स श्मशान-भूमि है; प्राचीन नगरोंकी छातीपर घास-पात, वृक्ष, जंगल, उल्लू और सियारका राज्य है। जिस घरमें बालक-बालिकाओं, युवक-युवतियों और जेठे-बड़ोंका कोलाहल होता था, वहाँ आज निस्तब्धता छायी हुई है। उत्तम कुल, अनन्त सम्पत्ति, बड़ी चतुरता, अतुल बल कोई भी एक क्षणके लिये बचा सकनेमें असमर्थ हैं। सर्वभक्षी मृत्युदेव ! तेरे चरणोंमें प्रणाम है।

ईश्वरकी लीला बड़ी विचित्र है। वह कितना सुन्दर और उपयोगी मनुष्य-शरीर बनाता है ! फिर उसे मृत्युके मुखमें चला जाने देता है ! एक ओर संसारकी रचना करता है और दूसरी ओर प्रलयके दृश्य दिखलाता है। वह चूहे बनाकर बिल्ली भी बनाता है, सर्प भी बनाता है और गिद्ध भी, मृग-के साथ सिंह बनाता है और मछलीके साथ मकरकी सृष्टि करता है। उसकी कारीगरी लवा और बाज बनानेमें, उदय-के साथ अस्त करनेमें और जन्मके साथ मरणको गूँथ देनेमें ही चरितार्थ हो रही है। वह बड़ा ही विचित्र खिलाड़ी है। उसके खेलोंका रहस्य वही जाने। एक ओर छठीका उत्सव है, दूसरी ओर श्मशानकी तैयारी है। कहीं एक युवतीके माँगेपर सिन्दूर चढ रहा है, कहीं दूसरी अभागिनीका जीवन-सर्वस्व कूच कर रहा है। मिलनका अन्त वियोगमें होता है। मुसाफिरखानेमें देखिये, लोग अपनी-अपनी गठरियाँ बाँध रहे हैं। सब धीरे-धीरे तैयारी कर रहे हैं—कोई जानकर और कोई अनजानमें। बूढा औरंगजेब रोता हुआ जा रहा है और युवक अभिमन्यु हँसता हुआ।

मृत्युदेवको भला, कौन अपने पास ठहराना चाहेगा ! इसीलिये उसने अपना घर श्मशानभूमिमें बनाया है। उसके राज्यमें भेदभाव नहीं है। वह राजाको जितनी जमीन देता है, उतनी ही भिखारीको। उसकी निगाहमें बड़ी समानता है, उसके आगे सब बराबर हैं। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े—सबके लिये एक ही तराजू है। समदर्शी मृत्युकी गोदमें आजन्मके वैरी एक साथ सोते हैं। उसके राज्यमें हिंदू-मुसलमान और ब्राह्मण-शूद्रका भेद-भाव नहीं। परंतु राज्यमदमें बड़े-बड़े समदर्शी अन्याय करने लगते हैं। राजसत्ता सबको मतवाला बना देती है, इसीलिये समदर्शी मृत्युदेव भी अत्याचार और स्वेच्छाचारसे नहीं चूकते। वे नन्हे-नन्हे बच्चोंपर भी अपना हाथ साफ करते हैं और तरुण-समुदायको भी कुचल डालते हैं। जहाँ किसी राज्यमें अंधेर होने लगता है, वहाँ राजद्रोही भी पैदा हो जाते हैं। देखिये न, मृत्युदेवके राज्यमें भी कुछ बागी दिखायी पड़ते हैं। जितने समाधिवाले तपस्वी, प्राणायामवाले सिद्ध, अखण्ड ब्रह्मचर्यवाले व्रती, अचल तप करनेवाले योगी और विषय-वासनासे दूर रहनेवाले महापुरुष हैं—सब-के-सब बागी हैं। इन लोगोंने मृत्युदेवके एकच्छत्र राज्यमें प्रजासत्ताका झंडा लगा देनेका बीड़ा उठाया है।

ये मृत्युकी दवा ढूँढते रहते हैं । बड़ी आयु कमानेकी योजनामें जो लगे हैं, वे सब मृत्युदेवके राज्यमें षड्यन्त्र कर रहे हैं । वे मृत्यु-की-मृत्यु—अमरता-से मेल करते हैं और नादिरशाह कालको धता बतलाकर आयु-मर्यादाका उल्लङ्घन कर जाते हैं ।

अकालमृत्यु बड़ी बुरी बला है । अधखिली कलीके मुरझा जानेसे किसे दुःख नहीं होता ? कच्चे फलमें स्वाद ही क्या रहता है ? आप कच्ची कलीको तोड़िये तो झाड़ रो देगा । यही नहीं, उसकी नोकमें घाव हो जायगा । बच्चोंके मरनेपर माता पिताकी दशा कैसी करुणाजनक हो जाती है ! जवानीमें मरनेवालोंको देखकर पड़ोसका पत्थर भी हिल जाता है । फाँसीसे मरना, साँप-बिच्छूकी भेंट होना, अग्निदेव-की बलि बनना, प्लेग-हैजाका एक निवाला हो जाना, दबकर मर जाना किसे अच्छा लग सकता है ? असमयमें जाना किसे पसंद होगा ? कुछ लोग कहा करते हैं कि जबतक आयु है, तबतक काल उनका कुछ नहीं कर सकता, ये लोग ऐसी अकाल-मृत्युके सिद्धान्तको नहीं मानते, परंतु ये भी अस्पताल और वैद्य-डाक्टरोंके पास जाते जरूर हैं ! आप सिद्धान्तको मानें या न मानें, परंतु वस्तु-स्थितिसे आँखें नहीं मूँद सकते ।

स्वाधीन-मृत्यु—अपनी इच्छासे मरना कौन न चाहेगा ? यदि प्रत्येक आदमी अपनी फुरसत, इच्छा और सुभीतेसे मरने लगे तो संसारमें सुख बढ़ेगा या दुःख ? अपनी इच्छासे यात्रा करते समय सभीको आनन्द होता है । नदीके किनारेका वृक्ष यह नहीं जानता कि वह कब गिरेगा, किसी दिन अचानक उसकी जड़ जलधारासे उखड़ जाती है और वह धड़ामसे गिर पड़ता है । इस तरह उसका अन्त पराधीन रहता है । पक्षी एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर अपनी इच्छासे उड़ जाता है, अतएव इसकी यात्रा स्वाधीन होती है । भीष्मपितामहने इच्छामरणका अधिकार प्राप्त कर लिया था । ऐसे महापुरुष मरते नहीं, जब-तक इच्छा रहती है, तबतक जीते हैं और अपना कार्य पूरा करके या तो महाप्रस्थानके लिये वनवास स्वीकार करते हैं या अन्तिम समाधिद्वारा परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं ।

जीतेमें भी मृत्यु होती है । कोई यह न समझे कि मृत्यु मरनेपर ही हो सकती है । जिसका सभी जगह अपयश होता है, वह जीतेमें भी मरा है । कलङ्कीका जीना ही तो मरना है । एक महात्माका कथन है कि डरपोक बिना मौतके मर जाता है । दरिद्रता मौतका एक दूसरा नाम है । गुसाईं तुलसीदास-जीने साफ शब्दोंमें कहा है कि शराबी, कामी, कंजूस, मूर्ख, अत्यन्त दरिद्र, यशहीन, बहुत बूढ़ा, सदा रोगी, सतत क्रोधी, ईश्वरविमुख, देवता और साधुओंसे शत्रुता करनेवाला, अपने ही शरीरको पालनेवाला, निन्दा करनेवाला और पापोंका प्रेमी—ये चौदह प्रकारके प्राणी जीते ही मुर्देके समान हैं । सत्कर्मोंके साथ क्षणभरका जीना भी श्रेष्ठ है, दोनों लोक बिगाड़नेवाले दुष्कर्म करते हुए कल्प-कल्पान्तर तकका जीना भी व्यर्थ है ।

जिस तरह आदमी जीते-जी मुर्दा हो सकता है, उसी तरह वह मरनेपर भी जिंदा रहता है । देशके शहीद लोग, 'जिंदगी कहते हैं दुनियासे गुजर जानेको ।' सत्कर्म और लोकोपकार करनेवाले सदा जीवित रहते हैं ।

मरना भला है उसका, जो अपने लिये जिये ।
जीता है वह, जो मर चुका इन्सानके लिये ।

कुटिल काल सबको खा जाता है, परंतु वह नाम और यशको नहीं खा सकता । कीर्ति अविनाशिनी है । इसीलिये प्राचीन भारतवासी किसी प्रकारके स्मारक नहीं बनाते थे । वे जानते थे कि काल स्मारकको भी खा जाता है । वे केवल सत्कर्म करना जानते थे और सत्कर्म तथा परोपकारको ही अपना सच्चा स्मारक समझते थे । यथार्थमें मृत व्यक्तियोंके सद्गुणोंकी चर्चा और उनके पादचिह्नोंपर चलना ही उनका वास्तविक स्मारक है । जीवित हिंदूजातिसे बढ़कर राम और कृष्णका और क्या अच्छा स्मारक हो सकता है ? ईसाई संसार ही ईसामसीहका स्मारक है । महाराणा प्रतापका स्मारक मेवाड़की चतुस्सीमाकी प्रत्येक इंच भूमि ही है । रामायणका प्रत्येक अक्षर गुसाईं तुलसीदासजीका स्मारक है । जयचंद अपने नैतिक पतनको सुनहली कविताओं और सुभाषित वाक्योंके नीचे नहीं छिपा सकता । समाधिस्थानोंमें देखिये, अयोग्य और नीच व्यक्ति अपने पापपूर्ण पैसेके बलपर सुन्दर-से-सुन्दर समाधि बनवाकर मानो संसारको मरनेके बाद भी धोखा देना चाहता है । लोकहितकी दृष्टिसे केवल राष्ट्रिय आत्माओंका स्मारक बनाना आवश्यक है । महापुरुषोंका स्मारक ही वीर-पूजाका भाव जाग्रत् कर सकता है । जो पुतले और समाधिके चबूतरे जीवित जन-समुदायके लिये कोई संदेसा नहीं रखते, उसको तैयार करानेवाला धन और परिश्रम सब व्यर्थ है । एक पश्चिमी उक्ति है कि 'जनताकी स्मरणशक्ति अस्थायी होती है । अतएव अपनी विस्मृतिशीलता का प्रायश्चित्त उसने महापुरुषोंके स्मारक बनानेकी प्रथाका जन्म देकर किया है ।'

जीवन और मरण क्या है ? वैद्यलोग बतलाते हैं कि 'शरीर और प्राणका सयोग जीवन और वियोग मरण है।' भक्त कहते हैं, 'सत्सङ्ग जीवन और कुसङ्ग मृत्यु है।' वीर कहता है, 'साहस जीवन और कायरता ही मृत्यु है।' ज्ञानी कहता है—त्याग जीवन और वासना मरण है। परोपकार और स्वार्थ, पुरुषार्थ और आलस्य, उत्साह और निराशा, एकता और फूट, सच और झूठ, जीवन तथा मृत्युके जोड़े हैं। मृत्युसे सभी लोग नहीं डरते। कर्तव्यजीवी तथा धीर पुरुष न्याय-मार्गपर चलते हैं और हर समय मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये तैयार रहते हैं। ये आजके कामको कलपर नहीं टालते; क्योंकि कल-परसों करते-करते काल बलीका तमाचा आ लगता है। ये उद्यत जीव कहते हैं 'हम भी जानेको थे; कल न गये, आज गये।' ये लोग अभी-अभी मर जानेको और युगान्तरके बाद मर जानेको बराबर समझते हैं—'अद्यैव मे मरणमस्तु युगान्तरे वा।' मरनेपर जो अपना अस्तित्व छोड़ जाता है, उसका थोड़ा-सा जीना भी सार्थक है। सुकरातमें इतनी तेज अक्ल नहीं रहती कि वह मित्रोंके कहनेसे जेलकी दीवालसे कूदकर भाग जाता; जहरके प्यालेको हँसते-हँसते पीकर वह अमर हो गया है। ईसामसीह सूलीपर चढाया गया था, पर वह आज आधी दुनियामें जी रहा है। तलवारकी धारपर दौड़ना तो बालक प्रह्लादके जीवनका खेल था।

स्वाभाविक मृत्यु न तो डरनेकी बात है न दु खकी। जैसे अग्निका धर्म जलाना है, पानीका धर्म शीतलता है, वैसे ही शरीरका धर्म नश्वरता है। आँधी पहले पुराने वृक्षोंको गिराती है। पानीका बुलबुला नष्ट होनेके लिये ही पैदा होता है, बिजली लुप्त होनेके लिये ही चमकती है, फल टूटनेके लिये ही पकते हैं। मनुष्य फटे-पुराने कपड़ोंको बदल देता है, वह नित्य नये कपड़े पहिननेका आदी है। उसका शरीर भी तो जीवात्माकी एक चादर है। जब चादर जीर्ण हो जाय तो उसका बदल दिया जाना अचम्भेकी बात नहीं। मरनेपर कुटुम्बी लोग रोते हैं। कुटुम्ब एक वृक्ष ही तो है, वृक्षपर अनेक प्रकारके पक्षी आकर बैठते है और सवेरा होनेपर इधर-उधर दसों दिशाओंमें उड़ जाते हैं। इसमें न तो अचभेकी बात है और न शोककी। आयु सौ वर्षकी होती है। कितनी बड़ी अवधि है, जिसका अन्त ही नहीं मालूम होता। पचास वर्ष सोनेमें चले जाते हैं, कुछ बचपन खा लेता है, कुछ नौकरी-चाकरी, दुःख-सुख, रोग-शोकमें बीत जाते हैं। यों ही सारी पूँजी खर्च हो जाती है। एक, दो, तीन, चार गिनते जाइये; बस, गिनते जाइये। दिन और रात, महीने और वर्ष, बचपन और किशोरावस्था, जवानी और बुढापा एक-एककर धीरे-धीरे इस खूबीके साथ कदम बढाते हैं कि किसीको पता ही नहीं चलता। बस, एक दिन खेल खतम होनेका मौका आता है, नाटकका अन्तिम परदा गिरता है और इच्छा होने अथवा न होनेपर भी चलना पड़ता है। इसलिये पहलेसे सचेत हो जाना बड़ा अच्छा है। 'ऐ मुसाफिर! कूचका सामान कर। इस सरामें है बसेरा चद रोज।' और आज-कल तो सौ वर्षोंमें तीन पीढियाँ समाप्त हो जाती हैं।

वीरमरण सबके भाग्यमे नहीं लिखा रहता। पहले जमानेमें क्षत्रियलोग पुत्रको राज्य देकर रणमे प्राणत्याग करते थे। आजकल तो हिंदुओंमें बस, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र ही अधिकतर शेष हैं। कभी-कभी एकाध कर्मवीर क्षत्रिय दिखायी पड़ जाता है। खटियामें सड़कर मरना प्राचीन क्षत्रियोंके लिये पाप था, इसीलिये सग्रामका अवसर न होनेपर वे मृत्युको निकट देखकर अनशन-व्रत (प्रायोपवेशन), जलसमाधि, चितासेवन आदिके द्वारा प्राण छोड़ते थे। यह जानकर कि शरीर केवल एक बार मरता है। हमारे प्राचीन वीर सम्मुख मरणकी बड़ी प्रशसा करते थे। ससारका प्रपञ्च भी एक बड़ा युद्धक्षेत्र ही है। इस क्षेत्रमे जो पुरुषार्थी धर्मयुद्ध करते-करते जीता रहे अथवा मर जाय, वही सच्चा वीर है, उसकी पराजय भी विजय है।

काल बड़ा चोर है। वह ऐसे समयमे सेंध लगाता है, जब किसीको पता ही नहीं लगता। उसका निशाना कभी नहीं चूकता। सबके सो जानेपर भी वह सदैव जागता रहता है। वैद्यराज दवा घोलते रह जाते हैं, पण्डितजी मृत्युञ्जयका पाठ पूरा नहीं कर पाते, लेन-देन, बही-खातेका हिसाब अधूरा रह जाता है और जीव चल बसता है। काल अपने आनेके समयकी सूचना नहीं देता, हमारे जानेका समय नहीं बतलाता, दुनियाको, हमारी आवश्यकता है, इसकी परवा नहीं करता, रोनेसे पिघलता नहीं। वह न तो दयालु पिताको साथ जाने देता है न प्यारी स्त्रीको, न करुणार्द्र माता हमें बचा सकती है न सहोदर भाई। कालको कोई नहीं टाल सकता। दौलत और असबाब, हाथी और घोड़े, शरीरके आभूषण और दिलके अरमानको जहाँ-का-तहाँ छोड़कर खाली हाथ जाना पड़ता है। हाँ, एक ऐसा मित्र है, जो साथ जानेसे नहीं रुकता। वह कालके भी सिरपर बैठकर साथ जाता है। वह है 'धर्म'।

भाई ! हमें और आपको एक दिन जरूर जाना है । जो मरनेके बाद भी जीना चाहता है, उसे प्रतिक्षण याद रखना होगा कि उसे भी किसी दिन जाना है । जिसने बचपनमें शक्तिका, जवानीमें विद्याका, प्रौढावस्थामें अतुल धनका सग्रह न किया, उसने कुछ न किया । जिसने द्रव्य यज्ञके द्वारा देवताओं-का ऋण चुका दिया हो, संततिके द्वारा पिताका ऋण चुका दिया हो और उपकारके द्वारा ससारका ऋण चुका दिया हो, वह मरनेका अधिकारी हो जाता है, उसके लिये मृत्यु हँसी-खेल है । मालिकके पाससे जब बुलावेका समन आयेगा, तब उसकी तामील करनी ही होगी । जो हर समय इस निमन्त्रणके लिये तैयार रहता है, उसे मालिकके पास जानेमें दु.ख या कष्ट नहीं होता । जो तैयार नहीं रहता, वह रोता है, एक क्षणकी और भिक्षा माँगता है, कुछ जरूरी कामोंका बच जाना बतलाता है, परंतु—

'कालो हि दुरतिक्रम.'

कालकी रेलगाड़ी एक पलके लिये भी ठहरती नहीं । जिसने सारा जीवन यों ही गँवा दिया, उसपर काल एक पलके लिये विश्वास नहीं कर सकता । उसे वह एक क्षणकी भी अन्तिम भिक्षा नहीं दे सकता । जब जाना ही निश्चित है, तब पूरी तैयारीसे जाना अच्छा है । इसलिये कवि कहता है—

कर्म हैं अपना जीवन-प्राण, कर्ममें बसते हैं भगवान ।
कर्म है मातृभूमिका मान, कर्म पर आओ, हो बलिदान ॥

प्रिय पाठको ! मनुष्य-शरीर परमपिता परमात्माका अमूल्य दान है । वह एक पवित्र धरोहर है । उसका दुरुप-योग करना माता, पिता, गुरु और ईश्वरको तथा स्वय अपनेको धोखा देना है । धनुषसे छूटा हुआ तीर और आयुका बीता हुआ समय वापस नहीं आता । समय चूक जानेपर पश्चात्ताप करना वृथा है । जीवन उसीका सार्थक है, जो अपने नश्वर शरीरके द्वारा कुछ उपयोगी कार्य कर जाता है। इस विशाल जगत्में कार्योंकी कमी कभी न रहेगी । संसारसे विदा होनेपर ईश्वर प्रत्येक व्यक्तिसे पूछेगा कि तुमने अपने शरीरके द्वारा क्या किया । मृत्यु-समयका परम संतोष ही ईश्वरकी प्रसन्नताका प्रमाण है । झूठा, पापी, ढोंगी और दुराचारी जीव अन्तिम समयमें सुखी और संतुष्ट कदापि नहीं रह सकता । जीवनभर कर्तव्य-पालन करनेवाले व्यक्ति अद्भुत वीरता और शान्तिके साथ प्राणत्याग करते देखे जाते हैं, उन्हें परमपिता अपनी गोदमें स्थान अवश्य देता है । अतएव हमें राजर्षि भर्तृहरिके इन मार्मिक वचनोंको उठते-बैठते, सोते-जागते स्मरण रखना चाहिये—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुप. ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्य प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखनन प्रत्युद्यमः कीदृश. ॥

अर्थात् जबतक अपना शरीर नीरोग और पुष्ट है और वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति न्यून नहीं हुई और आयुष्य भी क्षीण नहीं हुआ है, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि अपने कल्याणके लिये यत्न अच्छी तरहसे कर लें, जब घर जलने लगे तभी कुआँ खोदनेके उद्योगसे क्या लाभ होगा ?

खोपरी परी रही

राखे पॉव पाप पंथ, कोटिक कुकर्म कीन्हे,
फैली वेल भारी फरी पाप की फरी रही ।
वार भए सेत, तोऊ केती अनरीती करी,
रीती नहीं करी पोट पाप की भरी रही ॥
हरि तें न हेत कीन्हौ, नाम नहिं लीन्हौ एक,
धन धन धौल धाम धरती धरी रही ।
कीन्हौ नहिं चेत, भए प्रेत, अंत रेत भए,
खेल गए खेली, खेत खोपरी परी रही ॥

पांडू जौहरी

(लेखक—श्रीरमणलाल सोनी, अनुवादक—श्रीजयशंकर पण्ड्या)

(१)

सैकड़ों वर्ष पहलेकी यह कहानी है।

पांडूके माता-पिता उसके शैशवमें ही स्वर्गगामी हो चुके थे। पांडूकी विधवा फूफीने उसका पालन-पोषण किया। उचित उम्र होते ही पांडूका व्याह हुआ और तदनन्तर उसने काशीपुरीमें एक छोटी-सी दूकान आरम्भ की। व्यापारमें धीरे-धीरे उसकी प्रतिभा विकसित होने लगी और कुछ वर्षोंमें तो पांडूका नाम शहरके प्रमुख सेठोंमें लिया जाने लगा। देश-विदेशके बड़े-बड़े व्यापारी उसके यहाँ हीरे-पन्ने जवाहरात लेकर बेचने आते। जौहरी तो वह ऐसा था कि उसके द्वारा ऑकी गयी कीमतसे एक पाई भी अधिक मिलनेकी आशा करना व्यर्थ माना जाता था।

पांडू जौहरी एक दिन अपने रथपर सवार होकर पाटलीपुत्रसे वाराणसी आ रहे थे। बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे वे सुसज्जित थे। उनका सारथि भी मदमस्त एवं रोबदार था। अचानक उनकी दृष्टि एक साधुपर पड़ी, जो नीचा मुँह किये चला जा रहा था। साधुका सिर खुला था, वह पसीनेसे तर, दहकती रेतपर नंगे पॉव चल रहा था। पांडू जौहरी साधुकी शान्त, सौम्य एवं श्रान्त मूर्तिको निहार रहे थे। अनायास ही वे सोचने लगे, 'आह! बेचारा कितना दुखी है। क्यों न इसे रथमें बैठा लिया जाय।' साधुके समीप आते ही उन्होंने रथ ठहराया और साधुसे रथमें बैठनेकी नम्र प्रार्थना की। साधुने मौन स्वीकृति दी।

रथारूढ होनेके पश्चात् साधुने कहा, 'सेठ! आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की है। ईश्वर और गुरुकी कृपासे मैं आपके ऋणका बदला चुकाना नहीं भूलूँगा।'

सेठको यह सुनकर हँसी आ गयी। उन्होंने सोचा, 'इसके पास क्या है? एक लँगोटी। यह मेरा ऋण क्या चुकायेगा?' जीवनभर धनके विचारोंमें तन्मय रहनेवाले सेठको क्या पता था कि धन-दौलतके सिवा अन्य प्रकारसे भी मनुष्य अपने ऋणसे उऋण हो सकता है।

कुछ क्षण बाद साधुने एक दृष्टान्त दिया।

'एक पण्डित था। सभी शास्त्रोंमें वह पारगत था। उसे गर्व था कि ससारमें मेरे सीखने योग्य कोई भी विद्या अवशेष नहीं है। वह अपनी विद्वत्ताका सेहरा बाँधे देश-विदेशमें भ्रमण करता, पण्डितोंकी सभाओं एवं राजदरबारोंमें अपनी विद्वत्ताके चमत्कारोंसे सबको प्रभावित करता। उसका ऐश्वर्य इतना बढ गया कि नौकर-चाकर पानी पिलायें तो पीता, स्नान करायें, तब स्नान करता। दैवयोगसे एक बार उसके ग्रामको लुटेरोंने लूटा। पण्डितजीका घर भी बच न सका। जब लुटेरोंने पण्डितजीके घरको लूटना आरम्भ किया, तब पण्डितजी गला फाड़-फाड़कर उन्हें समझाने लगे—'अरे मूर्खो! तुम क्या कर रहे हो, इसका भी तुम्हें ध्यान है? मैं पण्डितवर्य हूँ। सभी शास्त्रोंमें पारगत हूँ। सैकड़ों सभाओंका विजेता हूँ।'

यह सुनकर पांडू जौहरी हँसी न रोक सके।

साधुने कहा, 'हँसने-जैसी ही बात है सेठ! जंगली लुटेरोंके सामने श्लोक वैसे ही रहे, जैसे—

'भैंसके आगे बीन बजाई भैंस लगी पगुराय॥'

लुटेरोंने सोचा—इसकी भाषा तो समझमें नहीं आती, पर इसके गलेमें चिल्लानेकी शक्ति अधिक है। अतः वे पण्डितजीके हाथ-पॉव बॉधकर अपने साथ ले गये। दूर जंगलके समीप एक सरोवरके बीच ऊसर टापू था। वहाँ पण्डितजीको अकेला छोड़कर लुटेरे चले गये।

लुटेरोंके जानेके बाद पण्डित पागलकी भाँति इधर-उधर भटकने लगा। पर कहीं उसे आश्रययोग्य स्थान न मिला। मध्याह्नतक तो पण्डितकी भूख प्रबल हो उठी। पर क्या खाय। आकुल-व्याकुल होकर वह बहुत मारा-मारा फिरा, पर क्षुधा शान्त करने लायक कुछ भी उसे प्राप्त न हुआ। तैरकर उस पार जाय तो कुछ प्राप्त हो सके। अब पण्डितको ध्यान आया कि वह तैरना नहीं जानता था। वह ससारके सभी शास्त्रोंमें पारगत हुआ पर तैरनेकी विद्यामें तो वह इस पार ही रह गया था। ढेरों विद्याओंमें निपुण वह पण्डित उस ऊजड़ टापूमें अपनी स्थितिपर ऑसू बहाने लगा। ठीक ही कहा है, 'मैं क्या हूँ और क्या नहीं, इसका गर्व करना व्यर्थ है। वास्तवमें तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।'

साधु मन्द-मन्द मुसकाने लगा। मार्गभर साधुने सद्धर्मके

ऐसे अनेक दृष्टान्त दिये और सेठ हाँ-हाँ करते हुए उन्हें चुपचाप सुनते रहे।

आगे एक सकरा मार्ग आया। रथ तीव्र गतिसे उड़ा जा रहा था कि मार्गमें एक बैलगाड़ी रेतमें फँसी दिखायी दी। गाड़ी चावलोंकी बोरियोंसे लदी थी। गाड़ीका एक पहिया गड्ढेमें फँस गया था। बेचारा कृषक अथक प्रयत्न कर रहा था, किंतु अत्यधिक बोझके कारण गाड़ी निकालनेमें सफल नहीं हो पा रहा था।

इस गाड़ीने सेठके रथको रोक रखा। गाड़ीवालेने सेठसे अनुनय-विनय की—'आपका सारथि थोड़ी सहायता करे तो अभी पहिया निकल जाय। बोरियोंका बोझ अधिक है।'

यह सुन सेठ लाल-पीले होते हुए बोले, 'बोरियोंका बोझ अधिक है तो फेंक दे। दुष्ट! शक्तिके उपरान्त बोझ भरता है और बैलोंको मारता है। ऐसे घातकियोंको तो सूलीपर चढ़ाना चाहिये।'

सेठने सारथिको आदेश दिया—'महादत्त! फेंक दे इसकी बोरियाँ और हटा दे गाड़ी। हम कहाँतक खड़े तरसते रहेंगे!'

गाड़ीवाला गिड़गिड़ाता रहा और महादत्तने बोरियाँ फेंक दीं ... उसने गाड़ी एक ओर ढकेलकर रथको तीव्र गतिसे हाँका।

रथ चला ही था कि उस साधुने कहा, 'सेठ! मैं यहीं उतर जाऊँगा। आपके ऋणसे उऋण होनेका अवसर मुझे अभी हाथ लगा है।'

सेठ दंग रह गये। उन्होंने पूछा—'इतनेमें आपको अवसर भी हाथ लग गया? पहले ऋण भी तो चढ़ने दीजिये।'

'ऋण तो बहुत चढ़ चुका है, सेठ!' साधुने कहा। 'इतना भी चुका पाया तो भगवान्‌की कृपा ही समझूँगा।' साधु रथसे उतरकर उस गाड़ीकी ओर चला।

सेठने पूछा, 'उस ओर कहाँ चले?'

साधुने कहा—'इस गरीब गाड़ीवालेका हाथ बँटाने ... मैं इसे सहायता देकर आपके ऋणसे उऋण होऊँगा।'

'यह कैसे सम्भव है?' सेठने पूछा।

'यह तो बहुत ही सरलतासे हो सकता है, सेठ! यह गाड़ीवाला आपका सम्बन्धी है, आपके सौभाग्यसे इसका भाग्य जुड़ा हुआ है।'

सेठने साधुकी बातको उपहास समझकर रथ चलानेका आदेश दिया।

(२)

बेचारा गाड़ीवाला 'इतनी बोरियाँ कैसे चढ़ाऊँगा ... समयानुसार वाराणसी कैसे पहुँचूँगा' इसी चिन्तामें घुल रहा था। निराशाने उसकी कमर तोड़ दी थी। इसी समय साधुने उसके समीप जाकर उसे धीरज बँधाते हुए कहा—'आओ, हम दोनों बोरियाँ चढ़ा दें।'

गाड़ीवालेको धीरज बँधी। सजल नेत्रोंसे वह बोला—'महाराज! ये वैभवशाली कितने दुष्ट हैं। दयाकी तो एक बूँद भी इनमें नहीं होती। सेठका मैंने क्या बिगाड़ा था जो इन्होंने मेरी बोरियाँ फेंकवा दीं।'

साधुने कहा—'भाई! पैसा मादक वस्तु है। शराबका नशा कदाचित् न भी चढ़े, किंतु धनकी मादकता प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। ऐसे धनके साथ अगर अज्ञानता मिल जाय तो फिर अवशेष ही क्या रहे? तू ही सोच! तू अगर इस सेठके स्थानपर रथपर चढ़कर जा रहा होता और मार्गमें किसी गरीबकी गाड़ी तेरा मार्ग रोकती तो तू क्या करता?'

गाड़ीवाला सोचने लगा। उसे स्मरण हुआ कि उसे अपनी अच्छी आमदनीका कितना गर्व था, किस प्रकार वह फूला-फूला फिरता था। एक बार छोटे भाईने उसकी सलाहकी अवगणना की थी ... कितना लाल-पीला हुआ था वह उसपर! इस सेठकी भी तो वही स्थिति थी। उसे अपना दोष स्पष्ट दीख पड़ा। हाथ जोड़कर उसने साधुसे कहा—'महाराज! आपने मेरी आँखें खोल दीं। मैं भी सेठके स्थानपर होता तो यही करता ... मैं मूर्ख हूँ, अज्ञानी हूँ, अभिमानी हूँ, किंतु प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे कभी ऐसा कृत्य नहीं करूँगा, जिससे किसीको दुःख पहुँचे।'

साधुने 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दिया और कहा—'दूसरोंके दोषोंको देखनेके पहले मानव यदि अपने गुण-दोषोंका विचार करे तो अवश्य ही पापसे बच जाय।'

बोरियाँ व्यवस्थित रख दी गयीं। गाड़ी आगे चली। थोड़ी ही दूर गये थे कि गाड़ीवालेको कुछ पड़ा हुआ

दीखा। नीचे उतरकर देखा तो स्वर्ण मुहरोंकी भरी थैली थी। गाड़ीवालेने साधुकी ओर देखा। साधुने कहा—'उठा ले ज्ञात होता है उस सेठकी गिर पड़ी है। काशी जाकर उस सेठको दे देना। यह कभी न भूलना कि उस सेठके भाग्यसे तेरा भाग्य भी जुड़ा हुआ है।' और तब साधुने उसे उस सेठका पता बताया। थोड़ी दूर जाकर साधु अलग हुआ और गाड़ीवाला काशी पहुँचा।

(३)

काशीमें मल्लिक नामक एक व्यापारी था। उसने काशि राजको उच्च श्रेणीके चावलोंकी कुछ बोरियाँ पहुँचानेका सौदा किया था। आज अवधि समाप्त हो रही थी। अभीतक चावलोंका पता नहीं था। शहरमें भी कहीं चावल उपलब्ध नहीं थे; क्योंकि उसके प्रतिस्पर्धीने नगरके सारे चावल खरीद लिये थे। वह अब मल्लिकसे मनमाना मूल्य लेना चाहता था। इस विपत्तिसे त्राण पानेका मार्ग प्राप्त करने वह अपने घनिष्ठ मित्र पाडू जौहरीके पास गया। उसने पाडूसे कहा—'मेरे चावलोंकी गाड़ी आज पहुँचनी चाहिये थी; पर न जाने क्यों अभीतक नहीं पहुँची। हाय मैं लुट गया अब मैं क्या करूँ?' एक दीर्घ निःश्वास मल्लिकके मुँहसे निकल गया। पाडूको उस गाड़ीकी याद आयी। उसने कहा, 'मार्गमें मुझे चावलोंकी बोरियोंसे लदी एक गाड़ी मिली थी; किंतु वह कब पहुँचे, कह नहीं सकता। मैंने उस गाड़ीपरसे सभी बोरियाँ नीचे फेंकवा दी थीं। अकेला गाड़ीवाला कब सारी बोरियाँ चढा पायेगा और कब पहुँचेगा?'

मल्लिकने कहा—'यह क्या कहते हैं आप? मेरे घनिष्ठ मित्र होकर भी आपने मेरे चावल फेंकवा दिये! यह क्या किया आपने?'

'किंतु मैं क्या जानता था कि एक अपरिचित गाड़ीवालेको विपत्तिमें डालते हुए मैं अपने ही मित्रपर वज्राघात कर रहा हूँ।' जौहरीने कहा।

'मुझे जब मेरे प्रतिस्पर्धीसे मुँहमाँगे दाम देकर चावल खरीदने पड़ेंगे किंतु इतना नकद मेरे पास कहाँ है?' मल्लिकने कहा।

नकदका नाम सुनते ही सेठको अपनी स्वर्ण मुहरोंकी थैलीका ध्यान आया। घर पहुँचकर उसे रथसे तो उतारी नहीं थी, फिर गयी कहाँ? क्षणभरमें तो सेठके होश-हवास हवा हो गये। 'हाय! मेरी जीवनभरकी कमाई धूलमें मिल गयी। मैं दर-दरका भिखारी हो गया।'

मल्लिक आपत्तिमें सान्त्वना प्राप्त करने पाडूके पास आया था, किंतु अब पाडूको ही सान्त्वना देनेका अवसर उपस्थित हुआ। श्रीमत मानकर जिसके सामने मल्लिकने हाथ पसारा था, वह स्वयं भिखारी निकला!

पाडूको अब सुध-बुध न रही। पागलकी भाँति वह चिल्लाने लगा। सारथि महादत्तको बुलाकर उसे आड़े हाथों लिया—'दुष्ट! रथमें मेरी थैली कहाँ अदृश्य हो गयी?' महादत्तको थैलीके विषयमें कुछ भी ज्ञात होता तो जवाब देता। उसे मौन देखकर सेठकी आँखोंसे अंगारे बरसने लगे। सेठने उसपर चोरीका आरोप लगाकर कोतवालको सौंप दिया। कोतवालने महादत्तको बुरी तरह पीटा। निरपराध बेचारे महादत्तकी बुरी गति हुई।

यहाँ इस प्रकार कुहराम मची थी कि दूसरी ओर वह गाड़ीवाला पाडू जौहरीका पता पूछता हुआ आ पहुँचा। उसने स्वर्ण-मुहरोंकी थैली सेठको सौंपते हुए कहा—'इस थैलीको सँभाल लीजिये।' सेठके आश्चर्यकी सीमा न रही। वे गाड़ीवालेकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते रहे।

उन्हें अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हो रहा था। वे सोच रहे थे—'जिसकी बोरियाँ फेंकवा दी थीं, यही वह गाड़ीवाला है? वही क्या मुझे उपकृत कर रहा है?' हर्षके आवेगमें सेठने गाड़ीवालेको गलेसे लगा लिया और बोले—'भाई! तूने मेरी लाज रख ली।'

गाड़ीवालेने कहा—'सेठ! यह सब उस साधु पुरुषके सदुपदेशोंका परिणाम है। मैं तो उनके साथ केवल दो डग ही चला हूँ, इतनेमें ही उन्होंने ज्ञानके प्रकाशसे मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि मेरा भाग्य आपके भाग्यसे जुड़ा है।'

यह सुनकर सेठ चौंके। उन्हें स्मरण हुआ कि इसी प्रकारके शब्द साधुने उनसे भी कहे थे। किंतु धनके मदमें उन्होंने इस ओर ध्यानतक नहीं दिया था। उन्हें उस पण्डितका दृष्टान्त भी याद आया।

'मैं क्या हूँ और क्या नहीं, उसका गर्व व्यर्थ है। वास्तवमें देखा जाय तो मैं कुछ भी नहीं हूँ।' ये शब्द साधुने उन्हें ही सम्बोधित करके कहे थे, ऐसा उन्हें प्रतीत होने लगा।

क्षणोंमें ही समस्त वातावरणमें अनोखा परिवर्तन हो गया। पाड्डू सेठ सिर पीटते थे · वे हँसने लगे। मल्लिकके हर्षकी सीमा न थी। उसकी बात रह गयी। थैली मिलनेसे सेठकी प्रतिष्ठा टिक सकी। महादत्त निर्दोष सिद्ध हुआ और कारावाससे मुक्त हुआ।

(४)

पाड्डू जौहरी विचारमग्न हुए—'जिस साधुके क्षणिक सहवाससे मेरा इतना उपकार हुआ, उसका चिर सहवास तो अवश्य ही महान् लाभप्रद होगा।'

इसके पहले उन्हें कभी साधु-सतोंकी शरण लेनेका विचार-तक नहीं आया था। किंतु आज उनके हृदय-तलमें अनोखी तरगें उठ रही थीं। जिस साधुके क्षणिक सहवाससे गाड़ीवालेने स्वर्ण-मुहरोंका मोह त्याग दिया, वह साधु कितना तेजस्वी होगा। मैं उससे अवश्य मिलूँगा। साधुके दर्शनोंके लिये सेठ व्याकुल हो उठे।

पाड्डू जौहरीने साधुकी खोजमें प्रस्थान किया और साधुको पाकर ही उन्हें शान्ति हुई। साधुके चरणोंमें सिर रखकर बोले—'देव! मुझे ज्ञानामृतका दान देकर कृतज्ञ कीजिये।'

साधुने कहा—'अब क्या उपदेश दूँ! जो उपदेश देना था, वह तो दे चुका। फिर भी सुनो—'यह कभी न भूलो कि तुम्हारी ही भाँति सुख-दुःखका अनुभव दूसरेको भी होता है। अन्य तुम्हारे साथ किस प्रकार व्यवहार करें कि तुम्हें आनन्द हो—इसका विचार करके ही उनके प्रति व्यवहार करना। परोपकारका एक भी अवसर हाथसे न जाने देना। · · खेतमें बोये हुए सभी बीज नहीं फलते, परतु जीवनमें बोये हुए सत्कर्मोंके बीजोंमें एक भी व्यर्थ नहीं जाता।'

सेठने कहा—'महाराज! अन्योंका विचार करनेका आदेश आपने मुझे दिया; किंतु मेरा प्रथम कर्तव्य क्या हो · अपनेको सम्हालना या अन्यको? अन्योंकी सख्या भी तो असख्य है और यदि मै दूसरोंके कार्यमें हस्तक्षेप करूँ तो वे उसे कैसे स्वीकार करेंगे।'

साधुने कहा—'सेठ! स्वयको सम्हालना ही प्रथम कर्तव्य है · · 'स्वय' का अर्थ अपने आत्मासे है। शरीरसे आत्मा श्रेष्ठ है। आत्माको नरकमें ढकेलकर · · खान-पान, राग-रग, भोग-विलासमें डूबे रहकर शरीर नहीं सम्हाला जाता। केवल शरीरको रखनेसे आत्मा नहीं रहता; परतु आत्माको सम्हालनेसे शरीर रहेगा · एक रूपमें नहीं तो दूसरे रूपमें। शरीर आत्माके अधीन है। आत्मा अमर और स्वाधीन है! शरीरकी ओर कम ध्यान देकर मानव जितना आत्माकी उज्ज्वलताकी ओर अग्रसर होगा, उतना ही अधिक वह दूसरोंकी सहायता कर सकेगा। आत्माद्वारा ही स्थायी उपकार सम्भव है। एक आत्माकी सहस्रों रश्मियाँ अन्य सहस्रों आत्माओंके प्रवेशद्वार खोल देती हैं। श्रद्धा एव विश्वास रखो कि तुम उन लाखों करोड़ों, अनन्तोंको सम्हाल सकोगे। इसमें अन्योंके कार्यमें हस्तक्षेप करनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऐसी कल्पना भी भ्रम है, क्योंकि इसमें 'मैं' और 'अन्य' का भेद ही लुप्त हो जाता है। 'मैं' और 'अन्य' के मध्य एक सूक्ष्म पर्दा है, जो दोनोंको विभिन्न रूपोंमें प्रदर्शित करता है। यही माया है। मानव अपना अर्थात् आत्माका कल्याण सोचे और उसीके अनुसार आचरण करने लगे तो उसकी ओजस्वितासे वह पर्दा अदृश्य होने लगता है। और तब 'मैं' और 'अन्य' का भेद नहीं रह जाता।'

पाड्डूने पूछा—'भगवन्! सुखका सरल मार्ग क्या है?'

साधुने कहा—'सरल मार्ग तो ज्ञात नहीं है। हाँ, सीधा और सच्चा मार्ग अवश्य ज्ञात है। दूसरोंको सुखी-सम्पन्न बनाने और सुखी देखनेमें जो आनन्द है, वही वास्तविक सुख है। यही सुखका एकमात्र सीधा मार्ग है।'

पाड्डू सेठने कहा, 'किंतु कई लोग हमारा अहित सोचते हैं। इसका उपाय?'

साधुने कहा—'यदि कोई अहित सोचे तो सोचने दो। अन्य यदि कीचड़में अपने हाथ मैले करते हैं तो आप भी करेंगे क्या? दूसरे हमारा अहित कर रहे हैं, ऐसी मान्यताकी भी क्या आवश्यकता है! मनुष्यका अहित वह स्वय करता है, अन्य कोई नहीं। आप अपने कर्तव्यानुसार सदैव अपना और अन्योंका हित सोचिये। न्यायका कार्य कर्मके नियमों-पर छोड़िये।'

'कर्मका नियम क्या है, महाराज!'

'कर्मके नियमका अर्थ है क्रिया और प्रतिक्रियाका नियम बीज और फलका नियम। मानव-मानसशास्त्रकी नींवमें और जगत्के शुद्ध एव सर्वोच्च व्यवहारमे इस कर्मका नियम निहित है। इस नियमके अनुसार जिन किन्हींके साथ आप क्षणिक सम्बन्ध रखते हैं, वे सभी आपको थोड़ा बहुत प्रभावित किये बिना नहीं रहते। एक बार प्रभावित कर

जानेवाला मनुष्य पुनः मिलता है तो उसका प्रभाव दृढ बन जाता है। यही प्रभाव 'संस्कार' कहलाता है। यह प्रभाव स्थूल शरीरपर नहीं पड़ता, बल्कि सूक्ष्म शरीरपर पड़ता है। प्रभाव जितना ही अधिक गहरा होगा, उतना ही अधिक स्थायी होगा। एक बार दृढ प्रभाव डाल जानेवाला व्यक्ति सौ वर्ष पश्चात् मिले, तो भी शीघ्र ही पहिचाना जाता है।'

'यह क्योंकर सम्भव है, स्वामी?'

साधु मधुर स्मितके साथ बोले—'आपका ही दृष्टान्त मैं देता हूँ। उस दिन रथमें बैठानेके लिये आपने मुझे क्यों बुलाया था?'

'आपको प्रखर धूपमें चलते देखकर मेरी दया उमड़ पड़ी थी।'

'इस प्रकार धूपमें चलते हुए पहले कभी क्या आपने किसीको नहीं देखा? प्रत्येक प्रसङ्गपर प्रत्येकको रथमें बैठानेके लिये कभी आपने कहा था? या बताइये, वह गाड़ीवाला कितना संकटग्रस्त था, उसपर आपको दया क्यों नहीं आयी? उसकी बोरियाँ फेंकवा देनेकी ही इच्छा आपको क्यों हुई?'

'कुछ भी समझमें नहीं आता, देव!'

'सुनो, मुझे देखकर दया और गाड़ीवालेको देखकर क्रोध उत्पन्न होनेका एकमात्र कारण हमारा आपके सूक्ष्म शरीरपर डाला हुआ प्रभाव ही है। उत्तम प्रभावका परिणाम प्रेम ममता एवं बुरेका फल रोष ही है।'

'किंतु मैंने जीवनमें न तो कभी आपको देखा है और न कभी उस गाड़ीवालेको ही! फिर यह प्रभाव पड़ा कब?'

साधुने मधुर हास्य करते हुए कहा—'पहले'''बहुत पहले'''इस जीवनके पहले पड़ा हुआ यह प्रभाव है।'

पाहू जौहरी मूढवत् सुनते रहे। क्षणभरके लिये तो उनके नेत्र भी मुँद गये मानो वे अपने पूर्वजन्मकी कर्मकथा मानसपटलपर पढनेका प्रयास कर रहे हों।

साधुकी शान्त-स्वस्थ वाणी पुनः सुनायी दी। वे बोले—'सेठ! अतीतके सँकरे मार्गमें ज्ञानदीप लेकर धीरे-धीरे मार्ग ढूँढते जाना एक दिन सर्वस्व प्राप्त हो जायगा। किंतु वर्तमानमें तुम कहाँ स्थित हो और भविष्यके असंख्य गली-कूचोंसे तुम्हारा मार्ग किस गलीसे गुजरता है, उसे ठीक-ठीक समझ लेना, भूलना नहीं।'

साधुको वन्दन कर पाहूने प्रस्थान किया।

(५)

पाहू जौहरी अब साधु-संतोंकी ओर अत्यधिक आकर्षित हुए। कौशाम्बी नगरीमें उन्होंने एक सुन्दर विहार बनवाया, जहाँ साधु-संत एवं श्रमण रह सकें, तत्त्वचिन्तन कर सकें। देशके कोने-कोनेसे साधु-संत उस विहारमें आकर बसने लगे। पाठशालाएँ प्रारम्भ हुईं। आठों पहर धर्मशास्त्रोंका अध्ययन होने लगा। विद्वानोंके विवाद एवं ब्रह्मज्ञानियोंके अनुभवपूर्ण तर्क सुनायी पड़ने लगे। चित्रकार साधु-विहारकी दीवारोंपर धार्मिक चित्र चित्रित करने लगे। शिल्पकार, कलाकार अपनी भक्तिको पाषाणोंमें मूर्तरूप देने लगे। कवि लोकभाषामें कथानक रचने लगे। देखते-देखते तो कौशाम्बीका विहार संस्कृतिका आगार बन गया।

(६)

पाहू जौहरीका सारथि महादत्त चोरीके अपराधसे मुक्त तो हुआ, परंतु निर्दोष होते हुए भी सेठने उसपर आरोप लगाया और सताया था। अतः वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसमें प्रतिहिंसाकी भावना इतनी प्रबल हो गयी कि वह गाँव छोड़कर जंगलोंमें चला गया और लुटेरोंकी एक टोलीका सरदार बना। पथिकोंको लूटकर अपनी जीविका चलाने लगा।

पाहू जौहरीसे बदला लेनेकी धुन उसपर सवार थी और उसे एक दिन अवसर भी हाथ लग गया। पाहू जौहरीने एक राजाके लिये एक मुकुट एवं अन्य अलंकार बनवाये थे ''''' अपने अङ्गरक्षकोंको साथ लेकर वे राजाको आभूषण देने जा रहे थे।

सेठको इस सौदेमें अत्यधिक आमदनीकी आशा थी। जीवनका यह अन्तिम सौदा था। इसके बाद समस्त जीवन सत्सङ्गतिमें व्यतीत करनेका उन्होंने दृढ संकल्प किया था।

लुटेरे महादत्तको सूचना मिली कि पाहू जौहरी इसी जंगलके मार्गसे जा रहा है। प्रतिहिंसाका इससे उत्तम अवसर और क्या प्राप्त होगा? उसने अपने साथियोंको तैयार किया और अचानक सेठपर आक्रमण कर दिया। लुटेरोंके अचानक आक्रमण और प्रबल शक्तिके आगे सेठके अङ्गरक्षकोंके पैर उखड़ गये। लुटेरोंने सेठका सारा माल लूट लिया ' सेठके पहने हुए सभी अलंकार उतरवा लिये। महादत्तने सेठके वक्षःस्थलपर लात मारी और रथसे फेंकते हुए कहा—'दुष्ट! नारकी कुत्ते! उस दिन विश्वासपात्र महादत्तपर चोरीका

मिथ्या आरोप लगाते हुए तुझे लज्जा न आयी।' महादत्त अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित हुआ।

सेठने महादत्तको पहिचाना। वे बोले—'क्या तू मुझसे बदला ले रहा है? मुझे दर-दरकी ठोकरें खाते देखना चाहता है?'

महादत्तने कहा, 'तूने यह मेरी कैसी हालत बना दी है! न खाने-पीनेका पता है न घर-द्वारका ठिकाना है। पेड़ोंके नीचे पड़े रहना, पत्थरोंका सिरहाना लेना, निरपराध पथिकोंको लूटना, उनके प्राणोंका प्यासा बने रहना! तूने मेरी वनमानुषीसे भी हीन हालत बना डाली है।'

भयभीत पांडू सेठने कहा—'यह कुकृत्य करना छोड़ दे, महादत्त!' 'छोड़ दूँ? छोड़ दूँ तो भूखा न मरूँ? प्रतिष्ठापूर्वक जीवन-यापन करनेके सभी मार्ग अब मेरे लिये बंद हो चुके हैं। पकड़ा जाऊँ तो फाँसी दिये बिना मुझे कौन छोड़ेगा?' 'मैं तेरे अपराध क्षमा करवा दूँगा मेरे घर रखूँगा' सेठने कहा। महादत्त बोला, 'तुम्हारी दयाकी ही तो यह बलिहारी है! एक बार तुम्हारी सेवा करनेका परिणाम मैं भुगत रहा हूँ, दुबारा उसका आनन्द लेना नहीं चाहता। अब मुझे तुमपर विश्वास नहीं रहा। साथ ही मैं अपने कर्तव्यपरायण साथियोंको छोड़ना भी नहीं चाहता। तुम्हारी तरह स्वार्थान्ध मैं नहीं हूँ।'

सेठको वहाँ कराहता छोड़ महादत्त अपने साथियोंके साथ लूटका माल लेकर अरण्यमें अदृश्य हो गया।

साधुके शब्द सेठकी आँखोंके आगे अङ्कित होने लगे—'दूसरोंको सुखी, सम्पन्न देखनेमें जो आनन्द है, वही वास्तविक सुख है। तुम अपने कर्तव्यानुसार प्राणिमात्रका हित सोचो। न्यायका कार्य कर्मके नियमपर छोड़ो। 'मैं' एवं 'अन्य' के मध्य मायाका आवरण है। आत्माकी उज्ज्वलताकी ओर ध्यान दो। आत्मोन्नतिके आलोकके आगे वह आवरण अदृश्य होने लगेगा।' क्षणभरमें ही सेठका क्रोध पानी हो गया। वे भली प्रकार समझ सके कि उन्हें अपने ही कृत्योंका परिणाम भुगतना पड़ रहा है। महादत्तके जीवनपर जो प्रभाव अङ्कित हुआ है, वही बोल रहा है। यही बुरा प्रभाव है। यदि उसे भलीप्रकार प्रभावित किया जाय तो बुरे प्रभावकी शक्ति क्षीण हो जायगी। उन्होंने कोतवालको लूटकी सूचना नहीं देनेका संकल्प किया। 'मैं किसीका नाम नहीं लूँगा, चाहे मुझे मेरे धनकी फूटी कौड़ी भी न मिले। भले ही वे मेरे धनका सुखसे उपभोग करें। जबतक वह धन रहेगा, तबतक तो वे दूसरोंको नहीं सतायेंगे। इस प्रकार मेरा धन असंख्य मानवोंके भावी दुष्कर्मोंको रोकने एवं असंख्य अज्ञात निर्दोषोंको बचानेमें कारणरूप होगा।' इस सदुपयोगसे सेठको संतोष हुआ। उन्हें एक अलौकिक सुखका अनुभव हुआ। एक अद्भुत रहस्य ज्ञात हुआ! 'त्यागमें जो सुख निहित है, वह भोगमें नहीं है। दूसरोंको देनेमें जो सुखकी अनुभूति प्राप्त होती है, वह भंडार भरनेमें नहीं होती!' शान्तचित्त सेठने घरकी ओर प्रस्थान किया!

(७)

महादत्तने जिन्हें अपना कर्तव्यपरायण एवं ईमानदार साथी कहकर सम्बोधित किया था, उन्हींके साथ उसका कुछ दिनों पश्चात् कलह हो गया। उस लूटके मालके विषयमें ही यह कलह था। समस्त धन महादत्तने एक गुप्त स्थानपर गाड़ रखा था। उसके अतिरिक्त अन्य किसीको उस स्थानकी जानकारी नहीं थी। अभी उस धनको बाहर निकालनेकी उसकी इच्छा नहीं थी। उसके साथी अपनी माँगपर दृढ थे। 'हमारा हिस्सा लेकर ही हम घर जायेंगे, बाल-बच्चोंके साथ रहकर सुखसे जीवन-यापन करेंगे।' महादत्त कहता—''अभी नहीं। अभी धन निकालनेसे पकड़े जानेकी सम्भावना है।' साथियोंने कहा, 'तू झूठा है। सारा धन 'तू' ही हड़प जाना चाहता है।''

महादत्तने सेठको स्वार्थान्ध कहा था। आज उसके ही साथी उसे हेठी गालियाँ दे रहे थे। महादत्त हृष्ट-पुष्ट था, गुस्सेका तेज था। बात बढी और पलभरमें ही हथियार उछलने लगे। एक ओर महादत्त और दूसरी ओर उसके ईमानदार साथी! महादत्तने अपना हाथ दिखाया। पाँच-सातको तो पलभरमें उसने धराशायी कर दिया, अन्य प्राण लेकर भागे। वह स्वयं भी अत्यधिक घायल हो चुका था। युद्धकी उष्णता शान्त होते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ा।

दैवयोगसे वे दयानिधान साधु भी इसी वनमार्गसे जा रहे थे। अचानक मारकाटकी आवाज सुनकर वे प्राणोंका मोह त्यागकर उस ओर मुड़े। महादत्तके साथी भाग गये थे और वह मूर्छित अवस्थामें पड़ा था। साधुने लाशोंके ढेरपर करुण दृष्टि डाली और एकमात्र जीवित लाश महादत्तके समीप आये। उसका सिर अपने अङ्कमें लिया और कमण्डलुसे उसे पानी पिलाने लगे।

कुछ क्षण पश्चात् महादत्त होशमें आया। उसने आँखें

खोलीं। एक सौम्य, शान्त और श्रान्त मूर्ति उसकी सेवामें तत्मय थी। उनके नेत्रोंसे प्रेम निर्झर रहा था। महादत्तको स्वरूप कुछ परिचित ज्ञात हुआ। साधुने शान्त स्वरमें कहा, 'मकड़ीके जालके एक सूत्रका अवलम्ब लेकर भी मानव नरकसे बच सकता है। इसलिये जीवनमें कोई सत्कर्म किया हो तो उसका स्मरण कर, उस सुकृत्यमें ही मनको केन्द्रित कर।'

अति मन्द एव लड़खड़ाती वाणीमें महादत्तने कहा— 'सत्कर्म तो कभी कोई किया ही नहीं। स्मरण कहाँसे करूँ भगवन् ? किंतु ज्ञात होता है जाने-अनजाने कभी कोई सुकृत्य अवश्य हो गया है। नहीं तो आज अन्तिम समय आपके अङ्कमें सिर रखकर मरनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकता ?' साधुने कहा—'तू धन्य है भाई!' यह तेरा सौभाग्य है कि जिस रहस्यको मै पाढू जौहरीको नहीं समझा सका, उसे तूने सहजमें ही समझ लिया।'

पाढू जौहरीका नाम सुनते ही महादत्त चौंका! वह बोला, 'पाढू जौहरी ? काशीके पाढू जौहरी ? कौशाम्बीके विहारके अधिष्ठाता ? आप उनसे परिचित हैं ? आप उन्हें क्या समझा रहे थे ? कहिये 'कहिये, मुझे उनसे आवश्यक कार्य है।' बोलते बोलते वह उत्तेजित हो गया। 'साधुने कहा—'हाँ वे ही काशी ' 'कौशाम्बीवाले पाढू जौहरी ! एक बार मुझे धूपमें नंगे पैर चलते देखकर उन्होंने अपने रथमें बैठा लिया था। मार्गमें एक गरीब गाड़ीवालेको देखकर उन्हें क्रोध हुआ था। स्वर्णमुहरोकी थैली गँवा बैठनेपर निर्दोष सेवक महादत्तपर चोरीका आरोप लगाया था। मैं उन्हें इसका कारण समझा रहा था '

'निर्दोष महादत्त ?' महादत्त बोल उठा। 'महाराज! अब मैं आपको पूर्णतया पहचान पाया हूँ। क्या वास्तवमें वह महादत्त निर्दोष था ?'

'हाँ,उस चोरीतक तो वह निर्दोष था। ' साधुने कहा।

'चोरीतक ही ?' महादत्त गुनगुनाया। 'किंतु महाराज! प्रहार किये बिना कभी आघात नहीं होता। उसी प्रकार उस महादत्तने कभी कोई दुष्कर्म तो किया ही होगा। उसके बिना उसपर यह दोषारोपण सम्भव नहीं।'

'मेरे कहनेका भी यही तात्पर्य है और यही रहस्य मैं सेठको समझा रहा था। हमारी दृष्टि सदैव फलको ही निहारती है। बीज तो पृथ्वीमें होता है। वह इतना अदृश्य होता है कि ढूँढनेपर भी नहीं मिलता, परतु प्रखर प्रतिभावान् विद्वान् कहते हैं कि उसका अस्तित्व अवश्य है। पाढू यह बात न समझ सका, किंतु ज्ञात होता है कि तू यह बात ठीक तरह समझ सका है।'

रक्तमें सने हुए हाथोंको कठिन परिश्रमसे जोड़ते हुए महादत्तने कहा, 'भगवन्! दया कीजिये। आशीर्वाद दीजिये कि मैं पूरी बात समझ सकनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ।'

साधुने 'तथास्तु' कहकर आशीर्वाद दिया।

महादत्तने पुनः कहा, 'मैं ही पाढू जौहरीका अभागा सेवक महादत्त हूँ, परतु आज आपका आशीर्वाद प्राप्त कर सुभागी हूँ। पाढूसे बदला लेने मे लुटेरा बना। अनेकों निर्दोषोंके प्राण लिये—लूटा और आतङ्क फैलाया। सेठको भी लूटा और घायल किया तथा अन्तमे मेरी यह स्थिति हुई। मेरी इस स्थितिके लिये मैं स्वय ही उत्तरदायी हूँ। मैं स्पष्ट देख सकता हूँ कि मेरे हाथों बोया गया बीज ही आज पुष्पित और फलित हुआ है।'

महादत्तने क्षणभर नेत्र मूँद लिये और तब साधुके सौम्य मुखपर नेत्र स्थिर करते हुए वह बोला, 'प्रभो! पाढू जौहरीका समस्त धन मैंने एक स्थानपर सुरक्षित रखा है। मेरे सिवा अन्य कोई उस स्थानसे परिचित नहीं है। उसे कहिये, वहाँसे वह ले जाय।' उसने साधुको गुप्त स्थान बताया।

''पाढू जौहरीसे कहना कि 'महादत्त आपको याद करता था। यदि दैवयोगसे कभी भेंट हो तो उसे पहिचानना न भूलना। उसे अपने घर सेवक रखनेका आपने वचन दिया है।'' बोलते-बोलते उसने नेत्र मूँद लिये और गुनगुनाया, 'सेठ! मैं तुम्हारे ही घर आऊँगा।'

साधुने देखा तो महादत्तके प्राणपखेरू उड़ चुके थे। कौशाम्बी जाकर साधुने पाढू जौहरीको पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। सेठने महादत्त और उसके साथियोकी विधिपूर्वक दाह-क्रिया की, निर्देशित स्थानसे धन प्राप्त किया और राजाको बेचकर उत्कृष्ट लाभ प्राप्त किया। समस्त सम्पत्ति पुत्र-परिवारको सौंपकर पाढू जौहरीने विहारमें वास किया और शेप जीवन ईश्वर-भक्ति एव लोकसेवामें व्यतीत करने लगे।

(८)

पाढू जौहरी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। उनकी शय्याको साधु-मण्डली घेरे बैठी थी। एक साधु उनके सिरहाने बैठे थे। उनके मुख-कमलपर शान्त स्मित दीप्त था। पाढू सेठ नेत्र मूँदे कुछ चिन्तन कर रहे थे।

साधुने पूछा, 'बन्धुवर ! क्या चिन्तन कर रहे हो ?' उसी प्रकार अविचल भावसे पांडूने उत्तर दिया—'अध्ययन कर रहा हूँ ।'

साधुमण्डली ध्यानपूर्वक सुनती रही। वातावरणकी नीरवतामें हृदयका स्पन्दन भी स्पष्ट सुनायी पड़ता था।

पांडूकी क्षीण वाणीने स्तब्धता भङ्ग की। 'दया ! क्या ही अद्वितीय दया है ! ऐसे भीषण अन्धकारमें मुझे मार्ग उपलब्ध हुआ ही कैसे ? इतने पापकर्मोंके उपरान्त भी यह अनुपम शान्ति मुझे प्राप्त हुई ही कैसे ? ओह ! वह मैं हूँ ! कितना बर्बर ! कितना घातक ! हाय, बेचारेके मैंने प्राण लिये और मैं भाग गया! पुन: मैं लौटा ! मैंने चोरी की और दूसरेपर दोषारोपण किया ! ओह ! फिर मैं आया ! इस समय प्रतिहिंसाकी अग्निमें मैं दहक रहा हूँ। मेरे रोम-रोममें हिंसा व्याप्त है। रात्रिके भीषण अन्धकारमें मैंने उसके घरमें आग लगा दी। उसकी लहलहाती फसल जला दी ! उसके स्त्री-बच्चोंको दर-दरकी ठोकरें खानेपर विवश कर दिया। ओह ! पुन: मैं लौटा ! इस बार मैं मेरे ही स्त्री-बच्चोंको निरीहावस्थामें छोड़कर चला गया। मैं किसी अन्यके अपराधका भागी बना और मेरे हाथ-पैर काट डाले गये। मैं कुत्तेकी मौत मारा गया। इस बार मैं राजकुमार होकर लौटा। वैभवके मदमें मैंने अकारण ही सेना इकट्ठी की और विश्वविजयी बनने चला। असंख्य निरपराधोंके प्राणोंका मैं प्यासा ··· ! उनके प्राण लेकर अपनी पिपासा शान्त करनेका असफल प्रयत्न किया। मैंने रक्तकी वैतरणी प्रवाहित कर दी। किंतु मैं हारा ···कैद हुआ और हाथीके पैरोंतले कुचला गया। ओह ! क्या ही अनुपम दया है !'

साधुने धीरेसे कहा, 'सहोदर ! रक्तमें करुणा··· दया दीखती है !' पांडूने कदाचित् साधुके शब्द नहीं सुने। उनकी वाग्धारा आगे प्रवाहित हुई, 'आह ! क्या ही अद्वितीय दया है ! मैंने किसी अन्यको नहीं मारा, मैंने मेरे ही प्राण लिये हैं। मैंने किसी अन्यका घर नहीं जलाया, मेरा ही घर जलाया है। मैं किसी अन्यके अपराधमें नहीं अपितु अपने ही अपराधसे दण्डित हुआ हूँ। मैंने किसीसे बदला नहीं लिया, अपनेसे ही लिया है। मुझे किसीने हाथीके पैरोंतले नहीं रौंदा, मुझे किसीने नहीं छला—मुझे किसीने नहीं मारा, नहीं सताया, मुझे किसीने भूखा-प्यासा नहीं रखा, वर मैंने ही अपने पैरोंपर स्वयं कुठाराघात किया है। सब कारणोंका मैं ही मूल-कारण हूँ। मैं अधम हूँ ! अहंकार ही अध:पतन है। अहम् ही अवनति है। इसी 'मैं' ने मेरे नेत्रों पर अज्ञानताके अन्धकारकी पट्टी बाँधकर मुझे ठोकरें मारी हैं।'

क्षणभर रुककर पुनः बोले—'दया, दया है। अन्धकारमें भी हीरेकी चमक छिपी नहीं रहती। उसी प्रकार कुकृत्यों, पापकर्मोंके ढेरमें डूबा हुआ मेरा तृणसम सत्कर्म सहस्रों वर्षोंके अन्धकारमें भी चमक रहा है। ओह ! देखते-ही-देखते तो उस बीजसे सघन वट-वृक्ष बन गया ! जो धूलमें मिल गया था, वही आज विशाल बनकर सिर ऊँचा किये स्थित है ! धन्य है, मेरे साधु ! क्या ही अद्भुत तेरी करुणा है !'

'प्रथम जब आप मेरे द्वारपर पधारे, तब मुझ अज्ञानीने आपको धक्के देकर निकाल दिया, परंतु पीछे मुझे क्षोभ हुआ। पुन: आप मेरे अनाथ सहोदर बनकर अवतरित हुए, उस समय मैंने आपको रूखी रोटी दी। देनेयोग्य बहुत कुछ था मेरे पास, पर, मैंने आपको कुछ भी न दिया !'

'तीसरी बार आप पधारे मेरे घर पुत्र-रत्न बनकर—मेरे कुल-दीपक होकर ! किंतु इस बार आपको देनेके पहले ही मेरा सर्वस्व लुट गया और मैं कुछ भी न दे सका ! चौथी बार आप आये, हम झगड़ पड़े, ··· किंतु विजय आपके पक्षमें रही ! मैं हारा ! पुनः आप अवतरित हुए ! मैंने कहा, 'आप लोभी हैं, लालची हैं, कृपण हैं। केवल लेते ही हैं, देते कुछ भी नहीं।' परंतु आज मैं सम्पूर्णतया समझ सकता हूँ कि लोभी, लालची, कृपण आप नहीं, मैं हूँ !'

'पुनः आप आये, क्षणभर आप मेरे रथमें विराजमान हुए। इतनेमें तो आपने मेरे समस्त आयुष्यको निरख-परख लिया। भगवन् ! अब नहीं पढ सकता ! सर्वत्र प्रबल प्रकाश फैल गया है। अब अधिक अध्ययनकी उत्कण्ठा भी नहीं ! ·· ··अग्निकण अग्नि बन गया है। अब वह अग्निकण नहीं, प्रबल अनल है। वह महान् है ! वह धन्य है !'

साधुने पांडूके सिरपर अपना आनन्ददायक कर-कमल रखा और स्वेद पोंछा।

पांडूने कुछ क्षण पश्चात् नेत्र खोले। क्षणभर पहले हुए साक्षात्कारका दिव्य आनन्दालोक उनके नेत्रोंसे झलक रहा था। उन नेत्रोंमें अनुपम शान्ति थी—स्वस्थता थी।

साधुने पांडूका हाथ अपने हाथमें लेते हुए, साधुमण्डलीसे कहा,—'आज बन्धुको सम्यक् दर्शन लाभ हुआ है ! बन्धुको अर्हत्-पद उपलब्ध हुआ है।'

क्षणभर पश्चात् पांडूने नेत्र मूँद लिये।

साधुमण्डलीने भगवान्‌का गुणानुवाद किया।

शरीर ही मनुष्यका गृह है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'तुम साधु क्यों नहीं हो जाते ?' उनका स्नेह था मुझपर। वे सम्मान्य विद्वान् थे। उनके नामके साथ न्याय-सांख्य-वेदान्ततीर्थ लिखा जाता था। साधुओंका एक बड़ा समुदाय उनमें श्रद्धा रखता था। वे मण्डलीश्वर थे, क्योंकि महामहा-मण्डलेश्वर तो क्या, मण्डलेश्वरकी उपाधि भी उस समयतक प्रचलित नहीं हुई थी। सरलता, सौम्यता, सादगी प्रभृति सद्गुण उनमें पर्याप्त थे।

'नारायण! कपड़े रँगनेमे क्या रखा है? इस चक्करमें तुम मत आना।' उनका भी मुझपर स्नेह था। वे भी संन्यासी थे, किंतु मण्डलीश्वर नहीं थे। उन मण्डलीश्वरके मठसे कुछ दूर एक उजड़ा-सा उद्यान था, उसी उद्यानकी खँडहर-प्राय एक कुटिया उनका आवास थी। उनके नामके साथ कोई उपाधि नहीं थी। वे वेदान्तके विद्वान् तो थे, किंतु उनकी विशिष्टता विद्वत्तामें नहीं थी। त्यागकी मूर्ति थे वे। कुटियामें कुछ पुस्तकें, चटाई, कमण्डलु, कौपीन और टाटके टुकड़े—यही उनका समूचा सग्रह था।

ग्रीष्ममें एक महीने गङ्गा किनारे आ जानेका नियम-सा बन गया था। मण्डलीश्वरका मठ मुझे आश्रय देता था, भोजन देता था और विरक्त महापुरुषकी सन्निधि मेरी श्रद्धाको सुपुष्ट करती थी। दोनों मेरे आदरणीय थे, दोनोंका वात्सल्य प्राप्त था मुझे।

'महाराज! अपनेमें मैं अभी साधु होनेकी योग्यता नहीं पाता।' मैं मण्डलीश्वरके वैभवकी उपेक्षा करके भी उनकी विद्या, उनकी सादगी एव सद्गुण तथा उनके स्नेहका सम्मान करता था। उनके सम्मुख मुझे बोलनेमें सकोच होता था। आज भी उनके प्रति मेरे मनमें सम्मान है।

'आपकी कृपा है! मुझे अपने इन वस्त्रोंमें पूरा सतोष है।' महापुरुषके वात्सल्यने मुझे कुछ धृष्ट बना दिया था। वे आनन्दकी मूर्ति! उनके सम्मुख तो सकोच स्वय नहीं आ पाता था। उनका स्मरण आज भी मेरी श्रद्धाको सम्बल देता है।

'आप साधु हैं, आपने इतना वैभव क्यों एकत्र किया? इस विशाल मठसे आपको प्रयोजन?' मेरी अल्पज्ञताने मेरे मनमें ये प्रश्न अनेक बार उठाये। किंतु मण्डलीश्वरजीके सम्मुख इन्हे पूछनेकी धृष्टता मुझमें कभी नहीं आयी।

'आप साधु हैं, ऐसी अवस्थामें साधुओंके यहाँ भिक्षा लेने क्यों जाते हैं?' उन वीतराग महात्मासे तो इससे भी अधिक धृष्टता की जा सकती थी, की जाती थी। वे खुलकर हँसते थे ऐसे प्रश्नोंपर। वे एक दिन एक ही बार भिक्षा ग्रहण करते थे और रात्रि-दिनमें केवल दो बार जल पीते थे। भिक्षा वे सन्यासियोंके मठोंसे ले आते थे। एक दिन एक मठसे मिली भिक्षा पर्याप्त होती थी।

'नारायण!' मेरे प्रश्नके उत्तरमें उनका आनन्दहास्य उद्गत हुआ—'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, उन्हें तुम गृहस्थ क्यों नहीं कहते?'

'मैं हँसी कर रहा था, नारायण!' वे प्राय' सबको नारायण कहते थे। 'जब साधु सग्रही हो जाय—भले वह सग्रह सेवार्थ हो, तब उससे भिक्षा लेनेमे कोई दोष नहीं रह जाता!'

× × ×

'मुझे, मेरे बच्चोंको आश्रय चाहिये!' वे बहुत भटक चुके थे। किरायेका मकान—कोई टूटा खँडहरतक नहीं मिल रहा था। किराया कहाँसे दिया जायगा, यह पीछे सोचनेकी बात थी। 'हम सबको आज दो दिनसे दाना नहीं मिला है।'

'आप सब पहले भोजन कर लें!' किसीको एक-दो समय भोजन करा देना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है उसे आजके समयमें आवास देना।

'मेरा पैतृक घर था, भूमि थी; किंतु दुर्भाग्य!' वे रो पड़े। असहाय, अनाश्रय एक परिवार रखनेवाला सद्-गृहस्थ क्या करे? उन्होंने बताया—'दस वर्ष पूर्व कोसीने वह सब ले लिया। इसी अनाथावस्थामें मैंने स्थान छोड़ा। कोसीसे दस मील दूर दूसरा घर बनाया। खेत लिये, गृहस्थी जमायी। आजसे तीन वर्ष पूर्व कोसी वहाँ भी पहुँच गयी। उसने सब भूमि ले लिया। उसके पश्चात् मैं नैपालमें जा बसा था। कोसी दूर थी—वहाँसे बीस मील दूर; किंतु कोसी

पिशाचिनी है। वह मेरे पीछे पड़ गयी है। इस बार उसने रात्रिमें अचानक आक्रमण किया। किसी प्रकार प्राण बच सके हैं।'

कोसी—बिहारकी प्रलयंकरी नदी कोसी प्रतिवर्ष वर्षामें कितने ग्राम उजाड़ती है, कितने प्राणियोंका बलिदान लेती है, कुछ ठिकाना है! उसकी बदलती धाराएँ—कब किस वर्ष वह किधर दस-बीस मीलका धावा मार देगी, कौन कह सकता है।

'मैं यहाँ सर्वथा अपरिचित हूँ। आप सबकी सद्भावना ही मेरी सहायिका है!' उन्हें, उनके बच्चोंको, पत्नीको आश्रय चाहिये। रहनेके लिये स्थान और करनेके लिये काम। करनेके लिये काम न होगा तो भोजन कहाँसे आयेगा?

'ये सद्गृहस्थ आश्रयहीन हो गये हैं!' मेरे एक श्रद्धेयने उनकी व्यवस्था सम्हाल ली थी। एक सम्मानित सम्पन्न व्यक्तिसे उन्होंने चर्चा चला दी थी और अन्तमें आश्वासन मिल गया—'कुछ-न-कुछ प्रबन्ध हो जायगा। एक कमरा है अमुक गलीके मकानमें, अच्छा तो नहीं है, परंतु अभी उसीसे काम चला लें।'

'अब ये गृहस्थ तो हुए!' मैंने अपने उन श्रद्धेयसे सम्पन्न व्यक्तिके चले जानेपर हँसकर कहा।

'गृहस्थ तो ये हैं ही।' उनका उत्तर भी सहास्य मिला—'गृहहीन हो जानेसे ये गृहस्थ नहीं थे, ऐसी बात तो नहीं है।' एक श्लोकार्द्ध कह दिया उन्होंने—

'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।'

मुझे स्मरण आ रहा है—काशीमें दशाश्वमेधघाटसे ऊपर एक तिकोना पार्क है। उसकी एक ओर भिक्षुकोंका समुदाय सदा पड़ा दीखता है। गङ्गा-स्नान करने जाते-आते लोगोंकी उदारता ही उनकी आजीविका है। वे भिक्षुक—वे प्रायः सब गृहस्थ हैं। वैसे उनके घरके नामपर कहीं एक चटाई भी नहीं टँगी है। वहीं सड़कके फुटपाथपर उनका जन्म होता है, वहीं बढते रहते हैं और वहीं मर जाते हैं। अवश्य वर्षामें उन्हें आस-पास किसी दूकानके छज्जेके नीचे भागना पड़ता है।

'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, वे गृहस्थ नहीं हैं?' मुझे वर्षों पूर्व सुना वह महापुरुषका परिहास स्मरण आ गया। मेरे मनने कहा—'नहीं, वे गृहस्थ नहीं हैं।' ये कुरालकालिका कोसीके आखेट सद्गृहस्थ और काशीके वे फुटपाथके भिक्षुक—कहाँ है इनके पास गृह? तब गृह होना गृहस्थका लक्षण कैसे हो सकता है?'

हाँ, मेरे ही कहाँ गृह है। मुझसे जब कोई पूछता है, प्रायः लोग पूछते हैं—'आपका घर कहाँ है?' उन्हें क्या उत्तर दूँ? उन्हें कहाँ सतोष होता है इस उत्तरसे—'जब जहाँ रहूँ।' 'जन्मभूमि कहीं तो होगी?' मुझे इसमें अस्वीकृति कहाँ है, किंतु घर—अब वहाँ कोई घर तो रहा नहीं है। अवश्य ही अभी किसी अन्यने वहाँ अपना घर नहीं बनाया है। कभी कोई घर यहाँ था, उस भूतपूर्व कच्चे घरका स्मरण दो एक स्थानोंपर फुट-दो-फुट ऊँची अबतक बची खँडहरकी भित्तियाँ दिला सकती हैं। इसे घर तो नहीं कहा जा सकता!

× × ×

'आप अपनेको किस आश्रममें मानते हैं?' एक सुहृद्ने स्नेहपूर्वक पूछा।

'गृहस्थ!' मेरा उत्तर उन्हें अटपटा लगता है, किंतु मुझे उन महापुरुषकी बात स्मरण है—'नारायण! साधु बननेकी आवश्यकता नहीं है।'

मेरे एक बाबा थे। मेरे पिताजीके चाचा लगते थे, इससे हम उन्हें बाबा कहते थे। पता नहीं यह कैसा सम्बन्ध था—मुझे अब स्मरण नहीं है। आयुमें वे पिताजीसे दस वर्ष छोटे थे। हमारे घरके ठीक सामने उनका घर था। अबतक उनकी आकृति मुझे याद है। वैसे अब उनके घरके स्थानपर कोई और आ बसा है।

सुदृढ शरीर, साँवला रंग, क्रोधी स्वभाव—अपने घरमें बाबा अकेले थे। उनका विवाह हुआ नहीं था। पर्याप्त बड़ी अवस्थातक वे अपने विवाहके लिये उत्सुक रहे—विवाह हो नहीं सका। क्यों नहीं हो सका, मैं कैसे बता सकता हूँ। उनकी जब मृत्यु हुई, मैं चौदह-पद्रह वर्षसे बड़ा नहीं था।

उनके दो बैल थे। बड़े कुशल माने जाते थे वे अपनी खेतीके कार्यमें। उनके क्रोधी स्वभावके कारण उनके समीप मैं प्राय. नहीं जाता था।

'मेरे वे बाबा गृहस्थ थे—आपको कोई आपत्ति है इस बातमें?' मैंने अपने उन सुहृदको इतनी कथा सुनाकर पूछा।

'नहीं!' उन्होंने स्वीकार किया। 'भारतके ग्रामोंमें ऐसे सैकड़ों—सहस्रों कहना चाहिये—लोग हैं, जो अविवाहित हैं। फिर भी उन्हें गृहस्थ तो मानना ही पड़ेगा।'

'जो उपार्जन करके खाय, वह गृहस्थ और जो दान-जीवी हो, वह साधु !' मैंने हँसते हुए परिभाषा कर दी—सच मानिये, यह सर्वथा परिहास है। इस अपूर्ण परिभाषाके आप पीछे पड़ेंगे तो चदेपर चलनेवाली अनेक संस्थाओंके संचालक तथा कार्यकर्ता साधु सिद्ध हो जायँगे। वैसे मेरे वे सुहृद् इसी परिभाषासे संतुष्ट हो गये थे। मेरा पीछा छोड़ दिया उन्होंने—मुझे तो यही अभीष्ट था।

× × ×

'स्त्रीको ही गृह बता दिया, जैसे उसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं !' उस दिन चला गया था एक सुप्रख्यात साधुके समीप। एक उज्ज्वल वस्त्रधारी सज्जन बड़े आवेशमें कह रहे थे—'नारीका कोई महत्त्व ही नहीं माना गया। वह भी एक सुविधाकी सामग्री बना दी गयी।'

'बात ऐसी नहीं है !' साधु सरलभावसे स्नेहपूर्वक समझा रहे थे। 'नारीका महत्त्व तो बहुत अधिक माना गया है। वह माता है—माताको कौन महत्त्व नहीं देगा ? देहासक्ति-को दृढ करनेवाले साधन गृह कहे गये और इसीसे ईंट-पत्थरकी दीवारोंका घेरा गृह कहा जाता है। उनका निर्माण देहकी सुरक्षाके लिये होता है।'

'गृहका कोई विशेष अर्थ करते हैं आप ?' मैंने पूछ लिया।

'मनुष्य-शरीर ही गृह है।' मुझे उत्तर मिला।

'तब मनुष्य-शरीर ही क्यों ?' मेरा प्रश्न बना रहा—'पशु-पक्षी, देव-दानव, तृण-तरु, कीटादि समस्त शरीर क्यों नहीं ?'

'उनमें जीव कर्म-संस्कार ग्रहण नहीं करता।' साधुका स्पष्ट उत्तर था। 'वे तो मनुष्य देहकी संतति हैं। यहींके कर्म-संस्कारोंकी उनमें भोग-परम्परा प्राप्त होती है।'

'तब सभी मनुष्य गृहस्थ हैं ?' इस बार उन सज्जनने पूछा था। साधु सन्यासी हैं, इस बातपर उनका प्रश्न व्यंग करता लगता था।

'जबतक देहासक्तिका कोई अंश अवशिष्ट है, जीव देहमें स्थित है। इस प्रकार जबतक देहासक्ति है, मनुष्य गृहस्थ है।' साधुने व्यंगपर ध्यान दिये बिना समझाया। 'यह देहासक्ति पुरुषकी नारीसे, नारीकी पुरुषसे दृढ होती है—इसीलिये विवाहको गृहस्थाश्रम कह दिया गया। दीवारोंके घेरे भी इसीलिये गृह हैं कि वे अपने अधिपतिको अपनेमें आसक्त करके उसका देहाभिमान दृढ करते हैं।'

'मेरे बाबा गृहस्थ थे, बिना गृहिणीके होनेपर भी। वे कोसीके आक्रमणसे आक्रान्त सज्जन गृहस्थ थे, भले उनका कहीं कोई गृह न रह गया हो ! गृहस्थ—देहासक्त !' मैंने साधुको सादर सिर झुकाया !

चेतावनी

देखौ यातें अच्छौ समै फेरि ना मिलैगो मित,
कौन जानै कौन-से जठर माहिं झूलौगे।
कहत 'किसोर' जो पै मानिहौ न मेरी कही,
जैसौ कछू वैहौ तैसौ लखन अरूलौगे ॥
फेरि आखिरी पै दुःख तुम ही सहौगे अंध,
अनल दहौगे, वे कहैंगे सो कबूलौगे।
ऐसे तौ न फूलौगे न बतियाँ बसूलौगे,
हरि भजन जो भूलौगे तो हर भाँति भूलौगे ॥

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

सादर हरिस्मरण । आपके दो पत्र मिले, समाचार विदित हुए । उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌का ध्यान जिस प्रकार अनायास निरन्तर हो सके, उसी प्रकारसे करना चाहिये । यदि निरन्तर न हो सके तो जिस कालमें अवकाश मिले, जब करनेकी रुचि हो, तभी करना चाहिये । जबतक किया जा सके, मन थके नहीं, तबतक करते रहना चाहिये ।

(२) गीताके पठन-पाठनसे सब कुछ हो सकता है । आवश्यकता है विश्वास, रुचि और भावकी । इनकी कमी हो तो किसी भी क्रियासे पूरा लाभ नहीं हो सकता ।

(३) गीता पढ़नेके लिये स्थानकी खास आवश्यकता नहीं है, भाव चाहिये । भाव रहे तो जहाँ पढ़नेका अवसर मिल जाय, वही स्थान उत्तम है ।

(४) आप यदि गीताद्वारा ही भगवान्‌की भक्ति करना चाहते हैं, यदि आपकी गीतापर श्रद्धा है, तो उसके कथनानुसार अपने जीवनको कामनासे रहित, प्रभु-प्रेमसे भरपूर और कर्तव्य-परायण बना लेना चाहिये ।

(५) भगवान् श्रीकृष्ण वही हैं, जो आपका इष्ट है । जो आपके इष्टदेव हैं, उन्होंने ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गीताका उपदेश दिया है—ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये, फिर इष्ट बदलनेका प्रश्न ही नहीं आयेगा । भगवान् श्रीकृष्णके अनेक नाम हैं । मन्त्र और नाम जो आपको प्रिय हों, जिनमें सुगमतासे मन लगता हो, वे ही ठीक हैं ।

(६) गीता पढ़नेसे सब कुछ हो सकता है । प्रश्न (२) के उत्तरमें देख लें ।

(७) भगवान्‌के सभी रूप अनादि और अनन्त हैं । अतः किसी एकको आदि नहीं कहा जा सकता ।

(८) भाव और प्रेमपूर्वक किया हुआ ओंकारका जप अवश्य स्वीकार होता है । नाडीद्वारा, श्वासद्वारा, जिह्वा-द्वारा और मनद्वारा—चाहे जिस द्वारसे सुगमतापूर्वक किया जाय, कोई आपत्ति नहीं है । हो सके तो मनद्वारा जप करना सबसे बढ़कर है । ध्यान उसका होना चाहिये, जिसको आप सर्वोपरि सब प्रकारसे पूर्ण मानते हैं ।

(९) भगवान्‌ने मूल गीतामें तो यह बात कहीं भी नहीं कही है कि गीताके तीन अध्यायके पाठ-से गङ्गास्नानका फल होता है । कहीं गीता-माहात्म्यमें कहा हो तो वह बात दूसरी है । गङ्गास्नानका फल भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार होता है एव गीतापाठका भी श्रद्धा और प्रेमके अनुसार ही होता है । अत साधक-को फलके प्रलोभनमें न पडकर कर्तव्य-पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

(१०) गीतामें वह ज्ञान पूर्णरूपसे भरा है, जो परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक है । उसे समझनेके लिये रामायण आदिको पढ़ना भी सहायक है । गीतामें गुरु-महिमा और संत-महिमा (४ । ३४, १२ । १३ से १९, १४ । २२ से २६ तक देखें और भी स्थान-स्थानमें कही है ।

(११) मास न खानेका संकल्प कर लेनेके बाद बीमारी मिटनेके प्रलोभनमें आकर मास खाना स्वीकार नहीं करना चाहिये । विवश किसीको कोई नहीं कर सकता है, अपनी ही कमजोरीसे विवशता प्रतीत होती है । भगवान् तो बड़े दयालु हैं । उनकी ओरसे तो क्षमा होना असम्भव नहीं है, पर साधकको अपनी कमजोरीका दु ख और प्रभुकी महिमाका परिचय होना आवश्यक है ।

(१२) गीतामय जीवन बनानेमें कोई पराधीनता नहीं है। नौकरी भी भगवान्‌के नाते कर्तव्य-पालनके लिये करनी चाहिये, रोटीकी गरजसे नहीं, रोटी तो सबको मिलती है। झूठ न बोलनेवालेको अच्छी नौकरी मिल सकती है। लोभका परित्याग कर देनेपर दरिद्रताका सदाके लिये अन्त हो जाता है। लोभ रहते हुए पराधीनता और दरिद्रताका अन्त नहीं होता।

(१३) भगवत्प्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है, श्रद्धा-प्रेमका फल है। सत्सङ्ग किसी सोसाइटीका (Society) नाम नहीं है। सत् तत्त्व भगवान् हैं, उनमें प्रेमका होना ही मुख्य सत्सङ्ग है। इसीलिये उनके विषयकी चर्चाको भी सत्सङ्ग कहा जाता है। भगवत्प्राप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता—यह सर्वथा ठीक है। श्रद्धापूर्वक किया हुआ भजन-स्मरण कर्म नहीं है, उपासना है। दूसरे कर्मोंमें जो निष्कामभाव है, वह भी साधन है, क्रिया नहीं।

(१४) एक पिताके अनेक लड़कोंका स्वभाव विभिन्न होता है। उसका मुख्य कारण तो उनके पूर्वजन्मके संस्कार हैं ही। इसके सिवा वर्तमानका सङ्ग, शिक्षा एवं परिस्थिति भी कारण है।

(१५) गीतामें मन लगाना बहुत अच्छा है। गीताध्ययन भगवान्‌को बहुत प्रिय है, यह सब ठीक है। किंतु उसमें कही हुई बातको मानना ही उसका वास्तविक अध्ययन है। इस बातको नहीं भूलना चाहिये।

(१६) भगवान्‌की शरणमें जाना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। पर इसका सम्बन्ध किसी भी आश्रमसे नहीं है। कोई भी आश्रम भगवान्‌की शरणमें जानेसे नहीं रोक सकता। अर्जुन भी तो गृहस्थ थे, क्या वे भगवान्‌के शरणागत नहीं थे? जो आश्रम या परिस्थिति अपने-आप प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का विधान मानकर उनकी प्रसन्नताके लिये उनके आज्ञानुसार कार्य करना चाहिये।

भगवान्‌के सिवा किसीको अपना नहीं मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनपर निर्भर रहना, ममता और अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना—ये सभी शरणागतिके अङ्ग हैं। वस्तु, व्यक्ति और मकान आदिका बन्धन उनको अपना माननेमे और उनके द्वारा सुख-भोगकी आशा करनेसे होता है, अन्यथा नहीं।

(१७) जिसकी सासारिक वस्तुओंमें आसक्ति न रही हो, उसे पागल वे ही लोग कहते हैं, जो स्वय सुखभोगके प्रलोभनसे और दु खभोगके भयसे आक्रान्त होकर पागल हो रहे हैं। अतः साधकपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये।

(१८) भगवान्‌की पूजा गीता अध्याय १८ श्लोक ४६ के अनुसार सुगमतासे की जा सकती है। किसी साकार स्वरूपकी मानस-पूजा करनी हो तो उसकी विधि 'प्रेम-भक्ति-प्रकाश' नामक पुस्तकमें देख सकते हैं। दाम ~) आना है।

(१९) भगवान्‌का चिन्तन, जप, पाठ, स्वाध्याय आदि जहाँ भी सुगमतासे किया जा सके, करना चाहिये। स्वास्थ्यके लिये खुली हवा अच्छी है, उसका कोई विरोध नहीं है, पर वह न मिले तो प्राप्त स्थानमें भी भजन-ध्यान तो करना ही है।

(२०) नदी-किनारेकी विशेषता इसीलिये है कि वहाँ शुद्ध हवा और जल सुगमतासे मिल जाता है, एकान्तमें विघ्न नहीं आते। प्रधानता तो भावकी है।

(२१) जप गङ्गाके भीतर खड़े होकर भी किया जा सकता है, बाहर किनारेपर स्वच्छ स्थानपर बैठकर भी किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगमतासे मन लगे वैसे ही करना चाहिये।

(२२) 'सोऽहम्' का जप अद्वैतभावके साधकोंके लिये उपयोगी है, भक्तिभाववालोंके लिये नहीं।

(२३) 'अनहद' शब्दको सुननेका अभ्यास

रातमें दो या तीन बजे जब हल्ला-गुल्ला सर्वथा शान्त हो, उस समय करना अच्छा रहता है, पर आलस्य आता हो तो ठीक नहीं होता। जितनी देर सुगमतासे शान्तिपूर्वक साधन हो सके, उतने ही समयतक करना ठीक रहता है। ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति और इष्टके दर्शनोंका सम्बन्ध तो विश्वास, विवेक और प्रेमसे है। केवल उपर्युक्त अभ्याससे कुछ नहीं हो सकता।

(२४) सादगीके रहन-सहनसे अभिप्राय यह है कि किसी प्रकारकी शौकीनी, ऐश-आराम और स्वादकी भावना न रहे, व्यर्थका खर्च न किया जाय। जूते कपडेके भी मिलते हैं। चमडेके जूतोंकी अपेक्षा उनपर खर्च कम लगता है और वे पवित्र भी होते हैं।

(२५) गुरु वही है, जो भगवान्की ओर लगानेमें सहायक हो। गायत्रीका उपदेश देनेवाला अथवा विद्या पढानेवाला भी गुरु माना जाता है। जिन्होंने यह कहा कि आपसे गीता नहीं चलेगी, उनको या तो गीताके महत्त्वका ज्ञान नहीं होगा या आपकी योग्यता उन्होंने वैसी नहीं समझी होगी। क्यों मना करते हैं——यह तो वे ही बता सकते हैं, जिन्होंने मना किया था। मैं क्या लिखूँ? भगवान् सबके गुरु हैं। अत उनका आश्रय लेकर आप रुचिके अनुसार साधन कर सकते हैं। इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(२)

दूसरे पत्रका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) जिस मन्त्रका निरन्तर जप किया जाय, उसके लिये प्रकारकी कोई खास बात नहीं है। श्वाससे, नाडीसे, जीभसे——जैसे भी सुगमतासे किया जा सके, वैसे ही करना उत्तम है। भगवान्में श्रद्धा-प्रेम बढ़नेसे दूसरी ओरसे मन अपने-आप हट जाता है। मनसे जप करना सबसे उत्तम है।

(२) भगवान् श्रीशंकर श्रीरामके भक्त हैं। श्रीराम उनके इष्ट हैं। रामायणमें श्रीरामके चरित्रका वर्णन है, इस कारण वे उसके पाठसे प्रसन्न रहते हैं।

(३) 'ॐ नम शिवाय'——यह पौराणिक मन्त्र है। शिवजीके उपासकको इस मन्त्रका जप करना चाहिये। यदि 'शिव', 'शिव' इस प्रकार उनके नामका ही जप किया जाय तो वह भी अच्छा है जैसी रुचि हो, उसी प्रकार करना चाहिये।

(४) रामायणके मासपारायण, नवाह्नपारायण आदि विशेष अनुष्ठान हैं। जिनका जैसा विश्वास है, उनके लिये वैसे ही करना ठीक है। अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करना सभीके लिये सर्वोत्तम है। इसमें किसीका विवाद नहीं है।

(५) सुन्दरकाण्डकी विशेषता सकाम भाववाले मानते हैं या श्रीहनुमान्जीके भक्त मानते है, क्योंकि उसमें हनुमान्जीकी महिमाका अधिक वर्णन है। मेरी मान्यतामें तो सभी काण्ड अच्छे हैं।

(६) संध्या एक नित्यकर्म है, उसे करनेका समय तो निकालना ही अच्छा है। नौकरीका समय तो निश्चित रहता है, उसमें विवशताकी कोई बात नहीं है।

(७) बगीचे या जगलमें आसनकी व्यवस्था न हो सके तो कोई बात नहीं। स्वच्छ जगहमे बैठकर भी भजन-स्मरण करना अच्छा है।

(८) एकादशीका व्रत यदि बीमारीमें छूट गया तो कोई अपराध नहीं है। कमजोरीमें उपवास नहीं करना चाहिये, भजन-स्मरणके नियमोंका पालन करना चाहिये। नियमका नाम ही व्रत है।

(९) रावणका पिता विश्रवा था, यह रामायणमें स्पष्ट लिखा हुआ है। इसमें विवादकी कोई बात नहीं है। बहस करना साधकके लिये सर्वथा अनावश्यक है। अतः आपको इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहिये। ग्रन्थों-

को झूठा बनानेवाले उनके मर्मको नहीं समझते। उन भोले भाइयोंपर क्रोध नहीं करना चाहिये।

(१०) चित्र बनानेवाले भगवान्‌की बातें ग्रन्थोंमें पढ-सुनकर अपने-अपने भाव और समझके अनुरूप चित्र बनाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपका उनको प्रत्यक्ष नहीं है।

(११) चारों वेद अनादि हैं। ब्रह्माजीके मुखसे तो उनका प्राकट्य माना जाता है। ब्रह्माजीने उनकी रचना की—ऐसी बात नहीं है। गायत्री देवी ब्रह्माजीकी पत्नी हैं, इसलिये उनको वेदमाता कहना उचित ही है। ब्रह्माजीकी पूजा पुष्करमें होती है। उनकी मूर्ति चार मुखोंवाली है।

(१२) मन्त्रमें शक्ति साधकके भावानुसार प्रकट होती है। गायत्री मन्त्र, गीता और इष्टके नाममन्त्र—सभी ठीक हैं, सबमें एक ही प्रभुकी शक्ति है। कमी-वेशीकी कल्पना साधक अपने भाव और विश्वासके अनुसार कर लेता है।

(१३) पार्वती भगवान् शङ्करकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। साधक अपने भाव और प्रेमके अनुरूप जैसा ठीक समझें कर सकते हैं। इसमें आपत्तिकी कोई बात नहीं है।

(१४) उपवास आदिका विधान ऋषियोंने अपनी-अपनी साधनाके अनुरूप किया है। इसमें सबका एक मत नहीं हो सकता। अत जिस साधकका जिसमें विश्वास हो, उसके लिये वही उत्तम है। चतुर्दशीको शिव-पार्वतीका विवाह हुआ था—ऐसा कहा जाता है। इस कारण शिव-भक्त उस दिन व्रत किया करते हैं।

(३)

सादर विनयपूर्वक प्रणाम! आपका पत्र मिला, समाचार ज्ञात हुए। आपकी बातोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) दुविधामें कभी शान्ति नहीं मिलती। ( ) भोग-वासनाओंके रहते हुए मनुष्य कभी दुविधासे छूट नहीं सकता। अतः शान्तिके इच्छुकको सासारिक इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(२) आप जो यह चाहते हैं कि भगवान्‌को पानेकी इच्छाके सिवा और कोई इच्छा मेरे मनमें न रहे, यह तो बहुत ही उत्तम है, पर यह आप केवल बुद्धिके बलपर चाहते हैं। यह यदि आपकी वास्तविक इच्छा होती तो दूसरी इच्छाका अपने-आप अन्त हो जाता, क्योंकि जो सच्ची इच्छा होती है, वह जबतक पूरी नहीं होती, तबतक मनुष्यको चैन नहीं पडता। किसी प्रकारका भोग उसे रुचिकर नहीं होता।

(३) आपने लिखा कि मैं अपने मनको बहुत समझाता हूँ, सो मनको समझानेसे काम नहीं चलेगा, आप स्वयं समझिये। मन बेचारा तो आपकी अनुमति पाकर ही विषयोंकी ओर दौड़ता है। आप स्वयं नाना प्रकारके भोगोंको सुखरूप मानते हैं, तब आपका मन उनकी ओर जाता है। आपकी बुद्धि आपको उनकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता और परिणाम-दु खताका भी अनुभव कराती है, पर आप उसकी ओर देखते ही नहीं, इन्द्रियोंके ज्ञानपर विश्वास करके भोगोंमे लगे रहते हैं और दोष मनको देते हैं।

(४) पूर्वजन्मका प्रारब्ध किसीके भजन-स्मरणमें बाधा नहीं दे सकता। भगवान्‌की मर्जी भी ऐसी नहीं है कि प्राणी ससारमें फँसा रहे, मेरी ओर न लगे; प्रत्युत पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप जो कुछ मिला है और मिलेगा, वह सब कुछ प्रभु-प्राप्तिके लिये साधन-सामग्री है। भगवान्‌ने जो प्राणीको यह मनुष्य-शरीर और सामग्री दी है, वह अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये ही दी है। अतः भजन न बननेमें साधकको अपना ही दोष समझकर उसे दूर करना चाहिये। पूर्वकृत कर्मोंका, मनका दोष या प्रभुकी मर्जीका बहाना लेकर अपने मनको निराश और निरुत्साह नहीं करना चाहिये।

(५) भगवान्‌की कृपा तो अपार है। आप जितनी मानते हैं, उससे भी बहुत अधिक है। उसका आदर करना चाहिये। प्रभुका कृतज्ञ होना चाहिये और पद-पदपर उनकी कृपाका दर्शन करके उनके प्रेममें विभोर होते रहना चाहिये।

(६) पर स्त्रीपर बुरी दृष्टि होनेका कारण एकमात्र उसमें सुखकी प्रतीति है। उसका परिणाम जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे दुःख है, उसपर अविश्वास और वेपरवाही ही इस सुखकी प्रतीतिको सुरक्षित रखती है। इस सुख-प्रतीतिका सर्वनाश तो भगवत्प्रेमके प्राकट्यसे ही हो सकता है। जब मनुष्यके जीवनमें भगवान्‌का प्रेम, जो नित्य रस-स्वरूप है, जाग्रत् हो उठता है, तब तो सब प्रकारके तथाकथित रस नीरस हो जाते हैं, पर उसके पहले यह स्त्री-विषयक रस समूल नष्ट नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि उस प्रभुपर विश्वास करके एकमात्र उसीको अपना सर्वस्व समझे और उसमें प्रेम करे। वह प्रेम शुद्ध हृदयमें प्रकट होता है। हृदयकी शुद्धिके लिये यह परम आवश्यक है कि साधक न तो किसीका बुरा करे और न चाहे तथा ईश्वरके नामका जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करे। कामके वेगको रोकनेके लिये परिश्रम, संयम, सदाचार, सेवा और विषयोंमें दोषदर्शन भी आवश्यक है। यदि इनका पालन निष्कामभावसे किया जाय तो इनसे अन्तःकरण भी शुद्ध होता है।

परिश्रमी मनुष्यको बुरे संकल्पोंके लिये अवकाश नहीं मिलता। संयमसे मन वशमें होता है। सदाचार बुरी प्रवृत्तिको रोकता है और सेवाभावसे सुख-भोगकी प्रवृत्तिका नाश होता है। विषयोंमें दोषदृष्टि करनेसे मनमें वैराग्य हो जाता है।

(७) काम-वासनाके नाशके लिये सर्वोत्तम अनुष्ठान तो एकमात्र भगवान्‌का प्रेमपूर्वक स्मरण ही है।

(८) गीता और रामायणके पाठका अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, यह आप मानसाङ्क या गीतातत्त्वाङ्कमें देख सकते हैं अथवा हनुमानप्रसाद पोद्दारसे पूछ सकते हैं।

(९) पश्चात्तापसे बढ़कर कठोर दण्ड मेरी समझमें कोई नहीं है। जिस पापकर्मके लिये मनुष्यको सच्चा पश्चात्ताप हो जाता है, वह उसके जीवनमें प्रायः दुबारा नहीं आ सकता। यह प्रभुकी कृपा और प्राकृतिक नियम है।

(४)

सादर हरिस्मरण! आपका कार्ड मिला, समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

(१) राजयोग सिद्ध हो जानेके बाद प्राणायाम आदिकी क्रिया करनी नहीं पड़ती, स्वभावसे ही होने लगती है। जिसमें करना पड़ता है, वह राजयोग नहीं है, हठयोग है। पुस्तक जबतक मन बहलानेके लिये या मनकी इच्छा-पूर्तिके लिये पढ़ी जाती है, उसके अर्थको समझकर उसके अनुसार जीवन नहीं बनाया जाता, तबतक उससे विशेष लाभ नहीं होता। इसी प्रकार सद्भावरहित क्रियासे भी विशेष लाभ नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि पुस्तकमें लिखे हुए उपदेशको समझकर उसके अनुरूप अपना जीवन बनाये एवं क्रियाके साथ सद्भावकी वृद्धि करे। किसी भी क्रियाका उद्देश्य सांसारिक सुखकी प्राप्ति न हो, बल्कि प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालन हो। ऐसा होनेपर पुस्तक पढ़ना और क्रिया दोनों ही साधकके लिये हितकर हो सकती हैं।

(२) जीव शरीरसे निकलकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके साथ प्राणोंके सहारे अन्तिम वासना और चिन्तनके अनुसार देहान्तरमें चला जाता है (गीता ८। ६, १५। ७-८)। सुखकी इच्छा प्रत्येक प्राणीको है, दुःख कोई नहीं चाहता, पर अज्ञानवश दुःखको ही सुख मानकर उसे चाहता और पकड़नेकी

चेष्टा करता है। इस कारण सुख न मिलकर उसे दुःख ही मिलता है, क्योंकि जिन-जिन विषयोंको वह सुखप्रद समझकर चाहता है, वे या तो मिलते ही नहीं, मिलते हैं तो रहते नहीं। इस प्रकार उनका वियोग निश्चित है। अन्तमें वे दु ख छोडकर चले जाते है।

(३) पुनर्जन्मका प्रमाण गीतादि शास्त्र है (गीता २ । १३–२२) तथा मनुष्यों और अन्य प्राणियोंकी जाति, आयु, भोग और प्रकृतिका एक दूसरेसे न मिलना भी पुनर्जन्मका प्रमाण है। आप भूतकालमें कौन थे एव भविष्यमें क्या होंगे—यह तो तभी मालूम हो सकता है, जब आप सब प्रकारकी कामनाका त्याग करके मनको एकाग्र कर सकें और ध्यानयोगद्वारा इसे जाननेका प्रयत्न करें। पर इसे जाननेपर भी लाभ क्या होगा, यह विचारणीय है।

मुसल्मान पुनर्जन्म नहीं मानते, यह उनकी मर्जी है। माननेमें सभी स्वतन्त्र हैं, पर किसीके न माननेसे सत्यका नाश नहीं हो सकता।

(४) बीज और वृक्षकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। इसके पूर्वापरका निर्णय करना अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार है। इसका निर्णय साधकके लिये आवश्यक भी नहीं है। कुछ मानना ही हो तो पहले बीजका होना मानना ही उचित प्रतीत होता है। सर्वशक्तिमान् प्रभु बिना वृक्षके भी बीजको बना सकते हैं। प्रलयकालमें भी बीजरूपमे सृष्टि सुरक्षित रहती है। उसीसे उसका विस्तार होता है।

(५) मरता है शरीर, उसीको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण मृत्युसे भय होता है। अपनेको शरीरसे अलग अनुभव कर लेनेपर उस भयकी निवृत्ति हो जाती है। वास्तवमें तो शरीरकी मृत्यु क्षयरूपमें प्रतिक्षण हो रही है। यदि यह बात ठीक समझमें आ जाय तो इस मृत्युमय शरीरसे साधक असङ्ग हो सकता है।

(६) सर्वज्ञका ज्ञान सर्वज्ञकी कृपासे वह जिसको कराता है, उसीको होता है। वह ज्ञान होनेके बाद ज्ञान किसको हुआ ? इसका पता नहीं चलता, क्योंकि यह बतावे कौन ?

(७) भगवान् अनेक नहीं होते, एक ही भगवान्‌के नाम और रूप अनेक हो सकते हैं। उनमेंसे जिस साधकको जो नाम-रूप प्रिय हो, जिसपर उसकी यह श्रद्धा हो कि यही सर्वथा पूर्ण है और इसके स्मरण-चिन्तनसे मुझे सत्यका साक्षात्कार और असार संसारसे मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है, वहीं उसे मोक्षप्रद हो जायगा। अतः इस रहस्यको समझकर पहले अपनी श्रद्धाको दृढ करना चाहिये।

× × ×

(५)

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समाचार विदित हुए। उत्तर इस प्रकार है—

प्रभुसे शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करना तभी आवश्यक होता है जब कि उनकी दी हुई शक्तिका साधक उनके विधानानुसार ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर पाता। मिली हुई शक्तिका सदुपयोग करनेवालेको आवश्यक शक्ति और सामग्री अपने-आप प्रभुकी कृपासे मिलती रहती हैं। यह उस कृपासागरका स्वाभाविक नियम है।

दु ख ससारमे नहीं है। प्राणी स्वय ही अपनी भूलसे अज्ञानके कारण दुःख भोगता रहता है। जिसको हम दु ख कहते हैं, वह प्रतिकूल परिस्थिति तो भगवान्‌की वह कृपा है, जो संसारमे फँसे हुए प्राणीको उसमें दोष दिखाकर सुखकी दासतासे छुडाती है। अतः साधकको प्रतिकूलतासे घबराना नहीं चाहिये। धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये।

आपने लिखा कि पूर्वजन्मके पापोंके कारण मेरी

जबान खराब है सो ऐसी बात नहीं है। जबानको तो आप स्वयं ही भले खराब करें। इसमें न तो पूर्वजन्मका दोष है न जबानका ही। अब आपको अपना जीवन संयमी बनाना चाहिये। जबान भगवान्‌की कृपासे मिला हुआ यन्त्र है। उससे आप जैसा चाहें बोल सकते हैं। अब भगवान्‌के आज्ञानुसार उससे सत्य, प्रिय और हितकर शब्द बोलिये और स्वाध्याय कीजिये। जिनसे किसीको उद्वेग हो, बुरा लगे—ऐसे वचन भूलकर भी न बोलें—यही वाणीका सदुपयोग है। इससे वाणी अपने-आप शुद्ध हो जाती है।

जो व्यक्ति आपकी बातोंपर हँसते हैं, उनसे न तो द्वेष करना चाहिये, न उनको बुरा या दोषी ही समझना चाहिये। उनकी बातोंपर धैर्यपूर्वक विचार करके जो न्यायसगत और हितकर हो, उसे सरलता-पूर्वक मान लेना चाहिये। दु:ख करना तो सर्वथा ही बुरा है। उससे कोई लाभ नहीं होता।

हर एक मनुष्य अपना जीवन जब चाहे उज्ज्वल बना सकता है। इससे निराश होना बड़ी भारी भूल है। जीवनको मलिन किसी दूसरेने नहीं बनाया है। प्राणी स्वय ही अपनी जानकारीका अभिमान करके जीवनको मलिन बना लेता है। अत. उसे उज्ज्वल बनाना उसके हाथमें है। इसमे कोई कठिनाई नहीं है।

आप अपने दु खका कारण दूसरे लोगोंको मानते है, यह भूल है। आपका मूल्य तो आपने स्वयं ही घटा रखा है। आप प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग न करें तो अपने-आप मूल्य बढ जा सकता है और जीवन आनन्दमय बन सकता है।

भगवान् बुद्धकी भाँति भ्रमण करना तो बड़े ही सौभाग्यकी बात है। वैसा वैराग्य हो जानेपर तो आपको कोई दु ख देनेवाला दिखायी ही नहीं देता, फिर आप इस संसारसे असङ्ग हो जाते और प्रभुसे आपका अटल प्रेम हो जाता, पर वैसी बात है नहीं।

आपका मन किसी काममें नहीं लगता, इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि आप प्राप्त ज्ञान-का आदर नहीं करते। इन्द्रियोंके वशमें होकर वह काम भी कर लेते हैं, जो आप स्वयं ही पसंद नहीं करते। यही अपने ज्ञानका अनादर है। हर एक मनुष्य जानता है कि किसीको कटुशब्द नहीं कहना चाहिये, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये, किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, किसीपर क्रोध नहीं करना चाहिये इत्यादि, क्योंकि जब कोई दूसरा हमपर क्रोध करता है या हमें कटुशब्द कहता है, तब हमें बुरा माल्रम होता है। फिर भी हम दूसरोंपर क्रोध करते है, उनको कटुशब्द कहते हैं। यही अपने ज्ञानका अनादर है। अत. इस विषयमें खूब सावधान रहना चाहिये।

शान्ति न मिलनेका एकमात्र कारण दूसरोंसे सुख-की आशा करना और उन्हें दु ख देना है। ऐसा न करनेपर शान्ति तो स्वाभाविक सर्वत्र परिपूर्ण है।

समाचारपत्रोंमें यदि आप अनेक प्रकारके अत्याचारों-की बात पढ़ें तो तत्काल अपने जीवनका अध्ययन करें और सोचें कि ऐसा अपराध मुझसे कहीं किसीके साथ मनसे या कार्यरूपमें बनता है या नहीं। यदि बनता हो तो तत्काल उसका त्याग कर दें और जिसके साथ बुराई की हो, उससे क्षमा माँग लें। दूसरे क्या-क्या भूल कर रहे हैं, क्यों कर रहे है—इसे सोचनेमें आपको कोई लाभ नहीं है।

आपने पूछा कि यह संसार क्या है, सो वास्तवमें तो यह उस सर्वसमर्थ सर्वान्तर्यामीकी लीलास्थली है। अत· साधकको चाहिये कि इसके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये, स्वामीको निकट समझते हुए, अपने स्वाँगके अनुसार खेल करे। जगत् परिवर्तनशील और नाशवान् है, इसमें कोई सदेह नहीं है।

भोगोंसे घृणा न करके उनमें ममता और आसक्तिका त्याग करना अधिक उपयोगी है। किसी प्रकारके सुख-भोगकी इच्छा ही प्राणीको उसका दास बना देती है। इस कारण वह अपने नित्य-स्वामी परमेश्वरका दास नहीं बन पाता।

आजकल विवाहोंमें जो दोष आ गये हैं, उनको आप अपने जीवनमे न आने दें। विवाहको पुण्यकर्म समझकर भगवान्‌के आज्ञानुसार एक सद्‌गृहस्थका जीवन-यापन करें, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। अधिक संतान उत्पन्न करना बुरा समझें तो न करें। विचार-द्वारा जिस वासनाको हम न मिटा सकें, उसको सयमपूर्वक नियमित उपभोगद्वारा मिटानेके लिये ही गृहस्थ-जीवन है। अत साधकके लिये यह बडे लाभकी परिस्थिति है।

बालक अपना प्रारब्ध साथ लेकर आते हैं। उनकी चिन्ता करना व्यर्थ है। साधकको तो चाहिये कि वह अपने कर्तव्यसे न चूके, फिर जो कुछ होगा, वह ठीक ही होगा। निर्वाह तो सबका वह प्रभु ही करता है, जिसका यह विश्व है। मनुष्य तो निमित्तमात्र ही है। वह ऐसा अभिमान व्यर्थ ही करता है कि मैं निर्वाह करता हूँ।

अन्नके लिये भटकना उसे ही पडता है, जो प्राप्त बलका सदुपयोग नहीं करता तथा आवश्यक श्रम नहीं करता एव दूसरोंसे कुछ पानेकी आशा रखता है। बुद्धिका आदर करनेवालेकी बुद्धि कभी विपरीत नहीं होती। अत उसके लिये कोई भी समय या परिस्थिति हानिकारक नहीं है। हर प्रकारसे अपमान उसीका होता है, जो स्वय गलत रास्तेसे चलता है।

इस युगमे ही क्यों, कभी भी दूसरा कोई किसीका नहीं है। अत साधकको किसीसे भी कुछ नहीं चाहना चाहिये और अन्य किसीको भी अपना न मान-कर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व मानकर उसपर ही निर्भर हो जाना चाहिये, इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है।

ससारसे छूटनेका उपाय, इससे जो कुछ लिया है, उसे लौटा देना और बदलेमें कुछ न लेकर उऋण हो जाना है, जो कर्तव्य-पालनद्वारा बडी सुगमतासे हो सकता है। आपका कोई भी ऐसा कर्तव्य नहीं है, जिसे आप नहीं कर सकते और जिसके करनेके साधन आपके पास नहीं हैं। इस दृष्टि-से कर्तव्य-पालन बड़ा ही सुगम है।

आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

(१) प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके अपने-आपको उनके समर्पण कर देना अर्थात् ऐसा मान लेना कि मैं उन प्रभुका हूँ, जिनका यह समस्त जगत् है और एकमात्र प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं, और कोई भी मेरा नहीं है। यह शरीर जिसको मैं अपना समझता हूँ, यह भी मेरा नहीं है। यह मुझे भगवान्‌की कृपासे उनकी सेवाके लिये मिला हुआ स्वाँग है। यह भाव दृढ़ होनेपर बडी सुगमतासे भगवान्‌का निरन्तर भजन-स्मरण तथा उनमे प्रेम भी हो सकता है।

(२) ससारसे किसी प्रकारका सुख-भोग न चाहनेसे और प्राप्त शक्तिद्वारा उसकी सेवा कर देनेसे अपने-आप उस ससारसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है अर्थात् उसके प्रति ममताका नाश हो जाता है। अपना नाम भी तो ससारका ही अश है। उसकी इच्छा रखते हुए आप ससारसे सम्बन्ध कैसे छोड सकेंगे ? यह तो आपको ससारसे और भी अधिक जकडकर बाँध देगा। अत यदि भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ना है और ससारसे तोडना है तो अपने नाम या यशको विषके समान समझकर उसकी इच्छाका त्याग कर दीजिये और एकमात्र भगवान्‌के प्रेमको छोड़कर और किसी भी वस्तुकी भी इच्छा मत रखिये।

(३) किसीपर भी अपना कोई अधिकार न मानना और किसीसे भी कुछ न चाहना, दूसरेके कर्तव्यकी ओर न देखना, अपने कर्तव्य-पालनद्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करते रहना एवं परेच्छासे जो भी मनके प्रतिकूल घटना हो, उसे भगवान्‌का विधान मान लेना—यह क्रोधको जीतनेका बडा ही सरल और सुगम उपाय है। अपने मनकी बात दूसरोंसे पूरी करानेकी आशा ही क्रोधकी जड है।

(४) कामनाका त्याग कर देनेके बाद आप कामी कैसे रहेंगे? प्रभुकी प्रसन्नताके लिये कर्तव्य-पालनद्वारा सबका हित करना—यही बडी-से-बडी सेवा है। प्रभुका नाम लेना और गुणोंका गान करना—यही तो जीभका सर्वोत्तम सदुपयोग है। विवाहको झंझट न मानकर धर्मका आवश्यक अङ्ग समझें और पत्नीका हित तथा गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए पितृ-ऋणसे मुक्त हो जाना चाहिये। शादी करनेसे घृणा तो अपने शरीर-सुखके लोभके कारण और पारिवारिक भरण-पोषणकी झंझटसे भयभीत होकर हुई है, जो सर्वथा निराधार है। वास्तवमें वैराग्य होता तो जीवनमें क्रोध कहाँसे आता? शान्तिका उपाय एकमात्र भगवान्‌का आश्रय (शरण) है।

आवश्यक बातोंका उत्तर यथास्थान लिखा गया है। मैं किसीका गुरु बननेका अधिकारी नहीं हूँ। अत कृपा करके मुझे 'गुरुदेव' लिखकर लज्जित न करें।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

५६—उलाहना

'दादा, कनूँ मेरा दावँ नहीं देता। मैं मारूँगा उसे।' श्रीदाम रोषमें है। उसका गौर मुख कुछ लाल हो गया है। उसके बड़े-बड़े नेत्र भरे-से हैं। दाऊ यहाँ न होता तो वह अवश्य श्यामसे झगड़ पड़ता। यह भी कोई बात है कि कन्हाई उसका दावँ नहीं देता और उलटे उसे अँगूठा दिखाकर चिढाता है। वह दौड़नेमें कृष्णसे कुछ दुर्बल तो है ही नहीं। किंतु यह दाऊ दादा फिर छोटे भाईका पक्ष न लेने लगे।

'यह कुछ अच्छी बात नहीं।' दाऊके लिये तो सभी सखा समान हैं। वह भला, क्यों छोटे भाईका पक्ष करे। उसने कहा—'कहाँ है कनूँ?'

'दादा!' श्याम बड़े भाईके सामने आकर ऐसा बन जाता है कि देखते ही बनता है।

'तू श्रीदामसे झगड़ता क्यों है?' उसका······'किंतु छोटे भाईके मुखकी ओर देखते ही दाऊ बोलते-बोलते रुक गया। उसने श्रीदामसे कहा—'चलो, मैं कन्हाईके बदले दावँ चुका दूँ।'

'ना! दावँ तो मैं इसीसे लूँगा।' श्रीदामका हठ अनुचित कौन कहे। जो खेलता हो, दावँ उसीको देना चाहिये।

'किंतु यह तो थक गया दीखता है।' दाऊने फिर देखा अपने छोटे भाईकी ओर।

'थक गया है?' श्रीदामने भी श्यामकी ओर देखा। उसे लगा कि वह अबतक क्यों नहीं इस बातको जान सका। कितना सुकुमार है उसका यह नीलसुन्दर सखा। इसके भालपर पसीनेकी बूँदें झलमलाने लगी हैं। कपोल अरुण हो गये हैं। केशोंके सुमन अस्त-व्यस्त बन गये हैं। श्वासकी गति भी बढ गयी जान पड़ती है।

'श्याम, तू इधर आ।' श्रीदामने हाथ पकड़ लिया और तमाल-मूलकी ओर चलनेको खींचने लगा।

'मैं थका कहाँ हूँ? तू थक गया हो तो वहाँ सो जा।' कन्हाई अपनेको दुर्बल कैसे मान ले? वह किससे अल्पशक्ति है कि पहले थक जायगा?

'दादा, यह कनूँ मानता नहीं है। तू डाँट न इसे।' लोकका उलाहना न सुना जाय, ऐसा सम्भव नहीं। नन्हा

तोक एक कमलका पत्ता दौड़कर तोड़ लाया है। अब श्याम थका हो या न थका हो, उसे सुबलकी गोदमें सिर रखकर झटपट सो जाना चाहिये। तोक जो अपने पत्तेसे उसे वायु करना चाहता है।

इतने उलाहना देनेवाले और अकेला श्यामसुन्दर। सब कहते हैं तो थका कैसे नहीं है वह ? अब उसे तमालके नीचे विश्राम तो करना ही पड़ेगा।

५७—स्नेहाश्रय

'दादा, तू बुला इन सबको।' कन्हाई हँस रहा है। उसे वनके ये नन्हे जीव सदा घेरे ही रहते हैं। शशक उसके चरणोंको अपनी लाल-लाल कोमल जिह्वासे चाट लिया करते हैं बार-बार। गिलहरियाँ उनसे भी अधिक धृष्ट हैं। वे श्यामके अङ्कको ही अपनी शय्या बनाना चाहती हैं। पक्षियोंका समुदाय पृथक् फुदकता-उड़ता रहता है। इसके चारों ओर मृग बछड़ोंके समान इसे बार-बार सूँघते रहना चाहते हैं।

'तू एक बच्चा लेगा कृष्णमृगका ?' दाऊ बड़े स्नेहसे एक मृगीको दूर्वा खिला रहा है। मृगीका नवजात शिशु दाऊके पास उससे सटकर बैठ गया है।

'मैं इसे घर ले चलूँगा।' श्यामसुन्दरने मुड़कर देखा बड़े भाईके पास बैठे मृगशावकको। सचमुच बहुत सुन्दर बच्चा है। दौड़ आया कन्हाई और गोदमें भर लिया उसने उस शावकको।

'इसकी माँ भी चलेगी।' दाऊने मृगीको पुचकारा।

'मैं इसे भी ले चलूँगा।' श्यामके लिये यह कोई नयी बात नहीं है। ढेरों वनपशु उसको घेरे नित्य गोष्ठमें पहुँचते हैं। दो-चार वह स्वयं ले जाता है तो सौ पचास अपने-आप मागे चले चलते हैं साथ-साथ।

'कनूँ, यह कोई गाय या बछड़ा नहीं है। तू इसे बाँधेगा तो रोयेगा यह।' माता रोहिणी मना लेती है मोहनको। कोई रोये, यह कृष्णचन्द्र सह नहीं सकता। वनपशु या तो घड़ी-दो-घड़ी गोष्ठमें खेल-कूद करके वनमें लौट आते हैं या फिर नन्दभवनके प्राङ्गणमें, गोष्ठमें या द्वारपर बैठकर रात्रि-विश्राम करते हैं वे। प्रातः कन्हाईके साथ ही वे वनमें लौटते हैं।

'कनूँ! देख, वह बँदरिया आ रही है अपना बच्चा लेकर। तू उसके बच्चेको नहीं ले चलेगा ?' दाऊ परिहास कर रहा है।

'नहीं दादा, तू उसे भगा दे। वह मुझे दाँत दिखाती है और खोंखों करती है।' कृष्ण पहले ही मुँह बनाकर उसे चिढाने लगा है।

दाऊ किसे भगा दे ? बँदरिया श्यामके समीप आ गयी है। मयूर इस नवजलधर सुन्दरको घेरकर नृत्य कर रहे हैं। पक्षी इसके चारों ओर चहक रहे हैं। शशक इसके चरणोंमें लोट-पोट हो रहे हैं। गिलहरियाँ बार-बार इसका पीतपट खींचती हैं और पीठ फुलाकर पूँछ हिलाकर चीं-चीं करती हैं। मृग इसे अपलक देखते हैं। यह सबका—प्राणिमात्रका स्नेहाश्रय दाऊका छोटा भाई।

'तू सबको ले चल।' दाऊ श्यामके पाससे जीवोंको भगा दे, यह कैसे शक्य है। वह तो अपने छोटे भाईके पास सबको पहुँचाता ही है।

५८—बाल-विनोद

'भद्र है !' किसीने वृक्षमूलमें चुपचाप बैठे दाऊके नेत्र पीछेसे आकर बंद कर लिये हैं। कौन होगा यह ? यह युग-युगका परिचित स्पर्श—किंतु नेत्र बंद करनेवाला प्रसन्न हो रहा होगा। उसके नेत्र खिल रहे होंगे। झटपट नाम बता देना कुछ अच्छी बात नहीं है।

'तोक, मेरे नेत्र छोड़ दे।' दाऊने दूसरा नाम लिया। वैसे तोककी नन्ही हथेलियाँ उसके दीर्घ दृगोंको ढक लेंगी, यह सोचना ही कठिन है।

'सुबल, श्रीदाम, विशाल, ऋषभ, अर्जुन ''' एकके बाद दूसरा नाम लिया जा रहा है। नेत्र बंद करनेवाला बोलता नहीं, हँसता भी नहीं। वह पीठसे चिपका पीछे छिपा है।

'हौआ है !' अब दाऊ हँसते हुए बोला और नेत्रोंपर धरे दोनों कर पकड़ लिये उसने।

'दादा नहीं बता सका।' कन्हाई खिलखिलाता, ताली बजाता, नाचता-कूदता सामने आ गया। 'तू नहीं बता सका न ?'

'मैं तो नहीं बता सका।' दाऊके अधरोंपर भी स्मित है। 'अब तू मेरी बड़ी अँगुली बता।'

पुष्पित कदम्बके नीचे पालथी मारे दाऊ बैठा है। उसने

दाहिने हाथकी अँगुलियोंको बायें हाथकी मुट्ठीसे छिपा रखा है। नखोंकी तनिक-तनिक नोक और अँगुलियोंके लाल-लाल रक्तकी बूँदों-जैसे अग्रभाग—अब इसमें तो सब अँगुलियाँ एक-जैसी हो रही हैं। पता नहीं, कहाँ छिपी है बड़ी अँगुली।

कुछ बालक खड़े-खड़े झुककर देख रहे हैं, कुछ घुटनोंके बल उझककर और कुछ एक दूसरेका सहारा लेकर।

कृष्णचन्द्र अपने बड़े भाईके सामने एकदम सटकर उकड़ूँ बैठा है। उसके शरीरका कुछ बोझ भी दाऊके घुटनोंपर ही है। मयूरपिच्छ लहरा रहा है, अलकें हिल रही हैं, कानोंके पुष्पगुच्छ कपोलपालीपर स्थिर हो रहे हैं। मस्तक झुकाये, दोनों हाथसे दाऊकी मुट्ठी पकड़े वह ध्यानमें बड़ी अँगुलीकी खोजमें है।

'तू छोड़ दे!' एक अँगुली अपनी तर्जनी और अँगूठेसे मोहनने पकड़ ली है।

'अरे, यह तो तर्जनी है।' मुट्ठी खुलते ही सब-के-सब हँस पड़े हैं और यह कन्हाई भी हँसते-हँसते भाईकी गोदमें ही लोट-पोट हो रहा है। तर्जनी झटसे छोड़कर मध्यमा पकड़ ली इसने और अपनी चतुरतापर अब स्वयं मगन हो रहा है।

५९—चञ्चल

'श्याम, तू बड़ा चञ्चल है रे!' माता रोहिणीने किसी प्रकार कन्हाईका एक हाथ पकड़ा।

श्रीकृष्णचन्द्र पूरा दिन वनमें बिताकर लौटा है। सखा अपने गोष्ठोंमें गौएँ बाँधने गये हैं। उनके आनेके पहले मोहनको स्नान करा देना है। वस्त्र बदल देने हैं। सखाओंके आनेके पश्चात् यह सब होनेसे रहा। फिर तो यह उनके साथ धूम करनेमें लग जायगा। वे बालक आते ही होंगे और यह चपल कभी द्वारतक भाग जाता है, कभी किसी वस्तुको उलटता-पुलटता है और कभी कुछ करने लगता है। माता स्नान कराना चाहती है, किंतु यह बार-बार भाग जाता है।

'नहीं माँ, चञ्चल तो दाऊ दादा है!' श्यामसुन्दरने दूसरे हाथसे अपने बड़े भाईकी ओर संकेत किया। 'मैं तो खेलता हूँ, कूदता हूँ और दौड़ता भी हूँ। मैं चञ्चल कहाँ हूँ माँ?'

'दाऊ क्या चञ्चलता करता है?' माता जानती हैं कि उनके इस नन्हे कृष्णके शब्दकोषमें शब्दोंके ऐसे-ऐसे अर्थ हैं, जिन्हें कोई ऋषि-मुनि भी नहीं जानता होगा।

'दाऊ दादा तो बहुत कम खेलता है।' कन्हाईने फिर बड़े भाईकी ओर देखा। 'वह जो बड़ा भारी भाण्डीरवट है न, इतना बड़ा' अपनी दोनों नन्ही भुजाएँ श्रीकृष्णने फैला दीं, मानो भाण्डीरवटकी पूरी विस्तृति हो गयी इतनेमें। माता अधरोंमें मुस्कराकर रह गयी।

'यह दाऊ दादा उसके नीचे जड़से सटकर गुमसुम देवता-जैसा बैठ जाता है।' श्यामने माताके मुखकी ओर देखकर कहा—'देख माँ, इस प्रकार देवता-सा बैठ जाता है दादा!'

कन्हाई भूमिपर वहीं बैठ गया। उसने अपनी बायीं जाँघपर दाहिना चरणतल रख लिया। पीठ सीधी करके नेत्र अधमुँदे कर लिये।

श्रीव्रजराजका प्राङ्गण, समीपमें रंग-बिरंगी साड़ी पहिने वात्सल्यमूर्ति माता रोहिणी और एक ओर श्रीबलराम। कन्हाई अपने अग्रजका अनुकरण कर रहा है। कटिमें पीताम्बरकी कछनी, कण्ठमें कौस्तुभ, वक्षपर वनमालाकी ओटसे झाँकता-सा श्रीवत्स। पटुका कहीं गिरा दिया है इसने। धूलि-धूसर अलकोंसे घिरा सुन्दर मुख, अर्धोन्मीलित विशाल नेत्र, वाम जानुपर लाल लाल चरणतल, घुटनोंपर पड़े पाणिपद्म, सीधा शरीर और ध्यानकी विचित्र मुद्रा। गोरज-मण्डित मृदुल श्याम अङ्गकी यह शोभा—विभूतिभूषित कोई योगीश्वर भी इस छटाके चिन्तनसे कृतार्थ हो सकता है।

'कनूँ, क्या कर रहा है तू?' मैया यशोदा प्रतीक्षा कर रही थी कि उसका कन्हाई स्नान करके कलेऊ करने आता होगा और यह तो अभी यहाँ योगिराज बना बैठा है।

'मैं कह रहा था, दाऊ दादा बहुत चञ्चल है!' श्याम झटपट उठकर मैयाके पास पहुँच गया। कौन चञ्चलताकी इस परिभाषाको अस्वीकार कर सकता है?

६०—ऊँघ

'राम, दूध पी ले, बेटा! तू दूध पी तो श्याम भी पीयेगा।' माता रोहिणी अपने आगे बैठाये है अपने स्वर्णगौर कुमारको। दाऊ दोनों चरण आधे मोड़े बैठ गया है और उसके दोनों हाथ भी दूधके कटोरेपर हैं, किंतु नेत्र बंद हैं। अलकें बिखरी हैं मुखपर। वह अधर कटोरेपर लगाकर भी ऊँघ रहा है। माता अपने हाथसे कटोरा सम्हाले है और बार-बार स्नेहपूर्वक दूध पी लेनेके लिये कह रही है।

'दूध पी तो श्याम भी पीयेगा।' नींदके वेगमें भी दाऊ जैसे कुछ-न-कुछ समझ लेता है इस बातको। उसके अधर हिल जाते हैं। बहुत छोटे दो-एक घूँट लेकर वह फिर ऊँघने लगता है।

'लाल, तू नहीं पीयेगा तो तेरा दादा भी भूखा रह जायगा।' मैया यशोदाके पास भी यही एक मन्त्र है। उनकी गोदमें यह औंधा लेटा, दोनों चरणें फैलाये जो नील-सुन्दर है, वह दाऊकी भाँति शान्त तो है नहीं। कटोरा पकड़ना तो दूर, मुखके पास कटोरा ले जानेपर यह अपने हाथसे उसे हटा देने, दूध फैला देनेका प्रयत्न नींदमें भी करता है। मैया एक हाथमें कटोरा लिये है और दूसरेसे इसे सम्हाले है। बड़ा भाई इसके दूध न पीनेसे भूखा सो जायगा, इस नामपर इसके भी अधर दो चार बूँद दूध भीतर ले लेते हैं।

'दोनों दिनभर गायोंके पीछे वन-वन भटकते हैं। बालकोंके साथ घूम मचाते रहते हैं। थक जाते हैं बहुत अधिक।' माता रोहिणीके नेत्र भर आये हैं। वे दाहिने हाथमें कटोरा सम्हाले हुए बायें हाथको बढ़ाकर मैयाकी गोदमें लेटे श्यामसुन्दरके फैले हुए चरण बहुत धीरे-धीरे दबाने लगी हैं।

'कितना मना करती हूँ, पर दोमेंसे एक भी नहीं मानता।' मैयाके नेत्रोंमें अपार वात्सल्य है। अब ये दोनों ही सो गये हैं। कटोरेका पूरा दूध तो जगते रहते भी कभी पीया नहीं इन्होंने, पर दो घूँट भी पी लें तो माताओंको सतोष हो जाय। दिनभर थकते हैं, दूध भी नहीं पीयेंगे तो दुबले हो ही जायँगे।

'पी ले, लाल! पी ले, बेटा।' दोनों माताएँ बार-बार आग्रह कर रही हैं। ये दोनों ही पूरी ऊँघमें हैं। यदा-कदा ही हिलते हैं इनके अधर। बहुत थोड़ी बूँदें कण्ठसे नीचे उतर पाती हैं।

पास पास आमने-सामने बैठी हैं दोनों माताएँ। माता रोहिणीके सामने नेत्र बद किये बैठा दाऊ और मैया यशोदाकी गोदमें लेटा कन्हाई। बद हैं दोनोंके विशाल दृग्। बिखरी हैं इनके चन्द्रमुखपर अलकें। दीपकके प्रकाशमें दूधसने इनके अधरोंकी अपूर्व छटा है। चिबुकतक आ गयी है दूधकी रेखा। इन दोनोकी यह ऊँघ—पर कहीं किसी भी जागरणमें क्या इतना सौन्दर्य सम्भव है?

६१—मल्लयुद्ध

'दादा, मैं तुझसे लड़ूँगा।' श्यामके लिये यह नयी बात नहीं है। श्रीदाम, भद्र, सुबल आदि उसे प्राय. पटकनी दे देते हैं। सखाओंसे द्वन्द्व करके तो हारनेमें और हारकर भी अपनेको विजयी तथा जयीको पराजित बताकर चिढानेमें आनन्द है। द्वन्द्वमें जीतता तो कन्हाई दाऊसे ही है। वैसे वह भी समझता है कि तोकको जैसे सब जयी बना देते हैं, वैसी ही जय उसकी भी है।

'अच्छा आ।' दाऊ जानता है कि उसके इस सुकुमार छोटे भाईको दूसरे मल्लक्रीड़ामें बहुत थका देते हैं।

पटुके उतारकर दोनोंने एकत्र रख दिये। उनके ऊपर ही रख दीं मालाएँ, वेत्र, शृङ्ग और मुरली। अलकें समेटकर बाँध लीं। कछनी कसकर पूरी कछनी कर ली गयी। अब दोनोंने ताल ठोंकी।

श्रीयमुनाजीकी सुकोमल बालुकापर बालकोंकी क्रीडा चल रही है। दौड़कर एक-दूसरेको छूना, कूदना, वृषभ बनकर सिरसे टक्कर लेना—सब विभिन्न खेलोंमे लगे हैं। उनके मध्य ये राम-श्याम मल्लयुद्ध कर रहे हैं।

कन्हाई चिड़ियाकी भाँति फुदकता है और मछली-सा चिकना तो है ही। वह इधरसे उधर कूदता है। दाऊ जान-बूझकर उसे बार-बार सरक जाने देता है।

राम और श्याम—इन्दीवर और स्वर्णकमलकी परस्पर गुँथी यह जोड़ी। दोनोंके मुख किंचित् लाल हो रहे है। दाऊ छोटे भाईको प्रोत्साहित कर रहा है और श्याम प्रयत्न कर रहा है—बल लगा रहा है।

'दादा तो हार गया।' श्यामसुन्दर ताली बजाकर हँसा।

'अभी तूने चित कहाँ किया?' दोनों घुटने मोड़े, दोनों हाथ सिरसे आगे किये दाऊ रेतपर स्थिर पड़ा है—'चित कर।'

कन्हाई अब फिर जुट गया है। बड़े भाईकी पीठपर लेटकर कभी उसका हाथ खींचता है, कभी पैर। कभी एक ओर झुकता है और कभी दूसरी ओर। अब उसके भालपर स्वेद-सीकर चमकने लगे हैं।

'दादा, उठ तू।' कृष्णचन्द्रने दाऊको चित कर दिया और बहुत प्रसन्न हुआ। अपने दादाके ऊपर चढ़कर वह

बैठ नहीं सकता । दाऊ तो चित होकर चुपचाप पड़ गया है। वह जैसे विश्राम कर रहा है। कन्हाई उसके दाहिनी ओर पेटके पास सटकर बैठा है और मुट्ठी-मुट्ठी रेत उसके पेट तथा छातीपर डालकर कभी-कभी मल देता है।

धूलि-धूसर ये गौर-श्याम अङ्ग, यह मल्लयुद्धके पश्चात् अलस भाव—वायु अपने कोमल करोंसे इनका स्वेद सुखानेमें लग गया है।

६२—भोला श्याम

'कनूँ, तेरा पटुका कहाँ गया ?' दाऊने देखा कि उसके छोटे भाईके कंधेपर पीतपट नहीं है। यह कन्हाईकी कोई नयी बात नहीं। एक मुरलिका तो इसे प्राणोंसे प्यारी है। उसे फेंटमें खोंसे रहेगा, हाथमें लिये रहेगा, काँखमें दबाये रहेगा। सोते समय भी उसे पासमें सम्हालकर रखेगा। किंतु दूसरी सब वस्तुएँ—पटुका, वेत्र, शृङ्ग, माला आदि जहाँ चाहे वहाँ डाल देगा और भूल जायगा। दाऊको ही इसकी वस्तुओंका ध्यान रखना पड़ता है।

'हूँ !' श्यामने अपने वक्षकी ओर देखा। इसे अबतक यही पता नहीं कि पटुका कंधेपर नहीं है। फिर दोनों हाथ थोड़े फैलाकर एक बार बड़े भाईकी ओर देखकर वह ऐसे हँस पड़ा—'अरे, वह तो खो गया।'

'सुबल, तूने चुराया है क्या ?' कृष्णचन्द्र जानता है कि यही बात श्रीदामसे कहनेपर वह झगड़ने लगेगा।

'मैं क्यों छिपाने लगा।' सुबलने तटस्थ उत्तर दे दिया।

'कोई मुस्कराता नहीं, कोई हँसता नहीं, कोई नेत्र मटकाकर दूसरेसे संकेत नहीं करता। तब पटुका क्या हुआ ?' श्यामने सखाओंके मुखकी ओर घूमकर देखा, किंतु उसे शङ्का करनेका कोई चिह्न नहीं मिला।

'कनूँ, मैं बताऊँ ?' तोकने आकर हाथ पकड़ लिया और उत्तरकी अपेक्षा किये बिना बताया उसने—'तेरा पटुका धर्मने लिया है। वह रहा वह !'

'अरे, हाँ !' दोनों हाथोंसे ताली बजाकर प्रसन्नतासे श्यामसुन्दर कूद पड़ा और दौड़ा। अपने सफेद बड़े वृषभकी पीठपर पटुका रखकर खेलमें लग गया था, वह उसे भूल ही गया। धर्म अब उठ खड़ा हुआ है। वह पीठपर पटुका लिये चरनेमें लग गया है। उत्तुङ्ग उज्ज्वल वृषभकी पीठपर श्यामका स्वर्णिम पीतपट। श्यामसुन्दर दौड़ रहा है—दौड़ा जा रहा है।

पटुका उतारकर कंधेपर रखकर मोहन फिर दौड़ा आया और बड़े भाईके आगे आकर खड़ा हो गया।

सघन पुष्पित वनोंमें थोड़ी दूरपर गायें चर रही हैं। तमालके नीचे एक शिलापर नीलाम्बरधारी दाऊ बैठा है। उसके आस-पास गोपकुमार खड़े तथा बैठे हैं। उसके सामने आकर यह खड़ा हो गया उसका छोटा भाई।

दौड़नेसे भालपर स्वेद-बिन्दु झलमला आये हैं। कमल-मुख अरुणाभ हो उठा है। बहुत प्रसन्न है मोहन दोनों हाथोंसे पटुकेके दोनों छोर कुछ उठाये। मानो उसके नेत्र कह रहे हैं—'दादा, यह रहा मेरा पटुका। देख, मैं ढूँढ़ लाया।'

६३—मानद

'श्याम, मैं हार गया।' श्रीदाम इस कन्हैयाके समान झंझटी नहीं है। बार-बार खेलमें वह जीतता है, एक बार हार ही गया तो क्या हुआ ? उसे अपनी हार छिपानी नहीं है।

'कनूँ, मैं हार गया क्या ?' यह तोक भी कूदता हुआ निर्णय लेने आ पहुँचा है।

'तू भी कहीं हारता है ? तू तो जीत गया है।' सच्ची बात है, तोक कभी हारता नहीं। वह चाहे जिस पक्षमें रहे, पक्ष हारे या जीते, तोक तो जीतेगा ही। नन्हे तोकको भला पराजित कौन कह सकता है। उसे तो सभी अपनी पीठपर ढो देना चाहते हैं।

'नहीं, मै हारूँगा !' आज तोकको दूसरी धुन है। वह हारका रस लेना चाहता है।

'तू किसको ढोयेगा ?' श्याम हँस पड़ा।

'दाऊको, वृषभको, श्रीदामको, विशालको—सबको।' उमगमें तोक एक स्वरसे सब बड़े तगड़े बालकोंके नाम गिना गया।

'तब इस श्रीदामको पहले ढो।' कन्हाईने परिहास किया।

'दाम ! आ बैठ तू मेरी पीठपर।' तोक हाथ और घुटनोंके बल लेट गया झटपट।

'मैं तो हार गया हूँ।' श्रीदामके नेत्रोंमें पराजयका खेद है। वैसे इस तोकको वह अनेक बार ढो चुका है। तोकको ढोनेमें हार-जीत क्या ? वह जिसकी पीठपर

बैठना चाहे, वही हँसकर अपनेको हारा मान लेगा और ढोयेगा उसे।

'तुझे गिनना भी नहीं आता। अभी तो खेलका एक दावँ बाकी ही है।' श्याम हार जाय तो श्रीदामसे झगड़ लेगा कि नहीं हारा है। दावँ देनेसे भाग खड़ा होगा, किंतु किसी सखाके नेत्रमें खेदकी रेखा उससे सही नहीं जा सकती।

'क्या एक दावँ बाकी है ?' श्रीदाम चौंका। उसने गिनती तो ठीक की है, किंतु कहीं भूल गया होगा। उसके नेत्रोंमें उल्लास आया। अब इस अन्तिम दावँमें कौन हारेगा, यह भी क्या पूछना है।

'दादा, तू बैठ मेरी पीठपर। मैं तुझे गिराऊँगा नहीं।' तोक अब दाऊसे आग्रह कर रहा है।

'चल, तुझे ऐसा पटकता हूँ कि तू भी समझेगा।' श्याम श्रीदामको खिझा रहा है।

श्याम और तोक दोनों नीलसुन्दर, दोनों पीताम्बर-परिधान, दोनों घुटनों और हाथके बल भूमिपर। श्यामकी पीठपर श्रीदाम और तोककी पीठपर दाऊ। दोनों स्वर्ण-गौर। दोनों नीलाम्बरधारी। दोनों चल अपने पैरों रहे हैं और पीठपर बैठनेका नाटक कर रहे हैं। एक जोड़ी है—'बस, अब रहने दे।'

और उत्तर—'ना, बैठा रह तू।'

दूसरी जोड़ी है—'उतर, नहीं तो पटकता हूँ।'

ऊपरसे—'अभी चुपचाप चला चल।'

६४—छाक आयी

'दादा, दादा, छाक आ गयी!' श्यामसुन्दर प्रसन्नतासे नाच उठा है। पर्वतकी ऊँची चोटीपर यह यहीं देखने चढा था कि छाक आ रही है या नहीं। भूख इससे दो क्षण भी सही नहीं जाती और अब इसमें छाक लानेवालियोंका क्या दोष है कि उन्हें देर होती है। बेचारियोंको नित्य वन-वन भटकना पड़ता है। ये बालक बिना पता-ठिकाना दिये कभी एक ओर तो कभी दूसरी ओर बछड़े हाँक लाते हैं।

'सुबल! तोक! भद्र! अरे छाक आ गयी। दौड़ आओ! दौड़ आओ सब!' श्रीकृष्ण कूदता-उछलता उतर रहा है। एक प्रपातके पास बैठे अपने बड़े भाईके पास दौड़ा आ रहा है।

'दादा, छाक आ गयी!' मोहन वर्षासे धुली शिलाको आसन बनाकर बैठ गया है दाऊके पास, किंतु यह क्या ऐसे बैठ सकता है? दो-दो क्षणपर खड़ा होता है, उचक-उचककर देखता है—'इतनी देरमे भी सब नहीं आयीं ?'

'सब छाक मेरी है। है न ?' अब यह भी कोई बात है। छाक तो प्रायः सबके घरोंमे आती है, पर श्यामका हठ है कि उसीकी मैयाने सब छाक भेजी है।

'सब तेरी ही है, लाल!' ये छाक लानेवाली गोपियाँ मोहनकी ओर चुपचाप देखने लगी हैं। 'अब तू अपने मित्रोंके साथ भोग लगा।'

'तुम सब बैठ जाओ!' श्यामसुन्दर पूरी सामग्री अपने सामने रखकर बैठ गया है। अपने हाथों ही वह सबको परसेगा। यह काम छाक लानेवालियोंको कभी वह करने नहीं देता।

'तू बस नमक खा ले!' यह उपहास तो चलना ही है। किसीको केवल अचार, किसीको केवल दो चावल और किसीके सामने मोदकोंका बड़ा भारी स्तूप लगाकर यह अब हँसेगा। बालक कहीं इस प्रकार भोजन करते हैं? किसके सामने क्या रखा गया, इसका प्रश्न कहाँ है। पूरे पदार्थ ही सबके सामने हैं। जिसे जहाँसे जो रुचे, उठा ले और जब कोई आधा मोदक दाँतसे काटकर शेष कन्हाई, दाऊ या किसी दूसरेके मुखमें देने लगेगा—'देख कितना स्वादिष्ट है!' भला, कौन मुख बद कर सकता है उस समय।

'तेरा माखन खट्टा है! सब मुझे दे दे!' यह खट्टे माखनकी पहचान आपने न सुनी हो तो इस मण्डलीमे सुन जायँ।

'दादा, देख न—कितना मीठा दही है।' पूरा दाहिना हाथ दहीमें डुबाकर श्यामसुन्दरने थोड़ा-सा खाया और हाथ बड़े भाईके मुखकी ओर कर दिया। दाऊ अब उसकी अँगुलियाँ मुखमें लिये दहीका स्वाद ले रहा है।

'कनूँ, देखें हम!' सभी उत्सुक है हाथ रोककर कन्हाई-की दहीसे उज्ज्वल अँगुलियाँ चाट लेनेके लिये।

आपके मुखमे पानी नहीं आता क्या? न आये तो आप पूरे कर्मकाण्डी!

६५—आँख-मिचौनी

'दादा! मै बताऊँ, भद्र कहाँ छिपा है?' यह कनूँ इतना भी नहीं समझता कि उसे स्वय भी छिपना चाहिये। दाऊको नेत्र बद करना था। दूसरे बालकोंके साथ श्याम भी भागकर

कुञ्जोंमें छिप तो गया, किंतु जब दाऊ नेत्र खोलकर इधर-उधर देखने लगा है, तब यह अपने-आप निकल पड़ा है बताने।

'तू छिप तो सही!' दाऊका यह छोटा भाई कितना भोला है।

'अच्छा, तू आँख बद कर तो मैं उस माधवी-कुञ्जमें छिप जाऊँ।' यह अच्छी रही। छिपनेवाला पहले बताये दे रहा है कि वह कहाँ छिपेगा। श्याम न भी बताये तो भी क्या होता है। वह छिप कहाँ सकता है। जहाँ वह छिपेगा, मयूर घूम फिरकर वहीं नाचेंगे, भौंरे वहीं मँडरायेंगे, बदर वहीं उछल-कूद करेंगे और बछड़े वहीं दौड़-दौड़ जायेंगे। फिर अपनी अङ्ग-कान्तिको कृष्णचन्द्र कहाँ छिपाये? वह छिप नहीं पाता और वही छिप रहे तो उसे ढूँढेगा कौन?

'मैं यहाँ हूँ, दादा!' श्याम पुकारता नहीं, पर कुञ्जमेंसे बार-बार झाँकता है, फुसफुसाता है और हाथ हिलाकर बुलाता है। उसका यह 'दादा' उसे क्यों नहीं ढूँढता? वह क्यों दूसरे बालकोंको ढूँढ रहा है? कृष्ण अब ऊब गया है। वह निकल आया है कुञ्जसे—'मैं नहीं छिपूँगा। तू छिप जा, मैं ढूँढूँगा।'

'मैंने तुझे देख लिया है।' कन्हाई ढूँढेगा तो यही झगड़ा होगा। वह खेलके एक भी नियम समझता नहीं और झगड़नेको सदा उतारू रहता है। अब आज सुबलसे उलझ पड़ा है।

'तूने देख लिया तो क्या हुआ, छुआ तो नहीं।' सुबल क्यों अकारण 'चोर' बने?

'आँखसे तो छू लिया था!' अब इन दार्शनिक-सार्वभौम-जीको कौन समझाये कि खेलमें आँखसे देखना स्पर्श नहीं माना जा सकता।

'हाथसे तो हाथ नहीं छुआ था!' सुबल हँस पड़ा।

'ले, अब छू लिया।' कन्हाईने हाथ पकड़ लिया उसका।

'अब छूनेसे क्या होता है?' बात तो ठीक है, पर जब यह नटखट माने। यह तो सदा ऐसे ही झगड़ता है।

'होता क्यों नहीं?' किसमें इतनी बुद्धि है जो इन देवताको समझा सके।

'सुबल! कनूँके बदले मैं दाँव दूँगा।' दाऊ छोटे भाईका झगड़ा निबटाने प्रायः आगे आ जाता है।

'ना, मैंने इसे छू लिया है।' मोहन तो अपना हठ ही करेगा।

'अच्छा, मैं सुबलके बदले दाँव देता हूँ।' दाऊ विवादको समाप्त करना चाहता है।

'आँख तो मैं बद करूँगा। मैं ढूँढूँगा सबको। तू छिप जा!' कृष्णचन्द्र अब बड़े भाईका हाथ पकड़कर उसे छिपनेको कह रहा है। यह सदाका ढूँढनेवाला—ढूँढनेमें ही आनन्द आता है इसे।

६६—आँधी आयी

'हम्मा!' गायोंने कान खड़े कर लिये है। चरना बद करके वे स्वय एकत्र हो गयी है झुड-की-झुड और अब लगता है कि गोष्ठको भागनेवाली ही हैं।

'कनूँ! देख, आँधी आ रही है।' कपि इधर-उधर छिपने लगे है। पक्षी उड़ते हैं आकुल-से और चीलें ऊपर—खूब ऊपर मण्डल बनाकर चक्कर काटने लगी हैं। गोपकुमार ठीक ही तो कहते हैं कि आँधी आ रही है। दिशाएँ धूमिल हो रही हैं और पश्चिम आकाशमें कपिश रगकी घटा-सी घेरे आ रही है, किंतु कन्हाई तो नाच रहा है। यह दोनों हाथ पूरे फैलाकर गोल-गोल घूम रहा है।

'दादा, अभीसे हम घर चलेंगे?' अभी सायकाल होनेमें देर है, परतु गायें और बालक तो घर जानेको प्रस्तुत होने लगे हैं।

'आँधी आ रही है। चल, हम भाग चलें।' दाऊ चाहता है कि कृष्णचन्द्र अब घर चले।

'गायोंको हाँक दो!' श्यामने सखाओंको सम्मति दे दी। जब सब चलना चाहते हैं, तब ऐसा ही सही, किंतु अभी कुछ देर और नाच लेना चाहता है वह। 'दादा, मैं तेरे साथ अभी चलता हूँ।'

'भाग, कनूँ!' अब दाऊने हाथ पकड़ा छोटे भाईका। आँधी तो आ ही गयी। वृक्ष भरपूर हिलने लगे हैं। धूल उड़ी आ रही है। गायें भागकर भी भाग नहीं पातीं। वे बार-बार घूम आती हैं श्यामसुन्दरको देखने।

'दादा!' अब भागा यह कन्हाई बड़े भाईका हाथ पकड़कर। उड़ रही हैं अलकें, उड़ रहा है मयूरपिच्छ, हिल रही है वनमाला और फर्र-फर्र हो रही है कछनी। मुख नीचे किये, एक दूसरेसे सटे भागे जा रहे हैं राम-श्याम।

'अरे!' हाथसे पकड़े रहनेपर भी उड़ गया पीतपट। वह गया, वह गया।

'तू ठहर!' दाऊ झपटा, किंतु मोहन उसका हाथ कहाँ छोड़ रहा है।

'मेरा पटुका स्वर्ण-यूथिकाने ओढ लिया है!' अग्रजकी ओर देखकर कृष्णचन्द्र हँस पड़ा।

'यह फिर उड़ जायगा। तू इसे भी बाँध ले।' मोहन लतापरसे उतारकर अपना पटुका अब दाऊकी कटिमें ही लपेट रहा है।

'वृक्षोंके नीचे नहीं जाना चाहिये!' दाऊ कह तो ठीक रहा है, पर गुफा दूर है अभी। दोनों भागे जा रहे हैं। भागे ही जा रहे हैं सिर झुकाये।

कृष्णदीवानी ताज

[कहानी]

(लेखिका—श्रीसुनीता अग्रवाल)

[हमारी इस कहानीका समय १६ वीं शताब्दी है। उस समय उत्तराखण्डमें मुगल-सम्राट् अकबरका झंडा फहरा रहा था। उसी परम प्रतापी अकबरके हरममें ताज भी थी। इसी कृष्णदीवानी ताजकी किंवदन्तियोंके आधारपर यह कहानी है। इतिहास भी तो स्वयं किंवदन्तियोंके अतिरिक्त और है ही क्या? लेखिका—]

उस समय हिंदुस्तानमें मुगलोंका झंडा पूरी तरह फहरा नहीं सका था। अभी उत्तरी भारतके भी कुछ इलाके जीते नहीं जा सके थे। उन्हीं दिनों आगरेमे अब्बास खाँ नामका एक मुगल जागीरदार, जो बैरम खाँकी उम्रका था और जिसने बाबर, हुमायूँ और अकबरके लिये उन्हींके साथ लड़ाइयाँ लड़ी थीं, अपनी एकमात्र सतान ताजके साथ रहता था। ताजका बचपनका नाम हमीदा था। उसकी माँ बचपनमे ही चल बसी थी। इसीलिये बापका लाड-प्यार उसे खूब मिला था।

अब्बासखाँ पाँचहजारी मनसबदार था। उस उम्रमे भी, जब कि उसके सारे दोस्त कब्रोंमें कयामतकी प्रतीक्षा करते हुए सो रहे थे, वह अपने कर्तव्यपर डटा था। वह बाबर और हुमायूँकी निशानी अकबरकी तब भी सेवा कर रहा था जब कि बैरम खाँ सिपहसालार गद्दारी दिखा चुके थे।

अकबरपर ही नहीं, सारे मुगलवंशपर उसके बड़े एहसान थे। खुद अकबरको भी एक बार लडाईमें दुश्मनके घेरेसे उसने निकाला था, परिणामतः वह भी उसे बहुत मानता था।

एक दिन जब अकबर दरबारमें बैठा राज्यके बारेमें बातें कर रहा था, तभी उसको खबर मिली कि चाँदबीबीके किलेपर कुमुककी जरूरत है, वहाँ मुगल-सेनाकी कमी है। अकबरका चिन्तित मुख देखकर अब्बास खाँ दरबारमें शेर-जैसा गर्जा—'जहाँपनाहको अल्लाहताला सेहत बख्शे, वे आफताब-सी चमक और महताब-सी ठडक लेकर आलममें सुकून बरसाएँ। मालिकेहिंद शाने मुगलानाको इस खबरसे फिक्रमन्द होनेकी जर्रेभर भी जरूरत नहीं। अभी हजूरके खादिम अब्बास खाँ-जैसे, जो शहशाहके इशारेपर ही खूनकी दरिया बरसा सकते, बर्केतबाँ बनकर दुश्मनोंपर टूट सकते हैं, बहुत तादादमें मौजूद हैं। आका इशारा करे तो यह बूढा अब्बास ही, जिसकी रगोंमे बाबर-हुमायूँके नमककी नमकीनी अब भी मौजूद है, चाँदबीबी-जैसी हजारोंको काफी है।' सारा दरबार 'शहशाह अकबर जिंदाबाद' के नारोंसे गूँज उठा।

जब दरबारमें शान्ति छायी, तब अकबरने गम्भीरतासे कहा—'हमें अपने सिपाहियों और अपने सिपहसालारोंसे यही उम्मीद है और भरोसा भी है। लेकिन अब्बास खाँ!

तुम्हें यह नहीं भुला देना चाहिये कि तुम्हारा शहंशाह अभी बचा है; तुम हमारे सिपहसीलार ही नहीं, सरपरस्त भी हो, हमें डर है कि अनगिनत गुमनाम मुगलोंके खूनसे सींचे हुए सल्तनतके इस दरख्तको तुम्हारा नासमझ बादशाह कहीं गुमराहीकी आँधीमें उखडकर गिर न जाने दे। हमें, मुगल सल्तनतको अभी तुम्हारी और तुम-जैसे दूसरे वफादार सरदारोंकी जरूरत महसूस होती है। इस कामको कोई और मनसबदार भी बाआसानी, बाखुशी और बाहोशियारी अन्जाम दे सकता है।'

दरबार फिर मुगल सल्तनत और शहशाह अकबरके नारे लगाने लगा। अब्बास खाँने फिरसे अपने ही जानेकी इच्छा प्रकट की और वह इस आज्ञाको पा गया।

अब्बास खाँ अपने महलपर आया। वहाँ सोलह सालकी कमसिनीमे दबी, नजाकतकी पुतली हमीदा खड़ी थी। उसे दिलासा देकर वह लडाईपर चला गया। हमीदाने अपने बापको बहुत बार इस तरह लडाइयोंपर जाते देखा था और हर बार विजयी होकर वापस लौटते हुए भी, पर आज, न जाने क्यों, यह उसे भेजनेसे डर रही थी। उसने अपना दिल खोला। अब्बास खाँ इसपर बहुत जोरसे हँसा और बोला—'नादान! सल्तनतके हर शख्सका बाप सल्तनतदा होता है। अगर खुदा-न-ख्वास्ता मेरा साया तेरे सरसे उठ भी गया तो मेरी रूहका साया और तेरे शहंशाहका साया तुझपर रहेगा। नेकदिल शहंशाह तुझे देखेगा।' अब्बास खाँ अपनी फौजको लेकर चला गया। हमीदा रोती रह गयी।

अकबर अपनी प्रजाकी भलाई-बुराईका सदा ध्यान रखता था। उसे मालूम था कि अब्बास खाँके बाद उसकी लडकी हमीदा वहाँ रह गयी है। उसकी खैर-खबर रखना अकबरने अपना कर्तव्य समझा और इसी कामके लिये एक रातमें भेष बदलकर वह अब्बास खाँके महलमें आकर दाखिल हो गया।

चाँदनी रात थी, वहाँ हौजमें हमीदा नाव चला रही थी। छोटी-सी डोंगीमें बैठे-बैठे वह गीत गाती जा रही थी और मग्न अकबर उसे सुन रहा था। अकबर गीतसे ऐसा मस्त हो गया, जैसे बीनसे मृग। वह वहीं खड़ा रहा। नाव जब किनारे लगी तब हमीदा चीख उठी। अकबरका ध्यान तब टूटा और उसे यह बताकर कि वह उसके बापकी अनुपस्थितिमें इसलिये छोडा हुआ अकबरका एक आदमी है कि उसकी सब खैर-खबर ली जाती रहे।

हमीदा अपने इस हितैषीको पाकर बहुत खुश हुई। साथ ही शहंशाहपर भी उसे अगाध श्रद्धा हो गयी।

× × ×

अकबरको हमीदा बहुत अच्छी लगी, वह उसे हमेशा ही देखते रहना चाहने लगा। हमीदाकी कोयल-सी आवाज रह-रहकर उसके कानोंमे गूँजती।

दूसरी रातको फिर वह उसी भेषमें हमीदाके सामने अचानक पहुँचा। उसने जान-बूझकर हमीदाके सामने कई ऐसे काम किये कि हमीदाको हँसी आ गयी। अकबर यहाँ छिपकर आया था, इसलिये उसे इस बातका भी डर बना हुआ था कि कहीं कोई उसे देख न ले।

× × ×

हमीदा भी धीरे-धीरे अकबरसे प्रेम करने लगी। वह रोज रातको हौजमें नाव डाले, मोमबत्ती जलाये, अकेली उसके इतजारमें बैठी गाती रहा करती, अकबर भी हमेशा ही नये ढगसे आ-आकर उसे एक बार डरा दिया करता। फिर दोनों नावमें बैठकर बहारोंके मजे लूटा करते। इसी तरह कई दिन हँसी-खुशीमें बीत गये।

× × ×

एक दिन खबर आयी कि चाँदबीबीका किला जीत लिया गया है, लेकिन अब्बास खाँकी शहादतकी कीमतके

बदले। अकबरको इस खबरसे बड़ा धक्का लगा। वह इस खबरको लेकर हमीदाके सामने जानेमे बहुत घबराने लगा। लेकिन अब्बास खॉ-जैसे मनसबदारकी मौतकी खबर छिप भी कैसे सकती थी। अफवाह हमीदाके पास भी पहुँच ही गयी। वह बिलबिला उठी।

रात आयी, अकबर राज्यके सारे कामोंसे छुट्टी पाकर एकान्तमें पहुँचा। अब उसका समय हमीदाके लिये रह गया था। वह वहाँ जाना चाहता था। लेकिन आज उसकी हिम्मतने हथियार डाल दिये थे। वह हमीदाके बूढे बापका साया उसके सरसे उठवा देनेका जिम्मेदार था। वह इसी अपराधके कारण आज उसके सामने जानेसे डरता था। लेकिन उसके नेक दोस्त टोडरमलने उसे समझाया और कहा—'शहशाहे हिंद! हमीदाका सरपरस्त अब्बास खॉ नहीं, बल्कि उसके मुल्कका मालिक है। उसकी ही जिम्मेदारी है हमीदाके जान-मालकी हिफाजतकी। एक हमीदा नहीं, इस मुल्ककी करोडों हमीदा और अब्बास खॉकी जानोंके हुजूर मालिक हैं। आज इस दु खके मौकेपर जाकर उसको तसल्ली देनेका जिम्मा आपका ही है। यह आपका फर्ज है। और हिंदुस्तानका नेक बादशाह अपने फर्जसे कभी पैर पीछे नहीं हटायेगा।'

अकबर हमीदाके पास गया। आज हमीदाका महल सुनसान और अँधेरा पड़ा था। जैसे कोई राहगीर रास्तेमें लुटा-पिटा पडा हो—हताश, नाउम्मीद। अकबर पैर तो आगे बढाता, लेकिन उसकी हिम्मत फिर जवाब दे देती। टोडरमल भी आज साथ था। वह उसे बढ़ाता। अकबर हर कदमपर पीछे लौट चलनेकी बात सोचता, लेकिन उसका कोई भी कदम नहीं मुड़ा।

× × ×

हमीदा अपने आरामगाहमें औंधी पडी थी। वह तब भी सिसक रही थी। कुछ देर बाद अकबरका प्यार-भरा हाथ उसकी कमरपर फिरा, उसने मुडकर देखा। अपने प्यारे सिपाहीको शानदार लिबासमे देखकर एक बार तो वह फूली नहीं समायी, पर दूसरे ही क्षण बोली, 'सिपहिया! तुम शायद आज खुश हो, तभी तो शानदार कपड़े पहनकर आये हो, मेरे अब्बा, खुदा उन्हे जन्नत बख्शे, आज हमसे दूर हो गये हैं। मुझे आज कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। तुम भी मुझे अच्छे नहीं मालूम हो रहे हो, सिपहिया!'

टोडरमलको पहले 'सिपहिया' सुनकर तो ताज्जुब हुआ था, पर दुबारा वही शब्द सुननेपर उसको अकबरने सारा रहस्य बता दिया। वह बहुत घबरायी। भागकर बराबरके कमरेमे छिप गयी।

टोडरमलने अकबरको समझाया कि 'औरतका सच्चा सरपरस्त उसका खाविन्द होता है और हमीदाका दु ख तभी दूर हो सकता है, जब अकबर उससे शादी कर ले, क्योंकि यह लडकी उसे ही चाहती है।' अकबरको उसकी बात माननी पडी।

अकबरने हमीदाको जाकर बताया कि हमीदा अकबरके दिलका ताज बनेगी और उसका नाम तब ताज होगा। हमीदाको खुशी और अफ़सोस दोनों ही हुए। वह राजी भी हो गयी।

× × ×

अकबरके हरममे हमीदा ताज होकर आ तो गयी, लेकिन वहाँ उस-जैसी और भी कितनी ही थीं। नारी स्वभावसे ही अपने पतिको ससार समझती है और उसपर वह एकाधिकार भी चाहती है। जब उसपर यह अधिकार नारीको नहीं मिलता, तब वह इधर-उधरसे सहायता लेकर यह अधिकार पाना चाहा करती है। हरममें बीरबलकी बेटी शोभावती और राय वृन्दावनदास-जीकी बेटी लीलावती बहुत आया-जाया करती थीं। ताजसे उनकी दोस्ती हो गयी।

उनसे वह कृष्ण और गोपियोंकी कथा और श्रीविट्ठल-नाथजीके विषयमें सुना करती। विट्ठलनाथजीके बहुत-से

आश्चर्यजनक कार्य सुना करती। एक दिन उसने विट्ठलनाथजीसे एक ताबीज शोभावतीके द्वारा मँगवाया कि उसका पति उसके वशमें रह सके।

तावीज आ गया। लेकिन वह छिपा नहीं रह सका और जब दूसरी सौतोंको यह पता चला, तब वे चिढ़ गयीं। उन्होंने अकबरके कान भरे। अकबरने इसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। लेकिन जब बात बढ़ती देखी, तब वह ताजके पास गया और उससे इधर-उधरकी बात करते हुए ताबीजपर, जो इस समय भी ताजके गलेमें था, बातें करने लगा। ताजने भेद नहीं छिपाया और साफ-साफ बता दिया।

अकबरने ताबीज तुड़वाकर देखना चाहा, लेकिन ताजने विरोध किया। इसपर अकबरको क्रोध आ गया। उसने खुद ताबीज गलेसे खींच लिया और उसे खुलवाकर पढ़ा। उसमें लिखा था, 'कामन टामन टोटका, ये सब डारो धोइ। पिया कहै सो कीजिये, आपुहि ते बस होइ ॥' अकबर इस दोहेको पढ़कर विट्ठलनाथजीपर बहुत श्रद्धा करने लगा और उनसे मथुरामें ताजके साथ मिलने भी गया।

ताजपर उक्त घटनाका और श्रीविट्ठलनाथजीके उपदेशोंका इतना असर पड़ा कि वह श्रीकृष्ण-प्रेममें लीन हो गयी। अकबरने भी उसे दीक्षा लेनेकी आज्ञा दे दी। दीक्षा लेकर वह फिर आगरे लौट आयी।

अब आगरेमें ताजका महल श्रीकृष्ण-पूजाका केन्द्र बन गया। सदा कीर्तन आदि होते रहते। सौतोंको, यहाँतक कि हिंदूरानी जोधाबाईको भी इससे चिढ़ हुई। उन्होंने अकबरके कान भरने चाहे, पर अकबरपर अब इन बातोंका कोई असर नहीं पड़ा। उसने ताजसे इस सम्बन्धमें कोई बातचीत नहीं की।

ताजका प्रेम इतना बढ़ गया कि परमप्रेमास्पद भगवान् उसके वशमें हो गये। वे रोज रातको ताजके बुलानेपर चौसर खेलने आया करते और ताज भी मग्न होकर चौसरमें लग जाती। वह प्राय. जीतती ही। एक दिन ताज बोली—'गोविन्द! तुम कैसे खिलाडी हो, कभी जीत ही नहीं पाते!'

गोविन्द भोली मुसकानसे बोले—'ताज! मेरे भक्तोंकी जीतमें ही मेरी जीत है। मुझे कभी यह चाह नहीं होती कि मैं अपने भक्तोंसे जीतूँ। उनसे तो मैं सदा ही हारा हूँ, मैं उनका खरीदा हुआ दास हूँ। वे अपनी भक्तिके मूल्यसे मुझे खरीद लेते हैं। फिर अपने मालिकसे जीतना क्या?'

ताजको इस बातसे मतलब ही कहाँ था कि गोविन्द क्या कह रहे हैं, लेकिन बाहर खडा अकबर इस आवाजको सुन चुका था। उसे ताजपर शक हुआ। वह अदर आया और चिल्लाया, 'ताज! तुम्हें जितनी आजादी दी गयी, तुम उसका उतना ही नाजायज फायदा उठाने लगी हो!'

'क्या कह रहे है, सरताज?'

'यहाँ कौन था?'

ताज हँसी और बोली—'मेरे भगवान् श्रीगोविन्दजी महाराज यहाँ थे ही नहीं, बल्कि अब भी हैं, आलमपनाह!'

अकबर चौंका। उसने देखनेकी कोशिश की पर उसे फिर दिखायी कुछ भी नहीं पडा। वह बोला—'कहाँ?'

'ये यहाँ।'

मुझे यकीन नहीं। मैं तो देख नहीं पा रहा। अगर भगवान् यहाँ हैं तो मुझे उनकी उपस्थितिका सबूत दो और महलके इन बुझे हुए दीपोंको पुन· जला दो। ताजने भगवान्से प्रार्थना की। दीप जल गया और तब भगवान् स्वय बोले—'नादान! तेरी माया, मोह और लोभसे सनी गंदी आँखें मुझे देख सकती भी नहीं।

मैं हर जगह हूँ—यहाँ भी, वहाँ भी, तेरे सरपर भी और तेरे पैरोंमें भी, पर जबतक ये माया, मोह जिंदा हैं तू मुझे कैसे देख सकता है ?'

अकबर गद्गद हो गया। उसे ताजपर श्रद्धा हो गयी। अपनेसे ग्लानि होने लगी। उसने कहा—'ताज! मुझे तुमपर शक हुआ था। पर खुदा करे हर शौहरको ऐसा शक हो। मैंने तुझे पापी समझकर खुद एक पाप किया है। आओ, अब मथुरा चलकर तुम्हारे गोविन्दके दर्शन कर इस पापको धो डालूँ।'

× × ×

दूसरे दिन ही अकबर और ताज शाही ठाटसे मथुरा चल दिये। तीसरे दिन विट्ठलनाथजीके और श्रीगोविन्दजीके दर्शन किये। वहीं एक सप्ताहतक अखण्ड कीर्तन हुआ। फिर एक दिन भगवान् श्रीगोविन्दने दर्शन दिये। ताज भगवान्के स्पर्शके लिये आगे बढ़ने लगी, किंतु एक सप्ताहके निर्जल उपवाससे उसमें ताकत नहीं रही थी। अकबरने चाहा कि सहारा दे, पर वह उसे छूनेका साहस नहीं कर सका।

वह खिसककर गोविन्दके चरणोंतक पहुँच गयी और वहीं अन्तिम साँस लेकर निश्चिन्त हो गयी।

अकबर भरे गलेसे बोला—'जिसकी चीज थी, उसीने ले ली!' वह वहाँसे आगरे लौट आया। कवियित्री ताजकी यादमें उसके महलकी जगह ताजमहलका निर्माण करा दिया।

अपरिग्रह

[देशके नवीन निर्माणमें इसका स्थान]

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

हमारे प्राचीन आचार्योंने साधारण जनताके लिये वर्णाश्रम-धर्मके आधारपर दैनंदिन जैसा जीवन-क्रम निर्धारित किया था, वह दिक्कालाद्यनवच्छिन्न, सार्वभौम एवं शाश्वत था। आधुनिक युगमें विज्ञानके विकासके साथ-साथ जनसाधारणके जीवनमें जो अधाधुंध परिवर्तन बड़े वेगसे हो रहा है, उससे जनसमुदायकी वास्तविक सुख-शान्तिमें उपचय अथवा अपचय हो रहा है—यह विषय सर्वत्र विद्वानोंके लिये विचारणीय हो रहा है। हिंस्र-वैज्ञानिक साधनोंसे सम्पन्न एक देश दूसरे देशोंको पराधीन करके अपने देशवासियोंके भौतिक-शारीरिक सुखकी वृद्धिके लिये दिन-रात प्रयत्नशील है। नये-नये हिंसक शस्त्रास्त्रोंके आविष्कारकी होड़ लगी है, जिस होड़में सारे संसारकी शक्तियाँ लग रही हैं और जनता सम्भाव्य महायुद्धके त्राससे चिन्ताग्रस्त हो रही है। उन देशोंके कुछ दूरदर्शी विचारवान् लोग इस त्रासको दूर करनेके विचारसे यदा-कदा जंगलों और पहाड़ोंके शान्त वातावरणमें बैठकर विचार करने लगे हैं। इसमें हमारे देशके अग्रणी लोग भी हाथ बँटा रहे हैं। यद्यपि ये अन्तरङ्ग गोष्ठीमें प्रवेश नहीं पा रहे हैं, तथापि अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिकी पूँजीके कारण इनके स्वरमें शक्ति भासित हो रही है और आशा की जाती है कि दिनोंदिन इनके विचारका मूल्य बढ़ता जायगा। यह हमारे देशके लिये आधुनिक युगमें कुछ कम गौरवकी बात नहीं है। परंतु विचारणीय यह है कि वास्तवमें हम कहाँतक गौरवके पात्र हैं। हमारी वास्तविक स्थितिका भेद खुल जानेपर क्या हम बाह्य जगत्में आदर पानेके अधिकारी रह सकते हैं? क्या हमारे पास पूर्वजोंका दिया हुआ सुखी जीवनके रहस्यका मूल मन्त्र अविकृत रूपमें रह गया है? क्या हम दिनोंदिन उस निधिको खोकर पशुत्वकी ओर नहीं जा रहे हैं? जिस पाञ्चभौतिक शरीरको हमारे पूर्वजोंने अनित्य एवं तुच्छ समझकर हमें शरीरके द्वारा लोक-सेवा आदि धर्मोपार्जन-

का अमूल्य उपदेश शास्त्रोंके द्वारा दिया था, क्या आज हम उसको देहात्मवादके चक्करमें पड़कर भौतिक सुखको ही सर्वस्व समझकर रात-दिन उसीके साधन जुटानेमें सारे धार्मिक विचारों एव आचार-परम्पराको तिलाञ्जलि नहीं देते जा रहे है ? दुर्भाग्यवश हमें जिस परिस्थितिमें और जिन लोगोंके हाथसे छिनकर स्वराज्य मिला है, वह हमारे स्वाभाविक जीवनके विकासके लिये सर्वथा प्रतिकूल और असहायक है । अंग्रेजोंका सम्पर्क हमारी भौतिक वृद्धिके लिये सहायक रहा हो, परतु हमारे नैतिक जीवनके लिये वह सर्वथा घातक सिद्ध हुआ । आजतक भी हम उस टका-पथी सभ्यताके विषमय प्रभावसे नहीं छूट रहे हैं, प्रत्युत भूतकी तरह वह हमें अधिक वेगसे आक्रान्त कर रहा है, जितना वह अंग्रेजोंके समक्षमें कभी नहीं कर पाया था। ऐसी लोकोक्ति भी है कि शत्रु पडोसीका मृतात्मा अगतिक रहकर पड़ोसीके लिये अधिक दु खदायी होता है । इस सम्बन्धमे सबसे अधिक बेमेल बात यह है कि अभी हमारे देशका शासन-सूत्र जिन लोगोंके हाथमे है, उनमें अधिकतर ऐसे ही लोग हैं, जिनका जीवनक्रम और विचार-शैली इस देशके लिये अधिकाशत प्रतिकूल है । वे देशवासियोंको सुखी बनानेके लिये जो-जो कार्य-क्रम काममे ला रहे हैं और जिस विचारधाराका प्रचार कर रहे हैं, वह सर्वथा शुद्ध भारतीय ढगकी नहीं है और देशवासियोंके जीवनमें उलझन पैदा कर रही है । ये हमारे नेता पाश्चात्त्य विचारधाराकी भारतीय विचार-धाराके साथ बेमेल खिचडी पका रहे हैं । अत विशुद्ध भारतीय जीवनपद्धतिके पोषक विचारवाले भारतीयोंका कर्तव्य है कि यथासमय वे भारतीय जीवनादर्शकी पुष्टिमें आवाज बुलन्द करें । यदि वे आलस्य एवं प्रमादमें पडे रह गये तो देशमें अनाचार और अत्याचार-की शीघ्र ही इतनी अधिकता हो जायगी कि ऋषियोंका यह देश एकबारगी पुन. आसुरी वृत्तिके लोगोंका स्थान बन जायगा और पापी पेटकी पूर्ति एवं मुक्खड इन्द्रियों-की तृप्तिके अतिरिक्त मनुष्य-जीवनका कोई लक्ष्य ही शेष नहीं रह जायगा ।

अब हमें विशुद्ध भारतीय जीवनकी रूप-रेखापर दृष्टिपात करना है ।

मनु भगवान्ने कहा है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
(४ । १६०)

नीतिकार विष्णुशर्माने कहा है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ॥

फिर मनुने कहा है—

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥
(४ । २०४)

उपर्युक्त तीन श्लोकोंमें भारतीय जीवनका लक्ष्य ऐहलौकिक एव पारलौकिक दृष्टिसे सक्षेपमे बतला दिया गया है । सारार्थ यह है कि विद्योपार्जनके द्वारा समाजमें पात्रता (मान्यता) प्राप्त करके न्याययुक्त मार्गसे धनोपार्जन करके भोजनाच्छादनसे अवशिष्ट धनको मनुष्य धार्मिक कार्मोंमें व्यय करनेसे ही सुखी हो सकता है, धनको केवल शारीरिक सुखमें लगानेसे और अपने पडोसियोंको तरसानेसे अथवा उन्हें विपत्तिमें भी सहायता न देकर कोई मनुष्य सुख एव शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । पडोसियोंसे विरक्त अथवा उनकी सहानुभूतिसे रहित व्यक्ति शारीरिक सुखके अपार साधनसे सम्पन्न रहते हुए भी मानसिक सुख कदापि प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे तोंदवाला मनुष्य स्वस्थ नहीं कहा जा सकता । मानसिक शान्तिके अभावमे शारीरिक सुख-की कोई गणना नहीं है । बडे-बडे सेठ-साहूकार लोग रात-दिन धनोपार्जनकी नयी-नयी चिन्तामे निमग्न रहकर

बड़े बेचैन रहते हैं। उन्हें न नींद आती है और न भोजन रुचता है। दूसरी ओर एक संतोषी व्यक्ति सूखा-रूखा भोजन और मोटा-गाढ़ा कपड़ा शरीराच्छादन-मात्र प्राप्त करके शुद्ध नैष्ठिक और स्वस्थ जीवन बिताते हुए समाजमे आदरणीय और परलोकभीरु रहते हुए शान्तिमय वातावरणमे अपना समय बिताता है। अपनी इस तुच्छ आवश्यकताके लिये उसे किसी दूसरे मनुष्यपर भरोसा नहीं करना पड़ता। कहीं यात्रामें भी गया तो धोती, अँगोछा, आसन और जलपात्रके अतिरिक्त उसके पास कोई सामान (luggage) नहीं, जिसे ढोनेके लिये कुलीकी आवश्यकता पड़े। किसीके घर अतिथि भी बना तो ऐसे व्यक्तिके लिये भात, रोटी, दाल और साग-भाजीके अतिरिक्त चाय, बिस्कुट, मिठाई और मोहनभोगके आयोजनकी आवश्यकता नहीं। ऐसे ही अतिथिके सत्कारका विधान गृहस्थोंके लिये नैत्यिक पञ्चमहायज्ञोंके अन्तर्गत किया गया है। यदि प्राचीन कालके सादे जीवनवाले, अल्प आयवाले गृहस्थोंको आजकलके स्वराजी मन्त्रियोंका सत्कार करना पड़ता तो एक बारमे ही उनका दिवाला निकल जाता। इस देशमें शास्त्रकारों और ऋषियोंने मनुष्य-जीवनके सुखका रहस्य यही बतलाया था कि बिना किसी दूसरे व्यक्तिको क्षति पहुँचाये अपने हाथ-पैर हिलानेसे जो वस्तु सुविधापूर्वक प्राप्त हो सके—उतनेसे ही जीवन-निर्वाह करना। जिस वस्तुके अर्जनमे दूसरेके श्रम या दूसरेके पैसेका प्रयोजन पड़े, उस वस्तुसे दूर रहनेमे ही कल्याण है। दूसरेको चकमा देकर, ठगी अथवा चोरीसे येन-केन-प्रकारेण पैसा बनाकर अपने सुख-साधनको जुटाना लोग परम हेय समझते थे। समाजमे ऐसे लोगोंकी पूछ नहीं थी। ब्रह्मचारी ऐसे लोगोंके द्वारपर भिक्षाटनके लिये नहीं जाते थे और न अतिथि उनका सत्कार स्वीकार करते थे। आज समाजमे और सरकारमे चोर और भलामानस एक समान ही आदर पा रहे है, यदि उनके पास पैसा हो, वे चंदा दे सकते हों और अधिकारियोंको दावतें दे सकते हों। 'टके सेर भाजी और टके सेर खाजा'का बाजार लग रहा है।

सबसे सूक्ष्म रहस्य भारतीय जीवनका था—यम-नियमका सेवन। नियमकी अपेक्षा भी यमको अधिक महत्त्व दिया गया है। यमके पॉच (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) अङ्गोंमे हमें यहॉ अपरिग्रहकी विशेषरूपसे चर्चा करनी है। यों तो वे सारे अन्योन्याश्रित हैं, पर अपरिग्रहका स्थान देशके नये निर्माणमें सर्वोच्च है। इसका तात्पर्य है—व्यर्थ वस्तुका संग्रह नहीं करना। जितनेसे तत्काल काम चल सके, उतनेका ही संग्रह करना और अन्ततोगत्वा जीवनकी आवश्यकताको क्रमशः कम करते जाना, ताकि सन्यासाश्रममें ममताशून्य होकर लँगोटीको भी त्याग देनेमे कष्ट प्रतीत न हो और अन्तमें शरीरके त्यागमे कष्ट न हो। यह नित्यके अभ्यासका विषय माना गया था। इसमें क्रम (graduation) का हिसाब रखा गया था। जितनी ही कम सामग्रीसे जो व्यक्ति अपना जीवन-निर्वाह कर सकता था, उतना ही वह समाजमें आदरणीय समझा जाता था। नारदबाबा दिन-रात सर्वत्र घूमते थे, पर न तो उन्हें बेडहोल्डर चाहिये था और न कोई सामान ढोनेवाला कुली। चाणक्यकी झोपड़ीमें लोढ़ा, सिल और कमण्डलुके सिवा कोई वस्तु नहीं थी। यह थी हमारी सभ्यता, जिसकी नींव गुरुके आश्रममे ही दी जाती थी। दूसरी ओर पश्चिमकी सभ्यतामें, उसके अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्तोंमें जीवनकी आवश्यकताओंको क्रमशः बढ़ानेकी प्रेरणा दी जाती है, (Create your wants and try to meet them)। बड़े दुःखकी बात है कि हमारे आधुनिक नेतागण अपने देशके इस जीवन-रहस्यको न समझकर या समझते हुए भी उसका तिरस्कार करके गाधीजीके जीवनादर्शोंकी हत्या करते हुए जनताको अधाधुंध जीवनके स्तरको ऊँचा करनेकी सीख दे रहे हैं। इस लेक्चरबाजीमें आर्योंका कर्म-विपाकका सिद्धान्त

ताकपर रख दिया जाता है और सब मनुष्योंको एक समान सुखी बनानेकी नित्य नयी-नयी योजना बनायी जा रही है। द्रव्योपार्जनकी होड़ लगी हुई है। किसी भी उपायसे हो (By fair or foul means) रुपया हासिल करना चाहिये। जो लोग अधिकारके पदपर पहुँचे हुए हैं, वे प्रजाकी कमाईका काफी पैसा वेतन और भत्तेके रूपमें पा रहे हैं। ठाटकी जिंदगी बिता रहे हैं। आलीशान महलोंमें रह रहे हैं। उनके लड़के-लड़कियाँ सर्वश्रेष्ठ विद्यालयोंमें शिक्षा पा रहे हैं। उनके लड़के-लड़कियोंके विवाहमें राजा-महाराजाओं-जैसा ठाट होने लगा है। कांग्रेसी शासनके अधिकारियोंमें बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जो बहुत ही सामान्य स्थितिमें कलतक थे; उनका यह राजसी ठाट साधारण जनतामें ईर्ष्या पैदा कर रहा है। और दूसरी ओर जमींदारोंकी जमींदारी कानूनके द्वारा छीनकर उन्हें बात-की-बातमें भिखारी बना दिया गया है। यह आर्थिक उलट-फेर किया गया है गरीबों और दलितोंको ऊँचा उठानेके नामपर। पर ऐसा कुछ होता दीखता नहीं। भाग्य और किस्मतका खेल यहाँ भी लगा हुआ है, केवल हमारा विचार गंदा किया जा रहा है। हमारे दर्शन और स्मृतियोंके कल्याण-कारक सिद्धान्तोंका गला घोंटा जा रहा है। हमारी तृष्णाका मुँह विस्तृत किया जा रहा है, हमारे जीवनको अशान्त और बेचैन बनाया जा रहा है। धन और धन-से सुख सबके भाग्यमें नहीं लिखा रहता। धन और शारीरिक सुखके लिये शाश्वत धर्मका त्याग मनुष्यको कभी नहीं करना चाहिये। 'सुख-दु:ख अनित्य और क्षणिक हैं। केवल धर्म ही एक नित्य वस्तु है, जो मनुष्यके देह-त्यागपर भी साथ जाती है।' इस भारतीय अमर सिद्धान्तका तिरस्कार जितना अभी हो रहा है, फलत जितना अनाचार, चोरी, डकैती, घूसखोरी आदि अभी समाज और शासनमें दृष्टिगोचर हो रहा है, उतना कभी नहीं था। देशका इतिहास इसका साक्षी है।

देशके विचारशील नेतागणोंको इस परिस्थितिपर ध्यान देकर देशवासियोंके समक्ष अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिके अनुकूल आर्थिक एवं नैतिक योजनाओंका कार्यक्रम रखना चाहिये। उसमें सर्वप्रथम उन्हें अपना जीवन भारतीय ढंगका, गांधीजीके ढंगका बनाना चाहिये। गांधीजी आज जीवित होते और चाहते तो किसी भी पदको विभूषित कर सकते थे, इसे हमें भूलना नहीं चाहिये। कौन जानता था उनके देशवासी इतनी जल्दी उनकी बातोंको भूल जायँगे। अब भी सम्हलनेका समय है।

आशा

कब बरसैगो आय ?
कब अमिलन संताप मिटैगो, विरह निदाघ नसाय ?
कब मम मन-मयूर नाचैगो, उर आनँद न समाय ?
कब चित चातक चहकि उठैगो, स्याम स्वाति-जल पाय ?
स्याम-मिलन बिनु कछु नाह भावै, कछु नहिं मोहि सुहाय।
स्याम-मिलन रस ही साँचो रस जीवन मैं सरसाय॥

एक योगीकी इच्छामृत्यु

[सत्य घटना]

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

यह सृष्टिका सनातन एव दैवी सत्य है कि कोई भी प्राणी अपनी इच्छासे नहीं जन्मा है, अपनी इच्छासे नहीं जीता और न अपनी इच्छासे कोई मरता है। जन्म और मृत्यु तो सृष्टिका विधान है। कोई जान-बूझकर मरना नहीं चाहता और मरना चाहे भी तो सहजभावसे इच्छामात्रसे मर नहीं सकता, आत्महत्या करना दूसरी बात है। मृत्यु दो प्रकारकी होती हैं, एक पूरी, दूसरी अधूरी। ससारी प्राणी प्राय. अधूरी मृत्युसे ही मरते है—अर्थात् शरीर डूब या जल जानेसे, बिजली या विषके प्रभावसे, दिल या दिमाग 'फेल' हो जानेसे, अर्थात् शरीर जीर्ण होकर इन्द्रिय-सचालनशक्ति-शून्य हो जानेसे अथवा किसी आकस्मिक कारणसे अनिच्छा-पूर्वक। जीनेकी इच्छा रहते हुए भी लाचारीसे मर जाना ही अधूरी मृत्यु है। पूरी मृत्यु है स्वस्थ सहज प्रयाण। यह विरले योगियोंको ही प्राप्त होती है और यह योग किसी विशेष शास्त्र-अध्ययन अथवा गुप्त कठोर साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं। योगीके लिये यह अत्यन्त आवश्यक नहीं कि वह विद्वान् हो। यहाँ हम एक निरक्षर योगी-की इच्छामृत्युका स्वल्प परिचय देंगे।

साधु-जीवनमे इनका प्रचलित नाम नागा (निर्मोही) महावीरदास था। मध्यप्रदेशमें कटनीके पास विजय-राघवगढ इनकी जन्मभूमि एव निवासस्थान था। ये ब्राह्मण थे, विवाहित थे और इन्हें एक कन्या भी हुई थी, परतु कालान्तरसे स्त्री एव पुत्रीकी मृत्यु हो जानेपर गृह-जंजाल अकेले न सम्हाल सकनेके कारण, अथवा गृह-जंजाल चलाना अब व्यर्थ समझकर इन्होंने सब कुछ त्याग दिया और साधु हो गये। साधु-संगतिमे अनेक स्थानोंका भ्रमण करते हुए इन्होंने बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानोंमे काल बिताया। अबसे लगभग चालीस वर्ष पूर्व ये रमते-रमते डभौरा ग्राम (मध्यरेलवे स्टेशन डभौरा, जिला रीवाँ, विन्ध्यप्रदेश) आये और नदी-किनारे एक जीर्ण-शीर्ण शिवालयको देख उसीमे अपना डेरा लगाया। आस-पासके गाँवोंमें फसल तैयार होनेपर 'झोली' माँगकर गुजर करने लगे। समयान्तरसे प्रयत्न और उद्योगसे जीर्ण मन्दिरको सुधारा, एक सुन्दर बगिया लगायी, एक-दो शिष्य भी मिल गये और कुछ कृषिभूमि भी प्राप्त की। अब उनका अखाड़ा जम गया और सबके परिश्रमसे एक नया मन्दिर बनाया। समय-समयपर भजन-कीर्तन और दैनिक पूजा-आरती होने लगी।

बाबा वास्तवमें निरक्षर थे और उनकी बोल-चालकी भाषा भी ग्रामीण थी। वे योग-विषयमें कुछ जानते थे या नहीं, अथवा उन्होंने कभी कुछ योगसाधन किया था या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उनसे कभी योग-चर्चा नहीं सुनी गयी।

मेधावी मानवने आकाश-पाताल चीरकर भयानक भौतिक ज्ञान और साधनोंका उपार्जन किया है, परतु आश्चर्य और खेदका विषय है कि वह अपने जन्म, जीवन और मृत्यु कुछ भी नहीं जान पाया है। मनुष्य मनुष्यको अति निकट रहकर भी नहीं पहचान पाया है। हमारे जीवनमें कितने ही लोगोंका दीर्घकालिक अति निकट एवं घनिष्ठ सम्पर्क होता है, फिर भी हृदय एव मनकी सकीर्णताके कारण हम परस्पर कोसों दूर एव अपरिचितकी भाँति होते हैं। इस नगरमे बाबाके विषयमे यही बात चरितार्थ होती है कि चालीस वर्षके सम्पर्कमे कोई उन्हे न पहचान पाया,

और अब मरनेके बाद समझदार लोगोंने जाना और कहा कि 'बाबा योगी था ।'

उनकी आयु पचासी (८५) वर्षकी हो चुकी थी। यद्यपि वे आहार, संयम, व्यवहार और नियमके निष्पक्ष एवं कठोर पालक थे, फिर भी शरीर अपने धर्मके अनुसार जीर्ण हो चला था। इतनेपर भी वे चलते-फिरते-बोलते थे। उन्होंने अपने शिष्यसे कहा कि 'मठ (जगदीश-मन्दिर, अहमदाबाद) के अमुक-अमुक भाइयोंको तार भेज दो, वे जल्दी मेरी जगहपर आ जायँ, मेरा अन्तिम समय है, मैं अब इस शरीरको छोड़ूँगा ।'

वास्तवमें ऐसी बात कोई कहे तो लोग विश्वास न करके उपहास करते हैं कि भला अपनी मृत्युको भी कोई जान सकता है। अपनी इच्छासे भी कोई मर सकता है! अस्तु, शिष्यने तार दे दिया और एक गुरुबन्धु वहाँसे आ भी गये ।

मेरा उनसे घनिष्ठ प्रेम था और उनकी बात सुनकर मैं उनके दर्शन करने गया एव कुछ उपचार बताने लगा, तो उन्होने स्पष्ट कह दिया कि "अब तो 'तैयारी' है। उपचार या किसी भी बात या वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। जो कुछ करना या होना था, अब-तक सब हो गया। हमने आपसे जो कुछ कहा-सुना हो, उसके लिये क्षमा करना ।"

वे बैठे हुए थे, प्रयाणकी तैयारीमें। उनका यह उपवासका छठा दिन था। उन्होंने मुझे सप्रेम बैठने-का आदेश दिया और प्रेमपूर्वक कुछ वार्ता करने लगे। मैं गम्भीरतापूर्वक उनकी इस 'प्रयाण'-तैयारीकी बात एव साधनापर विचार करने लगा।

उपवासके दस दिन पूरे हो जानेपर, ग्यारहवें दिन, ठीक एकादशी (फाल्गुन शुक्ल, स० २०१४ वि०) को ब्राह्म मुहूर्तमें उन्होंने अपने शिष्यसे कहा, 'मुझे बैठा दो और देखो क्या होता है ।' शिष्यद्वारा बैठा दिये जाने-पर उन्होंने 'आदौ राम तपोवनादि गमनम्' एवं 'आदौ देवकिदेव' इत्यादि सुनानेको कहा, फिर कुछ कीर्तन करनेको।

लोग बाबाके आदेशके अनुसार इसी पाठ एव कीर्तनमें लग गये, उसी समय बाबाने 'प्रयाण' कर दिया। किसीको आभास न हो पाया कि बाबाके कथनका तात्पर्य क्या था और क्या 'देखना' है, 'क्या होगा ।'

बाबा कई दिन पहलेसे कह रहे थे कि मुझे लेनेके लिये खाली विमान आते हैं, लौट जाते हैं, मेरा बुलावा है, मुझे जाना है, मुझे गङ्गाजी ले चलना, गङ्गाजी ले चलनेकी तैयारी करो।

परतु उन्हें गङ्गाजी न ले जाया जा सका। यहाँ-से यमुनाजी, मऊघाट (जिला बाँदा) ले जाकर वहीं विसर्जन करना पडा। नाविकोंने कहा, 'नावमें मुर्दा ले जानेसे हमें जातिसे बहिष्कृत कर दिया जायगा, भोज लगेगा ।'

बाबाके प्रयाणके पश्चात् तेरहवे दिन स्थानीय ब्राह्मण-परिवारोंमेंसे एक-एक व्यक्तिको मिष्टान्न भोजकी व्यवस्था करके निमन्त्रण दे दिया गया। किंतु जहाँ गिने-गिनाये व्यक्तियोंके लिये परिमित भोजन-सामग्रीकी व्यवस्था की गयी थी, वहाँ एक घरसे एक व्यक्ति आनेके बदले, तीन-तीन, चार-चार आये। उनकी ऐसी योजना हो चुकी थी कि ऐसी दशामें सामग्री पूरी नहीं पड़ेगी और बाबाके नामपर अखाड़ेका उपहास हो जायगा। फिर भी सब लोगोंने पेटभर खाया और सामग्री दूसरे दिनके अन्य व्यक्तियोंके भोजके लिये काफी मात्रामें बच गयी। यह कोई चमत्कार था अथवा क्या रहस्य था, कोई न जान पाया।

अब कहते हैं, 'बाबा योगी था ।'

ससारकी यह कितनी विचित्र बात है, अति निकट

एवं घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी मानव मानवको नहीं पहचान पाता, वर तिरस्कार करता है, उपहास करता है और मर जानेके बाद उसकी पूजा करता है, उसके जीवनसे शिक्षा एव प्रेरणा लेता है, उसका प्रचार करता है, उसकी समाधि वनाता है और उसपर फूल चढ़ाता, धूप जलाता है। विशेषकर महापुरुषोंके विषयमें यही होता है। मुहम्मद और ईसा इसके विशेष उदाहरण हैं।

बाबाके विषयमें कोई विशेष पूर्व-वृत्त अथवा उनका 'फोटो' प्राप्य नही है। उनकी आकृति, यदि किसीने इलाहाबादके स्वर्गीय 'हड़िया' बाबाको देखा हो, उन्हींकी-सी समझनी चाहिये।
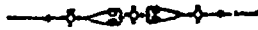
भेंट

[गद्यगीत]

(लेखिका—श्रीदिनेशनन्दिनी डालमिया)

ए गोपकुमार, मैं तेरा क्या प्रिय साधूँ ?

यमुनाकी गहन नीलिमा और धरित्रीकी उज्ज्वल हरीतिमाके अणुओंके सयोगसे एक नवीन स्वप्न-लोकका निर्माणकर उसके रिक्त सिंहासनपर तेरा राज्याभिषेक कर देती, परतु चराचरका तू पहलेसे ही एकमात्र स्वामी है, फिर महिपालोंके महिपाल !

अपने लघु उपहारसे तुझे कैसे लुभाऊँ ?

वैशाख और ज्येष्ठकी कडी धूपमे निराहार रह, पञ्चाग्नि धधका उसकी निश्चल लवी लपटोंमे इस कनक-वपुको तप्तकर, सावन-भादोंकी घनघोर वर्षा और आँधीको पारिजातकी श्रीसुषमा-से सुकुमार शरीरपर सहर्ष झेल,

पूस-मासकी ताड़का-सी रातोंको तारा-प्रतिविम्बित आकण्ठ जलमें बिता,

परब्रह्म परमेश्वरको अपने कठिन तपसे प्रसन्नकर तेरे लिये देवदुर्लभ अमरताका वरदान प्राप्त करती, किंतु—हे पुरुषोत्तम ! वेदोंने कल्पारम्भसे तुझे 'अक्षर' कहकर सम्बोधित किया है, फिर क्या मेरा यह प्रयास हास्यास्पद न होगा ?

ओ अगमकी अक्षय निधि ! नवघननीलाभ ! मेरी असफलता और अमरताके प्रतीक ! अखिल मानव-भावनाओंके चिर सत्य ! इस अकथ्य वेदनाके परिपूर्ण परमानन्दैक-रस-सार कृष्ण कमलको जो मेरी हृदय-भूमिमें सहज ही प्रस्फुटित हुआ है, आज तोड़ तेरे पादारविन्दोंमें तव प्रीत्यर्थ समर्पणकर कृतकृत्य हो जाने दे !

क्योंकि रविनन्दिनीकी सीमित दृष्टिका सकेत है कि मायापतिकी क्षेमकरी सृष्टिमें उक्त विभूतिसे बढकर तेरे योग्य अन्य कोई भेंट नहीं !

मुख-दर्शन-लालसा

लालको मुख देखन हौं आई

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
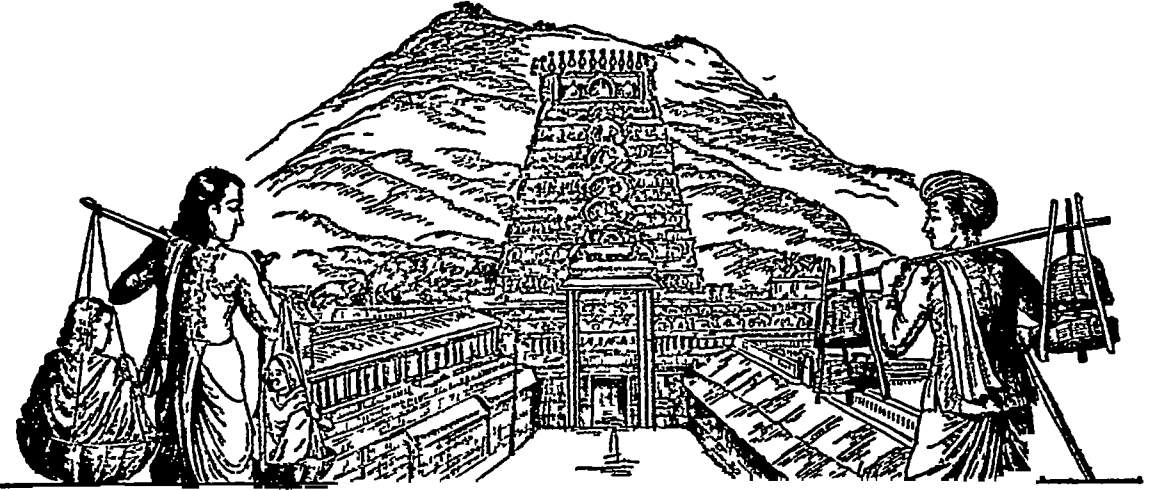
कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१४, सितम्बर १९५७ { संख्या ९ पूर्ण संख्या ३७०

देखन कौं आई

लाल कौ मुख देखन कौं हौं आई ।
काल मुख देख गई दधि वेचन जातहिं गयौ विकाई ॥ १ ॥
दिन तें दूनौ लाभ भयौ, घर काजर बछिया ब्याई ।
आई हौं धाय धँभाय साथ की, मोहन देहु जगाई ॥ २ ॥
सुन प्रिया वचन विहँस उठ बैठे, नागर निकट बुलाई ।
परमानंद सयानी ग्वालिनि सैन सँकेत बताई ॥ ३ ॥

कल्याण

याद रक्खो—मीठी वाणी सभीको प्यारी लगती है और सूखी तथा तीखी सभीको खारी। तुमको यदि कोई कड़ी जबान कहता है, तीखी वाणी बोलता है, निन्दा करता है या गाली-शाप देता है तो तुमको कितना बुरा लगता है। इसीलिये किसीको भी न कभी गाली-अभिशाप दो, न निन्दा करो, न रूखी-तीखी जबान बोलो।

याद रक्खो—रूखी-तीखी जबान यदि मनमें हित-की भावना रखकर बोली जाय तो यद्यपि वह वाणीका दोष है तथापि बडा अपराध नहीं है। बडा अपराध तो है मनसे किसीका बुरा चाहना, बुरा सोचना, बुरा करने-की योजना बनाना और बुरा होते देखकर प्रसन्न होना। मुँहसे बहुत मीठा भी बोले पर मनमे ये दोष भरे हों तो यह बहुत बडा अपराध है; इससे सदा बचो। कभी किसी-का न बुरा करो, न बुरा चाहो।

याद रक्खो—कोई यदि तुम्हें गाली दे, रूखी या रोषभरी जबान कहे, मिथ्या निन्दा करे, प्राणोंको जलाने-वाली विषभरी जबान कहे तो उसे सह लो। तुम्हारा बुरा तो होगा ही नहीं, परम कल्याण होगा। जो वाणी-के बाणोंसे दूसरोंको पीडा पहुँचाता है, वह मनुष्योंमें महादरिद्र है, क्योंकि उसकी वाणीमें दारिद्र्य भरा है। इतना ही नहीं, वह अपना अनिष्ट अपने हाथों कर रहा है। उसके पुण्योंका नाश और पापका सग्रह हो रहा है, जिसका बुरा फल उसे भोगना पड़ेगा। उसे भूला हुआ मानकर उसपर दया करो।

याद रक्खो—जो पुरुष दूसरोंकी कही कड़वी, रूखी वाणी सुनकर दुखी नहीं होता, वरं गाली देनेवालेका कल्याण मनाता है, उसके पुण्य पुष्ट होते हैं और वह भविष्यमें महान् सुखका भागी होता है, अत. दुःख न मानकर उसका कल्याण चाहो।

याद रक्खो—इस समय कपट, छल, चोरी, हिंसा, असत्यका व्यवहार करनेवाला भी पूर्वकर्मवश धन-मान प्राप्त कर सकता है, पर यह निश्चय ही उसके वर्तमान पापोंका फल नहीं है। इनका फल तो उसे भयानक रूपमें, जब ये कर्म फल देने लगेंगे, तब मिलेगा। इसलिये कभी भी बुरे आचरणोंसे धन-मानकी इच्छा मत करो।

याद रक्खो—पवित्र जीवन, सदाचार—यही जीवन-का सबसे बढ़कर मूल्यवान् धन है। सांसारिक धन तो प्रारब्धवश आता-जाता रहता है। जो सदाचारसे भ्रष्ट होकर अपवित्र-जीवन हो गया, वही वास्तवमें बड़ा दरिद्र है। सदाचारी तो सदा ही धनी है।

याद रक्खो—जो अपनेमें बिना हुए गुणोंको दिखाता है, दूसरोंसे अपनेमे बिना हुए गुण सुनना चाहता है और सुनकर उन्हें मूक रहकर भी प्रकारान्तर-से स्वीकार करता है, उसमें सद्गुणोंका आगमन, विकास और निवास बद हो जाता है। बुराइयों और दोषोंको रहनेके लिये तथा प्रचुरमात्रामें बढनेके लिये स्थान तथा सुयोग मिल जाते हैं, जो मनुष्यके भयानक पतनमे कारण होते हैं। अतएव अपने सच्चे गुणोंको भी छिपाओ, उनको भी स्वीकार न करो और मिथ्या गुण तो कभी किसीसे कहो ही मत, दूसरा बताता हो तो उसको समझाकर उसका भ्रम दूर कर दो। अच्छा मनुष्य तो अपने सच्चे गुण सुनकर ही लजाता है, अपने सच्चे गुणोंका प्रकाश करनेमें अत्यन्त सकुचाता है। फिर अपने मिथ्या गुण और मिथ्या प्रशसा तो वह सहन ही कैसे कर सकता है। अतएव मिथ्या गुण कभी मत सुनो, कभी मत मानो। अपनी मिथ्या प्रशसा और मिथ्या गुण-श्रवणको विष या जलती हुई अग्निके समान समझकर उनसे दूर भाग जाओ। उनका सदा दृढ़तासे त्याग करो।

'शिव'

आत्मकल्याणके लिये तमोगुणका त्याग आवश्यक

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

प्रकृतिके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनमें सत्त्वगुणका सेवन ही परम श्रेयस्कर है। भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति ः॥

(१४ । १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रह जाते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतगादि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते है।'

इसका अभिप्राय यह है कि सत्त्वगुणी पुरुष अर्चिमार्गके द्वारा उच्च लोकोंमें होते हुए परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। राजसी मनुष्य यहीं रह जाते हैं—यानी पुन मनुष्ययोनि पाते हैं। इसीसे उनके लिये 'गच्छन्ति' न कहकर 'तिष्ठन्ति' (स्थित रहते हैं) कहा गया है और घृणित वृत्तियोंमें लगे हुए तामसी मनुष्य अधोगतिको जाते हैं। 'अध' के दो भेद हैं—महायन्त्रणादायक नरकादि लोकविशेष और शूकर-कूकरादि, कृमि-कीटादि योनिविशेष। इनमें महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरक महान् कष्टदायक होनेके कारण विशेष निम्नश्रेणीके हैं।

इसीसे भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६ । २०)

'हे अर्जुन! वे मूढ़लोग मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी (पशु-पक्षी, कृमि-कीटादि) योनिको प्राप्त होते हैं; फिर उससे भी अत्यन्त नीची गति (कुम्भीपाकादि नरकों) में जाते हैं।'

भगवान्ने कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर प्रदान ही इसलिये किया है कि वह तामसी परिवारमें उत्पन्न होकर भी साधनद्वारा मुक्तिको प्राप्त हो सकता है। भगवान्की ओरसे मनुष्यमात्रको मुक्तिका अधिकार है, पर जब मनुष्य स्वयं ही मुक्तिकी अवहेलना करके तामसी वृत्तियोंके सेवनमें लग जाता है, तब क्या किया जाय।

तामसी वृत्तियोंमें प्रधान तीन हैं—प्रमाद, निद्रा और आलस्य। प्रमादका अर्थ है न करनेयोग्य कर्मका करना और करनेयोग्यका न करना। दैवी सम्पत्तिके गुणोंका सेवन कर्तव्य है। यही पुण्यकर्म है, मनुष्य इनका सेवन नहीं करता और आसुरी सम्पदाके गुणोंका सेवन कभी भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उनके फलस्वरूप अधोगति, आसुरी योनि तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। फिर भी वह उनका सेवन करता है। यही प्रमाद है। यह तमोगुणका एक प्रधान स्वरूप है। ऐसा तमोगुणी पुरुष न भगवान्को मानता है, न धर्मको और न माता-पिता आदि गुरुजनोंको। वह अशुभ कर्म करता है, व्यर्थ चिन्तन और बकवाद करता है, सबकी निन्दा करता है और पूर्ण उद्दण्डताके साथ मनमाने आचरण करता है तथा उसीमे गौरवका अनुभव करता है।

तमोगुणका दूसरा स्वरूप है—(सत्) कर्मकी अवहेलना करना, उसे टालते रहना, उत्तरदायित्व न मानकर व्यर्थ समय नष्ट करना, जीवनके अमूल्य क्षणोंको व्यर्थ बिताना—यह आलस्य है, इसीको दीर्घसूत्रता कहते हैं। इनके अतिरिक्त तीसरा स्वरूप है—रात-

दिन अधिकांश समय सोनेमें ही बिताना। ध्यानमें बैठे तो नींद, काम करने बैठे तो नींद, सदुपदेश, कथा-भागवतादि सुनने बैठे तो नींद; अतिथि-सत्कारमे लगे तो नींद; कोई कामकी बात सुना रहे हैं तो नींद; कर्तव्यपालनमें भी नींद। बस, खाया और तानकर सो गये। ऐसे लोग देखे गये हैं जो आठ-आठ, नौ-नौ घटे सोनेमें बिता देते हैं और जागते हैं तो अपने समयको खाने-पीनेमें तथा गप्प-गुलछर्रे उड़ाने, ताश-चौपड खेलने, व्यर्थ बकवाद करने और निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें ही खो देते हैं। फिर सो जाते हैं। इन दुर्गुणोंसे ग्रस्त प्रमादी मनुष्योंको ही समाजमें उदण्ड, निरङ्कुश, स्वेच्छाचारी, अकर्मण्य, आलसी, दीर्घसूत्री, आवारे आदि नामोंसे पुकारा जाता है। इन्हें न कर्तव्य-का ज्ञान है, न विनय-नम्रताका ध्यान है, ये बात-बातमें अकड़े रहते हैं, किसीका कोई अङ्कुश नहीं मानते, मनमानी करने या पड़े रहकर समय नष्ट करनेमें सुखका अनुभव करते हैं, तुरत काम करना जानते ही नहीं, टालते रहनेमें ही आराम देखते है। इस प्रकार प्रमाद, आलस्य-निद्रामें पड़े हुए मनुष्य मानव-जीवनके परम लाभ भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

महाभारत, उद्योगपर्वके अन्तर्गत एक सनत्सुजातीय-पर्व है। इसमें ब्रह्माजीके सनकादि चार पुत्रोंमेंसे सनत्सुजातके द्वारा धृतराष्ट्रको उपदेश दिये जानेका प्रसङ्ग है। धृतराष्ट्रने पूछा—'भगवन्! मैं सुना करता हूँ, आपके सिद्धान्तमें तो मृत्यु है ही नहीं और देवता आदिने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था, तो इन दोनोंमेंसे कौन-सी बात ठीक है?' इसके उत्तरमें सनत्सुजातने कहा—'प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है। प्रमादके कारण ही आसुरी सम्पदावाले (तमोगुणी) लोग मृत्युसे पराजित हैं और अप्रमादसे ही दैवी सम्पदावाले (सात्त्विक) महात्मा अमृतको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं × × × × मिथ्या भोग-विषयोंमें आसक्ति हो जानेके कारण मनुष्यकी ज्ञानशक्ति लुप्त हो जाती है और वह सब ओरसे विषयोंका चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है। यह विषय-चिन्तन ही (प्रमादका कारण होकर) मृत्युके समीप पहुँचा देता है। फिर काम, क्रोध आदि मिलकर मनुष्यको मृत्युके मुखमें डाल देते हैं।' सत्य ही है जो विषयपरायण मनुष्य ऐश-आराम, भोग-विलास, काम-क्रोधमें जीवन बिताता है, उसकी आयु घटती ही है। तमोगुण इन प्रमाद, आलस्य, निद्राके द्वारा ही जीवात्माको बाँधता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।
(१४।८)

जैसे मजबूत रस्सेसे बाँध देनेपर पशु कहीं भी भागकर नहीं जा सकता, वैसे ही तमोगुणके प्रमादा-लस्यनिद्रारूपी रस्सेसे बँधा मनुष्य बँधा-बँधा ही मर जाता है। यह अनुभवी महापुरुषोंका मत है।

कामोपभोगपरायण तमोगुणी मनुष्य ही आसुरी सम्पदाका बद्ध प्राणी है। आसुरी सम्पदाके मुख्य दुर्गुण तीन है—काम, क्रोध और लोभ। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६।२१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमे ले जानेवाले है। इससे इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।' इन्हीं दुष्ट दुर्गुणोंको अपनानेसे मनुष्यका घोर अधःपतन होता है। अतएव दृढतापूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनके त्यागसे प्रमादका त्याग हो जाता है और प्रमादके त्यागसे इनके पूर्ण त्यागमें सहायता मिलेगी। ये एक दूसरेको बढ़ानेवाले एक दूसरेके सहायक और पूरक हैं।

भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मनुष्य-देह दिया है। देवता भी इसकी आकाङ्क्षा करते हैं।

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

भगवान्‌की इस अहैतुकी कृपाका समादर करके मनुष्य-देहका यथार्थ लाभ उठाना चाहिये। इसके लिये तमोगुणसे तो बचना ही चाहिये। रजोगुणका भी यथासाध्य भगवत्सेवामें ही प्रयोग करना चाहिये।

रजोगुणका कार्य कर्म-प्रवृत्ति है, अतः ऐसे ही कर्मोंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये जो भगवान्‌की प्रीति बढानेवाले, लोकहितकर हों। रजोगुणजनित चञ्चलतासे दूर रहना चाहिये। रजोगुण यदि सत्त्वमुखी नहीं हुआ तो तमोगुणके साथ मिलकर तमोगुण-सा ही बन जाता है। ये दोनों ही सत्त्वगुणसे दूर हैं और दूर ले जानेवाले हैं। इनमें तमोगुणसे रजोगुणकी दूरी उतनी नहीं है, जितनी सत्त्वगुणकी है। जैसे एक (१) का अङ्क है, उसपर शून्य (०) लगा दिया तो दस हो गये, एकसे नौकी दूरी हो गयी। पर यदि उसपर एक शून्य और लगा दिया जाय और १०० का अङ्क हो जाय तो उसकी एकसे निन्यानवेकी दूरी हो जायगी। इसी प्रकार सत्त्वगुण तो मानो सौकी संख्या है, रजोगुण दसकी तथा तमोगुण एक-की। रजोगुण तमोगुणसे दस ही गुना दूर है, इसलिये इनके मिलनेमें देर नहीं होती, पर सत्त्वगुण तो सौगुना दूर है। अतएव तमोगुणसे अपनी रक्षा चाहनेवालोंको रजोगुणसे भी सतर्क रहकर उसका यथायोग्य त्याग करना चाहिये। तमोगुणका तो सर्वथा त्याग आवश्यक है। सारे पापोंका उद्गमस्थान तमोगुण है। तमोगुणी मनुष्य भगवान्‌के यहाँ तो जा सकते ही नहीं। उन्हें नरकोंमें भी ठौर नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ वे इतनी अधिक सख्यामें ठूँसे जाते हैं कि फिर थोड़ी ही जगह रहती है।

मनुष्य-शरीर सहज ही नहीं मिलता, बहुत कम जीव मनुष्य हो पाते हैं। मनुष्यलोकमें अधिक मनुष्योंके लिये स्थान ही नहीं है। आजके युगमें हमारे देखनेमें पृथ्वीपर मनुष्योंकी संख्या लगभग तीन अरब होगी। पर अन्यान्य जीवोंकी तो सख्या ही नहीं है। एक-एक क्षुद्र मोतियोंमें छोटे-छोटे अरबों जीव रह सकते हैं। उनके लिये पर्याप्त स्थान है। आज किसी स्थानमें यदि अरब मनुष्य पैदा कर दिये जायँ तो स्थानकी बडी ही कठिनता हो जाय। देवताओंका स्थान भी इतना संकुचित नहीं है, जितना मनुष्योंका। अत मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जो तमोगुण-में रत हो कामोपभोगमें ही जीवन बिता देता है, वह आत्महत्यारेकी गतिको प्राप्त होता है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इन सब बातोंपर विचार करके मानव-जीवनको काम, क्रोध, लोभसे बचाकर भगवान्‌की सेवारूप सत्त्वगुणके कार्योंमें ही लगाना चाहिये, यद्यपि ससारमें रहनेवाले लोगोंको काम, क्रोध, लोभका सामना करना पडता है और वे काम, क्रोध, लोभ तामस, राजस—दो प्रकारके होते हैं। जैसे—

(१) अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके साथ शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मर्यादित रमण करना राजस है, उससे नरकोंकी प्राप्ति नहीं होती, पर जो शास्त्रविरुद्ध अनुचित सङ्ग होता है, वह तामस है, फिर चाहे वह अपनी पत्नीसे ही क्यों न हो। उससे अध पतन होता है।

(२) अपनी सतान, प्रजा आदिके हितके लिये पिता और शासकका अभिनयके रूपमें क्रोध करना राजस है, उससे अध पतन नहीं होता। पर दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये जो अनुचित क्रोध किया जाता है, वह तामस है और उससे अध.पतन होता है।

(३) आजीविकाके लिये सत्य और न्यायकी रक्षा

करते हुए धन कमानेकी इच्छा करना और अनुचित व्ययसे धनको बचाना उचित लोभ है, अत. राजस है। इससे अध:पतन नहीं होता, क्योंकि ऐसा लोभी मनुष्य तो झूठ, कपट, चोरी, बेईमानीके धनको विषवत् समझता है और माता-पिता, आतुर, अनाथ, सत्पात्र, धर्मकार्य आदिके निमित्त धनका व्यय करनेमें उत्साही रहता है। पर जो धनको चाहे जैसे भी प्राप्त करनेकी लालसासे अन्यायपूर्वक झूठ, कपट, छल, चोरी, बेईमानीसे धन कमाना चाहता है और उचित स्थानपर माता-पिता, गुरु, अनाथ-गरीबकी सेवा आदिमें धनका व्यय करनेमें कजूसी करता है, उसका वह अनुचित लोभ तामसी है और उस तामसी पुरुषका अध:पतन होता है।

यह होनेपर भी मनुष्यको राजसी काम, क्रोध, लोभसे भी बचना चाहिये, क्योंकि राजसी होते-होते ये तामसी हो जाते हैं और बुद्धिनाशमें कारण बनकर हमारा सर्वनाश कर देते है। अतएव तमोगुणके कार्यरूप इन काम, क्रोध, लोभको तो समूल नष्ट करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा भगवत्कृपाके आश्रयसे इनका विनाश सहज ही किया जा सकता है।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

६७ श्रीगोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हिय मैं ठौर।
नदनंदन अछत कैसैं आनिये उर और?
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इतउत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोकलाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समात॥
स्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

इस पदके आधारपर ऐसी भावना कीजिये कि सचमुच सामने उद्धव-लीला हो रही है तथा एक प्रेम-रस-निमग्ना व्रजसुन्दरी कह रही है—'उद्धव! क्या करूँ, तुम्हारी बात ठीक है; पर हृदयमें जगह ही नहीं—दूसरी वस्तु, दूसरी चर्चा कहाँ रखूँ? हृदयको तुम देख लो, इसमे तो केवल श्यामसुन्दर-ही-श्यामसुन्दर भरे हैं। मैं चाहूँ, तो भी क्या करूँ, जबकि जगह ही नहीं बच रही है। उद्धव! तुम्हीं बताओ, प्रियतम प्राणनाथ श्यामसुन्दरको छोडकर उनकी जगह दूसरे किसीको कैसे बिठाऊँ? मेरे ` मेरे हृदयको चारों ओरसे घेरकर छा लिया है, उनके रहते हृदयमे दूसरेको कैसे बिठाऊँ? नहीं-नहीं, उद्धव, असम्भव है! प्राण भले ही जायँ, पर अब इस हृदयमें दूसरेका प्रवेश नहीं हो सकता, यहाँ तो बस, नित्य-निरन्तर श्यामसुन्दर ही रहेंगे।

उद्धव! तुम्हें विश्वास नहीं होगा—वह मूर्ति, प्यारे श्यामसुन्दरकी मूर्ति कभी एक क्षणके लिये भी हृदयसे नहीं हटती। मैं चलती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरकी वह छवि मेरे हृदयमें रहती है। मैं जिस क्षण अपनी दृष्टिको बाहर किसी और पदार्थकी ओर ले जाती हूँ तो देखती हूँ, वहाँ भी मेरे श्यामसुन्दरकी छवि है, हृदयमें भी, बाहर भी केवल श्यामसुन्दर ही दीखते हैं। दिनभर जबतक जागती रहती हूँ, तबतक श्यामसुन्दर, एकमात्र श्यामसुन्दर ही नजरोंके सामने रहते है। रातमे जिस क्षण सोनेकी चेष्टा करती हूँ, आँखें मूँदती हूँ, उस समय भी श्यामसुन्दरका वह तिरछी चितवनयुक्त मुखारविन्द सामने रहता है। स्वप्न देखने लगती हूँ, देखती हूँ—श्यामसुन्दर आये हैं, मेरे सामने खड़े हैं, मेरी ओर तिरछी चितवन-

से देख रहे हैं। मैं पकड़ने दौड़ती हूँ, वे पीछे हटने लग जाते हैं, मैं सहम जाती हूँ, वे भी खड़े हो जाते हैं, फिर पकड़नेके लिये दौड़ती हूँ, फिर भागने लगते हैं।-इस प्रकार उनको न पकड़ पानेपर मैं जब रोने लगती हूँ, तब बस, हँसते हुए आकर मुझे हृदयसे लगा लेते हैं। आँखें खुल जाती हैं—मैं देखती हूँ, विचार करती हूँ, स्वप्न था। पर फिर सामने देखती हूँ—नहीं, नहीं, वे तो सामने खड़े हैं, ये हैं, ये हैं। इस प्रकार उद्धव! एक क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरकी वह घुँघराली अलकोंवाली छवि मेरे मनसे नहीं हटती। उद्धव! एक क्षणके लिये भी प्यारे श्यामसुन्दरके सिवा और कोई वस्तु नजर ही नहीं आती। नाराज मत होना—तुम श्यामसुन्दरके प्यारे सखा हो, तुम्हारी बात मैं नहीं सुन पा रही हूँ, पर न सुननेके लिये लाचार हो गयी हूँ। उद्धव! कोई उपाय नहीं रह गया है। उद्धव! न जाने श्यामसुन्दरने तुम्हें सिखाकर भेजा है या तुम अपने मनसे ही इस योगकी बात सुना रहे हो; पर कुछ भी हो, तुम्हीं सोचो हम गाँवकी ग्वारिनें योग लेकर क्या करेंगी। सचमुच तुम भूलते हो, तुम ठगा गये हो, अरे, तुम जिस श्यामसुन्दरकी बात सुना रहे हो, उसके हृदयकी तो बात ही तुम नहीं जानते। तुम कहते हो—'श्यामसुन्दर सर्वेश्वर हैं, समस्त संसारके एकमात्र स्वामी हैं।' तुम्हें पता नहीं, वही सर्वेश्वर, वही अखिल ब्रह्माण्डनायक अपने-आपको व्रजमें आकर भूल गया। तुम्हें एक दिनकी बात सुनाती हूँ, तुम चकित रह जाओगे। विश्वास करो, उद्धव! वे मेरे प्रियतम प्राणनाथ हैं। मेरा सब कुछ उनका है और उनका सब कुछ मेरा है। तुम्हें सुनाती हूँ—मथुरा जानेके कुछ ही दिनों पहले मैं उससे रूठ गयी थी। श्यामसुन्दरके सखा! मैं देखना चाहती थी, उस दिन हृदय खोलकर देखना चाहती थी, मेरे प्रियतम मुझे कितना प्यार करते हैं। आँखोंके सामने श्यामसुन्दर थे और मैं मुँह फेरकर बैठ गयी। वे आये, बड़े प्रेमसे मेरे हाथोंको पकड़कर बोले—'प्रियतमे! अपराध क्षमा करना, मैं देरसे आया, तुम मेरी प्रतीक्षामें व्याकुल थी, पर क्या करूँ? तुम्हारा ध्यान करते-करते मैं भूल गया था कि मैं तुमसे दूर हूँ; मैं तुम्हें पास ही अनुभव कर रहा था, सब कुछ भूलकर तुम्हें ही देख रहा था। विश्वास करो, मेरी प्राणेश्वरी! मेरे हृदयमें तुम्हारे सिवा और किसीके लिये तिलभर भी जगह नहीं, तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरे प्राण हो, प्रिये⋯ ⋯⋯' उद्धव! अब बोला जाता नहीं, कण्ठ भर आया; अब आगे तुम्हें उस दिनकी बात नहीं सुना सकूँगी। मेरे प्यारे श्यामसुन्दरकी उस दिनकी झाँकी, उस दिनकी लीला तुम्हें अब आगे नहीं सुना सकूँगी, चाहनेपर भी तुम्हें नहीं सुना सकूँगी। नाराज मत होना, सुननेपर भी तुम समझ नहीं सकोगे। उद्धव! उद्धव! बस, बस, इतना ही कहती हूँ कि तुम ठगे गये—मेरे प्रियतमके हृदयकी बात, हृदयका रहस्य तुम नहीं जान सके। तुम्हारे सर्वेश्वरके हृदयमें क्या-क्या है, वे इसे नहीं जानते। उद्धव! उनका हृदय, ओह! क्या बताऊँ, मेरे पास है। यह देखो, देख सको तो देखो, तुम्हारा सर्वेश्वर यहाँ मेरे हृदयमें क्या कर रहा है, पर तुम अभी नहीं देख सकोगे। जाने दो, उद्धव! हम गँवारी ग्वालिनों-को मरने दो, श्यामसुन्दरका नाम ले-लेकर मर जाने दो। उद्धव! उद्धव!! भूलते हो—लोकलाजको, कुल-कानको, यश-अपयशको तो आजसे बहुत पहले जला चुकी हूँ, सबको भस्म कर चुकी हूँ। वे सब-के-सब न जाने कभी जलकर खाक हो गये, और बह गये उस अजस्र धारामें, श्यामसुन्दरके प्रेमकी प्रबल धारामें। उनकी गन्ध भी नहीं बच रही है। उद्धव! यदि तुम देख सकते तो देख पाते कि मेरे हृदयमें क्या भरा है, प्यारे सखा! श्यामसुन्दरके सखाके नाते

तुम मेरे भी सखा हो, पर सखा ! क्या करूँ, तुम्हारी आँखें वहाँ नहीं पहुँच रही हैं। देखो, मेरे शरीरके सूखे ढाँचेके भीतर दृष्टि ले जाओ—वहाँ देखो, देखो, केवल श्यामसुन्दरका प्रेम-समुद्र लहरा रहा है। तरङ्ग-पर-तरङ्ग उठ रही है। उसमें मैं हूँ और श्यामसुन्दर हैं, दोनों ही उस असीम अगाध प्रेमसमुद्रके अतल तलमें डूबे हुए हैं। वहाँ और कोई नहीं है, केवल मैं हूँ और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर। वह देखो, मैं श्यामसुन्दर बन गयी, श्यामसुन्दर ' ओह, तुम नहीं देख पाते। क्या करूँ, जाने दो।

उद्धव ! उस प्रेम-समुद्रमें डूबे हुएको, बिल्कुल तलमें जाकर विलीन हो जानेवालेको तुम बाहर लाना चाहते हो ? प्रेमके समुद्रको तुम घड़ेमें अँटाकर रखना चाहते हो ? सोचो, कितनी भूल कर रहे हो। देखो, उद्धव ! तुम चाहो, मैं चाहूँ तो भी समुद्र घड़ेमें नहीं आ सकता। अरे, मैं पगली हो गयी हूँ—क्या कहते-कहते क्या कह जाती हूँ! मैं भूल गयी, उद्धव ! बस, इतना ही कहना है, व्यर्थकी चर्चा हमें मत सुनाओ। हम ग्वालिनें योगकी बात, ज्ञानकी बात सुनकर क्या करेंगी ? अजी, तुम हमें ठगने आये हो ? नहीं, नहीं, उद्धव ! ठग नहीं सकोगे, तुम्हारा यह योग हमें भुला नहीं सकेगा, तुम्हारा यह ज्ञान हमें भुला नहीं सकता। मैं चाहूँ तो भी नहीं भूल सकती। सुनो, प्यारे सखा ! बडी छिपी बात बतलाती हूँ। आजसे बहुत दिन पहले श्यामसुन्दर आये थे, उन्होंने मेरे इस शरीररूप घडेको अपने प्रेमसे भर दिया। भरकर फिर क्या किया, बताऊँ ? सुनो, चारों ओरसे स्वयं ही पहरेपर बैठ गये। कानोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, आँखोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, नाकके छिद्रोंको बंद करके वहाँ बैठ गये, मुँहको बंद करके वहाँ भी वे बैठ गये। और बताऊँ ? स्वयं रसरूप होकर बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें—सब जगह पहरा देने लगे। उद्धव ! प्यारे उद्धव !! मेरे सूखे शरीरके भीतर देखो, तब पता चलेगा—देखो, श्यामसुन्दर रसरूप होकर, प्रेमरूप होकर भीतर भरे हैं। यह शरीरका घड़ा भरा है प्रेमसे और सर्वथा सब ओरसे बंद है। इसे तुम क्षार-समुद्रमें, योगकी खारी चर्चामें डुबाना चाहते हो। यह भी कभी सम्भव है ? उद्धव ! इस प्रयासको छोड़ दो। यह प्रेमका घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें कभी डूबनेका नहीं है। यह तो डूबेगा श्यामसुन्दरके मधुर सुधामय प्रेमसमुद्रमें। स्वयं श्यामसुन्दर आयेंगे, स्वयं इसका मुँह खोलकर इसे अपनेमें मिलाकर एक कर लेंगे। प्यारे सखा ! उपाय नहीं है। लाख प्रयत्न करो, श्यामसुन्दरके हाथोंसे भरा हुआ प्रेममय घट, अमृतमय घट तुम्हारे योगके खारे समुद्रमें डूबेगा ही नहीं। ओह ! मैं सचमुच पागल हो गयी हूँ, क्या-क्या बक रही हूँ। क्षमा करना प्यारे सखा ! मैं होशमें नहीं हूँ, यह पगलीका प्रलाप है। जले हुए—झुलसे हुए हृदयमें ज्ञान नहीं बच गया है कि विचारकर तुमसे बात करूँ; कभी कुछ, कभी कुछ बकती ही चली जा रही हूँ।

प्यारे श्यामसुन्दरके सखा ! तुम देख नहीं पाओगे; पर यदि देख पाते तो देखते कि श्यामसुन्दर यहाँसे कभी कहीं गये ही नहीं, एक क्षणके लिये भी कहीं बाहर नहीं गये। वे यहीं हैं, सदा यहीं रहते हैं और यहीं रहेंगे। मैं रहूँगी और मेरे प्रियतम रहेंगे। अनन्त कालतक रहेंगे। अभी-अभी कलकी बात है। तुम्हें सुनाती हूँ, कल सायंकालकी बात है। मेरे प्रियतम प्राणनाथ वनसे गाय चराकर लौट रहे थे। मैं उस क्षण घरके भीतर बैठी थी, अनुभव कर रही थी कि श्यामसुन्दर तो पास ही हैं। इतनेमें वंशी बजी, चेत हुआ, सोचा भ्रम हो गया है, श्यामसुन्दर तो गाय चराकर अभी लौट रहे हैं। मैं सुनने लगी उस मुरलीकी मधुर ध्वनिको। मेरे नाथ, मेरे प्राणबन्धु मेरा नाम ले-लेकर मुरलीमें सुर भर रहे थे। बाहर आयी, देखा—आह ! कैसी अनुपम

छवि थी। नील कमलके समान सुन्दर मुखारविन्द था, श्याम मेघके समान समस्त शरीर सन्ध्याकालीन सूर्यकी रश्मियोंमें झलमल-झलमल कर रहा था, मुखपर धूलिके कण उड-उडकर पड रहे थे, स्वेदकी कुछ बूँदें झलक रही थीं, घुँघराली अलकें बार-बार मुखपर आ जाती थीं और मेरे प्यारे श्यामसुन्दर उन अलकोंको बार-बार बायें हाथसे हटाते रहते थे। आह, उन आँखोंकी शोभा क्या बताऊँ? तुरतका खिला कमल उस शोभा-के सामने फीका पड जाता था। मेरे हृदयेश्वर बार-बार तिरछी चितवन डालकर मुझे देख लेते थे। मैं देख रही थी और वे मस्तानी चालसे, अत्यन्त मधुर चालसे चलते हुए मेरी ओर ही आ रहे थे। उद्धव! उद्धव!! मैं मूर्च्छित होती जा रही थी, मुझपर उनकी मनोहर मुस्कान जादूका काम कर रही थी। इतनेमें ही वे बिल्कुल मेरे पाससे होकर निकले। मित्र! क्या बताऊँ? रोक न सकी अपनेको, उनमें मिल जानेके लिये, अपने आपको उनमें मिला देनेके लिये दौड पड़ी। वे हँसने लगे, हँसते-हँसते लोटपोट-से होने लगे। अपने सखा सुबलको उन्होंने कुछ इशारा किया। मैं कुछ सहमी, वे कुछ हँसकर आगे बढे, मैं भी आगे बढी। मैं और वे दोनों आमने-सामने थे। मैं झमूरेकी तरह नाच रही थी। वे आगे बढते, मैं आगे बढती, वे पीछे हटते, मैं पीछे हटती, वे हँसते, मैं हँसती। इस प्रकार न जाने कितनी देर हमलोग खेलते रहे। पर मैं अब अपनेको सम्हाल न सकी। मूर्च्छित होकर भूमिपर गिरने ही जा रही थी, बस गिर ही चुकी थी कि मेरे प्राणनाथ दौड़े आये और उन्होंने अपनी सुकुमार भुजाओंका सहारा देकर मुझे बैठा दिया। पास ही मेरी सखी खडी थी, उसे इशारा करके उन्होंने कहा—'री! नेक इस बावलीको सम्हाल।' उद्धव! · · अब आगे कुछ कहते नहीं बनता, बस, उस आनन्दको व्यक्तकरनेकी शक्ति नहीं। आह, उद्धव! मेरे प्यारेके सखा—मैं भूल गयी हूँ, अपने-आपको भी भूल जाती हूँ। नहीं-नहीं, मित्र! श्यामसुन्दर तो मथुरा गये हुए हैं, कल नहीं, कुछ दिन पहले ऐसी घटना हुई थी। सचमुच उद्धव! मैं भूल गयी थी, सोच रही थी कि कल ही वह घटना घटी थी, इसलिये सुनाती गयी। पर प्यारे सखा! प्यारे श्यामसुन्दरके सखा! मोहनके सखा! वह घटना रोज ठीक शाम होते ही आँखोंके सामने नाचने लगती है। ठीक-ठीक अनुभव करती हूँ, वैसे ही हो रहा है। अब कुछ होश हुआ है, सोचती हूँ—प्राणनाथ मथुरामे हैं, मैं तो पगली हो रही हूँ, इसीलिये उन्हें पास अनुभव करती हूँ। जो हो, मित्र! वह मुख-सरोज, वह श्याम मेघ-सा शरीर, वे कमलके समान नेत्र, वह मस्तानी चाल, उनकी वह मुस्कान कभी भूली नहीं जाती। निरन्तर वे ही, वे ही आँखोंके सामने नाचते रहते हैं। प्यारे मित्र! श्यामसुन्दरके सखा! मेरे प्राणनाथका हृदय अत्यन्त उदार है, उसमे निठुरता नामको भी नहीं है। उन्हें हमारी दशाका पता नहीं, इसीलिये वे देर कर रहे हैं। इसीलिये प्यारे उद्धव! मैं हाथ जोडकर एक भीख माँगती हूँ, एक विनय करती हूँ—इतनी ही कृपा, बस, इतनी कृपा करना; जाकर मेरे श्यामसुन्दरसे, मेरे प्राणनाथ, मेरे हृदयेश्वरसे कह देना—आँखें तरस रही हैं, झुलसनी जा रही है, उसी मुखसरोजको, उसी श्यामसुन्दर शरीरको ही कमल-दल-से नेत्रोंको, उसी ललित मस्तानी चालको, उसी मन्द मुस्कान-को आँखें खोज रही हैं। आँखोंको बस, इतनी ही प्यास है। प्यारे उद्धव! मेरी ओरसे कह देना—बस, एक बारके लिये, एक ही बारके लिये, वही झाँकी कराकर वे फिर भले ही मथुरा चले जायँ, खूब सुखसे रहें! एक बार बस, एक बार दासीके नयनोंकी प्यास बुझाकर चले जायँ। उद्धव! इतनी ही भीख तुमसे माँगती हूँ—तुम मेरे प्राणनाथको, मेरे हृदयेश्वरको मेरे हृदयका यह सन्देश सुना देना।

६८ मन लगाना कोई बडी बात नहीं है। कई बार कहा जा चुका है कि यदि आप सचमुच व्रजलीलामें मन लगाना चाहेंगे तो श्रीकृष्णकी कृपासे यह इतना आसान है कि बस, चकित रह जाइयेगा। सोचिये—यमुना है, यमुनाका जल हवाके झोंकोंसे हिल रहा है, इसका बीस सेकण्ड चिन्तन कीजिये। फिर देखिये—सुन्दर घाट है, नीलम, पन्ने, माणिक्यसे जडा हुआ घाट संध्याकालीन सूर्यकी किरणोंमें चम-चम कर रहा है, इसमें भी बीस सेकण्ड लगाइये। फिर देखिये—घाटकी चार सीढियाँ हैं, एक, दो, तीन, चार इस प्रकार सीढियोंको गिननेमें बीस सेकंड। फिर देखिये—घाटपर व्रजसुन्दरियाँ घड़े भर रही हैं। घडोंमें पानी भर रहा है, यमुनाके जलसे घडे भर रहे हैं—इसके चिन्तनमें बीस सेकंड। फिर देखिये—व्रजसुन्दरियाँ घडोंको सिरपर उठा-उठाकर रख रही हैं, इस उठानेकी क्रियाको बीस सेकंड तक देखिये। फिर सोचिये, दूरपर श्रीकृष्ण खड़े हैं और गोपियाँ आपसमें उनकी ओर इशारा कर रही हैं। इस इशारेकी क्रियामें बीस सेकण्ड। इस प्रकार अनन्त चीजे आपको मिलेंगी, जिनमें मनको निरन्तर फँसाया रख सकते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, कभी कुछ। फिर होगा यह कि आपका मन वृन्दावन बन जायगा। वहाँ दिन-रात मधुरतम लीला चलती रहेगी। यहाँ भले ही प्रलय होता रहे, पर आपका मन मधुर वृन्दावनमें सैर करता रहेगा, किंतु चाह रखकर, लगनसे, तत्परतापूर्वक करनेसे यह होगा। फिर कुछ भी हो, आपका शरीर और मन सब वृन्दावनमें है, आपको क्या फिक्र है? भावना दृढ होनेपर बडी सुन्दर अनुभूति होगी। दाहिने दृष्टि डालियेगा, ऐं यहाँ तो मेंहदीकी कतार है। बायें देखियेगा, ऐं यहाँ तो जूही-बेला खिल रहे हैं। पीछे देखियेगा—यहाँ तो यमुना लहरा रही है और सामने—यहाँ तो श्रीराधाजीका महल है। यही आकाश आपको वृन्दावनका आकाश दीखेगा।

६९. जैसे संध्या होती है, बस, वैसे ही श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये अपने प्राणोंकी व्याकुलता लेकर अपना शृङ्गार करना प्रारम्भ करती हैं, पर उनका यह शृङ्गार कभी भी अपने सुखके लिये नहीं होता। उनके मनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं होती। गोपीप्रेमका यही विशेषत्व है, वहाँ अपने सुखकी कामनाकी गन्ध भी नहीं है। उन प्रेमवती व्रज-सुन्दरियोंके जीवनकी समस्त चेष्टाएँ एकमात्र इसी उद्देश्यसे स्वभावत होती हैं कि हमारे प्रियतम कृष्णको सुख पहुँचे। उन्हें चेष्टा नहीं करनी पडती, यह उनका स्वभाव बना हुआ है। अत उनका अपने शरीरको सजाना भी अपने लिये बिल्कुल नहीं होता। अस्तु, सन्ध्या होते ही व्रज-सुन्दरियाँ अपनेको सजाना आरम्भ करती हैं, पर यह सजाना जहाँ आरम्भ हुआ कि उसी क्षण श्रीकृष्णकी गाढ स्फूर्ति होकर वे इस बातको भूल जाती हैं कि मैं कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ। उन्हें ऐसा अनुभव होता है—यह सामने, बिल्कुल मेरे सामने, मेरे प्रियतम खड़े हैं, मुझसे थोडी ही दूरपर खडे हैं। फिर थोडा बाह्य ज्ञान होता है, सजाना आरम्भ करती हैं, पर सजाने जाकर अपने-आपको विचित्र बना लेती हैं। ओढनीको पहन लेती हैं, साडीको ओढ लेती हैं, आँखोंमें लगानेका काजल तो चरणोंमें लगा लेती हैं और चरणोंमें लगानेका आलता आँखोंमें लगा लेती हैं। कानकी बालीको नाकमें पहन लेती हैं और नाकके बुलाकको कानमें पहन लेती हैं। गलेका हार कमरमें एवं कमरकी करधनीको गलेमें धारण कर लेती हैं। इस प्रकार उनका भेष विचित्र बन जाता है—किसी दिन कैसा, किसी दिन कैसा: प्रतिदिन ही कुछ-न-कुछ गडबडी हो ही जाती है। परतु श्रीकृष्ण उनके इस भेषको देखकर अप्रसन्न होनेकी बात तो कल्पनासे भी दूर है, प्रेमानन्द-रस-सागरमें डूब जाते हैं। उनको देखकर श्रीकृष्णकी आँखोंसे विमल प्रेमकी अश्रुधारा बहने लगती है। वे अपने हाथोंसे उन गोपसुन्दरियोंके वस्त्र-आभूषण ठीक करते हैं, यथास्थान पहना देते हैं। यह

है प्रेमकी महिमा—इसमें बाहरके साज-शृङ्गारके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। श्रीकृष्ण तो प्रेमका आस्वादन करते हैं, बाहरका रूप उनकी आस्वाद्य वस्तु नहीं है। उनकी आस्वाद्य वस्तु है—प्राणोंकी व्याकुलताभरा निर्मल प्रेम।

साधक साधना प्रारम्भ करता है, तब उसके मनमें यही बात—एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मेरे प्रभु जिस बातसे प्रसन्न हों, वही करना है। वह पहले प्रत्येक चेष्टा भली भाँति विचार-विचारकर करता है कि वे अधिक-से-अधिक किस बातसे प्रसन्न होते हैं। फिर यह उसका स्वभाव बनता चला जाता है। इस बातके लिये ही पहले उसकी प्रार्थना होती है—'मेरे नाथ! मैं तुम्हारे हाथोंका यन्त्र बन जाऊँ।' यह प्रारम्भमें होता है—आगे तो प्रेमीकी ऐसी दशा होती है कि उसे केवल वही जानता है।

७० यह सिद्धान्त ठीक है कि महापुरुषोंको साक्षात् भगवान् मानकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेसे भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति बड़ी शीघ्रतासे होती है। पर किसी विशेषके प्रति मनुष्यमें प्रथम तो भगवद्बुद्धि होना कठिन है; हुई भी तो वह आगे चलकर हट सकती है और इस प्रकार अपराध बननेसे उसकी उन्नति रुक सकती है; और कहीं वह आदमी, जिसमें भगवद्-बुद्धि की गयी, भगवत्प्राप्त न हो (अधिकांशमें ऐसा ही होता है, भगवत्प्राप्त महात्मा तो विरले ही होते हैं), साधकमात्र है, तो उससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। और यदि दम्भी हो, ऊपरसे बना हुआ प्रेमी हो, तब तो निश्चय ही साधकके लिये पश्चात्ताप होनेके लिये अवकाश है। इसलिये सर्वोत्तम, सबसे श्रेष्ठ निर्भय मार्ग यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें जीवनको समर्पित करके उनका पवित्र मधुर स्मरण, उनका प्रेममय भजन तथा सत्सङ्गमें रहकर जीवन बिताते हुए समस्त विश्वको ही अपने इष्टका रूप समझकर यथायोग्य सबकी सेवा की जाय। यही आत्मसमर्पणकी तैयारी है। फिर पूर्ण आत्मसमर्पण तो भगवान् कराते हैं। एक और आवश्यक प्रार्थना यह है कि जीवनमें किसीको तत्त्वनिर्णय-के झगड़ेमें नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा करनेवालोंका रास्ता प्रायः बंद-सा हो जाता है, क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो अनिर्वचनीय है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा, श्रीगोपीजन, उनका प्रेम और उनकी परम पवित्र लीला मन-वाणीके विषय नहीं हैं। जो भी वाणीसे कहा जाता है, शास्त्रोंमें सुननेको मिलता है, वह तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति संकेत है। भक्तको चाहिये कि वह सिद्धान्त-निर्णयके फेरमें बिल्कुल न पड़कर मनसे अपने आत्मसमर्पणकी तैयारी—श्रीकृष्ण, श्रीभगवान्‌के चरणोंमें न्योछावर हो जानेकी तैयारी करे। वह केवल तैयारी ही कर सकता है; असली आत्मसमर्पण तो होगा तब, जब श्रीकृष्ण स्वयं इस आत्मसमर्पणको स्वीकार करेंगे। उसके पहले प्राणोंकी समस्त व्याकुलता लेकर तैयारी करनी होगी। कोई ज्ञानी कहे कि ब्रह्मप्राप्ति ही सबसे ऊँची स्थिति है तो उसमें भगवद्भाव करके, प्रभु हमारी परीक्षा ले रहे हैं—यों समझकर उसे प्रणाम करके उपराम हो जाना चाहिये। भूलकर भी कभी वाद-विवाद या बहस नहीं करनी चाहिये। करने चाहिये केवल दो काम—जीभसे अखण्ड नामोच्चारण एवं मनसे अखण्ड श्रीकृष्णलीलाओंका चिन्तन। इसमें जो सहायक हों, उन्हें जोड़ते चले जाना चाहिये। बाधक हों, उन्हें तुरंत फेंकते जाना चाहिये।

७१. एक ही भगवान् अपनेको दो रूपोंमें बाँटकर लीलाका आस्वादन करते हैं। श्रीराधाजी कृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही राधिकाजी हैं। उनमें सर्वथा सब ओरसे नित्य एकत्व ही है। ऐसा होते हुए भी अनादिकालसे लीलाका आस्वादन करनेके लिये श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाके रूपमें वे नित्य सच्चिदानन्दमय परम प्रेमरसघनीभूत विग्रह धारण किये हुए हैं। श्रीगोपियाँ श्रीराधाकी ही कायव्यूहरूपा हैं, अर्थात् स्वयं श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णको लीलारसका आस्वादन करानेके लिये अनन्त गोपीरूप

धारण किये हुए हैं तथा अनादिकालसे वह सच्चिदानन्दमयी लीला—श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनकी लीला चल रही है, अनन्तकालतक चलती रहेगी। साधनाके द्वारा मनुष्य पहले इन लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन करता है, फिर भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा होनेपर ही उस लीलामें स्वयं भी सम्मिलित हो जाता है। इस दुर्लभ लीलाका दर्शन किसी किसी ज्ञानयोगीको भी ब्रह्मप्राप्तिके बाद ही होता है। पर प्रेममयी भक्तके लिये भगवान्की कृपासे सीधा रास्ता निकल आता है और वह बिल्कुल सीधे एक विलक्षण ढंगसे इस लीलाका दर्शन करके कृतार्थ हो जाता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—
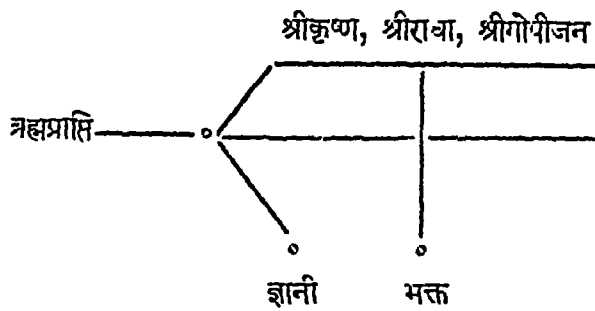
७२ श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, हृदय हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा दोनों सर्वथा सब प्रकारसे एक ही हैं। लीलाके लिये दो रूपोंमें अनादि कालसे बने हुए हैं और अनन्त कालतक बने रहेंगे।

श्रीकृष्णका स्वरूप है सत्-चित्-आनन्द। सत्में संविनी शक्ति रहती है, चित्में चितिशक्ति (ज्ञानशक्ति) रहती है तथा आनन्द-अंशमें ह्लादिनीशक्ति रहती है। श्रीकृष्णकी संविनी-शक्ति ही वृन्दावनके रूपमें प्रकट होती है। चितिशक्ति योगमाया आदि हैं। ह्लादिनी श्रीराधा हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण जो सत्-चित्-आनन्द हैं, वे ही वृन्दावन बने हुए हैं, वे ही योगमाया बने हुए हैं और वे ही श्रीराधा बने हुए हैं तथा श्रीराधा फिर अनन्त गोपियाँ बनी हुई हैं। और यही सत्-चित्-आनन्दमयी लीला अनादि कालसे चल रही है एवं कालतक चलती रहेगी।

वृन्दावन, योगमाया, श्रीराधा—एक ही श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ तीन रूपोंमें हैं। असली बात तो श्रीकृष्ण जानें, पर मैंने एक दिन निवेदन किया था कि उसी सत्-चित्-आनन्दमयी लीलाकी छाया यहाँ पड़ती है और वही छाया इस विश्वके रूपमें दीखती है। यहाँके स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी, वन, पर्वत, समुद्र, नदी—सब उसी दिव्य सत्-चित्-आनन्दमय दिव्य राज्यकी छाया है।

७३. व्रजप्रेमकी प्रत्येक लीलामें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वहाँ किसी भी गोपीके मनमें अपने सुखकी बिल्कुल इच्छा नहीं रहती, तथा वहाँके जो श्रीकृष्ण हैं, वे ऐसे नहीं हैं कि उनको सुख नहीं चाहिये। वहाँ उनकी भगवत्ता छिपी रहती है तथा प्रत्येक गोपी यह समझती है कि श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ हैं, इनको सुख होता है, दुःख होगा। व्रजसुन्दरियोंकी चेष्टाओंमें यह भाव नहीं होता कि हमें सुख पहुँचे, अपनेमें अपने जो प्राणवल्लभ हैं, उनको सुख कैसे मिले—यही इच्छा केवल रह जाती है।

यह भी यहाँ समझनेकी बात है कि वृन्दावनमें जो चिन्मय लीला होती है, वहाँ जो गोपियोंके पति हैं, वे भी हाड़-मांसवाले नहीं हैं, वे तो श्रीकृष्णकी ही एक-एक मूर्ति हैं। पतिरूपमें भी श्रीकृष्ण ही रहते हैं। पर पतिसे इनका कुछ भी कभी भी बिल्कुल कोई सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ तो गोपियाँ पतितकका त्याग करके श्रीकृष्णको भजती हैं, यह लीला दिखलानी है, इसीलिये यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही उनके पति हैं, पर उस रूपमें उनके साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। वह लीला कुछ इतनी विचित्र है कि वाणीसे समझायी नहीं जा सकती। किसी दृष्टान्तसे समझना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव-सा है। मान लीजिये, जैसे स्त्री-पुरुषका एक जोड़ा। उनका गुप्तरूपसे विवाह हो जाय, पर इस बातका किसीको पता लगे नहीं। अब स्त्री तो पतिव्रता है, वह पर-पुरुषका मुँह भी नहीं

देख सकती, बात करना तो दूर रही । अब वह प्रेममें पागल हो जाय । लोगोंको तो यह मालूम नहीं कि इसका विवाह हो गया है, इसलिये उसी पागलपनकी अवस्थामें उसका विवाह फिरसे किसीके साथ कर दिया जाय । उसे पता भी न चले । कुछ दिन बाद उसे कुछ होश होता है, तब क्या वह अपने पहले पतिको छोड़कर दूसरेका मुँह भी देख सकती है ? कुछ-कुछ इस दृष्टान्तसे श्रीगोपीजनोंके प्रेमके स्वरूपका अनुमान हो सकता है । असली बातको समझना, बिना दर्शन हुए समझना कठिन है ।

बहुत-सी ऐसी बातें हैं कि जिनकी दिव्यताको मलिन मनका प्राणी कदापि समझ ही नहीं सकता । आप पढ़ चुके होंगे भागवतमें—श्रीकृष्ण किसी गोपीका चुम्बन करते हैं, किसीका हृदय स्पर्श करते हैं । पर ये सभी लीलाएँ इतने परेके स्तरकी है, इतने ऊँचे दिव्यराज्यकी हैं कि जबतक मनुष्यकी सारी कामवासना सर्वथा मिटकर मन एवं आँखें दोनों चिन्मय न हो जायँ, तबतक वह समझ ही नहीं सकता कि असलमें क्या रहस्य है । संसारमें भी देखा जाता है कि पिता अपनी छोटी पुत्रीका मुख चूमता है । बहिन भाईका हृदय-स्पर्श करती है । बेटीको बाप हृदयसे चिपका लेता है, पर क्या वहाँ कभी कामविकारकी कल्पना भी होती है ? फिर सच्चिदानन्दमय दिव्य पवित्रतम भगवत्-प्रेमराज्यमें कितनी निर्विकार तथा सर्वथा भगवन्मयी लीला होती होगी, इसका जरा अनुमान करना चाहिये । वहाँ स्त्रीका अङ्ग दीखता मात्र है असलमें तो वह सर्वथा सब ओरसे चिदानन्दमय है । वहाँ जड़ताकी, कामकी तो गन्ध भी नहीं है । वहाँ उस लीलाके पढ़नेका इतना माहात्म्य है कि पढ़नेवाला यदि श्रद्धासे पढ़ेगा तो उसका काम-विकार नष्ट हो जायगा ।

इस व्रजलीलाका भी एक रूप नहीं है । एक-से-एक बढ़कर ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी लीला होती है । अब कई लीलाएँ इतनी मधुर होती हैं कि उनमें श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ताको सर्वथा छिपाकर लीला करते है । उन बातोंको पढ़कर साधारण आदमी तो यही समझेगा कि यह तो किसी कामी पुरुषकी बात है, परंतु वह है असलमें उन भगवान्‌की लीला कि जिनके संकल्पसे अनन्त ब्रह्माण्ड बनते बिगड़ते है । वहाँ ऐश्वर्य सर्वथा छिप जाता है, वहाँ तो वे बैठकर श्रीराधाके लिये रोते हैं । 'हाय रे, भगवान्‌की स्मृति नहीं छूटे'—इस प्रकार जिनकी स्मृतिके लिये इतनी व्याकुलता ऋषि-मुनियोंको होती है, वे ही प्रभु निरन्तर श्रीराधाजीके लिये व्याकुल रहते हैं ।

७४ जैसे भी हो, पूर्ण चेष्टा करके मनुष्य इस संसारको भूलकर श्रीकृष्णकी चिन्मयी लीलामें मनको तन्मय कर दे, तभी वास्तवमें जीवनकी कृतकृत्यता है । और यह तभी होगा, जब ठीक-ठीक पूरी लगनके साथ इसमें जुड़कर साधनामय जीवन बना लिया जाय ।

व्रजप्रेममें मधुरभावकी सेवाका अधिकार पानेके लिये दो तरहकी साधना करनी पड़ती है । एकको बाह्य साधना कहते हैं और दूसरीको आन्तरिक साधना । बाह्य साधनाका रूप यह है कि इस शरीरके द्वारा, जो पाञ्चभौतिक है, निरन्तर जप, कीर्तन, श्रवण, पूजन आदिमें मनुष्य लगा रहे, सांसारिक झंझटोंमें कम-से-कम समय लगाये तथा आन्तरिक साधनाका यह रूप है कि मनसे दिव्य चिन्मय शरीरकी भावना करके उस शरीरके द्वारा निरन्तर चौबीसो घंटे सेवामें शामिल रहे । यही करते-करते जब प्रेम प्रकट हो जाता है तब भगवान् भावनाको ही असली बनाकर दिखा देते हैं । दूसरे शब्दोंमें तब भगवान्‌की वास्तविक चिन्मयी लीला प्रकट हो जाती है तथा जब पाञ्चभौतिक शरीर छूट जाता है, तब फिर प्रेमके और भी ऊँचे-ऊँचे स्तरोंका विकास होता है और अधिकारके अनुसार

साधक जब प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्थामे पहुँचता है, तब उसे सेवाका अधिकार मिलता है । यही वैष्णव आचार्योंका, शास्त्रोंका एव प्रेमी सतोंका सिद्धान्त एव अनुभव है ।

यहाँ जिस दिव्य शरीरकी भावना की जाती है, वही दिव्य शरीर सच्चिदानन्दमय वृन्दावनधाममे योगमायाके द्वारा पहुँचा दिया जाता है । वह शरीर किसी गोपीके गर्भसे जन्म धारण करता है तथा फिर थोड़ी-सी उम्र होते ही श्रीकृष्णके दर्शन होकर प्रेमकी ऊँची-ऊँची अवस्थाएँ—प्रेमके बाद स्नेह, स्नेहके बाद मान, मानके बाद प्रणय, प्रणयके बाद राग, रागके बाद अनुराग, अनुरागके बाद भाव और भावके बाद महाभाव । इन अवस्थाओंमें पहुँचते ही श्रीकृष्णकी वशी बजती है तथा वह गोपी घर-द्वार छोड़कर सदाके लिये निकल पड़ती है । वहाँ श्रीकृष्णकी रासलीलामें पहले-पहल उसे सेवाका अधिकार मिलता है । उसके बाद सदाके लिये वह साधक नित्य लीलामे सम्मिलित हो जाता है । यह एक क्रम है—जो गोपीभावसे साधना करते है, उनके लीलामें शामिल होनेका क्रम है । जो सखाभावसे सेवाकी भावना करते हैं, उनका क्रम भी मिलता-जुलता ही होता है, पर सखागण रासलीलामे अधिकार नहीं पाते, उन लोगोंकी अन्तिम स्थिति वनमे गाय चराने, साथ खाने, मौज उड़ाने, कधे चढ़नेतक ही है । इनका क्रम भी ऐसा होता है कि बाहर एव अन्तर साधना करते-करते जब प्रेम प्रकट होता है, तब वे भगवान्के सखा बनकर यहीं लीला शुरू कर देते हैं, फिर उनका पाञ्चभौतिक शरीर छूटनेपर व्रजके किसी गोपके घर वे बालकके रूपमें जन्म लेगे । इसी प्रकार प्रत्येक भावकी साधनाका यह एक क्रम है, पर इतना ही हो, ऐसी बात नहीं है, यह तो एक नियम है। श्रीकृष्णके चाहनेपर तो वे जो चाहे, वही नियम बन सकता है; पर प्रायः इसी तरहसे साधकलोग साधनामें अग्रसर होते हैं ।

७५. आपपर भगवान्की बड़ी कृपा है कि आपके मनमें व्रजप्रेमकी बात सुननेकी इच्छा होती है । आप निकुञ्ज-लीला सुनना चाहते हैं और मैं सुनाऊँ—इससे बढ़कर मेरा एव आपका सौभाग्य और क्या हो सकता है ? पर मैं जो सुनाने जा रहा हूँ, वह सबके सुननेकी वस्तु सर्वथा नहीं है । मेरी तो यह धारणा है तथा अनुभवी सतोंसे भी बार-बार यह सुन चुका हूँ कि जिसके मनमें तनिक भी कामविकार है, उसे इसे कहने-सुननेका अधिकार ही नहीं है । अतः कम-से-कम इस लीलाके सम्बन्धमें सावधानी रखेगे । मैं सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि जिसके जीवनका एकमात्र उद्देश्य श्रीराधाकृष्ण नहीं हो गये हैं, जिसके मनमें कभी भी श्रीकृष्ण एव श्रीराधाकी मधुमयी लीलाओंको सुनकर किसी प्रकार भी, तनिक भी कोई-सा भी सदेह होता हो, जो प्रिया-प्रियतमके प्रेमके लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करनेके लिये तैयार न हो, जिसका श्रीकृष्ण एव श्रीराधाकी अपार, असीम, अनन्त भगवत्तापर, उनकी अपार असीम कृपापर दृढ़, अटूट, अडिग, अचल, अटल विश्वास नहीं हो गया हो, उसे ये बातें, जो मैं मधुर लीलाके सम्बन्धमें आगे लिख रहा हूँ, कभी नहीं पढ़नी चाहिये ।

ऊँचे स्तरकी एक लीला होती है और वह नित्य चलती रहती है । वह है परकीया भावकी लीला । इसमे भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही विलक्षण प्रेमलीला होती है तथा श्रीराधारानीका प्रेम कितना ऊँचा है, यह दिखलाया जाता है । इस परकीया भावकी लीलामे होता क्या है कि भगवान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर सभी गोपियोंके एक-एक पति बनते हैं तथा राधारानीके भी एक पति श्रीकृष्ण ही अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं । फिर

वहाँकी प्रत्येक लीलाके द्वारा सिद्ध किया जाता है कि पवित्र प्रेम क्या वस्तु है, प्रेममें कितना त्याग होता है। सबसे कठिन जो आर्यपथ, कुलधर्म है, उसका त्याग भी श्रीराधा एव श्रीगोपीजन सहज ही कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठाकी लीला है तथा प्रेमप्राप्त कतिपय वैष्णव आचार्योंने एक-से-एक बढ़कर लीलाएँ लिखी हैं और अनुभव करके लिखी हैं। अवश्य ही यह इतनी ऊँची प्रेममयी लीला है कि सबके कहने-सुननेकी चीज बिल्कुल नहीं है। यह इतनी ऊँची बात है तथा इसमें इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि असलमें तो श्रीकृष्णकी कृपासे ही कोई बिरला साधक इसे थोड़ा-बहुत समझ सकता है।

अध्यात्मचिन्तनके अमृत-कण

(लेखक—प० श्रीवलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

(१) भगवान् इस जगत्के बीचमें किस प्रकारसे हैं ? उसी तरह जिस तरह मालामें सूत्र। ऊपरसे देखनेसे जान पड़ता है कि एक ही लड़ी है, पर उसमें अलग-अलग मणि हैं। हाँ, वह सत्ता जिनके कारण इनमें एकीकरण होता है वह सूत्र है। यदि यह सूत्र नहीं होता तो सब मणि अलग-अलग बिखरे हुए होते। ससारमें भी इसी भाँति सब प्राणी पृथक्-पृथक् हे, सबका भाग्य अलग है, सबका कर्म अलग है, पर उस भगवान्के कारण ही इन सबमें एकता बनी हुई है। मणियोंमें सूत्रकी तरह वह सबके भीतर सूत्र-रूपसे रहनेवाला है। सूत्रकी उपमा बड़ी प्राचीन है। गीताकी तो उपमा प्रसिद्ध ही है, पर उससे भी प्राचीन अथर्ववेदकी है। वहाँ भगवान्को 'सूत्रस्य सूत्रम्' कहा गया है (अथर्व० ११ काण्ड ८ सूक्त)। हमें उसकी स्थितिका पता नहीं चलता। ऊपरसे तो कुछ दिखलायी नहीं पड़ता, पर भीतर-भीतर वह सर्वत्र विद्यमान है।

हमें चाहिये इस सूत्रको पकड़ना। अपने भीतर है वह सूत्र; यदि उद्योग करके उसे पकड़नेका उद्योग हम करें तो क्या उसका पता नहीं लगेगा ? क्यों नहीं लगेगा ? वह बाहर थोड़े ही है! पर उस उद्योगके प्रकारमें अन्तर पड़ता है। भक्तलोग तो सदा यही कहते आये हैं कि उसको पूर्ण-रूपसे जानना नितान्त दुष्कर है। वह कृपा करके जना दे, तभी मनुष्य जान सकता है। 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' पर उसकी वह कृपा तो हम पायें, अपनेको उसकी दयाका अधिकारी तो बनायें। यह कब हो सकता है ? यह तभी हो सकता है जब हमारा प्रेम उसकी ओर हो। वह स्वय खिंच जाय, प्रेमपाशमें बद्ध हो जाय। यह एक उपाय है उसको अपनी ओर करनेका—उसकी दयाके भडारके खुल जानेका। हाँ, भडारके खुलनेकी बात कैसी ? वह तो सदाव्रत सदासे चल रहा है, पर हम तो इधर ही इतने फँसे हैं कि उधर ताकनेका भी हमें समय नहीं है। उसके घर-तक पहुँचनेकी तो बात ही न्यारी है। उसके सदाव्रत-के पास तो कोई पहुँचे ? पर हम तो उधर देखते ही नहीं। 'प्रेय'में इतने मस्त हैं कि 'श्रेय' को भुला बैठे हैं। आपसे प्रार्थना है कि हे भगवन्! हमारी दृष्टि प्रेयसे हटकर श्रेयकी ओर हो। ससारसे हटकर हम आपकी ओर चलें, जिससे हमारा मानव-जन्म सफल हो। बस, आज इतना ही।

(२) हे भगवन्! कौन मुँह लेकर हम आपसे विनती करें ? आपके देखते-देखते न जाने हमने कितने अपराध किये हैं। आपके स्वरूपको जानते हुए भी हमें उसकी वास्तविकताके बारेमें विश्वास नहीं है। आप सर्वत्र विद्यमान हैं, इसे जानकर भी हम पाप करते हैं। आप सहस्राक्ष हैं—आप विश्वचक्षुः हैं, इसे जानकर भी हम अँधेरेमें पापा-चरण करते हैं कि कहीं मनुष्य हमें देख न ले। प्रत्येक जीव आपसे उत्पन्न हुआ है तथा उनमें आपकी ही सत्ता विद्यमान है—इस ज्ञानको रखते हुए भी हम आपके जीवोंकी हिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा किया ही करते हैं। क्या कहें और कितना कहें। मुँहसे आपके गुणोंको गाते हैं, पर उसके अर्थ-पर श्रद्धा नहीं करते। जान तो यह पड़ता है कि हम मनुष्य-का अधिक ध्यान रखते हैं, ईश्वरका कम, क्योंकि हम मनुष्योंकी आँखें बचाकर अनर्थ करनेपर अपनेको अपराधी नहीं मानते। पर हम तनिक भी अपने हृदयमें विचार नहीं करते कि आपकी आँखोंसे ओझल हम भला कभी हो सकते हैं।

आपकी आँखें कहीं-न-कहींसे हमें झाँकती हैं। 'दिवालोंको भी आँखें होती हैं' यह अन्य विषयमें प्रयुक्त होनेवाली कहावत कितनी सच्ची है। दिवालोंके भीतरसे भगवान्‌की आँखें हमें देख रही हैं। जब यह भावना हमारे हृदयमें दृढरूपसे घर कर लेगी, तब भला, हम कभी बुरा काम कर सकते हैं। मानते हैं सब, विश्वास रखते हैं सबपर; पर हृदयमें इतनी दृढता नहीं कि सच्ची बातोंपर जाकर बैठ जाय।

पर सबसे जरूरी बात तो यही है कि हमारा भगवान्‌में विश्वास जीता-जागता हो, सोया हुआ न हो। हमारे मनमें जितना विश्वास दृढ होगा, उतना ही भगवान्‌की ओर हृदय बढेगा या उतना ही अधिक दैवी सम्पदाओंका मनमें आविर्भाव होगा। अत' अपने मनको बार-बार यही समझाना चाहिये कि देखो, भगवान्‌की शक्तिमत्तापर विश्वास रखो। उसके सामने अपने भावको कह सुनाओ। वह तनिकमें सुन लेगा और जान लेगा और उचित समझेगा तो उसका उपाय कर देगा। उसकी अखण्ड शक्तिमत्ताके विश्वाससे तनिक भी मत डिगो। इसे व्यावहारिक कार्यमें ले आओ और आचरण करो, यही तुमसे कहना है।

(३) भगवान्‌का स्वरूप क्या मनुष्योंके प्रयत्नोंसे जाना जा सकता है? वह इतना विचित्र है, इतने विरुद्ध गुणोंका उसमें युगपत् समावेश है कि उसे यथार्थरूपसे जानना बड़ी ही कठिन बात है। बिना भगवान्‌की दयासे वह ज्ञात नहीं हो सकता। 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' बिना उसकी दयाके मनुष्य पङ्गु-सा बना रहता है। जो समुद्र-सा अनन्त है, उसका पता भला जलबिन्दु लगा सकता है? उसके वास्तव विस्तारका पता इतना लघु-जीव क्या लगा सकता है? उसीकी कृपा यदि हो, तभी यह काम साध्य हो सकता है।

दूसरे ढगसे उसका पता चल भी सकता है। यह जीव परमात्माका ही तो अंश ठहरा। अत' यदि यह अपने स्वरूपका पूरा पक्का परिचय पा जाय तो इसके द्वारा परमात्मासे भी परिचय पा सकता है। पर अपने स्वरूपका पता लगाना सीधा नहीं। इन्द्रियोंके साथ अपना इतना मिश्रण हो गया है कि इन्द्रियोंके विषयको हम अपना ही विषय समझ बैठे हैं, जिससे अपना सच्चा स्वरूप जानना दुरूह-सा हो गया है। दोनोंकी एकता इतनी दृढ है कि एकसे दूसरेका परिचय अवश्यमेव मिल सकता है; पर अपनेको भी जानना सरल व्यापार नहीं। इन्द्रियोंके प्रपञ्चसे आत्माको अलग निकाल रखना परिश्रमका काम है, पर हमें विरतोत्साह नहीं होना चाहिये। रूईकी बत्तीके भीतरसे जैसे सींकको निकाला जाता है, वैसे ही पञ्चकोषोंसे आत्माको अलग निकालना चाहिये। जब शुद्ध चैतन्यका परिचय मिल जाता है, तब उस परमात्माके स्वरूपका भी परिचय मिल जाता है। पर कहनेमें करनेमें बड़ा भेद है। भगवान्‌की कृपासे ही यह सुसाध्य है। अत. हे दयासागर! ऐसी दयाका विस्तार कीजिये कि हमें अपने स्वरूपका तो परिचय मिल जाय। दया तो आपने बहुत की है और कर ही रहे हैं, पर अभीतक यह दया शेष है जरा एक बार और दया कीजिये। हमारा कुछ काम तो निकल जाय। आपके लिये तो यह सरल-सी चीज है, पर हमारे लिये यह नितान्त दुष्कर है। बिना कृपाके सिद्ध होती दिखायी नहीं पड़ती। यही आपसे प्रार्थना है।

(४) हे दयानिधान! किसी प्रकारसे हमारे चित्तसे अप्रसन्नताको दूर कीजिये। पता नहीं, यह क्यों आ धमकती है। हम स्वयं जब आनन्दरूप ठहरे, तब निरानन्द होनेकी कौन-सी बात है, पर चित्तमें कभी-कभी बड़ा विषाद होता है। ससारके विविध विषम दुःखोंके कारण ही ऐसी स्थिति आ जाती है, पर यह तो होगी ही। संसारमें जन्म-धारणका दण्ड ही ऐसा है कि दुःखकी ज्वाला उत्पन्न हो। पर यही चाहिये कि प्रपञ्चकी चिन्तासे दूर रहे। भरसक पूरी चेष्टा करनी चाहिये कि चिन्ता पास न फटकने पाये। भगवान्‌के अनुग्रहसे ही यह साध्य है। उनकी इच्छा हो तो आज ही परम वैराग्यका उदय हो जाय। चित्त ससारसे एकदम उपरत हो जाय। चिन्ता तनिक भी न सताये। अहा! छोटे बालकोंका जीवन कितना निश्चिन्त होता है। घनघोर सग्रामस्थलके पास भी बालक उसी भाँति खेलते हुए देखे गये हैं जिस प्रकार किसी शान्त स्थानमें। उनके मनमें भयकी भावना ही नहीं है। वे तो प्रेमसे एक दूसरेको आलिङ्गन करते हैं। पासमें ही वर्तमान युद्धकी सत्तासे भी वे सर्वथा अपरिचित रहते हैं। बस, बालकोंसे निश्चिन्तताकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। किसी भी दशामें हो, चिन्ताका भाव मनमें न आना चाहिये, परन्तु यह स्थिति कठिन है। गीतामें आदर्श पुरुषोंके लक्षणमें

निश्चिन्तताका स्थान आता है। अतः ऐसी दशा साधारण पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकती। पर फिर भी उद्योग करते रहना चाहिये। भगवान्‌का नामस्मरण सतत करते रहनेसे और उनकी सहज सुहृदतापर विश्वास करनेसे निश्चिन्तता बनी रहती है। फिर किसी प्रकारकी चिन्ता पास भी फटकने नहीं पाती और प्रफुल्लता बनी रहती है। अतः मनुष्योंको चाहिये कि वे चिन्ता दूर करनेके लिये भगवान्‌के सहज सौहार्दपर विश्वास करके सदा नामस्मरण करते रहें—यही सुलभ साधन है।

(५) भगवान्‌की विभूतिकी इयत्ता नहीं है। जिधर देखिये, उधर ही उनकी विभूति दिखलायी पड़ती है। संसारके समग्र प्राणी उन्हींकी सत्तासे अनुप्राणित हैं। वह वही वस्तु है, जिससे उनमें प्राणका सचार है, जीवन धारण करनेकी शक्ति है। उसीके आधारपर इस जगत्‌की सत्ता है। विमल मोतियोंकी मालाकी स्थिति जिस प्रकार सूत्रके बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस जगत्‌की परम्पराके भीतर वह सूत्रके समान वर्तमान है। मालामें सूत्रकी स्थितिका पता नहीं चलता, क्योंकि वह सूक्ष्मरूपसे उसके भीतर वर्तमान रहता है। यही बात भगवान्‌के लिये भी चरितार्थ होती है। वे सबके नियन्ता हैं, आधारपीठ हैं, पर वे नितान्त सूक्ष्म हैं और इसीलिये उनकी सत्ताका अनुभव प्रत्यक्षरूपसे हमें साधारणतया नहीं होता। परतु हैं वे अवश्य मणियोंकी मालामें सूत्रकी तरह। इसीलिये वे 'सूत्रात्मा' कहलाते हैं।

आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने भीतर उस सूत्रको पहचानें, अपने जीवन देनेवालेके रूपको जानें। हमें अपनी इन्द्रियोंको बाहरसे रोककर भीतर ले जानेका उद्योग करना चाहिये। तभी उसका पता चलेगा हमें। किंतु यह कुछ कठिन है अवश्य। सदा विषयमें आसक्त मानवोंके लिये भगवच्चिन्तन नितान्त दुरूह व्यापार है। इसीलिये भक्तको विषय-चिन्तन छोड़ना पड़ेगा। भगवान् मुझे इस कृपासे समन्वित करें, यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

(६) मनुष्यका मन ही विचित्र कारखाना है, जिसमें तरह-तरहकी वस्तुएँ तैयार होती हैं। इन चीजोंका नाम है—विविध वृत्तियाँ और वे साधारणतया दो विभागोंमें विभक्त की जाती हैं—भली और बुरी। सुवृत्ति और कुवृत्ति दोनोंका उद्गम-स्थान मन ही है। प्रायः प्रबलता कुवृत्तियोंमें ही देखी जाती है। वे सदा इस फेरमें रहती हैं कि हम किस प्रकार अन्य वृत्तियोंको धर दबायें। सुवृत्तियाँ भी अपनेको प्रबल बनाकर अन्य वृत्तियोंको दबानेकी चेष्टा सदा किया करती हैं। यही देवासुर-सग्राम है। देवोंकी तरह असुर भी कश्यपकी सतानें हैं—उनकी माता अदिति है, तो इनकी माता दिति। पिता तो एक ही ठहरे। देवासुरोंने समुद्रका मन्थन एक बार ही किया था, पर अध्यात्ममें ये सदा मनरूपी समुद्रका मन्थन किया करते हैं। कभी एक प्रवृत्ति मनको अपनी ओर खींचती है तो कभी दूसरी। इसी खिंचावमें पड़ा हुआ मन मन्थनके कष्टका अनुभव करता रहता है। प्रसन्नताका उदय तभीतक रहता है, जबतक दैवीवृत्तिकी स्थिति बनी रहती है, अन्यथा नहीं।

गीताके १६ वें अध्यायमें इसी द्वन्द्वयुद्धका वर्णन है। दैवी सम्पद् तथा आसुरी सम्पद्‌का वहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है, जिनमेंसे पहली सम्पत्तिके लोग ही मोक्ष पानेके अधिकारी हैं। दूसरी सम्पत्तिवाले तो केवल नरकमें ही जाते हैं। दोनों वृत्तियोंका उदय एक ही स्थानसे हुआ, पर गुण-भेदसे दोनोंमें इतना अन्तर पड़ गया। सात्त्विक वृत्ति मोक्षका कारण होती है और तामसिक बन्धनका। राजसिक वृत्तिका सम्बन्ध दोनोंसे है, क्योंकि रजसे ही तो क्रिया होती है और इसका पुट दोनों वृत्तियोंमें बना ही रहता है। हमें शक्तिभर आसुरी वृत्तियोंको दबाकर दैवी प्रवृत्तियोंको आगे बढाना चाहिये। यही उन्नतिका मार्ग है। बिना दैवी सम्पत्ति पाये मनुष्य मोक्ष पानेका अधिकारी ही नहीं होता।

(७) भगवान्‌की सुधि भी हो तो कैसे हो। विषय भला मनुष्यको कभी चैन लेने देते हैं? वे तो लगातार मनको अपनी ओर खींचते रहते हैं। इन्द्रियोंके बन्धनके हेतु होनेसे ही 'विषय'की सार्थकता है और इन्द्रियाँ भी हमारी कैसी विचित्र हैं। वे स्वभावसे ही बाहरकी ओर जानेवाली हैं। जब जाती हैं, तब बाहर ही जाती हैं। उनको खींचकर अन्तर्मुख करना साधारण कार्य नहीं है। पर बिना इस अत्यावश्यक कार्यके किये कुछ हो भी तो नहीं सकता। अपना प्रयत्न तो होना ही चाहिये। साथ-साथ भगवान्‌की दयाकी भिक्षा भी सदा मागनी चाहिये। उनकी दया हो जाय, तो इन्द्रियोंके स्वभावके बदलनेमें कितनी देर लगती है।

यह संसार तो अपने ही प्राचीन तथा नवीन कर्मोंका फल है। प्राचीन कर्मराशिके भोगनेके लिये ही मनुष्योंको यह चोला मिला है। यहाँ आकर भी विविध व्यापार मनुष्य

करता है। इनका भी तो फल भोगना ही पड़ता है। विषय-से—यह तो हमारा अनुभव है—कभी भी अवकाश मिल नहीं सकता। यदि वह बन्धनका कारण न हो तो वह विषय ही नहीं है। विषयमें फँसना तो स्वाभाविक है, पर उससे अपनेको बचाना या फँसकर भी निकल जाना बड़ी बुद्धिमानीका काम है। जान-बूझकर अपने पैरोंकी बेड़ियोंके बढानेमें मनुष्य क्यों लगा हुआ है? बेचारा कर्मोंका दास बना हुआ है। स्वतन्त्र थोड़े ही हैं। यह सब कुछ है, पर फिर भी उसे प्रयत्न कर बाहरसे मुँह मोड़कर भीतर जानेकी चेष्टा करनी ही चाहिये। इसीमें तो मनुष्यका बड़प्पन है।

हे भगवन्! मैं तो देखता हूँ दिनोंदिन मैं इस प्रपञ्चमें अधिकाधिक फँसता जाता हूँ। सुलझना तो अलग रहा, यहाँ तो नित्य ही उलझन बढ़ती चली जाती है। हे दयालो! बिना तुम्हारी दयाके कुछ होता नहीं दीखता। दीन जानकर दया करें। यही सदा-सर्वदा विनीत प्रार्थना है। ॐ शान्तिः।

प्रार्थनामय जीवन

(१)

भगवान् ही आरोग्य, समृद्धि और शान्तिके अक्षय स्रोत हैं। विपत्ति और विषादके बादल तभीतक मँडराते हैं, जबतक हम भगवान्को स्मरण करके उनकी शरणमें नहीं जाते। भगवान्की शरणमें जाते ही हमारे संशयकी गाँठ खुल जाती है और भयका भूत भाग जाता है। भगवान्की कृपासे आकाश निर्मल हो जाता है और जीवनमें ज्ञानका पवित्र सूर्योदय हो जाता है।

संसारमें जिसको भी धन, मान या ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह भगवान्से ही प्राप्त हुआ है। जबतक उनकी कृपा-दृष्टि नहीं होती, तबतक जीव दरिद्रता, अपमान और मोहकी ही गलियोंमें चक्कर काटता है। यदि हम सुख और शान्तिमय जीवन चाहते हैं तो हमें एकमात्र भगवान्की ही शरणमें जाना चाहिये तथा अपने प्रत्येक विचार, भाव और कर्मद्वारा उनकी ही आराधना करनी चाहिये।

आध्यात्मिक उन्नतिको भौतिक उन्नतिसे विपरीत या पृथक् मानना अज्ञान है। आध्यात्मिक उन्नति ही वास्तवमें भौतिक उन्नतिका ठोस आधार है। आध्यात्मिक उन्नतिके बिना भौतिक उन्नति अधूरी और अस्थायी है। केवल भौतिक उन्नति मनुष्यको पूर्ण सुख और शान्ति प्रदान करनेमें असमर्थ है। सच्ची आध्यात्मिक उन्नतिके साथ रोग, ऋण आदि भौतिक कष्ट नहीं टिकते। सच्चे अध्यात्मवादीका शरीर और मन नीरोग रहते हैं। आत्मवादी उत्साही, धीर और कर्मठ होता है। वह क्रोध, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारोंसे मुक्त रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है।

आधुनिक मनोविज्ञानने प्रयोगों और परीक्षणोंद्वारा शारीरिक और मानसिक आरोग्यके लिये नैतिकता और आध्यात्मिकताको अनिवार्य आवश्यकताके रूपमें स्वीकार कर लिया है। द्वेष, क्रोध आदि मनोविकारोंसे बड़े भयंकर शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। चिन्ता और भय रक्तमें विषका प्रवाह करके रचनात्मक शक्तियोंको जग लगा देते हैं। इन मनोविकारोंसे छुटकारा पाना बड़ा कठिन होता है। इसके लिये मानसशास्त्रियोंने सबसे उत्तम उपाय आत्मसंकेत या आत्मनिर्देश बताया है। मनको अन्य सब विषयोंसे हटाकर कुछ देर शरीर और मनको शान्त और सहज स्थितिमें रखना चाहिये। तब अपने मनको भय आदि मनोविकारोंसे विपरीत मनोभावोंके निर्देश देने चाहिये। धीरे-धीरे कई बार कहना चाहिये कि 'मैं निर्भय हूँ। मैं प्रत्येक बाधाका वीरतापूर्वक सामना करनेके लिये दृढप्रतिज्ञ हूँ। मैं निर्भयतापूर्वक जीवनमें उन्नति करता हुआ आगे बढ रहा हूँ।' ऐसी ही निर्भयताकी स्थितिमें अपने मानसचित्र बना लेने चाहिये। निर्देश देते समय उन चित्रोंको अपनी कल्पनामें दोहराना चाहिये। यही संक्षेपमें आत्मसंकेत या आत्मनिर्देशकी विधि है। आत्मनिर्देश दिनमें दो या तीन बार देने चाहिये। इसके लिये सर्वोत्तम समय रातको सोनेसे पहले और प्रातःकाल शय्या त्यागनेसे पहलेका होता है।

आत्मनिर्देश या आत्मसंकेतका सर्वोत्तम रूप ईश्वर-प्रार्थना है। आत्मसंकेतका प्रयोग आधुनिक मनोविज्ञान हर प्रकारकी शारीरिक और मानसिक उन्नतिके लिये करता है। बहुत से मानसशास्त्री भौतिक उन्नतिके लिये भी आत्मसंकेतकी विधिका प्रयोग करनेका परामर्श देते हैं। यही बात

ईश्वर-प्रार्थनाके लिये भी संतलोग बतलाते हैं। संतोंका कहना है कि हमें अपनी हर कठिनाईके समय करुणा-सागर प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। हमें अपनी प्रत्येक समस्या स्पष्टरूपसे उनके सामने रखकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। चिन्ता करना और समस्याओंको हल करना उनका काम है। जो कुछ हमें करना चाहिये और जो कुछ हम कर सकते हैं वह हम करें। शेष सब प्रभुके ऊपर छोड़ दें। इस प्रकारका प्रार्थनामय जीवन सुख, शान्ति और सेवाका जीवन होता है। वहाँपर कोई अभाव नहीं होता, कोई बेचैनी नहीं होती। ऐसा भक्तिमय जीवन पूर्णताका जीवन होता है। वह ईश्वरका ही जीवन होता है।

भगवान्‌की अनन्त शक्तियोंमें और उनकी अकारण कृपालुतामें हमें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। वे हमारी हर आवश्यकताको स्वयं ही जानते हैं और उसकी पूर्ति अवश्य ही करेंगे। जो कुछ हमारे कल्याणके लिये आवश्यक है, वही वे करेंगे। जब भी हमें जिस वस्तुकी आवश्यकता होगी तभी भगवत्कृपासे वह हमें अवश्य प्राप्त होगी। इस विश्वासको अडिग रखते हुए हमें भगवान्‌की स्तुति मन, वचन और शरीरसे करनी चाहिये। शरीरसे स्तुतिका अर्थ है कि हम अपने कर्तव्यकर्म ठीक प्रकारसे करते रहें।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

'अपने कर्मसे उसकी पूजा करके मनुष्य सफलता प्राप्त करता है।'

भगवान्‌पर अविचल विश्वास एक ऐसी अक्षय पूँजी है, जिसको लेकर आप अपनी जीवन-यात्रा बेखटके प्रारम्भ कर सकते हैं, क्योंकि वह अवश्य ही सफलतापूर्वक समाप्त होगी। समाजमें चारों ओर आपकी निन्दा हो रही हो, आपके ऊपर बहुत-सा ऋण चढ़ा हुआ हो, आपके शरीरमें भयंकर रोग और मनमें चिन्ता, भय, क्रोध आदि विकार भरे हों—ऐसी घोर निराशाकी स्थितिमें भी आपके लिये आशाकी एक किरण बची है और वह किरण है ईश्वर-प्रार्थना। आप स्वयं अपने भाग्यके निर्माता हैं। दृढ निश्चयके द्वारा आप अपने भाग्यको बदल सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका अपना जीवन उसके लिये एक ब्रह्माण्डके सदृश होता है और इस ब्रह्माण्डका कर्ता-धर्ता परमेश्वर उसका अपना मन होता है। मनुष्यका अपना मन ही उसके सौभाग्य और दुर्भाग्य, सफलता और असफलता, दुःख और सुख, हानि और लाभ, जीवन और मरण, यश और अपयश, बन्धन और मोक्षका एकमात्र कारण होता है। दुर्भाग्य तभीतक है जबतक आप दूसरोंको अपने भाग्यका निर्माता माने हुए हैं। जब स्वयं आपने ही उनको अपने भाग्यका निर्माता मान लिया, तब इस प्रकार आपने स्वयं ही अपने भाग्यके निर्माणका अधिकार उनके हाथोंमें सौंप दिया। अब अपने इस अधिकारको उनसे वापस ले लीजिये। परिस्थितियोंको दोष देना अपनी जिम्मेदारीसे बचना है। अपने लिये अच्छी और बुरी परिस्थितियोंके निर्माता आप स्वयं हैं। परिस्थितियाँ आपके प्रतिकूल तभीतक हैं, जबतक आप उनको अपने प्रतिकूल माने हुए हैं। सब कुछ आपके दृष्टिकोणपर निर्भर करता है। आप अनुकूल मानिये तो परिस्थितियाँ आपके अनुकूल हो जायँगी। सर्वत्र अपने परम हितैषी प्रभुके दर्शन कीजिये। वे करुणामय सदा सर्वत्र सबके अनुकूल हैं। वे सबको सुखी देखना चाहते हैं।

जैसे हमारे विचार, भाव और कर्म होते हैं, वैसा ही हमारा जीवन होता है। कामनासे संकल्प और संकल्पसे कर्म होता है। हमारे संकल्प शुभ होंगे तो हमारे कर्म शुभ होंगे। अतः प्रभुसे सदा यह प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारे संकल्प शुभ हों। जिस मनमें स्थिर शुभ संकल्प नहीं होते, वहाँ चिन्ता, भय, संशय और विषाद अपना डेरा डाले रहते हैं। ये दुर्भाव मनकी रचनात्मक शक्तिका ह्रास करते हैं। चिन्ता और भयसे मुक्त रहनेके लिये स्थिर शुभ संकल्पका अभ्यास आवश्यक है। किसी शुभ संकल्पके लिये समर्पित जीवन ही सार्थक और सुखमय होता है। निरुद्देश्य जीवन विपत्तिमय, विशृङ्खलित होता है। अपने जीवनका एक महान् लक्ष्य निश्चित कर लीजिये। अपना लक्ष्य महान् बनाइये और उसको निश्चित तथा विस्तृत रूपसे एक नोटबुकमें लिख लीजिये। यह नोटबुक आपके लिये सबसे अधिक पवित्र और महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें आपके आत्माकी अभिव्यक्ति है, जो आपके लिये भगवान्‌की अभिव्यक्ति है। आत्मदर्शन ही ईश्वरका दर्शन है।

अपने आपको जानो, अपने अंदर छिपी अपनी योग्यताओंको पहचानो, अपने अंदर सोयी पड़ी अपनी दिव्यताको जगाओ—यही सनातन दिव्य संदेश है। तुम ईश्वरके रूप हो, ईश्वरने तुम्हें किसी महान् कार्यके लिये

भेजा है। वह महान् कार्य क्या है, इसका निश्चय केवल तुम स्वयं ही कर सकते हो। दूसरा कोई इस विषयमें तुम्हें प्रामाणिक परामर्श नहीं दे सकता। अपने विषयमें अन्तिम निर्णय तुम स्वयं ही कर सकते हो और तुम्हें ही निर्णय करना चाहिये। आत्मनिर्भर बनो। अपने पैरोंपर खड़े होकर ही तुम उन्नतिके पथपर आगे बढ़ सकते हो। अपना बोझ दूसरोंपर मत डालो। अपने विषयमें कोई निर्णय करनेका उत्तरदायित्व दूसरोंको मत सौंपो। अपने भाग्यविधाता स्वयं बनो। तुम्हारे अंदर बैठा हुआ ईश्वर तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करेगा। अपने अंदर स्थित परमात्माको स्वयं अपना कार्य करने दो।

आत्मनिर्माण ही तुम्हारे जीवनका पवित्र लक्ष्य है। दूसरोंको हानि न पहुँचाते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करो और अपनी उन्नतिके द्वारा दूसरोंकी यथाशक्ति सेवा करो। अपने अंदर सत्य, अहिंसा, समता, पवित्रता, अक्रोध, क्षमा, अभय आदि सद्गुणोंका विकास करो। मैत्रीभावका, आत्मभावका विस्तार करो। सब प्राणियोंमें परमात्मा ही है। उनको सुखी बनाकर हम परमात्माको सुखी बनाते हैं। समस्त प्राणी हमारे हितैषी हैं। सबकी शुभ कामनाएँ सदैव हमारे साथ हैं। इस प्रकारकी रचनात्मक भावनाओंसे आप अपने व्यक्तित्वमें वह महान् आकर्षण-शक्ति उत्पन्न करते हैं, जो आपकी अभीष्ट समृद्धियोंको आपके जीवनमें खींच लाती हैं। सच्चे आत्मवादीकी प्रत्येक अभिलाषा पूर्ण होती है। उसका प्रत्येक संकल्प कार्यरूपमें परिणत होता है। वह सत्यसंकल्प होता है।

अहिंसा और सत्यसे ही आत्मवादी जीवनका प्रारम्भ होता है। सच्चा अहिंसक ही अपने मन, वचन और कर्ममें सत्यका आचरण कर सकता है। हिंसकके मनमें भय रहता है। भयके कारण वह अपने विचार सत्यतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकता। उसके मनमें ऐसे विचार आते हैं, जो समाजके लिये हानिकारक होते हैं। इसीलिये वह उनको व्यक्त करनेमें डरता है। अहिंसावादीके मनमें लोक-कल्याणके विचार आते हैं। उनको वाणीसे व्यक्त करनेमें तथा कार्यरूपमें परिणत करनेमें अहिंसावादीको हार्दिक प्रसन्नता होती है। अतः वह मन, वचन और कर्ममें एक-सा रहता है। इसी एकताके कारण उसका व्यक्तित्व सुसंगठित होता है। सुगठित व्यक्तित्व-वाला मनुष्य अपने प्रत्येक कार्यमें सफल होता है।

मनसे सच्चा होनेका अर्थ यह है कि हम वही सोचें जो हमें क्रियात्मक जीवनमें अवश्य उतारना है। शब्दोंद्वारा हम जो कुछ भी करनेका निश्चय एक बार कर लें, उस निश्चयके ऊपर मनको एकाग्र रखना चाहिये। अपने प्रत्येक निश्चयको हम तबतक बराबर अपने मनमें दोहराते रहें, जबतक हम उस निश्चयको कार्यरूपमें परिणत न कर लें। सत्यव्रती वही सोचता है जो उसे करना होता है और जो कुछ सोच लेता है, उसे करके ही छोड़ता है।

अपरिपक्व अवस्थामें प्रायः ऐसा होता है कि हम आज कोई निश्चय करते हैं और कल उसे भूल जाते हैं और छः महीने बाद हम फिर उस निश्चयकी याद आती है। इस बीचमें हम इसी प्रकार छः सौ निश्चय और करते हैं तथा उनको भी इसी प्रकार भूल जाते हैं। ऐसे निश्चयको हम निश्चय नहीं कह सकते। यह तो अनिश्चय है। जब हम अपनी अभिलाषाको निश्चित और स्थिर कर लेंगे, तभी सफलता प्राप्त करेंगे। अपने जीवनकी एक सुस्पष्ट दिशा तो हमें निश्चित कर ही लेनी चाहिये और उसी एक दिशाकी ओर अपने जीवन प्रवाहको मोड़ना चाहिये। एक मुख्य लक्ष्य निश्चित कर लेनेके बाद अन्य साधारण विषयोंमें भी उसीके अनुसार आप निश्चय कर सकते हैं, परंतु जबतक जीवनका कोई प्रधान लक्ष्य निश्चित न हो जाय, तबतक कोई योजना या कार्यक्रम नहीं बन सकता, न कोई व्यवस्थित अध्ययन ही किया जा सकता है। किसी भी मनुष्यकी वास्तविक सफलताका आरम्भ तभी होता है, जब वह अपने जीवनकी एक दिशा निश्चित कर लेता है, जिसमें उसकी अधिकांश शक्तियोंका विकास और उपयोग हो सके। तभीसे उसका वास्तविक जीवन आरम्भ होता है।

सद्बुद्धिकी प्रेरणा देनेवाले, सत्य, ज्ञान और आनन्द-स्वरूप प्रभुका स्मरण करते हुए आप अपने जीवनका एक लक्ष्य निश्चित कर लें, उस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये एक विस्तृत योजना और कार्यक्रम बना लें तथा अपने अधिकांश विचारों और प्रयत्नोंको उस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये समर्पित कर दें। सोते और जागते, काम करते और आराम करते आपको बस, एक अपने उस लक्ष्यका ही ध्यान रहे। वह एक इच्छामात्र न रहकर आपकी लगन बन जाय। उसे आप अपना कार्य न समझकर ईश्वरका कार्य समझें और उसमें तन्मय हो जायँ। ईश्वरका कार्य होनेके कारण वह अति महान् और पवित्र कार्य है। उस कार्यके द्वारा आप ईश्वरकी पूजा कर रहे हैं।

एक निश्चित लक्ष्य और लगनके बिना कुछ नहीं होता। जीवनमें अच्छी वस्तुओंकी इच्छा तो सबको होती है। धन, प्रतिष्ठा और कीर्ति सब चाहते हैं, परंतु केवल चाहनेसे कोई वस्तु नहीं प्राप्त होती। इच्छा जबतक लगनका रूप नहीं धारण कर लेती, तबतक उसमें शक्ति नहीं आती। लगनसे ही इच्छा-शक्ति प्राप्त होती है। प्रायः हम स्वयं ही यह नहीं जानते कि हम चाहते क्या हैं। हम स्पष्ट रूपसे नहीं सोचते। सफलताके लिये स्पष्ट चिन्तन आवश्यक है। हमारे लक्ष्यका एक स्पष्ट और निश्चित चित्र हमारे मानसिक नेत्रोंके सामने रहना चाहिये। जो यह निश्चित रूपसे जानता है कि उसका लक्ष्य क्या है और जो उसको प्राप्त करनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ है, वह केवल इच्छा करके ही नहीं रह जाता। वह अपनी इच्छाको तीव्र करके उसको लगनका रूप प्रदान करता है। एक सुविचारित योजनापर आधारित अपने प्रयत्नोंद्वारा वह अपनी इच्छाको निरन्तर सबल बनाता है। अपनी योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये वह दूसरोंका भी सहयोग प्राप्त करता है तथा सफलताके लिये विश्वासपूर्वक भगवान्‌से प्रार्थना करता रहता है।

विश्वासपूर्वक प्रार्थनाका अर्थ यह है कि भगवान्‌से प्रार्थना करनेके बाद हमें उस विषयमें कोई चिन्ता, उद्विग्नता या संशय शेष नहीं रहना चाहिये। प्रार्थनाके बाद हमें उस विषयमें पूर्णतया निश्चिन्त हो जाना चाहिये और विश्वास रखना चाहिये कि हमारी प्रार्थना अवश्य सफल होगी। भगवान् आपकी प्रत्येक प्रार्थना सुनते हैं। वे आपके बोलनेसे पहले ही सुन लेते हैं, परंतु फल आपको आपके विश्वासके अनुसार ही मिलता है। आप उनपर विश्वास कीजिये। वे ही आपकी प्रत्येक समस्याको हल कर रहे हैं।

आपकी प्रत्येक समस्याका हल आपके पास ही मौजूद है। आप जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब उन्होंने पहले ही आपको दे रखा है। आपके पहचाननेभरकी देर है। आपका विश्वास टिकनेभरकी देर है। आपको चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भगवान्‌पर विश्वास करके आप प्रसन्न रहिये और प्रसन्नताके साथ अपने समस्त दैनिक कार्य उचित रीतिसे सम्पन्न कीजिये।

अपने जीवनके मुख्य लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अपने प्रयत्न विश्वास, धैर्य और उत्साहपूर्वक जारी रखिये। अपने लक्ष्यके बारेमें जो लेख आपने लिखा है, उसको कम-से-कम एक बार रोज बोल-बोलकर पढ़िये। इससे वह योजना आपके मानस पटलपर अङ्कित हो जायगी। जब आप किसी योजनाको रोज बोल-बोलकर पढ़ते हैं, तब उसको आपका अचेतन मन भी ग्रहण कर लेता है। जब अचेतन मन किसी योजनाको स्वीकार कर लेता है, तब वह उसकी सफलताके लिये तेजीसे कार्य करता है। अचेतन मन ही ईश्वरके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है, वही प्रार्थनाको ईश्वरतक पहुँचाता है तथा उसके द्वारा ही हमें ईश्वरका पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। ईश्वरीय पथ-प्रदर्शनसे सफलता प्राप्त होती है।

ईश्वर-प्रार्थनाके लिये देश या कालका या विधि-विधानका कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर-प्रार्थना आप चाहे जब और चाहे जहाँ कर सकते हैं। आजतक आपने कभी भगवान्‌को स्मरण नहीं किया, परंतु आज अचानक घोर विपत्तिमें पड़ने पर आपको प्रभुकी याद आयी है तो अब संकोच मत कीजिये। वे आपको इस बातका उलाहना नहीं देंगे कि आपने अच्छे दिनोंमें उनको क्यों नहीं याद किया। आप तो जब भी उनको याद करें, तभी वे आपको सहायता, सद्बुद्धि और पथ-प्रदर्शन देनेको तैयार हैं। विश्वासपूर्वक आप उनसे जो कुछ भी माँगेंगे, वही वे आपको प्रदान कर देंगे। कमी आपके माँगनेमें है। वे तो मुक्तहस्त हैं। जितना भी आप माँगेंगे, उतना ही मिलेगा। परंतु माँग उनके सामने स्पष्ट और निश्चित रूपमें रखिये। कब और कहाँपर आपको किस वस्तुकी प्राप्ति आवश्यक है, यह उनको बतला दीजिये। विश्वास कीजिये, वे आपकी हर आवश्यकताकी पूर्ति करेंगे।

आपको तो केवल उनसे कहना है, उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना है, उनसे बातें करनी हैं। भक्त लोग उनसे बात करते हैं। भगवान्‌से उनको अपने हर प्रश्नका उत्तर प्राप्त होता है।

आप अपनी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक समस्या भगवान्‌के सामने रखिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनपर विश्वास कीजिये। घरमें और बाजारमें, काम करते समय और खाली बैठे समय, सोते और जागते, कोई काम आरम्भ करते समय और समाप्त करते समय आप प्रार्थना कीजिये कि आपको सदैव भगवान्‌का पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो। अकेले प्रार्थना कीजिये और सबके साथ मिलकर भी प्रार्थना कीजिये, अपने लिये भी प्रार्थना कीजिये और दूसरोंके लिये भी प्रार्थना कीजिये, अपनी आत्मशान्तिके

लिये भी प्रार्थना कीजिये और दूसरोंकी प्रसन्नताके लिये भी प्रार्थना कीजिये। अपने समस्त जीवनको प्रार्थनामय बना लीजिये।

यदि अपने अंदर श्रद्धा, विश्वास और प्रेमका अभाव अनुभव करते हैं परंतु भक्त बननेकी महत्त्वाकाङ्क्षा आपके मनमें है, तो इसके लिये भी भगवान्से प्रार्थना कीजिये। उनसे कहिये 'हे प्रभो! हमें अपनी अविचल भक्ति प्रदान कीजिये। अभी हमें सकाम भक्ति प्रदान कीजिये और बादमें निष्काम भक्ति भी प्रदान कीजिये। अभी हमारी इच्छाएँ पूर्ण कीजिये और बादमें हमें ऐसा बना दीजिये कि हमारे मनमें आपके प्रेमके अतिरिक्त कोई इच्छा शेष न रहे। अभी हमारे जीवनको प्रार्थनामय बनाइये और बादमें इसको केवल स्तुतिमय, प्रेममय बना दीजिये।' अन्तमें हम यही कहें 'हे प्रभु! हमारी नहीं, 'तेरी ही इच्छा पूर्ण हो।'

विद्यार्थी बन्धुओंसे

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

ज्ञान आत्माका लक्षण है। जिसमें चैतन्य नहीं, ज्ञान और अनुभवकी शक्ति नहीं, वह जड है। जीवनमें पद-पद-पर और प्रतिपल ज्ञानकी आवश्यकता होती है। ज्ञानके बिना जीवन अन्धकारमय है। ज्ञानका प्रकाश ही मनुष्यको हिताहितका विवेक तथा मार्ग और कुमार्गका दर्शन कराता है। अतः उसकी अधिकाधिक उपासनामें हमे निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। पर दो बातोंका सदा ध्यान रखें। एक तो इसका कि ज्ञानका अन्त नहीं, इस जीवनका अन्त है, इसलिये ज्ञानके विकासमें कभी आलसी न बनें और जो कुछ प्राप्त किया है, उसमे इतिश्री मानकर अहकार न करें। दूसरी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि ज्ञान केवल मार्ग-दर्शन करता है, पर अच्छे और बुरे मार्गको जान लेनेके बाद भी यदि हम बुरेका त्याग और अच्छेको स्वीकार नहीं करते तो वह ज्ञान पङ्गु है। अतः हमारा सदा यह ध्येय और प्रवृत्ति रहनी चाहिये कि हम निरन्तर असत्की ओरसे हटकर सत्की ओर बढते रहें, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढें और जीवनको पतनकी ओर न ले जाकर सात्त्विक और उन्नत बनायें।

वैसे तो हमें सारा जीवन ही ज्ञानोपासनामें बिताना है, थकना नहीं है, रुकना नहीं है; पर जीवनका एक ऐसा भी समय नियत किया गया है, जिसमें अन्य सारी प्रवृत्तियाँ गौण होकर ज्ञानोपार्जन ही प्रधान रह जाता है। वह है—विद्यार्थी-जीवन। करीब पाँच वर्षकी आयुसे पचीस वर्षतककी आयुका यह महत्त्वपूर्ण काल है, जिसके ऊपर अगले सारे जीवनका दारोमदार है। इस समयको पुराने महर्षियोंने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' की सज्ञा दी है। इन्द्रियोंके विविध भोग-विलासोंकी ओरसे मुँह मोड़ते हुए सयमपूर्वक अपने ध्येयमें एकाग्र हो जाना ही ब्रह्मचर्यका प्रधान लक्ष्य है। जबतक हमारे मन, वचन और शरीर विविध प्रवृत्तियोंमे लगे रहते हैं, बँटे रहते हैं, तबतक सफलता और सिद्धि पूर्णरूपसे नहीं मिल सकती। विद्यार्थी जीवन साधनामय है। उसका साध्य ज्ञानकी अधिकाधिक प्राप्ति करना है।

अब हमें सोचना यह है कि इस विद्यार्थी-जीवनको हम कैसे बितायें? कौन-सी बातें हमारी ज्ञान-वृद्धिमे सहायक हैं और कौन-सी बाधक? मै स्वय एक विद्यार्थी हूँ। पाठशाला-की शिक्षा तो पाँचवीं कक्षातक पायी; पर उसके बाद मुझे ज्ञानकी भूख इतनी लगी कि हजारों ग्रन्थोंको पढनेपर और करीब-करीब सारा जीवन अध्ययन और लेखन आदि-में बितानेपर भी मेरी वह भूख शान्त नहीं हुई। मुझे अपनी अपूर्णताका अनुभव हो रहा है। यद्यपि पूर्ण होना तो बसकी बात नहीं, फिर भी जहाँतक जीवन है, स्वास्थ्य और बुद्धि काम देती है, वहाँतक विद्यार्थी ही बना रहूँगा—ऐसा लगता है। इसलिये अपने जीवनके अनुभव कदाचित् मेरे विद्यार्थी बन्धुओंको कुछ लाभ पहुँचा सकें, इस आशासे उन्हें अपना कर्तव्य समझकर उनके सम्मुख रख रहा हूँ—

मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न है, इसलिये मेरी कही हुई बातें सबको पसद नहीं आ सकतीं, यह मै भलीभाँति जानता हूँ। इसलिये जिन्हें जो पसद हों, ग्रहण करें; पर मेरा नम्र अनुरोध है कि मेरे करीब पैंतीस वर्षके विद्यार्थी जीवनके अनुभवोंकी उपेक्षा न कर उन्हें जरा गम्भीरतासे सोचें और समझें।

विद्याकी प्राप्ति ही जिसका लक्ष्य है, उसीका नाम विद्यार्थी है, और विद्या पानेका सबसे पहला सूत्र है—

'विनय'। 'विद्या ददाति विनयम्' के स्थानमें 'विनयो ददाति विद्याम्' भी कह सकते हैं। विनयका अर्थ है नम्रता, गुणों और गुणीजनोंका आदर करना और निरहंकार रहना। जब मनुष्य अपनेको दूसरोंसे अधिक बुद्धिमान्, ज्ञानवान् या शक्ति-सम्पन्न मान लेता है, तब विनय-गुण पनप नहीं पाता, दूसरोंसे जो ज्ञान उसे मिलना चाहिये था या ग्रहण करना चाहिये था, उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आज हमारे जीवनमें इस विनय-गुण, अनुशासन, नम्रता और गुणग्राहकताकी कमी बहुत ही खटक रही है। हम अपनेको माता पिता और घर-कुटुम्बवालोंको या जो भी हमारी तरह स्कूलोंमें विशेष पढ़े-लिखे नहीं हैं, उन्हें मूर्ख, बुद्धू और पुराणपन्थी मान लेते हैं। बहुत बार उनका अनादर भी कर बैठते हैं। अपनेको अधिक ज्ञानवान्, समझदार, बुद्धिमान् और प्रगतिशील मान लेते हैं। पर हमें एक बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि केवल स्कूलोंमें जाने तथा किताबोंको पढ़ लेनेसे ही अपनेको विशेष बुद्धिमान् मान बैठना भूलसे खाली नहीं है। पंजाबी कहावत है कि 'पढ़नेसे गुनना बड़ा है' अर्थात् अनुभव ज्ञान पुस्तकीय ज्ञानसे बहुत उच्च स्तरका होता है। जिन्हें हम अपढ़ मानते हैं, उन्होंने चाहे अक्षरों और अङ्कोंको न सीखा हो, पर जीवनके अनुभवोंसे उन्होंने जो शिक्षा पायी है उसकी उपेक्षा किसी तरह भी नहीं की जा सकती। उनके कहने और करनेमें अनुभवोंका ठोस आधार है। वृद्ध व्यक्ति चाहे स्वयं विशेष काम न कर सकें, पर उसने अपने जीवनमें समय-समयपर जो अच्छे-बुरे अनुभव किये हैं, जिन सुनी और समझी बातोंको प्रयोगमें लाकर या प्रयोग होते देखा है, वे बहुत कामकी हैं, क्योंकि प्रयोगोंके आधारपर ही उसके ज्ञानकी ठोस भूमिका बनी है। अतः अपढ़ समझकर किन्हींका अनादर करना अपनी प्रगतिको रोकना है। हाँ, यह सही है कि वृद्ध लोगोंके अनुभवकी परिस्थितियोंमें काल भेदसे अन्तर आ गया है। कुछ बातें रूढ़ि और अन्धविश्वासके रूपमें भी उनमें घर किये दिखायी देंगी, पर कुछ बातोंको लेकर ही हम उनको हीन समझ अनादर करें तो उनके अनुभवोंका जो लाभ हमें मिलना चाहिये था, उससे हम वञ्चित रह जायँगे। सभी बातें किन्हींकी मान्य हों, उन व्यक्तियोंमें सभी गुण ही हों—यह भी आवश्यक नहीं। कमियाँ क्या हममें नहीं हैं? प्रत्येक व्यक्तिमें गुण और दोष रहते हैं। हमारी दृष्टि, बुद्धि और वृत्ति तो गुण और अच्छाइयोंको ग्रहण करनेकी ही होनी चाहिये। दोष अपनेमें खोजें और गुण जहाँ कहीं भी मिले, ग्रहण करें।

अनुशासन यानी किसी योग्य व्यक्ति या उसके निर्धारित नियमोंका ठीक ढंगसे पालन करना जीवनको ऊँचा उठानेमें बड़ा सहायक होता है। स्वच्छन्द व्यक्तिकी जीवन-नौका डगमगाती रहती है। मनकी स्थिति सब समय एक समान नहीं रहती और बुद्धि भी समय-समयपर उचित और अनुचित निर्णय कर बैठती है। इसीलिये उसीके भरोसे—"मैं कर रहा हूँ वही ठीक है, सोच-समझकर ठीक ही तो करता हूँ, मुझे कहनेवाला कौन है, मेरे सामने वह जानता ही क्या है?" इत्यादि कहना और मनमानी करना खतरेको मोल लेना है। क्योंकि अभी उसकी बुद्धि और ज्ञान अनुभवोंके थपेड़े खाकर परिपक्व नहीं हुआ है, इसलिये उसे कदाग्रही न बनाकर सदा अपनेसे विशेष अनुभवी व्यक्तियोंकी सलाहसे, मार्ग-प्रदर्शनसे लाभ उठाना चाहिये। आखिर हम जिन गुरु, माता-पिता या गुरुजनको विशेष अनुभवी समझते हैं, उनका कहा मानना, उनकी हित शिक्षाको अपनाना, उनके विधि निषेधपर विचार करना हमारे लिये हितकर मार्ग है। उच्छृङ्खलता जीवनको पतनोन्मुख करती है। गुरुजनोंका प्रदर्शित मार्ग और हित-शिक्षा उत्थानका पथ है।

दूसरी जरूरी बात व्यसनों और कुसङ्गतिसे बचना है। हमलोगोंकी यह सहज प्रवृत्ति है कि बुरी बातोंका अनुकरण और अनुसरण बहुत जल्दी कर बैठते हैं। कुसङ्गति अनेकों खराबियोंकी जड़ है। बुरे व्यसन भी इसीके कारण हममें घर कर लेते हैं। एक लड़का बीड़ी या सिगरेट पीता है तो वह अपने सहपाठियोंको भी उसका चस्का लगानेका प्रयत्न करता है। स्वयं सिनेमा जाता है तो साथियोंको भी प्रेरणा देकर साथ ले जाता है। अश्लील और गंदे गायनों और अन्य कुत्सित भाव-भङ्गियोंमें वह रस उत्पन्न कर देता है। बस, थोड़े ही समय बाद हम भी बीड़ी और सिगरेट, सिनेमा और होटलोंमें पैसे बरबाद कर दुर्व्यसनोंमें फँस जाते हैं, फैशनोंके गुलाम बन जाते हैं और अपनेको पतनके गर्तमें गिरते देखकर भी उसमें उन्नति तथा गौरवका मिथ्या अनुभव करने लगते हैं। घरकी आर्थिक स्थितिको भी भूल जाते हैं। कितनी कठिनाईसे हमारे

माता पिता या कुटुम्बीजन हमें पढाते हैं और हमपर कितनी आशाएँ लगाये बैठे रहते हैं कि जब यह पढ-लिख जायगा, तब अच्छी कमाई करके हमको सुखी बनायेगा, अच्छे काम करके वंशको दिपायेगा। पर उनकी सारी आशाएँ हमारे इन कारनामोंसे धूलमें मिल जाती हैं, उनके सुखमय स्वप्न ढह जाते हैं। स्वयं कष्ट उठाकर, लडकेकी पढाई-लिखाईमें तंगी भुगतकर, कर्जा लेकर, सम्पत्ति बेचकर जो फलकी आशा की जाती है, यदि हम उसके विपरीत सिद्ध हुए, हमारे फैशनों और फिजूलखर्चों, दुर्व्यसनोंसे वे ऊब गये, तो फिर हमारी वह शिक्षा किस कामकी ?

विद्यार्थीका जीवन शक्ति-सचय और वृद्धिका जीवन है, शक्तिको बिखेरने और बरबाद करनेका नहीं। ब्रह्मचर्यका यही संदेश है कि सब बातोंको भूलकर ब्रह्म, आत्मा या अपने ध्येयमें तन्मय हो जाओ। दुर्व्यसनों और कुसगतियोंसे शक्ति बिखर जाती है, उसका अपव्यय होता है। बीड़ी, सिगरेट, चाय, होटल, सिनेमा, गदी और फालतू पुस्तकोंका पढना, आवारोंकी तरह इधर-उधर घूमते रहना, कुचक्रोंमें अगुआ बनना आदि प्रवृत्तियोंमें जब शक्ति बिखरती है, तब विद्याध्ययनमें वह रस नहीं रहता, ध्यान और प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिये इनका निषेध केवल आर्थिक दृष्टिसे नहीं, पर गम्भीर और उच्चस्तरकी ज्ञानप्राप्तिमें इनके महान् बाधक होनेके कारण भी है। हमारी आजकी शिक्षा-प्रणालीमें अनेक दोष हैं। एक तो विषयों और पुस्तकोंका बोझा बहुत अधिक है और परीक्षा पास करना ही आजके विद्यार्थीका लक्ष्य है, अतः किसी विषय, भाषाका ठोस और गम्भीर ज्ञान होना कठिन हो जाता है। कुंजियोंके सहारे या तिकड़मबाजीसे परीक्षाएँ पास भी कर लीं, तो भी वह रहेगा तो छिछला ही। फिर यदि ध्यान पढनेमें पूरा न रहकर अन्य प्रवृत्तियोंमें बिखर गया तो पल्ले ही क्या पडेगा ? गम्भीरतासे सोचिये। इस समयके जीवनका प्रभाव सारे जीवनपर, घर, समाज, देश और राष्ट्रपर पड़नेवाला है। केवल एक व्यक्तितक सीमित न रहकर जिन बातोंका इतना गहरा प्रभाव पड़ता हो, उनके प्रति ध्यान देना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। आज जो विद्यार्थी फैशन, दुर्व्यसन और कुसगतियोंमें पड़ गया, उसकी आदतें दृढ हो जानेपर वह तो जीवनभर उनका फल भोगेगा ही, पर साथ ही अपने जीवनकी प्रेरणासे दूसरेको भी ले डूबेगा। एक-दूसरेका अनुकरण बढ़ते-बढ़ते वह सक्रामक रोग या विषाक्त हवा देश और राष्ट्रतक व्याप्त हो जायगी। आपने कभी सोचा है कि केवल बीड़ी सिगरेट-जैसे छोटे-से और मामूली दुर्व्यसनसे राष्ट्रके कितने अरब रुपये बरबाद होते हैं और परिणाम तिलभर भी अच्छा न होकर शारीरिक स्वास्थ्य आदिकी दृष्टिसे भी सर्वथा खराब ही होता है। ऐसे केवल घाटेके सौदेको हमारे विद्यार्थी कभी न अपनायें। यदि कोई साथी किसी दुर्व्यसनमें फँस गया है तो अपना कर्तव्य समझें कि उसे हर तरह बचाया जाय और बुरी बातोंसे दूर किया जाय।

सिनेमाको मनोविनोदका एक साधन मानकर प्रायः सभी विद्यार्थी न्यूनाधिकरूपमें देखने जाते हैं। कुछ अच्छे शिक्षाप्रद फिल्म भी होंगे; पर उनसे उन्होंने कितना लाभ उठाया और गदे तथा अश्लील फिल्मों और उनके गानोंने उनके जीवनमें कितनी हलचल पैदा कर दी कितनी बुरी-से बुरी बातोंकी ओर प्रेरणा दी—इन बातोंको तौला जाय तो इसके दोष स्वयं सामने आ जायँगे। पैसेकी बरबादी तो है ही। बहुत-से विद्यार्थी, जिन्हें घरवाले पैसा नहीं देते या देनेकी सामर्थ्य नहीं रखते, चोरी करना सीख जाते हैं, कर्ज लेना शुरू कर देते हैं। पहले एक-दो बार किसी साथीने मुफ्त दिखा दिया तो क्या हुआ फिर तो चस्का लगनेपर छूटता नहीं। जब भी समय मिला, साथी मिले, पुस्तकों और शिक्षासम्बन्धी प्रश्नों की जगह यही चर्चा छिड़ती है कि 'आज कहाँ और कौन से सिनेमाघरमें कौन-सी फिल्म दिखायी जा रही है। एक कहेगा, मैंने अमुक फिल्म देखी, बहुत बढिया थी, तो दूसरा कहेगा कि 'अमुक फिल्मने तो कमाल कर दिया, गजब ढहा दिया। अरे यार ! तुमने देखी या नहीं ? जरूर देखना, बड़ा मजा आयगा। अरे, तुम भी कैसे बुद्धू हो कि अभीतक पुस्तकों तथा घरके पचड़ेमें ही पड़े हो। दुनियाकी सैर करो, हवा खाओ। क्या बढ़िया गाने, कितना सुन्दर नाच और अमुक अभिनेत्रीका कैसा रूप और हावभाव ? किस ढगसे अङ्गोंका सचालन करती, मुसकराती, आँख मटकाती है कि बरबस उसीकी ओर ध्यान खिंच जाता है। उसका प्रेमका गाना तो बहुत ही शानदार और निराला था, उसका दृश्य अभी भी आँखोंके सामने नाच रहा है। भुलाना चाहनेपर भी नहीं भुला सकता।' तो सुननेवाला कहता है—'क्या करें यार ! पैसा नहीं और घरवाले जाने देते नहीं।' तो उत्तर मिलेगा—'चलो, आज मेरे साथ चलो, घरवाले तो यों ही बकझक करते रहेंगे।' इस तरह कितना बुरा असर उस स्वच्छ और पवित्र जीवनपर पड़ता है। चरित्रकी कमजोरियों

और नैतिक पतनका यह एक मुख्य साधन बन गया है। देशकी बरबादीका कारण तो है ही। गाँव-गाँवमें यह रोग फैल गया है। श्रमजीवियोंके गाढ़े श्रमका पैसा खुले हाथ लुटा जा रहा है। इधर बेकारी और उधर यह ख्वारी। विद्यार्थियोंको तो इससे सदा ही दूर रहना चाहिये, क्योंकि इससे उनका मन बहक जाता है, फैशनका भूत उनपर सवार होता है। चटक-मटक और भड़कीले गाने सात्त्विकता और ब्रह्मचर्यमें आग लगा देते हैं। इधर रातका जागना और बिजलीकी चकाचौंध उनकी आँखों और स्वास्थ्यपर बुरा असर डालती है। उधर जीवनमें अनियमितता तथा पढ़ाई-लिखाईमें शिथिलता आ जाती है। स्कूलके समयके अतिरिक्त सुबह और शाम ही घरपर कुछ पढ़ाई हो सकती है और सिनेमाका शौक इन दोनों समयोंको नष्ट कर देता है। शाम होते ही सिनेमा पहुँचते हैं और बहुत देरतक जगने और देरसे सोनेके कारण प्रातःकाल समयपर उठ नहीं पाते। इधर उसके दृश्य मनमें हलचल पैदा करते रहते हैं, इसलिये स्थिर चित्तसे जितना समय विद्याध्ययनमें देना आवश्यक है, नहीं दिया जाता। इस प्रकार हर दृष्टिसे इस दुर्व्यसनसे हानि-ही-हानि है। लाभ क्या तथा कितना है, स्वयं सोच लें। यही बात होटलोंमें जाकर चाय, अंडे आदि बुरी चीजोंके खानेका चस्का लगाने और पैसा बरबाद करनेके सम्बन्धमें है। वहाँका वातावरण भी हानिकारक ही है।

लंबे कालसे एक गलत धारणाने हममें घर कर लिया है कि शारीरिक श्रमकी अपेक्षा बौद्धिक आजीविका अधिक महत्त्वकी और उच्चस्तरकी है। इसलिये श्रमकी ओरसे हमने मुँह मोड़-सा रखा है और श्रम करनेवालोंको अपनेसे हीन मानने लगे हैं। हमारे विद्यालयोंमें औद्योगिक शिक्षा नहीं दी जाती, केवल ऑफिस आदिमें काम करने योग्य शिक्षा ही दी जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि आजके अधिकांश विद्यार्थियोंका भविष्य संशय और खतरेमें है। पढ़ाई छूटनेके बाद उन्हें नौकरीके सिवा कोई रास्ता दिखायी नहीं देता और सरकारी नौकरियाँ सीमित व्यक्तियोंको ही मिल सकती हैं। अतः बहुत-से सुशिक्षित व्यक्ति आजीविकाका प्रश्न स्वयं हल नहीं कर पाते। बेकार ऑफिसोंमें चक्कर काटते रहते हैं। Wants की ओर मुँह बाये वे ध्यान लगाये रहते हैं। यह स्थिति हमारे लिये बहुत ही शोचनीय है। उत्पादनका प्रधान स्रोत श्रम और उद्योग है। उसके सम्बन्धमें कोरे रह जानेसे और श्रमके प्रति हीन भावनाके कारण हम स्वावलम्बी नहीं बन सकते। सरकारसे शिक्षामें क्रान्ति लानेका निवेदन करना ही चाहिये, साथ ही विद्यार्थियोंको भी श्रम और सेवाके प्रति अधिक लक्ष्य देना चाहिये। आजकी स्थिति यह है कि श्रमजीवियोंके लड़के जब पढ़-लिखकर तैयार होते हैं, तब अपने पुश्तैनी पेशेसे हटकर अच्छा काम समझकर ऑफिसोंमें बाबू कहलानेमें ही अपना गौरव समझते हैं। एक दर्जीका लड़का यदि अपने घरका पेशा न सीखा तो उसके जरियेसे जो बनी-बनायी आमदनी जमे-जमाये कामद्वारा होनेवाली थी, एक तरह तो उससे हाथ धो बैठा और फिर अपने तथा परिवारके लोगोंके कपड़े सिलानेमें मुँहमाँगा दाम दूसरोंको देकर, खर्च बढ़ाकर आफत मोल ली। यही हाल अन्य पेशेवालों और व्यापारियोंका हो रहा है। घरके चालू और जमे-जमाये कमाईके साधनोंमें लड़के भाग नहीं लेते, अतः घरवालोंको सहायता नहीं मिलती। उन्हें अपने कामोंके लिये दूसरे आदमीको नौकर रखना पड़ता है और उनके शिक्षित लड़के बेकार रहकर उनके लिये भारस्वरूप बन जाते हैं। उन पढ़े-लिखोंका बढ़ा हुआ खर्च वे सहन नहीं कर पाते। वास्तवमें चाहिये तो यह था कि शिक्षित होकर अपनी बुद्धिमानीसे अपने घरके काम धंधोंमें उचित सुधार कर उसे अधिक अच्छे रूपमें चलाते हुए कमाईमें वृद्धि करते। शिक्षाका अर्थ केवल पुस्तकोंको पढ़ लेना नहीं, पुस्तकें तो साधनमात्र हैं। उसका वास्तविक उद्देश्य तो है बौद्धिक विकास। शिक्षित व्यक्तिकी बुद्धिका विकास इतने अच्छे रूपमें होना चाहिये कि वह जिस काममें हाथ डाले, उसे अपनी बुद्धिके द्वारा नया रूप दे दे। जो खराबियाँ तथा कमियाँ हों, उन्हें मिटाकर कम समयमें अच्छे रूपमें वह काम विशेष उपयोगी और अधिक लाभप्रद बना दिया जाय।

आजके विद्यालयोंमें शिक्षा कम होती है, छुट्टियाँ अधिक और उधर विद्यार्थी बात-बातमें छुट्टियोंकी अभिवृद्धि करानेका प्रयत्न करते रहते हैं। मेरी रायमें इससे वे स्वयं अपना अहित कर रहे हैं। इससे जो अध्ययन ५-६ वर्षमें पूरा हो सकता है, उसके लिये दस वर्ष लग जाते हैं। इस तरह उनकी आयुके महत्त्वपूर्ण चार वर्ष बरबाद ही तो हुए। मेरी अपनी शिक्षाके समय महीनेमें केवल दो और कुछ पर्वोंकी ही छुट्टियाँ होती थीं और पढ़ाईका स्तर इतना अच्छा था कि उस समयकी पाँचवीं कक्षाकी शिक्षा आजकी सात-आठवींसे भी अच्छी और ऊँची ही पड़ती थी। अब भी मेरे यहाँ अंग्रेजी आदिकी पाँचवीं कक्षाकी पुस्तकें पड़ी हैं, जो आज

के सातवीं-आठवींवालोंको भी भारी लगती हैं। यही बात योग्यताके सम्बन्धमें है। हमारे अध्यापक आठवीं-दसवीं कक्षातक पढ़े होते थे। उनकी योग्यता आजके बी० ए०तक पढ़े लोगकी तुलनामें कम तो नहीं थी, अधिक ही रही होगी और वे इतने अच्छे ढगसे पढाते थे कि ट्यूशनकी कभी भी किसीको आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आजकी स्थिति आपके सामने है। पढाईका खर्च तो पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ गया है, समय भी अधिक लगता है। पर योग्यताका विकास बहुत ही कम हो पाता है। बारह महीनोंमे ६ महीनोंसे अधिक छुट्टियोंमे ही चले जाते हैं और उन छुट्टियोंका उपयोग हम क्या तथा कैसा करते हैं, यह सभी जानते है। इसपर जो आज अमुक साहब स्कूलमें आये, इसलिये छुट्टी, आज लड़कोंकी चाय-पार्टी हुई, आज हमारी टीम जीत गयी, आज बाहर जा रही है, इस तरहकी कभी कोई, कभी राजनैतिक दूसरी जगहकी घटनाको लेकर छुट्टियाँ करवाकर हम खुशी मनाते हैं, यह सर्वथा बेसमझी है। चाहिये तो यह था कि हम व्यर्थकी छुट्टियोंको कम करवानेका आन्दोलन कर अपने समय और जीवनकी बरबादीको रोकते। जिस पढाईमे दस वर्ष लगते हैं, उसे पॉच या सात वर्षोंमें पूरा करनेका प्रयत्न करते, जिससे बचे हुए समयमे अन्य किसी प्रकारका ज्ञानोपार्जन करते, आजीविकाका प्रश्न हलकर अपने घरवालोंको सुखी बनाते। पढाईमें पाठ्यक्रमका अनावश्यक बोझ, जो अत्यधिक बढ गया है उसे कम करवाया जाय। जिन विषयोंकी हमें जीवनमें आवश्यकता नहीं पड़ती, उनके लिये व्यर्थ श्रम तथा समय न देकर, जिन विषयोंकी शिक्षाके बिना हम आजीविकाका प्रश्न हल नहीं कर पाते और जीवन-निर्माणमें जिन विषयोंका बड़ा भारी महत्त्व है, उन औद्योगिक तथा धार्मिक शिक्षादि विषयोंको अनिवार्य करवा दिया जाय। अपने हितकी बातें हमें गम्भीरतासे सोचनी चाहिये। अपनी सगठन-शक्तिका उपयोग, हो हल्ले और फालतू कामोंमें न करके ऐसे जीवनोपयोगी, परमावश्यक, एकान्त हितावह कार्योंमें ही किया जाय।

अपनी छुट्टियोंका उपयोग हमें किस प्रकार करना चाहिये, यह भी बहुत विचारणीय और आवश्यक समस्या है। मेरा सुझाव है कि परीक्षासे पहलेकी छुट्टियोंमें तो परीक्षाकी तैयारीमें खूब श्रम किया जाय और परीक्षा होनेके बाद गरमी आदिकी जो लंबी छुट्टियाँ पड़ती हैं, उनका उपयोग ज्ञानके प्रसारमें किया जाय। अपने घर, कुटुम्ब, मुहल्ले तथा गॉवमें जो बहुत-से भाई-बहन अपठित हैं, उन प्रौढ़ों और श्रमजीवियों आदिको अक्षरज्ञान कराकर अच्छे ग्रन्थोंको पढने और आवश्यक बातोंको समझनेकी योग्यताका उनमें विकास किया जाय। आज करोड़ो विद्यार्थी स्कूलो तथा कॉलिजोंमें शिक्षा पा रहे है। यदि वे इन राष्ट्रोपयोगी कार्योंमें भाग लें, एक-एक विद्यार्थी कम-से-कम एक अशिक्षितको शिक्षित बना दें, जो कोई कठिन काम नहीं है और जिसके द्वारा अपनी योग्यताका विकास भी होता है, तो देशके करोड़ों रुपये सहजमेंही बच सकते हैं। लबी छुट्टियोंका उपयोग शिक्षा-प्रसारके कार्यमे किया जाय तो देशकी बहुत जल्दी उन्नति हो सकती है। साधारण छुट्टियोंका उपयोग हम अच्छे ग्रन्थोंके अध्ययनद्वारा अपने ज्ञानके विकासमें कर सकते है। विद्यालयोंमे तो सीमित विषयोंका ही ज्ञान मिल सकता है, जब कि ज्ञानका क्षेत्र बहुत ही विशाल है। इसलिये अपने बचे हुए समयको अन्य उपयोगी बातें जाननेमें लगाना उचित होगा। सम्भव हो तो उत्पादन-श्रम भी किया जाय।

विद्यार्थी जीवन सयमपूर्ण, सादगीपूर्ण, साधनामय और सेवामय होना चाहिये। हम अपने जितने काम स्वयं कर सकें, उनका भार और खर्च दूसरोंपर न डाले। उदाहरणार्थ स्वच्छ रहनेके लिये कपड़े जब अपने हाथसे धो सकते हैं, तब दूसरे घरवालों या धोबीसे धुलवानेकी बुरी आदत क्यों डाली जाय। सम्भव हो तो घरके कामोमे भी मदद करे। इससे जीवनोपयोगी अनेक बातोंकी शिक्षा तथा अभ्यास सहजमें होकर भावी जीवनमें बड़ा लाभ हो। अपने विद्यार्थी बन्धुओंकी हम मामूली बातोंके द्वारा कितनी सेवा कर सकते हैं, इसका एक दृष्टान्त दूँ। जो विद्यार्थी कमजोर है, उसे हम पढाईमे थोड़ी मदद दें तो उसका ट्यूशन-खर्च बचाकर उसे परीक्षा पास करने योग्य बना सकते हैं। इसी तरह परीक्षा पास कर लेनेके बाद हमारी पाठ्य पुस्तकें जो यों ही बेकार पड़ी रहती है या नष्ट होती हैं, उन सबको उस कक्षामें आनेवाले गरीब विद्यार्थियोंको दे दें तो इससे उनकी कितनी परेशानी कम हो जायगी। अनेकों विद्यालयोंमें छात्रोंका अपना सगठन है। उसमें वे ऐसा नियम बना लें कि परीक्षा पास कर लेनेके बाद सभी छात्र अपनी पाठ्य-पुस्तकें वहाँके स्टोरमें जमा करा दें और फिर वे कमजोर स्थितिके, उसी पाठ्यक्रमको पढनेवाले विद्यार्थियोंको दे दी जायँ। इस तरह हम अपनी अनावश्यक पुस्तकोंका प्रयोग दूसरोंके हितके लिये करने लगें तो कितना अच्छा हो। इस प्रकार हमारे हजारों-लाखों रुपयोंका खर्च सहज ही बच सकता है। वैसे घरमें पड़ी हुई पुस्तकें यों ही नष्ट हो

जाती हैं। उनका ऐसा अच्छा उपयोग करनेकी ओर हम शीघ्र ही ध्यान दें।

आज हममेंसे अधिकाश व्यक्ति लेखक और कवि बननेका स्वप्न देखते हैं और यह शुभ लक्षण ही है। पर इसके लिये जो तैयारी करनी चाहिये, वह हम नहीं करते और थोड़ा कुछ लिखकर, किसी तरह पत्रोंमें प्रकाशित कराके अपनेको लेखक और कवि मान बैठते हैं। यह हमारे विकासमें बाधक है। ठीक है, कुछ व्यक्तियोंमें प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा भी होती है, पर अधिकाश व्यक्तियोंको तो कठिन श्रम करके ही अपनी शक्तिका विकास करना पड़ता है। इसलिये लेखक और कवि बननेसे पूर्व विशाल और गम्भीर अध्ययन करनेमें लग जाना चाहिये। उस ठोस ज्ञानके आधारपर हम जो कुछ लिखेंगे, वह छिछले ज्ञानवाले और उतावले लेखक और कवियोंकी तुलनामें उच्चस्तरका ही होगा। इसलिये लेखक और कवि बननेकी उतावली न करके उसके लिये आवश्यक योग्यताका विकास करनेमें ही दत्तचित्त होना चाहिये। कई विद्यार्थियोंमें तो दूसरोंके लेखों, ग्रन्थों तथा कविताओंसे इधर-उधरसे सामग्री लेकर या चुराकर नाम कमानेकी प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह तो सर्वथा त्याज्य है। हम काम करनेका ही लक्ष्य रखें, नाम कमानेका नहीं। अच्छा तथा ठोस काम करनेसे नाम तो स्वय हो जायगा, यह मेरा परिपक्व अनुभव है। हाँ, आप अपने विचारों तथा भावोंको लिखिये, और अपने अध्यापकों आदिको दिखाकर उनसे सुझाव लीजिये, पर छपानेकी उतावलीमें पड़कर कच्ची बातोंको पक्की न मान बैठिये।

पढाई समाप्त होते ही हम समझ लेते हैं कि अपना काम पूरा हो गया। हमने परीक्षा पास कर ली, मानो अब तो बहुत बड़ा गढ जीत लिया। अत पढाई छोड़नेके बाद ज्ञानको बढानेका कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इससे पढी हुई विद्या विस्मृत हो जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। हम पढाईका उद्देश्य परीक्षा पास करनेतक ही सीमित न रखें और जीवनभर ज्ञानवृद्धिके लिये सजग विद्यार्थी बने रहें।

वक्तृत्व-कलाका महत्त्व आजके युगमें बहुत बढ गया है। इसलिये विद्यार्थी-जीवनमें हमें अपनी वक्तृत्व-शक्तिका ठीकसे विकास करनेके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये। एक अच्छा वक्ता यदि अपने विषयको श्रोता और जनताके हृदयतक ठीकसे पहुँचा सके, उन्हें आन्दोलित कर सके, तो उसकी पूछ और प्रभाव बहुत बढ जायगा। स्वपक्ष-प्रदर्शन और जन-हृदयका परिवर्तन करनेवाले वक्ताओंकी बड़ी ही आवश्यकता है। जनता झुकनेको तैयार है, झुकानेवाला चाहिये और वह झुकानेकी शक्ति वक्तृत्व-कला एव सच्चरित्रतापर ही आधारित है।

मन, वचन और शरीर—इन तीनोंकी स्वस्थता और शक्तिसम्पन्नताकी बड़ी आवश्यकता है। अपने मनको पवित्र एव दृढ बनानेकी ओर हमारा सारा ध्यान रहना चाहिये। ईश्वर-भक्ति, महापुरुषों एव गुरुजनोंकी सेवा, धार्मिक सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और सदाचारका पालन उच्च तथा आदर्श जीवनके लिये बहुत ही आवश्यक है। हमारा वचन-व्यवहार बहुत नपा-तुला हो, अनावश्यक गप्पबाजी और बकवाससे हम दूर रहें। गाली-गलौज और असभ्य शब्दोंका उच्चारण तो हमारे मुखसे होना ही नहीं चाहिये। शिष्टाचार और सच्चरित्रताका हम पूरा ध्यान रखें। आजकल कुछ विद्यार्थी अपने साथ पढनेवाली बहिनोंके साथ जिस तरहका अशिष्ट व्यवहार करते हैं, वह बहुत ही लज्जाजनक है। अपनी बहिनोंको घूर-घूरकर देखना, अशिष्टता एव छेड़खानी करना, उनका पीछा करना आजकी विद्यार्थी-जीवनकी बहुत बड़ी कमजोरी है। थोड़े वर्ष पहलेकी और अब भी बहुत से अशिक्षित ग्रामीण व्यक्तियोंकी आदर्श भावना हमारे भारतीय जीवनका उज्ज्वल पृष्ठ है। हमारे पूर्वज अपने कुटुम्ब या जातिकी ही नहीं, गाँवकी बहिन-बेटीको भी सदा पवित्र भावनासे अपनी माँ, बहिन, बेटी मानकर व्यवहार करते रहे हैं; तब हम उनके सपूत अपनी उन विद्यार्थी बहिनोंके साथ इस तरहका अनुचित व्यवहार करें, यह बहुत ही अशोभनीय है, असहनीय है। विद्यार्थी-जीवनके आदर्श—ब्रह्मचर्यके लिये तो यह सर्वथा विपरीत एव घातक है। हमें दृढ-सकल्प और हित तथा मितभाषी होना चाहिये। साथ ही शारीरिक शक्तिके विकासके लिये भी हमें उचित श्रम और स्वास्थ्यके आवश्यक नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। इस समयका बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य तथा बुरी आदतें सारे जीवनको ले डूबेंगी। अत. सँभल-सोचकर कदम उठाना चाहिये।

जिस प्रकार दुष्ट सगतिसे मनुष्यका पतन होता है, उसी प्रकार सत्-सगतिसे उत्थान होता है। हमें अपने हितैषी गुणीजनोंका सम्पर्क निरन्तर और सुदृढ बनानेका प्रयत्न

करना चाहिये। हर व्यक्तिके जीवनमें आपदाएँ, विपदाएँ, अच्छाइयाँ, बुराइयाँ आती हैं। हमारे लिये उस समय सत्पथ-प्रदर्शक और हितैषी सहायकका सहयोग बहुत ही आवश्यक होता है, अन्यथा जीवन-नौका डगमगा जाती है। सुदृढ और अच्छे सहारेके विना हम लड़खड़ा जाते हैं। हमारी उलझी हुई समस्याओंको जो सुलझा सके, हिताहितका ज्ञान करा सके, कुमार्गपर जाते हुएको हटा सके, बुरी आदतोंको छुड़ा सके, कष्टमें सान्त्वना, सहयोग और सहारा दे सके, ऐसे अनुभवी पुरुषका सत्सङ्ग हमें अवश्य करना चाहिये। गुणी व्यक्ति चाहे किसी जाति, सम्प्रदाय, आयु तथा अवस्थाका हो, हमें उसका आदर करते हुए गुण-ग्रहण और सेवाद्वारा लाभ उठाना चाहिये।

आज जो धर्मके प्रति हममें अश्रद्धा बढ़ रही है, यह भी एक विचारणीय समस्या है। धर्म जीवनके उत्थानका सही मार्ग है। इसमें जो रूढ़ियाँ तथा खराबियाँ आ गयी हैं, उन्हें हम न अपनायें, पर धर्मको कभी भी हीन न समझें। सदा श्रद्धाके साथ जीवनमें उसे धारण करते रहें। बस, आज तो इतना ही, अन्य बातें फिर कभी।

संघर्षमें सहिष्णुता

[गांधी-विचारधारापर आधारित विवेचन]

(लेखक—श्रीभगवानदासजी झा, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

मानव-जीवन वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी। हम अपने निजी अस्तित्वपर विश्वास करते हैं, पर साथ ही हमारा यह भी कर्तव्य है कि सारा समाज जीवित रहे। हम अपनेको अकेले बनाये रखकर क्या करेंगे ? पर जब वैयक्तिकता उचित सीमासे अधिक बढ़ जाती है, तब हमारे मनमें संघर्ष उत्पन्न होता है। यही संघर्ष भौतिक रूपमें प्रकट होकर द्वन्द्व या संग्रामका रूप ग्रहण कर लेता है। हम सुनते हैं कि अमुक अमुक देशोंमें संघर्ष छिड गया है, दो व्यक्तियोंमें संघर्ष हो गया या अमुक स्थलपर संघर्षका वातावरण सृष्टि हो गया। तो संघर्ष है क्या ? संघर्ष विचारों, भावनाओं, परिस्थितियों, परम्पराओं, जीवनके शाश्वत सिद्धान्तों आदिके प्रति असहमति है, जिसका मूल उद्भव वैयक्तिकताका अथवा 'अहं' का आधिक्य है। मानव-मनमें विचार उठते हैं, भावनाएँ जगती हैं, उसके सामने जीवनकी परिस्थितियाँ आती हैं, वह विशिष्ट परम्पराओंमें रहता है और उसके पास पूर्वजोंकी अक्षय निधिके रूपमें जीवनके शाश्वत सिद्धान्त हैं। पर क्या इनके प्रति सहिष्णुता प्रकट की जाय या अपने आत्मगौरवके प्रदर्शनार्थ असहमति ? सहिष्णुता विनम्रताकी प्रतीक है, सुन्दर शिष्टताकी जननी है, पर असहिष्णुता उग्रताकी प्रतीक बनकर असत्य और हिंसाकी परिपोषक है। जीवन सौन्दर्यके लिये है, गंदगीके लिये नहीं। मानव संघर्ष करनेके लिये इसलिये तैयार हो जाता है कि संसार यह देखे कि वह कितना वीर है। एक व्यक्तिने हमें गालियाँ दीं, हमें मारा, हमारा अहित किया। क्यों ? यह दिखानेके लिये कि उसमें यह सब करनेकी सामर्थ्य थी। उसका मन संघर्ष करके हँस उठता है। उसकी आत्मगौरवकी वृत्ति तुष्ट हो जाती है और उसके भीतरके संवेग हर्षकी उसे प्राप्ति होती है। संघर्षकी विजय संघर्षकर्ताका लक्ष्य है। इसके प्राप्त होते ही उसकी महती मनोकामना पूर्ण हो जाती है। वह सोचता है कि यदि चुप होकर शान्त हो जाते और प्रतिशोध न लेते या उठाकर पछाड न देते तो फिर हमारी क्या रहती। दुनियाके सामने हम मुँह दिखानेयोग्य भी न रहते। बस, यही द्वन्द्वात्मक स्थिति है, जो विक्षिप्त स्थितिकी प्रतीक है। अतएव संघर्ष करना पागलपन है। संघर्षके प्रति सहिष्णुभाव प्रकट करना ही महानता है। मारनेवालेको भी क्षमा कर देना और उसे

अपनी वृत्तियोंके सुधारनेका अवसर देना महानता है। संघर्षमें बहुधा आत्मसंयम खो जानेकी पूरी सम्भावना रहती है। संयम-विहीन होनेसे क्रोध उत्पन्न होगा और क्रोधसे विवेकहीनता प्रकट होगी। विवेकहीनता अज्ञानता-को जन्म देगी और अज्ञानता समस्त दुःखोंका मूल है। अतएव आत्मसंयम ही आत्मशासनकी कुंजी है। संघर्षमें भी सभ्यता बनाये रखना अहिंसा है। संघर्षके लिये उतारू होनेपर भी उस व्यक्तिके प्रति शिष्टता दिखाना दूसरे व्यक्तिका धर्म होना चाहिये। असभ्यता-की विजय कोई विजय नहीं। मारना सरल है, पर शिष्टताका व्यवहार करना नीच व्यक्तिके बूतेकी बात नहीं। सोचिये, आप नीच कहलाना चाहते हैं या शिष्ट और सभ्य? 'अहं'का प्रदर्शन क्यों? केवल आत्म-तुष्टिके लिये। पर इस आत्मतुष्टिकी कालावधि कितनी! किसीको डाँटकर हर्ष और अपने पदके गौरवका अनुभव कीजिये। फिर देखिये कि वह हर्ष कितनी देर रहता है। कदाचित् वह जलके बुलबुलेकी भाँति ही समाप्त हो जायगा और रह जायगा केवल संताप और मनकी मलिनता। दूसरोंके विचारों और भावनाओंका सतत विरोध करना आजके मानवका मूलभूत संघर्ष है। विवादमें लड़ पड़ना हमारे मनकी संकुचित वृत्तियों और अस्वस्थ असहिष्णुताका परिचायक है। गांधीजीने एक स्थलपर कहा है—'यह समझ लेना अच्छी आदत नहीं कि दूसरेके विचार गलत हैं और सिर्फ हमारे ही ठीक हैं तथा जो हमारे विचारोंके अनुसार नहीं चलते, वे देशके दुश्मन हैं। कितनी संकीर्णता है ऐसा समझने-में। यह तो राजनीतिका वह पहलू हुआ, जिसमें सभी दल अपनी-अपनी हाँकते हैं और समाजमें अराजकता और अनैतिकता फैलाते हैं। अपनेको अच्छा घोषित करना बड़ा सरल है, पर वैसा बनाना उतना सरल नहीं। नम्र बनकर समझौतेकी वृत्ति अपनाना उत्तम है। नम्रताका अर्थ है 'अहंभाव' का आत्यन्तिक क्षय।''

संघर्ष करनेवालोंको यह प्रतीति होती है कि लड़-कर ही विजय प्राप्त हो सकती है। भौतिक विजय अस्थायी है। सच्ची विजय हृदयकी विजय है। प्रेमसे जो विजय प्राप्त होगी, वह स्थायी, सुदृढ़ और कामकी होगी। आखिर विजय प्राप्त करनेकी लालसा क्यों? क्या आप स्वयंमें लीन रहकर अपना कल्याण नहीं कर सकते? सोचिये, एक मनुष्य है। वह आगे बढ़ना चाहता है, पर दूसरेका अहित करते हुए। सच्ची बात तो यह है कि कोई किसीका हित-अहित नहीं कर सकता। सब उसके प्रारब्धसे होता है। आप 'निमित्त' अवश्य बन जाते हैं। पर जब केवल निमित्त बननेका ही प्रश्न है, तब अच्छेमें निमित्त क्यों न बना जाय! उससे अपनी आत्माको सच्चा संतोष प्राप्त होगा। करके देखिये। शत्रुतामें वह आनन्द कहाँ, जो प्रेम, सहयोग और सौहार्दमें है? दूसरोंके मनमें अपना विश्वास पैदा करनेका प्रयत्न करें। उससे आप कुछ गवाँयेंगे नहीं। यदि परिस्थितिवश असहयोग भी करना पड़े तो उसमें भी प्रेमभाव रखें। अर्थात् धर्मयुद्ध करें। 'जिस असहयोगमें प्रेम नहीं, वह राक्षसी है और जिसमें प्रेम है, वह ईश्वरीय है।' दूसरोंपर संदेह क्यों किया जाय? 'संदेह करनेवालेका कहीं ठिकाना नहीं।' उसका नाश निश्चित है, क्योंकि आँखें होते हुए भी उसे अपना मार्ग नहीं दिखायी देता। वह न तो अपने स्वरूपको पहचानता है और न दूसरोंके। वह अंधा है तनसे भी और मनसे भी। संदेह 'अहं'से उत्पन्न होता है। अतएव अपनेको केवल एक रजकण मानो। ईश्वर ऐसे व्यक्तिकी ही सहायता करता है। लोग ईश्वरको न मानकर केवल अपने पुरुषार्थको ही सब कुछ समझते हैं। हमारे एक मित्रने एक बार ईश्वरको गालियाँ देकर पानी बरसा लिया। वे बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे कि 'यदि ईश्वर होता तो गाली सुनकर भी पानी बरसाता?' निवेदन किया गया कि ईश्वर हम और आप-जैसा तुच्छ

नहीं, वह महान् है । वह सर्वशक्तिमान् है, वह आपकी गालियाँ सुनकर आपसे संघर्ष करनेकी तनिक भी इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह संघर्षमें सहिष्णु रहता है। वह क्रोध नहीं करता, वर विवेकसे काम लेता है। वह आपको खोखला संतोष देकर आपके मनमें विरक्तिकी भावना उत्पन्न करना चाहता है और वह होगी। हमारे मित्र बीमार पड़े और बन गये आस्तिक। अपनी भूलोंको स्वीकार करना सच्चा धर्म है। भूलोंके साथ संग्राम कीजिये, मनकी स्वस्थ वृत्तियोंके साथ नहीं। 'जो कुछ करें या कहें, सब ईश्वरको साक्षी बनाकर करें या कहें।' जीवनमे संतोषका महत्त्व है, क्योंकि उससे अपरिग्रह पैदा होता है। अपरिग्रह सच्ची सभ्यताका लक्षण है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइये, त्यों-त्यों सच्चा सुख और संतोष बढ़ता है और सेवा-शक्ति बढ़ती है। सेवा-भाव ही सच्ची सहिष्णुता है। 'सेवा करनेवालेको अपनी लाज, आबरू, मान आदि सबका होम करना पड़ता है। उसके सामने तो ईश्वरका अंश मानव ही रहता है।'

पर इसका यह अर्थ नहीं कि अपने मनुष्यत्वका ध्यान न रखा जाय। वास्तवमें मनुष्यत्वका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही केवल ईश्वरको छोड़कर किसीसे भय न खायेगा। अपने स्वरूपकी रक्षा करना सबका धर्म है; पर यह रक्षा संघर्ष करके न हो, वर प्रेम और सहिष्णुतासे हो। तभी वह सच्ची रक्षा होगी। उसमें दृढ़ता होगी। अनुभवसे देखिये कि प्रतिपक्षीके साथ उदार व्यवहार करके हम अपने लिये जल्दी न्याय प्राप्त कर लेते हैं।

संघर्ष वाचालतासे फलता-फूलता है। अतएव मौन धारण करना सीखिये। स्मरण रखें कि मौन कभी-कभी वाचालतासे अधिक काम कर देता है; क्योंकि मौनकी शक्ति बड़ी होती है। आप मौन बनकर निर्बल नहीं होंगे; क्योंकि निर्बल दूसरोंके कहनेसे नहीं होता। निर्बल वह, जो अपनेको निर्बल समझे। आप सबल समझकर ही दूसरोंसे प्रेम कीजिये। गांधीजीने कहा है—'मैं नौजवानोंको सलाह यही दूँगा कि जबान बंद करनेका *अभ्यास करें*।'

क्रोध न करें। क्रोध संघर्षका मित्र है। हम इनकी मित्रताको विनष्ट करनेका प्रयत्न करें। अर्थात् प्रेमके संघर्षमें क्रोध न करें। क्रोध करना ब्रह्मचर्यका खण्डन है। प्रेममे प्रायश्चित्त भी है। संघर्ष हो जाय तो प्रार्थना, उपवास और क्षमायाचनाके साधनोंसे अपनी दुष्प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त कर लें। महात्मा गांधीका प्रायश्चित्त था एक विदीर्ण और क्षत-विक्षत हृदयकी प्रार्थना कि 'परमात्मन्! मेरे अनजानमें किये गये पापोंको क्षमा कर।' प्रायश्चित्त करना सच्चा धर्म है। वह शाश्वत है और सम्प्रदायवादके संकुचित अर्थसे ऊपर उठा हुआ है। धर्म मानवताकी सेवाका दूसरा नाम है और सेवाका सच्चा अर्थ सहिष्णुता, क्षमा और प्रेम है, संघर्ष और द्वन्द्व कभी नहीं।

क्रोधकी निन्दा

रोष न रसना खोलिये बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि॥
मधुर बचन कटु बोलिबो बिनु श्रम भाग अभाग।
कुहू कुहू कलकंठ रव का का कररत काग॥

वास्तविक स्वराज्य क्या है ?

(श्रीविनोबा भावे)

आज अपने देशमें लाखों-करोड़ों बच्चे ऐसे हैं, जिनके लिये पोषणकी और शिक्षणकी योजना नहीं है। ये सारे बच्चे देशके आधार हैं। उनके लिये क्या किया जा रहा है ? माता-पिता जो कुछ भी करते हैं, वही होता है। देशके लिये बच्चे अच्छे निकले, ऐसी कोई योजना नहीं बन रही है। समाजकी तरफसे बच्चोंका ध्यान रखने-जैसी कोई बात नहीं। ऐसा तो नहीं है कि श्रीमान्‌के बच्चे ही बुद्धिमान् होते हैं। शंकराचार्य दरिद्रकुलमें पैदा हुए थे और बुद्धभगवान् बड़े कुलमें पैदा हुए थे। दोनों महान् निकले। तो बच्चोंमे गरीब और अमीरका भेद नहीं है। हीरा किस खानमें निकलेगा, यह कोई नहीं जानता। लेकिन उसकी खोज तो होनी चाहिये। खान खोदेंगे नहीं, तो हीरे कैसे निकलेंगे। बच्चोंके लिये पोषणकी और शिक्षाकी योजना यदि नहीं बनती तो देश क्षीण होता है। इसलिये बच्चे जिन माता-पिताके होते हैं, उन्हींके नहीं, वे तो देशकी सम्पत्ति हैं। बच्चे सारे देशके हैं, यह ख्याल होना चाहिये।

तो भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदानमें क्या सोचा जा रहा है ? आगेकी जो जनता अर्थात् बच्चे हैं, उनका समानरूपसे पोषण और शिक्षण हो। लेकिन इन दिनों लोगोंके मनमें भ्रम बैठा है। वे सोचते हैं कि हर कोई काम सरकार करेगी। जैसे भक्तोंकी अनन्य श्रद्धा भगवान्‌पर होती है, वैसे ही इनकी अनन्य श्रद्धा सरकारपर होती है। यह बड़ी भयानक बात है। बच्चे तो आपके है, न कि सरकारके, फिर उनकी जिम्मेवारी सरकारपर क्यों डालते हैं ? लड़का बीमार हुआ तो स्वास्थ्यमन्त्रीको बुलायेंगे या स्वयं सेवा करेंगे ! अगर यह सब सरकारपर छोड़ देंगे और स्वयं कुछ नहीं करेंगे तो देशकी उन्नति नहीं होगी।

फिर सरकारमें कौन-सी ऐसी शक्ति है, जो हममें नहीं है ? वह बलात् या सैन्य-शक्तिसे कोई काम करा सकती है या फिर सम्पत्तिके माध्यमसे करा सकती है। सम्पत्ति भी कौन-सी है उसके पास ? अपने पासका एक हिस्सा करके रूपमें हमने उसे दे दिया है, वही तो। सरकार स्वतन्त्र उद्योग तो करती नहीं। हम जो देते हैं, वही उसको मिलता है। हम गरीब हैं, परतु हमारी सरकार हमसे भी गरीब है, क्योंकि कितना भी हुआ, तो भी हमारी सम्पत्तिका हिस्सा ही उसके पास है। हम कुएँ हैं और सरकार है बाल्टी। ३६ करोड लोग दो हाथोंसे पैदा करेंगे, तो वह अधिक होगा कि सरकारको हम जो देते है, वह अधिक होगा ? हाँ, सरकारका धन दीख पडता है, क्योंकि वह इकट्ठा हुआ है, हमारा दीख नहीं पडता, क्योंकि वह घर-घरमें बँटा हुआ है। सरकारकी पञ्चवर्षिक योजना है। उसमें वह चार-पाँच हजार करोड रुपया पाँच सालमें खर्च करेगी। देशमें ३६ करोड लोग हैं, तो हर मनुष्यके लिये महीनेमें दो, सवा दो रुपये याने हर मनुष्यपर एक दिनमें पाँच पैसा सरकार खर्च करेगी। यह हुई सरकारकी बडी योजना। एक बच्चा सूत कातकर एक घंटेमे पाँच पैसा कमा लेता है। तो सरकारकी योजनाकी अपेक्षा बच्चा भी अधिक कमा लेता है और पाँच पैसेमें सरकार करेगी क्या ? रेलवे, शाला, खेती, व्यापारकी वृद्धि, कारखाने खोलना, विज्ञानकी खोज, साहित्यको प्रोत्साहन, भाषाका प्रचार—यही सब तो होगा। यह कुल पाँच पैसेमें होगा। ज्यादा लोग स्वय उठ खडे हो जायँ तो इससे अधिक कर सकते हैं। आखिर सरकारके पास उतनी सम्पत्ति नहीं, जितनी लोगोंके पास है।

सम्पत्ति कैसे प्राप्त होती है ? परिश्रमसे । तो परिश्रम कौन करते हैं ? लोग करते हैं। इसलिये सरकारकी पैसेकी शक्ति जनताकी शक्तिके बराबर नहीं हो सकती । अब रही कानूनकी शक्ति । क्या आप समझते हैं कि सरकारका कानून है, इस लिये चोरियाँ नहीं होतीं ? दण्ड देनेसे, सजा देनेसे, शासन करनेसे क्या समाज बदल सकता है ? समाजमें जो सद्भावना है, इसलिये समाज जो नीतिपर चल रहा है, वह कानूनके कारण नहीं । सज्जनोंने समाजको धर्म सिखाया है, इसके लिये समाजको अच्छे-अच्छे ग्रन्थ दिये हैं । मान लो समाज नहीं होता तो हम सब जानवर बनते । सरकारका कानून तो कोई पढ़ता नहीं। अत लोगोंमें जो सज्जनता है, वह लोगोंकी सम्पत्ति है । सरकारके पास ऐसी शक्ति नहीं है, जो समाजको अच्छी नीतिपर ले जाय । न प्रेरक शक्ति है, जो सत्कर्मकी प्रेरणा दे । कर्म-प्रेरक शक्ति जितनी समाजमे है, उतनी सरकारमें नहीं । भौतिक सम्पत्ति भी जितनी समाजके अधिकारमे है, उसका एक अंग सरकारके पास है ।

तो इस हालतमे सरकार सब करेगी, ऐसा जो हम सोचते हैं, वह ठीक है क्या ? यह लोगोंको सोचना है। अगर हम पुरुषार्थहीन बन जायँ और सरकार सब कुछ करेगी, ऐसा मान लें तो हमारा समाज उन्नति नहीं कर सकता । इसलिये जो हमारा समाज है, समूह है, वह स्वयं अपने लिये कुछ करे । समाजके लिये प्रत्येक व्यक्ति त्याग करे, तभी हम प्रगति करेंगे । इसलिये सर्वोदयमें सब लोग उठ खड़े होते हैं और अपनी उन्नतिके लिये अग्रसर होते हैं । गोवर्धन पर्वत उठानेमें वृन्दावनके कुल बच्चे, बूढ़े, जवान, बहनोंका हाथ लगा था । भगवान्‌ने एक अँगुलीका ही सहारा दिया था । वह भगवान्‌की विशेषता है । भगवान् कुछ स्वय कर लेते हैं । काम तो उन्हींसे होता है, परतु वे कहते यह हैं कि तुम सब करो, फिर हम सहायता करते हैं । हम आलस्यमें रहे तो भगवान् कुछ नहीं करते । इसलिये सबका हाथ लगना चाहिये । उसमें बच्चे भी क्यों छूटें ! बच्चे भी खाते हैं, तो देशके लिये वे कुछ नहीं दे सकते ? दो हाथ भगवान्‌ने उन्हे दिये हैं । सूत कातें तो महीनेकी दो गुंडी देशको दे सकते हैं ।

भूदान, सम्पत्तिदान, ग्रामदानसे हम क्या करना चाहते है ? अपना स्वामित्व नहीं, गोत्रका स्वामित्व । भूमि सबको मिलेगी । गरीबोंको भूमि देंगे, उतनेसे ही नहीं होगा; और भी उनको देना होगा, वह सम्पत्तिदानमेंसे देना होगा । प्रत्येक गाँवमे एक-दो कार्यकर्ता होंगे, उनका भी प्रबन्ध गाँववालोंको करना होगा । लेकिन इतनेसे नहीं होगा । यह तो एक सामाजिक कार्य हुआ । क्रान्ति नहीं हुई ।

भारतमे महारोग है, उसका निराकरण हम करना चाहते हैं, उसके कारणोंको ढूँढ निकालकर मूलसे उखाडना चाहते हैं, तो वह क्रान्ति होगी । केवल एकाध रोगीको मदद पहुँचानेसे क्रान्ति नहीं होती । वह तो दयाभाव है । रातको जागते है, ऑख बिगडती है, दवाइयाँ लेते हैं, डाक्टर चश्मा लगाता है । परंतु उधर ऑख बिगाडने-का कारखाना चल रहा है । वैसे ही दरिद्रीकी हम कुछ मदद कर देते हैं तो वह दया होती है । पर जब दरिद्रताका मूल ही खोदते है तब क्रान्ति होती है । मान लो लडका आया और उसने कुछ जानकारी चाही, आपने दे दी, उसका अज्ञान मिटा, परतु उसका अज्ञान उतना ही मिटा, जितना उसने पूछा । वह तो अज्ञानी रहा ही । क्रान्ति तब होगी, जब उसको पढ़ना-लिखना सिखायें । वह स्वय पढ़ सके, इस तरह मनुष्य-को समूल सहायता पहुँचायें तो क्रान्ति होगी । ऊपर-ऊपरसे मदद करना दया है । घरमें नौकर रखते हैं—समयपर उसकी कुछ अधिक सहायता भी करते है, यह क्रान्ति नहीं है । उसको अपने समाजका मालिक बनायें, तब क्रान्ति होती है ।

अकबर बादशाह तेरह सालका था। उसका एक गुरु था। अकबरको वह अच्छी तरह शिक्षा देता था। अकबर सोचता कि कबतक यह शिक्षा लेनी है, कभी समाप्त होगी या नही ? मैं राजा कब बनूँगा ? सिंहासन तो रिक्त ही पडा है। अब मुझे राजा बनना ही चाहिये। एक दिन वह सिंहासन-पर बैठ गया और पहला हुक्म दिया कि मेरे गुरुको जेलमें कैद करके डाल दो। राज्यकी सारी व्यवस्था अपने नियन्त्रणमें ले लेनेके बाद अकबर गुरुसे मिलने गया। कहने लगा कि 'अपराधी मै हूँ, मुझे क्षमा कीजिये। आपने ही मुझे विद्या सिखायी। लेकिन मैं सहन नहीं कर सका। लगता था कब मै राजा बनूँ।' गुरुने कहा कि 'ठीक है, अब मुझे तीर्थयात्रापर जाने दो।' अकबरने व्यवस्था कर दी। वह यात्रापर चला गया। तो यह गुरु और वह शिष्य कबतक बना रहेगा ? गुरु गुरु ही बना रहा और शिष्य शिष्य ही बना रहा तो क्रान्ति नहीं होती, क्रान्ति तब होगी जब गुरु अपना सारा ज्ञान शिष्यको देकर उसको उसके पाँवपर खडा कर दे।

केवल दया करनेसे नहीं चलेगा। सबको स्वावलम्बी बनना होगा। आपत्तिमे मजदूरोंको दान-धर्म करनेसे नहीं बनेगा। मजदूरको जब हम अपने समान मालिक बनाते हैं या उसके समान अपना जीवन बनाते है तब क्रान्ति होती है। कहा गया है 'शिवो भूत्वा शिव यजेत्'—शिव होकर शिवकी पूजा करनी चाहिये। जबतक स्वय गरीब नहीं बनते, तबतक गरीबोकी सेवा नहीं कर पायेंगे। हम मालिक बने रहें और मदद-सहायता देते रहे, यह ठीक नहीं। बच्चे भी अपना परिश्रम दे सकते हैं। जो खाता है, वह पहले दे और बादमें खाये। एक बार देनेसे नहीं चलेगा। जितनी बार खाते हो उतनी बार देना है। यह जब होगा तब तुम्हारी उन्नति होगी।

यह जो कार्य हो रहा है, उसका श्रेय मुझे नहीं है, मेरी माँको है। बचपनमें पेड़को पानी दिये बिना माँ खाने नहीं देती थी। तो बच्चोंको बनाना माताका काम है, वे बच्चोको देश-धर्मकी दीक्षा दें। यह कौन कर सकेगा। जो स्वय करेगा, वह दीक्षा देगा। सेवा करके खाना, यह मनुष्यका लक्षण है, ऐसे ही बिना सेवा खाना बदरका लक्षण है। ऐसी भावनाका दर्शन होगा, तभी हमको स्वराज्यका अनुभव होगा।

भारी भूल

एक तौ दियो है तोहि मानस को तन, दूजे,
उत्तम बरन, तीजे उत्तम बरन देह।
तेहू पर परम कृपा करि कृपानिधान,
कैपा वैरा बौरा गुंग बावरो करयौ न एह॥
कहत 'किसोर' जोर अच्छरको आयौ, भयौ
चतुर कहायौ, पायौ प्रेम पंथ निज गेह।
धृक् तोकौं अधम अभागे कृतहीन जोपै,
ऐसे मै न ऐसे दीनबंधु सौं लगायौ नेह॥

मनुष्यत्वको जीवित रखनेका उपाय—अर्थशौच

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मनुजीका कथन है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

आज मानव-समाजमें जो अशान्ति दिखायी दे रही है, उसका एक महान् कारण अर्थशौचका अभाव है। हमारा जीविकोपार्जन शुचि अर्थात् पवित्र तरीकोंसे नहीं हो रहा है। 'अर्थशौच'का अर्थ है कि हम जो धन कमायें, वह पवित्रता, सचाई, ईमानदारी और परिश्रमसे ही कमायें। धनका उपार्जन धार्मिक दृष्टिसे ही हो। उसमें अनुचित उपायोंका अवलम्बन न किया जाय। सद्गृहस्थको यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं उसकी कमाईमें कोई अधर्मका पैसा न आ जाय। अधर्मकी कमाई ही दु खोंकी जड है। अधर्मका पैसा एक प्रकारकी अग्नि है, जो ईमानदारीकी कमाईको भी नष्ट कर देती है।

एक वारकी वात है एक दूधवाला दूधमें पानी मिलाकर वेचा करता था। आधा दूध, तो आधा पानी। उसे सच्चा समझकर लोग उसका दूध खरीदते थे। दो-एक वार किसीको सदेह भी हुआ, उसे सावधान भी किया गया; किंतु वह न माना। उसकी कपडेकी थैली रुपयोंसे भरती गयी। उसे देख-देखकर वह बड़ा प्रसन्न होता। प्राय· चुपचाप अपने रुपयोंको गिना करता। एक दिन संयोगवश थैलीको एक बदर उठा भागा और एक वृक्षपर जा बैठा। वृक्ष एक नदीके किनारे लगा हुआ था। दूधवाला वहुत चीखा-चिल्लाया, भागा-दौड़ा। वदरको वहुत-से प्रलोभन दिये गये पर वह न माना। एक मुट्ठी रुपये ग्वालेकी ओर फेंक देता, दूसरी मुट्ठी नदीमें फेंक देता। यह क्रम बहुत देरतक यों ही चलता रहा। ग्वाला नदी-किनारे खडा-खडा रोता रहा। अन्तमें सारी थैली खाली हो गयी, ग्वालेके पास आधी रकम ही शेष रही। यह उसकी वह कमाई थी, जो वास्तवमें उसे मिलनी चाहिये थी। धर्मकी कमाई ही वचती है।

हमें एक परचूनके दूकानदारने अपनी आर्थिक हालतके वारेमे सुनाते हुए कहा था—'आजकल मेरी यह छोटी सी दूकान आप देखते हैं, किंतु मैंने अपने जीवनमें वड़े-वडे उतार चढाव देखे हैं। हजार-हजार रुपये कमाये और खर्च किये हैं।'

हमने पूछा—'हजार रुपये कमानेवाला गिरता-गिरता भी दो-चार सौसे कम क्या कमायेगा ? यह सव क्या क्यों कैसे हुआ रे ?'

वह पुन. बोला, 'मैंने एक छोटी-सी रकमसे काम शुरू किया था। दूकानपर एक नौकर था। कुछ पैसे जमा किये; फिर अकेलेने अपनी दूकान चलायी। उसमें साधारणत अच्छी रोटी मिलने लगी। तृष्णाएँ वढ चलीं। तृष्णाका वेग वडा वलवान् है। आरम्भमें यह लक्षित नहीं होती, किंतु धीरे-धीरे भीतर-ही-भीतर बढ़ती जाती है और अन्तमें तो इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्यको अधा कर देती है। मुझे सट्टेका शौक लगा। मेरा सङ्ग एक ऐसे व्यक्तिसे हुआ, जो सट्टेसे धनिक वन गया था। मैंने भी वही प्रारम्भ किया। आय अनाप-शनाप वढ़ती गयी। बढ़ते-बढ़ते मेरी आय हजार रुपये महीनेतक हो गयी। धनकी लालसा फिर भी वढ़ती गयी। धन ही मेरा साध्य वन गया। मैं अपने सामने किसीको कुछ भी न समझता था। एक दिन जव मैं अपनी प्रतिष्ठाके सर्वोच्च शिखरपर था, पासा यकायक पलटा। एक ही दॉवमें मैं सब हार गया। वर कुछ ऋण भी हो गया। उसे अपनी

चीज और घरवालीका जेवर बेचकर चुकाना पड़ा। जैसे वह धन आया था, वैसे ही पलक मारते चला गया और मुझे पहलेसे कहीं दीन-हीन छोड़ गया। अब मैं फिर अपनी पुरानी दूकानपर वैसे ही थोड़ा-बहुत कमा-कर निर्वाह करता हूँ।'

धनसे मोक्षके अनेक साधन इकट्ठे किये जा सकते हैं, पर संसारके सभी पदार्थ गुण-दोषमय होते हैं। धन भी ऐसा ही है। समझदार मनुष्यका यह काम है कि वह पदार्थोंका इस रीतिसे उपयोग करे, जिससे उसको गुणोंका लाभ मिले, दोष दूर ही रहें। धनको यदि ईमानदारी और धर्मसे न कमाया जाय तो उसमें विष-जैसा असर आ जाता है। वेश्याएँ जितना धन कमाती हैं, उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। चोर-डाकू लूट-मार करके बहुत-सा धन कमाते हैं। न कभी वेश्याको किसीने फूलते-फलते देखा है न चोरकी झोपड़ीपर फूँस रहा है। रुपयेसे लदी रहनेवाली वेश्याकी अन्तगति भयंकर यातनाओंसे भरी होती है। कोई उसे कफन भी देनेवाला नहीं मिलता। नगरपालिकाके अनाथ फंडसे भंगी उसका शरीर फूँकते हैं। इसी प्रकार डकैत या तो पुलिसकी गोलीका शिकार बनते हैं अथवा सड़-सड़कर जेलके सीखचोंमें मरते हैं। यह है पापकी कमाईका विष, जो अन्त समयतक दण्ड देता रहता है।

जिस प्रकार एक स्थानपर पड़ा हुआ जल दुर्गन्धादिसे दोषयुक्त हो जाता है, उसी प्रकार यज्ञ-दान, धर्म-कर्ममें व्यय न किया हुआ धन भी प्रमाद आदि दोष उत्पन्नकर धनीको नष्ट करता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

एक बार गुरु नानक किसी गाँवमें गये तो समस्त गाँववालोंने उनका खूब आदर-सत्कार किया। गाँवके जमींदारने यह सुना तो नानकजीको दावत दी। अनेक सुस्वादु भोजन, मिठाइयाँ और सब्जियाँ बनवायीं, बड़ी धूमधाम रही।

उधर एक गरीब किसान भी श्रद्धा-भक्तिसे भरा गुरुजीके लिये ज्वारकी मोटी-मोटी रूखी रोटियाँ लाया। गुरुजीके सामने दोनोंका भोजन था। एक ओर जमींदारके बढ़िया पकवान, दूसरी ओर ज्वारकी सूखी रोटियाँ!

गुरुजीने किसानकी रोटियाँ ले लीं और बड़े स्वादसे उन्हें खाया।

जमींदार क्रुद्ध था। उसने इतने बढ़िया-बढ़िया पकवान, भोजन-मिठाइयाँ इतने व्ययसे इतने कुशल रसोइयोंसे बनवायी थीं। उससे न रहा गया। उसने गुरुजीसे पूछा—

'महाराज! आपने मेरा भोजन ग्रहण न कर इस गरीब किसानकी ज्वारकी सूखी रोटियाँ क्यों ग्रहण की हैं?'

गुरु बोले—'अपनी रोटियाँ इधर लाओ।'

फिर गुरुजीने जमींदारकी रोटीको निचोडा, तो उसमेंसे खूनकी बूँदें टपकने लगीं। लोग यह चमत्कार देखकर चकित थे। इसके बाद उन्होंने उस किसानकी रोटीको निचोड़ा। जनताने देखा कि उसमेंसे दूधकी बूँदें टपकने लगीं।

गुरुजी बोले—'ये रक्तकी बूँदें उन गरीबोंकी हैं जिनसे जुल्म, अत्याचार, मार-पीट, बेईमानीके हिंसक प्रयोगद्वारा रुपया लूटा गया है। यह धन अधर्मसे इकट्ठा किया गया है। दूसरी ओर इस किसानने धूपमें कठोर परिश्रम और पुरुषार्थ करके पसीनेकी कमाईसे ये रूखी ज्वारकी रोटियाँ बनायी हैं, धर्मको सदा सामने रखा है। यह न झूठ बोला है न किसीपर अत्याचार, छल-कपट किया है। इसका पैसा सत्य, न्याय और धर्मके अनुकूल है। ऐसी कमाईमें समृद्धि और लक्ष्मीका निवास है। जैसा भाव होना है, वैसी ही बुद्धि बनती है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही

अन्न कमाया जाता है । जैसे उपायोंसे अन्न कमाया जाता है, उसमें वैसे ही गुण अवगुण आ जाते हैं । पापकी कमाईसे मुक्त रहो ।'

यह सुनकर जमींदारको सब पुरानी बातें याद आने लगीं । उसने स्मृतिके कोषमें देखा कि उसका असख्य धन, जिसपर उसे इतना अभिमान था, अनाथोंपर निर्मम अत्याचार, झूठ, फरेब, मिथ्याचार करके कमाया गया था । इसी कारण उसका आतिथ्य अस्वीकार किया गया था ।

श्रीभगवद्गीतामें वैश्यके स्वभावजन्य कर्मोंके विषयमें कहा गया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

अर्थात् खेती, गौओंकी रक्षा, व्यापार वैश्यके स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले कर्म है । पर उसे भी चाहिये कि जो धन कमाये, वह सत्यताके व्यापारसे अर्जित करे । वैश्यको उचित है कि धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ धनोपार्जन करे, यह ध्यान रखे कि उसके पास अधर्मकी एक पाई भी न आने पाये । बेईमानी, ठगी, चोरबाजारीसे, कम तौलकर या किसी ग्राहकका जी दुखाकर जो धन कमाया जाता है, वह न केवल पापकी कमाई है, अपितु बड़ा दु खदायी भी है । पापसे धन कमानेवालेका चित्त अशान्त रहता है, समाज और इष्ट-मित्रोमे उसकी निन्दा और अपयश होता है, ऐसा धन कमानेवाले विषयभोगमें रचे-पचे रहकर यह लोक और परलोक दोनों बिगाड लेते हैं । अधर्मकी कमाई कमानेवालेको नष्टकर फिर स्वय भी नष्ट हो जाती है ।

हमारे यहाँ धनको लक्ष्मी कहा गया है । लक्ष्मी हमारी धनकी देवी हैं । इसकादूसरा अभिप्राय यह है कि हम धनको देवीके रूपमें पूज्य, पवित्र और धर्मकी वस्तु मानते है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें भी हमने अर्थको स्थान देकर अर्थशौचका महत्त्व स्पष्ट किया है । जब हम लक्ष्मीजीकी पूजा करते है, तब अप्रत्यक्ष रूपसे हम यह कहते हैं 'कि हे लक्ष्मीदेवि ! हम जो कुछ जीविकोपार्जन करेंगे, उसमें तुम हमारी सहायक रहोगी, हम केवल धर्मकी ही कमाई लेंगे । धर्मकी कमाई ही खायँगे, उसीसे विद्या पढ़ेंगे, यज्ञ करेंगे, दान देंगे । तुम हमारी मतिको सत्य, न्याय, धर्मकी ओर रखोगी । हमारे साथ सदा न्यायभाव रहेगा । यदि हम अनजानमें अर्थशौचका पालन न कर सकेंगे तो हम अपने पापके लिये दण्डके भागी होंगे । हम केवल अपने परिश्रमकी कमाई ही स्पर्श करेंगे ।'

एक बार एक महात्मा भिक्षाके लिये एक धनी व्यक्तिके द्वारपर पहुँचे और बोले—'बच्चा ! हमें अपनी ताजी कमाईमसे कुछ भिक्षा दो ।' धनिक कुछ न समझा । उसने महात्माको आदरसे बैठाया । अदरसे एक बर्तनमे भिक्षा लाया और बोला, 'महाराज ! लीजिये भिक्षा ।'

महात्माने उसे देखा और उत्तर दिया, 'बच्चा ! मैं तो तेरी ताजी कमाईमसे भिक्षा मॉगता हूँ ।'

धनिक—'महाराज ! ताजी कमाईसे आपका क्या तात्पर्य है ?'

महाराज—'बच्चा यह तो तुम्हारे बाप-दादाकी कमाई है । उनकी भुजाओंने इसे कमाया था । उनके परिश्रमसे यह अर्जित हुई । उनके स्वर्गवासी होनेपर यह तुम्हारे हाथमें चली आयी । जबतक उनके हाथमें थी, यह ताजी कमाई थी । तुम्हारे हाथमे आकर यह बासी, निष्प्राण हो गयी । इसमे तुम्हारा समय, भुजाओंका बल या मानसिक परिश्रम—कुछ भी तो नहीं लगा । गृहस्थको स्वय धनोपार्जन करना चाहिये और अपनी पॉच उँगलियों-की कमाईसे ही दान करना चाहिये । अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान करना चाहिये । अपनी धर्मकी कमाईसे ही दान देनेसे पुण्य-फल प्राप्त होता है । नीति कहती

है कि धनको धर्मसे ही कमाये। अनुचित पैसा कदापि न ले। कमाये हुए धनकी धर्मसे ही रक्षा करे और रक्षा किये हुए धनका धर्ममें यथाशक्ति व्यय करे।'

यह कहकर महात्मा चले गये। धनिकको सोचनेके लिये एक नयी दिशा मिली। वह समझता था कि दूसरोंसे उसके पास आयी हुई कमाईके दानसे उसे पुण्य-फल मिलेगा, पर उसकी यह धारणा निर्मूल निकली। अपने पसीनेकी कमाई करनेकी उसे प्रेरणा मिली।

वेदमें कहा गया है—'देवो देवेषु वनते हि वार्यं' (ऋग्वेद ६।११२) धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्गुणी हैं। दुर्गुणीकी विपुल सम्पदा भी स्वल्पकालमें नष्ट हो जाती है।

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः। (अथर्ववेद ७।११५।४)

ईमानदारीकी कमाईका धन ही ठहरता है। बेईमानी-की आयसे कोई फूलता-फलता नहीं।

संग्रह करने या विलासिताके लिये धन नहीं है। सबका कल्याण, सबकी सहायता और सबको आगे बढानेके लिये धन कमानेका विधान है।

रयिं दानाय चोदय। (अथर्ववेद ३।२०।५)

हे मनुष्यो! धनका दानमें विनियोग करो।

कस्यस्विद्धनम् (यजुर्वेद ४०।१)

धन किसी व्यक्तिका नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्रका है। धनपर कब्जा जमाकर मत बैठो, वर उसका सदुपयोग करो।

ईमानदारी और धर्मकी कमाईसे ही हमें आन्तरिक सुख और शान्ति मिल सकती है। बेईमानीकी कमाई चाहे एक पीढीतक टिक जाय, पर फिर कुसतान-द्वारा नष्ट हो जाती है। दुराचारी अमीरोंकी संतान निकम्मी, आलसी और दुश्चरित्र होती है। वह सारी संचित सम्पत्ति नष्ट कर देती है। अधर्मके पापसंस्कार ही उसे नष्ट कर देते हैं।

आज मनुष्य संकटमें है। अशौचके अभावमें हम मनुष्यत्वकी कुछ भी परवा नहीं करते। असत्य व्यवहार, झूठ, कपट, मिथ्याचारद्वारा अधिक रुपया लूटनेकी पाशविक इच्छा हमें मानवके दिव्य गुणोंका संग्रह नहीं करने देती। हम अपने परिचित बन्धुतकको ठगकर किसी प्रकार धनसम्पन्न हो जाना चाहते हैं। रिश्वत, खाद्य पदार्थोंमें मिलावट, कपट और धोखेबाजी तभी दूर की जा सकती है, जब अर्थशौचकी भावना हमारे मन और सामाजिक आचार-व्यवहारमें रहे। पापकी कमाईके प्रति हम घृणा करें। जिसपर हमारा श्रम या शक्ति नहीं लगी है, ऐसी कमाईको हम स्पर्शतक न करें। यदि कोई इस प्रकारकी कोई वस्तु या रुपया हमें दे भी तो हमें उसका विरोध करना ही उचित है। जितना हम ईमानदारीसे कमायें, उसीमें हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहें—यही हमारा प्रयत्न होना चाहिये। अर्थशौचके नियमके पालनसे ही हमारे मनुष्यत्वकी रक्षा हो सकती है। उसके अभावमें तो हम पिशाच ही बन सकते हैं, मनुष्य नहीं।

श्रीराम-चरणानुराग

चित जब राम चरन अनुरागै॥
तरुनि तनय तन धनमय मायिक जगत स्वप्न तें जागै।
गरुड़ ग्यान हित मान त्यागि नित मानत गुरु करि कागै॥
भक्ति विवेक विकास होत हियँ, विषय वासना भागै।
विषय विषम विष वलित लता मैं अमल अमिय फल लागै॥

निराशा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

अभी कुछ दिन हुए, समाचार-पत्रोंमें एक ऐसे महान् व्यक्तिके निधनका समाचार छपा था, जो अपनी मृत्युके ढाई मास पूर्व एक उच्च पदके लिये बहुत ही उत्सुक थे। जिस समय वे इधर-उधरका सब कुछ परिश्रम कर रहे होंगे, मृत्यु उनके पीछे खडी मुस्करा रही होगी। उस सवादको पढ़ते समय मुझे महापुरुष टाल्सटाय-की एक कहानी याद आ गयी। एक बड़े धनी तथा उच्च पदवाले पुरुषको बड़े परिश्रमसे एक दुर्लभ जानवर-की मखमल-जैसी मुलायम खाल मिल गयी। वे उसे लेकर अपने नगरके सबसे बड़े मोचीके यहाँ पहुँचे और उसे आदेश दिया कि उनके पैरका बहुत बढ़िया जूता बनाये। चलते समय चेतावनीके रूपमें वे कहते गये—

'ध्यान रखना, यदि चमडा खराब हुआ तो तुम्हारी खाल उधेड़ दी जायगी।' भयभीत मोचीने बडी सावधानी-से काम प्रारम्भ किया। अपने सबसे चतुर सहायकसे उसने चमडा काटनेके लिये कहा। उस सहायकके हाथ अनायास पूरा जूता काटनेके बदले स्नानके समय उपयोग करनेयोग चप्पल यानी स्लिपर काट बैठे। मोची यह देखकर घबरा गया और मारे डरके काँपने लगा। इतनेमें ही उस रईसके घरसे एक नौकर भागता हुआ आया। उसने कहा कि 'उसके मालिक अभी जूता बनानेका आदेश दे गये हैं। पर वे घर जाते ही हृदयकी गति बद हो जानेके कारण ससारसे विदा हो गये हैं। चूँकि यह चमड़ा उन्हें बहुत प्यारा था, अतएव उसका चप्पल या स्लिपर बना दिया जाय, ताकि उसे पहनाकर उन्हें कब्रमें दफनाया जायगा।'

ठीक यही परिस्थिति हमारी है। हम सोचते बहुत कुछ हैं; पर होता वही है, जो विधिका विधान होता है—जो नियति कराती है। मनुष्य तो यन्त्रपर बैठा मायाका चक्कर खा रहा है—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

भगवान् रामने भी स्वीकार कर लिया कि—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
मच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

'जो सोचता हूँ, वह मुझसे उतना ही दूर चला जाता है। जो कल्पना भी नहीं की थी, वह होकर रहता है। सोचा था कि सवेरे चक्रवर्ती नरेश बनूँगा; पर तपस्वी बनकर जगल जा रहा हूँ।'

इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य कर्तव्य ही क्यों करे, जो होना होगा, वह होकर रहेगा। पर यह तो उलटा सोचना हुआ। उपदेश तो यह है कि परिणाम-की, आगेकी, फलकी सोचे ही क्यों? केवल अपने कर्तव्यका पालन करता चले। यदि हम इतना ही करें तो जीवनकी सबसे कलुषित वस्तु हमें न प्राप्त होगी—निराशा। संसारमें निराशासे बढ़कर भयकर तथा वेदनामय और कोई वस्तु नहीं है। यदि हम आशा नहीं करेंगे तो निराशा कहाँसे होगी। आशासे ही निराशाका जन्म होता है। इसीलिये अष्टावक्रने अपनी गीतामें कहा है—

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।

'जो आशाका दास हुआ, वह ससारका दास बन जाता है।' किंतु आज ससारमें जो कुछ विपत्ति है, वह केवल इसलिये कि—

यास-उम्मीद के दोराहे पर, सर झुकाये खड़े हैं दीवाने।

आशा-निराशाके दोराहेपर हम सर झुकाये, बेबस खड़े हैं। यदि हमको निराशाका भय न हो, उसकी चिन्ता न हो,यदि हमको केवल इतना संतोष होना आवश्यक हो कि हम अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं, शेष भगवान्के हाथमें है, तो हमको कहीं भी सिर झुकानेकी आवश्यकता नहीं है। हमको सीना तानकर, छाती फुलाकर चलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा।

दैव-भय

प्रश्न हो सकता है कि यदि मनुष्यको आशा-निराशाका बन्धन न रहे तो वह भगवान्से भी नहीं डरेगा। पहली बात तो यह कि भगवान् डरनेकी वस्तु नहीं हैं। डरनेके लिये हैं भी नहीं। यदि हम परम पिताको करुणाका सागर, उदारताका स्रोत तथा जीवन-का रक्षक समझते हैं, तो उनसे भय करनेका कोई कारण नहीं हो सकता। अपने पितासे पुत्र तभी डरता है, जब उससे कोई भूल होती है, पाप होता है। यदि हम शास्त्रमें विहित कर्तव्योंपर चलते रहें तो भगवान्के सामने, उनके यहाँ जानेमें यह सुख, यह संतोष, यह निर्भयता रहेगी कि हमने कोई भूल नहीं की, पाप नहीं किया। रही फल-कुफलकी बात। कर्तव्यका पालन सचाईसे हो और फिर भी कुफल हो, यह हो नहीं सकता। प्रत्यक्षमें हमको जो फल दिखायी देता है, वह वास्तविक फल नहीं है। यदि व्रत या तपस्यासे दुर्बलता, दुर्बलतासे रोग, रोगसे मृत्यु हो जाय तो क्या व्रत तथा तपस्या ही दोषपूर्ण होगी? पहले तो प्रत्येक पूजा या उपासना या कर्तव्यके पालनमें—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

शरीरका ध्यान रखना होगा, वही सब धर्मोंका साधन है। फिर इसे ध्यानमें रखकर किये गये व्रतोपवाससे यदि मृत्यु होती है तो बुराई क्या है? मृत्युका हर एकके जीवनमें एक ही दिन निश्चित है। यदि मन तथा शरीरकी शुद्धिके साथ वह भी आ गयी तो परलोक ही बना।

तीन बन्धन

मानव-जीवनके तीन बन्धन हैं। वह इन बन्धनोंको पहचानता नहीं, केवल अपने छोटे-से जीवनमें पद, महत्त्व, धन आदिके पीछे भागता रहता है। वह भूल जाता है कि सब कुछका परिणाम है मृत्यु—जीवनका अन्त है मृत्यु। अतएव इस जीवनमें जो कुछ कमाया जाता है, प्राप्त किया जाता है,वह यहीं पड़ा रह जायगा और मनुष्यके पास रहेगा क्या कुछ नहीं।

तीन बन्धन हैं—अविद्या, काम, कर्म। अज्ञानमें हर प्रकारकी वासना लगी रहती है। उससे कर्मके लिये प्रेरित होकर केवल वासनाका पोषण होता है। ज्ञानकी अग्निसे ये ग्रन्थियाँ, ये बन्धन नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान हो जानेपर ज्ञानी संसारका सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मको जाननेवाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है, तब संसारका छोटा-मोटा पचड़ा नीरस और मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है।

इस जीवनमें हमको बहुत कुछ करना है। जब शरीर पाया है, तब उसका धर्म भी निभाना पड़ेगा। मनुष्यका चोला मिला है तो मानवधर्मसे विमुख होना अपने चोलेका ही अनादर करना है। यह जीवन केवल कर्तव्यके लिये है। कर्तव्यका पालन परलोकका साधन तथा आशा-निराशाके ऊपर उठकर चलना है। तभी हम वास्तवमें जीवनका सुख प्राप्त कर सकेंगे, मनुष्य बन सकेंगे।

और, जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ?

[मत्सर, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[पृष्ठ ८७९ से आगे]

भाई किशोरलाल मश्रूवाला कहते हैं—'जीवन-शोधनमें'—

'किसीकी विशेषताको देखकर उसके प्रति आदर प्रतीत होनेके बदले ईर्ष्या उत्पन्न होना और उसकी त्रुटियाँ खोजनेकी ओर दृष्टि जाना अथवा दूसरे लोग उसके प्रति आदर प्रदर्शन करें या उसकी प्रशंसा करें तो उससे जल-भुन जाना । ऐसे व्यक्तिमें श्रेयार्थीकी योग्यता आना सम्भव नहीं ।'

× × ×

वस्तुत हम यदि अपनी उन्नति करना चाहते हैं, पास-पड़ोसियोंकी उन्नति करना चाहते हैं, समाज, देश और संसारकी उन्नति करना चाहते हैं, तो हमें मत्सरसे छुटकारा लेना ही पड़ेगा ।

कारण, मत्सरकी प्रतिक्रियाएँ बड़ी भयंकर होती हैं ।

मत्सरके कारण क्रोध मुझे आ घेरता है ।

भय मुझे सताने लगता है ।

जुगुप्सा मेरी नस-नसमें व्याप्त हो जाती है ।

शोक मुझपर हावी हो जाता है ।

सामनेवालेको देखकर जो मत्सर होता है, वह यदि तीव्र हुआ तो क्रोध आये बिना नहीं रहता ।

भले ही उस व्यक्तिने मुझे कोई हानि न पहुँचायी हो, मेरा कुछ भी न बिगाड़ा हो; फिर भी उसे देखकर मुझे लगता है कि हाय, यह तो मुझसे आगे बढ़ गया, मुझसे बाजी मार ले गया ।

धीरे-धीरे मेरा क्रोध बढ़ने लगता है । मन-ही-मन मैं उसका अनिष्ट-चिन्तन करने लगता हूँ । मैं ऐसा सोचने लगता हूँ कि इसका बुरा हो, यह अपने पदसे गिर जाय, जनताकी दृष्टिमें यह मुझसे नीचा माना जाय ।

जब कभी कोई भी मौका मिलता है, मैं उसे नीचे गिरानेका प्रयत्न करता हूँ । उसे देखते ही मेरी जबान बेकाबू हो जाती है और अटशट बकने लगती है । मैं उसपर ताने कसता हूँ, उसे गालियाँ देता हूँ । उसे देखकर मैं दाँत पीसने लगता हूँ, होठ चबाने लगता हूँ । यहींतक बस नहीं । वातावरण यदि उत्तेजक हो जाता है और वह भी मेरे ढेलेका जवाब पत्थरसे देनेपर उतारू हो जाता है तो मेरी आँखें लाल हो उठती हैं, नथुने फड़कने लगते हैं और मैं उसपर शारीरिक आक्रमण भी कर बैठता हूँ ।

मेरा प्रतिद्वन्द्वी यदि बलमें, शक्तिमें, सामर्थ्यमें मुझसे कम बैठा, तब तो क्रोधका जाल फैलता है, अन्यथा उसके देखते ही भय मुझे अभिभूत कर लेता है । शक्तिशाली कुत्तेको देखकर जिस प्रकार दुबला-पतला कुत्ता अपनी पूँछ सिकोड़कर रह जाता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी दुम दबाकर भाग जाता हूँ । मेरी इच्छा होती है कि वह मेरे सामने न पड़े । सड़कपर यदि मैं कहीं उसे देख लेता हूँ तो कतराकर निकल जाता हूँ । उससे भागनेकी, उससे मुँह छिपानेकी भावना मुझमें आ जाती है ।

भयका यह भाव बढ़नेपर अपने प्रतिद्वन्द्वीको देखते ही मेरा शरीर काँपने लगता है, मेरा चेहरा फीका पड़ जाता है, मुझे रोमाञ्च हो उठता है । यहाँतक कि वह यदि अचानक मेरे सामने आ पड़े तो कड़कड़ाती सर्दीके दिनोंमें भी मेरे माथेपर पसीना आ जाता है ।

मेरा प्रतिद्वन्द्वी मेरे लिये जुगुप्साका पात्र बन जाता है। उसे देखकर मैं अपना मुँह फेर लेता हूँ, आँखें मूँद लेता हूँ, नाकपर रूमाल रख लेता हूँ, कानपर हाथ धर लेता हूँ और यहाँतक नहीं, मैं उसे देखकर थूकने लगता हूँ।

अपनी विवशता देखकर शोक भी मुझपर हावी हो जाता है। प्रतिद्वन्द्वीको देखकर मैं ठडी साँसें भरने लगता हूँ। हाय ! हाय ! मेरे दुःखका पार नहीं है।

साँई घोड़नके अछत गदहन पायो राज।

इस भावनाके उद्रेकमें मैं छाती भी पीटने लगता हूँ और रोने भी !

× × ×

सोचनेकी बात है कि मत्सरके बहाने इस सारी फजीहतको निमन्त्रण देनेकी क्या जरूरत है ? इसके फेरमें पडकर इस तरह क्रुद्ध होने, दुखी होने, जलने, मुँह बिचकाने और रोने-धोनेकी क्या आवश्यकता है ?

× × ×

आप शायद कहें कि ठीक है, हम इस मुसीबतमें नहीं पड़ना चाहते; क्रोध, घृणा, जुगुप्सा, शोक आदिको बुलाकर अपनी शान्ति और प्रसन्नतामें बाधा नहीं डालना चाहते; पर करें क्या, मत्सरकी भावनाएँ घूम-फिरकर हमें घेर ही लेती हैं और हम उनके चक्करमें फँसकर जलने लगते हैं—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

× × ×

बात तो सही है, पर काँटा काँटेसे ही निकलता है। जिन कारणोंसे मत्सरकी भावनाएँ पैदा होती हैं, उन कारणोंको हम दूर कर दें तो बस है। फिर इस आगमें जलने-भुननेका प्रश्न ही नहीं उठेगा।

× × ×

हमें सोचना है कि यह मत्सर होता क्यों है ?

इसीलिये न कि हम अपनेको दूसरोंसे छोटा मानते हैं ?

इसीलिये न कि हमारा हृदय सकीर्ण है ?

इसीलिये न कि हम कामनाओंके दास हैं ?

अर्थात्

मत्सरका कारण है—

(१) हीनताकी भावना,

(२) हृदयकी सकीर्णता और

(३) कामनाओंकी दासता।

× × ×

मत्सर हृदयके भीतर छिपा रहता है तो मनुष्य भीतर-ही-भीतर घुला करता है। मत्सर बाहर आता है तो सबसे पहला उसका रूप होता है—परायी आलोचना और परनिन्दा।

उसके बाद उसकी ट्रेनमें आ बैठते हैं—क्रोध, भय, जुगुप्सा, शोक, हिंसा, द्वेष आदि अनेक विकार।

ये सब व्याधियाँ मानवको सत्रस्त करती हैं, दुखी करती हैं और जला-जलाकर भस्म कर देती हैं।

नतीजा ?

यही कि मानवका आत्मोन्नति करना तो हो जाता है समाप्त और उसका 'प्रोग्राम' बन जाता है—दूसरोंको गिराना, दूसरोंकी उन्नतिमें, दूसरोंके उत्कर्षमें रोड़े अटकाना और रात-दिन दूसरोंका अनिष्ट-चिन्तन करना।

आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

× × ×

सर्वश्रेष्ठ दान

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'प्रभु ! आज इस दीनका गृह श्रीचरणोंसे पवित्र हो !' वैशालीके दण्डनायक करबद्ध हो तथागतके सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ उपवनके बाहर ही छोड़ दिया था। बड़ी श्रद्धासे प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होनेपर वे खड़े हो गये थे और जब भगवान् बुद्धने उनकी ओर दृष्टि उठायी, उनका कण्ठ गद्गद हो उठा। 'भिक्षुसङ्घका स्वागत करनेका सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है।' पता नहीं क्या बात हुई, दण्डनायकके मुखपर दृष्टि पड़ते ही तथागतके विशाल नेत्रोंमें एक अद्भुत तेज आ गया। केवल चिरजीव आनन्दने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागतका स्वर गम्भीर था। 'तुम दान करो ! प्रथम-प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' उपस्थित गणनायकों तथा सम्मान्य नागरिकोंने एक दूसरेकी ओर देखा। भिक्षुवर्गमे भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ एक साथ उठीं दण्डनायककी ओर। उनमें घृणा, तिरस्कार, अवहेलनाके भाव थे—'यह कृपण है!'

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गये। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गयी। उनका शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा—'वैशालीका प्रचण्डपराक्रम, उग्र-तेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा। कुछ बखेडा उठेगा!' कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार। दो क्षण पश्चात् दण्डनायकका अत्यन्त हताश स्वर सुन पडा—'जैसी प्रभुकी आज्ञा!' उनका मस्तक और झुक गया। वे शीघ्रतासे मुड़े और उपवनके बाहर हो चले।

'प्रभु ! वह रो पड़ा।' चिरजीव आनन्द प्रभुके पृष्ठभागमें खड़े थे। उनकी दृष्टिके ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अत. दण्डनायकके नेत्रोंमे जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करनेपर भी बिन्दु झलमला उठे थे, आनन्दसे वे छिपे नहीं थे। अब उन उदारका हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभुसे प्रार्थना कर रहे थे—'आपकी अस्वीकृतिने उसे वेदनासे झकझोर दिया है। प्रभु प्रातः उसपर कृपा कर सकते हैं।'

एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसोंका प्रबन्ध करने लगें—इसे वे उनके त्यागव्रतसे च्युत हो जाना मानते हैं। यह सब जानते हुए आनन्दने प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि प्रभु कोई ऐसा उत्तर दे दें, जिससे उस दुखी गृहस्थको आश्वासन प्राप्त हो जाय। 'यह तो निश्चित है कि दण्डनायक आज विपुल दान करेगा। कल वह कृपण कहने योग्य रहे, यह शक्य नहीं है।'

'उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया!' प्रभुके नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूरसे कुछ कह रहे हों—'उसके आगतको न जानकर तुम दुखी हो रहे हो।'

'कुछ होनेवाला है—इस सद्गृहस्थके साथ कुछ अद्भुत होनेवाला है।' आनन्द अब शान्त हो गये, क्योंकि वे जानते थे कि भविष्यका स्पष्टीकरण तथागत-का स्वभाव नहीं है, वे उसका सकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

'वैशालीका प्रचण्ड दण्डनायक—सम्मानित गण-श्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगरमें जिस ओरसे निकल जाय, महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनोंसे उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायकका अपमान! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों और भिक्षुओंसे भरी सभामे उसका अपमान! गौतमके शत्रु इससे संतुष्ट हो सकते थे। उन्होंने दण्डनायकके सैनिकोंके प्रधानको उभाडनेका अवसर पा लिया था।

'प्रभु!' साथके सैनिक स्वतः उत्तेजित थे। दण्डनायकके लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया। उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे, मुख अरुण हो उठा था—'भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है।'

'भद्रसेन! तुम भगवान्‌को अपशब्द कहनेकी धृष्टता कर रहे हो!' दण्डनायकने दृष्टि कठोर कर ली। 'केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है!'

'आपका अपमान किया उस''' ''।'

'चुप रहो!' झिड़क दिया दण्डनायकने। 'शूरको कुछ समझदार भी होना चाहिये। मैं अपनी बात स्वय समझ सकता हूँ।'

भद्रसेन भकुआ बन गया। सैनिक मुँह बाये खड़े देखते रहे। गौतमके शत्रुओंको कोई समय ही नहीं मिला। दण्डनायक चुपचाप अपने रथपर आ बैठे। उनके मुखपर क्रोध नहीं, अपार उदासी छायी थी। वे किसी प्रकार अपने अश्रु रोके हुए थे।

× × ×

'भद्रे! कृपणकी भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' अपने भव्य भवनमे पहुँचते ही फूट पड़े दण्डनायक। 'हम कृपण हैं! हमारा यह ऐश्वर्य कलुषित है। प्रभुके स्वागतके योग्य नहीं है यह। फेंक दो! लुटा दो इसे!'

'प्रभुने हमारा आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया!' वह भावमयी महिला भी सुनते ही सूख गयी। कितने उत्साह-से वह पूरे सप्ताहसे लगी थी तथागतके स्वागतकी प्रस्तुतिमें। क्षण-क्षण उसके नेत्र द्वारकी ओर जा रहे थे और उसे यह क्या सुनना पडा? उसके शरीरमें तो जैसे रक्त ही नहीं रह गया। फटी-फटी आँखोंसे देखती रह गयी अपने स्वामीकी ओर—'प्रभु नहीं पधारेंगे!'

'पधारना तो पड़ेगा उन्हें!' दण्डनायकका नैसर्गिक ओज उनकी निराशामें भी मरा नहीं था। अब वह जाग पडा—'भगवान् किसीको अस्वीकार कर नहीं सकते। उन्होंने कहा है—प्रथम दान करो।'

'करो दान!' उस भावमयीको कहाँ आपत्ति थी? वह तो जैसे उन्मादिनी हो उठी है—'यह सब दान कर दो!' अपने अङ्गके आभूषण उतारकर फेंकने प्रारम्भ कर दिये उसने। तथागत दान किये बिना उसके आँगनमें नहीं आना चाहते तो वह दान करेगी, अपना सर्वस्व दान कर देगी।

'तुम ठीक कहती हो!' दण्डनायकने बाधा नहीं दी पत्नीके पागलपनमें। उन्होंने भी मानो दानके स्वरूपकी प्रेरणा प्राप्त की पत्नीसे। 'प्रभुने प्रथम कोटि-का दान करनेका आदेश दिया है। यह सब दान कर ही देना है।'

सेवक क्या कर सकते थे। उन्हें तो स्वामीका आदेश स्वीकार करना था। दो दण्ड भी नहीं बीते जब उपवनमें तथागतने एक भिक्षुसे सुना—'दण्डनायक अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। उन्होंने नगरमें घोषणा करा दी है और उनकी अपार सम्पत्ति अब राजपथपर सेवक उनके सौधसे फेंक रहे हैं।'

'आनन्द कहता है कि कल मुझे उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिये!' प्रभुके अधरोंपर स्मित आया।

चिरंजीव आनन्द चौंके। 'कल भी प्रभु उसका आग्रह स्वीकार करनेकी बात तो नहीं कह रहे हैं।'

'भिक्षुको कलके प्रबन्धकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये!' तथागतके स्वरमें उलाहना नहीं, स्नेह था।

'कल वह और प्रतीक्षा करे, इसमे कोई हानि नहीं दीखती ।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते ।' आनन्द अपने मनमें ही सोच रहे थे । 'कल उस सद्गृहस्थके आनेपर प्रभु यह बात कह कैसे सकते हैं । अब उसे कल निराश करनेका कौन-सा मार्ग हो सकता है ।'

वह कल बहुत दूर तो था नहीं । रात्रि व्यतीत हुई और कल आज बनकर आ गया । प्रात.कालीन प्रवचन पूर्ण होनेपर सबने देखा कि कलकी भाँति आज भी दण्डनायक करबद्ध सम्मुख खड़े हैं ।

'भन्ते ! बुद्ध कृपणकी भिक्षा स्वीकार नहीं करते । पहले भी किसी बुद्धने ऐसा नहीं किया है ।' आज भगवान्‌ने दण्डनायकको प्रार्थना करनेका भी अवकाश नहीं दिया—'तुम दान करो प्रथम । प्रथम कोटिका दान तुम्हीं कर सकते हो ।'

'जैसी प्रभुकी आज्ञा !' बुद्धकी वाणीने उपस्थित समुदायको उतना चकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायककी शान्त स्वीकृतिने । दण्डनायकने अपने सर्वस्वदानकी चर्चातक नहीं की । उन्होंने तो कलकी भाँति ही मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथकी ओर ।

चिरजीव आनन्द आज भी प्रभुके पृष्ठप्रान्तमे थे । आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक । आज उनकी दृष्टि बडी सावधानीसे दण्डनायकके मुखपर स्थिर थी । आज इस सद्गृहस्थके नेत्रोंमे अश्रु नहीं झलमलाये । आज इसके मुखपर अद्भुत गाम्भीर्य आया ।

गणनायक, सम्मान्य नागरिक, श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुगण—आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक दण्डनायककी ओर नहीं देख सका । आज सबके नेत्र प्रभुकी ओर उठ गये । 'प्रभु इन्हें कृपण क्यों कहते हैं ? क्या रहस्य है तथागतके इस अद्भुत व्यवहारका ? वैशालीके दण्डनायकसे और किस दानकी इन्हें आशा है ?'

तथागतने प्रात कालीन प्रवचन समाप्त कर दिया था । वे आसनसे उठ चुके थे । अब तो उनसे कल कोई जिज्ञासा की जा सकती है ।

× × ×

'प्रभु आ रहे हैं ?' कितने उल्लाससे गृहस्वामिनी स्वय दौडी आयी थी द्वारतक ।

'भद्रे ! हमने अभी प्रथम कोटिका दान नहीं किया है ।' दण्डनायक आज क्षुब्ध नहीं थे । उनका स्वर शान्त-गम्भीर लगता था—'मुझे लगता है कि प्रभुकी प्रीति मैं पा गया हूँ । वे हमारी परीक्षा नहीं ले रहे हैं, हमें कोई परमपुनीत पथ प्रदान करना चाहते है, किंतु हमारा निमन्त्रण आज भी स्वीकृत नहीं हुआ है ।'

'प्रभु नहीं पधारेंगे ?' वह भावुक महिला विह्वल हो गयी ।

'वे अवश्य पधारेंगे !' दृढ श्रद्धा थी दण्डनायकमे । 'तुम पगली मत बनो ! प्रथम हमे प्रथम कोटिका दान करना है ।'

'क्या रहा है अपने पास अब ?' उस महान् महिलाने कहा—'यह सदन और मेरे ये वस्त्र—यही बाधा बने होंगे । इन्हें शीघ्र दे डालो । मैं जीर्ण वस्त्र पहन लेती हूँ । हमारा काम एक तृण-कुटीरमे चल जायगा । सेवकोंको विदा कर दो ।'

'कल यह भी पर्याप्त नहीं सिद्ध होगा !' दण्डनायकने पत्नीको चौंका दिया ।

'क्या ?'

'हमने केवल अबतकका सग्रह दिया है । दण्डनायक कह रहे थे । 'मेरी आय पर्याप्त अधिक है । आगेकी आयकी व्यवस्था कहाँ की हमने ।'

'उसे हम दे डाला करेंगे दीनोंको !' पत्नीको कोई सकोच नहीं था। 'प्रभु स्वीकार करें तो उसे भिक्षुसङ्घको अर्पित कर दो।'

'प्रभुने मुझे कहा है—तुम्हीं प्रथम कोटिका दान कर सकते हो।' दण्डनायक इस बार स्पष्ट हुए। 'इसमें तुम्हें कुछ सदेश नहीं सुन पडता ? मैं अपनी आगेकी समस्त आय अध्ययनशील विद्यार्थियोंके निर्वाहके लिये अर्पित कर रहा हूँ। मैं उनके लिये ही उपार्जन करूँगा। गृहका निर्वाह अब तुम कैसे करोगी, तुम सोचो।'

'विद्यादान प्रथम कोटिका दान है।' वह महिला प्रफुल्ल हो उठी। उसे विश्वास हो गया, प्रभु अवश्य कल उसके यहाँ पधारेंगे। 'मेरी बात मत सोचो। हमारा काम उटजमें चल जायगा। मुझे वस्त्र सीना आता है और वह हमारे निर्वाहको पर्याप्त है।'

× × ×

'भन्ते ! तुम्हारा निमन्त्रण बुद्धको स्वीकार है।' प्रात कालीन प्रवचन पूर्ण करके प्रभुने सम्मुख करबद्ध खड़े दण्डनायककी ओर देखा और उनके निमन्त्रण देनेकी प्रतीक्षा किये बिना ही बोले—'जबतक तुम चाहो, तबतकके लिये स्वीकार है, किंतु प्रथम कोटिका दान किया नहीं तुमने।'

'प्रभु !' दण्डनायकका कण्ठ भर आया था। वे बोलनेमें समर्थ नहीं थे। तथागतकी यह महती कृपा ! एक दिनसे अधिकका निमन्त्रण एक साथ तो उन्होंने महाराज शुद्धोदनका भी स्वीकार नहीं किया था।

'प्राणियोंको अभय कर देना—अपने महान्-से-महान् अपराधीको क्षमा।' तथागतने समझाया। 'दण्डका सर्वथा त्याग—यही सर्वश्रेष्ठ दान है। समस्त जीवोंको अभय दे देनेके समान कोई दान नहीं।'

'प्रभुको कोई और श्रद्धालु निमन्त्रित करेंगे !' दण्डनायकने एक बार फिर चौंका दिया सबको। उन्होंने अब तथागतके चरण आगे बढकर पकड लिये। 'मुझे तो अब इनमे स्थान देनेकी कृपा करें।'

तथागतने उस दिन आग्रह करके निमन्त्रण लिया। वे पधारे भिक्षु-सङ्घके साथ दण्डनायकके भवनमे, किंतु उसी दिन सायकाल भिक्षुसङ्घमे एक भिक्षु भी बढ गया। वे दण्डनायक थे और उनकी सहधर्मिणी भिक्षुणियोंके आवासमे उपस्थित हो चुकी थी सदाके लिये।

प्रेमकी प्रभुता

गहन गुहा तें भालु दुहिता विवाहि लायौ,
ताकौ अरुझायौ मन रोम की लतान मैं।
सिन्धु मैं सिधारि मारि संखासुर लीन्हौ संख,
नाग जमुना मैं नाथि आयौ निज थान मैं॥
त्रिवली तरंग नाभि भौंर भ्रम्यौ ताकौ मन,
काहू के न आई प्रेम प्रभुता प्रमान मैं।
चंचरीक चतुर उदार दारु दारिबे मैं,
कुंठित कुठार होत कञ्ज कलिकान मैं॥

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[गताङ्कसे आगे]

६७—अपनी धुनमें

'कनूँ! कहाँ जा रहा है तू?' यह श्याम बहुत चपल है। इसे यदि दाऊ सम्हालता न रहे तो पता नहीं क्या कब करे यह। अब स्नान करके भीगे वस्त्रों ही वनमें भागा जा रहा है। ऐसी क्या शीघ्रता है? गायें तो सब यहीं हैं और सखा भी यहीं हैं। कोई विचित्र घटना भी नहीं हुई। किंतु श्यामके लिये विचित्र घटना या अद्भुत वस्तुओंकी क्या कमी है। इसने कोई पक्षी, कोई पशु, कोई पुष्प देख लिया और दौड़ पड़ा।

'लौट आ। पहले वस्त्र पहिन ले।' दाऊ पुकार रहा है। वह न पुकारे तो उसका छोटा भाई कितनी देरमें लौटेगा, इसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं।

'दादा! मैं आया अभी।' गीली अलकोंसे बूँदें झर रही हैं। शरीर अभी पोंछातक गया नहीं है। दौड़ते-दौड़ते ही पीछे मुख घुमाकर मोहनने हाथ उठाकर हँसते हुए कहा और फिर आगे दौड़ गया।

'इसे पुष्प लेनेकी इतनी शीघ्रता है।' दाऊ अपनी गीली कछनी बदल रहा है। वस्त्र बदलकर छोटे भाईके वस्त्र लेकर उसके पास ही दौड़ जाना चाहता है। कृष्णको देरतक भीगे वस्त्रोंमें नहीं रहने दिया जा सकता। दाऊको अपने वस्त्र बदलनेमें शीघ्रता करनी है।

गायें जल पीकर तटके निकट ही हरी-हरी घास चरनेमे लगी हैं। वे दूरतक फैलकर चर रही हैं। गोपकुमारोंने स्नान किया है कालिन्दीमें। अब वे वस्त्र बदलने, गीले वस्त्र धोने या सुखाने तथा अपने लकुट, शृङ्ग, छीके आदि सम्हालनेमें लगे हैं।

'तू वस्त्र बदल पहले।' श्यामसुन्दर दौड़ा-दौड़ा आया है वनसे लौटकर। वह कदम्बके कई बड़े-बड़े सुन्दर पुष्प, यूथिकाके पुष्पगुच्छ और कनेरके लाल-लाल फूल ले आया है। दाऊ चाहता है कि वह अपना आगेका कार्यक्रम थोड़ी देर स्थगित रखे और वस्त्र बदल ले।

'मैं अभी वस्त्र बदलता हूँ, तू तनिक खड़ा रह।' कन्हाई अपनी धुनमें है। वह सदा अपनी ही धुनमें रहता है। इस समय उसे बड़े भाईका शृङ्गार करनेकी धुन है और बिना उसे पूरा किये उसे कछनी बदलनेको प्रस्तुत कर लेना सरल नहीं है।

गीला पीतपट कटिसे चरणोंतक चिपका हुआ है। इन्दीवर सुन्दर श्रीअङ्गकी छटा उससे झाँक रही है। भीगा हुआ है पूरा अङ्ग। अलकोंसे बिन्दु गिर रहे हैं और भाल, कपोल, कधे, वक्षपरसे अभी जल फिसल रहा है। घनश्याम हाथोंमें पुष्प लिये अपने बड़े भाईके सम्मुख खड़ा है और उसकी किंचित् आर्द्र अलकोंमें उन्हें बड़े यत्नसे सजा रहा है।

'हो गया। ले, पहिन तू इसे।' दाऊके हाथोंमें कन्हाईका पीतपट है और उसे शीघ्रता है।

'तू तनिक रुक जा। हिल मत।' कन्हाई अपनी धुनमे है। उसे जल्दी करनेका कोई कारण ही नहीं दीखता।

६८—मनुहार

'दादा, तू आज उदास क्यों है?' श्यामसुन्दर आया और बड़े भाईका हाथ अपने हाथमे लेकर पास बैठ गया है। 'तू खेलता तो है नहीं।'

'कनूँ, तू खेल। मेरा जी खेलनेको नहीं होता।' आज दाऊ गुमसुम बैठा है। पता नहीं, किसकी व्यथाने इसे क्षुब्ध किया है आज।

'मैं नाचूँ? देखेगा तू?' मोहन देखता है कि आज हठ करनेसे कोई लाभ नहीं। कहनेसे दाऊ खेलने भी लगे तो ऐसे बेमनके खेलमें भला, क्या आनन्द आना है।

'हाँ, तू नाच।' दाऊने छोटे भाईको प्रसन्न करनेके लिये कह दिया। वैसे आज उसमें जानें क्यों उत्साह नहीं है।

'नहीं, दादा! तू आ और यहाँ बैठ।' कन्हाई थोड़ी देर ठुमुक-ठुमुक नाचता रहा। हाथ मटकाकर थिरकता रहा। किंतु दादा आज ताल नहीं देता, साथ देनेको आता नहीं और प्रशंसा भी करता है तो वह पूरे उल्लाससे पूर्ण कहाँ है? ऐसे नृत्यसे क्या लाभ। नाचना बद करके कृष्णचन्द्र आ गया बड़े भाईके पास और हाथ पकड़कर उठाने लगा। एक कदम्बकी नीचे झुकी डालपर वह दाऊको बैठनेको कह रहा है।

कदम्बकी मोटी शाखा झुक आयी है भूमिसे दो हाथ ऊपरतक और उसका अगला भाग फैलकर ऊपर उठ गया है। कुछ पाटल आभा लिये अत्यन्त सुन्दर पुष्पोंसे लदा है यह राज कदम्ब। अपने अनुजके आग्रहसे दाऊ दोनों हाथों-से शाखाको पकड़कर उचककर बैठ गया उसपर।

दोनों चरण नीचे लटकाये नीलाम्बरधारी दाऊ कदम्ब-की शाखापर बैठा है और उसकी दाहिनी ओर शाखासे पीठ टिकाकर, बड़े भाईकी जानुका सहारा लिये भूमिपर यह मयूरमुकुटी, पीतवसन, वनमाली श्यामसुन्दर ललित त्रिभङ्गीसे खड़ा हो गया है। फेंटमेंसे मुरली निकालकर अधरोंपर धर ली है इसने और देख रहा है बंकिम दृगोंसे बड़े भाईकी ओर।

मुरली तो प्रतिदिन बजती है, अनेक बार बजती है, किंतु आजका मुरलीका स्वर' । आज बंशीमें आलाप नहीं है और न तान है। आज तो स्वरोंकी थिरकन है, मूर्छनाओंकी परस्पर ठेल मठेल है। आज बाँसुरीके संगीतमें नृत्य है।

झूम रहे हैं तरु, झुकी पड़ती हैं लतिकाएँ, पत्ता-पत्ता फड़क रहा है। गौएँ हुंकार कर रही हैं, बछड़े कूद रहे हैं, वनपशु उछल रहे हैं। मोहनके मस्तकका मयूरपिच्छ झुक-झुक पड़ता है दाऊकी ओर और नेत्र बार-बार तिरछे हो उठते हैं। बड़े भाईकी आज मोहन मनुहार कर रहा है और दाऊ ?

दाऊके भावमुग्ध दृग अपने अनुजके मुखपर स्थिर हो गये हैं। भूल गया है वह अपने आपको भी।

६९—लहालोट

धुम्! यह श्यामसुन्दर बहुत नटखट है। दबे पैर इस प्रकार आया है, जैसे बिल्ली कभी-कभी आखेट देखकर सावधानीसे चलती है। और आते ही सहसा विचित्र स्वरमें चिल्ला पड़ता है।

दाऊ आज नीमकी शीतल छायामें बैठकर वन-श्री देखनेमें लगा था। गायें चर रही हैं, बालक उछल-कूद करके थक गये हैं और अब शृङ्गारके लिये कुसुम, किसलय, गुञ्जादि चयन करनेमें लगकर वनमें बिखर गये हैं। मोहन दीखता नहीं, तो वह भी मयूरपिच्छ या पुष्पस्तवक लेने गया होगा। दाऊ शिलापर शान्त बैठा है, बायें पैरकी पालथी मारे और खड़े दाहिने घुटनेको दोनों भुजाओंमें पकड़े। मौलिश्रीके सुमन झर रहे हैं उसपर। उसकी अलकोंमें वे नन्हे पुष्प उलझ गये हैं।

'हूँ!' वृन्दावनमें तो ऐसा शब्द करनेवाला कोई पशु-पक्षी अबतक देखा नहीं गया। शब्द न सिंह-जैसा है न उलूक-जैसा। उलूककी 'घू-घूकी गूँज और सिंहकी दहाड़' दोनोंका जैसे मेल हो गया हो। इतना विचित्र शब्द और पीठके पीछे इतने निकट ? दाऊ एकदम चौंककर मुख घुमाकर देखने लगा।

दोनों हाथ पजेके समान आगे किये, शरीर झुकाये, अपना सुन्दर मुख खोले श्यामकी यह अद्भुत छटा—दाऊ खुलकर हँस पड़ा। यह तो कन्नू है उसका। 'अरे!' इतना ही कहा उसने और हाथ बढाया पकड़नेको।

'दादा डर गया!' कृष्णका हास्य अब रोके नहीं रुकता। वह खिलखिलाकर हँस रहा है, हिल रहा है, सिर झकझोर रहा है और साथ आये बालकोंमेंसे कभी एकको और कभी दूसरेको दोनों भुजाओंसे पकड़कर झुका पड़ता है।

'दादा डर गया!' मोहन हँसीसे लहालोट हो रहा है। उसका मुख अरुण हो रहा है। उसके विशाल नेत्रोंमें अश्रु भर आये हैं और अलकें मुखके चारों ओर अस्त-व्यस्त हो रही हैं।

'दादा, तू डर गया न ?' अपने बड़े भाईके गलेमें दोनों भुजाएँ डालकर अब यह उसकी गोदमें ही हँसीसे लोटपोट हो रहा है।

कन्हाई इतना प्रसन्न हो रहा है तो दाऊको क्या पड़ी कि प्रतिवाद करे—'मैं डरा नहीं।'

७०—सेवा

'दादा, तू सुबलकी गोदमें सिर रखकर सो जा।' कन्हाईको जब जो धुन चढ गयी, सो चढ गयी। अपनी धुन तो वह पूरी ही करेगा। अपने बड़े भाईका हाथ पकड़कर वह खींचने लगा है। स्वयं अपने हाथों इस तमालके नीचे किसलय तथा कुसुमदल बिछाकर शय्या बनायी है बड़े श्रमसे इसने। अब उस श्रमको सफल भी तो होना चाहिये।

'क्यों ?' दाऊने पूछ लिया।

'तू थक गया है। देख, मैंने तेरे लिये कितनी सुन्दर शय्या बनायी है।' कितना बढिया तर्क है! श्यामने शय्या बनायी है, इसलिये दाऊ थक गया है।

'मैं थक गया हूँ ?' दाऊ मुसकराया।

'हाँ, हाँ, तू थक गया है। भद्रसे पूछ देख।' जो थका है, उसे स्वयं पता नहीं है। उसे अब भद्रसे सुबलसे, तोकसे या और किसीसे पूछ लेना चाहिये कि वह थका है या नहीं। किंतु इतनी खटपट क्यों की जाय ? कन्हाई कहता है, यही क्या कम प्रमाण है ?

'किंतु, कनूँ ! मैं थका नहीं हूँ।' दाऊ अब छोटे भाईको खिझा रहा है—'मुझे थकान जान नहीं पड़ती।'

'तू थक गया है, खूब थक गया है। तुझे नहीं जान पड़ता है तो क्या हुआ।' श्याम पूरे बलसे कह रहा है। 'मैंने तेरे लिये ही तो शय्या बनायी है। चल, सो जा।'

कृष्णचन्द्रने शय्या बनायी है, वह हाथ पकड़कर आग्रहपूर्वक खींच रहा है तो दाऊको थक ही जाना चाहिये। दो घड़ीसे सखाओंके साथ मोहन शय्या बनानेमें जुटा जो रहा है।

इधर उधर बिखरी सहस्रश: रंग-बिरंगी गायें। ये प्रायः सब चर चुकी हैं। मध्याह्नमें अब जल पीकर खड़ी या बैठी पागुर कर रही हैं। कभी-कभी पूँछ या कान हिला देती हैं।

गोपकुमार भी यत्र-तत्र मण्डली बनाकर बैठे हैं और कोई-कोई शिलापर या दूर्वापर लेट गये हैं।

तमालकी सघन छायामें हरित दूर्वापर आम्रकिसलय एवं दूसरे कोमल दलोंकी अच्छी मोटी शय्या है और उसपर नन्हे उज्ज्वल, पीत, नील, लाल सुमनों तथा पाटल-दलोंके अद्भुत चित्र बने हैं। सुबलकी गोदमें सिर रखकर नीलाम्बरधारी स्वर्णगौर दाऊ लेटा है उसपर। कमलपत्रोंसे कुछ गोपकुमार उसे व्यजन कर रहे हैं।

कछनी कसे कन्हाई अग्रजके चरणोंके पास बैठा है और एक चरण गोदमें रखकर धीरे-धीरे दबा रहा है। झुका है कमल मुख, झुके हैं विशाल नेत्र, झुककर चरण दबा रहा है श्याम। इस समय अग्रजकी चरण-सेवामें तन्मय है वह।

'कनूँ !' दाऊ बड़े स्नेहसे पुचकार रहा है। वह चाहता है कि कन्हाई अब विश्राम करे।

'दादा, तू सोया नहीं ? पहले तू सो जा !' श्यामके आग्रहकी रक्षाके लिये दाऊको नेत्र बंद कर ही लेने पड़ेंगे।

७१—भूख

'दादा ! मुझे भूख लगी है।' कन्हाईकी भूख उसके उदरमें नहीं रहती, पदार्थमें रहती है। जब कोई पदार्थ और उसे प्रस्तुत करनेवाला श्यामको भोजन कराना चाहता है, मोहन भूखा हो उठता है।

'मेरे छीकेमें अभी तेरे लिये भोजन बचा है।' दाऊ अपने छोटे भाईके लिये प्रायः अपने छीकेमें कुछ-न-कुछ बचा रखता है। सखाओंके साथ भोजन करते समय श्याम स्वयं तो कुछ खाता ही नहीं। यह तो दूसरोंको खिलानेमें ही रह जाता है। अब वन-भोजनके घंटेभर पीछे ही इसे भूख लग गयी तो आश्चर्यकी क्या बात है।

'मैं बासी नहीं खाऊँगा।' कन्हाईको कब क्या रुचेगा और कब क्या नहीं रुचेगा, इसका कुछ ठिकाना नहीं। इससे कौन पूछे कि घंटेभर पीछे वही भोजन बासी कैसे हो गया, जो घंटेभर पूर्व ताजा लगता था ?

'फल खायगा ? देख, मैं मीठे-मीठे फल तोड़ लाता हूँ।' एक कंधेपर हाथ रखकर यह कनूँ कितने आग्रहसे देख रहा है। सचमुच कितना भूखा है। इसका मुख सूख-सा रहा है। दाऊको सूझता ही नहीं कि क्या पाये और अपने अनुजको तुष्ट करे।

'फल तो भरे पेटपर खाये जाते हैं।' मोहनने मुख बिचका लिया।

'दूध पियेगा ? नन्दाको पुकारूँ ?' पुकारते ही नन्दा दौड़ी आयेगी और श्याम कमलपत्रका दोना लेकर उसके थनोंके नीचे बैठ जाय तो फिर नन्दाके थनोंकी धारा रोकनेसे भी रुकनेवाली नहीं है।

'माँ कहती थी कच्चा दूध नहीं पीना चाहिये।' कृष्णचन्द्रने यह प्रस्ताव भी स्वीकार नहीं किया।

'तब क्या खायगा ?' दाऊ व्याकुल हो उठा है।

'दही खाऊँगा ! तू खायगा न ?' दूरसे नूपुरों, कङ्कणोंकी झंकार आ रही है और यही है श्यामसुन्दरके भूखका रहस्य। बड़े भाईकी अनुमति चाहिये उसे और भोजनमें साथ भी।

'मुझे तो भूख नहीं है।' दाऊ हँस पड़ा।

'तब मैं भी नहीं खाऊँगा।' मुँह बनाकर श्याम बैठ गया।

'अच्छा, अच्छा ! मैं खाऊँगा। तू दही माँग ला।' कन्हाईका मुख सूख रहा है। यह भूखा है। इस समय क्या उसे रूठने दिया जा सकता है।

'माँग क्यों लाऊँगा। मेरे वनमेंसे दही बेचने जायँगी और मेरा भाग नहीं देंगी ?' पूरे उत्साहसे श्याम खड़ा हुआ और दौड़ गया।

× × ×

इधर-उधर गोपकुमार दही खानेमें लगे हैं। पत्थरपर, पत्तेपर, हाथपर सब शीघ्रतासे चाट रहे हैं। बंदरोंको तो जैसे निमन्त्रण मिल गया है और एक मुखसे फूटी दही भरी दहेंड़ी लिये यह दौड़ता आया कन्हाई। हाथ, पैर, शरीर —सब दहीसे उज्ज्वल हो रहे हैं। बड़े भाईके आगे वह फूटा दहीभरा पात्र रखकर बैठ गया है।

वे दूर खड़ी गोपकुमारियाँ—उनके वस्त्र फट गये हैं, आभूषण टूट गये हैं, शरीर और वस्त्रोंपर दही फैला पड़ा है, किंतु वे इतने मुग्ध भावसे क्या देख रही हैं? वे देख रही हैं भूख। पर वह कहाँ है, दाऊमें या श्याममें? श्याम तो बड़े भाईको इतने आग्रहसे अपने हाथों दही खिलानेमें लगा है, जैसे भूख उसे नहीं, दाऊको ही लगी है।

७२–अभियोग

'मैया! दाऊको मार तो तू!' सन्ध्याके समय गोचारणसे लौटा धूलिधूसर श्याम मैयाके पास दौड़ा आया और मैयाका एक हाथ पकड़कर दाऊकी ओर देखने लगा। दाऊ चकित-से रह गये। आज अपने छोटे भाईसे उनका कोई झगड़ा तो हुआ नहीं, फिर पहुँचते ही कनूँ यह कौन-से अभियोगकी भूमिका बना रहा है?

'तुमने अपने छोटे भाईको खिझाया है?' मैया हँसती-सी दाऊसे पूछने लगी।

'नहीं मैया!' कृष्णचन्द्र बीचमें ही बोला। 'दाऊ दादा खेलते-खेलते थक गया था। मैं कहता था कि सुबलकी गोदमें सिर रखकर तमालके नीचे सो जा, मैं तेरे पाँव दबा दूँ। यह मेरी बात कभी झटपट नहीं मानता। देख, इसके चरण कितने लाल-लाल हो गये हैं। तू इसे मार, मैया!'

'हाँ, तेरे पाँव लाल तो हो गये हैं!' मैयाको और अधिक हँसी आयी। 'तू कन्हाईकी बात क्यों नहीं मान लिया करता? अच्छा ठहर!' इधर-उधर देखा मैयाने, किंतु कहीं कोई छड़ी तो पासमें दीखती नहीं। उसने बड़ी भारी मथानी उठायी, जैसे सचमुच उसे दाऊको आज पीटना ही है और सो भी इतनी भारी मोटी मथानीसे।

श्यामने मैयाका हाथ छोड़ दिया। झपटकर दोनों भुजाएँ बड़े भाईके कण्ठमें डालकर लिपट गया। मैया यदि मथनी चलाये ही तो वह स्वयं झेल लेना चाहता है।

नीलाम्बरधारी कमललोचन श्रीबलरामके कण्ठसे लिपटा यह पीतवसन नीलसुन्दर। दोनों भाइयोंके श्रीअङ्ग गोरज-मण्डित। दाऊके भावभरे दीर्घ दृग्। मथानी उठाये अधरोंमें हँसती, क्रोधका नाट्य करती मैया यशोदा। श्यामके रतनारे नेत्र भर आये हैं। मुख घुमाकर मैयाकी ओर देख रहा है वह। उसके नेत्रोंमें उलहना, भय और पता नहीं क्या-क्या है।

'दादा! उठ। हम दोनों माँके पास चलेंगे। बड़े भाईका कण्ठ छोड़कर हाथ पकड़ा उसने। 'हम दोनों माँके बेटे रहेंगे। मैयाके बेटे नहीं रहेंगे। यह तुझे मारती है।'

मैयाकी ओर कुछ रोषपूर्वक देखते, बड़े भाईको हाथ पकड़कर खींचनेका प्रयत्न करते, कृष्णचन्द्रकी यह अपूर्व छटा!

मैया ठगी-सी रह गयी अपने पुत्रकी शोभा देखकर।

७३–मिलन

आज दाऊका जन्मनक्षत्र है। यह जन्मनक्षत्र कोई अच्छी बात नहीं। न दो-चार बरसपर आता न दो-चार महीनेपर, प्रत्येक महीने पहुँचा ही रहता है और जन्मनक्षत्र आया तो मैया वनमें नहीं जाने देगी। कन्हाई दिनभर पृथक् रहेगा। पूजा-पाठ, स्वस्तिवाचन, हवन-दान-दक्षिणा आदिमें श्याम बहुत उत्साह दिखाता है, किंतु दाऊको कोई विशेष रुचि नहीं इनमें। मैयाका भय, बाबाका सकोच, माँका आग्रह—नहीं तो वह सबको अँगूठा दिखाकर अपने छोटे भाईके साथ वनमें भाग जाय। कृष्णचन्द्र भी चाहता है कि उसका दादा अपना जन्मनक्षत्र मनाये और दाऊ आज घरमें है। वनमें नहीं जा सका वह। हवन, गोदान, पूजा-पाठ, वाद्य-गीत, बड़ा महोत्सव होता है इस दिन और आज भी हुआ है, किंतु दाऊको लगता है कि वह एक बड़े भारी जनहीन मरुभूमिमें पड़ गया है, जहाँ एक नन्हा झींगुरतक 'चीं' नहीं करता सुनायी पड़ता। सुनसान-सुनसान। सब कोलाहल, सब धूम-धड़ाका, सब भीड़-भाड़, किंतु दाऊको जैसे यह सब दीखकर भी नहीं दीखता। वह अनमना-सा है। मैया जानती है, माता रोहिणी जानती हैं, अपने अनुजसे पृथक् यह ऐसा ही गुमसुम हो जाता है।

'कनूँ आ रहा है।' बड़े तेज कान हैं दाऊके। सबसे पहले वंशी-ध्वनि इसीके कानोंमें पहुँचती है। माता रोहिणी पुकार रही हैं, मैया द्वारतक पीछे लपकी आयी है, बाबा 'हाँ, हाँ' करते पकड़ने दौड़े आ रहे हैं। गायोंके झुंड-के-झुंड दौड़ते आ रहे हैं और उन कूदती-उछलती सहस्रों गायोंके

बीचमें यह नीलाम्बरधारी नन्हा सा दाऊ सीधा ताली बजाता दौड़ा जा रहा है।

'हम्मा !' गायोंके पद ठक-से रुक गये हैं। वे सूँघ लेना चाहती हैं। वे असमञ्जसमें पड़ गयी हैं—'उन्हें गोष्ठमें जाना है या वनमें ? दाऊ तो वनकी ओर जा रहा है।' वे खड़ी हो गयी हैं। पीछे देखने लगी हैं और कुछ मुड़ भी पड़ी हैं। 'दाऊ उन्हें देखता क्यों नहीं ? पुचकारता क्यों नहीं ?' वह तो उनके बीचसे दौड़ा जा रहा है। वे उसकी ओर मुख करके 'हम्मा हम्मा' कर रही हैं।

'दादा !' आज श्याम नहीं देखता कि द्वारोंपर किनके थालोंमें नीराजन-दीप हैं। वह नहीं देखता पुष्प झरते छज्जों-की ओर वक्र दृगोंसे। न कहीं आज उसे पुष्प फेंकना है न मुस्कराना है। आज वह नाचता ही नहीं। उसकी मुरली भी आज विचित्र गतिसे बजती है। वह मार्गके इधर होता है, उधर होता है और बार-बार उझकता है दोनों पंजोंके बल—'दादा !' इन गायोंके अपार समूहके आगे उसका दादा दीखता नहीं उसे।

'दादा !' दोनों हाथ फैलाकर दौड़ा कन्हाई और वह दौड़ा आ रहा है दाऊ। दोनोंका मिलन ... जैसे युगों पश्चात् मिल रहे हों दोनों।

गायें गोष्ठोंकी ओर दौड़ी जा रही हैं—लक्ष-लक्ष गायें। उनके पीछे नीलाम्बरधारी, निर्मल गौर वर्ण यह दाऊ और उसके सामने नाचता, वंशी बजाता, कूदता, हँसता यह वन-पुष्पोंसे सजा, गोरज-धूसर श्यामसुन्दर। आज अपने दादाको छोड़ इसे जैसे और कहीं देखना ही नहीं है। गोपकुमार दोनोंको घेरकर नाचते हैं, गाते हैं और तब मण्डली थोड़े पद चल लेती है। आजका यह मिलन-महोत्सव ...।

७४—श्याम पहले जगा

'श्यामसुन्दर ! उठ लाल ! देख तो कितना सवेरा हो गया ! देख, तेरा मयूर आँगनमें कैसा नाच रहा है।' मैया बहुत धीरे-धीरे हाथ फेर रही है मोहनके शरीरपर। वह बार-बार रुक जाती है—अभी जगाये या न जगाये ? किंतु देर होनेपर यह ठिकानेसे कलेऊ भी नहीं करता।

एक ही शय्यापर नीलाम्बर ओढ़े दाऊ और पीतपट ओढ़े श्याम सो रहे हैं। मैया चाहती तो है कि अब दोनों पृथक् सोना सीखें, पर कन्हाईको बड़े भाईके बिना नींद ही नहीं आती।

'देख तो, कितनी देरसे बेचारे ये नन्हे पक्षी तुझे पुकार रहे हैं। कितने सुन्दर पक्षी आये हैं आज ! तेरी कामदा बुला रही है तुझे।' मैया धीरे-धीरे पुकार रही है।

श्यामसुन्दर हाथसे मुखपरसे पीतपट हटाता है, तनिक नेत्र खोलकर मुस्कराता है और फिर मुख ढककर सो जाता है। बार-बार वह यही कर रहा है। मैया अपलक देख रही है उसका बिखरी अलकोंसे घिरा चन्द्रमुख। झीने पीतपट-मेंसे इस मुखकी शोभा ...।

'तू कहता था न, मुझे दाऊसे पहले उठा देना। तू नहीं उठेगा तो मैं दाऊको जगाती हूँ।' मैयाने स्नेहसे फिर पुचकारा।

अब कन्हाई मुखसे पीतपट हटाकर देखने लगा। सच-मुच दाऊ अभी सो रहा है। चरणोंसे पीताम्बरको हटाकर पैताने कर दिया इसने और बैठ गया नेत्र मलते-मलते। एक बार मैयाकी ओर देखकर मुस्कराया और फिर दोनों पैर लटकाकर शय्यासे उतर गया।

'दादा !' एक हाथसे शय्या पकड़कर दूसरेसे दाऊके ऊपरका नीलाम्बर खींच लिया मोहनने। जैसे बादलोंमेंसे चन्द्रमा निकल पड़ा हो। दाऊने नेत्र खोले और अपने छोटे भाईको हँसते देख झटसे बैठ गया, उतर गया शय्यासे।

'दादा ! मैं तुझसे पहले उठ गया !' कृष्णचन्द्र बहुत प्रसन्न हो रहा है। दाऊ उतरकर उसके पास आ खड़ा हुआ है।

'अच्छा, अब आओ तो तुम दोनों !' मैयाने एक-एक हाथ पकड़ा। दोनोंकी अलकें बिखरी हैं। दोनोंके नेत्रोंमें अलस भाव है और काजल दोनोंके नेत्रोंका फैल रहा है। दोनोंके मुखपर मधुर हास्य है। दोनोंकी नीली-पीली कछनियाँ ढीली-ढाली हो रही हैं। दोनों बार-बार जम्हाई ले रहे हैं और अलस पदोंसे अटपट चल रहे हैं। मैया दोनोंका मुख धोयेगी अब। वह दोनोंको गोदमें लेकर बैठ गयी है सम्मुख जल रखकर और दोनों मैयाके गलेमें हाथ डालकर, कंधेपर सिरपर रखकर एक क्षण और सो लेना चाहते हैं।

७५—संकल्प

'दादा, ये राक्षस बहुत बुरे होते हैं।' श्यामसुन्दरने अपने विशाल दृग बड़ी विचित्र भङ्गीसे अग्रजकी ओर उठाये।

'हम सब असुरोंको मार देंगे।' दाऊके भ्रूमण्डल भी कठोर हुए और वह अपने छोटे भाईके पास बैठ गया।

कन्हाई इतना गम्भीर बने, उसका यह नित्य प्रसन्न चञ्चल अनुज इस प्रकार सचिन्त दिखायी दे—दाऊ इसे किसी प्रकार सह नहीं सकता।

कल जब गोचारणसे गोष्ठमें लौटे, बाबाकी पौरीपर एक बिचारी बुढ़िया रो रही थी। झुकी कमर, काँपते अङ्ग, पके केश, झुर्री पड़ा शरीर—हाथमें लठिया टेककर वह बड़ी कठिनतासे आयी थी और अब तो उससे उठा भी नहीं जाता था। वह रो-कलप रही थी। बिलख रही थी। बड़ी दूरसे बाबाकी शरणमें आयी थी। राक्षसोंने अकारण उसकी झोपड़ी जला दी। उसके फलशाली वृक्ष काट दिये। वह निरपराध—वह दीना मुनियोंको कुछ फल भेंट कर आया करती थी, यही था उसका अपराध। उस अनाथाका आवास, उसकी जीविका! हाय! अब क्या करे वह? कंसके अनुचरोंके विरुद्ध कौन उस कंगालिनीकी बात सुनेगा!

'माँ!' मोहन न गोष्ठमें गया और न घरमें, उसने एक ओर फेंका लकुट एवं शृङ्ग और जाकर बैठ गया उस वृद्धाके अङ्कमें। दाऊ उसके पास सटकर खड़ा हो गया। श्यामसुन्दर पटुकेसे उसके नेत्र पोंछ रहा था, किंतु मोहनके विशाल दृग् झरते जा रहे थे।

'मेरे लाल!' बुढिया तो निहाल हो गयी। वह कन्हैयाको ऐसे चिपटाये थी छातीसे, जैसे बँदरिया अपने बच्चेको चिपका लेती है।

बुढियाकी झोपड़ी—बाबाने अपनी सिंहपौरीके समीप उसे सुन्दर आवास दिया है। मैया उसके पैर छूती है। उसे अब अभाव क्या है। राक्षसोंने उसकी झोपड़ी क्या जलायी, वह तो राजमाता हो गयी। ऐसा सौभाग्य उसे भला, कहाँ मिलना था।

बुढियाका राक्षसोंपर कोई रोष नहीं। वह रात ही हँसती थी और कहती थी—'मेरा तो उपकार ही किया उन्होंने।' किंतु यह कनूँ कलसे गम्भीर हो गया है। आज वनमें आकर भी उछल-कूदमें इसे उल्लास नहीं।

लाल-लाल कोंपलोंसे लदे अश्वत्थके नीचे बायें जानुपर कुहनी टेककर बायें करकी मुट्ठीपर चिबुक रखे, बायीं ओर कुछ झुका, दाहिनी जाँघपर दाहिना कर शिथिल डाले यह कृष्णचन्द्र आज गम्भीर हो गया है। इसके दृगोंमें एक सकल्प है और भ्रूमण्डलमें बंकिम दृढ़ता। पवन भी स्तब्ध हो रहा है भयसे। मस्तकका मयूरपिच्छ भी निस्पन्द बन गया है। दाऊ अपने अनुजको इतना गुमसुम नहीं देख सकता। वह अलकोंपर हाथ फेरता दाहिने सटकर बैठ गया है—'हम सब असुरोंको मार देंगे।'

'सब राक्षस बुरे होते हैं। हम सबको मारेंगे।' तोक समझता है—इन राक्षसोंमें दम कितना होता है। बड़े मोटे देखनेको होते हैं, पर कन्हाईने चपत मारी तो बरसाती छत्ते-जैसे फच् हो जाते हैं। दाऊ सबको मारेगा तो क्या वह दस-पाँच भी नहीं मार सकता। अपना लकुट लेने दौड़ गया है वह।

७६—करुणा

'कनूँ, तुझे किसने मारा है?' सुकुमार कन्हाईकी पीठपर कटिदेशमें एक नन्ही-सी खरोंच आ गयी है। रक्त आया नहीं है, किंतु छलछला आया-सा लगता है। नन्ही खरोंच—किंतु श्याम कितना सुकुमार है! दाऊके कमल-दलके समान सहज अरुण नेत्र सर्वथा किंशुकारुण हो उठे हैं और उनमें जल भर आया है। भ्रूमण्डल कठोर हो गये हैं और मुख तमतमा आया है। उसके रहते कोई उसके भाईकी ओर अँगुली उठा सकता है। कौन है वह!

'कहाँ! मुझे किसने मारा?' श्यामको पता ही नहीं कि उसे खरोंच भी आयी।

'यह क्या है?' दाऊके नेत्र तो वहीं स्थिर हो गये हैं।

'यह?' मोहन इस प्रकार सोच रहा है, जैसे बहुत गम्भीर बात है यह। इसे तो कोई लंबी, उजली दाढीवाले ऋषिको आसन लगाकर, नेत्र बंद करके, दस-पाँच दिन सोचना चाहिये। 'उस लताने।' एक ओर अँगुली दिखायी भोलेपनसे।

'तू उसके फूल लेने गया था?' आज जब यह उधर गया ही नहीं, तब लतासे खरोंच कैसे आयेगी?

'ना, फूल तो मैं कदम्बके लाया हूँ। उस कदम्बके।' अब इसका कोई समन्वय है कि फूल पूर्वके कदम्बसे ले आये और खरोंच पश्चिममें दूरस्थित लतासे लगी?

'तब लताने कैसे मारा?' दाऊ ठीक सोचता है कि मोहन बता नहीं रहा है। किंतु मोहन कैसे बता दे कि श्रीदामासे झगड़नेमें उसके हाथके नखसे अनजानमें ही खरोंच आयी है। बेचारा श्रीदामा—कितना दुःख होगा उसे? इस दाऊका ही क्या ठीक ठिकाना है कि क्या कर बैठे। कभी तो यह बड़ी-से-बड़ी बातपर हँस देता है और कभी

तनिकमें लाल हो जाता है और फिर इसका क्रोध ।

'तब इस पत्तेने मारा है !' कोई सजीव, सहृदय, सज्ञान प्राणी तो मोहनको जान-बूझकर तनिक भी कष्ट देनेका विचार कर नहीं सकता । खरोंच आयी है, तब किसी निर्जीवका काम होगा यह । वृक्षसे टूटकर गिरे एक पीले पत्तेको हाथमें उठाकर कृष्ण इस प्रकार देख रहा है, जैसे जान लेना चाहता है—निश्चय कर लेना चाहता है कि इसीने मारा है उसे या नहीं ।

'कनूँ !' दाऊके मुखकी अरुणिमा लुप्त हो गयी है । भ्रूमण्डल सरल हो गये हैं और नेत्रोंमें अद्भुत भाव है । वह एकटक अपने अनुजके श्रीमुखको देख रहा है ।

'दादा !' अधरोंपर मन्द स्मित लिये श्याम भी एकटक देख रहा है अग्रजको । अब इन दोनों भाइयोंकी दृष्टिमें क्या भाव है—श्रुतपारद्रष्टा ब्रह्माके लिये भी यह अज्ञेय है ।

७७—डाँट पड़ी

'दादा, कनूँ धूपमें नाच रहा है । देख न, रेत कितनी तप रही है !' भद्रने दाऊसे कहा । आज श्यामसुन्दर सखाओंको खिझा रहा है । सुबल, भद्र, तोक—सबने कह लिया, किंतु वह किसीकी सुनता ही नहीं ।

'कनूँ !' दाऊने पुकारा । किंतु कन्हाई कहाँ सुनता है । धूप प्रखर हो रही है, रेत तप चुकी, उसके भालपर स्वेदकण चमकने लगे हैं, उसका मुख लाल-लाल हो गया है; किंतु उसका ध्यान सखाओंको खिझानेकी ओर है । सबको खिझानेके लिये वह और शीघ्रतासे नाच रहा है । जान-बूझकर पैर इस प्रकार पटकता है कि नूपुर अधिक-से-अधिक शब्द करें । हाथ नचाता है और घूमता है ।

'कनूँ !' दाऊने कुछ अधिक ऊँचे स्वरसे पुकारा—'चल, छायामें आ जा । रेत तप रही है ।'

कनूँ सुनता नहीं, देखता नहीं किसीकी ओर । वह मुसकराता जाता है, नाचता जाता है । उसकी एक-एक भङ्गीमें नटखटपन है । जैसे वह कहता हो—'मैं नाचूँगा । क्या करोगे तुम सब ? मैं कहाँ किसीकी चिन्ता करता हूँ ।'

'कनूँ !' पूरे उच्चस्वरसे डाँटकर पुकारा दाऊने । यह तपती रेत और ये सुकुमार चरण—नहीं, अब और सहा नहीं जा सकता ।'

दाऊका स्वर सुनकर कन्हाईने देखा बड़े भाईकी ओर और नृत्यको उठे उसके पद जैसे-के-वैसे रह गये । दाऊ तो क्रुद्ध हो गया है । अब भागनेसे भी क्या लाभ ? अपने दादासे भागकर जाया भी कहाँ जा सकता है ? वह तो दस पैंडमें पकड़ लेगा । हाथ ढीले हो गये । मुख धीरे-धीरे चलकर कृष्णचन्द्र बड़े भाईके सामने आकर खड़ा हो गया । ऊपर मुख करके भयकातर नेत्रोंसे बड़े भाईके मुखकी ओर देख रहा है वह । उसके विशाल नेत्रोंमें आँसू भर आये हैं । उसकी कातर भङ्गिमा कहती है—'दादा, मुझे मार मत । मैं फिर ऐसा हठ नहीं करूँगा ।'

दाऊने अपने भयाकुल भाईका मुख देखा, भरे नेत्र देखे और खींचकर हृदयसे लगा लिया । श्याम चिपक गया है बड़े भाईसे और हिचक-हिचककर रोने लगा है । दाऊके कंधेपर मुख छिपा दिया है इसने । हिचकने-सिसकनेके वेगसे इसका सिर और पीठ हिल रही है । रोता है—रोता जा रहा है कन्हाई ।

दाऊके नेत्र झर रहे हैं । श्यामकी अलकोंको भिगाती जा रही हैं बड़ी-बड़ी बूँदें । छोटे भाईकी पीठ एवं सिरपर हाथ फेरते-फेरते दाऊ बड़े स्नेहसे कह रहा है, 'कनूँ ! तू धूपमें मत खेला कर ! तेरे चरण देख, तप गये हैं । रो मत, रो मत, कनूँ !'

श्रीकृष्णको बोध

(रचयिता—प० श्रीसर्वेन्द्रजी झा)

बार बहु बरजौं तुम्हैं गुपाल ।
खेलन कतहुँ धूप मति जैये, मानहु बचन रसाल ॥ १ ॥
चरन अरुन अंबुज अनूप अति, है जै हैं अति लाल ॥ २ ॥

तृष्णा-तरुणी

(लेखक—पं० श्रीहरिशंकरजी शर्मा)

उचित मात्रामें, न्याययुक्त स्वार्थ सबका होता है। उसकी कोई निन्दा नहीं कर सकता। ऐसे स्वार्थके बिना काम भी नहीं चलता। निन्दा तो उस स्वार्थकी है, जो दूसरोंकी हित-हानि करके सिद्ध किया जाता है। सब अपने-अपने न्याय्य स्वार्थपर आरूढ रहें तो किसी प्रकारकी अशान्तिकी आशङ्का नहीं हो सकती। जो लोग अपने औचित्यपूर्ण स्वार्थको भी लात मार देते हैं, वे तो निश्चय ही सच्चे त्यागी, तपस्वी और महान् व्यक्ति हैं। आजका संसार अन्यायपूर्ण स्वार्थका केन्द्र और तृष्णाका आगार बना हुआ है। अपना स्वार्थ तो है ही, दूसरोंका स्वार्थ हड़पनेके लिये भी पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है और अनधिकार चेष्टाएँ बढ़ती चली जा रही हैं। एक राष्ट्र दूसरेपर चढ़ता दिखायी देता है और एक समुदाय दूसरे समुदायपर। यहाँतक कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिपर आक्रमण कर रहा है। जो लोग भले प्रकार खा-पी रहे और सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं, वे भी दूसरोंकी सुख-सुविधा लूटनेको तैयार हैं। सारे विश्वमें यही अंधेर मचा हुआ है—इसी प्रकारकी मलिन मनोवृत्ति बढ़ रही है। महाकवि कबीरने कहा है—

देख पराई चोपरी मत ललचावे जीउ।
रूखा-सूखा खाइ कै ठंडा पानी पीउ॥

जिस प्रकार न्यायसे प्राप्त सुख-साधनोंके उपयोग-भोग करनेका सबको अधिकार है, उसी प्रकार उचित और वैध साधनोंद्वारा अर्जित अपना यश और वैभव बढ़ानेका भी सबको हक है। भोगेच्छाओंकी अधिक वृद्धि करना और उनकी पूर्तिके लिये औचित्यकी मर्यादाको भङ्ग करना ही तृष्णा तथा स्वार्थान्धता है। तृष्णा धन-वैभवकी ही नहीं, बल्कि यश, सत्ता, अधिकार, पद, प्रभुता और परिवारकी भी होती है। आज सभी प्रकारकी तृष्णाओंमें लोग लिप्त हैं। चोरी-जारी, मार-धाड़, अपराध-प्रवृत्ति इत्यादि दुर्गुण तृष्णा-तरुणीके ही विकृत रूप हैं। ज्यों-ज्यों स्वार्थमयी आधुनिक सभ्यताका जटिल जाल फैलता जाता है, त्यों-त्यों तृष्णा-तरुणीका रूप भी भयंकर होता जाता है। यदि डाकुओंका एक झुंड अपनी अनुचित स्वार्थ-सिद्धिके लिये डाका डालता है तो वह निन्दनीय, दण्डनीय और घृणित समझा जाता है, परंतु यदि एक राष्ट्र अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये दूसरे राष्ट्रपर आक्रमण करता और सहस्रों-लाखों निरपराध नागरिकों या सैनिकोंके रक्तकी धारा बहाता है तो उसकी 'वीरता' की प्रशंसा की जाती है। जो सैनिक जितने ही अधिक मनुष्यों की हत्या करता है, वह उतना ही बहादुर समझा जाता है। यह 'तृष्णा' भयंकर और अन्यायपूर्ण स्वार्थान्धता नहीं तो क्या है। महाराज भर्तृहरिजीने ठीक ही कहा है—हम तो वृद्ध होते जा रहे हैं, परंतु हमारी तृष्णा तरुणी होकर जोर पकड़ती जाती है। हमारी शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही है, परंतु तृष्णाका दौरात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। जबतक तृष्णाका अन्त न होगा, तबतक संसारमें शान्ति नहीं हो सकती। एक्ट-पैक्ट तो सब कृत्रिम उपाय हैं। राजनीतिक शान्ति-सभाएँ और सुरक्षा-परिषदें स्वार्थ-सिद्धिके ही सुन्दर, सुघरे और परिष्कृत रूप हैं।

माया मरी न मन मरे, मर-मर गये शरीर।
आशा-तृष्णा ना मरी, कह गये दास कबीर॥

निःसंदेह यह समय तृष्णा-तरुणीको नष्ट करनेका है। न्याय, सत्य, धर्म, औचित्य, औदार्य और न्यायका पालन करनेसे ही तृष्णाका नाश हो सकता है। इन भावनाओंको क्रियात्मक रूप देनेके लिये आत्मचिन्तन, विवेक, आस्तिकता और कर्मण्यता अपेक्षित हैं। हृदयोंमें—'जियो और जीने दो'—की पुण्य प्रवृत्ति जाग्रत् होनी चाहिये। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आदर्श आगे रहना चाहिये। कबीरने एक बात और बड़ी अच्छी कही है—

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

× × ×

उर्दूके एक महाकविने भी इस सम्बन्धमें बड़ी अच्छी बात कही है, वे अपरिग्रह-भावनाको लक्ष्यमें रखकर कहते हैं—

तलब बढ़ने न दे अपनी ज़रूरी रिज़्क़ की हद से।
बचा लेगी क़नाअत तेरी तुझ को कुफ़्र की ज़द से॥

आवश्यकतासे अधिक व्यय नहीं बढाओगे तो पाप-प्रहार—कुफ्रकी ज़दसे बच जाओगे। इसी भावको महाकवि दोक्स पीयरने नीचे लिखे शब्दोंमे व्यक्त किया है—

'Covet no more than you want'

आवश्यकतासे अधिक धनकी लिप्सा न करो।

सचमुच यही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति तो और भी महान् है। इसमें तो स्वय भूखा रहकर दूसरोंको भोजन करानेकी भावना है। परिश्रमपूर्वक ईमानदारीसे जो मिल जाय, उसीमें संतोष कीजिये। उतनेमें ही अपने परिवार-का पालन-पोषण और मेहमानोंका आतिथ्य भी करना चाहिये। अन्याय-अत्याचार और पर-पीडन या शोषणके लिये हमारी संस्कृतिमें कहीं स्थान ही नहीं है। कहॉका साम्राज्यवाद और कहॉका आक्रमण। सर्वत्र शान्ति ही-शान्ति। आकाश, पाताल, पृथिवी, सब शान्त और स्वय शान्ति भी शान्त। तृष्णाका नाश कीजिये, तो सुख तथा शान्तिका स्रोत उमड़ पड़ेगा, हमारा कल्याण होगा और सारे संसारमे कल्याणमयी भावना दौड़ जायगी।

सनातनधर्मके आधारभूत नियम

१. दृश्यमान चराचर जगत्का मूलकारण, अधिनायक और अन्तिम प्रश्रय एकमेव परमेश्वर है। अतः उसकी नित्य निर्गुण अथवा सगुणरूपमें उपासना करनी चाहिये।

२. आत्मा अखण्ड चेतनतत्त्व है और विविध रूपोंमें अर्थात् ब्रह्म, देवता, पितर, अतिथि और पशुरूपमें प्रतिभासित है, अत. उसकी सम्पुष्टिके लिये नित्य यज्ञ करना चाहिये।

३. आध्यात्मिक तथा लौकिक धर्मोंका एकमात्र मूल प्रतिपादक वेद है। वेदोंका स्वाध्याय करना द्विज-मात्रका कर्तव्य है।

४ भारतीय लौकिक संस्कृति और सनातन संस्कारोंको नित्य नूतन रखनेके लिये वेद तथा वेदसमर्थित दर्शन, सूत्र, स्मृति, पुराण तथा साहित्यका नित्य स्वाध्याय अपेक्षित है।

५ वर्ण एक वैदिक समाज-विधान है। उसकी व्यवस्था जन्म, गुण, कर्म और स्वभावपर निर्भर है। इहलोक और परलोकके लाभार्थ उसका पालन करना चाहिये।

६. वेद और शास्त्र-प्रतिपादित वृत्तिका पालन करना सदाचार है। स्वेच्छया वृत्ति-निर्धारण भ्रष्टाचार है। गुण, स्वभाव तथा शास्त्राज्ञाके विपरीत कर्म सर्वथा त्याज्य हैं।

७. उपासना, स्वाध्याय और शास्त्रप्रतिपादित कर्ममें सामञ्जस्य स्थापित करनेसे वैयक्तिक, जातीय, राष्ट्रिय उन्नति सम्भाव्य है।

८. सत्य, अहिंसा, प्रेम, सद्व्यवहार, निर्वैरता, अपरिग्रह, अस्तेय, धैर्य, सयम, पवित्रता, दया, सहिष्णुता आदि गुण हमारे शास्त्र-प्रतिपादित कर्मके परिचायक हैं। इनके प्रभावमें समस्त कर्म 'धर्म' कहलाते हैं; इनके अभावमें समस्त कर्म 'अधर्म' बन जाते हैं।

९. संस्कृत भाषा उपासना, स्वाध्याय और समाज-का समन्वयकारी माध्यम है। उसकी रक्षा करना धर्म-का अङ्ग है।

—सुषमा

'दोहावली'में राजनीतिक ध्वनि

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाधरजी मिश्र, शास्त्री)

लोकशीलके प्रवर्तनमें दोहा-छन्दकी परम्परा अत्यन्त वर्धोवर्धक सिद्ध हो रही थी । ऐसे समयमें सामाजिक आदर्शके अमर प्रवर्तक श्रीगोस्वामीजीने जन-जीवनमें राजनीतिक चेतनाका उद्बोधन भी आवश्यक समझा और अपनी साधनाकी अध्यात्म-शक्तिकी सार्थकताको सुस्पष्ट करनेके लिये राजनीतिक जीवनका नितान्त मार्मिक चित्र उपस्थित किया । अपने युगकी राजनीतिक अधोगतिका जीवन-प्रवाहके प्रत्येक स्तरतक पहुँचकर गोस्वामीजीने परिचय कराया है । जिस दिन राजनीति तथा अध्यात्मके समन्वयादर्शके लिये मानव-समाजकी आँखें खुलेंगी, उस दिन गोस्वामीजीके इस महाकाव्यकी महनीयता देशको महिमामय बनायेगी । अभी तो दोहा-साहित्यका अध्ययन शिक्षा-केन्द्रोंमें अनैकान्तिक शान्ति तथा उच्छृङ्खल विनोदकी कल्पना जगानेके लिये भ्रमवश कराया जा रहा है । आजके युगको राजनीतिक कहा जाता है । साहित्य अपनी सप्राणतामें सर्वदा युगान्तर राजनीतिका प्रवर्तन करता है । इस ओर चूँकि देशके मनीषियोंका अभी समुचित ध्यान नहीं गया है, इसलिये महामना श्रीतुलसीदासजीकी युगान्तर राजनीतिक चेतनाका प्रायः तिरस्कार हो रहा है ।

गोस्वामीजीने अपने युगकी राजनीतिक उद्दण्डताका ह्रासोन्मुख रूप तथा उसकी प्रतिक्रियाका प्रभाविष्णु प्रत्यक्ष कराया है । उदाहरणके लिये देशकी राजनीतिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें महाकविका यह मर्मोद्गार सुनिये—

> गोंड गँवार नृपाल महि जमन महा महिपाल ।
> साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल ॥

राजशक्तिके उस पतनसे राजपरिचारक-वर्गका समाजद्रोही कण्टक बन जाना नितान्त स्वाभाविक हो गया । देखिये—

> प्रभु तें प्रभुगन दुखद लखि प्रजहि सँभारै राउ ।
> कर तें होत कृपान को कठिन घोर घन घाउ ॥

जिस प्रकार हाथकी चोटकी अपेक्षा हाथमें पकड़ी हुई तलवारकी चोट अत्यन्त कठोर तथा भयङ्कर होती है, उसी प्रकार राजाकी अपेक्षा राजशक्तिके परिचारक जनताके लिये अधिक दुःखद होते हैं । इसलिये इसका ध्यान रखते हुए राजाको प्रजाकी देखभाल स्वयं करनी चाहिये । इसका कारण यह है कि राजाकी किसी एक कमजोरीका थाह पाते ही नौकर लोग तीन प्रकारकी युक्ति लगानेके लिये तैयार हो जाते हैं । दैशिक जीवनकी इस पशु-प्रवृत्तिका परिचय करानेके लिये महाकविने लिखा है—

> त्रिबिध एक बिधि प्रभु अनुग अवसर करहिं कुठाट ।
> सूधे टेढ़े सम बिषम सब महँ बारह बाट ॥

अर्थात् परिस्थितिवश यदि नायकजन एक भी अनुचित कार्य करते हैं तो उनके अनुचरलोग तीन प्रकारसे करते हैं । वे सरल-प्रकृति सज्जनोंसे कुटिल व्यवहार करते हैं, सामञ्जस्यमें विषमता लाते हैं और सब कार्योंको नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं । इस प्रकार राजशक्तिकी ओरसे भी त्रुटि सामाजिक प्रगतिकी बाधक ही नहीं, किंतु सामाजिक ध्वसका कारण बन जाती है । दुष्ट राजाकी दुर्नीति समाजके लिये अभिशाप होती है, इस तथ्यका परिचय करानेके लिये गोस्वामीजीने अनेक दोहोंकी रचना करके समाजको आत्म-दर्शनके लिये दृष्टि दी है । देखिये,—समाजध्वंसक राजाकी समता समाज-घातक बारूदके गोलेसे कराते हुए गोस्वामीजीने लिखा है—

> काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल ।
> पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल ॥

समय गोला चलाता है, पृथ्वी तोप होती है । भयंकर दुर्नीतिकी बारूद बनती है । पाप ही पलीता होता है । पृथ्वीका रक्षक राजा कठोर तथा भारी गोला होता है अर्थात् समाजका दुर्भाग्य ही दुर्नय राजासे प्रजाका संहार कराता है । ध्वंसोन्मुख समाजपर दुष्ट शासनकी कैसी प्रतिक्रिया होती है, इसे समझानेके लिये महाकविने बड़ी चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना की है:—

> चढ़े बघूरें चंग ज्यों ग्यान ज्यों सोक समाज ।
> करम धरम सुख संपदा, ज्यों जानिबे कुराज ॥

हवाके बवंडरमें पड़ी हुई गुड्डीकी जैसी दशा होती है, वैसी ही शोकमय समाज-ज्ञानकी स्थिति होती है । दुष्ट शासन-कालमें वही दशा सत्कर्म, सद्धर्म, आनन्द तथा ऐश्वर्यकी हो जाती है । इस प्रकार राजनीतिक जीवनकी हीनताका अनेक रूपोंमें प्रत्यक्ष कराते हुए गोस्वामीजीने आदर्श राज्य-शासनकी कल्पनाके अनेक मार्मिक चित्र दिये हैं । गोस्वामी-

जीने राजाको सूर्यके समान देखकर समाजके लिये सौभाग्यका सूचक माना है—

बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु सो होइ॥

प्रजाके सौभाग्यसे राजाको सूर्यके समान होना चाहिये। सूर्य जिस प्रकार जलको खींचते हैं, इससे किसीको किसी प्रकारकी प्रतीति नहीं होती, परंतु वही सूर्य जब बादलके रूपमें जलकी वर्षा करते हैं, तब सारे संसारके प्राणी प्रसन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार राजाको प्रजाजनोंके अभ्युदया-कर्षणकी किसी प्रकार उपेक्षा न कर उनसे ऐसा कर (टैक्स) लेना चाहिये, जिसे देते समय उन्हें किसी प्रकारके कष्टकी प्रतीति न हो और उसके उपयोगमे प्रजामें सौभाग्यका मङ्गलभाव जग जाये। सूर्यके साथ ही माली और किसानके रूपमें नीति-कुशल राजाको देखते हुए गोस्वामीजी निम्न-लिखित बात कहते हैं—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल।
प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥

माली जिस प्रकार मुरझाते हुए पौधोंको सींचता है, अनावश्यक बढ़नेवालोंको काट-छाँटकर अलग कर देता है, कमजोर पौधोंको लकड़ीका सहारा देकर गिरनेसे बचाता है एवं उसके बाद उनके फल-फूलका सत्प्रयोग करता है, तथा किसान जिस प्रकार खेत तैयार करता है, उसमें उर्वर खाद डालता है, बीज बोता है, समय-समयपर जलसे सींचता है, एवं अन्न-प्राप्तिके निमित्त फसलोंकी पशुओंसे रक्षा करता है, उसी प्रकार राजाको प्रजा-जीवनमें सौभाग्यकी अनुभूति करानेके बाद ही उनके शक्ति-सदुपयोगके आदर्शको प्रतिष्ठित करना चाहिये।

समाजके शरीरका रूपक दिखाते हुए गोस्वामीजीने राजाके पूज्य आदर्शको पिताके रूपमें देखा है।

रसना मंत्री दसन जन तोष पोष निज काज।
प्रभु कर सेन पदातिका बालक राज समाज॥

इस दोहेपर विचार करते हुए इसकी टीकामें प्रमुख साहित्य-सेवी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारने स्पष्ट लिखा है—

"राजा पेट है, मन्त्री जीभ है और अन्य कर्मचारी दाँत हैं। जैसे दाँत भोजनको कुचलकर और जीभ उसका स्वाद लेकर तथा अपनी लार साथ देकर उसे पेटमें पहुँचा देती है, और पेट रस बनाकर सारे अङ्गोंको पुष्ट और संतुष्ट करता है, उसी प्रकार मन्त्री और अन्य राजकर्मचारी राजाके लिये अपना-अपना काम ठीक करते हैं और बदलेमें राजा उन सबका पोषण करता है और उन्हें संतुष्ट करता है। सेना और पदातिजन राजाके हाथ और पैर हैं। जैसे हाथ-पैर पेटकी रक्षा करते हैं और पेट हाथ-पैरको पालता-पोसता है, उसी प्रकार सेना-पदाति राजाकी रक्षा करते हैं और राजा उनका पालन-पोषण करता है। राजा माता-पिताके समान है और सारा राज-समाज राजाका बालक है। जैसे माता-पिता बालकका पालन-पोषण करते हैं, वैसे ही राजा सारे 'राज-समाज' को पालता पोसता है।"

समाजस्रष्टा राजाके 'सत्' प्रभावकी ऐसी चमत्कारपूर्ण व्यञ्जना कई दोहोंमें मिलती है। सम्भवतः यही कारण है कि शासकोंकी महनीयताका ध्यान रखते हुए गोस्वामीजीने उनको 'समाजके मुख' के रूपमें देखा है।

मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।

—जैसी उक्ति कहकर गोस्वामीजीने सेवकोंको हाथ-पैर और नेत्रके समान होने तथा सेवक और स्वामीके बीच प्रेममय व्यवहारके प्रतिष्ठित होनेकी बात कही है। इस प्रकार राजशक्तिकी सप्राणताका परिचय कराते समय गोस्वामीजीकी राजनीतिक बुद्धिका हमें परिचय प्राप्त होता है। ××× अङ्गदके पैरकी अविचलताके रूपमें महाकविने अचल शासनकी शुभसाधनाका प्रत्यक्ष कराया है। देखिये, रूपक और उत्प्रेक्षाकी काव्यमयी चमत्कृतिके साथ भारतके राजनीतिक संदेशका चरम तत्त्व निम्नलिखित दोहेमें ध्वनित हुआ है—

भूमि रुचिर रावन सभा अंगद पद महिपाल।
धरम राम नय सीय बल अचल होत सुभ काल॥

यह पृथ्वी ही मानो रावणकी सुन्दर सभा है और राजा ही अङ्गदका चरण है। धर्मरूपी राम तथा नीतिरूपी सीताके बलसे राजा-रूपी अङ्गदका पैर शुभ क्षणसे अविचल होता है। इस प्रकार भारतीय राजनीतिमें नीतिके साथ धर्मकी महत्ताको गोस्वामीजीने पूर्णतया स्वीकार किया है। राजनीति-की अधोगतिको दूर करनेके बाद ही व्यावसायिक क्षेत्रकी हीनताको हटाया जा सकता है। आदर्श शासनके अभावमें व्यावसायिक क्षेत्रमें धोखेबाजीका बढ़ना नितान्त स्वाभाविक है। गोस्वामीजीने भी कहा है—

प्रीति सगाईं सकल विधि बनिज उपायँ अनेक।
कल बल छल कलि मल मलिन डहकत एकहि एक॥

कलियुगके पापोंसे मलिन मनवाले लोग सब प्रकारसे प्रेमका नाता जोड़कर वाणिज्य आदि अनेक प्रकारके उपायोंसे 'कल-बल-छल' के द्वारा एक दूसरेको धोखा देते हैं।

आज देशके राजनीतिक जीवनमें जो विरोधी शक्तियोंका असंतोष चारों ओर बढ़ता दिखायी दे रहा है, उसे गोस्वामीजीकी काव्य-कलाका प्रवर्तन आदर्शात्मक सामञ्जस्यके रूपमें प्रतिष्ठित कर सकता है। जबतक साहित्यका सामाजिक दृष्टिसे भी मूल्याङ्कन नहीं होगा, तबतक निरर्थक मस्तिष्कको उलझनमें डालनेवाले 'वाग्जाल' के (जो चारों ओर सामाजिक मनोवृत्तिको दूषित कर रहे हैं) घातक प्रभावको नहीं रोका जा सकेगा। अपने युगकी शासन-व्यवस्थासे त्रस्त प्राणी सर्वदा इसी प्रकार अभिशापकी भाषा सुनाते हैं—

राज करत बिनु काजही ठटहिं जे कूर कुठाट।
तुलसी ते कुरराज ज्यों जइहैं बारह बाट॥

सम्भवतः यही कारण है कि गोस्वामीजीने रामराज्यकी सर्वसुख-सुलभताका अनेक रूपोंमें परिचय देकर युगकी राजनीतिक चेतनाको अनुप्राणित किया है।

समाजका मेरुदण्ड—गृहस्थ-आश्रम

(लेखक—डॉ० श्रीरामानन्दजी तिवारी, एम्० ए०, डी० फिल्)

ब्रह्मचर्य जीवनका निर्माण है। कैशोर-कालमें संयम और साधनाद्वारा शक्ति, ज्ञान और शीलका उपार्जन ब्रह्मचर्य-का धर्म है। ब्रह्मचर्यमें अर्जित स्वस्थ शरीर, उज्ज्वल विद्या और उदात्त शीलकी निधिको लेकर मनुष्य जीवनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। गृहस्थ-आश्रम ब्रह्मचर्यमें उपार्जित विभूतियोंके उपभोग और उपयोगका काल है। ब्रह्मचर्यके साधना-कालमें इन्द्रियोंका संयम अस्वाभाविक रूपसे प्रवृत्तियों-के दमनके लिये नहीं वर जीवनके स्वस्थ विकास और संस्कृतिके संतुलित दृष्टिकोणके लिये है। जहाँ निर्माणकालमें शक्तिके ऊर्जस्वी विकासके लिये संयमको बहुत महत्त्व दिया गया है, वहाँ यौवनकी परिपक्व अवस्था-में मर्यादित कामके उपभोगको भी उचित स्थान दिया गया है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका विधान आदर्शरूपमें ब्रह्मचर्यकी महत्ताको प्रतिष्ठित करनेके लिये है। हनूमान्, भीष्मपितामह आदिके उदाहरण केवल आचारपथके ज्योतिःस्तम्भ हैं। विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके उसके धर्मोंका निर्वाह करना भी भारतीय जीवन-व्यवस्थामें अत्यन्त गौरवपूर्ण माना गया है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य एक अध्यात्मनिष्ठ और मर्यादामय जीवनकी सामान्य संज्ञा है। जीवनके प्रथम आश्रमके रूपमें प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य इसी सामान्य जीवनका एक विशेष रूप है। बृहदारण्यक उपनिषद्में मर्यादामय भोगका स्वस्थ और संयमित जीवन भी ब्रह्मचर्य ही माना गया है। प्रथम आश्रममें ब्रह्मचर्य केवल संचय और संयमसे ही विशेषरूपसे लक्षित है, किंतु शेष जीवनमें मर्यादामय जीवन भी एक प्रकारका ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि मर्यादामय उपभोगका जीवन भी ब्रह्म अथवा आध्यात्मिक जीवनकी साधनाके पूर्णतः अनुरूप है।

वस्तुतः गृहस्थ-आश्रम ही सामान्य लोकजीवनका केन्द्रिय रूप है। ब्रह्मचर्य जीवन-तरुका मूल है। उसकी दृढ़तापर ही जीवन वृक्षकी स्थिति सुरक्षित है। गृहस्थ उसका स्तम्भ है। वही उसका मध्य और महनीय भाग है। जीवनमें उसकी सबसे अधिक उपयोगिता है। गृहस्थके स्तम्भसे ही जीवन तरुकी सब शाखाएँ निकलती हैं और उसीके आश्रयसे वे पल्लवित, पुष्पित और फलित होती हैं। शास्त्रोंके जीवन-विधानमें ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—तीनों आश्रमोंका पोषण गृहस्थका धर्म माना गया है। इसीलिये गृहस्थ-आश्रमको ज्येष्ठ आश्रम माना गया है। मनुस्मृतिमें कहा है कि 'गृहस्थ आश्रम ज्ञान और अन्नके द्वारा अन्य तीनों आश्रमोंका धारण करता है। अतः वह ज्येष्ठ आश्रम है।' जिस प्रकार वायुका आश्रय लेकर समस्त जन्तु जीवनके धर्मोंमें प्रवर्तित होते हैं, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थका आश्रय लेकर जीवनके धर्मोंमें प्रवर्तित होते हैं। एक शब्दमें गृहस्थ-आश्रम समस्त आश्रमोंका उपजीव्य है।

गृहस्थ-आश्रमकी यह केन्द्रियता और महत्ता भारतीय

संस्कृतिके स्वस्थ दृष्टिकोणका प्रमाण है। ब्रह्मचर्य और संन्यासकी महत्ताके कारण पश्चिमी आलोचकोंको प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि भारतीय संस्कृतिमें त्याग और तपकी ही प्रधानता है। मनोवैज्ञानिक इसमें विकृतिके लक्षण भी देखते है। वस्तुतः ब्रह्मचर्य और संन्यासका उद्देश्य प्रकृतिके दमन-द्वारा जीवनको विकृत करना नहीं है। एक सहज संस्कारद्वारा आध्यात्मिक मूल्योंमें प्रकृतिका अन्वय ही भारतीय संस्कृति-का मूल उद्देश्य है। संस्कृतिके हितके लिये प्रकृतिकी मर्यादा ही इसका मर्म है। संयम, तप, त्याग और मर्यादा इसके साधन हैं। भारतीय जीवनका वास्तविक स्वरूप सामाजिक स्नेह और सम्बन्धोंका आनन्द है। गृहस्थ-आश्रम इसी आनन्दका तीर्थराज है। तीनों आश्रमोंकी त्रिवेणी इसी तीर्थराजमें संस्कृतिके संगमका निर्माण करती है। ब्रह्मचर्य और संन्यास जीवनकी धाराके दो मर्यादाकूल हैं। इन सुदृढ कूलोंके बीचमें गृहस्थ-जीवनकी आनन्दमय स्रोतस्विनी सुरक्षित और स्वच्छन्द गतिसे प्रवाहित होती है।

गृहस्थ-आश्रम भारतीय जीवन-व्यवस्थाका हृदय है। हृदयके समान ही उससे प्रवाहित होनेवाली जीवनवाहिनी धाराएँ समाजके समस्त अङ्गोंका परिपोषण करती हैं। हृदय-के समान ही वह सामाजिक जीवनके स्वास्थ्य और उसकी समृद्धिका आधार है। गृहस्थ-आश्रमकी कल्पनामें जीवनके दृष्टिकोणकी बड़ी स्वस्थ और समृद्ध अभिव्यक्ति हुई है। ब्रह्मचर्य-आश्रमकी साधनाद्वारा परिपक्व यौवनके उपभोग तथा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनके मानवीय धर्मोंके परिपालनका गृहस्थ-आश्रममें अपूर्व समन्वय हुआ है। उपभोग और आचारके इस समन्वयमें जीवनके पूर्णत्वकी अत्यन्त स्वस्थ कल्पना प्रतिफलित हुई है। जीवनकी वीणाके समस्त तार गृहस्थके वाद्यदण्डपर ही सधे हुए हैं। गृहस्थके दण्डपर इन तन्तुओंके समवायसे जो अनेकरूप जीवन-रागिनियाँ निःसृत हुई हैं, वे भारतीय सामाजिक जीवनको अनन्त रस और आनन्दसे आप्लावित करती रही हैं। इन रागिनियोंमें जीवनके समस्त स्वर समाहित हैं। इसी रस, राग और आचार-मयी व्यवस्थाने भारतीय जीवनके प्रतिदिनको एक अपूर्व आनन्दपर्व बना दिया है।

गृहस्थ-आश्रमकी इस व्यवस्थामें सबसे महत्त्वपूर्ण बात उपभोग और आचारका समन्वय है। संन्यासका बहुत कुछ महत्त्व होते हुए भी भारतीय संस्कृतिमें जीवनके उपभोग और आनन्दको पूर्ण महत्त्व दिया गया है। गृहस्थ-आश्रमकी केन्द्रियता इसका प्रमाण है। किंतु भारतीय संस्कृतिमें इस उपभोगकी मर्यादाको मानवीयता-का मुख्य लक्षण माना है। गृहस्थ-आश्रमके पूर्व ब्रह्मचर्यके विधिवत् पालनकी महत्ता इसी मर्यादाका अङ्ग है। ब्रह्मचर्यसे अभिप्रेत संयम और सदाचारका जीवन भारतीय जीवन और संस्कृतिका सामान्य लक्षण है। इसीलिये संयम और सदाचारको गृहस्थके उपभोगमय जीवनमें भी आवश्यक माना गया है। उपभोगके अतिरिक्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनकी प्रतिष्ठा और समृद्धिके लिये जो धर्म और आचार गृहस्थके कर्तव्य माने गये हैं, उनका पालन संयमसे प्राप्त होने-वाले चरित्रबलके बिना सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्यमें उपार्जित शक्ति और संयम सफल गृहस्थकी आवश्यक पीठिका हैं। मनुके अनुसार इन्द्रियोंकी दुर्बलताके दास गृहस्थके धर्मोंका धारण और कर्तव्योंका पालन नहीं कर सकते। संयम, प्रेम, उदारता गृहस्थके आवश्यक गुण हैं। संयम उपभोगकी मर्यादाका मन्त्र है। सामाजिक जीवनके जिन अनेक अङ्गोंके पोषणका भार गृहस्थपर है, वह भी प्रेम और उदारताके बिना सम्भव नहीं है। गृहस्थके स्वार्थमय भोगकी एक सीमित मर्यादा है, इसके अतिरिक्त उसके अधिक संस्कृत और समृद्ध जीवनका रूप परार्थ है। परिवार, कुटुम्ब तथा अन्य आश्रमोंके रूपमें समाजका पालन प्रेम और उदारताके बिना सम्भव नहीं। प्रेम परार्थ-भावका सार है। इसके निर्वाहके लिये भोगकी मर्यादा और आचारका संयम आवश्यक है।

स्त्री-परिग्रह गृहस्थ-आश्रमका द्वार है। काम जीवनकी एक अनिवार्य वृत्ति है। किसी भी संस्कृतिमें इसका समुचित स्थान स्वस्थ दृष्टिकोणका सूचक है। व्यक्तिके स्वास्थ्यके साथ-साथ जातिकी परम्परा भी कामपर अवलम्बित है। उच्छृङ्खल काम विकृतिका लक्षण है। पशुओंके जीवनमें भी इसकी प्राकृतिक मर्यादा है। मनुष्यजीवनमें इस मर्यादाकी स्थापना और पालनका भार मनुष्यकी विकसित और समृद्ध चेतना-पर है। ब्रह्मचर्य-निर्माणकालमें इसी मर्यादाकी सुदृढ और सचेतन प्रतिष्ठा है। गृहस्थ-आश्रमके स्त्री-परिग्रहमें कामके उपभोग और जातिके विस्तारके साथ-साथ दोनोंमें इस मर्यादाको मान दिया गया है। उच्छृङ्खल काम सामाजिक व्यवस्थाके उच्छेद और नैतिक अनर्थोंका मूल है। भारतीय गृहमें नारीका मान, पतिके अतिरिक्त नारीके अन्य सात्त्विक स्नेह-सम्बन्ध, गृहस्थ पुरुषके अनेक रूप, कर्तव्य आदि सब इसी मर्यादाकी शृङ्खलाएँ हैं। मनुके 'न स्त्री स्वातन्त्र्य-

मर्हति' में लोगोंको इसका शास्त्रीय आधार मिला है, किंतु मनुका यह नारी-स्वातन्त्र्यका निषेध निश्चय ही नारीका अपमान नहीं है। मनुने नारीको रक्षणीया माना है और नारीकी रक्षाको संस्कृतिका एक आवश्यक अङ्ग माना है। आधुनिक युगकी अर्थ और काममयी सभ्यतामें वैधानिक रीतिसे स्वतन्त्र होकर नारी कितनी सुरक्षित रहेगी, यह बहुत संदिग्ध है। नारीकी मान-मर्यादा-गौरवके बिना उसकी स्वतन्त्रता उसके जीवनकी विडम्बना बन सकती है। भारतीय शास्त्रकार अनियन्त्रित कामके अभिलाषी पुरुषको सदा संदेहकी दृष्टिसे देखते आये हैं। उनका यह संदेह पूर्णतः सत्य है। संयम और संस्कारके लिये पुरुषको बड़ी सचेष्ट साधनाकी आवश्यकता है। कैशोरमें ब्रह्मचर्यका विधान और गृहस्थमें संयम और मर्यादाका मान इसी साधनाके अङ्ग हैं। पुरुषके उच्छृङ्खल अनाचारसे नारीको सुरक्षित रखनेके लिये ही शास्त्रकारोंने उसे रक्षणीया बनाया है। उनका विश्वास है कि कई कारणोंसे नारी अपनी रक्षामें असमर्थ है। समाजकी पुरुष-प्रधान व्यवस्थामें नारीकी स्वतन्त्रता पुरुषके अनाचारका कारण बन सकती है।

किंतु नारीकी स्वतन्त्रताका निषेध करके भी शास्त्रकारोंने परिवार और समाजकी व्यवस्थामें नारीको जो गौरव दिया है, तथा मान-मर्यादाके साथ जो समृद्ध और संतोषमय जीवन प्रदान किया है, वह कदाचित् स्वतन्त्रतामें भी उसके लिये दुर्लभ होगा। संस्कृतिमें नारीकी मान-मर्यादाकी प्रतिष्ठाके बिना वैधानिक स्वतन्त्रता उसे अनेकविध अनाचारोंका शिकार बना सकती है। वस्तुतः उसके मान-मर्यादा ही उसकी स्वतन्त्रता और सुरक्षा हैं। रक्षणीया नारी भी भारतीय परिवारकी स्वामिनी है। उसकी स्वतन्त्रताके अपहरणका उद्देश्य केवल बाहरी अनाचारोंसे उसकी सुरक्षा है। इसीलिये नारीको पूजनीया माना गया है। मनुका यह वचन कि 'जहाँ नारियोंकी पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ ये पूजित नहीं होतीं, वहाँ समस्त क्रियाएँ निष्फल होती हैं, प्रवञ्चित नारीका अश्रुपरिमार्जन मात्र नहीं है वर भारतीय संस्कृतिका मर्म-मन्त्र है। भारतीय मध्यवर्गमें आज भी नारीका जितना मान है, वह भारतीय समाजमें उसके गौरवमय पदका प्रतीक है। माता, पत्नी, बहिन और पुत्रीके रूपमें नारीको जो पवित्र और पूज्य पद मिला है और इस चतुर्विध व्यवस्थामें उसे जो समृद्ध और आनन्दमय जीवन मिला है, वह नारी-स्वातन्त्र्यके अभिमानी अन्य समाजोंमें अविदित है। नारीकी स्वतन्त्रताका निषेध और उसकी रक्षणीयताका प्रतिपादन शास्त्रकारोंकी अनुदार नीतिका सूचक नहीं है। इसमें उनका उद्देश्य सामाजिक श्रेय और स्वास्थ्यके साथ-साथ नारीका हित और गौरव रहा है। इसीलिये उन्होंने सुरक्षाको केवल पुरुषके अधिकार और आरोपणसे सम्भव नहीं माना है। नारीका शील ही संस्कृतिका गौरव है। उसके शीलकी रक्षा उसके सहयोगके बिना नहीं हो सकती। बलपूर्वक नारीका बन्धन उसके शीलकी सुरक्षा नहीं है। शीलको अपना गौरव न माननेवाली स्त्रियाँ घरकी चहारदीवारीमें बंद होनेपर भी अरक्षित हो सकती हैं। अनर्थ और अनाचारके लिये सामाजिक जीवनमें अनन्त छिद्र हैं। अतः जो शीलके गौरवमें विश्वास करके उसकी रक्षाको अपना धर्म मानती हैं, वे ही वास्तवमें सुरक्षित हैं। पुरुष केवल उसका अङ्गरक्षक है। अपने शील और गौरवकी रक्षा नारीका आत्मतन्त्र अधिकार है। बाहरी दृष्टिसे उसे रक्षणीया बनाकर शास्त्रकारोंने उसके इस अधिकारको सफल बनानेकी केवल एक सामाजिक परिस्थिति प्रदान की है।

अस्तु, ब्रह्मचर्यमें अर्जित स्वास्थ्य, शक्ति, शील और ज्ञानकी विभूति लेकर स्त्री-परिग्रहपूर्वक गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना तथा विधि और मर्यादापूर्वक इसके धर्मोंका पालन करना जीवनकी पूर्णता और परितृप्तिका मार्ग है। व्यक्तिगत जीवनके स्वास्थ्य और सामाजिक श्रेयके दृष्टिकोण-के कारण गृहस्थके अर्थ और काम स्वार्थमय उपभोगके रूपमें नहीं स्वीकृत किये गये हैं। अन्य आश्रमोंके पालन, दान, अतिथि-सत्कार और मानवीय सम्बन्धोंकी व्यापकताके द्वारा विभाजित करके अर्थ और भावना दोनोंके वैभवको अधिक समृद्ध बना दिया गया है। ब्रह्मचर्य-कालमें भोजन, ज्ञान आदिके रूपमें समाज और संस्कृतिका जो अनुदान मनुष्यको मिलता है, उसे अनेक रूपोंमें चुकाना गृहस्थका धर्म है। समाज और संस्कृतिकी श्रेय-परम्पराएँ इसी विधिसे प्रगतिशील रह सकती हैं। इन अनुदानोंको शास्त्रोंमें 'ऋण' कहा गया है। अनुग्रहपूर्वक प्राप्त होनेवाली वस्तु ही ऋण है। पूर्वजों-से हमें जीवन प्राप्त होता है, यह पितृ-ऋण है। ऋषियोंसे हमें ज्ञान प्राप्त होता है, यह ऋषि-ऋण है। देवताओंकी अनुकम्पा हमारे धर्म और मङ्गलकी रक्षा करती है। यह देव-ऋण है। इन तीन अनुदानोंसे संस्कृत और समृद्ध होकर ब्रह्मचर्यकी साधनाद्वारा मनुष्यका जीवन समर्थ बनता है। समर्थ होकर इन ऋणोंका चुकाना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थके इन धर्मोंको यज्ञकी एक सामान्य संज्ञा दी गयी है। विशेषतः अग्निके होमपर्वको यज्ञ कहते हैं, किंतु वस्तुतः यज्ञ

जीवनकी भारतीय कल्पनाका एक मूल और सामान्य सिद्धान्त है। होमके समान निष्ठा, पवित्रता और हितकी भावनासे किया जानेवाला प्रत्येक जीवनकर्म यज्ञ ही है। व्यक्तिगत जीवनकी कृतार्थता और सामाजिक श्रेयके साधक कर्म मुख्य-रूपसे पाँच माने गये हैं। ये पाँचों कर्म पुण्य और परार्थताकी महत्ताके कारण 'पञ्चमहायज्ञ' कहलाते हैं।

पितरोंसे मनुष्यको जीवन और पोषण प्राप्त होता है, अतः उनके इस ऋणका चुकाना भी गृहस्थका एक प्रमुख कर्तव्य है। पितृलोक और जन्मान्तरकी कल्पनाके माननेके कारण श्राद्ध आदिके द्वारा पितरोंका तर्पण करना इस ऋण-से उऋण होनेका मार्ग माना गया है। श्राद्ध भी पितरोंकी कृतज्ञताओंके स्मरणका एक साधन है। आजके वैज्ञानिक युगमें लोग पितृलोक, तर्पण आदिको न मानें, तो भी अन्य रूपमें पितरोंका स्मरण और मान पितृ-यज्ञका आधुनिक रूप बन सकता है। महापुरुषोंके स्मारक स्मृतिपर्व आदि पितृ-यज्ञके ही आधुनिक रूप हैं। पूर्वजोंके गुण और गौरवके लिये हम उनका स्मरण करें और उनकी स्मृतियोंसे प्रेरणा ग्रहण करें, यही पितृ-यज्ञका उद्देश्य है।

ऋषि और आचार्योंसे हमें ज्ञान और विद्या प्राप्त होती है। श्रुति और स्मृतियोंमें सकलित प्राचीन ऋषियोंका ज्ञान उनकी दी हुई साधनाओंका फल है। आचार्यगण श्रम और साधनाद्वारा इस अमूल्य ज्ञानका संरक्षण करते हैं। शिष्योंको यह ज्ञान प्रदानकर वे इसकी परम्पराको आगे बढाते हैं। ज्ञानकी यह परम्परा मानवीय संस्कृतिकी अनमोल विभूति है। इस परम्परासे मानवीय गौरव प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारियोंका कर्तव्य है कि वे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करनेपर इस परम्पराकी प्रगतिमें सहयोग देकर अपना कर्तव्य-पालन करें। पूर्वकालका सञ्चित ज्ञान हमें एक ऋणके रूपमें ही प्राप्त होता है। उस ज्ञानकी परम्परामें सहयोग देकर हम उस ऋणको चुका सकते हैं। इस सहयोगके दो मार्ग हैं—एक स्वाध्याय और दूसरा अध्यापन। स्वाध्याय सभी वर्णोंका साधारण धर्म है। दीक्षान्तके समय प्राचीन आचार्य अपने शिष्योंको यह आदेश देते थे कि तुम स्वाध्यायमें प्रमाद मत करना; किंतु स्वाध्याय अपने लिये है। इससे ब्रह्मचर्य-कालमें प्राप्त की हुई विद्या व्यक्तिके जीवनका आलोक बनी रहती है। यह सजग विद्या व्यक्तिके जीवनका उन्नयन करके लोक-हितकारिणी भी होती है, किंतु इसके साथ-साथ इस विद्याका प्रसार और प्रचार भी ज्ञानकी सनातन परम्पराकी प्रगतिके लिये आवश्यक है। अध्यापन इसका मार्ग है। शास्त्रोंमें यह अध्याप[न] ब्राह्मणोंका ही अधिकार माना गया है। विद्याके लिये जीवन अर्पण करनेवाला ही सच्चा ब्राह्मण है। ऐसा व्यक्ति ही अध्यापनका अधिकारी है, किंतु सभी व्यक्ति ऐसे नहीं हो सकते और न सबके ऐसा होनेपर सामाजिक व्यवस्थाका सतुलन रह सकता है। जो उक्त कारणसे अध्यापनके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिये ज्ञानकी परम्पराकी प्रगतिमें सहयोग देनेका एक तीसरा मार्ग है। वे आर्थिक सहायता द्वारा विद्याके प्रचारमें सहायता दे सकते हैं। इस प्रकार विद्याकी परम्परामें सहयोग देना सभी गृहस्थोंका अधिकार और कर्तव्य है।

देवताओंकी आराधना देव-यज्ञ है। होम, पूजा, उपासना आदि इसकी विधियाँ हैं। प्राचीन श्रद्धामय युगमें तो देव पूजा जीवनका प्राण थी। विज्ञान और अश्रद्धाके इस युगमें आज वह उस रूपमें माननीय न भी हो, तो भी एक दूसरे रूपमें देव-पूजाका मानवीय संस्कृतिमें सनातन स्थान है। वस्तुतः देवता मानवीय जीवनकी कुछ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विभूतियोंके प्रतीक हैं। ब्रह्मा सृजनात्मिका शक्तिके, विष्णु पालनी शक्तिके और रुद्र संहारिणी शक्तिके प्रतीक हैं। सरस्वती ज्ञानकी देवी हैं। लक्ष्मी जीवनके सौन्दर्य और श्रीकी संज्ञा है। इस प्रकार सभी देवता जीवनकी सांस्कृतिक विभूतियोंके प्रतीक हैं और किसी-न-किसी रूपमें उनकी आराधना मानवीय जीवनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

पितृ-ऋण और देवताओंके अतिरिक्त विश्वके समस्त जीवोंके प्रति भी मनुष्यका एक सामान्य कर्तव्य है। इन जीवोंमें सभी प्राणी सम्मिलित हैं। मनुष्यका इनमें एक पृथक् और विशेष स्थान है। मनुष्य प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ है। अतः समस्त जीवोंका पालन उसका धर्म है। इसके साथ-साथ मानवीयताके नाते मनुष्यके प्रति उसके कुछ विशेष कर्तव्य हैं। सामान्यतः प्राणियोंके प्रति मनुष्यके कर्तव्यको भूत-यज्ञ अथवा जीव-यज्ञ कहते हैं। भूतयज्ञका अभिप्राय जीवोंको भोजन और आश्रय देकर उनका पालन तथा रक्षण है। चींटियों, मछलियों आदितकको भोजन देनेकी परम्परा इसी यज्ञका रूप है। गायके लिये एक रोटी निकालनेकी तथा कुत्तेके लिये टुकड़ा छोड़नेकी प्रथा आजतक प्रचलित है। किसी भी रूपमें हो, प्राणियोंका पालन मनुष्यका एक पवित्र कर्तव्य है।

प्राणियोंमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। अतः उसका सत्कार मनुष्यका विशेष धर्म है। परिवार-सम्बन्ध और परिचयकी सीमाओंके अन्तर्गत मनुष्यका सत्कार अधिक सहज और स्वाभाविक है, किंतु केवल इन सीमाओंके अन्तर्गत मानवीय शील और सद्भावोंका निर्वाह मानवीय सस्कृतिके लिये पर्याप्त नहीं है। अतः भारतीय धर्मशास्त्रमें मनुष्यमात्रके प्रति एक साधारण कर्तव्यका विधान किया गया है। यह महान् कर्त्तव्य मनुष्य-यज्ञ कहलाता है। अतिथिसत्कार इसका एक सामान्य रूप है। एक अपरिचित आगन्तुकके प्रति स्नेह और सद्भावका विधान करके भारतीय धर्मशास्त्रोंने मानवीय सस्कृतिके बीज मन्त्रकी प्रतिष्ठा की है। यह उदार मानवीय भावना भारतीय सस्कृतिकी अनन्य विभूति है। ग्रामीण समाजमें अपरिचित अतिथियोंके सत्कारकी उदार भावना अभी चली आ रही है। आज होटल और धर्मशालाएँ सत्कारकी नवीन व्यवस्थाएँ कर रही हैं। किंतु इसके साथ-साथ आतिथ्यमें जो सरस मानवीय भावना थी, वह भी विलुप्त हो रही है।

ये पञ्चमहायज्ञ गृहस्थके प्रधान धर्म हैं। इनकी व्यवस्था इतनी व्यापक है कि इनमें मनुष्य-जीवन और समाजकी एक समृद्ध कल्पना सफल हुई है। इन पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा प्रत्येक गृहस्थ कृतार्थ हो सकता है। ये जीवनमें कृतार्थता, पूर्णता और आनन्दके साधक हैं। ये गृहस्थके नित्यकर्म हैं, काम्य कर्म नहीं। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको इन्हें अपना धर्म मानकर केवल जीवनकी कृतार्थताके लिये करना चाहिये, अन्य किसी फलकी कामनासे नहीं। आधुनिक भाषामें हम यह कह सकते हैं कि ये जीवनके साध्य हैं, साधन नहीं। इनकी साधनाका मूल्य और आनन्द इनके पालनमें ही है, इनसे प्राप्त होनेवाले अन्य आगन्तुक फलोंमें नहीं।

'प्रिया-प्रसाद'

चौपाई

राधा राधा राधा कहौं। कहि कहि राधा राधा लहौं॥ १॥
राधा जानौं, राधा मानौं। मन राधा रस ही मैं सानौं॥ २॥
राधा जीवन, राधा प्रान। राधा ही राधा गुन गान॥ ३॥
राधा बृंदावन की रानी। राधा ही मेरी ठकुरानी॥ ४॥
राधा व्रजजीवन की ज्यारी। राधा प्राननाथ की प्यारी॥ ५॥
राधा राधा राधा एक। सर्वोपर राधा हित टेक॥ ६॥
राधा अतुल रूप गुन भरी। व्रजवनिता कदव मजरी॥ ७॥
राधा मदनगुपालहि भावै। मुरली मैं राधा गुनगावै॥ ८॥
राधा रस प्रसाद की साधा। रसिक राय कैं राधा राधा॥ ९॥
या राधा कों हौं आराधौं। राधा ही राधा रट साधौं॥१०॥
राधा वचन, मौन हूँ राधा। राधा राधा राधा राधा॥११॥
सोएँ राधा, जागें राधा। राति द्यौस राधा ही राधा॥१२॥
राधा हेरौं, राधा सुनौं। राधा समझौं, राधा गुनौं॥१३॥
राधा मेरी स्वामिनि सॉची। थिर चित है राधा हित नाची॥१४॥
राधा जो कछु कहै, सो करौं। महल टहल टकोर अनुसरौं॥१५॥
राधा राधा गीत सुनाऊँ। राधा आगें राग जमाऊँ॥१६॥
राधा कौं बहु भॉति रिझाऊँ। तीखी बातनि चोख हँसाऊँ॥१७॥
राधा की चटकीली चेरी। चित ही चढी रहति नित नेरी॥१८॥
राधा रुचिहि लियेई रहौं। विहरत गृह वन गोहन गहौं॥१९॥
रूप उज्यारी राधा देखौं। भागन को सुख कहा बिसेखौं॥२०॥
राधा सब ही भॉति लड़ाऊँ। राधा रीझैं राधा पाऊँ॥२१॥
राधा सौं कछु कहौं कहानी। परम रसीली अति मनमानी॥२२॥
चॉपत चरन तनक झुकि जाऊँ। छुवै सीस राधा के पाऊँ॥२३॥
चरन हलाय जगाएँ जागौं। बहुरि औंधि नित पायनि लागौं॥२४॥
राधा धरयौ बहुगुनी नाऊँ। टरि लगि रहौ, बुलाएँ जाऊँ॥२५॥
राधा की जूठनि ही जियौं। राधा की प्यासनि ही पियौं॥२६॥
राधा कौ सुख सदा मनाऊँ। सुख दै दै हौंहूँ सुख पाऊँ॥२७॥
राधा ढिग जब स्याम निहारौं। समय उचित सुख टहल विचारौं॥२८॥
राधा पिय पै बिजना ढोरौं। श्रमजल सुखऊँ, मन रस बोरौं॥२९॥
पिय मय है प्यारी हित पालौं। ललना लाल परस्पर लालौं॥३०॥
राधा मोहन एकै दोऊ। नैन प्रान मन प्रेम समोऊ॥३१॥
राधा हिलग कहत नहिं आवै। मोहन ही राधा रुचि पावै॥३२॥
राधा मोहन मोहन राधा। हिलनि मिलनि विहरनि विन बाधा॥३३॥
राधा प्रेम रसामृत सरसी। केलि-कमल-कुल-सुषमा दरसी॥३४॥
राधा मन मैं मन दै रहौं। राधा के मन की सब लहौं॥३५॥
राधा कौ स्वभाव पहिचानौं। राधा की रुचि रचना ठानौं॥३६॥
राधा मन की मोसौं बोलै। गुपत गास अपनी रुचि खोलै॥३७॥
हौं राधा की, राधा मेरी। कीरति की घर जाई चेरी॥३८॥
राधा की मनभावति लौंडी। राधा की आनदनि औंडी॥३९॥
राधा चीर उतारन पाऊँ। भाग बड़ाई कहा जनाऊँ॥४०॥
राधा मो कर पाय झवावै। भाग भरी महावरौ द्यावै॥४१॥

राधा कौं हौंसनि हौं प्यारी। जाते तन कौं करति न न्यारी॥४२॥
लाल विहारी हूँ सौं ऐंडनि। राधा के गुमान की पैंडनि॥४३॥
उसरि भरौं हित ढरौं अग सौं। करौं टहल रसमसी रग सौं॥४४॥
अड़े दाय को काम परै जब। विन बहुगुनी सँवारै को तब॥४५॥
मेरौ सुख हौंही भर देखौं। राधा कौ सुख अतर लेखौं॥४६॥
लेखौं सुख, जब जब मुख देखौं। राधा कौं सुख कहा विसेखौं॥४७॥
राधा कौ सुख मेरें सुख है। मदन गुपाल निहारै मुख है॥४८॥
चेरी, पै अभिमान भरी हौं। ठकुरायनि या भाँति करी हौं॥४९॥
राधा की बलिहार भई हौ। राधा यौ अपनाय लई हौं॥५०॥
राधा बिन कछु और न सूझौं। सुरझि सुरझि अभिलाष उरूझौं
राधा आँखिन आगें रहै। राधा मन कौ मारग गहै ॥५२॥
रोम रोम राधा की व्यापनि। रसिक जीवनी राधा जापनि॥५३॥
राधा रटि सोई ह्वै जाऊँ। तब पाऊँ राधा को गाऊँ॥५४॥
राधा बरसाने की जाई। ह्वै सँकेत नंदीसुर आई॥५५॥
राधा की हौं कहौं कहा लौं। ब्रज बन राधामई जहाँ लौं॥५६॥
राधा के हित बसी बाजे। राधा राग भरे सुर साजे॥५७॥
राधा बसी की ठकुरायनि। सुर पाँवड़े बिछावति न्चायनि॥५८॥
नाम गाम सब राधा मेरैं। राधा ही के बसौं बसेरैं॥५९॥
सो राधा न स्याम विन रहै। मेरे मन मैं राधा यहै ॥६०॥
या राधा की महा अगम गति। प्रेम पुज मतिवती परम रति॥६१॥
या राधा कौ प्रेम कहै को। या राधा कौ नेम गहै को॥६२॥
राधा रमन रमनहू राधा। एकमेक ह्वै रहे अबाधा॥६३॥
मिलन विछोह कछु न सुधि परैं। अचिरज रीति राधिका धरैं॥६४॥
या राधा कौ रस अपरस है। रस मूरतिको परम परस है॥६५॥

दोहा

कहिवो सुनिबो समझिबो राधा ही कौ होय।
राधा के हित की कथा भूलि सुमिरिहै सोय ॥ ६६ ॥
राधा अकथ कथा कहौं, यह कहिवे की नाहिं।
राधा के जिय की दसा प्रीतम के हिय माहिं ॥ ६७ ॥
ब्रजमोहन आनंदघन, वृंदावन रस धाम।
अभिलाषनि बरसत रहै राधा हित अभिराम ॥ ६८ ॥
मधुर केलिरस-झेलि सौं, रसना स्वाद-सुरूप।
सुफल सुबानी बेलिको, राधा नाम अनूप ॥ ६९ ॥
मेरे मन दृग रीझिकी, राधा ही कौं बूझि।
राधाके मन रीझिकी, मोहि बूझि अरु सूझि ॥ ७० ॥
राधा मेरे प्रान है, राधा प्रान गुपाल।
साँस-कंठ धारे रहौं, राधा-मोहन माल ॥ ७१ ॥
आनँदघन बरसत सदा, राधा-जीवन स्याम।
उज्ज्वल रसमें गौरता, प्रेम अवधि अभिराम ॥ ७२ ॥
दोऊ मिलि एकै भए ललित रँगीली जोट।
जमुना तट निरखौं सदा तरु बेलिनि की ओट ॥ ७३ ॥
निपट लटपटे अटपटे, भरे चटपटी चोंप।
राधा मोद पयोद रस प्रगट केलि कुल कोंप ॥ ७४ ॥
ब्रजमोहन उर अवनि मैं राधा सुपद विहार।
रोम रोम आनंदघन भीजे रसिक उदार ॥ ७५ ॥
राधा हित आनंदघन मुरली गरज रसाल।
राधा ही कैं रस भरे मोहन मदन गुपाल ॥ ७६ ॥
राधा के आनंद कौ मनमोहन मन साखि।
राधा को अभिलाष जो, राधा पिय अभिलाषि ॥ ७७ ॥
राधा रसिक सँजीवनी, राधा जीवन लाल।
राधा मोहन मैं सबै ब्रजबन बेलि तमाल ॥ ७८ ॥
राधा मेरी संपदा, जिय की जीवन मूल।
राधा राधा रट सदा रोम रोम अनुकूल ॥ ७९ ॥
राधा मोहन मुख लगी मुरली ह्वै दिन राति।
राधा ही राधा बजै अति मोहन धुनि जाति ॥ ८० ॥
राधा रास सिरोमनी, राधा केलि कुलीन।
राधा सकल कला भरी, रस मूरति हित लीन ॥ ८१ ॥
जो कछु है सो राधिका, मो कछु और न चाह।
राधा पद पन पैज कौ राधा हाथ निबाह ॥ ८२ ॥
राधा सब ठाँ, सब समै, रहति बहुगुनी सग।
तान रमन गुन गान की लै बरसावति रंग ॥ ८३ ॥
राधा अचल सुहाग के ललित रँगीले गीत।
रागनि भीजी बहुगुनी रिझवति राधा मीत ॥ ८४ ॥
राधा चाहनि चाह सौं, राधा चाहनि चाह।
राधा ही रससिंधु मैं, राधा राधा थाहि ॥ ८५ ॥
राधा मो दृग पूतरी, भई स्याम लखि स्याम।
राधा राधारमन कौ अनुपम रूप ललाम ॥ ८६ ॥
राधा पिय प्यासनि भरी, आनँद घन रस रासि।
स्याम रँगमगी सगमगी राधा रही प्रकासि ॥ ८७ ॥
राधा राधा नाम कौ, रसनै महा सवाद।
या प्रबंध कौ नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद ॥ ८८ ॥
प्रिया प्रसाद प्रबंध कौं पाय सवादहि लेत।
नित हित सहित सनेह च्वै रसना इह सुख देत ॥ ८९ ॥
राधा मंगल मालती, सरस मधुव्रत स्याम।
जमुना तट राजत सदा रसिक सँजीवनि धाम ॥ ९० ॥

—महाकवि घनानन्द

सनातनधर्मनियमाः

भारतवर्षके नाना नगरोंमें सनातनधर्म-संस्थाएँ तथा सभाएँ विद्यमान हैं, जो अनवरत धर्मप्राण जनताके समक्ष नित्य-नैमित्तिक देव-पितृ-मानव-हितकारी सद्धर्ममूलक कर्मका वाचिक और रचनात्मक दिशा-निर्देश करती रहती हैं, पर खेद है कि उनके नियम परस्पर समान नहीं हैं। यद्यपि भगवान् भूतेश्वरकी भव्यभावनाओंका प्रतिनिधिभूत 'श्रीसनातनधर्म' स्वय विराट्स्वरूप है, सभी नियम उसके अनेक सिद्धान्तोंके आंगिक परिचायक हैं, तथापि उसकी सार्वभौम सत्ता और समताको समक्ष रखकर नाना संस्थाओं तथा सभाओंमें एकसूत्रता स्थापित करनेकी आवश्यकता चिरकालसे अनुभव की जा रही थी, फलत. एक महात्मासे प्रसादरूपमें प्राप्त 'सनातनधर्मनियम' सनातनधर्मी जगत्के सामने अनुवाद-टिप्पणीसहित उपस्थित कर रहे हैं। नाना नगरोंकी अनेकविध श्रीसनातनधर्म-संस्थाओंके मान्य अधिकारियोंसे प्रार्थना है कि इन नियमोंको अपनाकर श्रद्धेय संस्थाओंके पवित्र सघटनका पुण्यकार्य करें। ये नियम मूलतः संस्कृतमें हैं। यहाँ इनका हिंदी-अनुवाद दिया जा रहा है, असमिया, उड़िया, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिळ, तेलुगु, पजाबी, मराठी, मळयालम आदि भारतकी प्रमुख प्राकृत भाषाओंमें तथा विदेशी प्राकृत भाषाओंमें ठीक-ठीक अनुवाद करके इनका व्यापक प्रचार किया जा सकता है। इन नियमोंका मूलमें अथवा प्राकृत अनुवादमें नित्य पाठ करना चाहिये। मन्दिरों, तीर्थस्थानों, सनातनधर्मविद्यालयों, सभा-भवनों, धर्मशालाओंमें इन्हें संस्कृत अथवा प्राकृतभाषानुवादरूपमें लिखवाकर अथवा उत्कीर्णकर इनका धर्मप्राण जनतामें सत्प्रचार करना चाहिये। धर्मप्रचारके पुण्यकार्यमें सतत निरत समाचारपत्रोंमें इनकी व्याख्या प्रकाशित करनी चाहिये। साय-प्रातः संध्योपरान्त, भगवद्विग्रहपूजनके बाद, विद्याध्ययनसे पूर्व तथा सत्सङ्ग-प्रसङ्गमें इन सत्यसनातन नियमोंका माहात्म्यसहित पाठ करना चाहिये। इनके नित्यपाठसे भगवद्-भक्तिमें आस्था, श्रीसनातनधर्मके प्रति दृढ विश्वास, जगत्के लौकिक धर्मके प्रति जागरूकता तथा आत्मज्ञानका अक्षय लाभ होगा—ऐसा महात्माजीका उपदेश है।

(१)

अथ श्रीसनातनधर्मनियमान् प्रवक्ष्याम ।

प्रमेयस्य जगतो मूलमधिनायक निलयस्थानमेकमेव परमेष्ठि सत्य ब्रह्म सगुणं निर्गुण वा नित्यमुपासितव्यम्।

प्रमेय जगत्के मूल[१], अधिनायक[२] तथा निलयस्थान[३] एकमेव परमेष्ठि सत्य[४] ब्रह्म[५]की सगुण[६] अथवा निर्गुणभावसे[७] नित्य उपासना करनी चाहिये।

(२)

ब्रह्मदेवपितृमनुष्यपशुरूपेषु सक्रिय भासमतोऽखण्डचेतनस्य पुराणयास्य जीवस्य नि श्रेयसाय नित्यं यष्टव्यम्।

ब्रह्म[८], देवता[९], पितर[१०], मनुष्य[११] और जन्तुओंमें सक्रिय भासमान अखण्डचेतन[१२], पुराण इस आत्मा[१३]के कल्याण[१४]के लिये नित्य यज्ञ[१५] करना चाहिये।

(३)

आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिककर्मणां मूल षडङ्गो वेदो नित्य निष्कारणं द्विजेनाध्येयो ज्ञेयश्च।

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक कर्मोंके

१. तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्।

२ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभि ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्य ससारयति चक्रवत् ॥—मनु

३ ब्राह्म लय ब्रह्मदिनान्तकाले
भूतानि यद् ब्रह्मतनु विशन्ति।—भास्कराचार्य ।

४. द्यावाभूमी जनयन् देव एक ।

५. सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म।

६. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।

७ स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपो व्यक्तस्वरूपोऽप्रकटस्वरूप ।
सर्वेश्वर सर्वदृक् सर्वविच्च समस्तशक्ति परमेश्वराख्य ॥

८ अयमात्मा ब्रह्म।—माण्डूक्योपनिषद्।

९ द्युस्थानो देवगण.।

१०. अधा मृता पितृषु सम्भवन्तु।—अथर्ववेद

११ सर्वस्याभ्यागतो गुरु ।

१२ अविनाशी अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।

१३ इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि।

१४ (अ) देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व ।
परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ ॥

(आ) आयु पुत्रान् यश स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बल श्रियम्।
पशून् सौख्य धन धान्य प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥

१५ यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभि ।

मूल षडङ्ग वेदका नित्य और निष्कारण स्वाध्याय और ज्ञान द्विजमात्रका कर्तव्य है।

(४)

स्मृतिसूत्रदर्शनपुराणवेदान्तसाहित्येतिहासानां स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां द्विजानां संकल्पाश्च संस्काराश्च नूतनीभवन्ति।

स्मृति, सूत्र, दर्शन, पुराण[3], वेदान्त, साहित्य और इतिहास[4]के स्वाध्याय-प्रवचन[5]द्वारा द्विजोंके सकल्प और संस्कार[6] नूतन रहते हैं।

(५)

वैदिकं समाजविधानं वर्णः जन्मगुणकर्मस्वभावैः व्यवस्थीयते, तत्पालनमुभयत्र मानवस्य निःश्रेयसाय भवति।

वैदिक समाज-विधान 'वर्ण'की जन्मगुणकर्मस्वभावपर व्यवस्था की गयी है, उसका पालन मनुष्यके इहलोक-परलोकके लिये कल्याणप्रद है।

(६)

वेदशास्त्रप्रतिपादिता वृत्तिः सदाचाराय, स्वेच्छामोहपराग्रहमूला वृत्तिः मिथ्याचाराय भवति।

वेदशास्त्रद्वारा प्रतिपादित वृत्ति सदाचार है; स्वेच्छा, मोह, हठसे की हुई वृत्ति मिथ्याचार है।

(७)

सत्यविवेकाहिंसापरिग्रहास्तेयाभयाद्वेषसहिष्णुतासंयमशौचदयाधैर्यैः शास्त्रविहितं कर्म परिचीयते सर्वत्र।

शास्त्रप्रतिपादित कर्मकी[8] सत्य, विवेक, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, अभय, अद्वेष, सहिष्णुता, संयम, शौच, दया और धैर्यसे पहचान होती है।

(८)

उपासनास्वाध्यायविहितवृत्तीनां सामञ्जस्येन वैयक्तिकी, जातीया, राष्ट्रिया समुन्नतिः सम्भाव्यते।

उपासना, स्वाध्याय और शास्त्रविहित वृत्तिके[9] सामञ्जस्यसे जातीय, वैयक्तिक तथा राष्ट्रिय समुन्नतिकी सम्भावना है।

(९)

स्वाध्यायोपासनाव्यवहारान् सम्यक् साधयन्ती वेदलोकाङ्गभूतामरभाषा शाश्वतं परिपालनीया।

स्वाध्याय, उपासना और व्यवहारको साधनेवाली वेद और लोकमें[11] अङ्गीभूत संस्कृतभाषाका शाश्वत परिपालन करना चाहिये।

माहात्म्य

परमाङ्कनिबद्धान्[12] ये प्रसिद्धान् सर्वशास्त्रतः।
पठन्ति नियमांस्तेषां धर्मे प्रीतिर्भवेद् ध्रुवम्॥
समाहृत्य तु शास्त्राणि धर्मग्लानिं निशाम्य च।
नॄन् नियन्तुमिमे प्रोक्ता नियमाश्च सनातनाः॥
यज्ञस्वाध्यायवृत्तीनां सामञ्जस्यं प्रकुर्वतः।
गच्छतः स्खलनं क्वापि न हि दोषाय कर्हिचित्॥

—कश्चन सनातनधर्मा।

---

१. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।

२. स्तुता मया वरदा वेदमाता पावमानी द्विजानाम्।

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

४. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्॥ पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥ —महाभारत।

५. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

६. स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादकोऽतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।

७. (अ) तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ। य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।

(आ) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(इ) सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव हि॥ —मनुः

(ई) जिनका जन्म जिस वर्णमें हो, उसीके सदृश गुण-कर्म-स्वभाव हों तो अतिविशेष है। —स्वामिदयानन्दरचितः संस्कारविधि, पृष्ठ २३४

८. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

९. (अ) वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।

(आ) सत्याज्जायते, दमया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।

१०. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।

११. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

१२. चार नियम ३६ (९–४=३६) वर्णोंके हैं, पाँच नियम ४५ (९–५=४५) वर्णोंके हैं। सर्वतोमुखी परमाङ्क ९ का सूचक है।
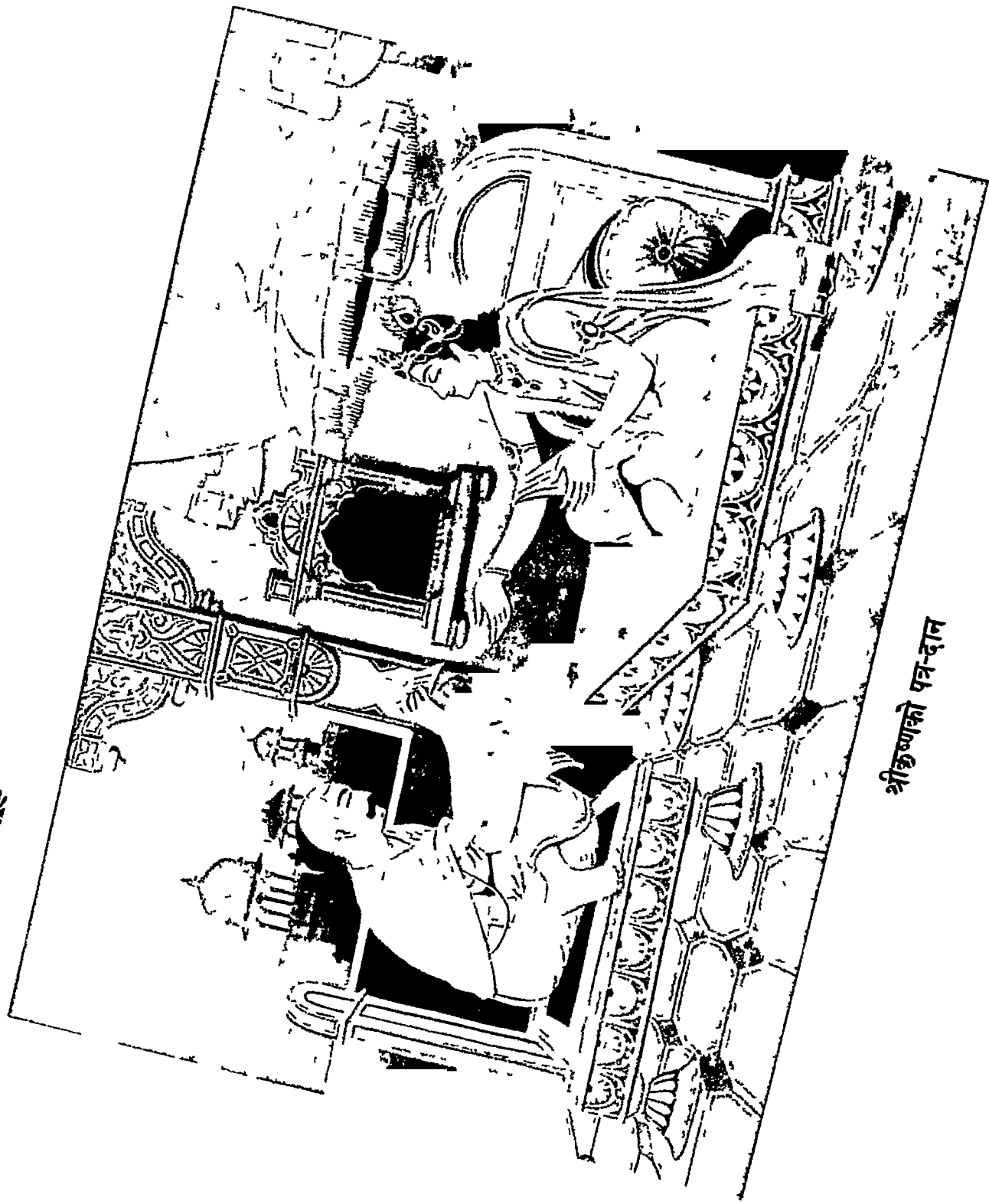
श्रीकृष्णको पत्र-दान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
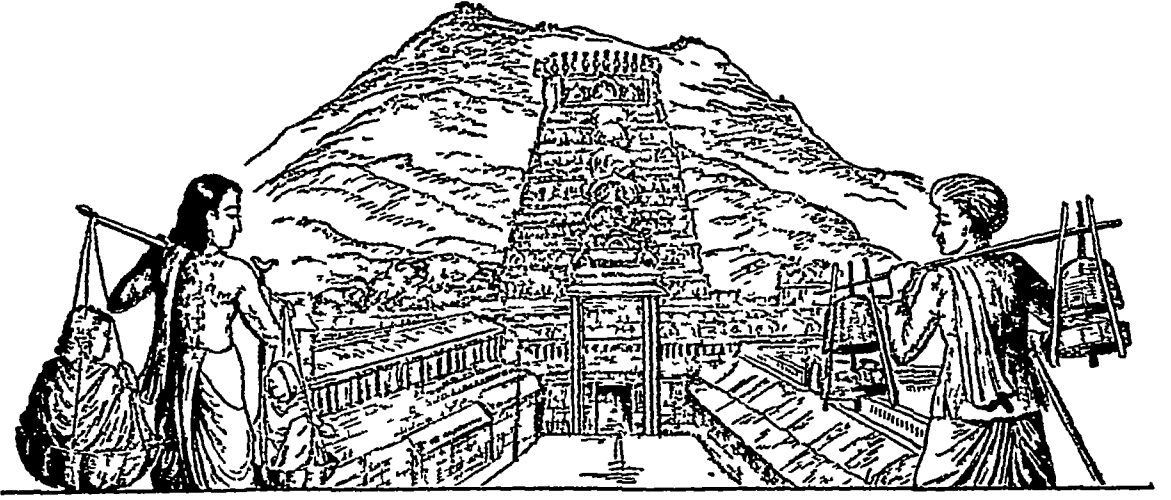
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१४, अक्टूबर १९५७ { १० पूर्ण संख्या ३७१

रुक्मिणीका श्रीकृष्णको संदेश

पाती दीजौ स्याम सुजानहि ।
मुख संदेस सुनाइ दीजियौ, मोहि दीन करि जानहिं ॥
श्रीहरि जोग रुकमिनी लिखितं, विनय सुनौ प्रभु कानहिं ।
बाँचत वेगि आइयौ माधौ, धरौ जात मेरे प्रानहि ॥
समुझत नाहिं दीन दुख कोऊ, हरि भख जंबुक पानिहिं ।
मनि मरकट कौं देत मूढ़मति, मृगमद रज में सानहिं ॥
कब लौं दुःख सहौं दरसन बिनु, भई मीन बिनु पानिहि ।
सूरदास प्रभु अधर सुधाधर, बरषि देहु जिय दानहि ॥

याद रक्खो—जो वास्तवमे अपने आत्मस्वरूपमे स्थित है, वही सच्चा ज्ञानी है और उस ज्ञानीका—देहात्मभावशून्य आत्मस्वरूप पुरुषका कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है । न उसपर विधि-निषेधात्मक शास्त्रका कोई शासन ही है । पर यदि वह साधनकालमें एकान्तवासी, ध्यानाभ्यासी तथा केवल विचारपरायण रहा है तो वह ज्ञानोत्तरकालमें शुभ कर्मोंसे भी विरत, उदासीन तथा एकान्तसेवी ही रहता है और जिसने साधन-कालमें अधिक समय निष्काम कर्म तथा उपासनामें लगाया है, उसके द्वारा निष्कामभावसे सहज ही शुभ कर्म—लोकोपकारी कर्म होते रहते हैं । स्वरूपत कर्म करना या न करना उसकी पूर्व प्रकृतिसे सम्पर्क रखता है । वस्तुतः वह सदा-सर्वदा कर्मरहित है; क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमानी कोई रहता ही नहीं ।

याद रक्खो—ज्ञानी पुरुष अवश्य ही विधि-निषेधके बन्धनमें नहीं है, तथापि उसके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका यानी पापोंका आचरण कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि साधनकालमे ही उसका अन्त.करण भोग-कामना, वासना आदिसे विमुक्त होकर विशुद्ध हो चुकता है । उसके अन्त करणमें जब शुद्ध भोग-कामना ही नहीं रहती, तब दूषित पाप-सस्कार तो रह ही कैसे सकते हैं ? उसका हृदय सर्वथा कामना-वासना-शून्य होता है, इससे उसके द्वारा पापाचरण होना सम्भव नहीं, क्योंकि पापाचरणमें एकमात्र हेतु भोग-कामना ही है ।

याद रक्खो—आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषको भोग-पदार्थोंका सुखरूप प्रतीत होना तो दूर रहा, उसके पवित्र अन्तःकरणमे ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं रह जाती । जब किसी भोगकी सत्ता ही नहीं है और जब कामना करनेवाला कोई अहकारी ही नहीं है, तब भोग-कामना होगी ही कैसे ? अतएव ज्ञानीके द्वारा आसक्ति-कामनायुक्त कर्म कभी नहीं हो सकते । किसीमे यदि होते हैं तो समझ लेना चाहिये उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नही हुई है ।

याद रक्खो—कर्म-सस्पर्शशून्य होनेपर भी जबतक प्रारब्ध शेष है, तबतक अहम्भावरहित ज्ञानीका शरीर रहेगा और तबतक उस शरीरमें प्रारब्धानुसार अनुकूल-प्रतिकूल भोग भी दिखायी देंगे । ज्ञानीका शरीर सर्वथा नीरोग भी रह सकता है और बहुत रुग्ण भी । उसका बहुत मान-यश हो सकता है और घोर अपमान-अकीर्ति भी । उसके सतान-सुख पूरा रह सकता है और पुत्रोंकी मृत्यु भी हो सकती है ।

परतु ज्ञानीके अनुभवमे ससारकी सत्ता नहीं रहती और ससारका मिथ्यात्व सिद्ध हो चुकता है, इसलिये किसी भी सासारिक अनुकूल या प्रतिकूल घटना या स्थितिसे वह कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत या विचलित नहीं होता । उसके लिये प्रारब्धवश अनुकूल-प्रतिकूल प्रसङ्ग आते दिखायी दे सकते हैं; परतु प्रत्येक प्रसङ्गमे वह यथायोग्य व्यवहार करते रहनेपर भी उससे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त ही रहता है । उसका निश्चय होता है—यह सब असत् प्रपञ्च है और केवल व्यवहारके लिये ही इसकी सत्ता है ।

'शिव'
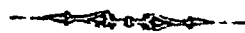
गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उपक्रम

पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें उनके महान् ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी भारी जलन पैदा हो गयी और उसने शकुनि आदिकी सम्मतिसे जुआ खेलनेके लिये युधिष्ठिरको बुलाया तथा छलसे उनको हराकर उनका सर्वस्व हर लिया। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई द्रौपदीसहित बारह वर्ष वनमें और एक साल छिपकर रहें; इस प्रकार तेरह वर्षतक समस्त राज्यपर दुर्योधनका आधिपत्य रहे और पाण्डवोंके एक सालके अज्ञातवासका भेद न खुल जाय तो तेरह वर्षके बाद पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इस निर्णयके अनुसार तेरह साल बितानेके बाद जब पाण्डवोंने अपना राज्य वापस माँगा, तब दुर्योधनने साफ इन्कार कर दिया। उसे समझानेके लिये द्रुपदके ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध पुरोहितको भेजा गया, परंतु उसने कोई बात नहीं मानी। तब दोनों ओर-से युद्धकी तैयारी होने लगी।

जब पूरी तैयारी हो गयी, तब भगवान् वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप जाकर उनसे कहा—'यदि तुम घोर संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूँ।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा—'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ! मैं कुल-के इस हत्याकाण्डको अपनी आँखोंसे देखना तो नहीं चाहता, परंतु युद्धका सारा वृत्तान्त भलीभाँति सुनना चाहता हूँ।' तब महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान करके धृतराष्ट्रसे कहा—''ये संजय तुम्हें युद्धका सारा वृत्तान्त सुनायेंगे। ये युद्धकी समस्त घटनावलियोंको प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेंगे। सामने या पीछेसे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या केवल मनमें आयी हुई, ऐसी कोई बात न होगी, जो इनसे तनिक भी छिपी रह सके। ये सब बातोंको ज्यों-की-त्यों जान लेंगे। इनके शरीरसे न तो कोई शस्त्र छू जायगा और न इन्हें जरा भी थकावट ही होगी।

''यह 'होनी' है, अवश्य होगी, इस सर्वनाशको कोई भी रोक नहीं सकेगा। अन्तमें धर्मकी जय होगी।''

इतना कहकर महर्षि वेदव्यास चले गये। उनके जाने-के बाद धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय उन्हें पृथ्वीके विभिन्न द्वीपोंका वृत्तान्त सुनाते रहे, इसीमें उन्होंने भारतवर्षका भी वर्णन किया। तदनन्तर जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लगातार दस दिनोंतक युद्ध होनेपर पितामह भीष्म रणभूमिमें रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें अकस्मात् भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनाया (महा० भी० १३)। उसे सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा ही दुःख हुआ और युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये उन्होंने संजयसे कहा; तब संजयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूह-रचना आदिका विस्तृत वर्णन किया। इसके बाद धृतराष्ट्रने विशेष विस्तारके साथ आरम्भसे तबतककी सारी घटनाएँ जाननेके लिये संजयसे प्रश्न किया। यहींसे श्रीमद्भगवद्गीताका पहला अध्याय आरम्भ होता है। महाभारत, भीष्मपर्वमें यह पचीसवाँ अध्याय है। यहाँसे बयालीसवें अध्यायतक 'गीता' कही गयी है।

पहला अध्याय

इस पहले अध्यायको गीताग्रन्थकी अवतारणा समझना चाहिये। इसमें दोनों ओरके प्रधान-प्रधान योद्धाओंके नाम गिनाये जानेके बाद मुख्यतः अर्जुनके बन्धुनाशकी आशङ्का-से उत्पन्न मोहजनित विषादका ही वर्णन है। ऐसा विषाद भी सत्सङ्गके प्रभावसे कल्याणकी ओर अग्रसर करानेवाला योग (साधन) बन जाता है, इसलिये इसका नाम 'अर्जुन-विषादयोग' रखा गया है।

इसमें सर्वप्रथम धृतराष्ट्रने संजयसे इस प्रकार प्रश्न किया—'संजय! कुरुक्षेत्रमें युद्धकी अभिलाषासे एकत्र हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया? युद्धके पूर्व वहाँ क्या-क्या बातें हुईं? और किस प्रकार युद्ध आरम्भ हुआ?'

धृतराष्ट्रद्वारा किये गये इस प्रश्नका कि 'मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?' कोई-कोई विचारक यह भाव निकालते हैं कि 'उन्होंने युद्ध किया या नहीं?' किंतु यह भाव युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि संजय उसे ही यह कह चुके हैं कि 'दस दिनोंसे युद्ध हो रहा है और आज भीष्मजी मारे गये हैं।' यह बात जान लेनेपर ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता कि 'युद्ध हुआ या नहीं?' अतः धृतराष्ट्रके पूछनेका यही भाव है कि 'वहाँ परस्पर क्या बातें हुईं? और युद्ध किस

प्रकार हुआ ?' इसी भावके अनुसार उत्तर देते हुए संजयने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

'महाराज ! उस समय पाण्डवसेनाकी वज्र-व्यूह-रचना देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया और उनको युद्धके लिये उत्तेजित करता हुआ बोला—'आचार्य ! आपके शत्रु द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न आपको मारनेके लिये ही पैदा हुआ और आपसे ही युद्ध-विद्या सीखकर आपका ही सामना करनेके लिये उसने यह अद्भुत वज्र-व्यूह-रचना की है। इसमें उसने बड़ी बुद्धिमानीका कार्य यह किया है कि पाण्डवोंकी थोड़ी-सी सेना भी बड़ी विशाल दिखायी देने लगी है। हम आशा करते हैं कि आप अपनी सेनाका व्यूह उससे भी अद्भुत एवं प्रभावशाली बनायेंगे; क्योंकि आप पाण्डवोंके तथा हम सबके भी आचार्य हैं, व्यूह-रचना-कलामें अत्यन्त निपुण हैं। यदि पाण्डवोंकी सेनामें भीम और अर्जुनके समान पराक्रमी योद्धा हैं तो अपने पक्षमें भी आप और भीष्म-जैसे शूरवीर योद्धा विद्यमान हैं, जो अतिशय बलवान् होनेके साथ ही युद्धमें मेरे लिये प्राण देनेको उद्यत हैं। अतः हमारी सेनाका ही बल अधिक है। सेनाके संरक्षण-कार्यमें भीमकी अपेक्षा भीष्म ही अधिक बलवान् हैं। इसलिये आप सब लोग भीष्मकी ही रक्षा करें। मुझे भय है कि कहीं शिखण्डी आकर भीष्मको मार न डाले; क्योंकि जन्मकालमें स्त्री होनेके कारण शिखण्डीपर शूरवीर भीष्म अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। मेरा विश्वास है कि भीष्मकी रक्षा होनेपर हम सबकी रक्षा हो सकती है; क्योंकि भीष्म अकेले ही सबकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं।'

दुर्योधनकी यह बात भीष्मजीने भी सुन ली थी, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए और दुर्योधनका हर्ष एवं उत्साह बढानेके लिये सिंहनाद करके उन्होंने अपना विजयसूचक शङ्ख बजाया। इसके पश्चात् कौरवसेनामें और भी बहुत-से शङ्ख, नगारे, ढोल और मृदङ्ग आदि जुझाऊ बाजे सहसा बजने लगे। यह युद्ध आरम्भ होनेकी सूचना थी। पाण्डवोंने भी उसके प्रत्युत्तरमें अपने-अपने शङ्ख बजाये, जिससे सारी पृथ्वी और आकाश गूँज उठा तथा उस भयानक ध्वनिसे कौरवपक्षके सैनिकोंका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा।

उस समय धृतराष्ट्रके सैनिक व्यूह-बद्ध हो सुव्यवस्थित खड़े थे और उनके द्वारा अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार आरम्भ होना ही चाहता था। यह अवस्था देख अर्जुन वीरोचित शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे—

'अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके मध्यभागमें खड़ा कर दीजिये। मैं पहले देख तो लूँ कि ये कौन-कौन वीर युद्धकी कामना लेकर यहाँ खड़े हुए हैं और इस रणक्षेत्रमें किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना होगा। युद्धमें दुर्योधनकी दुर्बुद्धिका निवारण न करके उसका प्रिय करनेकी इच्छासे ये जो लोग यहाँ पधारे हुए हैं और युद्धके लिये तैयार खड़े हैं, इन सबको आज मैं देखूँगा।'

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें भीष्म और द्रोण आदिके सामने अपने रथको ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा—'इन कौरव योद्धाओंको देखो।' अर्जुनने देखा—पितामह, आचार्य और बन्धु-बान्धव सामने खड़े हैं। उन्हें देखकर वे दयासे द्रवित हो उठे और शोकातुर होकर भगवान्से बोले—'प्रभो ! ये सब तो मेरे स्वजन हैं, इनको देखकर न तो मुझे युद्ध करनेका साहस होता है और न मैं युद्ध करनेमें किसीका कल्याण ही समझता हूँ। यदि इन सबको मार दिया जाय तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा—यह मेरी मान्यता है। इन स्वजनोंका विनाश करके प्राप्त किये हुए राज्य, सुख-भोग और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? इस लोकके राज्य या सुखकी तो बात ही क्या है, तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। नीतिके अनुसार जो कुछ भी कहा जाय, किंतु धर्मकी दृष्टिसे विचार करनेपर मैं तो इन आततायियोंको भी मारनेमें पाप ही समझता हूँ। लोभके कारण भ्रष्ट-चित्त हुए ये दुर्योधन आदि कुलक्षय और मित्र-द्रोहके दोषको नहीं समझते तो न समझें, किंतु मैं तो जानता हूँ कि कुलके नाशसे उसका सनातन धर्म नष्ट हो जाता है और धर्मके नाशसे कुलकी नारियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, जिससे वर्णसंकरता फैलती है। इसके परिणामस्वरूप श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाएँ नष्ट हो जानेसे कुलघाती पुरुषोंके पितर और वे स्वयं भी नरकमें जाते हैं। मैं अपनी ओरसे युद्ध न करूँ, उस दशामें यदि कौरव योद्धा अस्त्ररहित मुझको अस्त्र-शस्त्रोंसे मार डालें तो वह मरना भी मेरे लिये कल्याणकारी ही होगा।'

भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर और धनुष-बाण त्यागकर अर्जुन शोकाकुल-चित्त हो रथके पिछले भागमें बैठ गये।

दूसरा अध्याय

इस अध्यायमें कर्मयोगका वर्णन होनेपर भी उपदेशका

आरम्भ सांख्ययोगसे ही हुआ है । साख्ययोगके साधनमें आत्मानात्म-विवेक ही-मुख्य है । आत्मतत्त्वका वर्णन अन्य अध्यायोंकी-अपेक्षा इसमें अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है, इसलिये इसका नाम 'साख्ययोग' रखा गया है ।

अर्जुनके हृदयमें मोहवश करुणाका स्रोत उमड़ पड़ा था । उनके नेत्रोंसे ऑसुओंकी अविरल धारा बह रही थी, वे विषादमें डूब रहे थे। उसी अवस्थामें भगवान्‌ने उनसे कहा—'अर्जुन ! इस घोर सग्राममें यह अज्ञानजनित कायरता तुझमें कहाँसे आ गयी ? यह श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य नहीं है और न यह स्वर्ग तथा कीर्ति प्रदान करनेवाली ही है । यह तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है । यह तो नपुसकता है, इस तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ ।'

अर्जुनने कहा—'भगवन् ! भीष्म और द्रोण तो मेरे लिये परम पूजनीय हैं, मैं उन्हें बाणोंसे कैसे मारूँ ? उन्हें मारकर राज्य या सुख भोगनेकी अपेक्षा तो मैं भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना ठीक समझता हूँ । युद्धमें होनेवाले बन्धुजनोंके नाशकी आशङ्कासे मुझमें दीनता और कायरता आ गयी है । इसी दोषके कारण मेरा क्षात्रस्वभाव दब-सा गया है और मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसका निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया हूँ, मेरे मनपर मोह छा गया है । प्रभो ! मै आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ । अतः मेरे लिये जो कल्याणकारी कर्तव्य हो, उसका उपदेश कीजिये । मेरी समझमें तो यही आया है कि त्रिलोकीका राज्य मुझे मिल जाय, तब भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता; अत' मैं युद्ध नहीं करूँगा ।'

इतना कहकर अर्जुन चुप हो गये । उनके इन वचनोंको सुनकर भगवान् इसलिये मुसकराये कि 'अर्जुन अभी-अभी कह चुका है कि मैं आपके शरणागत हूँ, मुझे कर्त्तव्यका उपदेश कीजिये, और अब स्वय ही युद्ध न करनेका निश्चय प्रकट कर रहा है ।'

फिर वे दु.खित अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! आज तू उन लोगोंके लिये शोक कर रहा है, जो शोक किये जाने योग्य कदापि नहीं हैं और बातें पण्डितोंकी-सी कर रहा है । किंतु जिनके प्राण चले गये, उनके लिये, एवं जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते । जिनके प्राण चले गये, उनके लिये तो शोक करना वृथा है ही, जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी शोक करना व्यर्थ है, क्योंकि उनके प्राण जानेवाले हैं । शरीर तो नाशवान् है, वह नष्ट होकर ही रहेगा और आत्मा अविनाशी है, अतः उसका कभी नाश हो नहीं सकता । किसी भी दृष्टिसे देखा जाय, शोक करना नहीं बनता । तू, मैं और ये सब राजालोग वर्तमान शरीर धारण करनेसे पहले भी थे और भविष्यमें भी रहेंगे । शरीरका क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण वह परिणामी है । जिस प्रकार बाल, युवा और वृद्धावस्थाका होना इस स्थूल शरीरका विकार है, उसी प्रकार जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना सूक्ष्मशरीरका विकार है । इस तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहके वशीभूत नहीं होता । सर्दी, गर्मी और सुख-दु.खको देनेवाले ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं । अतः तुझे धैर्यपूर्वक इनको सहन करना चाहिये । जो इन सुख-दुःखोंको समान समझता है, जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वही अमृतत्व अर्थात् मोक्षका अधिकारी होता है । तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने यह सिद्धान्त निश्चित किया है और यह युक्तियुक्त भी है कि 'जो वस्तु सत् है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तु मिथ्या है, वह सदा स्थिर नहीं रहती ।' इसके अनुसार सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके सयोग तथा यह जड शरीर क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण असत् हैं तथा देहमें स्थित सर्वव्यापी चेतन आत्मा नाशरहित, अप्रमेय, अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अखण्ड, एकरस और पुरातन होनेसे सत् है । आत्मा नित्य, अव्यक्त और अक्रिय होनेसे न किसीको मारता है और न किसीसे मरता है, क्योंकि वह उत्पत्ति, विनाश, क्षय, वृद्धि, परिणाम आदि विकारोंसे रहित है, शरीरकी भाँति जन्मने-मरनेवाला नहीं है । अतएव शरीरका नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता । वस्त्र बदलनेकी भाँति एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आत्माका जो जाना-आना-सा प्रतीत होता है, वह सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक है—वास्तविक नहीं । वास्तवमें तो आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थाणु, अचल, सनातन, अचिन्त्य, निराकार और निर्विकार है। इसलिये न यह शस्त्रसे कटता है न आगसे जलता है, न पानीसे गलता है और न हवासे सूखता ही है । शरीरकी उत्पत्तिके पहले और शरीरके विनाशके बाद भी आत्मा अव्यक्त ही है । केवल शरीरके सम्बन्धसे उसकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है । वास्तवमें तो वह जन्म-मरणसे रहित ही है । अतएव आत्माके लिये किसी प्रकारसे भी शोक करना सगत नहीं है।

'जैसे बादलोंमें सदा व्याप्त रहनेवाला आकाश बादलोंके गरजने-बरसने आदि विकारोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सबके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहकर भी विकाररहित आत्मा शरीरके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता। इस आश्चर्यमय आत्माके तत्त्वको सुनकर भी सब समझ नहीं पाते, समझनेवाला तो कोई विरला ही होता है। कोई ज्ञानी महात्मा ही यथार्थरूपसे आश्चर्यकी ही भाँति इसे अनुभव करते, कहते और सुनते हैं। नित्य रहनेसे आत्माका कभी किसी प्रकार भी विनाश हो नहीं सकता और शरीर क्षणभङ्गुर, परिणामी एव अनित्य होनेके कारण सदा टिक नहीं सकता। अतः आत्मा और शरीरके लिये शोक करना सगत नहीं है। आत्माकी नित्यता समझ लेनेपर तो किसीको युद्धसे भय होगा ही नहीं।

'अपने क्षात्रधर्मकी ओर देखकर भी तुझे भयसे कम्पित नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढकर कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। निष्कामभावसे किया हुआ धर्ममय युद्ध मुक्तिको देनेवाला है और सकामभावसे किया हुआ वही युद्ध स्वर्ग प्रदान करता है। अपने-आप प्राप्त हुआ ऐसा धर्ममय युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियको ही मिलता है। यदि तू इस धर्ममय सग्रामसे मुँह मोड लेगा तो धर्म और कीर्तिको खोकर पापका ही भागी बनेगा। संसारके मनुष्य तेरी कभी न मिटनेवाली अपकीर्तिकी सदा चर्चा करेंगे। किसी सम्मानित पुरुषकी अपकीर्ति फैल जाय तो वह उसके लिये मृत्युसे भी बढकर दुःखदायिनी होती है। जिन महारथी वीरोंके हृदयमें तेरे लिये परम सम्मानका भाव है, वे तुझे भयसे भागा हुआ समझेंगे। उनकी दृष्टिमें तू अत्यन्त तुच्छ हो जायगा। तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे न कहनेयोग्य वचन भी कह डालेंगे। इससे बढकर अत्यन्त दुःखकी बात और क्या होगी? यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गलोक प्राप्त करेगा और यदि तेरी जीत हुई तो तू इस पृथ्वीका राज्य भोगेगा। दोनों ही अवस्थाओंमें तेरे लिये लाभ-ही-लाभ है। यह समझकर तू युद्धके लिये दृढ निश्चय करके खड़ा हो जा। यदि तुझे स्वर्ग और राज्य—इन दोनोंकी इच्छा न हो, तो भी क्षत्रियके नाते अपना धर्म समझकर तथा सुख-दुःख, लाभ हानि और जय-पराजयको समान मानकर युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार धर्मयुक्त युद्ध करनेसे तू कभी पापका भागी नहीं होगा, प्रत्युत निष्कामभावसे यही कार्य करनेपर परम श्रेय प्राप्त कर लेगा।'

यहाँतक भगवान्ने ज्ञानयोग और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इस अन्तिम (अड़तीसवें) श्लोक-में बतलाये हुए समभावको साख्यकी दृष्टिसे इसी अध्यायके पद्रहवें श्लोकमें बतलाया गया है और कर्मयोगकी दृष्टिसे इसीके आगे अड़तालीसवें श्लोकमें बतलायेंगे। इसी भावको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

'अर्जुन! यह समबुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी (गीता २। १५) और इसी बुद्धिको अब तू कर्मयोगके विषयमें सुन, जिसके अनुसार साधन कर लेनेपर तू कर्मोंके बन्धनका नाश कर डालेगा। इस निष्कामकर्मयोगका साधन आरम्भ करके साधक किसी कारणवश यदि उसे बीचमें ही छोड़ दे, तो भी उसका बीज नष्ट नहीं होता। सकाम साधनोंकी भाँति इसमें त्रुटि होनेपर कोई विपरीत परिणाम निकले या कोई पाप लगे—ऐसा दोष इस कर्मयोगके साधनमें नहीं है। इस कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे उद्धार कर देता है। इस कर्मयोगमें एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। एव जो विवेकहीन और भोगासक्त हैं, उन पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनेक भेदोंवाली और अनन्त होती हैं। वे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तचित्त होनेके कारण वेदोंमें बतलायी हुई नाना प्रकारकी विस्तृत यज्ञरूपा सकाम क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, वे क्रियासाध्य सुखके उपभोगमें ही आसक्त रहते हैं और कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस कारण उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। इसलिये तू निष्काम, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तुमें स्थित और योगक्षेमको न चाहने-वाला बन; क्योंकि इस प्रकारके साधनद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वेदोंमें बतलाये हुए सम्पूर्ण साधनोंका फल उसीके अन्तर्गत आ जाता है।'

जिस कर्मयोगकी भगवान्ने उपर्युक्त शब्दोंमें प्रशसा की, उसीका स्वरूप वे इस प्रकार बतलाते हैं—

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं। तू कर्मफलका हेतु मत बन अर्थात् कर्मके फलमें आसक्ति, वासना और ममता मत कर। साथ ही तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो। तू आसक्ति त्यागकर, योगस्थ होकर कर्म कर। सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होना ही योगस्थ होना है। यह समभाव ही 'योग' नामसे कहा गया है। इस समत्वरूप बुद्धियोगकी अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये तू समबुद्धि-रूप योगका आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु

बननेवाले मनुष्य अत्यन्त दीन हैं । समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनोंसे लिप्त नहीं होता, अतः तू समबुद्धिरूप योगके लिये चेष्टा कर; क्योंकि यह समबुद्धिरूप योग ही कर्मोंके बन्धनसे छूटनेका उपाय है। यही कर्म करनेकी कुशलता है। समबुद्धियुक्त ज्ञानीजन कर्मफलको त्यागकर निर्विकार परमपदको प्राप्त होते हैं। अतः योगसाधन करते-करते जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलसे ऊपर उठ जायगी, जब तू वैराग्यको प्राप्त होगा और तेरी बुद्धि परमात्माके स्वरूप-में अचल एव स्थिरभावसे स्थित हो जायगी, तब तू परमात्माकी प्राप्तिरूप योगको प्राप्त हो जायगा।'

इसपर अर्जुनने चार प्रश्न किये—(१) स्थिर-बुद्धि-वाले पुरुषका क्या लक्षण है ? (२) वह कैसे बोलता है ? (३) कैसे बैठता है ? (४) और कैसे चलता है ?

पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने समाधिमें स्थित स्थित-प्रज्ञके लक्षण इस प्रकार बतलाये कि 'वह मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही सतुष्ट रहता है।'

फिर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें उसके बोलनेका प्रकार यह बतलाया कि 'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर मनमें उद्वेग न होनेके कारण जो उद्वेगरहित वचन बोलता है तथा सुखोंकी प्राप्तिमें निःस्पृह होनेके कारण स्पृहायुक्त वचन नहीं बोलता एव राग, भय और क्रोध नष्ट हो जानेके कारण जो राग, भय और क्रोधयुक्त वाक्य नहीं कहता, इसी प्रकार जो पुरुष स्नेहरहित होनेके कारण शुभ वस्तुके प्राप्त होनेपर तो प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन नहीं करता और अशुभके प्राप्त होनेपर उसकी द्वेषबुद्धिसे निन्दा नहीं करता, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।' यहाँ 'मुनि' कहकर भगवान्ने उसकी वाणीके सयमकी बात कही है।

इसके बाद तीसरे प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने स्थित प्रज्ञके बैठनेका प्रकार यों बतलाया है कि 'जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर बैठता है, वैसे ही स्थिर-बुद्धि पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सर्वथा हटाये हुए रहता है। यदि मनुष्य हठ और विचारसे भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करना छोड़ देता है तो इससे उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किंतु उनमें उसकी आसक्ति बनी रहती है। भगवत्प्राप्त स्थितप्रज्ञकी आसक्ति भी नहीं रहती; यही उसकी विशेषता है। आसक्तिका नाश हुए बिना बलवती इन्द्रियाँ यत्नशील विवेकी पुरुषके भी मन-को बलात्कारसे विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह वैराग्ययुक्त चित्तसे इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण हो जाय। मेरे परायण हुए बिना मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे विषय-कामना होती है। कामनामें विघ्न पड़ने-पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे मूढ़भाव और उससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। इस प्रकार विवेक-शक्तिका नाश होनेसे वह अपने परमार्थ-साधनसे गिर जाता है।'

इसके पश्चात् भगवान्ने चौथे प्रश्नके उत्तरमें स्थिरबुद्धि पुरुषके आचरण बतलानेके लिये पहले साधकके विषयोंमें विचरण करनेकी विधि इस प्रकार बतलायी है कि 'प्रथम स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ, अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। उस प्रसन्नताके होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। किंतु उपर्युक्त साधनसे रहित पुरुषके अन्तःकरणमें न तो अध्यात्मविषयक बुद्धि होती है और न उसमें आस्तिकभाव ही होता है, आस्तिक-भाव हुए बिना शान्ति नहीं मिलती, फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है। जैसे जलमें वायु नावको भटकाती और डुबो देती है, वैसे ही विषयों-में विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको विचलित कर देती है। इसलिये जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे सर्वथा वशमें कर ली गयी हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। साधनहीन अयुक्त और योगयुक्त सिद्ध पुरुषमें तो रात-दिनका अन्तर है। जिस नित्यशुद्धबोधस्वरूप परमानन्दमें योगयुक्त जागता है अर्थात् परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है, वह ससारी मनुष्यों-की रात्रि है अर्थात् उसका उन्हें बिल्कुल ही अनुभव नहीं है तथा जिस नाशवान् क्षणभङ्गुर सासारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं अर्थात् सासारिक सुखका अनुभव करते हैं, तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है अर्थात् ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें वह सुख सुख ही नहीं है,

क्योंकि वह पुरुष तो सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा-वाले समुद्रकी भाँति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूप-में अचलभावसे स्थिर रहता है। उस स्थितप्रज्ञ पुरुषके हृदयमें संसारके सम्पूर्ण भोग उसी प्रकार कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जैसे समुद्रमें नदियाँ; क्योंकि उसमें कामनाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वह शान्ति-को प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं। अतः जो सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके ममता, अहंता और स्पृहासे रहित हुआ संसारमें विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त करता है।' यहाँ भगवान्ने 'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया है। यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है। इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोहित नहीं होता। अन्तकालमें भी इस ब्राह्मीस्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है। *अतएव मनुष्यको इस प्रकारकी स्थितिमें नित्य स्थित रहना चाहिये।*

तीसरा

इस तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि इसमें कर्मयोगका ही तत्त्व विशेषरूपसे समझाया गया है। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने पहले सांख्ययोग और फिर कर्मयोगका विषय अलग-अलग कहा; किंतु अर्जुनने उसका तात्पर्य ठीक-ठीक नहीं समझा, अतः प्रश्न किया कि 'जनार्दन ! आप कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? आप मिले हुए-से वचनोंद्वारा मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः कृपया एक बात निश्चित करके कहिये, जिससे कि मेरा कल्याण हो !'

भगवान्ने कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ कहीं नहीं बतलाया; किंतु दूसरे अध्यायके उनचासवें श्लोकमें आये हुए 'बुद्धियोग' शब्दको, जो कि समबुद्धिरूप कर्मयोगका वाचक है, अर्जुनने भूलसे ज्ञानयोगका वाचक समझ लिया। उसी श्लोकमें आये हुए 'कर्म' शब्दको, जो कि सकाम कर्म-का वाचक है, अर्जुनने भूलसे युद्धरूप घोर कर्मका वाचक समझ लिया। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकमें कहा हुआ 'बुद्धियुक्त' शब्द समभावयुक्त कर्मयोगीका वाचक है और उसमें उसीकी प्रशंसा की गयी है; किंतु अर्जुनने उसे ज्ञानयोगीका वाचक समझकर उसीकी प्रशंसा मान ली तथा उसके उत्तरार्द्धमें 'तू योगका साधन कर, योग ही कर्मोंमें कुशलता है।' इस कथनसे उन्हें भ्रमवश यह संदेह हो गया कि भगवान् कहीं तो ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं और कहीं योगकी। इसीसे अर्जुनने बिना समझे ऐसा प्रश्न किया।

इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—'अर्जुन ! इस लोकमें मेरे द्वारा दो प्रकारकी निष्ठा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।' भाव यह है कि सृष्टिके आदिमें भगवान्ने सूर्यके प्रति यह योग कहा था और पूर्व अध्यायमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक ज्ञान-योगकी दृष्टिसे तथा इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे अर्जुनके प्रति कहा है। दूसरे अध्यायके उनचालीसवें श्लोकमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि 'सांख्ययोगविषयक बुद्धि तो तुझे कह दी, अब तू कर्मयोगविषयक बुद्धि मुझसे सुन।' यदि अर्जुनका ध्यान इस कथनकी ओर चला जाता, तब तो उनको ऐसी शङ्का ही नहीं होती। यहाँ भगवान् स्पष्ट करते हैं कि 'मैंने मिले हुए-से वचन न तो कहे हैं और न अभी कह रहा हूँ। मैंने तो अलग-अलग विभाग करके ज्ञानयोगके साधकोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोगके साधकोंके लिये कर्मयोग बतलाया है और बतला रहा हूँ तथा मैंने शास्त्र-विहित निष्काम कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको कहीं श्रेष्ठ भी नहीं बतलाया है। मेरा कहना तो यह है कि मनुष्योंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंकी दृष्टिसे कर्तव्य कर्म है, अतः अवश्य करना चाहिये।

'क्योंकि कर्म किये बिना नैष्कर्म्य-सिद्धिरूप कर्मयोगकी निष्ठा नहीं प्राप्त होती और कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ही ज्ञाननिष्ठाकी भी सिद्धि नहीं होती। साधारण मनुष्य एक क्षणके लिये भी सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता। बाहरसे कर्मोंका सर्वथा त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है और मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। अतः मनुष्यको निष्कामभावसे करने योग्य कर्मोंको करते रहना चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, बिना कर्म किये शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता; शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा भी है और निष्कामभावसे उसका पालन करनेसे परम श्रेयकी प्राप्ति होती है। यज्ञादि कर्तव्य कर्मोंका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करने-वाला चोर है तथा कर्तव्यपालन करके यज्ञशेषसे शरीर-निर्वाह-के लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है। इसके विपरीत जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये ही भोजन बनाकर खाता है, वह पापी है; क्योंकि

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं; अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है; वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ शास्त्रविहित कर्म करनेसे होता है। कर्म वेदसे और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। अत सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा शास्त्रविहित यज्ञादि कर्मोंमें व्यापक है। इसलिये परमात्माको सब जगह अनुभव करते हुए शास्त्रविहित कर्मोंको निष्काम-भावसे करना चाहिये; क्योंकि जो इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म नहीं करता; वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-जीवी पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

'जो शास्त्रके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमार्थ ज्ञानद्वारा परमात्माको यथार्थ रूपसे प्राप्त हो जाता है; उस आत्मामे ही रत; आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट पुरुषके लिये कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। संसारमें उस पुरुषके द्वारा कर्म किये जाने और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंसे उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है। फिर भी वह लोकसंग्रहके लिये कर्म करे तो उसके लिये कोई मनाही नहीं है। इसलिये मनुष्यको अनासक्त-भावसे कर्मका आचरण करना चाहिये, क्योंकि अनासक्त-भावसे कर्म करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है और पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म अवश्य करना चाहिये, क्योंकि साधारण मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषके आचरणों-का अनुकरण करते और उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं, इसलिये महापुरुषोंको भी लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये।

"पार्थ! मेरे लिये तो न कुछ कर्त्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य ही है, फिर भी मैं लोकसंग्रहके लिये कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करने लग जायँ। इस अवस्थामें सब लोग तो नष्ट-भ्रष्ट होकर वर्णसंकर बनें और मैं इसमें निमित्त माना जाऊँ। अत कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्य कर्म और उनके फलमें आसक्त होकर जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त कर्मोंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको अनासक्त भावसे शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, उन कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करनी चाहिये, बल्कि स्वयं शास्त्रविहित कर्म करते हुए उनको भी कर्मोंमें लगाना चाहिये। वास्तवमें तो सम्पूर्ण कर्म प्रकृति-जन्य गुणोंमें ही होते हैं, किंतु अहंकारी मनुष्य अज्ञानसे 'मैं करता हूँ' इस प्रकार मान लेता है। गुण-कर्म विभागके तत्त्वको जाननेवाला तत्त्ववेत्ता तो 'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं' यों मानकर उनमें आसक्त नहीं होता और अज्ञानी मनुष्य गुण-कर्मोंमें आसक्त हो जाता है। उन अज्ञानियोंकी बुद्धि कर्म करनेसे विचलित न हो, इस बातको ध्यानमें रखकर तत्त्ववेत्ता ज्ञानीको भी लोकसंग्रहके लिये शास्त्रोंके अनुकूल कर्मोंका आचरण करना चाहिये।"

इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना उचित सिद्ध करके भगवान्‌ने अर्जुनको आज्ञा दी कि 'तू मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशा, ममता और संतापसे रहित होकर युद्ध कर।'

भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी मनुष्योंके उद्धारके लिये यह उपदेश दिया है, अत' जो मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक निष्काम भावसे उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंका आचरण करते हैं, वे भी उन कर्मोंके बन्धनसे छूट जाते हैं किंतु जो भगवान्‌में दोषदृष्टि रखकर इस सिद्धान्तके अनुसार कर्म नहीं करते, वे अज्ञानी कल्याण-पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने-अपने स्वभावके अनुसार सभी मनुष्योंको कर्म करने पड़ते हैं। ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार ही शास्त्रविहित कर्म करनेकी चेष्टा करता है। अतः स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें राग-द्वेषका त्याग करना चाहिये। राग-द्वेष ही साधकके कल्याण-मार्गमें शत्रु हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि राग-द्वेषके वश होकर अपने धर्मका त्याग कभी न करे, क्योंकि दूसरे वर्ण और आश्रमका धर्म अच्छी प्रकारसे पालन करनेपर भी अपने लिये पाप और भयदायक है तथा अपना धर्म साङ्गोपाङ्ग पालन न हो सके, तब भी कल्याणकारक है, इसलिये आसक्ति और कामनासे रहित होकर श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये।

इसपर अर्जुनने यह पूछा कि 'मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि 'आसक्तिस्वरूप रजोगुणसे उत्पन्न और क्रोधका उत्पादक काम ही अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला, बड़ा भारी पापी और साधकका वैरी है। सम्पूर्ण पापोंकी उत्पत्तिका यही मूल है। जिस प्रकार

धुएँसे अग्नि, मैलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका रहता है, इसी प्रकार विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामसे उनका ज्ञान ढका रहता है। पर यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें स्थित रहकर उनके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करता है। अतः पहले इन्द्रियोंको और फिर मनको वशमें करके इस पापी कामको मार डालना चाहिये; क्योंकि शरीर और प्राणोंसे तो इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे मन और मनसे बुद्धि श्रेष्ठ और सूक्ष्म है एवं बुद्धिसे आत्मा अत्यन्त श्रेष्ठ, सूक्ष्म और महान् है। इस प्रकार समझकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये।'

चौथा अध्याय

इस चौथे अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसन्यासयोग' है। यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे 'परमार्थ-ज्ञान', 'कर्म' शब्दसे 'कर्मयोग' और 'सन्यास' शब्दसे 'ज्ञानयोग' समझना चाहिये।

दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकसे लेकर तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस योगकी व्याख्या की गयी, उसीके लिये भगवान्ने बतलाया कि 'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा था। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना था। परंतु इधर बहुत समयसे वह योग इस पृथ्वीपर लुप्तप्राय हो गया था। तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिये मैंने वही पुरातन योग आज तुझे बताया है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य—गोपनीय विषय है।'

इसके बाद अर्जुनके यह प्रश्न करनेपर कि 'आपका प्राकट्य तो पीछे हुआ है और विवस्वान् आदि बहुत पहलेसे हैं, फिर आपने उन्हें कब किस तरह योगका उपदेश किया?' भगवान् अपने अवतारके रहस्य एवं दिव्य जन्म-कर्मकी बात बताते हुए कहते हैं—'मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं; उन सबको तू नहीं जानता, पर मैं जानता हूँ। मैं साक्षात् परमेश्वर, अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं ही साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ, श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार तथा पापियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—निर्मल और अलौकिक हैं, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है। पहले भी बहुत-से मनुष्य, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे, अनन्यभावसे मेरे शरण होकर मेरे अलौकिक जन्म-कर्मोंके ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो मुझे प्राप्त हो चुके हैं; क्योंकि जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

'किंतु जो इस रहस्यको नहीं जानते, वे मुझको न भजकर देवताओंको भजते हैं; क्योंकि देवतालोग उनकी माँगकी पूर्ति शीघ्र ही कर देते हैं। पर मैं जब उनका हित होता है, तभी उनकी माँगकी पूर्ति करता हूँ, नहीं तो नहीं करता; क्योंकि गुण और कर्मोंके अनुसार चारों प्रकारके वर्ण मेरे द्वारा ही रचे गये हैं, किंतु कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा न रखनेके कारण सृष्टि-रचनादि कर्मोंसे मैं बँधता नहीं। दूसरा जो कोई भी मुझको या मेरे जन्म और कर्मोंके इस रहस्यको जानता है, वह भी नहीं बँधता। पूर्वकालके भी बहुत-से मुमुक्षुओंने इस प्रकार निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण किया है। तुमको भी उसी प्रकार करना चाहिये।

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित रहते हैं। कर्मकी गति गहन है; अतः शास्त्र-विहित कर्म, निषिद्ध कर्म और अकर्मका भी तत्त्व जानना चाहिये। मैं तुम्हें कर्म और अकर्मका तत्त्व बतलाऊँगा, जिससे तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे। शास्त्रविहित क्रियाओंमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फलोंका भोग करानेकी और पुनर्जन्मकी हेतु नहीं बनतीं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। लोक-प्रसिद्धिके अनुसार मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; वह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है। जो मनुष्य इस प्रकार देखता है, वही मनुष्योंमें ज्ञानी, योगी और समस्त कर्मोंको करनेवाला है। जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सकल्प (आसक्ति) से रहित हैं, एवं ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जिसके सारे कर्म भस्म हो गये हैं, ऐसे मनुष्यको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। जो पुरुष सांसारिक

आश्रयसे रहित तथा परमानन्दमय परमात्मामें नित्य तृप्त है एव कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह भलीभाँति समस्त आवश्यक कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वह आशा और परिग्रहसे रहित, अपने मनको वशमें रखनेवाला, जितात्मा पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके लिये कर्म करता हुआ भी पापका भागी नहीं होता। अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों और ईर्ष्यासे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करके भी कर्मोंसे नहीं बँधता, क्योंकि उस आसक्ति और अभिमानसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थितचित्त और लोक-संग्रहके लिये यज्ञरूप कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। इसलिये तुझे निष्कामभावसे लोकसंग्रहके लिये यज्ञरूप कर्मोंका आचरण करना चाहिये।'

आत्माके उद्धारके लिये निष्कामभावसे कोई भी शास्त्र-विहित कर्म किया जाय, उसीका नाम 'यज्ञ' है। इसी भावको लेकर यहाँ 'यज्ञ'के नामसे भगवान्ने कई प्रकारके कल्याण-कारक साधन बतलाये हैं।

जिस ब्रह्मचिन्तनरूप साधनमें स्रुक्-स्रुवादि उपकरण, हवन करनेयोग्य द्रव्य, अग्नि, यज्ञकर्ता और प्राप्तव्य फल—ये सब ब्रह्म ही हैं, वह 'ब्रह्मयज्ञ' है। निष्काम-भावसे देवताओंका पूजन करना 'देवपूजनरूप यज्ञ' है। सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अपने आपको विलीन कर देना, परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो जाना 'आत्मा-परमात्माका अभेददर्शनरूप यज्ञ' है। श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर अपने वशमें करना 'इन्द्रिय-संयम-रूप यज्ञ' है। वशमें की हुई और रागद्वेषरहित इन्द्रियों-द्वारा शब्दादि विषयोंको ग्रहण करते हुए भी उनसे प्रभावित न होना, हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहना 'विषयहवनरूप यज्ञ' है। परमात्माके स्वरूपमें योगद्वारा मन-का निरोध करनेपर इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओं, का स्वतः ही रुक जाना और साधकका ज्ञानस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाना 'आत्मसंयमयोगरूप यज्ञ' है। ईश्वरार्पणबुद्धि-से लोकसेवामें द्रव्य लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है। मन-इन्द्रियोंका संयम, एकादशी आदि व्रत-उपवास और धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप-यज्ञ' है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-भक्ति); आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना); धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्गयोगका अनुष्ठान करना 'योगरूप यज्ञ' है। अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त हो यत्नपूर्वक भगवत्प्राप्तिविषयक गीतादि शास्त्रोंका अर्थ और भाव-सहित अध्ययन करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है। बार-बार बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा खींचकर शरीरके भीतर ले जाकर वहीं रोक देना 'अपानमें प्राणका हवन करनारूप आभ्यन्तर 'कुम्भक' है; इसीको 'पूरक प्राणायाम' कहते हैं। बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोक देना 'प्राणमें अपानका हवन करनारूप बाह्य कुम्भक' है, इसीको 'रेचक प्राणायाम' कहते हैं। न तो बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोकना और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर ही रोकना, प्रत्युत अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पाँचों वायुभेदोंको वहीं रोक देना, प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें हवन करनारूप 'केवल कुम्भक' है, इसीको 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' कहते हैं।

उपर्युक्त यज्ञोंके द्वारा पापोंका नाश होनेपर साधक अन्तःकरणकी प्रसन्नतारूप अमृतको प्राप्त होकर सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। किंतु यज्ञरहित पुरुषको इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। इनके सिवा और भी बहुत प्रकारके क्रियासाध्य यज्ञोंका वेदोंमें वर्णन है। उन यज्ञोंका तत्त्व जानकर निष्काम-भावसे साधन करनेपर मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है। इन यज्ञोंमें द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, ज्ञान ही उनकी परमावधि है। ऐसे ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंसे दण्डवत् प्रणाम, सेवा और सरलतापूर्वक प्रश्नद्वारा जानना चाहिये; क्योंकि इसको जानकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं होता और इस ज्ञानसे मनुष्य प्रथम सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें और फिर परमात्मामें अनुभव करता है। संसारमें जितने भी पापी हैं, उन सबमें सबसे महान् पापाचारी भी इस ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे तर सकता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सपूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है। इसलिये इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। साधक समबुद्धिरूप योगका साधन करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर स्वतः ही उस ज्ञानका आत्मामें अनुभव करता है। श्रद्धासे साधनकी

तत्परता और उससे इन्द्रियोंका संयम होनेपर यह ज्ञान प्राप्त होता है एवं ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। परंतु जो विवेक और श्रद्धासे रहित संशयात्मा है, वह मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। उस संशयात्माके लिये इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख नहीं है। इसके विपरीत, जिसने समबुद्धिरूप योगके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर दिया है, जिसने विवेकके द्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वाधीन अन्तःकरणवाले मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते। इसलिये मनुष्यको समबुद्धिरूप योगमें स्थित होकर अज्ञानजनित संशयका विवेकरूप तलवार-द्वारा छेदन करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

पाँचवाँ अध्याय

इस पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और साङ्ख्ययोगका वर्णन है। साङ्ख्ययोगका ही पर्यायवाची शब्द 'सन्यास' है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मसन्यासयोग' रखा गया है।

'कर्मसन्यास'का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्मोंके प्रति कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना। यही 'ज्ञानयोग' है। इसीकी प्रशंसा चौथे अध्यायमें (श्लोक ३३ से ३८ तक) की गयी है तथा निष्कामभावसे कर्म करनारूप कर्मयोगकी प्रशंसा भी भगवान् जगह-जगह करते आये हैं। इसलिये अर्जुनका यह कहना उचित ही है कि 'आप कर्मसन्यास यानी ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनोंकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये।'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा कि 'कर्मसन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याण करनेवाले हैं; परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साधन करनेमें सुगम है। जो न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, वह कर्मयोगी हर्ष-शोक और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेके कारण सदा सन्यासी ही समझा जाने योग्य है; इसीलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। वास्तवमें उन दोनोंका फल एक होनेसे वे दोनों एक ही हैं। दोनों साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर दोनोंका फल एक—परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। इस तत्त्वको न जाननेवाले मूढ मनुष्य साङ्ख्य और योगको पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं। किंतु इस तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी महात्मा ऐसा नहीं कहते, क्योंकि साङ्ख्य यानी ज्ञानयोगके साधनद्वारा ज्ञानयोगियोंको जिस परमपदकी प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा कर्मयोगियोंको भी उसी परम पदकी प्राप्ति होती है। अतः साङ्ख्यके और योगके साधनका फल एक होनेसे उन्हें एक देखना ही यथार्थ देखना है तथा पहले कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगका साधन कठिन है। इतना ही नहीं, कर्मयोगमें यह विशेषता भी है कि भगवान्‌के स्वरूपका मनन करनेवाला मुनि कर्मयोगके साधनद्वारा शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा भगवान् ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। इन सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, किंतु देहमें अभिमान रहते हुए साङ्ख्ययोगकी सिद्धि नहीं हो सकती; इसलिये तत्त्वको जाननेवाला साङ्ख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना आदि क्रियाओंको करता हुआ यह समझता है कि सब इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता तथा जो कर्मयोगी सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। वह ममत्वबुद्धिसे रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करता है। अतः वह कर्मोंके फलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है, किंतु सकामी पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये।

अब साङ्ख्ययोगीकी स्थितिके विषयमें बतलाया जाता है। जिसका अन्तःकरण वशमें है, ऐसा साङ्ख्ययोगी पुरुष न कुछ करता है और न करवाता है। वह नौ द्वारोंवाले शरीर-रूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—यों मानता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें आनन्दपूर्वक स्थित रहता है। परमेश्वर न तो मनुष्योंके कर्तापनकी सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं, किंतु स्वभाव ही बरत रहा है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

सर्वव्यापी परमात्मा न तो किसीके पापकर्मको ग्रहण करते हैं और न किसीके शुभ कर्मको ही । जीव अज्ञानके कारण अपनेमे और ईश्वरमे कर्त्ता-भोक्तापनकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं । तत्त्वज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी भाँति परमात्माका साक्षात् करा देता है । परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका बार-बार मनन करना चाहिये । बार-बार मनन करनेसे मन ब्रह्ममे विलीन हो जाता है । फिर बुद्धिसे निश्चय किये हुए उस ब्रह्मका ध्यान करनेसे बुद्धि भी उसमे विलीन हो जाती है । ब्रह्मके स्वरूपमे इस साधककी जो स्थिति होती है, उसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं । सविकल्प समाधिमें ब्रह्मके नाम, रूप और ज्ञानका अनुभव रहता है । फिर अपने-आप ही ब्रह्ममें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है । तब उस पुरुषके सारे पाप ज्ञानके द्वारा नष्ट हो जाते हैं और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाता है । परमगतिको प्राप्त होनेपर उसका विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और चाण्डाल आदि सबमें समभाव हो जाता है । मन-बुद्धिका समतामे स्थित हो जाना ही ब्रह्मप्राप्तिकी कसौटी है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है; इसलिये जिसकी समतामें स्थिति है उसकी ब्रह्ममें ही स्थिति है । उसी पुरुषको जीवन्मुक्त कहते हैं। वह स्थितप्रज्ञ, ब्रह्ममें स्थित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष अनुकूलको पाकर हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलको पाकर उससे द्वेष नहीं करता ।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगके अनुसार दूसरा यह साधन भी है कि सारे ससारके पदार्थोंमे अनासक्त होकर अपने आत्मामे ही उस आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान किया जाय । इस प्रकार ध्यान करनेपर उसे अक्षय सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । इन्द्रियों और विषयोंके सयोगसे उत्पन्न सासारिक सुखभोगोंको दु.खका हेतु, विनाशशील और क्षणभङ्गुर समझकर विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता । जो साधक इस जीवनकालमें ही शरीर छूटनेसे पहले विवेकके द्वारा काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही योगी है और वही सुखी है । वह ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित योगी अपने आत्मामे ही आनन्द और ज्योति.स्वरूप परमात्माका अनुभव करता है एव उसीमें रमण करता है । इस साधनके प्रभावसे वह विज्ञानानन्दघन निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । ज्ञानके द्वारा जिनके सारे पाप और सशय नष्ट हो चुके हैं और जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, उन काम और क्रोधसे रहित, सयतचित्त ज्ञानी महात्माको सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त हैं ।

इसके सिवा परमात्माकी प्राप्तिका और भी उपाय बताया जाता है ‘ससारके बाहरके विषयभोगोंको बाहर ही त्यागकर नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करे तथा प्राण और अपान वायुको सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वशमें करे । ऐसा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित तथा मोक्षके परायण हुआ पुरुष नित्यमुक्त ही है ।’

इसके अतिरिक्त परमात्माकी प्राप्तिका अन्य उपाय भी बताते हैं—‘भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी जानकर मनुष्य परमशान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।’

(क्रमश)

तमासे चार दिन के

पाय प्रभुताई कछु कीजिये भलाई, यहाँ
नाहीं थिरताई, बैन मानिये कविन के ।
जस अपजस रहि जात है जगत बीच,
मुलक खजाना गये "बेनी" साथ किन के ॥
और महिपालन की गिनती गिनाऊँ कहा,
रावन से ह्वै गये, त्रिलोकी बस जिन के ।
चोपदार चाकर चमरपति चमूपति,
मंदिर मतंग ये तमासे चार दिन के ॥ १ ॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

७६ व्रजप्रेममे केवल त्याग-ही-त्याग है । उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नहीं है। यद्यपि स्वय श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असख्य गोपियाँ वनती है, वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एव श्रीगोपीजनोंमे तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहॉ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका अपना-अपना एक भाव रहता है । श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं, परतु किसी भी गोपीके हृदयमें अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, सभीकी चेष्टा इसी-लिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढंग होता है और सबका ढंग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नहीं, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय ।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. जहाँ अपनी इन्द्रियोंके सुखकी वासना होती है, वहॉ प्रेम नहीं है, वहाँ काम है ।

२ जहॉ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है ।

३ काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमें सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमें आनन्द मिले, और प्रेममे प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दु:ख क्यों न मिलें ।

४ उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही हैं, जिनमे अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचाने-वाला होता है ।

५. श्रीगोपियॉ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती हैं ।

६ श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं ।

७. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं ।

८. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त ससारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड देती हैं ।

९. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं ।

१०. श्रीगोपियोंमे श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड देती है ।

११. श्रीगोपियाँ अपने आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं ।

इस प्रकार उनके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है । यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्यागकर देती हैं इसलिये कि मेरे प्रियतमको सुख पहुँचे। उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहॉ जानेसे हमें सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा ।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोंके कई भेद है । मुख्य चार भेद हैं—

१. नित्य गोपियॉ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियॉ, दासियाँ एव सहचरियाँ, श्रीचन्द्रावली एवं उनकी

दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि। ये अनादिकालसे हैं। इनमें कोई हेर-फेर अब हुआ हो, या होगा—यह बात बिल्कुल नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अनादिकालसे हैं, वैसे श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ भी अनादिकालसे हैं और अनन्तकालतक रहेंगी। इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ है, वे सब-की-सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं। कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार साधनासे सम्मिलित हुई हैं। उनमे—

२ कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी-देह पाकर लीलामे सम्मिलित हुई है।

३ कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर लीलामे सम्मिलित हुई है।

४. कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर सम्मिलित हुए है। अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपी-देह पाकर उस लीलामें सम्मिलित होगा।

अब तीन तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ और एक प्रकारकी हैं नित्य गोपियाँ। इन्हीं नित्य गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अशमे, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं। जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अगकी लीलामें प्रवेश करते है, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमें स्वय भी सेवाका अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य सखियाँ हैं, दासियाँ हैं तथा स्वय श्रीराधारानी एव श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग-अलग भाव होता है अर्थात् एक-से-एक बढ़कर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है। सबसे ऊँचा एव सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही होता है।

इस प्रेम-लीलामें स्वकीया एव परकीया—ये दो भाव होते हैं। स्वकीया सर्वथा निकुञ्जकी लीला है, महावाणीमें इसीका सक्षिप्त वर्णन है। परकीयामें गोष्ठ एवं निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं। अस्तु, इस गोष्ठ-निकुञ्जकी सम्मिलित लीलामे जितनी गोपियाँ है, सब परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैंने आपसे कहा था कि स्वय श्रीकृष्ण ही अपनी एक-एक छायाका निर्माण करके उन गोपियोंके एव स्वय श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है। श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय।

अब एक बात याद रखिये—जैसे मूलमें एक श्रीकृष्ण है, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही हैं। पर राधारानी ही स्वय श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एव अनन्त सखियों-दासियों तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती हैं। इसको कायव्यूह-निर्माण कहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह-तरहकी लीला रच-रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य गोपियोंके रूपमें अनादिकालसे प्रकट किये हुए हैं। इन्हीं नित्य गोपियोंके यों तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एव चन्द्रावलीजीका है। श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग-अलग होते है। उस दिन जो खण्डिताके पद पढे थे, वह इन्हीं दो दलोंको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था। श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते है, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती है और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते है, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही सक्षेपमे मानलीलाका सूत्र है। इसके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर रूप हैं एव अत्यन्त विलक्षण-विलक्षण लीलाएँ होती हैं, सबका वर्णन कोई भी कर ही नहीं सकता, क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं।

पर असलमे बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये। श्रीकृष्णको अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एव श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं; तथा मान करनेमे भी कितना ऊँचा-ऊँचा भाव होता है, यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बाते लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ। बीचमे यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एव श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैब्या आदि दोनों इस चेष्टामे रहती है कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी-अपनी सखीके कुञ्जमें ले जायँ। श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोंकी वञ्चना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं। श्रीकृष्णको दोनोंको ही प्रसन्न करना पडता है। उसके सामने उसकी सुननी पडती है, उसके सामने उसकी।

यों तो यह लीला अनिर्वचनीय है और इसके किसी भी अंशको पूरा-पूरा समझना असम्भव है। पर पढ-सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पडती है तथा जिन सतोंको जो अनुभव हुआ है तथा ऋषि-महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हींको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमें जो आयेगा, लिख सकता हूँ।

यह लीला अनन्त है, जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है। उसी लीलामेंसे एक प्रकारकी लीलाका उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ। श्रीकृष्णकी एक लीला है, जिसे दैनन्दिनी लीला कहते हैं, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रात से लेकर राततक चौबीस घटे एक-एक प्रकारकी होती है। इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं। स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है। यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ। इस लीलाका बहुत सक्षेपमे यह रूप है—श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है। श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती है। यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। इसी रूपको 'नित्य-किशोर एव नित्य-किशोरी' का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमे सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह रोज नयी-नयी होती रहती है और नयी-नयी ही होती रहेगी, क्योंकि असलमे यह जड-जगत्की लीला नहीं है, यह है स्वय भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूत लीला। अतएव इसमे नित्य-नूतनता रहेगी ही।

सूत्ररूपसे ही बहुत सक्षेपमे लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है। यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है—प्रात.काल निकुञ्जमे श्रीप्रिया-प्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके इशारेसे शुक-सारिका आदि पक्षी उन्हे जगाते हैं। जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह-तरहसे सेवा करती हैं। सेवा होनेके बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते है तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हें सुला गयी थी, वहीं जाकर चुपचाप सो जाते हैं। राधारानी भी घर आकर सो जाती है। फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती है। वे हाथ-मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामें जाकर गाय दुहते है। फिर स्नान करते है। इधर सखियाँ राधारानीको उठाती हैं। मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती है, फिर शृङ्गार करती हैं। इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हे रसोई बनानेके लिये बुला रही हैं।' उनकी साससे कहकर वह उन्हे ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं। उनके बने हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते है। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती है कि इनके हाथकी रसोईको

श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते हैं तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायेगा, उसकी आयु बढ़ेगी। यशोदा सोचती हैं कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसीलिये नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती हैं। इसके बाद मैया स्वयं बहुत तरहसे कहकर राधारानीको भोजन कराती हैं। फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमें जाते हैं। वे गाय चराने जाते हैं तथा राधा-रानी एवं सखियाँ वनमें फूल चुननेके बहानेसे तथा सूर्य-पूजाके बहानेसे वनमें चली जाती हैं। वहाँ वृन्दा-देवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है। श्रीकृष्ण भी संकेत-पर पहुँच जाते हैं। वहाँ मिलन होता है एवं ढाई पहरतक तरह-तरहकी लीला होती है। इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती हैं। वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती हैं, स्नान करती हैं तथा शृङ्गार करके अपने महलकी अटारीपर चढ़कर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं। सायंकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है। मैया श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर उनका मुँह चूमती है, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हें कुछ जलपान कराती हैं। श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बड़े-बड़े गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमें खूब नाच-गान होता है। नन्दबाबाके दोनों बगलमें बैठकर श्रीकृष्ण एवं दाऊजी तमाशा देखते हैं। फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमें सुला देती है। जब मैया चली जाती हैं, तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर संकेत बँधा होता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत-सी भोजन-सामग्री भेजती हैं। सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरा-मृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती हैं। राधारानी एवं सखियाँ भोजन करती हैं, फिर शृङ्गार करके वृन्दा-देवीकी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं। श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाका मिलन होता है। वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एवं भोजन आदि करके किसी कुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातः उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है। इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। जिन भक्तोंको इस लीलाके दर्शन हुए हैं, उन्होंने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोंने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है। ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके हैं और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं। जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बड़े संकोच और संक्षेपसे उन्होंने वर्णन किया है। वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है। मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके। भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोड़ों भक्तोंमें कोई विरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते हैं, तब कहीं जाकर इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्णरूपसे अपने आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें न्यौछावर कर देता है, उन्हींकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रति-दिन नयी हो जाती है, उसका मन हटना ही नहीं चाहता। यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है। मैं तो बहुत ही साधारण व्यक्ति हूँ—न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान लगा है, न दर्शन हुए हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे ये बातें सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मेरे लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र

करनेके लिये एवं आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ।

७७. जैसे एक लीला फिल्मकी रील है—
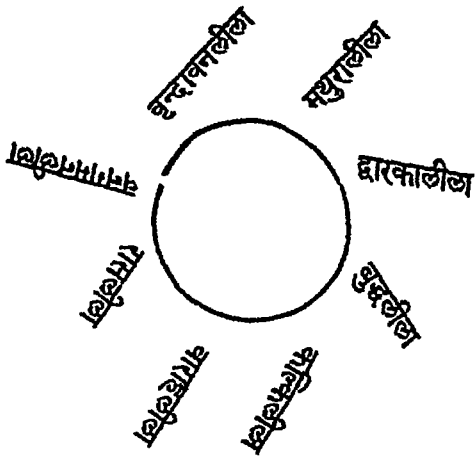
अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई हैं और अनन्त कालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब-की-सब भगवान्के शरीरमें वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रखी हैं। अब यही फिल्म घूमेगा और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा, भगवान्की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा। जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पड़ी। फिर श्रीगोपीजनोंका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि सयोग-वियोग दोनों होते हैं, फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है। उसीमेंकी पहली, सयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं हैं, यहाँसे कहीं गये ही नहीं। इससे और भी परेकी लीला थी, किंतु सबको उद्धवने थोड़े ही देखा था।

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ, श्रीकृष्ण एवं गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ-कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हें होते हैं, तब उद्धवकी आँखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता! व्रजमें मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है; यदि मुझे तुम एक झाड़ी, लता, घासका तिनका ही बना दो, तो फिर तो मेरा काम बन जाय। श्रीगोपीजनोंके चरणोंकी धूलि मुझपर उड-उड़कर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुंजन बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं॥
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होहिं प्रसन्न जो, तौ बर मागउँ जाय॥
कृपा करि देहिं जो।

"हाय! मैं कैसे इस व्रजमें लता बन जाऊँ? अरे, कम-से-कम, मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाँही तो इस प्रकार पड जायगी; बस, इतना ही मेरे लिये अल है। पर हे भगवन्! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है। मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बनकर मैं सदाके लिये रह जाता। हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय। मैं उनसे जाते ही यही माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता; केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नहीं। पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नहीं।" यह दशा हुई थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए। इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ; केवल दर्शन-दर्शन हुए, सो भी थोड़े-से अंशके ही।

यह बड़ी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। इनके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है; क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय, जब कि कोई सीमा हो।

जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी-ही-नयी होती जायगी, एक-से-एक विलक्षण आती जायगी, जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी। शास्त्रमें आजतक जिन-जिन लीलाओंका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोडा है। बहुत-सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है। तथा ऐसी भी बहुत-सी लीलाएँ हैं, जिन्हें आजतक किसीने नहीं देखा है। वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिल्कुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीत नहीं होती कि 'हमें अब कुछ देखना बाकी रह गया है।' जैसे समुद्रमें डूब जानेपर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर जल-ही-जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला-सिन्धुमे डूब जानेपर वह स्वय लीलामें तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोडे रहता है कि अभी कुछ बाकी है। पर जैसे समुद्रमे विचित्र-विचित्र इतनी बड़ी तरङ्गे उठती हैं कि जिनकी कोई तुलना नहीं, किसी वर्षमें ऐसी तरङ्गें आती हैं कि वैसी हजारों वर्षके इतिहासमें नहीं मिलतीं। वैसे ही लीलासिन्धुमें भी ऐसी-ऐसी तरङ्गें आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं, फिर दूसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं, तीसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड जाती है और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड जाती है। तरङ्गोंकी कोई सीमा नहीं कि कब कैसी तरङ्ग आकर पहलेवालीको फीकी—छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नहीं कि न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेंगे कि पहलेवाली सब-की-सब फीकी हो जायँगी। पर फीकीका यह अर्थ नहीं है कि पिछली लीलासे मन उपराम हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है। यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पडती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला-समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ। फिर तो तरङ्गें आयेंगी ही। उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हें सख्यरसका आनन्द प्राप्त था। पर भगवान् तो कृपालु हैं। उन्होंने देखा—बिचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एव मेरे सखापनका आनन्द ही पाता है, अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ। उद्धव गये। पहले तो उन्होंने ज्ञानकी चर्चा की, पर इसके बाद जब गोपियोंकी कृपासे गोपियोंकी विरह-लीलाका दर्शन हुआ, तब उनके होश उड गये—हाय! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया। उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोंने और भी कृपा की तथा उन्हें उससे भी ऊँची एक लीलाका थोडा-सा अश दिखलाया। इसके बाद और भी कृपा हुई होगी, हमलोगोंको उसका क्या पता।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्रीकृष्णका साक्षात् हो चुका था। फिर भगवान्‌ने कृपा करके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंकी बात उन्हें दिखायी, सुनायी। इसी प्रकार जैसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है। जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है। वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है—लालसा बढ़ाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने आपको न्योछावर कर देना। वहाँ किसी राजाके सीमित महलमें देखनेकी वस्तुएँ थोडे ही हैं। भगवान्‌की लीलावाले महलमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्त कालतक देखनेपर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

७८. मान लीजिये एक बहुत बडा सम्राट् है। अब वह जिस समय दरबारमें रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है। पर जब वह महलमें जाता है, तब बच्चा उसकी दाढी पकडकर खींचता है और रानी उसकी सेवा करती है। रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बडे भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राट्पनका रोब नहीं रहता। वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति हैं। सम्राट् हैं दरबारमे, महलमे तो उसके स्वामी हैं, उसपर उसका अधिकार है। राजदरबारका कानून, बैठना-उठना, बात-चीत, हँसना-बोलना, सब मर्यादासे सीमित रहता है, वहाँ सम्राट्पन (ऐश्वर्य) बात-बातमे रहेगा। पर महलमें सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर-गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है। भगवान्के बडे-बडे ऊँचे-ऊँचे भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते है, कोई बहुत बडे अधिकारीकी तरह काम करते है, यहाँतक कि युवराजकी तरह, भगवान्के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं, पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नहीं हो सकता, वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते—जानतक नहीं सकते कि उनकी शकल-सूरत कैसी है।

भगवान्का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्याका रूप—ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं। बहुत ऊँचे-ऊँचे संत उनकी इस ऐश्वर्य-लीलामें स्थान पाकर भगवान्की तरह-तरहकी सेवा करते है। पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं, युवराजतकपर हुकुम चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंका हुकुम ब्रह्मा-विष्णु-महेशतकपर चलता है। अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमे दिन-रात आनन्दित रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नहीं कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखें, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हे स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नहीं मिलती कि जाकर देखें—बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है।

जो दिन-रात श्रीकृष्णको रोबमे बैठे देखता है, उसे क्या पता कि ये ही श्रीकृष्ण महलमे जाकर न जाने क्या-क्या करते हैं। वह तो दिन-रात दरबारी कानूनकी मर्यादामे रहता है। मर्यादाकी जो लीला होनी है, उसीमे उसका मन पगा हुआ होता है।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढकर, राज्यमें क्या हो रहा है—यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता। वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हैं, वे कभी इस प्रापञ्चिक जगत्की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते है। पर जो दिन-रात मिश्रीके रसको चख रहा है, उसका गुडपर मन थोडे ही चलता है। वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमे छका रहता है कि क्या पूछना। उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने-कहनेकी भी फुरसत नहीं होती।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझें कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाडी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बडे-बडे अफसर सब प्रबन्ध करते हैं। सारा प्रबन्ध उन्हींका रहता है तथा उनके प्रबन्धमे ही स्पेशल जाती है। पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी। मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढे। पर वस्तुत. मै तो इनका चाकर हूँ। ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामे स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो, तो उसकी देख-रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एव बडे-बडे देवता ही करते है, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी है।

जो वैसे भक्त है या अवतार लिये हुए है, वे सब कानून मानते है; पर उनका यहाँका कानून मानना

वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पड़े। मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है। पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही ऐसे जो कोई विरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार छिपे होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं।

कल्पना कीजिये—सम्राट्को मजाक सूझे और इसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमें घूमे। अब कोई राजका चपरासी हो। उस बेचारेको तो पता है नहीं कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है। अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदलकर जब दरबारमें हम रहें, तब आना होगा।' अब जब वह रानी जायगी, तब चपरासी तो उसके साथ भी वही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है। ठीक उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमें प्रवेश करने देगा। वहाँ दरबारमें भी केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है, वेष बदले हुए यहाँ आयी है, और लोग तो जानते भी नहीं कि यह कौन है। रानी वहाँ दरबारमें खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है; पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते हैं पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी कभी-कभी लीला किया करते हैं।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है—भगवान् द्वारकामें गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिनें दहीके मटके लिये दरबारमें आती हैं। भगवान् तो सब जानते हैं—पहले अदबसे बात होती है। फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमें, यहाँ गद्दीसे उतरो।' सारा दरबार दंग हो जाता है कि भला, ये गँवारी ग्वालिनें कितनी बढ़-बढ़कर बातें कर रही हैं। श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं, यदि सीधे मनसे नहीं चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा।' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमें याद नहीं कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार देती हैं। सारा दरबार चकित रह जाता है। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमें आती है तथा तरह-तरहकी लीला करती है, पर लीला देखकर यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोंके दास हैं। ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्र-गोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जातीं।

और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जब-तक बिल्कुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके रहस्यका अनुमान लगाना भी बड़ा ही कठिन होता है। किसी भी दृष्टान्तसे इसके वास्तविक रहस्यको समझा नहीं सकता।

७०. भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं। उनमें किसीमें भी मन लग जानेपर तो महीने-के-महीने बीत जाते हैं, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है। पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है। समाधि हो जाती है। परंतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तबतक चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये दस-बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कड़ाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला फिर यह लीला, फिर यह। इस प्रकार जागनेसे सोने-

तक मन-ही-मन चिन्तनका तार चलता रहे। बाहर तो सुन रहे है, पोथी पढ रहे हैं, किसीसे बात कर रहे हैं अथवा बैठकर नामजप कर रहे है, पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये। खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बडी आसानीसे हो सकता है।

८० वैष्णवसिद्धान्तका तो यह एक निचोड है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड ले। भगवान् हमारे स्वामी है, मै उनका दास हूँ। भगवान् हमारे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ। भगवान् हमारे पुत्र हैं, मै उनका पिता हूँ। भगवान् हमारे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मै उनकी प्रेयसी हूँ। कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खींचे—बस, उसीको एक बार दृढ करके जोड़ ले और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसों घटे सेवामे लगा रहे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोडता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं। विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण। यही उत्कण्ठा, जैसे-जैसे भजन-स्मरण बढ़ता है, वैसे-वैसे अन्त करण शुद्ध होनेपर बढ़ने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई कि उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते हैं और फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी गणनामें आ जाता है।

लीलाचिन्तन करते-करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र-विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं। मान लें आप ध्यान कर रहे हैं, भोजनकी लीला चल रही है। बड़े, पकौडी, साग एव तरह-तरहकी मिठाइयाँ मन-ही-मन परस रहे हैं और भावना कर रहे हैं—श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे मैं खा रहा हूँ। अब वहाँ मनमें खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहाँ इस मुँहमे आ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नहीं हुआ, आज थोडी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

कभी-कभी ऐसा भक्तोंको हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं। वह गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड गयी। वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया। अब हो तो रहा था ध्यान, पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे। ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकडी जल रही थी। खीर उतारी, कटोरेमें ढाली, कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुलीपर पडी, अँगुली हिली, हिलनेसे कटोरा गिर गया। आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमेंसे खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खड़े हैं।

मधुर भावके, गोपीभावके सत लोग तो विचित्र-विचित्र तरहकी लीला करते हैं। वहाँ तो बडे-छोटेका सकोच ही नहीं। कभी चपत लगा देते हैं। श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं। अब वे गोपीभावापन्न सत उन्हें मनाते हैं। मनाते समय श्यामसुन्दर तरह-तरहकी शर्तें पेश करते हैं। यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा। वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई। अब उसमें कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं। वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमें है।

एक बार दो भक्त थे। वृन्दावनकी बात है। दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे। सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे। एक दिनकी बात है कि राधा-कुण्डमे जल-विहारकी लीला चल रही थी। वे उसीके ध्यानमें लगे हुए थे। लीला होते-होते श्रीप्रियाजीके

कानोंका कुण्डल जलमें गिर गया। अब संत तो वहाँ सखीके वेषमें थे। अतः उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबराकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे। इधर ध्यानमें तो एक-दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये। लोगोंने देखा कि आँखें बंद हैं, श्वास धीरे-धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं। उनके एक मित्र थे। उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था। उनको लोगोंने समाचार दिया। वे स्वयं भी पहुँचे हुए थे। उन्होंने आकर देखा—देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है। बस, चटसे वे उन्हींकी बगलमें बैठ गये। ध्यानमें ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जडमें छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया। कुण्डल पाकर इन्होंने उसे प्रियाजीके कानोंमें पहना दिया। पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया। अब पान तो ध्यानमें दिया था। पर उसी समय आँखें खुलीं। देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है। दोनों मित्र हँसने लग गये। और लोगोंने कुछ नहीं समझा। केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे। जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब ऊँची स्थितिमें पहुँच जाते हैं, तब एक दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते हैं। यह योगकी बात नहीं है। यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थीं, वैसे ही यहाँ भी कोई-कोई ऐसे मित्र होते हैं, जो मिलकर एक दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं। फिर उनमें एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी-कभी पता लग जाता है; सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है, क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित हैं। जो चाहिये, वही कर देंगे। पहले तो चिन्तनमें जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी। पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली। चिन्तनका अभ्यास होते ही मन दिन-रात वहीं फँसा रहेगा। आपके मनमें जो चित्र आता है, उसमें भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है, क्योंकि आप उसे ऐसा मानते हैं कि यह तो भावनाका चित्र था। सेवा हुई, नहीं हुई; चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेंगे। भगवान् देखते हैं कि यह तो हमें भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यों बनें? नहीं तो, फिर गर्मीके दिनोंमें आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पंखा झलनेसे फुरसत नहीं मिले। बाहर कुछ भी करते रहेंगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पंखा झलते ही रहेंगे। बाहरके काममें भले त्रुटि हो, पर पंखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा। कहीं किसी झझटके काममें फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये।

जैसे × × × में गर्मीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह! आज बहुत गर्मी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमें ही पंखा झलना चलता रहेगा। पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है। भोजन करानेकी लीलाका चिन्तन करते हुए जैसे धीरे-धीरे चबा-चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे ही अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोडा, तोडकर मुँहमें रखा, अब चबा रहे हैं। फिर मनमें आयेगा थोड़ा नमकीन,

खाते तो ठीक रहता। बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही-बड़ेको तोड़कर मुँहमें रख रहे हैं। पर वह करनेसे होगा। आप जो भाव करेंगे, उसी लीलाको वे सच्ची बना देंगे। पहले तो सुन-पढ़कर दस-बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर, पीछे उनकी कृपासे नयी-नयी लीलाएँ अपने-आप ध्यानमें आने लग जायँगी। आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके साथ भी ऐसी घटना हो सकती है। वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं, सामने बैठकर खा सकते हैं। पर सारी बात इसपर निर्भर है—अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमें लग जायँ। फिर कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। मधुर-से-मधुर लीला एक-पर-एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस देख-देखकर निहाल होते रहियेगा। फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा। पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा।

नन्ददासजी जब मरने लगे—अन्तमें यह पद गाते हुए मरे—

देखो, देखो री, नागर नट निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजै मुकुट लटक।
काछिनि किंकिनि कटि
नंददास गावै तहाँ निपट निकट।

अर्थात् मैं बिल्कुल नजदीक खड़ा होकर यह लीला देख रहा हूँ। यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये। आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना करें तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बड़ी बात है?

श्रीरामदर्शन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने पवित्र 'रामचरितमानस'में धनुर्यज्ञके पूर्व श्रीजनकपुरमें स्थित महाराजके परमरम्य बागमें श्रीरामदर्शनके लिये श्रीजनकनन्दिनीके जिस पावन प्रेम-प्रयासका सरस-सरल भाषामें वर्णन किया है, उसका विवरण न श्रीवाल्मीकीय, न अध्यात्मरामायणमें आया है। अवश्य वह प्रसन्न-राघव नाटकमें पाया जाता है; परंतु उसमें श्रुतिसिद्धान्तके रहस्यका विकास नहीं हुआ है, जैसा कि मानसमें हुआ है।

श्रुति कहती है कि योगके बिना विद्वान्‌का भी यज्ञ नहीं सिद्ध होता—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।

(ऋक्संहिता मण्डल १। १८ मन्त्र ७)

ज्ञानी जनकजीके उपदेशक योगी याज्ञवल्क्यजीका कथन है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है—

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

और श्रुति भी कहती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदारण्यक० ४। ५। ६)

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।

(छा० उ० ८। ७। १)

और योगानुशासनमें उसके लिये विधि है—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

(योग० १। २०)

इसलिये इस प्रेम-दर्शनसे श्रीजानकीजीने आगम-निगमद्वारा ही अपना कर्त्तव्य पालन करके यज्ञकी सफलता प्राप्त की है और प्रत्येक सौभाग्य-काङ्क्षिणी कन्याके लिये आदर्श स्थापित कर दिया है, जिसका वर्णन क्रमशः आगे होगा।

गोस्वामीजीने इस श्रुति-रहस्यको सरल-सरस भाषामें लिखकर अपने विमल निबन्धको अति मञ्जुल बनाया,

है और इसलिये सुजन-समाजमे समुचितरूपसे सम्मानित हुआ है । कहा भी है—

सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।
(मानस)

महामुनि श्रीविश्वामित्रजीके पूजनका समय जानकर और उनकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणजीके साथ श्रीरामजी फूल लेने गये । श्रीजनक महाराजके वागको देखकर दोनों भाई वडे प्रसन्न हुए और मालियोंसे पूछकर पुष्प लेने लगे ।

इसी समय सयानी सखियोंके साथ श्रीसीताजी वहाँ श्रीगौरीकी पूजाके लिये अपनी पूज्या माताजीकी आज्ञासे आयीं और स्नान करके उन्होंने वड़े अनुरागसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर माँगा ।

एक सखी सीताजीका साथ छोडकर फुलवाडी देखने गयी थी और उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा और प्रेमसे विह्वल होकर सीताजीके पास आयी । उसकी दशा देखकर और सखियोंने उसके 'पुलक गात जलु नैन' और हर्पका कारण पूछा । उसने कहा कि 'दोनों राजकुमार वाग देखने आये हैं । सत्र प्रकारसे सुन्दर हैं । मैं किस प्रकार उनका वर्णन करूँ ।'

गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

यह सुनकर तथा सीताजीके हृदयमें उत्कण्ठा जानकर सब सयानी सखियाँ प्रसन्न हुईं । तत्र एक और सखी कहने लगी, 'ये वे ही राजकुमार हैं, जो सुना है कि कल मुनिके साथ आये हैं और जिन्होंने अपने सौन्दर्यसे सत्रको मोहित कर लिया है । जहाँ-तहाँ उनकी छविका लोग वर्णन कर रहे हैं—अवश्य चलकर उनको देखना चाहिये । वे देखने योग्य है ।'

सखियाँ श्रुतिस्वरूपा हैं । उनके वचन श्रुतितुल्य हैं । 'आत्मा वा द्रष्टव्य.'का ही श्रीरामजीके दर्शनके लिये सुन्दर अनुवाद है—

अवसि देखिअहिं देखन जोगू ॥

सखीके वचन सीताजीको बड़े सुहावने लगे । श्रुतिका आदर्श है 'आत्मा वा श्रोतव्य.'—इसलिये दर्शन करनेके लिये लोचन अकुला उठे । देवर्षि श्रीनारदजीकी वात भी याद आ गयी और पवित्र प्रेम उत्पन्न हो गया एवं सीताजी चकित होकर इधर-उधर देखने लगीं । मन इस वातकी चिन्ता कर रहा था कि राजकुमार कहाँ चले गये—यही श्रुतिका 'मन्तव्य.' और 'अन्वेष्टव्य.' है ।

सव सखियोंने लताकी ओटमें सुन्दर श्याम और गौर राजकुमारोंको दिखलाया । उनके रूपको देखकर जनककुमारीके नेत्र ललचा उठे । वे ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने अपना खजाना ही पहचान लिया । श्रुतिका आदेश है—'आत्मा अन्वेष्टव्य है और विजिज्ञासितव्य है ।' इसलिये सीताजीके लोचनोंने अपने रामको पहचान लिया । पहचाननेके वाद श्रुति कहती है कि आत्माको जानकर अपनी बुद्धि (प्रज्ञा), तद्रूप कर लेनी चाहिये—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ।
(बृहदारण्यक ४ । ४ । २१)

इसके अनुसार श्रीसीताजीकी दशाका वर्णन गोस्वामीजीने वडे सुन्दर और प्रेमरससे भरे शब्दोंमें किया है—

थके नयन रघुपति छबि देखें ।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी ।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी ।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥

उसी समय लता-भवनसे दोनों राजकुमार प्रकट हुए । रामजीको देखकर सब सखियाँ अपने आपको

भूल गयीं, परंतु एक चतुर सखी धीरज धरकर सीताजीका हाथ पकड़कर कहने लगी—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
भूपकिसोर देखि किन लेहू॥

तब सीताजीने सकुचाकर नेत्र खोले और सम्मुख रामजीकी शोभाको देखकर और पिताजीके प्रणको याद करके मनमें क्षुब्ध हुईं।

ऊपर चतुर सखीने जो ध्यानकी बात कही है, वह गम्भीर ध्यानकी है, जिसको श्रुति 'निदिध्यासितव्य' के शब्दसे कहती है। हाथ पकडकर सीताजीको ध्यान छोडनेके लिये कहनेसे स्पष्ट है कि ध्यान शब्दसे छूटनेवाला नहीं था, बल्कि हाथके झटकेसे, क्योंकि ध्यान निदिध्यासनके रूपमें परिणत हो गया था। इस तरह श्रुतिके वचन भलीभाँति इस पावन प्रेमचरितमें चरितार्थ हो गये। अर्थात्—

(१) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृह० ४।५।६)
(२) सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छा० ८।७।१)

(२)

जब सखियोंने सीताजीको प्रेमके वशमें देखा, तब वे भयसे कहने लगीं—बडी देर हो गयी। एक सखी मनमें हँसकर कहने लगी, कल इसी समय फिर आयेंगी। सीताजी सखीकी रहस्यमय वाणी सुनकर सकुचा गयीं। देर हो जानेके कारण माताजीका भय लगा। बहुत धीरज धरकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आयीं और अपनेको पिताके अधीन जानकर लौट चलीं। मृग, पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने सीताजी बार-बार घूम जातीं और श्रीरामजीकी छवि देख-देखकर उनकी प्रीति कम नहीं बढती थी। शिवजीके धनुषको कठोर जानकर मनमें विसूरती हुई श्याममूर्तिको हृदयमें रखकर लौट गयीं। यह प्रसङ्ग भी वेदान्तदर्शनके—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्। (४।१।१)

—के अनुसार ही है। सीताजीका बार-बार देखना और सखीका कहना कि फिर आयेंगी—प्रत्ययकी आवृत्ति करना उचित है। श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य भी इस विषयका समर्थक है—

तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः।
(शा० भा० ४।१।१)

(३)

योगदर्शनके अनुसार—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य (उत्साह), (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञाका होना साधकोंके लिये आवश्यक है। इसीलिये पूर्व पावन प्रेमचरितमें इन सबका विवरण निम्नलिखित चौपाइयोंमें भी मिलता है—

(१) श्रद्धा—

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी॥

(२) वीर्य (उत्साह)—

तासु बचन अति सियहि सोहाने।
दरस लागि लोचन अकुलाने॥

(३) स्मृति—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।

(४) समाधि—

देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

(५) प्रज्ञापूर्वक—

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

जिस प्रज्ञाका वर्णन ऊपर आया है, उसको योगदर्शनमें ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इसीके विषयमें श्रुति कहती है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत,
(बृ० ४।४।२१)

और इसीको श्रीभगवद्गीतामें—'स्थितप्रज्ञ' आदि शब्दोंद्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस प्रज्ञाको प्राप्त करनेसे सत्य वस्तुका ज्ञान होता है—संशय और भ्रम नहीं रहते। श्रीसीताजीके हृदयमें इस समय संशय, अश्रद्धा और अज्ञानका आभास उपस्थित था। धनुषकी कठोरताके कारण सुन्दर श्याममूर्तिके द्वारा उसके तोड़े जानेमें संशय, पिताके प्रणके कारण नारद-वचनमें श्रद्धाकी मात्राका कम होना तथा श्रीरामजीके हृदयमें सीताजीके प्रेमका क्या परिणाम हो रहा होगा, इसका अज्ञान—इन सबको दूर करनेके निमित्त श्रीसीताजी फिर श्रीगौरीजीके मन्दिरमें पधारीं और प्रेमपूर्वक विनय करके उन्होंने भगवतीके चरण पकड़ लिये। श्रीभवानीने प्रसन्न होकर कहा कि (१) "हमारा आशीर्वाद सत्य है, सीताजी, आपकी मन कामना पूरी होगी। (२) नारदवचनमें श्रद्धा रखना, वह सदा शुचि और सत्य होता है। (३) 'करुणानिधान सहज सुंदर साँवरा' आपके स्नेहको जानता है।"

इस आशीर्वादको सुनकर श्रीसीताजीकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हो गयी अर्थात् विशेष अर्थवाली हो गयी—संशय और भ्रम सब दूर हो गया, श्रीरामजीके हृदयकी बात उन्हें ज्ञात हो गयी। क्योंकि श्रीभवानीजीकी स्तुतिमें सीताजीने कहा था—'बसहु सदा उर पुर सबही के', इसलिये पार्वतीजीने श्रीरामजीके हृदयके भावको प्रकट करा दिया और साथ ही नारदजीके वचनकी सत्यता कहकर श्रीसीताजीके हृदयमें 'उपजी प्रीति पुनीत'को निश्चल तथा अनुमोदित कर दिया। अब श्रीसीताजीको अत्यन्त हर्ष हुआ और उनके वाम अङ्ग फड़कने लगे। बार-बार पूजन करके वे अपने मन्दिरको चली गयीं। ऋतम्भरा प्रज्ञा सब दूसरे संस्कारोंका बाध करनेवाली होती है (तज्ज संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी), इसलिये अब कोई भी संदेह नहीं रहा। श्रुतिका वचन कि 'उस परमात्माको जानकर प्रज्ञाको तदनुकूल करना चाहिये' पूर्णरूपसे चरितार्थ हो गया। जिस सुखका अनुभव सीताजीको हुआ, उसका वर्णन श्रीगीता इस तरह करती है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६।२०-२१)

यह बुद्धिग्राह्य सुख ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा ही प्राप्त होता है और योग-सेवासे श्रद्धा-वीर्यादिकी प्राप्तिका वर्णन ऊपर हो चुका है तथा तत्त्वमें स्थित करनेके लिये श्रीगौरीजीके आशीर्वादका कथन भी आ चुका है।

(४)

शिक्षा

भगवान्‌का अवतार धर्म-स्थापनके लिये होता है, इसलिये उनकी आदिशक्तिका अवतार, जो उनकी आत्ममाया है, अपने पावन चरित्रसे धर्मरक्षाकी शिक्षा देता है।

(१) श्रीसीताजी श्रुति तथा योगके आदेशका पालन करके यह बतलाती हैं कि शास्त्रविधिके प्रमाणको मानकर प्रत्येक कर्म करना उचित है। परमार्थ-साधनके लिये निगमागम-अनुमोदित पद्धतिका अनुसरण सबके लिये कल्याणकारक है।

श्रीगीता भी यही कहती है—

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(१६ । २४)

(२) व्यवहारमें अपनेको सर्वश्रेयस्करी सीताजीने पिता और माताके अधीन रहकर यह आदर्श स्थापित किया है कि प्रत्येक कुमारीकन्याके प्रेमकी मर्यादा 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' के आदर्शसे शोभाको प्राप्त होकर श्रेयस्कारिणी होती है, इसीलिये श्रीसीताजीके इन वाक्योंपर ध्यान रखकर उनके चरित्रका यथाशक्ति अनुकरण करना उचित है—

(१)

नख सिख देखि राम कै सोभा ।
सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ॥

(२)

धरि बड़ि धीर रामु उर आने ।
फिरी अपनपउ पितु बस जाने ॥

(३)

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी ।
भयउ बिलंबु मातु भय मानी ॥

यद्यपि देवर्षि नारदके वचनोंका स्मरण करके श्रीसीताजीके हृदयमें पुनीत प्रेम उत्पन्न हुआ, तथापि माता और पिताकी बातको सर्वोपरि समझकर अपने प्रेमको मर्यादाके अधीन रखकर उन्होंने अपने चारुचरित्रसे कुलको पवित्र कर दिया है ।

परमोपयोगी पावन प्रेमका प्रसङ्ग लिखनेसे निगमागम-सम्मत मानसकार श्रीगोस्वामीजीको अन्त सुखकी प्राप्ति हुई और उन्हीं पूज्यपादकी कृपासे जो श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक रामचरितमानसका अनुशीलन करेंगे, अवश्य ही उनके हृदयमें शान्ति और सुखकी उपलब्धि होगी । इस सुभग कविता-सरिताकी छवि तो सीताजीके स्वयवर-की सुन्दर कथा ही है ।

सीय स्वयबर कथा सुहाई ।
सरित सुहावनि सो छवि छाई ॥

(मानस)

श्यामका आठों याम मनमें निवास

नैन-मन जब तैं आइ बसे ।
तब तैं आठौं जाम दिवस निसि निमिषौ नाहिं खसे ॥
सबके नैन प्रपंचहि निरखत सबके मन संसार ।
इहाँ जगत आवन पावत नहिं, निरखत नंदकुमार ॥
ललित त्रिभंग पीत पट सोभित, गल गुंजनकी माल ।
मुकुट मयूर पिच्छ, कुंचित कच, मृगमद तिलक सुभाल ॥
कर मुरली, कटि किंकिनि राजत पग नूपुर झनकार ।
नीलस्याम वदनारविन्द पर काम कोटि सत वार ॥
अधर मधुर मुसक्यान मनोहर, तिरछी चितवनि जाल ।
मुनि-मन विहग अगम्य निरखि छवि आइ फँसत ततकाल ॥
नित्य प्रकासित स्याम-सूर्य, तहँ जग तम जात डराय ।
दुस्साहस करि जाय कबहुँ जौ, बिनु मारे मरि जाय ॥

श्रीकृष्णका प्राकट्य

(श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका भाषण)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी स्मृति सदा बनी रहती है तो उसके प्रभावसे समस्त पापों तथा अशुभोंका नाश, कल्याणकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्ययुक्त ज्ञान विज्ञानकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है।' आज उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य महोत्सवका मङ्गलमय दिवस है, इस महान् मङ्गलमय अवसरपर आप, हम सब भगवान् श्रीकृष्णका पवित्र स्मरण करके जीवनको पवित्र और मङ्गलमय बनावें।

अवतार तथा अवतारके कारण और स्वरूप

अवतारका अर्थ है—अवतरण, परब्रह्मका उतरना। भगवान् सर्वातीत हैं, सर्वमय हैं, सर्वव्यापक हैं, सदा-सर्वत्र विराजित हैं, पर उन्होंने अपनी 'सर्वभवन-सामर्थ्य'से—मायासे—योगमायासे अपनेको ढँक रक्खा है। अपनी इच्छासे ही लीलाके लिये कभी-कभी वे इस आवरणको किसी अंशमें हटाकर लोकके सामने प्रकट हो जाते हैं, यही उनका अवतरण है। इसीका नाम अवतार है। यह अवतार स्वयं अक्षर ब्रह्म, भगवान् विष्णुका भी होता है और किसी शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर भी होता है। भगवान्के इस अवतारको श्रीशङ्कराचार्य-सरीखे अद्वैतवादी महापुरुषोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। जो लोग यह कहते हैं कि 'कोई मनुष्य अपनी उन्नति करते-करते जब महान् गुणोंसे सम्पन्न होकर उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उसीको भगवान्का अवतार कहते हैं,'—यह ठीक नहीं है। यह तो 'आरोहण' है—चढ़ना है, अवतरण—उतरना नहीं। भगवान् तो अवतरित होते हैं।

ये अवतार अनेक प्रकारके होते हैं—लीलावतार, पुरुषावतार, अंशावतार, कलावतार, गुणावतार, युगावतार, आवेशावतार, विभवावतार और अर्चावतार आदि। सभी अवतारोंमें लीलाके लिये अवतरण होता है, अतः सभीको अवतार कहा जाता है और इन अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जब सबका भगवान्से प्रादुर्भाव है, तब सभी पूर्ण हैं। शास्त्र कहते हैं—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वैर्गुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥

'ये सभी नित्य हैं, शाश्वत हैं, इनके हानोपादानरहित अप्राकृत देह हैं, प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हैं। ये जन्म-मृत्यु आदि सर्वदोषरहित, सर्वगुणसम्पन्न, पूर्ण और ज्ञानस्वरूप, परमानन्दसंदोह हैं।' इनमें देश, काल या शक्तिके कारण किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है। शक्तिके प्रकाशकी न्यूनाधिकतासे ही इनमें तारतम्य माना जाता है। एक बलवान् पुरुषमें पाँच मन बोझ उठानेकी शक्ति है, पर जहाँ एक छटाँक वजन ही उठाना है, वहाँ एक छटाँक वजन उठानेपर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाँच मन उठानेकी शक्ति नहीं है। शक्ति तो पूरी है, पर वहाँ शक्तिके प्रकाशका प्रयोजन नहीं है। इसी प्रकार पूर्ण शक्तिमान् भगवान्के अवतारमें प्रयोजनानुसार किसीमें कम शक्तिका प्रदर्शन है, किसीमें अधिकका। इस शक्तिके प्राकट्य और अप्राकट्यके तारतम्यको लेकर ही पूर्णत्व और अंशत्वका कथन है। इसीसे कहा गया है—

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः॥

"भगवान् जब अपने अशेष गुणोंको प्रकट करते हैं, तब वे 'पूर्णतम' हैं, जब सब गुणोंको प्रकट न करके बहुत-से गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्णतर' हैं और जब उनसे भी कम गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्ण' कहलाते हैं।" श्रीलघुभागवतामृतमें कहा है—

अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता।
पूर्णत्वं च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता॥

"अनन्तशक्तिशाली भगवान् जब अल्पशक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब वह अवतार 'अंश' कहलाता है और जिसमें अपनी इच्छासे बहुत-सी शक्तियोंको प्रकट कर देते हैं, वह 'पूर्ण' कहा जाता है।"

शक्ति क्या है ? इस विषयमें कहा है—

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः ।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम् ॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा और तेज आदि गुण ही शक्ति कहलाते हैं। इन शक्तियोंका प्राकट्य और अप्राकट्य ही तारतम्यका कारण है।' नहीं तो भगवान्‌के सभी अवतार पूर्ण हैं।

जहाँ जैसा लीलाक्षेत्र होता है, वहाँ उसीके अनुसार शक्तिका प्रकाश होता है—शक्ति समान होनेपर भी वहाँ प्राकट्यके भेदसे फलमें भी भेद दिखायी देता है। जैसे—

शक्तिः समापि पुर्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः ।
शीताद्यार्तिच्छिदे येनाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत् ॥

'नगरको जलानेके लिये एक दीपकमें जो शक्ति है, अग्निपुञ्जमें भी वही शक्ति है। (इस दृष्टिसे) दोनों ही समान हैं, पर अग्निपुञ्जकी एक विशेषता है—शीतादि कष्टको दूर करना हो तो वह दीपककी ज्योतिसे नहीं होता, शीतनाशका सुख तो अग्निपुञ्जसे ही मिल सकता है।'

इसी प्रकार अवतारोंकी अंश-कलादिरूपमें अभिव्यक्ति होती है।

परब्रह्म भगवान्‌के ही रूपान्तर भूमापुरुष अन्तर्यामी भगवान् शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर असुरसंहार, साधु-संरक्षण तथा धर्मसंस्थापनादिरूप लीलाके लिये अपने इच्छानुसार देश आदिके आवरणको हटाकर ज्ञान या क्रियारूप अंशसे लोकमें प्रकट होते हैं, तब उन्हें 'अंशावतार' कहा जाता है। पर कभी-कभी अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण स्वयं भगवान् परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम किसी सत्त्वादिको आधार न बनाकर अपने नित्य अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूपसे—जो दिव्य शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिरूपसे अप्रकट है—असुरोद्धार, साधुपरित्राण, धर्मसंस्थापनादि प्रयोजनसहित प्रधानतया साधननिरपेक्ष अपने सम्बन्ध या दर्शनमात्रसे ही सबका उद्धार करनेके लिये अपने माधुर्य और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपसे अंशांशरहित अपनेको इच्छित लोकमें प्रकट करते हैं, तब उसे 'पूर्णावतार' कहते हैं। यह अवतार कहलानेपर भी वस्तुतः 'स्वयं भगवान्‌का पूर्ण आविर्भाव' होता है। ऐसा पूर्ण आविर्भाव बहुत कम हुआ करता है। यही परात्पर ब्रह्मका पूर्णाविर्भावपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्णावतार बहुत कल्पोंमें होता है, परंतु स्वयं भगवान्‌का पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें होता है। इस परिपूर्णाविर्भावमें समस्त अंश-कलाओंका भी समावेश रहता है, जैसे स्वाभाविक ही करोड़ रुपयोंमें सौ, दो सौ, हजार दो हजारका रहता है। इसीसे श्रीकृष्णको 'नारायण ऋषिके अवतार, अंशावतार, भगवान् श्रीनारायणके कृष्णकेशावतार, क्षीरोदशायी, सहस्रशीर्षा, वैकुण्ठाधिपति महानारायण, श्वेतद्वीपपति विष्णु भी कहते हैं और इसीसे इस साधननिरपेक्ष उद्धार करनेवाले आविर्भावमें भी असुरोद्धार, साधुपरित्राण और धर्मसंस्थापन आदि अंशकलावतारोंके कार्य भी सुसम्पन्न होते देखे जाते हैं। परंतु वास्तवमें श्रीकृष्ण साक्षात् परात्पर पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्वमय, सर्वातीत, अप्रमेय, दिव्यानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुण-रहित, स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणवारिधि, आनन्दाकार, सर्वशक्तिविशिष्ट, अंशकलापूर्ण 'स्वयं भगवान्' हैं। अन्य अवतार 'अंश-कला' हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

'भगवान्' शब्दका अर्थ

अष्टाङ्गयोगी लोग इन्हीं भगवान्‌को 'परमात्मा', उपनिषद्-निष्ठ वेदान्ती 'ब्रह्म' और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' कहते हैं—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः ।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः ॥

(स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(१।२।११)

श्रीकृष्ण ही ये स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। 'भगवत्' शब्दकी निरुक्ति है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥

'अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री,

अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्य—ये छः भग जिसमें स्वरूपभूत रूपसे नित्य वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज—इनका नाम भग है। ये सब अनन्तरूपसे जिसमें वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य निरन्तर स्वरूपतः वर्तमान हैं।

'न्यायविवरण'में भगवान् वासुदेवकी पूर्णताके सम्बन्धमें कहा गया है—

पूर्णानन्दः पूर्णभुक् पूर्णकर्ता पूर्णज्ञान पूर्णभा पूर्णशक्तिः।
पूर्णैश्वर्याद् भगवान् वासुदेवो विरुद्धशक्तिर्न च दोषस्पृगीश॥

षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में पूर्ण आनन्द, पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, विरुद्धशक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व विद्यमान हैं।

भगवान्में विरुद्ध धर्मोंका आश्रय

भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं, जो विरुद्धधर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने ब्रह्ममें विरुद्धधर्मोंका समाश्रय बतलाया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और महान्से भी महान् है।'

आसीनो दूरे व्रजति शयानो याति सर्वतः।
(कठ० १।२।२१)

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सर्वत्र चला जाता है।'

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह पास भी है।'

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्र वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णु ज्वलन्तमज्वलन्त सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।

(नृसिंहोत्तरतापनी, षष्ठ खण्ड)

'जो तुरीय भी है, अतुरीय भी है, आत्मा भी है और अनात्मा भी है, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी है, वीर भी है, अवीर भी है, महान् भी है, अमहान् (लघु) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।

पुराणोंमें कहा है—

अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः॥
(ब्रह्मपुराण)

यों नित्य युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय परब्रह्मका लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए ही जन्म ग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्धधर्माश्रय होनेका वर्णन किया है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है। ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो। गीतोक्त यह कथन भी 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'का ही वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्ण महान् भोगी होकर भी परम योगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्ता होकर भी सदा अकर्ता, दृश्य होकर भी अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्म लेनेवाला होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, (प्रेमीके सामने) महामुग्ध होकर भी परम चतुर, (प्रेमके राज्यमें) सकाम होकर भी नित्य पूर्णकाम, (प्रेमराज्यमें) दीन होकर भी नित्य अदीन, भक्त-प्रेमवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धनयुक्त भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, भक्तगम्य होकर भी परम अगम्य, ममतायुक्त होकर भी नित्य निर्मम, अनेक होकर भी सदा एक, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्यतृप्त और सर्वसम्बन्धयुक्त होनेपर भी सर्वसम्बन्धविरहित हैं। ये बातें उनके लीलाचरितमें सुस्पष्ट हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह स्वयं भगवान्

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनका वह

स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है । वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छासे अपने नित्य सच्चिदानन्दवपु-को प्रकट करते हैं—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।

पद्मपुराण, पातालखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे लीलास्वरूप भगवान् श्रीरुद्रको दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक निष्क्रिय ब्रह्मरूपकी व्याख्या करते हुए कहा है "रुद्र ! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूपको देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है, सच्चिदानन्दमय है । मेरा यह रूप पाञ्चभौतिक आकारवाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओंसे ही यथार्थ देखा जाता है । इसलिये वेद इसे 'निराकार' कहते हैं । प्राकृतिक सत्त्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत—स्वरूपभूत हैं तथा उन दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है, इससे मुझे 'निर्गुण' कहा गया है । मैं अपने चैतन्य अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझ-को 'व्यापक' ब्रह्म कहा जाता है । मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं, इसलिये शास्त्र मुझको 'निष्क्रिय' कहते हैं ।"

अतएव श्रीकृष्णका श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णस्वरूप ही है । महाभारतमें श्रीकृष्णका परब्रह्म होना स्थान-स्थानपर सिद्ध है—उनकी लीलासे भी और उनके सम्बन्धमें कहे हुए महापुरुषोंके वचनोंसे भी ।

सच्ची बात तो यह है कि महाभारतके महानायक ही हैं—सच्चिदानन्दघन अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वात्मा परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण । समस्त महाभारत आद्यन्तमध्यमें भगवान् श्रीकृष्णके गुण, माहात्म्यसे ही परिपूर्ण है । भगवान् व्यासदेव, मार्कण्डेयमुनि, नारद, अङ्गिरा, भृगु, सनत्कुमार, असित, देवल, परशुराम, भगवान् ब्रह्मा, पितामह भीष्म आदिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका महाभारतमें स्थान-स्थान-पर विशद वर्णन है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपना महत्त्व बतलाया है । यहाँ भीष्मपितामहके दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः ।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः ॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥
वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम् ।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ ॥
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः ॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥

(भीष्मपर्व अ० ६६ । ६७)

'राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वलोकमय, सनातन, अविनाशी, नित्यशासक, धरणीधर और अचल हैं । इन चराचर-गुरु भगवान् श्रीहरिने तीनों लोकोंको धारण कर रक्खा है । ये ही विजयी हैं, ये ही विजय हैं, ये ही योद्धा हैं और सबके परमकारण परमेश्वर भी ये ही हैं । राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप तथा तम और रजसे विवर्जित हैं । ये श्रीकृष्ण जहाँ हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है । भरतश्रेष्ठ ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं, ये समस्त देवताओंके परम देवता हैं । कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर या इनके अतिरिक्त दूसरा कोई दिखायी ही नहीं देता । ये भगवान् ही सर्वभूतमय हैं, ये ही सबके आत्मा हैं, ये ही महात्मा हैं और पुरुषोत्तम हैं । नरनाथ ! ये भगवान् केशव सम्पूर्ण लोकोंके पितामह हैं । ये परम तेज हैं । मुनिजन इनको हृषीकेश कहते हैं । जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते । भगवान् जनार्दन महान् भयमें निमग्न उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं ।'

महाभारतका गहराईसे अध्ययन-मनन करनेवाले पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि महाभारतके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । महाभारतके आदिपर्वमें ही कहा गया है—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनः ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते ।

यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥

इस महाभारतमें सनातन भगवान् वासुदेवकी महिमा ही गायी गयी है । वे ही सत्य हैं, वे ही ऋत हैं, वे ही पावन और पवित्र हैं । वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं, नित्य अविचल ज्योतिःस्वरूप सनातन पुरुष हैं । मनीषी विद्वान् उन्हींकी दिव्य लीलाओंका वर्णन करते हैं । यह सत् और असत्रूप सारा विश्व उन्हींसे उत्पन्न हुआ है । ध्यानयोगके बलसे समन्वित जीवन्मुक्त सन्यासीगण दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति अपने अन्तःकरणमें इन्हीं परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ।

भगवत्पादाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थ महोदयने 'श्रीमहाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थमें इस बातको उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया है ।

महाभारतान्तर्गत विश्वविख्यात सर्वलोकसमादृत श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वय कहते हैं—

मत्त. परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(७ । ७)

'धनजय ! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रकी मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १८)

"मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ । इससे लोक-वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ।"

यच्चापि सर्वभूतानां बीज तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूत चराचरम् ॥
(१० । ३९)

'अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, सो मैं ही हूँ । चराचरमें कोई ऐसा भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।'

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरण सुहृत् ।
प्रभवः प्रलय· स्थान निधानं बीजमव्ययम् ॥
(९ । १८)

'मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान तथा अविनाशी कारण हूँ ।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्यधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ—सबका आधार हूँ ।'

'मत्त. सर्वं प्रवर्तते ।'

'सब मुझसे ही प्रवर्तित हैं ।'

अहं कृत्स्नस्य जगत. प्रभव प्रलयस्तथा ।
'मैं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय हूँ ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
(५ । २९)

'मैं समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर हूँ ।'

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
(१० । ४२)

'यह सारा जगत् मेरे एक अशमें स्थित है ।'

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
'जो मुझे सर्वत्र देखता है, जो सबको मुझमें देखता है ।'

अहं हि सर्वयज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च ।
'मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ ।'

अर्जुनने गीतामें कहा है—

परं ब्रह्म पर धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुष शाश्वतं दिव्यमादिदेवमज विभुम् ॥

'भगवन् ! आप परमब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र, सनातन-पुरुष, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु हैं ।'

श्रीमद्भागवतमें तो श्रीकृष्णके परब्रह्मत्व उनकी स्वय भगवत्स्वरूपता तथा उनके अनन्त महत्त्वका ही वर्णन श्रीव्यासदेवजीने किया है । उसकी तो रचना ही उन्हींकी स्वरूपव्याख्या तथा लीलाकथाके वर्णनके लिये हुई है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि "जब भगवान् श्रीकृष्ण 'पूर्ण परात्पर ब्रह्म', 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा', सर्वथा सच्चिदानन्द-मयस्वरूप हैं, तब उनका स्वरूप और आकार प्राकृत तथा उनके कार्य—स्नान, भोजन-शयनादि तथा अन्यान्य व्यवहार-बर्ताव प्राकृत मनुष्यके-से क्यों दिखायी पड़ते हैं ?" इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान् स्वय 'सर्व-भवन-समर्थ' हैं,—वे

चाहे जैसे बन सकते हैं और यहाँ तो वे मनुष्य-लीला ही करते हैं। दूसरे, उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका उत्तर गीतामें दे दिया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

'मैं समस्त लोगोंकी दृष्टिमें प्रकाशित नहीं होता। इसलिये मूढ लोग मेरे इस अजन्मा और अविनाशी स्वरूपको नहीं जान पाते—मुझको जन्म-मृत्युशील प्राकृत देहधारी मानते हैं।'

'मैं सम्पूर्ण भूतोंका महान् ईश्वर हूँ, मेरे इस परमभाव (उत्कृष्ट माहात्म्य) को वे मूढलोग नहीं जानते और मुझे मनुष्यके सदृश शरीर धारण किये देखकर मुझे प्राकृत-शरीरधारी मनुष्य मान लेते हैं और मेरा अपमान करते हैं।'

श्रीयामुन मुनिने कहा है—

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् ....।

उस ब्रह्म और श्रीकृष्णमें एकत्व है जैसे किरणोंमें और सूर्यमें होता है।

अतएव दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रसविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्धधर्माश्रयी साक्षात् पूर्णब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु हैं।

गीतामें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत और भगवान् श्रीकृष्णका महत्त्व

उन्होंने गीतामें अवतारके प्रसङ्गमें अपने इस पूर्णाविर्भाव तथा अपने अंशावतारोंका वर्णन सांकेतिक भाषामें सूत्ररूपसे बहुत सुन्दर किया है। वे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इन श्लोकोंका साधारण शब्दार्थ है—

'मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको (अपने स्वभावको) स्वीकार करके अपनी मायासे (योगमायाको साथ लेकर) उत्पन्न—उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)॥ ६॥

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ॥ ७॥

'साधु पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)'॥ ८॥

साधुका परित्राण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण-संस्थापन—भगवदवतारके ये तीन कार्य सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनोंका वर्णन तथा इनके लिये प्रकट होनेकी बात आठवें श्लोकमें आ जाती है। फिर छठे और सातवें श्लोकमें—'सम्भवामि' और 'आत्मानं सृजामि' कहनेकी क्या आवश्यकता थी। तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे अपने प्रकट होनेकी बात ही कही गयी है—छठे तथा आठवें तथा दोमें 'सम्भवामि' सातवेंमें 'आत्मानं सृजामि' कहा है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है—तीन श्लोकोंमें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत है। मैं अज, अव्ययात्मा और सर्वभूतमहेश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके आत्ममायासे प्रकट होता हूँ, इसमें अपने 'विरुद्धधर्माश्रयी' परब्रह्म स्वरूपके पूर्णाविर्भाव-का संकेत है। दूसरेमें सदुपदेशके द्वारा धर्मग्लानि तथा अधर्मके अभ्युत्थानका नाश करनेवाले 'आचार्यावतार'का संकेत है तथा तीसरेमें साधुसंरक्षण, दुष्टदलन और धर्म-संरक्षण-संस्थापन करनेवाले 'अंशावतार' का संकेत है।

श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं—यह गीताके उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' और 'आत्ममायया सम्भवामि' पदोंके गाम्भीर्यपर ध्यान देकर समझनेसे और भी सुस्पष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वरूप तथा इसकी लीलाओंके जानने-समझनेका फल बतलाते हुए कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'अर्जुन! मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो मनुष्य तत्त्वसे—यथार्थरूपसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, (वह जन्म-मरणसे छूटकर) मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिस जन्म और जिन कर्मोंको जाननेसे जाननेवालेका जन्म होना बंद हो जाय, वे जन्म-कर्म कैसे विलक्षण हैं और वे केवल भगवान्‌के ही हो सकते हैं—यह सहज ही समझमें आ सकता है।

आज इन्हीं ज्ञानविज्ञानस्वरूप, पूर्ण परात्पर ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वातीत, सर्वमय, षडैश्वर्यपरिपूर्ण, अचिन्त्यानन्तैश्वर्यशक्तिस्वरूप, महान् योगेश्वरेश्वर, प्रकृति-स्वामी, अचिन्त्यानन्त, कल्याणगुणगणाकर, पञ्चागत्-ईश्वरीयगुणसम्पन्न, सकलगुणमय, नित्य निर्गुण, स्वरूप-भूतदिव्यगुणसम्पन्न, सदास्वरूपसम्प्राप्त, सर्वज्ञ, नित्यनूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, सर्वसिद्धिनिषेवित, आदर्श कर्मयोगी, धर्मसंस्थापक, दुष्टदलन, असुरोद्धारक, हतारिगतिदायक, गीतोपदेशक, अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यस्वरूप, प्रेमानन्दरसमय, शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुररसनिषेवित, श्रीराधानायक, श्रीराधात्मस्वरूप, श्रीराधापादाब्जमधुकर, श्रीराधाप्राणेश्वर, श्रीराधाराधित, श्रीगोपीजनमनमोहन, श्रीगोपीकान्त, श्रीगोपी-जनजीवनधन, मुरलीमनोहर, शिखिपिच्छधारी, श्रीमथुरानायक, श्रीरुक्मिणी-रमण, श्रीद्वारकाधीश, दिव्यनायक, दिव्यसखा, दिव्यबालक, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पुत्र, आदर्श प्रेमी, सकलकलानिपुण, नृत्यगीतवाद्यविशारद, ललितकला-कुशल, अश्वचालनकलाचतुर, भक्तप्रिय, भक्तभक्तिमान्, भक्तभयहारी, भक्तसर्वस्व, भक्तचरणरजोऽभिलाषी, भक्त-प्रतिज्ञारक्षक, भक्ताधीनस्वभाव, भक्तऋणयुक्त, शरणागत-वत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन, देवकी-वसुदेव-कुमार, नन्द-यशोदा-नन्दन, व्रज-बालक, व्रजबालसखा, सुदामार्जुन सखा, पाण्डवदूत, कृष्णासखा, परमवदान्य, परम-शूर, परमराजनीतिज्ञ, शौर्य-वीर्य-निधि, युद्ध-कला-विशारद, शार्ङ्गधन्वा, रण-नीति-निपुण, महापुरुषप्रधान, अखिलजगद्गुरु, महान् आदर्श पुरुष, महामानव, लोकनायक, लोक-सग्रह-कारी, इन्द्रियमनोवशकारी, अद्भुतजन्मकर्मा, षोडशकलापूर्ण, सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य-महोत्सव है। ये भगवान् नित्य हैं, इनकी लीला नित्य है। तथापि इनका प्राकट्य होता है भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको।

श्रीकृष्णका आविर्भाव

भाद्रपदकी अँधियारी अष्टमीकी अर्धरात्रिको कंसके कारागारमें परम अद्भुत चतुर्भुज नारायणरूपसे इनका प्राकट्य हुआ। देवकी इनके चतुर्भुजरूपकी तीव्र प्रभाको नहीं सह सकीं और बोलीं—'विश्वात्मन्! अपने इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अलौकिक रूपको छिपा लो।' भक्तवत्सल भगवान्ने श्रीवसुदेव-देवकीको उनके पूर्व-पूर्व जन्मोंकी याद दिलाकर बताया कि 'मैं सर्वेश्वर प्रभु ही तुम्हारा पुत्र बना हूँ' और फिर प्राकृत शिशुका-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार शिशुरूप भगवान्को नन्दालयमें श्रीयशोदाके पास सुलाकर बदलेमें यशोदात्मजा जगदम्बा महामायाको ले आये। भगवान् शिशुको ले जाने, वहाँ सुलाने और कन्याको लेकर कारागारमें लौट आनेकी क्रियाको भगवान्की मायासे किसीने नहीं जाना। नन्दालयमें तो कुछ भी, किसीको भी पता नहीं लगा। श्रीविष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवतमें इस लीलाका तथा इसके आगेकी समस्त लीलाओंका बहुत सुन्दर वर्णन है। उसे पढ़-सुनकर जीवनको सफल बनाना चाहिये।

हमारे पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बहुत सुन्दर लिखा है—

भादौं की थी असित अष्टमी निशा अँधेरी।
रस की बूँदें बरस रहीं फिर घटा घनेरी॥
मधु निद्रा में मत्त प्रचुर प्रहरी थे सोये।
दो बंदी थे जगे हुए चिन्ता में खोये॥
सहसा चन्द्रोदय हुआ ध्वंस हेतु तम वश के।
प्राची के नभ में तथा कारागृह में कंस के॥

प्रसव हुआ, पर नहीं पेट से बालक निकला।
व्यक्त व्योम में विमल विश्व का पालक निकला॥
वय किशोर, घनश्याम मनोहर आभा तन की।
मोहक छवि थी अमित इन्दु शतकोटि मदन की॥
चार भुजाओं में गदा, शङ्ख, चक्र ये पद्म था।
मन्दिर-को ले मान्यता वन्दित बंदी-सद्म था॥

पिता हुए आश्चर्य चकित, थी विस्मित माता।
अद्भुत शिशु वह मन्द-मन्द हँसता मुसुकाता॥
सुनकर अपना स्तवन मुदित हो मुख से बोला।
गूढ़ रहस्य अतीत जन्म का मानो खोला॥
'माँगा मुझ-सा पुत्र था तुमने कर आराधना।
सिद्ध हुई वह पूर्व की आज तुम्हारी साधना॥

डर न कंस का करो, मुझे गोकुल पहुँचाओ।
और यहाँ नवजात नंदतनया को लाओ॥'
यों कह लौकिक बाल सदृश होकर वह रोया।
क्लेश असह वसुदेव-देवकी का सब खोया॥
सुरसुन्दरियों के सुभग हाथ सुमन से सज उठे।
घन-गर्जन के साथ ही देव नगाड़े बज उठे॥

पट पट कर बाधाओं की कड़ियाँ टूटीं।
पैरों की बेड़ी टूटी, हथकड़ियाँ छूटीं॥

लोह अर्गला टूटी, आप खुल गयीं किवाड़ें ।
द्वार हुआ उन्मुक्त, सुप्त प्रहरी जो ठाढे ॥
दोनों जननी जनक के दूर हुए बन्धन वहाँ ।
क्यों न मुक्त हों, मुक्ति के आये जीवन धन वहाँ ॥
कुसुम वृष्टि हो रही, सृष्टि थी रस में डूबी ।
पुत्र वत्सला एक व्यथा से बैठी ऊबी ॥
सुत को उर से लगा देवकी दुख से रोई ।
मेरे लल्ला को मत मुझ से छीने कोई ॥
धीरज दे वसुदेव प्रिय शिशु को अपनी गोद ले ।
प्रस्थित गोकुल को हुए, शेष छत्र बनकर चले ॥
कालिन्दी बढ रही, न मिलती थाह कुछ कहीं ।
चञ्चल तुङ्ग तरङ्ग भयानक भँवर उठ रहीं ॥
कण्ठ मग्न थे पिता, पुत्र ने पाँव बढ़ाया ।
ले पद पद्म पराग नदी ने शीश चढ़ाया ॥
कैसा जादू-सा हुआ, बाढ़ कहाँ को वह गयी ।
वह अगाध जलराशि थी घुटनों तक ही रह गयी ॥
सुप्त यशोदा गोद मोद प्रद बालक देकर ।
लौट गये वसुदेव नन्द तनया को लेकर ॥
मिला अमित आनन्द नन्द को चौथेपन में ।
अतिशय भरा उछाह गोप गोपीजन मन में ॥
बजी बधाई नंद घर, बंदी यश गाने लगे ।
वसन-विभूषण-रत्न-धन द्विज-याचक पाने लगे ॥

महानुभावोंकी विलक्षण मान्यता

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके महानुभाव तो मानते हैं कि जिस समय कारागारमें श्रीवसुदेव-देवकीके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे, उसी समय नन्दबाबाके घरपर भी यशोदानन्दन प्रकट हुए थे। श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धके पञ्चम अध्यायके प्रथम श्लोकमें आया है—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।

'श्रीनन्दजीके आत्मज (पुत्र) उत्पन्न होनेपर उन महामनाको परमाह्लाद हुआ।' श्रीनन्दजीके यहाँ भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट न हुए होते तो शुकदेवजी 'आत्मज उत्पन्ने' पुत्र पैदा हुआ न कहकर 'स्वात्मज मत्वा' 'अपना पुत्र मानकर' कहते। इन महानुभावोंका कहना है कि श्रीवसुदेव-देवकीकी भक्ति ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्यमयी थी और श्रीनन्द-यशोदाकी ऐश्वर्यगन्धशून्य विशुद्ध वात्सल्यमयी। इसीसे वसुदेव-देवकीके सामने भगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज अद्भुत बालकके रूपमें आविर्भूत हुए। भगवान्के इस ऐश्वर्यमय रूपको देखकर उन्होंने समझा कि श्रीभगवान् नारायण हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं; अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर इनकी स्तुति की और भगवान्ने भी पूर्व-जन्मोंकी स्मृति दिलाकर अपने साक्षात् भगवान् होनेका परिचय दिया। इसमें ऐश्वर्य प्रत्यक्ष है। तदनन्तर वात्सल्य-भावका उदय होनेपर कंसके भयसे उन्होंने भगवान्से बार-बार चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज साधारण शिशु बननेके लिये अनुरोध किया।

इससे यह सिद्ध है कि श्रीवसुदेव-देवकीका वात्सल्य-प्रेम ऐश्वर्यमिश्रित था और भगवान्का ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूप ही उनका आराध्य था तथा वे उसीको पुत्ररूपमें प्राप्त करना तथा देखना चाहते थे। परंतु श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य-प्रेम विशुद्ध था, उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका तनिक भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही आविर्भूत हुए और उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। पुत्र समझकर गोदमें उठा लिया और नवजात बालकके कल्याणार्थ जातकर्मादि करवाये।

यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् उसी रूपमें भक्तके सामने प्रकट होते हैं, जो रूप भक्तके मनमें होता है। श्रीमद्भागवत-में श्रीब्रह्माजीने कहा है—

यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

'भगवन्! आपके भक्त जिस स्वरूपकी निरन्तर भावना करते हैं, आप उसी रूपमें प्रकट होकर भक्तोंकी कामना पूर्ण करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें जो यह स्पष्ट वर्णन नहीं आया है—इसका कारण यह बताया जाता है कि श्रीशुकदेवजी भक्तराज परीक्षित्को कथा सुना रहे थे। परीक्षित्का सम्बन्ध वसुदेव-जीसे था। अतः उन्हें विशेष आनन्द देनेके लिये शुकदेवजीने नन्दालयमें भी भगवान्के प्रकट होनेका स्पष्ट वर्णन नहीं किया; परंतु उनका प्रेमपूर्ण हृदय माना नहीं और इस श्लोकमें उनके श्रीमुखसे 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' रूपमें रहस्य प्रकट हो ही गया। श्रीमद्भागवतमें और भी संकेत है—कंसने जब गोकुलसे लायी हुई यशोदाकी कन्याको देवकीकी कन्या समझकर उसे मारनेके लिये शिलापर पटकना चाहा, तब वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी और देवीरूपसे प्रकट हुई। उस समय भागवतमें उसके लिये

'अदृश्यतानुजा विष्णोः' अर्थात् 'कंसने भगवान्की अनुजा (छोटी बहिन) को देखा'—यों लिखा है। पर यदि भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रीदेवकीके पुत्र होते तो यशोदाकी कन्याको भगवान्की 'अनुजा' कहना युक्तियुक्त तथा सत्य न होता। किंतु परमानन्दघनविग्रह भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् जिस समय कंस-कारागारमें वसुदेव-आत्मजरूपमें प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय गोकुलमें नन्दात्मजके रूपमें भी प्रकट हुए थे तथा उसीके थोड़ी देर बाद योगमाया कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं। श्रीहरिवंशमें आया है—

गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ।
देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥

अर्थात् 'देवकी और यशोदा गर्भकाल पूरा होनेके पहले ही आठवें महीनेमें दोनोंने एक ही साथ प्रसव किया था।' इसपर यह कहा जा सकता है कि 'जिस समय देवकीजीके भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए, उसी समय यशोदाजीके योगमाया प्रकट हुई।' पर ऐसा कहना बनता नहीं; क्योंकि श्रीमद्भागवत (१० । ३ । ४) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'श्रीभगवान्से प्रेरित वसुदेवजीने पुत्रको गोदमें लेकर कारागारसे बाहर निकलनेकी इच्छा की, उस समय 'योगमाया' प्रकट हुई।' अतएव कारागारमें भगवान्का और गोकुलमें योगमायाका प्राकट्य आगे-पीछे हुआ, एक ही समय नहीं हुआ था। इसपर यह कहा जा सकता है कि गोकुलमें 'भगवान् प्रकट हुए, इसमें स्पष्ट प्रमाण क्या है ? तो इसके समाधानमें 'श्रीकृष्ण-यामल' का कहना है कि नन्दपत्नी यशोदाके यमज संतान हुई थी; पहले एक पुत्र हुआ, तदनन्तर एक कन्या हुई। पुत्र साक्षात् श्रीगोविन्द थे और कन्या थी स्वयं अम्बिका (योगमाया)।' यशोदाकी इस कन्याको ही वसुदेवजी मथुरा ले गये थे—

नन्दपत्न्यां यशोदायां मिथुनं समपद्यत।
गोविन्दाख्यः पुमान् कन्या साम्बिका मथुरां गता॥

इस स्पष्टोक्तिसे योगमायाको 'श्रीकृष्णकी अनुजा' कहा जाना भी सार्थक हो गया।

इसपर कहा जा सकता है, 'फिर श्रीवसुदेवजी जब शिशु श्रीकृष्णको लेकर गोकुल गये, तब वहाँ उन्हें केवल शिशु बालिका ही क्यों दिखायी दी, बालक क्यों नहीं दिखायी दिया ? और बालक भी था तो फिर वह बालक कहाँ गया ? वहाँ दो बालक होने चाहिये।' इस शङ्काका समाधान यह है कि इनके वहाँ पहुँचते ही उसी क्षण इनका बालक उस बालकमें विलीन हो गया। इन्हें पता ही नहीं लगा कि वहाँ कोई बालक और भी था। वरं महानुभावोंने यहाँतक माना है कि जिस समय कंसके कारागारमें देवकीने यह प्रबल इच्छा की कि श्रीभगवान्के चतुर्भुज रूपका गोपन हो जाय, उसी समय यशोदाहृदयस्थ भगवान्का द्विभुज बालकरूप उस चतुर्भुज रूपको छिपाकर देवकीके सामने आविर्भूत हो गया। (यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्री-देवकीच्छाजायत, तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपा-च्छादनपूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते—'वैष्णवतोषिणी') यशोदाके यहाँ प्रकट भगवान् वहाँसे तुरत यहाँ आकर प्रकट हो गये और उनमें भगवान्का शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप तुरत वैसे ही विलीन हो गया, जैसे बादलमें बिजली विलीन हो जाती है—

वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवोऽखिलात्मनि।
लीनो नन्दसुते राजन् ! घने सौदामिनी यथा॥
(श्रीकृष्णयामल)

श्रीभागवतमें भी देवकी और यशोदा दोनोंके सामने ही प्रकट होनेका एक संकेत है—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः।
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥
(१० । ३ । ८)

यहाँ 'देवकी' शब्द 'देहली-दीपक' न्यायसे श्रीदेवकीजी और श्रीयशोदाजी दोनोंका ही वाचक है, क्योंकि यशोदाजीका भी दूसरा नाम 'देवकी' था। श्रीहरिवंशपुराणमें आया है—

द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च।
अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया॥

'नन्दभार्या यशोदाके यशोदा और देवकी—दो नाम थे, इसीलिये उनका नामसाम्यके कारण वसुदेव-पत्नी देवकीसे सख्यभाव था।'

इस वाक्यसे भी यह कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषामें श्रीशुकदेवजीने दोनों जगह भगवान्के प्राकट्यकी बात कह दी।

एक अस्पष्ट संकेत और भी है—

यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत।
न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः॥

नन्दपत्नी यशोदाको यह तो ज्ञात हुआ कि संतान हुई है, परंतु श्रम और निद्रा (भगवत्प्रेरित स्वजनमोहिनी माया) के कारण अचेत होनेसे वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या कन्या ।

इससे भी नन्दालयमें भगवान्के प्राकट्यका संकेत है ।

महानुभावोंका कहना है कि भगवान्के दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म' । 'ऐश्वर' मायायुक्त है और 'ब्राह्म' स्वरूप मायातीत है । अचिन्त्यानन्त-अतुलनीय-कल्याण-गुणगणसम्पन्न स्वमायाविशिष्ट 'ऐश्वर'रूपके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डका सृजन-पालन आदि होता है । भगवान्का शुद्ध ब्राह्मस्वरूप उत्पादन-पालनादि लीलाओंसे रहित केवल आनन्द-प्रेममय है । अतः वसुदेवजीके यहाँ जिस रूपका प्राकट्य हुआ था, वह 'ऐश्वर'रूप था और 'नन्दात्मज' रूपसे ब्राह्म-स्वरूप भगवान् अवतरित हुए थे । श्रीवसुदेव-जीके यहाँ आविर्भूत 'ऐश्वर'रूप नन्दात्मज ब्राह्मस्वरूपमें विलीन हो गया था । रास आदि मधुरतम लीलाओंमें 'ब्राह्म' स्वरूप प्रकट था और असुरादि-वध, अग्नि-पान आदि लीलाओंमें 'ऐश्वर' स्वरूप रहता था । जब भगवान्को श्रीअक्रूरजी मथुरा ले गये, तब 'ऐश्वर'स्वरूपसे भगवान् उनके साथ चले गये और भगवान्का विशुद्ध आनन्द-प्रेममय ब्राह्म-स्वरूप गोपनरूपसे गोपाङ्गनाओंके साथ व्रजमण्डलमें रह गया । यही 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'का रहस्य है ।

यद्यपि श्रीमद्भागवतमें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा यह क्लिष्ट कल्पना-सी भी है, तथापि महानुभावोंके उपर्युक्त विवेचनके अनुसार श्रीभगवान् 'नन्दात्मज'रूपमें भी अवतीर्ण हुए हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है—भगवान् श्रीकृष्ण रासमण्डलमें कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंमें प्रत्येक दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपमें प्रकट हुए थे । मिथिलामें श्रुतदेव ब्राह्मण और मिथिलानरेश बहुलाश्व दोनों ही भक्तोंके घर एक ही साथ पार्षदोंसहित अलग-अलग गये थे । द्वारकामें नारदजीने सोलह हजार रानियोंमेंसे प्रत्येक रानीके महलमें भगवान् श्रीकृष्णको विभिन्न लीला करते देखा था । ऐसे सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ स्वयं भगवान् श्रीवसुदेव-देवकीके यहाँ कंसके कारागारमें और श्रीनन्द-यशोदाके घर गोकुलमें पृथक्-पृथक् प्रकट हो जायँ, इसमें कौन बड़ी बात है ?

जो कुछ भी हो, आज इन लीलामय पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्का प्राकट्य-महोत्सव है । आजका दिन समस्त विश्वके लिये मङ्गलमय है । इन्होंने व्रजमें वात्सल्य-सख्य-मधुरभावकी अनुपम लीलाएँ कीं, असुरोंका उद्धार किया, कंसादिका उच्छेद-साधन करके समाज-कल्याण किया, कुरुक्षेत्र-के रणाङ्गणमें महान् आश्चर्यप्रद सर्वलोककल्याणकारी समस्त देशकालपात्रोपयोगी विविध अर्थमयी दिव्य भगवद्वाणीस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य गान किया, राज्यों तथा राजाओं-का निर्माण किया, स्वयं सदा निरपेक्षस्वरूप स्थित रहकर विभिन्न विचित्र लीलाएँ कीं और अन्तमें अपने दिव्य देहसे ही सबके देखते-देखते परमधामको पधार गये ।

इनके स्वरूप, तत्त्व, रहस्य तथा सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यादि अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणोंका वर्णन कोटि-कोटि जन्मोंमें ब्रह्मा, शेष, शारदा भी नहीं कर सकते—मेरा तो यह अपने मन तथा 'निज गिरा पावन करन हित' उनके गुणोंका किंचित् स्मरणमात्र है । इसमें भी उनकी कृपा ही कारण है । मेरी निस्सीम नीचता और अधमताका पार नहीं और उन सहज कृपालुकी कृपाका पार नहीं । अस्तु,

प्रणाम और प्रार्थना

हमारा यह विश्व, परमपावन भारतभूमि, द्वारकापुरी, कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण, मथुरामण्डल, व्रजभूमि, गोकुल, नन्दालय अति धन्य हैं, जहाँ स्वयं भगवान्ने प्रकट होकर विविध प्रकारकी दिव्य और आदर्श लीलाएँ कीं । लोकपितामह ब्रह्माजीके शब्दोंमें हम भी उनके प्रति प्रणाम और प्रार्थना करें—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

अहो ईड्य नव घन तन स्याम । तडिदिव पीत बसन अभिराम ॥
मोर पिच्छ छबि छाजत भाल । नैन बिसाल सु उर बनमाल ॥
रस पुंजा गुंजा अवतंस । कँवल बिषान -बेत्र बर बंस ॥
मृदु पद बृंदाबिपिन बिहार । नमो नमो ब्रजराज कुमार ॥
बोलो भक्तवत्सल नन्द-यशोदालालकी जय ।

समयका सदुपयोग कीजिये

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

संसारमें यदि सबसे बहुमूल्य या अनमोल कोई वस्तु है तो वह समय है। धन आदि पदार्थ एक बार चले जानेके बाद फिर भी मिल सकते हैं, पर बीता हुआ समय वापिस नहीं आ सकता। इस मानव-जीवनमें हमें कितने लंबे समयका संयोग मिला है, पर हम उसका सही मूल्याङ्कन नहीं कर पाते। इसलिये बहुत-सा समय व्यर्थ ही बरबाद कर देते हैं। समय तेजीसे चला जा रहा है, थोड़ा-थोड़ा करते हमारे जीवनकी जितनी घड़ियाँ हैं, सब पूरी हो जाती हैं और अन्तमें हमें शरीर-कुटुम्ब, धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि सभी चीजोंको छोड़कर चले जाना पड़ता है। अपनी आयुका जितना समय है, उससे एक सेकंड भी बढ़ाया नहीं जा सकता। अतः प्रायः लोगोंको अन्तिम समयमें बड़ा पश्चात्ताप होता है कि अपनी इतने वर्षोंकी लंबी आयुमें हम कुछ भी अच्छा और इच्छित काम नहीं कर पाये, थोड़ा समय और मिलता तो अवश्य ही अपने अधूरे कामोंको पूरा कर लेते तथा जिन अच्छे कामोंको हम नहीं कर पाये, उन्हें भी करके अपना भविष्य सुखमय बना लेते।' पर उस समयका ऐसा पश्चात्ताप कुछ भी कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि आयुको थोड़ा भी बढ़ा लेना हमारे वशकी बात नहीं। इसलिये जीवनका प्रत्येक पल सत्कर्मोंमें ही लगाते रहना परमावश्यक है। न मालूम अन्तिम घड़ी कब आ पहुँचे। अञ्जलि-जलके समान आयु निरन्तर क्षीण हो रही है और मृत्युका निश्चित समय हमें ज्ञात नहीं। तब प्रमाद क्यों? वास्तवमें हम समयका सही मूल्य समझ नहीं पाते या समझते हुए भी उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। एक-एक मिनटका कितना महत्त्व है—इसका अनुभव करनेके लिये दो-चार रात-दिनके व्यवहारके दृष्टान्त यहाँ दिये जा रहे हैं।

(१) हमें परदेश जाना है। रेलगाड़ी या हवाई जहाजके छूटनेके निश्चित समयसे पहले या उस समयतक यदि हम स्टेशनपर नहीं पहुँच पाते और एक मिनटकी भी देर हो जाती है तो हम अपने गन्तव्य स्थानपर समयपर नहीं पहुँच सकते। तब हमारे लिये अपने उस एक मिनटकी देरी या भूलका क्या परिणाम होगा, इसका भलीभाँति अनुभव होकर बड़ा ही क्षोभ तथा पश्चात्ताप होता है।

(२) एक आदमी, जो बहुत अधिक बीमार है और अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है, उससे मिलनेके लिये हमें जाना है अथवा उसने तुरत मिलनेके लिये हमें बुलाया है। यदि हम थोड़ी-सी ढील कर देते हैं और वह व्यक्ति चल बसता है तो हमें उस थोड़े समयकी देरका कितना दुःख होगा। जीवनभर इस भूलका शूल हमारे हृदयमें चुभता और अखरता रहेगा।

(३) बाजारमें वस्तुओंके भावोंमें बड़ी घटा-बढ़ी हो रही है और हमारे पास उन वस्तुओंका भरपूर संग्रह है, पर हम किसी कार्यवश या आलस्यवश यों ही बाजार जानेमें देरी कर देते हैं और हमारे पहुँचनेसे एक ही मिनट पहले बहुत ऊँचे दामोंमें सौदा हो जाता है, पर जब हम पहुँचते हैं तब कोई खरीदार नहीं रहता या मंदीकी रुख हो जाती है, जिससे हमें हजारों रुपयोंकी क्षति उठानी पड़ती है, तब हमें सचमुच ही एक मिनट पहले न पहुँच सकनेका यानी एक मिनटकी देरका कितना बड़ा पश्चात्ताप होगा! उस एक मिनटका मूल्य लाखों-करोड़ोंका भी हो सकता है।

(४) कलकत्ते-जैसे शहरमें किसी भीड़-भाड़वाले चौराहेपर हम खड़े हैं और हमें दूसरे रास्तेकी ओर जाना है। रास्तेमें प्रतिपल मोटरें आदि चल रही हैं। यदि हमने उस चौराहेको पार करते समय तनिक भी असावधानी की और मोटरें आदि जिस तेजीसे चल रही हैं, उसकी गतिका अनुमान लगानेमें भूल की, तो वह जरा-सी भूल हमारे लिये घातक सिद्ध होती है। मान लीजिये, एक गाड़ी वेगसे दूरसे आती हुई दिखलायी देती है, हमने सोचा कि उसके यहाँ पहुँचनेमें एक-दो मिनटकी देर है, हम रास्ता पार कर जायँ। पर वह एक मिनटमें ही वहाँ पहुँच जाती है और संयोगवश हमारे साथ टकरा जाती है। इस प्रकार एक मिनट ही नहीं, एक सेकंडमें भी कोई बड़ी घटना घट जाती है। बहुत बार रेलगाड़ियोंकी भिड़ंत एक ही सेकंडकी असावधानीसे हो जाती है और सैकड़ों नर-नारियोंका अकस्मात् विनाश हो जाता है। इसी तरह नदीमें पानी बढ़ रहा हो, हम नावमें बैठे हों, नावमें पानी आना आरम्भ हो गया हो, पर नदीका किनारा पास ही हो। यदि किसी तरह एक मिनट पहले हम सावधान होकर तटपर पहुँच जाते हैं, तब तो ठीक, पर यदि एक सेकंडकी ही देर की

और मनसूबेमें या इधर-उधर विचारमें पड़े रहे तो जीवन खतरेमें ही समझिये। नदीकी बाढ, आग आदिके समय भी जो व्यक्ति कुछ पहले सचेत हो जाते हैं, वे अपनी जान और मालकी रक्षा कर लेते हैं; पर यदि एक मिनटकी भी असावधानी की तो सब 'स्वाहा' समझिये। वहाँ एक मिनट या सेकंडका कितना बड़ा महत्त्व तथा मूल्य है। सोचिये, इस तरह जीवनमें अनेक बार थोड़े-से समयका भी कितना बड़ा मूल्य होता है—इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको हुआ करता है; फिर भी हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करते। यही विचित्रता है।

हमारे विचारोंमें प्रतिक्षण अच्छे और बुरे भावोंका द्वन्द्व चलता रहता है। यदि अच्छे विचारोंके समय हम कोई कार्य कर लेते हैं तो जीवन सफल हो जाता है। पर जिस समय बुरे विचारोंका वेग चल रहा हो और उसके आवेशमें कुछ अकरणीय कार्य कर बैठे तो वह कलङ्क सारे जीवनभर नहीं धुल पाता। इसीलिये हमारे लिये एक एक क्षणका सदुपयोग करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।

हम अपनी आयुके महीनों, दिनों, घंटों और मिनटोंका हिसाब लगायें और उसमें हमारा कितना समय किन-किन कार्योंमें लग रहा है, इसकी तालिका बनायें तो पता लगेगा कि सत्-कार्योंके लिये हमारे पास कितना कम समय है। मनुष्यके २४ घंटेके दिन-रातमें ७-८ घंटे सोनेमें, २-३ घंटे खाने-पीनेमें, तथा ५-७ घंटे व्यापार-धंधे या नौकरी या आजीविकासम्बन्धी कार्योंमें चले जाते हैं। अब जो ५-४ घंटे बच रहते हैं, उन्हें हम यदि व्यर्थकी गप्पें लड़ानेमें, परायी निन्दा-चुगली करनेमें, ताश-चौपड़ खेलने या सिनेमा देखने आदिमें लगा देते हैं तो कहिये, इस मनुष्य-जीवनके पानेकी सफलता ही क्या हुई? अपनी आयुका समय तो कीट-पतंग, पशु-पक्षी—सभी किसी-न-किसी प्रकार पूरा करते ही हैं। यदि उसी तरह हमने भी अपना जीवन बरबाद कर दिया तो हमारे ऋषि-मुनियोंने जिस मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता बतलायी है, उसे पाकर भी हमने क्या फल पाया? यदि हमने अपने समयका दुरुपयोग किया, दूसरोंके सताने या किसीका बुरा करनेमें या अन्य पाप-प्रवृत्तियोंमें जीवनका प्राप्त अमूल्य समय लगा दिया तो उसका कटु फल हमें अनेक जन्म-जन्मान्तरोंतक भोगना पड़ेगा।

वैसे तो हम जल्दीसे जाते हुए समयका ठीक अनुभव नहीं कर पाते और कहते हैं कि क्या करें, समय बहुत जल्दीसे चला गया, हमें तो उसका कुछ भी पता नहीं चला। पर यदि हम सेकंडकी छोटी सुईवाली घड़ीपर लक्ष्य रखते हुए एक सेकंडमें वह सुई किस तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और किस गतिसे ६० संख्यावाले पूरे चक्करपर घूमकर एक मिनट पूरा होनेकी सूचना देती है—इसपर ध्यान दें तो हमें एक एक सेकंडमें भी कितनी देर लगती है, इसका ठीक अनुभव हो सकेगा। इसी तरह जब हम किसी व्यक्तिकी प्रतीक्षा करते हैं तो उसके न आनेतकका समय हमें बहुत लंबा प्रतीत होता है। विरहीको रात कितनी बड़ी लगती है, इसपर विचारें तो समयकी गतिका ठीक अनुमान हो जायगा।

वास्तवमें हम अपना सारा समय बेपरवाहीसे व्यर्थकी बातोंमें खो देते हैं या आवश्यकताओंको बढ़ाकर उनकी पूर्तिके लिये कोल्हूके बैलकी तरह रात-दिन चक्कर लगाते रहते हैं। इधर कहते हैं, सत्कार्योंके लिये समय नहीं है।

हमारे जीवनमें समयका कोई ठीक विभाजन नहीं है। इसलिये हम अपना काम, जितने समयमें करना चाहिये, नहीं कर पाते। जिनके हृदयमें कुछ काम करनेकी भावना है, उन्हें अपने समयका विभाजन यानी समय-क्रम निश्चित कर लेना चाहिये। इस विषयमें पाश्चात्त्य लोग बहुत ही आगे बढ़े हुए हैं। वे अपने सभी कार्य नियत समयपर करते हैं और अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते। इसलिये जिन आवश्यक कार्योंमें जितना समय देना चाहिये, उतना देते हुए भी खेल-कूद, मनोरञ्जन और सभा-समितियोंमें भाग लेने एवं भाषण आदि कार्य-क्रमोंमें सम्मिलित होनेका भी समय निकाल ही लेते हैं। इधर हमारी सबकी शिकायत यही रहती है—'क्या करें समय नहीं मिलता, इसीसे इच्छा होते हुए भी काम नहीं कर पाते।' समयकी पाबंदीमें भी जितने पाश्चात्त्यलोग दृढ हैं, हम उतने ही ढीले हैं। साधारणतया हमारा कोई भी कार्य या प्रोग्राम ठीक समयपर प्रारम्भ नहीं हो पाता। किसी मीटिंग या भाषण आदिमें उपस्थित होनेके लिये जो समय दिया जाता है, उस समयपर बहुत ही कम लोग पहुँच पाते हैं। प्रायः लोग देरीसे आनेके अभ्यस्त हो गये हैं और कह देते हैं 'अमुक समय दिया है तो क्या, यह तो 'हिन्दुस्तानी टाईम' है, 'अंग्रेजी टाइम' थोड़े ही है, अतः आधे घंटे बाद ही कार्य आरम्भ होगा।' इस धारणासे लोग धीरे-धीरे बहुत देरसे

पहुँचते हैं । इससे नियत समयपर आनेवालोंका समय उनकी प्रतीक्षामें व्यर्थ जाता है । उधर अंग्रेजोंकी ओर देखिये—किसी भी प्रोग्रामका जो समय होता है, उससे दो-चार मिनट पहले उस प्रोग्रामस्थलपर कोई भी दिखायी नहीं देता और ठीक समयके एक-दो मिनटोंमें ही, जो आने-वाले होते हैं, सभी एक साथ आ जाते हैं और निश्चित किये हुए समयमें ही सारा कार्य पूरा कर लेते हैं । हमें पाश्चात्य लोगोंसे समयका ठीकसे उपयोग करने और नियत समयपर कार्य प्रारम्भ करनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । इससे हमारे समयकी बहुत-सी बचत हो जायगी । यद्यपि आजकल कलाईपर घड़ी बाँधने और जेबमें या घरोंमें दीवालघड़ियाँ रखनेका भारतमें बहुत प्रचार हो गया है, फिर भी ठीक समयपर कार्य करनेका अभ्यास अभी नहीं हो पाया है । घड़ियाँ हमें समयकी सूचना देती रहती हैं और अलार्म (घटीका शब्द करनेवाली) घड़ी तो सोतेको भी जगा देती है, फिर भी हम यदि उसकी आवाजको न सुनें और समयपर कार्य करनेकी आदत न डालें तो दोष किसका ? हमारे इस जीवनका समय बँधा-बँधाया है । जितने वर्ष, महीने, दिन, घंटे, मिनट, सेकंड मिले हैं, हम उनका उपयोग किस प्रकार करें—यह हमींपर निर्भर है । हम समयका सदुपयोग करें या दुरुपयोग करें, उसे व्यर्थ नष्ट करें या उसमें कोई-कोई रचनात्मक कार्य करें—यह सब हमारी भावना, अभ्यास तथा प्रवृत्तिपर ही निर्भर है । जो समय गया, वह जब वापिस आनेका नहीं और आयुका एक-एक क्षण क्षय हो रहा है; तब हम पूर्ण सचेत रहकर जीवनके प्रत्येक क्षणको सार्थक क्यों न बनायें !

ज्ञानी महात्मा तो कालके सबसे छोटे अंशको, जिसका और कोई टुकड़ा नहीं हो सकता, एक 'समय' कहते हैं । हम जो सेकंड आदि सूक्ष्म समय मानते हैं, उतने समयमें तो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनन्त समय बीत जाता है और ऐसे सूक्ष्म समयमात्रको भी प्रमादमें न खोया जाय, व्यर्थ बर्बाद न किया जाय और बुरे कामोंमें न लगाया जाय—यही ज्ञानी पुरुषोंका हम सब प्रमादी मनुष्योंके लिये संदेश है । देखिये, भगवान् महावीरने अपने प्रधान और ज्ञानवान् शिष्य इन्द्रभूति गौतमको सम्बोधित करते हुए कितने सुन्दर, हृदयस्पर्शी और तथ्यपूर्ण दृष्टान्तों तथा शब्दोंद्वारा सचेत और जाग्रत् किया है । उत्तराध्ययन-सूत्रके दसवें अध्यायमें वे कहते हैं—'गौतम ! समय-मात्र भी प्रमाद न कर । बीता समय लौटता नहीं तथा प्रति क्षण आयुष्य क्षीण हो रहा है, इसका ध्यान रख ! मनुष्यजन्म पाना दुर्लभ है, स्वस्थशरीर, उच्चकुल आदि अन्य साधन मिलने और भी कठिन हैं । इनको पाकर आलस्य तथा पापकार्यों आदिमें समयको बर्बाद न कर ।'

इसी आशयकी कुछ गाथाओंका भाषान्तर नीचे किया जा रहा है—

'जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है । तेरे केश पक रहे हैं और समस्त बल क्षीण होता जा रहा है । हे जीव ! समयभरके लिये प्रमाद न कर ।'

'जबतक इन्द्रियाँ काम दे रही हैं, शरीर स्वस्थ है, जो कुछ करना हो, कर ले ।'

अधिकांश लोग अच्छे कामोंके लिये—'क्या करें, समय नहीं मिलता,' यही शिकायत करते रहते हैं, पर समय तो उतना ही है । बात यह है कि इन्होंने अपना समय दूसरे किसी कार्यमें लगा रखा है । दिनके चौबीस घंटे तो सभीके लिये एक समान हैं । उन्हें चाहे गप्पें हाँकने-सुनने, उपन्यास पढनेमें लगायें चाहे सत्सङ्गमें । हम जिस कार्यको बहुत आवश्यक समझते हैं या जिस कार्यका हमें अभ्यास पड़ जाता है, उसी कार्यमें हमारा समय लग जाता है । जिन कामोंमे अभी हमारा समय लगा हुआ है यदि उन कामोंसे, जो सत्कर्म हम करना चाहते हैं, उनको अधिक महत्त्व एव आवश्यक समझने लगें तो उन दूसरे कामोंमें समय न देकर उन कामोंमें समय देने लगें । जीवन-व्यवहारमें हम प्रतिपल देखते हैं कि जब दो काम एक साथ करनेके होते हैं, तब जिस कामको हम अधिक जरूरी या महत्त्वका समझते है, उसीमें हमारी प्रवृत्ति हो जाती है । दूसरे कामको समय मिला तो कर लिया, न मिला तो नहीं सही । इसी प्रकार यदि हम सत्कर्म करनेके लिये वास्तविक इच्छा रखते हैं तो दूसरी प्रवृत्तियोंको छोड़कर या उनमेंसे थोड़ा-थोड़ा समय बचाकर भी सत्-कार्य अवश्य कर सकते हैं । कुछ गहरे विचारके साथ यदि हम सोचें तो हमारा बहुत-सा समय अनावश्यक कार्योंमें ही लगा रहता है । कुछ असत् कार्योंमें भी असत्-संगति या अभ्यासके कारण लग जाता है । पहले हमें आलस्य तथा अनावश्यक कार्योंमें समयका जो अपव्यय होता है, उसको बचाना चाहिये । विचार करनेपर, बहुत-सी बातें, जिन्हें हमने

आवश्यक समझ रखा है, उतनी आवश्यक नहीं लगेंगी। दूसरी बात, हमें अपनी आवश्यकताओंको कम करते जाना है। तीसरी बात, जिन आवश्यक कार्योंमें हमारा जितना समय लगता है, उनमें उससे कम समय लगानेका प्रयत्न करना चाहिये।

उदाहरणार्थ—एक आदमी स्नान करनेमें एक घंटा लगा देता है, तो दूसरा दो चार मिनटोंमें ही कर लेता है। हम भी यदि उन कामोंको जल्दीसे निपटानेका ध्यान रखें और बीस या पचास प्रवृत्तियोंमेंसे दो दो चार-चार मिनट भी समय बचायें तो बहुत-से समयकी बचत अनायास हो सकती है। बुरी आदतें और बुरे कामोंको छोड़नेके लिये तो हमें पूरा तैयार हो जाना चाहिये। फिर हमारे पास समयका अभाव नहीं रहेगा और प्रभु-भजन, आत्मचिन्तन, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, परोपकार, प्रभु, गुरु एवं माता-पिताकी सेवा, जनसेवा, धर्मप्रचार, लेखन आदि सत्-कार्योंमें हम समयका सदुपयोग करके अपने जीवनको सार्थक बना सकेंगे। हमलोग आजसे ही निश्चित कर लें कि एक-एक सेकंड किन किन कामोंमें लग रहा है, इसकी भलीभाँति जाँच करके अनावश्यक और बुरे कामोंसे हटकर अच्छे कामोंमें ही समय लगायें।

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(२)
सामूहिक प्रार्थना

प्रत्येक देश और प्रत्येक युगमें संतोंके आशीर्वादके चमत्कार देखे और सुने जाते हैं। संतोंका समस्त जीवन ही प्रार्थनामय होता है। जिसको वे आशीर्वाद देते हैं, उसकी भलाईके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं। यों तो आशीर्वाद या शुभकामना सदा ही कल्याणकारिणी होती है; परंतु जब उसके पीछे श्रद्धा और विश्वासका बल हो, तब तो वह अवश्य ही वरदान सिद्ध होती है। इस सिद्धिमें उस व्यक्तिके अपने विश्वासका भी बहुत कुछ हाथ होता है, जिसको आशीर्वाद दिया जाता है। दो व्यक्तियोंकी श्रद्धा मिलकर जब एकाकार हो जाती है, तब वह एक अजेय शक्ति बन जाती है। परस्पर पूर्ण हार्दिक सहानुभूति रखनेवाले जो व्यक्ति जिस भी वस्तुकी उत्कट कामना करेंगे, वह वस्तु उनको निःसंदेह प्राप्त होगी। वह वस्तु इस अनन्त विश्वमें जहाँ भी कहीं होगी, वहींसे उनकी ओर खिंची चली आयेगी। दो अभिन्न-हृदय मित्रोंके लिये इस विश्वमें कुछ भी अलभ्य अथवा असम्भव नहीं है। अपने लिये की गयी प्रार्थनाकी सफलतामें संदेह किया जा सकता है, परंतु दूसरोंकी भलाईके लिये की गयी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। जब एक मित्र अपने मित्रके दुःखनिवारण या इष्ट-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करता है, तब भगवान् उसकी प्रार्थना बहुत शीघ्र सुनते हैं। भगवान्‌की इच्छा यही प्रतीत होती है कि हम अपने-अपने लिये नहीं बल्कि एक-दूसरेके लिये प्रार्थना करें। भगवान् चाहते हैं कि हम अपने साथ रहनेवालों तथा अपने पड़ोसियोंकी सेवा करें।

सेवाका पथ ही वास्तवमें आनन्दका पथ है। अपने मित्रों और प्रेमियोंके लिये तथा अपरिचित अतिथिके कष्टनिवारणके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देनेमें जो अलौकिक सुख है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। जिनको दयामय प्रभुकी शक्ति और करुणामें पूर्ण विश्वास है, वे ही आत्मोत्सर्गके पथका वरण करते हैं। अपने लिये कलके लिये कुछ भी बचाकर रखनेकी चिन्ता वे नहीं करते। प्रभुने जो कुछ उन्हें आज दिया है, वह सब वे सेवामें लगा देते हैं, क्योंकि उनको पूर्ण विश्वास है कि कलकी चिन्ता तो करुणासागर परमात्माको स्वयं है। अतः क्यों न आज हम सेवा और त्यागका पूरा आनन्द लूट लें। भगवान्‌के खजानेमें आनन्दका अभाव तो कभी होगा नहीं। वे तो आनन्दके अक्षय भंडार हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब उनका ही दिया हुआ है। जिसने आज दिया है, क्या वह कल कहीं चला जायगा? जो सर्वव्यापी है, वह जायगा कहाँ? जो करुणाका सागर है, उसकी करुणामें कमी कैसे आ सकती है? बल्कि वह तो यही चाहता है कि हम सेवाका मार्ग ग्रहण करें।

आइये, हम सेवाके सुखमय पथको अपना लें। आजसे ही अपने क्षुद्र स्वार्थ, लोभ तथा अहंकारका त्याग करें। अपने कुटुम्बियों और मित्रोंके लिये ही नहीं, अपितु अपरिचितोंके भी कष्ट-निवारणके लिये आत्मोत्सर्ग करना सीखें। अपने क्रोधके द्वारा दूसरोंको कष्ट पहुँचाना बंद करें, दूसरोंको क्षमा करना प्रारम्भ करें तथा अपनी गलतियोंके लिये दूसरोंसे क्षमा माँग लें। यह तपस्याका पथ ही सच्चे आनन्दका पथ है। धनके त्यागसे भी बड़ा मानका त्याग है। किसीने हमारा अपमान कर दिया या हमे बुरा भला कह दिया तो उसको क्षमा करना ही मानका त्याग है। यह बहुत उच्च कोटिका त्याग है। धनका त्याग सहज है, परंतु मानका त्याग बड़ा कठिन है। यह जितना ही कठिन है, उतना ही अधिक आनन्दमय है। तपस्यासे ही आध्यात्मिक आनन्दरूपी अमृत प्राप्त होता है।

अपने दैनिक जीवनमें हम जिन-जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आयें, उन सबके प्रति हमें सहयोग और सहानुभूतिका भाव रखना चाहिये। सहयोगसे सहयोग और प्रेमसे प्रेम पैदा होता है। जिसे हम अपना मित्र समझेंगे, वह हमारा मित्र बन जायगा और जिसे अपना प्रेमी समझेंगे, वह प्रेमी बन जायगा। यदि हम दूसरोंकी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे, तो वे भी हमारी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे। जब हम दूसरोंके अंदर सद्गुण देखते हैं, तब वे भी हमारे अदर सद्गुणोंका दर्शन करते हैं। जब हम दूसरोंको अच्छे निर्देश देते हैं, तब वे भी हमें अच्छे निर्देश देते हैं। जब हम दूसरोंकी उन्नतिमे विश्वास करते हैं, तब वे भी हमारी उन्नतिमें विश्वास करते हैं। जैसा भाव हम दूसरोंके प्रति रखते हैं, वैसा ही भाव वे हमारे प्रति रखते हैं तथा हम स्वय भी अपने प्रति वैसा ही भाव रखते हैं। दिनभरमे हम जो भी सोचते और करते हैं तथा जिन व्यक्तियोंके साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उन सबकी छाप हमारे व्यक्तित्वपर पड़ती है, जिसके द्वारा हम सफलता या असफलता प्राप्त करते हैं।

अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यमें सफलता प्राप्त करनेका सबसे बड़ा साधन हमारे मित्रोंका सहयोग है। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें निश्चितरूपसे सहायक सिद्ध हो सकनेवालोंके साथ ही हमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। जो अपने लक्ष्यके प्रतिकूल हों, उनके साथ सम्पर्कको नीतिपूर्वक बचा जाना चाहिये। एक महान् मनोवैज्ञानिकका कथन है कि कोई भी दो व्यक्ति जब सम्पर्कमे आते हैं, तब उनके मिलनसे एक अदृश्य चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह अदृश्य शक्ति उन दोनोंकी पृथक्-पृथक् सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य रखती है और उतने ही अंशोंमें उन दोनों व्यक्तियोंके लिये हितकर या अहितकर सिद्ध होती है, जितने अशोंमे वे एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति या द्वेष रखते हैं। यही कारण है कि अपने प्रति द्वेष या अन्य किसी प्रकारका दुर्भाव रखनेवाले व्यक्तिका सम्पर्क अत्यन्त घातक सिद्ध होता है, जब कि परस्पर प्रीति रखनेवाले दो मित्रोंका सम्पर्क दोनोंके लिये ही अत्यन्त सुखद और हितकर होता है।

अपने सच्चे हितैषी मित्रोंके साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ सम्पर्क रखना दोनों ही पक्षोंके लिये परम हितकर है। अत. प्रत्येक व्यक्तिका यह परम पवित्र धर्म है कि अपने हितैषियोंसे मिलना-जुलना और पत्र आदिद्वारा प्रीतिका आदान-प्रदान करनेमें प्रमाद न करें। प्रीतिसे ही शक्ति, उत्साह और कार्यशीलताका सचार होता है। प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही धन और यशका अर्जन करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। मित्रोंके प्रोत्साहनसे ही घोर निराशामें आशाकी किरण दिखायी देती है और धैर्य तथा विश्वासके सहारे मनुष्य मजिल्तक निरन्तर बढकर सफलता प्राप्त करता है।

किसी भी सस्थाकी उन्नति और सुख-शान्तिका प्रधान कारण उसके सदस्योंका पारस्परिक सहयोग होता है। पृथक्-पृथक् सदस्योंमें विद्या-बुद्धि और परिश्रमशीलता कम होनेपर भी सहयोगके बलपर वे उन्नति करते हैं। एकके विद्याभावको दूसरा दूर करता है तथा दूसरेकी निर्बलताको तीसरा दूर करता है। वास्तवमें एक आदर्श सस्थाके सदस्योंकी प्रतिभा अथवा योग्यता व्यक्तिगत न रहकर सामूहिक हो जाती है। सबका एक मत, एक स्वर, एक लक्ष्य और एक कार्य होता है। प्रत्येक सदस्य व्यक्ति न रहकर समष्टिका एक अङ्ग बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जब समूहके ही स्वार्थको सम्मुख रखता है, तब प्रत्येककी अपनी योग्यता और शक्ति कई गुना बढ जाती है। ज्ञान और शक्तिके नये-नये स्रोत खुल जाते हैं।

प्रत्येक कुशल नेता सहयोगके मूल्यको समझता है और अपने अनुयायियोंमें प्रयासपूर्वक सहयोगभावना बढ़ानेके लिये सदैव सचेष्ट रहता है। सहयोगसे ही अनुशासन उत्पन्न होता है। अपनी संस्थाके नेता और प्रत्येक सदस्यके साथ पूर्ण

हार्दिक सहानुभूति रखनेसे ही हम अनुशासनका पालन कर सकते हैं। अनुशासनके बिना कोई भी परिवार, उद्योग या राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक कुशल उद्योगपति अनुशासन और सहयोगके महत्त्वको समझता है तथा अपने उद्योगमें किसी जिम्मेदारीके पदपर नियुक्ति करते समय सबसे पहले यही देखता है कि उम्मीदवारमें दूसरोंका सहयोग प्राप्त करनेका तथा स्वयं अपना सहयोग दूसरोंको प्रदान करनेका स्वाभाविक गुण है या नहीं। अभ्यासके द्वारा सहयोगभाव जबतक स्वभावमें नहीं परिणत हो जाता, तबतक वह स्पष्टरूपसे दूसरोंको नहीं दिखायी देता। यह तो हृदयका सेवा-भाव है, जो चेहरेपरकी प्रत्येक रेखामें, हमारे प्रत्येक कार्यमें स्पष्ट झलकता है। सेवा-भावको अपनाना ही सामाजिक जीवनमें लोकप्रिय बननेका रहस्य है। यही मित्र बनानेकी कला है। यही दूसरोंका प्रेम प्राप्त करनेकी कुंजी है।

हमारे दैनिक जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण समय या तो अपने परिवारमें व्यतीत होता है या उन लोगोंमें, जिनके साथ रहकर हम अपनी आजीविकाके लिये कार्य करते हैं। परिवारसे हमारे सामाजिक जीवनका प्रारम्भ होता है और यही हमारे लिये सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था रहती है। परिजनोंके सहयोग और स्नेहपर ही बहुत कुछ हमारी सफलता और उन्नति निर्भर करती है। हमारा पारिवारिक जीवन ही हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यका आधार होता है तथा स्नेही परिजनोंसे ही हमें धनोपार्जन, विद्योपार्जन और यशोऽपार्जनकी प्रेरणा और क्षमता प्राप्त होती है। स्वास्थ्य-शास्त्रियोंने स्वास्थ्यके तीन आधार-स्तम्भ बताये हैं—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन तीनोंका ही ठीक रहना परिवारके पारस्परिक सहयोगपर निर्भर है। जैसा हम भोजन करते हैं, वैसा ही हमारा शरीर, हृदय और मस्तिष्क बनता है। इसमें भी भोजन बनाते समय तथा भोजन करते समय घरमें कैसा वातावरण रहता है, उसका महत्त्व अधिक है। स्नेहपूर्ण वातावरणमें प्रसन्नतासे किया हुआ रूखा-सूखा भोजन अधिक उपयोगी होता है। कलहपूर्ण वातावरणमें बना हुआ अच्छे-से-अच्छा भोजन भी विष बन जाता है। भोजन करते समय यदि मनमें अशान्ति हो, तो भी उस भोजनको विष ही समझिये।

सजीव और निर्जीव पदार्थोंमें भेद यह है कि सजीव पदार्थोंमें विद्युत् प्रवाहित होती रहती है। हमारा प्रत्येक विचार एक विद्युत्-तरङ्गके रूपमें हमारे मस्तिष्कसे निकलता है। ये विचार-तरङ्गें बड़ी द्रुत-गतिसे चलती हैं और अपने आस-पासके वातावरणको ही नहीं, बल्कि समस्त विश्वको प्रभावित करती हैं। परिवारके प्रत्येक सदस्यकी विचार-तरङ्गोंकी छाप परिवारके समस्त वातावरणपर तथा घरकी प्रत्येक वस्तुपर पड़ती है। यदि ये विचार-तरङ्गें बलवती हों तो घरके बाहर भी काफी दूरतकके वातावरणमें हम इन विचार-तरङ्गोंके अमृत या विषका अनुभव कर सकते हैं। यही कारण है कि लोकोपकारके विचार रखनेवाले महापुरुषोंके निवासस्थानके निकट पहुँचते ही हमें अलौकिक शान्तिका अनुभव होता है तथा हमारे मनके क्षुद्रभाव शान्त होकर हममें भी उदारताका सञ्चार होने लगता है। इसी विद्युत्के माध्यमसे महापुरुषोंका सत्सङ्ग हमारे अंदर नया जीवन फूँकता है। इसी विद्युत्की प्रबलताके कारण संतोंके स्पर्शमें रोग-निवारणकी जादूभरी शक्ति होती है। जैसे एक जलते हुए दीपकसे दूसरे बिना जले दीपकको प्रकाश प्राप्त होता है, वैसे ही महापुरुषोंके सत्सङ्गसे हमें प्रकाश प्राप्त होता है। यह शक्ति सद्विचारोंके अभ्याससे प्राप्त होती है।

जिस घरमें सद्विचारोंकी विद्युत्-तरङ्गें प्रवाहित होती हैं, उस घरमें घुसते ही हम इन तरङ्गोंको पहचानकर यह जान सकते हैं कि इस घरमें रहनेवाले प्रायः किस प्रकारके विचार करते हैं तथा उनके मध्य परस्पर कैसे सम्बन्ध हैं। हम प्रायः अपने परिवारके सदस्योंके बारेमें ही सोचते हैं और रात्रिमें जब सो जाते हैं, तब भी अंदर-ही-अंदर हमारे मनका जो प्रदेश जागता रहता है, वह उन्हीं विषयोंपर विचार करता रहता है, जिनसे हम जाग्रत् अवस्थामें विशेष प्रभावित रहते हैं। अतः पारिवारिक जीवनके मधुर या कटु अनुभव निद्राकालमें भी हमारा पीछा नहीं छोड़ते। बल्कि निद्राकालमें वे और भी प्रबलरूपसे अपना कार्य करते हैं। खास तौरसे रात्रिमें सोते समय सबसे अन्तमें तथा सबेरे जागनेपर सबसे पहले हमारा मन जिस विचारधारामें बहता है, उसी विचार-धारामें वह अंदर-ही-अंदर दिन-रात बहता रहता है। अतः ये ही दोनों वेलाएँ आध्यात्मिक साधनाके लिये सबसे उत्तम मानी जाती हैं। इन दोनों वेलाओंमें मनको उत्तम सात्त्विक विचारोंमें ही तल्लीन रखनेका अभ्यास करना व्यक्ति और परिवार दोनोंके लिये श्रेयस्कर है।

सद्विचारों और सद्भावनाओंका अभ्यास जब साथ बैठकर सामूहिक रूपसे मिलकर किया जाता है, तब उसके बहुत प्रबल संस्कार हमारे हृदयोंपर पड़ते हैं। जब सारे सदस्य

परिवारकी सुख-शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी विद्युत्-तरङ्गें मिल जाती हैं और वे उनके हृदयोंको एक-दूसरेके निकट ला देती है। दिनमें यदि कोई कटु प्रसङ्ग आया हो तो उसका मैल सायकालीन प्रार्थनामें हृदयोंके इस पुण्य सगममे धुल जाता है और एक चिरनवीन प्रेमकी धारा सबके हृदयोंमें बहने लगती है। इसी प्रकार प्रातःकालीन प्रार्थना हमारे पारिवारिक अभ्युदयके लिये नित्य नवजीवनके द्वार खोलती है तथा हमारे अंदर नित्य नवीन आशा, विश्वास, उत्साह और धैर्यका सचार करती है।

अपने-अपने परिवारकी रुचि और परिस्थितिके अनुसार हम सामूहिक प्रार्थनाकी अलग-अलग रूप-रेखा बना सकते हैं और इस रूप-रेखाको परिवर्तनशील परिस्थितियोंके अनुसार चाहे जब बदला जा सकता है। सामूहिक प्रार्थनाके लिये घरमें एक स्थान निश्चित कर लिया जाय, जहाँ सब लोग नित्यप्रति एक निश्चित समयपर एकत्र हों। अपने-अपने आसनपर या एक सम्मिलित दरी या चटाईपर सब आरामसे कमर सीधी करके बैठ जायँ। अपने-अपने चित्तको अन्य सब विषयोंसे हटाकर एकमात्र आनन्दघन परमात्मामें ही केन्द्रित कर दें। इसके बाद ऑख मूँदकर कुछ देर मौन प्रार्थना की जा सकती है। या कोई एक व्यक्ति किसी सतकी वाणी बोलता या गाता रहे तथा अन्य लोग या तो चुपचाप सुनते रहें या उसे दोहराते रहें। इसके अतिरिक्त यह भी एक रूप है कि कोई एक सदस्य या गृहपति गद्यात्मक भाषामें अपने शब्दोंमें परिवारके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना करे और अन्य सब लोग मौन रहते हुए उसकी प्रार्थनामें मानसिक योग देते रहें। उदाहरणके लिये गद्यात्मक भाषामें यह प्रार्थना की जा सकती है—

'हे प्रभु! हमारे परिवारके सब सदस्योंमें परस्पर सहयोग और सद्भावना हो। हम एक-दूसरेके अपराधोंको क्षमा करें तथा अपने-अपने अपराधोंके लिये एक-दूसरेसे क्षमा-याचना करें और पश्चात्ताप करें। हम परिवारकी उन्नतिके लिये एक निश्चित लक्ष्य बनाकर उसकी प्राप्तिके लिये एक निश्चित योजना बनायें तथा उस योजनाके अनुसार मिलकर परिवारकी श्रीवृद्धिके लिये कार्य करें। हे प्रभु! हमारे परिवारके प्रत्येक सदस्यको विद्या-बुद्धिसे तथा हमारे घरको धन धान्यसे सम्पन्न बना। हम सबको यशस्वी, तेजस्वी, विद्वान्, लक्ष्मीवान्, स्वस्थ और सुशील बननेकी प्रेरणा प्रदान कर। हम सबके मित्र बनें तथा सब लोग हमारे मित्र बनें। हम सबको अपने मित्रके रूपमें देखे। हम सबके अदर सद्गुण ही देखें, बुराई केवल अपने अदर देखें। सब हमारे मित्र हैं, दसों दिशाएँ हमारी मित्र हैं तथा आप हमारे परम मित्र हैं। हम सबके अदर आपका दर्शन करें। हे प्रभु! सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका भला हो, किसीको दुःख न प्राप्त हो। सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो और सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करके अपनी अभीष्ट सफलता प्राप्त करें। हम भी अपनी अभीष्ट-सिद्धि तथा आपका सतत और अनन्त प्रेम प्राप्त करें। आप सदैव हमारे हृदय-मन्दिरमें विराजते रहें और हर समय हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें। हे प्रभु! आप सदैव हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आप सदैव हमारे लिये मङ्गलमय विधान कर रहे हैं। हमें सद्बुद्धि प्रदान कीजिये कि हम आपके ऊपर भरोसा करके चिन्ताएँ छोड़ दें और शान्तचित्त होकर अपने कर्तव्योंका पालन करें। हे प्रभु! हमने अब आपके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है और अब हम आपके द्वारा आलोकित कर्तव्यपथपर चल रहे हैं। आपकी ज्योतिर्मयी प्रेरणासे अब हम आपके अमृतपथपर चल रहे हैं।' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अकथ महिमा

चतुरानन सम बुद्धि विदित जो होहिं कोटि धर।
एक एक धर प्रतिन सीस जो होहिं कोटि वर ॥
सीस सीस प्रति वदन कोटि, करतार बनावहिं।
एक एक मुख माहिं रसन फिर कोटि लगावहिं ॥
रसन रसन प्रति सारदा कोटि बैठि बानी बकहिं।
नहिं जन 'अनाथ' के नाथ की महिमा तबहुँ न कहि सकहिं ॥

हिंदू गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतीय शास्त्रकारोंने समस्त हिंदूजातिके उपकार तथा अधिकाधिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर पाँच ऐसे दैनिक कर्मोंका विधान रखा है, जिससे जीवन पूर्ण बनता है। प्रत्येक बड़े कर्मको 'यज्ञ' शब्दसे सम्बोधित किया गया है, जिससे उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

ये पाँच महायज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ, (४) अतिथियज्ञ और (५) भूतयज्ञ। 'शतपथब्राह्मण' नामक ग्रन्थमें इन पाँचोंका बड़ा माहात्म्य बताया गया है। यहाँतक कहा गया है कि जो पुरुष इनको यथाशक्ति नहीं करता, वह देवताओं, पितरों और ऋषियोंका सदा ऋणी रहता है। जैसे किसी कर्जदारको सदा अपने कर्जको देनेका ही भय लगा रहता है, उसी प्रकार उपर्युक्त कर्मोंको न करनेवाला सदा मन-ही-मन डरता रहता है। उसका कल्याण नहीं होता और मनमें सुख-शान्ति नहीं रहती। अतः प्रत्येक महायज्ञका अर्थ समझ लेना चाहिये और यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

१—ब्रह्मयज्ञ

अर्थात् ब्रह्म (ईश्वर)-चिन्तन। यह दो प्रकारसे किया जा सकता है—(१) वेद-मन्त्रोंसे परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना। दिनका प्रारम्भ इसी यज्ञसे प्रारम्भ होना चाहिये। ईश्वरीय उपासनासे मनुष्यका सम्बन्ध उच्च दैवीशक्तियोंके साथ हो जाता है और उसमें ब्रह्मतेजका उदय होता है। (२) स्वाध्याय। गृहस्थको चाहिये कि वह प्रातः नियमपूर्वक वेद, भगवद्गीता, रामायण, योगवाशिष्ठ आदि सद्ग्रन्थोंमेंसे किसीका भी नित्यप्रति पाठ करे, उन्हें समझनेका प्रयत्न करे, उनपर विचार करे, अपने जीवनकी आलोचना करे और यथाशक्ति अपने आचरणको उसके अनुकूल बनाये।

स्वाध्याय हमारे आत्मविकासका एक प्रधान अङ्ग है। इसलिये उच्चतम ज्ञानसे परिचित होते रहना आवश्यक माना गया है। परमार्थचिन्तनके साथ स्वाध्याय होनेसे जीवन आनन्दसे व्यतीत होता है। स्वाध्यायमें कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं—जैसे धर्मपुस्तकका गहरा अध्ययन, उसके अर्थोंपर पर्याप्त चिन्तन, विचार और श्रद्धापूर्वक उसपर आरूढ होनेका व्रत। श्रद्धा और नियमका होना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूसरोंको दिखानेमात्रके लिये स्वाध्याय करता है तो वह ढोंग करता है। अध्ययन और आचरणका संयोग होना चाहिये। स्वाध्याय छोड़ना नहीं चाहिये, अन्यथा पाप लगता है। उसमे आलस्य भी न होना चाहिये। इसीसे 'शतपथ'में कहा गया है—

'जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। इसी प्रकार स्वाध्यायका क्रम प्रतिदिन नियमपूर्वक चलना चाहिये। यदि कोई स्वाध्याय नहीं करता, तो यह बात वैसी ही होती है जैसे इन देवताओंके काम न करनेपर होती। इसलिये उत्तम व्यक्तिको नियमसे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।'

२—देवयज्ञ

देवयज्ञका अर्थ है अग्निहोत्र, हवन, यज्ञ इत्यादि। इसे देवयज्ञ इसलिये कहा गया है कि इसमें दिव्य पदार्थोंद्वारा शास्त्रोंके मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए प्राकृत शक्तियोंकी शुद्धि तथा पुष्टि होती है। हवनसे वातावरण पवित्र बनता है, दिव्य भावनाओंका विकास होता है, प्राणिमात्रकी भलाई होती है। वायु शुद्ध होती है, वर्षाका जल शुद्ध और पुष्ट होता है, जिससे अन्नादि वनस्पतियाँ और ओषधियाँ अच्छी होती हैं। सद्-भावनाका प्रसार होता है। वेदमन्त्रोंके उच्चारण और सामूहिक ईशचिन्तनसे परमात्माकी शक्तियोंका प्रकाश हमे मिलता है।

३—पितृयज्ञ

'पितृ'का अर्थ है हमारे बड़े। यह यज्ञ हमें उन सम्बन्धियोंके प्रति आदरका भाव रखना सिखाता है, जो हमसे बड़े हैं, पूज्य हैं, हमारे लिये हितकारी हैं, जो बाल्यावस्थासे लेकर बड़े होनेतक हमारी रक्षा करते

रहे हैं। इन्हे हम सम्बन्धानुसार विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं—माता, पिता, पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही इत्यादि। ये सब पितर कहलाते हैं।

दूसरे प्रकारके पितर हैं—जो महात्मा, ऋषि, मुनि हमारे धर्मग्रन्थोंके निर्माता। इन्होंने जीवनको अच्छी तरह देखा है, अनुभव किया है और वे सचाइयाँ निकाली हैं, जो शास्त्रोंके रूपमें हमारे निकट विद्यमान हैं। तीसरे प्रकारके पितर वे देवी-देवता हैं, जो ईश्वरीय शक्तियोंके प्रतीक हैं और सदा हमारे चारों ओर कल्याणकारी वातावरणकी सृष्टि करते हैं, सहारक—विनाशकारी शक्तियों-को हटाते हैं और हमें पोषक शक्ति देते हैं। चौथे वे हैं, जिनकी मृत्यु हो चुकी है। इस यज्ञ-द्वारा उपर्युक्त सभी प्रकारके पितरोंके प्रति श्रद्धा दिखानेका विधान है।

यह कार्य दो प्रकारसे किया जाता है। पहला उपाय है, श्राद्ध और दूसरा तर्पण। अर्थात् पहला उपाय तो यह है कि पितरोंके वचनों और चरणोंमें असीम श्रद्धा रखना और दूसरे उस श्रद्धासे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हे तृप्त करना। हमें चाहिये कि जीवित पितरों (समस्त गुरुजनों) के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करें, उनकी सेवा करें, अपने-आप दु ख उठाकर उनको सुख पहुँचायें, भोजन-वस्त्रादि द्वारा उन्हें प्रसन्न रखें।

मृत पितरोंके उपकारोंका स्मरण, चिन्तन करते हुए उनको सद्भावसे धन्यवाद देना, स्वय उनके सदाचरणको अपने जीवनमे धारण करना, उनकी प्रचार की हुई सचाइयोंका प्रचार करना, उनकी स्मृतिमें कुएँ, तालाब, धर्मशालाएँ और अन्य परोपकारकी सस्थाएँ खुलवाना—ये सब पितृ-यज्ञकेअन्तर्गत ही हैं। इसमें पितृसज्ञक शक्तियोंका आदर करना इष्ट है। इस आदरभावसे हम स्वय अपना ही हित करते है, क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे हम पितरोकी सद्भावनाएँ मिलती रहती है।

४—मनुष्य-यज्ञ या अतिथि-यज्ञ

हिंदू-सस्कृति अतिथिको भी देवता मानकर श्रद्धा करना सिखाती है। अतिथिका समयके अनुसार सेवा-सत्कार करना हमारा धर्म है। यदि भोजनके समय या अन्य कभी कोई परिचित या अपरिचित व्यक्ति घरमे आ जाय, तो उसको मधुरभाषण, जल, आसन, भोजन, वस्त्र इत्यादि देकर सत्कार करना अतिथियज्ञको पूरा करना है। यदि कोई व्यक्ति हमारी सहायता या सहयोग चाहे तो यथासाध्य हमें अवश्य देना चाहिये।

५—भूत-यज्ञ या बलि-वैश्वदेव

'भूत' शब्दका अर्थ है 'जीव'। ऊपर मनुष्य-जातिकी भलाईका विधान स्पष्ट किया गया है। किंतु हिंदू-सस्कृति बडी उदार है। वह केवल मनुष्यकी ही नहीं, वर जीवमात्रकी भलाईमे विश्वास करती है।

इस यज्ञमे पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि उपकारी तत्त्वोंके सरक्षण, पालन-पोषण और सेवाका विधान है। ये सभी 'भूत' शब्दमे आ जाते हैं। हमारा जीवन पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति इत्यादि सबपर टिका हुआ है। गौ, बैल-जैसे उपकारी पशु और मोर, हंस, तोता, पुष्प इत्यादि हमारे नित्यप्रतिके मित्र हैं। वृक्ष हमे फल-भोजन इत्यादि देते हे। फलोंके पेडोंसे घर-उद्यानकी शोभा बढ़ती है। उनकी हरियाली हमारे मनको हरा कर देती है। हिंदू-सस्कृतिने भूत-यज्ञके अन्तर्गत हमे यह शिक्षा दी है कि हम पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति-जैसे उपयोगी और कल्याणकारी तत्त्वोंके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करे।

यह दो प्रकारसे सम्भव है। जहाँ पशु-पक्षियोंके लिये उचित भोजन या जलका प्रबन्ध नहीं है, वहाँ गोशाला या पशुशालाओंका प्रबन्ध करना, पशुओंके लिये जल पीनेके स्थान बनवाना, पुराने कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत करवाना और बीमार पशुओंके नि शुल्क इलाजका प्रबन्ध करना। गौ पालना या दूध देनेवाली गौका दान करना। दूसरे, वृक्षारोपण करना और पुराने वृक्षोंकी सेवा-सहायता करना, उद्यान लगाना, पौधोंको सींचना। इस प्रकार हमारी सस्कृतिमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी सेवाका विधान है। भारतीय सस्कृतिके पुन.स्थापनद्वारा कैसा मनोरम दृश्य उपस्थित हो जाता है, इसका वर्णन एक कविने किया है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि ।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं वत गृहाणि वनानि ॥

अर्थात् जहाँ दूध बिलोनेका घोष नहीं सुनायी देता और जहाँ छोटे-छोटे बच्चोंके खेलने-कूदनेका कोलाहल नहीं सुन पड़ता और वृद्धजनोंकी पूजा नहीं होती, वह घर नहीं बल्कि एक तरहका जगल है । इसी प्रकार वाटिकामें छोटे-छोटे वृक्षोंको हरे-भरे देखना, पेड़ोंको अपने हाथसे सींचना, उनके फूलों-पत्तोंको सँवारना अद्भुत आनन्दकी सृष्टि करनेवाला है ।

इस प्रकार अधिक सुख और शान्तिके लिये प्रत्येक सद्गृहस्थको उपर्युक्त पाँच कर्म अवश्य करने चाहिये । हमारा जीवन ऐसा हो, जिससे अधिक-से-अधिक लोगोंकी भलाई और उन्नति हो सके । समस्त समाजमें हमारी अपनी ही आत्माका विस्तार दिखायी दे रहा है । एक ही ईश्वरका नाना रूपोंमें प्रकाश है । इस दृष्टिसे यह सब हमारा ही एक परिवार है । सब हमारे बन्धु-बान्धव ही हैं । हमारा सबके साथ एक रक्तका सम्बन्ध है । यदि हम किसीका बुरा करते हैं या उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं तो वास्तवमें हम अपना ही बुरा करते हैं और अपने आपको ही ठगते हैं ।

रहो और रहने दो !

मनुष्यो ! तुम ससारमे आनन्द और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये आये हो । तुम्हारे मन, वचन और कर्ममे वे शुभ शक्तियाँ रखी गयी हैं, जो ससारभरके लिये कल्याणकारी है । तुम्हारे स्वयके कार्योंकी ससारके सुख-शान्तिपर प्रतिक्रिया होती है । यदि तुम्हारे सकल्प अच्छे हैं और कार्य उत्तम भावोंसे होते हैं तो निश्चय ही तुम ससारकी सुख-वृद्धि कर सकोगे ।

तुम ससारमें आनन्दपूर्वक रहना चाहते हो तो दूसरोंको आनन्दपूर्वक रहने दो । तुम यदि समझते हो कि दूसरेको सतानेसे तुम्हारा कुछ नहीं बिगडता तो यह तुम्हारा भ्रम है । वास्तवमें तुम्हारी ठगी, धोखेबाजी, अत्याचार स्वय तुम्हें ही नष्ट करते हैं । तुम अपनी ही आत्माका हनन करते हो ।

समाजमे कोई भी अलग नहीं है । सब एक बड़े शरीरके अङ्ग हैं । पूरा समाज एक विशाल शरीर है । क्या तुम यह पसद करोगे कि तुम्हारे शरीरका एक हाथ दूसरे हाथको काट डाले, एक पाँव दूसरे पाँवको चोट पहुँचाये, दाँत खुद तुम्हारी जीभको काट डाले, हाथ सिरको तोड़ डालें । नहीं, तुम यह कदापि पसद नहीं करोगे । इससे तुम्हारा अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा ।

इस मानवसमाजके भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी इसी प्रकार तुम्हारे सामाजिक शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं । कोई व्यक्ति हाथकी तरह है, कोई आदमी पाँवोंकी तरह; कोई नेत्र है तो कोई कान, नाक, मुँह, हृदय, जिगर, फेफड़ोंकी जगह है । सबके परस्पर मिलकर चलनेसे ही समाज विकसित होता है, आगे बढता है, पनपता है ।

यदि तुम किसी व्यक्तिपर हिंसा, बलात्कार, झूठ, कपट या अत्याचार करते हो तो वास्तवमें स्वय अपने आपको ही घायल करते हो । यदि तुम रहनेका अधिकार माँगते हो तो दूसरोंको स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द और निर्भयतासे जीते रहने दो ।

तुम दूसरोंको अधिक दिन धोखेमें न रख सकोगे । एक न-एक दिन तुम्हारा पाप प्रकट हो ही जायगा । फिर तुम्हें जो अपमान सहन करना पड़ेगा, उसकी पीडा सहस्रों बिच्छुओंके डक मारने-जैसी होगी । पापपर अधिक दिनतक पर्दा नहीं डाला जा सकता ।

दुर्योधन समझता था कि भरी सभामे द्रौपदीकी मानहानि करके वह कोई पापकर्म नहीं कर रहा है । कस समझता था कि देवकीके पुत्रोंकी हत्या करनेमें कुछ अनुचित नहीं है । रावण समझता था कि महासती सीताको अपहरणकर लङ्का ले जानेमें कुछ भी बुराई नहीं है । बाली स्वय अपने भाईकी सम्पत्ति हड़पने और सतानेमे दुर्व्यवहार नही मानता था ।

किंतु पाप तो सिरपर चढ़कर बोलता है । पापीको

नष्ट कर देता है। दुर्योधन, कस, रावण, वाली इत्यादि सबके पाप ही उन्हें खा गये, सदाके लिये श्मशानमे जलकर वे राख हो गये और छोड गये अपने पापोंकी काली छाया! पाप अथवा दुराचार चाहे कैसा भी क्यों न हो, मनुष्यका सपरिवार नाश कर देता है।

पाप कभी-न-कभी, देर-सवेर अवश्य प्रकट होता है और सर्वनाशका कारण बनता है।

तुम्हारी ईमानदारी, सज्जनता, सचाई, निष्पक्षता आदिका बच्चोंपर, आनेवाली नयी पीढीपर बडा प्रभाव पडता है। जैसे स्वय माता-पिता होते हैं, वैसे ही उनके पुत्र-पुत्री आदि होते हैं। पापाचारके वातावरणमे पले हुए बच्चे स्वभावत दुष्ट हो जाते हैं।

सद्गृहस्थीमें हमारे मनोविकार स्वच्छ होते रहते हैं, उनका विष दूर होता रहता है। बच्चों और धर्मपत्नीके सुखद सम्पर्कमे लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारोंका शोध होता है। इसलिये ईमानदारीका जीवन ही हर प्रकारसे वरणीय है, पूरे समाजका हित करनेवाला है।

अत्याचार, अन्याय, हिंसा, झूठ, कपट, व्यभिचार तुम्हारी आत्माके गुण नहीं हैं। इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियाँ तुम्हें गुलाम नहीं बना सकतीं।

तुम तो निर्विकार सत्-चित्-आनन्द आत्मा हो। पूर्ण शान्त आत्मा हो। स्वतन्त्र हो। स्वच्छ हो। न्यायकारी हो। मानसिक सतुलनसे पूर्ण हो। परमात्मा सर्वव्यापी और न्यायकारी है। आत्माके रूपमे वह तुम्हारे अदर विराजमान है। विवेकको सर्वोपरि मानना, दिव्यशक्तियोंका विकास करना, मानवताको ऊँचा उठाना—इन सत्प्रवृत्तियो-में ही तुम्हारी महानता सनिहित है।

शरीर अनित्य है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

लोग पागल कहते हैं वैद्यराज चिन्तामणिजीको, यद्यपि सबको यह स्वीकार है कि उनके हाथमे यश है। नाडीज्ञानमे वे अद्वितीय हैं और उनके निदानमें भूल नहीं हुआ करती। वे जब चिकित्सा करते हैं, मरतेको जीवन दे देते हैं, किंतु अपने पागलपनसे उन्हे जब अवकाश मिले चिकित्सा करनेका।

इतना निपुण चिकित्सक—उसके हाथमे लोहेको सोना करनेवाली विद्या थी। वह अपना व्यवसाय किये जाता—लक्ष्मी पैर तोड उसके घरमें बैठनेको प्रस्तुत कब नहीं थी, किंतु पता नहीं कहाँसे एक जटाधारी भभूतिया साधु आ मरा इस बेचारे ब्राह्मणके यहाँ। इसे किसे पता क्या-क्या कह गया और पाँच-सात ताडपत्र दे गया। उन ताडपत्रोंपर क्या लिखा है, कोई कैसे बताये। वैद्यराज प्राणोंके साथ उन्हें चिपकाये फिरता है। घरकी जमा पूँजी भी इसने फूँक डाली। धुन चढी थी इसे पारद-भस्म बनानेकी। ताँबेको सोना बनाना चाहता था। घर आता सोना छोडकर स्वप्नके सोनेके पीछे इसने घर भी फूँक डाला।

सनकी है चिन्तामणि। उससे कोई पूछे, समझाये तो हँस देता है। सारे ससारको मूर्ख मान लिया है उसने। अब उसे अमर बननेकी सनक चढी है। बहुत उमगमें होगा तो अपने उन सडे-गले ताडपत्रोंका एकाध श्लोक बोल देगा।

अब यह चिड़ियोंके समान आकाशमे उडने और अमर बननेकी धुनमें है। ऋषि-मुनियोंकी बातोंपर हमें संदेह नहीं करना चाहिये, किंतु ये बातें ऋषियोंके योग्य हैं। इनका रहस्य वे ही जानते थे। ऐसी बातोंके पीछे पडनेसे इस कलियुगमे कोई लाभ नहीं।

आज बारह वर्ष तो हो गये चिन्तामणिको। क्या

पाया उसने ? कितने माशे स्वर्ण बना सका ? अबतक अपने काममें लगा रहता तो सोनेका महल बना लेता। घरपर मोटर ही नहीं, हवाई जहाज खडा कर लेता और मनमाना उड़ता आकाशमे। रही अमर होनेकी बात, सो इस युगमें तो कोई अमर हुआ नहीं, होता नहीं।

अब बच्चे भूखके मारे पड़ोसियोंके घर चक्कर काटते है। पण्डितानीकी साडीमे पेबद लगते है। लोग ब्राह्मण समझकर अन्न घर न पहुँचा दिया करें तो चूल्हेमे चूहे डड करें और पण्डितजीको अपनी सनकसे अवकाश नहीं। आज नर्मदा-किनारे जानेको टिकट कटा रहे हैं और कल हरद्वार या कामरूपको। कर्ज ले-लेकर अब यात्राऍं करने लगे है। इतनी लबी यात्रा करके, इतना कष्ट उठाकर जब लौटेगे—शरीर सूखकर कॉंटा हुआ मिलेगा। लायेंगे कुछ घास-फूस और उनकी बातें सुनो उस समय लगेगा जैसे ससारका सारा खजाना लूट लाये हों।

'यह बाजारमें मिलनेवाला कृष्णवर्ण शूद्र पारद है।' पण्डितजीकी सनक अब उनके एक शिष्यपर भी चढ़ने लगी है, उसे भी वे चौपट करनेपर तुले हैं। उसे पारदमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण बताया करते हैं—'स्वर्ण बन सकता है पीतवर्ण वैश्य पारदसे। आकाशमें उडनेकी शक्ति तथा अमरत्व प्रदान करनेमे उज्ज्वल क्षत्रिय पारद समर्थ है और यदि कहीं रक्तवर्ण विप्र पारद मिल जाय—मुक्तिका साधन ही मिल गया समझो।'

वैद्यराजकी कल्पनासे बाहर भी इन पारदोंका कोई अस्तित्व है, मुझे तो इसमें पूरा सदेह है। वैसे वे कहा करते हैं—'भगवान् दत्तात्रेयने रसेश्वर-सम्प्रदायका प्रवर्तन किया। सिद्ध रसका सेवन करनेसे अनामय, सुपुष्ट, अमर शरीर प्राप्त होता है और तब उस शरीरसे निर्विघ्न योगके साधन किये जा सकते हैं।'

यह सब उन ताड़पत्रोंमें नहीं लिखा हो सकता। इन बारह वर्षोंमे ये पण्डितजी यही सब संग्रह करते रहे हैं। पारदके सम्बन्धमें कहाँ क्या लिखा है, यह सब अब आप इनसे पूछ सकते हैं। यह बात दूसरी है कि उसमें कितना सत्य है और कितना ऐसे ही सनकी लोगोंका लिखा है, यह जाननेका कोई साधन अब किसीके पास नहीं है।

'हिंगुलोत्थ पारद भी केवल शुद्ध शूद्र पारद ही है। उससे सेवा ही सम्पन्न हो सकती है। रोगीके लिये औषध बननेसे अधिक उसका उपयोग नहीं है।' वैद्यराजकी सम्मति है कि—'यह शूद्र-युग है। इसमे शेष तीनों पारद लुप्त हो गये हैं। अब उन्हें भगवान् दत्तकी कृपाके बिना पाना असम्भव है।'

घरके लोगोंको चाहे जितना शोक हो, यह अनिवार्य था कि वैद्यराज भगवान् दत्तकी कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न करते। उन्होंने क्या मार्ग अपनाया कृपा प्राप्त करनेका, किसीको बता नहीं गये, केवल चले गये घरसे। इस बार अकस्मात् चले गये घरसे बिना किसीसे कुछ कहे और अब महीना बीत गया, उनका कोई समाचार नहीं है।

× × ×

गिरनारके शिखरोंकी चढ़ाई आज भी सुगम नहीं है। यद्यपि श्रद्धालु सम्पन्न जनोंने सीढ़ियॉं बना दी हैं, फिर भी दत्तशिखरतक पहुँचते-पहुँचते लगभग दस सहस्र सीढ़ियाँ चढनी पडती है। कौन हॉंफ नहीं जायगा। उससे पर्याप्त आगे वह महाकाली-शिखर—दूरसे ही उसे प्रणाम कर लिया जा सकता है। कोई अत्यधिक साहस करे, तो भी उसे रात्रि गोरख-शिखरपर व्यतीत करनी चाहिये और प्रात. भगवान् दत्तात्रेयकी पादुकाका वन्दन करते आगे बढ़ना चाहिये। इसी प्रकार वह महाकालीकी गुफामें उनके श्रीचरणोंतक पहुँच सकता है।

महाकाली-शिखरतक कदाचित् ही कोई यात्री पहुँच पाता है। इससे अधिक एकान्त चाहिये तो फिर कहीं शेरकी मॉंद चुननी होगी। वैसे शेर तो आते है गिरनारके पदप्रान्ततक। यह महाकाली-गुफा तो उनके क्रीडाक्षेत्रमें है। सिंहवाहिनीके भवनमें सिंह न आवे तो आवेगा कहाँ।

आजकल एक वृद्ध आ बैठा है महाकाली-गुफामें। गौर वर्ण, तनिक दुहरा देह, जिसपर झुरियाँ पड़ी हैं, मस्तकके समस्त केश उज्ज्वल, बढ़ी हुई सफेद दाढ़ी-मूँछें; किंतु वह साधु नहीं है। उसके शरीरपर एक कुर्ता है मैला-सा और कटिमे मैली धोती है। सम्भवत. यात्राने उसके वस्त्र मैले कर दिये हैं और यहाँ उन्हें स्वच्छ करनेको साबुन

कहाँसे पाये वह । उसके पास एक लोटा है, एक कम्बल है बिछानेको, एक चद्दर है—बहुत सीमित सामग्री है उसके साथ ।

पासके स्रोतमें स्नान कर लेता है और लोटेके जलसे जगदम्बाकी मूर्तिको भी स्नान करा देता है। आप इसीको पूजा कहते हों तो कह लें, क्योंकि पूजाका और कोई उपकरण उसके पास नहीं है । आज सात दिन उसे यहाँ आये हो गये । ये सात दिन उसने केवल समीपके स्रोतके जलपर काटे हैं । अब चाहे तो भी शरीरमें इतनी शक्ति नहीं कि गिरनारकी चढ़ाई पार करके गोरख-शिखरतक भी पहुँच सके ।

'वहाँ शेर आते हैं। संध्यासे पहले गोरखशिखर लौट आना !' सात दिन पूर्व जब वह जूनागढ़से चला था, उसका विचार जानकर एक स्थानीय सज्जनने उसे सावधान किया था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया था। लौट आने तो वह आया नहीं । सिंहवाहिनीकी शरणमे जो पड़ा है, उसे शेर कैसे खा जायगा ? आज सातवीं रात्रि प्रारम्भ हुई है । पिछली छः रात्रियोंमे तो उसने शेरको देखा भी नहीं । वैसे वनमेंसे वनपशुकी दहाड आती है, इसमें अद्भुत क्या है ?

आज उसे स्नान करनेमे कष्ट हुआ है । अब उठनेमें चक्कर आता है । चलते समय नेत्रोंके आगे अन्धकार छा जाता है । कदाचित् कल स्रोततक खिसककर जाना पड़े । अन्नमें प्राण हैं इस युगमें और सात दिनसे वह केवल जल पीकर रहा है ।

'मा ! जगज्जननी ! यदि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो मुझे तुमने इधर क्यों आकृष्ट किया ?' आज वह जगदम्बाकी मूर्तिके सम्मुख घुटने टेके बैठा है रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही—'अब मैं यहाँसे जानेवाला नहीं हूँ । मेरा शरीर यहीं छूटेगा । भगवान् दत्तको मैं कहाँ ढूँढूँ । तुम सर्वेश्वरी हो, सर्वशक्तिमयी हो और यहाँ गिरनारकी—दत्तके आश्रमकी अधिष्ठात्री होकर बैठी हो । मैं तुम्हें ब्रह्महत्या देकर मरूँगा ! कपालिनी ! इस ब्राह्मणका कपाल तुम्हारी मुण्डमालामे रहकर भी तुम्हें कोसता रहेगा !'

ब्राह्मण अपनी हठपर उतर आया था । उसका परम बल है अनशन और वह अनशन किये बैठा था जगद्धात्री जगदीश्वरीके द्वारपर—उस द्वारपर जहाँसे कोई कभी निराश नहीं लौटा । पागल ब्राह्मण—अरे, माँके यहाँ अनशनकी आवश्यकता ? जहाँ सहज स्नेहसे माँसे कुछ भी माँग लिया जा सकता है, अपनी अश्रद्धासे आकुल अविश्वस्त ब्राह्मण वहाँ अनशन किये बैठा है ।

'हैं !' मरण इतना सरल नहीं है । ब्राह्मण भयसे चौंक पड़ा । उसे लगा कि गुफामें शेर आ गया है और वह पीछेसे उसे सूँघ रहा है । उसने चौंककर पीछे देखा—कुत्ता, केवल एक कुत्ता था उसके समीप । सिरसे पैरतक काला, सुपुष्ट कुत्ता और वह अब भी पूँछ हिलाता ब्राह्मणको स्नेहपूर्वक सूँघे जा रहा था । जैसे वह प्रयत्न कर रहा था पहचाननेका कि यह व्यक्ति उसका कोई परिचित है या नहीं ।

'कुत्ता ! यहाँ ! इस समय अर्धरात्रिमें !' ब्राह्मण उस तगड़े, सुन्दर काले कुत्तेको इस प्रकार देख रहा था । जैसे कोई अद्भुत प्राणी देख रहा हो—'कैसे आया यह ? मुझे क्यों सूँघ रहा है ? भौंकता क्यों नहीं ?'

ब्राह्मणको अधिक सोचते रहनेका समय मिला नहीं । कुत्ता उसके कुर्तेका छोर मुखमें लेकर बार-बार खींचने लगा था । ब्राह्मणको लगा, वह कुछ कह रहा है । 'क्या चाहते हो तुम ? कहाँ ले चलना चाहते हो मुझे ? तुम्हारे साथ चलूँ ?'

ब्राह्मण किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ । कुत्तेने कुर्ता छोड दिया और आगे-आगे चलने लगा । अब ब्राह्मणने उसका अनुगमन करना स्वीकार कर लिया था ।

× × ×

'रससिद्धि सांसारिक विषयभोगमें लिप्त रहकर मानवको पशुप्राय बननेमें सहायक होनेके लिये नहीं है !' ज्योत्स्ना-स्नात स्वच्छ शिलापर जलस्रोतके समीप एक ज्योतिर्मयी मूर्ति आसीन थी। दो श्वान शिलासे नीचे बैठे थे । तीसरा भी ब्राह्मणको कुछ दूर छोड़ दौड आया था और उनके पास ही शान्त बैठ गया था । ब्राह्मणकी दृष्टि गयी उधर—धन्य हो गया जीवन । प्रणिपात करते वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। कुछ क्षण लगे आश्वस्त होकर उठनेमे।

उसके कण्ठसे स्वर नहीं निकल रहा था। प्रभुके संकेत-पर वह शिलाके समीप बद्धाञ्जलि बैठ गया था। प्रभु अपने मेघगम्भीर स्वरमे कह रहे थे—'अक्षीणवासन सत्पुरुष अपनी साधनासे सृष्टिमे सत्त्वगुणको सुरक्षा देते रहें, उनका संकल्प लोकमे मङ्गलका विस्तार करे, इसलिये मैंने रससिद्धिका प्राकट्य किया।'

'यह क्षुद्र आज्ञाका अनुवर्तन करेगा।' किसी प्रकार ब्राह्मण कह सका।

'आज्ञाके अनुवर्तनकी बात नहीं।' भगवान् दत्तात्रेय प्रशान्त बने थे। 'रससिद्धि किसीकी किसी कामनाकी पूर्तिका साधन नहीं। वह सृष्टिका निगूढ रहस्य है और केवल उन सिद्धसत्त्व अधिकारियोंके लिये है, जिनका 'अहं' सर्वात्माको अर्पित हो चुका है।'

'श्रीचरणोंके समीप आकर भी मैं अभागा ही रहूँगा।' ब्राह्मण क्रन्दन कर उठा।

'अच्छा, तुम देखो !' प्रभुकी अर्धोन्मीलित दृष्टि एक बार उठ गयी ब्राह्मणकी ओर।

'हे भगवन् !' कुछ क्षणमें चीत्कार कर उठा ब्राह्मण। वह क्या देख रहा है—उसकी स्त्री मर गयी, पुत्र वृद्ध हुए और मर गये। पौत्र मरणासन्न पडा है उसके कुलमें कोई नहीं रहा। कोई नहीं रहा उसके परिचितोंमे, सम्बन्धियोंमे। वह जिससे स्नेह करता है, वही मर जाता है। मृत्यु—मृत्यु ! आज यह, कल वह, परसों तीसरा—वर्ष जैसे छोटे हो गये हैं। उसे रोना—केवल मरनेवालोंके लिये रोना रह गया है। क्यों जीता रहे, किसके लिये ? अमरत्व—उसे अमरत्वका प्रसाद मिला है रुदन ! चिल्ला उठा वह—'नहीं चाहिये ऐसा अमरत्व !'

'इस शरीरका धर्म है नष्ट होना। तुम जिन्हें अमर मानते हो, वे भी मरेंगे।' ब्राह्मण जब उस दृश्यसे उपरत होकर आश्वस्त हुआ, प्रभु कह रहे थे—'ब्रह्माको भी जब मरना है, तब उनकी सृष्टिके प्राणी अमर कैसे हो सकते हैं। आज जो रससिद्धिसे अमर हुए है, उनका अमरत्व कल्पपर्यन्त है। केवल ब्रह्माके एक दिन वे जी सकते है। मृत्यु शरीरका धर्म है।'

'मैं मूर्ख हो गया था।' ब्राह्मणमें अब कोई आग्रह रह नहीं गया था।

'तुम रससिद्धिका संकल्प लेकर आये, वह तुम्हे प्राप्त होगी।' भगवान्के अद्भुत भाव कौन समझे—'किंतु इस शरीरके शान्त होनेतक संतोष करो। इसके प्रारब्धको पूर्ण हो लेने दो। शरीर और उसके सुख-भोगकी वासनाएँ समाप्त कर लो पहिले इसी शरीरमे।'

× × ×

वैद्यराज चिन्तामणि दूसरे महीने घर लौट आये। उनके पुत्र और स्त्रीको ही उन्हें पहिचाननेमे प्रयत्न करना पडा। स्वर और आकृतिमात्र ही तो थी वह। सुन्दर सुपुष्ट शरीर एक तरुण आकर कहे कि 'मैं चिन्तामणि हूँ' तो कोई झटपट कैसे विश्वास कर ले। क्या हुआ जो उसके केश उज्ज्वल थे। बडा आश्चर्य हुआ लोगोंको।

'आपने रससिद्धि प्राप्त कर ली ?' चिन्तामणिसे बार-बार पूछा गया यह प्रश्न, किंतु उन्होंने किसीको उत्तर नहीं दिया। हँसकर इसका उत्तर वे टाल दिया करते थे।

इस बार घर आते ही वे जुट गये अपने व्यवसायमे। सबको बडी प्रसन्नता हुई। इनका पागलपन तो गया। एक वर्षमें ही उन्होंने कन्याका विवाह कर दिया। बड़े पुत्रको अपने व्यवसायमे लगा दिया।

'सती ! शरीरका ठिकाना नहीं। मौत सिरपर खड़ी है। मन इन बाल-बच्चोंसे हटाकर भगवान्में लगाओ तो अच्छा।' बार-बार वे स्त्रीको समझाते रहे हैं और ये बातें अब महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं, जब कि फिर वैद्यराज सहसा घरसे चले गये हैं। इस बार वे एक कागज छोड गये हैं। उसमे लिखा है—'शरीर अनित्य है। अब इसके लौटनेकी आशा नहीं करना चाहिये। प्रभुके भजनमें ही सबका मङ्गल है। तो वैद्यराजको भी रससिद्धि नही मिली ? वे भी अमर नहीं हो सके ?'

आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्रायः ऐसे समाचार देखने, पढ़ने एवं सुननेमें आया करते हैं कि अमुक व्यक्तिने अमुक कारणसे आत्महत्या कर ली अथवा अमुक व्यक्ति घर छोड़कर निकल भागा आदि-आदि। यहाँ इस लेखमें इस प्रकारकी चेष्टाओंके दुष्परिणामके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

बहुत-से स्त्री-पुरुष, बालक एवं बालिकाएँ आवेशमें आकर आत्महत्या कर लेते हैं—यह उनकी बिल्कुल नासमझी है। सभी योनियोंमें मनुष्य-योनिको ही श्रेष्ठ बताया गया है, यह बात शास्त्रसंगत, युक्तिसंगत एवं प्रत्यक्ष भी है ही। मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण सुखोंका उपभोग किया जा सकता है एवं सबको सुख पहुँचाया जा सकता है। और किसी प्राणीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सबको सुख पहुँचा सके, तथा इस प्रकारका सुख अन्य किसी योनिमें भी नहीं है। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि मनुष्य-जीवनके अतिरिक्त और किसी जीवनमें अपने आत्माका कल्याण भी नहीं हो सकता। और तो और, इस मनुष्य-शरीरको पानेके लिये देवतालोग भी तरसते हैं। जो लोग आत्महत्या करके ऐसे अमूल्य शरीरसे हाथ धो बैठते हैं, उनसे अधिक बेसमझ और कौन हो सकता है? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥

अर्थात् यह मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है, वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है—यह बात अच्छे-अच्छे ग्रन्थ कहते हैं।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी कहते हैं कि जीव जब चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तंग आ जाता है, तब उसके कष्टको देखकर भगवान् ही अपने परम दयालु स्वभावके कारण कृपा करके उसे मनुष्यका शरीर प्रदान करते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और दयासे जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। उत्तम देश, उत्तम समय, उत्तम जाति, उत्तम सङ्ग, उत्तम धर्म—ये सब ईश्वरकृपासे मनुष्य-शरीरमें ही मिलते हैं, जो हमलोगोंको प्राप्त हैं। इतना ही नहीं, परमदयालु ईश्वरने हमें बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा सभी अनुकूल पदार्थ प्रदान किये हैं, उन सबका ठीक-ठीक उपयोग करनेकी आवश्यकता है। इनका ठीक उपयोग करनेसे कल्याण एवं दुरुपयोग करनेसे अधोगति हो सकती है। उपर्युक्त समग्र साधनोंसे सम्पन्न होकर भी जिसने अपने आत्माका कल्याण नहीं किया अर्थात् इस लोक और परलोकको नहीं सुधारा, उसकी शास्त्र बड़ी निन्दा करते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

'ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो संसार-सागरसे पार नहीं होता, वह कृतघ्न है, मन्दमति है तथा आत्म-हत्या करनेवालेकी जो गति होती है, वही गति उसकी होती है।'

आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गतिके विषयमें शुक्ल-यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके, जिसको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, तीसरे मन्त्रमें कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई भी मनुष्य आत्महत्या करनेवाले होते हैं, वे नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन

भयकर लोकोंको बारबार प्राप्त होते हैं, जो अज्ञान—दु ख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित है ।'

आत्महत्यारोंके दो प्रकार होते है—एक तो वे आत्महत्यारे है, जो मनुष्यका शरीर पाकर अपने कर्तव्य-का पालन नहीं करते और दूसरे वे आत्महत्यारे हैं, जो इस मनुष्यशरीरको काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष और हठके कारण नष्ट कर देते हैं । दोनोंकी ही दुर्गति होती है । किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, प्राणोंका वियोग करना तो महान् मूर्खता ही है ।

कोई-कोई विद्यार्थी हाईस्कूल अथवा कालेजकी किसी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जानेके कारण इस भय और लज्जाके कारण कि 'मैं परीक्षामें फेल हो गया, अब मैं किसीको भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहा, लोग मुझे क्या कहेंगे ?' मूर्खताके कारण आत्महत्या कर लेते हैं । कोई-कोई व्यक्ति घरकी लडाई तथा अन्यान्य झझटोंके कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं । इसी प्रकार दहेजकी प्रथा बढ जानेके कारण रुपयोंकी व्यवस्था न होनेसे बडी आयुतक विवाह न किये जानेपर लडकियाँ अपने भविष्यका विचार न करके माता-पिताके दु खको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं । कई बहुएँ सासके ताने न सह सकनेके कारण ही आत्महत्या कर लेती हैं । ऐसे स्त्री-पुरुष विष खाकर जलमे डूबकर या अग्निसे शरीरको जलाकर अथवा कोई-कोई ऊँचे स्थानसे कूदकर मर जाते है । वे यह नहीं सोचते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा, इसके फलस्वरूप मुझे सुख मिलेगा कि दु ख भोगना पड़ेगा इत्यादि । किसीके शरीरसे कोई दोष घट जाता है, तो वह उसके कारण ही आत्महत्या कर लेता है । वह यह सोचता है कि मैं बडा पापी हूँ, मेरा तो जीवन ही भ्रष्ट हो गया । किंतु वास्तवमे सोचा जाय तो यह सब उसकी मिथ्या कल्पना ही है । कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी क्यों न हो, उसके भी उद्धारका भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उपाय बताया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान कुछ भी नहीं है । (फलतः) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चय-पूर्वक जान ले कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता ।'

भगवान् कितना आश्वासन दे रहे है ! अपने आत्माके कल्याणके लिये किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है । कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि उसका शरीर बना रहा तो साधन करनेपर एक दिन वह अपना उद्धार भी कर सकेगा । किंतु मनुष्य-शरीर खो देनेपर तो उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं रह जायगा, उसके लिये तो खतरा-ही-खतरा है, क्योंकि जबतक मनुष्य-शरीर उसे प्राप्त है, वह समय पाकर सब कुछ कर सकता है । भगवत्कृपासे धनहीन धनवान् और मूर्ख भी पण्डित हो सकता है, सब समय स्थिति एक-सी नहीं रहती । किंतु आत्महत्या कर लेनेपर तो सिवा दु ख भोगनेके जीव और कुछ नहीं कर सकता—यह बात निश्चित है । आत्महत्या करनेवाला यह समझता है कि आत्महत्या कर लेनेपर इन सब दुःखोंसे उसे छुटकारा मिल जायगा, किंतु बात सर्वथा ऐसी नहीं है । यह मनकी मूर्खतापूर्ण सूझ है, क्योंकि जीवित अवस्थामें जो दु.ख है, उससे बहुत अधिक दुःख तो आत्महत्या करनेके समय होता है और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक दुःख आत्महत्या कर लेनेपर परलोकमें भोगना पड़ता है ।

उदाहरणके लिये मान लीजिये किसीने आत्महत्या-का विचार करके अपनेपर किरासन तेल छिडककर आग लगा ली । किंतु जब उसका शरीर जलता है, उस समय उसे महान् पीड़ाका अनुभव होता है और वह भीतरसे

चाहता है कि मैं किसी प्रकार बच जाऊँ। किंतु वह प्राय: बच ही नहीं पाता और भयानक कष्ट पा-पाकर प्राण त्यागता है, उसके शरीरमे बहुत जलन होती है। यदि कोई बच जाता है तो वह भी बहुत ही कष्ट पाता है।

कोई आत्महत्याके लिये विषपान करता है। विषपान कर लेनेपर जब विष चढ़ता है, तब बहुत ही क्लेश होता है और मनुष्य तडफडाता है, चिल्लाता है, जोर-जोरसे रोता है, घरवालोंको अपने द्वारा विषपान किये जानेका परिचय देता है। घरवाले डाक्टर-वैद्योंको बुलाकर विष निकालनेके विविध प्रयत्न करते हैं। जब किसी भी प्रकारसे विष शान्त नहीं होता, तब उसे सभी घरवालों-के सामने तडफ-तड़फकर मरना पडता है। उस समय-का दृश्य बहुत ही भयानक होता है।

इसी प्रकार कोई नदी, तालाब, कुएँ आदि जलाशय-में डूबकर मरता है। एक बार तो वह अपने निश्चयानुसार कूद पड़ता है, किंतु जब पानीमे दो-चार डुबकियाँ लगा लेता है और उसका गला घुटने लगता है, पानी पेटमे भर जाता है, तब उसे बड़ी यन्त्रणा होती है और यह इच्छा होती है कि मुझे कोई बचा ले। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर हाथ-पैर पीटता है और अपनी सामर्थ्य-भर जलसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है, बचानेके लिये दूसरोंसे सकेत भी करता है। किसी-किसीको सयोगवश कोई निकाल भी लेते हैं। डाक्टरोंको बुलाया जाता है, वे पानी निकालते हैं, इंजेक्शन देते हैं, मालिश करते हैं। फलत. कोई-कोई जी भी जाता है, नहीं तो अधिकाश मृत्यु हो जाती है। जिसे कोई भी निकाल नहीं पाता, वह तो प्राय: मर ही जाता है। कैसे भी क्यों न हो, बिना मौतके असमयमें शरीर-त्याग करने-वालेको अत्यन्त कष्ट होता है—यह निश्चित तथा प्रत्यक्ष भी है ही। उपर्युक्त दृश्योंको देखकर घरवालोंको तो अपार दु ख होता ही है, दूसरे लोगोंको भी उनका वियोगजन्य दु ख देखकर महान् कष्ट होता है। कोई-कोई तो विवाहित एवं अधिक आयुके होनेपर भी किसी कारणवश आत्महत्या कर लेते हैं एव अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चोंको सदाके लिये महान् संकटमें डाल जाते हैं। वे यह सोचनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं करते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर मेरे माता-पिता आदि तथा मेरे आश्रित स्त्री एव नन्हे-नन्हे बच्चोंकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा, इनका कैसे भरण-पोषण होगा। यह तो इस लोकमे होनेवाले दु खका वर्णन हुआ। परलोकमे तो उन्हें जो कष्ट एव दु ख भोगना पडता है, वह अवर्णनीय है। हमारे प्रात स्मरणीय त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने आत्महत्यारेकी बडी दुर्गति बतायी है।

असमयमें शरीर त्यागनेके कारण प्रथम तो आत्महत्यारे-को कोई भी योनि नहीं मिलती, वह प्रेतयोनिमें भटकता रहता है। उसके बाद शूकर, कूकर, कीट, पतग आदि तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होता है और वह तदनन्तर रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमे गिराया जाता है। नरकोंकी विभिन्न घोर यातनाएँ उसे दी जाती हैं, जिनका वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमे आता है। इस प्रकार असमयमें मरनेकी जो प्रवृत्ति है, वह आसुरी स्वभाव है। आसुरी स्वभाव-वालोंका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक ४ से २१ तकमे किया है, उसे वहाँ देख सकते हैं। उन आसुरी स्वभाववालोंकी जो दुर्गति होती है, वही असमयमे प्राण त्यागनेवालेकी होती है। आसुरी स्वभाव-वालोंकी दुर्गतिका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक १६ में किया है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानी-जन मोहरूप जालमे फँसे हुए एव विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

आगे इसी अध्यायके २० वे श्लोकमे भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

'हे अर्जुन! जन्म-जन्ममे आसुरी योनिको प्राप्त हुए

वे मूढ़ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर उससे भी अतिनीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं।'

इसी आशयका जगह-जगह पुराणोंमें भी वर्णन आता है। शास्त्रोंकी इन सब बातोंपर विश्वास करके इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, भय, अज्ञान, राग-द्वेष आदिके कारण सकटमें नहीं डालना चाहिये।

कितने ही भाई घरके क्लेशके कारण कष्टका अनुभव होनेपर लज्जा, भय और क्रोधके वशीभूत हो घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। दूरदर्शी न होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं; किंतु बाहर निकलनेपर जब सोने, खाने-पीने आदिका महान् कष्ट अनुभव करते हैं, तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हैं। उनके मनमें घर लौट जानेकी बात भी आती है, किंतु इस लज्जाके कारण वे नहीं जा पाते कि लोग उन्हें क्या कहेंगे। इस प्रकार भ्रमित-चित्त हुए त्रिशङ्कुकी-सी मनःस्थितिको लेकर या तो वे किसी वेषधारी दम्भी साधुके फेरमें पड़ जाते हैं या भटकते फिरते हैं। वे सदा चिन्तित रहते हैं एवं भयानक सकटमें पड़ जाते हैं। उनकी प्रत्यक्ष दुर्दशा होती है और उनके वियोगमें उनके घरवाले भी दुखी होते हैं। अतः घर छोड़कर निकल भागना भी महान् मूर्खताका ही द्योतक है। यह भी काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण ही होता है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १६, श्लोक २१ में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं, ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

प्रभु-प्रार्थना

(लेखक—श्रीहरिशंकरजी शर्मा)

तुम्हीं माता-पिता, तुम्हीं बन्धु-सखा, तुम ही बल-वित्त हमारे प्रभो!
तुम्हीं ज्ञानकी खान, प्रधान-महान, तुम्हीं रखवारे-सहारे प्रभो!
बल-बुद्धि प्रदान करो हमको, दुखी-दीनोंके दुःख-दरिद्र हरें,
सत्कर्मके पालनमें रत हों, प्रिय धर्मके हेतु ही जीएँ-मरें।

सब शुद्ध, प्रबुद्ध, समृद्ध रहें, जन-जीवनमें वह भाव भरो,
अघहीन, अदीन, प्रवीण बनें, सुखी, स्वस्थ, शतायु-चिरायु करो,
विपदाएँ पड़ें, बड़े विघ्न पड़ें, मुँह सत्यसे नाथ! न मोड़ें कभी,
मर जायँ अभी, या जिएँ जुग सौ, पर धर्म-सुकर्म न छोड़ें कभी।

सत ज्ञान सुकर्म समन्वित हो, सत साधन संचित ही धन हो,
सुख-शान्तिका स्रोत सभी के लिये शुचि सत्य-अहिंसा का जीवन हो।
निजता-परता भ्रम-भाव मिटें, सन्मित्र समान चरें-विचरें,
सदाचार की सम्पति साथ रहे, तप-त्याग करें, ध्रुव धर्म धरें।

पशुता का प्रदर्शन हो न कभी, निज नाश निमित्त न युद्ध ठनें,
ऋजु रीति-सुनीति, प्रतीति बढ़े, यह विश्व विशाल कुटुम्ब बने।
जग में समता सुख-स्नेह भरें, जग भी हो सदा सुखकारी हमें,
पर-द्रव्यमें लोभ या मोह न हो, प्रिय माता-सी हो परनारी हमें

अपवर्ग या स्वर्ग से भी बढ़ के हो स्वदेश सदा हितकारी हमें,
जिस भूमि ने जीवन-जन्म दिया, जननी वह प्राणों से प्यारी हमें।
कर पालन-पोषण पुष्ट किया, उसका नित गौरव-गान करें,
धन-धाम तो क्या, चरणों में प्रभो! हँसते हुए प्राण प्रदान करें

मानस-माधुरी

[तुलसी-कलाकी एक झलक]

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

सामन्ती व्यवस्थाका पूर्ण प्रस्फुटित काल था, अकबरका; पर हिंदू-शास्त्रके अनुसार राजा होता था प्रजाका प्रतिनिधि और प्रजाके सुख-दुःख उसके अपने थे। उस कालमें गोस्वामी तुलसीदास लोक-हृदयको दिशा देनेवाले कविके रूपमें अवतरित हुए। उन्होंने मानवीयताकी ऐसी पकड़ बतायी कि मद, मोह, लोभ, अहंकार, घृणा, क्रोध तथा तिरस्कारके भाव महामहिमशाली चक्रवर्ती महिपालोंतकके पास न फटकने पायें और वे न केवल अपनी प्रजाके हितू रहें वर उनके अपने सगे बन जायँ। गोस्वामीजीके राज्यमें इन वृत्तियोंकी विशिष्ट छटा देखनेको मिलती है, सुख-दुःखमें जहाँ दोनों वर्गोंका द्वैधभाव इकाईमें बदल जाता है। अपने विषयके लिये हम केवल तुलसीका रामचरितमानस चुनते हैं और उसमें भी अयोध्याकाण्ड।

राजाका प्रथम धर्म है—लोक-हृदयकी लीलाओंकी परख और तब उन लीलाओंको शील, सौजन्य और कला प्रदान करना। पहले लोक-हृदयको संवेदनशील बनाना और तब उस हृदयपर प्रतिष्ठित होना। शासनसूत्रका वास्तविक रूप तो यही है। दूसरा धर्म है अपनी प्रजाके छोटे-बड़े, ऊँच-नीच—सबको पहिचानना और उनके बीच शुद्ध-बुद्ध-सुहृद् आचरण-द्वारा अपनी इकाई स्थापित करना। तीसरा धर्म है—अपने राज्यान्तर्गत वन, पर्वत, नदी, नालों, क्षेत्रों तथा विहारोंको जानना। चौथा धर्म है अपने घरके भीतरका प्रेमाचरण कि घरेलू वातावरणमें उनकी छाप ऐसे छाकर रह जाय कि उनका संयोग ही शुभ प्रतीत हो और वियोग अतीव कष्टकर और अनिष्टकर। इतना ही नहीं, उनके पाले हुए पशु-पक्षी जीव-जन्तु भी उनपर प्राण निछावर करने लगें। पाँचवाँ और मुख्य धर्म है—समग्र वातावरणका परिष्कार कि खल स्वयं उनसे दूर भागें, कुटिलोंका परित्याग कर दें और उनकी रीति-नीतिसे न केवल मानववर्ग अपितु देवगण भी प्रसन्न होने लगें। उनके सदाचरणकी छाप पड़ने लगे जड और चेतनतकपर और सब ओर स्वतः ही शान्ति और सुखका प्रसार होने लग जाय। समस्त लोक (केवल अपना लोक ही नहीं) उनका ऐसा हितू हो जाय कि पग-पगपर उनके कार्योंको अनुमोदन मिलने लगे सब ओरसे। तात्पर्य यह कि राजामें नर और नारायणके गुण समा जायँ और उसके अपने सत्य, शील, शौर्य तथा शक्तिके गुण प्रजावर्गमें अवतरित और वितरित हों।

प्रजा हो उसकी समग्र चेतन लोक और चेतन-लोकमें गणना हो सागर-सरिताकी, वन-उपवनोंकी, स्रोत निर्झरोंकी, हिमखण्डों तथा शिलाखण्डोंकी और लता-गुल्म, तड़ाग एवं वारिधिमालाकी। वसन्त त्रिविध समीर लिये, मेघमाला शीतल छाँह लिये और वृक्षदल फल-फूल लिये सेवामें निरत रहें और संकेतमात्रपर अष्ट सिद्धियाँ और नव निधियाँ प्रस्तुत हो जायँ। राजाका अभिषेक तब हो, जब एक तो प्रजा-मानस-में उसने अपना स्थान बना लिया हो और दूसरा पर्यटन और परिवीक्षणद्वारा जान पहचानकर उसने अपने राज्यकी परिधि बाँध ली हो। तीसरी बात यह कि धरणीका भार उतार देनेके प्रयास उसने किये हों असतोंके मूलोच्छेदनद्वारा। अपनी मान्यताएँ गोस्वामीजी रामके विषयमें हनूमान्‌के मुखसे यों कहलाते हैं—

> जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
> की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

भक्तको अपने देवताके दर्शन हों देशके राजाके रूपमें, भाईके रूपमें, पिता-पुत्र मित्रके रूपमें, वन-वाटिकाके रूपमें, पशु पक्षियों और कोल-भील-किरातोंके रूपमें। इस प्रकारसे लोककी सारी व्यवस्था स्नेह और आनन्द, शौर्य और उत्साह, मङ्गल और कल्याणकी रेशमी डोरियोंसे सध-बँध जाय।

तुलसीके चरित्र-चित्रण तथा घटनाओंके निर्माणमें सांकेतिक भाषाका प्रचुर प्रयोग रहता है। हर बात कहनेके लिये थोड़ी भूमिकाका प्रश्रय आवश्यक है। देश-काल, रीति-नीतिका विचार भी आवश्यक है। प्रसन्नताकी मुद्रामें कठिन कार्य भी सुगम प्रतीत होगा। मनुष्य अपने चारों ओर विचारों और आचरणोंका वातावरण बनाता चलता है। हर समय उसके दो संसार बनते रहते हैं—आन्तरिक अथवा मानसिक (भीतरी विचारोंवाला) तथा बाह्य (जिसमें इन्द्रियोंसमेत वह विचरण और आचरण करता है)। यदि दोनों संसारोंमें साम्य है, सुषमा है, समृद्धि है, तब किये कार्य सब सिद्ध होते हैं। केवल थोड़ी बुद्धि लगानी आवश्यक है। महाराज दशरथ गुरु वसिष्ठके पास जाते हैं रामके युवराज बना देनेकी बात कहनेपर 'सुदिन' और 'सुअवसरु' देखकर और 'मुदित मन' होकर। दशरथ भूमिका बाँधते हैं—

> 'भए राम सब बिधि सब लायक'

तथा—

> सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमारे अरि मित्र उदासी॥
> सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही।

अभी अपने विषयतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि चतुर और ज्ञानी वसिष्ठजी महाराज कहते हैं—

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार॥

अर्थात् हे राजन्! आपने तो स्वयं ही समय विचार कर बात कही है, पूरी होगी ही। गुप्त संकेत राजाके देखिये।

मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥

अर्थात् मेरे जीवनकालमें ही यह कार्य हो जाय। (जैसे भावी राजाके मुखमें बैठी बोल रही हो कि रामको राजा करते ही दशरथ शरीर त्याग देंगे) 'लोग सब'में दूसरा संकेत निहित है 'समग्र प्रजावर्ग'का। 'लोग'का अर्थ है—चेतन समाज, जिसका संकेत ऊपर आ चुका है। अर्थात् संत-महात्मा, कोल-भील, जंगली जीव तथा वनवासी जनता और ग्रामीण समाज आदि। गुरुजी फिर कहते हैं—

सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥

अर्थात् जब यह भाव मनमें उदित हो कि राम राजा हों, तभी सुमङ्गल है। हमारे विचारमें राज्याभिषेक रामका तभी हो गया, जब राजा दशरथको यह आभास मिला कि राम 'अरि, मित्र, उदासी'—सबके प्रिय हो गये। अनुमोदन उस वृत्तिका मिला गुरुके वचनोंद्वारा। यह है आन्तरिक राजतिलक। इसकी व्याख्या आगे की जायगी।

अब देखिये कि उत्साह और आनन्दके आवेशमें भी राजा लोकधर्म नहीं भूलते और प्रत्येक मुख्य कर्म करनेके पूर्व जनताकी अभिरुचि जाननेके लिये उत्सुक रहते हैं। वे कहते हैं कि गुरुकी आज्ञा तो हो चुकी। पर—

जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥

चतुर मन्त्री सबका प्रतिनिधि बनकर बोलता है—

'जग मंगल भल काजु बिचारा।'

राम तो भूतमात्रके प्यारे हैं, तब समस्त संसारका कल्याण होगा। यह बात तो सत्य है कि 'सत्यसंध' राजा दशरथ और उनके परम आज्ञाकारी पुत्र राम, और क्षत्रियोचित रीतिके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है। पर रामराज्यकी तो नीति ही निराली है—प्रेम, विश्वास, आत्मतोष और लोकहितवाली। रामका तो आदर्श ही लोकरञ्जन और लोकरक्षण था। केवल राजतिलक होनेसे कोई राजा नहीं होता। राम तो तभी मानवीय भावनाओंके राजा हो चुके, जब राजा दशरथने उन्हें परख लिया और उनको राजा बना देनेका संकल्प कर लिया। राज्य पाकर ही राम १४ वर्ष-पर्यन्त वनोंमें, मुनियोंमें, भारतके ग्रामोंमें, कोल-भीलों और हिंसक जन्तुओंके बीच विचरे हैं। यदि वे अरण्यमें न जाते तो कैसे जान पाते कि वहाँ नारियोंका अपहरण हो जाता है, कन्द-मूल-फलपर जीवननिर्वाह हो जाता है और पर्णकुटियोंमें रहना होता है तथा कुशाकी चटाइयोंपर सोना पड़ता है। बिना वनमें गये वे महादानव रावण और कुम्भकर्णका कैसे विनाश कर पाते और उनको सागर सुखा सकनेवाले अपने बलकी परीक्षाके अवसर कहाँ मिल पाते। यदि वनवासकी लीलाएँ न होतीं तो लोक कैसे जान पाता कि ऐसे भक्तवत्सल राजाके परम भक्त हनुमान्‌में कितना अपरिमेय बल और बुद्धि-कौशल था और वे सीता-रामके कहाँतक अन्तरङ्ग थे। नीति और सदाचरणके दृष्टान्त कहाँ देखनेको मिलते?

अपना विश्वास कि राम राजा होकर वन गये, हम आगे प्रतिपादित करेंगे। यहाँ समझ लेनेकी बात इतनी है कि जहाँ अंगरेज कवि शेक्सपियरकी कलाकी इतनी विरुदावली गायी जाती है कि वह एक महान् नाटककार था और वाक्-वैचित्र्यमें पटु था, वहाँ तुलसीके केवल एक ग्रन्थ, रामचरितमानसकी कला तो देख ली जाय। कथामें नर-नारायणका निरन्तर समन्वय चलता है, निर्गुण और सगुण उपासनाकी धारा बहती है, भक्ति और नामकी व्याख्या चलती है और रूपक तो रचा जाता है नर-चरित्रका कि राम सीताके लिये वनमें विलाप करते दिखायी देते हैं, हनुमान्‌द्वारा संदेश भेजते हैं और एक रजकके छोटे-से तानेपर जगदम्बा सीताका परित्याग कर देते हैं; पर नरेतर गुण उनमें समय-समयपर स्पष्ट झलक मारते हैं। देवताओंकी बात पूरी करना उनका देवोचित ध्येय है और नर-चरित्रके द्वारा उसे सम्भव कर दिखाना कलाकारकी कला-चातुरी है। आरम्भसे दोहरा नाटक चला देना और अन्ततक उसे निभा देना सामान्य खेल नहीं है कि यह रहस्य भाई लक्ष्मण भी न जान पायें और शिव और हनुमान्‌को भी धोखा हो जाय कि पृथ्वीपर राम अवतरित हो गये। पूर्ण-लिप्त रहते हुए, रामके सम्पूर्ण चरित्र दर्शाते हुए, चाहे जब गोस्वामीजी हाथ झाड़कर अलग खड़े होकर स्वयं लीला देखने लगते हैं और संकेत देते हैं कि यह कथा तो शंकर-भगवान् पार्वतीजीको सुना रहे हैं ("मैं जनताको नहीं सुना रहा")। उधर यह भी दिखा देते हैं कि कथा कहते-कहते शंकरजी पुलकायमान हो जाते हैं। इस प्रकारसे 'रामचरितमानस' कितनी सचेष्ट कृति है।

अब संकेत देखिये कि भवानी और शंकर वास्तवमें कौन हैं। वे हैं श्रद्धा और विश्वासके रूप—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

भगवान् रामचन्द्र क्या हैं? वे हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

सीता क्या हैं ? वे हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

राम वे हैं कि जिनके विशद चरित्र शास्त्र और पुराणोंमें वर्णित हैं और जिनका खेदरहित (संशयरहित) होकर चारों वेदोंने वर्णन किया है। महेशको बताया गया है—'सेवक, स्वामि, सखा सिय पीके' । तुलसीदासजी कहते हैं—

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥'

कौसिल्या कौन हैं ? वे हैं 'दिसिप्राची' । दशरथ कौन हैं ? वे हैं—

' अवध भुआरु, सत्य प्रेम जेहि राम पद ।
बिछुरत दीनदयारु प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥'

जनकको श्रीरामके चरणोंमें 'गूढ सनेहु' था, पर वह स्नेह—

'राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ।'

नामके विषयमें कहा गया है—

'नाम रूप दुइ ईस उपाधी ।'

और—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहि नाम बिहीना॥

पर यह भी कहते हैं—

सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेखें॥

इस भाँतिसे 'अगुन' और 'सगुन' का भेदभाव मिटाकर कह दिया—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

अन्तमें गोस्वामीजी बता देते हैं—

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार ।

राम-नामका स्मरण हितकर बताकर उसे भाँति-भाँतिके रूप-बोधोंसे समझाते हैं और उसका प्रभाव भी बताते हैं। कहते हैं कि राम-नाम—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

'सहस नाम सम'

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

उपर्युक्त दोनों वर्ण 'रा' और 'म' हैं। 'राम-लखन सम'—

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥

'नर नारायन सरिस सुभ्राता'

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥

'कंज मधुकर से'—

'जीहि जसोमति हरि हलधर से'

एकु छत्रु एकु मुकुट मनि सब बरननि पर जोउ ।

और—

'समुझत सरिस नाम अरु नामी ।'

कथाका क्रम ऐसे चलता है कि त्रेता युगमें एक बार शंकरजी कुम्भज ऋषिके पास गये और उनके प्रश्न करनेपर उन्हें शंकरजीने राम-कथा सुनायी। जब शिवजी दक्षकुमारीके साथ वहाँसे लौटे, तब उन्होंने देखा कि गुप्तरूपसे रामावतार हो गया है, किसलिये—

रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥

और शिवजीने ज्ञानद्वारा जान लिया कि रावणने वैदेहीका हरण किया है और —

बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥
कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें॥

अब स्पष्ट कर देते हैं—

सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥

क्योंकि—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जेहि इमि गावहि बेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान ॥

शिवजी उमासे कहते हैं—

हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित ।
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु ॥

वह कथा यह है कि जय और विजय नामक दो द्वारपाल भगवान्के थे। वे ब्राह्मणोंके शापसे राक्षस हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए और पहलेको भगवान्ने नृसिंहरूप धरकर और दूसरेको शूकररूप धरकर मारा। वे ही दोनों दानव महाबली और सुरविजयी रावण और कुम्भकर्ण हुए। उनके कारण एक बार भगवान्ने शरीर धारण किया। जो पूर्वमें कश्यप और अदिति थे, वे ही दशरथ और कौसिल्या हुए। फिर बली दैत्य जलधर उत्पन्न हुआ, जिसकी स्त्रीके पातिव्रत्यके कारण शिबजी भी उससे हार मान गये। तब भगवान्ने—

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह ॥

वही जलन्धर रावण हुआ। रामने मारकर उसे परमपद दिया। एक कल्पमें नारदके शापवश भगवान्को अवतार

लेना पड़ा। फिर स्वायम्भुव मनु और शतरूपाके लिये सुतरूप धारण करना पड़ा। पर चतुर रानी शतरूपाने 'सुतविषयक रति' माँगी थी। वह सब भगवान्‌ने दे दिया और कह गये कि—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

और—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥

एक अवतारका कारण राजा प्रतापभानुकी कथा है, जो ब्रह्मशापसे दस शीश और बीस भुजावाला रावण हुआ, विमाताका पुत्र विभीषण और छोटा भाई कुम्भकर्ण हुआ। उन्हींके चरित्रोंका वर्णन श्रीतुलसीदासने रामचरितमानस-में किया है।

इतनेसे ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तुलसीकी रचना कितनी कलात्मक, रहस्यात्मक और जटिल है। उन्हें भगवान् रामको नरचरित्रमें प्रदर्शित करना था; पर यह जानते हुए कि अशोंसहित वे अवतरित हुए हैं और जिस-जिसको जो वरदान दे चुके हैं, वे उन्हें उसी रूपमें पूरे करने हैं। रहस्य तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, इतना गूढ़ है कि पार्वतीने चक्कर खाया, निरन्तर वनमें साथ रहते हुए लक्ष्मणने पता न पाया, राजा दशरथको पिता होते हुए भी पूरा ज्ञान न हो पाया और अतीव निकटके दास हनुमान् तकको भ्रम हुआ। इतना सब प्रबन्ध रामायणमें तुलसीने बाँधा है और नवधा भक्ति, वेद-शास्त्रकी रीति-नीति, निर्गुण-सगुणके मर्मकी व्याख्या और माया-जीवका सम्बन्ध-वैचित्र्य और प्रसार—सब दर्शाया है। एक मानसिक परिष्कारकी नीति चलती है कि पाठककी मनोवृत्तिका सुधार होता जाय, उसमें रसदशा उत्पन्न हो और व्यवहारकौशल और ज्ञान प्राप्त हो और दूसरा ऊपरी तौरपर कथानक चलता है कि जिसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकारके काव्योंका आनन्द प्राप्त होता रहे। यह काव्य-की पद्धति कितनी ऊँची और सौम्य है! विचार करनेकी बात है कि इसके आगे शेक्सपियर आदिकी कृतियाँ कितनी पिछड़ जाती हैं। भरतकी भक्ति-भावना अलगसे अपना एक आदर्श उपस्थित करती चलती है।

अब उस बातपर आते हैं कि कैसे जाना जाय कि वन जानेके पूर्व ही राम राजा हो गये थे। इसके अनेक स्थलोंपर अनेक प्रकारसे संकेत मिलते हैं। अयोध्यापुरीकी प्रजा तो रामजन्मसे ही रामपर न्योछावर थी। हम जन्मवाली बात ही पहले लेते हैं। जन्म होता है और राम रोते हैं—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँद मगन सकल पुरबासी॥
एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥
एहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

और—

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद॥

राजा होनेवाली बातके सम्बन्धमें राम स्वयं कौसल्या मातासे कहते हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

एक ओर कौसल्या रामसे कहती हैं—

तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

और दूसरी ओर राम लक्ष्मणसे राजाओं-जैसे अधिकार-से कहते हैं—

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सब बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥

और—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

फिर आगे प्रसङ्ग आता है—

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

और—

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी॥

मन्त्री रामसे वनमें कहते हैं—

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥

उधर वनमें वनवासी कोल-किरात रामसे कहते हैं—

अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारें आगमनु राउर कोसलराय॥

तुलसीदासजीसे स्वय कहे विना नहीं रहा गया और उनको भी रामकी राजासे ही उपमा देते बनी। कहते हैं—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

—इत्यादि। राजाकी रीति-नीति तो कार्योंके करने और कर्त्तव्योंके निवाहनेमें ही परखी जाती है। राम किस समय किससे क्या कहते हैं और किस प्रकार आचरण करते हैं, समझनेकी बातें हैं। राम वन जानेको उद्यत हैं, उस समय

पहले तो सीताके तन-मनकी दशा देखिये। जब उनका राज्याभिषेक होता है, तब दोनोंकी क्या दशा होती है—

सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥
राम सीय तनु सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥

और फिर प्रजाके मनके उद्गार सुनिये—

सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यहु ओर निबाहू॥
अस अभिलाषु नगर सब काहू।

दशरथके मनमें रामका क्या स्थान है—

तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥
सुभग बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥

राम सहजभावसे कैकेयीसे कहते हैं—

मन मुसुकाइ भानु कुल भानू। राम सहज आनंद निधानू॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

तथा—

मुनि गन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

कैकेयी स्वयं रामके लिये कहती है—

तुम्ह अपराध जोग नहि ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

रामको कैकेयीके वचन कैसे लगे—

रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाए॥

राम दशरथजीसे कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ, कहि पुलके प्रभु गात॥

समयानुसार थोड़ी-सी बात कहकर राम वहाँकी व्यवस्था समाप्तकर चल दिये और उनकी दशा देखिये—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥

वे कौसल्यासे कहते हैं—

आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥

माताके इशारेपर राम सीताको नीति सिखाते हैं—

राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥

तथा—

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

रामके लिये प्रजाके मनमें क्या स्थान है? इसका अनुमान निम्नाङ्कित पदोंसे लगाइये—

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥

मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ॥

और—

मरमहु नगर सोचु सबु काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥

तथा—

एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी॥
जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचर गन सूखत पानी॥

माता कौसल्या संकेत करती है—

जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥

तथा—

पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥

इतनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोसलपुरवासी राजा रामकी पूर्णरूपेण प्रजा हो चुके थे और राम सबके तन, मन, धन, धाम, शील, विवेक और हृदयके अधिकारी, अधिष्ठाता और राजा हो चुके थे। राजतिलक सारना तो केवल एक प्रथामात्र थी जो शेष रह गयी थी। जब राम वन जाने लगे, तब गुरु वसिष्ठके द्वारपर जा और विप्रोंको बुला पहले उनको परितोषा, फिर याचकोंको दान दिया और सखावृन्दों-को अविरल प्रीति (भक्ति) प्रदान की। दास-दासियोंको गुरुको सौंपा और पुरजनोंको आदेश दिया कि माताओंकी सम्हाल रखें। तब राम गणेश, पार्वती और शंकरकी वन्दना करके चल दिये। पर धीरे-धीरे प्रजा तो उनके साथ हो ली। रामको तब मायाका प्रश्रय लेना पड़ा? एक राजाकी भाँति ही राम मन्त्रीको क्या अनुशासन दे चुके हैं। मन्त्रीके ही मुखसे सुनिये—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

लगता तो यह है कि कोई राजा आज्ञाएँ दे रहा है, एक प्रेम प्रदर्शित करनेवालेको जिसे राज्यमद तुरत हो जायगा और जिसे राजाकी नीतियोंका ज्ञान ही नहीं है। रामने क्या किया था—

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

इस प्रकारसे राम केवल अयोध्याके ही राजा नहीं थे। वे समस्त भारत-भूमिके राजा थे। वह बँधकर केवल राज-

धानी अयोध्यामें ही कैसे रह सकते थे। उन्हें तो वाली-सुग्रीवका निबटारा करना था, रावण-विभीषणका न्याय करना था, अंगदको सखा और दास बनाना था, शबरी, गीध और अहल्या तथा निषादराजका कल्याण करना था। मुनियों और ग्रामवासियोंको अपने दर्शन और भक्ति देनी थी। इसीका तो सकेत है—

'नव गयदु रघुबीर मन राज अलान समान ।'

भरतजी सेना, प्रजा, गुरु, महर्षियों तथा माताओंको लेकर उस एकछत्र राजाका तिलक सारने चले थे, यह जानते हुए कि 'राजा राम अवध रजधानी'। रामके तर्क और राजनीतिका फिर पूर्ण प्रस्फुटन और परिपाक चित्रकूटमें हुआ है, जब सकल समाजसहित भरत उनसे मिले हैं और उन्होंने अपने श्वशुर जनकजीका स्वागत-सत्कार किया है तथा उपदेश और प्रवचनोंद्वारा उन्हें मन्त्र-मुग्ध किया है। ये सब कैसी अनोखी और कलात्मक बातें हैं। स्थानाभावके कारण लेखका कलेवर नहीं बढाना चाहिये; नहीं तो श्रीरामके सुन्दर चरित्र-की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र)

सप्रेम राम-राम। आपका पत्र मिला। आपने अपने योग्य खास-खास बातें लिखवाकर भिजवानेके लिये लिखा सो ठीक है। नीचे खास-खास बातें लिखी जाती हैं। यदि हो सके तो उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१—भगवान्‌के नामका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभाव और गुप्तरूपसे मनसे स्मरण करना चाहिये। यदि मनसे स्मरण न हो सके तो श्वासद्वारा या वाणीद्वारा करना चाहिये।

२—भगवान्‌के सगुण और निर्गुण अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान विश्वास और प्रेमपूर्वक करना चाहिये। स्वरूपका ध्यान करते समय उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य रहना चाहिये।

३—मनसे भगवान्‌के समर्पण होकर वे करायें, वैसे ही हँसते-हँसते करना और उनके प्रेममें मग्न हो जाना चाहिये। जब यह स्थिति हो जाती है, तब परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर तुरत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

४—महापुरुषोंका सङ्ग श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये। श्रद्धाकी कसौटी यह है कि उनकी आज्ञाके अनसार बाजीगरके बंदरकी भाँति नाचा जाय। इससे भी बढकर बात यह है कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति उनके सकेतानुसार चला जाय। उससे भी बढ़कर यह है कि हम सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह उनके संकेतपर नाचते रहें। आनन्द और उत्साह साथमें रहना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका सङ्ग करना। सत्सङ्गके अभावमें गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंका या महापुरुषों-के लेख-पत्रादिको पढ़ना तथा उनका अर्थ और भाव समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना।

६—ज्ञान, आचरण, पद, गुण और अवस्थामें या और भी किसी प्रकारसे जो श्रेष्ठ हों, उनके चरणोंमें प्रतिदिन नमस्कार करना तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी यथायोग्य सेवा करना।

७—दुखी, अनाथ और आपत्तिग्रस्त लोगोंके दु:ख-निवारणके लिये यथाशक्ति तन, मन, धन और जनसे उनका हित करना।

८—ससार और शरीरको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दु:खरूप समझकर अभ्यास और वैराग्यद्वारा मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना।

जबतक शरीर है, तबतक ऊपर लिखी हुई बातोंको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६–यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए–सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७–बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८–घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९–स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०–इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११–सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३–सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्री पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४–जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५–सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६–सूचना भेजनेका पता–'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक 'कल्याण', गोरखपुर

नोट—इस सम्बन्धमें पत्र-व्यवहार करते समय कृपया अपनी सदस्य-संख्या अवश्य लिखें।

राम-श्यामका खेल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
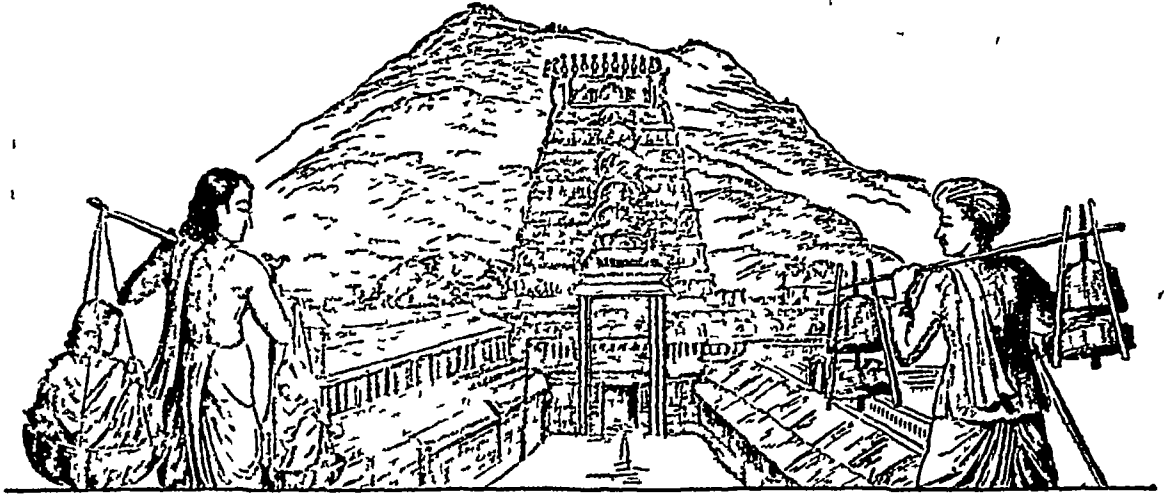
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१४, नवम्बर १९५७ { संख्या ११ पूर्ण संख्या ३७२

बलराम-कन्हैयाकी बाल-क्रीडा

मनिमय आँगन नंद के खेलत दोउ भैया ।
गौर स्याम जोरी बनी, बलराम कन्हैया ॥
लटकति ललित लटूरियाँ, मसि बिंदु, गोरोचन ।
हरि नख उर अति राजहीं संतनि दुख मोचन ॥
सँग सँग जसुमति रोहिनी, हितकारिनि मैया ।
चुटकी देहिं नचावहीं, सुत जानि नन्हैया ॥
नील पीत पट ओढ़नी, देखत जिय भावै ।
बाल बिनोद अनंद सौं सूरज जन गावै ॥

याद रक्खो—शराबकी दूकानसे शराब मिलेगी और मेवेकी दूकानसे मेवा, क्योंकि वहाँ वही चीज है। इसी प्रकार जिसके पास जो कुछ होगा, उससे वही मिलेगा। अत. जिसके मनमें भोग-वासना भरी है, जिसका जीवन भोगोंमें रचा-पचा है, उसके सङ्गसे भोगवासना तथा भोगासक्ति ही प्राप्त होगी। इसलिये भोगवासनावालोंका सङ्ग कभी मत करो।

याद रक्खो—भोगवासना और भोगासक्तिके कारण ही जीव रात-दिन भोग प्राप्त करने तथा उन्हें भोगनेकी अतृप्त इच्छा तथा क्रियामें लगा रहता है, भोगसे 'भोगमें सुख है' यह भ्रान्ति बढ़ती रहती है और भोगसुखके लिये ही अतृप्त भोगवासनाको लेकर जीव बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पडा रहता है।

याद रक्खो—भोगवासना तथा भोगासक्ति भोगमें सुख बतलानेवाले सङ्गसे बढ़ती रहती हैं। अत. भोगमें सुख बतलानेवाले सारे सङ्गको तुरत छोड दो, भोगसुखकी महत्ता बतलाकर उनका प्रतिपादन करनेवाले साहित्यको मत पढ़ो, भोगकी महत्ताके सूचक व्याख्यानोंको मत सुनो और भोग-महत्तावादी जनसमूहका सङ्ग मत करो।

याद रक्खो—नाटक, सिनेमा, उपन्यास, कहानी, समाचार-पत्र, मासिकपत्र, चित्र, सगीत, नाट्य, समारोह—जिनमें भोगवासना और भोगासक्ति बढ़ानेवाली सभी बातें रहती हों, जो पहले मीठी-मीठी लगती हैं परतु अन्तमें जहरका काम करती हैं, उनको बिल्कुल छोड दो।

याद रक्खो—विरक्त जीवन बितानेवाला अच्छा मनुष्य भी भोगोंके तथा भोगियोंके सङ्गसे भोगासक्त हो जाता है। जहाँ मनुष्यमें इन्द्रिय-तृप्तिके लिये भोगवासना जाग उठती है, वहीं, वह चाहे साधु हो या महात्मा, त्यागी हो या वैरागी, नेता हो या अगुआ, उच्च राज्याधिकारी हो या साधारण जन, सेवक हो या स्वामी, गृहस्थ हो या वनवासी, उपदेशक हो या श्रोता, गुरु हो या शिष्य, पुरुष हो या स्त्री—उसके पतनका स्रोत खुल जाता है, जो उसको बहा ले जाकर पतनके गहरे गड्ढेमें गिरा देता है, उसकी सारी साधनाकी विशाल अट्टालिका क्षणोंमे चकनाचूर हो जाती है। अतएव तुम कुछ भी हो, भोगवासना जगानेवाले प्रत्येक सङ्गका तुरत विषवत् त्याग करो।

याद रक्खो—जो भोग तथा भोगियोंके सङ्गमें रहकर भी भोगोंसे छूटकर वैराग्यवान्, भक्त या ज्ञानी होना चाहता है, वह मूर्ख है, अपने आपको धोखा देता है। अथवा वह दम्भी ठग है, जो अपनी वासनापूर्तिके लिये ऐसा विचार करता है।

याद रक्खो—वह तो अत्यन्त ही मूर्ख, पामर और दयाका पात्र है, जो भोग तथा भोगियोंके सङ्गमें रहकर, उनमें रस लेता हुआ ही अपनेको निर्लेप सत, ज्ञानी या भक्त मानता है। अतएव यदि यथार्थ आत्मज्ञान या भगवत्प्रेम चाहते हो तो भोग, भोगी, भोगोंमें सुख बतलानेवाले और भोगोंकी महत्ताका प्रचार-प्रसार करनेवाले सम्पूर्ण पदार्थों और प्राणियोंका सङ्ग सर्वथा छोड दो।

याद रक्खो—सच्चा भक्त या ज्ञानी वही है, जो भोग तथा भोगवासनाका समूल त्याग कर चुका है तथा जो भोग तथा भोगियोंका सङ्ग त्यागकर निरन्तर भगवान्‌के निर्मल सङ्गमें अथवा विशुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित रहता है।

याद रक्खो—कभी-कभी भोगासक्ति और भोगवासना पवित्र ज्ञान और प्रेमकी आड़में ही अपनेको चरितार्थ करना चाहती हैं। अतः सदा सावधानीके साथ अपने जीवनको भोग-ससर्गसे बचाये रक्खो।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[भाग ३१, सं० १०, पृष्ठ १२७९ से आगे]

छठा अध्याय

'कर्मयोग' और 'सांख्ययोग'—इन दोनोंमें उपयोगी होनेके कारण इस छठे अध्यायमें ध्यानयोगका वर्णन किया गया है। ध्यानयोगमें शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका, जिन्हें 'आत्मा' कहते हैं, संयम करना परम आवश्यक है। इस अध्यायमें इन्हींके संयमका वर्णन है। इसलिये इसका नाम 'आत्मसंयम-योग' रखा गया है।

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है। केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है। जिसको संन्यास कहते हैं, वही योग है, क्योंकि संकल्पोंके त्यागसे ही मनुष्य संन्यासी होता है, कर्मोंका स्वरूपत त्याग करनेसे नहीं। संकल्पोंका त्याग न करनेपर तो कोई पुरुष योगी भी नहीं हो सकता, क्योंकि योगकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुके लिये निष्कामभावसे कर्म करना ही साधन बतलाया है और योगारूढ होनेपर उसका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है, वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है। इसलिये मनुष्यको योगारूढ बनना चाहिये। जिस कालमें मनुष्य इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, उस कालमें वह सर्वसंकल्पोंका त्यागी योगारूढ़ समझा जाता है। अतएव योगारूढ बननेके लिये मनुष्यको उत्तरोत्तर अपने आत्माकी उन्नति करनी चाहिये, जिससे आत्माका पतन हो, ऐसा काम कभी नहीं करना चाहिये।

'मनुष्य आप ही तो अपना बन्धु है और आप ही अपना वैरी है। जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, वह आप ही अपना मित्र है और जिसने अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया, वह आप ही अपना शत्रु है, क्योंकि उसके मन-इन्द्रिय शत्रुका-सा काम करते हैं। मन और इन्द्रियोंको जीतनेपर ही मन विक्षेपरहित होता है और अच्छी प्रकारसे उसकी परमात्मामें स्थिति हो जाती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमानमें समभाव हो जाता है। सोना, पत्थर और मिट्टीमें भी समभाव हो जाता है। ऐसे ज्ञान विज्ञानमें तृप्त, जितेन्द्रिय, निश्चल योगीको ही भगवत्प्राप्त पुरुष कहा जाता है। उस पुरुषका सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समभाव होता है। अतः ऐसा ज्ञानी महात्मा बननेके लिये मनुष्यको उचित है कि मन, इन्द्रिय और शरीर-को जीतकर वासना और संग्रहसे रहित हो एकान्त स्थानमें अकेला स्थित हुआ निरन्तर आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाये।

कैसे स्थानमें और कैसे लगावे? इसके लिये कहते हैं—'प्रथम एकान्त और पवित्र स्थानमें बैठनेके लिये पाटा या चौकी, जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो, स्थिर स्थापित करके उसपर कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछाये। फिर उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

'उसकी विधि इस प्रकार है—काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल भावसे धारण किये रहे तथा स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये, अन्य दिशाओंकी ओर न देखे। ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित, विक्षेप और भयसे रहित सावधान पुरुष मनको वशमें करके भगवान्की शरण होकर मनको भगवान्में लगाये। इस प्रकार मनको निरन्तर परमात्मा-के स्वरूपमें लगाते रहनेवाला योगी भगवान्में स्थितिरूप परम शान्तिको प्राप्त होता है। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान करनेवाले योगीको उचित आहार-विहार करना चाहिये, क्योंकि जो अधिक भोजन करता है या बिल्कुल भोजन नहीं करता तथा अधिक सोता है या बिल्कुल नहीं सोता, उसका ध्यानयोग सिद्ध नहीं होता। यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य (उचित) आहार, विहार—कर्मोंके लिये चेष्टा और शयन-जागरण करनेसे ही सिद्ध होता है। उपर्युक्त रूपसे ध्यानयोगका अभ्यास करते-करते जब अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें भली-भाँति स्थित हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण भोगोंकी स्पृहासे रहित हुआ पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। उस ध्यानयोगीका चित्त जब वशमें हो जाता है, तब वह उसी प्रकार स्थिर हो जाता है जैसे कि वायुरहित स्थानमें दीपककी शिखा। जिस अवस्थामें योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त संसारसे उपरत हो जाता

है, जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करके पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें स्थित हुआ संतुष्ट रहता है, जिस अवस्थामें वह इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य अनन्त आनन्दका अनुभव करता है और परमात्माके स्वरूपसे विचलित नहीं होता तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता एवं परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ वह योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता, उस दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित परमात्माकी प्राप्तिरूप योगको जानना चाहिये तथा उद्वेग या उकताहटसे रहित धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तके द्वारा तत्परतासे निश्चयपूर्वक उसका साधन करना चाहिये ।'

अब उस योगयुक्त स्थितिकी प्राप्तिके लिये अभेदरूपसे परमात्माके ध्यानयोगका साधन करनेकी रीति बतलाते हैं । 'मनुष्यको उचित है कि संकल्पसे उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओंका भलीभाँति त्याग करे तथा मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे वशमें करे । इस प्रकार क्रमशः अभ्यास करता हुआ संसारसे उपरत हो जाय तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे । यदि यह मन चञ्चलताके कारण विचलित हो तो जिन जिन सांसारिक पदार्थोंमें जाय, उन-उनकी ओरसे उसे रोककर बारबार परमात्मामें ही लगाये । इस प्रकार अभ्यास करते करते जिसका मन भली भाँति शान्त हो गया है, वह रजोगुण और पापसे रहित तथा सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हुआ योगी अति उत्तम आनन्दको प्राप्त होता है । इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ वह निष्पाप योगी सुखपूर्वक ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करता है ।

'उपर्युक्त प्रकारसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको व्यवहारकालमें इस प्रकार साधन करना चाहिये । सच्चिदानन्द ब्रह्ममें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित हुआ ही स्वप्नके दृश्यवर्गमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी भाँति सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें एक अद्वितीय आत्माको ही अधिष्ठानरूपसे परिपूर्ण देखे तथा जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर अपनेमें स्थित देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंको अपने अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधारपर उसमें कल्पित देखे ।'

अब भक्तियोगका साधन करनेवाले योगीकी अन्तिम स्थितिका और उसके सर्वत्र भगवद्दर्शनका वर्णन करते हैं । 'जो सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मारूपसे स्थित मुझ वासुदेवको ही सर्वत्र व्यापक देखता है और सम्पूर्ण जड-चेतन जगत्‌को मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसकी दृष्टिसे मैं कभी ओझल नहीं होता और वह भी मेरी दृष्टिसे कभी ओझल नहीं होता । वह पुरुष मुझमें एकीभावसे स्थित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मारूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, अतः उसकी दृष्टिमें एक मेरे सिवा और कुछ नहीं रहता । इसलिये वह योगी सब प्रकारसे चेष्टा करता हुआ भी मुझ भगवान्‌से ही चेष्टा करता है ।'

अब सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके समदर्शनके महत्त्वका प्रतिपादन करते हैं । 'जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपने आत्माको समभावसे स्थित देखता है, वैसे ही जो योगी सम्पूर्ण चराचर संसारमें अपने आपको समभावसे स्थित देखता है तथा सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

इसपर अर्जुनने पूछा—'मधुसूदन ! जो यह योग आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेके कारण मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता; क्योंकि यह मन अति चञ्चल, प्रमथनशील, बड़ा दृढ और बलवान् है । इसलिये इसको वशमें करना मैं वायुको रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ।'

इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—'मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, इसमें कोई संशय नहीं; किंतु अभ्यास और वैराग्यसे इसको वशमें किया जा सकता है । परमात्मामें स्थितिके लिये बारबार जप और ध्यान करना 'अभ्यास' है तथा इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्ति और कामनाओंका पूर्णतया नाश हो जाना 'वैराग्य' है । मनको वशमें किये बिना योगका सिद्ध होना कठिन है । किंतु मनको वशमें करके परमानन्दकी प्राप्तिके लिये साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्तिरूप योग सहजमें ही सिद्ध हो सकता है ।'

इसपर अर्जुनने पुनः पूछा—'श्रीकृष्ण ! चित्त वशमें न होनेके कारण जिसको योगकी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, और

मरनेके समय ध्यानयोगसे चित्त विचलित हो गया, ऐसे श्रद्धालु साधककी मरनेके बाद क्या गति होती है ? वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि और सांसारिक भोग दोनोंसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? मेरे इस संशयका आप छेदन करें ।'

तब भगवान्‌ने अर्जुनको सान्त्वना देते हुए कहा—'अर्जुन ! आत्मोद्धारके लिये कर्म करनेवाले पुरुषका इस लोक या परलोकमें कहीं भी पतन नहीं होता, उत्थान ही होता है । इसलिये वह नरक या तिर्यक्-योनिमें नहीं जाता । वह दूसरे जन्ममें साधन करके अपना कल्याण कर लेता है । वह योग-भ्रष्ट पुरुष मरनेके बाद स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त कर उनमें बहुत वर्षोंतक सुख-भोग करता है, फिर पवित्र गुण और आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है । अथवा वैराग्यवान् पुरुष तो स्वर्गमें न जाकर सीधा ही ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकारका जन्म संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है । उस योगिकुलमें उत्पन्न हुआ वह पुरुष उस पहले शरीरमें साधन किये हुए समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त करके भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पुनः प्रयत्न करता है तथा श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेनेवाला भी यदि विषय-भोगोंके वशमें पड़ गया होता है तो वह भी ध्यानयोगकी ओर आकर्षित हो जाता है । वह योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें समबुद्धिरूप योगका इच्छुक होनेके साथ ही पूर्वकृत अभ्यासके बलसे वेदोक्त सकाम कर्मके फलको लाँघ जाता है । जब इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परम गतिको प्राप्त हो जाता है, तब फिर अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ अतिशय प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी सम्पूर्ण पापोंसे शुद्ध होकर उस साधनके प्रभावसे परम गतिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ! इसलिये उपर्युक्त योगी सकाम-भावसे तपस्या और कर्म करनेवालोंसे श्रेष्ठ है एवं शास्त्र-ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ है । यहाँ भगवत्प्राप्तिके साधनोंका नाम योग है । अतः जो मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर श्रद्धापूर्वक भजता है, वह भक्त कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग—आदि योगका साधन करनेवाले सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ है ।'

सातवाँ अध्याय

परमात्माके निर्गुण निराकार स्वरूपके तत्त्व, रहस्य और माहात्म्यको अच्छी तरह जान लेनेका नाम 'ज्ञान' और सगुण निराकार एवं साकार स्वरूपके तत्त्व, रहस्य, महत्त्व, गुण, प्रभाव और लीला आदिके पूर्ण ज्ञानका नाम 'विज्ञान' है । इन ज्ञान और विज्ञानके सहित भगवान्‌के स्वरूपको जानना ही समग्र भगवान्‌को जानना है । इस अध्यायमें इसी समग्र भगवान्‌के स्वरूपका, उसके जाननेवाले अधिकारियोंका और साधनोंका वर्णन है—इसीलिये इस अध्यायका नाम 'ज्ञान-विज्ञानयोग' रक्खा गया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान-विज्ञानसहित अपने समग्र रूपके कथनकी प्रतिज्ञा करते हुए अर्जुनसे कहते हैं—'अर्जुन ! अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त और मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू मेरे समग्र रूपको जिस प्रकार जानेगा, उसको सुन । मैं तेरे लिये रहस्यसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतासे कहूँगा, जिसको जानकर फिर संसारमें और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता । हजारों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य ही मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मुझको तत्त्वसे जानता है ।

'संसारमें दो प्रकारकी प्रकृति है—एक अपरा और दूसरी परा । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली अपरा (जड) प्रकृति है । इससे दूसरी जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति है, जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है । सम्पूर्ण प्राणी इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न हुए हैं और मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयरूप मूल कारण हूँ । अतः मुझसे भिन्न किंचिन्मात्र भी कोई दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ।'

इसके बाद भगवान्‌ने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यहाँ बतलाया जाता है—

भगवान् जिस प्रकार कारणरूपसे व्यापक हैं—इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये । वे ही जलमें रस, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश, वेदोंमें ॐकार, आकाशमें शब्द, पुरुषोंमें पुरुषत्व, पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवन और तपस्वियोंमें तपरूपसे परिपूर्ण हैं । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके सनातन कारण हैं । बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज भी वे ही हैं । वे ही बलवानोंका आसक्ति और कामनासे रहित बल तथा सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल काम हैं । अधिक क्या कहें, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण-

से उत्पन्न होनेवाले सब भाव भगवान्से ही उत्पन्न होते हैं। वास्तवमें तो उनमे भगवान् और भगवान्में वे हैं—यह भी कहना नहीं बनता, क्योंकि भगवान्के सिवा कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। किंतु गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस भावोंसे सारा संसार मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनो गुणोंसे अतीत उस अविनाशी परमात्माको नहीं जानता। भगवान्की यह त्रिगुणमयी माया बड़ी ही दुस्तर है, परतु जो मनुष्य केवल भगवान्को ही निरन्तर भजते हैं अर्थात् सब प्रकारसे उनके शरण हो जाते हैं, वे इस मायाका उल्लङ्घन कर जाते हैं यानी ससार-सागरसे तर जाते हैं। ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे मनुष्योंमें अधम, दूषित कर्म करनेवाले, आसुरी स्वभावको धारण करनेवाले मूढ़ लोग भगवान्को नहीं भजते। केवल उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (निष्कामी)—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन भगवान्को भजते हैं। उनमें भी भगवान्में एकीभावसे नित्य स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि भगवान्को तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं और ज्ञानी भगवान्को अत्यन्त प्रिय है। यद्यपि ये सभी उदार (उत्तम) हैं, तथापि ज्ञानी तो साक्षात् भगवान्का स्वरूप ही है, क्योंकि वह ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप भगवान्में ही नित्य स्थित है। बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार भगवान्के स्वरूपका अनुभव करता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

अब सकाम उपासनाके सम्बन्धमें बतलाया जाता है—विषयासक्त पुरुष अपने स्वभावसे प्रेरित हो भोगोंकी कामनाके द्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट होकर अन्य देवताओंको भजते हैं। जो उपासक जिस जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस उपासककी श्रद्धाको भगवान् उसी देवताके प्रति स्थिर कर देते हैं। वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त हो उस देवताका पूजन करता है और भगवान्के द्वारा ही विहित—निर्धारित किये हुए इच्छित भोगोंको प्राप्त करता है, परतु उन अल्पबुद्धि पुरुषोंको जो फल मिलता है, वह नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और भगवान्के भक्त भगवान्को ही प्राप्त होते हैं। बुद्धिहीन मनुष्य इस अत्युत्तम परम भावको तत्त्वतः नहीं जानते कि 'भगवान् अजन्मा और अविनाशी होते हुए भी अपनी मायासे प्रकट होते हैं।' जो वास्तवमें मन और इन्द्रियोंसे परे अव्यक्तस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं, उनको वे मनुष्यकी भाँति जन्म लेकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं, क्योंकि भगवान् अपनी योगमायासे छिपे रहते हैं, सबको प्रत्यक्ष नहीं दीखते, इसलिये अज्ञानी मनुष्य जन्मरहित अविनाशी परमात्माको तत्त्वतः नहीं जानते। भगवान् तो पूर्वमे व्यतीत हुए, वर्तमानमे स्थित तथा आगे होनेवाले सभी प्राणियोंको भलीभाँति जानते हैं, पर भगवान्को कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता, क्योंकि ससारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं। उनमें निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेष आदि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए दृढ निश्चयवाले भक्त ही सब प्रकारसे भगवान्को भजते हैं। जो भगवान्के शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हैं, वे भक्त उस ब्रह्मको एव सम्पूर्ण अध्यात्म और कर्मोंको भी जान लेते हैं। जो अन्तकालमे भी भगवान्को इस प्रकार जान लेते हैं कि जैसे भाप, बादल, कुहरा, पानी और बर्फ—ये सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है, वे युक्तचित्तवाले पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होते हैं।

आठवाँ अध्याय

'अक्षर' और 'ब्रह्म' दोनों शब्द भगवान्के सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपोंके वाचक हैं तथा भगवान्का नाम जो 'ॐ' है, उसे भी 'अक्षर' और 'ब्रह्म' कहते हैं। इस अध्यायमें भगवान्के सगुण-निर्गुण रूपका और ॐ-कारका वर्णन है, इसलिये इसका नाम 'अक्षरब्रह्मयोग' रखा गया है।

सातवें अध्यायके अन्तमें कहे हुए वचनोंको न समझनेके कारण अर्जुनने पूछा—'भगवन्! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? और अधिभूत तथा अधिदैव नामोंसे क्या कहा गया है? यहाँ अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं?'

इसपर भगवान्ने यह उत्तर दिया कि जिसका कभी नाश नहीं होता, ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो ब्रह्म है। जीवात्मा अध्यात्म है। भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला शास्त्रविहित यज्ञादिके निमित्त द्रव्यादिका त्याग 'कर्म' है।

उत्पत्ति-विनाशरूप धर्मवाले सम्पूर्ण पदार्थ अधिभूत हैं। हिरण्मय पुरुष अधिदैव है तथा इस शरीरमें भगवान् वासुदेव ही व्यापकरूपसे अधियज्ञ हैं। इसलिये जो पुरुष अन्तकालमें भगवान्का ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह भगवान्के स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है। यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, सदा उस भावसे भावित हुआ उस-उसको ही प्राप्त हो जाता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि सब समय निरन्तर भगवान्का ही स्मरण करता हुआ कर्म करे। इस प्रकार भगवान्में ही अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त मनुष्य निस्संदेह भगवान्को ही प्राप्त होता है।

अब सगुण-निराकारकी प्राप्तिका साधन बतलाया जाता है। परमात्माके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है। अब दिव्य पुरुष परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए अन्तकालमें साधक किस प्रकार उनको प्राप्त होता है—यह बताया जाता है। जो मनुष्य उस सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तकालमें योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको स्थापित करके फिर निश्चल मनसे परमात्माका स्मरण करता हुआ उस दिव्य-स्वरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।

अब निर्गुण-निराकारकी प्राप्तिका साधन बतलाया जाता है। वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघन परमपद-को अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उसी परमपदका भगवान् वहाँ संक्षेपसे वर्णन करते हैं। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर मनको हृदयमें स्थिर करके योग-धारणामें स्थित हो अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापित करके 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण और परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करता हुआ जो साधक शरीरको त्याग कर जाता है, वह परमगति (परमपद) को प्राप्त होता है।

अब सगुण-साकार और निराकारके चिन्तनके विषयमें बतलाया जाता है। जो मनुष्य भगवान्में अनन्यचित्तसे स्थित हुआ नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर भगवान्में लगे हुए योगी भक्तको भगवान् सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। जिनको भगवान् प्राप्त हो जाते हैं, वे महात्माजन दुःखके घररूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते। ब्रह्मलोकतक गये हुए ही प्राणी पुनः संसारमें आते हैं। इसलिये जो भगवान्को प्राप्त हो गये, उनका फिर इस संसारमें जन्म नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मलोक-की अवधि एक नियत कालतककी ही है, इसलिये वह अनित्य है, परंतु भगवान् अनादि और नित्य हैं।

अब ब्रह्माके दिन-रातका परिमाण बतलाते हुए सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयका विषय आरम्भ किया जाता है। ब्रह्माका जो एक दिन है, उसकी अवधि एक हजार चतुर्युगीतककी है और उनकी रात्रिकी अवधि भी एक हजार चतुर्युगी-तककी ही बतायी गयी है। जो पुरुष इसे तत्त्वसे जानते हैं, वे कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लीन हो जाते हैं। वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ विलीन होता रहता है। इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेपर ब्रह्मा भी अपने लोकसहित विलीन हो जाते हैं। परंतु उस अव्यक्त (ब्रह्मा) से भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सच्चिदानन्द परमात्मा सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता। जिसको अव्यक्त, अक्षर कहा गया है, उसीको परम गति कहते हैं। जिसको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वही भगवान्का परम धाम है। उपर्युक्त जिस परमात्माके अन्तर्गत सब भूतप्राणी हैं और जिससे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होता है।

अब मरनेके बाद जीवकी उन दो गतियोंका विषय आरम्भ किया जाता है जहाँसे वह लौटकर आता है। और नहीं आता। जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन लौटकर आते हैं और नहीं आते हैं उस काल (मार्ग) को कहा जाता है। जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि, दिन, शुक्ल-पक्ष और उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी (इन नामों-

वाले) देवता हैं, उस मार्गमें मरकर गये हुए परमात्माको परोक्षभावसे जाननेवाले योगीजन उपर्युक्त देवताओंके द्वारा क्रमसे ले जाये जाकर सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। किंतु जिस मार्गमें धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन-के छः महीनोंके अभिमानी (इन नामोंवाले) देवता हैं, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम योगी उपर्युक्त देवताओं-द्वारा क्रमशः ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त हो स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। क्योंकि जगत्के शुक्ल और कृष्ण अर्थात् ज्ञानके प्रकाशमें युक्त और अज्ञानान्धकारसे पूर्ण (देवयान और पितृयान) —ये दो प्रकारके मार्ग सनातन माने गये हैं। इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता (कामनाओंमें नहीं फँसता)। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावसे ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करना चाहिये, क्योंकि निष्काम भावसे साधन करनेवाला इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढनेमें और यज्ञ, तप, दान आदिके करनेमें जो पुण्यफल कहा गया है, उस सबको लाँघकर सनातन परम पदको प्राप्त हो जाता है।

नवाँ अध्याय

इस अध्यायमें भगवान्ने जो उपदेश दिया है, उसको उन्होंने सम्पूर्ण विद्याओंका और समस्त गुप्त रखने योग्य भावोंका राजा बतलाया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'राजविद्या-राजगुह्ययोग' रखा गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने उस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको दोष-दृष्टिरहित भक्त अर्जुनके प्रति पुनः भलीभाँति बतलाते हैं, जिसको जानकर मनुष्य दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जाता है। यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका और सब गुप्त रखने योग्य भावोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है, किंतु विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानरूप इस धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष परमात्माको न प्राप्त होकर अर्थात् मनुष्यमात्रके लिये जो परमात्माकी प्राप्तिका स्वतःसिद्ध अधिकार था, उसे न प्राप्त होकर जन्म-मृत्युरूप संसारमार्गमें भ्रमण करते रहते हैं।

अब परमात्माके निराकार स्वरूपका तत्त्व-रहस्य बताया जाता है। सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और समस्त भूतप्राणी उस परमात्माके अन्तर्गत संकल्पके आधारपर स्थित हैं; किंतु वास्तवमें न तो परमात्मा इनमें स्थित हैं और न परमात्मामें ही ये स्थित हैं, क्योंकि भगवान् अपनी योगमायाके प्रभावसे प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाले और उनको उत्पन्न करनेवाले होते हुए भी वास्तवमें उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हैं। जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही परमात्माके संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूतप्राणी परमात्मामें स्थित हैं, यों समझना चाहिये।

अब सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयका हेतु बतलाते हैं। कल्पके अन्तमें सब प्राणी भगवान्की प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पके आदिमें उनको भगवान् फिर रचते हैं। स्वभावके परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणियोंके समुदायको भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके बार-बार उनके कर्मानुसार रचते हैं; किंतु उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित रहनेवाले उस परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते। अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान्के सांनिध्यसे भगवान्की प्रकृति इस चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को रचती है और इस हेतुसे यह सारा संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है।

अब भगवान्के प्रभावको न जाननेवाले असुरप्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा करते हैं। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरके इस परम भावको न जाननेवाले आसुरी सम्पदायुक्त मूढलोग मनुष्यका शरीर धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरनेवाले भगवान्को वे साधारण मनुष्य मानते हैं। ऐसे लोगोंकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान व्यर्थ हैं; क्योंकि वे विक्षिप्तचित्त मनुष्य राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं।

अब दैवी सम्पदायुक्त भगवद्भक्तोंकी भक्तिका प्रकार बतलाते हैं। दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन तो भगवान्को समस्त भूतोंके सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जान-कर उनको अनन्य मनसे निरन्तर भजते हैं। वे दृढव्रतधारी यत्नशील भक्तजन भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा बारबार भगवान्को प्रणाम करते हुए सदा भगवान्के ध्यानमें युक्त हो अनन्य भक्तिसे भगवान्को निरन्तर भजते हैं। उनमें कोई तो उस परमात्माकी ज्ञानयज्ञके द्वारा अभेद भावसे अर्थात् 'सब कुछ वासुदेव ही है', इस भावसे उपासना करते हैं और दूसरे बहुत प्रकारसे स्थित भगवान्के विराट्स्वरूपकी भेद-भावसे (स्वामी-सेवकभावसे) उपासना करते हैं।

अब भगवान्‌के प्रभावसहित सर्वरूपका वर्णन किया जाता है। सब कुछ भगवान् ही हैं। इसलिये किसी भी स्वरूपकी भगवद्भावसे उपासना की जाय, वह भगवान्‌की ही उपासना है; क्योंकि श्रौत कर्म, पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म, पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न (स्वधा), सारी वनस्पतियाँ, मन्त्र, घृत, अग्नि और हवनरूप क्रिया भी भगवान् ही हैं। इस सम्पूर्ण जगत्‌के माता, पिता, धारण-पोषण करनेवाले, पितामह, जानने योग्य, पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद—सब भगवान् ही हैं। प्राप्त होने योग्य परम गति, भरण-पोषण करनेवाले, सबके स्वामी, शुभाशुभको देखनेवाले, सबके वासस्थान, शरण लेने योग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाले, सबकी उत्पत्ति-प्रलयके हेतु, सबकी स्थितिके आधार, निधान और अविनाशी कारण भी भगवान् ही हैं तथा भगवान् ही सूर्यरूपसे तपनेवाले और वर्षाका आकर्षण करने तथा बरसानेवाले हैं एवं अमृत, मृत्यु और सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं। इसलिये अन्य देवताओंकी उपासना भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌की ही उपासना है। भगवान्‌के किसी भी स्वरूपकी यज्ञोंके द्वारा सकाम भावसे पूजा करनेवाले, तीनों वेदोंमें विहित सकाम कर्म करनेवाले, सोमरस पीनेवाले तथा स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धकरूप पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष स्वर्गकी याचना करते हैं, वे अपने पुण्योंके फलरूप विशाल स्वर्गलोकको प्राप्तकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं। फिर उनके पुण्य क्षीण हो जानेपर वे मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे सकाम पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं। परंतु जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, जो भगवान्‌में लगे हुए चित्तसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे उन्हें भजते हैं, उन नित्य भगवत्-संलग्न भक्तोंके भगवत्प्राप्तिरूप योग और साधन-रक्षारूप क्षेमको भगवान् स्वयं वहन करते हैं। यद्यपि जो श्रद्धासे युक्त सकाम पुरुष दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌को ही पूजते हैं, फिर भी उनका वह पूजन अज्ञानपूर्वक है। बात यह है कि सम्पूर्ण यज्ञोंके भोक्ता और स्वामी भगवान् ही हैं—इस तत्त्वको वे नहीं जानते, इसीसे नीचे गिरते हैं अर्थात् भगवान्‌को न पाकर कामनाके कारण आवागमनके चक्रमें पड़ जाते हैं, क्योंकि यह नियम है कि देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको और भगवान्‌को पूजनेवाले भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्योंको निष्कामभावसे भगवान्‌को ही भजना चाहिये। भगवान्‌के भजनमें यह सुगमता भी है कि जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल—जो कुछ भी भगवान्‌के लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पदार्थ भगवान् स्वयं प्रकट होकर खाते हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि खान, पान हवन, दान, स्वधर्मपालनरूप तप आदि जो भी कर्म करे, उसे भगवान्‌के समर्पण करके ही करे। इस प्रकार कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेके भाववाला मनुष्य शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि भगवान् सब प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं—भगवान्‌के न तो कोई अप्रिय है और न प्रिय है, फिर भी जो भक्त भगवान्‌को प्रेमसे भजते हैं, वे भगवान्‌में और भगवान् उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हैं। इसलिये यदि कोई अतिशय दुराचारी भी भगवान्‌का अनन्य भक्त होकर उनको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि भगवान् और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है, क्योंकि भगवान्‌के भक्तका कभी पतन नहीं होता—यह भगवान्‌की प्रतिज्ञा है। अतः कोई स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डाल आदि किसी भी जातिके क्यों न हों, वे भी भगवान्‌के शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं, फिर पुण्यशील ब्राह्मण तथा भक्त राजर्षि भगवान्‌के शरण होनेपर परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है? इसलिये मनुष्यको उचित है कि इस सुखरहित क्षणभङ्गुर एवं दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर निरन्तर भगवान्‌का ही भजन करे। भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आज्ञा दी है कि 'तू केवल सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, सबके आश्रयरूप मुझ वासुदेवमें ही अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्काम भावसे अचल मनवाला हो, मुझको ही नित्य-निरन्तर भजनेवाला हो, मेरा ही प्रेमपूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझे ही विनयपूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर, इस प्रकार अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरको मुझमें लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

दसवाँ अध्याय

इस अध्यायमें प्रधानरूपसे भगवान्‌की विभूतियोंका ही

वर्णन है, इसलिये इस अध्यायका नाम 'विभूतियोग' रखा गया है।

भगवान्‌ने यहाँ अपनेमे अतिशय प्रेम रखनेवाले भक्त अर्जुनके हितकी इच्छासे उसे अपना परम रहस्य और प्रभाव बतलाया है। भगवान्‌के लीलापूर्वक प्रकट होनेको न देवता लोग जानते हैं और न महर्षि ही, क्योंकि भगवान् सब प्रकारसे देवताओंके और महर्षियोंके भी आदि हैं। जो भगवान्‌को वास्तवमें जन्मरहित, अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, अमूढता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंको वशमें करना, मनका निग्रह, सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय, भय-अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति—ये प्राणियों-के नाना प्रकारके भाव भगवान्‌से ही होते हैं, क्योंकि भगवान् ही इन सबके निमित्त और उपादानकारण हैं। सात महर्षिजन, पूर्ववर्ती चार सनकादि, चौदह मनु—जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है, ये सब-के-सब भगवान्‌में भाव रखनेवाले हैं और भगवान्‌के संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं। जो भगवान्‌की इस विभूतिको और योगशक्तिको भी तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्य निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें संशय नहीं है। भगवान् वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌के कारण हैं, भगवान्‌से ही सब जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन भगवान्‌को ही नित्य-निरन्तर भजते हैं। जिनका मन निरन्तर भगवान्‌में लगा रहता है और जिनके प्राण भगवान्‌के ही आश्रित हैं अर्थात् जो भगवान्‌की विस्मृतिको सहन नहीं कर सकते, वे भक्तजन सदा भगवान्‌की चर्चाके द्वारा एक दूसरेको भगवान्‌का तत्त्व-रहस्य जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित भगवान्‌का कथन करते हुए निरन्तर संतुष्ट होते और भगवान्‌में ही निरन्तर रमण करते हैं। उन प्रेमपूर्वक निरन्तर भजनेवाले भक्तोंको भगवान् वह तत्त्वज्ञानरूप योग देते हैं, जिससे वे भगवान्‌को ही प्राप्त हो जाते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करने-के लिये उनके हृदयमें स्थित परमेश्वर उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देते हैं।

उपर्युक्त उपदेशको सुनकर अर्जुन भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करने लगे—'भगवन्! आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको समस्त ऋषिगण सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मुझसे यही बात कहते हैं। केशव! जो कुछ भी मुझे आप कहते हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ। भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। आप भूतोंको उत्पन्न करनेवाले, भूतोंके ईश्वर, देवोंके भी देव और जगत्‌के स्वामी हैं। पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं। इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ? भगवन्! आपका किन-किन भावोंसे मेरेद्वारा चिन्तन किया जाना चाहिये? जनार्दन! आप अपनी योगशक्तिको और परमैश्वर्यरूप विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।'

इसपर भगवान् बोले—'अर्जुन! अब मैं तुझे अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रधानतासे कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है।' यह कहकर भगवान्‌ने जो अपनी विभूतियाँ बतलायी, उनका सार यह है—

सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबके आत्मा भगवान् ही हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंके आदि, मध्य और अन्त भी वे ही हैं। अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु, ज्योतियोंमें सूर्य, उनचास वायुदेवताओंमें उनका तेज, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, वेदोंमें सामवेद, देवोंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन, प्राणियोंमें उनकी जीवनी-शक्ति, ग्यारह रुद्रोंमें शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर और आठ वसुओंमें अग्नि—ये सब भगवान् ही हैं। पुरोहितोंमें बृहस्पति, सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिकेय, जलाशयोंमें समुद्र, महर्षियोंमें भृगु, शब्दोंमें ॐकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ, वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, सिद्धोंमें कपिल मुनि, मनुष्योंमें राजा, शस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, नागोंमें शेषनाग, जलचरोंका अधिपति वरुणदेवता, शासन करनेवालोंमें यमराज, दैत्योंमें प्रह्लाद, पशुओंमें सिंह, पक्षियोंमें गरुड़, पवित्र करनेवालोंमें वायु, शस्त्रधारियोंमें श्रीराम और नदियोंमें गङ्गाजी—ये सब भगवान् ही हैं। सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य भी भगवान् ही हैं। विद्याओंमें ब्रह्मविद्या, अक्षरोंमें अकार, कालका भी महाकाल तथा सबको धारण पोषण करनेवाले विराट् भी भगवान् ही हैं। स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाक्,

स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा भगवान् ही हैं । छन्दोंमें गायत्री छन्द, प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव, जीतनेवालोंका विजय, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव भगवान् ही हैं। वृष्णिवंशियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें अर्जुन, मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य भी भगवान् ही हैं । दमन करनेवालोंमें दमन करनेकी शक्ति, जयेच्छुओंकी नीति, 'गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन और ज्ञानवान्का तत्त्वज्ञान एवं सब भूतप्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण भी भगवान् ही हैं । अतः सब कुछ भगवान् ही हैं । कहाँतक कहें—चर और अचर कोई भी ऐसा भूतप्राणी नहीं है, जो भगवान्से रहित हो।'

इस प्रकार भगवान्ने अपनी दिव्य विभूतियोंका दिग्दर्शन कराया है । उनकी दिव्य विभूतियोंका अन्त तो है ही नहीं । यहाँतक विभूतियाँ बतलाकर अब योगका प्रभाव बतलाया जाता है ।

जो-जो भी विभूतियुक्त (ऐश्वर्ययुक्त), कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुएँ या प्राणी हैं, वे सब भगवान्के तेजके किसी एक अंशसे ही प्रकट हुए हैं। अधिक क्या कहें, इस सम्पूर्ण जगत्को भगवान् अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण किये हुए स्थित हैं ।

ग्यारहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन करवाया है । अध्यायके अधिकांशमें केवल विश्वरूपका और उसके स्तवनका ही प्रकरण है । इसलिये इस अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' रखा गया है।

भगवान्की दिव्य विभूतियों और योगके प्रभावको सुनकर अर्जुनने प्रार्थना की—'भगवन् ! मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने परम गोपनीय अध्यात्मविषयक उपदेश कहा है, उससे मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है; क्योंकि कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है । आप जैसा कहते हैं, वैसा ही आपका स्वरूप है। परंतु मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति और तेजसे युक्त ऐश्वर्य रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ । इसलिये प्रभो ! यदि मेरेद्वारा आपका वह रूप देखा जाना सम्भव हो तो अपने अविनाशी रूपका मुझे दर्शन कराइये ।'

इसपर भगवान् बोले—'अर्जुन ! मुझमें अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों और उनचास मरुद्गणोंको देख एवं मेरे इस शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को तथा और भी जय-पराजय आदि जो कुछ देखना चाहता है सो देख । परंतु मुझको तू अपने इन प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें समर्थ नहीं है। अतः मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख ।'

यों कहकर महायोगेश्वर और सब पापोंका नाश करनेवाले भगवान् हरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखलाया, जो अनेक मुख और नेत्रोंसे तथा बहुत-से दिव्य आभूषणों और दिव्य शस्त्रोंसे युक्त था एवं दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये और दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए था । उस सर्वाश्चर्यमय सीमारहित विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा । उस विराट्स्वरूपका प्रकाश ऐसा था कि आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश शायद ही हो । अर्जुनने उस समय देवदेव भगवान् श्रीकृष्णके शरीरमें पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को एक ही जगह स्थित देखा इसके अनन्तर आश्चर्यसे चकित और पुलकित-शरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करनेके अनन्तर हाथ जोड़कर बोले—

'देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको, भूतोंके अनेक समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और सम्पूर्ण ऋषियोंको देख रहा हूँ एवं आपको मैं मुकुट, गदा और चक्रसे युक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ । आप ही जानने योग्य परम अक्षर परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं । आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यवान् तथा अनन्त भुजाओं, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रों और प्रज्वलित अग्निरूप मुखसे युक्त देख रहा हूँ । महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं । ये देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' यों कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं । ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितरोंका समुदाय,

गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय—ये सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं। राजाओंके समुदायसहित ये सभी धृतराष्ट्रके पुत्र तथा भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके विकराल मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे नदियोंके बहुत से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते और उसमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। तथा जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं। देवश्रेष्ठ! कृपा करके मुझे बतलाइये कि उग्ररूप आप कौन हैं? आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदि-पुरुष आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूँ।'

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इस-लिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धालोग हैं, उन सबका नाश तो तेरे युद्ध न करनेपर भी अवश्य होगा। अतएव तू उठ, यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेसे ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं। सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा। द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरेद्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार। भय मत कर। निस्सन्देह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इस-लिये युद्ध कर।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनको सुनकर अर्जुन हाथ जोड़कर काँपते हुए नमस्कार करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोले—'अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं। महात्मन्! आप ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े हैं। आपको वे कैसे नमस्कार न करें, क्योंकि अनन्त! देवेश! जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं। आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत्‌के परम आश्रय, जाननेवाले, जाननेयोग्य और परम धाम हैं। अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् परिपूर्ण है। आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिये फिर भी बार बार नमस्कार! नमस्कार!! अनन्त सामर्थ्यसम्पन्न! आपको आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार! सर्वात्मन्! आपको सब ओरसे ही नमस्कार हो! क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं। आपके इस प्रभावको न जानते हुए 'आप मेरे सखा हैं'—यह मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'कृष्ण! यादव! सखे!' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है तथा अच्युत! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं; उस सारे अपराधके लिये अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा चाहता हूँ। आप इस चराचर जगत्‌के पिता, सबसे बड़े और अत्यन्त पूजनीय हैं। अनुपम प्रभाववाले प्रभो! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है! अतएव प्रभो! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें डालकर, प्रणाम करके, स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं, वैसे ही आपके लिये भी मेरे अपराधको सहन करना ही उचित है। मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अत्यन्त व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखलाइये। देवेश! जगन्निवास! प्रसन्न होइये। मैं उसी प्रकार आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये विश्वस्वरूप! सहस्र बाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये।'

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'अर्जुन! मैंने अनुग्रहपूर्वक अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह अपना परम तेजोमय, सबका आदि और सीमा-रहित विराट्‌रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था। मनुष्यलोकमें इस प्रकारके रूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ। मेरे इस प्रकारके इस भयंकर रूपको देखकर तुझे व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढभाव

भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे चतुर्भुजरूपको फिर देख ।'

यों कहकर भगवान्ने अर्जुनको अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया और फिर सौम्य मानुषरूप होकर भयभीत अर्जुनको धीरज दिया । तब अर्जुनने कहा—'जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ।'

यह सुनकर भगवान् बोले—'अर्जुन ! मेरा जो चतुर्भुज-रूप तुमने देखा है, इसका दर्शन बड़ा ही दुर्लभ है; देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं । जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ । परंतु अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपसे मैं प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना तथा प्रवेश किया अर्थात् एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ । जो केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्राप्त होता है ।

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

८१ श्रीराधा और श्रीकृष्ण सबके सामने आते हैं, पर सबको एक प्रकारकी लीलाके ही दर्शन नहीं होते । जो जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला प्रकट होती है । पर एक रहस्यकी बात यह है कि जो भी लीला होती है, उसमें यह अनुभव नहीं होता कि हमें कुछ कम दर्जेकी लीला देखनेको मिली है, जिसे भी जो लीला देखनेको मिलती है, यदि यथार्थ मिलती है तो वह इतनी विलक्षण होती है कि उसके लिये उसके सिवा और कुछ भी बच नहीं जाता । न यह जगत् रहता है, न संसार, न कुछ और, बात, बस वही-वही रह जाती है । और फिर उसीपर नया-नया रंग चढ़ता जाता है तथा वह रंग इतना चढ़ता है कि बस उसकी कोई सीमा नहीं, नित्य नया-नया हो जाता है ।

जो लीलाएँ बहुत ही उच्च कोटिकी होती है, उनमें ऐश्वर्य बिल्कुल नहीं होता । जिसके मनमें जरा भी ऐश्वर्यकी ओर टान रहती है, उसे उन लीलाओंको सुन-कर आश्चर्य होता है । भजन करते-करते पहले पूर्ण ज्ञान हो जाता है, इसके बाद वह ज्ञान धीरे-धीरे छिपने लगता है; तब मधुर लीलाओंका प्रकाश होता है । श्रीराधा-कृष्णकी लीला एक-से-एक मधुर है, जितना भक्त ऊँचा उठता है, उतनी ही वह मधुरता गहरी होती जाती है । इसकी कोई सीमा नहीं है । आजतक जितने भक्त हुए हैं, उन्हें जो-जो अनुभव हुए हैं और वे जितना वाणीमें कह सके हैं, उसीका वर्णन हमलोगोंको प्राप्त होता है । पर वह उतना ही हो, यह बात नहीं । वह तो अनन्त है, असीम है । कोई उससे भी ऊँचा भक्त हो तो उससे भी ऊँची तथा और भी मधुर लीला भगवान् उसे दिखा सकते हैं ।

८२ मन किसी प्रकार भी लीलामें फँस जाय तो काम बन गया । सोचिये—गायोंकी कतार खड़ी है, श्यामसुन्दर हाथमें दोहनी (दूध दुहनेका पात्र) लेकर खड़े हैं । गायें हरी-हरी दूब चर रही हैं । श्यामसुन्दर-का सखा सुबल पासमे खड़ा है । प्रत्येक गाय रँभा रही है तथा चाहती है कि श्रीकृष्ण पहले उसे दुहें । श्रीकृष्ण तो भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं । एक ही समय एक क्षणमे जितनी गायें हैं, उतने रूपोंमें प्रकट होकर दुहने बैठ जाते हैं । बछड़ा श्रीकृष्णकी पीठ सूँघ रहा है । गाय श्रीकृष्णका माथा सूँघ रही है । दूरपर राधारानी सखीके कंधेपर हाथ रखकर यह छवि निहार रही हैं । आँखोंमें प्रेमके आँसू भरते जा रहे हैं ।

अब इन्हीं गाय, दूब, बछडा—किसीमें भी मन लगा रहे और मृत्यु हो जाय तो इससे बडी सुन्दर मृत्यु और क्या होगी ?

८३ निराश नहीं होना चाहिये । कभी किसी दिन एक क्षणमे ऐसी घटना हो जायगी कि बस, उस रस-समुद्रमे वह जाइयेगा । उसमे यह नियम नहीं कि धीरे-धीरे ऊँचा उठते-उठते तब होगा । कभी किसी दिन हठात् कोई ऐसी कृपाकी आँधी आयेगी कि उड़ाकर बिल्कुल जमीनपरसे हटाकर रस-समुद्रके ठीक बीचमे ले जाकर पटक देगी, जहाँसे फिर लौटना असम्भव होगा । किनारे रहे, तब तो फिर शायद पीछे भी लौटें, पर वह आँधी इतनी दूर उडा ले जायगी कि फिर जमीनका ओर-छोर भी दिखना बद हो जायगा ।

श्रीमद्भागवतमें तीन उपाय कहे गये हैं—

(१) ऐसी कृपा होनेकी बाट देखता रहे। अब हुई, अब हुई, अब हो जायगी, कल हो जायगी, इस महीनेमे तो हो ही जायगी, इस वर्षमें तो निश्चय हो ही जायगी, हो ही जायगी—इस प्रकार प्रतिक्षण जिस प्रकार एक दरिद्र दिवालिया जूएकी बाजी जीत जानेकी बाट जोहता है तथा सौदा करता ही चला जाता है, वैसे ही भगवत्कृपाकी आशामें जो अपने पास है, सब फूँकता चला जाय । समस्त वस्तुओंको भगवत्प्रेमके लिये होमकर कृपाकी बाट जोहे। यहाँके जूएमें तो जीत चाहे न भी हो, पर वह कृपा तो आयेगी ही, भगवान्की कृपाकी बाजीमें तो जीत होगी ही ।

(२) जो सुख-दु ख आकर प्राप्त हो जाय, उसे खूब प्रसन्नतासे ग्रहण करे—यह समझकर कि हमारा ही तो किया हुआ है ।

(३) हृदयसे, वाणीसे, शरीरसे निरन्तर भगवान्को नमस्कार करता रहे ।

जो इस प्रकार जीवन बिताता है, उसे मुक्ति तो दायके रूपमें मिल जाती है, भगवत्प्रेम भी उसे मिल जाता है ।

८४.

जब श्रीब्रजवास मिल्यौ सजनी
तब तीरथ आन गए न गए ।
जब लाड़िली लाल कौ नाम लियौ,
तब नाम न आन लए न लए ॥
पदकंज किसोरिहि चित्त पर्यौ,
तब पायन आन नए न नए ।
जब नैन लगे मन मोहन सौं
तब औगुन आन भए न भए ॥

ब्रजके एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं—श्रीललितकिशोरीजी ! उन्हींका यह पद है । ऐसी ही निष्ठा आगे चलकर रसिक भक्तोंकी हो जाती है । पदका भाव यह है—यदि श्रीप्रियाजीके कुञ्जमें बसनेका—वृन्दावनमे बसनेका सौभाग्य मिल गया तो फिर दूसरे तीर्थोंमें गये अथवा न गये । जाना, नहीं जाना बराबर है । समस्त साधनाका फल तो ब्रज-वासके रूपमें मिल गया । अब और तीर्थोंमे जाकर क्या होगा । दूसरी बात यह कि जब प्रिया-प्रियतम, लाडिली-लालका नाम मुँहसे निकल गया, तब फिर दूसरे नाम, दूसरी चर्चा मुँहसे निकली या न निकली । जरूरत ही कुछ नहीं है । तीसरी बात, जब श्रीप्रियाजीके चरणकमलोंमें चित्त झुककर उसमें फँस गया—उस रगमें पग गया, तब फिर और किसीके चरणोंमें सिर नवाया या नहीं नवाया—दोनों बराबर है। चौथी बात—जब दृष्टि मनमोहनसे लग गयी, नेत्र मोहनसे जा लगे, तब फिर दूसरा कोई अवगुण (दोष) हुआ या नहीं हुआ, दोनों बराबर है । किसी परपुरुषमें दृष्टि लगाना बडा अवगुण है; पर जब वही श्रीमनमोहनरूप सुधाचन्द्रमें लग जाती है तब वह परम सद्गुण बन जाता है ।

इस प्रकार श्रीकृष्णप्रेमका भिखारी बस, चार लक्ष्य सामने रखकर बढता है—जगत्की परवा मिटाकर बढता है । कौन क्या कहता है, इसकी ओर उसकी

दृष्टि नहीं रहती । वह बिल्कुल, सर्वथा जगत्की ओरसे, समस्त योग्यताकी ओरसे मुँह मोड़कर रम जाता है प्रियतम प्रभुके नाम, रूप, लीला, धाम—इन चार चीजोंमें । अभ्यासके द्वारा जैसे हो, जिस प्रकार हो, बस, एक ही चर्चा, एक ही वातावरण निरन्तर बनाये रखे । लीला सुननेके लिये मिले, सुने—नहीं मिले तो पढ़े, चिन्तन करे । बस, मन उन्हीं बातोंमें रमता रहे । श्रीगोपीजनोंके प्रेमकी कैसी दशा होती है, इसे लिखकर तो कोई बता ही नहीं सकता । जैसे बिजलीका प्रकाश है, उसे देखकर जिसने कभी सूर्यके निर्मल प्रकाशको नहीं देखा है, वह अनुमान ही नहीं कर सकता कि वह कितना निर्मल प्रकाश है । ठीक उसी प्रकार आप जितनी बातें सुनते हैं, उनको सुनकर वास्तविक श्रीगोपी-प्रेमका क्या रूप है, यह ठीक-ठीक अनुमान ही आपको नहीं हो सकता । वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह अत्यन्त निर्मल प्रकाशमय वस्तु है, ज्ञानके परेकी चीज है । उसे तो देखकर उनकी अनन्त कृपा होनेसे ही उसका यत्किंचित् स्वरूप समझा जा सकता है ।

निरन्तर उनके चरणोंमें रो-रोकर प्रार्थना करनेसे ही कुछ अनुभवमें, कल्पनामें आ सकता है । इसलिये लीला पढ़ें, सुनें, प्रार्थना करें, निरन्तर कृपाकी भीख माँगते ही चले जायँ और जहाँतक बने, अब मनको प्रपञ्चके कामोंसे दूर रखनेकी चेष्टा करें ।

एकान्तमें बैठकर रोयें, श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें बैठकर उनके सामने रोयें । सच्चा रोना न हो, न सही । झूठे ही, जैसा भाव हो, उसीको लेकर रोयें—नाथ ! इस नीरस हृदयको सरस बनाओ, इस सूखे हृदयमें अपने प्रेमका एक कण देकर इसे भर दो, प्रभो ! अपनी ओर, अपनी कृपाकी ओर देखकर ऐसा करो । निश्चय मानिये, बार-बारकी प्रार्थना व्यर्थ जा ही नहीं सकती । झूठीको वे अपनी कृपासे सच्ची बना देते हैं ।

८५. इस प्रकार अभ्यास आरम्भ कीजिये—

(१) कुञ्जोंका नकशा आपने देखा था । उसमें पहले श्रीविशाखाका कुञ्ज कहाँ है, यह देखकर कुछ क्षण उस समूचे कुञ्जका चित्र बाँधिये ।

(२) फिर एक कदम्बके वृक्षकी सुन्दर-से-सुन्दर कल्पना कीजिये ।

(३) फिर उसकी डालियोंको देखिये ।

(४) फिर उसमें पत्ते लगे हैं, उन्हें ।

(५) कदम्बके अत्यन्त सुन्दर फूल हैं, उन्हें ।

(६) कदम्बके फूलोंपर झुंड-के-झुंड काले भौंरे हैं, उन्हें ।

(७) कदम्बकी जड़के नीचे उजला चमचम करता हुआ संगमरमरका गद्दा है, उसे ।

(८) संगमरमरका गोलाकार गद्दा चारों ओर फैला है, उस गोलाईका कुछ क्षण चिन्तन कीजिये ।

(९) अंदाज दो-दो गज चारों ओरसे चमचम कर रहा है, उसका ।

(१०) उसके नीचेकी जमीन भी संगमरमरके फर्शकी बनी हुई है, वह खूब चमक रही है, इसे देखें ।

(११) फर्शके चारों ओर बेलाके वृक्ष लगे हैं, उन्हें ।

(१२) उनमें बड़े-बड़े फूल खिले हैं, उन्हें ।

(१३) फिर चमेलीके वृक्ष हैं, उन्हें ।

(१४) चमेलीमें फूल लगे हैं, उन्हें ।

(१५) हरी-हरी दूबकी जमीन चारों ओर फैली है, उसे ।

(१६) उसपर कहीं स्थलकमल हैं, उन्हें ।

(१७) कहीं तगर, कहीं कुंद, उन्हें ।

(१८) चारों ओर हरी-हरी झाड़ी दीख रही है, उसे ।

(१९) गद्देके सहारे श्रीराधारानी बैठी हैं, उन्हें ।

(२०) नीली साड़ी है, यह ।

(२१) हाथमें कङ्कण है, यह ।

(२२) दोनों हाथोंमें कङ्कण है, उन्हे ।

(२३) इसके बाद अत्यन्त सुन्दर चूड़ियोंको ।

(२४) इसके बाद भी एक अत्यन्त सुन्दर आभूषण है, उसको ।

(२५) बाँहके पास भी सुन्दर आभूषण है, उन्हे।

(२६) पैर साड़ीसे ढका है, यह ।

(२७) मुखारविन्द शोभा पा रहा है, यह ।

(२८) सिरपर चन्द्रिका है, उसे ।

(२९) चन्द्रिकामें मोतीकी झालर लटक रही है, उसे ।

(३०) ललाटपर सुन्दर कुङ्कुमका गोल लाल बिन्दु है, उसे ।

(३१) सिरके पास अञ्चल कुछ बायीं तरफ ऊपर चढ़ गया है, उसे।

(३२) श्यामसुन्दर उनके दाहिनी ओर है, उन्हें ।

(३३) सिरपर मोर-मुकुट है, उसे ।

(३४) बड़ा ही सुन्दर मुख है, इस झाँकीको ।

(३५) आँखें बड़ी-बड़ी हैं, उस सौन्दर्यको ।

(३६) आँखें नीचेकी ओर हैं, इस लावण्यको ।

(३७) अलकावलि कुछ बिखरी हुई मुखपर आ गयी है, इस झाँकीको ।

(३८) दुपट्टा दोनों कन्धोंपर लटक रहा है, यह ।

(३९) दोनों हाथोंसे एक तागेमें फूल पिरो रहे हैं, यह ।

(४०) श्रीप्रियाजी भी दोनों हाथोंसे फूल पिरो रही हैं, इस मनोहर दृश्यको ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक लाइन पढ़कर उसमें क्या-क्या चीज आयी है, यदि उन सबपर एक-एक सेकंड भी मन रुककर उन्हें देख ले तो फिर छोटी लीलामें भी चार-छः घंटे लग जायँ । अभ्यास करनेसे होता है । मेरी समझमें यही बात आती है तथा समस्त शास्त्रोंमें एवं वैष्णव संतोंके वचनोंमें यही बात मिलती है कि मनको स्थिर करना ही पड़ेगा और स्वयं भगवान्‌ने जैसा कहा है—अभ्यास और वैराग्य दोनोंको साथ-साथ पूरी तत्परतासे करनेसे ही काम बनता है । सच मानिये, इस व्रजलीलामें मन फँसानेके लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता ही नहीं है । यहाँ तो एकके बाद एक, एकके बाद एक इस प्रकार मन जहाँ जाय, कुछ भी सोचे, उसी स्फुरणाके साथ व्रजकी किसी चीजको जोड़ देनेसे ही ध्यान होने लग जाता है ।

मनकी जिस समय विशेष चञ्चलता हो, उस समय उसे खूब तेजीसे नचाना शुरू करें । हमें लिखनेमें तो देर लगती है, पर चञ्चलताके समय उसकी बड़ी सुन्दर दवा यह है कि जोरसे उच्चारण करे, हरे राम, कृष्ण, गोविन्द । फिर शुरू करें राधाकुण्ड, निकुञ्ज, ललिता, विशाखा, चित्रा, वेदी, नदी, यमुना, गोवर्द्धन, गाय । इस प्रकार पागलकी तरह मनके सामने जो भी कोई चीज आये, उसे व्रजके भावमें जोड़ दे । मन जब कुछ भी सोचेगा, आप विचार कर देख लें, देखी-सुनी हुई बातको ही सोचेगा । जिस समय किसी स्त्रीपर ध्यान जाय, उस समय पागलकी तरह गोपी, गोपी, गोपी रटने लग जायँ । लड़केपर ध्यान जाय—बस, ठीक उसी समय सुबल, श्रीदाम, सुबल, श्रीदाम, स्तोक, मधुमङ्गल पागलकी तरह रटें । इसके बाद ध्यानमें आया घर-मकान—बस, ठीक वहीं, उसी स्थानपर देखें, ना, यहाँ तो कुञ्ज है, महल है, ना, वह देखो, ललिता रानीका कुञ्ज है । अहा ! कैसी झाड़ी है, कैसा सुन्दर सरोवर है, कैसा उपवन है । यह शब्द उच्चारण होते ही फिर आगे चलकर वह चित्र भी सामने आ जायगा । पर यह तभी होगा, जब कि जीवनका उद्देश्य बस, एक ही रह जाय । चाहे मरेंगे या जीयेंगे, अब तो चौबीसों घंटे व्रजमण्डलमें ही मन रमेगा, व्रजके लता-पत्र कुछ भी बनेंगे, पर अब तो बनेंगे ही ।

इस प्रकार दृढ निश्चय होते ही श्रीकृष्णकी सारी कृपा साधकके ऊपर बहने लगती है। लीला एक-से-एक सुन्दर तथा एक-से-एक आकर्षक—बढ़िया हैं, आकर्षक हैं, पर सभीमे मनकी आवश्यकता होगी ही। आप जैसे मेरे पास आते हैं, अब यदि ऐसा नियम कर लें कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक-डेढ़ घंटा जबतक इनके पास बैठूँगा, तबतक ये जैसे-जैसे लिखते जायँगे, उसका पूरा-पूरा चित्र बाँधनेकी चेष्टा करूँगा ही तो फिर चौबीस घंटोंमें डेढ़ घंटा आपका ध्यान हो गया। इसके बाद यदि घरपर नियमसे, आज जिस लीलाको सुने, कल ठीक चार घंटे उसमें मन लगाना ही है, इस भावनासे दृढतापूर्वक साधन करें, तब तो फिर पाँच-छ घंटे रोज साधन होगा। तथा यदि विषयका सङ्ग नहीं हुआ, उससे बचे रहे, तब तो फिर उन्नति होनी ही चाहिये। पर बिना तत्परताके कुछ भी होना कठिन है।

विषयोंका सङ्ग वह है, जो भगवान्‌से हटाये। जो भी वस्तु भगवान्‌के प्रति आकर्षण कम करे, वही विषय है।

श्रीकृष्ण तो कृपाके समुद्र हैं, उनके उन्मुख होना चाहिये, फिर पक्षपात थोड़े है कि इसपर कृपा करूँ, इसपर नहीं करूँ।

अब सोचिये—इस समय अँधेरा हो गया है, यहींपर एक नहीं, एक साथ अनन्त लीलाएँ चल रही हैं। किसीके एक कणमें मनको डुबाइये। सोचिये—श्रीराधाजीके हाथकी बनी हुई रसोईको नंदबाबाके साथ श्रीकृष्ण आरोगनेकी तैयारीमें खड़े हैं, मैया यशोदा जल्दी-जल्दी कभी भीतर आती हैं, कभी बाहर जाती हैं। कभी सोचती हैं—ओह! दूधमें मिश्री डालना भूल गयी हूँ और चूल्हेके पास दौडकर जाती हैं। श्रीकृष्ण अन्य-मनस्क-से होकर अपने महलके बाहरके बरामदेमें खडे ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं मानो उनकी दृष्टि अधकार-को चीरकर किसीको देखना चाहती हो।

इधर नंदबाबाके दरबारकी तैयारी होने जा रही है। कोई बाजा लेकर, कोई पोशाककी पेटी लेकर दरबारकी ओर जा रहा है। नंदबाबाकी पगडी हिल जाती है। श्रीकृष्णका हाथ नंदबाबा पकड़े हैं, अब वे चल रहे है, सीढ़ियोंसे चढ रहे हैं। अब एक-एक वस्तुको यदि मन देखने लगे तो इतनी-सी बातमें दो घटे बीत जायँगे। प्रतिदिन तीन-चार घटे लीला-चिन्तनमे बिताना कौन बडी बात है। और तारीफ यह है कि कहीं किसी चीजमें मन डूबा कि श्रीकृष्णकी कृपा लीलाका प्रकाश करके मनको खींच लेगी। श्रीकृष्णकी धारणा नहीं होती, न सही, वैजयन्ती मालाकी धारणा, उनके किसी अङ्गकी धारणा, सीढियोंकी धारणा, नदबाबाकी पगडीकी धारणा भी नहीं होगी? होगी, अवश्य होगी। खूब आनन्दसे, खूब शान्तिसे, अखण्ड उत्साह लेकर उनकी कृपासे किसी व्रजभावभावित वस्तुको सोचते चले जाइये; फिर तो श्रीकृष्ण खिंचे हुए, बँधे हुए उसीके साथ प्रकट होंगे ही।

जैसे-जैसे वृत्तिकी मलिनता दूर होगी, वैसे-वैसे जो राधाभाव, श्रीकृष्णभाव, श्रीराधाजीका रूप, श्रीकृष्णका रूप है, उसपर नया-नया रग चढ़ता जायगा और यह रंग चढ़ना कभी समाप्त ही नहीं होता—चढता ही चला जाता है, क्योंकि वह रूप अनन्त है।

अभी मान लें आप ध्यान कर रहे हैं—मीठे झीने सुरमें श्रीकृष्ण बाँसुरीमें सुर भर रहे हैं, गायें पूँछें उठा-उठाकर गोशालामें इधर-उधर दौड रही हैं, नन्दबाबाके हजारों दास गायोंकी खड़ी हुई कतारके पास बैठकर दूध दुह रहे हैं, श्रीकृष्णकी दृष्टि दूरपर खडी हुई श्रीराधारानीपर लग रही है। × × बस, इतना-सा ही ध्यान प्रतिक्षण नये-नये रंगमें नये-नये भावमे रँगता चला जायगा। इसका स्वरूप कुछ दिनोंके बाद ऐसा हो जायगा, उस ध्यानमें और पहलेके ध्यानमें इतना गहरा अन्तर हो जायगा कि आप चकित रह जायँगे। ऐसे ही किसी भी लीलाका रग, भाव सब बदल जायगा। एक बार पूरी चेष्टा करके मनको

डूबनेका अभ्यासी बनाइये। फिर देखेंगे—नया-नया रस मिलेगा।

८८. रासलीलाकी फलश्रुति है कि 'इसे श्रद्धापूर्वक सुननेवाला पराभक्ति प्राप्त करता है।' पर 'अनुशृणुयात्' अर्थात् निरन्तर श्रवण करना चाहिये। तथा 'श्रद्धान्वितः' अर्थात् इसे ही एकमात्र साधन बनाकर, इसपर दृढ विश्वास करके सुने। यदि लीला-श्रवणका ही आप व्रत ले लें तो केवल एक यही उपाय कृपाको प्रकाशित कर देगा, परन्तु यह भी होगा पूरी लगनसे, पूरी तत्परतासे।

एक बात सदाके लिये सभीको ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवत्कृपाका प्रकाश होकर अधिकारानुसार प्रेम प्राप्त-कर लेना चेष्टाकी सफलतापर बिल्कुल निर्भर नहीं है। यह निर्भर है नीयतपर। अर्थात् इसने कितनी तत्परतासे साधनको पकड़े रहनेकी चेष्टा की है। बेईमानी की है कि नहीं—इसीपर फैसला होता है।

८९. एक बार एक संतने कहा था कि 'संतोंके सङ्गमें किसी प्रकार टिके रहो। प्रेमी संतोंके अंदर जो प्रेम-समुद्र लहराता रहता है, वह बराबर प्रकट नहीं रहता, छिपा हुआ रहता है। किसी दिन उसमे उफान आया, तुम पासमे रहे और तुमपर एक छींटा भी पड़ गया कि उसी क्षण बिना किसी परिश्रमके भगवत्प्रेम प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।' भाव यह था कि प्रेमी संतोंके सङ्गका लाभ तो अमूल्य होता ही है, पर कभी-कभी उनका जो भगवत्प्रेम है, वह बाहर प्रकट होकर बहने लग जाता है। सदा ऐसा नहीं होता। अब कल्पना करें कोई सदासे सङ्गमें रहता आया है। वह यदि उस क्षण वहाँ उप-स्थित रहा तो उसे उस प्रेमके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये कोई भी दूसरी लालसा, दूसरी शर्त न रखकर धैर्य रखकर, संतोंका सङ्ग करना चाहिये।

वास्तवमें बात यह है कि भगवत्प्रेम साधनासे नहीं मिलता। यह तो उसीको मिलता है, जिसे भगवान् या कोई प्रेमी संत दे दे। मोक्ष साधनासे मिल सकता है, पर प्रेम नहीं। महाप्रभुके जीवनसे यह बात भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है। एक भक्त थे, वे बेचारे सबको प्रेममें विभोर होते देखते, पर उनको प्रेम नहीं होता। एक दिन वे महाप्रभुका चरण पकड़कर रोने लग गये। महाप्रभुने कहा—'अच्छा! कल गङ्गा-स्नान करके आना।' कल हुआ, वे गङ्गा-स्नान करके आये। प्रभुने उन्हें छू दिया। उसी क्षण प्रेमावेशसे मूर्छित होकर गिर पड़े। सचमुच प्रेम कुछ इतनी विलक्षण वस्तु है कि जहाँ कहीं भी वह प्रकट होता है वहाँ प्राय: ऐसे ही एकाएक प्रकट होगा। श्रद्धा होनी चाहिये।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है—'एक राजकुमार था। उसके मनमे आया—कैसे भजन होता है, श्यामसुन्दरका प्रेम क्या वस्तु है, किससे जाकर पूछूँ, कौन बताये? इसी चिन्तामें वह सो गया। उसके घरमें एक ठाकुरजीका विग्रह था। उन्हींके विग्रहके सम्बन्धमें स्वप्न आरम्भ हुआ। स्वप्नमे उसने देखा कि वह विग्रह राधा-कृष्णके रूपमे बदल गया। वहाँ उसे साक्षात् श्रीराधा-कृष्ण दीखने लगे। सखियाँ भी दीखने लगीं। फिर श्रीकृष्णने अपनी बायी ओर बैठी हुई एक सखीसे कहा—'प्रिये! इसे अपने समान बना लो।' वह गोपी आज्ञा पाकर आयी, राजकुमारके पास खड़ी हो गयी तथा अभेदभावसे राजकुमारका चिन्तन करने लगी। राजकुमारने देखा कि एक क्षणमे ही उसके सारे अङ्ग बदल गये, उसके हाथ, पैर, सिर, मुँह, नाक—सब बदल गये और वह एक अत्यन्त सुन्दर गोपी बन गयी। उसके बाद उस गोपीने इसे एक वीणा दे दी कि 'यह लो, श्यामसुन्दरको भजन सुनाओ।' उसने भजन सुनाना आरम्भ किया। भजन सुनानेपर श्यामसुन्दरने प्रसन्न होकर उसका आलिङ्गन किया, उसे हृदयसे लगा लिया। इसी समय राजकुमारकी नींद खुल गयी। राजकुमार रोने लग गया। निरन्तर एक महीनेतक रोता रहा। फिर

उसने घर छोड दिया और वनमें जाकर कई कल्पोंतक एक मन्त्रका जप एवं युगलसरकारका ध्यान करता रहा। तब उसे सचमुच गोपीका देह प्राप्त हुआ और उसे भजन सुनानेकी वही सेवा मिली।

नारदजीको जब दर्शन हुआ, तब एक सखीने सब सखियोंका परिचय दिया कि पूर्वजन्ममें यह अमुक ऋषि थे, यह अमुक, इन्होंने यह मन्त्र जपा था, यह ध्यान किया था। उसी प्रसङ्गमें नारदजीको उस सखीने बताया कि 'जिस सखीके हाथमें वीणा देख रहे हो, वह पहले जन्ममें राजकुमार रह चुकी है।'

साराश यह है कि यों तो प्रेम कल्पोंकी साधनाके बाद कभी किसी बडभागीको मिलता है, पर जब वह प्रेम मिलनेका उपक्रम होता है, तब एकाएक होता है। उसके लिये कोई साधना है, प्रेम मिल ही जायगा—यह कहना नहीं बनता। हॉ, यह ठीक है कि सच्चे प्रेमियों या संतोंका सङ्ग अमोघ होता है। वह किसी-न-किसी दिन प्रेम उत्पन्न कर ही देता है।

९० सबसे ऊँचा प्रेम श्रीगोपीजनोंका ही है। इसी प्रेममें रासलीलामें सम्मिलित होनेका अधिकार मिलता है, और किसी भी प्रेममें नहीं। पर यह गोपीप्रेम भी सचमुच साधनाका फल नहीं है। यह तो किसी गोपी-भावापन्न संत, किसी गोपी अथवा श्रीकृष्णकी कृपासे ही प्राप्त होता है। हाँ, कृपा प्राप्त करनेके अधिकारी सभी हैं। श्रीकृष्णकी निन्दा करनेवाला भी कभी-कभी विलक्षण कृपा प्राप्त करके निहाल हो जाता है। फिर कृपा चाहनेवाला निहाल हो, इसमें संदेह ही क्या है। काशीमें भारतके एक बड़े भारी वेदान्ती थे। उनसे बडा उस समय कोई नहीं था। नाम था स्वामी प्रकाशानन्दजी। दिन-रात भक्तोंका मजाक उडाया करते थे। महाप्रभु काशीमें आये, दर्शन हुआ। दर्शन करते ही चित्तमें उथल-पुथल मच गयी। लबी कथा है। फिर वे ऐसे प्रेमी बने कि दिन-रात सखीभावसे राधा-कृष्णके प्रेममें डूबे रहते। जब जीवन पलटता है, तब ऐसे ही पलट जाता है।

भगवद्गुणानुवाद सुननेसे मन इस योग्य होता है कि उसमें प्रेम प्रकट हो सके। पर सुननेसे प्रेम होगा, सुननेसे प्रेम खरीद लिया जायगा—यह बात नहीं है। वह तो तभी मिलेगा, जब स्वयं भगवान् या उनका कोई प्रेमी संत दे दे।

ज्ञान हो सकता है, मोक्ष हो सकता है, बड़े-से-बड़ा पुरुषार्थ साधनसे सिद्ध हो सकता है, पर प्रेम इतनी दुर्लभ वस्तु है कि साधनाके मोलमें नहीं मिलता। यदि किसीको इसका एक कण भी मिल जाय तो उसकी ऐसी दशा हो जाय कि सब चकित रह जायँ। मुझे तो प्रेम मिला नहीं और पता नहीं इस जीवनमें मिलेगा या नहीं; क्योंकि वह सौदेकी चीज नहीं है। वह तो श्रीकृष्ण दें, या कोई प्रेमी दे, तब मिले।

९१. प्रेमी भक्तोंकी दशा विचित्र होती है। कोई-कोई चाहते हैं कि मैं लता बन जाऊँ। ऐसा होनेपर फिर उसमें फूल लगेंगे और श्रीकृष्ण आयेंगे तथा अपने हाथसे उसे पकडकर फूल तोडेंगे। फूल तोडकर श्रीगोपीजनोंके अञ्चलमें बाँधेंगे। राधाजीके साथ मेरी पत्तियोंको पकडकर खेल करेंगे और मैं देखूँगा। धन्य है उनकी चाहना।

व्रजकी लता बनना भी अनन्त सौभाग्यसे ही होता है। वे लताएँ यहाँकी तरह जड लताएँ नहीं हैं। वे लताएँ चाहते ही गोपी बन सकती हैं, क्योंकि वृन्दावन-की सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। वहाँ केवल रूप भिन्न-भिन्न है, तत्त्वत सभी वस्तुएँ सच्चिदानन्दमयी हैं। लीलाके लिये कोई पेड, कोई लता, कोई पक्षी, कोई हिरन—इस प्रकार दिखायी पडते हैं।

इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ कि वृन्दावनकी

किसी भी वस्तुका चिन्तन कीजिये । चिन्तन करते-करते, मान लें पेडका चिन्तन करते-करते ही आप मर गये और फिर पेड बने तो ऐसा-वैसा पेड, मामूली पेड नहीं बनियेगा । वृन्दावनका सच्चिदानन्दमय पेड बनियेगा और चाहते ही गोपी बनकर, सखा बनकर, जैसा रूप चाहियेगा, वैसा ही बनकर साक्षात् सेवा कीजियेगा ।

९२ जैसे-जैसे साधक ऊपर उठता है, वैसे-वैसे ही भगवान्‌का ऐश्वर्य छिपता चला जाता है तथा शुद्ध पवित्रतम मधुर राज्यकी लीला एक-से-एक बढ़कर चित्तमे आती रहती है । अब श्रीकृष्ण राधाके लिये रोयें—यह लीला उसे आनन्द दे ही नहीं सकती, जिसका मन अभी ऐश्वर्यके आनन्दकी ओर आकृष्ट होता है। और सच्ची बात तो यह है कि वर्णन इसीलिये किया जाता है कि किसी प्रकार मन पवित्र हो, नहीं तो वे लीलाएँ वाणीमें आ ही नहीं सकतीं, उन्हें तो कोई विरला भाग्यवान् बहुत ऊँचा सत ही अनुभव करता है ।

उस मधुरलीलामे श्रीकृष्ण अपने समस्त ऐश्वर्यको भूलकर, छिपाकर प्रियतमरूपसे लीला करते, तथा व्रजसुन्दरियॉ भी उन्हे सर्वथा अपना 'प्राणेश्वर' ही मानती है । यह बात नहीं है कि उन्हें भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान नहीं होता । बात यह है कि जब प्रेमका समुद्र उमॅड़ता है, तब ज्ञान छिप जाता है । वह कुछ ऐसी स्थिति है कि जिसकी कल्पना बड़े ही भाग्यवान् विरले प्रेमी अपने अन्तरमे ही कर पाते हैं ।

'काला चॉंद गीता' एक छोटी-सी पुस्तक है । बड़ी ही सुन्दर पुस्तक है । उसमें एक स्थलपर श्रीकृष्णको रोते देखकर गोपी रोनेका कारण पूछती है । उसीके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—'सुनो, सखि ! जहॉं प्रेम है वहॉं निश्चय ही ऑंखोंसे ऑंसुओंकी धारा बहती रहेगी। प्रेमीका हृदय पिघलकर ऑंसुओंके रूपमे निरन्तर बहता रहता है और उसी अश्रुजल, प्रेमजलसे प्रेमका पौधा अङ्कुरित होकर निरन्तर बढ़ता रहता है । सखि ! मैं स्वय प्रेमीके प्रेममे निरन्तर रोता रहता हूँ । मेरी ऑंखोंसे निरन्तर ऑंसुओंकी धारा चलती रहती है । मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं बताऊँ, पर तुमने बार-बार पूछा—'तुम क्यों रोते हो ?' तो आज बात कह दे रहा हूँ । मै अपने प्रेमीके प्रेममें रोता हूँ, जो मेरा प्रेमी है, वह निरन्तर रोता है और मै भी उसके लिये निरन्तर रोता ही रहता हूँ । सखि ! जिस दिन मेरे-जैसे प्रेमके समुद्रमे तुम डूबोगी, जिस दिन तुम्हारे हृदयमे प्रेमका समुद्र—उसी प्रेमका समुद्र जो मेरे हृदयमें नित्य निरन्तर लहराता रहता है, लहराने लगेगा, उस दिन तुम भी मेरी ही तरह बस, केवल रोती ही रहोगी । सखि ! उन ऑंसुओंकी धारासे जगत् पवित्र होता है, वे ऑंसू नहीं, वे तो गङ्गा एव यमुनाकी धारा है । उनमे डुबकी लगाने-पर फिर त्रिताप नहीं रहते । सखि ! मैं देखता हूं, मेरी गोपी, मेरे प्राणोंके समान प्यारी गोपी रो रही है, मेरी प्रियतमा रो रही है, बस, मै भी यह देखते ही रोने लग जाता हूँ । मेरा हृदय भी रोने लग जाता है । मेरी प्रिया—प्राणोंसे बढ़कर प्यारी गोपी जिस प्रकार एकान्तमे बैठकर रोती है, वैसे ही मैं भी एकान्तमे बैठकर रोता हूँ और रो-रोकर प्राण शीतल करता हूँ । यह है मेरे रोनेका रहस्य ।'

सोचकर देखिये—जिस साधकका, सिद्धका, भक्त-का मन श्रीकृष्णके ऐश्वर्यको ही ग्रहण कर पाया है, वह इस परम मनोहारिणी लीलाका रस ले ही नहीं सकता । उसे भगवान्‌के यों रोनेकी ये बातें समझमे ही नहीं आयेंगी ।

जो शान्तभावसे उपासना करते हैं, उनके लिये केवल श्रीकृष्णका ऐश्वर्यमय रूप प्रकाशित होकर रह जाता है । उन्हें यह नहीं ज्ञात होता कि इससे परे भी कुछ और है, क्योंकि भगवान् जिस किसीको भी जिस रूपमे मिलते हैं, उसीमें उसको पूर्णताका अनुभव हो

जाता है; क्योंकि भगवान् सर्वत्र सब ओरसे परिपूर्ण है। इसी प्रकार दास्य, सख्य, वात्सल्यभावतककी प्राप्ति हो जाती है। पर यहाँतक श्रीराधाजी एव उनके दिव्य भावका प्रकाश नहीं होता। वे प्रकट नहीं होतीं। जो इससे ऊपर उठते हैं, मधुरभावसे उपासना करते हैं और साधनाकी सिद्धि प्राप्त करते हैं, उन्हींके लिये श्रीराधाजी प्रकट होती है। वे ही इस ऐश्वर्यविहीन परम मनोहारिणी लीलाका रस ले पाते हैं।

९३ एक बडा सुन्दर पद है—

स्याम स्याम रटत राधा स्याम ही भई री।
पूछत सखियन सौं प्यारी कहाँ गई री॥

यहाँ प्रेमकी बड़ी विलक्षण अवस्था होती है। श्रीराधा श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधा बन जाते है। यह कविकी कोई कल्पना नहीं है। यह दिव्य चिन्मय प्रेमधाममे होनेवाली लीलाको अनुभव करके उसकी झाँकीका वास्तविक चित्र खींचा गया है। प्रेमरसमें डूबे हुए व्रजके कई सतोंने सचमुच इस दिव्य लीलाका साक्षात्कार किया था और तब पदरचना की है।

९४. सूरदासजीका प्रयाण-काल जब निकट आया, तब गोस्वामी विट्ठलनाथजीने पूछा—'सूरदास! मनकी वृत्ति कहाँ है?'

सूरदासने गाया—

बलि बलि बलि बलि कुँअरि राधिके,
स्याम सुँदर जिन सौं रति मानी।
× × × ×

पदका भाव यह है कि 'धन्य राधिके! समस्त जगत, समस्त ब्रह्माण्डको आनन्द देनेवालेको भी तुमसे आनन्द मिलता है। आगे कहते हैं कि 'तुमलोगोंका रहस्य बडा ही विलक्षण है। श्यामसुन्दर पीताम्बर इसलिये पहनते है कि उसे देख-देखकर तुम्हारी स्मृतिमे डूबते रहें और तुम नीली साडी इसलिये पहनती हो कि श्यामसुन्दरकी स्मृतिमे ही डूबी रहो।'

'अन्तिम क्षणमें पूछा गया—'सूरदास! नेत्रकी वृत्ति कहाँ है?'

उसपर गाया—

खंजन नैन सुरँग रस माते। × ×

यही पद गाकर उन्होंने प्राण छोड दिये। ऐसी ही मृत्यु श्रीकृष्ण हम सबको दे।

९५ प्रेमका आरम्भ यहाँसे होता है—'भगवान्‌की इच्छा पूर्ण हो, वे जिस बातसे प्रसन्न हों, वही हो। मुझे अनन्त जन्मोंतक नरकमे रखकर वे प्रसन्न हों तो मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये, मुझे नरकमें भिजवा दें, मुझे जलानेमें उनको सुख हो तो सदा जलायें।' यह बात नहीं कि प्रेमी ऊपरसे खाली कहता ही हो, वह सचमुच नरकमें जानेके लिये तैयार रहता है। तथा यह बात भी नहीं है कि वह जानता है कि हमें नरक तो जाना ही नहीं पड़ेगा, कह दो, कहनेमें क्या लगता है। वह सचमुच ही नरककी ज्वालामे जलकर प्रियतमके सुखसे सुखी होनेके लिये तैयार रहता है। यह ठीक है कि वह नरकमे नहीं जाता, पर उसके मनमें यह बात नहीं रहती कि मैं नरक नहीं जाऊँगा।

उसके मनमें स्वय शान्ति पानेकी, स्वय सुख पानेकी बिल्कुल—रत्तीभर भी इच्छा नहीं रहती। इसीलिये शास्त्रोंमे प्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं, इससे परे और कोई पुरुषार्थ नहीं है।

९६. श्रीकृष्ण स्वय किसी दिन गाकर सुना दे, फिर तो जगत्‌का समस्त सगीत, सारी राग-रागिनियाँ अत्यन्त तुच्छ हो जायँ। क्योंकि यहाँकी समस्त मधुरता उनकी मधुरताके समुद्रकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। सोचकर देखिये—गानेवालेके गलेकी आवाजमें मिठास कहाँसे आती है? भला रेडियोमें, इतने गानेवालोंके गलेमें जो इतना मिठास भरता है, वह स्वय कितना मधुर गाना गाता होगा। यदि श्रीकृष्णकी मधुरतापर

सचमुच विश्वास हो जाय तो प्राण व्याकुल हो जायँ कि वे कैसे मिले।

९७ नन्ददासजी व्रजके एक बड़े प्रेमी महात्मा हो गये हैं। ये तुलसीदासजीके गुरुभाई थे। पीछे रामप्रेमीसे कृष्णप्रेमी बन गये। एक दोहा प्रसिद्ध है, गोस्वामी तुलसीदासजीने यह लिखकर भेजा—

कहा कमी रघुनाथ में छाडी अपनी बान।

श्रीरामचन्द्रमे क्या कमी थी कि अपनी बान छोड दी अर्थात् रामको छोडकर कृष्णको भजने लगे। उसीके नीचे नन्ददासजीने लिखकर भेजा—(कमी कुछ नहीं, राम-कृष्ण सर्वथा एक हैं, पर)

मन बैरागी ह्वै गयो सुन बंसी की तान।

कहनेका मतलब यह है कि कब भगवत्कृपा प्रकाशित होकर जीवन ऊपर उठ जायगा—यह कोई नहीं कह सकता। अत कृपाकी आशा लगाये रहना चाहिये। चाहे किसीका जीवन कितना ही पतित क्यों न हो, कभी निराश नहीं होना चाहिये। उनकी कृपा होगी तब एक क्षणमें सारा नकशा पलट जायगा।

बुद्धिके साथ-साथ हृदयको विशाल बनाओ

(संत विनोवाके एक भाषणका कुछ अंश)

(प्रेषक—श्रीदुर्गाप्रसादजी)

प्रेमकी शक्ति भारतमें बहुत है, परंतु उस प्रेममेंसे किस तरह सामूहिक बल पैदा करना, यह युक्ति हमको साधनी चाहिये। घर-घरमें प्रेम मौजूद है। समाजमें भी लोग एक दूसरेसे प्रेम करना चाहते हैं, फिर भी आजकी सामाजिक और आर्थिक रचना स्पर्धापर खड़ी है। घरके अदर तो प्रेमका कानून है और पड़ोसीके साथ व्यवहार करना है तो वहाँ स्पर्धाका कानून चलता है। बहुत ही भयानक बात है।

प्रेमकी प्रयोगशाला

सायन्स (विज्ञान) के प्रयोग प्रथम लेबोरेटरी (प्रयोग-शाला) मे छोटे पैमानेपर होते है। अगर वे सफल होते हैं, उनमे लाभ होता है तो फिर उनका ब्रॉड अप्लिकेशन —विस्तृत उपयोग करते हैं। छोटे पैमानेपर मैं इसलिये कह रहा हूँ कि कुछ प्रयोग फील्ड (क्षेत्र) पर भी हुए है। इस तरह पहले छोटे पैमानेपर प्रयोग होते हैं, बादमें उनका विश्व-व्यापक प्रयोग किया जाता है। आप देखते हैं, बिजली-की खोज हुई। पहले उसके प्रयोग छोटे पैमानेपर हुए, बादमें उसका व्यापक उपयोग होने लगा। वैसे ही घर-घरमें छोटे पैमानेपर प्रेमका प्रयोग चलता है। उसका परिणाम क्या होता है? उससे सुख पैदा होता है या दु:ख? यह अनुभव-की वस्तु है कि घरमें प्रेमके कारण सुख, आनन्द ही पैदा होता है। फिर भी उसका सामाजिक एप्लिकेशन (उपयोग) नहीं हो सकता। अगर उससे घरमें दु:ख, असतोष, कष्ट होता होगा तो प्रेमको समाजमें नहीं लाना चाहिये। तब फिर घरमें भी प्रेम नहीं करना चाहिये। परंतु घरमें प्रेमसे सुख होता है, आनन्द होता है—ऐसा ही अनुभव है तो फिर उसको समाज मे क्यों नहीं लाना चाहिये?

घरमें हर व्यक्ति अपनी शक्तिके अनुसार अलग-अलग कमाई करता है। सबकी कमाई इकट्ठी करके सब मिलकर खाते हैं और प्रेमसे रहते है। ऐसा नहीं होता कि हर एकके कर्मका लाभ उसको ही मिलना चाहिये, नहीं तो कर्मकी प्रेरणा बढेगी नहीं। इस वास्ते हर एक अपनी-अपनी कमाईको खाये। लेकिन ऐसा विचार घरमे नहीं होता। वहाँ प्रेमपर विश्वास रखकर मिल-जुलकर सब खाते हैं। परंतु समाजमें चलती है स्पर्धा। इस वास्ते जो जितना कमाता है, वह उतना ही खाता है। कोई ज्यादा कमायेगा तो ज्यादा भोग भोगेगा, कोई कम कमाता होगा तो भूखा रहेगा। कमाते हैं बड़े लोग, परंतु लडकोंने क्या अपराध किया? जो ज्यादा कमाता है, उसके लडकेको तालीम, जो कम कमाता है, उसका लड़का वैसा ही—बिना तालीमका रहेगा। ऐसा क्यों होना चाहिये? दोनोंको बच्चे हैं न? दोनोंके बच्चोंके लिये खानेका, अच्छे पोषणका, तालीमका इतजाम होना चाहिये। लेकिन यह नहीं होता।

गरीबके घरमें जन्म पाया, इसलिये भयकर जाति-भेद हो गया। कोई ब्राह्मण है, श्रीमान् है, तो उसके बच्चोंको तालीमकी सहूलियत और जो गरीब है, उनके लिये वह सहूलियत नहीं। लेकिन अब जमाना बदल गया। इस वास्ते यह मजूर नहीं होगा। श्रीमान् हो या गरीब हो, दोनोंके लड़के तो कमाई करते नहीं, दोनों अज्ञानी हैं, दोनों ज्ञानी बन सकते हैं, दोनोंको अच्छा पोषण मिलना चाहिये। परतु इसका विचार वह कभी भी नहीं करता और ये सारी बातें करता कौन है ? जो घरमें प्रेमका अनुभव करते है और आनन्दका अनुभव करते हैं, वे ही पड़ोसीके साथ व्यवहारमें स्पर्धा करते हैं।

एक स्कूलमें दस-बारह शिक्षक काम करते हैं। बच्चोंको सिखाते हैं। विद्यार्थी सबके बच्चे हैं। सबको एक साथ सिखाते हैं। सारे उन्हींके शिष्य और ये सारे उनके गुरु। परतु एकका वेतन सौ, एकका डेढ सौ और एकका चालीस ही। यह ऐसा फर्क क्यों होना चाहिये ? आज समाजमें ऐसा चलता है तो मान लिया कि अलग-अलग वेतन हर एकको मिलता है। परतु वे सारे शिक्षक एकत्र होकर हर एकके परिवारमें कितने लोग हैं, उस हिसाबसे बॉटकर खायँ तो तुम्हारा आनन्द बढेगा कि घटेगा ? तुम्हारे घरमें तुम अपने भाईको अपनेमेंका हिस्सा देते हो तो आनन्द बढता है या घटता है ? इससे शिक्षकोंको ज्यादा ही मिलेगा। आनन्द घटेगा नहीं।

वासनाकी योजना

यह बड़ी भारी गलती समाज-व्यवस्थामें मौजूद है। इसके परिणामस्वरूप प्रेम घरमें कैद हो गया है। उसकी शक्ति खुलकर समाजके काम नहीं आती। वह सारी घरके अदर खतम हो जाती है। पानी बहता है तो वह स्वच्छ निर्मल रहता है। उसका बहना रुक जाता है तो वही पानी सड़ जाता है, गदा बन जाता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, बदबू आने लगती है। आज वही हालत प्रेमकी हुई है। प्रेमका बहना बद हो गया, वह घरमें रुक गया, इस वास्ते वह सड़ने लगा, उसमें बदबू आने लगी। उस स्नेहका रूपान्तर काम-वासना हो गया। दूसरोंके लिये मत्सर और घरमें काम-वासना ! अपने घरवालोंसे प्रेम करते हैं, इसलिये दूसरोंके प्रति मत्सर करना पड़ता है। यह समाजमें प्रेमका अर्थ हुआ और घरमें प्रेमका क्या अर्थ है ? अपने घरवालोंपर प्रेम यानी उनसे काम-वासना चरितार्थ करनेकी योजना। इस तरह प्रेममें बदबू आने लगी है। इसीलिये श्रीशकराचार्यको कहना पड़ा कि मनुष्यको प्रेम नहीं करना चाहिये।

'जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्।'

नैष्ठुर्य नहीं होना चाहिये। स्नेह, कृपा भी नहीं होनी चाहिये। कितनी भयकर बात है। नैष्ठुर्य तो नहीं, परतु स्नेह भी नहीं। बेचारे स्नेहको शकराचार्यकी मार खानी पड़ी। स्नेह इतना क्यों हतभागी हुआ ? उसको शकराचार्य-जैसे महान् यतिकी मार इस प्रकार क्यों खानी पड़ी ? प्रेम क्या मार खाने योग्य चीज है ? प्रेम मार खाने योग्य चीज नहीं है, परतु वह वैसा बना है। घरके अदर उसने काम-वासना-का रूप लिया है और बाहर मत्सरका। वास्तवमें वह मार खाने लायक नहीं है। क्योंकि शकराचार्यने यह भी कह दिया है—'भूतदया विस्तारय'—प्रेम और करुणाका विस्तार करो। प्रेमका विस्तार नहीं होता तो उसका परिवर्तन दुर्गुणमें हो जाता है।

शक्तिका भंडार

सर्वोदयका कार्यक्रम सब-का-सब प्रेम-विस्तारका कार्यक्रम है। प्रेम जो कैदी बना है, उसको छोड़ दिया और कहा, जाओ तुम अब घूमो बाहर। जैसे अपने घरवालोंपर प्रेम होता है, वैसा ही बाहरके लोगोंपर प्रेम रहेगा और उस वक्त सारे समाजमें प्रेमकी शक्ति प्रकट होगी। आजका समाज स्पर्धाके आधारपर होनेके कारण प्रेमका अनुभव होते हुए भी प्रेमकी शक्ति प्रकट नहीं हो रही है। प्रेममें शक्ति बहुत है, परतु वह प्रेमको खोलनेमें है, बद रखनेमें नहीं। कुछ ताकतें ऐसी होती है जो बंद रखनेसे प्रकट होती हैं और कुछ ऐसी होती हैं जो खोलनेसे प्रकट होती हैं। जैसे भाप है, उसे बद रखनेसे ताकत प्रकट होती है और खोलते हैं तो उसकी ताकत क्षीण होती है। क्रोधको अगर खोल देते हैं तो वह क्षीण हो जाता है। परतु उसको अदर दबाकर रखेंगे, पकड़कर रखेंगे तो तेजस्विता प्रकट होगी। जो बकता है, वह कुछ भी कर नहीं पायेगा। आवेश प्रकट होकर खतम हो गया तो क्रोधकी ताकत गयी, क्योंकि वह खोल दिया गया। दबाया जाता तो बड़ी ताकत प्रकट होती। फिर तेज प्रकट होता। पराक्रमके काम बनते। इस विषयपर महाभारतमें बहुत बार सवाद आते हैं। धर्म और भीमके बीच चर्चा चलती है। किसी भी कारणसे बार-बार भीमको जल्दी गुस्सा आता है और वह आवेशमें आ जाता है। धर्म उसको कहता है 'आवेशको रोक रखो, मौका आनेपर वह पराक्रम करेगा। नहीं तो मौकेपर कुछ नहीं बनेगा।' भीम अपने हाथ बॉधकर

बोलता है—'यह ठीक है, परंतु कबतक और इसको रोकूँ ?' धर्म कहता है, 'जरा सबर करो ।' लेकिन इससे भीमकी ताकत बढ़ी और उसने मौकेपर पराक्रम किया । तो इसमें भीमने कुछ खोया नहीं । इस तरह कुछ शक्ति खोलनेसे क्षीण होती है और कुछ खोलनेसे प्रकट होती है । उदाहरणके लिये बिजलीको लीजिये घरमें बिजली है, परंतु जबतक स्विच दबाकर उसको खोलते नहीं; तबतक अन्धकार ही रहेगा, ताकत अंदर पड़ी रहेगी उसी तरह प्रेम ऐसी शक्ति है, जो खोलनेसे प्रकट होती है । लेकिन वह बंद पड़ी है, इस कारण शक्ति प्रकट नहीं हो रही है । इतना ही नहीं, उससे दुर्जनता प्रकट होती है, विपरीत परिणाम भी होते हैं ।

ज्ञान और हृदयका समन्वय

इस तरह हम प्रेमसे सब धर्मोंका समन्वय करेंगे । इससे किसीके दिलको तकलीफ हो । वे समझेंगे, यह बड़ा आया समन्वय करनेवाला । हम कहते हैं, हम उनसे बड़े नहीं हैं । हमारा जमाना बड़ा आया है । इस जमानेके अनुभवसे हमारी बुद्धि बढ़ी है, इसमें शक नहीं; परंतु उसके साथ हृदय बड़ा बन जाय तो बेड़ा पार है । हम यह नहीं कह सकते कि हमारा हृदय ऋषियोंसे आगे बढ़ा है । बुद्धि जरूर आगे है । बुद्धि और हृदयमें जितना अन्तर होगा, उतना ही असमाधान होगा । हृदय छोटा है, और बुद्धि भी छोटी है, तो भी समाधान हो सकता है । जंगलका जानवर है, कितना सुन्दर होता है । खाता है, पीता है, रहता है । उसका दिल और दिमाग दोनों छोटे-छोटे हैं । इस वास्ते उसके जीवनमें असंतोष नहीं है । असंतोष, असमाधान मनुष्यके जीवनमें है; क्योंकि उसके बुद्धि और हृदयके बीच अन्तर पड़ा है । विज्ञानके कारण बुद्धि बढ़ी है, लेकिन हृदय नहीं बढ़ा । परिणामस्वरूप झगड़े, परस्पर द्वेष पैदा होते हैं । अगर हृदय छोटा है और वह बढ़ता नहीं तो बुद्धिको छोटा बनाओ, ज्ञानको छोटा कर दो । ज्ञान छोटा होता है तो भेड़ोंका, जानवरोंका जीवन मिलेगा । फिरसे वही पुराना जीवन । किसीसे किसीका सम्बन्ध नहीं । पता भी नहीं लगता कि नजदीक कोई गाँव है या नहीं । एक चीनी लेखकने पुराने हिन्दुस्तानका वर्णन किया है । उसने लिखा है, 'दूरसे कुत्तेकी आवाज सुनकर मालूम होता था कि नजदीक कोई गाँव है ।' वैसा समाज बनाना है तो ज्ञान छोटा बनावें, तब हृदय छोटा चलेगा । उसमें पूरा संतोष मिलेगा । यह तो आप चाहेंगे, वैसा बनेगा । परंतु यह बननेवाला नहीं है । इस वास्ते हम कहते हैं, जितना ज्ञान विशाल है, उतना ही हृदय भी विशाल बनावें । इसका नाम 'सर्वोदय' है ।

वनसे आवनी

नीलमनि मनहर बनतें आवत ।
करतल लकुटि धेनुकी हटकनि, बेनु अधर मीठे सुर गावत ॥
नील-स्याम तन मदन-मनोहर अंग-अंग अतिसय छबि पावत ।
बाँकी भौंह कमल-दल-लोचन करि बिनोद सब सखनि हँसावत ॥
कारी-धौरी धूमरि-धूसरि चितकबरी लै नाम बुलावत ।
नाचत कूदत उघटत कबहूँ मंद गयंद गतिहि सरमावत ॥
रूपसुधासर बिमल मनौ ब्रजजुवतिन मन-कुमुदहि बिगसावत ।
मुख-सरदिंदु उदित छिन मह सब गोपिन बिरह-तमिस्र नसावत ॥
बिबिध सौरभित सुमन माल गल, नव पल्लव सुषमा सरसावत ।
चपल ग्वालबालन सँग हिलिमिलि नानाबिध कौतुक उपजावत ॥
निरखि परम सौन्दर्य मधुर अतुलित मनमथ-मन सहज लजावत ।
मोहन छैल छबीलो नटवर सबपर, रूप-ठगौरी छावत ॥

प्रीतिका सदुपयोग

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें नेत्रोंसे देखकर चलनेवाले मनुष्य ही नहीं, कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु आदि सभी प्राणी हैं, पर नेत्रोंसे जो कुछ दीखता है, उसे बुद्धि-दृष्टिसे तत्त्वतः जाननेवाले सहस्रोंके मध्य विरले मानव ही मिलते हैं। बुद्धि-दृष्टिसे देखनेवालोंको ही प्रत्येक वस्तुके भीतरी रूपका ज्ञान होता है और वे ही दूरदर्शी कहलाते हैं। संसारमें जितने भी त्यागी-विरक्त महापुरुष हुए हैं, वे सब-के-सब दूरदर्शी थे, उन्होंने विनाशी देहके पीछे रहनेवाले अविनाशी आत्मा—परमात्माको जाना, अनित्य जीवनके पीछे प्रकाशित रहनेवाले नित्य जीवनको देखा, तभी उन्होंने सुख-दुःखकी सीमा पारकर समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द प्राप्त किया। उन्हीं दूरदर्शी—सत्यदर्शी महापुरुषोंके द्वारा हमें प्रकाश मिल रहा है, उसी प्रकाशमें सुख-दुःखकी सीमामें भटकनेवाले हम दूरदर्शी—सत्यदर्शी हो सकते हैं। ऐसे तो प्रायः प्रत्येक मनुष्यको अपनी समझका भरोसा रहता ही है—विद्याका अभिमान भी सर्वत्र देखा जाता है, पर लाखोंमें इने-गिने लोगोंको ही अपने लक्ष्यका ठीक-ठीक ज्ञान रहता है। वास्तवमें वे ही विद्वान् हैं, जो जीवनका लक्ष्य कहीं भी नहीं भूलते। जीवनका लक्ष्य वही है, जिसकी प्राप्तिसे जीवन पूर्णतामें अवस्थित होता है तथा किसी भी प्रकारकी अपूर्णता—अभावका दुःख शेष नहीं रह जाता। मनुष्यमें शक्तिकी कमी नहीं है, प्रयत्न तथा श्रमकी भी प्रायः कमी नहीं दीखती, कमी है लक्ष्यके ज्ञान और प्राप्त-शक्ति तथा योग्यताके सदुपयोगकी। इस कमीके कारण ही मनुष्य सुखसे तृप्त होना चाहता है, पर लाख प्रयत्न करते हुए भी कहीं तृप्ति अथवा शान्तिका अनुभव नहीं कर पाता है, उसे सुखकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति कहीं नहीं दीख पड़ती। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी दुःख नहीं चाहता, फिर भी पूर्ण प्रयत्न करनेपर भी दुःखसे बच नहीं पाता है। ऐसी स्थितिमें बड़ी लंबी जीवनयात्रा करनेके बाद जब कभी दूरदर्शी—सत्यदर्शी संत महापुरुषके ज्ञानरूपी प्रकाशमें पहुँचनेका सौभाग्य सुलभ होता है, तभी उसे अपनी अदूरदर्शिताका पता चलता है, अपनी भूलका तथा बुद्धिमें ज्ञानकी कमीका ज्ञान होता है।

दूरदर्शी महापुरुषोंके समीपस्थ होकर ही हम जान सके हैं कि मानव-जीवनमें एक सर्वोत्कृष्ट बल है, वह है प्रीतिका बल। इसके प्रयोगमें प्रत्येक मनुष्य उसे ही प्राप्त कर लेता है, जिसे वह अपने लिये सुखद मानकर चाहता है। जो कुछ भी सुखद प्रतीत होता है, उसीके प्रति यदि गहरी प्रीति हो जाय तो अवश्य ही सुनिश्चित यात्राके पश्चात् वही प्राप्त होगा, चाहे वह तुच्छ वस्तु हो या महान्, भोग-सामग्री हो या योगस्थिति हो। प्रीति ही प्राप्ति—योगसिद्धिका साधन है। प्रीतिपात्र वस्तु अथवा व्यक्तिके मिलनेमें पुण्य-कर्म सहायक होते हैं तथा पाप-कर्म बाधक बनते हैं। सच्ची प्रीतिमें समस्त बाधाओं, कठिनाइयों तथा दुःखोंको पार कर जानेकी शक्ति होती है।

सच्ची प्रीतिमें त्याग, तप और दान करना सदा सुगम दीखता है, सच्चा-पक्का प्रेमी पूर्ण त्यागी, तपस्वी और दानी होता है। सच्ची प्रीति उसीके प्रति सिद्ध होती है, जिसका कभी किसी दशामें—प्रतिकूलताके मध्यमें भी त्याग नहीं किया जा सकता। सच्चा प्रेमी आगे-पीछेका चिन्तन नहीं करता, न किसी आशङ्कामें भयातुर होता है और न वर्तमान परिस्थितिमें प्रीतिपात्रके बिना कहीं चैन ही लेता है। प्रेमीमें प्रीतिका प्रवाह कभी टूटता नहीं, मनुष्यमें सारी योग्यता प्रीतिके सदुपयोगसे आती है, दोषोंका पोषण तो प्रीतिके दुरुपयोगका परिणाम है। दूरदर्शी प्रीतिका सदुपयोग और अदूरदर्शी दुरुपयोग करता है। विनाशीसे हटकर अविनाशीकी ओर, देहसे अलग होकर आत्मा की ओर, सुख-दुःखसे विमुख होकर परमानन्दकी ओर, स्वार्थपूर्तिसे विमुख होकर परहित तथा परमार्थकी ओर तथा जडसे विमुख होकर चिन्मय तत्त्वकी ओर देखना तथा उसे ही पानेका प्रयत्न करना प्रीतिका सदुपयोग है; इसके विपरीत आचरण दुरुपयोग है। धन, शरीर, अधिकार-वैभव और ऐश्वर्यके प्रति प्रीतिका उपयोग करनेसे मानव लोभी, मोही और अभिमानी हो गया है, यही मानव अपने आपके प्रति—स्वरूपके प्रति प्रीतिका उपयोग करते ही तत्त्वज्ञानी हो सकता है, परमेश्वरके प्रति उसके उपयोगसे भक्त हो सकता है तथा संसारमें किसी भी वस्तु या व्यक्तिके प्रति प्रीतिका उपयोग न करनेसे मुक्त हो सकता है—यह गुरुप्रदत्त अनुभूति है।

बिखरी हुई प्रीति धागेकी तरह शक्तिहीन होती है, जो थोड़ा आघात लगते ही टूट जाता है, यही प्रीति सिमिटकर एक दिशामें एक वस्तुके प्रति जुड़ जानेपर सुदृढ डोरीके समान हो जाती है। ·· सारी प्रीति समेटकर भगवान्‌की भक्ति चाहनेपर ही भगवान् और भक्ति सुलभ होते हैं। अनेक इच्छा वासनाके बीच भगवान्‌को देखनेकी हलकी-सी साधारण

अभिलाषामें सच्ची प्रीति नहीं रहती । परमेश्वरसे सच्ची प्रीति होनेपर संसारमें कहीं चैन नहीं मिलता । सांसारिक भोग-सुखोंकी चाह रहते परम प्रभुसे सच्ची प्रीति नहीं हो सकती । परम प्रभुके योगानुभवमें भोगासक्ति—सुखासक्ति ही बाधक है, जिसे सुखासक्तिका त्याग करना कठिन दीखता है, वह निस्संदेह परम प्रभुका प्रेमी नहीं है । जिसका त्याग करना कठिन प्रतीत हो, उसीसे सच्ची प्रीति समझनी चाहिये । संसार-से निराश होनेपर ही परम प्रभुके प्रति प्रीति होना सम्भव है ।

''*पूर्ण त्याग ही प्रीतिकी पूर्णताका परिचय है, राग-द्वेषका* अभाव ही पूर्ण त्याग है । प्रलोभन और प्रतिकूलताके द्वारा प्रीतिकी परीक्षा होती है । प्रलोभन और प्रतिकूलतासे विचलित न होनेवाले प्रेमी ही प्रियतम प्रभुको अपनेमें नित्य सुलभ पाते हैं ।

अदूरदर्शी व्यक्तिपर इन्द्रिय ज्ञानका प्रभाव पड़ता है, जहाँ-तक इन्द्रिय-ज्ञानका प्रभाव रहता है, वहाँतक राग-द्वेष नहीं छूटता । जब बुद्धि-ज्ञानका प्रभाव प्रबल होता है, तब राग-द्वेष छूट जाते हैं, प्रलोभन-प्रतिकूलताकी वेदना प्रेमीको विचलित नहीं कर पाती । इन्द्रिय-ज्ञानका आदर करनेवाला मोही होता है, बुद्धिज्ञानका आदर करनेवाला प्रेमी होता है । मोही अपने सुखके लिये प्रेमपात्रको चाहता है, प्रेमी प्रेमास्पदकी प्रसन्नताके लिये ही किसी वस्तुको चाहता है ।

जो परम प्रभुसे प्रीति करता है, उसके आगे सुन्दर पदार्थ—यश, मान, धन, ऐश्वर्य, शक्ति, सिद्धि, स्वर्ग-सुख आते ही हैं, उसके इनके प्रलोभनसे विचलित न होनेपर विघ्न, अपयश, निर्धनता, अपमान, शक्तिहीनता तथा रोग और विपत्ति आदि प्रतिकूलताओंका आक्रमण होता है—यही प्रीतिकी परीक्षा है । जो प्रेमी केवल प्रभुको चाहता है, वह इस परीक्षामें उत्तीर्ण होता है । प्रीतिकी परीक्षा कोई दण्ड या विरोध नहीं है, यह प्रीतिको पूर्ण पवित्र बनानेमें सहायक दैवी विधान है । प्रेमीके लिये प्रीति ही जीवन है, प्रेमी और कुछ नहीं देखता, वह अपनी प्रीतिको ही सदा शुद्ध और निष्कलङ्क रखनेमें सावधान रहता है । परम प्रभुका प्रेमी संसारकी किसी वस्तुको अपनी नहीं मानता । विचारशील प्रेमीके लिये यह गुरु-संदेश नित्य स्मरणीय है कि अखण्ड प्रसन्नताकी चाह हो तो अपनेमें ही अपने प्रियतम-की स्थापना करनी चाहिये, उपासना करनी चाहिये । अपनेसे भिन्न जगत्की वस्तुका चिन्तन-ध्यान हटा देनेपर प्रियतमका चिन्तन-ध्यान अपने-आप होने लगता है । हृदय एकान्त होनेपर ही प्रियतमके प्रति प्रीति स्थिर होती है; हृदयको भिन्न वस्तु और कामनासे रिक्त करना चाहिये, मोहरहित होनेपर ही सच्ची प्रीति प्रकाशित होती है । जिससे नित्य सम्बन्ध है, वही अपना प्रेमपात्र है; वह कभी त्याग नहीं करता, उससे स्वरूपकी एकता होती है ।' प्रियतमसे ही प्रीतिरूपी पूँजी मिली है, उसीसे प्रियतमका नित्ययोग प्राप्त किया जा सकता है, यही जीवनका परम लक्ष्य है ।

जपत न काहे राम-नाम

ए रे मतिमन्द मूढ़ मायामें फँस्यो है कहा,
जपत न काहे राम नाम नित नेह सौं ।
पाय नर-जन्म 'जनसीदन' सुधर्म तजि
विविधप्रकार पाप कीन्हें एहि देह सौं ॥
कबहूँ भज्यौ ना भगवानकौं हृदै सौं हाय,
उलझ्यौ अजौ है मन दारा-सुत-गेह सौं ।
करौ ना दवाई भवरोगकी अबूझ तापै
विषय कुपथ्य नित सेवत सनेह सौं ॥

—स्व० जनार्दन झा 'जनसीदन'

सारा कार्य भगवान्‌का !

(लेखक—श्रीकाका कालेलकर)

(अनुवादक—श्रीगोपालदासजी नागर)

मुझे पहले-पहल गॉधीजीके दर्शन हुए शान्तिनिकेतनमें। मैं कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरको एक देशभक्त और भारतकी संस्कृतिका उत्तम प्रतिनिधि मानता था, इसलिये समीप रहनेसे उनसे कुछ-न-कुछ प्राप्त ही होगा, यह विचारकर शान्तिनिकेतन गया था।

इससे पहले मैं गेरुए कपड़े पहनकर साधु-संतोंकी तरह हिमालयमें घूमा था। पैदल ही लगभग २५०० मीलकी यात्रा की थी। कितने ही साधुओं एवं योगियोंके सम्पर्कमें भी आया था, उनके साथ अनेक वार्तालाप भी हुए थे, किंतु कहीं भी संतोष नहीं मिला था।

मेरे मनमें एक ओर तो स्वराज्यका दृढ संकल्प था और इसके लिये जो जरूरी राजनीति थी, उसे मैं समझता था। वैसा करनेके लिये तैयार भी था, पर दूसरी ओर मुझमें आध्यात्मिकताकी भी भूख थी, भक्तिके प्रति आकर्षण था। मैं यह समझता था कि इन दोनों बातोंका समन्वय नहीं हो सकता था। कोई मार्ग बतानेवाला भी नहीं था। इसलिये हैरान था, परेशान रहा करता था।

शान्तिनिकेतनमें महात्माजीके आश्रमके कितने ही लोग पहलेसे ही आकर रहे थे। उनके साथ मेरा निकटका परिचय हो चुका था। उसके बाद महात्माजी आये। उन दिनों उन्हें लोग 'महात्मा' नहीं, 'कर्मवीर' कहा करते थे। वे वहाँ आठ दिन रहे और इन दिनों उनके पास अवकाश भी था। मैंने उस अवसरसे लाभ उठाया और आठ दिनोंतक उनके पास बैठकर अनेक प्रकारके प्रश्न पूछे—आध्यात्मिक, राजकीय, आरोग्य-सम्बन्धी, प्रत्येक प्रकारके प्रश्न पूछे, चर्चाएँ कीं। अन्तमें विश्वास हुआ कि यही एक ऐसा मानव है, जिसने समस्त जीवनका सम्पूर्ण विकास किया है और उसे भगवद्-भक्तिमें लगा दिया है। उन्होंने मेरी व्यग्रताको दूर किया। उन्होंने कहा कि राजनीतिमें भी आध्यात्मिकता प्रकट हो सकती है। यही नहीं, उसे वहाँ प्रकट करना जरूरी भी है। उन्होंने कुछ इस प्रकार कहा—

'मैं मोक्षकी प्राप्तिके लिये राजनीतिक कार्य करता हूँ। प्रत्येक युगमें अधर्म अपना अड्डा जमानेके लिये कोई खास जगह पसंद कर लेता है और उसमें पूर्णतया व्याप्त हो जाता है। आजके जमानेमें वह राजनीतिक क्षेत्रमें प्रवेश कर गया है। वहाँसे उसे हटाकर धर्मको प्रतिष्ठापित करना है। यदि मैं इस कार्यको न कर सका तो मुझे मोक्ष नहीं मिल सकता। यह ईश्वरका दिया कार्य है।'

इस प्रकार वे सारे कार्य ईश्वरके ही कार्य समझकर करते थे। उनकी सारी श्रद्धा भगवान्‌पर थी। उनकी तीव्र ईश्वर-निष्ठाका एक प्रसङ्ग याद आ रहा है। हम दक्षिण भारतमें खद्दर-यात्राके कार्यमें घूम रहे थे। चिकाकोल खद्दरका अच्छा केन्द्र है। हम वहाँ साँझके सात बजे पहुँचनेवाले थे, किंतु पहुँचे रातके दस बजे। गॉधीजीको चर्खोंका प्रदर्शन करनेके लिये बेचारी बहनें तीन घंटेतक बैठी रहीं। अतः इस गाँवमें पहुँचते ही गॉधीजी सीधे उस स्थानके लिये चल पड़े, जहाँ चर्खेका प्रदर्शन होनेवाला था। महादेव भाई और मैं डेरेपर चले गये। हम सब अत्यधिक थक चुके थे, अतः तुरत ही सो गये।

सुबह चार बजे हम सब प्रार्थनाके लिये एकत्र हुए, तब गॉधीजीने पूछा—'महादेव! कल प्रार्थनाका क्या हुआ?' मेरा हृदय एकदम बैठ गया। महादेव भाईके चुप रहनेपर मैंने कहा—'मैं तो जैसे ही आया, सो गया। प्रार्थना करना भूल ही गया।'

महादेव भाईने तब कहा—'मैं भी भूल गया था, किंतु एक नींद पूरी करनेके बाद जब नींद टूटी, तब बैठ गया और बिस्तरेपर मन-ही-मन प्रार्थना करके सो गया। काका (कालेलकरजी) को नहीं जगाया था।'

बापूने कहा—'रातमें मैं भी प्रार्थना करना भूल गया था। थकावट अधिक होनेके कारण मैं भी सो गया था। जब तीन बजे उठा, तब याद आया। **तभीसे शरीर कॉप रहा है। मैं बहुत ही अस्वस्थ हूँ। सोचता हूँ कि ऐसा कैसे हुआ। भगवान्‌को मैं कैसे भूल गया? जो मेरी प्रत्येक श्वासका मालिक है, जिसके आधारपर ही मेरा सब कुछ चल रहा है, उसे ही मैं निद्राके लिये भूल जाऊँ, तो मैं क्या काम कर सकूँगा? मैं उसकी प्रार्थना करना क्योंकर भूल गया?'**

हमलोगोंने प्रार्थना कर ली और अपने-अपने कार्योंमें लग गये। अवकाश तो महात्माजीको भाग्यसे ही मिलता था। जब वह भोजनके लिये बैठे, तब मैंने पूछा—'बापूजी! एक बात कहूँ?'

हँसकर उन्होंने कहा—'कहो!'

मैंने बताया—'एक संत थे। बड़े ही ईश्वर-भक्त! दिनमें पाँच बार प्रार्थना करते थे। एक दिन वह बहुत थके थे और सो गये। जब प्रार्थनाका समय हुआ, तब किसीने आकर उन्हें जगाया—'उठो, उठो! प्रार्थनाका समय हो गया है।' वह उठे और उसका उपकार मानते हुए बोले—'भाई! आपने तो मेरा बहुत बड़ा कार्य किया है। मेरी प्रार्थना रह जाती तो क्या होता! आपका नाम?'

उसने कहा—'मेरा नाम है शैतान!'

सतको आश्चर्य हुआ। वे बोल उठे—'शैतान! अरे, तुम्हारा काम तो लोगोंको प्रार्थना करनेसे रोकनेका है, धर्म करनेमें हानि या बाधा पहुँचाना है और मुझे तुम प्रार्थनाके लिये जगाने क्यों आये?'

शैतान बोला—'इसमें भी मुझे लाभ ही है। एक बार पहले भी आप इसी प्रकार सो गये थे। प्रार्थनाका समय बीत चुका था। मैं बहुत प्रसन्न था। परंतु जब आप जागे, तब बहुत पछताये, रोये और इतने अधिक दुखी हुए कि ईश्वरके बहुत प्यारे बन गये। प्रार्थना न करनेका पाप तो पछतावेमें साफ हो गया। इसलिये मैंने विचार किया कि फिरसे ऐसा न हो और ईश्वरको आप और अधिक प्यारे बन जायँ, इससे अच्छा तो यही है कि प्रार्थनाके समय मैं आपको जगा दूँ।'

बापूने बातें सुन लीं; बोले—'अपनी भूलके लिये हृदयसे किया हुआ पछतावा ईश्वरके प्रेमका कारण है।'

सन् १९१४ से लेकर अन्ततक मैंने उनका (महात्माजीका) जीवन देखा है। उनका ईश्वरध्यान और चिन्तन देखा है। कभी भी, एक क्षणके लिये भी उसमें विघ्न नहीं पड़ा है। मैंने उनके पैरोंसे माथेतक भगवद्-भक्ति देखी है। कभी भी उन्होंने प्रार्थनाको अधिक समय नहीं दिया तो कम भी समय नहीं दिया। निश्चित समयमें सबके साथ प्रार्थना करनेके लिये बैठते थे और उसमें तल्लीन हो जाते। प्रार्थना पूरी हुई नहीं कि कार्यमें लग जाते थे। यह काम भी भगवान्‌का ही काम है, 'कार्य' मेंसे समय चुराकर 'नाम' में लगानेसे भगवान् नाराज होंगे—यह मानकर वे सारे कार्य भगवान्‌के ही कार्य समझकर करते थे।

('अखण्ड-आनन्द'के सौजन्यसे)

भूमाका तत्त्व

(लेखक—डॉ० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

छान्दोग्य उपनिषद्‌के सप्तम प्रपाठकमें जिस भूमा-तत्त्वकी व्याख्या की गयी है, वह अत्यन्त गूढ़ और गम्भीर है। नारद और सनत्कुमारके सवादमे इस तत्त्वका विवेचन हुआ है। श्रेष्ठसे श्रेष्ठतर वस्तुका वर्णन करते हुए अन्तमें सनत्कुमार सुखपर आ पहुँचते हैं और कहते हैं—'जो भूमा है, वही सुख है। अल्पमें सुख नहीं है। इसलिये भूमाके विषयमें जिज्ञासा करना ही उचित है।' (त्रयोविंश खण्ड)

नारदने कहा कि 'भगवन्! मैं भूमाके विषयको जानना चाहता हूँ।' इसपर सनत्कुमारने उत्तर दिया—'जहाँ साधक अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता, अन्य कुछ नहीं जानता, वह भूमा है। और जहाँ वह अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है, अन्य कुछ जानता है, वह 'अल्प' है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है।'' नारदके यह प्रश्न करनेपर कि 'भगवन्! वह कहाँ प्रतिष्ठित है?' सनत्कुमारने उत्तर दिया था—'अपनी महिमामें, शायद महिमामें भी नहीं।' नासदीय सूक्तके अन्तिम मन्त्रमें भी कहा गया है—

'यह सृष्टि कहाँसे हुई, किसने की, किसने नहीं की—जो इसका अध्यक्ष परम व्योममें रहता है, वह यह सब जानता है या स्यात् वह भी नहीं जानता।' नारद-सनत्कुमार-सवाद तथा नासदीयसूक्तकी विवेचनशैलीका यह साम्य द्रष्टव्य है। उपनिषदोंमें जो भूमाका वर्णन किया गया है, उससे ऐसा लगता है जैसे ब्रह्म अथवा 'पुरुष-सूक्त' के विराट् पुरुषका वर्णन किया जा रहा हो। जहाँतक 'भूमा'के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थका प्रश्न है, यह शब्द बहुत्व, अतिशयता तथा अनल्पताका बोधक है।

स्वर्गीय प्रसादजीने भी कामायनीमें इस शब्दका प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पन्दित विश्व महान ।
यही दुख सुख विकास का सत्य, यही भूमाका मधुमय दान॥'
(श्रद्धा-सर्ग)

दु खको सभी उद्वेगजनक मानते है, तब भगवान्‌ने फिर दु खकी सृष्टि ही क्यों की ? सबको सुख-ही-सुख देते वे ! किंतु श्रद्धा कहती है कि इसमें भी कुछ रहस्य है । दु ख और सुख दोनोंमे समरसता अपेक्षित है । सृष्टि के विकासमे भी दु.ख-सुख दोनों मिले हैं । शिवमें भी स्पन्दनकी शक्ति 'इ' से ही आती है । यदि 'इ'को निकाल दिया जाय तो 'शव'-मात्र रह जायगा । शिव शक्तिसम्पन्न होनेपर ही कार्य करते हैं, अन्यथा उनका स्पन्दनकार्य रुक जाता है । वैसे देखा जाय तो शक्तिमें शिवसे विरुद्ध गुण पाये जाते हैं । शिवमें स्वातन्त्र्य, आनन्द और प्रकाश है; शक्तिमें अस्वातन्त्र्य, अनानन्द और अप्रकाश है । इन्हींके मेलसे यह सारी दुनिया चल रही है । विश्वमें स्वातन्त्र्यके साथ अस्वातन्त्र्य, प्रकाशके साथ अन्धकार तथा आनन्दके साथ अनानन्द भी नितान्त आवश्यक है । रवीन्द्रनाथके शब्दोंमें 'हमारी सबसे बडी आशा ही यह है कि ससारमें दु ख-का अस्तित्व है ।'

प्रसादने यत्र-यत्र विशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया है । 'भूमा' भी एक ऐसा ही शब्द है । 'भूमाका मधुमय दान'से प्रसादका क्या अभिप्राय हो सकता है, इसपर विचार करना आवश्यक है । सत्यके दो रूप होते हैं— (१) सत्य और (२) ऋत । सत्यका सम्बन्ध व्यक्तिसे है, ऋतका समष्टिसे । अपनेको मनुष्य समझना तथा चींटीको चींटी या कुत्तेको कुत्ता समझना, यह व्यक्तिगत सत्यका रूप है । नहीं तो गीताकारके शब्दोंमें—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

ऋत-दृष्टिके अनुसार मनुष्य सबको समानरूपसे देखता है । यह 'आत्मौपम्य-दृष्टि' ही सच्ची दृष्टि है, जिसे 'ऋत'के नामसे अभिहित किया जाता है । यह 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ही मधुर है । मनुष्य जब इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब उसकी वृत्तिको 'मधुमती वृत्ति' कहा जाता है ।

व्यक्ति-दृष्टि सकीर्ण दृष्टि है, समष्टि-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है । ब्रह्म, विभु, विराट्, विष्णु आदि जितने शब्द भारतीय साहित्यमें प्रचलित हैं, वे सब बहुत्व एवं व्यापकताका अर्थ लिये हुए हैं । व्यक्ति केवल अपने स्वार्थको ही लक्ष्यमें रखकर सर्वदा प्रवृत्त हो तो वह अपने लिये सकुचित अहकी एक ऐसी काराका निर्माण कर लेगा, जो अन्तमें जाकर उसका दम घोट देगी । बँधे हुए तालाबका पानी जिस प्रकार गँदला हो जाता है, उसी प्रकार सकीर्ण विचारोंवाला व्यक्ति भी मानसिक पवित्रतासे कोसों दूर रहता है । आज जो भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता दिखलायी पडती है, उसके मूलमें भी संकुचित दृष्टि ही समझिये । भूमाके तत्त्वको हृदयगम करनेकी जितनी आवश्यकता आज है, उतनी शायद पहले कभी नहीं थी । व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्तिमें ही जो अपने जीवनका परमोद्देश्य देख रहे हैं, उनकी दृष्टि सस्कार-सापेक्ष है—

'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'भूतहितमत्यन्तम्' 'सर्वे सुखिनः सन्तु' ।

—आदि आदर्श 'भूमा'के महत्त्वका ही उद्घोष कर रहे हैं—

'भूमैव सुखमस्ति, नाल्पे सुखमस्ति ॥'

तुलसी स्वारथ सामुहो परमारथ तन पीठि ।
अंध कहें दुख पाइहै डिठि आरो केहि डीठि ॥

अनासक्ति

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

बड़ी विडम्बना मालूम होती है यह कहते कि संसारके मायाजालमें पड़ा मनुष्य अनासक्तिका अभ्यास करे। अभिमान-त्याग ही तो केवल अनासक्ति है। अनासक्ति शब्द दो वर्णोंका मेल है, अन्=नहीं और आसक्ति=मिथ्या लगाव। ममत्व आसक्ति नहीं है, पर मोह आसक्ति है। उस ममत्वमेंसे अपना स्वार्थ ढूँढ़ना, ममत्वका बाह्याडम्बर करना और ममत्वपर गर्व करना आसक्ति है। मोह तो स्वयं ही भ्रम है, मायाके इन्द्रजालकी चरम सीमा है।

लगाव और ममत्व तो पग-पगपर दृष्टिगोचर होता है। धरणी धुरीपर सधी है, यह धरणी और धुरीका लगाव है। पृथ्वी एक क्रमसे ही निरन्तर घूम रही है, यह धरणी और घूमनेके विधानका लगाव है। भगवान् भक्तके अधीन हैं और भक्त भगवान्का आश्रित है, यह एक दूसरेका ममत्व है। 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी' यही परमात्मा और जीवात्माका सम्बन्ध है। इसी प्रकार भाई-भाईका, पिता-पुत्रका सम्बन्ध जानना चाहिये। पर इससे भी ऊपर है सम्बन्ध माता और संतानका। एक दूसरे परिवारकी कन्या पत्नीरूपमें पतिके परिवारमें आती है और अपनेको उस परिवारकी रीति-नीति और वातावरणमें इतना ढाल देती है कि अपना घर भूल जाती है, अपने देवताको भूलकर पति देवताकी चरणसेविका बन जाती है और अपनेको अपने देवतामें विलीन कर देनेका प्रयास करती है। उसके लिये बीजको दस मास गर्भमें रख, प्रसव-पीड़ा सहकर 'जननी' रूप धारण करती है। उसकी संततिके प्रति ममताका क्या कहना है! बलिहारी है उसके त्यागकी। अनासक्ति-की सच्ची अधिकारिणी तो वही है।

चुम्बकीय शक्तिके लगाव बिना तो लोकोंकी स्थिति भी असम्भव है। लोक-लोक, ग्रह-उपग्रह, चन्द्र-सूर्य, पृथ्वी-आकाश, जल-पवन, सरिता-सागर, फल-फूल, बेलि-विटप, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु—सभी तो एक आचरणके विधानमें बँधे फूल-फल रहे हैं, विराज रहे हैं। वह लगाव क्षणमात्रको हट जाय तो शायद प्रलय हो जाय। ऐसा लगता है कि कोई ताल-स्वरसे सधा-बँधा मधुर संगीत हो रहा है और समग्र सृष्टिकला उसी तालपर लय बाँधे सधे पैरों नाच रही है।

ऐसे लगावके व्याघातको अनासक्ति कैसे कहेंगे, जहाँ किंचित्-से व्यतिक्रममें तो विश्वाधार कूपमण्डपमें रखी सारी-की-सारी जल गागरें एक दूसरेसे टकराकर अनायास टूट जायँ, लोकस्थितिकी व्यवस्थाका ही लोप हो जाय। अनासक्ति तो बहुत मधुर क्रिया है योगकी। योगका अर्थ है 'मेल'। मेलका ही परम परिमार्जित दिव्य रूप है अनासक्ति और अपरिग्रह—जहाँ भक्तकी अपनी वाञ्छा, अपनी साध बाकी ही नहीं रह जाती। पूर्ण संयोग तो निवृत्तिमें है, प्रवृत्तिमें नहीं, बलिदान और त्यागमें है, स्वार्थमें नहीं, अहंकी भावनाके लोपमें है।

एक स्थलपर महात्मा तुलसीदासने कहा है 'सब कर ममता अरु अग्यानू। मद महीपन्ह कर अभिमानू॥' ममता जिससे मोह और भ्रम उत्पन्न हो और जिससे लौकिक सुखकी साध हो, वह अज्ञानकी श्रेणीमें आती है। जो मन्दबुद्धि हैं, नीच-प्रकृति हैं, महान् संसारी हैं, उनको ममतासे मदान्धता आती है, स्वार्थसे अज्ञानकी सृष्टि होती है और आगे चलकर अज्ञान गर्वका रूप धारण कर लेता है। ममता या आसक्ति दो प्राणियोंमें ही आपसमें न होकर विचारों-विचारोंमें हो सकती है, एक ही मनुष्यको अपने विश्वासों, देह, क्रिया, मन, बुद्धि और वाणीके प्रति हो सकती है और नारदकी भाँति अपने तपोबल और मनोबलके प्रति हो सकती है। किंचित् लाभ हुआ कि लोभ बढ़ा।

अनासक्तिके लिये आवश्यक हो जाता है अपनी इच्छाओं, मनके रागोंको कम करना। संतोषी जीवन,

स्वल्प निर्वाह और निर्लेप आचरण चाहिये । बुद्धिके तर्क और मनकी दौड शुभभावनाओंके पीछे हों । शुभ और अशुभकी परिभाषाएँ बदलती रहती हैं । इसलिये सीधा-सा उपाय यही है कि मनको स्वधर्म, स्वदेश और स्वाध्यायमें लगाये रहें, उसे एक क्षणको भी खाली न रहने दें । मनुष्य 'लापरवाह' न रहकर 'बेपरवाह' रहे और सत-समागम, हरिकथामें लगा रहे । सबसे अच्छा रूप सत-सेवाका है निष्काम परिवार-पालन और पडोसियों तथा अभ्यागतोंकी सेवा-शुश्रूषा । हाथमें काम उत्तम ले, पर करते समय उसमें ऐसा लिप्त हो कि अपनेको भूल जाय । शरीर और मनको चूर करके रख दे । संसार तो कर्म-भूमि है, फिर खेद क्या है । उत्तम कर्म तो भगवान्‌की सबसे बडी सेवा और पूजा है ।

यहाँ दो उदाहरण याद आ जाते हैं । परम वैज्ञानिक न्यूटन अपने प्रयोगोंमें तन्मय होकर देहाभिमान भूल जाता था । उसके सेवकने एक दिन उसकी परीक्षा ली और दोपहरको उसे भोजन ही नहीं दिया । बडी देर बाद जब महात्मा न्यूटनने उससे पूछा कि 'आज खाना नहीं लाये ?' तब उसने कहा 'खाना तो आप खा चुके।' बिना विचारे ही न्यूटन अपने अनुसधानमें लग गया । कितना भोला था वह मनस्वी । दूसरा है संसारमें 'नउनियाँ राग' से रहना । यह कौन-सा राग है ? एक नाइन अपने घरका चौका-बर्तन करती है, पानी भरती है, बालकको दूध पिलाती है और तब यजमानके यहाँ जाती है । पहले घरमें मालकिनकी मृत्यु हो गयी है, मिट्टी पडी है और बडा कोहराम मचा हुआ है । वह भी बैठकर रोने लगती है, गुणानुवाद करते शोक प्रकट करती है। दूसरे घर जाती है, जहाँ बरातके स्वागतकी तैयारी है और भोजन-व्यवस्था हो रही है । वह दौड-दौडकर काम करती है, गीत गाती जाती है । कभी दाल पीसती है, कभी पान लगाती है । तीसरे घर नवजात शिशुका काम करना है । वह बालकको टाँगोंपर लिटाकर मालिश करती है, स्नान कराती है, काजल लगाती है और मल्हाने मल्हाती है । घर लौटकर आयी तो जैसी-की-तैसी, निर्लेप ।

भारतीय परम्परा ही कुछ ऐसी रही है, जहाँ प्रवृत्तिमें निवृत्तिके दर्शन होते हैं । बलि, दधीचि, कर्ण, हरिश्चन्द्रके उदाहरण मौजूद हैं । रन्तिदेवकी कथा यहींकी तो है । वर्णाश्रम-धर्मका मूलमन्त्र ही अनासक्ति था । सतान उत्पन्न की जाती थी लोक-धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये और ससार और कुलके चलानेके लिये । माताएँ अपने लालको खिला-पिलाकर हवामें धूलमें पडा छोड देती थीं और गृहकार्य और देवसेवामें लग जाती थीं । बालकोंके साथ पशु-पक्षी खेला करते थे । बालक बडा हुआ तो गुरुकुलमें चला गया और बीस वर्ष ब्रह्मचारी रहा । वहाँ वह एक बार भिक्षाटन करता और देह, मन और बुद्धिको कसता था । तब रूप, यौवन, गुण और बलसम्पन्न युवा गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता था और एक सुयोग्य सारथिकी नाईं पारिवारिक रथका संचालन करता था । राजा होते हुए उसे कुछ भी अदेय नहीं था और सामान्य गृहस्थ होते हुए भी वह एक-दो अभ्यागतोंकी सेवा तो कर ही सकता था । उसकी आवश्यकताएँ ही तीन थीं—लोकसेवाका सबल, शरीर-पालनभरको अन्न और न्यूनाच्छादनको वस्त्र । वानप्रस्थ-आश्रमके लिये तुरंत उद्यत हो जाता था लोटा, कम्बल और माला लिये । पचास वर्षकी आयुमें क्षमता रखता था स्त्रीको साथ लिये देशपर्यटनकी और तीर्थदर्शनकी । फिर क्या, न्यास-क्रियाके द्वारा संन्यास लेकर भगवत्-सानिध्य प्राप्त करता था स्वार्थी बनकर । पर तब भी उसका दिव्य आलोक सम्पर्कमें आनेवालोंका स्वत कल्याण करता था । अनासक्तिकी यही परम्परा चलती रहती थी ।

अनासक्तिका अति दिव्य लौकिक दृष्टान्त है श्रीकृष्ण और दुर्वासाकी होड कि कैसे एक सदाके ब्रह्मचारी थे और एक सदाके भूखे । इससे भी रमणीय दृष्टान्त

श्रीकृष्णकी रासलीलाका है। मनुष्य अपने मनको श्रीकृष्ण मान इन्द्रियरूपी गोपिकाओंके साथ नृत्य करके वैरागी बने। यह क्रिया कठिन नहीं है, केवल भाव-बन्धनकी है। चित्तका संसार अमल तो आनन्द प्राप्त। बन्धनमें बँधकर मुक्तिका आनन्द लेना बड़ा रोचक है। नित्यके कामोंको कृष्णार्पण कर दें तो कामोंकी कमी नहीं होगी। मनमें 'राम'का निरन्तर जाप चलता रहे और बाहर कार्य होता रहे। आत्मसमर्पण ही कलाकी मधुरिमा है। यह आसक्ति ही अनासक्तिका परम ध्येय है—'भाव तो अनेकसे, लगाव किंतु एकसे'।

भगवान् श्रीकृष्णका गोपालन

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी)

भारत जब भी अपने मार्गसे भटका है, उसकी संस्कृति, उसकी सामाजिक व्यवस्था, उसके अर्थ, उसकी राजनीति और उसकी स्वतन्त्रतामें जब-जब विकृति, विकार और विस्मृतिके भाव आये हैं, तब-तब कोई-न-कोई महान् मानवी शक्तिद्वारा उस कालके समाजका नेतृत्व किया गया है और पथभ्रान्त मानवको उसके कल्याणका रास्ता बताया गया है। भारतके प्राचीन इतिहासकी परम्परामें द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी ही एक महती मानवी शक्तिके रूपमें अवतीर्ण हुए। भारतीय संस्कृतिमें, इस देशकी सभ्यतामें ऐसे अतिमानवी शक्तिपुञ्जोंको अवतारी पुरुषकी संज्ञा दी जाती है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

और 'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार' यह गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारोंका इतिहास किसीसे छिपा नहीं है। द्वापरमें जब कंसके अत्याचार बढ़ रहे थे, मानव शोषित और पीड़ित थे, उनके आचार-विचार, संस्कृति और स्वतन्त्रतापर आघात किया जा रहा था, सामाजिक व्यवस्था विशृङ्खल हो रही थी, समाजकी इस विकृतावस्थामें उसकी समुचित व्यवस्थाके लिये किसी वाञ्छनीय व्यक्तिके प्रवेशकी आकाङ्क्षा उस समयके समाजमें बलवती हो उठी और इसी समय भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव होता है। ऐसे महापुरुषोंके जन्मके जो हेतु होते हैं, वे उस कालकी आवश्यकताके अनुरूप हुआ करते हैं। उस कालकी सामाजिक व्यवस्था, उसकी संस्कृति, उसके आचार-विचार, उसकी अर्थनीति आदि बातोंको समुन्नत करने, नैतिकता, उदारता, सहिष्णुता, शान्ति और सदाचारकी स्थापना करने तथा देशाभिमानकी गौरव-गरिमा बढ़ानेके लिये इन युग-पुरुषोंका प्राकट्य होता है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अनन्त कालसे अनेक अवसरोंपर ऐसे अतिमानव हुए हैं और सभीने अपने-अपने समयके, उस कालके अनुरूप समाजका नेतृत्व किया है। किंतु यह सर्वमान्य है कि लोककल्याणकारी बातें, सभीने प्रायः एक-सी कही हैं, एक-सी की हैं, इसमें मत-वैषम्य देखनेको हमें नहीं मिलता।

भारत एक पुरातन देश है, इसकी सभ्यता, संस्कृति और धर्मकी धरती कुछ ऐसी है कि इसपर अनेक बार विदेशी आक्रमण हुए, दासताकी जंजीरोंसे यह जकड़ी गयी, युगोंतक पराधीन रही, पर इसकी सभ्यता, इसकी संस्कृति और इसके धर्मकी मर्यादाएँ अमिट रहीं; उनपर गुलामीकी छाया तो पड़ी पर छाप न लग सकी, वह आवरण न बन सकी। इसका कारण यह है कि भारत एक संस्कृतिप्रधान धर्मप्राण देश है। इसकी मूलभूत एकता भी इसकी सामञ्जस्ययुक्त संस्कृति और धर्मपर आधारित है। मेरा 'धर्म' शब्दका अभिप्राय संकीर्ण न होकर व्यापक है, विस्तीर्ण है—एक विशाल वट-वृक्षकी भाँति, जिसकी शाखाएँ भारतके विशाल नगरोंसे लेकर सुदूर गाँवोंमें फैली हैं।

पहले कहा जा चुका है कि जब-जब कोई महापुरुष इस देशमें अवतीर्ण हुए हैं, उन्होंने समाजकी उस कालकी आवश्यकताके अनुरूप अपना कार्य चुना है। भगवान् श्रीकृष्णका नाम हमारी जिह्वापर आते ही उनके गोप्रेमका भव्य रूप हमारे सामने आ जाता है। उन्होंने अपने जीवनके एक

महत्त्वपूर्ण कालमें गोपालनका कार्य स्वतः किया । इसी कारण उनका नाम 'गोपाल' हुआ । हमारे सामने यह प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने गोपालन क्यों किया । किसी भी व्यक्ति, समाज और देशके लिये उसकी शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक अवस्थाका सुदृढ होना आवश्यक है । जिस व्यक्ति, समाज या देशकी शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक अवस्था कमजोर है, वह अधिक समयतक जीवित नहीं रह सकता । गोवश भारतमें इन उत्पत्तियों-उपलब्धियोंका जनक है । हमारे श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और आधुनिक साहित्यके ग्रन्थ गोवंशकी गौरव-गरिमासे भरे पड़े हैं । पुराणोंमें उल्लेख है कि जगत्में सर्वप्रथम वेद, अग्नि, गाय तथा ब्राह्मणकी रचना हुई । शास्त्रोंके अनुसार गाय धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष—चारों पदार्थोंकी देनेवाली है । अत मनुष्यका और गायका अनादिकालसे नैसर्गिक सम्बन्ध है । यह जब-जब हमसे पृथक् हुई या हमने इसे भुलाया, हमारी अवनति हुई है । त्रेतामें रावणने अपनी विजयका उपाय किया, उसे गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

सुनहु सकल रजनीचर जूथा ।
हमरे बैरी बिबुध बरूथा ॥
ते सनमुख नहि करहिं लराई ।
देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥
तेन्ह कर मरन एक बिधि होई ।
कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥
द्विजभोजन मख होम सराधा ।
सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥
छुधा छीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहिं आइ ॥
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ भली भाँति अपनाइ ॥

और उन सेनापतियोंने क्या किया—

जेहि जेहिं देस धेनु द्विज पावहि ।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहि ॥

रावणने तो द्विजभोजन—घी-दूध आदिकी उत्पत्तिमें रुकावट डालनेकी आज्ञा दी थी, सेनापतियोंने दूध उत्पन्न करनेवाली गायोंको ही समाप्त कर दिया । अंग्रेजोंने भी अपने साम्राज्य-विस्तारके लिये यही रास्ता अपनाया था । लीलापुरुषोत्तम भगवान् गोपालका गो-प्रेम अविच्छिन्न एव अमिट है । गो-पालक गोपालके सरस वर्णनमें व्रजभाषा-साहित्य सूररूपी सूर्यसे आलोकित है । कंसके कालकी गायोंके सम्बन्धमें कविकी एक प्रार्थना सुनिये—

खाय कें घास औ पात सबै,
जल पान करैं सब ताल तलैया ।
साँझ भएँ घर आपुहि आवत
कोउ न, चाहिए जाहिं ढुँढैया ॥
है जग देव सरूप गऊ हा,
ताहि सतावत कस कसैया ।
गोवध टारन जतन करौ,
नहि, भारत की अब डूबत नैया ॥

भगवान् श्रीकृष्णके गो-धन सरक्षण और सवर्धनकी अनेक कथाएँ पुराणोंमें हमे मिलती हैं । उनका गोचारण, पयः-पान, माखन और दधिकी चोरी तथा गोपूजन भारतवर्षमें इस वशकी रक्षा और उसके सवर्धनके लिये ही किये गये हैं ।

गोपालके गो-प्रेमकी कुछ झाँकियाँ देखिये—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

आज हौं गाय चरावन जैहौं ।
बृदावन के भाँति भाँति फल अपने कर मैं खैहौं ॥

माखन-रोटीके लिये खीझते हुए वे कहते हैं—

मैया कबहि बढ़ैगो चोटी ।
किती बार मोहि दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ।
काँचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ॥

हमारे श्यामको भोजन करानेके लिये उनकी प्रिय सामग्री लाकर नन्दरानी कहती हैं—

कमल नैन हरि ! करौ बियारी ॥
× × ×
दूध, बरा, उत्तम दधि, बाटी,
दाल मसूरी की रुचि न्यारी ।
आछौ दूध औटि धौरी कौ लै आई रोहिनि महतारी ॥

जेंवत स्याम नद की कनियाँ ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखत नँद रनियाँ ॥
बरी, बरा बेसन बहु भाँतिनि ब्यजन बिबिध अनगनियाँ ।
डारत, खात, लेत अपनैं कर रुचि मानत दधि दोनियाँ ॥
मिश्री दधि माखन मिश्रित करि मुख नावत छवि धनियाँ ।
आपुन खात नद मुख नावत, सो सुख कहत न बनियाँ ॥
× × ×

और जब घनश्यामको माखन-चोरीका आरोप लगता है, तब वे उसका निराकरण इस प्रकार करते हैं—

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायौ।
मार मयो गायन के पाछे मधुबन मोहि पठायौ॥

और उन्हें गोचारण केवल अपनी ही गायोंका नहीं, अपितु अपने साथी सभी ग्वालबालोंकी गायोंका करना पड़ता था। वे कहते हैं—

मैया! मैं न चरैहौं गाई।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मोरे पायँ पिराई॥
—इत्यादि

जब श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं, तब उनके वियोगमें जो दुस्सह दुःख गोपी-ग्वालबालोंको ही नहीं, गायोंतकको होता है, उनकी उस समयकी दशाका चित्रण सूरदासजीने इस प्रकार किया है—

कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात।
सुनहु स्याम! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बितात॥
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत हैं मलिन बदन कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हिमी हित अंबुज गन बिनु पात॥
—आदि

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अनेकों भृत्योंके रहते भी गोचारणके कार्यको महान् समझकर स्वयं ही किया और गौओंको नंगे पाँवों चराया; क्योंकि वे गौको भारतकी सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक बुनियाद मानते थे।

गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णके गोचारणके सम्बन्धमें कहती हैं—

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून्
नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः
कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ११)

अर्थात् हमारे प्यारे स्वामिन्! तुम्हारे चरणकमल सुकोमल और सुन्दर हैं। जब तुम गौओंको चरानेके लिये व्रजसे निकलते हो, तब यह सोचकर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़-तृण और कुश-काँटे गड़ जानेसे कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन और दुखी हो जाता है।

वृन्दावनमें भगवान् श्रीकृष्णके गोचारणके सम्बन्धमें जो वर्णन आया है, वह इस प्रकार है—

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो
गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद्
विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। २)

अर्थात् यह वन गौओंके लिये हरी-हरी घाससे युक्त एवं रंग-बिरंगे पुष्पोंकी खान हो रहा है। आगे-आगे गौएँ, उनके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्यामसुन्दर, तदनन्तर बलराम, और श्रीकृष्णके यशका गान करते हुए ग्वालबाल—इस प्रकार विहार करनेके लिये उन्होंने उस वनमें प्रवेश किया।

आगे गौकी उपयोगिताके विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम्।
यद्गृहे दुःखिता गावः स याति नरके नरः॥

अर्थात् सभी प्राणियोंके लिये गाय उत्तम आश्रय है, जिसके घरमें गाय दुखी रहती है, वह मनुष्य नरकमें जाता है।

आगे उन्होंने कहा है—

तृणानि शुष्काणि वने चरित्वा
पीत्वापि तोयानमृतान् स्रवन्ति।
यद् गोमयाद्याश्च पुनन्ति लोकान्
गोभिर्न तुल्यं धनमस्ति किंचित्॥

अर्थात् गाय ऐसी उपकारिणी है कि सूखे घासको वनमें चरकर और जल पीकर अमृत-सदृश दूध देती है और जो गोबर-मूत्र आदि हैं, वे लोगोंका परम उपकार करके उन्हें पवित्र करते हैं। इसलिये गौके समान कोई धन नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपने कालमें गोवंशकी महती सेवा की थी। भारत एक कृषि-प्रधान और निरामिषभोजी देश है। यहाँकी अस्सी प्रतिशत आबादी गाँवोंमें बसती है। उनके मनपर भारतके प्राचीन गौरवकी अमिट छाप है; उनका रहन-सहन, भोजन-वसन, आचार-विचार, धर्म-संस्कृति—सब कुछ प्राचीन है। इन ग्रामीणोंकी आजीविका कृषि है। गोपालन करके दुग्ध, दही और घीका उत्पादन और गायोंद्वारा उत्पन्न बछड़ोंसे खेती करना इन अस्सी प्रतिशत भारतीयोंका मुख्य अवलम्ब रहा है। उनके स्वास्थ्यके संरक्षण, उनके बुद्धिके विकास और शरीरके पोषणकी कुंजी गो-धन ही है तथा सुन्दर और स्वस्थ बैलोंसे खेती होती है। भारतकी इस मूलभूत आवश्यकताको दृष्टिमें रखकर ही भगवान् घनश्यामने गोवर्धनकी पूजाका अनुष्ठान किया था। उनका यह मत था कि गोवंशका संरक्षण और संवर्धन भारतीय जनताका बौद्धिक, शारीरिक और आर्थिक

प्रश्न है। उसकी एकात्मता और अखण्डताके लिये उन्होंने भारतकी सस्कृतिमें गोधनकी महत्ता स्वीकार की। उनका मन्तव्य रहा—भारत प्रधानतया कृषिप्रधान देश है, कृषिके लिये बैलों, खादके लिये गौका गोबर और मूत्र तथा देशके स्वास्थ्यके लिये शुद्ध दुग्ध, दही और घृतकी सदा और सत्वर आवश्यकता रहेगी भारतवर्ष और उसकी भावी संतति कभी निर्बल, निस्तेज और निरीह न बने, भारतीयोंके सामने गौ-की-सी उदारता, पवित्रता, परोपकारिता और सहिष्णुता रहे और उनके मन गो-पुत्र बैलोंके-से कर्मठ, श्रमजीवी, लोक-हितकारी तथा निरन्तर उद्यमी हों—यही उनकी कल्पना थी और यही उनका गोपालनका हेतु था। यही आदर्श था। आज भी हमारे देशकी वही परिस्थिति है, अत. गायका वही महत्त्व है।

भगवान् श्रीकृष्णका गोपालनका यह सदेश गोमाताकी इस वन्दनासे समाप्त करता हूँ—

> त्वं माता सर्वदेवानां
> त्वं च यज्ञस्य कारणम्।
> त्वं तीर्थं सर्वतीर्थाना
> नमस्तेऽस्तु सदानघे॥

'हे पापरहिते! तुम समस्त देवोंकी जननी, तुम यज्ञकी कारणरूपा हो; तुम समस्त तीर्थोंका महातीर्थ हो, तुमको सदैव नमस्कार।'

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(३)
आकर्षक व्यक्तित्व

मधुमक्खियाँ मधुकी ओर आकर्षित होती हैं और पानी ढालकी ओर बहता है। पृथ्वी सूर्यके चारों ओर चक्कर लगाती है और चन्द्रमा पृथ्वीके चारों ओर भ्रमण करता है। प्रत्येक प्राणी अपने हित और अहितको पहचानता है तथा अपने हितकी ओर ही बढ़ता है। प्रत्येक वस्तु अपने अनुकूल वस्तुकी ओर जाती है। यह समस्त विश्व आकर्षण-शक्तिके शाश्वत नियमोंद्वारा संचालित है। वे ही नियम व्यक्तित्वके लिये भी लागू होते हैं। लोग उसीकी ओर आकर्षित होते हैं, जिसका हृदय शुभकामनाओंका स्रोत है, जो सबके प्रति मैत्रीभाव रखता है, उसीके पास लोग बैठना चाहते हैं और उसीके साथ बातें करना चाहते हैं। सुखके ही लिये जीवोंकी प्रत्येक प्रवृत्ति होती है और हम उसीके सम्पर्कमें रहनेका प्रयत्न करते हैं, जिसका सम्पर्क हमें सुखद लगता है। और जिसकी ओर जीवोंका मन आकर्षित होता है, उसीकी ओर समृद्धियाँ भी आकर्षित होती हैं। ईश्वरके वरदान हमें सेवाके ही लिये प्राप्त होते हैं।

नित्य प्रात काल भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! आजका दिन मेरे लिये और मेरे सम्पर्कमें आनेवालोंके लिये मङ्गलमय हो। मेरा सम्पर्क उनके लिये सुखद हो। आज मैं जिससे भी मिलूँ, उसके प्रति मेरा हृदय शुभ कामनाओंसे लबालब भरा रहे। आज मैं जो भी शब्द मुखसे निकालूँ, वह संतोंकी वाणीके समान अमृतसे सना हुआ निकले। आज मैं जो भी कार्य करूँ, वह दूसरोंकी उन्नतिमें सहायक बने। आजकी मेरी समस्त दिनचर्या भगवान् सूर्यकी दिनचर्याके समान सबके लिये कल्याणकारी सिद्ध हो। आज मैं जिसको भी देखूँ, उसको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ। आज मेरे मित्रोंकी सख्यामें भी वृद्धि हो और उनके प्रति मेरा प्रेम भी दृढतर हो जाय। आजका दिन मेरी आध्यात्मिक प्रगतिमें एक नया अध्याय खोले और आज मैं ईश्वरके राज्यकी ओर एक कदम और आगे बढाऊँ। मैं त्याग और तपके आनन्दका स्वाद चखकर दूसरोंको भी इस आनन्दकी ओर आकर्षित करूँ।'

फिर सायकाल इसी प्रार्थनाको दोहराना चाहिये कि 'हे प्रभो! आज मे दिनमें जिनसे मिला हूँ, जिनसे मैंने वार्तालाप और व्यवहार किया है, जिनके बारेमें मैंने चिन्तन किया है या जिन्होंने मेरे बारेमें चिन्तन किया है, उन सबको आप सुख, शान्ति और समृद्धि प्रदान करें। जिनके बारेमें मैंने अशुभ-चिन्तन किया है, उनसे मैं क्षमा-याचना करता हूँ। जिनके बारेमें मुझे गलतफहमी हुई है, उनसे भी मैं क्षमा माँगता हूँ। सब जीव मुझको क्षमा करें और मैं सबको क्षमा करता हूँ। सब प्राणियोंमें परस्पर मैत्रीभाव हो। मुझे किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं है।'

दिनमें आप जब भी किसीसे मिलें, तब सबसे पहले मन-ही-मन उसके कल्याणके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। जब आप किसीको अभिवादन करें, तब उसमें स्थित भगवान्के दर्शन करें और साक्षात् उन भगवान्को ही अपना प्रणाम निवेदन करें। जिसके निकटसे भी आप निकलें, उसके आरोग्य और सौभाग्यके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हुए निकलें। जिसे भी आप कोई वस्तु बेचें या उपहारमें दें, प्रभुसे यह प्रार्थना करते हुए प्रदान करें कि 'हे भगवन्! यह वस्तु अमुकके लिये कल्याणकारी सिद्ध हो।' आप अपने जिन किन्हीं स्वजन या मित्रको पत्र लिखें, पत्र लिखनेसे पहले भगवान्से प्रार्थना कर लें कि 'हे दयामय! मेरा यह पत्र उनको आश्वासन और प्रोत्साहन प्रदान करे तथा जब यह पहुँचे, तब वहाँ सब तरहके कुशल-मङ्गलके दर्शन करे!'

जब भी हम किसी घरमें प्रवेश करें, मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! इस घरमें रहनेवाले प्राणियोंको आप सद्बुद्धि और सद्भावना प्रदान कीजिये ताकि यहाँ सुख-समृद्धिका निवास हो।' जब किसी सभाभवनमें प्रवेश करें, तब भगवान्से मन-ही-मन प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! इस सभामें सब सदस्य परस्पर सहयोग और सहानुभूतिके साथ तत्त्वचर्चा करें और सब सर्व-सम्मतिसे लोकोपकारके निर्णय करें।' इसी प्रकार जब हम देशाटन करें, तब भी जिस नगरमें पहुँचें, उस नगरके निवासियोंकी श्रीवृद्धिके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये।

अपनी शुभकामनाएँ हम दूर-दूरतक भेज सकते हैं। जिसके आरोग्य और सौभाग्यके लिये हम प्रार्थना करना चाहें वह चाहे जितनी दूर हो, हमारी प्रार्थना अविलम्ब उसको प्रभुके वरदान प्रदान करनेमें समर्थ होती है। तत्काल हमारी प्रार्थनासे उनको शक्ति प्राप्त होती है। ध्यान-मग्न होकर यदि हम कई व्यक्ति मिलकर कुछ समयतक लगातार किसीके कल्याणके लिये प्रार्थना करें तो भगवत्कृपासे उसको नवजीवन, नयी स्फूर्ति और नया उत्साह प्राप्त हो सकता है।

जब हमारे मस्तिष्कसे शुभकामनाओंकी अमृत-किरणें प्रवाहित होती रहती हैं, तब हम दूसरोंकी तो सेवा करते ही हैं, स्वयं अपना भी वास्तविक हित करते हैं। भौतिक जगत्में अपना स्वार्थ सिद्ध करनेका भी एकमात्र उपाय यही है कि हम निरन्तर दूसरोंके लिये मङ्गलकामनाएँ करते रहें। इससे हमारा दिमाग एक क्षणके लिये भी बेकार नहीं रह सकता। खाली दिमागमें शैतानका बसेरा हो जाता है। निठल्ले व्यक्तिको तरह-तरहके निराधार भय, चिन्ताएँ और संदेह घेर लेते हैं। फिर उनके जालसे निकलना कठिन हो जाता है। अतएव सदा कोई निश्चित लक्ष्य अपने सामने रखकर योजनापूर्वक उसको प्राप्त करनेके लिये अथक अध्यवसाय करना चाहिये। जिसका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है, वह सभीका स्नेह-भाजन बन जाता है। सृजनात्मक विचारोंको ही मनमें आने देना चाहिये। किसी-न-किसीकी सेवा करनेकी कल्पनाएँ ही हर समय करना श्रेयस्कर है। आप दूसरोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कीजिये, उनके कष्टोंका निवारण कीजिये, उनको सुख प्रदान कीजिये तो वे आपकी चिन्ता करेंगे और आपको स्वयं अपनी जीविकाकी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। जो आज बेकार हैं, वे तभीतक बेकार रहते हैं, जबतक वे सेवाको अपने जीवनका लक्ष्य नहीं बना लेते। जो भी सेवाका व्रत ग्रहण कर लेता है, उसको कम-से-कम रोटी-कपड़ेका अभाव तो नहीं ही रहता। जो काममें लगे हुए हैं, उनकी सेवाको ही यदि ये सब बेकार लोग अपना कर्तव्य मान लें तो बेकारीकी समस्याका हल तो हुआ रखा है। आवश्यकता इस बातकी है कि मजदूरीकी कोई माँग न करके केवल सेवाभावसे ये लोग अपने कर्तव्यका पालन प्रारम्भ कर दें। कहावत है कि बेकारसे बेगार भली। और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बेगारसे कम मजदूरीका काम भला। आज हमारे सामने राष्ट्र-निर्माणके इतने बड़े-बड़े काम पड़े हैं कि इसमें जितने भी लोग लग जायँ, थोड़े हैं। और सेवाभावसे जो लोग कर्मक्षेत्रमें कूद पड़ेंगे वे, जनताकी श्रद्धाके पात्र बन जायँगे। जनता उनको जो कुछ भी देगी, वह थोड़ा चाहे हो, परंतु होगा श्रद्धा-कुसुम। निर्वाह उनका अब भी हो रहा है और तब भी निर्वाह तो हो ही जायगा। संतोष, त्याग और तपपूर्वक सेवाके आदर्शकी परम आवश्यकता है।

जो हमारे लिये शुभ कामनाएँ करता है, उसकी ओर हमारा मन आकर्षित होता है। वह हमारा मित्र बन जाता है और हम हर प्रकारसे उसकी उन्नतिमें सहायक बननेका प्रयत्न करते हैं। उसके लिये हमारे घर और हृदयके द्वार हर समय खुले रहते हैं। हम अपने ज्ञानके कोषसे बहुमूल्य उपहार उसको भेंट करते रहते हैं और समय-समयपर अमूल्य सुझाव देकर अपने मित्रको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा देते हैं। हमसे चाहे जितनी दूर रहनेपर भी हमारा मित्र अपनी विचार-तरङ्गोंके माध्यमसे हमारे पास आ जाता है और हमारे

ज्ञानोद्यानके पुष्पोंका सौन्दर्य और सौरभ उपभोग करता है।

जब हम अपने मित्रोंके लिये मङ्गलकामनाएँ करते हैं, तब बदलेमें हमें भी रात-दिन मङ्गलकामनाओंकी अमृत-लहरें अपने मित्रोंसे प्राप्त होती रहती हैं। इस शुभ कामनाओंके आदान-प्रदानद्वारा दो मित्रोंके बीच अमृतकी नदी बहती रहती है और वे दोनों मित्र मानो इस सुधा-सरिताके दो तट होते हैं। आदान-प्रदानसे ही दो हृदय निकट आते हैं और निश्छल प्रेममें वे एकरस हो जाते हैं। अपनी ज्ञान-वाटिकाके अच्छे-से-अच्छे पुष्पोंके गुलदस्ते बनाकर जब हम अपने मित्रको भेंट करते हैं, तब वह भी अपनी वाटिकाके ज्ञान-सुमन चयन करके उनकी माला गूँथकर हमें भेंट कर जाता है। यह प्रेम ही जीवन है।

जहाँ निष्कपट प्रेम है, वहीं सुमति है और जहाँ सुमति है, वहीं समस्त सम्पत्तियाँ और सफलताएँ रमण करती हैं। शुभकामनाओंसे परिपूर्ण चित्तमें उच्चकोटिकी प्रतिभाका उदय होता है। लोकोपकारकी इच्छा रखनेवाले ही बड़े-बड़े आविष्कार करते हैं तथा ज्ञान-विज्ञानके क्षेत्रमें नये-नये अनुसंधान करनेमें समर्थ होते हैं। जिनके हृदयमें जन-सेवाकी प्रबल कामना होती है, उनके पास आवश्यक ज्ञान और साधन स्वयमेव खिंचे चले आते हैं। उनको किसीका द्वार नहीं खटखटाना पड़ता। लोग स्वय उनके घर आकर उनका दरवाजा खटखटाते हैं और अपना-अपना सहयोग उनके चरणोंमें निवेदन करते हैं। सच्चे जनसेवकोंको समाचार-पत्रोंमें अपीलें नहीं निकालनी पड़तीं। धन स्वयं आकर उनके चरणोंमें गिरता है और अपने आपको धन्य मानता है। लोग उनके दर्शनोंके लिये दौड़े चले आते हैं और उनसे उच्च जीवनकी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। उनके सामने लोग अपनी-अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ विस्तारसे खोलकर रख देते हैं और उनके ज्ञानके प्रकाशमें अपनी समस्याओंका हल खोज निकालते हैं। उनसे किसीको भी किसी प्रकारके अहितका भय नहीं होता। न उनके पास जानेमें किसीको हिचक होती है। सब उनको अपना निकटतम सुहृद् समझते हैं; क्योंकि वे भी सबको अपना सच्चा हितैषी समझते हैं।

जिनके साथ हम नित्य सम्पर्कमें आते हैं, उनके प्रति मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण रखनेसे हमें बहुत-सी नयी-नयी उपयोगी बातें सीखनेको मिलती हैं। दूसरोंसे प्रेम करनेका अर्थ है—उनके व्यक्तित्वमें दिलचस्पी लेना। मुखमुद्रा, बोलचाल तथा वेश-भूषामें हमारा हृदय प्रकाशित होता है। जब हम दूसरोंके व्यक्तित्वमें दिलचस्पी लेते हैं, तब वे भी हमारे व्यक्तित्वमें दिलचस्पी लेते हैं। जो लोग दिलचस्पीके साथ दूसरोंके जीवनका अध्ययन करते हैं, वे ही कुशल लेखक और वक्ता बनते हैं। लेखन-कला और वक्तृत्वकलामें कुशलता प्राप्त करना एक आकर्षक व्यक्तित्वका आवश्यक तत्त्व है। शब्दोंके माध्यमसे ही हम विचारोंका आदान-प्रदान करते हैं तथा दूसरोंके हृदयके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अतः हमारा अपना शब्द-कोष इतना पर्याप्त होना चाहिये कि हम अपने विचारोंको सही प्रकारसे अभिव्यक्त कर सकें। शब्दोंका ठीक प्रयोग न करनेसे ही कई बार बहुत-सी गलत-फहमियाँ पैदा हो जाती हैं, जो जीवनभरके लिये पारस्परिक सम्बन्धोंमें कटुता ला देती हैं।

दूसरोंकी अच्छाई हमें जहाँ भी और जब भी दिखायी पड़े, उसकी दिल खोलकर सराहना करनी चाहिये। इस प्रकार हम उस सद्गुणका अपने व्यक्तित्वमें बीजारोपण करते हैं। ईर्ष्या करनेके स्थानपर उस अच्छाईकी बड़ाई करनेसे वह अच्छाई हममें भी आने लगती है। जैसे विचारोंकी ओर हमारा झुकाव होता है, वैसे ही विचार हमारे मनमें स्वतः आने लगते हैं तथा वैसे ही विचारोंके लोग हमारी ओर आकर्षित होते हैं। हमारी प्रशंसाकी धूपसे हमारे मित्रोंके हृदय-कमल खिल उठते हैं और उनका सौरभ हमें उनकी ओर और भी अधिक आकर्षित करता है। प्रशंसा ही वह प्रवेश-द्वार है, जिसके द्वारा हम दूसरोंके व्यक्तित्वका पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रशंसाके द्वारा हम अपने मित्रोंकी बहुत कीमती सेवा करते हैं। इससे उनको आदर्श जीवनकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा प्राप्त होती है। जो भी हमारी प्रशंसा करते हैं, उनसे हम प्रेम करने लगते हैं।

आकर्षक व्यक्तित्वका दूसरा आवश्यक तत्त्व सहिष्णुता है। दूसरोंके दृष्टिकोणको पूर्णतया न समझ सकनेके कारण ही हम उनके प्रति असहिष्णु हो जाते हैं। दूसरोंको समझनेके लिये हमें अपने मस्तिष्कके द्वार हर समय खुले रखने चाहिये। किसीके विषयमें अपनी किसी धारणाको अन्तिम नहीं मान लेना चाहिये। अपनी भ्रान्तिको सुधारने और सत्यका स्वागत करनेके लिये हमें हर समय सजग और सचेष्ट रहना चाहिये। सत्यज्ञान हमें बहुधा अपने मित्रोंके माध्यमसे प्राप्त होता है। सहिष्णुताके द्वारा हम अपनी मित्रताको स्थिर रखनेमें समर्थ होते हैं।

जब हम किसीसे मिलने जायँ तो रास्तेमें उसकी अच्छाइयोंका चिन्तन और उनकी सराहना करते हुए जायँ। यह उनमे

बातचीत करनेकी आध्यात्मिक तैयारी है। इस प्रकार तैयार हो-कर जानेसे हम उसका सहयोग प्राप्त करनेका आत्मविश्वास लेकर उससे मिलते हैं और उसका सहयोग प्राप्त करके अपनी बातचीतको सफल बनाकर लौटते हैं। जब हम किसीके सद्गुणों-पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तब वह अनुकूलतापूर्वक हमारी ओर आकर्षित होता है, यद्यपि इस आकर्षणका कारण वह बहुधा नहीं जान पाता।

जैसा हम दूसरोंके विषयमें विचार करते हैं, उसी रूपमें उनके व्यक्तित्वको ढालनेमे हम सहायक बनते हैं। विशेषरूप-से छोटे बच्चोंके ऊपर तो हमारे विचार बहुत शीघ्र अपना असर दिखाते हैं। जिस बच्चेको उसके अभिभावक जिस रूप-मे देखते हैं, वह वैसा ही बन जाता है। बच्चा अपने बड़ोंके निर्देशोंको सरल स्वभावसे ग्रहण कर लेता है। जब उसको 'मूर्ख' कहा जाता है, तब वह मूर्ख ही बन जाता है। जिस बच्चेसे उसके माता पिता प्राय. कहते रहते हैं कि 'तुम बहादुर हो,' वह बड़ा होकर वास्तवमे बहादुर बनता है। बचपनके संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। कुछ लोगोंकी शारीरिक और मानसिक रचना कुछ इस प्रकारकी होती है कि बड़े होनेपर भी वे दूसरों-के अच्छे-बुरे सुझावोंसे बड़ी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। ऐसे लोग मानो अपने मस्तिष्कके द्वार शत्रु और मित्र दोनोंके लिये खुले रखते हैं। यह स्थिति भयावह होती है। हमें अपने मस्तिष्कको पूर्णतया अपने नियन्त्रणमें रखना चाहिये। जिन निर्देशोंसे हम चाहें उनसे ही हमारा मस्तिष्क प्रभावित हो और जब हम चाहें,तब बाहरी निर्देशोंकी ओरसे अपने मस्तिष्क-के किवाड़ बद कर लें। दूसरोंके निर्देशोंकी ओरसे हमें हर समय बहुत सजग रहना चाहिये तथा स्वय दूसरोंको सदा अच्छे ही निर्देश देने चाहिये। शुभ कामनाका उत्तम रूप शुभ निर्देश है।

जब हम अपने मस्तिष्कसे सदैव शुभ कामनाएँ भेजते रहते हैं, तब उनसे हमारे व्यक्तित्वके चारों ओर एक कवच या दुर्ग बन जाता है, जिसको भेदकर कोई असफलता या पराजयका विचार हमारे मस्तिष्कमें प्रवेश नहीं पा सकता। जब हम दूसरोंको सफलता और विजयके निर्देश देते हैं, तब वे भी बदलेमें हमें वैसे ही निर्देश देते हैं, जिनसे हमारे चारों ओर एक रक्षा-कवच बन जाता है। इस कवचके अदर हम शान्त और प्रसन्न रहकर विचरते हैं और जिससे भी मिलते हैं, उसका अपनी मधुर मुस्कानसे स्वागत करते हैं। हमारा यह मुस्कानभरा स्वागत उनके प्रति हमारी शुभ कामनाओंका ही स्वाभाविक परिणाम होता है।

जैसे हम कमरेमें फूलोंका गुलदस्ता रखते हैं, वैसे ही प्रसन्न व्यक्तियोंका सम्पर्क भी हमें प्रिय होता है। प्रसन्नता और स्वास्थ्यका परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध है। स्वस्थ व्यक्तिमे ताजे फूलों-जैसी ताजगी होती है। अतः अच्छा स्वास्थ्य भी आकर्षणका एक कारण होता है। रोगी व्यक्ति स्वभावसे ही चिड़चिड़ा होता है, परतु स्वस्थ व्यक्ति स्वभावसे ही हँसमुख, मिलनसार, मधुरभाषी और सहिष्णु होता है। रोगी व्यक्ति तो स्वय अपनी ही सेवा नहीं कर सकता। स्वस्थ व्यक्ति ही दूसरों-के काम आ सकता है। जैसे छूतसे अनेक रोग फैलते हैं, वैसे ही छूतसे स्वास्थ्यका भी प्रसार होता है। हमारी प्रत्येक शारीरिक और मानसिक स्थिति हमारे सम्पर्कमें आनेवालोंमें संक्रमण कर जाती है। अतः अपना स्वास्थ्य उत्तम रखना स्वय ही एक सेवा है। हजार उपदेश भी एक उदाहरणकी बराबरी नहीं कर सकते। अपना उदाहरण उनके सामने रखकर हम दूसरोंको आदर्श जीवनकी ओर आकर्षित करते हैं। हमें स्वस्थ और प्रसन्न देखकर दूसरे लोग स्वयमेव हमारे साथ प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं तथा हमारे पदचिह्नोंपर चलने लगते हैं। इसके लिये फिर उनको उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि हम दूसरों-का सुधार करना चाहते हैं तो हमें अपना ही सुधार करना चाहिये। यदि हम दूसरोंकी उन्नति करना चाहते हैं तो हमे अपनी उन्नति करके उनको दिखाना चाहिये।

यदि हम अपना स्वास्थ्य ठीक करना तथा रखना चाहते हैं तो हमे दूसरोंके रोग-निवारण और स्वास्थ्य-रक्षणके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। उनके पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ-के बादके भावी जीवनके चित्र अपनी कल्पनाकी कूचीसे खींचने चाहिये। उनके सुन्दर भविष्यकी कल्पनाएँ करके हम उनके सौभाग्य-निर्माणमें सहायक बनते हैं। जो प्रार्थना हम दूसरोंके लिये करते हैं, वह प्रार्थना स्वय हमारे लिये तो अनायास ही हो जाती है। जब हम दूसरोंको आरोग्यके अनमोल सुझाव देते हैं, तब उनका प्रभाव हमारे मनपर और भी प्रबल-रूपसे अङ्कित हो जाता है। हमारा मन मलिनता, कुरूपता, दुर्भाव और द्वेषके कोलाहलसे ऊपर उठकर शान्ति और स्वच्छताके उच्च आकाशमे उड़ने लगता है। विषय-वासनाओं-से हम ऊपर उठ जाते हैं और सयमका पालन अनायास होने लगता है। सेवासे मिलनेवाले आनन्दके सामने विषय-वासनाओं-का सुख हमें फीका लगने लगता है और हम सात्त्विकताके साम्राज्यमें विहार करने लगते हैं। यह स्वाभाविक सयम हमारे

लिये सृजनात्मक शक्तियोंका अक्षय स्रोत बन जाता है। इसके बलपर हम सेवा-कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहकर भी न थकते हैं न ऊबते हैं।

संयममें ही सच्चा आनन्द है और संयम ही हमारी आकर्षण-शक्तिका मुख्य आधार है। संयमका अर्थ यह है कि जो दिनचर्या और ऋतुचर्या हमारे आरोग्यके लिये हितकर है, उसीके अनुसार हम आचरण करें। आहार-विहार, विभिन्न कर्म-चेष्टाएँ और सोना-जागना ठीक-ठीक रखना ही संयम है। संयत जीवनके द्वारा हम शरीर-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूल साधन है।

आरोग्यके नियमोंका जितना ज्ञान हमें है, उसीके अनुसार यदि हम पूरी तरहसे आचरण करें तो हमारे जीवनमें एक महान् परिवर्तन आ जाता है। कमी ज्ञानकी नहीं, वरं उसके अनुसार आचरणकी है। एक मन ज्ञान और एक रत्ती आचरणको यदि तराजूके पलडोंमें रखकर तौला जाय तो एक रत्ती आचरणकी ही गरिमा सिद्ध होगी। आचरण ही हमारे काम आता है। ज्ञान तो केवल प्रकाश देता है। वह प्रकाश आचरणके लिये होता है।

जब हम अपने मनपर पूरा नियन्त्रण कर लेते हैं, तब अपने ज्ञानके अनुसार आचरण करनेमें समर्थ होते हैं। हमारा मन ही इस विश्वमें एकमात्र ऐसी वस्तु है, जिसपर हम एकच्छत्र अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। मनोराज्यकी दिग्विजय ही हमारा दिव्य लक्ष्य है। इस दिग्विजयके लिये हमें अपना दृष्टिकोण हर समय रचनात्मक रखना चाहिये। अपने और दूसरोंके जीवन-निर्माणके ही विषयमें सदैव विचार करना चाहिये। अपनी अपेक्षा भी दूसरोंके भाग्य-निर्माणमें अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रदान करना अधिक श्रेयस्कर है। हम जितना ही अधिक दूसरोंकी सुख-सुविधामें अपना योगदान देनेका संकल्प करते हैं, उतना ही हमें अपने मनपर अधिकार प्राप्त होता जाता है। अपने मनपर जब हम पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, तब हम चाहे जिस अपने अभीष्ट लक्ष्यकी ओर उसको एकाग्र करके सफलता प्राप्त कर लेते हैं। जब हमारी ओर सिद्धियाँ और समृद्धियाँ आकर्षित होने लगती हैं, तब उनके द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों तथा परिचित-पड़ोसियोंकी सेवा करके हम उनका प्रेम और अपने अन्तरात्माका संतोष प्राप्त करते हैं।

हमारी आकर्षण-शक्तिका मूल स्रोत हमारे अंदर है। हमारे अन्तरात्मामें बैठे हुए भगवान्के चरणोंसे ही यह आकर्षण-शक्तिरूपी गङ्गा बह रही है। इसमें हमारा कुछ नहीं। यह शक्ति भगवान्की है और उनके ही कामके लिये है। भगवान्के चरणोंमें सर्वस्व-समर्पण ही हमारे जीवनका चरम लक्ष्य है। आनन्दकी अन्तिम सीमा हमें उसी क्षण प्राप्त होनी है, जब हम प्राणीमात्रकी सेवामें अपनी प्रत्येक शक्ति और चेष्टा उत्सर्ग कर देते हैं। आत्मोत्सर्गमें ही जीवनका सच्चा सुख है। दूसरोंके लिये समर्पित होकर जब हम अपने आपको ही भूल जाते हैं, तब फिर हमारा कोई संकुचित स्वार्थ शेष नहीं रह जाता। फिर हम स्वयं भी अपने नहीं रह जाते। हम दूसरोंके हो जाते हैं और वे हमारे हो जाते हैं। फिर हमारा शरीर भी हमारे पास उनकी धरोहरके रूपमें रह जाता है। अतः ईमानदार सेवकके रूपमें हमें अपने शरीर और मनकी पूरी देख-रेख रखनी होती है और इन साधनोंके द्वारा यथासम्भव अधिक-से-अधिक सेवा करके हम अलौकिक आनन्दका अनुभव करते हैं। अन्तमें सेवक और सेव्य आकर्षण-शक्तिके सूत्रमें बँधकर एक रूप, एक रस हो जाते हैं।

मनको उपदेश

गहु मन ! चरन सीताराम।
जो चरन हर-हृदय-मानस बसत आठौ जाम।
जेहि परसि बनिता मुनीकी गई है निज धाम॥
जा चरन तें निकसि सुरसरि भई सिव की बाम।
'दास मोहनि' चहत सो पद करहु पूरन काम॥

हिंदू देवताओंके विचित्र वाहन, वेश और चरित्र

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हिंदूधर्म बड़े वैज्ञानिक सूक्ष्म आधारोंपर खड़ा किया गया है। इसमें जिन देवी-देवताओंकी मान्यता है, उनके जो वेश, वाहन और चरित्र हैं, वे सब मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंसे परिपूर्ण हैं। हिंदू तत्त्वदर्शी सदासे यह चाहते आये हैं कि धर्म-तत्त्वोंका ज्ञान जनसाधारणतक पहुँचे, मामूली बुद्धिका व्यक्ति भी धर्मके मूल रहस्यों तथा ईश्वरकी असीम शक्तियोंसे परिचित हो जाय और अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्‌के जिस रूपको पसद करे, उसीको अपना आराध्य बनाकर पूजा-अर्चना करे और इस प्रकार जीवनको ऊँचा उठाये।

ईश्वर निराकार है। उस निराकार स्वरूपका ज्ञान योगी ऋषि-मुनि अपनी कुशाग्र बुद्धिसे कर सकते हैं। योगी चिन्तनद्वारा ईश्वरकी अनेक दिव्य शक्तियोंसे परिचित हो सकते हैं। साधु-महात्मा अपनी प्रतिमासे अपने गुण-कर्मके अनुसार ईश्वरीय शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूलतः ईश्वर एक है, पर उसकी अनेक शक्तियाँ हैं। उसी ईश्वरकी एक शक्ति इस संसारका निर्माण करती है, दूसरी भोजन-अन्न-जलद्वारा पालन करती है, तीसरी सृष्टिको नष्ट कर देती है। ये नाना शक्तियाँ ही हमारे तैंतीस करोड़ देवी-देवता हैं। प्रत्येक देवी-देवता एक मुख्य शक्तिका प्रतीक अथवा मूर्तरूप है। यों किसी साधारण व्यक्तिको एक अदृश्य शक्तिका ज्ञान कराना बड़ा कठिन है। उसकी कल्पना इतनी तीव्र नहीं होती कि उस शक्तिको ग्रहण कर सके। अतः हिंदू तत्त्ववेत्ताओंने प्रतीकवादका यह नया वैज्ञानिक रूप निकाला था।

प्रत्येक ईश्वरीय शक्ति एक देवी या देवताका रूप है। वह एक अदृश्य शक्तिको प्रकट करता है। इससे लाभ यह है कि एक देवी या देवतासे स्पष्ट होनेवाली शक्तिका अच्छा परिचय और प्रतीति हो जाय। मनोविज्ञानका यह अटल सिद्धान्त है कि हम जिस शक्तिका अधिक देरतक चिन्तन या विचार करते रहते हैं, जिसको मूर्तरूपमें देखते हैं, उसी शक्तिको अपने अंदर ग्रहण भी करते हैं। उस शक्तिको धारण करनेसे हमारे मन, बुद्धि और शरीरमें नयी क्षमता और अजेय संकल्प उत्पन्न होता है। जहाँ धर्म, वहाँ शक्ति है—यह बिल्कुल सत्य है। धर्मका अर्थ है—सत्य और न्याययुक्त चेष्टा-क्रिया; जो सत्य और न्याययुक्त है, उसे शक्तिमान् होना ही चाहिये। ईश्वरकी शक्तिसे आत्माके माध्यमद्वारा हम ताकत लेते हैं। जो गुण ईश्वरमें हैं, वे ही हमारी आत्मामें हैं। इस प्रकार ईश्वरकी जिस शक्ति अर्थात् जिस देवी-देवताकी हम आराधना करते हैं, वही हमारे चरित्रमें विकसित हो जाती है।

तात्पर्य यह कि देवपूजा ईश्वरकी शक्ति ग्रहण करनेकी मनोवैज्ञानिक रीति है। शक्तिका चित्र तो कल्पनाकी ही तस्वीर है। प्रतीक तो आखिर प्रतीक ही है। वह तो एक आधार है, जिसका गुप्त तात्पर्य चाहिये और उसकी शक्तिसे चरित्रमें धारण करना चाहिये। हमारे देवता ईश्वरके नाना गुणोंके बोधक प्रतीक हैं, मूर्तस्वरूप हैं। उन गुणोंके अनुसार ही उनकी विचित्र आकृतियाँ हैं, वेश-भूषा है, वाहन हैं।

जब किसी गुणकी कल्पना करनेके लिये कहा जाय, तब आपको अपने मनमें किसी-न-किसी प्रकारकी कल्पना या चित्र तैयार करना पड़ेगा। विचार किसी-न-किसी रूपमें तो प्रकट होगा ही, मस्तिष्क कोई आकृति जरूर बनायेगा। दिव्य दृष्टि रखनेवाले योगियोंने ईश्वरकी शक्तियोंकी जो आकृतियाँ तैयार की हैं, वे देवी-देवता कहलाती हैं। यह एक प्रतीक-प्रणाली है। जैसे भाषाका

अक्षर-विज्ञान सूक्ष्म आकृतियोंपर निर्भर रहता है, उसी प्रकार ईश्वरीय लिपि हमारे ये देवतागण हैं।

ईश्वरकी सबसे बडी शक्ति है वह, जो सृष्टिका निर्माण करती है। इसे 'ब्रह्मा' कहा गया है। ब्रह्माका आकार एक ऐसे पिताका आकार है जो हर प्रकार अपनी सतानकी देखभाल करता है, उसे भोजन देता है, रहनेमें सहायता प्रदान करता है। विष्णु उन शक्तियोंके प्रतीक हैं, जो सतानका पालन, विकास और शासन करती हैं, शकर उन शक्तियोंके प्रतीक हैं, जो जीर्णता पैदाकर क्रमश विनाशकी ओर ले जाकर अन्तमें सहार कर देती हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश ईश्वरकी उत्पादक, पालक और सहारक शक्तियोंके प्रतीक है।

विघ्न-बाधाओंको दूर करने और बुद्धिको ठीक मार्गपर रखनेवाली भी एक ईश्वरीय शक्ति है। सन्मार्गपर स्थिर रखनेवाली इस शक्तिका नाम है गणेश। गणेशका चित्र कुछ अजीब-सा है—हाथीके समान मुख, वक्रतुण्ड, एकदन्त, मोटा पेट और वाहन चूहा! हाथी-जैसा चौडा मस्तक विवेकको प्रकट करता है। हाथीके दॉत खानेके और दिखानेके अलग-अलग होते हैं। ये दाँत यह प्रकट करते हैं कि अपने काममे विघ्न न चाहनेवाले आदमीको चाहिये कि वह सज्जन पुरुषोंसे जहॉ सिर भिडानेसे बचे, उदारताका व्यवहार करे, कुलोचित प्रतिष्ठाका ध्यान रखे, वहॉ सयोगवश उनकी कही हुई छोटी-मोटी ओछी या कडवी बातोंको अनसुनी कर दे। अकारण हुए शत्रुओंसे सावधान रहते हुए अपना खुला विरोध न प्रकट होने दें, किंतु दिखावेके दॉतोंकी तरह बाह्य व्यवहार शिष्ट रखे। हाथीकी सूँड या नाक प्रतिष्ठित कुलकी इज्जत बनाये रखनेकी प्रतीक है। यह हमें यह शिक्षा देती है कि हम कहीं कोई दुर्व्यवहार न कर बैठें, जिससे हमारी नाक कट जाय, अर्थात् यश और प्रतिष्ठा नष्ट हो जाय। हाथीके बड़े कान हमें यह सिखाते हैं कि दूसरोंकी बातोंको खूब सुनें। हाथीके नेत्र भी विचित्र है। उसे अपने छोटे-छोटे नेत्रोंसे छोटी-छोटी वस्तुएँ भी बडी-बडी दीखती हैं। छोटोंके प्रति भी समुचित आदर-सत्कारका दृष्टिकोण निर्विघ्नताके इच्छुकको अपनाना चाहिये—यह शिक्षा हमें गणेशजीसे मिलती है। इसीलिये गणेशको 'सिद्धिदाता' कहा गया है।

तर्कका प्रतीक चूहा है। चूहा अपने छोटे-छोटे दॉतोंसे बहुत-सी वस्तुओंको काट-छॉट डालता है। वह रात-दिन काट-छॉट ही करता रहता है। यह हमें सिखाता है कि अपने कार्यमें विघ्न न चाहनेवाले साधकको अपने कुतर्कोंको काट डालना चाहिये। गणेशके ज्ञानके भारसे अपनी वासनाको दबाये रहे। तर्क-प्रणालीको उच्छृङ्खल न बनायें।

श्रीलक्ष्मीनारायणजी बृहस्पतिने गणेशजीके वाहन चूहेपर जो कुछ लिखा है, वह भी विचारणीय है। देखिये—

'गजके समान विशाल मानव-शरीरका वाहन सूक्ष्म मनरूपी चूहा ही है। वाहनकी स्वच्छन्दताकी स्थितिमें वाहनारूढका अस्थिर हो जाना स्वाभाविक है, किंतु नियन्त्रित कर दिये जानेपर मनकी एकाग्रता हो जानेपर ससारके सभी सुखोंकी प्राप्तिसे लेकर भगवत्-प्राप्तितक की जा सकती है। मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। इस तरह मनरूपी चूहेके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको अपना आत्मिक ज्ञान होनेमें देर नहीं लगती। कम-से-कम वह आत्मज्ञानका अधिकारी तो अवश्य हो जाता है। मनरूपी चूहेका असली स्वरूप सामने आते ही उसकी चञ्चलता पलायमान हो जाती है और उसे बाध्य होकर स्थिर हो जाना पडता है। स्थिर मन ही ससारकी समस्त साधनाओंको सफलीभूत करनेका साधन है।

चूहा बुद्धिमान् और चपल होता है। यह गुण विघ्नविनाशक गणेशमें भी मूर्तिमान् है।

दुर्गा भगवती शक्तिकी प्रतीक देवी हैं। उनके आठ हाथ है, जिसका तात्पर्य यह है कि उनमे चार

व्यक्तियोंके समान शारीरिक शक्ति और सामर्थ्य है। उनके प्रत्येक हाथमें शक्तिसूचक कोई-न-कोई हथियार रखा गया है—तलवार, कुल्हाडी, चक्र, शङ्ख, गदा, ढाल इत्यादि। दुर्गा क्षत्रियोंकी मुख्य देवी हैं। जब क्षत्रिय अपने सामने दुर्गाका चित्र या प्रतिमा रखकर पूजन करता है, तब वह वास्तवमें अपनी गुप्त शक्तियोंको जाग्रत् करता है, रोम-रोममें शक्तिका प्रादुर्भाव करता है। वह मनमे यह अनुभव करता है, जैसे दुर्गाकी समस्त शक्ति उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें प्रविष्ट हो रही हो, वह बलवान् बनता जा रहा हो।

दुर्गाका वाहन सिंह है। सिंह सब पशुओंका राजा, अतुल शारीरिक शक्तिका भडार, अपूर्व बलशाली वन्य पशु है। उसके चेहरेपर भयानकता विद्यमान है, जिसे देखकर साधारण मनुष्य डर जाता है। पूँछ ऊँची उठाये वह दुर्गाको अपने शरीरपर धारण किये हुए है। दुर्गाका वाहन सिंह इसलिये रखा गया है कि मोटी बुद्धिवाला भक्त भी इस प्रतीकका गुप्त अर्थ समझ सके और शक्तिका आह्वान कर सके। दुर्गामें सर्वत्र शक्ति-ही-शक्तिका समावेश है। उनके मुखमण्डलपर शक्तिका तेज प्रकट हो रहा है, अङ्ग-अङ्गसे शक्ति स्पष्ट हो रही है।

श्रीलक्ष्मीजी धन-धान्य और समृद्धिकी देवी हैं। अर्थ-शक्तिका मूर्तरूप लक्ष्मीकी प्रतिमामें प्रस्तुत किया गया है। धनको भी देवीका रूप इसलिये दिया गया है कि लोग उसकी पवित्रताको समझ सकें और वैधरूपोंसे ही अर्थका अर्जन करें। लक्ष्मीजीका रूप ऐसा है, जिससे सर्वसमृद्धि प्रकट हो रही है। वैभव स्पष्ट हो रहा है। लक्ष्मीको उलूकवाहिनी कहा गया है। अर्थात् उलूक उनका वाहन है। उलूक मूर्खको कहते हैं, धनका ऐसा स्वभाव है कि वह अशिक्षित मूढ़ व्यक्तियोंके पास एकत्रित हो जाता है। धनपति, पूँजीपति प्राय: अशिक्षित ही होते हैं। पर यदि शिक्षित भी हों तो धन आते ही वे उसके नशेमें अंधे होकर मूर्ख—उलूक बन जाते हैं। धनके इसी स्वभावको लक्ष्मीका वाहन उलूक प्रकट कर देता है।

सरस्वती विद्या, बुद्धि और ज्ञानकी देवी हैं। ललित कलाओं—विशेषत: सगीतका प्रादुर्भाव उन्हींसे है। उनका स्वभाव है—उचित-अनुचित, भले-बुरेकी पहचान। जो व्यक्ति विद्या पढ़ लेता है, उसे नीर-क्षीर-विवेक आ जाता है। वह अपने अच्छे-बुरेको समझने लगता है और सत्यके मार्गका अनुसरण करता है। अत उनका वाहन हस माना गया है। हसका गुण ही नीर-क्षीर-विवेक है। वह दूधका दूध और पानीका पानी कर देता है। जो व्यक्ति सरस्वतीकी साधना करेगा, वह हसके गुणोंको अपने व्यक्तित्वमें विकसित करेगा—हसकी तरह स्वच्छ उज्ज्वल और सुन्दर बनेगा।

शिव कल्याणकारी हैं। सृष्टिका कल्याण करते हैं। इस कल्याणकी भावनाको वाहनद्वारा कैसे प्रकट किया जाय? कौन-सा ऐसा पशु हो सकता है, जो मानवमात्रके लिये कल्याणकारी हो? सोचते-सोचते भारतीय धर्माचार्योंको बैल ऐसा पशु मिला, जो सबसे अधिक कल्याणकारी और उपयोगी है। बैलसे खेती और अन्नकी उत्पत्तिका विधान है। बैल न हो तो कृषकका जीवन ही अन्त हो जाय। अत: शिव-जैसे कल्याण-कारी देवताका वाहन बैल चुना गया। बैलको देखकर ही साधारण व्यक्ति समझ सकता है कि वह कल्याणके देवताकी उपासना कर रहा है।

विष्णु सृष्टिके पालक हैं, रक्षक हैं, आनेवाली समस्त कठिनाइयों और विपत्तियोंसे ससार और समाजकी रक्षा करनेवाले है। यदि वे रक्षा न करें तो मानवमात्रपर अनेक विपत्तियाँ आ सकती हैं। साधारण व्यक्तिपर यह रक्षाका भाव कैसे, किस पशु-पक्षीद्वारा प्रकट किया जाय? इसके लिये पक्षिराज गरुडको चुना गया। विष्णुका वाहन गरुड है। पक्षियोंमें गरुड़की

समताका अतिशीघ्रगामी, बलवान् और वीर पक्षी नहीं है। जिसकी रक्षा वह करे, उसपर भला, क्योंकर विपत्ति आ सकती है। उसका कौन कुछ बिगाड़ सकता है।

भैरव नगरके रक्षक माने गये हैं। वे उस सजग प्रहरीकी तरह हैं, जो नगरमें आनेवाली विरोधी शक्तियोंको दूर करता है। यह भाव प्रकट करनेवाला पशु कुत्ता है। यदि कुत्ता आपके दरवाजेपर सजगतासे पहरा देता रहे, आपका रक्षक बने तो कौन हानि पहुँचा सकता है। भैरवके चित्रके साथ कुत्ता देखकर हम अनायास ही यह मालूम कर सकते हैं कि ये नगररक्षक हैं।

शीतलाका वाहन गधा है। गधेमे एक बडा गुण है। यह है उसकी सहनशक्ति। सहनशक्तिका प्रतीक गधा है।

सूर्य देवताका वाहन अश्व है। सूर्य अपनी गतिको नही छोड़ते, चाहे मौसिम कैसा ही क्यों न हो। निर्दिष्ट समयपर उदित होकर अपनी निर्धारित यात्राको पूरा करना, एक ही गतिसे चलते रहना सूर्यका स्वभाव है। गतिको प्रकट करनेवाला पशु घोडा है। घोड़ेको सूर्यके साथ देखकर हम स्वत. मालूम कर सकते हैं कि सूर्य हमारे समय और गतिको प्रकट कर रहे हैं। 'एक ही गतिसे उन्नतिके मार्गपर चलो। परिस्थिति या मौसिमकी परवा मत करो। अपना निर्धारित कार्य पूरा करनेका सदा-सर्वदा ध्यान रखो। दिनभर अपना कार्य अनवरत गतिसे पूरा करो'—यह सब भाव सूर्य देवतासे प्रकट होते हैं।

इन्द्रका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है। इस शान-शौकत, दर्प, विपुलताको प्रकट करनेके लिये उनका वाहन ऐरावत हाथीको चुना गया। ऐरावतकी मस्त चाल, शान, दर्प देखकर साधारण योग्यताका व्यक्ति भी यह अनुमान लगा सकता है कि यह महामहिम इन्द्र है।

देवताओंके सेनापति कार्तिकेयको मोरका वाहन दिया गया है। कहा गया है—

विकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
ननु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः॥

अर्थात् जिन्होंने अपने सयमकी महिमासे देवताओंकी स्त्रियोंके विकसित नील कमलकी पँखुड़ियोंके समान बड़े-बड़े गौरवपूर्ण नेत्रोंको भी नीचा कर दिया है तथा जो रुचिर कलापी मयूरपर ही स्थित हैं, वे कुमार कार्तिकेय ब्रह्मचर्यरूपी श्रीका वितरण करें।'

मोरको अहिमार या साँपोंको मारनेवाला कहा गया है। 'अहि' शब्दका व्यापक अर्थ लें तो वह उन सब विश्वासघातियोंके लिये भी प्रयुक्त होता है, जो तनिकसे स्वार्थके लिये शत्रुपक्षसे मिलकर सब भेद खोल देते हैं। ऐसे व्यक्तियोंको भी शत्रु ही मानना चाहिये। देवताओंके सेनापति कार्तिकेय ऐसे सब शत्रुओंसे सावधान रहने तथा उन्हें दण्ड देनेवाले है। वे शत्रुके सब गुप्तचरों—आस्तीनके साँपोंका नाश करनेवाले हैं। देवसेनापति कुमार कहे गये है। जो सेनापति जितेन्द्रिय होगा, वह निश्चय ही कर्तव्यमार्गपर डटा रहेगा।

तात्पर्य यह है कि हिंदूधर्मके इन प्रतीकोंमें गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं। इनके गुप्त मर्मोंको देखकर प्राचीन ऋषियोंकी बुद्धिपर चकित रह जाना पडता है। ये हमारे गौरवशाली अतीत, हमारे समीक्षात्मक ज्ञान, नीर-क्षीर-विवेक-बुद्धि और प्रतीकवादका स्पष्ट करनेवाले हैं। नागरिक जीवनमे पौराणिक देवी-देवताओंद्वारा वे ज्ञानका भडार भर देना चाहते थे। खेद है कि आजके भौतिक युगमे हमारे बहुत-से वाहनोंका सच्चा अर्थ स्पष्ट नहीं है, क्योंकि धार्मिक प्रतीकोंके प्रति कुछ श्रद्धा कम होती जा रही है।

श्रीराधाके श्रीचरणोंमें नमस्कार

[श्रीराधाष्टमीके पुनीत अवसरपर रतनगढ़ (राजस्थान) में हनुमानप्रसाद पोद्दारके भाषण]

(१)

(दिनमें)

वन्दे वृन्दावनानन्दा राधिका परमेश्वरीम् ।
गोपिकां परमां श्रेष्ठा ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम् ॥
वदौं राधा के परम पावन पद-अरविन्द ।
जिन के मृदु मकरंद नित चाहत स्याम-मिलिंद ॥

जगज्जननी श्रीकृष्णस्वरूपा भगवती श्रीराधा बहुतसे लोगोंके लिये एक विलक्षण पहेली बनी हुई हैं। और श्रीराधाके अनिर्वचनीय तत्त्व-रहस्यको जबतक कोई नहीं जान लेगा, तबतक उसके लिये ये पहेली ही बनी रहेगी, क्योंकि ये साधन-राज्यकी सर्वोच्च सीमाका साधन तथा सिद्ध राज्यमें समस्त पुरुषार्थमें परम और चरम पुरुषार्थमय हैं। गोपी-रहस्य ही परम गुह्य है, फिर राधाजीकी तो बात ही क्या है। लोगोंकी समझमें ही नहीं आ सकता कि मोक्षतककी आकाङ्क्षा न रखकर, भगवान्से अपने लिये कभी कुछ भी चाहनेकी इच्छा न रखकर भगवान्से प्रेम करनेका क्या अभिप्राय हो सकता है। जिस भगवान्की भक्ति करें या जिससे प्रेम करें, उससे अपने लिये कभी कुछ भी न चाहें—यह कैसी भक्ति। और फिर यह और भी आश्चर्यकी बात है कि इस भक्ति या प्रेममें सर्वविध शृङ्गार तथा भोग प्रत्यक्ष देखने-सुननेमें आते हैं। यद्यपि उस शृङ्गार-भोगसे गोपियोंका अपना कुछ भी सम्पर्क नहीं है—केवल प्रियतम श्रीकृष्ण-सुखेच्छामें ही उनके जीवनके प्रत्येक श्वासका, मनकी प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्तिका और शरीरकी प्रत्येक क्रियाका प्रयोग और उपयोग सहज ही होता है, तथापि इस प्रकार परम त्याग तथा समस्त भोगोंका एक साथ रहना लोगोंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न कर देता है और पहेली और भी दुरूह हो जाती है। इसीसे जहाँ नित्य ब्रह्मानन्द-स्वरूपमें परिनिष्ठित परंतु इस महान् रस-रहस्यके मर्मज्ञ श्रीशुकदेव मरणासन्न परीक्षित्को रासलीला सुनाते हुए हर्षोत्फुल्ल तथा मुग्ध होकर पवित्रतम गुह्य रहस्य खोलने लगते हैं, जहाँ प्रेम भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप श्रीचैतन्य-महाप्रभु श्रीगोपीजन तथा श्रीराधाके भावोंका स्मरण, श्रवण तथा गान करके बाह्यज्ञानशून्य होकर आनन्द-राज्यमें पहुँच जाते और जहाँ श्री विद्यापति-सरीखे भावुक कवि बड़ी ही पवित्र भावनासे मधुरतम भावोंका गान करते हैं। वहीं अनेकों प्रसिद्ध विद्वानों तथा प्रख्यात कवियोंने उन्हीं दिव्य- प्रेम-रसमय श्रीराधा-कृष्णका वर्णन साधारण नायक-नायिकाके स्वरूपमें किया है और उसी भावसे उनके हाव-भाव, आकृति-प्रकृति, प्रचेष्टा-प्रयत्न, व्यापार-व्यवहारका चित्रण भी किया है। वस्तुतः इससे भी बहुत अनर्थ हुआ और श्रीराधा-कृष्णके परम अलौकिक दिव्यातिदिव्य रूपको भूलकर लोग अत्यन्त मलिन तथा दोषपूर्ण भावोंसे तथा अपवित्र दोषदृष्टिसे उन्हें देखने लगे। रीतिकालीन परम्परासे प्रभावित प्रायः सभी कवियोंने यही किया और इसीसे सच्चे प्रेमी भक्त सूरदास, नन्ददास चण्डीदास, आदि तथा जयदेव और विद्यापति आदि जिन्होंने श्रीराधा-कृष्णको परम परात्पर ब्रह्म मानकर ही उज्ज्वल-रसकी पवित्र, मधुर पीयूषधारा बहायी थी, उन सभीके काव्य तथा लीलाचित्रणका भी गन्दे 'काम' के पोषणमें ही प्रयोग होने लगा। श्रीराधा-कृष्णके पवित्र दिव्य प्रेमकी जगह श्रीराधाकृष्णके नामपर मलिन-वासनाकी पूर्ति की जाने लगी। इससे राधा-रहस्यकी पहेलीकी गाँठ और भी गहरी हो गयी।

'काम' अन्ध तम है। कामकी दृष्टि सदैव रहती है अधः इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी ओर। उससे कामकलुषित-हृदय मनुष्य अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश कर डालता है। परंतु त्यागमय दिव्य प्रेमकी दृष्टि होती है—ऊर्ध्वतम भगवान्के आनन्दस्वरूपकी ओर। काम अधःपात कराता है और भगवत्प्रेम दिव्य भगवदानन्दका आस्वादन। अतएव अधोगतिकारक इन्द्रिय-तृप्तिकर कामका तो परित्याग करना ही चाहिये। भोग-सुख-कामनाकी प्रत्येक तरङ्गका निवारण भी बड़ी दृढ़ता तथा सावधानीके साथ करना चाहिये और अपने प्रत्येक साधनका, परहित तथा पर-सुखका समर्पण कर देना चाहिये। जो अपने दुःखसे जरा भी नहीं घबराते, न अपना सुख चाहते हैं, परंतु जिनका हृदय जरा-से भी पर-परितापसे पिघल जाता है तथा जो अपने सारे सुख-साधन पर-परितापके नाशमें लगा देते हैं, वे ही संत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने संत हृदयका चित्रण किया है—

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

इस प्रकार जो 'परदु खकातर' और 'परसुखपरायण' होते हैं, वे ही संत माने जाते हैं और जिनका आत्मसुख सदा सर्वदा सर्वथा केवल परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके सुखमें ही परिणत हो जाता है, वे तो संतों तथा महापुरुषोंके भी वन्दनीय होते हैं।

भोग-कामना-त्यागके बाद भी एक 'मोक्ष-कामना' रह जाती है। यह मोक्षकी कामना जबतक रहती है, तबतक भी 'सर्वत्याग' नहीं माना जाता, परंतु श्रीकृष्णप्रिया गोपाङ्गनाओंमें यह 'सर्वत्याग' सहज था। वे सच्ची प्रेमिकाएँ थीं इसीसे वे वेदधर्म, देहधर्म, लोकधर्म, लज्जा, धैर्य, आत्मसुख, देह-सुख, स्वजन-आर्यपथ—सबका सहज त्याग करके केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये श्रीकृष्णका सब प्रकारसे तथा समस्त करणोंसे अनन्य भजन करती थीं। इतना होनेपर भी उन्हें अपने इस महान् सुर-मुनि-मन-प्रलोभनीय उच्च-स्वरूपका जरा भी भान नहीं था। इसलिये गोपी-प्रेमको 'निरुपाधि' प्रेम कहा गया है। इसीसे देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धव-सरीखे महापुरुषने श्रीगोपी-पद-रजकी प्राप्तिके लिये वृन्दावनमें लता-गुल्म-औषध बननेकी इच्छा प्रकट की है तथा यह वरदान माँगा है।

इन सब गोपियोंमें श्रीराधिकाजी सर्वप्रमुख हैं, बल्कि श्रीराधाजीसे ही समस्त गोपियाँ बनी हैं और वे उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। श्रीराधाजीका तात्त्विक स्वरूप तो श्रीकृष्ण-से सर्वथा अभिन्न है।

सामरहस्योपनिषद्में कहा है—

अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति॥

'यह अनादि पुरुष एक ही है। पर अनादि कालसे ही वह अपनेको दो रूपोंमें बनाकर अपनी ही आराधनाके लिये तत्पर है। इसलिये वेदज्ञ पुरुष श्रीराधाको रसिकानन्दरूपा बतलाते हैं।'

राधातापनी उपनिषद्में है—

'येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्'

'जो ये राधा और जो ये कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर खेलके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

ब्रह्माण्डपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।
वृन्दावनेश्वरी राधा राधैवाराध्यते मया॥

'राधाकी आत्मा सदा मैं श्रीकृष्ण हूँ और मेरी (श्रीकृष्णकी) आत्मा निश्चय ही राधा है। श्रीराधा वृन्दावनकी ईश्वरी हैं; इस कारण मैं राधाकी आराधना करता हूँ।'

यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।
एकं ज्योतिर्द्विधाभिन्नं राधा माधवरूपकम्॥

'जो श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीराधा हैं और जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं, श्रीराधा-माधवके रूपमें एक ही ज्योति दो प्रकारसे प्रकट है।'

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान्‌के वचन हैं—

आवयोर्बुद्धिभेदं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

''मुझमें (श्रीकृष्णमें) और तुममें (श्रीराधामें) जो अधम मनुष्य भेद मानता है, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, तबतक 'कालसूत्र'नामक नरकमें रहेगा।''

भगवान् श्रीकृष्णने राधासे कहा है—

'प्राणाधिके राधिके! वास्तवमें हम-तुम दो नहीं हैं, जो तुम हो, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही तुम हो। जैसे दूधमें धवलता है, अग्निमें दाहिका शक्ति है, पृथ्वीमें गन्ध है, उसी प्रकार मेरा-तुम्हारा अभिन्न सम्बन्ध है। सृष्टिकी रचनामें भी तुम्हीं उपादान बनकर मेरे साथ रहती हो। मिट्टी न हो तो कुम्हार घड़ा कैसे बनाये, सोना न हो तो सुनार गहना कैसे बनाये। वैसे ही यदि तुम न रहो तो मैं सृष्टिरचना नहीं कर सकता। तुम सृष्टिकी आधाररूपा हो और मैं उसका अच्युत बीज हूँ।' (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड)

भगवान् श्रीकृष्णने एक बार श्रीराधाजीसे कहा था—

प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद-
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलापः।
त्वं मे ते स्यामहमिति च यत् तच्च नो साधु राधे!
व्याहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत्प्रयोगः॥

इसका अर्थ है—

'मैं प्रियतम, तू प्रेयसि मेरी'—यों कहना है निरा प्रवाद।
तू मम प्राण, प्राण मैं तेरा'—यह भी है प्रलाप-संवाद॥
तू मेरी, मैं तेरा'—राधे! यह भी नहीं साधु व्यवहार।
समुचित नहीं कभी हममें, 'तू' 'मैं' का कोई भेद-विचार॥

'मैं प्रियतम हूँ और तू मेरी प्रियतमा है'—यों कहना केवल किंवदन्तीमात्र है 'तू मेरे प्राण है और मैं तेरे प्राण

हूँ'—यह कहना भी प्रलाप ही करना है, 'तू मेरी है और मैं तेरा हूँ'—यह भी कोई साधु (शुद्ध) प्रयोग नहीं है। हम दोनोंमें कभी 'तू' और 'मैं'का किसी प्रकार भी कोई भेद सूचित हो, यह उचित नहीं है, अर्थात् तू मैं हूँ और मैं तू है। हम दोनोंमें कभी कोई भेद है ही नहीं।

यों व्रजठकुरानी श्रीराधामहारानी श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न स्वरूप सच्चिदानन्दघनस्वरूपिणी, श्रीकृष्णात्मस्वरूपिणी, श्रीकृष्णानुगामिनी, परमतत्त्वाभिरामिणी, स्वेच्छाविलासिनी, दिव्याह्लादिनी, परमपराशक्तिस्वरूपिणी, दिव्यलीलामयी, अखिलविश्वमोहनमोहिनी, नित्यरासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी और श्रीकृष्णप्राणेश्वरी हैं।

ये श्रीराधा भगवती श्रीकृष्णकी भाँति ही नित्य-सच्चिदानन्दघनस्वरूपा हैं। समय-समयपर लीलाके लिये प्रकट भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति ही ये भी आविर्भूत होती हैं। एक बार ये दिव्य गोलोकधाममें श्रीकृष्णके वामाङ्गसे प्रकट हुई थीं। वही फिर व्रजभूमिमें बरसाना (वृषभानुपुर) में महान् भाग्यशाली अखिलपुण्यपुञ्ज श्रीवृषभानु महाराजके घर परमपुण्यमयी श्रीकीर्तिरानीजीकी कोखसे प्रकट होनेकी लीला की थी। आज यह उसीका महोत्सव है। हमलोगोंका परम सौभाग्य है कि हम जीवनमें इस सुअवसरपर हम सबको एकत्र होकर श्रीराधाभगवतीके पुण्य स्मरणका महान् अवसर मिला।

अब श्रीश्रीकृष्णप्रेम या श्रीकृष्णकी सहज प्राप्ति करानेवाली उस प्रेमसाधनाको देखना है, जो श्रीराधाजीके स्वरूपगत तथा स्वभावगत है।

एक दिन श्रीराधाजी एकान्तमें किसी महान् भावमें निमग्न बैठी हुई थीं। एक श्रीकृष्णप्रेमाभिलाषिणी सखीने आकर बड़ी ही नम्रतासे उनसे प्रियतम श्रीकृष्ण अथवा उनका विशुद्ध अनन्य प्रेम प्राप्त करनेका सर्वश्रेष्ठ साधन पूछा। बस, श्रीकृष्णप्रेमके साधनका नाम सुनते ही श्रीराधिकाजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे गद्गद वाणीसे रोती हुई बोलीं—

अरी सखि! मेरे तन, मन, प्रान—
धन, जन, कुल, गृह, सब ही वे हैं सील, मान, अभिमान॥
आँसू सलिल छाँड़ि नहिं कछु धन है राधा के पास।
जाके विनिमय मिलैं प्रेमधन नीलकांतमनि खास॥
जानि लेउ सजनी! निश्चै यह परम सार कौ सार।
मोल अमोल स्याम प्रेम कौ, इक सुचि अँसुवन की धार॥

वे बोलीं—'अरी सखी! मैं क्या साधन बताऊँ, मेरे पास तो कुछ और है ही नहीं। मेरे तन, मन, प्राण, धन, जन, कुल, घर, शील, मान, अभिमान—सभी कुछ एकमात्र वे श्यामसुन्दर ही हैं। इस राधाके पास अश्रुजलको छोड़कर और कोई धन है ही नहीं, जिसके बदलेमें उन प्रेमधन स्वयं नीलकान्तमणिको प्राप्त किया जाय। सजनी! तुम यह निश्चित परम सारका सार समझो, अमूल्य श्यामप्रेमका मूल्य केवल पवित्र आँसुओंकी धारा ही है। सब कुछ उन्हींको समर्पण कर, सब कुछ उन्हींको समझकर उन्हींके प्रेमसे, उन्हींके लिये जो निरन्तर प्रेमाश्रुओंकी धारा बहती रहती है, बस वह पवित्र अश्रुजल ही उनके प्रेमको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। यह है उनके साधनका स्वरूप।

श्रीराधिकाजीकी सम्पूर्ण व्रज-रस लीला ही बड़ी दिव्य और मधुर है। परन्तु यह सदा ही अप्रकट है। इसका प्राकट्य कुछ विरले लौकिक काम-गन्ध-लेश शून्य किसी महाभाग गोपीजन या श्रीसखी-सहचरीके कृपाप्राप्त प्रेमी संत साधकके हृदय तथा जीवनमें ही किसी अंशमें होता है। यों तो श्रीकृष्णको मनुष्य माननेवाले लोगोंके लिये तो वे ग्यारह वर्षकी वयसके पहले ही गोपियोंको छोड़कर मथुरा पधार गये थे। अतः इस बालकपनमें शृङ्गार-रसका उद्भव ही सम्भव नहीं है। अवश्य ही श्रीब्रह्माजीके द्वारा श्रीकृष्ण-राधाका विवाह कराये जानेका भी वर्णन ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आता है; पर वह विवाह भी अप्रकट ही है।

ये श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय देहसे भगवान् श्रीकृष्णके साथ नित्य लीलारत रहती हैं और उनकी एक मायामयी कृत्रिम स्थूलछाया ससुरारमें रहती है, ऐसा वर्णन ग्रन्थान्तरोंमें मिलता है। जो कुछ भी हो, श्रीसीताजी तथा श्रीरुक्मिणीजीकी भाँति श्रीराधाका विवाह श्रीकृष्णके साथ नहीं होता, पर राधा-कृष्णतत्त्वमें विवाहकी आवश्यकता भी नहीं है। वह तो दिव्य चिन्मय राज्यका नित्य अभिन्न चिन्मय सम्बन्ध है और उसी राज्यकी ये सब लीलाएँ भी हैं। हमारे लौकिक स्थूल जगत्के लिये तो इस लीलासे सर्वोच्च उपदेश यही प्राप्त होता है कि प्रेमका ऊँचे-से-ऊँचा स्तर त्यागसे प्राप्त किया जाता है। जहाँ त्याग है, वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। साधन-जगत्के लिये यह उपदेश मिलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमप्रेमास्पद हैं और श्रीराधा-मुख्या गोपीजनोंकी भाँति श्रीकृष्णसुख ही जीवनका सहज सुख बना लेना ही सर्वोच्च साधन है। यही शिक्षा इससे लेनी

'जो एक ही परमानन्दरसरूप है, वही सदा दो प्रकारका बनकर लीलारत है और वह श्रीराधा-कृष्णरूप है। मेरा उसे बराबर नमस्कार है।'

स्वामिनी हे वृषभानुदुलारि।
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्ति कुमारि॥
नित्य निकुंजेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-आधार।
परमरसिक रसराजाकर्षिणि उज्ज्वल-रसकी धार॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरि-लीला-जीवनकी मूल।
मोहि बनाय राखु निसिदिन निज पावन पदकी धूल॥

(२)

[रात्रिमें]

श्रीराधा-माधवका चिन्तन

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

श्रीराधा श्रीकृष्ण नित्य ही परम तत्व हैं एक अनूप।
नित्य सच्चिदानन्द प्रेम घन-विग्रह उज्ज्वलतम रसरूप॥
बने हुए दो रूप सदा लीला-रस करते आस्वादन।
नित्य अनादि-अनन्त काल लीलारत रहते आनँदघन॥
कायव्यूहरूपा राधाकी हैं अनन्त गोपिका ललाम।
इनके द्वारा लीला-रस-आस्वादन करते श्यामा-श्याम॥
कृष्ण, राधिका, गोपी-जन—तीनोंका लीलाम सयोग।
एक तत्व ही तीन रूप बन करते लीला-रस-सभोग॥
परम तत्व श्रीकृष्ण नित्य हैं अनुपम सत्-चित्-आनँदघन।
सत् संधिनि, चित् चिति आह्लादिनि है आनन्दशक्ति रसघन॥
ह्लादिनि स्वय 'राधिका', संधिनि बनी नित्य 'श्रीवृन्दावन'।
बनी 'योगमाया' चिति करती रसलीलाका आयोजन॥
राधा स्वय बनी है व्रजमें गोपरमणियाँ अति अभिराम।
लीला-रसके क्षेत्र-पात्र बन यों लीलारत श्यामा-श्याम॥
व्रजसुन्दरी प्रेमकी प्रतिमा, कामगन्धसे मुक्त महान।
केवल प्रियतमके सुख-कारण करतीं सदा प्रेम-रस-दान॥
लोक-लाज, कुल-कान, निगम-आगम, धन-जाति-पाँति यश-गेह।
मुक्ति-भुक्ति सब परित्याग कर करतीं प्रियसे सहज सनेह॥
इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना है अति निन्दित कलुषित काम।
मोक्ष-काम-कामी ऊँचे साधक भी नहीं पूर्ण निष्काम॥
काम सदा तमरूप अन्धतम नरकोंका कारण सविशेष।
प्रेम सुनिर्मल हरि-रस-पूरित परम ज्योतिमय शुभ दिनेश॥
जिसको नहीं मुक्तिकी इच्छा, जिसे नहीं बन्धनका भान।
केवल कृष्ण-सुखेच्छा हित जिसके सब धर्म, कर्म, मति, ज्ञान॥
ऐसे गोपी-जन-मनमें लहराता प्रेम-सुधा-सागर।
इसीलिये रहते उनमें नित मग्न रसिकमणि नटनागर॥

श्रीराधा और श्रीकृष्ण नित्य निरन्तर एक ही अनुपम परम तत्त्व हैं और ये नित्य सच्चिदानन्द प्रेमघनविग्रह उज्ज्वल-तम रसरूप हैं। ये एक ही आनन्दघन सदा दो बने हुए लीलारसका आस्वादन करते रहते हैं और अनादि-अनन्तकाल लीलारत हैं। श्रीराधाजीकी ही कायव्यूहरूपा अनन्त सुन्दरी गोपिकाएँ हैं, जिनके द्वारा श्रीराधा-माधव सदा सर्वदा लीला-रसास्वादन करते रहते हैं। ये श्रीकृष्ण, श्रीराधा और अनन्त गोपीजन—इन तीनोंका इस मधुरतम, दिव्यतम लीलामें सयोग है और एक ही परम तत्त्व तीन रूप बना हुआ लीला-रस-सम्भोग करता रहता है। परम तत्त्व श्रीकृष्ण नित्य अनुपम सत्-चित्-आनन्दघन हैं, 'सत्' 'सधिनि', 'चित्' 'चिति' और 'आनन्द' रसघन 'ह्लादिनी' शक्ति है। 'ह्लादिनी' स्वय 'राधिका' हैं, 'सधिनी' 'वृन्दावन' बनी है और 'चिति' 'योगमाया' बनी हुई नित्य निरन्तर रसलीलाका आयोजन करती रहती है। श्रीराधा स्वय ही लीलाधाम व्रजमें अत्यन्त अभिराम गोपरमणियोंके रूपमें प्रकट हैं। यों श्रीराधा-माधव स्वयं ही लीलारसके क्षेत्र और पात्र बनकर लीला-रस-पान-रत हैं। व्रजसुन्दरियाँ महान् प्रेमकी मूर्तिमान् प्रतिमा हैं। ये काम-गन्धलेशसे सर्वथा मुक्त हैं और केवल श्रीकृष्ण प्रियतमके सुखके लिये ही सदा प्रेमरसका वितरण करती रहती हैं। ये लोक-लज्जा, कुल-कान, निगम-आगम, धन-जन, जाति-पाँति, यश-गृह, भोग-मोक्ष—सबका परित्याग करके प्रियतम श्रीकृष्णसे सहज स्नेह करती हैं। इन्द्रिय-सुखकी मलिन कामना तो अत्यन्त निन्दित कलुषित काम है ही, मोक्षकी कामना करनेवाले ऊँचे साधक पुरुष भी पूर्ण निष्काम नहीं हैं। (क्योंकि उनमें भी 'अहं'को बन्धनसे मुक्त करनेकी चिन्ता है, वे भी 'अहं'की चिन्ता तथा 'अहं'की मङ्गल-कामनासे आबद्ध हैं।) लौकिक काम सदा ही तमरूप है और अन्धतम नरकोंकी प्राप्तिका विशेष हेतु है। तथा हरि-रस-पूरित प्रेम सदा ही परम ज्योतिर्मय उज्ज्वल भास्कर है। जिसको न तो मुक्तिकी इच्छा है न जिसे बन्धनका भान है, केवल श्रीकृष्ण-सुखेच्छाके लिये ही जिसके सब धर्म, कर्म, मति, ज्ञान आदि हैं, ऐसे गोपीजनके मनमें नित्य निर्मल प्रेमसुख-सागर लहराता रहता है और इसीलिये

उसमें रसिक शिरोमणि नटनागर नित्य निरन्तर निमग्न रहते हैं।

इन गोपियोंकी और गोपी-भावकी मूल उद्गम श्रीराधारानी अनादि हैं। लोकमें इनका मङ्गलमय प्रेमसुधामय प्राकट्य स्वयं चिदानन्दमय प्रेमघनविग्रह भगवान् श्यामसुन्दरके प्राकट्यकी भाँति ही दिव्य और अलौकिक हुआ करता है। आज इन्हीं सच्चिदानन्दविग्रहा, आनन्दाशघनीभूता, आनन्दचिन्मय-रसप्रतिभाविता, साक्षात् ह्लादिनी श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुराजनन्दिनीका प्राकट्य-महोत्सव है। यह दिन जगत्के लौकिक इतिहासमें परम त्यागमय, परम दिव्य, अहंकी चिन्तासे सर्वथा शून्य, उज्ज्वलतम मधुर प्रेमरसके मूर्तिमान् स्वरूपका तथा भक्ति-सिद्धान्तके परम उच्चतम महान् व्यक्तित्वका प्रकाशक होनेके कारण परम धन्य है। प्रतिवर्ष ही श्रीराधारानीके सहज अनुग्रहसे श्रीराधा-माधव युगलसरकारके सम्बन्धमें कुछ स्मरण चिन्तन करनेकी चेष्टा की जाती है। वैसी ही क्षुद्र चेष्टा इस बार भी की जा रही है और इस चेष्टाके साथ-साथ आज इस प्राकट्य-महोत्सवके महान् शुभ अवसरपर हम सब श्रीराधाके पावन पाद-पद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्त प्रणिपात करते हुए उनसे पवित्र दिव्य प्रेमकण प्राप्त करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण रस, सम्पूर्ण आनन्द और सम्पूर्ण शोभा-सौन्दर्यादि गुणोंके मूल समाश्रय हैं, वे समस्त ऐश्वर्य, माधुर्य, वीर्य, शक्ति, योग, ज्ञानके मूल आश्रय तत्त्व हैं। ऐसे वे पूर्णतम भगवान् जिनके 'आश्रय' और 'विषय' हैं, उन श्रीराधारानीका स्वरूप कितना महान् है—यह मानव-ज्ञानके, यहाँतक कि अनेकों मुक्त महापुरुषोंकी धारणाके भी अतीत है। जिन श्रीकृष्णचन्द्रके ऐश्वर्य और माधुर्यके लिये समस्त जगत् लालायित और मोहित है, जो श्रीकृष्णचन्द्र अपने ही माधुर्यपर आप ही मोहित हैं, वे निजमनमोहन, भुवन-मोहन, मदनमोहन भी जिनके द्वारा नित्य मोहित हैं, वे श्रीराधा कितना और कैसा महान् तत्त्व हैं, इसे भाषाके द्वारा कोई किसीको समझा नहीं सकता।

श्रीमती राधा हैं—स्वमनमोहन-मनोमोहिनी, भुवनमोहन-मनोमोहिनी, मदनमोहन-मनोमोहिनी, हरिहृद्भृङ्ग मञ्जरी, मुकुन्दमधुमाधवी, पूर्णचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रके पूर्ण विकासकी आधारमूर्त्ति पूर्णिमास्वरूपिणी, कृष्णकान्तागण शिरोमणि स्वयं आह्लादिनी शक्ति। इन वृषभानुनन्दिनीका तत्त्व जीवकी या जीवसमष्टिकी भाषामें नहीं समझाया जा सकता। श्रीराधाके भाव और द्युतिसे जिनका श्रीविग्रह सुवलित है, वे राधाभाव-द्युति-सुवलिततनु श्रीकृष्णचन्द्र ही श्रीमती राधाकी महिमा कह सकते हैं अथवा उनके परम प्रेमी दास उन्हींकी कृपासे यत्किंचित् कहनेमें समर्थ हो सकते हैं। मुझ-सरीखे अधमका मन तो श्रीराधारानीकी महिमाकी कल्पित छायाको भी नहीं छू सकता।

इतनेपर भी, श्रीराधा-माधवके चिन्तनसे अपनी मन-वाणीको पवित्र करनेके लिये संत महापुरुषोंके अनुभवपूर्ण वचनोंके आधारपर ही कुछ चेष्टा की जाती है।

व्रजरसनिधि श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अनादि, सर्वादि, सर्वकारणकारण, सच्चिदानन्दघनविग्रह अद्वयज्ञानतत्त्वस्वरूप हैं। उनके साथ उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाका नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दोनोंका नित्य एकत्व है। राधा पूर्णशक्ति हैं—श्रीकृष्ण पूर्णशक्तिमान् हैं, श्रीराधा मृगमदगन्ध हैं—श्रीकृष्ण मृगमद हैं, श्रीराधा दाहिकाशक्ति हैं—श्रीकृष्ण साक्षात् अग्नि हैं। यों वे दोनों नित्य एकस्वरूप हैं, पर लीलारसके आस्वादनके लिये नित्य ही उनके दो रूप हैं।

श्रीराधा प्रेमकी पराकाष्ठास्वरूप 'महाभाव'-रूपा हैं। वे समस्त कल्याण-गुणगणकी आकर (खान) हैं और श्रीकृष्ण-कान्ता-शिरोमणि हैं। जड प्रकृतिसे संयुक्त जीवोंकी भाँति उनके जड इन्द्रियाँ, जड शरीर और सूक्ष्मदेहरूप जड चित्त नहीं हैं। उनके दिव्य चिन्मय स्वरूपमें नित्य शुद्ध चिन्मय इन्द्रियाँ, चिन्मय शरीर और चिन्मय चित्त हैं। उनकी समस्त इन्द्रियाँ, उनका शरीर और उनका चित्त नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही श्रीकृष्णप्रेमसे परिभावित है। वे श्रीकृष्णकी निज शक्ति हैं, अतएव एकमात्र वे ही श्रीकृष्णकी क्रियामें सहायिका हैं। उनकी शक्तिसे ही श्रीकृष्णकी प्रत्येक लीला सुसम्पन्न होती है।

श्रीराधिका ही मधुर रसकी मूल आश्रयमूर्त्ति हैं। उनकी श्रीकृष्णसेवाकी सुसम्पन्नताके लिये ही उनकी कायव्यूहरूपा निर्मल प्रेममयी अनन्त गोपियोंका नित्य प्राकट्य है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण अन्योन्य-विलासमय हैं। इसलिये कभी श्रीकृष्ण 'विषय' और श्रीराधिका 'आश्रय' होती हैं और कभी श्रीराधिका 'विषय' और श्रीकृष्ण 'आश्रय' होते हैं। परंतु श्रीराधिका ही अधिकांशमें प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेके लिये उनकी इच्छासे 'विषयत्व' का स्वीकार करती हैं। प्रतिक्षण, प्रत्येक अवस्थामें निरन्तर श्रीकृष्ण-सुख-साधन और श्रीकृष्णेन्द्रिय-तोषण ही उनका एकमात्र कार्य है। वे अपने

चित्तकी प्रत्येक वृत्तिसे, शरीरके प्रत्येक अवयव-अङ्ग-उपाङ्गकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टासे नित्य निरन्तर श्रीकृष्ण-सुख-सम्पादनमें ही संलग्न रहती हैं । इसीसे वे 'मधुर रसकी मूल आश्रय-मूर्ति' के नामसे प्रसिद्ध हैं ।

बृहद्-गौतमीय तन्त्रमें श्रीराधाके लिये कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता ।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥

देवी—श्रीकृष्णकी सेवारूपी क्रीडाकी नित्य निवासस्थली होनेके कारण या श्रीकृष्णके नेत्रोंको अनन्त आनन्द देनेवाली द्युतिसे समन्वित परमा सुन्दरी होनेके कारण ये 'देवी' हैं ।

कृष्णमयी—श्रीकृष्ण ही राधिकाके रूपमें प्रकट हैं, अथवा उनकी प्रेमरसमयी ह्लादिनी शक्ति होनेके कारण ये श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, या भीतर-बाहर जहाँ भी इनकी दृष्टि पड़ती है या इनका मन जाता है, वहीं इन्हें श्रीकृष्ण ही दीखते हैं—इनकी समस्त इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा श्रीकृष्णका ही संस्पर्श प्राप्त करती रहती हैं । इसलिये ये 'कृष्णमयी' हैं ।

राधिका—प्रेमास्पद श्रीकृष्णकी सब प्रकारकी इच्छा पूर्ण करनेके रूपमें नित्य ही ये तन-मन-वचनसे श्रीकृष्णकी आराधनामें अपनेको नियुक्त रखती हैं—इसलिये ये 'राधिका' हैं ।

परदेवता—समस्त देव-ऋषि-मुनियोंके द्वारा पूजनीया, सबका पालन-पोषण करनेवाली और अनन्त ब्रह्माण्डोंकी जननी होनेके कारण ये 'परदेवता' हैं ।

सर्वलक्ष्मीमयी—समस्त लक्ष्मियोंकी अधिष्ठान, आश्रय या आधाररूपा, सबकी आत्मारूपिणी, भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—इन छहों ऐश्वर्योंकी प्राण-स्वरूपा या समस्त ऐश्वर्योंकी मूलरूपा होनेके कारण अथवा वैकुण्ठकी नारायणवक्षोविलासिनी लक्ष्मीगण इन्हींकी वैभव-विलासागरूपा होनेके कारण ये 'सर्वलक्ष्मीमयी' हैं ।

सर्वकान्ति—सम्पूर्ण शोभा-सौन्दर्यकी अनन्त खान, समस्त लक्ष्मियों तथा शोभाधिष्ठात्री देवियोंकी मूल उद्भवरूपा, अथवा नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी समस्त इच्छाओंकी साक्षात् मूर्ति होनेके कारण ये 'सर्वकान्ति' हैं ।

सम्मोहिनी—भुवनमनमोहन, अनन्त, मदनमोहन, स्वमनमोहन श्रीश्यामसुन्दरकी भी मनोमोहिनी होनेके कारण ये 'सम्मोहिनी' है । और—

परा—श्रीकृष्णकी भी परमाराध्या, परम प्रेयसी या परा-शक्ति होनेके कारण इन्हें 'परा' कहते हैं । इन 'परा' शक्तिसे ही शक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दिव्य मधुर लीलाओंको सम्पन्न करते रहते हैं ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है कि श्रीराधिकाजीमें अनन्त दिव्य गुण हैं, वे भगवद्गुणमयी ही हैं; पर उनमें ऐसे पचीस प्रधान गुण हैं, जिनके कारण भगवान् श्रीकृष्ण नित्य उनके वशमें रहते हैं—

अनन्त गुण श्रीराधिकार, पचिश प्रधान ।
सेइ गुणेर वश हय कृष्ण भगवान ॥

वे पचीस गुण निम्नलिखित हैं—

(१) मधुरिमा, (२) नित्यकिशोरावस्था, (३) नेत्रोंकी चञ्चलता, (४) निर्मल उज्ज्वल हास्य, (५) सुन्दर सौभाग्यरेखा, (६) माधव-मनोन्मादकारी श्रीअङ्ग-सौरभ, (७) संगीतशास्त्रमें निपुणता, (८) श्रुतिमनोज्ञ वाणी, (९) नर्म-पाण्डित्य यानी परिहास-वाक्योंके प्रयोगमें निपुणता, (१०) सहज विनयशीलता, (११) पूर्ण करुणा, (१२) विदग्धता, (१३) कर्तव्यकुशलता, (१४) लज्जाशीलता, (१५) सुमर्यादा—श्रीकृष्णके प्रति गौरव-बुद्धि, (१६) परम धैर्य, (१७) आदर्श गम्भीरता, (१८) लीलामयता, (१९) परमोत्कर्षमयी महाभावमयता, (२०) गोकुलकी-प्रेमपात्री (२१) ब्रह्माण्डोंमें उद्दीप्त यश, (२२) गुरुजनोंके श्रेष्ठ स्नेहकी पात्रता, (२३) सखियोंके प्रतिप्रेम-परवशता, (२४) श्रीकृष्णप्रिया रमणियोंमें सर्वप्रधानता और (२५) प्रियतम श्रीकृष्णको सदा-सर्वदा अपने अधीन रखनेकी मधुर शक्ति ।

श्रीकृष्णलीलानन्दमयी श्रीराधाके असंख्य दिव्य गुण हैं—उनकी गणना तो कोई कर ही नहीं सकता, वे कल्पनामें भी नहीं आ सकते ।

'प्रेमाम्भोज-मकरन्द' में आया है कि 'श्रीकृष्णस्नेह' ही श्री-मती राधाके अङ्गका सुगन्धित उबटन है, इस उबटनको लेकर वे तीन काल स्नान करती हैं। उनके सर्वप्रथम—पूर्वाह्न स्नानका जल है—'कारुण्यामृत' अर्थात् प्रथम कैशोरावस्था या करुणाविशिष्ट नवयौवन, मध्यम—मध्याह्नस्नानका जल है—'तारुण्यामृत' या व्यक्त यौवन और अपराह्नस्नानका जल है—'लावण्या-मृत' यानी पूर्ण यौवन । कायिक गुणोंमें जो वयस्, रूप और लावण्य है—वही श्रीमतीका त्रिविध स्नान-जल है । 'लज्जा'-रूपी नील श्याम रेशमी साड़ी उनका 'अधोवस्त्र' है ।

'कृष्णानुराग' उनका अरुण उपवस्त्र—'ओढनी' है। 'श्रीकृष्ण-प्रणय-मान उनके वक्षःस्थलकी 'कञ्चुकी' (कॉचली) है। 'अङ्ग-सौन्दर्य' ही 'केसर' है, 'अभिरूपतारूपी सखियोंका प्रणय' 'चन्दन' है। 'माधुर्यमयी स्मितकान्ति' 'कर्पूर' है। केसर, चन्दन और कर्पूर—इन तीन वस्तुओंका श्रीराधिकाके अङ्गपर विलेपन हो रहा है अर्थात् सौन्दर्य, अभिरूपता और माधुर्यसे वे नित्य विभूषित है। 'श्रीकृष्णका उज्ज्वल रस' ही उनके अङ्गोंपर लगी हुई 'कस्तूरी' है। उनका 'प्रच्छन्न मान और वाम भाव' ही 'मस्तकका जूड़ा' है। 'धीराधीरात्मक गुण ही उनके 'अङ्गका रंगमी वस्त्र' है। 'श्रीकृष्ण रति' ही उनके उज्ज्वल 'अधरोंपर ताम्बूलका रग' है। 'प्रेमकौटिल्य' ही उनके दोनों नेत्रोंका जल है। 'सुदीप्त' 'सात्त्विक भाव', 'हर्षादि सञ्चारी भाव' और बीस प्रकारके 'किलकिञ्चितभाव' 'श्रीमतीके अङ्गकी अन्यान्य सजावट तथा माला' हैं। 'उनका नित्य सुहाग' ही उनके विशाल ललित ललाटका तिलक है। 'प्रेमवैचित्त्य' ही उनके 'अङ्गके रत्न' हैं। 'कृष्णलीलामयी चित्तवृत्तियाँ' ही उनकी 'आस-पासकी सखियाँ' है। 'निजाङ्ग-सौरभ' ही उनका 'आलय' है। 'गर्व' 'पर्यङ्क' है और श्रीकृष्णनामगुण-यश'-श्रवण-कीर्तन ही उनके 'कर्णभूषण और वाणीका प्रवाह' है।

श्रीराधारानी जरा भी व्यवधानके बिना सभी समय श्रीकृष्णकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करती रहती हैं। उनका सच्चिदानन्दमय कमनीय कलेवर अनुपम दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण है और वे श्रीकृष्णके विशुद्ध प्रेम-रत्नोंकी अनन्त आकर (खान) हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण जैसे युगपत् (एक ही साथ) निर्विकार और स्वेच्छामय, सर्वव्यापी और मूर्तिमान्, निरपेक्ष और भक्तपक्षपाती, आत्माराम और प्रेमीभक्त-प्रेमाकाङ्क्षी आदि परस्परविरुद्ध-धर्मयुक्त हैं, उसी प्रकार श्रीराधा प्रेमाशेषसीमा-समन्वित होकर भी सर्वदा प्रेमवृद्धिशील, अत्यन्त महान् होकर भी अत्यन्त दीन, अत्यन्त गौरवमयी होकर भी गौरव-आचारहीन, परम निर्मल होकर भी पुनः-पुनः वक्रगतियुक्त—यों परस्पर—विरुद्धगुणयुक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णके माधुर्य और श्रीराधिकाके प्रेममें होड़ लगी हुई है और नित्य-निरन्तर बढते हुए वे अनन्त —असीमकी ओर जा रहे हैं। आनन्दकन्द श्रीकृष्णसे त्रिभुवनको आनन्द प्राप्त होता है, परतु श्रीकृष्णको आनन्दित करती हैं श्रीराधाजी। श्रीकृष्णका माधुर्य असमोर्द्ध्व है और उनका रूप कोटि-कोटि कामदेवोंके सौन्दर्यपर विजय प्राप्त कर चुका है; पर श्रीकृष्णके नेत्र श्रीराधाके अप्रतिम रूप-सौन्दर्यका दर्शन करके ही शीतल होते हैं। श्रीकृष्णकी कलित-ललित वंशी-ध्वनि चतुर्दश भुवनोंको आकर्षित करती है, पर श्रीकृष्णके कान श्रीराधाके वाक्य-सुधा-पानसे ही तृप्त होते हैं। श्रीकृष्णके दिव्य अङ्ग-गन्धसे जगत् सुगन्धित होता है अर्थात् जगत्के समस्त मनोमोहक सुगन्ध श्रीकृष्णके अङ्ग-गन्धसे ही सुगन्धित हैं, परंतु श्रीकृष्णके प्राण तथा घ्राण नित्य श्रीराधाके अङ्ग-सुगन्धके लोभी बने रहते हैं। साक्षात् रसरूप रसराजशिरोमणि श्रीकृष्णके रससे जगत् सुरसित है, पर श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके अधर-रसके वशीभूत हैं। श्रीकृष्णका स्पर्श कोटि-कोटि-शशाङ्क-सुशीतल है, किंतु श्रीकृष्णके अङ्ग सुशीतलता प्राप्त करते हैं श्रीराधारानीके अङ्गस्पर्शसे। श्रीराधिकाके प्रति श्रीकृष्णकी प्रीति अत्यन्त प्रबल होनेपर भी श्रीकृष्णके प्रति श्रीराधाकी उज्ज्वल निर्मल प्रीति कहीं अधिक है। श्रीमती वृषभानुदुलारीके हृदयमें आत्मेन्द्रिय-सुखेच्छाकी कल्पना भी नहीं है, तथापि उनके द्वारा, उनकी सेवाके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण अपार आनन्द प्राप्त कर रहे हैं—इस अनुभूतिसे वे श्रीकृष्णकी अपेक्षा भी अनन्तगुण अधिक सुख प्राप्त करती हैं। धन्य हैं वे श्रीराधारानी और उनकी कायव्यूहरूपा त्याग-प्रेमकी मूर्तिमान् प्रतिमा श्रीगोपसुन्दरियाँ और धन्य है वह दिव्य व्रज, जहाँ ऐसी दिव्य लीलाएँ होती हैं।

इसी व्रजके पवित्र प्रेमपरिप्लावित क्षेत्रमें श्रीराधा-माधवका रस-विलास एक नित्य प्रवहमाणा स्रोतस्विनीके सदृश है। इस प्रवाहके दो तट हैं—मिलन और विरह—सम्भोग और विप्रलम्भ। मिलन-तटपर विराजित व्रजयुगलवर 'सम्भोग'-रसका आस्वादन करते हैं और विरह-तटपर वे 'विप्रलम्भ' रसका आस्वादन करते हैं। विरह-तटके रसास्वादनके चार प्रकार हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्त्य और प्रवास। इसी प्रकार मिलन-तटके आस्वादनका वैचित्र्य भी चार प्रकारका है—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण और समृद्धिमान्। पूर्वरागके विरहके अनन्तर होनेवाला मिलन संक्षिप्त सम्भोग है, मानकी विरह-वेदनाके बाद होनेवाला संकीर्ण सम्भोग है, कुछ दूरके प्रवासके विप्रलम्भके बाद होनेवाला सम्पूर्ण सम्भोग है और सुदूर प्रवासके विप्रलम्भके अनन्तर होनेवाले मिलनको समृद्धिमान् सम्भोग कह सकते हैं। इन चार प्रकारके सम्भोग और चार प्रकारके विप्रलम्भमेंसे प्रत्येक आठ प्रकारका होनेसे व्रजमें चौसठ रसोंका आस्वादन हुआ करता है; फिर इनके

अनेकों अन्तर्भेद हो सकते हैं। इनमेंसे प्रत्येक रस-विलासकी स्थिति और विस्तृति सर्वतोभावसे निर्भर करती है—विरह-मिलनकी विरुद्धतापर। इन दोनोंकी सत्तापर ही व्रजके रस-प्रवाहकी सत्ता है। इसीलिये इन दोनोंको—सम्भोग और विप्रलम्भको 'विलासावगाही विरोधिता' कहा जाता है।

जैसे बायें और दाहिने दोनों पैरोंसे मनुष्य चलता है, दो पाँखोंसे पक्षी उड़ता है, इसी प्रकार विरह और मिलन-से इस रस-विलासकी सिद्धि होती है। और जैसे प्रातः एवं संध्याके बीचमें दिनकी विशिष्टताका विकास होता है, पूर्णिमा एवं अमावास्याके द्वारा मासकी विचित्रता प्रकट होती है, वैसे ही विरह और मिलनकी विविक्तता और पृथक्ताओंमें व्रजके रसविलासका मधुरतम प्रवाह चलता रहता है। व्रजमें इन दोनोंका एकत्रीकरण इष्ट नहीं है। पर कहीं-कहीं जब विरह और मिलनका एकत्र मिलन हो जाता है, तब एक महान् मधुर माधुर्यका उदय होता है, व्रजरसिक प्रेमीजन उसका अनुभव करते हैं।

प्रेमवैचित्त्यका आस्वादन मिलनमें विरहकी स्फूर्तिसे होता है। प्रेमवैचित्त्यका लक्षण बतलाते हुए श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियाऽऽर्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कृष्टताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उसके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना—'प्रेमवैचित्त्य' कहलाता है।'

रासलीलाके समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र समस्त गोपियों-को छोड़कर श्रीराधाजीको साथ लेकर एकान्तमें चले गये। वहाँ जब श्रीराधाने कहा—'मुझे कंधेपर चढ़ा लो' और जब भगवान् उन्हें कंधेपर चढ़ाने लगे कि बस, उसी क्षण प्रेमकी अत्यन्त उत्कृष्टतावश श्रीराधाको 'प्रेमवैचित्त्य' हो गया। वे गिर पड़ीं। प्रियतम श्रीकृष्णने उन्हें अपने अङ्क-में सुला लिया। उस समय श्रीराधाजीको ऐसा लग रहा था कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर अन्तर्धान हो गये हैं और वे रो-रोकर पुकारने लगीं—

हा नाथ! रमण! प्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय संनिधिम्॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३०। ४०)

'हा नाथ! हा रमण! हा प्रियतम! हा महाबाहो! तुम कहाँ हो? मैं तुम्हारी दासी हूँ। प्यारे! तुम्हारे चले जानेसे मैं अत्यन्त दुखी हो रही हूँ। मेरे पास आकर मुझे तुरंत दर्शन दो।'

प्रेमवैचित्त्यका कितना सुन्दर और प्रत्यक्ष दृश्य है।

श्रीविदग्धमाधवमें आया है—श्रीयमुनाजीके तटपर श्रीराधा-माधव विहार कर रहे हैं। वृन्दादेवी कर्णभूषणके योग्य दो कमल श्रीमाधवको लाकर देती हैं। श्रीकृष्ण सहर्ष उनको लेकर श्रीराधाके कानोंमें पहनाने लगते हैं। इतनेमें ही देखते हैं कि कमलमें एक भ्रमर बैठा है। भ्रमर उड़ा, श्रीराधाके मुखको कमल समझकर उसकी ओर चला। श्रीराधाने श्रीहस्तके द्वारा उसको हटाना चाहा, भ्रमर श्रीकर-तलको एक कमल समझकर उसकी ओर उड़ा। ढीठ भ्रमर जा नहीं रहा है, इससे डरकर श्रीराधा अपनी ओढ़नीका आँचल फटकारने लगीं। मधुमङ्गलने छड़ी मारकर भ्रमरको बहुत दूर हटा दिया और लौटकर कहा—'मधुसूदन (भ्रमर) चला गया।'

इतना सुनते ही 'मधुसूदन' शब्दसे भगवान् श्रीकृष्ण समझकर श्रीराधाजी 'हाय हाय! मधुसूदन कहाँ चले गये'—पुकारकर रोने लगीं। 'यदिह सहसा मामत्याक्षीद्वने वनजेक्षणः।—अकस्मात् कमलनयन श्रीकृष्ण इस वनमें मुझको त्यागकर क्यों चले गये?' यों कहकर वे आर्तनाद करने लगीं। अपने समीप ही प्रियतमाके इस मधुरतम प्रेमवैचित्त्य विरहको देखकर श्रीकृष्णने संकेतसे सबको चुप हो जानेके लिये कहा और स्वयं मधुर हास्य करने लगे। ये प्रेमवैचित्त्यके उदाहरण हैं।

इसी प्रकार मिलन और विरहके मिलनके भी सुन्दर उदाहरण हैं—श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें रासपूर्णिमाकी रात्रिके समय भगवान् श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनि सुनकर श्रीगोपाङ्गनाओंके अभिसारका वर्णन है। वहाँ यह बताया गया है कि कुछ गोपाङ्गनाएँ घरोंके भीतर थीं—'अन्तर्गृहगताः'। उनको घरवालोंने रोक दिया, वे प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये बाहर जा नहीं सकीं—'अलब्धविनिर्गमाः'। तब उनका हृदय प्रियतम श्यामसुन्दरके भावसे परिपूर्ण हो गया। उनकी आँखें मुँद गयीं और हृदयमें श्रीकृष्णकी श्रीमूर्ति प्रकट हो गयी। उस अवस्थाका वर्णन करते समय श्रीशुकदेवजीने कहा है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥

दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेपनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला ॥
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ९ १०)

उस समय कुछ गोपरमणियाँ घरोंके भीतर थीं, उन्हें घरवालोंने रोक दिया, इससे बाहर नहीं निकल सकीं। तब उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं और बड़ी भावनाके साथ तन्मय होकर श्रीकृष्णके परम मोहन सौन्दर्य-माधुर्यका ध्यान करने लगीं। वे अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकीं, अत उनके विरहकी इतनी तीव्र वेदना हुई कि उनके सारे अशुभ संस्कार नष्ट हो गये और उसीके साथ-साथ ध्यानावस्थामें आये हुए प्रियतम श्रीकृष्णका आलिङ्गन करनेसे इतना महान् सुख हुआ कि उनके समस्त शुभ संस्कारोंका सर्वथा क्षय हो गया।

यहाँ यह स्पष्ट है कि एक ही समय विरहकी तीव्र वेदना और मिलनका महान् आनन्द प्राप्त हो रहा है। विरह मिलनका मिलन हो रहा है। अनन्य प्रियतम प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके प्रेममें मिलन-विरहकी आनन्द-पीड़ा इतनी विलक्षण होती है कि उसकी उपमा कहीं नहीं है। देवी पौर्णमासीने नान्दीमुखीसे कहा था—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुता गर्वस्य निर्वासनो
निस्यन्देन मुदा सुधामधुरिमाहंकारसंकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमेव वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तय.॥

'सुन्दरि! श्रीनन्दनन्दन श्यामसुन्दरका प्रेम जिसके अन्तरमें प्रकट हो जाता है, उस प्रेमके वक्र-मधुर विक्रमको वही व्यक्ति जानता है। इस प्रेममें ऐसी महान् पीड़ा है कि वह नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको भी दूर कर देता है। उधर जब इस प्रेमकी आनन्दधारा बहने लगती है, तब वह अमृतके माधुर्यजनित अहंकारको संकुचित कर देती है।' इसी विरह-वेदना और मिलनानन्दने गोपीके अशुभ-शुभको समाप्त करके उसको कर्मबीजशून्य बना दिया।

'ललितमाधव' के दशम अङ्कमें श्रीकृष्ण-विरहकी असीम वेदनासे पीड़ित सत्यभामारूपिणी श्रीराधा भयानक सर्प-विषसे विषमय हुए सरोवरमें प्राणत्यागके लिये कूद पड़ती हैं। इतनेमें ही श्रीकृष्ण दौड़े आते हैं और पीछेसे दोनों भुजाओंके द्वारा श्रीराधाका कण्ठ धारण कर लेते हैं।

श्रीराधा दोनों भुजाओंको कालसर्प समझती हैं और मन-ही-मन कहती हैं कि 'कैसा सौभाग्य है कि मैं दो सर्पोंके द्वारा पकड़ ली गयी हूँ, ये अभी डँस लेंगे और डँसते ही इस विरह-दग्ध जीवनका अन्त हो जायगा। विधाता बड़ा ही अनुकूल है, जो मेरी मनचाही मृत्युको अभी तुरत ही बुला देगा।'

सर्प डँस नहीं रहे हैं—यह देखकर तथा स्पर्श-सुखका अनुभव करके श्रीराधा मन-ही-मन कहती हैं—'उपयुक्त समयपर अपकार करनेवाली वस्तुएँ भी प्रिय हो जाती हैं। सर्प डँस तो नहीं रहे हैं, उल्टा स्पर्श-सुख दे रहे हैं।'

श्रीकृष्ण राधाके मणिबन्धमें स्यमन्तक मणि बाँध देते हैं। मणिकी ज्योतिको देखकर श्रीराधा कहती हैं—'बड़ा ही आश्चर्य है कि मणि-विभूषित-मस्तक कालसर्प भी मुझे डँसनेमें देर कर रहा है। हाय! कृष्णरहित इस जीवनका कब सदाके लिये अन्त होगा!'

श्रीकृष्णके हृदयसे चिपटी हुई श्रीमती राधा इस प्रकार विरह-वेदनासे छटपटाती हुई मृत्युकी बाट देख रही हैं। मिलन-विरहका यह बड़ा मनोहर चित्र है।

ये विरह-मिलन-मिलनके कुछ उदाहरण हैं।

'विप्रलम्भ' का स्वभाव ही है—भीतर पाना और बाहर खो देना तथा 'सम्भोग' का स्वभाव है—बाहर पाना और भीतर खो देना। इसीसे सम्भोगकालमें इच्छा होती है—बाहरके प्रियतमको भीतर ले जानेकी, और विप्रलम्भमें व्याकुल आग्रह होता है—भीतरके प्रियतमको बाहर लाकर उनका मुखचन्द्र देखने और आलिङ्गन करनेका।

यद्यपि श्रीराधाके अन्तर-बाहर दोनों ही क्षेत्रोंमें नित्य प्रियतम श्यामसुन्दरका निवास रहता है, वे नित्य हृदयभवनमें लीला-विहार करते हैं और साथ ही नित्य नेत्रोंके सामने रहकर बाह्य-लीला करते रहते हैं, तथापि प्रेमकी सुन्दर विचित्र स्थितियोंका रसास्वादन होता रहे, इसलिये श्रीमती राधामें कभी 'विप्रलम्भ-लीला'की स्फूर्ति होती है और कभी 'मिलन-लीला' की।

श्रीराधा-माधव और उन्हींकी प्रतिमूर्त्तियाँ श्रीगोपाङ्गनाओंकी यह पवित्रतम, मधुरतम, उज्ज्वलतम प्रेमानन्दसुधामयी लीला विविध विचित्र स्वरूपोंमें नित्य निरन्तर चलती रहती है। इसके अनन्त स्वरूप हैं, अनन्त स्तर हैं।

अपनी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंके साहाय्य-सहयोग-

से श्रीकृष्णस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी परम प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती हुई जब किसी भाग्यवान् जीवपर स्वय अथवा अपनी किसी सखी-सहचरीके द्वारा कृपा-वर्षण करती हैं, तभी जीवका विशुद्ध कृष्णप्रेमकी ओर आकर्षण होता है। जीवगत ह्लादिनीका विकार मायाशक्तिके द्वारा जीवको सतत खींच रहा है, इसीसे वह विषय-भोगमें प्रमत्त होकर श्रीकृष्ण-प्रेमसे वञ्चित हो रहा है और इसीसे विषयोंसे सुखोंकी आशामें नित्य नित्य दु:खोंके भँवरमें पड़ा गोते खा रहा है। इस माया-शक्तिके आकर्षणसे मुक्त होनेके लिये श्रीकृष्णगत-ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा या उनकी किसी सखी-सहचरीके अनुगत होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे वे कृपा करके विशुद्ध कृष्णप्रेमकी ओर हमें खींचें।

जयति नव नागरी, रूप गुन आगरी, सर्व सुख सागरी कुँअरि राधा।
जयति हरि भामिनी स्याम घन दामिनी, केलि कल कामिनी छवि अगाधा॥
जयति मनमोहनी, करौ दृग बोहनी, दरस दै सोहनी। हरौ बाधा।
जयति रस मूरि री, सुरभि सुर भूरि री, 'भगवतरसिक' प्रान साधा॥

और, जब कोई मुझसे आगे बढ़ जाता है ?

[मत्सर, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[वर्ष ३१, सं० ९, पृष्ठ ११९३ से आगे]

(३)

मत्सरका एक कारण है—हीनताकी भावना।

दूसरोंसे अपनेको हम छोटा मानते हैं।

लोकतन्त्रमें एक बहुत बड़ा गुण है और वह यह कि हर आदमीको, हर बालिग आदमीको, हर स्त्रीको, हर पुरुषको एक वोट है।

बड़ेको भी एक वोट, छोटेको भी एक वोट।

जमीदार, सेठ, रईस, मिलमालिकको एक वोट, घसियारेको भी एक वोट।

राजा भोज भी यहाँ राष्ट्रपति-पदके लिये उम्मीदवार हो सकता है, गगुआ तेली भी।

जाति, वर्ण, लिङ्ग, शिक्षा, हैसियत—किसी बातकी कोई बंदिश नहीं। फिर यह हीनताकी भावना क्यों ?

× × ×

आत्माकी दृष्टिसे देखें तो—

सब घट व्यापक राम है, देही नाना भेष।
राव रंक चंडाल घर 'सहजो' दीपक एक॥

सब घरोंमें एक ही दीपक जल रहा है। एक ही लौ है, एक ही प्रकाश है।

लट्टुओंमें तो भेद रहेगा ही। कोई लाल, कोई पीला, कोई काला, कोई सफेद। इसीमें तो सृष्टिका सौन्दर्य है। रंग-बिरंगे पुष्पोंकी यह नुमाइश ही तो उसकी विशेषता है।

× × ×

बाह्य दृष्टिसे देखें तो—

एक-से हाथ-पैर, एक-सी नाक-आँख, एक-से मुँह-कान, एक-सी गठन, एक-सी बनावट। ब्राह्मणको भी सुई चुभानेसे दर्द होता है, चाण्डालको भी।

भगवान्‌ने तो ससारमें सबको एक-सा ही गढ़कर, एक-सी ही साधन-सामग्री देकर भेजा है।

भगवान्‌की दृष्टिमें तो सब समान हैं। उसकी नजरमें तो सभी उसके कलेजेके टुकड़े हैं, प्राणोंके आधार हैं, सभी उसके 'नूरे-चश्म' हैं, सभी उसके 'राहते-जान' हैं।

उसके लिये सब बराबर हैं। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा।

× × ×

फिर हम क्यों किसीको छोटा मानें! क्यों किसीको बड़ा?

अपने-अपने स्थानपर सभी बड़े हैं। सभीका अपना-अपना महत्त्व है।

चींटी अपनी जगह बड़ी है, हाथी अपनी जगह।

× × ×

छोटे घर, कुल, परिवार, जातिमें पैदा हो जानेसे न कोई छोटा हो जाता है; बड़े घर, कुल, परिवार, जातिमें पैदा हो जानेसे न कोई बड़ा।

छोटाई-बड़ाई यदि कुछ हो सकती है तो मानवीय गुणोंकी। और उनके विकासके लिये तो मनुष्यमात्रको छूट मिली हुई है। उसके लिये बाहरी साधनोंकी कोई जरूरत नहीं।

मैं भी खुदाका बेटा हूँ, मैं भी अमृतपुत्र हूँ, फिर मैं क्यों अपनेको किसीसे छोटा मानूँ ?

× × ×

पर, इसका मतलब यह भी नहीं कि मैं अहम्मन्यतामें भर जाऊँ, अभिमानमें फूल जाऊँ, अहंकारमें बावला हो उठूँ।

वह तो छोटेपनका ही रास्ता है।

छोटा वह, जो छोटा काम करे।

और छोटा काम क्या है ?

छोटा काम है—ओछा काम।

जो काम हमें हमारी ही दृष्टिमें गिरा देता है, वह है छोटा काम।

किसीको सताना छोटा काम है।

किसीका अहित करना छोटा काम है।

झूठ बोलना छोटा काम है।

किसीकी निन्दा करना छोटा काम है।

किसीकी चुगली खाना छोटा काम है।

किसीकी बहू-बेटी ताकना छोटा काम है।

चोरी करना छोटा काम है।

डाका डालना छोटा काम है।

किसीका अपमान करना छोटा काम है।

किसीसे घृणा करना छोटा काम है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरमें फँसकर कुछ कर डालना छोटा काम है।

ईश्वरकी निन्दा करना, ईश्वरको न मानना सबसे छोटा काम है।

किसी छोटी कही जानेवाली जातिमें पैदा हो जानेसे कोई छोटा नहीं हो जाता।

गंदगी साफ करनेसे, झाड़ू लगानेसे, कपड़े धोनेसे, जूते बनानेसे, बर्तन माजनेसे, हमारी सेवाके छोटे-मोटे काम करनेसे कोई छोटा नहीं होता। ऐसा करनेवाले तो हमारे लिये आदरणीय हैं, सम्मान्य हैं। वे तरह-तरहके कष्ट झेलकर हमें सुखी बनाते हैं, स्वच्छ और पवित्र बनाते हैं। उन्हें छोटा मानना हमारे दिलका छोटापन है।

× × ×

मतलब, पेशेसे या व्यवसायसे, कुलसे या जातिसे कोई छोटा नहीं होता। हमारे यहाँकी बात हो, चाहे दूसरे देशोंकी, कहीं ऐसा माना ही नहीं गया।

भंगी हो या चाण्डाल, धोबी हो या चमार, नाई हो या कसाई—किसी भी जातिका व्यक्ति हो, यदि उसमें मानवीय गुणोंका विकास हुआ है तो हमारे यहाँ निस्संकोच भावसे उसकी पूजा की गयी है।

संतोंका इतिहास इसका प्रमाण है।

वैष्णवोंका सर्वमान्य ग्रन्थ भागवत कहता है—बारह प्रकारके गुणोंवाले ब्राह्मणसे भी वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जो अपना तन-मन सर्वस्व भगवान्‌को अर्पण करके उनका हो गया है।

विदेशोंमें भी ऐसी ही बात है।

भले ही किसीका बाप घसियारा रहा हो, लकड़िहारा रहा हो, जूता गाँठनेवाला या लोहा पीटनेवाला रहा हो, मजदूरी करनेवाला या दर-दर फेरी लगानेवाला रहा हो—कोई परवा नहीं। उसमें प्रतिभा है, उसने मानवीय गुणोंका विकास किया है तो उसके लिये आगेका रास्ता खुला है। From Log Cabin to White House! लिंकन हो, गारफील्ड हो, विलसन हो, कार्नेगी हो, फोर्ड हो, शेक्सपियर हो, बर्न्स हो, हैनिबल हो, ग्राण्ट हो, ऐडीसन हो या कोई हो—

निगाहें कामिलोंपर पड़ ही जाती हैं जमानेकी,
कहीं छिपता है 'अकबर' फूल पत्तोंमें निहाँ होकर।

× × ×

ठीक कहता है इमर्सन—

'कोई व्यक्ति दूसरोंकी अपेक्षा यदि अधिक अच्छी पुस्तक लिख सकता है, उत्तम भाषण कर सकता है, सुन्दर वस्तु बना सकता है तो वह जंगलमें भी रहे तो संसार उसकी झोंपड़ीका रास्ता खोज ही निकालेगा।'

× × ×

विश्वमें जब सबके लिये विकास और उन्नतिका द्वार खुला है, सर्वोच्च पदपर पहुँचनेका अवसर मौजूद है, तब फिर यह माननेके लिये गुंजाइश ही कहाँ है कि मैं किसीसे नीचा हूँ, मैं किसीसे छोटा हूँ।

× × × ×

मनोवैज्ञानिकोंका दावा है कि हीनताकी भावना भी एक रोग है। उसकी दवा हो सकती है और उसे दूर किया जा

सकता है। उनकी मूल दवा यही है कि अपने मनमे हीनताकी भावना रखो ही मत। अपने बारेमें कम-से कम सोचो। सोचना है तो यही सोचो कि मैं दूसरोंके किस काम आ सकता हूँ। अर्थात् परोपकारमे इतने लीन हो जाओ कि तुम्हे अपनी भी याद न रहे।

साराश, तुम उस हालतमें पहुँच जाओ, जहाँ पहुँचकर कह सको कि—

हम वहाँ है, जहाँसे हमको भी,
कुछ हमारी खबर नहीं आती।

× × × ×

फिर कहाँ रहेगा मत्सर? कहाँ रहेगा डाह? कहाँ रहेगी ईर्ष्या?

इन भावनाओंका हमला तो तभी होता है, जब हम अपने आपको दूसरोंसे हीन मान लेते हैं। जो इस दुर्भावनाको मनसे निकाल देगा, वह तो बादशाह बन जायगा, बादशाह! ठीक राम बादशाहकी तरह! वह किसी जहाजपर दूसरे बादशाहको जाते देख उसपर जानेसे उसी तरहसे इनकार कर देगा जिस तरह स्वामी रामने कर दिया था—'Two Kings cannot sail on one boat!' (दो बादशाह जा कैसे सकते हैं एक जहाजपर।)

× × × ×

मत्सरका दूसरा कारण है—हृदयकी सकीर्णता।

एक स्त्री एक महात्माके पास गयी।

थोड़े-से भुने हुए चने देकर महात्माने उसे एक ओर बैठा दिया।

कुछ देरमें कई छोटे-छोटे बच्चे आ गये उस स्त्रीके पास।

बोले—'बड़ी भूख लगी है, माँ! कुछ खानेको दे!'

स्त्री सोचने लगी—एकको दूँ तो सबको देना पड़ेगा। मेरे पास हैं ही कितने चने!

उसने दुत्कारकर सब बच्चोंको भगा दिया और लगी मुँह छिपाकर चने चबाने।

तभी बुलाया उसे महात्माने।

पूछा—'क्या बात है? क्या चाहती है तू?'

बोली—'महाराज! बेटा-बेटी चाहिये मुझे। इसके लिये मैंने बहुत व्रत-उपवास किये, पर आजतक सतानका मुख देखनेको नहीं मिला।'

महात्माने कहा—'बेटा-बेटी तुझे कहाँसे मिलेंगे, माँ? जब फोकटमें मिले चनेमेंसे तू दो-चार दाने भी भूखे बच्चोंको नहीं दे सकती, तब भगवान् तुझे हाड़-मासके बच्चे कैसे देंगे। व्रत-उपवासोंसे क्या होता है, दिल उदार होना चाहिये। प्रेम और दयाके बिना सतान कहाँ!'

× × × ×

हमारा हृदय बड़ा सकीर्ण है।

किसीको प्यार करनेकी हमारी कसौटी यही रहती है कि क्या यह 'मेरा' है?

'मेरा' है तो प्रिय, पराया है तो अप्रिय।

मेरा सगा, मेरा आत्मीय, मेरा सम्बन्धी, मेरी जातिवाला है तो प्रिय, दूसरा है तो अप्रिय।

स्वार्थ और ममताकी ये भावनाएँ मत्सरको जन्म देती हैं।

× × × ×

कई वर्ष पहलेकी बात है।

एक वयोवृद्ध सज्जन कह रहे थे—'अब मैं सुखसे मर सकूँगा।'

'मेरा बेटा लाट साहब (Governor) बन गया!'

उनकी प्रसन्नता शब्दोंमें बँध नहीं पा रही थी।

क्यों?

इसीलिये कि उसमें 'मेरा' शब्द जुड़ा हुआ था।

× × × ×

मैं होऊँ, आप हों, पढ़े-लिखे विद्वान् हों, निरक्षर भट्टाचार्य हों, कोई हों, हम सबमें किसी-न-किसी मात्रामे यह सकीर्णताकी भावना रहती है।

मेरे और परायेकी यह भावना जबतक है, तबतक मत्सरसे छुटकारा मिल नहीं सकता।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

सारे विश्वको जबतक हम अपना परिवार नहीं बनाते, तबतक हमारे हृदयकी यह सकीर्णता मिटनेवाली नहीं।

× × × ×

हमारा हृदय तभी उदार माना जायगा, जब ससारमें हमारा कोई शत्रु ही न रह जायगा, सब हमारे आत्मीय बन जायँगे, सबके लिये हमारे हृदयमें प्रेम लहरा उठेगा और हमारा रोम-रोम पुकारने लगेगा—

करूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना,
मुहब्बत ने नहीं दिलमें जगह छोडी अदावतकी।

× × × ×

सवाल है कि हमारा हृदय उदार बने कैसे ? हृदयकी यह संकीर्णता मिटे कैसे ?

आज अपने बच्चेको चोट लगते देख जिस तरह हमारा कलेजा कसकने लगता है, उसी तरह दूसरेके बच्चेको, अपने विरोधीके बच्चेको चोट लगते देख हमारा कलेजा कसकने लगे, तब यह माना जा सकेगा कि हमारा हृदय उदार बन रहा है।

× × × ×

यह औदार्य हममें आ सकता है, जरूर आ सकता है, विश्वके सभी स्त्री-पुरुषोंको हम अपने परिवारका सदस्य बना सकते हैं, विश्वके सभी बच्चोंको हम अपने बच्चोंकी तरह प्यार कर सकते हैं। इसमें कुछ भी कठिनाई नहीं।

इसके लिये करना सिर्फ यही है कि हम अपने हृदयको शुद्ध बनायें, हृदयको निर्मल बनायें, हृदयको पवित्र बनायें।

× × × ×

और हृदयको पवित्र बनानेकी तरकीब ?

महर्षि पतञ्जलिने बता ही रखी है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ (—योगदर्शन १।३३)

अर्थात्

चित्त प्रसन्न होता है—

सुखी मनुष्योंमें मैत्रीकी भावनासे,
दुखी मनुष्योंमें दयाकी भावनासे,
पुण्यात्मा लोगोंमें प्रसन्नताकी भावनासे,
पापी लोगोंमें उपेक्षाकी भावनासे।

× × × ×

भगवान् बुद्धने भी इन चारों भावनाओंपर बड़ा जोर दिया है। उन्होंने इन्हें 'ब्रह्मविहार' का नाम देकर भिक्षुके लिये अनिवार्य बताया है। जो कोई इन्हें अपनायेगा, उसका कल्याण हुए बिना रहेगा नहीं।

× × × ×

मैत्री—समस्त जीवोंके प्रति स्नेह और सौहार्द प्रकट करना 'मैत्री' है। दूसरोंके हितसाधनके लिये ही मैत्री होती है। मैत्रीके मुख्य लक्षण हैं—जीवोंका उपकार करना, उनके सुख और हितकी कामना करना तथा द्वेष और द्रोह आदि कुप्रवृत्तियोंका त्याग करना।

राग और मैत्रीका भेद समझ लेना आवश्यक है। मैत्रीकी प्रवृत्ति जीवोंके शील आदि गुणग्रहणवश होती है। राग भी गुण देखकर होता है। राग लोभ और मोहके वश होता है, किंतु मैत्री मोहवश नहीं होती, तृष्णावश नहीं होती। मैत्री ज्ञानपूर्वक होती है। राग और मैत्रीकी समानशीलता है। विवेक और सावधानीसे भावना न की जाय तो चित्तके रागारूढ होनेकी आशङ्का रहती है। मैत्रीमें न तो द्वेष होता है और न लोभ, मोह या तृष्णा। मैत्री-भावनाकी सम्यक्-रूपसे निष्पत्ति होनेसे द्वेषका उपशम होता है। मैत्रीका विशेष कार्य है व्यापाद (=द्वेष) का प्रतिघात करना। इसका समीपवर्ती शत्रु है राग और दूरवर्ती शत्रु है व्यापाद।

× × ×

भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैत्रीकी प्रेमपूर्वक इच्छा करनेसे, भावना करनेसे, अभिवृद्धि करनेसे, उसका अनुष्ठान करनेसे और उसे उत्साहपूर्वक अङ्गीकार करनेसे मनुष्यको ये ११ लाभ होते हैं—

वह सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है, बुरे स्वप्न नहीं देखता, सबका प्रिय होता है, उसे भूत-पिशाचोंका भय नहीं रहता, देवता उसकी रक्षा करते हैं, अग्नि, विष या अस्त्र उसपर कोई असर नहीं कर सकते, उसका चित्त तुरत एकाग्र हो जाता है, उसके मुखकी कान्ति अच्छी रहती है, वह शान्तिसे मरता है और निर्वाण न भी मिले तो भी मृत्युके पश्चात् ब्रह्मलोकको तो जाता ही है।[1]

जिस मनुष्यके मनसे लोभ, द्वेष और मोह—ये तीनों मनोवृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं, वही चारों दिशाओंमें प्राणिमात्रके प्रति मैत्रीभाव प्रसारित कर सकता है। अपने मैत्रीमय चित्तसे चारों दिशाओंमें बसनेवाले समस्त प्राणियोंपर वह प्रेमकी रसवर्षा करता है। करुणा, मुदिता और उपेक्षाकी भावनाओंका उसे अनायास ही सुलाभ हो जाता है।[2]

× × ×

करुणा—दूसरोंका दुःख देखकर साधुपुरुषका हृदय करुणासे द्रवित हो उठता है। तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

पराया दुःख देखकर सत्पुरुषोंके, संतोंके हृदयका जो कम्पन होता है, उसीको 'करुणा' कहा जाता है। सत्पुरुष दूसरोंके दुःखको सहन नहीं कर सकते। जीवोंके दुःखका अपनयन करनेके लिये ही करुणाकी प्रवृत्ति होती है।

× × ×

शोक एवं दौर्मनस्य करुणाके समीपवर्ती शत्रु हैं और विहिंसा

---

१ अंगुत्तर निकाय. मेत्तसुत्त।

२ अंगुत्तर निकाय कालाम सुत्त।

दूरवर्ती। करुणाशील व्यक्ति किसीकी विहिंसा नहीं करता। करुणाकी सम्यक् निष्पत्तिसे विहिंसाका उपशम होता है। शोककी उत्पत्तिसे करुणाकी भावनाका नाश होता है। जिन प्राणियोंके भोगादिका नाश देखकर चित्त करुणासे द्रवित हो उठता है, उन्हींके विषयमें उन्हींके लिये शोक भी उत्पन्न हो सकता है। दुःखके दर्शनसे जिस प्रकार करुणाका उदय होता है, उसी प्रकार शोकका भी जन्म हो सकता है। ससारी पुरुष इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपकी अप्राप्तिसे और प्राप्त सम्पत्तिके नाशसे उद्विग्न और शोकाकुल हो उठता है। यह शोक, दौर्मनस्य पृथग्जनोचित है। करुणा इस शोकसे भी पृथक् है, दौर्मनस्यसे भी। विहिंसा तो उससे बहुत दूर है ही।

× × ×

मुदिता—दूसरोंको सम्पन्न देखकर प्रसन्न होनेकी भावना मुदिता कहलाती है। इसका लक्षण हर्ष है। मुदिताकी भावनावाला व्यक्ति दूसरोंकी सम्पन्नता देखकर स्वय भी प्रसन्न होता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता। दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर, उनके पुण्य देखकर, उनका गुणोत्कर्ष देखकर उसके हृदयमें असूया और अप्रीति उत्पन्न नहीं होती।

× × ×

सम्पत्ति-दर्शनसे जिस प्रकार मुदिताकी भावना उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। जिन जीवोंकी भोगसम्पत्ति देखकर मुदिताकी उत्पत्ति होती है, उन्हींके सम्बन्धमें तन्निमित्त पृथग्जनोचित सौमनस्यकी भी उत्पत्ति हो सकती है। इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपोंके लाभसे ससारी पुरुष प्रसन्न हो उठता है। मुदिताकी भावनावालेकी प्रसन्नता इससे पृथक् होती है।

× × ×

मुदिताकी भावनामें होनेवाले हर्षका प्रवाह शान्त होता है। उसमें उद्वेग और क्षोभ नहीं रहता। पृथग्जनोचित प्रीतिवश होनेवाला हर्षका उद्वेग मुदिताकी भावनाका नाश करता है। यह सौमनस्य मुदिताका निकटवर्ती शत्रु है। अरति, अप्रीति उसका दूरवर्ती शत्रु है। मुदिताकी भावनाकी निष्पत्तिसे अरतिका उपशमन होता है।

× × ×

उपेक्षा—जीवोंके प्रति उदासीन भाव 'उपेक्षा' कहलाता है। उपेक्षा-भावनावाला व्यक्ति सभी जीवोंके प्रति समभाव रखता है। वह प्रिय और अप्रियमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं करता। सबके प्रति उसकी वृत्ति उदासीन रहती है।

ज्ञानजनित उपेक्षा ही वास्तविक उपेक्षा है। यों अज्ञानी पुरुष भी जो क्लेशोंके मूलभूत सम्मोहके दोषको नहीं जानते, रूपोंको देखकर उपेक्षा-भावका प्रदर्शन कर सकते हैं। पर वे इस सम्मोह-प्रवर्तित उपेक्षाद्वारा क्लेशोंका अतिक्रमण नहीं कर सकते।

× × ×

उपेक्षा-भावनाद्वारा—'मनुष्य कर्माधीन है, वह कर्मानुसार ही सुखसे सम्पन्न होता है अथवा दुःखसे मुक्त होता है या प्राप्त सम्पत्तिसे च्युत नहीं होता'—इस ज्ञानका उदय होता है और इस प्रकारके ज्ञानीकी उदासीन वृत्ति हो जाती है। वह न तो अनुकूल आकारका ग्रहण करता है न प्रतिकूलका। उपेक्षा-भावनाकी निष्पत्तिसे विहिंसा और अनुनय दोनोंका उपशम होता है। पृथग्जनोचित अज्ञानवश उपेक्षासे इस उपेक्षा-भावनाका नाश होता है। राग और द्वेष इसके दूरवर्ती शत्रु हैं।

× × ×

तात्पर्य यह कि दूसरोंका हितसाधन करना 'मैत्री' है; उनके दुःखका अपनयन करना 'करुणा' है; सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना 'मुदिता' है और सब प्राणियोंके प्रति पक्षपातरहित और समदर्शी होना 'उपेक्षा' है।

ये चारों ब्रह्मविहार समान रूपसे ज्ञान और सुगति देनेवाले हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैत्रीपूर्ण चित्तसे, करुणापूर्ण चित्तसे, मुदितापूर्ण चित्तसे और उपेक्षापूर्ण चित्तसे जो भिक्षु चारों दिशाओंको व्याप्त कर देता है, सर्वत्र समस्त जगत्को अवैर और अद्वेषमय चित्तसे भर देता है, उसे मैं 'ब्रह्मप्राप्त' भिक्षु कहता हूँ।[1]

× × ×

मत्सरका तीसरा कारण है—कामनाओंकी दासता।

हृदयमें जबतक तरह-तरहकी कामनाएँ भरी हैं, नाना प्रकारकी इच्छाएँ और वासनाएँ भरी है, तबतक मत्सरका भाव आना स्वाभाविक है। जबतक अभावोंका रोना है, कमियोंकी शिकायत है, तबतक मनुष्य यह सोचता ही रहेगा कि अमुक आदमी मुझसे आगे बढ गया।

× × ×

इन कामनाओंकी दासता छोड़े बिना हमारा निस्तार नहीं। हमें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि इसीलिये हो नहीं पाती,

१. अगुत्तर निकाय चतुक्कनिपात।

हमें शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति इसीलिये हो नहीं पाती कि तरह-तरहकी कामनाएँ हृदयमें डेरा जमाये बैठी हैं। वे भाँति-भाँतिसे हमें नचाया करती हैं।

ठीक कहा है किसीने—

चाह चमारी चूहड़ी, सब नीचनकी नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म था, चाह न होती बीच॥

× × ×

भगाइये इस चाहको फिर कहाँ रहेगा राग, कहाँ रहेगा द्वेष। फिर कहाँ रहेगा काम, कहाँ रहेगा क्रोध। फिर कहाँ रहेगा लोभ, कहाँ रहेगा मोह। फिर कहाँ रहेगा मद, कहाँ रहेगा मत्सर।

× × ×

और कामनाओंसे मुक्त होनेकी तरकीब?

उसकी मोटी तरकीब बता रखी है तुलसी बाबाने—

बिनु संतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

और—

राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा?
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा?॥

संतोष करिये!

भगवान्‌का भजन करिये!

× × ×

भगवान्‌ने जो कुछ दिया है, उतना ही मेरे लिये पर्याप्त है। मुझे और कुछ न चाहिये। थोड़ा और बहुत, ज्यादा और कम, अच्छा और बुरा—जैसा भी, जितना भी मुझे मिला है, उतना ही मेरे लिये बस है।

राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा है।
याँ यों भी वाहवा है औ वों भी वाहवा है।

प्रभु यह भाव हममें जाग्रत् कर दें और रात-दिन हम उनका स्मरण करते रहें, बस, बेड़ा पार है!

किसकी शादी, किसका गम।
हू अल्लाह, दम पर दम॥

कलजुगका प्रभाव

(लेखिका—कुमारी रैहाना तैयबजी)

मेरे एक मित्रने कुपित होकर कहा—'बहनजी! मैं तो अपनी बीबीको कहीं आने-जाने नहीं देता। घरमें ही बिठाये रखता हूँ।' मैंने कुछ चकित होकर कहा, 'क्यों?' और भी तेज होकर बोले—'यह दिल्लीका शहर, शहर थोड़े ही है, यह तो व्यभिचारका अड्डा है! रास्तोंमें, बसोंमें, भोजनालयोंमें, चलचित्रोंमें औरतें किस तरहसे घूमने-फिरने लगी हैं। उनके लिबास तो देखिये! उनका रंग-रोगन तो देखिये! उनके बाल, उनके नाखून, उनके हावभाव और लटके-मटके तो देखिये! हमें तो शर्म आ जाती है, जी! ये दिल्ली शहर शरीफोंके रहने लायक नहीं रहा। न मर्दोंमें शराफत रही है न औरतोंमें शील या लाज-लज्जा! हम तो अपनी बीबीको घरमें ही बंद रखते हैं।' यह अच्छा तो नहीं है, पर मैं क्या कहती। उनकी बातमें बहुत तथ्य था।

उधर हमारी मुअज्जिज मीरा बहन स्लेडने एक प्रतिष्ठित तीर्थस्थानमें कहलाते साधुओंके ऐसे घृणात्मक ढंग देखे कि घृणाके आवेशमें उन्होंने अपना बपाका गेरुआ उतार दिया और सुफेदपोश बन गयीं।

ये दोनों बातें बहुत गौरव फिक्रके लायक हैं। जब कौमकी माताएँ और भावी माताएँ अपने शीलका गौरव खो बैठीं, जब 'कल्याणी, कुलतारिणी, गृहलक्ष्मी, सहधर्मिणी' ने अपना सत्त्व और दैवत त्यागकर हलकट कामिनी-स्वरूप अख्तियार किया, जब समाजके कहलाते धर्मगुरुओंने धर्म त्यागकर ढोंग, धतींग, खुल्लमखुल्ला लूट और व्यभिचारके तरीके अख्तियार किये, तब एक रंज और बड़प्पनके साथ कहा जा सकता है, 'सचमुच कलजुग बैठा है!'

किस तरहका सत्याग्रह?

नारदमुनिने कलियुगी रोगोंका इलाज एक वाक्यमें बता दिया—'रामनाम'। सच है! मगर रामनाम यानी क्या? हर किसीने देखा होगा कि लोग वर्षों रामनाम जपते हैं या वजीफे करते हैं, मन्दिरों, मस्जिदों, इबादतगाहोंमें घंटों गुजारते हैं, दान-खैरातमें धन लुटाते हैं। सत्सङ्गों, कव्वालियोंमें रोने-धोते, नाचने-गाते, चीखते चिल्लाते, झूमते, बेहोश होते हैं। दर्शनों, अनुभवोंकी बातें निरन्तर कहते-सुनते रहते हैं और फिर भी उनके आचरण या उनके जीवनमें जरा भी उन्नयन या परिवर्तन नजर नहीं आता। मैं वर्षों सोचती रही हूँ कि इसका क्या कारण होगा। मुझे यकीन हुआ है कि इसका कारण

सदाचरणका अभाव है। चारित्र्य-शुद्धिके बिना आध्यात्मिक पुरुषार्थमें प्राण नहीं आ पाता। ये साधनाएँ सहज आह्लादका, मदिरापान या कृत्रिम शान्तिदायी नशोंका काम करती हैं। लिहाजा जब नारद-मुनिने हरिनामका ताला हमें प्रदान किया, तब उसमें चारित्र्य शुद्धि और साधनाके योग्य आचरणकी कुंजी भी जरूर लगी होगी। पर हमने लापरवाहीसे कुंजी खो दी और मुट्ठीमें बिना कुंजीके बंद तालेको ही घट्ट पकड़े बैठे हैं। इससे हमारे कल्याण-मन्दिरके द्वार नहीं खुल पाते और हम आसुरी तूफानों और आँधियोंके थपेड़ों, लहरोंसे दुखी और भयभीत बने मन्दिरके आँगनमें खड़े-के-खड़े रह जाते हैं। अब अफसोस और परितापका जोगिया-पीलू आलापनेका समय गया। अधोगतिका मध्याह्न हुआ है। अब पुरुषार्थके सारंग रागकी घड़ी आ गयी है।

जाहिर है कि असत्यके सामने सत्याग्रह ही हो सकता है। 'सत्याग्रह' का शब्द सुनते ही लोगोंको मुकर्रम प्यारे बापूजी, उनके स्वराजी-दल, असहकारी आन्दोलन, कैदखाने, कैदखानेके खुले दरवाजे, लाठियों, बंदूकोंके दंगल याद आ जाते हैं। पर मैं जब सत्याग्रहकी बात कहती हूँ, तब मेरा मतलब बिल्कुल सादा और शाब्दिक होता है। मेरी लुगतमें 'सत्याग्रह' का मतलब असत्यसे असहकार और सत्यका सक्रिय आग्रह होता है, और बस।

हमेशा कहा जाता है, "बात तो सच है जी। यह तो हम भी मानते हैं। पर करें क्या ?" मैं इस बेबस और काफिर "पर करें क्या ?" से बहुत बेजार हो गयी हूँ। यह भी कोई सवाल है। कम्बख्त जब भूखे होते हैं, तब क्या करते हैं ? जब प्यासे होते हैं, तब क्या करते हैं ? जब नींद आती है, तब क्या करते हैं ? जब बीमार होते हैं, तब क्या करते हैं ? उस वक्त कोई किसीसे पूछने नहीं बैठता, "क्या करें जी ?" उस वक्त अपनी जरूरत या तकलीफका ठीक परीक्षण करके योग्य कर्म और पुरुषार्थमें लग जाते हैं। फिर जाहिर है कि आजकी बिगड़ी हालतोंके निवारणके लिये यही तरीका व तरकीबें अपनानी चाहिये। स्त्रियाँ अगर "निर्लज्ज बनी हैं, तो क्यों ? मर्दोंको रिझानेके लिये, या नहीं ? अपनी स्त्रियोंकी निर्लज्जताओं-पर राचते, मुसकराते, आँखें मिचकाते मर्दोंको पहले तो अपना पुराना आर्य-सिद्धान्त फिर पकड़ना चाहिये कि अपनी धर्म-पत्नीके सिवा हर स्त्री या तो अपनी माँ होती है या बहन या बेटी, परस्त्रीपर हवसकी निगाह फेंकना अपनी सगी माँका अक्षम्य अपमान करनेके बराबर होता है; और जो नर-पिशाच अपना मानवधर्म भूलता है, उसकी गिरावटका कोई नाप-तौल नहीं रह जाता। आजकल मर्दोंके आसुरी व भयानक आक्रमणोंसे समाजमें सनसनी पैदा होने लगी है। लिहाजा शरीफ मर्द 'क्या करें जी' की गमनाक सारंगी मींडोंमें अपना समय न खोयें। अब जीवनके रण-मैदानोंमें दुंदुभिकी प्रेरणात्मक और उत्तेजक धवक-धवककी जरूरत है।

हर आर्य नर अपने आचरणको पहले तो शुद्ध करनेमें लग जाय। अगर मर्द औरोंकी पत्नियों, बेटियोंके पीछे पड़नेमें नहीं हिचकते, तो फिर अपनी पत्नियों और बेटियोंके आशिकोंपर वह कैसे आक्षेप लगा सकते हैं ? अगर वह परस्त्रियोंके साथ शराबखोरियोंके नारकीय मजे लूटनेमें अपने जीवनोंको सार्थक मानते हैं, तो फिर अपनी स्त्रियोंको परपुरुषोंके सङ्ग शराबें उड़ानेसे वे किस अख्तियारसे रोक सकते हैं ? जो अपनी बेटियों-को काबूमें नहीं रख सकते, उन्हें औरोंकी बेटियोंपर नाक-भौं चढ़ानेका कौन अख्तियार है ?

इसलिये सत्याग्रहका पहला कदम तो 'अपने ही असत्योंसे कड़ा असहकार' होना चाहिये।

दूसरा कदम स्त्रियोंकी निर्लज्जताओंसे असहकार हो सकता है। हमारी पाण्डव-सेना इस चीजपर खूब चर्चा करनेके बाद इस निश्चयपर आयी कि अगर स्त्रियोंके ढंग सुधारना हो तो रास्तोंमें, बसोंमें, दूकानों-भोजनालयोंमें उनके तिरस्कारजनक हावभावोंकी तरफ शान्त, मगर कड़े तिरस्कारसे काम लेना चाहिये। लड़कियाँ ये सारे चस्के करती हैं—मर्दोंकी निगाह खींचने और नफ्स जगानेके लिये। अगर ठौर-ठौर शरीफ मर्द गुट बनाकर इन हलकटपनोंके सामने एक ही तरीका अख्तियार करनेकी ठान लें, और फिर अटल निश्चयके साथ उसपर अड़े रहें, तो हम मानते हैं कि स्त्रियोंपर इसका बहुत असर पड़ने लगे। हमने यह सोचा कि हर जगह एक ही तरीका अपनाया जाय। लड़कियाँ हावभाव करने लगीं कि बिना कुछ कहे एक शान्त तिरस्कारसे उनकी ओर देखना, और फिर मुँह मोड़ लेना। इससे स्त्रीके आत्मगौरवको बहुत सख्त ठेस पहुँच सकती है।

अपनी बेटियों या स्त्रियोंको राहपर लानेका एक ही तरीका हमें सूझता है, और वह हमारी आर्य-संस्कृतिको जगाकर उसके उन्नत तत्त्वोंका फिरसे घर-घरमें विचार, आचार और प्रचार। माँ-बाप आज अपने लड़के-लड़कियोंपर कुछ ध्यान नहीं दे रहे हैं। लड़के परीक्षा पास करें, तो बस। लड़कियाँ किसी ससुरालमें ठिकाने लग जायँ, तो बस। बच्चोंकी उन्नतिका, उनके धर्म

और आचरणका, उनके असल कल्याणका आज किसको ध्यान है ? आजादीके नैतिक अधिकार पाये बिना लड़के-लड़कियोंको स्वच्छन्द विहारकी आज्ञा सहज ही मिल जाती है। फिर समाजोंमें जो विनाशात्मा अनर्थ पैदा करता है, उसका जिम्मेवार कौन है ?

मर्द अपने घरोंमें अगर अपनी स्त्रियोंके साथ आदर-सभ्यता और पवित्र आजादीका आचरण करने लगेंगे तो उनके घरोंकी बहू-बेटियोंको एक स्तर मिल जायगा, जिससे वे परपुरुषोंके आचरणका सदा नापतौल कर सकेंगी। यह बात मैं अपने जाती तजरुबेकी बिनापर कह रही हूँ। हमारे घरोंमें हमारे मर्द—पिता, भाई, बड़े, छोटे—हमसे अत्यन्त आदर और सभ्यताके साथ पेश आते हैं। और इसलिये हम किसी मर्दके नखरे सहनेको तैयार नहीं होतीं और न किसी मर्दकी मजाल होती है कि वह हमारी ओर एक अयोग्य निगाहतक फेंके। उनकी खाल न उखाड़ दें।

* * *

साधुओंके सवालकी तहमें भी यही तत्त्व नजर आते हैं। मीराबहनके सत्याग्रहने हम संसारियोंको लज्जा और उद्वेगसे पानी-पानी कर दिया। मैं जाननेको उत्सुक हूँ कि भारतीय साधु-समाजपर इस निडर प्रतीकारका क्या असर हुआ है। भारत साधु-समाजके मुखिये श्रीतुकडोजी महाराजने मुझे यकीन दिलाया था कि साधु-समाजका पहला काम भ्रष्ट, नष्ट तीर्थ-स्थानोंकी शुद्धि होगा। ऐसा कुछ हुआ हो सो लगता तो नहीं। लेकिन भारतमें नव्वे लाख गेरुआधारी ढकोसलों, लुटेरोंके बीच कुछ तो सच्चे साधु भी घूमते फिरते ही होंगे। काश मालूम पड़ सकता कि 'साधुओं' के दुराचरणके बारेमें उनका क्या रुख है। फिर और भी कई साधु-संगठन खड़े हुए हैं, जिनके बड़े-बड़े दावोंसे पहले तो हमें बड़े सब्ज खेत नजर आने लगे। अब उनके काम या उनके असरका कोई पता ही नहीं चलता।

तो फिर अगर सच्चे साधु खोटे गेरुआधारियोंका निवारण नहीं कर सकते तो अपने संरक्षणके लिये गृहस्थियोंको ही सत्याग्रहका शस्त्र हाथमें लेना पड़ेगा। उसके बहुत सारे तरीके हैं। पहले तो आँख बंद करके हर गेरुआधारीको अपना लेते थे, आज लोग डर गये हैं, शङ्काशील हुए हैं और साधुओंसे डरकर साधुतासे ही बदगुमान हो गये हैं। इससे भारी नुकसान है, क्योंकि भारतीयजनको सत्सङ्ग और धार्मिक मार्गदर्शनकी अत्यन्त जरूरत रहती है। वह उसके बिना जी नहीं सकता, बढ नहीं सकता।

तो फिर हम संसारियोंको साधुओंके पीछे धर्मनिष्ठ और चारित्र्य-आग्रही जासूस लगाने पड़ेंगे। छुट्टियोंमें युवकोंके टोले खास इसी उद्देश्यसे तीर्थ-यात्राओंमें शरीक होंगे कि वे तीर्थ-स्थानोंपर उपस्थित साधुओंके चारित्र्यकी कड़ी परीक्षा लेकर खोज निकालें कि इन साधुओंकी भीड़में सच्चे साधु कौन और कितने हैं। मठोंमें, आश्रमोंमें जाकर वहाँके साधुओंकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करते रहेंगे और फिर अपने संशोधोंका खुल्लमखुल्ला और आम प्रचार करते रहेंगे।

इसके सिवा हम संसारियोंके पास चारा ही क्या है। हमें साधु चाहिये—मगर हम खोटे मालसे क्यों राजी होते रहें।

इन चीजोंकी चर्चा अब होने लगी है और मैं मानती हूँ कि जब विचार होने लगा, तब एक-न-एक दिन आचार भी जरूर प्रकट हो जायगा।

आमीन !

('मंगलप्रभात'से साभार)

सच्चा सुजान कौन है ?

आँखड़ल्याँ अति लाज, पाज पालण, पण पूरौ।
निपट निपुण पर काज सुधारण मै, रण सूरौ॥
जती काछ रौ, किती जगत री जुगत्याँ जाणी।
दस दिसि जस जगमगै, मुक्ख मोत्याँ रौ पाणी॥
सिंवरथौ जिण सिरजणहारने, पायौ पद निरवाण है।
सोई सचेत साँचौ सुजण समझणहार सुजाण है॥

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'परीक्षित् ! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नामस्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं ।'

बड़े ही हर्षकी बात है कि 'कल्याण' में प्रकाशित प्रार्थना-के अनुसार भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने गतवर्ष बहुत ही उत्साहके साथ नाम-जप स्वयं करके तथा दूसरोंसे करवाकर महान् पुण्य सम्पादन किया था । इस बार उत्साह शिथिल हो जानेके कारण पहलेकी अपेक्षा जप कम हुआ है । अतः नाम-प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे विशेष रूपसे प्रार्थना है कि वे पूरे उत्साहसे इस जगत्पावन कार्यमें सहयोग दें । इसके लिये हम उनके विशेषरूपसे ऋणी रहेंगे ।

(१) केवल भारतमें ही नहीं, विदेशोंमें भी जप हुआ है ।

(२) सोलह नामके महामन्त्रकी जप-सख्या जोड़ी गयी है । भगवान्के अन्यान्य नामोंका भी बहुत जप हुआ है । वह इस सख्यासे पृथक् है ।

(३) बहुत-से भाई-बहनोंने जप अधिक किया है, सूचना कम भेजी है और कुछ नाम-प्रेमियोंने तो केवल जपकी सूचना दी है । सख्या लिखी ही नहीं ।

(४) बहुत से भाई-बहनोंने आजीवन नाम-जपका नियम लिया है । इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं ।

(५) बहुत से भाई-बहनोंने केवल जप ही नहीं किया है, उत्साहवश नाम भी लिखे हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंके प्रकाशनकी उपयुक्त व्यवस्था नहीं है ।

(६) इस बार सूचना ९३८ स्थानोंसे आयी है ।

स्थानोंका नाम दर्ज करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, इसपर भी भूल होना, कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है । कुछ नाम प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका हिंदी-रूपान्तर करनेमें भी भूल रह सकती है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं ।

(७) सोलह नामोंके पूरे मन्त्रका जप हुआ है—

२७,०००,९,७०४ (सत्ताईस करोड़ नौ हजार सात सौ चार) इनकी नाम-सख्या होती है ४,३३,५५,२६,४०० (चार अरब, तैंतीस करोड़, पचपन लाख, छब्बीस हजार चार सौ) ।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अकलेश्वर, अचलगुम्मा, अजनी, अँवराईकलाँ, अकनीवा, अक्कलकोट, अगरौड़ा, अचलजामू, अजनौरा, अजमेर, अजयगढ, अटकाडीह, अत्वाम, अर्थू, अनागुण्डी, अमझेरा, अमरगढ, अमरवाड़ा, अमरावती, अमरेली, अमरौली, अमलापुरम्, अमानीगज, अमापुर, अमृतसर, अमोदा, अम्बारी, अरन्डोल, अरराम, अरसानी, अरसाग, अलमण्ड, अलीगढ, अल्मोड़ा, अवमेरीखेड़ा, असहाटी, अहमदाबाद, आहियापुर, आकोट, आगर-मालवा, आगरा, आगरा छावनी, आनद, आनदनगर, आबूरोड, आमली, आरा, आष्टी, आसी, इच्छापुर, इटाढी, इटावा, इनायतगज, इन्दौर, इन्द्रगढ, इपास, इमिलिया, इरेनूल, इलाहाबाद, ईसागढ, उदयपुर, उमरानाला, उमरिया, उमेदपुर, उरई, उरण, उरदान, उरवाबाजार, ऊना, ऊमरपुर, ऊमरीकलाँ, एतला, ए० पी ओ ५६, ऐंचवारा, ऐंड्ली, ओझर, ओमनगर, ओरण, आव पूना, औरगाबाद, औरंगाबाद जेल, कंधार, कंकटियाँ, ककरावली, कछवन, कटघरवा, कटनी, कटहरिया, कड़ेसरा कलाँ, कतरासगढ, कनसी, कन्नौज, कपोलवाड़ी, कमालगज, कमालपुर, करगहर, करेली, करौली, कलकत्ता, कलमड्ड, कल्याण, कल्याणपुर, कविया बाबू टोल, कसराबाद, कसावा, काचरापाड़ा, काजीपुर, काठगोदाम, कातुरली, कादिरगज, कानगाँव, कानपुर, कामतमपल्ली, कारजु, कारवाड़, कालिम्पोङ्ग, काशीपुर (नैनीताल), काशीपुर (समस्तीपुर), किछा, किसनगज, किसनपुर, कुडल, कुडवापुर, कुँडई, कुँवरगाँव, कुकनेर, कुकावाव, कुड़ाना, कुढावल, कुबेर, कुसुटिपेटा, कुशलगज, कुसमा, कुसमारी, केलवाड़ा, केवटसा बरुआरी, केसली, कैथा, कैभहरा दीपसिंह, कैमोर, कोंढलवाड़ी, कोकलकचक, कोचीन, कोट किशनचन्द, कोटड़ारेहा, कोटद्वार, कोटा,

कोटा बृजराजपुरा, कोठड़ी, कोठियाँ, कोडगल, कोडरमा, कोडाला, कोत्तागुड़ियम्, कोदरिया बाजार, कोपाल, कोरमबत्तूर, कोरट्ला, कोरल, कोरस, कोल्र, कोमली, कौयलगढ स्टेट, खडवा, खभात, खभालिया, खजूरी, खझौला, खडेर टकितपुरा, खण्टिहा कलॉ, खरगपुर अरसारा, खरगोन, खरमवॉगढ, खरियार रोड, खरेला, खलीलाबाद, खानपुर, खापा, खामगॉव, खास, खिचरी, खिजराबाद पूर्वी, खिड़की, खिमेट, खुँटी, खुटहाडीह, खुरई, खेंडवा, खोड़, खोदादपुर, खोपली, खौड, खौरी, गगानगर, गगापुर (राजस्थान), गगापुर बैनी, गढगाँव, गढवा, गढी उमरहट, गया, गरपूरा, गरियाबद, गरोठ, गर्चा, ग्वालियर, गाँधीधाम, गाजमा, गामीटोला, गिदोल, गिधौर, गुजरा, गुड़गॉव, गुरजघाट, गुरदासपुर, गुरावड़ा, गुल्बर्गा, गुलाना, गुलाबगज, गैसड़ी, गौंडल, गौंडा, गोगी, गोटेगॉव, गोठड़ा तिगालान (सीकर), गोड्डा, गोड्डिया, गोनहा, गोनावा, गोपालपुर, गोनाल्समुद्रम्, गोपीगज, गोरखपुर, गोरेगॉव, गोहावर, गौसाघाट, घनगापुर, घाटमपुर, चदा, चदेरी, चदौसी, चपावत, चक्ना, चकपुरवा, चकघातो, चकाय, चाँदपुरा, चॉदराना, चॉपा, चालीसगॉव, चासकमान, चितगॉव हिरवार, चित्रकोट, चिनअग्रहारम्, चिपुरुपल्लि, चिमनपुरा, चिलवरिया, चींचली, चुड़वा, चौबे, चौसा, छतरपुर, छिंदवाड़ा, छींच, छुइखदान, जडियाला, जगजीवनपुर, जगतपुर, जट्टागी, जदियाबाजार, जनकपुर, जबलपुर, जमालपुर, जमुनानगर, जयपुर, जरिगुम्मा, जलगाँव, जलपाईगुड़ी, जलसन, जलालपुर, जवल, जसोई, जागरू, जाती, जाखीम, जाम, जामनगर, जार, जालधर, जालना, जावरा, जियमपुर, जिरराम राघोपुर, जुनवानी, जुन्नारदेव, जुहावदा, जूनेगॉव, जेतलपुर, जेवली, जेवाना, जैतोलीतल्ली, जैसलमेर, जोकीहाट, जोगापुरा, जोगीपुरा, जोटाना, जोधपुर, जोरावरडीह, जोशीमठ डाडॉ, जोगीमठ महना, जौनपुर, जौनापुर (राजपुर), जौनुद्दीनपुर, जौरी बुजुर्ग, झाँसड़ी, झाँसी, झार सुगुड़ा, झालरापाटन, झालोद, झिझरी, झींझक, झुड़िया निवारीका, झुँझनू, झुमरी तिलैया, झोझूकलॉ, टगडवा, टाकली, टिकारी, टिक्री, टुण्डला, टेकली ग्राम, टोंख, ठिकहाँ, ठिकहॉ भवानीपुर, ठिमनपुर (उड़ीसा), डग, डरोली कलॉं, डाबला, डाला, डिठौरी, डिबल, डुब्बा, डुमरिया, डूँगरपुर, डेंगपदर, डेहरी-ऑन-सोन, डोंगरा कलॉ ढकियारवा, तलवाड़ा, तलाल, तहसील फतेहपुर, तारापुर, तालड़ा, तालवेहट, तित्तरोद, तिरुवाम्र, तुण्डी, तुनिहा, तेन्दुलि खुटि, तेन्दुर्नी, तेली टोला, थानाभवन, थौगी, दडवामोटा (सौराष्ट्र), दरभगा, दरियागज, दरियापुर, दरियाबाद, दहणा, दहीसर, दानेकेरा, दारेसलाम (अफ्रीका), दाहिना, दिगी, दिल्ली, दिल्लौद, दिलीपनगर, दीनानगर, दूधाहेड़ी, देउलगॉव, देलवाड़ा, देव, देवकली, देवगना, देवलथल, दवलाली, देवमर, देवापुर, देहरादून, दोडी, दौसा, धनौरा, धमतरी, धरगुल्ली, धरणगाँव, धरमपुर, धरमपु, धावड़मी, धारीवाल, धीरी, धुलियारी सिटी, धोमरहा, धोराजी, नदगॉव, नदाहाडी, नदुरबार, नई, नई दिल्ली, नकटरा, नक्कुड़, नगला जामुनी भान, नरयावली, नरसिंहगढ, नरहन, नरेला, नलखेड़ा, नलवा, नवधन, नवरगपुर, नवलपुर, नवादा, नाडाला, नादिया, नादुरा, नाउगॉव, नागपुर, नागरकोटा, नागमानिपल्लि, नागौर, नाथनगर, नाथरा, नानौर, नान्देड़, नारदीगज, नारेली, नावाडीह, नासिक, नासिक रोड, निज़ामपुर, निमिया, निलगा, निलफामारी, नेचुआ जलालपुर, नेत्थला, नेम्भिकुरु (कृष्णा), नेवरा, नैनीताल, नौरगपुर (इमलिया), पचनेही, पचरुखिया, पचवटी, पजनारा, पडरभठा, पडरी, पकरीडीह, पटना, पटवार, पटियाला, पठारी, पन्त्यूड़ी, पनागपुर नौहरा, परली वैजनाथ, परसा, परसागढी, परसिया, प्रतापगढ, प्रतापपुर, प्रतापपुरा, प्रयाग, पसुपुला (आन्ध्र), पाकुड़, पाटन, पाटनवाव, पाडलिया, पाड्ल्या, पाडली, पाण्डुका, पाण्डेगॉव, पात्रपुट, पाथर्डी, पानीपत, पामगढ, पामसी, पालियाद, पावजे, पिंगलकोट, पिण्डवाड़ा, पिपराबाजार, पिपरिया, पिपरी-गहरवार, पिलिवासिनी, पीपलहेला, पीपलेला, पीलवा, पीलीभीत, आरखेड़ा फार्म, पुरानी इटारसी, पुरैना, पूना, पून्छ, पूरे तिलक, पूरे नन्दकुमार, पेद्दाम्बे, पेण्डरा, पैडगुमल, पोठिया, पोपड़ा, प्रोद्दूर, फरैंदा शुक्ल, फकीरकुण्डपुर, फकोट स्यूटा, फतेगपुर, फनेपुरा, फतेहपुर, फरह, फरीदपुर, फर्रुखाबाद, फिनगेश्वर, फिल्लोर, फुलवरी, फुलवरिया, फुलहरा (फैजाबाद), बगीनोवाड़ी (बबई), बमपुरवा, बकराडागी, बक्सर, बगडु, बखेड़, बख्तियारनगर, बगलीकलाँ, बघवार, बछेड़ा, बड़वानी, बड़हिया, बड़ागॉव, बड़ौद, बड़ौदा,

बड़ेना, बदनावर, बदायूँ, बनगाँव, बनहरा, बमकोई, बरईगढ़, बरतौरी, बरमकेला, बरवा खुर्द, बरहलगंज, बरहसेर, बरियामऊ, बरेठ, बरेली, बलरामपुर, बलागीर, बलैदी, बसेंड़ी, बस्ती, बहड़, बहादुरपुर, बहोड़ा कलाँ, बाँकाबेड़ी, बाँकुड़ा, बागेश्वर, बारडोली, बारा, बाराचकिया, बाराबंकी, बारिकपुर, बालसमुन्द, बालीपोडा, बावल, बासिम, बिछवाँ, बिछिया, बिजरौनी, बिजनार, बिजावर, बिट्ठलगढ, बिट्ठलपुर, बिनैका, बिरलौली, बिरहुन, बिरौल, बिलग्राम, बिलसर, बिलाड़ा, बिलासपुर, बिसड़ा, बिहारीपुर, बिहिया, बीकानेर, बुरहानपुर, बुल्डाणा, बूड़ा, बृजराजपुर, बृन्दावन, बेंगलूर, बेतिया, बेलगाम, बेलमण्डी, बेलापुर, बेलूरमठ, बेसरौली, बेहटा-उन्नाव, बेहटा-बुजुर्ग, बैकुण्ट-पुर, बैजनाथपुर, बैतूल, बोड़ा (चम्पारण,) बोरखेड़ी, भगेड़ा, भगतपुर टी० ई०, भगवतगढ, भटगाँव, भट्टीप्रोलु, भड़िया, भदरा, भदोखर, भद्रावली, भद्राचलम्, भमरहा, भरतपुर, भरावद, भलुहीपुर, भर्सीन, भागलपुर, भाटापारा, भावनगर, भावलखेड़ा, भिंड, भिंडसी, भींडर, भीनासर, भीमड़ास, भीलवाडा, भूसावल, भोटपट्टी, भोटा (निमाड़), भोजड़े, भोपाल, भैरूपुर, मँगराव, मंगलदेई, मगलबेड़ा, मडौदा, मडी अरेली मडी डबवाली, मडी स्टेट, मक्खनपुर, मगरिया, मछरहटा, मझौली, मड़कन, मथुरा, मदनेश्वर, मदारीचक, मद्रास, मधेपुरा, मधोला, मनमोहनगाँव, मनिगाँव, मनेर, मनोहरथाना, मनौना, मन्दसौर, मन्नारगुडि, मन्नीरपालम, मबैया, मलगवा (नेपाल), मलौट, महरा, महागाँव, महिषादल, महुआ, महू, महेसाणा, महोबा, माँगरौल सोरठ, माटे, माधोपाली, मानावदर, मानिकचौक, मान्धाता ओंकारजी, मालखेड खुर्द, मिर्जापुर, मिनावदा, मिरौना, मिलौनीगज, मीनासिगी (मैसूर), मीरपुर, मुँजला, मुकुन्दगढ, मुगा, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़खुसरा, मुडगाँव मुरादाबाद, मुर्तीका, मुलतापी, मूँदी, मेंगटिया, मेंगरा-गाँव, मेड़तारोड, मेंढ़ीगाँव, मेरठ, मेंहदावल, मैथा, मैनपुरी, मोकलपुर, मोखन, मोगलिया, मोडासा, मोतीपुर, मोतिहारी, मोदीनगर, मोरो, मोहदी, मोहिउद्दीननगर, मौधिया, यवतमाल, येवला (नासिक), रणजीतपुर, रतनकोपुरा, रतनगढ, रतनवसई, रतनमनिया, रनियाँ, रसूलगढ (पहासू), रसूलपुर, रसेना, राँची, राजकोट, राजगाँगपर, राजपर, राजम् (दक्षिण), राजिम, राठ, राधनपुर, राधाउर, रानीबाग, रानीला, रामखिरिया, रामदेवरा, रामनगर, रामपुर, रामपुर अहरोली, रामपुर हरी, रामपुरवा, रामपुरी, रायथल, रायपुर (देहरादून), रायबरेली, रीगा, रुड़की, रुपंढीया, रूनगाँव, रुनिजा (बड़नगर), रूपवास, रेंकों, रेडिया, रेनवाल, रोण, लक्ष्मीपुर, लखनऊ, लखीमपुर नार्थ, लटूरी गैलोत, लदौर, लगाड़ी, लश्कर, लहरियासराय, लहरी तिवारी डीह, लहीपुर, लालागुडा, लातूर, लालगज, लिङ्गसमुद्रम्, लिमतरा, लीम्बडी, लीलापुर, लीहटी, लेदी, लोनी, लोहार्दा, लौआ, बकौरी, बटगाँव (फतेपुर), बड़नगर, बरनपुर, बराडी, बागेश्वर, वान्दे, वाराणसी, वास, वीरगाँव, वीहटवीरम्, वेरवासण, वेरावळ, वैसाडीह, शकरपुर, शम्भुपुरा, शरफुद्दीनपुर, शर्मिष्ठापुर, शहरना, शहापुर, शापुर सोरठ, शाह आलम, शाहनगर, शाहपुर (बीरमगाँव), शाहपुर (सागर), शाहपुर पट्टी, शिमला, शिरादोण, शिल्कोट, शिव, शिवपुरकलाँ, शिवपुरी, शीरपुर, शुजापुर, शोलुबाजार, शोलापुर, शौदापुर, ससौली, सकलोर, सक्ती, सखतरानी, सगीपाली, सणसोली, सतना, सतसा, सफराई, समस्तीपुर, समैला, समोज, सम्भल, सरखेज, सरडडोंगरी, सरसरणी, सरहवारा, सरिया, सलपा, सवाई जयपुर, स्वामी नारायण छपिया, सहारनपुर, सायली भुसली (सौराष्ट्र), साँगली, साँगोराँध, साइलिहाट, साखून, सागर, सादेगाँव, सातारा, साधकपुर, सावदा, सावरकुण्डला, सावरट, सासाराम, साहूकारा, सिंगापुर, सिंगीरामपुर, सिंघोला, सिकन्दरपुर, सिक्किम, सिगदोनी, सिद्धपुर, सिन्धीकेला, सिमरिया मुल्तानी, सिम्भावली, सिरसगाँव वड, सिरसा, सिरसी, सिरोंचा, सिरोही, सिर्जन, सिलौड़ी, सिवती, सिसवाबाजार, सिहोरा रोड, सीकर, सीतापुर, सीतारामपुर, सीधी, सुजानगजबाजार, सुनारखेड़ा, सुन्दरपुर, सुमेरपुर, सुरेन्द्रनगर, सुरेला रन्धीर, सुल्तानपुर, सुल्तानपुर घोष, सूरत, सेमरी, सेलोटपार, सोनगाँव, सोनवरण, सोनियाण, सोपोर, सोमेश्वर, सोलबन्ध, सोलापुर, सोहॉस, सौसर, हसफेर, हजारीबाग, हटनी, हडसन, हनमकोंडा, हरदा, हरदोई, हरसूद, हरिपुर, हरिपुर गौरीदास टोल, हरिहरपुर, हरीगढ, हसनगज, हसामपुर, हाजीखानबाजार, हाटबोरा, हाटा, हारीज, हालौर, हिण्डोरिया, हिरणी, हिसार, हीराखुटहरी, हीरा भड़ोखर, हुलाली, हैदराबाद, होजाई, होर्मा, होसाद ।

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य ज्यौतिषतीर्थ प० श्रीसीतारामजी झा, काशी

आकार २४×३०=आठपेजी, सफेद ग्लेज २८ पौंडका कागज, पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर टाइटल, मूल्य ।≈), डाकखर्च अलग।

सं० २०१५ के इस गीता-पञ्चाङ्गमें सूर्य-सिद्धान्तीय पद्धति-सिद्ध तिथ्यादि तथा प्रत्यक्ष वेधोपलब्ध नवीन पद्धति-सिद्ध ग्रहोंके उदय, अस्त एवं ग्रहणादि दिये गये हैं।

इस बार सं० २०१४ की अपेक्षा ८ पृष्ठ बढ़े हैं। राष्ट्रीय सरकारद्वारा नवप्रचलित शकाब्दकी तिथियाँ आदि अनेक नवीन चीजें दी गयी हैं। विषय-सूचीकी बातोंमें पञ्चशलाकादि चक्र, ग्रहण, संवत्सरादि फल, संक्षिप्त काल-विवरण, कालमान, संवत्सरोंके नाम, पञ्चाङ्ग-परिचय, वार-प्रवेशका ज्ञान, सूर्य-सिद्धान्तीय गणितसिद्ध, विवाहादि मुहूर्त, यात्रा-विचार, लग्नसारिणी, देशान्तरसारिणी, सूर्योदयास्त-समयके ज्ञानकी सरल रीति, आदि-आदिके अतिरिक्त रेलभाड़ा, पार्सल तथा लगेजका भाड़ा, रेलयात्राके नियम, डाक, तार तथा इनकम-टैक्स और सुपरटैक्सकी दरें आदि अनेक उपयोगी बातें दी गयी हैं। इस पञ्चाङ्गमे प्रायः सभी विषय हिंदी-भाषामें ही दिये गये हैं, इससे साधारण पढ़े-लिखे लोगोंको भी समझनेमें बड़ी सुविधा है।

सं० २०१४ के पञ्चाङ्गके तीन-तीन संस्करण छपनेपर भी अनेक लोगोंको निराश होना पड़ा, इसलिये जिन्हें लेना हो, वे पहलेसे ही ले लेनेकी कृपा करेंगे।

यहाँ आर्डर देनेसे पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंसे मँगना चाहिये। थोक-विक्रेताओंको १००० प्रतियाँ एक साथ लेनेपर ४०) सैकड़ेके हिसाबसे मिलेगा।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी विरचित

श्रीकृष्णगीतावली (सरल भावार्थसहित)

अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

पृष्ठ-संख्या ८०, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य ।-), डाकखर्च अलग

श्रीकृष्णगीतावली गोस्वामी तुलसीदासजीका अति ललित व्रजभाषामें रचित बड़ा ही रसमय और अत्यन्त मधुर गीतिकाव्य है। इसमें कुल ६१ पद हैं, जिनमें २० बाललीलाके, ३ रूप-सौन्दर्यके, ९ विरह-के, २७ उद्धव-गोपिका-संवाद या भ्रमरगीतके और २ द्रौपदी-लज्जा-रक्षणके हैं। सभी पद परम सरस और मनोहर हैं। पदोंमें ऐसा स्वाभाविक सुन्दर और सजीव भाव-चित्रण है कि पढ़ते-पढ़ते लीला-प्रसङ्ग मूर्तिमान् होकर सामने आ जाता है।

श्रीकृष्ण-प्रेमी पाठक पाठिकाओंके लिये गोस्वामीजीकी यह रचना अनूठी है।

बरवै-रामायण (सरल भावार्थसहित)

(अनुवादक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

पृष्ठ-संख्या २४, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य =), डाकखर्च अलग।

इसमें कुल ६९ बरवा छन्द हैं। यह श्रीगोस्वामीजीकी स्फुट रचना है। बालकाण्डमें श्रीचन्दन-पाठकजीके माने हुए क्रमके अनुसार ही पहिले श्रीरामके शैशवका वर्णन करके तब श्रीजानकीजीका वर्णन करके जानकी-विवाहकी चर्चाका क्रम रखा गया है। श्रीरामभक्तोंके लिये यह सुन्दर वस्तु है।

पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेसे पहले अपने शहरके विक्रेतासे माँगिये। उनसे लेनेपर आप भारी डाक-खर्चसे बच सकते हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी सरल, सुन्दर, सस्ती, धार्मिक पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी-टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ६८४, रगीन चित्र ४, मूल्य .. ४)

२-श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य-[हिन्दी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २।।।)

३-श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य-[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ६०८, तिरगे चित्र ३, सजिल्द, मूल्य . २।।)

४-श्रीमद्भगवद्गीता-[बड़ी] मोटा टाइप, पृष्ठ ५७२, रगीन चित्र ४, सजिल्द, मूल्य .. ३।)

५-श्रीमद्भगवद्गीता-प्रत्येक अध्यायके माहात्म्य-सहित (सटीक), पृष्ठ ४२४, मूल्य ।।।=), सजिल्द १।)

६-श्रीमद्भगवद्गीता-[मझली] पृष्ठ ४६८, रगीन चित्र ४, मूल्य अजिल्द ।।≈), सजिल्द १)

*७-श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका)-१।) वालीकी ठीक नकल, पृष्ठ ५८४, तीन तिरगे चित्र, मूल्य ।।)

८-श्रीमद्भगवद्गीता-सटीक, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), सजिल्द ।।।=)

९-श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य।-), सजिल्द ।।-)

१०-श्रीमद्भगवद्गीता-केवल भाषा, पृष्ठ १९२, मूल्य ।)

११-श्रीपञ्चरत्न-गीता-सचित्र, इसमें श्रीगीता, विष्णु-सहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्र-मोक्षके मूल पाठ हैं, पृष्ठ १८४, मूल्य ... ≈)

*१२-श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम-(मूल, छोटा टाइप) पृष्ठ २७२, मूल्य . ≈)

१३-श्रीमद्भगवद्गीता-सटीक, पृष्ठ ३५२, मूल्य अजिल्द =)।।, सजिल्द .. ।)।।

१४-श्रीमद्भगवद्गीता-ताबीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य =)

१५-श्रीमद्भगवद्गीता-विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य -)।।, सजिल्द =)।।

१६-गीता-दैनन्दिनी-सन् १९५८, मूल्य ।।=), सजि० ।।।)

१७-ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय, हिंदी व्याख्या-सहित, पृष्ठ ४४८, सजिल्द, मूल्य २)

* इस चिह्नवाली पुस्तकोंके सस्करण समाप्त हो गये हैं। पुनर्मुद्रण होनेपर मिल सकेंगी।

१८-ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य . ≈)

१९-केनोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ... ।।)

२०-कठोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य . ।।-)

२१-प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य .. ।≈)

२२-मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य . ।≈)

२३-उपनिषद्-भाष्यखण्ड १-ईशसे मुण्डकतक ५ उपनिषद्, सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सजिल्द, मूल्य . .. २।।=)

२४-माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य . १)

२५-ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य .. .. ।=)

२६-तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, पृष्ठ २५२, मूल्य .. ।।।-)

२७-उपनिषद्-भाष्य खण्ड २-माण्डूक्य, ऐतरेय तथा तैत्तिरीयोपनिषद्, सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, सजिल्द, मूल्य .. .. २।।≈)

२८-छान्दोग्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, ९ रगीन चित्र, पृष्ठ ९६८, सजिल्द, मूल्य . ३।।।)

*२९-बृहदारण्यकोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, ६ रगीन चित्र, पृष्ठ १३८४, सजिल्द, मूल्य ५।।)

३०-श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य-सहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य ।।।=)

३१-ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिन्दी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य ... -)

३२-वेदान्तदर्शन-हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द, मूल्य . २)

३३-पातञ्जलयोगदर्शन-सटीक, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ।।।), सजिल्द ... ... १)

३४-श्रीमन्महाभारत-मूल, [प्रथम खण्ड]- (आदि, सभा, वन ३ पर्व एक जिल्दमें) पृष्ठ ८०४ मूल्य ... ६)

३५-श्रीमन्महाभारत-मूल, [द्वितीय खण्ड] (विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण ४ पर्व एक जिल्दमें) पृष्ठ ७४४, मूल्य ... ६)

३६-श्रीमद्भागवतमहापुराण-(दो खण्डोंमें) सटीक, पृष्ठ २०३२, चित्र २६, मूल्य १५)

३७-श्रीशुक-सुधा-सागर-आकार बहुत बड़ा, मोटे टाइप, पृष्ठ १३६०, चित्र २०, मूल्य ... २०)

३८-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द, मूल्य ... ६)

३९-श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल गुटका, सजिल्द, पृष्ठ ७६८ सचित्र, मूल्य ... ३)

४०-श्रीप्रेम-सुधा-सागर-श्रीमद्भागवतके केवल दशमस्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र १५, सजिल्द, मूल्य ... ३॥)

४१-श्रीभागवतामृत-सटीक, पृष्ठ १०४, रंगीन चित्र ८, सजिल्द, मूल्य ... १॥।)

४२-भागवत एकादश स्कन्ध-सटीक, सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य १), सजिल्द ... १।=)

४३-श्रीविष्णुपुराण-सानुवाद, चित्र ८, पृष्ठ ६२४, सजिल्द, मूल्य ... ४)

४४-अध्यात्मरामायण-हिंदी-अनुवादसहित, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ... ३)

४५-श्रीरामचरितमानस-सटीक, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ७॥)

४६-श्रीरामचरितमानस-मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, मूल्य ... ४)

४७-श्रीरामचरितमानस-सटीक [मझला साइज] रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य ३॥)

४८-श्रीरामचरितमानस-मूल, मझला साइज, सचित्र, पृष्ठ ६०८, मूल्य ... २)

४९-श्रीरामचरितमानस-मूल, गुटका, पृष्ठ ६८८, रंगीन चित्र २ और ७ लाइनब्लाक, सजिल्द, मूल्य ।॥)

५०-बालकाण्ड-मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य ।=)

५१- " -सटीक पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य १=)

५२-अयोध्याकाण्ड-मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य ॥)

५३- " -सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य ।॥-)

५४-अरण्यकाण्ड-मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ≶)

५५- " -सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ।)

५६-किष्किन्धाकाण्ड-मूल, पृष्ठ २४, मूल्य =)

५७- " -सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य =)

५८-सुन्दरकाण्ड-सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)

५९-लंकाकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ... ।)

६०- " -सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ... ॥)

६१-उत्तरकाण्ड-मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ... ।)

६२- " -सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ... ॥)

६३-लीला-चित्र-मन्दिर-दर्शन-लीला-चित्र-मन्दिर-में संगृहीत ५६९ चित्रोंके छाया-चित्र, पृष्ठ १४६, तिरंगा मुखपृष्ठ, सजिल्द, मूल्य ... ७)

६४-गीता-भवन-चित्र-दर्शन-गीता-भवन, ऋषिकेश-के सुन्दर चित्रोंका दर्शन, पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य २।)

६५-मानस-रहस्य-सचित्र, पृष्ठ ५१२, मू० १।), स० १॥=)

६६-मानस-शंका-समाधान-पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ॥)

६७-विनय-पत्रिका-सटीक, पृष्ठ ४७२, सचित्र, मूल्य १), सजिल्द ... १।=)

६८-गीतावली-सटीक, पृष्ठ ४४४, मू० १), सजिल्द १।=)

६९-कवितावली-सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ॥-)

७०-दोहावली-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १९६, मूल्य ॥)

७१-रामाज्ञा-प्रश्न-सटीक, पृष्ठ १०४, मूल्य ।=)

७२-श्रीकृष्णगीतावली-सटीक, पृष्ठ ७४, मूल्य ।-)

७३-जानकी-मङ्गल-सटीक पृष्ठ ५२, मूल्य ≶)

७४-श्रीपार्वती-मङ्गल-सटीक, पृष्ठ ४०, मूल्य =)

७५-बरवै रामायण-सटीक, पृष्ठ २४, मूल्य ... =)

७६-ईश्वरकी सत्ता और महत्ता-पृष्ठ ४८०, मूल्य १।), सजिल्द ... १॥=)

७७-सूर-विनय-पत्रिका-(सटीक, सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।॥=), सजिल्द ... १।)

७८-सूर-रामचरितावली-सटीक, पृष्ठ २५४, सचित्र, मूल्य ।॥≶), सजिल्द १-)

७९-श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी-सटीक, पृष्ठ २९६, सचित्र, मूल्य ।॥=), सजिल्द ... १।)

८०-शरणागति-रहस्य-पृष्ठ ३६०, सचित्र, मूल्य ।॥=)

८१-व्रतपरिचय-पृष्ठ ४८०, मूल्य १॥।), सजिल्द २=)

८२-प्रेम-योग-पृष्ठ ३४४, सचित्र, मूल्य १॥)

८३-श्रीतुकाराम-चरित्र-सचित्र, पृष्ठ ५९२, मूल्य १।=), सजिल्द ... १॥।)

१४६–उपयोगी कहानियाँ–३५कहानियाँ,पृ० १०४,मू० ।–)
१४७–प्रेमदर्शन–सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ।–)
१४८–विवेकचूडामणि–सानुवाद,सचित्र,पृष्ठ१८४, ।–)
१४९–भवरोगकी रामबाण दवा–पृष्ठ १७६, मूल्य ।–)
१५०–भक्त बालक–५ कथाएँ, पृष्ठ ७६, सचित्र,मू० ।–)
१५१–भक्त नारी–पृष्ठ६८,१ रंगीन,५ सादे चित्र,मू० ।–)
१५२–भक्त-पञ्चरत्न–पाँच कथाएँ,पृष्ठ८८,२ चित्र,मू० ।–)
१५३–आदर्श भक्त–७ कथाएँ, पृष्ठ ९८, १ रंगीन, ११ लाइन-चित्र, मूल्य ।–)
१५४–भक्त-सप्तरत्न–पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।–)
१५५–भक्त-चन्द्रिका–६ कथाएँ,पृष्ठ८८,सचित्र,मू० ।–)
१५६–भक्त-कुसुम–६ कथाएँ, पृष्ठ८४, सचित्र, मू० ।–)
१५७–प्रेमी भक्त–५ कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ।–)
१५८–प्राचीन भक्त–१५कथाएँ,पृष्ठ१५२,चित्र४,मू० ॥)
१५९–भक्त-सरोज–१०कथाएँ,पृष्ठ१०४,सचित्र,मू० ।=)
१६०–भक्त-सुमन–१० कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र बहुरंगे २, सादे २, मूल्य ।=)
१६१–भक्त-सौरभ–५ कथाएँ,पृष्ठ११०,सचित्र, मू० ।–)
१६२–भक्त सुधाकर–१२ कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य ॥)
१६३–भक्त महिलारत्न–९कथाएँ,पृष्ठ१००,चित्र७,मू० ।≥)
१६४–भक्त-दिवाकर–८कथाएँ,पृष्ठ१००,चित्र८,मू० ।≥)
१६५–भक्त-रत्नाकर–१४कथाएँ,पृष्ठ१००,चित्र८,मू० ।≥)
१६६–भक्तराज हनुमान्–पृष्ठ ७२, सचित्र, मूल्य ।–)
१६७–सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र–पृष्ठ ५२, सचित्र मूल्य ।–)
१६८–प्रेमी भक्त उद्धव–पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य ≥)
१६९–महात्मा विदुर–पृष्ठ ५६, सचित्र, मूल्य =)॥
१७०–भक्तराज ध्रुव–पृष्ठ ४८, २ चित्र, मूल्य ≥)
१७१–शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ–पृष्ठ १२८, मूल्य ।)
१७२–सती सुकला–पृष्ठ ६८, सचित्र, मूल्य ।)
१७३–परमार्थ-पत्रावली–(भाग१)पृष्ठ११२,सचित्र,मू० ।)
१७४– ,, –(भाग२)पृष्ठ१७२,सचित्र,मू० ।)
१७५– ,, –(भाग३)पृष्ठ२००,सचित्र,मू० ॥)
१७६– ,, –(भाग४)पृष्ठ२१४,सचित्र,मू० ॥)
१७७–अध्यात्मविषयक पत्र–पृष्ठ १६४ स० मू० ॥)
१७८–कल्याण-कुञ्ज–(भाग १) पृष्ठ १३६, सचित्र, मू० ।)
१७९– ,, –(भाग २) पृष्ठ १६०, सचित्र, मू० ।–)
१८०– ,, –(भाग ३) पृष्ठ १८४, सचित्र, मू० ।=)
१८१–महाभारतके कुछ आदर्श पात्र–पृष्ठ १२८, मू० ।)
१८२–भगवान्पर विश्वास–पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।)
१८३–श्रीरामचरितमानसका पाठ तथा मानस-व्याकरण–पृष्ठ ८४, मूल्य ।)
१८४–गीताप्रेस-लीला-चित्र-मन्दिर-दोहावली–पृष्ठ ५६, ।)
१८५–गीताद्वार–४ रंगीन चित्र, पृष्ठ १६, मूल्य ।)
१८६–बाल चित्र-रामायण–(भाग१) ४९ चित्र, मू० ।)
१८७– ,, ,, –(भाग२) पृष्ठ १६, मू० ।)
१८८–बाल-चित्रमय चैतन्यलीला–पृष्ठ ३६, मूल्य ।–)
१८९–बाल चित्रमयबुद्धलीला–पृष्ठ ३६, मूल्य ।–)
१९०–बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला [भाग१]–पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य ।=)
१९१–बाल चित्रमय श्रीकृष्णलीला[भाग२]–पृष्ठ ३६, सुन्दर दोरंगा मुखपृष्ठ, मूल्य ।=)
१९२–भगवान राम भाग१–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)
१९३– ,, ,, भाग२–पृष्ठ ५२, चित्र ८, मूल्य ।)
१९४–श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि (प्रथम खण्ड)–पृष्ठ ६४,चित्रपरिचयसहित, मूल्य ।=)
१९५–श्रीकृष्ण-रेखा-चित्रावलि(द्वितीय खण्ड)–पृष्ठ ६४, चित्रपरिचयसहित, मूल्य ।=)
१९६–भगवान श्रीकृष्ण भाग १–पृष्ठ ६८, मूल्य ।–)
१९७–भगवान श्रीकृष्ण भाग २–पृष्ठ ६४, मूल्य ।–)
१९८–आरती-संग्रह–पृष्ठ ८०, मूल्य ।)
१९९–सत्सङ्ग-माला–पृष्ठ १००, मूल्य ।)
२००–बालकोंकी बातें–पृष्ठ १५२, मूल्य ।)
२०१–वीर बालक–पृष्ठ ८८, मूल्य ।)
२०२–सच्चे और ईमानदार बालक–पृष्ठ ७६, मूल्य ।)
२०३–गुरु और माता-पिताके भक्त बालक–पृष्ठ८०,मू० ।)
२०४–वीर बालिकाएँ–पृष्ठ ६८, मूल्य ≥)
२०५–दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ–पृष्ठ ६८, मूल्य ≥)
२०६–बालकके गुण–पृष्ठ ४४, मूल्य ≥)॥
२०७–हिंदी बाल-पोथी–शिशु-पाठ (भाग१) पृष्ठ४०, ≥)
२०८–हिंदी बाल-पोथी–शिशुपाठ (भाग२) पृ०४०,मू० ≥)
२०९– ,,–पहली पोथी (कक्षा १ के लिये) पृ० ६४, मू० ।–)
२१०– ,,–दूसरी पोथी (कक्षा २ के लिये) पृ० ८८, मू० ।=)
२११–प्रार्थना–पृष्ठ ५६, मूल्य ≥)
२१२–दैनिक कल्याण-सूत्र–पृष्ठ ९२, मूल्य ≠)

२१३-आदर्श नारी सुशीला-पृष्ठ ५६, मूल्य ... ≡)
२१४-आदर्श भ्रातृ-प्रेम-पृष्ठ १०४, मूल्य .. ≡)
२१५-मानव-धर्म-पृष्ठ ९६, मूल्य ... ≡)
२१६-गीता-निबन्धावली-पृष्ठ ८०, मूल्य .. =)॥
२१७-साधन-पथ-पृष्ठ६८, सचित्र, मूल्य .. =)॥
२१८-अपरोक्षानुभूति-पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य =)॥
२१९-मनन-माला-पृष्ठ ५६, मूल्य . =)॥
२२०-बालकोंकी बोलचाल-पृष्ठ ४८, मूल्य .. =)॥
२२१-बालककी दिनचर्या-पृष्ठ ४०, मूल्य =)
२२२-बालकोंको सीख-पृष्ठ ४०, मूल्य . =)
२२३-बालकके आचरण-पृष्ठ ४०, मूल्य .. =)
२२४-नवधा भक्ति-पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य . =)
२२५-बाल-शिक्षा-पृष्ठ ६४, सचित्र, मूल्य ... =)
२२६-श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति-पृष्ठ४८,सचित्र,मू० =)
२२७-गीताभवन-दोहा-संग्रह-पृष्ठ४८, मूल्य =)
२२८-वैराग्य-संदीपनी-सटीक-पृष्ठ २४,सचित्र,मूल्य =)
२२९-भजन-संग्रह-भाग १, पृष्ठ १५२, मूल्य ... =)
२३०- ,, -भाग २, पृष्ठ १४४, मूल्य . =)
२३१- ,, -भाग ३, पृष्ठ १९६, मूल्य ... =)
२३२- ,, -भाग ४, पृष्ठ १३६, मूल्य .. =)
२३३- ,, -भाग ५, पृष्ठ ११२, मूल्य . =)
२३४-गजेन्द्र मोक्ष-पदच्छेद, अन्वय और भावार्थसहित-)॥
२३५-बाल-प्रश्नोत्तरी-पृष्ठ २८, मूल्य -)॥
२३६-स्वास्थ्य-सम्मान और सुख-मूल्य -)॥
२३७-स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी-पृष्ठ ५६, मूल्य . -)॥
२३८-नारी धर्म-पृष्ठ ४८, मूल्य .. -)॥
२३९-गोपी प्रेम-पृष्ठ ५२, मूल्य . -)॥
२४०-मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय, मूल्य -)॥
२४१-तर्पण विधि-(मन्त्रानुवादसहित) पृष्ठ २८,मू० -)॥
२४२-ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप-पृष्ठ ३६, -)॥
२४३-श्रीविष्णुसहस्रनाम सटीक-मूल्य -)॥
२४४-हनुमानबाहुक-पृष्ठ ४०, मूल्य . -)॥
२४५-शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-(सानुवाद) पृष्ठ ६४, -)॥
२४६-श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा-
पृष्ठ ४०, मूल्य -)।
२४७-मनको वश करनेके कुछ उपाय-पृष्ठ २४, -)।
२४८-ईश्वर-पृष्ठ ३२, मूल्य . -)।
२४९-मूलरामायण-पृष्ठ २४, मूल्य ... -)।
२५०-रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक-
पृष्ठ ३२, मूल्य ... -)।
२५१-हनुमानचालीसा-पृष्ठ ३२, मूल्य . -)
२५२-विनय-पत्रिकाके बीस पद-पृष्ठ २४, मूल्य -)
२५३-दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य-मूल्य .. -)
२५४-संध्योपासनविधि-अर्थसहित, पृष्ठ २४, मूल्य -)
२५५-बाल-अमृत-वचन-मूल्य ... -)
२५६-हरेरामभजन १४ माला-मूल्य . ।-)
२५७-हरेरामभजन ६४ माला-मूल्य ... १)
२५८-शारीरकमीमांसादर्शन-मूल्य)॥।
२५९-बलिवैश्वदेवविधि-मूल्य)॥
२६०-संध्या विधिसहित-पृष्ठ १६, मूल्य ..)॥
२६१-गोवध भारतका कलङ्क-मूल्य .)॥
२६२-गायका माहात्म्य-पृष्ठ २०, मूल्य)॥
२६३-बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति-
पृष्ठ १६, मूल्य .)॥
२६४-कुछ विदेशी वीर बालक-पृष्ठ १६, मूल्य)॥
२६५-दोहावलीके ४० दोहे-सार्थ, मूल्य ...)॥
२६६-सुगम उपासना-पृष्ठ २४, मूल्य ..)॥
२६७-नारदभक्तिसूत्र-पृष्ठ २४, मूल्य ..)।
२६८-जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें-पृष्ठ ८,)।

चित्रावली

	१५×२०	डाकखर्च		७॥×१०	डाकखर्च
नं० १	२॥।)	१=)	नं० १	१।-)	॥।-)
नं० २	२॥।)	१=)	नं० २	१।-)	॥।-)
नं० ३	२॥।)	१=)	नं० ३	१।-)	॥।-)

Our English Publications

The Philosophy of Love 1-0-0
Gems of Truth (First Series) (*By Jayadayal Goyandka*) 0-12-0
Gems of Truth (Second Series) („) 0-12-0
Bhagavadgita (with Sanskrit text and an English translation) 0-4-0 Bound 0-6-0
Gopis' Love for Sri Krishna (*By Hanumanprasad Poddar*) 0-4-0
Way to God-Realization (*By Hanumanprasad Poddar*) 0-4-0
The Divine Name and Its Practice—(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-3-0
Wavelets of Bliss-(*By Hanumanprasad Poddar*) 0-2-0
The Immanence of God (*By Madan Mohan Malviya*) 0-2-0
What is God ?-(*By Jayadayal Goyandka*) 0-2-0

The Divine Message (*By Hanuman-prasad Poddar*) 0-0-9

What is Dharma ?-(*By Jayadayal Goyandka*) 0-0-9

सूचना

छोटी-छोटी ५२ पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। पैकेटोंका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-संख्या १३, मूल्य ॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-संख्या ५, मूल्य ।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-संख्या १६, मूल्य ॥)

पैकेट नं० ४, पुस्तक-संख्या १८, मूल्य ।)

पैकेट नं० १ से ४ तक,चारोंका एक साथ मूल्य १॥।), डाकखर्च १।=),

विशेष विवरणके लिये चार आनेका टिकट भेजकर बड़ा सूचीपत्र मँगवाइये।

गीताप्रेसकी निजी दूकानोंके पते—

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ सब तरहकी पुस्तकें मिलती हैं तथा कल्याण और महाभारतके ग्राहक भी बनाये जाते हैं। पुराने विशेषाङ्क भी मिलते हैं।

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय, पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली।

दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क।

पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।

कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—नं० २४।५५, बिरहाना रोड, फूलबागके सामने।

बनारस—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी, पता—५९।९, नीचीबाग।

हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान, पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार।

ऋषिकेश—गीताभवन, पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम।

निवेदक—व्यवस्थापक, गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६≡), सजिल्द ७।≡) मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य।

२६ वें वर्षका भक्त-चरिताङ्क—पृष्ठ ८०८, तिरंगे चित्र २५ तथा इकरंगे चित्र २०१, मूल्य ७॥) मात्र।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥।)।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७॥), सजिल्द ८॥।)।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, मूल्य ७॥) सजिल्द ८॥।)।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति-भक्तचरित ज्ञान वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपया, ५० नया पैसा और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १० रुपये (१५ शिलिंग) नियत है। **बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।**

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते, छ या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) **इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।=) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम पता स्पष्ट लिखनेके साथ **साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये।** पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) **ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये।** वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) **प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।** 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) **मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ साफ लिखनी चाहिये।**

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

देवर्षिकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट
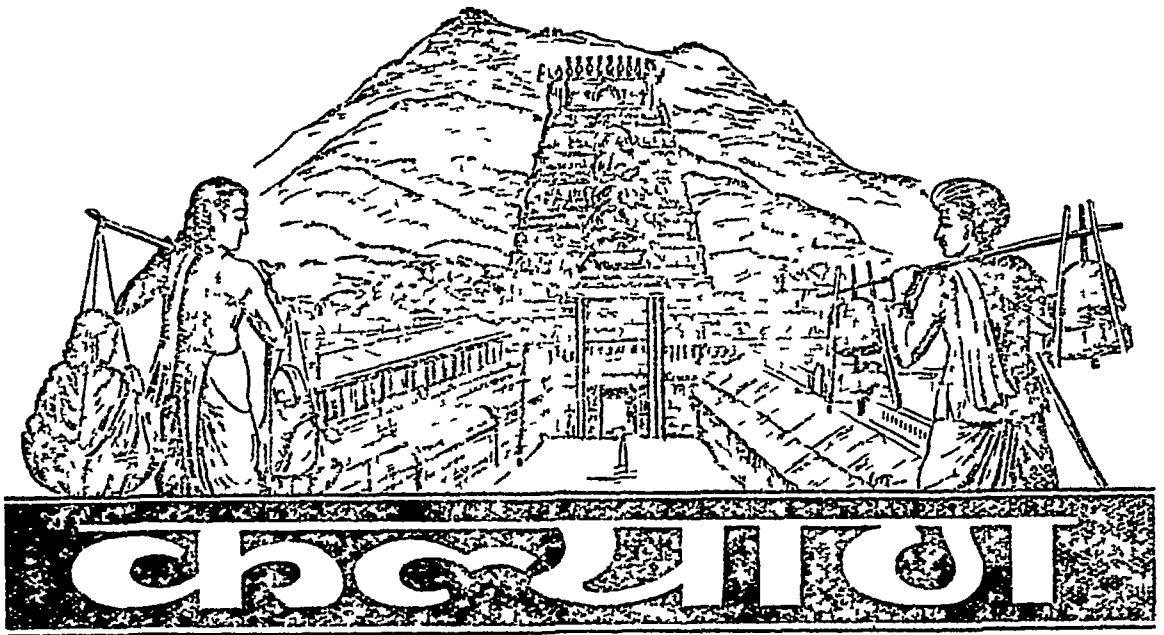
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर पौष २०१४, दिसम्बर १९५७ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ३७२

भगवान् श्रीरामका देवर्षिको उपदेश

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरगाई ॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता । प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

(रामचरित० अरण्य० ४७ । ०—५, ४३)

याद रक्खो—जैसे जलका प्रवाह सहज ही नीचेकी ओर जाता है, जैसे वायुकी गति सहज ही टेढ़ी होती है, वैसे ही इन्द्रियोंका स्वभाव आत्माकी ओर न जाकर भोगोंकी ओर जाना ही है।

याद रक्खो—जैसे पतंग सुखकी इच्छासे सहज ही अग्निकी ओर जाकर झुलस मरता है, जैसे मत्त गजराज सुखकी इच्छासे सहज ही नकली हथिनीकी ओर दौड़कर गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंका प्रवाह और उनकी गति सहज ही भोगोंकी ओर होती है और वे वहाँ अपने साथ चित्तको ले जाकर, चित्तके साथ तादात्म्यको प्राप्त आत्माका पतन और बन्धन करा देती हैं।

याद रक्खो—यह इन्द्रियोंके साथ भोगोंकी ओर जानेवाला चित्त ही आत्माके पतनमें मुख्य कारण है। अतएव चित्तको निगृहीत और विशुद्ध-भावापन्न बनानेके लिये नित्य सत्सङ्ग करो। चित्तको सदा वैसे ही सङ्गमे रक्खो—वैसे ही साधन दो, जिनसे भोगोंकी दु:खमयता, निस्सारता और पतनकारिताका यथार्थ तथा दृढ़ निश्चय होता है।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही देवता है और भोगोंमे आसक्त भोग-चिन्तापरायण स्वेच्छाचारी अपवित्र चित्त ही असुर है। दैवी और आसुरी सम्पदा चित्तमे ही निवास करती हैं।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही तुम्हारा परम हितकारी नित्य बन्धु है और भोगोंमे भटकनेवाला अपावन चित्त ही तुम्हारा सबसे बड़ा वैरी है। अतएव सदा-सर्वदा चित्तको निगृहीत और विशुद्ध बनानेके प्रयत्नमें दृढ़तासे लगे रहो। इसीका नाम साधन है।

याद रक्खो—चित्त बिना आलम्बनके नहीं रह सकता, इसको कोई आलम्बन चाहिये। इस समय चित्तने भोगको आलम्बन बना रक्खा है। भोगका परिणाम है—दु:ख, अशान्ति, पीड़ा, नरक-भोग और जन्म-मृत्यु। इसलिये भोगके आलम्बनको हटाकर चित्तका आलम्बन भगवान्‌को बना दो। इसके लिये विशेष चेष्टा तथा सावधानीके साथ चित्तको भगवत्-सम्पर्कमे रखनेका प्रयत्न करो। सच्चे भगवद्भक्तोंका सङ्ग करो, भोगासक्त नकली भक्तोंका नहीं, सच्चे ज्ञानियोंका सङ्ग करो, इन्द्रियाराम ज्ञानाभिमानियोंका नही, सच्चे निष्काम कर्मयोगियोंका सङ्ग करो, धन-मानाधिकार चाहनेवाले कर्मवादियोंका नहीं, सच्चे पुण्यात्मा पुरुषोंका सङ्ग करो, पुण्यके नामपर पाप-सेवन करनेवालोंका नहीं, विषय-विराग, भगवदनुराग बढ़ानेवाले और तमोमय मोहका नाश करके आत्मज्ञानकी विमल ज्योति जगानेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो, भोगवासना बढ़ाने तथा भोगोंकी महत्ता बतानेवाले पतनकारी साहित्यका नहीं, और मनमें सात्त्विकता बढ़ानेवाले पदार्थोंका ही भोजन करो; रज-तम बढ़ानेवाले पदार्थोंका नहीं।

याद रक्खो—जैसा सङ्ग होगा, जैसा वायुमण्डल होगा, जैसा खान-पान होगा, जैसे साहित्यका अध्ययन होगा, चित्त वैसा ही बनेगा, और जैसा चित्त होगा, वैसी ही चेष्टा-क्रिया होगी और उसीके अनुसार वैसा ही जीवात्माको अच्छा-बुरा फल प्राप्त होगा या उसकी अच्छी-बुरी गति होगी।

याद रक्खो—आत्माका सुदृढ़ निश्चय अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका बल भोगोंकी ओर लगे हुए चित्तको आत्मामें या भगवान्‌मे लगानेमें पूर्ण समर्थ है। अत: आत्मामें सुदृढ़ निश्चय करके तथा भगवान्‌की कृपाके बलका अनन्य आश्रय लेकर चित्तको आत्मस्थ या भगवच्चरणाश्रित कर दो। तुम्हारा जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा।

'शिव'

आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्त भगवान्‌को प्रिय है। परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष भगवत्परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे साधक भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय

'क्षेत्र' (शरीर) और 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) परस्पर अत्यन्त विलक्षण है। केवल अज्ञानसे ही इन दोनोंकी एकता-सी हो रही है। क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है एवं क्षेत्रज्ञ चेतन, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। अतः इस अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंके स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे विभाग किया गया है। इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया है।

खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार फल होता है, इसी प्रकार इस शरीरद्वारा मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है—इस दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष इस मनुष्य-शरीरको 'क्षेत्र' और जो इसको जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इन सब क्षेत्रों (शरीरों) में जो क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) है, वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माका ही स्वरूप है। इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जानना ही ज्ञान है। इसलिये उस क्षेत्रका जो स्वरूप है, जैसा उसका स्वभाव है, वह जिन विकारोंवाला है, जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है तथा उस क्षेत्रज्ञका भी जो स्वरूप है और वह जैसे प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपसे बतलाया जाता है।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा, विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा तथा युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है। उनमेंसे पहले क्षेत्रका स्वरूप और विकार बतलाये जाते हैं। मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया), बुद्धि और अहंकार तथा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इनका सूक्ष्मभाव (पाँचों तन्मात्राएँ), श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये दस इन्द्रियाँ तथा एक मन एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व मिलकर 'क्षेत्र (शरीर) का स्वरूप' है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—ये सात 'क्षेत्रके विकार' हैं।

अब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये जाते हैं। श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा, बाहर भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना, परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रीतिका न होना, आत्मतत्त्वमें नित्य स्थिति और परमात्माके स्वरूपका सर्वत्र अनुभव करना—ये सब ज्ञानमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' है और इनसे विपरीत मान, दम्भ, हिंसा आदि अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' हैं।

अब ज्ञानके द्वारा जानने योग्य परमात्माका स्वरूप बतलाया जाता है। जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है, वह आदि-रहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् ही कहा जा सकता है न असत् ही। वह सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कानवाला है, क्योंकि वह संसारमें आकाशकी भाँति सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणातीत होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर-रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा श्रद्धालु मनुष्यके लिये वह अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है, क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है। जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है, तो भी भिन्न भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें पृथक् पृथक्‌के सदृश स्थित प्रतीत होता है। वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण पोषण करनेवाला, रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है। वह परब्रह्म परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति एवं अन्धकार और अज्ञानरूप मायासे अत्यन्त परे है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य है तथा सबके हृदयमें विशेषरूपसे

स्थित है। यहाँतक क्षेत्र, ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया। भगवान्का भक्त उपर्युक्त तत्त्वको जानकर भगवान्के स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

अब शेष दो बातें क्षेत्रके विषयमें और दो बातें क्षेत्रज्ञके विषयमे बतलानेके लिये प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं—

प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) और पुरुष (जीवात्मा)— ये दोनों ही अनादि हैं तथा उपर्युक्त इच्छा द्वेष आदि विकार और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि कार्य (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा करण (बुद्धि, अहकार, मन और श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) को उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति है। यह कहकर 'जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है,' इस बातका स्पष्टीकरण किया गया है।

अब 'क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के स्वरूप'का वर्णन करते हैं। जीवात्मा सुख दु खोंके भोगनेमें हेतु है। परन्तु प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा कहा गया है। इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा आत्मामें अनुभव करते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा अनुभव करते हैं। परतु इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वय न जाननेके कारण तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उनके कथनानुसार श्रद्धासहित तत्परतासे साधन करते हैं, अत. वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप ससार-सागरको तर जाते हैं।

जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के सयोगसे ही उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब जगत्का विनाश हो जाता है, किंतु चराचर भूतोंमें नाश-रहित परमात्मा समभावसे सदा स्थित हैं, उन भूतोंका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता—यह समझना ही असली समझना है। यहाँ शरीरको उत्पत्ति-विनाशशील कहकर क्षेत्रका स्वभाव बतलाया गया है।

सबमें समभावसे स्थित अविनाशी परमात्माको देखनेवाला पुरुष शरीरके नष्ट होनेपर भी अपनेद्वारा अपना नाश नहीं करता। यहाँ शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश मानना ही अपने द्वारा अपना नाश करना है। इस तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है, क्योंकि सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिद्वारा किये जा रहे हैं—इस तत्त्वको समझनेवाला पुरुष 'प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—' इस प्रकार मानता है और आत्माको अकर्ता मानता है, अतः यह मानना ही ठीक है। जिस क्षण मनुष्य भूतोंके पृथक् पृथक् भावको एक परमात्माके ही सकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा परमात्माके सकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता।

अब 'क्षेत्रज्ञका प्रभाव' बतलाते हैं। अनादि और गुणातीत होनेके कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमे सर्वत्र स्थित आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता। तथा जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरको प्रकाशित करता है अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे सम्पूर्ण जडवर्ग प्रकाशित होता है।

अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान तथा उसका फल बतलाते हैं। यह क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है तथा क्षेत्रज्ञ चेतन, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। इन दोनोंके इस तात्त्विक अन्तरको जाननेके साथ-साथ जो कार्यसहित प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्नभावसे प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वे महात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्तिका तथा वे किस प्रकार किस अवस्थामें जीवात्माको कैसे बन्धनमें डालते हैं और किस प्रकार इनसे छूटकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो सकता

है, तथा इन तीनों गुणोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके क्या लक्षण है—इन्हीं त्रिगुणसम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है । पहले साधनकालमे रज और तमका त्याग करके सत्त्वगुणको ग्रहण करना और अन्तमें सभी गुणोंसे सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये—इस तत्त्वको समझानेके लिये उन तीनो गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रखा गया है ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे उस ज्ञानोंमे भी अत्युत्तम परम ज्ञानको पुन कहा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस ससारसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त हो गये है। इस ज्ञानके द्वारा निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपको अभिन्नभावमे प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमे भी व्याकुल नहीं होते; क्योंकि उनके अनुभवमे एक सच्चिदानन्द परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं।

अब महासर्गके आरम्भमे होनेवाली प्राणियोंकी उत्पत्तिकी बात कही जाती है । भगवान्‌की महद्ब्रह्मरूप मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी योनि (गर्भाधानका स्थान) है और भगवान् उसमें चेतनसमुदायरूप गर्भकी स्थापना करते हैं । उस जड-चेतनके सयोगसे सब भूतप्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । नाना प्रकारकी सब योनियोंमे जितने शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और भगवान् बीजको स्थापित करनेवाले पिता है ।

अब तीनों गुणोके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्ति आदिका वर्णन किया जाता है । सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमे बाँधते हैं । उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुख और ज्ञानके अभिमानसे बाँधकर मनुष्यको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित कर देता है । कामना और आसक्तिसे उत्पन्न रागरूप रजोगुण इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है । समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है । सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है । रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण और वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढता है । जिस समय इस देहमें तथा अन्त करण और इन्द्रियोंमें चेतनता (आलस्यका अभाव) और विवेक-शक्ति जागती है, उस समय यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढा है । रजोगुणके बढनेपर लोभ, सासारिक प्रवृत्ति, स्वार्थ बुद्धिसे कर्मोंका आरम्भ, मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते है । तमोगुणके बढनेपर अन्त करण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब उत्पन्न होते है । जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है, रजोगुणके बढनेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढनेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ योनियोंमे उत्पन्न होता है; क्योंकि श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दु ख एव तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है । सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं । सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोको जाते हैं, रजोगुणमे स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमे ही रहते है और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष कीट, पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते है ।

अब गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत-अवस्थाका फल बतलाया जाता है । जिस समय समष्टि चेतनमें एकी भावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमात्माको तत्त्वसे जान लेता है, उस समय वह परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनो गुणोंको लाँघकर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दु खोसे मुक्त हुआ परमानन्दरूप परमात्माको प्राप्त होता है ।

यह सुनकर अर्जुनने पूछा—'प्रभो ! इन तीनो गुणोसे अतीत पुरुषके क्या-क्या लक्षण होते हैं और किस प्रकारके आचरण होते है तथा मनुष्य किस उपायसे इन तीनो गुणोंको लाँघ सकता है ?'

इसपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशके, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिके और तमो

गुणके कार्यरूप मोहके प्रवृत्त होनेपर तो उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता, साक्षीके सदृश स्थित हुए जिसको विचलित नहीं कर सकते और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—यों समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक हुआ स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित ज्ञानी सुख-दुःख, मिट्टी-पत्थर-सुवर्ण, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है एव जो मान-अपमानमें तथा मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम होता है एव सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है। जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा परमात्माको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है। ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुख—ये सब परमात्माके ही नाम हैं, इसलिये परमात्मा ही इनके परम आश्रय हैं।

पंद्रहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया गया है। एव क्षर पुरुष (क्षेत्र), अक्षर पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और पुरुषोत्तम (परमेश्वर)—इन तीनोंका वर्णन करके, क्षर और अक्षरसे भगवान् किस प्रकार उत्तम हैं, वे किसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं, उनको पुरुषोत्तम जाननेका क्या माहात्म्य है और किस प्रकार उनको प्राप्त किया जा सकता है—इत्यादि विषय भलीभाँति समझाये गये हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तम-योग' रखा गया है।

भगवान् वैराग्य उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे ससारका वृक्षके रूपमे वर्णन करते हुए शरणागतिके द्वारा परम पद प्राप्त करनेकी बात अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे—'आदिपुरुष परमेश्वर जिसके मूल हैं और ब्रह्म जिसकी मुख्य-शाखा हैं, ऐसे ससाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं; तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस ससाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है। उस ससारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एव विषय-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं। किंतु इस ससार-वृक्षका स्वरूप जैसा बताया जाता है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहता, ममता और वासनारूप अत्यन्त दृढ मूलवाले ससाररूप पीपलके वृक्षको उत्कट वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष लौटकर ससारमें नहीं आते, और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन ससार-वृक्षकी प्रवृत्तिका विस्तार हुआ है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी-जन उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते है, जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर ससारमें नहीं आते। उस स्वयप्रकाश परम पदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और अग्नि ही, वही परमात्माका परम धाम है।

अब जीवात्माके स्वरूप और तत्त्वको जाननेके लिये कहा जाता है। इस देहमें यह सनातन जीवात्मा परमात्माका ही अश है और वही इन प्रकृतिमे स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको खींच करके फिर जिस शरीरमे जाता है, वहाँ ले जाता है। यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन—इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है, परतु शरीरको छोड़कर जाते हुए, शरीरमें स्थित हुए और विषयोंको भोगते हुए—इन तीनों गुणोंसे युक्त आत्मतत्त्वको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते है। यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमे स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं, किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।

अब भगवान्का स्वरूप और प्रभाव बतलाया जाता है। सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, वह भगवान्का ही तेज है। और भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे

सब भूतोंको धारण करते हैं और रसस्वरूप (अमृतमय) चन्द्रमा होकर अपनी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाले प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य—इन चारों प्रकारके भोजनको पचाते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा भगवान्से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका दूर होना) होता है और सब वेदोंद्वारा भगवान् ही जानने-योग्य हैं तथा वेदान्तके कर्ता और वेदोंके जाननेवाले भी वे ही हैं।

अब क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तमका स्वरूप, उसको जाननेकी महिमा और उसका फल बतलाया जाता है। इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी—दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है। क्योंकि भगवान् नाशवान् जडवर्ग—क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हैं और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हैं, इसलिये लोकमे और वेदमें भी वे 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तमरूप जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर उन वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है। इस प्रकार यह अत्यन्त रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र भगवान्के द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

सोलहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें देव-शब्दवाच्य परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले और उनको प्राप्त करा देनेवाले सद्गुणों और सदाचारोंका, उन्हें जानकर धारण करनेके लिये 'दैवी सम्पद्' के नामसे और असुरोंके-जैसे दुर्गुण और दुराचारोंका, उन्हें जानकर त्याग करनेके लिये 'आसुरी सम्पद्'के नामसे विभागपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'दैवासुर-सम्पद्-विभागयोग' रखा गया है।

भगवान् अर्जुनको मुक्तिदायक 'दैवी सम्पदा'के लक्षण बतला रहे हैं—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन एवं भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमे आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमे लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचारसे आहार-व्यवहारकी पवित्रता, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो 'दैवी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

अब भगवान् 'आसुरी सम्पदा'के लक्षण कहते हैं। दम्भ (पाखण्ड), घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब 'आसुरी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं। दैवी सम्पदा मुक्तिका और आसुरी सम्पदा बन्धनका कारण मानी गयी है। अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको प्राप्त है। इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्य समुदाय दो ही प्रकारका है—एक तो दैवी प्रकृतिसे युक्त और दूसरा आसुरी प्रकृतिसे युक्त। उनमेसे दैवी स्वभाववाले मनुष्योंके लक्षणोंका तो विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया, अब तू आसुरी स्वभाववाले मनुष्य-समुदायका भी विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुन। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य कार्यमें प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्यसे निवृत्त होना—इन दोनों बातोंको नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि होती है, न श्रेष्ठ आचरण होता है और न सत्यभाषण ही होता है। वे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहा करते हैं कि 'जगत् आश्रयहीन, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, अतएव केवल काम ही इसका मूल है। इसके सिवा और क्या है?' इस मिथ्या ज्ञानका अवलम्बन करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के विनाशमे ही कारण बनते हैं। वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर अज्ञानसे शास्त्र-विरुद्ध कल्पित

सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं। वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेकर विषय-भोगोंके भोगनेमें तत्पर रहते हैं और 'इतना ही सुख है' ऐसा मानते हैं। वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंका संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं। वे सोचा करते हैं कि 'मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस अभीष्टको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है तथा इतना और हो जायगा। वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ मैं सब प्रकारकी सिद्धियोंसे युक्त, बलवान् और सुखी हूँ। मैं धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा।' इस प्रकार वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं। वे अनेक प्रकारसे भ्रमितचित्त होकर, मोहरूप जालसे समावृत और विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुर सम्पदावाले मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं। वे अपनेआपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी मनुष्य धन और बड़प्पनके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यज्ञ करते हैं। वे अहंकार, बल, घमड, कामना और क्रोधादिके परायण और निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते रहते हैं। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार शूकर-कूकर आदि आसुरी (नीच) योनियोंमें ही डालता हूँ। वे मूढ मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको पाते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये, क्योंकि इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, जिससे वह परम गतिरूप मुझको प्राप्त कर लेता है। जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न मुझको ही। इसलिये इन कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। यह जानकर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये।'

सतरहवाँ अध्याय

इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्ने तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया है। फिर पूजा, यज्ञ, तप आदिमें श्रद्धाका सम्बन्ध दिखलाते हुए अन्तिम श्लोकमें श्रद्धारहित पुरुषोंके कर्मोंको असत् बतलाया गया है। इस प्रकार इस अध्यायमें त्रिविध श्रद्धाकी विभागपूर्वक व्याख्या होनेसे इसका नाम 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' रखा गया है।

भगवान्के उपर्युक्त वाक्य सुनकर अर्जुनको यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ हैं—यह तो ठीक है, परंतु ऐसे मनुष्य भी तो हो सकते हैं जो शास्त्रविधिको तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग देते हैं, पर यज्ञ पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं। उनकी क्या स्थिति होती है? इस जिज्ञासाको लेकर अर्जुनने पूछा—'श्रीकृष्ण! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति किस कोटिकी है—सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?' यहाँ अर्जुनके इस प्रश्नसे चार प्रकारके मनुष्योंकी सम्भावना हो सकती है—

(१) जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है,

(२) जो शास्त्रविधिका तो किसी अंशमें पालन करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं है;

(३) जिनमें श्रद्धा तो है, परंतु जो शास्त्रविधिका पालन नहीं करते;

(४) जो शास्त्रविधिका पालन भी नहीं करते और जिनमें श्रद्धा भी नहीं है।

इन सबका क्या स्वरूप है, अब प्रश्न यह होता है कि इनकी क्या गति होती है और इनका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ आता है?

इन प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके होते हैं। एक तो सात्त्विक

हैं, जो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं और इसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। दूसरे राजसी हैं, जो सकामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं, इनको जीते-जी इस लोकके सुख और मरनेपर स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है, इनका वर्णन इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं, उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग कर देते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है—ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजसी तथा तामसी भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है, वे आसुरी सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। इस अध्यायके पाँचवें, छठे, तेरहवें, उन्नीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें इनका वर्णन आया है।

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने बतलाया कि मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीनों प्रकारकी हो सकती है। सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह जीव (मनुष्य) श्रद्धामय है, इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है, वैसी ही उसकी निष्ठा है। सात्त्विक मनुष्य देवताओंको, राजसी यक्ष-राक्षसोंको तथा तामसी लोग प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं, किंतु जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मन कल्पित घोर तपका अनुष्ठान करते हैं तथा दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त हैं एवं जो शरीररूपसे स्थित आकाशादि भूत-समुदायको सुखाते और अन्तःकरणमें स्थित परमात्माके अंशरूप जीवको क्लेश पहुँचाते हैं, वे अज्ञानी आसुरी स्वभाववाले हैं।

भोजन, यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको भानेवाले—ऐसे भोज्य पदार्थ सात्त्विक हैं, अतएव सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय लगते हैं। कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले भोज्य पदार्थ राजस हैं; सुतरां वे राजस पुरुषोंको प्रिय लगते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र है, वह तामस है, इसीलिये वह तमोगुणी मनुष्योंको प्रिय लगता है। जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है। जो केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलके उद्देश्यसे किया जाता है, वह यज्ञ राजस है तथा शास्त्रविधि और अन्नदानसे रहित एवं मन्त्र, दक्षिणा और श्रद्धाके बिना किया जानेवाला यज्ञ तामस है।

आहार और यज्ञके भेद बतलाकर अब तपका स्वरूप और उसके भेद बतलाये जाते हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य आदि जो किसी भी प्रकार अपनेसे बड़े हैं) और ज्ञानीजनोंका पूजन (सेवा, आदर-सत्कार), पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरका तप है। उद्वेग न करनेवाला, प्रिय, हितकारक और यथार्थ भाषण तथा वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम जपका अभ्यास है—यह वाणीका तप है। मनकी प्रसन्नता, शान्त भाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी पूर्ण पवित्रता—यह मनका तप है। फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किया हुआ पूर्वोक्त तीन प्रकारका तप सात्त्विक है, किंतु जो सत्कार, मान और पूजा आदिके लिये या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप राजस है। जो मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीड़ा देते हुए अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस है।

अब दानके भेद बतलाये जाते हैं। दान देना ही कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देशकाल और पात्रके प्राप्त होनेपर बदला न चाहकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। जो क्लेशपूर्वक तथा बदलेमें अपना सांसारिक स्वार्थसिद्ध करनेकी इच्छासे अथवा फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान राजस है। जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह तामस है।

अब ॐ, तत्, सत्के प्रयोगका महत्त्व बतलाया जाता है। ॐ, तत्, सत्—ये तीनों सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके नाम हैं। उसी परमात्मासे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये, इसलिये वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं। 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं। 'सत्'—इस परमात्माके नामका सत्यभाव, श्रेष्ठ भाव और उत्तम कर्ममें प्रयोग किया जाता है। यज्ञ, तप और दानमें जो निष्ठा है और जो उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म है, वह 'सत्' है। बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप और जो कुछ भी शुभ कर्म है, वह सब 'असत्' है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्काम भावसे केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परम श्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे।

अठारहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें पूर्वोक्त समस्त अध्यायोंका सार संग्रह करके मोक्षके उपायभूत सांख्ययोगका 'संन्यास' के नामसे और कर्मयोगका 'त्याग' के नामसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित वर्णन किया गया है इसलिये तथा साक्षात् मोक्षरूप परमेश्वरमें सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास (त्याग) करनेके लिये कहकर उपदेशका उपसंहार किया गया है इसलिये भी इस अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यासयोग' रखा गया है।

उपर्युक्त उपदेशको सुनकर अर्जुनने कहा—'हृषीकेश! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।'

इसपर भगवान् बोले—'अर्जुन! कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचार-कुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका फल त्यागनेको त्याग कहते हैं। कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त, अतएव त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। परन्तु अर्जुन! संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन, क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है, बल्कि वे तो अवश्य-कर्तव्य हैं, क्योंकि ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति एवं फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है, परन्तु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। शास्त्रविहित कर्मोंको दुःखरूप समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे उन कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं पाता, अतः शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्यकर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनकी आसक्ति और फलका त्याग करना ही सात्त्विक त्याग है। जो मनुष्य पापकर्मका त्याग तो करता है पर उनसे द्वेष नहीं करता, बल्कि उनका त्याग करना ही मनुष्यत्व है—इस भावसे उनका त्याग करता है, और शास्त्रविहित कल्याणकारक कर्म तो करता है पर उनमें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है, क्योंकि किसी भी शरीरधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है। कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् भी अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता; क्योंकि उनके द्वारा होनेवाला कर्म कर्म ही नहीं है।

यहाँतक त्यागका तत्त्व बतलाकर अब भगवान् संन्यास (सांख्य) का तत्त्व बतलाते हैं। सांख्यशास्त्रमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धि (निष्पत्ति)के ये पाँच हेतु कहे गये हैं—अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), तेरह करण (दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार), नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और दैव (पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार)। मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों कारण बनते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध-बुद्धि होनेके कारण कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव

नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। ज्ञाता (जाननेवाला), ज्ञान (जिससे जाना जाय) और ज्ञेय (ज्ञानका विषय)—इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तथा कर्ता (करनेवाला), करण (जिससे कर्म किया जाय) और क्रिया (चेष्टा)—इन तीनोंके संयोगसे कर्म होते हैं। उन सबमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं। जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित समभावसे स्थित देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके भावोंको अलग-अलग जानता है, वह राजस ज्ञान है। परंतु जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर उसमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है तथा जो युक्तिरहित, तात्त्विक अर्थसे शून्य और तुच्छ है, वह तामस ज्ञान है। जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वह सात्त्विक है। (यहाँ 'सात्त्विक कर्म' में तो सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है और पहले नवें श्लोकमें 'सात्त्विक त्याग' के नामसे कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग बतलाया गया है, यही इन दोनोंका भेद है।) परंतु जो कर्म बहुत परिश्रम-साध्य होता है तथा सांसारिक भोगोंके इच्छुक या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस है। जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहता है, वह सात्त्विक है। जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्म-फलका इच्छुक लोभी, दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त रहता है, वह राजस है। जो कर्ता अयुक्त (मन-इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला), साधन और शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त, दूसरोंकी जीविकाका नाशक, शोकयुक्त, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह तामस है।

सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन-तीन भेद हैं। जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपमें जानती है, वह सात्त्विकी है। मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थरूपसे नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है। जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी धर्म मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह तामसी है। जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। परंतु फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामको पकड़े रहता है, वह धारणशक्ति राजसी है तथा दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता—उन्हें धारण किये रहता है, वह धारणशक्ति तामसी है।

अब सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार तीन प्रकारके सुख बतलाये जाते हैं। साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे जिस सुखमें रमण करता है और जिससे उसके दुःखोंका अन्त हो जाता है, वह आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें अमृतके तुल्य होता है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक है। जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले (भोगकालमें) अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य होता है, इसलिये वह राजस है। जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस है। पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी प्राणी या पदार्थ नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है।

अब उपासनासहित कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक नियत कर्म बतलाये जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म उनके पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभाजित किये गये हैं। अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, धर्मपालनके लिये कष्ट-सहना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्षमा, मन-इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, वेद, शास्त्र, ईश्वर और

परलोक आदिमें श्रद्धा, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन और परमात्माके तत्त्वका अनुभव—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव (निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर शास्त्रानुसार शासनद्वारा प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति प्रजाका पालन करनेका भाव)—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं। खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सभी वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य जिस रीतिसे भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है, वह रीति बतलायी जाती है। जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। अतः अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको निष्कामभावसे करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता। अतएव दोषयुक्त होनेपर भी स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।

अब उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा (संन्यास) का वर्णन किया जाता है। जिसकी कहीं भी आसक्ति और स्पृहा नहीं रही है तथा जिसने अपने अन्तःकरणको वशमें कर लिया है ऐसा मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि (परमात्माके यथार्थ ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है, जो ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। उस नैष्कर्म्यसिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त करके मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह प्रकार संक्षेपमें बताया जाता है। जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक, अल्प और नियमित भोजन करता है, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करता है, जिसने सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लिया है, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ वैराग्यका आश्रय ले लिया है तथा जो अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण है, वह ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थितिके योग्य होता है। फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्नचित्त योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही। इस प्रकार समस्त प्राणियोंमें सम भाव रखनेवाला योगी परमात्माकी परा भक्ति (ज्ञानकी परा निष्ठा) को प्राप्त कर लेता है। उस परा भक्तिके द्वारा वह परमात्माको, जो और जैसे वे हैं, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उनको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही उनमें प्रवेश कर जाता है।

अब भगवान् भक्तिप्रधान कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं—'अर्जुन! मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है। इसलिये तू सारे कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और चित्तको निरन्तर मुझमें लगाया रख। उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्त लगाया रखकर तू मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा, पर यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा,' तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरा क्षत्रियपनका स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगा। जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा, क्योंकि शरीररूप यन्त्रमें आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार घुमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। इसलिये तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर फिर जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा ही कर।'

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर न मिलनेके कारण भगवान् अर्जुनपर दया करके पुनः बोले—'अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अत्यन्त गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे मनको अचल कर दे, मेरा ही नित्य निरन्तर भजन कर, मेरा ही प्रेमपूर्वक पूजन कर और मुझको ही विनयपूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझीको ही प्राप्त होगा—

यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पण कर) तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माकी ही शरणमें चला आ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार गीताके उपदेशका उपसंहार करके भगवान् अर्जुनसे इसका माहात्म्य बतलाते हुए कहते हैं—

'अर्जुन! तेरे हितके लिये कहा हुआ यह गीतारूप परम रहस्यमय उपदेश तुझे किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न सुनना न चाहनेवालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता हो, उससे तो कभी कहना ही नहीं चाहिये, किंतु इन दोषोंसे रहित मेरे भक्तोंसे प्रेमपूर्वक उत्साहके साथ अवश्य कहना चाहिये, क्योंकि जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें निष्कामभावसे कहेगा, वह निस्संदेह मुझीको प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें दूसरा कोई भी नहीं है, यही नहीं, पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं। जो पुरुष हम दोनोंके धर्ममय संवादरूप इस गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिरहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा। पार्थ! क्या इस गीताशास्त्रका तूने एकाग्र चित्तसे श्रवण किया? और क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?'

इसपर अर्जुनने कहा—'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

इसके अनन्तर संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन्! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना। श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्यदृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करते हुए मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारबार पुलकित हो रहा हूँ। राजन्! विशेष क्या कहूँ—जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह एक परम रहस्यका विषय है। इसको परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परंतु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं, जो भगवान्के शरण होकर श्रद्धा भक्तिपूर्वक इसका अभ्यास करते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धा भक्तिके साथ सदा इसका श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार साधनमें लग जायँ; क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धा भक्तिसे इसका मर्म जाननेके लिये इसके अंदर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं एवं भगवदाज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये-नये उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण होकर शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

लालकी अलकैं और अँखियाँ

लालकी अलकैं अतरभरी।
चारु कपोलन पै इत उत सखि! झूमति हैं बिखरी॥
कहर करैं निरखत ही सजनी! बावरि मोहि करी।
'मोहनिदास' कतल करिबे कौं हरदम सान धरी॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

९८ महात्माओंकी दृष्टि पडते ही क्षणभरमे जीवन सुधर सकता है। दक्षिणमे एक भक्त हुए हैं, उनका नाम धनुर्दास था। एक वेश्या थी—हेमाम्बा नाम था। बडी सुन्दरी थी। उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्‌में भक्ति बिलकुल नहीं थी। शरीर खूब हट्टा-कट्टा था। लोग उन्हें पहलवान कहते थे। विचारेके अदर कामवासना नहीं थी, रूपका मोह था। उसे रूप बडा प्यारा लगता था। दिन बीतने लगे। रङ्गजीके मन्दिरमे उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुज-जी महाराज मदिरमें आया करते थे। लाखोंकी भीड होती थी। कीर्तनका दल निकलता था। पहलवानजी और वेश्याके मनमे भी उत्सव देखनेकी एक साल इच्छा हुई। वे लोग भी आये। कीर्तनमें लोग मस्त थे। भगवान्‌की सवारी सजायी गयी थी। हजारों आदमी आनन्दमे पागल होकर नाच रहे थे। पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी। वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे। श्रीरामानुजाचार्यजीकी दृष्टि पड गयी। इतने बड़े महात्माकी दृष्टि पडी। भाग्य खुल गया। श्रीरामानुजा-चार्यजी बोले—यह कौन है? उनको दया आ गयी थी। लोगोंने यह बात प्रसिद्ध थी ही। सबने सारा हाल कह सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ। पहलवानजी आये। श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा—'भैया! लाखों आदमी भगवान्‌के आनन्दमे डूब रहे थे, पर तुम मलमूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे। ऐसा क्यों?' पहलवानने बताया—'महाराजजी! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है। हेमाम्बा-जैसी सुन्दरता हमने और कहीं भी नहीं देखी। इसीलिये मेरा मन दिन-रात उसीमें फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले—'भैया! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड दोगे?' पहलवान बोले—'महाराजजी! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमें नहीं आता।' आचार्यजी बोले—'अच्छा, साँझको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना। केवल मैं रहूँगा।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये। श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आज एक अधमका उद्धार करो। एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवनमोहन रूपकी एक हल्की-सी झाँकी दिखा दो।' इतने बड़े महात्माकी प्रार्थना खाली थोड़े जाती। अस्तु,

साँझको पहलवान आये। श्रीरामानुजाचार्यजी पकड़कर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले—'देख, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है?' पहलवानने दृष्टि डाली। एक क्षणके लिये जनसाधारण-की दृष्टिमे दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वय भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरके बाद होश हुआ। होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड़ लिये और बोले—'प्रभो! अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ—ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उसे मन्त्र दिया। वे उनके बहुत प्यारे शिष्योंमें तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किञ्चित् जाननेपर भी अन्त करणकी मलिनताके कारण विश्वास नहीं कर पाते।

९९ सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है। उद्धव जब व्रजसुन्दरियोंको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमे खूब फटकारे गये। वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि 'देखो श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये है।' जब उद्धवने यह देखा, तब वे दग रह

गये । फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें । पर ललिताजीके हुकुमसे रोक दिये गये । उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें । ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अंधे बनकर वहीं चलो । यह प्रेमका विनोद था। पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती थी । इसीलिये एक अंशसे ललिताजीने अवतार धारण किया तथा उद्धवने भी एक अंशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया ।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिंदू बेगमके पास पलीं । बेगम उन्हें बहुत छिपाकर रखती थीं । पर एक दिन बादशाहने देख लिया । उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी ही नहीं थी । बेगम उस लड़कीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लड़कीके समान ही मानती थी ।

एक दिन बेगमने उस लड़कीसे कहा कि 'बेटी ! तू एक दिन मेरा शृङ्गार कर दे, क्योंकि तुम्हें जैसा शृङ्गार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा ।' उस लड़कीने मामूली शृङ्गार कर दिया। बेगम बादशाहके पास गयी। उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया । वह बोला—'बेगम! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ, सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है।' अन्तमें बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैंने शृङ्गारके लिये प्रार्थना की। उसने मुझे मामूली ढंगसे सजा दिया । यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता ।' बादशाहके मनमें पाप आ गया। बेगम उसे लड़की मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी । किंतु मनमें पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन शुरू हो गयी। बड़े-बड़े हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ । फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है, किसी महात्माकी कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा । उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे । वे बुलाये गये । सूरदासने कृपा-परवश होकर जाना स्वीकार कर लिया । वे आये तथा अकबरको देखकर कहा—'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है; तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टि की है, उसीके कारण यह हुआ है ।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा, तमाशा देखो ।' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास आया है, वह बुलाता है । बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची । दोनों एक दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते-ही-देखते अपने-आप जलकर खाक हो गयी । सबको बड़ा अचम्भा हुआ । अकबरने प्रार्थना की। उसीपर सूरदासने एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे ।'

पता नहीं, यह घटना कहाँतक सत्य है, पर सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे जन्म धारण करते हैं । इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि किस भेषमें कौन है, सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है ।

१००. जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक-ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है ।

हालकी बात है । वृन्दावनमें एक महात्मा हैं । वे इस समय भी हैं । खूब भजन करते हैं । पर पहले बहुत नास्तिक थे । कलकत्तेमें रहते थे । दलाली करते थे । श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते थे । बुरी तरह नास्तिक थे । कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी । वे भी मजाक उड़ानेके लिये देखने गये । रासलीला हो रही थी । कौन-सी लीला थी, यह हमें याद नहीं है । मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बातें बतायी थीं । पर अब पूरी तरह याद नहीं है । जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी

जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हींको दर्शन हुआ। बस, उसी क्षणसे सब छोड-छाडकर वृन्दावन चले आये और माला फेरते है।

१०१. वृन्दावनके वृक्षोंकी भी बडी विचित्र बात है। एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वय जॉच की हुई कई घटनाऍ हमको एव भाईजीको सुनायी थीं।

एक पेड था। उसे काटनेकी तैयारी हुई। रातमे एक मुसलमान दारोगा (Sub-Inspector) को स्वप्न हुआ कि 'देखो मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमे पेड होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ।' वह मुसलमान था, पर सब पता-ठिकाना—आदमीका नामतक स्वप्नमे बताया गया था। इसलिये उसे जॉंचनेकी इच्छा हुई। जॉचनेपर सब बातें ज्यों-की-त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नहीं था।

दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी—एक साधु जङ्गल-में एक लताके नीचे शौच होने जाते थे। वहॉं कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते। फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ—ठीक याद नहीं, जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहींकी एक चमारिनने बडी भक्तिसे उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमें लाज नहीं आती। मैं रोज तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं। देखो, व्रजके लता एव वृक्षोंके नीचे शौच मत जाया करो।' भागवतमे तो स्वय भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहॉंके पेड प्राय बड़े-बड़े ऋषि है, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं।

१०२ व्रजमे अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव होते हैं। एक साधु थे। भगवान्के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नहीं हुआ। सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें। वहॉं किसी-न-किसी रूपमे दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। व्रजमे आये। न जान, न पहचान। एकादशीका दिन था। फलाहार कहॉं मिले? एक बालक आया। बोला, 'बाबाजी! मेरी मॉं एकादशी करती है, ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है।' बाबाजी गये, बुढियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया। भरपेट खाकर फिर बोले—'वह बालक कहॉं गया माई?' बुढ़िया बोली—'बालक कौन?' वे बोले—'जो हमे लाया था।' बुढिया बोली—'मेरा न तो कोई लडका है, न मैंने किसीको भेजा था। आप आ गये। मैने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती रहती हैं।

१०३ श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है। श्रीकृष्णकी वशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे। आप तो फिर भी मनुष्य हैं। किसी दिन कृपा करके यदि एक हल्की-सी स्वप्नमें भी झॉंकी उन्होंने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवन भर रोते ही रह जायँगे।

१०४. महाप्रभु सन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो-रोकर बेहोश होने लग गये। बडा विचित्र दृश्य था। सभी धूलिमें लोटकर छाती फाड़कर रो रहे थे। ऑंखोंसे ऑसूका फव्वारा छूट रहा था। एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी ऑंखोंमें ऑंसू नहीं थे। ये अद्वैता-चार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे। ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस-पचास वर्षतक लगातार इन्होंने तुलसी-गङ्गाजलसे भगवान्की पूजा की थी और केवल यही वर मॉंगते रहे थे कि 'हे नाथ! जीवोंका दु.ख देखा नहीं जाता, अवतार लेकर जीवोंको भक्त बनाओ और सबका दु ख मिटा दो।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य-महाप्रभुका अवतार हुआ था

सब रो रहे थे, पर इनकी आँखोंमेंसे आँसूकी एक बूँद भी नहीं निकली। महाप्रभु सबको छोडकर आगे बढ गये। केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे। महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे। महाप्रभुने कहा—'आचार्य ! अब लौट जाइये।' अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभो ! साथ जानेके लिये नही आया हूँ, केवल यह कहनेके लिये आया हूँ कि मेरे-जैसा अधम प्राणी, पत्थरके हृदयवाला प्राणी, नीरस प्राणी ससारमें दूसरा आपको नहीं मिलेगा। आप देखिये, आपके जाते समय ऐसा कोई भी नहीं कि जिसकी आँखोंसे आँसूकी धारा न बह रही हो, पर मेरी आँखोंमें एक बूँद भी आँसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले—'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ, मुझे आपसे काम लेना था। मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश-से होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैंने अपने कौपीनमें एक गाँठ बाँधकर आपके प्रेमको रोक रखा है। पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये।' यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी। खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड खाकर गिर पडे और रोने लगे।

देखें, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता। पर यह ठीक है कि जो प्रेममे रोना चाहेगा, नहीं रोनेके कारण जिसके हृदयमें पीडा होती है, उसे भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही। पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी हो—इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हों। उनके रहस्यको कौन जाने। मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये—अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण।

१०५ कुछ साल पहले एक प्रेमी सज्जन वृन्दावन गये थे। नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे। वर्षाका मौसम था। यमुनाजीमें खूब पानी था। सन्ध्याका समय था। इतनेमे खूब वर्षा हुई। टीले, जमीन, रास्ता दीखना बद हो गया। नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जगलके पास खडे थे। इतनेमें देखा कि कुछ गायें आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढ़े हुए पीछे-पीछे आ रहे हैं। मुझे घटना ठीक-ठीक याद नहीं है। वे शायद रास्ता भूल गये थे। बच्चोंसे पूछा। एक बच्चा बडा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिंचता चला जा रहा था। कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा। ये पीछे-पीछे चले। उसने मना किया, पर ये माने नहीं। उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌का दर्शन तो वे जब ठीक समझेंगे, आवश्यक समझेंगे, तब हो जायगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये।

१०६ एक ब्राह्मण थे। ऐसी घटना हुई—एक सालके भीतर परिवारमे जितने थे, सभी मर गये, वे अकेले बच गये। श्राद्ध आदि करनेमें ऋण हो गया, मकान गिरवी रखकर रुपया लिया। फिर एक जगह आठ-दस रुपये महीनेकी नौकरी कर ली, इसीसे पाँच-सात रुपये बचाकर किस्तका रुपया भरते जाते थे और बहुत कम खर्चमें काम चलाकर बिहारीजीके मन्दिरमे भजन करते रहते थे।

यह नियम है कि तमस्सुककी पीठपर किस्तका रुपया चढा दिया जाता है। पर उस महाजनके मनमें बेईमानी थी, वह मकान हडपना चाहता था, इसीलिये चढ़ाता नहीं था। जब रुपया करीब सब भर गया, केवल आठ-दस रुपये बाकी बचे थे, तब उसने पूरे रुपयेकी सूदसहित नालिश कर दी। सम्मन आया, बिचारे ब्राह्मणदेवता बिहारीजीके मन्दिरमे बैठे थे। सुनकर बहुत दुखी हुए, बोले—मैंने तो सब रुपये भर दिये हैं, केवल आठ-दस रुपये बाकी हैं। उसकी बिकलता देखकर सम्मनवाले चपरासीको दया आ गयी।

उसने कहा—'कोई गवाह है ?' ब्राह्मणने कहा—'कोई नहीं।' वह बोला—'तो बडी दिक्कत है।' ब्राह्मण बोला—'हॉं, एक गवाह बिहारीजी हैं।' भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला कि चपरासीकी समझमे यह आ गया कि सचमुच कोई बिहारीजी नामका एक व्यक्ति इसका गवाह है। उस चपरासीने जाकर मुन्सिफसे कह दिया कि हुजूर ब्राह्मण ईमानदार है। महाजन बेईमान है। उस ब्राह्मणका एक गवाह है बिहारीजी। उसके नामसे सम्मन निकाल दें। मुन्सिफ भी भला आदमी था। उसने सम्मन निकाल दिया। वही चपरासी फिर आया। ब्राह्मण वहीं बैठे थे। बोले, 'यहीं कहीं होगा। तुम यहीं कहीं साटकर चले जाओ।' भगवान्‌की लीला थी। उसने समझा क्या हर्ज है। लोगोंको तो पता था कि बिहारीजीका अर्थ ये बिहारीजी हैं। इसलिये सब लोग हँस रहे थे कि यह कितना मूर्ख है।

तारीख आयी। उसके पहले दिन रातमें ब्राह्मणने मन्दिरमे जाकर रहनेकी आज्ञा मॉंगी, पर पुजारी आदि तो हँसते थे, उसके बहुत रोनेपर उन सबने आज्ञा दे दी। वह रातभर रोता रहा। सुबह उसे नींद आ गयी। देखता है कि बिहारीजी आये हैं और कह रहे हैं—'रोते क्यों हो, तुम्हारी गवाही मैं जरूर दूँगा।' नींद खुलते ही वह तो आनन्दमे भर गया और उसे तनिक भी सदेह नहीं रहा—पूरा विश्वास था कि ये मेरी गवाही जरूर देगे।

लोगोंमे हलचल मच गयी। उसने कहा—'तुमलोग देखना मेरी गवाही बिहारीजी जरूर देंगे।' बहुत से आदमियोंने सोचा—चलकर कोर्टमें आज तमाशा देखेगे। पर भगवान्‌की लीला! ऑंधी-पानी आ गया, फलत बहुत कम आदमी जा सके, फिर भी कुछ-कुछ पुण्यात्मा भाग्यसे चले गये।

कोर्टमें मुन्सिफके सामने मामला पेश हुआ। मुन्सिफने पूछा—'गवाह आया है ?' ब्राह्मण बोला—'हॉं, हुजूर आया है।' चपरासीने आवाज लगायी—'बिहारी गवाह हाजिर हो!' पहली बार कोई जवाब नहीं, दूसरी बार कोई जवाब नहीं। तीसरी बार जवाब आया—'हाजिर है।' इतनेमें लोगोंने देखा—एक व्यक्ति अपने सारे शरीरको काले कम्बलसे ढॉंके हुए आया और गवाहके कठघरेमे जाकर खडा हो गया। उसने जरा-सा मुँहका पर्दा हटाकर मुन्सिफको देख लिया। बस, मुन्सिफके हाथसे कलम गिर गयी, वह एकटक कई मिनटतक उसकी ओर देखता रहा। उसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो वह बेहोश हो गया हो।

कुछ देर बाद मुन्सिफ बोला—'आप इसके गवाह हैं ?' वह काले कम्बलवाला बोला—'जी, हॉं।' आपका नाम ? 'बिहारी।'—आपको मालूम है, इसने रुपये दिये हैं ?—इसपर बडी सुन्दर उर्दू भाषामें बिहारी गवाह बोले—'हुजूर! मैं सारे वाक्यात अर्ज करता हूँ।' इसके बाद बताना शुरू किया। अमुक तारीखको इतने रुपये, अमुक तारीखको इतने रुपये—तारीखवार करीब सौ तारीखें बता दीं। मुद्दईका वकील उठा और बोला—'हुजूर! यह आदमी है कि लायब्रेरी, कभी आदमीको इतनी तारीख याद रह सकती है ?' बिहारी गवाह बोले—'हुजूर! मुझे ठीक-ठीक याद है, जब यह रुपये देने जाता था, तब मैं साथ रहता था।' मुन्सिफ—'क्या रुपये बहीमे दर्ज हुए हैं ?' बिहारी गवाह—'जी हॉं, सब दर्ज हुए हैं, पर नाम नहीं है। रोकड बहीमें उन-उन तारीखोंमें रकम जमा हैं, पर इसका नाम नहीं है। दूसरे झूठे नामसे जमा है।' मुन्सिफ—'तुम बही पहचान सकते हो ?'

बिहारी—'जी हॉं।'

मुन्सिफने उसी समय कोर्ट बर्खास्त किया और दो-चार चपरासियोंके साथ मुद्दईके मकानपर चला गया। साथ-साथ बिहारी गवाह थे। किसीने गवाहका शरीर नहीं देखा, केवल मुन्सिफने मुँह देखा था।

वहॉं पहुँचकर बिहारी गवाहने आलमारी बता दी। बहीका इशारा कर दिया कि उस बहीमें है। मुन्सिफने

वहाँ निकलवाकर मिलाना शुरू किया । गवाहने जो तारीखे बतायी थीं, उन्हीं-उन्हींमें उतनी-उतनी रकम दूसरे उचन्तके नामसे जमा थी । अन्तिम तारीख कई पन्नोंके बाद थी । पन्ने उलटनेमें देरी हो गयी । पर वह भी ठीक मिली । पर इतनेमे ही लोगोंने देखा कि विहारी गवाहका पता नहीं । क्या हुआ, कहाँ गये, कुछ पता नहीं चला । मुन्सिफ कोर्टमें आया । मुकदमेको डिसमिस कर दिया और स्वय त्यागपत्र लिखकर साधु हो गया । वे ब्राह्मण और मुन्सिफ शायद दोनों अभी तक वृन्दावनमे जीवित है । यह घटना कहीं शायद छपी भी है । सम्भव है, मुझे कुछ हेर-फेरसे सुननेको मिली हो । पर घटना सर्वथा सच्ची है तथा इसमे कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है । यदि मनुष्यका भगवान्पर सच्चा विश्वास हो तो आज भी ऐसी, इससे भी अद्भुत घटना हो सकती है, होती है ।

सासारिक कार्योंमे सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्के लिये तो दोनों ही समान है । असलमें भगवान् भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु हैं, उनसे हम जो चाहें, वही वे करनेको तैयार हैं । हाँ, चाह सच्ची और दृढ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है ।

१०७. चटगाँवमे एक कृष्णानन्दजी साधु हैं । इस समय भी हैं । उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव है । उन्होंने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मॅगवायी । मॅगानेपर उनको पसद नहीं आयी, बोले—'तुम गडवड करते हो, यह नहीं चल सकती । मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूँ, जो मूर्ति मेरे हृदयमे है, वही मूर्ति मुझे चाहिये । नहीं तो तीन दिन बाद मे तुम्हे गङ्गामे फेंक दूँगा ।' भगवान्को तो विश्वास चाहिये । वे देखते है केवल सच्चा विश्वास । उनका विश्वास ठीक था । तीन दिनमे पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है । इस बार गोरखपुरमे उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था । ऐसा जान पडता है मानो जीवित पुरुषका फोटो हो । ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात् बन सकती है ।

१०८ भगवान्के विषयमे एक विलक्षण बात है । वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देगे, फिर निश्चय समझिये, बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देगे । यह नहीं कि भजन करो, स्मरण करो । केवल मनमे यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देगे । भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ ससारके विषयोंतकके-लिये यह नियम लागू है—सबके लिये लागू है ।

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमें आजतक तो ऐसा नहीं हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले-पहल होगा ?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो ससारके इतिहासमें पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा ।

व्रजप्रेमका नियम है—अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है । पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमे तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पड़ेगा, तो ठीक मानिये, उसके लिये ही नया नियम बनेगा । ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देंगे ।

१०९ जब दिव्य वृदावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाश होता है, तब उसमे भी कई रहस्यकी बातें होती है । गतबार जो नन्द-यशोदा हुए थे, उनके विषयमें भागवतमे लिखा मिलता है कि वे दोनों तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे । होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द-यशोदा हैं, उन्हींका इनमें आवेश हो जाता है । भागवत-की यहाँवाली जो लीला है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है, पर किसी-किसी अशमे उसमे प्राकृत सयोग भी

रहता है, क्योंकि यह लीला प्रकट ही इसीलिये की जाती है कि इसके द्वारा और-और भक्तोंको इसमें शामिल किया जाय। जो नित्य लीला है, उसमें कंस आदिका वध नहीं होता। वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमें उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कमरेमें भी है, विश्वके अणु-अणुमें है, पर प्रकट वहीं उस वृन्दावनमें हुआ करती है। नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमें उनका आवेश हो जाता है। श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा—ये दोनों भी कभी साक्षात् आते हैं, पर कभी उनका आवेश भी होता है। जैसे इस बार जो लीला हुई थी, उसमें नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था।

असल बात तो यह है कि इसका तत्त्व समझना असम्भव-सा है, क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहींतक बनता है, जबतक वह लीला सामने नहीं आती। सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता। केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है। भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं। जहाँपर आपको यह घड़ी दीख रही है, वहीं अनादि कालसे जो लीला हुई है, अनन्त कालतक जो होगी, वे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं क्योंकि वस्तुतः घड़ीकी जगह स्वयं भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमें हैं। जबतक आपको घड़ी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेंगे। और जब घड़ीका दीखना बंद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेंगे, उस समय यह ज्ञान भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घड़ी थी। यह घड़ीका दीखना एवं घड़ीका ज्ञान तो तभीतक है, जबतक भगवान् नहीं दीखते। उनके दीखनेपर तो वे-ही-वे रह जायँगे। इसी प्रकार उनकी कोई-सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नहीं बनेगा कि कौन नित्य है और कौन पीछेकी है, क्योंकि असलमें तो जो कुछ भी है, वह सब भगवान् हैं। यह तो समझानेके लिये है। जबतक भगवान् नहीं दीख रहे हैं, तबतक भेद-ज्ञान—यह ऊँचा, यह नीचा, यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हें ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वाल-बाल, जो स्वयं भगवान् ही बने थे—इन दो प्रकारके ग्वाल-सखाओंमें क्या भेद था?' तो वास्तवमें तो कोई भेद नहीं है, क्योंकि पहले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमें कई साधनसिद्ध भी सखा थे। दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए वे सब-के-सब स्वयं श्रीकृष्ण ही बने थे, सखाओंमें भी नित्य सखा एवं साधन-सिद्ध सखा—ये दो भेद तो हैं ही। आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्‌की नित्य लीलामें सम्मिलित हुआ, वह साधन-सिद्ध सखा माना जायगा। पर यह मानना भी हमारी-आपकी दृष्टिसे है, श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो वे-ही-वे सदासे हैं और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्‌के मालिक—तीनों बने हुए हैं, परंतु जबतक हम अपने-आपको अनुभव करते हैं, तबतक यह ऊँच-नीचेका भेद बना ही रहेगा। इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता।

शास्त्र एवं संत कहते हैं—जो है, भगवान् है, जो नहीं है, वह भगवान् है, तथा है, नहीं है,—इन दोनोंसे परे भी भगवान्‌का रूप है, जो अनिर्वचनीय है। पर यह स्थिति भी तो वाणीमें आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता। यही बात दिव्य लीलाके रहस्यमें भी है। देखनेपर ही कोई यत्किंचित् समझ सकता है कि वह क्या वस्तु है।

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है—जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है।

बिल्कुल कोई वस्तु भगवान्के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं। पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख-दुःख होता है, अहंकार है, तबतक साधना करो। परंतु यह अहंकार, यह सुख-दुःख भी उन्हींका रूप है, फिर साधना क्यों करे? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दुःख मिट जाय।

११० मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टि-तत्त्वका, भगवान्के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमें न पड़कर सरल चित्तसे भगवान्का चिन्तन करे, साधनामें जुट जाय। बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामें जुट जाय। नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नहीं हुआ, तब तो फिर आज हमारा सबसे खराब दिन बीता। नहीं होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले-ले, तब होगा।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोंमें वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वयं ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीस घंटे वहीं साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये। उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है। जैसे मान ले एक सेवा है—हाथ-पैर धुलाना। अब दिनभरमें न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पड़ेगा। लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगड़ें, पर साधक उतनी देरके लिये, चाहे बीस सेकंड ही क्यों न हो, सब काम छोड़कर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा। अभ्यास होनेपर लोगोंको पता नहीं चलेगा। लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है।

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है—आपने जो समझा होगा, उससे बिल्कुल नयी बात है। उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है। वह तो केवल वही जान सकता है, जो स्वयं इस ओर पैर बढ़ाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय, फिर सारी बात समझमें आती जायगी और बिल्कुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वयं केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे हो, एक बार चेष्टा करके भगवान्की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें। जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीज नया-नया दृश्य मनके सामने भगवान्की दयासे आने लग जायगा। फिर यह जरूरत नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुने। भगवान्की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी—प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयगी कि मन आनन्दमें डूबा रहेगा। केवल आप ही उसका आनन्द लेंगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेंगे। भगवान्की पूरी कृपा आपकी सहायता करेगी। जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेंगे। आरम्भिक साधनामें किसी दिन तो बेगार-सा बड़ा बुरा मालूम होगा, क्योंकि मन भागना चाहेगा। पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़ें, अपने-आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी। कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा, पर मन भाग-भागकर वहीं चला आयगा। बिल्कुल ऐसा हो जायगा मानो अपने-आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक-पर-एक आती रहेगी। पर प्रारम्भमें थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। फिर आगे चलकर सच मानिये भगवान्की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा।

चित्त-निग्रह

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

जीवात्माको कर्ता और भोक्ता बनानेवाला चित्त ही है। शरीर चाहे जो क्रिया करे, परंतु उस क्रियामें यदि चित्तका साथ न हो तो उससे मनुष्यको कर्तृत्व नहीं मिलता। शराब पीकर बेहोशीकी हालतमें खून करके उसके दोषसे भी खूनी छूट जाता है। भॉंग पीकर बकनेवाले आदमीको होश आनेपर इस बातकी खबर ही नहीं रहती कि वह क्या बक गया था, क्योंकि दोनों प्रसङ्गोंमें चित्त नशेसे परवश होकर केवल संयोगवश कर्म करता है। जो कुछ हमलोग चित्तसे करते हैं, वही किया हुआ समझा जाता है और चित्तसे न किया हुआ कार्य किया नहीं माना जाता। शरीर जड है, इसलिये वह स्वयं कुछ कर सके, ऐसी बात नहीं है। विशुद्ध आत्मा नित्य असङ्ग और चेतन है, इसलिये वह भी कुछ करता नहीं। शरीर और आत्मा दोनोंके बीचका चित्त ही आत्मासे शक्ति प्राप्तकर आत्माके साथ जुड़कर कर्म करता है और जीवात्माको कर्ता-भोक्ता बनाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें ले जानेवाला चित्त ही है। चित्तसहित चेतनका शरीरमें प्रवेश करना ही 'जन्म' कहलाता है, और वैसे ही शरीर छोड़ना 'मरण' कहलाता है।

जैसे झूठ बोलना और झूठसे बचना—ये दोनों शक्तियॉं मनुष्यमें होती हैं, जैसे बाण छोड़ना और बाणको वापस लेना—ये दोनों शक्तियॉं एक ही मनुष्यमें होती हैं, उसी प्रकार विचार और अविचार—ये दोनों शक्तियॉं चित्तकी हैं। चित्त विचार करके करता है तो शुभ करता है और अविचारसे करता है तो अशुभ करता है। शरीरकी क्रिया रोकनेसे नहीं रुकती, जबतक चित्त न रोका जाय। हमको जिस प्रकारका जीवन वहन करना है, उसी प्रकारका चित्त बनाना पड़ेगा। जैसे मूर्ख हॉंकनेवाला गाड़ी, घोड़े और बैठनेवालेको गड्ढेमें जा गिराता है और बुद्धिमान् हॉंकनेवाला निश्चित स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकार मूर्ख चित्त शरीर, इन्द्रियॉं और आत्माको विपत्तिमें डालता है और विज्ञ चित्त उन्हें निश्चित स्थानपर ले जाता है। न तो शरीरमें कोई फेर-फार होता है, न आत्मामें होता है, होता है तो वह चित्तमें ही होता है। शरीर और आत्मामें फेर-फारकी इच्छा भी बेकार है, क्योंकि कर्ता चित्त है। इसलिये सारे शास्त्र, सारे धर्म इस चित्तको कल्याण-मार्गपर चलानेके लिये ही अनेकों उपाय बतलाते हैं। चित्तको कल्याण-मार्गपर ले जानेकी युक्तियॉं भी अनेक हैं। इस प्रकार रास्ते विभिन्न होनेके कारण धर्मके रूप भी अनेक हो गये। शरीर नश्वर है, और परमात्मा हैं ही, परंतु चित्तका निग्रह किये बिना कल्याण नहीं होता, यह तो सर्वसम्मत है। जो शाश्वत है, वह परमात्मा है। नास्तिकोंके मतमें भी कोई-न-कोई शाश्वत पदार्थ है ही। इन्द्रियोंका भोग यदि किसी सिद्धान्तमें इष्ट माना भी जाता हो, तो भी वह अन्ततः इन्द्रिय-निग्रहके लिये, चित्तकी शान्तिके लिये ही है। सुखकी इच्छा रखनेवालोंको चित्तपर दृष्टि रखनी चाहिये। जैसे ऊधमी बालककी मा बराबर ध्यान रखती है कि बालक कहॉं गया, उसी प्रकार जिज्ञासु पुरुषको बार-बार यह खोज रखनी चाहिये कि चित्त-देवता कहॉं विराज रहे हैं। चित्तके ठहरनेके दो स्थान हैं—एक इन्द्रियोंके भोग और उनके लिये प्रवृत्ति तथा दूसरा आत्मा और उसके लिये प्रवृत्ति।

जैसे जलका प्रवाह स्वभावतः नीचेकी ओर होता है, जैसे वायुकी गति स्वाभाविक ही वक्र होती है और जैसे अग्निकी शिखा स्वभावतः ऊपरकी ओर उठती है, उसी प्रकार चित्तका स्वाभाविक प्रवाह इन्द्रियोंके द्वारा भोगकी ओर होता है। जैसे पतङ्गका स्वाभाविक पतन अग्निकी ओर होता है और उसके द्वारा नाशकी ओर जाता है। जैसे नदीका प्रवाह स्वभावतः समुद्रकी ओर होता है और वह अपने नाशके लिये होता है, उसी प्रकार चित्तका प्रवाह भी इन्द्रियोंके भोगोंकी ओर स्वाभाविक है, और इससे वह अपना, इन्द्रियोंका और देहका नाश ही करता है। परंतु यह उसका स्वभाव है। जैसे भोगकी ओर जानेकी वृत्ति चित्तकी है, वैसे ही भोगकी ओरसे लौटनेकी शक्ति भी उसमें है। निगृहीत चित्त भोगसे लौटता है और अवश चित्त भोगमें फॅंसा रहता है। चित्तकी सामर्थ्यपर बड़प्पन और छोटापन, दिव्यता या पशुताका भेद निर्भर है। निगृहीत चित्त ही देवता है और भोगमें भटकनेवाला चित्त ही पशु है। निगृहीत चित्त ही परम [illegible] बन्धु है और भोगोंमें विचरनेवाला स्वच्छन्दचित्त सबसे बड़ा वैरी है। पशु-पक्षी सब भोगाधीन होनेके कारण पामर हैं। भोगाधीन चित्त पामर है, दरिद्र है, पराधीन है। भोगमात्र पराधीन हैं और यह पराधीनता दूसरेसे आशा करवाती है। जो सुख दूसरेके आश्रित होता है, उसकी स्थिरता दूसरेकी स्थिरता और अनुकूलतातक ही होती है। मनुष्यमें भी छोटाई-बड़ाई

चित्तकी वशताके ऊपर ही है। जिसका चित्त विशेष निगृहीत होता है, वह दूसरोंसे बड़ा है, देवतारूप है, क्योंकि उसका चित्त विशेष निगृहीत है। निगृहीत चित्तमें विशेष सामर्थ्य, शक्ति और सिद्धिका उदय होता है, और अनिगृहीत चित्त भोगसे विविध सामर्थ्यका नाश करता है। भोग पल-पलमें पुण्यका नाश करता है। अभोग पल-पलमे चित्तको निगृहीत करके विविध शक्तिका सञ्चय करता है। जैसे समान आयवाले खर्चीले और कजूस—दो मनुष्योंमें कजूस धन-सञ्चय करता है और खर्चीला उससे वञ्चित रहता है, उसी प्रकार निगृहीत चित्त पल-पल शक्तिका अर्जन करता है और अनिगृहीत चित्त शक्तिका क्षय करता है। एक मनुष्य भोग-विशेषमे निगृहीत होता है और दूसरेमें अनिगृहीत। इससे जितना भोगमें निग्रह होगा, उतनी ही उसमें सामर्थ्य विशेष आयेगी। पाँच प्रकारके भोग होते हैं। पाँचों प्रकारके भोगमे जिसकी चित्तकी वृत्ति उपरामताको प्राप्त हो गयी है और इस कारण जिसका चित्त आत्मामें सदाके लिये स्थापित हो गया है, वह मुक्त है। चित्तकी भोगमें स्थितिका नाम है जन्म-मरण, चित्तकी आत्मामें स्थितिका नाम है मोक्ष। भोगमें चित्तको रखते हुए जो मोक्षकी इच्छा करता है, वह मानो कमरमें भारी पत्थर बाँधकर सागर तैरनेका इच्छुक है। चित्तसे भोगका त्याग किये बिना, चित्तको भोगमेंसे हटाये बिना कभी चित्त आत्मामें स्थिर होनेका नहीं।

जैसे एक देह छोड़े बिना दूसरा देह सामान्य मनुष्यके द्वारा नहीं धारण किया जा सकता, उसी प्रकार भोगमेंसे चित्तको हटाये बिना आत्मामे चित्तकी स्थिति मुमुक्षुके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती।

चित्त आलम्बनके बिना नहीं रह सकता। चित्तका भोग ही आलम्बन है। भोगसे परिणाममें दुःख तो दीखता है, परतु आत्माके सुखका अनुभव नहीं होता; इसीसे वह भोग त्यागकर आत्मामें स्थिति नहीं कर सकता। अपने पिताके यहाँ पाली गयी कन्या बड़ी होनेपर विवाह होनेके बाद ससुराल जानेमें हिचकती है, उसी प्रकार चित्त भोग त्यागनेमें हिचकता है। जब व्याही कन्या परवश होकर ससुराल जाती है और वहाँ पतिसुखका अनुभव करती है, वह वहाँ कठिनतासे रहती है, पर जब पतिगृहमें एकता प्राप्त करती है, तब पितृगृहको भूल जाती है। इसी प्रकार चित्तको जब आत्मसुखका अनुभव होता है, तब वह भोगसुखको छोड़ देता है। आत्मसुखका अनुभव हुए बिना चित्त भोगसुखके रसको छोड़ नहीं सकता। भले ही शरीरसे भोग न भोगे, परतु उसके अन्तरमें तो भोगकी लालसा तभी छूटती है, जब वह आत्मसुखका अनुभव करता है। भोगसुख खण्डित है, क्षणिक है। आत्मसुख अनन्त है। जैसे वस्तुका सुख तभी तक भोगा जाता है, जबतक वह वस्तु रहती है, उसी प्रकार भोगका सुख भोग-पदार्थ प्राप्त होनेतक भोगा जाता है। जैसे मणिका प्रकाश सुलभ है और दीपकका प्रकाश पराधीन है, उसी प्रकार आत्मसुख सुलभ और नित्य है तथा भोगसुख दुर्लभ और अनित्य है। भोगसुख वस्तुके अधीन है और वस्तु पल-पल कालके गालमे चली जा रही है।

केवल भोग-वस्तु ही कालाधीन नहीं, बल्कि भोग भोगनेके साधन—देह और इन्द्रियाँ भी कालाधीन हैं। इसलिये भोग-पदार्थ, देह, इन्द्रियाँ—सब कालाधीन और पराधीन हैं; और इसमें भी भोगसुख भोगके प्राप्ति-कालमें ही रहता है। भोगसे सुख चाहनेवालेको अनेकों क्लेश और कष्ट सहकर भोग प्राप्त करने पड़ते हैं। प्राप्त भोगकी कालसे और परायेसे रक्षा करनी पड़ती है, इन सबमें उसको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव करना पड़ता है। भोग प्राप्त करनेके विचारसे जबसे उद्यम शुरू होता है, तबसे उस भोगको प्राप्तकर भोगनेके समयतक तो भोगकी इच्छावालेको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव होता है। प्राप्तिके कालमें सुखका लेश अनुभव करनेके बाद, फिर वृत्ति अन्य भोगकी प्राप्तिमें या प्राप्त भोगके क्षणमे लीन हो जाती है। यों एक क्षणके सुखके लिये अनेक क्षणके लबे समयमे जीव दुःखका अनुभव करता है और इस भोगको प्राप्त करने तथा भोगनेमें भोगके साधन शरीर-इन्द्रियों और बलका नाश ही होता है।

विषयभोग और रसभोग—ये दो मुख्य भोग है। विषयभोगसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तका बल नष्ट होता है, शरीर क्षीण होता है, वीर्य नाशको प्राप्त होता है, प्राण क्षीण होता है। भोगमात्र पिछले भोगके लिये शरीरको अशक्त करते चले जाते हैं और फिर दूसरे भोगकी वासना प्रदान करते जाते हैं। यह भोगोंकी विशेष खूबी है। भोग भोगनेमे सदाके लिये भोगकी इच्छा मरती नहीं। परतु भोगके रसका, भोगेच्छाका बीज वह बोता जाता है और उसकी प्राप्तिके लिये आसक्ति प्रदान करता जाता है। यह बड़ी विचित्रता है। प्रत्येक भोग दूसरे भोगोंकी प्राप्तिकी वासना और उसको प्राप्त करनेकी आसक्ति प्रदान करता रहता है। ऐसी परम्परा रहती है, तब चित्त भोगसे कैसे तृप्त हो। शरीर, भोग और साधनके कम होने और नाशको प्राप्त होनेपर भी

भोगेच्छा न तो घटती और न नाशको प्राप्त होती है, बल्कि ताजी होती जाती है और इसी कारण वह दूसरे शरीरको उत्पन्न करती है। इसीका नाम है पूर्वदेहका मरण और नये देहका जन्म।

देह धारण करना और त्याग करना तथा फिर दूसरा देह धारण करना—यह चक्र न जाने कितने कालसे जीवका चलता आ रहा है। अनेकों दुःखों और क्लेशोंका अनुभव होनेपर भी चित्त इससे विराम नहीं प्राप्त कर रहा है, क्योंकि उसको दूसरा आलम्बन नहीं मिला। जिसे शराबकी लत पड़ गयी है, वह अनेकों प्रकारके दुःख उठाता हुआ भी आदत होनेके कारण जैसे उसको छोड़ नहीं सकता और दुःखमें पड़ा रहता है, उसी प्रकार चित्त दुःख पानेपर भी भोगको नहीं छोड़ सकता।

जैसे नदीके पानीको समुद्रमें जानेसे रोकनेके लिये सुदृढ़ बाँधके सिवा अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तिको भोगकी ओरसे दृढ़ आग्रहपूर्वक हटानेके सिवा लाख उपाय करनेपर भी वह आत्माकी ओर नहीं लग सकता।

आत्माका अर्थ है—नित्य, सुप्राप्त, शाश्वत, विकार-विनाशरहित अखण्ड सुखका धाम। और भोगका अर्थ है—अनित्य, दुर्लभ, विकारी, विनाशी तथा क्षणिक सुख और अखण्ड दुःखका धाम। इसलिये चित्तको भोगकी ओरसे हटानेके लिये आग्रहपूर्वक भोगविशेषसे निवृत्तिरूप वैराग्यका प्रबल बाँध उसके प्रवाहको रोकनेके लिये बाँधना चाहिये और साथ-ही-साथ दूसरी ओर उस प्रवाहको आत्माकी ओर बहानेका अभ्यास करना चाहिये। वैराग्य और अभ्यासके बिना चित्त आत्मामें स्थितिलाभ नहीं कर सकता।

जैसे पर-स्त्रीलम्पट पुरुष परस्त्रीकी ओरसे मुख मोड़कर यदि अपनी स्त्रीमें पूर्णरूपसे मग्न हो जाय, तभी वह पर-स्त्रीका ख्याल छोड़ सकता है, नहीं तो फिर परस्त्रीमें रत हो जाता है, उसी प्रकार भोगसे लौटा हुआ चित्त आत्मामें स्थिर होनेपर ही भोगको भूल सकता है, नहीं तो फिर भोगोंमें लौट आता है।

अब प्रश्न यह है कि पाँचों भोगोंसे चित्तको कैसे लौटाया जाय तथा आत्मामें उसकी स्थिति कैसे करायी जाय। प्रत्येक भोगके लिये पृथक्-पृथक् उपायोंके साथ पहले 'वैराग्य' के विषयमें समझना है।

चित्त भोगकी इच्छा करता है, उसके पहले चित्तकी शान्त अवस्था होती है। चित्त जब शान्त होता है, किसी भी संकल्प या इच्छासे रहित होता है, तब वह अखण्ड सुखका अनुभव करता है। संकल्प, इच्छा, भोग-विचार शान्त चित्तको अशान्त करते हैं। अशान्त चित्त दुःख और क्लेशका अनुभव करता है। अबतक भोगोंमें लगे चित्तको लौटाकर अखण्ड सुखकी इच्छा करनेवाले जिज्ञासुको सर्वप्रथम जीवन-यात्रा चलानेके अतिरिक्त सारे व्यसनों और भोगोंको त्यागनेका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनमें सबसे प्रथम सारे व्यसनोंका त्याग करे। व्यसन उसे कहते हैं, जिसके न होनेपर देह तो नष्ट होता नहीं, परंतु जिसके न मिलनेपर मनको चैन नहीं पड़ता। बीड़ी, पान, सुपारी, तंबाकू, अफीम, शराब, चाय, काफी, इत्र, फुलेल आदि जो-जो व्यसन हों, जो मनोरञ्जनके लिये किये जाते हों, उनको आग्रहपूर्वक छोड़े—बलपूर्वक छोड़े। इन व्यसनोंके छोड़ देनेपर चित्तको बहुत आराम मिलता है। चित्तमें शक्ति और स्फूर्ति आने लगती है। खूबी यह है कि ज्यों-ज्यों चित्त व्यसनोंके अधीन होता जाता है, त्यों-ही-त्यों चित्त, शरीर और इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट होती जाती है और धन भी नाशको प्राप्त होता जाता है एवं ज्यों-ज्यों व्यसन छूटता जाता है, त्यों-त्यों बल, बुद्धि, तेज और धन बढ़ता जाता है। इसलिये साधकको कोई भी व्यसन नहीं रखना चाहिये।

इसके बाद किसी भी दूसरेकी कोई भी वस्तु लेने अथवा अपने व्यवहारमें लानेकी बात मनसे भी न सोचे। पर-स्त्री-भोग, पर-धन-हरण, परवस्तुको जाने या अनजाने लेनेकी इच्छा भी न करे। इस साधनामें व्यभिचार चोरी आदि दुराचार, सब बंद हो जाते हैं और अपनी सच्ची मेहनतकी कमाईसे जो कुछ मिले, उसीसे निर्वाह करनेका बल आता है। सच्ची मेहनतकी कमाईसे प्राप्त रोटीमें चित्त शुद्ध करनेकी अद्भुत सामर्थ्य है। अधर्मयुक्त, दूसरेसे छीनी हुई, झूठ-कपट और चोरीसे की हुई कमाईका सूक्ष्म संस्कार भी बुद्धिको मलिन करता है। श्रेयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपने हककी, सच्ची मेहनतकी कमाईके सिवा किसीसे कुछ भी न लेना—दान भी न लेना चाहिये।

फिर ऐसी साधना करे कि अपनी कोई भी क्रिया किसीको दुःख देनेके आशयसे न की जाय। प्रत्येक क्रिया करनेके पहले यह जान ले कि इस क्रियासे किसीको दुःख तो नहीं होता? यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है, इसको 'अहिंसा' कहते हैं। अहिंसाका विस्तृत अर्थ है। अहिंसाका सर्वाङ्गीण पालन करने-

वाला मुक्ति पाता है। डाक्टर रोगीका आपरेशन करता है, वह हिंसा नहीं है। डाक्टरकी यह क्रिया रोगीको दुःख देनेके लिये नहीं, उसे दुःखसे मुक्त करनेके लिये होती है। राजा चोरको दण्ड देता है, वह हिंसा नहीं है; क्योंकि उसकी यह क्रिया चोरको चोरीके दुर्व्यसनसे मुक्त करती है, वह चोरके सुखके लिये होती है। अहिंसाका साराश यह है कि क्रियाका आशय दूसरोंको दुःख देना कभी नहीं होना चाहिये। किसी-के हककी रक्षा करनेमें—जिनका हक नहीं है, उनको दुःख हो तो वह हिंसा नहीं है। बिना हकवाले हक न होनेसे दुखी होते हैं, हकवालेकी क्रियासे नहीं।

इसके बाद जिज्ञासु अपने हकके भोगोंमें भी सुखका अभाव देखकर उनसे वृत्ति हटाकर आत्मामें लगाये। जीवन-निर्वाह मात्रके लिये भोजन करे, जीभके स्वादके लिये नहीं। शरीर रक्षामात्रके लिये वस्त्र पहने, सुन्दरता दिखलानेके लिये नहीं। कीमती वस्त्र पहनना, बाल सँवारना, फैशनवाले कपड़े, आभूषण पहनना आदि सबका धीरे-धीरे त्याग करे। बिना स्वादका सादा भोजन करे। पाँचों इन्द्रियोंके जो सम्पूर्ण भोग हैं, उनका धीरे-धीरे त्याग करता जाय। भोगमें सुख समझकर, भोगोंमें लिपटा हुआ जीव जब उनमें सुखके बदले दुःख देखता है, तभी उनसे पीछे हट सकता है।

'भोगमें सुख है' इस प्रकारका प्रतिपादन करनेवाला साहित्य जगत्में बहुत पाया जाता है। नाटक, सिनेमा, उपन्यास, कहानी, समाचारपत्र, मासिकपत्रिका, चित्र, परम्परासे चली आयी बातों और भावनाओंने—भोगमें सुख न होनेपर भी 'उसमें सुख है' ऐसा निश्चय मनमें गहरा धँसा दिया है। जैसे शराबके नशेमें बकते हुए आदमीसे हीरेका मूल्य पूछो तो वह कुछ नहीं बता सकता—क्योंकि उसे उसका पता ही नहीं होता, उसी प्रकार भोग-सुखके नशेमें पड़े हुए जीवको आत्मसुखकी कोई कल्पना ही नहीं होती। जबतक नशा नहीं उतरता, तबतक व्यसनी यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाता कि वह कौन है। उसी प्रकार भोग-वासनामें फँसा जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता। इसलिये जिज्ञासु 'भोगमें सुख है' यह बतलानेवाले सारे सङ्गको छोड़ दे, भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ दे। अर्थात् उनके साथमें उतनी ही बात करे, जितनी व्यवहारके लिये अनिवार्य हो। दूसरी बातोंमें पड़े ही नहीं। भोग और भोगीका सङ्ग छोड़े बिना लाखों उपायोंसे भोग छूटनेवाले नहीं हैं। भोग और भोगीके सङ्गमें रहकर भोग छोड़नेकी इच्छा करनेवाले मूर्ख हैं, ससारको ठगते हैं, दम्भी हैं या वासनावाले हैं। भोग 'मुझ ज्ञानीका क्या कर लेगा' यह कहने-वाला मूर्ख है, शठ और ठग है, पामर है, दयाका पात्र है।

ज्ञानी वह है, जो भोग और भोग-वासनाको समूल छोड़ चुका है। इस प्रकार भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ते समय, भलोंको भोग त्याग करनेवाले तथा भगवत्पथमें चलनेवालोंका सग करावे। जगत्में जिसके पास जो होता है, वही दूसरोंको देता है। भोगी दूसरोंको भोग देता है, साधु दूसरोंको सज्जनता देता है, इसलिये अपनेको जैसा बनना हो, वैसा ही सङ्ग करे। आत्मज्ञानका मनन, भोगमें दुःख देखनेका अभ्यास, ससार नाशवान् और मिथ्या है—यह भावना, एकान्तवास, पवित्र स्थानमें निवास, हरिभक्ति, यथाशक्ति व्रत और उपवास, एव सत्यका सेवन करे, नीति और सदाचारका पालन करे, मुक्तों-की जीवनी तथा ईश्वरके अवतारोंकी महिमाकी कथाएँ बाँचे और सुने, साधुओंका सङ्ग करे, मृत्युभयको सदा मनमें रखे; सम्बन्धियोंके सम्बन्ध क्षणिक हैं—जाने तथा मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्या करनेके लिये आया हूँ, क्या करता हूँ और क्या करना चाहिये—इत्यादि विषयोंपर एकान्त-में बैठकर या किसी निर्लोभी, ज्ञानी साधुकी सेवामें रहकर विचार करे, लघु सात्त्विक भोजन करे। न्याय और नीतिके अनुसार, लोकनिन्दा न हो—इस प्रकारकी आजीविका करे। ऐसा कर्म करे, जो प्राणिमात्रके लिये सुखरूप हो। दया रखे, सुपात्र-को दान करे, पुण्य-कर्म करे, देवताका पूजन करे, वृद्ध, ज्ञानी, आश्रित तथा साधुकी सेवा करे, ध्यान और अभ्यास करे, जप करे, बाहर और भीतरसे पवित्र रहे, प्राणिमात्रका भला चाहे। प्राणिमात्र परमात्मस्वरूप हैं, यह जानकर सभी प्राणियोंकी यथाशक्ति अपनी क्रियाओंसे सेवा करे। इन और ऐसे ही दूसरे उपायोंसे तथा संतों एव शास्त्रोंके आज्ञानुसार आचरण करनेसे चित्त भोगोंसे हटकर धीरे-धीरे स्वरूपमें आगे बढ़ता जायगा। परमात्माकी शरणमें रहे तथा भगवान् सारी आपत्तियोंसे, भोगमात्रसे चित्तको हटाकर निजस्वरूपमें लगा लें, इसके लिये बारबार उनसे प्रार्थना करे।

शब्दकी महिमा

(लेखक—श्रीविनोबा)

शब्दकी हम बहुत कीमत करते हैं। शब्दमें जो शक्ति है, वह किसी चीजमें नहीं देखी। हमारे जीवनपर जो शब्दका असर है, उसके अनुभवसे हम यह कह रहे हैं। पाणिनिका एक सूत्र है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु
प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'

'एक शब्दका भी उच्चारण ठीक-ठीक स्वर्गमें तथा इस लोकमें भी कामधुक् होता है। अपनी इस संस्कृत भाषामें शब्द-शक्ति बहुत पहले प्रकट हुई। आपलोग जानते हैं कि अंग्रेजी भाषामें लाखों शब्दोंका संग्रह है। परन्तु वह केवल शब्द-संग्रह होता है, उससे शब्द-शक्ति प्रकट नहीं होती। एक-एक यन्त्रके असंख्य पुर्जे होते हैं। एक-एकका अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यन्त्रसे १०-१०, ५०-५० शब्दोंका उपयोग होता है। परन्तु ऐसे शब्दभंडारसे शब्दशक्ति बढ़ती है, यह नहीं। वह तो ऐसा है—जितना जीवनमें परिग्रह बढ़ेगा, कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द बढ़ेंगे। वह तो शब्दोंका ढेर ही होगा। उससे विचार-सम्पदा नहीं बढ़ती। वैसे अंग्रेजीमें विचार-सम्पदा बहुत है। लेकिन हम संस्कृतमें जो शब्दकी महिमा देखते हैं, वह महिमा वहाँ नहीं है। ५० नयी-नयी चीजें बनेंगी तो ५० नये शब्द उनके लिये होंगे। परन्तु ऐसे शब्दके संग्रहसे व्यर्थ परिग्रह हो जाता है। यह अब पाश्चात्त्य लोग भी समझ गये हैं। इसलिये आप एक-एक यन्त्रके एक-एक पुर्जेको नाम नहीं देते। ऑकड़ोंमें नाम देते हैं। किसी यन्त्रका पुर्जा खरीदना है तो कहेंगे फलाने यन्त्रका पुर्जा नम्बर फलाना-फलाना। ऑकड़ोंमें ही माँग की जायगी। इस तरह यन्त्रोंके पुर्जोंके अनेक नाम देनेके बजाय ऑकड़ोंसे काम लेने लगे। परन्तु संस्कृतमें हम क्या देखते हैं?

संस्कृतमें विचारके प्रतिनिधि रूपमें शब्द बनाये गये हैं। उदाहरणके लिये पृथ्वी' एक 'जमीन' है। इंग्लिशमें कहते हैं 'अर्थ', लैटिनमें कहेंगे 'टेरा'। इस तरह एक शब्द 'अर्थ' और एक शब्द 'टेरा'। लेकिन संस्कृतमें पृथ्वीके लिये पचास शब्द मिल जाते हैं। 'पृथ्वी' यानी फैली हुई। 'धरा'—धारण करनेवाली। 'भूमि'—तरह-तरहके पदार्थोंको जन्म देनेवाली। 'गुर्वी'—भारी, वजनदार। 'उर्वी'—विशाल। 'क्षमा'—सहन करनेवाली। हम लात मारते हैं तो भी वह सहन करती है। इस प्रकार एक एक शब्द एक-एक गुणका वाचक है। एक-एक शब्दके साथ उसका एक-एक गुण ध्यानमें आयेगा। अब कवि कवितामें कोई भी शब्द रख देते हैं। देखते हैं कितनी मात्राका शब्द चाहिये। इतनी मात्राका चाहिये तो वे रख देते हैं कवितामें और एक छन्द बना लेते हैं। समझते हैं कि छन्द बनानेके लिये ही इतने शब्द हैं। ये छन्दके लिये नहीं हैं। विशेष गुणदर्शनके लिये, एक-एक वस्तुके लिये अनेक शब्द हैं। जब हम व्यापक फैली हुई 'पृथ्वी' कहते हैं, तब हम उस पदार्थकी तरफ आदरसे देखने लगते हैं।

इस तरह संस्कृत-शब्दोंमें विचार भरा है। इसलिये हरेक शब्द हमसे बात करता है। इस तरह अंग्रेजी-शब्द बात नहीं करता। 'वाटर' शब्द हमसे बात नहीं करता। हम ही उससे बात करें तो बात अलग है। लेकिन संस्कृत-शब्द हमसे बात करने लगता है। 'पयः'—पोषण करनेवाला। 'पानीयम्'—तृप्त करनेवाला। 'उदकम्'—अन्दरसे बाहर आया हुआ। 'समुद्रम्' छोटा-सा शब्द दिखता है लेकिन वह बात करता है। 'सम्' यानी चारों तरफ समान फैला हुआ। 'उद्' ऊँचा उठा हुआ, ऊँचा आया हुआ पानी। 'रम्' यानी आह्लाददायक, खेलता हुआ, आनन्द-दायक है। तो 'समुद्र'=सम्+उद्+रम्। 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत्।'

वेदने कहा है—इस हृदयमें समुद्रके समान असंख्य भावनाएँ उठती हैं। यह हृदय यानी समुद्र ही है। समुद्रका दृश्य इस हृदयमें प्रकट होता है। 'घी' कहेंगे तो क्या होगा? है एक पदार्थ। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'दुग्धम्' दोहन किया हुआ, धारा रूप। 'घृतम्'—अत्यन्त पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं मे चक्षुः'। विश्वामित्र कहता है 'मेरी ऑख घी है।' अंग्रेजी या किसी दूसरी भाषामें यह नहीं देखा गया कि कोई कहे 'मेरी ऑख घी है।' 'घृतं मे चक्षुः' कहा गया तो इसका अर्थ यह है—'मेरी चक्षु इतनी पवित्र है कि उसमें किसी प्रकारका पाप ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है। वह अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ है।'

'अग्नि' यानी 'फायर'। फायर कहनेसे कुछ हुआ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि' अङ्गनादग्निः, रूप प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया। 'वह्नि' को वाहक है, ले जाता है,

संदेश-वाहक है। यज्ञमें आहुति डालते हैं तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान्‌के पास पहुँचाता है। तो 'अग्निमीळे पुरोहितम्' के बदले 'वह्निमीळे पुरोहितम्' यह नहीं चलेगा। बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा। इस तरह एक-एक शब्दका विशेष महत्त्व है। संस्कृतमें एक-एक शब्दका व्यक्तित्व है। 'पीयूषम्', 'अमृतम्' 'सुधा'—ये तीन शब्द अमृतके लिये हैं, परंतु हरेकमें विशेष अर्थका बोध होता है। 'अमरा निर्जरा देवा.' अमरकोशका आरम्भ ही इस वाक्यसे होता है। 'अमरा.' अलग है और 'निर्जरा' भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन जो बूढ़े हैं, रोगसे पीडित हैं, क्या वे अमर होना पसंद करेंगे? वे भगवान्‌से प्रार्थना करेंगे कि मुझे जल्दी ले जाओ। इसलिये 'निर्जरा.' कहा है। 'निर्जरा' यानी जरारहित। जरारहित होंगे, तब तो वे अमर हो सकते हैं।

संस्कृतका शब्दकोश भी काव्यमय है। एक शब्दकी कितनी तरहसे व्युत्पत्ति होती है! एक शब्दके अनेक अर्थ और अनेक अर्थोंका वाचक एक शब्द। इसलिये वाक्‌प्रकाशन निर्मलतासे संस्कृतमें जितना होता है, उतना शायद ही किसी दूसरी भाषामें होता होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि इस देशमें शब्द-शक्ति बहुत है। अरबी, ग्रीक, लैटिन—इनमें भी कुछ शक्ति है। उनकी संस्कृतसे कुछ तुलना हो सकती है। परंतु संस्कृतका शब्द जैसा व्याख्यान देना शुरू करता है वैसे उनके शब्द नहीं देते। 'घट' शब्द है। 'घट' यानी घड़ा। परंतु 'घट'का शरीर अर्थ भी होता है। घड़ेमें पानी रखते हैं, वैसे यह शरीरमें क्या है? पानी ही तो भरा है। हम स्वागत करते हैं पानी भरे हुए घड़ेसे, पूर्ण कुम्भसे। हम क्या दिखाना चाहते हैं? यह सारा हमारा हृदय भक्तिभावसे भरा है—इस अर्थमें वह 'घट' शब्द काम देगा। नानकने कहा है—'प्रभू घट-घटमें भरा है।' हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं। सब भरे हैं। ये, पता नहीं, किन चीजोंसे भरे हैं। यह भी हो सकता है कुछ नाहक चीजोंसे भी भरे होंगे। कहनेका मतलब यह है कि 'घट' शब्दकी यह खूबी है। वह खूबी पॉट कहनेसे प्रकट नहीं होती, क्योंकि घटकी एक घटना है न? यह हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो 'घट' शब्द घटनाका सूचक है। इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमें अपने अंदर पैठने नहीं देते लेकिन यहाँके शब्द हमको अपनेमें प्रवेश देते हैं। इसीलिये शब्दकी शक्ति प्रकट होती है।

'चक्षु' शब्द है। 'चक्ष' धातु निर्मलता, स्वच्छताका द्योतक है। आँखसे हम जितना बोलते हैं, उतना मुँहसे नहीं बोलते। हमको गुस्सा आता है, तो आँख बोलती है, अंदर करुणा है तो आँख बोलती है। शब्दसे अधिक प्रकाश आँख देती है। उसी तरह 'व्याचक्षत' का अर्थ है व्याख्यान देना। चक्षुसे ही 'व्याख्यान' शब्द निकला है। हम हिंदुस्तानके लोग उतना व्याख्यान सुनना नहीं चाहते, जितनी हमारी महापुरुषोंके दर्शनपर श्रद्धा है। उनके आँखसे जो दिखता है, वह किसीसे भी प्रकट नहीं होता। उनकी आँखोंमें कारुण्य भरा रहता है। 'कारुण्य' यानी क्या? मर्सी, काईन्डनेस—कुछ भी कहें, वह अर्थ प्रकट नहीं होता। परंतु 'करुणा' क्या कहती है? कुछ-न-कुछ करनेकी प्रेरणा देती है। हृदयमें प्रेम है। परंतु करनेकी प्रेरणा नहीं, तो वह करुणा नहीं। करुणा चुप नहीं बैठती। लोग पूछते हैं 'बाबा घूमता क्यों है? थकता कैसे नहीं इतना घूमनेपर भी?' तो यह करुणा है, जो घुमाती है। वह कुछ करनेके लिये बाबाको प्रेरित करती है। वह उसे बैठने नहीं देती। किसी बच्चेको बिच्छूने काटा तो क्या हम देखते ही रह जाते हैं? एकदम सेवा करनेके लिये दौड़े जाते हैं। करुणा हमें आसनपर बैठा नहीं रहने देती, उठनेकी ही प्रेरणा देती है। अब यह हमारी 'बुद्धि' है। वह बोध देती है, यह उसका विशेष लक्षण है। अपने सामने शुभ्र वस्त्र हम देखते हैं। शुभ्र यानी क्या? 'शुभ्र' यानी पवित्र। 'शुभ्र' का अर्थ सिर्फ 'व्हाइट' नहीं। 'शुभ' शब्दके साथ उसका सम्बन्ध है। शोभासे ही उसका सम्बन्ध है। तो सौन्दर्य-पावित्र्य एक कर दिये गये हैं। सामने 'शुक्र' का आकाशमें उदय होता है। शुक्र पवित्र है। 'शुचि' शब्दसे 'शुक्र' हुआ है। उसे देखते हैं तो पावित्र्यकी भावना प्रकट होती है। अब 'सूर्य' है, वह प्रेरणा देता है। 'सू' धातुसे 'सूर्य' बना। 'सू' यानी प्रेरणा देना। 'मित्र' शब्द है। मित्र क्या करता है? प्रेम करता है। सूर्यको 'मित्र' संज्ञा हिंदुस्तानके लोग देते हैं। उसकी किरणोंसे उनके प्रखर होते हुए भी हम घबराते नहीं। मित्र तो वे होते हैं, जो हमसे कार्य कराते हैं। हम सोते रहते हैं तो वह जगाता है, बैठे हैं तो काम करवायेगा। यह सारा यत्न करनेवाला मित्र है। तो 'मित्र' संज्ञा केवल सूर्य-वाचक ही नहीं है, प्रेमसे सबकी सेवा करनेवाला—ऐसा भी अर्थ उसमें आता है। हम यहाँ बैठे हैं। कमरेके दरवाजे बंद हैं, सूर्य वहाँ उग रहा है। वह क्या करता है? बाहर ही बैठ जाता है। हमारी सेवा करना चाहता है। सेवकके नाते हमारे दरवाजेपर हाथ रखकर खड़ा रहता है। हम थोड़ा सा

दरवाजा खोलेंगे तो थोड़ा-सा ही अंदर आयेगा। एकदम पूरा खोल देंगे तो अंदर मुक्त प्रवेश करेगा। परंतु दरवाजा बंद है, इस वास्ते धक्का नहीं देगा दरवाजेको। खड़ा रहेगा बाहर। यह 'मित्र' की मर्यादा है। कभी गैरहाजिर नहीं रहेगा। स्वामी चाहे सोता रहे देरतक, पर वह नहीं सोयेगा। इस तरह सेवकका पूरा चित्र दर्पणमें हम देख सकते हैं। इस प्रकार शब्द हमसे बोलते हैं।

इस प्रकारकी साहित्य-शक्ति भारतमें है, इधर आपका अभीतक ध्यान नहीं गया। ध्यान तबतक नहीं जायगा, जबतक हम जीवनके अंदर प्रवेश नहीं करेंगे। 'सुमन' माने उत्तम पुष्प। उसे हम अर्पण करते हैं। यानी हमारा स्वच्छ निर्मल जो मन है, उसे हम अर्पण करते हैं। यह 'सुमन' की खूबी दूसरे शब्दोंमें नहीं है। यह सब ध्यानमें रखकर हमको हमारा चिन्तन ठीक ढंगसे करना है। तभी हिंदुस्तानका चिन्तन दूसरे देशोंसे भिन्न होगा।

आज क्या कहते हैं? बाहरसे—'इम्पोर्टेड' शब्द लाते हैं। उन शब्दोंको हम अपनी भाषामें ठूँसते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे जीवनमें वह शब्द ऐसिमिलेट नहीं होता।

अब सेक्युलर स्टेटकी कल्पना है। बिल्कुल एकाङ्गी कल्पना है। वह हमको ऐसिमिलेट नहीं हो सकती। यूरोपमें वैसी परिस्थिति थी तो वहाँ वैसा रिवाज चल सकता था। हिंदुस्तानमें 'धर्म' शब्द निकला। धर्म माने क्या? 'सबको धारण करना'। स्टेटको भी धारण करना है। स्टेटका धर्मसे ताल्लुक नहीं, ऐसा कोई कहता है तो उसका हिंदुस्तानमें बिल्कुल ही अलग अर्थ होता है। ऐसा है क्या कि सेक्युलर यानी परलोकका विचार नहीं करना चाहिये, इहलोकका विचार करनेवाली ही यह संस्था है? फिर भी एकता, समताको मानते हैं। यानी यह विरोधी कल्पना कैसे मान सकते हैं? इहलोककी प्रतिष्ठा करेंगे और सबको समान वोटका अधिकार देंगे तो, अब बताइये, समान वोट-अधिकारका अधिष्ठान क्या भौतिक सृष्टिके अनुकूल है? इसका उत्तर उनके पास नहीं है। बाह्य समानता तो किसी भी हालतमें नहीं हो सकती, क्योंकि एक शख्स बलवान् होता है तो दूसरा दुर्बल। तो हमारे शरीरसे इनका सम्बन्ध नहीं है। अब बुद्धिके आधारपर निर्णय किया गया हो तो किसीको बुद्धि होती है, किसीको नहीं होती। एक घरमें ज्ञानी भी होता है और अज्ञानी भी होता है। तो क्या न्याय है सबको एक वोटका अधिकार देनेका? इसका उत्तर आध्यात्मिक सृष्टिमें गये बिना मिलेगा नहीं। जहाँ आपने एक वोटका अधिकार सबको दिया है, वहाँ आत्मिक एकता आपने कबूल की। अगर बुद्धितक ही आप सीमित रहना चाहते हैं 'तो हरेक मनुष्यको एक वोट' यह विचार समाप्त हो जाता है। फिर भी सबको एक वोट दिया गया है। तो क्या साम्य देखा आपने? क्या भौतिक साम्य देखा है? नहीं। आत्मिक साम्य देखा है? इसका मतलब यह है कि आपने आत्माकी एकता मान्य की। तो हम केवल भौतिक चिन्तन करते हैं, यह दावा नहीं रह सकता। यानी सेक्युलर स्टेटमें 'स्पिरिच्यूअल व्हैल्यू' मान्य की। 'सेक्युलर स्टेट' शब्दकी न्यूनता ध्यानमें आयी, तब सबको एक वोटका अधिकार दिया गया। ठीक शब्दोंका उपयोग करते हैं तो ठीक है। अन्यथा उससे गलत भी धारणा होती है। 'इंडिपेंडेंस' यह कितना निकम्मा शब्द है। दुनियामें क्या होता है? हर शख्स एक दूसरेपर अवलम्बित है—तो कहाँ है इंडिपेंडेंस वहाँ। लेकिन स्वराज्य पाजिटिव अर्थ बताता है। स्वयमेव राज वह होता है। वह स्वयं प्रकाशित होता है। आज यहाँ तो हम परदेशकी ही बुद्धि लेते हैं, तो यह स्वराज्य कैसा होगा? केवल हमारा राज हम चलाते हैं, इतनेसे हो गया स्वराज? वेदमें आदित्यको स्वराज्यकी उपमा दी है। सूर्य है 'स्वराट्', क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित है। चन्द्र है पर-प्रकाशित। वेदमें अम्भृणी सूक्तमें कहा गया है—'यतेमहि स्वराज्ये'—'स्वराज्यके लिये हम यत्न करें'। आप क्या समझते हैं—उस जमानेमें किसीका उन ऋषियोंपर राज्य था कि वे परतन्त्र थे? ऐसा अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जबतक बुद्धि आत्मनिष्ठ नहीं होती, तबतक स्वराज्य नहीं। अंदरसे प्रकाश मिलेगा, तब स्वराज्य प्रकट होगा। परंतु आप कहते हैं इंडिपेंडेंस, परंतु किसीका किसीसे बनता नहीं।

अब कहते हैं 'सोशलिस्टिक स्टेट' बनाना है। हिटलरका भी एक प्रकारका 'सोशलिज्म ही' था। शब्दसे कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। व्यक्तिको समाजसे अलग निकालते हैं और समाजको व्यक्तिसे अलग समझते हैं तो कैसा अर्थ निकलेगा? पहले जो कल्पनासे अलग नहीं हो सकते, उनको अलग कर दिया और फिर दोनोंके बीचका झगड़ा मान्य किया। अब कहते हैं, उसको मिटानेके लिये 'सोशलिज्म' लाना चाहिये।

आज हरेक अपना-अपना इन्टरेस्ट देखता है। सारा चिन्तन ही गलत ढंगका चल रहा है। जबतक हम अपने

शब्दकी शक्ति नहीं पहचानेंगे और पश्चिमसे शब्द लेते जायँगे, तबतक हमारा चिन्तन ऐसा ही गलत ढगसे जारी रहेगा। हम अपने शब्दोंमें चिन्तन करेंगे तो सारी दुनियासे हमारा चिन्तन मित्र रहेगा। यह सारा साहित्यिकोंको करना है। अंग्रेजी, चीनी, जापानी, फ्रेंच—अनेक भाषाओंमें साहित्य है। यह ठीक है—जो अच्छी चीज है, हमारे लायक है, वह वहाँसे लेनी चाहिये। ऐसी ही चीज हम लें कि जो हमारे शब्दोंमें पैठती है। अगर वह चीज हमारे शब्दोंमें ठीक पैठती है तो वह कल्पना हमारे लिये ठीक है, अगर नहीं पैठती तो गलत है। बहुत-से गलत शब्द हमारे चिन्तनमें पैठ गये हैं। परिणामस्वरूप गलत चिन्तन होता है। इसलिये शब्द-साधनका कार्य साहित्यिकोंको करना चाहिये। ठीक शब्द लोगोंके सामने रखने चाहिये। तब बहुत-से झगड़े मिटेंगे।

आज एक भाईने हमसे कहा 'अनेक संत पुरुष हो गये। उन्होंने कई बातें कही हैं। परंतु बिना फोर्स क्या कोई काम हो सकता है?' यह सोचनेकी बात है कि इतने संत-महात्मा हो गये, इसीलिये हम आज जैसे हैं, वैसे बने हैं। अगर वे नहीं होते तो हम जानवर बने रहते। सोचते नहीं, हम कहाँसे कहाँ आये हैं। महाभारतमें प्रसङ्ग है। सवाल उपस्थित हुआ कि पत्नीपर पतिका हक है कि नहीं। कठिन सवाल मालूम हुआ। बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वान् वहाँ थे, परंतु 'भीष्म, द्रोण, विदुर भए विसित'—कोई भी उसका जवाब नहीं दे सका। परंतु आजका बच्चा-बच्चा उसका जवाब जानता है। विदुर यानी क्या? पाणिनिका सूत्र है—'यथा विदुर-भिदुरौ।' अत्यन्त भेद करनेमें प्रवीणको भिदुर कहते हैं। भिदुर यानी तोड़ने फोड़नेवाला। तोडने फोड़नेवाला तो वज्र होता है। वज्रको 'भिदुर' कहते हैं। सूत्रमें यही बताया गया है कि विद् और भिद्—ये ही दो एमे धातु हैं, जिनसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर विशेष अर्थवाले शब्द बने हैं। 'भिद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर भिदुर' बना, जिसका अर्थ होता है भेदन करनेमें प्रवीण। और 'विद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर 'विदुर' बना, जिसका अर्थ है—महाज्ञानी। ऐसा महाज्ञानी वहाँ बैठा है, फिर भी निर्णय नहीं हो सका। सवाल यही था कि 'चैतन्यमय प्राणको बाजीपर लगा सकते हैं कि नहीं' धर्म-राज धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ राजा थे। उनको द्यूतका निमन्त्रण दिया गया तो वे 'नहीं' न कह सके। समझते थे कि 'नहीं' कहना धर्मके विरुद्ध है। आज तो कानून भी कहेगा कि द्यूत खेलना 'इल्लिगल' है, 'इम्मारल' है। लेकिन उस वक्त युधिष्ठिर 'नहीं' न कह सके। डर था अधर्म होगा। कितनी छोटी छोटी कल्पनाएँ थीं। परंतु वहाँसे आप हम यहाँतक आये हैं। यह सारा सत्पुरुषोंका कार्य है।

आज दुनियामें सब 'वर्ल्ड-पीस'के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन बनता कुछ नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि संतो-महापुरुषोंने जो कार्य किया, उसका कुछ भी असर नहीं हुआ है। 'पीस' इसलिये नहीं है, क्योंकि उस शब्दमें कुछ भी अर्थ नहीं है। वह शब्द ही अर्थशून्य है। जिसको हम 'शान्ति' कहते हैं, वह 'पीस' नहीं है। × ···× ·

×··· ···× किसी देशपर व्यापारी-बहिष्कार डालते हैं। यह बिल्कुल 'पीसफुल ऐक्शन' है। लेकिन इसमें भी हिंसा होती है। तो यह शान्ति नहीं है। तो 'शान्ति' शब्द-का 'पीस'के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। 'पीसफुल' यानी प्रत्यक्ष लाठी नहीं चलायेंगे, अपितु युक्ति-प्रयुक्तिसे किया हुआ काम भी 'पीसफुल' माना जाता है। इसलिये 'पीस' विश्व-शान्ति करनेमें निकम्मी है। पाश्चात्त्य शब्दके परिणाम-स्वरूप हमारे चिन्तनमें सारे विचार-दोष आते हैं। इसीलिये साहित्यिकोंके सामने इतना ही कहना है कि आप शब्द-शुचित्वकी तरफ ध्यान दें। शुद्ध शब्दका आविष्कार होगा तो आचार-विचार शुद्ध होगा।

एक भाईने हमसे पूछा—'तुम दान क्यों माँगते हो?' यह सवाल ही क्यों पैदा होता है? दानका अर्थ मालूम नहीं, इस वास्ते यह सवाल पैदा होता है। शंकराचार्यने दानका अर्थ बताया है—'दानं संविभाजनम्'। 'दा' धातुका अर्थ ही 'विभाजन' होता है। 'दा' का अर्थ है—दो टुकड़े करना। विभाजन करना—यह मूल अर्थ है। अब ये सारी चीजें मालूम हों, तब तो शङ्का नहीं आयेगी। यह मालूम नहीं है, इसलिये दान खराब मालूम होता है। दया खराब, करुणा खराब, वैराग्य खराब, संन्यास खराब। तो बताइये, क्या अच्छा है? यानी इससे अच्छे-से-अच्छे अर्थवाले शब्द खतम हो गये। तो आखिर बचा क्या? इसलिये हमको लगा कि हम कुछ अपने विचार आपके सामने रख दें।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(४)

रचनात्मक विचारधारा

रचनात्मक विचारधाराके द्वारा हम अपना और दूसरोंका जीवन निर्माण करते हैं। भविष्यके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण रखनेसे ही हम उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करनेमें समर्थ होते हैं। जो स्वप्न हम विश्वासपूर्वक देखते हैं, वे भौतिक रूप धारण करके हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं। विश्वास हमारे लिये सफलताके द्वार खोलता है। विश्वासके द्वारा ही हम भगवान्‌के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ होते हैं। जैसा हमारा विश्वास होता है, वैसी ही सफलता हमें प्राप्त होती है। परंतु समस्या तो यह है कि विश्वास कैसे उत्पन्न हो। समस्त सिद्धियोंका साधन विश्वास है, परंतु विश्वासका साधन क्या है ?

हमारा विश्वास हमारे मनकी एक अवस्था है। मनकी एक अवस्था होनेके कारण यह चाहे जब उत्पन्न किया जा सकता है। अपने मनको हम जैसी आज्ञा देते हैं, वैसा ही विश्वास वह करने लगता है। जैसे विचार हम प्रायः करते रहते हैं, वैसा ही हमारा विश्वास बन जाता है। हमारे मनमें आनेवाला प्रत्येक विचार अपनी छाप छोड़ जाता है। अतः हमें अपने मनको रचनात्मक विचारोंमें लगाना चाहिये। जब हम एक लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं और उसको प्राप्त करनेके लिये योजना बनाकर कार्य करने लगते हैं, तब हमारा विश्वास बढ़ने लगता है। प्रयत्न करनेसे हमारा विश्वास दृढ होता है और विश्वास दृढ होनेसे सफलता प्राप्त होती है।

प्रयत्न करनेका सबसे बड़ा लाभ यही है कि इससे हमारे मनमें निरन्तर सफलताके विचार आते रहते हैं, जिससे हमें सफलता प्राप्त करनेका पूर्ण विश्वास हो जाता है। हमें सदैव सफलता, समृद्धि और विजयके ही विचार करने चाहिये। अपनी समस्त रचनात्मक शक्तियोंको जाग्रत्, एकाग्र और क्रियाशील करके अपने निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़नेसे हमारे मनमें सफलता और विजयके ही विचार आते हैं। जैसे विचार हम बार-बार मनमें लाते हैं, वैसी ही शक्तियाँ इस अनन्त ब्रह्माण्डसे हमारी ओर आकर्षित होती हैं और हमारे स्थिर विचारको स्थूल रूप प्रदान करती हैं।

किसी एक ही विचारको बार-बार दोहरानेसे वह विचार दिन-पर-दिन शक्तिशाली होता जाता है। उसी विचारको जब अनेक व्यक्ति मिलकर दोहराते हैं, तब वह और भी शीघ्र मूर्तरूप धारण कर लेता है। जो राष्ट्र मिलकर सहयोगपूर्वक राष्ट्रनिर्माणकी योजनाओंको उठाते हैं, वे शीघ्र उन्नतिके शिखर-पर पहुँच जाते हैं। लेखक और वक्ता जिस प्रकारके विचारों-का प्रचार जनतामें करते हैं, वैसे ही भविष्यकी ओर वे संसार-को ले जाते हैं। आज संसारके ऊपर जो अणु-युद्धकी विभीषिका छायी हुई है, उससे त्राणका उपाय यही है कि आजके नेता और पत्रकार युद्धकी शब्दावलीको त्यागकर शान्ति और सहयोगकी शब्दावलीमें विचार करना और लिखना-बोलना प्रारम्भ करें। पारस्परिक सहयोगके नारोंका प्रचार करके ही हम विश्वको भावी स्वर्ग-युगकी ओर ले जा सकते हैं।

ईश्वरकी अनन्त शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए हमें विश्व-शान्तिके लिये संकल्प और उद्योग करना चाहिये। करुणामय प्रभुसे हमें प्रार्थना करनी चाहिये कि मनुष्य-जातिमें भगवद्भक्तिका प्रसार हो और सबको सुख, समृद्धि और शान्ति प्राप्त हो। जैसी हम प्रार्थना करें, वैसी ही कल्पनाएँ भी करनी चाहिये। कल्पना हमारी आत्माकी निर्माणशाला है। कल्पनाद्वारा निर्मित मूर्तिमें जब विश्वास जीवन डाल देता है, तब हमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

अपने और दूसरोंके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोणका यही अर्थ है कि हम उज्ज्वल भविष्यके चित्र अपनी कल्पना-दृष्टिके सामने रखें। दूसरोंके प्रति शुभ कामनाका वास्तविक रूप यही है कि हम उनके उज्ज्वल भविष्यमें विश्वास करें। जिसके सुखमय भविष्यमें हमारा विश्वास ही नहीं है, उसके प्रति हमारी शुभ कामनाका कोई मूल्य नहीं है। विश्वासके बिना शुभ कामना या प्रार्थनाके शब्द थोथे होते हैं। कोई संत जब किसी दुष्टके उद्धारके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी प्रार्थना इसीलिये सफल होती है कि वे उसको दुष्टके रूपमें नहीं, बल्कि एक सज्जनके ही रूपमें देखते हैं। वे उसकी अच्छाइयोंको ही देखते हैं, जिससे वे अच्छाइयाँ बढ़ती जाती हैं और बुराइयोंको निकाल बाहर करती हैं।

रचनात्मक दृष्टिकोणवाला मनुष्य जब किसीके अदर कोई दुर्गुण देख लेता है, तब यही विचार करता है कि इसके अदर सद्गुण कैसे जागेंगे। इसी प्रकार जब वह किसीको कष्टमें पड़े हुए पाता है, तब विचार करता है कि इसको सुखमय जीवनका स्वर्णिम प्रभात कब दिखायी देगा। जब वह देखता है कि कोई व्यक्ति अपने उद्योगमें असफल हो गया है, तब उस असफलताको वह अस्थायी असफलता मानता है और उसके कारणोंका विश्लेषण करके उस असफल व्यक्तिको पुन उद्योगकी ओर उत्साहित करता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति किसी असफलताको अन्तिम असफलता नहीं मानता, बल्कि प्रत्येक असफलतासे शिक्षा ग्रहण करके उसको अन्तिम सफलताकी सीढ़ी बना लेता है। बिगड़ी हुईको बनाने तथा बनी हुईको और सुन्दर बनानेकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह जिधरसे भी निकल जाता है, उधर ही अपने रचनात्मक दृष्टिकोणसे अमृत-वर्षा करता जाता है।

इस ससारमें हम जिस व्यक्तिके प्रति जैसा दृष्टिकोण रखते हैं, वह हमारे लिये वैसा ही सिद्ध होता है। जिसको भी हम अपना मित्र समझते हैं, वह हमारा मित्र सिद्ध होता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति सबको मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे देखता है और सबको अपना मित्र बना लेता है। यही बात अन्य वस्तुओं और घटनाओंके विषयमें भी सत्य है। मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण रखनेसे समस्त वस्तुएँ और घटनाएँ हमारे लिये मङ्गलमय सिद्ध होती हैं।

इतना ही नहीं, जिस वस्तुका हम जिस रूपमें कुछ समयतक एकाग्रचित्तसे ध्यान करते रहते हैं, एक निश्चित अवधिके बाद वह वस्तु वैसी ही बन जाती है। इस विषयमें वेदका वचन है—

> स मनसा ध्यायेद् यद् वा अह किंचन मनसा।
> ध्यास्यामि, तथैव तद् भविष्यति तद्ध स्म तथैव भवति॥
>
> (गोपथ ब्राह्मण पू० १।९)

अर्थात् पुरुष मनमें सकल्प करे—मैं जिस वस्तुका मनसे जिस रूपमें ध्यान करूँगा, वह वैसी ही बन जायगी। वस्तुतः वह वस्तु वैसी ही बन जाती है।

भगवान् मङ्गलमय हैं और उनका विधान मङ्गलमय है। यह समस्त सृष्टि उनकी रचना है, अतः इसकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना सदैव सबके लिये मङ्गलमय है। सबका अभ्युदय और कल्याण अवश्य होगा। सुखमय जीवनके द्वार सबके लिये सदैव खुले हुए हैं। उस ओरसे हमने ही स्वय अपने द्वार अभीतक बद कर रखे थे। आइये, अपने विश्वासके द्वारको खोलकर हम भगवान्के राज्यमें प्रवेश करें।

हे मन! तू रचनात्मक विचारधाराको अपना ले और भगवान्की अपार करुणामें विश्वास कर। सबके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना कर तथा सबके उज्ज्वल भविष्यके स्वप्न देख। सब जीव भगवान्के प्यारे हैं और सबके योगक्षेमकी व्यवस्था भगवान्ने कर रखी है। सबको अपने कर्तव्यपालनकी योग्यता भगवान्ने दी है और वे सबका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आरोग्य और सौभाग्यका स्रोत हमें प्राप्त हो गया है। भगवान् ही सुख और समृद्धिके अनन्त भण्डार हैं। उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करके हम अब पूर्णतया प्रसन्न और आनन्दमग्न हैं। हम पूर्णतया स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

पीतपट मैं लिपटिगौ

मजुल मुकुट केर निकट घरीक रह्यौ,
उत तें उचटि लौनी लटनि मैं लटिगौ।
कहै 'बलभद्र' लौनी लट तें उलटि फेरि,
ग्रीवा कल कंठ की निकाई मैं सिमटिगौ॥
भूल्यौ भूल्यौ फिरयौ फेरि भाई सी भुजानि बीच,
अगुरीन नाभी तें अचाक आइ डटिगौ।
कब कौ भुलायौ मन अटक्यौ निपट आली,
कटि के निकट पीतपट मैं लिपटिगौ॥

अध्यात्मशास्त्रका राजमार्ग

(लेखक—सेठ मोतीलाल माणेकचन्द, उर्फ श्रीप्रताप सेठ)

'मैं हूँ या नहीं' इस सम्बन्धमें तो बुद्धिका कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि इस 'मैं' के अस्तित्वके सम्बन्धमें बुद्धिका यह दृढ निश्चय कि 'अभी तो मै हूँ ही' ज्ञानसे यानी कार्य-कारणसे नहीं हुआ। यह पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका निश्चय बुद्धिके जन्मसे ही है। इसके विपरीत हमे 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी शक्य नहीं है, क्योंकि ऐसा अनुभव तो तभी हो सकता है, जब 'मैं हूँ' यह अनुभव न रहे परंतु 'मैं हूँ' यह अनुभव तो मृत्युमें भी नहीं छूटता। इसीलिये तो मृत्यु कोई चीज नहीं है, क्योंकि 'मैं' यानी आत्मा मृत्युके तथा जगत्‌के भी पहले पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका अनुभव है। इसलिये 'मैं हूँ', इसके विपरीत 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव हमें कदापि नहीं हो सकता। परंतु बुद्धि जब उस 'मैं' को विषयदृष्टिसे देखती है, तब वह 'मैं' नित्य अविनाशी है अथवा मरणशील है—ऐसा प्रश्न बुद्धिमें उत्पन्न होता है। जबतक 'मैं' बुद्धिकी कक्षामें है, तबतक यह कैसे माना जाय कि कल 'मैं मर नहीं जाऊँगा।' इस प्रश्नका मिट जाना सम्भव नहीं। कदाचित् यह प्रश्न मिटेगा भी तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध आये बिना नहीं रहेगा। यानी 'मैं' को जाननेमें जाननेवाला भी 'मैं' ही और जाननेकी वस्तु भी 'मैं' ही—ऐसा कर्ता-कर्म विरोध आता है और यह विरोध अनुभवकी दृष्टिसे ग्राह्य नहीं है।

'मैं' को बौद्धिक ज्ञानसे जाननेमें दूसरी अड़चन यह आती है कि वस्तुका ज्ञान होनेमें, वस्तुको कैसा विपर्यस्त स्वरूप प्राप्त होता है, यह जान लेना अध्यात्मशास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। परंतु वस्तुके पूर्व स्वरूपको और वस्तुज्ञानके पश्चात्‌के उसके स्वरूपको हम जान नहीं सकेंगे; क्योंकि वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेकी कोशिश हम ज्ञानसे ही करेंगे, परंतु ज्ञानमें आते ही वह वस्तु विपर्यस्त हो जाती है। इसलिये वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेके लिये हमें अनुभवका ही सहारा लेना पड़ेगा।

वस्तुका मूल-स्वरूप ज्ञानमें आते समय कैसे विपर्यस्त हो जाता है, यह बात जहाँ ज्ञान नहीं रहता परंतु अनुभव मात्र रहता है, वहीं जान सकते हैं। वे स्थितियाँ केवल दो ही हैं—

एक तो सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता, परंतु अनुभव मात्र रहता है, क्योंकि सुषुप्तिसे उठनेके बाद हम 'सुखसे सोये थे' इस सुषुप्तिके अनुभवको हम बतलाते हैं। इसमें सापेक्षता नहीं है, केवल अनुभवमात्र है। और इससे सुषुप्तिमें केवल अनुभव मात्र ही था, ज्ञान नहीं था—यह सिद्ध होता है। सुषुप्तिमें 'मैं' कुछ भी नहीं जानता था, वहाँ अन्धकारमय स्थिति थी, आदि-आदि बातें हम जागनेके बाद जागृतिकी अपेक्षासे ही कहते हैं और इन सब सापेक्ष बातोंसे ही सुषुप्ति-स्वरूप बनता है। इससे आप समझ सकेंगे कि सुषुप्तिका मूलमे कोई स्वरूप ही नहीं था और न कोई अर्थ ही था। वह तो केवल आत्म-स्थितिमात्र थी। परंतु जाग्रत् होनेके बाद जब सुषुप्ति ज्ञानमे आयी, तभी वह विपर्यस्त हो गयी यानी ज्ञानमें आनेपर उसको सुषुप्तिका रूप और सुषुप्तिका अर्थ मिल गया।

वस्तु या क्रिया ज्ञानमें आते समय ही विपर्यस्त हो जाती है, इसके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है—

व्यवहारमें हमारी हजारों क्रियाएँ होती हैं, परंतु क्रियाके होते समय हमको उन क्रियाओंका ज्ञान नहीं रहता। यानी हमने अमुक क्रिया की—ऐसा ज्ञान क्रिया करते समय नहीं रहता। हमने अमुक क्रिया की, ऐसा ज्ञान क्रियाके बाद ही होता है और वह उचित ही है, क्योंकि जिस वस्तु या क्रियाका ज्ञान होता है, वह वस्तु या क्रिया ज्ञान होनेसे पहले ही होनी चाहिये, इस बातको तो सभी जानते हैं। परंतु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त हो जाती है, यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। क्रिया होते समय न तो उसका रूप रहता है और न कोई अर्थ ही रहता है। रूप और अर्थ ज्ञानमें ही आते हैं और बादमें हम कहते है कि हमने अमुक क्रिया की।

अध्यात्मका अभ्यास करनेवालोंसे सविनय निवेदन है कि (१) आत्माका लक्षण और (२) वस्तु या क्रियाका ज्ञानमें आते ही विपर्यास हो जाना ये—दोनों बातें उन्हें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यानी हमारे ज्ञानमें शुद्ध वस्तु तो कभी आती ही नहीं। जो आती है, वह विपर्यस्त होकर ही आती है।

उपर्युक्त दोनों बातें अध्यात्मके साधकोंको खूब अच्छी तरह ध्यानमें रखनी चाहिये और सदा इसका विचार करते रहना चाहिये। तभी उनकी अध्यात्मसाधनामे

प्रगति होगी । अध्यात्म-साधनमें ये दोनों बातें बहुत ही उपयोगी हैं । 'आत्माके वैलक्षण्य' इस पहली बातकी अपेक्षा 'ज्ञानमें आनेवाली सभी बातें विपर्यस्त होकर ही आती हैं'—यह दूसरी बात अधिक विचार करने योग्य है क्योंकि ज्ञानमें आनेवाली वस्तु या क्रियामात्र विपर्यस्त होकर आती हैं, परन्तु वे विपर्यस्त होकर आती हैं यह बात हमारे ध्यानमें आती ही नहीं । और यह सम्पूर्ण जगत् इसी विपरीतताका ही परिणाम है । इसलिये अध्यात्मके साधकोंको इन दोनों बातों-पर खूब विचार करना चाहिये ।

हमें जो जगत् दिखायी देता है, वह सत्य है ही—यह आप समझते हैं । परन्तु वह जगत् सत्य न होकर विपर्यस्त स्थितिमें यानी 'मैं' से पृथक् स्वरूपमें ही आपके सामने खड़ा है । वस्तुतः वह जगत् न होकर 'मैं' ही है, परन्तु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त होकर 'मैं' से पृथक् विपरीतरूप दिखायी देता है और वही 'मैं' आपको जगत्‌के स्वरूपमें दीखता है । अतएव आपको जगत्‌के स्थानपर 'ब्रह्म' यानी 'मैं' ही दीखना चाहिये और वह सहज स्थितिकी दृष्टिसे ही दीखेगा । हम सदा सहज स्थितिमें ही रहते हैं, परन्तु वहाँ जगत्‌का पता भी नहीं रहता । क्रिया होते समय यानी केवल इन्द्रियोंके देखते समय तो यह जगत् ब्रह्मस्वरूप ही रहता है । परन्तु ज्ञानमें आनेके बाद 'जगत्' रूपमें भासने लगता है ।

उपर्युक्त स्मृतिके और क्रियाके उदाहरणसे आप अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वस्तुको ज्ञानमें जब रूप और अर्थ प्राप्त होते हैं, उसके पूर्व वह वस्तु और क्रिया ब्रह्मस्वरूप ही रहती है इसलिये 'मैं'को केवल बौद्धिक ज्ञानसे न जानकर उस 'मैं' को 'मैं' की विलक्षणतासे पूर्ण ज्ञानके द्वारा ही जानना चाहिये । इसीसे 'यह कैसे माना जाय कि 'कल मैं मर नहीं जाऊँगा ।' इस प्रश्नका समाधान हो जायगा । 'मैं' का वैलक्षण्यपूर्ण ज्ञान यानी 'मैं' का कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं, 'मैं' के सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान होनेके बाद 'मैं' का कभी मरना सम्भव नहीं । 'मैं' के स्वरूपका यह ज्ञान हो जाता है । 'मैं कभी नहीं मरूँगा' इसके सम्बन्धमें आत्माके वैलक्षण्यको जान लेना यानी आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है, यह भलीभाँति समझ लेना ही आत्माका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका राजमार्ग है ।

'मैं'का ज्ञानमें आना कभी भी सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है अतः ज्ञान ही ज्ञानको कैसा जानेगा । इस प्रकार आत्माके वैलक्षण्यको जान लेना—बस, इसीको 'ज्ञान' सज्ञा देना उचित है क्योंकि आत्मस्वरूपका यही यथार्थ ज्ञान है । इसी ज्ञानको वेदोंमें 'नेति-नेति' कहा है, क्योंकि आत्मा यदि ज्ञानमें आता है तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो जाता है और ज्ञानमें जो-जो बातें आती हैं, वे सभी विपर्यस्त होकर ही आती हैं—यह ऊपर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है । ज्ञानमें कभी भी न आना ही आत्माका स्वरूप है । इस आत्मस्वरूपमें न तो कर्ता-कर्मका विरोध है, आत्मा विपर्यस्त ही होता है । अतएव 'आत्मा' कभी ज्ञानमें आता ही नहीं यह ज्ञान ही यथार्थमें 'ज्ञान' सज्ञाका पात्र है ।

> मीरू जाणू जाता तो मी न राही तत्त्वता ॥
> नसे मीला जाणण्याची अवश्यकता । मीच म्हणूनी ॥
> (ज्ञानेश्वर)

और भी एक जगह कहा है—

> मीचे ज्ञान बुद्धि मी । होणे असम्भव असे तिशी ॥
> हे दावी वैरूप्यण्याचे लक्षणाशी आणि विषया मध्ये ॥

'मैं' का यदि बुद्धिमें आना सम्भव ही नहीं तो 'मैं' का मरना भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो बात बुद्धिमें आ ही नहीं सकती, उसके लिये बुद्धि यह कैसे कह सकती है कि 'वह मरनेवाला है' । इसलिये 'मैं' जन्म-मरणके परे है, यह बात उसके वैलक्षण्यसे सिद्ध होती है । एक महाराष्ट्र कविने वैलक्षण्य-की दृष्टिके सम्बन्धमें कहा है—

> सी दृष्टिकी जिस जड़ी अजटल थारे ।
> नासाग्रदृष्टि रितो काय तिमी कथारे ॥

यहाँपर ऐसी शङ्का होना सम्भव है—"यदि आत्माका कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है—यह मानते हैं, तो फिर शास्त्रोंमें जो ऐसा कहा है कि 'ज्ञानान्मोक्षः', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यानी ज्ञानके बिना मोक्ष—कैवल्य नहीं मिलता, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं और ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं, तब फिर हम तो ऐसे-के-ऐसे ही अज्ञानी, दुःखी, कष्टपूर्वक मरने-वाले ही रह जायँगे ।' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आत्मा कभी ज्ञानमें नहीं आ सकता, यही 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'ज्ञानान्मोक्षः' में वर्णित ज्ञान है । आत्माको पूरा जाने बिना वह ज्ञानमें आता नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है । 'यह मनुष्य गोविन्द नहीं'—यों कहना तभी सम्भव है, जब गोविन्दका सच्चा ज्ञान हो । गोविन्दके ज्ञान बिना ऐसा कहना बनता ही नहीं । इसी प्रकार 'आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं' यों कहनेका अर्थ यही है कि आत्मा विलक्षण पदार्थ है,

इसलिये वह ज्ञानमें आने योग्य नहीं है। अतः यों कहनेमें आत्माका पूरा ज्ञान सिद्ध है और इस ज्ञानमें न कोई कर्ता है और न कर्म है। अत. यहाँ कर्ता-कर्म विरोध भी नहीं आता। कर्ता-कर्म-विरोध तो 'आत्मा ज्ञानमें आता है' यों माननेसे होता है। परतु आत्मा विलक्षण पदार्थ होनेके कारण ज्ञानमें आ ही नहीं सकता। इसलिये वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो ही नहीं सकता और आत्माके ज्ञानमे न आनेमे वह विपरीत भी नहीं होता। 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यों कहनेमें जो एक आत्मस्वरूपका ज्ञान है, वही दीखता है, क्योंकि 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यह ज्ञान ही बतलाता है कि वह आत्मज्ञान इतर पदार्थोंके ज्ञानके सदृश विधेयात्मक न होकर निषेधस्वरूप है अर्थात् जो-जो पदार्थ तुम्हारे ज्ञानमें आते हैं, वे सब आत्मा नहीं हैं—इस प्रकार यह निषेधात्मक ज्ञान है। अब यह बात अच्छी तरह समझमें आ गयी होगी कि कर्ता-कर्मका विरोध न हो और ज्ञान विपर्यस्त न हो, ऐसा आत्माका सच्चा ज्ञान करा देनेके लिये ही वेदोंमें 'नेति-नेति' वाक्यसे आत्माका ज्ञान करवाया गया है। यही अध्यात्म-शास्त्रका राजमार्ग है।

सर्वात्मभावकी साधना

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

इधर कुछ ही वर्षोंमें दो-दो महायुद्ध हो जानेके कारण इनके साथ किसी-न-किसी प्रकारसे सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंको किसी-न-किसी कारणसे बड़ा ही श्मशान-वैराग्य उत्पन्न हो गया है। कुछ तो परमेश्वरको भी खोजने लगे हैं, कहा भी है—'दुखमें सुमिरै सब कोई राम।' और कुछ लोग सत्य और अहिंसापर, तथा कोई वश न चलनेपर उपवासपर ही उतारू हो गये हैं। और कुछ लोग 'बातोंमें ही गढ जीत लेंगे'—यों मानकर भेंट-मुलाकात तथा बातचीतके चक्करमें पड़े हैं और मनको दिलासा देते है कि 'बातचीत तो चिरकालकी शान्तिके लिये करनी चाहिये।' कुछ नहीं तो, इसमें समय तो निकल ही जाता है। बात तो चन्द्रमा और मङ्गल ग्रहतक पहुँचनेकी होनी चाहिये। फिर जहाँतक पहुँचें, वहींतक ठीक। निस्सदेह भावनाएँ ऊँची ही होनी चाहिये और उत्साह भी खूब रखना चाहिये। अतएव एक देश 'पञ्चशील' का उपाय बतलाता है, तो दूसरा न्याय-युक्त शान्तिका उपाय बतलाता है, तीसरा खाने-पीने और आरामका ठेका लेनेवाली परोपकारी राज्यसत्ताका उपाय बतलाता है चौथा राज्यमात्र-को विघटन करने (Dissolve) का उपाय बतलाता है और पाँचवाँ इन सबके स्थानमें शान्तिके लिये एकाधिकारपूर्ण चरम प्रभु-सत्ताका उपाय बतलाता है। इसमे कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। कुछ नहीं तो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'भाई! हमने शान्तिका अमोघ उपाय बतलाया परतु लोगोंने माना नहीं, दुनिया उसके अनुसार चली नहीं, फिर हम क्या करें?' और सबके मनमें ऐसा लगता है कि यदि मेरी दवा की जाय तो कल सवेरे ही बुखार उतर जाय। ऐसी भगवान्की माया है। कहावत भी है कि 'पैसेसे कोई पूरा नहीं और अक्लसे कोई अधूरा नहीं'। और यदि इन सब डाक्टरोंको आलोचनाके लिये बुलाइये तो आपकी कोई न सुने। अन्यथा जैसे डाक्टर, वैद्य और हकीम, जलोपचारवाले, सूर्योपचारवाले, प्रकृति-चिकित्सक आदि परोक्षमें एक दूसरेकी टीका टिप्पणी करते रहते हैं, उसी प्रकार इन लोगोंकी भी टीका-टिप्पणी, निन्दा-स्तुति और छिद्रान्वेषण चलता ही रहता है। इससे खूब पढने-लिखने-वाले विद्वानोंके समान सीधे-सादे और अपढ लोग भी चक्करमें पड़ जायँ तो इनमेंसे किसको सच और ठीक मानें? और फिर ऐसा भी होता है कि प्रत्येक पक्षमें कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत गुण भी होता है—इससे चीज वैसे ही चलती रहती है।

फिर कुछ लोग अपने पास सब कुछ जानने और समझने तथा तौलनेका समय न होनेके कारण पचायतकी तरह 'भाई तुम्हारी बात ठीक है, और तुम्हारी भी ठीक है, और तुम्हारी बात भी गलत नहीं है'—इस प्रकार सबको सही बतलाकर अपनी समाधान करनेकी योग्यता स्थापित करते हैं। और कुछ लोगोंको मोलियरके नाटकके बनावटी डाक्टरके समान कोई माने या न माने, बलात् डाक्टर बनकर बैठना पड़ता है। मैं भी अपनेको इस बड़े जत्थेसे अलग नहीं करता, यदि करूँ भी तो कौन मानेगा—यद्यपि एक जगह मैंने लिखा तो है कि हमलोगोंकी शान्तिकी खोजके मार्गमें मुख्य कठिनाई इस कारणसे उत्पन्न होती है कि सारे ससारको चलानेवाले परमेश्वर—सबके कर्ता, हर्ता और भर्ताको तथा उसके बतलाये हुए सुखदायक धर्ममार्गको त्यागकर हमलोग सीधे सुख-

शान्ति और समृद्धिकी खोजमें निकल पडते है, और यह भूल करके सत्यके अन्वेषणके मार्गमें रास्तेमे ही लडखड़ाकर गिर पड़ते है। इस प्रकार बिसुक गयी गायको रखनेका फल अर्थात् केवल श्रममात्र हमारे हाथ लगता है। हमारे इस प्रयासका ऐसा ही फल होता है —

आशा ले उमरेठा गया, एक चवन्नी लाया।
दूध-सी उजली धोती खोयी, आठ कोस भटकाया॥

एक ब्राह्मणको उमरेठासे भोजन करनेके लिये चौरासीमें निमन्त्रण मिला। चार आने दक्षिणा और भोजन तो मिला, क्योंकि यही वहाँ रिवाज है, परतु नफेमें बेचारेने दूध-सी उजली धोती खो दी और आठ कोस भटकना पड़ा सो अलग। कुछ लोगोंको पुरानी लीक, राजमार्गको छोडकर इधर-उधर जानेका शौक लग जाता है, उनको भी पगडंडी छोडनेपर भटकना ही पड़ता है। किसी विरलेको भले ही मनचाही वस्तु मिले, नहीं तो प्राय दूसरोंकी झोंपड़ीमें आश्रय लेना पड़ता है, या जीवन ही बदल जाता है, अथवा बाघ-भालूके मुँहमें जाना पड़ता है, या डाकू-लुटेरोंके हाथमें पड़कर उनका गुलाम बनना पड़ता है। इसीलिये लोग लीक-लीक चलते हैं, अथवा अपनी गाड़ीको लीक-लीक चलाते हैं। ससारको सागर कहें, या वन-जगल, इसमें बिना किसी मार्गदर्शकके जानेमें नयी-नयी कठिनाई, नयी-नयी जोखिम रहती है। आज भी हममेंसे बहुत-से लोग भयके सामने आनेपर खरगोशकी तरह आँखें मूँदकर बैठ जाते हैं, परतु बड़े-बड़े लोग तो देख ही रहे है और प्रत्यक्ष कह रहे हैं कि ससार आज एक महान् भयके किनारे पहुँच गया है, जो जगत्के इतिहासमें अतुलनीय है।

इस ससारके ऊपर मँडराते हुए महान् विनाशक सग्राममें दो चीजोंकी वृद्धि हुई है—विषैले शस्त्र और विषैला मन। अणु-बम, हाइड्रोजन-बम, जहरीले कीटाणु फैलानेवाले बम, विषैली वायु फैलानेवाले बम—ये सारे विषैले शस्त्र एक ओर बढ गये हैं तो दूसरी ओर कामना, क्रोध, अधिकारके लोभ और धन लोलुपताके कारण एक दूसरेके पतन तथा विनाशकी भावनासे भरा हुआ मन है। प्राचीन कालमे जब लोगोंके मनमें काम, क्रोध और लोभकी कमी थी, तब उनकी गाड़ी लीक-लीक चलती रही तथा बहुत ईर्ष्या-द्वेष या वैर-हिंसा भी नहीं थे। कोई सिकदर या नादिरशाह या महमूद आता था तो राजाको पराजित करता था या लोगोंको लूटता था या मूर्त्तियोंको तोड़ता था और फिर वापस चला जाता था। तुम अपने घर और मैं अपने घर। परतु अब तो युद्ध बद होनेके बाद अथवा बद करनेके बाद दसों वर्ष सुलह-शान्तिकी शर्तोंमें ही चले जाते हैं। कान्फ्रेस, परिषद् और समितियोंका ताँता लगा ही रहता है। दोनों पक्ष एक दूसरेको उल्लू बनानेकी चेष्टामें रहते हैं। फिर दोनों ही समझ लेते हैं कि चलो, समय तो कटा! जैसे प्रेमीलोग समझते हैं कि 'हजारों रात बातोंमें गँवाना ही कमाई है', उसी प्रकार इनके लिये भी जितने ही दिन युद्ध टल गया, उतना ही अच्छा! कोई एक शील उपस्थित करता है तो कोई दो-तीन शील तो कोई पञ्चशीलका सुझाव रखता है। परतु कोई भी स्वय सयमका मार्ग नहीं पकडता। दूसरोंको सयममें रखनेके लिये सभी तैयार रहते हैं। कोई अधिकारी रैयतको लूटता है तो कोई अपने सस्थानोंको चूसता है और कोई जलकी भाँति लोगोंके रक्तको भी नहीं छोड़ता। इस प्रकार कोई शान्ति-सुव्यवस्थाके बहाने, कोई समृद्धिकी नदी बहानेके बहाने, कोई दूसरोंको खान-पान और धन-धामकी पूरी सुविधा कर देनेके बहाने, अपने लोगोंको या दूसरे लोगोंको कर, व्यापार या दूसरी युक्तियोंसे अपना शिकार बनाते ही रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नैतिक या धार्मिक मार्गपर चलनेसे ही अपना ठिकाना लगेगा, परतु ऐसे लोग बहुत कम हैं। ऐसा कहनेवाले भी लोग थोड़े ही हैं और फिर उसको काममें लानेवाले तो और भी थोड़े हैं। विचार करनेपर जान पड़ता है कि आजकल सनिपातवाले त्रिदोषके लक्षण स्पष्ट दीख रहे हैं। पहले भी काम, क्रोध और लोभ थे, यह ठीक है, परतु उनसे मनका दोष कुपित नहीं हुआ था। वात, पित्त और कफ—ये शरीरके मल हैं और राग-द्वेष तथा अभिनिवेश—ये मनके मल हैं। शरीरके मलके कुपित होनेपर रोग होता है और मनके मलके कुपित होनेपर मानसिक सतुलन बिगड़ जाता है। इसीलिये ससारके धन्वन्तरि कहते हैं—

सतोषस्त्रिषु कर्तव्य. स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

स्त्री, खान-पान और धनमें सतोष रखना चाहिये, तथा विद्योपासना, जप और दान देनेमें उदारता रखनी चाहिये। परतु आज तो सभीमे दौड़-धूप, उछल-कूद करके माल लूट लेनेकी कुछ ऐसी अद्भुत अभिलाषा जाग उठी है कि रावणके, राजा नलके या पाण्डवोंके समयमें भी ऐसी बात नहीं थी। यह बात तनिक-सा विचार करनेपर समझमें

आ जाती है । रावण या वालीके भाइयोंने भी तो पहले-पहल संयमका ही उपाय दिखलाया था। मुझको तो ऐसा लगता है कि आजकल जितनी ही अधिक परिषदें—पार्लामेंट होती हैं, उतना ही अधिक लोगोंमें गहरा राग-द्वेष बढ़ता जा रहा है। इस बातको तो अलग ही रहने दीजिये कि आजके लोकतन्त्रका अर्थ ही है—पक्षापक्ष, विरोध और वैरकी बालूके ऊपर खड़ी की गयी इमारत। अतएव 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के कारण तथा उसमें अनेक दलबंदियाँ होनेके कारण कोई रास्ता नहीं बन रहा है। चीनके मन्त्री चाऊ एन लाई तथा रूसके विधाता स्टालिन तो स्पष्ट कह देते हैं कि हमारे यहाँके लोकतन्त्रमें तो अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) ही है और सर्वथा ठीक है। परंतु इस बातको जाने दीजिये। तथ्य तो यह है कि मनुष्योंके मनका आयोजन ही बुरा हो गया है। इसी प्रकार राज्योंका आयोजन भी लीकसे उतर गया है और वैज्ञानिकोंकी बुद्धिका आयोजन भी गड़बड़ाध्यायके अध्ययनमें लग गया है। जितना परिश्रम वे लोग पदार्थोंके अन्वेषणके पीछे करते हैं, उतना यदि मानवके मानसके विषयमें करनेमें लगाते तो काम बन जाता। कहा भी है कि युद्धमें, बीमारीमें, श्मशानमें अथवा पुराणोंके बाँचनेमें जो मनोवृत्ति होती है, वह यदि स्थिर रह जाती तो संसारके दु:खोंके सभी झंझटोंसे लोग छूट जाते। परंतु मनरूपी हाथीको यह टेव पड़ गयी है कि नदीमें नहाकर बाहर निकलते ही वह सूँड़में धूल भर लेता है और उसे अपने शरीरपर डालने लगता है। इस प्रकार शरीरको भिगोकर पीछे उसपर सूखी धूल पोतनेमें उसे क्या मजा मिलता है, इसका पता तो उसीको होगा, अन्यथा 'अपनी-अपनी तानमें रहें सभी मस्तान' कैसे हुआ जाता।

हमारे भीतर फैले हुए राग-द्वेषकी मुख्य भूमिका यह है कि हम सबको एक दूसरेसे अलग समझते हैं। ईशोपनिषद्में जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार यदि हम यह समझते होते कि 'समस्त भूत प्राणीमात्र आत्मामें ही हैं और सब भूतोंमें एक ही आत्मा व्यापकरूपसे स्थित है', तथा प्रकृतिके वैविध्य, द्वन्द्व और संग्रामोंको प्रकृतिके थैलेमें डालकर उसको ऊँचे लटका देना है, तो फिर किसीकी निन्दा-स्तुति, पक्षापक्षी तथा लड़ाई-झगड़ेकी कल्पना ही कैसे होती। सच्चा साम्य—एकत्व तो आत्मामें ही है, शेष प्रकृतिमें तो अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, गोरे-काले, मोटे-पतले, गरीब-अमीर, मेधावी-मूर्ख, पुण्य और पाप—सब प्रकारका वैषम्य—वैविध्य है और रहेगा। एकको सम करोगे तो दूसरा उभड़ आयेगा। अर्थात् एक आत्मा सर्वत्र समान रूपमें है, उसको देखो और प्रकृतिके पीछे मत पड़ो। संसारमें जितना गहरे उतरोगे, उतना ही अधिक कीचड़में फँसोगे। लोग जानते हैं कि जिस राज्यपर विश्वास करेंगे, वही सिरपर सवार हो जायगा, अथवा अधिनायकतन्त्रका पूर्णाधिकार आ बैठेगा। स्टालिनके कारनामेकी अब निन्दा की जा रही है, परंतु काम बिगड़ जानेपर बुद्धिमानी किस कामकी। युद्धमें, शान्तिमें या सत्याग्रहमें कट मरना, गोली, अश्रुगैस या बमका शिकार होना किसीको भी पसंद नहीं है। परंतु यह सब फल है—ईश्वरको भुलाकर जगत्में तल्लीन होनेका।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सर्वात्मभावकी प्राप्तिका साधन क्या है। इसमें जादू, चमत्कार या 'एक-दो-तीन, साढ़े तीन'का हुनर लगानेका काम नहीं है। इसका उपाय प्राचीनकालसे हमारे पूर्वजोंने बता रखा है। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बतलाया है कि जबतक सर्वात्मदृष्टि नहीं हो जाती, तबतक सबको भगवान् समझकर प्रणाम करते रहना चाहिये। सारे जगत्में जहाँ-जहाँ विभूतिवाला, श्रीसम्पन्न या तेजस्वी प्राणी दीख पड़े, उसको प्रभुकी विभूति, प्रभाव या मूर्तस्वरूप समझे। यह सारा जगत् ही प्रभुरूप है, ऐसा अनुभव करे। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, जल, पृथ्वी, मनुष्य, गौ आदि प्राणी, तुलसी आदि वृक्ष—इन सबमें प्रभु व्याप्त हो रहे हैं, ऐसा अनुभव करे। इन सबोंमें जहाँ अन्तःकरण अधिक आकर्षित हो, वहीं प्रभुको, परमात्माको पूजे। इस प्रकार मूर्तिपूजाके समान घड़ी-घंटा न बजानेपर भी सर्वात्मभावका उत्तमोत्तम साधन सर्वपूजा हो जाती है और एक प्रकारसे बन्धुकी, प्रियकी, प्रियाकी अथवा प्रियके सौन्दर्यकी, सत्ताकी या समृद्धिकी, विद्याकी, कलाकी या साहित्यकी उपासना करनेवाले भी आत्माके इस महाप्रतीककी ही उपासना कर रहे हैं। मूर्तके द्वारा ही हम अमूर्तकी पूजा करते हैं। कवि तो हमको कहते ही हैं—

'आस पास आकाशमें विश्वपतीका वास।'

परंतु इस विश्वपतिको केवल आकाशमें ही नहीं देखना है। जगत्में बाहर-भीतर, चारों ओर, दसों दिशाओंमें वह भरपूर है। हम उसके भीतर, बैठकर सारी इधर-उधरकी और सुख या दुःखकी, पुण्य या पापकी हार-मालाएँ गूँथा करते हैं। इनमेंसे बच निकलना कठिन है, इसलिये पहले इन सबमें संयम करे, फिर केवल सत्कर्ममें लग जाय, पश्चात्

इन सत्कर्मोंको भी ईश्वरार्पण, निष्कामभावसे करें—ये सब जाने हुए मार्ग हैं, साधन हैं। अन्यथा, बंदूक और बमगोले बनाने और फोड़ने अथवा बातोंमें ही बड़े बननेका यत्न करनेसे दुनियाकी दशा पलटनेवाली नहीं है। ये सारे मौलिक साधन हमारे भीतर थे और आज भी थोड़े-बहुत हैं, इसीसे यह भारतदेश अहिंसा, सत्य और शान्तिके मार्गमें एकाएक एक ही दशकके भीतर ससारमें अग्रणी हो गया है। और रेडियोमें भी परमात्माके भजन और राम-रामकी आवाज सुन पड़ती है। यह एक ही भारतदेश है, जहाँ सर्वात्मभावकी भावना सारे सासारिक जीवनमे तथा जीवन-जगत्‌में व्याप्त हो रही है। हमलोग कहते हैं कि 'जननी जने तो भक्त जन'। युवतियाँ जगदम्बाके दीपके आस पास गरबा गाती हुई नवरात्रमें आनन्द मनाती हैं, छोटी-छोटी बालिकाएँ शिव-पार्वतीका व्रत लेकर सर्वात्माको देखनेकी शिक्षा ग्रहण करती हैं। हम गायको, गङ्गाको, गो-रजको, नदीको, अग्निको तथा सूर्यको पूजते हैं। किसान अपने हल आदिकी, कुलाङ्गनाएँ अपने पतिकी, शिष्य अपने गुरुकी और आस्तिक विप्रकी पूजा करते हैं। यही अपनी संस्कृतिका यशोगान है, यही हमारी संस्कृतिकी पुण्यमयी, पावन करनेवाली धारा है। इसीमें सर्वतोमुखी कल्याण है। अपने लिये शान्ति है, दूसरे सबके लिये सुख है और परमात्माकी पूजा है। परंतु ये सब उसके रूप हैं, उसके अधिकारी हैं, उसके वकील हैं, प्रतिनिधि हैं, देव-देवीस्वरूप हैं। अच्छे-बुरे ये हैं, परमात्मा अच्छा-बुरा नहीं—वह तो निर्लेप है।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[भाग ३१, स० ९, पृष्ठ १२०४ से आगे]

७८—विश्राम

'कन्नू, तू थक गया है। ला, तेरे पैर दबा दूँ।' भद्र धीरेसे श्यामके चरणोंके समीप बैठ गया।

'तू थक गया हो तो तेरे पैर मै दबा दूँ।' कृष्ण इस समय अपनी मौजमें है। भद्र उसके पैर दबाने लगे तो कोई पत्ता लेकर वायु करने आ पहुँचेगा। यह सब इस समय उसे अभीष्ट नहीं। भद्रके पाससे अपने चरण उसने एक ओर खिसका लिये।

हरी हरी कोमल दूर्वा है। कहीं-कहीं शङ्खपुष्पीके उज्ज्वल पुष्प हैं उसमें छोटे-छोटे। ऊपर मौलिश्रीकी घनी छाया है। दाऊ पालथी मारे बैठा है और बड़े भाईके समीप ही श्याम पेटके बल घासपर लेटा पड़ा है। दोनों चरणोंके लाल-लाल तलवे खिले कमल-से ऊर्ध्वमुख है और मोहन कभी-कभी चरणोकी अँगुलियाँ नचा लेता है। दाहिनी कुहनी भूमिपर टेककर खड़े दाहिने हाथकी हथेलीपर चिबुक धरे, वक्षसे ऊपरका भाग पृथ्वीसे उठाये सामने नाचते मयूरको चुपचाप देख रहा है और मन्द-मन्द हँस रहा है।

'भद्र, गायें तो दूर चली गयीं। मै जाऊँ क्या?' इस पूछनेका अर्थ बहुत स्पष्ट है। मोहन इस समय उठे, यह कौन चाहेगा।

'तू लेटा रह। मै गायें घेर लाता हूँ।' भद्र उठा और उसने अपना लकुट उठाया। गायें दूर चली गयी हैं। सखा भी खेलनेमें लगे हैं। कन्हाई उछल-कूदकर थक गया है। अब इसे तनिक विश्राम कर लेना चाहिये।

'चल, मैं तेरे साथ चलता हूँ।' दाऊने भी भद्रके साथ गायोंको घेर लानेके लिये उठनेका उपक्रम किया।

'दादा, तू बैठ।' कन्हाईने पड़े-पड़े ही दोनों हाथ उठाकर दाऊके दोनों घुटने पकड़ लिये और धीरेसे अपना सिर उसकी गोदमें रख दिया।

पेटके बल घासपर लेटा है यह श्यामसुन्दर। दोनों चरण अब इसने उठा लिये हैं घुटनोतक ऊपर और उन्हे पीठकी ओर मोड़कर हिलाता है, नचाता है। दाऊकी गोदमें सिर रखकर मजेसे कभी मयूरका नृत्य देखता है और कभी बड़े भाईके मुखकी ओर मुख घुमाकर देख लेता है। कुछ गुन-गुन करके मन ही-मन गा रहा है।

'दादा, तू जायगा?' नटखट कहींका। गोदमें सिर रखकर, दोनों हाथोंसे दोनों घुटने पकड़कर तब पूछता है कि तू जायगा? अरे तू गोदमे सिर रखे लेटा रहे तो दाऊ जाना तो दूर, हिलना भी चाहेगा? छोटे भाईके सुन्दर

मुखकी ओर देखता दाऊ मन्द-मन्द हँस रहा है। उसे क्या आवश्यकता कि उत्तर दे।

७९—ऐश्वर्य

'दादा!' तोक दौड़ता हुआ आया, किंतु सम्बोधन करके फिर हिचक गया। दाऊके पास आकर धीरेसे कहा उसने—'दादा! आँधी आ रही है। तू उसे मना कर दे। कनूँ सो रहा है न!'

'कहीं आँधी भी कोई मनुष्य या गाय है कि मना करनेसे मानेगी!' गोपकुमारोंने कुछ कहा नहीं, पर प्राय: सबके अधरोंपर हास्य आ गया। यह तोक अभी बहुत छोटा जो है—समझता नहीं कुछ।

'तू मेरा नाम लेकर उसे मना कर आ। कह देना कि अभी आयी तो अच्छा नहीं होगा!' यह दाऊ घूँसा दिखा रहा है। बाप रे! इसके घूँसेसे आँधी तो क्या, आँधीका बाप भी मान जायगा। तोक मना करने दौड़ गया है, किसी बालकके मनमें अब कोई संदेह नहीं है तोककी सफलताके सम्बन्धमें। कोई नहीं देखता कि गायोंने चरना बंद करके कान खड़े कर लिये हैं। बंदर वृक्षोंपर जा चिमटे हैं और वन-पशु चौकन्ने हो रहे हैं। आकाशमें चढ़ती हुई धूसर धूलिकी घनघटाकी ओर कोई आँख उठाकर देखतातक नहीं।

'दादा!' तोक फिर प्रसन्नतासे उछलता आया। इतनी देरमें भला, वह कितनी दूर गया होगा। इस बार दाऊके कानके पास मुख ले जाकर अपनी समझसे वह बहुत धीरे-धीरे बोल रहा है, पर उसका स्वर ऐसा है कि सुन सब रहे हैं। वह कह रहा है—'आँधी तो मेरा ही घूँसा देखकर भाग गयी। मैंने तेरा नाम तो लिया ही नहीं। मैंने कहा—'हमारा कनूँ अभी सो रहा है। तू भाग जा, नहीं तो हूँ!' और अपनी छोटी-सी मुट्ठी बाँध ली उसने फिरसे।

'तू क्या किसीसे कम है!' दाऊने प्रोत्साहित किया तोकको। श्याम सो रहा है। सघन तमालके नीचे लाल-लाल आम्र किसलयोंकी शय्यापर भद्रकी गोदमें सिर रखकर वह सो रहा है। सुबलकी गोदमें उसके चरण ऐसे पड़े हैं, जैसे दो खिले कमल। पटुका उसने एक ओर हटा दिया है। बड़ी-बड़ी पलकें बंद हैं। वक्ष और उदर मन्द-मन्द हिल रहे हैं। सो रहा है कन्हाई। मण्डलीभद्र कमलके पत्तेसे वायु कर रहा है उसे।

दाऊ पास बैठा है मटकर। वह अपने निद्रित अनुजके अधरोंपर जो स्मितकी रेखा है, उसे देख रहा है। कभी-कभी धीरेसे कन्हाईके भालपर आयी अलकको हटा देता है। यह अलक भी कम हठी नहीं है। यह बार-बार भालपर चली आती है।

तोक आज संरक्षक बन गया है। कन्हाईकी दूसरी मूर्ति तोक—वैसा ही पीताम्बर-परिधान, नीलसुन्दर, गोपकुमारोंमें सबसे छोटा तोक तनिक दूर चरणोंकी ओर अपना छोटा-सा घूँसा बाँधकर खड़ा हो गया है। उसकी भङ्गी, उसके नेत्र, उसकी चेष्टा कहती है—'कोई बोल नहीं सकता। कोई आ नहीं सकता। न आँधी, न आँधीका सङ्गी साथी। हमारा कनूँ अभी सो रहा है।'

८०—अन्वेषण

'कन्हाई कहाँ है?' सायंकाल हो रहा है, गायोंके लौटने-का समय हो गया। गोपकुमार उन्हें घेरने भी लगे हैं। ठीक इस समय श्याम कहाँ चला गया? अभी थोड़ी देर पहले तो यहीं उछल-कूद कर रहा था। पता नहीं किस पक्षी या मृगके पीछे दौड़ गया। किसी कुञ्जमें पुष्प लेने भी चला गया हो सकता है। अब उसे झटपट आ जाना चाहिये। दाऊ इधर-उधर देखने लगा है।

'श्याम कहाँ गया? किधर गया?' अपने छोटे भाईके आँखोंसे ओझल होते ही यह दाऊ चञ्चल होने लगता है। वैसे यह सबमें गम्भीर है, किंतु कृष्ण कहीं गया तनिक दूर और इसने खोज प्रारम्भ की। फिर इससे बैठा नहीं रहा जा सकता।

'कनूँ! कहाँ है तू? आ। दौड़ आ। अब हम घर चलेंगे।' कृष्ण तो कहींसे बोलता नहीं। दाऊके गम्भीर स्वरकी केवल प्रतिध्वनि आ रही है। 'कितनी दूर चला गया श्याम?'

'तुमने मोहनको देखा है? वह किधर गया?' सब सखा तो यहीं हैं। अकेला कन्हाई चला कहाँ गया? ये सुबल, भद्र, श्रीदाम, तोक, अर्जुन, ऋषभ आदि सबके सब तो यहीं हैं। इन सबसे पृथक् होकर वह चला गया?

'तुम सब बताते क्यों नहीं हो? कन्हाई कहाँ छिपा है?' ये सखा कोई उत्तर नहीं देते। श्याम सचमुच कहाँ गया? यदि ये न जानते होते तो इस प्रकार क्या मुस्करा पाते? दाऊ समझ गया है कि उसका छोटा भाई कहीं पास ही छिपा है। वह परिहास कर रहा है।

'श्याम, कहाँ है तू ?' लेकिन श्याम कहाँ बोलता है। वह क्या दाऊकी पीठके पास कमर झुकाये, सिर उझकाये, सिकुड़ा-सिमटा मुस्करा रहा है। दाहिने हाथकी तर्जनी अधरोंपर रखकर सखाओंको चुप रहनेका संकेत कर रहा है। दाऊ जिधर घूमता है, उधर ही घूमता हुआ पीछे छिपता जा रहा है। कितने खिले हैं उसके नेत्र। कितना प्रसन्न है उसका मुख।

'अच्छा!' दाऊ हँस पड़ा खुलकर। ये सब सखा कहाँ देख रहे हैं? क्यों ये उसके पीछेकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं?

'दादा!' श्यामने देख लिया कि दाऊ जान गया। अब वह झटसे पीछे घूम पड़ेगा। पीछेसे ही दोनों भुजाएँ बड़े भाईके कण्ठमें डालकर चिपक गया है पीठसे और गर्दनके पास सिर रखकर हँस रहा है।

दादा इसे नहीं पा सका ढूँढकर। किंतु ढूँढनेपर इसे कभी किसीने पाया भी है?

८१—तारक-दर्शन

'मैया! यह कौन-सा तारा है?' इस गर्मीकी ऋतुमें श्यामसुन्दर बड़े भाईके साथ एक ही शय्यापर खुले आकाशके नीचे सो रहा है। चन्द्रमाका उदय तो अभी दो घड़ी पीछे होगा। निर्मल नील गगन खिले तारकोंसे भर गया है। गो-चारणसे सायंकाल लौटे राम-श्यामको मैयाने स्नान कराया, वस्त्र बदलवाये, भोजन कराया। खा-पीकर अब ये दोनों लेट गये हैं शय्यापर। मैया पास आ बैठी है। कभी कन्हाई और कभी दाऊ मैयासे किसी बड़े चमकते तारेका नाम पूछ बैठते हैं। छोटे तारोंमें इन्हें अभिरुचि नहीं और हो भी तो इतने ढेरों तारोंका नाम मैया जानती कहाँ है।

'निर्मल दिशाएँ, शीतल-मन्द पवन चल रहा है। भूमि खूब सींची गयी है और अब भी पूरी सूखी नहीं है। उज्ज्वल कोमल दूधके फेन-जैसे आस्तरणके ऊपर राम-श्याम लेटे हैं। कभी उनमें एक उठ बैठता है और कभी दूसरा। दो क्षण किसी तारेको देख-दिखाकर या तो वे स्वयं लेट जाते हैं या मैया आग्रहपूर्वक लिटा देती है। मैया शय्यासे नीचे बैठी है सटकर। उसके इन चञ्चल पुत्रोंने शय्याका आस्तरण कुछ सिकोड़ दिया है स्थान-स्थानपर। बार-बार वह आस्तरण ठीक कर दिया करती है एक हाथसे।

'अरे, यह तो रंग-बिरंगा तारा है। लाल, नीला, बैंगनी, पीला। देख, दादा!' कन्हाईने पूर्व और दक्षिणके कोणपर एक तारा देखा है—बड़ा-सा। उस तारेमें कई रंग स्पष्ट दीखते हैं। वह कुछ काँपता-सा भी जान पड़ता है। मोहन उठ बैठा है शय्यापर और आकाशकी ओर मुख करके देख रहा है उसी तारेको।

'रंग-बिरंगा तारा? कहाँ है?' दाऊ भी बैठ गया है।

'वह—वह है न?' श्यामसुन्दरने झुककर बड़े भाईके कण्ठमें दाहिनी भुजा डाल दी है। दाऊने भी अपनी बायीं भुजा कन्हाईके कंधेपर धर दी है। दोनों एक दूसरेकी ओर झुक गये हैं। दोनोंके सिर और कान सट गये हैं। कृष्ण-चन्द्र बायाँ हाथ फैलाकर ऊपर दिखा रहा है उस तारेको। दोनोंके मुख ऊपर उठे हैं। दोनोंके विशाल लोचन आकाश-की ओर लगे हैं।

'नीला और लाल—बहुत सुन्दर है यह तो!' दाऊने अपना हाथ छोटे भाईके कंधेसे उठा लिया है और प्रसन्न होकर ताली बजाने लगा है।

'मैया! देख तो तू!' कृष्णचन्द्र अपनी खोजका यह तारा मैयाको भी दिखा देना चाहता है।

'हाँ, हाँ! बहुत अच्छा तारा है, पर अब तुम दोनों सो तो रहो। मैं कहानी सुनाती हूँ।' मैयाको किसी तारेके देखनेमें कोई रुचि नहीं। उसके सम्मुख तो ये दो पूर्णचन्द्र बैठे हैं। भला, क्या होता है कोई नन्हा-सा तारा। मैया अब नहीं चाहती कि ये दोनों जागते रहें।

इन्हें अब सो जाना चाहिये।

८२—गो-सेवक

'नन्दा! घास खायगी तू?' किंतु नन्दाको इस समय घासकी चिन्ता कहाँ है। वह तो आधे नेत्र बंद किये आनन्द-मग्न हो रही है। उसके चारों थनोंसे दूधकी धारा झर रही है।

'कामदा! तू भी आ गयी?' जब नन्दाको पुचकारा, सहलाया जा रहा है, तब कामदा क्यों नहीं आयेगी। आनेको तो अब कपिला, कृष्णा, चित्रा, गौरी सब आ रही हैं। सब दौड़ी हुंकारती आ रही हैं। उनके हृदयमें यह स्नेह पानेकी क्या कम उत्कण्ठा है।

दाऊ थोड़ी-सी घास ले आया है। दो दो दूर्वादल वह इस प्रकार बाँट रहा है, जैसे किसी मन्दिरमें उसका पुजारी दर्शनार्थियोंको तुलसीदल बाँट रहा हो। गायोंके हाथ नह

हैं, यह तो ठीक; पर उनमें दूर्वा लेनेके लिये किस श्रद्धालुसे कम उत्सुकता है।

'हाँ, हाँ, तुझे भी दूँगा; तनिक ठहरो तो।' मुख ऊपर किये एक दूसरीके मध्यमें घुसती आती गायोंकी यह भीड़ बढ़ती ही जा रही है और दाऊकी नन्हीं मुट्ठी। किंतु उसकी मुट्ठी तो अनन्तकी मुट्ठी ठहरी।

'तुझे भी? हाँ।' श्यामसुन्दर सहलानेमें लगा है गायों-को। गायोंके गर्दनके नीचेके भागको और कण्ठकी दोनों बगलोंको वह अपने अरुण कोमल करोंसे सहला रहा है। उसके दोनों हाथ व्यस्त हैं। गायें उत्सुकतासे गर्दन उठाकर मुख आगे कर देती हैं। मोहनके कंधेपर मुख रख देती हैं धीरेसे। वह कभी एक और कभी दूसरीको सहलानेमें लगा है।

रंग-बिरंगी सहस्र-सहस्र गायोंका यूथ वृन्दावनकी इस हरित भूमिपर पुष्पित सघन वृक्षोंके नीचे एकत्र हो गया है। मण्डलाकार हो गया है यह यूथ। एकके पीछे एक सब मुख उठाये आगे घुसनेके प्रयत्नमें लगी हैं। गोपकुमार पृथक् पड़ गये हैं इसमें। वे सब चुपचाप दर्शक बन गये हैं।

गायोंके यूथके मध्यमें घिरे हैं राम-श्याम। दाऊके बायें हाथमें एक मुट्ठी दूर्वा और दाहिने हाथसे वह दो-दो तृण बाँट रहा है। गायें हुंकार कर रही हैं बार-बार। उनके स्तनोंसे दूध झर रहा है। बड़ी उत्सुकतासे दूर्वा मुखमें लेती हैं वे और लिये रहती हैं। उसे खा लेनेका स्मरण ही इस समय उन्हें नहीं है।

नील-पीत-वसन ये गौर-श्याम दोनों भाई—अलकोंपर आज नोवनेकी रस्सी लपेट रखी है दोनोंने। बायें कंधे एवं कक्षको घेरकर भी रस्सी लपेट ली है। पटुके कटिमें कस लिये हैं। आज दोनों पूरे गोपाल बने हैं गायोंके समूहसे घिरे।

ये गोसेवक! गायोंसे भी बड़े देवताका पता सृष्टिमें सृष्टिकर्ताको भी नहीं।

८३—पूजन

'ॐ, ॐ, ॐ!' आज दाऊ कुछ गुनगुना रहा है। बिना मुख खोले केवल नाकसे स्वरमात्र निकाल रहा है वह और कभी-कभी चुटकी बजा लेता है।

पुष्पित कदम्बकी एक मोटी शाखा कालिन्दीके कुछ ऊँचे तटसे नीचे जलके पासतक झुक आयी है। उस शाखा-का अगला भाग फिर फैलकर ऊपर उठ गया है और फूलोंसे लदी एक मालती लता फैल रही है उस पूरी शाखापर। मालतीके हरे सघन पत्तों एवं उज्ज्वल ढेर-के-ढेर पुष्प-स्तबकोंके बीच-बीचमें कदम्बके पीताभ पुष्पोंकी छटा अद्भुत ही है।

दाऊ कदम्बकी शाखापर बैठा है और कालिन्दीके प्रवाह-को देख रहा है। उसके नीचे लटके एक चरणको कलकल करती जलधाराकी लहरियाँ बार-बार स्पर्श कर रही हैं।

श्याम जिधरसे प्रवाह आ रहा है, उधर तनिक दूर तटपर अपनी अञ्जलिमें खूब बड़ा-सा, सुन्दर-सा पूरा खिला लाल कमल लिये झुककर कुछ देख रहा है। कुछ अनुमान कर रहा है। बैठकर अनुमान करके कमलपुष्पको धारापर छोड़ दिया उसने और फिर झुककर, मस्तक बायीं ओर लटकाकर देखने लगा—उसका पुष्प ठीक स्थानपर जाता है या नहीं।

दाऊकी दृष्टि नीचे गयी। बहुत सुन्दर सरोज उसके चरणोंसे आ लगा है। 'यह किसका पूजनोपहार है?' दृष्टि तटके साथ आगे गयी। श्याम अब भी झुका देख रहा है और प्रसन्न हो रहा है। दाऊके नेत्र अद्भुत भावसे भर गये हैं।

'दादा, आऊँ मैं?' कन्हाई एक हाथमें वंशी लिये दौड़ा-दौड़ा आया है। वह दाऊके मुखकी ओर देखनेके बदले उसके चरणोंके पास जलमें स्थिरप्राय अपने पद्मपुष्पको ही झाँक रहा है।

'आ जा!' दाऊ तनिक-सा हिला, किंतु श्याम तो इस अनुमतिसे पहले ही डालपर चढ़कर जाने लगा।

'दादा, यह तेरा पूजन कर रहा है।' बड़े भाईके बायीं ओर उससे सटकर, उसके कंधेपर दाहिना हाथ रखकर कृष्णचन्द्र बैठ गया है। अब भी उसकी दृष्टि नीचे पुष्पपर है।

'ये सुरभित श्वेत सुमन तेरे चरणोंके पास ही घूम रहे हैं।' दाऊ मालतीके पुष्प तोड़कर गिराता जा रहा है। कुछ मोहनकी अलकोंमें उलझ गये हैं और कुछ जलमें लटके श्यामसुन्दरके चरणोंके पास नाच-से रहे हैं।

कदम्बकी हरितिमासे भरी श्वेत पुष्पोंके मध्य पीत कुसुमोंसे सजी शाखापर बैठे गौर-श्याम और नीचे कालिन्दीके प्रवाहमें लटकते उनके अरुण सरोज-से चरणोंके पाससे बहुत-से श्वेत सुमनोंके मध्य विकच अरुण कमल। इन दोनोंमें किसने किसका पूजन किया? कालिन्दी दोनोंके श्रीचरणोंका पूजन करके कृतार्थ हो रही है।

८४—कर्मयोगी

'कनूँ ! अपनी गायें थोड़ी देरमें पानी पीयेंगी। यहाँ कगार उतरने योग्य तो है नहीं। चल, यहाँसे हम सब चलें।' भद्रको भी यह फूलोंसे लदा हुआ यमुना-तट बहुत रुचा है, किंतु कगार ऊँचा है यहाँ। गायोंको जल तो पिलाना ही पड़ेगा।

तटकी भूमिको गायोंके उतरने योग्य बना लें हम सब। श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर देखा कि कहीं दादा मना न कर दे।

'यहाँकी भूमि उतरने योग्य बनेगी ?' भद्रका संदेह अकारण नहीं है। क्या हुआ जो कगार रेतीला है और थोड़े श्रमसे गिर पड़ता है। बहुत ऊँचा है कगार। गायोंकी इतनी बड़ी संख्या उतर सके, इसके लिये कुछ हाथ-दो-हाथ पतला मार्ग बनानेसे काम नहीं चल सकता।

'बनेगी ! बनेगी क्यों नहीं ?' कन्हाईका स्वभाव ही सबसे भिन्न है। इसे असम्भव कुछ जान ही नहीं पड़ता। इससे तो पूछो कि 'आकाशके तारे खेलनेको मिलेंगे ?' तो भी कहेगा—'मिलेंगे ! मिलेंगे क्यों नहीं।' और जब यह हठपर उतर आता है, इसके लिये कुछ अशक्य नहीं। यह ऐसी युक्तियाँ सोच निकालता है कि कोई नहीं कह सकता कि अपने नन्हे पटुकेके छोरमें तारोंको उलझाकर खींच लेना इसके लिये सचमुच ही असम्भव है।

'दादा ! तू मेरा पटुका और वंशी रख !' श्यामने काछनी समेट ली है, वनमाला उतार धरी है और अलकें पीछे कर दी हैं।

'तू बैठ, मैं मार्ग बनाये देता हूँ।' दाऊ उठ खड़ा हुआ है। कृष्णचन्द्र परिश्रम करेगा और वह बैठा रहेगा ? उसका छोटा भाई व्यस्त बने, इससे तो वह अकेले ही मार्ग बना दे—यही अच्छा।

'ना, दादा ! हम सब मिलकर मार्ग बनायेंगे !' श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर विचित्र भङ्गीसे देखा।

'अच्छा चल !' दाऊने भी पटुका और वनमाला उतारकर श्यामके पीतपटके साथ रख दिया।

शतशः गोपकुमार लग गये हैं कगार गिराकर मार्ग बनानेमें। कोई लकुटसे रेत गिराता है, कोई पैरसे और कोई दोनों हाथोंसे। कोई गिरी रेतको सम करता है, कोई नीचे ठेलता है, कोई बड़े ढले लुढ़काकर हटाता है।

'तू रोटी खा आ, तब काम करना।' कन्हाई किसीको चिढ़ाता है, किसीकी प्रशंसा करता है, किसीपर रेतकी मुट्ठी डालता है, किसीको ठेलकर ढालपर लुढका देता है। सब हँसते हैं, परस्पर ठेलमठेल करते हैं, लुढकते हैं, पुकारते-चिल्लाते हैं और फिर भी पूरे उत्साहसे काममें लगे हैं।

धूलसे भरी अलकें और शरीर, स्वेदसे आर्द्र पूरा श्रीअङ्ग, कुछ अरुण बना हँसता मुखचन्द्र जुटा है श्यामसुन्दर मार्ग बनानेमें। वह बार-बार आग्रह करता है—'दादा, तू बैठ अब ! देख, हमने कितना चौड़ा मार्ग बना दिया।'

'कनूँ, तू अब रहने दे !' दाऊ छोटे भाईको रोकनेका अत्यधिक प्रयास करता है।

जुटे हैं ये दोनों कर्मयोगी और इनका बनाया मार्ग—गायोंके लिये ये मार्ग बना रहे हैं।

विश्वके लिये इनको छोड़कर कोई दूसरा मार्गनिर्माता कहाँसे आयेगा ?

८५—झगड़ा

'दादा ! कनूँ मेरी सब रोटी खा रहा है।' सुबाहु आज बहुत रुष्ट है। क्रोधसे तमतमाया हुआ है इसका मुख। क्रोध करनेकी बात भी है। कोई किसीका छींका चुपचाप उठा ले और उसकी सामग्री उदरस्थ करने लगे, पूछनेपर मुँह बनाकर चिढ़ाये तो छींकेका स्वामी क्रोध नहीं करेगा ?

'तू मेरे छींकेको ले ले; जितना जीमें आये, खा ले तू उसमेंसे।' दाऊके छींकेमें इतनी सामग्री रहती है कि उससे एक तो क्या चार-छः मजेसे छक सकते हैं।

'वह मुझे अँगूठा दिखाता है, मुँह चिढ़ाता है।' केवल भोजनका प्रश्न होता तो इतना बखेड़ा क्या था। सुबाहु इस प्रकार मान नहीं सकता। वह कह रहा है—'मैं लड़ूँगा उससे।'

'अच्छा चल !' दाऊ उठ खड़ा हुआ।

अवस्थामें छोटा है। शरीरसे भी दुबला-पतला है। वह अकेला ही लड़ पाता तो दाऊ दादाके पास दौड़ा नहीं आता।

मालतीकी सघन कुञ्जमें श्यामसुन्दर एक छींका सामने रखे बैठा है। सुबाहुको देखते ही उसने अवशिष्ट रोटी मुखमें भर ली और उठ खड़ा हुआ। फूले हुए दोनों कपोल—दोनों हाथोंके अँगूठे खड़े करके, पूरी भुजा आगे फैलाकर सुबाहुको चिढ़ा रहा है वह। मुख भरा है, किंतु नेत्र मटकानेमें कोई कोर-कसर नहीं।

'कन्नूँ !' अरे दाऊ दादा भी पीछे है, कन्हाईको यह तो पता ही नहीं था। अब उसकी भोली भङ्गी देखने योग्य है। मुख लटकाये किसी प्रकार मुखका ग्रास निगल लेनेका प्रयत्न करते कितना सीधा, कितना सरल दीखता है यह बड़े भाईके सामने !

'दादा ! मुझे खूब भूख लगी थी।' मुख खाली करके श्यामसुन्दरने अग्रजके बिना पूछे ही अपनी निर्दोषता बतायी। इसे भूख लग जाय तो यह दो पद भी चल नहीं पाता। अचानक लगती है इसे भूख।

दाऊ अपने छोटे भाईका स्वभाव जानता है। किंतु इसका माखन खट्टा था और रोटी तो सर्वथा फेंक ही देने योग्य थी। ओह ! भूख ऐसी थी कि ऐसे पदार्थसे भी काम चलाना पड़ा।

'यह तुझसे लड़ने आया है।' दाऊके मुखपर स्मित आ गया है।

'आ, लड़ ले।' दादा प्रसन्न है तो श्याम झिझकनेवाला कहाँ है। यह लो, कछनी कस ली इसने।

'किंतु तू रोटी खाकर तगड़ा हो गया है और यह भूखसे दुबला हो रहा है।' दाऊ अन्याय नहीं होने देगा। 'तू इसे पहले अपनी छाक खिला।'

'मैं इसकी छाक नहीं खाऊँगा।' सुबाहुकी स्वीकृति अब कौन सुने ? श्याम तो अपना छीका लेने दौड़ गया है।

'दादा ! तू इसके हाथ पकड़े रह।' बेचारे सुबाहुके हाथ तो दाऊने पकड़ लिये और श्याम उसे बार-बार गुदगुदाकर भरता जा रहा है उसके मुखमें मोदक, नवनीत, दही-भात। दोनों भाई हँस रहे हैं और भोजनके ग्रास मुखसे भीतर उतारता भी सुबाहु झगड़ रहा है। उसे छोड़ते क्यों नहीं ये दोनों।

८६—वर्षामें

'कन्नूँ, भाग ! वर्षा आ रही है।' दाऊने अपने कम्बलकी 'घोघी' सिरपर रख ली और दौड़े वे छोटे भाईकी ओर। यह श्याम न आँधी देखता न पानी। कितनी दूर डाल रखी है अपनी कमरिया इसने। श्यामका कम्बल उठाकर उसकी भी घोघी बनाकर उन्होंने मोहनके सिरपर रखा—'सुनता नहीं, कितने जोरका पानी आ रहा है। देख उधर।'

'अरे !' अब दृष्टि गयी कृष्णचन्द्रकी। सचमुच पानी तो बड़े जोरसे आ रहा है। बड़ी भारी हरहराहट है और अब तो आँधी आ भी गयी है। वृक्षोंकी शाखाएँ झकोरे लेने लगी हैं, लताएँ झकझोर उठी हैं, गायें पूँछ उठाकर 'हम्मा, हम्मा' करती दौड़ी जा रही हैं भाण्डीर-वटकी ओर। वनपशु भी भाग रहे हैं।

'भाग, दादा ! भाग !' अब मोहन बड़े भाईका हाथ पकड़कर भागने लगा है। काले कम्बलकी घोघी ओढे ये दोनों भाई दौड़ते जा रहे हैं। गोपकुमार गायोंको भगाये आगे-आगे थोड़ी दूर निकल गये हैं। 'दादा, गुफामें चल।'

यह शरद् ऋतुकी वर्षा—अभी कुछ क्षण पूर्व धूप निकल रही थी। पता नहीं किधरसे मेघका एक खण्ड आ गया और देखते-देखते बड़ा हो गया। 'पड़, पड़, पड़' बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगी हैं तीव्र वायुके वेगमें तिरछी होकर। अब राम-श्याम भागे जा रहे हैं। उनका पूरा शरीर छिपा है काले कम्बलोंके नीचे। हरी-हरी दूर्वासे आच्छादित जलसे आर्द्र भूमिपर दोनोंके लाल-लाल चरण बड़ी शीघ्रतासे पड़ रहे हैं।

'दादा !' गुफामें पहुँचकर दोनोंने घूमकर बाहरकी ओर देखा। श्यामके मुखपर प्रसन्नता है। एक भाव है—'हम कैसे भाग आये।' अलकोंमें हीरक-कण-से जलके कुछ सीकर उलझ रहे हैं।

'बड़ी शीतल हैं !' गुफामें कुछ दूरतक बौछारकी बूँदें आ रही हैं। अपना एक हाथ बढाकर श्यामने हाथपर बूँदें लीं और फिर खींच लिया हाथको।

'तू हाथ क्यों भिगाता है।' दाऊने छोटे भाईका हाथ पकड़कर खींच लिया पूरा और श्यामको अपने पास समेट लिया—'कितनी ठंड है।'

बाहर वृक्षोंकी शाखाएँ झूम रही हैं, लताएँ झुकी पड़ती हैं, बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही हैं। पृथ्वीपर जल बह चला है। दूर भाण्डीर-वटके नीचे गायों एवं गोपकुमारोंका समूह एकत्र हो गया है और यहाँ गुफामें कम्बलोंमें लिपटे, केवल मुख खोले, परस्पर सटे बैठे हैं ये राम-श्याम।

'दादा !' कन्हाई बीच-बीचमें ताली बजाता प्रसन्न होता है किसी वृक्षका हिलना या किसी पशुका भागना देखकर।

'तू हाथ बाहर मत निकाल।' दाऊ समेट लेना चाहता है अपने अनुजको।

'कितनी ठंड है !' पर यह चञ्चल जब माने।

८७-निर्भय

'मैया! आज वनमें मुझे तो लगूरोंने घेर ही लिया था।' यह श्यामसुन्दर नित्य कोई-न-कोई नवीन समाचार लाता है वनसे। मैया वैसे ही आशङ्कित रहती है और उसपरसे यह समाचार। अब पूरी बात सुननेका धैर्य उसे कहाँ है। वह अपने इस सुकुमार पुत्रका एक-एक अङ्ग बड़ी व्याकुलतासे देख रही है कि कहीं बदरोंने इसे नोचा तो नहीं।

''मैया! खूब बड़े-बड़े, मोटे-मोटे लगूर थे।' अब दोनों हाथ फैलाकर, मुख खोलकर, नेत्र फाड़कर कन्हाई बता रहा है—'बड़ी लवी-लवी थीं उनकी पूँछें। बड़े-बड़े दाँत थे। मुख फाड़कर सब मुझे डरा रहे थे। 'हूप, हूप' करके कूद रहे थे।''

गोचारणसे लौटकर कृष्णचन्द्र मैयाकी गोदमें बैठ गया है आते ही। मैया भूल गयी है कि इसके हाथ-पैर धुलाने हैं, मुख धोना है, वस्त्र बदलने हैं, जलपान कराना है। आते ही इसने ऐसा विवरण देना प्रारम्भ किया है कि मैयाका हृदय धक्-धक् करने लगा है। वह बार-बार पूछती है— 'उन सबोंने तुझे कहीं काटा तो नहीं?' पर यह उत्तर देनेके बदले अपनी धुनमें कहता ही जा रहा है। कभी गोदसे उतरकर 'हूप, हूप' करके कूदकर बतलाता है, कभी मुख दिखाता है खोलकर, कभी हाथोंको जेके समान बनाता है।

'मैं तो बहुत डर गया था। दादाको बहुत पुकारा मैंने, पर दादा भी नहीं आया। यह तो उलटे ताली बजा-बजाकर हँस रहा था।' बड़े भाईकी ओर श्यामने देखा।

'तुम अपने छोटे भाईको सम्हालते नहीं?' मैयाने उलाहना दिया दाऊको। कैसा है यह दाऊ? यह तो अब भी ताली बजाकर सिर हिला-हिलाकर हँस रहा है। इतनी प्रसन्नता क्यों है इसे? क्या मिल गया है इसको?

'कनूँ, तुझे कोई काट भी सकता है क्या?' दाऊने मैयाके उलाहनेपर ध्यान ही नहीं दिया। उसने तो छोटे भाईका हाथ हँसते-हँसते पकड़कर हिला दिया।

'कहाँ? मुझे तो कोई कभी नहीं काटता!' श्यामसुन्दर अपनी दोनों भुजाएँ और उदर ऐसे देख रहा है, जैसे अभी ढूँढ रहा है कि किसीने कभी उसे काटा भी है क्या। 'मैया, मुझे कोई नहीं काटता! बताऊँ?'

'अच्छा रहने दे तू!', गोदसे उठनेको उद्यत पुत्रको मैयाने अङ्कमें समेट लिया। अब यह पता नहीं क्या बतायेगा। गायके, कुत्तेके, बिल्लीके—किसीके मुखमें हाथ डाल देना साधारण बात है इसके लिये।

वे लंगूर कैसे भागे, यह जाननेकी बहुत उत्सुकता हो तो अब आप किसी लगूरसे जाकर पूछिये। मैयाने तो अपने लालको अङ्कमें दबा रखा है। उसे कुछ जानना नहीं। उसके पास यह दाऊ हँसता खड़ा है। कोई लगूर उसके पास आनेका साहस नहीं कर सकता इस समय। उसकी गोदमें उसका लाल पूरा निर्भय है।

सखाओंके साथ खेल

सखनि सँग खेलत दोऊ भैया।
रुचिर खेल बहु भाँति, मुदित मन दाऊ, कुँअर कन्हैया॥
धावत मिलि गैयन के पाछे बोलत 'हैया हैया'।
ईश्वरपनो बिसारि, अग्य-से नाचत ताता थैया॥
कोमल किसलय लेइ बनाई एक नैक-सी नैया।
लाइ तराय दई जमुना मैं हँसि-हँसि जात बलैया॥
डूबन लगी तरी जलमें तब, 'हा मैया, री मैया'।
लगे पुकारन—'नारायन! अब तुम ही बनो खेवैया'॥
लरत कबौं, रूठत, रिझवत, पुचकारत दै गलबैयाँ।
धन्य भाग्य ये हरि के प्यारे नैक नैक-से छैया॥

विश्वशान्तिका अमोघ उपाय

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

भौतिक विज्ञानसे मनुष्यको भोगके साधन अधिक प्राप्त हुए। बाह्य सुख भी मिला। पर विज्ञानकी उन्नतिके परिणामस्वरूप संसारके सभ्य और उन्नत कहलानेवाले देशोंमें भी मानवका संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंकी होड़ लग गयी। पचास वर्ष पूर्वके युद्धोंमें बंदूक और तोपोंको ही अधिक प्रभावशाली संहारक साधन माना जाता था। सन् १९१४-१८ की लड़ाईमें टैंकों, तोपों और साधारण हथगोलोंसे काम लिया गया। इसके बीस वर्ष बाद दूसरे युद्धमें अधिक संहार करनेवाली मशीनी तोपें, तरह-तरहकी मशीनगनें और हवाईजहाज युद्धके साधन बने। अणुबमका भी श्रीगणेश हुआ। अमरीकी अणुबमोंने जापानके नागासाकी और हीरोशीमा नगरोंको कुछ ही क्षणोंमें विध्वंस कर दिया। युद्धमें रत सैनिकोंका ही नहीं, लाखों निरपराध स्त्रियों, बालकों और वृद्धों, बीमारोंका भी निर्दय संहार हुआ। करोड़ोंकी सम्पत्ति खाक हो गयी। इस दुर्दशाका प्रभाव जापान, जर्मनी आदि अंग्रेज-अमरीकाके विरोधियोंपर पड़ा। जापानने शस्त्र डाल दिये, जर्मनी और इटली भी पराजित हुए। प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिकी तरह द्वितीय विश्वयुद्धके अन्त होनेपर संसारके भिन्न-भिन्न देशोंने मानवता और सभ्यताके नामपर भविष्यमें युद्धोंको बंद करनेकी कोशिश आरम्भ की। विश्वशान्तिके नामपर सुरक्षा-परिषद् और तरह-तरहके संगठन बनाये गये। पर साथ-साथ अपने-आपको सभ्य और शान्तिप्रिय कहलानेवाले रूस, अमेरिका, इंग्लैंड इत्यादि देशोंने अधिक-से-अधिक मनुष्योंका शीघ्रातिशीघ्र संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंकी दौड़ोंको और भी तेज कर दिया। अणुबमसे उन्नति करके परमाणुबम, हाइड्रोजनबम और राकेटतक तैयार किये। मानवताके नामपर अपील करने तथा सभ्य एवं प्रगतिशील कहलानेवाले देशोंके राजनीतिज्ञों और विशेषज्ञोंने सारे संसारको ज्वालामुखी-पर्वतपर खड़ा कर दिया। न मालूम कब यह ज्वालामुखी फट पड़े तथा संसार, और हो सकता है इन भीषण अस्त्र-शस्त्रोंके बनानेवाले भी, उसीकी ज्वालाओंसे भस्म हो जायँ।

अहिंसाका प्रभाव

संसारके शान्तिप्रिय विचारक और सहृदय लोग इस मानव-विनाशके साधनोंकी होड़से चिन्तित हैं। इस सर्वनाशको रोकनेके लिये अहिंसा, सह-अस्तित्व और पञ्चशील आदि उपाय बताये जाते हैं। यदि ईमानदारीसे अमल हो तो विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये अहिंसा एक अमोघ साधन है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

'अहिंसामें स्थित होनेपर अहिंसक योगीके समीप (सहज वैर रखनेवालोंका भी) वैर छूट जाता है।'

हमारे देशमें भी ऐसे योगी महापुरुष हुए हैं, जिनके आश्रमोंके निकट सिंह और हिरन साथ-साथ रहते थे। कुछ वर्ष पहले ही वनोंमें रहनेवाले ऐसे महापुरुष थे, जिनके चारों ओर दूर-दूरतक किसी भी पशुपर चलायी हुई गोली व्यर्थ जाती थी, या बंदूक चलती ही नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसे समयका उल्लेख मिलता है जब कि न राजा थे न राज-दण्ड, अपितु अहिंसा और प्रेमके कारण जनता ही सारे सांसारिक व्यवहार बिना किसी कानून और दबावके स्वयं करती थी। प्रसिद्ध विचारक श्रीएच० जी० वेल्जने 'आनेवाली बातें' पुस्तकमें विश्वशान्तिके भविष्यकी बाबत लिखा है कि 'जब युद्धके वर्तमान साधन और विज्ञानके दुष्प्रभाव समाप्त हो जायँगे, मानवशक्तिसे ही उपयोगमें आनेवाले चक्की, चूल्हे, चरखे, गाड़ी आदि ही साधन होंगे, तब संसारके लोग भाई-भाईकी तरह मिलकर विचार करेंगे। संसारसे युद्धोंका भय दूर होगा। सब लोग भाईचारेसे बसेंगे।' लार्ड टैनीसनने भी 'मेरा स्वप्न' कवितामें ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।

साधारण उपायोंसे इतने बड़े संसारमें शान्ति स्थापित करनेमें शीघ्र सफलता मिलनेकी सम्भावना नहीं। अत्यन्त प्रभावशाली 'अहिंसा-साधना'की आवश्यकता है। यदि दृढ़ सिद्धान्तोंको सम्मुख रखते हुए कार्य आरम्भ कर दिया जाय तो आज नहीं कल, सबेर नहीं कुछ देरमें, अवश्य सफलता मिलेगी—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

इस धर्मका थोड़ा व्यवहार भी बड़े भयसे रक्षा करता है, करेगा। आज हमारे देशके कुछ प्रभावशाली सज्जन बार-बार अहिंसाका उपदेश देते हैं। पर फिर भी वैर, कलह

और अशान्ति बढती जा रही है। जाति, प्रान्त, भाषा इत्यादिके नामपर नित्य वैमनस्यके कारण उत्पन्न होते जा रहे हैं। प्रश्न होता है कि 'अहिंसाका सिद्धान्त माननेपर भी यह दोष क्यों ?' इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसाकी परिभाषा क्या है, अहिंसा किसे कहते हैं, अहिंसाके प्रचारक नेता उसपर कहाँतक अमल करते हैं।

अहिंसाकी परिभाषा

अहिंसाकी दुहाई देनेवाले कुछ सज्जन अपने विरोधियोंके विरुद्ध कटु शब्दोंका प्रयोग करते, गोलियों और लाठियोंके द्वारा शान्ति स्थापित करनेकी कोशिश करते, स्वय मास खाते और मासको प्रोत्साहन देते हैं, फिर भी अपने-आपको अहिंसक प्रकट करते हैं। कुछ लोग पशु-पक्षियोंकी हिंसाको हिंसा नहीं मानते, केवल मनुष्यतक ही हिंसाको सीमित रखते हैं। पर यह ठीक नहीं। महर्षि पतञ्जलिने अहिंसाको मनुष्यके हृदयको शुद्ध और ज्ञानका प्रकाश करनेवाला 'सार्वभौम महाव्रत' बतलाया है। महर्षि व्यासने महर्षि पतञ्जलिकी अहिंसाका भाष्य करते हुए कहा है—

सर्वथा सर्वदा प्राणिनामविद्रोहोऽहिंसा।

अर्थात् सदैव सब प्रकारसे प्राणिमात्रके प्रति विद्रोह या उन्हे नुकसान पहुँचानेकी भावना न रखना अहिंसा है। 'अहिंसा' और 'हसा' दोनों शब्द बहुत प्राचीन हैं। 'हिंस्' धातुका अर्थ है—मारना। वेदका एक महान् आदर्श है—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' प्राणीमात्रकी हिंसा मत करो। योगदर्शनके सूत्र २। ३४ में लिखा है—

हिंसादय. कृतकारितानुमोदिता · ·

तथा मनुमहाराजने—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

—स्वय हत्या करनेवालेको ही नहीं, समर्थन करने और अनुमति देनेवाले इत्यादिको भी हत्यारा बतलाया है। भगवान् बुद्धने ब्राह्मण धम्मिय सुत्तमें लिखा है—

तयो रोगा पुरे आसु इच्छा अनसनं जरा।
पसून च समारम्भा अट्ठनावति मागमुं॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्य सब्बे भावन्ति मच्चुनो।
अत्तानां उपमं कत्वा न हनेय्यं न वयेत॥

'पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा या बुढापा। पशुओंकी हिंसासे वे अट्ठानवे हो गये। दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भयभीत होते हैं। औरोंको भी अपने-जैसा ही समझकर न उनका हनन करें न आघात करें।'

सम्राट् अशोकने, जिनका चक्र-चिह्न हमारे देशके राष्ट्रध्वजमें रखा गया है, गिरनारके शिला-शासनमें प्राणीमात्रकी हिंसाका निषेध किया है। सम्राट् अशोक और हर्षके समयमें पशुहत्या करनेवालोंको प्राणदण्डतककी सजा दी जाती थी। जैनधर्मके पञ्च-महाव्रतोंमें अहिंसा-व्रत आद्य माना गया है। जैन मुनियोंके उपदेशोंसे कुछ मुसल्मान बादशाहोंने भी विशेष दिनों तथा विशेष स्थानोंमें पशुहत्यापर प्रतिबन्ध लगाया। जैनधर्ममें सूक्ष्म प्राणियोंकी हत्या और उन्हें कष्ट देनेतकका निषेध किया गया। चीनी यात्री फाहियानने लिखा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्तके समय देशभरमें प्राणी-हिंसा नहीं होती थी। दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसॉगने हर्ष तथा शिलादित्यके समय प्राणीमात्रके हिंसा-निषेधका उल्लेख किया है। हिंदू, जैन और बौद्ध ही नहीं, ईसाई और मुस्लिम महापुरुषोंने भी हिंसाको प्रोत्साहन नहीं दिया।

महात्मा ईसा कहते हैं—

"Thou shalt not kill, and ye shall be holy men unto me, neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field"

'किसीको मत मार। जगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मास मत खा।'

बाइबिलके एक अवतरणमें आया है—'मारे जानेवाले जानवरोंके लिये अपनी जबान खोलो।'

कुरान-शरीफमें लिखा है—

'हरा पेड़ काटनेवाले, जानवरको मारनेवाले इत्यादिको खुदा माफ नहीं कर सकता। खुदा उसीपर दया करता है, जो उसके बनाये जानवरपर दया दिखाता है।' सुरात-ए-हजमें लिखा है—'खुदा तुम्हारी कुर्बानीमें जानवरका मास और लोहू नहीं चाहता, वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है।'

उपर्युक्त सभी तथ्योंसे यह सिद्ध होता है, कि हिंदू-जैन ही नहीं, ईसाई एवं मुस्लिम मतानुसार भी मनुष्य ही नहीं, प्राणीमात्रको कष्ट न देना, न मारना अहिंसा है। अहिंसाका सीमित अर्थ माननेके और कारण भी हो सकते हैं, यहाँ इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है—

बाइबलमें संत ल्यूककी वार्तामें जब सत जानसे सिपाही कहते हैं 'कि क्राइष्ट आनेवाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें वे तीन आज्ञा करते हैं—किसी मनुष्य-पर बलप्रयोग (Violence) नहीं करना, किसीपर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हें जो रोजी मिलती हो, उसीमें सतुष्ट रहना। वर्तमानमें जो अहिंसाका प्रयोग non-violence के अर्थमें किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तार-के कारण ही किया जाता है। अंग्रेजीके Violence)का बल-प्रयोग न करना, यह अर्थ ही मौलिक है। खास करके राजनीतिमें इस शब्दके आ जानेके कारण 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्द मनुष्यकी हिंसाके लिये ही लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है और सामनेवालेको चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारोंका प्रयोग करना, अथवा किसीके साथ युद्ध या लड़ाई करनेके प्रसङ्गमें इसका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जैसे सत्याग्रह और Passive Resistance का अर्थ एक नहीं है, वैसे ही अहिंसा और Non-violence का अर्थ भी एक नहीं। वस्तुको यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है। उदाहरणके लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थमें मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है। पर आज हमारे अपने देशमें, जिसकी संस्कृति 'अहिंसाप्रधान' रही है, जहाँ आज भी करोड़ों मनुष्य प्राणी-हत्याको हिंसा मानते हुए मांसका किसी रूपमें व्यवहार नहीं करते, उस देशमें आज सरकारी स्तरपर पशुहत्या—मछली, मुर्गी, बंदर इत्यादिके वधको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कत्ल किये पशुओंके अङ्गोंसे दवातक तैयार करनेकी योजनाएँ बन रही हैं। राज्य तथा राज्य-समर्थन प्राप्त करके प्राणीहिंसा बढ़ानेवाले साहित्य-प्रकाशनमें सहायता दी जा रही है। फिर भी, राजनीतिक लोग ही नहीं, उनके प्रभावमें आनेवाले कुछ धार्मिक साधु-संत और विद्वान् भी बढ़ी हुई प्राणी-हिंसाकी उपेक्षा करके अहिंसाका नाम लेकर प्रकारान्तरसे जीवहत्याको अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दे रहे हैं।

वाचिक अहिंसा तथा अमली हिंसाका दुष्परिणाम

बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और धर्मका नाम लेनेवालोंके बार-बार अहिंसाका उपदेश देनेपर भी प्राणियोंका वध जारी रहने या उसे प्रोत्साहन देनेके कारण मनुष्यतक सीमित अहिंसाके प्रचारसे कोई लाभ नहीं पहुँचा, हानि ही हो रही है। गाँव-गाँव, नगर-नगरमें एकता नहीं, परस्पर दुर्भावना बढ रही है, देशका वायुमण्डल विषैला बन गया है। प्रान्तवाद, जातिवाद, पक्षवाद और भाषावादके कारण मनुष्य मनुष्यका शत्रु बन गया है। शासक-दल भी परस्परके कलह और वैमनस्यसे नहीं बचा। प्रान्त-प्रान्तमें शासकदलके लोग छोटी-छोटी बातोंके लिये परस्पर लड़ रहे हैं। शासन और जनतामें सद्भावना और सहयोग न होनेके कारण साधारण बातोंके लिये विरोधी आन्दोलन होते रहते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि हमारा आजका अहिंसा-प्रचार दोषपूर्ण होनेके कारण जनतापर उसका कोई प्रभाव नहीं है।

अन्य प्राणी भी मनुष्यकी तरह प्राण धारण करते हैं, जीव हैं। जो व्यक्ति किसी भी प्राणीसे द्वेष रखता या उसकी हत्या करता-कराता है, उसके हृदयमें प्रेम तथा सद्भावना जाग्रत् नहीं हो सकती, हिंसाकी दुर्भावना ही रहती है। और जबतक प्राणीमात्रके प्रति अविद्रोह या प्रेमकी भावना उत्पन्न नहीं होगी, तबतक मानव-मानवके बीच भी अहिंसाका भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥'

'जो काम अपनी आत्माको बुरा लगता है, उसका अमल अन्य प्राणियोंके साथ न करो।' 'दूसरोंके उपकारके समान कोई पुण्य नहीं और दूसरोंको दुःख देनेके समान कोई पाप नहीं है।' ये अहिंसाके मूलमन्त्र हैं। इनपर अमल करनेसे ही शान्ति प्राप्त होगी।

जबतक पशुवध या मांसाहार जारी रहेगा, तबतक न युद्ध बंद होंगे न मनुष्योंमें परस्पर सद्भावना बढ़ेगी। संसारके प्रसिद्ध विचारक श्रीजार्ज बर्नार्ड शाने लिखा है—'यदि हम निरीह पशुओंके साथ अपने लाभके लिये इसी प्रकारका खिलवाड़ करते रहेंगे तो संसारमें जिस शान्तिके लिये हम इतने उत्सुक हैं, उसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हम वध किये पशुओंकी शत-शत कबरोंपर खड़े होकर ईश्वरसे शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, जब कि हम नैतिक नियमोंका उल्लङ्घन कर रहे हैं। इस प्रकारकी क्रूरता युद्धको जन्म देती है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व और मनुस्मृतिमें मांस खानेवालों-के लिये लिखा है—

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥

'जो मनुष्य दूसरेके माससे अपना मास बढाना चाहता है, उससे बढकर नीच और कोई नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है ।'

स्वमांस परमासेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अविश्वास्योऽवसीदेत् स इति होवाच नारदः ॥

श्रीनारदजी कहते हैं 'जो दूसरोंके माससे अपना मास बढाना चाहता है, वह विश्वासपात्र नहीं रहता, उसे दुःख उठाना पड़ता है ।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥

'जो दूसरोंके माससे अपना मास बढाना चाहता है, वह जहॉं कहीं भी जन्म लेता है, सदा बेचैन ही रहता है ।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवनैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः ॥
मांसं भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनु बुद्ध्यस्व भारत ॥
घातको हन्यते नित्यं यथा बध्येन बन्धक' ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंका मास खाते हैं, वे भी उन प्राणियोंके द्वारा दूसरे जन्ममें खाये जाते हैं— मुझे इस विषयमें तनिक भी सदेह नहीं है । युधिष्ठिर ! जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—'आज मुझे वह खाता है, तो मैं भी उसे कभी खाऊँगा ।'

जाताश्चाप्यवशास्तत्र भिद्यमानाः पुनः पुन' ।
हन्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगर्द्धिनः ॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते ता ता योनिमुपागता' ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च त्रस्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥

'मास भक्षी जीव कहीं जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं, वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे जाते और पकाये जाते हैं, उनकी यह दुर्गति प्रत्यक्ष देखी जाती है ।'

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥

'जो निरपराध प्राणियोंको अपने सुखकी इच्छासे मारता है, वह जीवित अवस्थामें और मरनेके बाद भी सुख नहीं पाता ।'

उपर्युक्त शास्त्र-वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि जो लोग मास खाते हैं, उन्हें उसके पापस्वरूप अनेक प्रकारके कष्ट ही नहीं भुगतने पड़ेंगे, अपितु जिन पशु-पक्षियोंका मास उन्होंने खाया है, वे पशु-पक्षी दूसरे जन्ममें उनका मास खायँगे । युद्धोंके क्रम बद नहीं होंगे । जबतक मनुष्य पशुहत्या और मासाहारके पापको नहीं छोड़ेगा, तबतक युद्धोंका कष्ट और विनाश बद नहीं होगा । यह सदेह कि मासाहार या पशुहत्या बद होनेपर देश-की खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्यापर दुष्प्रभाव पड़ेगा, ठीक नहीं है । इग्लैंडकी पार्लियामेंटके सदस्य स्वर्गीय श्रीपीटर फ्रीमैनने इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर देते हुए लिखा है—

खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्या

समय आ रहा है कि मास खाना राक्षसपनकी तरह बुरा समझा जायगा । यह ससार केवल मनुष्यके उपभोगके लिये नहीं है । यह सारे जीव-जन्तुओंकी जागीर है और मनुष्य इसका ट्रस्टी या रक्षक है; क्योंकि वह अधिक उन्नति कर चुका है ।

श्रीफ्रीमैनने प्रश्न किया कि हर-वर्ष दो करोड़ नये पैदा होनेवाले मुखोंका क्या किया जाय ? आवश्यक तौर उन्हें मासाहारी बनाकर उनका पालन नहीं किया जा सकता । आपने इस सारी समस्याका हल शाकाहारी भोजन बताया और निम्नलिखित आँकड़े पेश करके यह सिद्ध किया कि उतनी भूमिमें अधिक मात्रामें अच्छा शाकाहारी भोजन पैदा किया जा सकता है, जितनी भूमिमें मासाहारी भोजन कम पैदा होता है ।

एक एकड़ भूमिमें प्रतिवर्ष निम्नलिखित चीजें पैदा हो सकती हैं—

मासाहारी भोजन	पौंड	शाकाहारी भोजन	पौंड
गोमास	१६८	गेहूँ-जौ आदि	२०००-२०५०
बकरेका मास	२२८	सेम, मक्की आदि	३०००-४०००
सूअरका मास	३००	आलू	२००००
मुर्गियाँ	३५०	गाजर	२५०००
		शलगम	३००००

इससे पता चलता है कि मासके ऑकड़ोंसे अन्नके आँकड़े दसगुना और सब्जियोंके ऑकड़े १०० गुना अधिक हैं । आपने एक प्रश्नके उत्तरमें बताया कि देशकी हर एकड़ भूमिमें फलदार पेड़ आसानीसे लगाये जा सकते हैं ।

आपने अपने तर्ककी पुष्टिके लिये इंग्लैंडके कृषि-विषयक वैज्ञानिक सलाहकार श्रीजेम्स स्काट वाटसनका वक्तव्य, जो उन्होंने दिसम्बर १९५२ में वर्किंघममें दिया था, उपस्थित किया। वक्तव्यका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है—

'बढ़ती हुई जनसख्याके खाद्यकी व्यवस्था करनेका तरीका यह है कि मासके स्थानपर सब्जियों और दूध आदिका प्रयोग किया जाय और दूसरा यह है कि जो अधिक मात्रामें मांस प्रयोग करते हैं उनकी आदतोंमें तबदीली लायी जाय। इस बातका अनुमान लगाया गया है कि यदि हम शाक आदिको ही प्रयोगमें लायें तो हम करीब-करीब स्वावलम्बी बन सकते हैं।'

उन्होंने इस बातका जिक्र किया कि प्रथम विश्वयुद्धके दिनोंमें डेन्मार्क पूरे तौरपर शाकाहारी देश बन गया; क्योंकि वहाँके अधिकतर पशु मर चुके थे और बाहरसे मास आदि मँगाया नहीं जा सकता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्धके अन्तमें वहाँके स्वास्थ्यके ऑकड़े योरपमें सबसे अच्छे रहे।

१९३२ में लीग आव नेशन्सने १२ राष्ट्रोंकी एक कमेटी बनायी, जिसमें इंग्लैंड, अमरीका, फ्रास, स्वीडन आदि देश शामिल थे। इस कमेटीके जिम्मे इस बातकी जाँच करनेका काम लगाया गया कि युद्धके दिनोंमें एक सैनिकके लिये मासका कम-से-कम कितना आवश्यक राशन चाहिये। इसका उत्तर यह दिया गया कि 'मनुष्य मासके बिना निर्वाह कर सकता है, इसलिये मांस आवश्यक नहीं।'

श्रीफ्रीमैनने मासाहारियोंको इस बातकी चुनौती दी कि वे पशुओंका मांस खानेका एक भी ठोस कारण पेश करें। आपने कहा 'जो भी व्यक्ति मास खाना जारी रखेगा, वह तीसरे विश्वयुद्धको समीप लानेका कारण बनेगा, क्योंकि कुछ लोगोंको न केवल कम भोजन मिलेगा, बल्कि वे भूखसे मर जायँगे और जो शाकाहारी बन जायगा, वह संसारमें शान्ति कायम रखनेमें सहायता देगा।'

हमारे अपने देशमें अशोक, हर्ष आदिके समय, जब प्राणिवध कतई बंद था, न खाद्यकी कमी हुई और न सुरक्षाके साधन कमजोर हुए। उन दिनों किसी विदेशीने आक्रमण करनेकी हिम्मततक न की। जो लोग यह कहते हैं कि सैनिकोंके लिये मांस-भोजन आवश्यक है, ठीक नहीं कहते। उत्तर भारतके जाट, अहीर, गूजर आदि जो प्रायः मांस नहीं खाते, वे मांसभोजी सैनिक जातियोंसे किसी प्रकार भी शारीरिक शक्ति और युद्ध करनेके उत्साहमें कम नहीं। ६ नंबर जाट पलटनने प्रथम विश्वयुद्धमें फ्रासके मोर्चेपर मास खानेसे इनकार करके चने-गुड़-सब्जीपर गुजारा किया और दूसरे मासभोजी सैनिकोंसे अधिक सफलता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि निरामिषभोजी भी किसी अन्यसे कम अच्छे सैनिक नहीं। अतः मासाहार जारी रखनेके लिये सुरक्षा और खाद्य-समस्याकी आड़ लेना ठीक नहीं।

हृदयकी शुद्धि या आध्यात्मिक उन्नति

प्राणि-विज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार मनुष्यके दाँत, जीभ एवं आहार-पाचन करनेके अङ्गोंको दृष्टिमें रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, शाकभोजी जीव है। अतः मनुष्यके लिये मास-भोजन प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक खाद्य है। मनुष्यका मन एक बहुत बड़ी शक्ति है। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो.।—मन ही मनुष्यके बन्धन और मुक्तिका मुख्य कारण है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसाही उसका मन बनता है। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति.। आहार या भोजनके शुद्ध होनेपर मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे स्मृति या स्मरणशक्ति स्थायी रहती है। जिसकी स्मरण-शक्ति स्थिर है, वह प्रत्येक क्षेत्रमें उन्नति करता है। ससारमें जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे प्रायः सभी शाकाहारी थे। दूसरेका शोषण करना, साधन और शक्ति होनेपर भी प्राणिमात्रके कष्टको दूर करनेकी कोशिश न करना, दूसरेके कष्टका अनुभव करके दयाकी भावनाका उत्पन्न न होना इत्यादि भी हिंसाके ही अङ्ग और कारण हैं। पर सबसे बड़ी हिंसा है प्राणीसे प्राणका वियोग करना-कराना इत्यादि। जो सज्जन मानव-मानवमें सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करना चाहते हैं, जो युद्धोंको बंद करनेकी इच्छा रखते हैं, उनकी सेवामें नम्र निवेदन है कि वे अपने ही देशकी नहीं विश्वकी शान्तिके लिये भी प्राणिमात्रकी हत्या और कष्टको दूर करनेके लिये यत्नशील हों। अन्यथा, जैसा कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने कहा है—

'गवादि पशुओंके नष्ट होनेसे राजा और प्रजा दोनोंका विनाश हो जाया करता है।' इस वाक्यको सम्मुख रखते हुए राजा और प्रजाको विनाशसे बचानेके लिये पशुओंकी हत्याको बंद करावें। विश्वशान्तिका अमोघ उपाय है अहिंसा या प्राणिमात्रको न कष्ट देना, न मारना, न मरवाना।

अहिंसा परमो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जय.।

भक्त प्रेमनाथजी हकीम

(प्रेषक—स्व० श्रीशिवकुमारजी केडिया)

निकुञ्जोपासक श्रीप्रेमनाथजी हकीम लाहौरके सोने-चाँदीके व्यापारी लाला सतरामजी खत्रीके सुपुत्र थे। इनका जन्म सवत् १९७१ में हुआ था। ये चार भाई थे। इनकी माता प्रेमकी मूर्ति थीं। वे परम भगवद्भक्ता थीं। वे अपने जीवनमें बार-बार वृन्दावन आया करती थीं। उनके भक्तिमय सात्त्विक जीवनका बालक प्रेमनाथ-पर अद्भुत प्रभाव पडा।

प्रेमनाथजीकी हिंदीकी शिक्षा पर्याप्त थी। उर्दू भी वे जानते थे। अंग्रेजीमें उन्होंने मिडिलतक शिक्षा प्राप्त की थी। सोलह वर्षकी आयुमें ये लाहौरके लब्धप्रतिष्ठ हकीम काशीनाथजीके साथ काम करने लगे थे। धीरे-धीरे इन्हें रोगों और उनकी ओषधियों-का ज्ञान होने लगा। इनकी बीसवीं वर्षगाँठ पूरी होते-होते काशीनाथजी हकीमका देहावसान हो गया। तबतक प्रेमनाथजीने गवर्नमेंटसे हकीमीका प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया और काशीनाथजीकी ही दूकानमें अपना औषधालय खोल दिया। धीरे-धीरे इनका अनुभव बढ़ता गया और कुछ ही दिनोंमें इनकी अच्छे हकीमों-में गणना होने लगी।

औषधालयके कार्यमें दत्त-चित्त रहनेके साथ ही ये सत्सङ्ग-पिपासु भी थे। सत्सङ्ग प्राप्त करनेके लिये ये सतत सचेष्ट रहते थे। फलत इन्हें सत्सङ्ग मिल भी जाता था। जो महानुभाव मङ्गलमय भगवान्‌की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, दयामय प्रभु उनका मार्गप्रदर्शन करते ही हैं। करुणामय जगदीश्वरकी कृपासे प्रेमनाथजीके हृदयपर भक्तिकी छाप पड गयी। ये राजा तेजसिंहके मन्दिरमें नियमितरूपसे कीर्तनके लिये जाने लगे। वहाँ कीर्तन करनेवाले प्रभुप्रेमियोंकी [illegible] लगने लगी। हकीमजी उनमें प्रमुख थे। वे प्रति-दिन वहाँ दो-ढाई घटेतक प्रेममग्न होकर भगवान्‌के नामका मधुर ध्वनिमें कीर्तन करते थे। इनका स्वर भी अत्यन्त मधुर था। लाहौरमें जहाँ-कहीं कीर्तनका आयोजन होता, हकीमजी अपना सारा कार्य छोडकर वहाँ अवश्य उपस्थित होते।

हकीमजी गौरवर्णके अत्यन्त सुन्दर युवक थे। ये माथेपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और गलेमें तुलसीकी माला धारण करते थे। अत्यन्त सरल, स्नेही एवं शीलवान् थे। श्रीकृष्ण-लीलाके कितने पद इन्हें मुखस्थ थे। इनका मधुर पद-गायन सुनकर लोग आत्मविभोर हो जाते। अपने इन स्वाभाविक सद्गुणोंसे ये अपने समीपवर्त्ती लोगोंमें ही नहीं, अधिकाश लाहौरवासियोंके आदर एव प्रेमके पात्र बन गये थे। इनकी लोकप्रियता एव ख्याति उत्तरोत्तर बढती ही गयी।

भगवान्‌की दयासे इनका औषधालय भी अच्छी प्रकार चलने लगा। अधिकाश रोगियोंने डाक्टरोंके पास जाना छोड़कर इनके यहाँ आकर चिकित्सा कराना प्रारम्भ कर दिया। श्रीप्रेमनाथजी दरिद्र एव असहाय रोगियोंकी कभी उपेक्षा नहीं करते थे, अपितु उनके साथ अत्यन्त स्नेहका व्यवहार करते थे एवं उन्हें निःशुल्क औषध देते थे। कभी-कभी सर्वथा विवश रोगियोंको पथ्य आदि भी वे अपने ही पाससे दिया करते।

एक बार उनके पास एक अत्यन्त दीन रोगी आया। प्रेमनाथजीने उसे दूधके साथ लेनेके लिये दवा दी। रोगी दूधका नाम सुनते ही उदास हो गया, पर सकोचवश वह कुछ कह नहीं सका। घर जाकर उसने उधार दूध लिया। दवाके साथ दूध पी लेनेके बाद वह अँगोछेसे हाथ पोछने लगा, तो उसने देखा,

अँगोछेके छोरमें एक रुपया बँधा था। रोगीको समझते देर नहीं लगी। वह तुरत प्रेमनाथजीके पास आया और उनकी दयालुताके लिये उनका आभार प्रकट करने लगा। दीन रोगीके अँगोछेमें वह रुपया प्रेमनाथजीने ही चुपकेसे बाँध दिया था। इतना ही नहीं, प्रेमनाथजी अनाथ एवं लाचार रोगियोंके घर बिना बुलाये पहुँच जाते, अत्यन्त प्यारसे उन्हें देखते, सान्त्वना देते, निःशुल्क चिकित्सा करते तथा उनके खाने-पीनेकी भी कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देते। औषध देनेके साथ ही प्रेमनाथजी रोगियोंको भगवत्प्रेमकी बातें भी सुनाया करते। इस प्रकार इनके समीप आकर रोगी अत्यधिक लाभान्वित होते। उन्हें शारीरिक रोगसे ही नहीं, भवरोगसे भी मुक्त होनेकी औषध मिल जाती।

संवत् १९९०में, उन्नीस वर्षकी आयुमें, श्रीप्रेमनाथजी सर्वप्रथम अपने पिताके साथ वृन्दावन धाम गये। वह भूमि इन्हें अत्यन्त प्यारी लगी। फिर तो आप वर्षमें दो-दो तीन-तीन बार वहाँ जाने लगे और एक-एक बार दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह दिन ठहरने लगे। व्रजभूमि और रासमें इनकी अटूट श्रद्धा हो गयी। अतएव निधिवनमें श्रीहरिदास स्वामीके समाधि-मन्दिरमें आपने श्रीबाँकेबिहारीजीके प्रधान सेवाधिकारीसे दीक्षा ले ली और आप प्रिया-प्रियतमके अनन्य भक्त हो गये। युगल-मन्त्र-जप इनके जीवनका साधन बन गया। गुरु-चरणोंमें आपकी अद्भुत श्रद्धा थी।

व्रजवासियोंको आप अत्यन्त प्यार करते थे। कोई व्रजवासी लाहौर पहुँच जाता तो उससे अपने ही यहाँ ठहरनेका आग्रह करते और उसकी खूब सेवा करते। यदि उसकी कोई आवश्यकता होती तो अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार उसकी पूर्ति करते। इतनेपर भी कुछ कमी रह जाती तो अपने परिचितोंसे चंदा करके व्रजवासीको संतुष्ट करके ही लौटने देते।

वे व्रजवासियोंके भोलेपनसे अच्छी प्रकार परिचित थे। कोई व्रजवासी किसी बातपर इनसे नाराज हो जाता तो ये उसकी खुशामद करके, यहाँतक कि उसके पैर दबाकर अत्यन्त अनुनय-विनयसे उसे प्रसन्न कर लेते। व्रजमें आप जब भी जाते, व्रजवासियोंके घर जाकर उनकी सूखी रोटियाँ और छाछ माँगकर प्रसाद-की भाँति अत्यन्त आदर एवं श्रद्धापूर्वक खाते और बदलेमें कुछ-न-कुछ उसे अवश्य देते। व्रजवासियोंको देखते ही आप पुलकित हो उठते थे। किसी भी व्रजवासीकी निन्दा इन्हें असह्य थी। व्रजवासियोंकी ये खूब सेवा करते, किसी भी व्रजवासीसे मिलकर इन्हें लगता जैसे ये व्रज-प्राण श्रीकृष्णको ही पा गये हों। कोई भी अपरिचित व्रजवासी इनसे मिलकर अपरिचयका अनुभव नहीं कर पाता था। उसके साथ आप सगे-सम्बन्धीसे भी अधिक गाढ आत्मीयताका व्यवहार करते। आप जब-जब व्रज पधारते, सभी व्रजवासी इन्हें घेर लेते। आपको श्रीगिरिराजजीकी परिक्रमामें बड़ा सुख मिलता था। शरीरान्तके दो वर्ष पूर्व तो आपने श्रीगिरिराजजीकी डंडौती परिक्रमा की थी। वह परिक्रमा ग्यारह दिनोंमें एक रास-मण्डलीके साथ पूरी हुई थी। उसमें कई भक्त, सत्सङ्गी एवं व्रजके प्रेमी महानुभाव भी थे। सब लोग दिनमें डंडौती परिक्रमाका कार्य-क्रम पूरा करते और सूर्यास्त होते ही रुक जाते। रात्रिमें रासलीलाके द्वारा विश्वाधार नन्दनन्दन श्रीकृष्ण-की लीलाका आनन्द प्राप्त करते। आपने व्रजकी ८४ कोसकी भी यात्रा की थी।

संवत् १९९३ से श्रीसतरामजी (प्रेमनाथजीके पिता) वृन्दावन-वास करने लगे और तब श्रीप्रेमनाथ-जीने श्रीतेजरामजीके मन्दिरमें जाना बंद कर दिया। अब वे अपने औषधालयमें ही नित्य कीर्तन, सत्सङ्ग एवं कथा-वार्ता करने लगे। सत्सङ्ग-प्रेमियोंका समुदाय वहीं एकत्र होने लगा।

श्रीप्रेमनाथजीकी धर्मपत्नी कृष्णा देवीका स्वभाव उनके सर्वथा अनुकूल था। कृष्णा देवीकी रुचि धार्मिक थी। प्रेमनाथजीकी एक कन्या थी, जिसका नाम चन्द्रावली था। उसका विवाह उन्होंने गुजरानवाला जिलेके एक सम्भ्रान्त आस्तिक परिवारमें कर दिया।

लाहौरमें आप प्रायः कोई-न-कोई रासमण्डली बुलाया ही करते। वहाँ श्रीनिहालचदके मन्दिरमें रासलीला होती। रासमण्डलीका आप खूब सेवा-सत्कार करते। स्वय बार-बार वृन्दावन तो आते ही, निर्धन सत्सङ्गियोंको अपने व्ययसे साथ ले जाते थे। अन्नकूट आदि महोत्सवोंमें आप अत्यन्त उत्साह एव उल्लाससे भाग लेते और सहस्रों रुपये व्यय करते। इनकी सम्पूर्ण आय भजन-कीर्तन, व्रजवासी एव साधु-महात्माओंकी सेवा, रासलीला तथा व्रजधामकी यात्रामें ही व्यय होती।

आप सपत्नीक प्रतिदिन सूर्योदयके पूर्व श्रीप्रिया-प्रियतमकी सेवामें बैठ जाते और पूजा-आरतीके अनन्तर घटों युगल-मन्त्रका जप करते रहते। इनके जीवनका कण-कण और प्रत्येक क्षण श्रीराधाकृष्णके भजन, स्मरण, चिन्तन, लीला-दर्शन एव कथा-श्रवणमें व्यतीत होता। औषधालयका कार्य तो इनका व्यय चलानेके लिये निमित्त मात्र था, किंतु भगवत्कृपासे रोगियोंको इनकी औषध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती थी।

इन पक्तियोंके लेखकने स्वय देखा है, श्रीनिहालचदजीके मन्दिरमें रासलीलाका कार्यक्रम प्रायः चलता ही रहता था और उसका सारा व्यय हकीमजी ही वहन करते थे। एक बारकी बात है। वहाँ एक शूद्रा कुबडी थी। रासलीलामें हकीमजीकी आज्ञासे वह कुब्जा बनी। ठाकुर बने हुए बालकमें भगवान्का आवेश हो गया, उसकी कटि सीधी हो गयी। अब तो उसके मनपर अद्भुत भगवत्प्रभाव पड़ा। वह अपने पति श्रीठाकुरदासजीके साथ वृन्दावन-वास करने लगी। वृन्दावनमें ही उसने शरीर-त्याग किया।

श्रीप्रेमनाथजीने शरीर-त्यागके तीन दिन पूर्व ही सबसे मिलना छोड दिया था। विशेष सत्सङ्ग-प्रेमी एवं भजनानन्दी सज्जनोंसे मिलनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। सर्वसाधारणकी भीड़ न हो, इसके लिये उन्होंने पहरेकी व्यवस्था कर ली थी।

प्राण-त्यागसे कुछ समय पूर्व आपने महात्मा राधाचरणजी गोस्वामीका सत्सङ्ग-लाभ किया और अत्यन्त विनयपूर्वक उन्होंने कहा—'महाराजजी! मुझे भी वृन्दावन ले चलिये।'

गोस्वामीजीने बडे प्रेमसे कहा—'अच्छे हो जाओ, फिर तुम्हें वृन्दावन ले चलूँगा।'

हकीमजी बोले—'महाराज! श्रीराधारानीकी कृपासे मैं आपके पहले ही श्रीधाम पहुँच जाऊँगा।'

मृत्युसे दो घटे पूर्व उनके बहनोई मिलने आये। आपने उनके सामने धीरे-धीरे अत्यन्त शान्त मुद्रामें यह सवैया सुनाया—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरतर ध्यावैं।
जाहि अनादि, अनत, अखंड, अभेद, अछेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

सवैया पूरा होते-होते उनके नेत्र झरने लगे। सिसकते हुए आपने एक पद्य और कहा—

ऐसे नहीं हम चाहनहारे, जो आज तुम्हें, कल और को चाहैं।
फेंक दें आँखें निकारिके दोऊ, जो दूसरि ओर मिलावैं निगाहैं॥
लाख मिलें तुम से बढ़के, तुमहीको चहैं, तुमहीको सराहैं।
प्रान रहै जब लौं, तब लौं हम नेह कौ नातौ सदाही निबाहैं॥

इसके अनन्तर आप मूर्च्छित होने लगे। 'राधे-राधे' रटते हुए आपने अपनी इह-जीवन-लीला समाप्त की।

आपके आदेशानुसार आपका अस्थि-प्रवाह श्रीगिरिराज-जीकी मानसी-गङ्गामें किया गया।

भक्त श्रीप्रेमनाथजी हकीम इस धरतीपर केवल २८ वर्षतक जीवित रहे, किंतु इसी अल्पकालमे आपने दरिद्रनारायण एव दरिद्र रोगियोंकी अद्भुत सेवा ही नहीं की, अपना जीवन इतना प्रभु-प्रेममय बना लिया था कि उनके सम्पर्कमें आनेवाले कितने ही जन भगवद्-भजन एव प्रभुचिन्तनमें लगकर अपने कल्याणका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, फिर उन्हें निकुञ्जकी प्राप्ति हुई, इसमें तो सदेहके लिये स्थान ही नहीं। आपके जीवन-में कितने ही चमत्कार हुए, किंतु आप चमत्कारोंकी चर्चातक नहीं करते थे।

मनुष्य-जीवन और उसका उद्देश्य

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीअद्वयचैतन्यजी)

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

अर्थात्, मानव-जन्म, मुक्तिकी इच्छा और महापुरुष-का सङ्ग—ये तीन दुर्लभ फल देवानुग्रहसे ही मिल सकते है। इनमेंसे यदि दो मिल जायँ तो तीसरा अपने-आप ही मिल जाता है। जैसे—मानव-जन्म मिला और मुक्तिकी इच्छा भी उत्पन्न हो गयी तो महापुरुष या गुरुका सङ्ग जरूर मिल जायगा। हमें मानव-जन्म तो मिल गया, परतु ऐसा जन्म पाकर भी उसके मूल उद्देश्यको भूल जानेके कारण हमें मुमुक्षुत्व या महा-पुरुषका सङ्ग नहीं मिलता। इन दोनोंमेंसे एक भी न मिला तो हमारा यह मानव-जन्म व्यर्थ हो जायगा। कहते है कि चौरासी लाख जन्मोंके बाद हमें यह मनुष्य-जन्म मिला हैं। बडे परितापकी बात है कि ऐसे दुर्लभ जीवनका हम सदुपयोग नहीं कर रहे हैं और इसीलिये ससारसे छुटकारा न पाकर 'पुनरपि जनन पुनरपि मरण पुनरपि जननीजठरे शयनम्'—इस प्रकार बार-बार जन्म-मरणरूप ससार-चक्रमें आवर्त्तन कर रहे हैं।

बड़े पुण्यफलसे यह मानव-शरीर हमें मिला और ससारके रोग-शोक, मृत्यु आदि दु.खोंको भी हमने जाना। थोड़ा-सा विचार करनेपर हमें यह पता लगता है कि सुख तथा शान्तिके लिये हम ससारमें जिस वस्तु-को चाहते है, वह वस्तु हमें सुखके बदले परिणाममें काफी दु.ख पहुँचाती है। विषय-भोगोंसे इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख मिल सकता है, किंतु परम सुख कभी नहीं मिलता। ऐन्द्रिय सुख अनित्य और दु.खदायक है तथा परम सुख नित्य और आनन्ददायक है। इस परम सुख तथा शान्तिको प्राप्त करनेके लिये ही मानवकी यह यात्रा अनादिकालसे ही चल रही है।

विचारद्वारा इस बातको समझकर भी हम अपने लक्ष्यकी ओर तत्परतासे चलनेका प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। बल्कि जैसे ऊँट काँटा-घास चबानेसे खून निकलता देखते हुए भी काँटा घास ही खाना चाहता है, वैसे ही हम भी ससारके भोगोंसे सुख उठाना चाहते हैं और फलतः सदा अशान्ति तथा दु.खोंके शिकार बने पछताते रहते हैं।

भागवतमें कहा गया है—

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

अर्थात् जो खुले हुए मुक्तिद्वारस्वरूप मनुष्य-जीवन-को पाकर भी चिडियोंके समान घरमें आसक्त रहता है, उसको पण्डित लोग आरूढच्युत अर्थात् ऊँचे चढ़कर गिरा हुआ कहते हैं।

अबतक हमने देखा कि मनुष्य-जन्म-प्राप्तिमें एक गम्भीर लक्ष्य या उद्देश्य छिपा हुआ है। अतएव प्रश्न होता है—यह उद्देश्य क्या है? पर इसका पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि परम सुख तथा पराशान्तिकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका यथार्थ उद्देश्य है और वह परमसुख या पराशान्ति भूमामें—असीम वस्तुमें है, अल्प—असीममें नहीं—'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।' हमें इसी परम सुखको ढूँढ़ना है और यह निरतिशय सुख केवल आत्मज्ञानसे ही मिल सकता है। श्रीमच्छंकराचार्यने कहा है—

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म धारितम्।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया॥

अर्थात् जीवन्मुक्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिये ही नित्य-मुक्त आत्माने यह मानव-जन्म लिया है, न कि ससार-कामनासे।

असलमें मनुष्य है तो आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, नित्य आत्मा ही, परतु यह ज्ञान उसे इसलिये नहीं होता कि वह अध्यास तथा अज्ञानके कारण अपने स्वरूपको भूला हुआ है। यह बात इस कहानीसे स्पष्ट हो जायगी। किसी दिन बाघका एक छोटा-सा बच्चा बकरोंके दलमें आ गया और बकरोंके साथ ही उसने अपना बचपन बिताया। बकरे-बकरियोंके सङ्गसे उसका पूरा चाल-चलन, खान-पान बकरेके समान हो गया था और उसने अपनेको एक बकरा ही समझ लिया। बकरा जैसे बोलता है, वह भी वैसे ही बोलने लगा। उसे अपने स्वरूपकी कुछ भी याद नहीं रही। किसी दिन एक दूसरे बड़े बाघने दूरसे देखा कि एक बाघ बकरोंके साथ घास चर रहा है और बकरोंके समान ही मिमिया रहा है। तब उसे बडा आश्चर्य हुआ। उसने धीरे-धीरे निकट पहुँचकर बकरोंमेंसे उस बाघको पकड़ लिया और कहा—'अरे तू! बाघका बच्चा होकर बकरोंके साथ घास क्यों चर रहा है?' बाघको देखकर पहले तो उसने बकरेकी तरह चिल्लाना शुरू किया और भागनेकी भी कोशिश की। आगन्तुक बाघ उसे जितना ही समझाता 'तू बकरा नहीं है, बाघ है' वह उतना ही जोरसे में-में चिल्लाता। वह बाघ बड़ी विपत्तिमें पड गया, क्योंकि वह 'मैं बकरा हूँ' इस मिथ्या ज्ञानसे उसको मुक्त नहीं कर पाता था। अब अचानक उसके विचारमें एक नया उपाय सूझा। वह उस बकरे-बाघको पासके एक तालाबके किनारे ले गया और डॉटता हुआ बोला—'देख, इस जलमें तेरा और मेरा मुख—क्या दोनोंमें कुछ अन्तर मालूम होता है?' ऐसे दिखलाने और समझानेसे उस बकरे-बाघका भ्रम तुरत मिट गया और उसे ज्ञान हो गया कि वह वस्तुतः बाघ ही है, बकरा नहीं। इस ज्ञानके होने ही उसने इतने जोरसे गर्जन किया कि पासका सारा पहाड़-जगल काँप उठा। इस प्रकार उसको स्वरूपका ज्ञान हो गया।

इसी तरह सच्चिदानन्द, नित्य आत्मस्वरूप होते हुए भी मनुष्यने देह, मन, बुद्धि आदिमें आत्मभावका आरोप करके सदा अपनेको ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि 'मैं देहविशिष्ट जीव हूँ'—यह उसकी मिथ्या प्रतीति टूट नहीं रही है।

श्रीशंकराचार्यने कहा है—

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥

अर्थात्, मैं सम, शान्त, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही हूँ, असत्-रूप देह नहीं हूँ—विज्ञजन इसीको ज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान हमें इसीसे नहीं मिल रहा है कि मिथ्या अध्यासके कारण हमारा यथार्थ स्वरूप ढँक गया है और 'मैं कौन हूँ?' इस प्रकारके विचारका भी उदय नहीं होता। यदि उपर्युक्त कहानीके आगन्तुक बाघकी तरह कोई सद्गुरु मिल जायँ तो हमारा यह देहात्माभिमानरूप अज्ञान तुरंत टूट सकता है और

'निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केसरी'—सिंह जैसे पिंजरेसे मुक्त होता है, वैसे ही हम भी ससार-जालसे मुक्त हो सकते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुत्व तीव्र होनेसे गुरु अवश्य मिल जाते है। अब देखना पडेगा कि केवल विचार और पुरुषकारकी सहायतासे इस मुमुक्षुत्व तथा मुक्तिके लिये कैसी साधना होनी चाहिये, जिससे मनुष्य तुरत लक्ष्यपर पहुँच जाय।

सभी साधनाओंका एक ही उद्देश्य है—चित्तशुद्धि। शास्त्रोंमें भी चित्तका मल दूर करनेके लिये विभिन्न साधनोंका उपदेश दिया गया है। उनमेंसे साधन-चतुष्टय—(१) नित्यानित्य वस्तुओंका विवेक, (२) इहलोक और परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) शम-दमादि छ सम्पदाएँ और (४) मुमुक्षुत्व—ये चार साधन प्रधान माने गये हैं। यज्ञ, जप, पूजा, नित्यकर्म इत्यादि सभी निष्काम भाव-तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये जायँ तो उनसे भी चित्तकी शुद्धि अवश्य होती है। परतु मनुष्य जब शास्त्रानुसार विचार और बुद्धिसे यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं स्वरूपत' ब्रह्म ही हूँ, मिथ्या देहाभिमानके कारण ही यह बन्धन है,' तब वह क्यों श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान), विचार इत्यादि अन्तरङ्ग यानी साक्षात् साधनोंको छोड़कर यज्ञ—पूजादिमें निरत रहेगा ? जिनको 'तत्त्वमसि' सुनते ही पक्का निश्चय हो जाता है कि 'अह ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, उन उत्तम अधिकारियोंके लिये तो किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि उनके चित्तमें तनिक भी मल न रह जानेके कारण श्रवणके साथ ही उन्हें ब्रह्मज्ञान हो जाता है। किंतु दूसरे, जिन साधकोंके चित्तमें कुछ मल शेष रहनेके कारण केवल बुद्धि और विचारसे ही अद्वैतका निश्चय होता है, उनको भी इस निश्चयको पक्का और दृढ़ करनेके लिये 'मैं नित्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ेगा। इसीसे उनका चित्त पूर्णरूपसे शान्त तथा निर्मल हो जायगा। ऐसा साधन बताते हुए मुनि अष्टावक्रने विचारवान् साधकके लिये कहा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥

अर्थात् हे वत्स! यदि मुक्तिकी इच्छा करते हो तो विषयोंको विष समझकर छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, सतोष तथा सत्यका अमृत समझकर सेवन करो।

तदनन्तर मुनि फिर अज्ञाननाशका यह उपाय बतलाते हैं—

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

अर्थात् 'मैं एक और विशुद्ध बोधस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे निश्चयरूप वह्निसे अज्ञानरूप जगलको जलाकर शोकहीन और सुखी हो जाओ।

अत हमें अपनेको विश्वास और दृढ़ताके साथ समझाना पड़ेगा कि 'मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही हूँ' और इसके साथ-साथ विषयोंका त्याग तथा क्षमा, दया, सत्यादिका अभ्यास करना पड़ेगा। तभी हमारा चित्त पूरा शुद्ध होगा और तब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ बोध अपने-आप अवश्य उत्पन्न हो जायगा। फिर अज्ञानरूप कुछ भी बाधक नहीं रहेगा। विचारवान् साधकके लिये यही मार्ग उत्तम कहा जाता है। दूसरे मार्गोंपर चलनेसे वृथा समय नष्ट होता है, जो बहुत ही हानिकारक है, क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है—पता नहीं, कब समाप्त हो जाय। और मानव-जन्म ही मुक्तिका क्षेत्र है। इसलिये हमें इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेना है। अबतक हमने देखा कि अद्वैतका दृढ़ निश्चय यानी यथार्थ स्वरूपमें अवस्थान ऊपर कहे गये अन्तरङ्ग साधनोंसे ही शीघ्र हो सकता है।

दूसरी ओरसे भी थोड़ा-सा विचार कीजिये। यज्ञ, जप, पूजा, दैनन्दिन कर्म इत्यादि साधन द्वैतभावसे

ही किये जा सकते हैं। और विचारसे तो यह सिद्ध होता है कि द्वैतबोध मिथ्या है। अब मिथ्याके द्वारा सत्यकी उपासना कैसे हो सकती है। दो मिथ्याओंको जोडनेसे एक सत्य नहीं होता, और अज्ञानसे भी अज्ञानका नाश सम्भव नहीं है। अज्ञानका विनाश तद्विपरीत ज्ञानसे ही होता है, जैसे अँधेरा तद्विपरीत उजियालेसे मिट जाता है। किंतु ज्ञानके नित्य होनेके कारण किसीको उसे प्राप्त नहीं करना पड़ता। तब क्या साधन करना पड़ेगा? जन्म-जन्मान्तरकी विपरीत भावनाके तथा देह-मनके प्रति मिथ्या आत्माभिमान-रूप अज्ञानके कारण यह नित्य ज्ञान ढक गया है, जैसे कभी सूरज बादलसे ढक जाता है। साधनका केवल यही उद्देश्य है कि इस अज्ञानरूप मलको हटा दिया जाय। यथार्थ सत्यस्वरूप आत्माके विचार, मनन और निदिध्यासनसे यह मल तुरत ही हट जा सकता है। जैसे इस समय 'मैं देहविशिष्ट एक जीव हूँ' ऐसा बोध हो रहा है, वैसे ही उक्त साधनसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अडिग, दृढ़ प्रत्यय हो जायगा और फलतः रोग-शोक-पूर्ण ससारचक्रसे निकलकर हम इसी जन्ममें जीवन्मुक्तिरूप शाश्वत सुख पा लेंगे और तब हम भी कह सकेंगे—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्॥

हे गुरो! आपकी कृपासे मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, ससारबन्धनसे मुक्त हूँ, मैं नित्यानन्द-स्वरूप हूँ और पूर्ण हूँ।' यही आत्मसाक्षात्कार मानव-जीवनका लक्ष्य या उद्देश्य है।

ॐ तत् सत्।

कामना-पूर्तिसे सुखकी इच्छा ही दुःख है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'ससारमें सबसे अधिक दुखी पोप है!' श्रोता काँप उठते थे, लूथरकी वाणी वज्रके समान सीधी और भयकर चोट करती थी। उसके प्रत्येक शब्द पोपद्वारा प्रचारित पाखण्डको छिन्न-भिन्न करनेवाले हथौड़े बन-कर गिरते थे—'वह पैसेके लिये सारे समाजको धोखा दे रहा है, किंतु स्व वह समझता है कि परमात्माको कोई धोखा नहीं दे सकता।'

'आपकी बात सच भी हो तो ।' एक श्रोता सभामें उठ खडा हुआ था।

'सच भी हो तो—क्या मतलब? सच ही है!' लूथरका घनघोष सुनायी पडा। 'पैसा देकर पापियोंके पापका क्षमापन-पत्र वह दिलाता है! पोपको पैसा देनेसे परमात्मा तुम्हारे पाप क्षमा कर देगा—तुम क्या इतने मूर्ख हो कि परमात्माको घूसखोर मानो!'

'मैं दूसरी बात कह रहा था।' श्रोता अभी खडा ही था। 'पोप महान् दुखी कैसे है। उनके पास क्या अभाव है? उन्हें कोई शारीरिक क्लेश भी तो नहीं।'

'अच्छा!' लूथर खुलकर हँस पड़े—'तुमने सुना नहीं, तुम्हारे पोप रात्रिमें एक क्षण सो नहीं पाते। उन्होंने सैनिकोंकी सख्या दुगुनी कर दी है।'

'डाकुओंपर परमात्माका क्रोध उतरे!' महिलाओंमेंसे अनेकोंने एक साथ शाप दिया। 'वे पूज्यपादरियोंको भी लूट लेते हैं और पोपको भी लूटनेपर तुले हैं।'

'उनके पास भी पोपका पाप-क्षमापनपत्र है। उन्होंने जन-साधारणसे कई गुने अधिक पैसे देकर उन्हें खरीदा है।' लूथरकी चोट बडी भयङ्कर थी। 'स्वय पोपने उस पत्रको मुद्राङ्कित किया है। उसमें लिखा है—'प्रभुने तुम्हारे सब पिछले पाप और वे पाप, जो तुम आगे करोगे, क्षमा कर दिये!'

'क्षमापन-पत्रमें अवश्य यह लिखा होगा।' महिलाओंके ही नहीं, दूसरे भावुक श्रोताओंके मुख भी लटक गये। 'उसमें लिखा तो यही होता है। पोप महान् उसे मुद्राङ्कित करते हैं।'

'अब वे डाकू कुछ भी करनेके लिये स्वतन्त्र हैं! वे पोपको लूट सकते हैं, उसकी हत्या कर सकते हैं।' लूथर-अग्नि-वर्षा करते जा रहे थे। 'वे मुझे और आप सबको मार सकते हैं। उन्हें कोई पाप नहीं होगा। उन्हें परमात्मा क्षमा कर देगा; क्योंकि पोपने उन्हें क्षमापन-पत्र दे दिया है। पोप तो परमात्माको भी आज्ञा दे सकते हैं।'

'झूठी बात! बंद करो बकवास! ऐसा कभी नहीं हो सकता!' श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। 'सर्वशक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता।'

'सज्जनो! मैं आपके मतसे सर्वथा सहमत हूँ।' लूथर—शब्दोंके जादूगर लूथर मुस्कराते हुए कह रहे थे। 'सर्वशक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता। न पोप और न उनके अनुचर। इसीलिये क्षमापन-पत्र पाखण्ड है। उसे लेकर डाकू लूटने और हत्या करनेके अपराधसे छूट नहीं सकते और हमारे-आपके पाप क्षमा नहीं हो जाते।'

शान्ति—निस्तब्ध शान्ति व्याप्त हो गयी सभामें। सूई गिरे तो उसका शब्द सुन लिया जाय। सत लूथरके शब्दोंके सत्य सीधे श्रोताओंके हृदयमें उतर गये थे।

'पाखण्ड स्वयं पाप है।' लूथर आगे बोल रहे थे। 'मुझे पता नहीं कि निर्णयके दिन इस घोर पापका प्रवर्तक कहाँ भेजा जायगा, उसे क्या दण्ड मिलेगा, किंतु दण्ड तो वह अभी भोग रहा है। रुपया कैसे आये, कहाँसे आये रुपया—इस चिन्तासे वह अशान्त है। चिन्ताने उसे इतना दुखी कर दिया है कि उसको निद्रा लानेके लिये अपने चिकित्सकोंकी सहायता लेनी पड़ती है। स्वयं उसपर परमात्माका अभिशाप उतर पड़ा है।'

× × ×

'मार्टिन लूथर मार डालने योग्य है!' पादरियोंका पूरा समुदाय विरोधी हो उठा था। 'वह पोपका विरोध करता है। उसे चौराहेपर खड़ा करके पत्थरोंसे मारते हुए टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये।'

पूरे देशके पादरी शत्रु हो गये थे। पादरियोंके संकेतपर चलनेवाली श्रद्धालु जनता भड़क उठी थी। समाजका उग्र एवं आवारा समुदाय सदासे धर्म-पुरोहितोंके हाथमें रहा है। पादरी प्रोत्साहित कर रहे थे इस वर्गको कि वे लूथरको पीडित करें। शासकोंमें भी समाजके धर्म-गुरुओंका आदेश अस्वीकार करनेका साहस नहीं था। लूथर आज या कल बंदी बना लिये जायँगे—निश्चित जान पड़ने लगा।

'लूथर! तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?' एक मित्रने ऐसे कठिन समयमें नित्य प्रफुल्ल लूथरसे पूछा। 'तुम कैसे इतने सुखी रह पाते हो?'

'मुझे चाहिये क्या कि मैं चिन्ता करूँ?' खुलकर हँसना लूथरका अपना स्वभाव है। अपने उसी निर्मल स्वभावसे हँसते हुए वे कह रहे थे—'चिन्ता ही दुःखकी जननी है। जो कुछ चाहेगा, वह दुखी होगा। जितना चाहेगा पदार्थोंको, उतना दुःख पायेगा। मेरा पालक तो परमपिता परमात्मा है। वह दयामय है। मुझे जैसे चाहेगा, रखेगा। मुझे कुछ पाना है नहीं तो दुःख कहाँसे साहस पायेगा मेरा स्पर्श करनेका।'

'तुम कहते हो कि बाइबलका सर्वसाधारणकी भाषाओंमें अनुवाद होना चाहिये?' मित्रने एक दूसरा ही प्रश्न किया।

'यदि हमारा विश्वास हो कि बाइबल परमात्माका संदेश है, लूथर गम्भीर हो गये—'तो हमें उसे समझना

चाहिये। वह हमारी भाषामें न होगा तो हम उसे समझेंगे कैसे। लोग बाइबलके संदेशके अनुसार आचरण करें अथवा लोग बाइबलके वाक्योंको पढ़ें, भले आचरण उसके विरुद्ध करें—इन दोनोंमें कौन-सी बात श्रेष्ठ है, यह भी क्या तुम्हें समझाना होगा ?'

'तुम्हें शैतानने अपने सब तर्क सौंप दिये हैं।' मित्र हँस पड़ा। वह आक्षेप नहीं कर रहा था। पादरी-समुदाय जो बात लूथरके सम्बन्धमें लोगोंको सुनाता था, उसीको उसने हँसीमें कह दिया था।

'मनुष्यको बहका देना शैतानका स्वभाव है!' लूथर भी हँस पड़े। 'किंतु शैतानके तर्कोंसे देवदूतके तर्क दुर्बल नहीं हुआ करते। जब दोनोंके सम्मुख तर्क करनेका सुअवसर हो, विजयी तर्क देवदूतका होता है। एक बात और—शैतान अपनेको परमात्माका प्रतिनिधि बताकर लोगोंको बहकाता है, उन्हें अपना अनुगामी बननेको कहता है और देवदूत किसीको अपना अनुगामी नहीं बनाते। वे सबको सदा सीधे परमात्माके शरणापन्न होनेकी प्रेरणा देते हैं।'

'अच्छा, अब इन बातोंको छोड़ो! मैं विशेष प्रयोजनसे तुम्हारे पास आया हूँ।' मित्रने गम्भीरतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। 'हमारे देवदूतको शैतान नष्ट करनेपर तुला है। तुम शीघ्र बंदी बनाये जानेवाले हो। देश छोड़कर आज ही तुम्हें प्रस्थान कर देना है। यात्राकी व्यवस्था हमलोगोंपर छोड़ दो।'

'परमात्मा जिसकी रक्षा करना चाहेगा, शैतान उसकी हानि करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा।' लूथर फिर हँस रहे थे। 'मेरे प्रति तुमलोगोंका प्रेम ही तुम्हें भयभीत कर रहा है, किंतु मैं अपनी कर्म-भूमि छोड़कर अभी कहीं नहीं जाना चाहता।'

'तुम बंदी कर लिये जाओगे और वे तुम्हें मार डालेंगे।' मित्रके स्वरमें कातर अनुरोध था। 'अब परमात्माके लिये यहाँसे कुछ समयके लिये बाहर चले जाओ! हठ मत करो।'

'मृत्यु इतनी भयानक नहीं है कि उसके भयसे कर्तव्यका त्याग किया जा सके।' लूथर अपने निश्चयपर स्थिर बने रहे। 'परमात्माकी इच्छा पूर्ण हो! क्या प्रभु ईसाने हमें यह समझाया और स्वयं अपने आदर्शसे सिखलाया नहीं है ?'

× × ×

'यह पोपके पाप-क्षमापन पत्रको पाखण्ड कहता है।'

'यह पवित्र बाइबलका सभी भाषाओंमें अनुवाद करा देना चाहता है।'

'यह शैतानका समर्थक है।' पादरियोंका रोष पराकाष्ठापर पहुँच चुका था। मार्टिन लूथर बंदी बना लिये गये थे। पादरी माँग कर रहे थे—'इसे प्राणदण्ड दिया जाय!'

लूथरके शिष्य और समर्थक भी यह आशा नहीं कर सकते थे कि उनको मुक्त कर दिया जायगा। उनकी बड़ी-से-बड़ी माँग इतनी थी—'लूथर मारा न जाय। उसे आजन्म कारावास दिया जाय।'

'तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो ?' पूछा गया लूथरसे।

'मैंने कोई अपराध नहीं किया।' लूथर निर्भय स्थिर खड़े थे। 'सत्यको स्पष्ट करना कोई अपराध नहीं है।'

'तुम्हारे ये अपराध!' न्यायाधीश स्वयं नहीं समझ पा रहे थे कि सचमुच लूथरने कोई अपराध किया भी है।

'पाप-क्षमापन-पत्र पाखण्ड है!' लूथरकी गम्भीर वाणी गूँजी। 'यदि ऐसा नहीं है तो क्या न्यायालय यह घोषणा करनेको उद्यत है कि जिनके पास पाप-क्षमापन-पत्र है या जो उसे प्राप्त कर लेंगे, उन्हें कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता होगी, उन्हें उनके किसी कार्यका दण्ड नहीं दिया जायगा ?'

'ऐसा कैसे सम्भव है !' न्यायाधीशने निकलनेका मार्ग निकाला। 'परमात्मासे पाप क्षमा करा देनेके लिये वे पत्र दिये जाते हैं।'

'परमपिता परमात्मा पहलेसे जिनके पाप क्षमा कर चुका' लूथरने व्यंग किया—'वे निष्पाप नहीं हुए, यह आप कहना चाहते हैं। आप उन्हें दण्ड देंगे, जिन्हें प्रभु दण्डनीय नहीं मानता।'

'न्यायालय तुम्हारे तर्क सुननेको प्रस्तुत नहीं है।' सत्ताका सहारा लेनेके अतिरिक्त अत्याचार-दुर्बल शासनके पास ऐसी अवस्थामें और क्या आश्रय हो सकता था।

'जानता हूँ।' लूथरने एक तीक्ष्ण व्यंग और किया। 'न्यायालय तो परमपिताके संदेश समझा देनेपर भी प्रतिबन्ध रखना चाहता है। वह नहीं चाहता कि लोग अपनी भाषामें उसे पाकर समझ लें और उसका आचरण करें; वह केवल इतनी अनुमति दे सकता है कि लोग उसके अक्षरोंको रट लिया करें।'

'तुमने अपने अपराध स्वीकार कर लिये हैं।' न्यायाधीश विवश थे—कितनी विडम्बना थी, वे न्याय करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं थे। उनकी नियुक्ति एक निश्चित निर्धारित तन्त्रके अनुसार निर्णय करनेके लिये थी। उन्होंने अपनी पूरी क्षमता घोषित की—'यदि तुम क्षमा माँग लो तो छोड दिये जा सकते हो।'

'क्षमा ! किसलिये ?' लूथर हँस पड़े। 'एक निरपराध पाखण्डका प्रसार करनेवाले वर्गसे क्षमा माँग ले!'

'तब तुम्हें प्राणदण्ड दिया जाता है!' न्यायाधीश उठ गये निर्णय सुनाकर। वे निर्णय ही सुना सकते थे, किसीको प्राणदण्ड देना उनकी शक्तिमें नहीं था। कम-से-कम लूथरको प्राणदण्ड तो वे और उनका शासन-तन्त्र नहीं दे सकता था—दे नहीं सका। कारागारसे लूथर निकल गये—कैसे निकल गये, एक रहस्य ही है।

× × ×

'पोप आपके शत्रु हो गये हैं!' अनेकों शुभचिन्तकोंने समय-समयपर लूथरको सूचना दी—'आपको अधिक सावधान रहना चाहिये।'

'अत्यन्त रोगाक्रान्त प्राणी चिडचिड़ा हो जाता है। वह अपने चिकित्सकको ही मारना चाहता है।' लूथर सच्चे दयार्द्र हृदयसे कहते थे। 'दुखी प्राणी दयाका पात्र है। उससे कैसा द्वेष और भय तो उससे क्या।'

'संत मार्टिन लूथर!' जनताने सत्यके सम्मुख सिर झुका दिया था। श्रद्धावनत समाजने लूथरके उपदेशोंका आदर करना प्रारम्भ कर दिया था। उन समदर्शीके आदर्श व्यापक बनने लगे थे।

'परमात्माकी कृपा-प्राप्तिकी कामना करो!' लूथरका प्रधान उपदेश था। 'यह प्रभुत्व और सम्पत्ति वहींतक आदरणीय हैं, जहाँतक चित्त उन्हें प्रभुका प्रसाद समझे और प्रभुकी एवं दीनोंकी सेवामें उनका सद्व्यय होता रहे। अन्यथा वे शैतानके सहायक बन जाते हैं। वे 'अधिक पाओ' इस कामनाको बढ़ा देती हैं। कामनाओंसे सुख-प्राप्तिकी अपेक्षा—यही तो दुःख है। इससे दयनीय कोई स्थिति नहीं कि मनुष्य स्वयं अपना दुःख बढ़ाता जाय।'

'क्रन्दनका अविरल संसार !'

यही सोचकर वे मनमोहन लेंगे मेरा सुमधुर प्यार !
छेद कपा डाले निज तनुमें सहकर भी भीषण दुख-भार !
तब उस बेचारी मुरलीको मिला हाय ! प्रियतमका प्यार !
पिया-मिलन परिहास नहीं है, क्रन्दनका अविरल संसार !!

—ब्रह्मानन्द 'बन्धु'

नारी और नौकरी

(लेखक—प्रो० श्रीरामनारायणजी सोनी, एम्० कॉम्०, एल्-एल्० बी०)

आजकल सर्वत्र ही नारी-जागरणकी बात सुनी जाती है। 'उनपर सदासे अत्याचार होता आया है, अब वे शिक्षिता होकर अपना न्याय्य अधिकार चाहती हैं। पुरुषोंकी भाँति सभी काम करनेका, विशेषकर अर्थोपार्जनके लिये कार्य करनेका उन्हें अधिकार होना चाहिये। वे धनोपार्जनका कार्य न कर सकनेके कारण ही पुरुषोंकी गुलाम बननेको मजबूर हो रही थीं। पुरुष मनमाने ढंगसे इन्द्रियोंको चरितार्थ करता है; स्त्री वैसा करती है तो पूरा दोष समझा जाता है—वैसा करनेपर स्त्रियोंको इस लोकमें कितने ही कष्ट सहने पड़ते हैं और उन्हें परलोकका भय दिखलाया जाता है।' इस प्रकार विभिन्न प्रकारके यथेच्छाचाररूप अधिकारोंके लिये दावा सुननेमें आता है। बहुत-से युवक और युवतियाँ इन सब बातोंको प्रमाणित सत्य मान बैठे हैं और पाश्चात्त्य देशोंकी स्त्रियोंके ऐसे अधिकारोंका प्रसार दिखलाकर वे मानो हमलोगोंके लिये गन्तव्यपथ निर्देश कर रहे हैं।

यह अवश्य ही ध्यानमें रखनेकी बात है कि हिंदुओंके सिवा अन्य किसी भी जातिने आजतक भगवान्‌को स्त्रीरूपमें नहीं देखा, नहीं पूजा। किसीने कल्पना भी नहीं की। यदि सचमुच हम स्त्रीको हेय समझते, तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते, तो सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को स्त्रीके आकारमें कभी नहीं देखते, दुर्गाके रूपमें उनकी अर्चना न करते। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी बार-बार नारी-देवता (दुर्गा) की शरण लेनेपर असुरोंके हाथसे रक्षा होनेकी कथाएँ हमारे धर्मग्रन्थोंमें नहीं लिखी जातीं, विपत्ति पड़ते ही घर-घर चण्डीपाठ न होता। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' हमारी एक प्रचलित लोकोक्ति है।

भारतकी स्त्रियोंमें नौकरीका शौक बढ़नेसे विकट समस्याएँ उपस्थित होने लगी हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ जब अर्थोपार्जनके कर्मक्षेत्रमें उतर आती हैं, तब स्वाभाविक ही 'आवश्यकता और पूर्ति' के नियम (Law of demand and supply) के अनुसार वेतनकी दर घट जाती है। जितने स्थान स्त्रियोंको मिल जाते हैं, उतने स्थानोंपर पुरुषोंको कार्य नहीं मिलता—वे कामपर जाते तो उनमेंसे बहुत-से लोग विवाह करके कुछ दूसरी स्त्रियोंको नौकरीकी फजीहतसे बचा सकते; परंतु काम न मिलनेसे वे ऐसा नहीं कर सकते। अतएव उनकी बेकारीके साथ ही उनसे प्रतिपालित होनेकी सम्भावनावाली स्त्रियोंको भी धनोपार्जनके लिये नौकरी करनी पड़ती है। अतएव जितनी ही अधिक स्त्रियाँ नौकरीके क्षेत्रमें बढ़ती हैं, उतने ही विवाहोंकी संख्या घटती है। जब बेकार आदमी अपना ही पेट नहीं पाल सकता, तब वह विवाह कहाँसे करे। पाश्चात्त्य देशोंमें यह समस्या बहुत ही विकट हो गयी है और दुर्भाग्यकी बात यह है कि भारत भी इसी पथपर अग्रसर हो रहा है। इस प्रकार बहुत-सी स्त्रियोंके बहुत कालतक अविवाहिता रहनेसे और अर्थोपार्जनके क्षेत्रमें पुरुषोंके साथ प्रतियोगिता करनेसे स्वाभाविक ही पुरुष और स्त्रियोंमें एक द्वन्द्व—एक विद्वेषभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रतियोगिताके क्षेत्रमें दीर्घकालतक पुरुषोंके साथ कार्य करनेसे उनमें स्त्रीस्वभाव-सुलभ कोमलताके बदले पुरुष-सुलभ कठोरता आ जाती है। सहानुभूतिकी प्रेरणा कम हो जाती है, जो दीर्घकालके अभ्यासके अभावसे उनको मातृत्वके तथा गृहिणीत्व—विवाहित जीवनके और गृहस्थीके कामके लिये अनुपयुक्त बना देती है। मातृत्वके और गृहिणीत्वके काममें फिर उन्हें वैसा सुख नहीं मिलता, वर कष्ट होता है। दूसरेकी सुख-सुविधाके लिये अपनी सुख-सुविधाका त्याग करनेकी प्रवृत्ति और शक्ति, जिसपर विवाहित जीवनकी सुख-शान्ति प्रधानतया निर्भर करती है, उनमें बहुत कम हो जाती है। अतएव वे अपने विवाहित जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेमें अयोग्य हो जाती हैं। इसीसे फिर तलाककी प्रवृत्ति बढ़ती है। जब स्त्री-पुरुष दोनों ही दिनभर काम करके थके हुए, नाना प्रकारके झंझटोंमें हैरान हुए और विविध तापोंसे तपे हुए घर लौटते हैं, तब उनमेंसे कौन और कब किसको सेवा और सहानुभूतिकी शान्ति धारा सींचकर सुखी, शीतल कर सकेगा ? और यदि परस्पर आवश्यकतानुसार यत्न-सेवा-सहानुभूति ही नहीं मिलेगी, तब विवाहकी सफलता कहाँ है। तब तो वह घर घर नहीं है—बासामात्र है।

कहा जाता है कि 'जब गरीब घरोंकी या नीची कही जानेवाली जातियोंकी स्त्रियाँ घरके बाहर मेहनत-मजदूरी कर सकती हैं, तब फिर अमीर या बड़े घरोंकी स्त्रियोंके मार्गमें ही क्यों रुकावटें डाली जायँ। किसानोंके घरोंकी स्त्रियाँ खेती-बारीमें अपने यहाँके पुरुषोंके साथ पूरी मेहनत करती हैं।

व्यावसायिकोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। बढई, दरजी, लुहार आदिकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके काममें इतनी दक्ष हो जाती हैं कि आवश्यकता पड़नेपर बिना पुरुषोंकी सहायताके भी वे अपना काम चला सकती हैं।'

यह निश्चित ही अच्छी चीज है। यदि बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ भी ऐसा कोई काम सीखें, जिसमें घरमें रहकर ही वे अपने पतिका बोझ हल्का कर सकें तो अच्छा ही है। अन्यथा दफ्तरके अफसरोंकी घुड़की-धमकी सहनेकी अपेक्षा अपने पतिकी सेवा कहीं अच्छी है। दूसरोंके बच्चोंको शिक्षा देनेके लिये स्कूलोंमें नौकरी करनेके पहले अपने बच्चोंकी शिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये। यह समझना भूल है कि घरका काम राष्ट्रका काम नहीं है। गत महायुद्धके समय ब्रिटेनके युद्ध-मन्त्रीने स्त्रियोंसे अपील करते हुए कहा था—'स्त्रियाँ समझती हैं कि साधारण काम करनेमें उनका समय नष्ट होता है; पर यह बात नहीं। किसी-न-किसीको तो राष्ट्रके लिये आलू बनाना और थालियाँ साफ करनी ही पड़ेंगी। बिना छोटे-छोटे काम सीखे बड़े कामोंकी योग्यता नहीं आती।'

आज पाश्चात्य समाजमें सत् उपायसे भी जीविकोपार्जन करना युवती शिक्षिता स्त्रियोंके लिये विशेष अपमानजनक है—शायद बहुत लोग इस बातको नहीं जानते। जगत्प्रसिद्ध लेखक Hall Caine के 'The woman thou gavest me' तथा H G. Wells के 'Ann Veronica और Victor Hugo के 'Les Miserables' में फेंटाइनका उपाख्यान पढनेसे इसका पता लग सकता है। बहुत बार चरित्रहीनता आर्थिक उन्नतिमें सहायक होती है, इसीलिये बहुत-सी स्त्रियोंका पतन होता है। इसीसे देखा जाता है कि बहुत-सी पाश्चात्य स्त्रियोंको धनोपार्जनके कार्य करने जाकर ही वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ी है। 'The Great Social Evil' नामक पुस्तकमें Logan साहबने लिखा है कि 'वेश्याओंमें एक चतुर्थांश पहले होटलोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कल-कारखानोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कुटनियोंके फेरमें पड़कर और एक चतुर्थांश बेकारीसे और विवाहकी प्रतिज्ञा भङ्ग होनेसे वेश्यावृत्ति करती हैं।' बर्लिन और वायना नगरोंमें ५१ और ५८ प्रतिशत वेश्याएँ नौकरी-पेशा स्त्रियोंमेंसे आयी हैं।

'Our Freedom and its Results' 'हमारी स्वतन्त्रता और उसके परिणाम' नामक पुस्तकमें ब्रिटेनके नारी-आन्दोलनकी एक प्रधाननेत्री रे इस्ट्रैची लिखती हैं कि 'स्त्रियोंके आर्थिक स्वतन्त्रताके मार्गमें कितनी रुकावटें हैं। इनमें कुछ तो प्राकृतिक हैं, जिनमें परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है और कुछ परम्परागत सामाजिक वहमोंके कारण हैं, जिनके दूर होनेमें बहुत समय लगेगा। गर्भ धारण करके बच्चा पैदा करना स्त्रियोंका प्रकृतिसिद्ध कार्य है, जो कभी पुरुषोंके मत्थे नहीं पड़ता। यद्यपि इसमें अधिक समय नहीं लगता, तथापि इसकी सम्भावनाके कारण स्त्रियोंको काम मिलनेमें बाधा अवश्य पड़ती है। लड़कोंको सीना-पिरोना, खाना पकाना भले ही सिखाये जायँ, पर इन कामोंके लिये वे घर नहीं बैठ सकते। स्त्रियोंकी शारीरिक शक्ति पुरुषोंसे कम होती है, यह मानना ही पड़ेगा। एक बात यह भी है कि चालीस वर्षकी आयु हो जानेपर स्त्रियोंमें शक्तिका ह्रास हो जाता है।' लेनिनकी राय थी कि 'स्त्रियोंको गृहस्थीके कार्य तथा बच्चोंकी परवरिशसे मुक्त कर देना चाहिये, जिससे वे देशकी सेवा कर सकें।' इसीलिये बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाका भार राष्ट्रने ले लिया। सूतिकागृह और शिशु-शालाओंकी व्यवस्था की गयी; किंतु बादमें यह अनुभव हुआ कि इनमें पले हुए बच्चोंमें वह बात नहीं आती, जो घरके पले बच्चोंमें होती है। मातृत्वके अभावमें बालकका व्यक्तित्व पूर्णरूपसे विकसित ही नहीं हो पाता, यह ध्रुव-सत्य है।

अन्तमें स्व० प्रेमचन्दजीके शब्दोंमें—

'मेरे विचारसे नारी सेवा और त्यागकी मूर्ति है, जो कुर्बानीसे अपनेको बिल्कुल मिटाकर पतिकी आत्माका अंश बन जाती है। आप कहेंगे 'मर्द अपनेको क्यों नहीं मिटाता? औरतसे ही क्यों इसकी आशा करता है?' मर्दमें वह सामर्थ्य नहीं है। वह तेजःप्रधान जीव है स्त्री पृथ्वीकी भाँति धैर्यवान् है, शान्तिसम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुषमें नारीके गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारीमें पुरुषके गुण आ जाते ह तो वह कुलटा हो जाती है।

'नारीके पास देनेके लिये दया है, श्रद्धा है, त्याग है, सेवा है। पुरुषके पास देनेके लिये क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकारके लिये हिंसा करता है, सग्राम करता है, कलह करता है ... '।

'मुझे खेद है कि हमारी बहनें पश्चिमका आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारीने अपना पद खो दिया है और स्वामिनीसे गिरकर विलासकी वस्तु बन गयी है।'

भगवान् श्रीकृष्ण षोडश-कलापूर्ण

(लेखक—श्रीसुतीक्ष्णमुनिजी)

भगवान्का परिपूर्णतमरूप अवतार श्रीकृष्ण थे। तभी श्रीमद्भागवत (१ । ३ । २८) में कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् कहा गया है। श्रीकृष्णमें भगवान्के सभी गुण प्रकट थे, जो उनके चरित्रोंसे स्पष्ट हैं—इसमे लेशमात्र भी संशय करनेकी गुंजाइश नहीं है। संशय करनेवाले विनाशको प्राप्त होते हैं। वे सुखी नहीं हो सकते।

'संशयात्मा विनश्यति।' 'न सुखं संशयात्मन।' (गीता)

'कृष्ण' शब्दका अर्थ—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष्ण' शब्द 'विष्ण' शब्दके अनुसार ही प्रागैतिहासिक है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वकलापूर्ण थे, यह उनकी समय-समयकी लीलाओंसे स्पष्ट हो जाता है; किंतु चन्द्रवंशमें अवतरित होनेसे वे षोडश-कलापूर्ण कहे जाते हैं। उन विशिष्ट सोलह कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रथमकला 'अन्न' है, जिससे जीवमात्रकी उत्पत्ति होती है—अन्नाद्भवन्ति भूतानि (गीता ३ । १४)। अन्नसे ही तृप्ति होती है, तभी छान्दोग्योपनिषद्में अन्नको ब्रह्म कहा गया है। अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्—अन्नको ब्रह्म जान-कर अन्नकी कभी निन्दा न करें। अन्नकी निन्दा करनेवाला ब्रह्मकी निन्दा करनेवालेके तुल्य पातकी—नरकगामी है। उद्भिज्जयोनि केवल अन्नके विकाससे उत्पन्न हुई, यह एक कलाका विकास है। इनमें प्राणमय कोष न होनेसे ये चल नहीं सकते, इसलिये इनकी 'जड' संज्ञा हुई।

(२) द्वितीय कलासे स्वेदजोंकी सृष्टि हुई। यह दूसरी कला अन्न और प्राणोंके मिलनेसे हुई, इसीसे स्वेदजोंमें चलने-फिरनेकी शक्ति आयी।

(३) तृतीय कला अन्नमय, प्राणमय और मनोमय-की है; इससे अण्डजोंका जन्म हुआ और इनमें प्रेम आया।

(४) चतुर्थ कला अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी है; इससे जरायुजोंकी सृष्टि हुई।

(५) पञ्चम कला अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दकी है। पञ्चकोष मनुष्यमात्रमें साधारणतया होते हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन अनेकों ग्रन्थोंमें आता है।

(६) षष्ठ कला विभूति (ऐश्वर्य) की है, जो मनुष्योंके कर्मानुसार न्यूनाधिक होती रहती है। किंतु भगवान्में वह एकरस परिपूर्ण है, तभी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति गीता अ० १० में अपनी विभूतियाँ गिनाते हुए अन्तत' श्लोक ४१ में कहते हैं कि 'सम्पूर्ण विभूतियाँ मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई हैं, इस प्रकार तू जान।'

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(७) सप्तम कला धर्मकी है, जिसके रक्षार्थ सदैव भगवान् सन्नद्ध रहते हैं। भगवान्की रची सृष्टि भी धर्मके आधारपर स्थित है। जहाँ धर्ममें कुछ भी विषमता (असमानता) आयी अथवा धर्मनाशक मण्डल उदय हुआ, वहीं भगवान् किसी-न-किसी रूपसे या स्वयं प्रकट हो धर्मकी रक्षा करते हैं। भगवान्ने अपना यही विरद गीता अध्याय ४, श्लोक ८ में सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

(८) अष्टम कला अर्थ है। सर्वप्रकारके अर्थ भगवान्-की कृपासे सुलभ होते हैं। भगवान् ही परम अर्थ हैं।

(९) नवम कला 'ज्ञान' है—सब प्रकारका परिपूर्ण ज्ञान भगवान्में है। वे ज्ञानस्वरूप हैं। उनके कृपा-कटाक्षके बिना ज्ञानका प्रकाश होना असम्भव है।

(१०) दशम कला तेज (प्रकाश) है। संसारमें जितना प्रकाश (ज्योति) है, वह सब भगवान्की सत्तासे है, सारा विश्व प्रकाश्य है, भगवान् प्रकाशक हैं।

(११) एकादश कला 'यश' है। भगवान् यशके अथाह सागर हैं। संसारका कोई भी व्यक्ति उनके यशकी थाह नहीं पा सका, वेद भी 'नेति-नेति' कहकर चुप हो गये। शेषजी सहस्र मुख, दो सहस्र जिह्वाओंसे भगवान्के नित्य नवीन सुयशोंका गान करते रहनेपर भी उनकी थाह नहीं पाते।

(१२) द्वादश कला 'योग'की है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगियोंके ईश्वर—योगेश्वर थे।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो ······।

(१३) त्रयोदश कला 'सर्वज्ञता' है। भगवान् ही पूर्ण सर्वज्ञ हैं। शेष सबमें थोड़ी बहुत अल्पज्ञताका भास अवश्य झलकता है, ब्रह्माका बछड़े तथा ग्वालोंका छिपाना, शंकरका मोहिनीरूप देखकर मोहित होना, नारदका विश्व-मोहिनीके सङ्ग विवाह करनेके लिये भगवान्का रूप माँगना, इन्द्रका ब्रजपर कोप करना आदि-आदि सर्वज्ञताके अभावका ही आभास नहीं तो और क्या है। इसलिये भगवान् ही सर्वज्ञ हैं।

(१४) चतुर्दश कला 'इच्छा' है। भगवान्की इच्छा-

शक्तिको सृष्टिका कारण माना गया है। इस इच्छाशक्तिके चार रूप (भेद) हैं—इच्छाशक्ति, योगमाया, महामाया और माया। भगवान् श्रीकृष्णने इन चारोंसे काम लिया है। श्रीकृष्णकी कोई भी इच्छा व्यर्थ नहीं गयी।

(१५) पञ्चदश कला 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' है।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥

(१६) षोडश कला 'सर्वसिद्धि' है। संसारके सभी कार्य भगवान्की कृपासे ही सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त षोडश कलाएँ पूर्णरूपसे श्रीकृष्णमें विद्यमान हैं,—जो श्रीमद्भागवत, गीता, महाभारत, हरिवंश आदिके पढनेसे स्पष्ट है। लेखवृद्धिके भयसे कलाओंका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया गया। बहुत सम्भव है विद्वन्-मण्डल कलाओंके सम्बन्धमें और भी प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। भगवान्के नाम, गुण, लीलाएँ अनन्त हैं। जहाँ बड़े-बड़े लोग थाह नहीं पा सके, वहाँ मुझ अल्पबुद्धिकी क्या गिनती है।

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ?

(लेखक—एक यात्री)

यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर अनेक पर्याप्त पुण्योंकी कमाईसे प्राप्त होता है; इसपर भी प्राणी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर षट् विकारोंमें फँसा रहता है और पाप-कर्म करके इस मानव-शरीरको व्यर्थ खोकर फिर चौरासी लाख योनियोंमें जा गिरता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता हुआ रोता-कलपता रहता है; परंतु अब उसकी कोई नहीं सुनता, सुने भी कौन। उसने कर्म ही ऐसे किये हैं, जिनका परिणाम अपार दुःख है—

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

(मानस)

तो फिर यही प्रश्न होता है कि ये षट् विकार कैसे छूटें और स्थायी सुख-शान्ति कैसे मिले। इसका उत्तर निम्नलिखित विचारोंसे स्पष्ट है। इन विचारोंको अभ्यास-द्वारा दृढ कर लेना चाहिये।

विचार १—मुझे एक दिन इस असार संसारको छोड़कर जाना होगा। हमारे पूर्वज, सम्बन्धी, इष्टमित्र हमारी आँखोंके सामने देखते-देखते चले गये और चले जा रहे हैं। जरा दिलकी गति रुकी और खेल खतम। महामारी, हैजा, इन्फ्लुयजा आदि नगरमें आये कि हजारों चल बसे। फिर भी क्या हमारे जानेमें कुछ संदेह है? एक-दो दिनकी कोई क्या कहे, एक घड़ीभर भी जीवनका कोई निश्चय नहीं। रे मन! ऐसा निश्चय करके इस असार संसारसे धीरे-धीरे आसक्ति छोड़।

अतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

(विनय०)

यह फानी-तूफानी दुनिया अन्तमें तेरा साथ नहीं देगी—

आयु गँवाई दुनियोंमें, दुनियाँ चले न साथ।
पैर कुल्हाड़ी मारिया मूरखने अपने हाथ॥

(नानक)

सहस्रबाहु और रावण-ऐसे महाबली योद्धा इस असार संसारसे खाली हाथ चले गये—

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते॥

(विनय०)

मदिरा पीकर जैसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसको अपना और पराया भान नहीं रहता, उसी तरह रे मन! तूने अपने देवदुर्लभ मानव-जीवनके वास्तविक कर्तव्यको भुला दिया है। अनेक पर्याप्त पुण्योंके बिना मानव-शरीर नहीं मिलता। जलचर, थलचर, नभचर आदि असंख्य प्राणियोंमें मनुष्यजाति ही श्रेष्ठ मानी गयी है। अनेक प्राणियोंमें कोई एक विरला ही मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है। इसको पाकर जो अपना लोक-परलोक नहीं बना लेते, वे अपार दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

(मानस)

जगद्गुरु स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अपनी चर्पटपञ्जरिकामें लिखते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥
भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते॥

बार-बार दिन, सायंकाल, रात्रि आती है और देखते ही चली जाती है, एवं शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आकर चली जाती हैं। इस प्रकार कालकी क्रीडा निरन्तर होती रहती है, प्राणियोंकी आयु इस तरह क्षीण होती जा रही है। तथापि अरे मूढमते! इस असार क्षणभङ्गुर संसारकी

आशारूपी वायु तुझे छोड़ना नहीं चाहती। अब जो आयु बची है, उसीको सार्थक बना और अन्तर्यामी गोविन्द-भगवान्‌का निरन्तर प्रेमसे भजन कर।

निम्न कविताओंको विचारपूर्वक गुनगुनाते रहना चाहिये—

(क) है बहारे बाग दुनियाँ चंद रोज।
देख ले इसका तमाशा चंद रोज॥

ऐ मुसाफिर कूँचका सामान कर।
है बसेरा इस सरामें चंद रोज॥

(ख) जाना है, रहना नहीं, जाना बिस्वा बीस।
थोड़े दिनकी जिंदगी, भज ले श्रीजगदीस॥

(ग) मुट्ठी बाँधे आया जगमें,
हाथ पसारे जायेगा।

(घ) सिकंदर जब चला बसा दुनियाँसे, दोनों हाथ खाली थे॥

इन विचारोंका सोते-जागते समय अथवा निरन्तर ध्यान रखनेसे षट्विकार एवं पापकर्म घटते-घटते क्षय हो जायँगे और प्राणी स्थायी सुख-शान्ति प्राप्तकर मुक्त पुरुषकी भाँति जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें, हाथीके गलेसे फूलकी माला गिरनेके समान, प्रसन्नतापूर्वक शरीर छोड़कर परमधाम प्राप्त करेगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥
(मानस)

उपर्युक्त विचारोंकी प्रतिदिन एक आवृत्ति अवश्य होनी चाहिये, ताकि थोड़े समयमें विचार दृढ़ हो सके और यह भी विचार रहे कि हमको ही अपने कर्मोंका हिसाब देना होगा, उसमें कोई साथी या मददगार नहीं होगा। यह ध्रुव सत्य है कि इस प्रकारके विचारोंको भलीभाँति सुदृढ़ कर लेनेपर छः मासके अंदर ही कार्य करनेका दृष्टिकोण बदल जायगा, पापकर्म करनेमें ग्लानि होने लगेगी और जीवन सुख-शान्तिमय होगा।

विचार २—प्रारब्ध और पुरुषार्थका विवेचन करके धन आदि भोगोंके लिये प्रारब्धपर ही विश्वास करना और योगके लिये पुरुषार्थपर भरोसा रखना। संसारके सब दुःख-सुख, लाभ-हानि प्रारब्धके अधीन हैं। चालाकी-बेईमानीसे जीवन-का सुख-दुःख, हानि-लाभ हम तिलभर भी नहीं बदल सकते, वरं आगामी जन्मके लिये काँटे बो लेते हैं—यह हमें निम्न-लिखित विचारोंद्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये—

(१) प्रारब्ध पहिले रची, पाछे रच्यो सरीर।
तुलसी चिंता त्याग दे, भज ले श्रीरघुबीर॥

(२) आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

'आयु, भोग, धन, विद्या और मृत्यु मनुष्यके गर्भकालमें ही विधाता रच देते हैं।'

(३) कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥
(मानस)

(४) सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ॥

(५) हँसि बोले रघुबंस कुमारा।
बिधि कर लिखा को मेटनिहारा॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम प्रारब्ध एवं कालकी विचित्र गतिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(६) यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसा न कलितं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

'हे लक्ष्मण! जिस इष्ट पदार्थके लिये हम चिन्ता करते हैं, कब मिले!! कब मिले—ऐसी प्रतीक्षा करते हुए अनेकविध प्रयत्न करते हैं, वह प्रारब्धाधीन कालकी विचित्र गतिसे हमको नहीं मिलता, हमसे हजारों कोस दूर हो जाता है। इसी प्रकार जिसका हमें स्वप्नमें भी ध्यान नहीं होता, जिसे हम कभी भी देखना नहीं चाहते, वह अनिष्ट दृश्य सहसा हमारे सामने आ-कर खड़ा हो जाता है। इस विषयमें लक्ष्मण! तू मुझको ही देख! प्रातःकाल मैं चक्रवर्ती सम्राट् होने जा रहा था, वही आज मैं जटाधारी तपस्वीका-सा वेष बनाकर वनमें जा रहा हूँ।'

अतः दृढ़ विश्वास रखें कि एक दिन इस अपार संसारको छोड़कर अकेले ही जाना होगा और भले-बुरे कर्मोंका भोग भोगना होगा। दूसरा यह विचार दृढ़ रखें कि धनादि भोग प्रारब्धके ही अधीन हैं, अतः उनके लिये पापकर्म करना अपनेको अपार दुःखमें डालना है। इन दो ही विचारोंको सुदृढ़ करनेसे, जीवनमें स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त होगी और अन्त समयमें शरीर छोड़कर प्राणी परम गतिको प्राप्त होगा—

आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर।
कोई रथ चढ़ि चल रहा, कोई बँधा जँजीर॥

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३१

संवत् २०१३—२०१४ वि०

सन् १९५७ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिंग]

प्रतिसंख्या ।=)

|| श्रीहरिः ||

'कल्याण'के इकतीसवें वर्षकी विषय-सूची

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ-संख्या

निबन्ध

कहानी

संकलित गद्य

पद्य

संकलित पद्य

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

दुरंगा चित्र

रेखा-चित्र

मानचित्र

सादे चित्र

१—५३२ । सूची तीर्थाङ्कमें देखनी चाहिये । बहुत लंबी तथा केवल तीर्थाङ्क-से सम्बन्धित होनेके कारण उसे यहाँ नहीं दिया गया है ।